ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ३८

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग १

[अ – औ]

क्षु० जिनेन्द्र वर्णी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २४९६ : विक्रम संवत् २०२७ : सन् १९७०

प्रथम संस्करण : मूल्य ५०.००

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी-द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ

स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No. 38

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA

[Part I]

by

Kshu. JINENDRA VARṆĪ
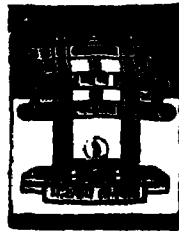
BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VĪRA SAṀVATA 2496 : V. SAṀVATA 2027 : 1970 A. D.
First Edition : Price Rs. 50/-

The range of Jaina literature and the specialised topics covered therein are pretty vast. Naturally a need is felt for topical source books, the excellent specimens of which we have in the *Leśyā-kośa* (Calcutta 1966) and *Kriyā-kośa* (Calcutta 1969) by Shri MOHANLAL BANTHIA and Shri SHRICHAND CHORADIA. They are exhaustive monographs with the topics arranged in a definite pattern.

A Dictionary of Prākrit Proper Names is in the press compiled at the L. D. Institute of Indology, Ahmedabad.

It is in the same line of the publications, noted above, that the *Jainendra Siddhānta Kośa*, Part I, is presented here as No. 38 of the Sanskrit Series of the Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā. It is compiled by Kshu. JINENDRA VARNI. Though frail in body and indifferent in health VARNIJI is a prodigy of learning; and his dedication to *svādhyāya* is highly exemplary. This *Kośa* has grown out of his studies of important Jaina works like the *Dhavalā* etc., extending over the last twenty years. It is a source book of topics (alphabetically arranged) drawn from a large number of Jaina texts dealing with *dravya-*, *karaṇa-*, *caraṇa-*, and *prathama-anuyoga*. The range of works consulted can be seen from the Saṃketa-sūci. Extracts from the basic sources are given, so also their Hindi translations, with necessary references. There are added many important tables and charts which give the required details at a glance. For VARNIJI all this is a labour of love and devotion to study; and he has given to scholars a valuable source book of Jaina studies. The academic dignity of the Granthamālā is really heightened by this publication. The General Editors are highly obliged to Kshu. JINENDRA VARNIJI for kindly placing this scholarly work at their disposal for publication in the Granthamālā.

The Kośas, listed above, are part attempts, and they do not cover the whole range of Jainological studies. Some of them may be having their limitations, if not defects. This is inevitable in all such individual efforts and that too at the early stages of Jainological studies which are still in their infancy. It is these and such other attempts, I am sure, will one day contribute their share to the institutionalised compilation of the Encyclopaedia of Jainism, something on the lines of the *Encyclopaedia of Buddhism* published by the Government of Ceylon.

Words are inadequate to express our sense of gratefulness to Shriman SAHU SHANTI PRASADAJI and his enlightened wife Smt. RAMA JAIN. Their generosity in the cause of the neglected branches of Indian learning is unbounded; but for their patronage such works could never have seen the light of day. The scholars will ever remain obliged to them for their academic idealism in financing such learned works which have hardly any sale.

It was very kind of Kshu. VARANIJI that he fully cooperated with the General Editors in fixing up the format and typography of the *Kośa*. Our special thanks are due to Shri L. C. JAIN who took personal interest in this work by securing special types etc. Dr. G. C. JAIN helped us in various ways by being on the spot where this work was printed. The Sanmati Press has really earned a feather in its cap by carefully printing this complicated work.

—*H. L. Jain*
—*A. N. Upadhye*

Mahavira Jayanti
April 19, 1970

प्रधान सम्पादकीय

जैन आचार्यों और साहित्यकारोंने विभिन्न भाषाओंमें भारतीय साहित्यकी विविध विधाओंको अत्यधिक समृद्ध किया है। उन्होंने अपने जैन दर्शन और तर्क शास्त्र, जैन तत्त्वविद्या और पौराणिक कथा, जैन सिद्धान्त व नीतिशास्त्र तथा अन्य प्रबन्धों-कृतियोंमें मूल रूपसे जैनधर्मका सुन्दर प्रतिपादन किया है। जैन सिद्धान्तोंकी इस प्रस्तुतिमें उन्होंने बहुसंख्यामें ऐसे पारिभाषिक और विशेषार्थ गर्भित शब्दोंका प्रयोग किया है जिन्हें प्रायः संस्कृत और प्राकृत शब्दकोशोंमें नहीं देखा-खोजा जा सकता। अतएव इस स्थितिमें धर्मद्रव्य, पुद्गल, अस्तिकाय, क्षपकश्रेणि आदि जैसे पारिभाषिक शब्दोंकी पृथक् परिभाषाएँ और यथार्थ व्याख्याएँ उपस्थित करना आवश्यक हो गया है। जब तक जैन साहित्यका अध्ययन परम्परानुसार और साम्प्रदायिक विद्यालयोंमें कराया गया, ऐसे पारिभाषिक शब्दोंकी समझ हीनाधिक रूपमें एक पैतृक सम्पत्तिकी प्राप्ति जैसी थी।

आज अध्येताओं द्वारा जैनधर्मका अध्ययन तुलनात्मक रूपसे किया जा रहा है, जैन साहित्यको भारतीय साहित्यका एक अभिन्न अंग माना जा रहा है, तथा समय और स्थानके विशेष दायरेसे निकलकर मानवीय आदर्शोंके क्षेत्रमें विश्व आयाम पर जैनधर्मके योगदानोंको मापा जा रहा है। इसके अतिरिक्त अध्ययनकी रीतियाँ शीघ्रतासे बदल रही हैं और ज्ञानका क्षेत्र भी अहर्निश विस्तृत होता जा रहा है। परिणाम स्वरूप प्राध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा अध्ययनकी दिशामें पग-पग पर ग्रन्थ सूचियों, मूल स्रोत ग्रन्थों तथा सन्दर्भ ग्रन्थोंकी कमीका अनुभव किया जा रहा है।

जब पाठशालाओंमें अध्ययन-अध्यापनके लिए गोम्मटसार जैसे पारिभाषिक लाक्षणिक ग्रन्थोंको चुना जाता था, तब इस प्रकारके शब्दकोशोंकी आवश्यकताका अनुभव अधिक होता था। और जहाँ तक हमें ध्यान है, स्वर्गीय पं० गोपालदास जी बरैयाने इसी अभावकी पूर्तिके लिए सन् १९०९ में जैन सिद्धान्त प्रवेशिकाकी रचना की थी। सन् १९१४ में रतलामसे विजयराजेन्द्रसूरिका अभिधान राजेन्द्र कोश सात भागोंमें प्रकाशित हुआ था। यद्यपि उसका विस्तार अत्यधिक है, फिर भी वह बहुतसे जैन पारिभाषिक शब्दोंके उद्धरण तथा व्याख्याओंको खोजनेमें उपयोगी सिद्ध हुआ है। एस. सी. घोषाल, ए. चक्रवर्ती, जे. एल. जैनी प्रभृति प्रमुख विद्वानोंने सेक्रेड बुक्स ऑफ द जैनाजकी स्थापना की और उसके अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थोंका आंग्लभाषा (अँगरेजी) में अनुवाद तैयार किया। उन्हें जैन पारिभाषिक शब्दोंके सही अनुवादमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। जे. एल. जैनीने जैन जेम डिक्शनरी (आरा, १९१८) की प्रस्तावना में स्वयं इस बातको स्वीकारा है। उन्होंने कहा है—"यह उन्हें अनुभव हुआ कि एक ही जैन शब्दके विभिन्न अनुवादोंमें विभिन्न अँगरेजी पर्याय प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे एकरूपता समाप्त हो जाती है और ग्रन्थोंके जैनेतर पाठकोंके मनमें दुविधाका कारण बन जाता है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय सोचा गया कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दोंको साथ रखा जाय और जैन दर्शनके आलोकमें सही अर्थ प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जाय। निश्चय ही इस तरहके कार्यको अन्तिम कहना उपयुक्त न होगा। यह उत्तम प्रयास है कि जैन पारिभाषिक शब्दोंको वर्ण-क्रमानुसार नियोजित किया जाय और उनका अनुवाद अँगरेजीमें दिया जाय।" यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत शब्दकोशका आधार स्व० पं० गोपालदास जी बरैया द्वारा रचित उपर्युक्त जैन सिद्धान्त प्रवेशिका है। अजमेर-बम्बईसे सन् १९२३-३२ में प्रकाशित रत्नचन्द्रजी शतावधानीकी एन इलस्ट्रेटेड अर्धमागधी डिक्शनरीके पाँच (?) भाग सीमित संख्यामें जैन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या पानेमें सहायक होते हैं। बृहज्जैन शब्दार्णव (हिन्दी) जिसे प्रारम्भ किया था श्री बी० एल० जैनने और समाप्त किया था श्री शीतल प्रसाद जी ने। सन् १९२४-३४ में दो भागोंमें बाराबंकी सूरतसे प्रकाशित हुआ था। यह भी काफी उपयोगी है और वस्तुतः एक व्यक्तिके लिए महत्त्वपूर्ण कार्य है। आनन्दसागरसूरिका 'अल्प-परिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश' भाग १ (सूरत १९५४) भी उपलब्ध है जिसका उद्देश्य कुछ जैन सैद्धान्तिक शब्दोंका अर्थ हिन्दी भाषामें प्रस्तुत करना रहा है।

जैन साहित्य और उसमें आगत विशेष विषयोंका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। स्वभावतः विषय विशेषपर आधार-ग्रन्थोंकी आवश्यकताका अनुभव किया जाता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं लेश्या कोश (कलकत्ता, १९६६) और क्रिया कोश (कलकत्ता १९६९) जिनका संकलन व सम्पादन सर्व श्री मोहनलाल बांठिया तथा श्रीचन्द चोरडियाने किया है। ये एक निश्चित रीतिसे विषयवार व्यवस्थित ग्रन्थ हैं।

लालभाई दलपतभाई भारतीय विद्या मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा 'ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रापर नेम्स्' कोश तैयार कराया गया है जो मुद्रणमें है।

उपर्युक्त प्रकाशनोंकी तरह ही यहाँ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, प्रस्तुत किया जा रहा है, जो ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला संस्कृत सीरिजका ३८वाँ ग्रन्थ है। यह क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी द्वारा संकलित व सम्पादित है। यद्यपि वे क्षीण काय तथा अस्वस्थ हैं फिर भी वर्णीजीको गम्भीर अध्ययनसे अत्यन्त अनुराग है। स्वाध्यायके प्रति उनका यह समर्पण उदाहरणीय है। लगभग बीस वर्षके उनके सतत अध्ययनका यह परिणाम है कि धवला आदि जैसे महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थोंपर आधारित यह कोश तैयार किया गया है। यह कोश द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा प्रथमानुयोगके विषयोंका वर्ण-क्रमानुसार विवेचन करनेवाला ग्रन्थ है। सन्दर्भ ग्रन्थोंको संकेत सूचीसे देखा जा सकता है। मूल ग्रन्थोंके उद्धरण दिये गये हैं, उनके साथ हिन्दी अनुवाद भी हैं और उद्धृत ग्रन्थोंके संकेत भी। इसमें अनेक महत्वपूर्ण सारणियाँ और रेखाचित्र भी जोड़ दिये गये हैं जिनके माध्यमसे विस्तृत विषयको एक ही दृष्टिमें देखा जा सकता है। वर्णीजीका यह सब कार्य अध्ययनके प्रति स्नेह और भक्तिका प्रतीक है। इस प्रकाशनसे ज्ञानके क्षेत्रमें ग्रन्थमालाका गौरव और भी बढ़ गया है। ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक क्षु० जिनेन्द्र वर्णीजीके अत्यन्त आभारी हैं जो उन्होंने अपना यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाको प्रकाशनार्थ उपहारमें दिया। आशा है कि आगेके भाग भी शीघ्र तैयार होंगे।

उपर्युक्त सभी कोश आंशिक प्रयत्न हैं और उनमें जैनधर्मसे सम्बन्धित सभी विषय नहीं आ पाये। इनमेंसे कई एककी अपनी सीमाएँ रही हैं यदि कमियाँ नहीं तो। इस प्रकारके व्यक्तिगत प्रयत्नोंमें यह सब सम्भव है और वह भी उस अवस्थामें जब जैनधर्मका अध्ययन प्रारम्भिक स्थितिमें था, जो आज भी शैशवावस्थामें है। ये और इस प्रकारके अन्य प्रयत्न, विश्वास है कि एक दिन श्री लंका सरकार द्वारा प्रकाशित इन्साइक्लोपिडिया ऑफ बुद्धिज्मकी तरह इनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैनिज्मके निर्माणमें अपना योगदान देंगे।

श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी व उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमा जैनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिए शब्द अपर्याप्त हैं। भारतीय विद्याकी उपेक्षित शाखाओंके उद्धारके प्रति उनकी उदारता असीमित है। अन्यथा इस प्रकारके साहित्यिक कार्योंका प्रकाशन सम्भव नहीं होता। विद्वन्मण्डल उनके इस पुनीत विद्यानुरागके प्रति चिर ऋणी रहेगा कि उन्होंने कठिनाईसे बिकने वाली इस पुस्तककी अर्थ व्यवस्था कर इसे प्रकाशित किया है।

क्षु० वर्णीजीकी बड़ी कृपा रही कि उन्होंने ग्रन्थमाला सम्पादकोंको कोशके प्रकाशनमें पूर्ण सहयोग दिया। श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन, हमारे विशेष धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने प्रस्तुत कार्यमें व्यक्तिगत रुचि लेकर विशेष टाइप आदि की व्यवस्था की है। डॉ० गोकुलचन्द्रजी जैनने मुद्रण स्थान पर उपस्थित रहकर हमें विविध प्रकारसे सहयोग दिया है। सन्मति मुद्रणालयने इस पेंचीदे कार्यको सावधानतापूर्वक मुद्रित कर विशेष कीर्ति अर्जित की है।

—हीरालाल जैन
—आ० ने० उपाध्ये

महावीर जयन्ती
१९ अप्रैल, १९७०

प्रास्ताविक

लगभग सत्रह वर्षोंसे शास्त्र स्वाध्यायके समय विशिष्ट स्थलोंको निजी स्मृतिके लिए सहज लिख कर रख लेता था। धीरे-धीरे यह संग्रह इतना बढ़ गया, कि विद्वानोंको इसकी सार्वजनीन व महती उपयोगिता प्रतीत होने लगी। उनकी प्रेरणासे तीन वर्षके सतत परिश्रमसे इसे एक व्यवस्थित कोशका रूप दे दिया गया।

शब्दकोश या विश्वकोशकी तुलनामें इसकी प्रकृति कुछ भिन्न होनेके कारण, इसे 'सिद्धान्त कोश' नाम दिया गया है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचारशास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजे तथा राजवंश, आगम, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय आदिसे सम्बन्धित लगभग ६००० शब्दों तथा २१००० विषयोंका सांगोपांग विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण सामग्री संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशमें लिखित प्राचीन जैन साहित्यके सौसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थोंसे मूल सन्दर्भों, उद्धरणों तथा हिन्दी अनुवादके साथ संकलित की गयी है।

शब्द संकलन तथा विषय विवेचन

शब्द संकलन कोश ग्रन्थोंकी शैलीपर अकारादिसे किया गया है तथा मूल शब्दके अन्तर्गत उससे सम्बन्धित विभिन्न विषयोंका विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक क्रमसे मूल ग्रन्थोंके सन्दर्भ संकेत देकर विषयको इस रूपमें प्रस्तुत किया गया है कि विभिन्न ग्रन्थोंमें उपलब्ध उस विषयकी सम्पूर्ण सामग्री एक साथ उपलब्ध हो जाये और अनुसन्धाता विद्वानों, स्वाध्याय प्रेमी मनीषियों, साधारण पाठकों तथा शंका समाधानोंके लिए एक विशिष्ट आकर ग्रन्थ का काम दे।

शब्द संकलनमें पंचम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न् म्) को जगह अनुस्वार ही रखा गया है और उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। जैसे 'अंक' शब्द 'अकंपन' से पहले रखा गया।

विवेचनमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि शब्द और विषयकी प्रकृतिके अनुसार, उसके अर्थ, लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय विस्तार, शंका-समाधान व समन्वय आदिमें जो जो व जितना जितना अपेक्षित हो, वह सब दिया जाये।

जिन विषयोंका विस्तार बहुत अधिक है उनके पूर्व एक विषय सूची दे दी गयी है जिससे विषय सहज ही दृष्टिमें आ जाता है।

संकलनमें निम्नलिखित कुछ और भी बातोंका ध्यान रखा गया है—

१. दो विरोधी विषयोंको प्रायः उनमेंसे एक प्रमुख विषयके अन्तर्गत संकलित किया गया है। जैसे हिंसाको अहिंसाके अन्तर्गत और अब्रह्मको ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत।

२. समानधर्मा विभिन्न शब्दों और विषयोंका प्रधान नामवाले विषयके अन्तर्गत विवेचन किया गया है जैसे शीलका ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत; वानप्रस्थ आश्रम व व्रती गृहस्थका श्रावकके अन्तर्गत।

३. सिद्धान्त की २० प्ररूपणाओं अर्थात् गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, जीवसमास, संज्ञा, उपयोग व १४ मार्गणाओंको पृथक् पृथक् स्व स्व नामोंके अनुसार स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। और उन सम्बन्धी सर्व विभिन्न विषयोंमें 'देखो वह वह विषय' ऐसा नोट देकर छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

४. उपर्युक्त नम्बर ३ की भाँति ही सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, षट्द्रव्य, बन्ध, उदय, सत्त्वादि १० करण, सत् संख्यादि ८ अनुयोगद्वार आदिके साथ भी समझना चाहिए, अर्थात् पृथक् पृथक् तत्त्वों व द्रव्यों आदिको पृथक् पृथक् स्वतन्त्र विषय ग्रहण करके संकलित किया गया है।

५. १४ मार्गणाओंका सत्, संख्यादि ८ प्ररूपणाओंकी अपेक्षा जो विस्तृत परिचय देनेमें आया है उसका ग्रहण उन उन मार्गणाओंमें न करके सत् संख्यादि आठ अनुयोग द्वारोंके नामोंके अन्तर्गत किया गया है।

६. किसी भी विषयके अपने भेद-प्रभेदोंको भी उसी मूल विषयके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। जैसे उपशमादि सम्यक्दर्शनके भेदोंको 'सम्यग्दर्शनके अन्तर्गत'।

७. कौन मार्गणा व गुणस्थानसे मरकर कौन मार्गणामें उत्पन्न होवे तथा कौन-कौन गुण धारण करनेकी योग्यता रहे, इस नियम व अपवाद सम्बन्धी विषय को 'जन्म' नाम के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है।

८. जीव समासों, गुणस्थानों, मार्गणा स्थानों, प्राण तथा उपयोगादि २० प्ररूपणाओंके, स्वामित्व-की ओघ व आदेशके अनुसार सम्भावना व असम्भावना 'सत्' शीर्षकके अन्तर्गत ग्रहण की गयी है।

९. अन्य अनेकों विषय प्रयोग उस उस स्थानपर दिये गये नोटके द्वारा जाने जा सकते हैं।

सारणियाँ एवं चित्र

विषयके भेद-प्रभेदों, करणानुयोगके विभिन्न विषयों तथा भूगोलसे सम्बन्धित विषयोंको रेखाचित्रों, सारणियों तथा सादे एवं रंगीन चित्रों द्वारा सरलतम रूपमें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि विशालकाय ग्रन्थोंकी बहुमूल्य सामग्री सीमित स्थानमें चित्रांकितकी तरह एक ही दृष्टिमें सामने आ जाती है। मार्गणा स्थान, गुणस्थान, जीवसमास, कर्मप्रकृतियाँ, ओघ और आदेश प्ररूपणाएँ, जीवोंकी अवगाहना, आयु आदिका विवरण, त्रेसठ शलाका पुरुषोंकी जीवनियोंका ब्यौरेवार विवरण, उत्कर्षण, अपकर्षण, अधःकरण, अपूर्वकरण आदिका सूक्ष्म एवं गूढ़ विवेचन, जैन मान्यतानुसार तीन लोकोंका आकार, स्वर्ग और नरकके पटल, मध्य-लोकके द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियाँ आदिको लगभग तीन सौ सारणियों एवं चित्रों द्वारा अत्यन्त सरल एवं सुरुचिपूर्ण ढंगसे प्रस्तुत किया गया है।

मुद्रण प्रस्तुति

अबतक प्रकाशित कोशों या विश्वकोशोंकी अपेक्षा इस कोशकी मुद्रण प्रस्तुति भी किंचित् विशिष्ट है। सब छह प्रकारके टाइपोंका उपयोग इस तरह किया गया है कि मूल शब्द, विषय शीर्षक, उपशीर्षक, अन्तरशीर्षक, अन्तरान्तरशीर्षक तथा सन्दर्भ संकेत, उद्धरण और हिन्दी अर्थ एक ही दृष्टिमें स्वतन्त्र रूपमें स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं। सामग्रीका समायोजन भी वर्गीकृत रूपमें इस प्रकार प्रस्तुत है कि टाइपोंका इतना वैभिन्न्य होते हुए भी मुद्रण का सौन्दर्य निखरा है।

कृतज्ञता ज्ञापन

प्रस्तुत कोशको रचनाका श्रेय वास्तवमें तो उन ऋषियों, आचार्योंको है, जिनके वाक्यांश इसमें संगृहीत हैं। मेरी तो इससे अज्ञता ही प्रकट होती है कि मैं इन्हें स्मृतिमें न सँजो सका इसलिए लिपिबद्ध करके रखा।

शास्त्रोंके अथाह सागरका पूरा दोहन कौन कर सकता है? जो कुछ भी गुरुकृपासे निकल पाया, वह सब स्व-पर उपकारार्थ साहित्यप्रेमियोंके समक्ष प्रस्तुत है। इसमें जो कुछ अच्छा है वह उन्हीं आचार्योंका है। जो त्रुटियाँ हैं, वे मेरी अल्पज्ञताके कारण हैं। 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।' आशा है विज्ञ जन उन्हें सुधारनेका कष्ट करेंगे।

अत्यधिक धनराशि तथा प्रतिभापूर्ण असाधारण श्रमसापेक्ष इस महान् कृतिका प्रकाशन कोई सरल कार्य न था। प्रसन्नता व उत्साहपूर्वक 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने इस भारको सँभालनेकी उदारता दर्शा कर, जैन संस्कृति व साहित्यिक जगत्को जो सेवा की है उसके लिए मानव समाज युग-युगतक इसका ऋणी रहेगा।

—जिनेन्द्र वर्णी

संकेत-सूची

संकेत	विवरण
अ.ग.श्रा./…/…	अमितगति श्रावकाचार/अधिकार सं./श्लोक सं., पं. वंशीधर शोलापुर, प्र. सं., वि. सं. १९७९
अ.ध./…/…/…	अनगारधर्मामृत/अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., पं. खूबचन्द सोलापुर, प्र. सं. ई. १.६.१९२७
आ.अनु./…	आत्मानुशासन/श्लोक सं.,
आ.प./…/…/…	आलापपद्धति/अधिकार सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., चौरासी मथुरा, प्र. सं., वी. नि. २४४१
आप्त. प./…/…/…	आप्तपरीक्षा/श्लोक सं./प्रकरण सं./पृष्ठ सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., वि. सं. २००६
आप्त.मी./…	आप्तमीमांसा/श्लोक सं.,
इ.उ./मू./…/…	इष्टोपदेश/मूल या टीका/श्लोक सं./पृष्ठ सं. (समाधिशतकके पीछे) पं. आशाधर जी कृत टी. वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
क.पा…/§…/…/…	कषायपाहुड़ पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, प्र. सं., वि. सं. २०००
का.अ./मू./…	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका/गाथा सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. सं. ई. १९६०
कुरल./…/…	कुरल काव्य/परिच्छेद सं./श्लोक सं., पं. गोविन्दराज जैन शास्त्री, प्र. सं., वी. सं. २४८०
क्रि.क./…/…/…	क्रियाकलाप/मुख्याधिकार सं.—प्रकरण सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा, वि. सं. १९९३
क्रि.को./…	क्रियाकोश/श्लोक सं., पं. दौलतराम
क्ष.सा./मू./…/…	क्षपणसार/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्र. कलकत्ता
गुण.श्रा./…	गुणभद्र श्रावकाचार/श्लोक सं., वसुनन्दि श्रावकाचार/श्लोक सं., वसुनन्दि श्रावकाचारकी टिप्पणीमें
गो.क./मू./…/…	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशनी संस्था कलकत्ता
ज्ञा./…/…/…	ज्ञानार्णव/अधिकार सं./दोहक सं./पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. सं., ई. १९०७
ज्ञा.सा./…	ज्ञानसार/श्लोक सं.,
चा.पा./मू./…/…	चारित्त पाहुड़/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
चा.सा./…/…	चारित्रसार/पृष्ठ सं /पंक्ति सं., महावीर जी, प्र. सं., वी. नि. २४८८
ज.प./…/…	जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो/अधिकार सं./गाथा सं., जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि. सं. २०१४
त.अनु./…	तत्त्वानुशासन/श्लोक सं., (नागसेन सूरिकृत), वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र. सं., ई. १९६३
त.वृ./…/…/…	तत्त्वार्थवृत्ति/अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ. प्र. सं., ई. १९४९
त.सा./…/…/…	तत्त्वार्थसार/अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी, संस्था कलकत्ता, प्र. सं., ई. स. १९२६
त.सू./…/…	तत्त्वार्थसूत्र/अध्याय सं./सूत्र सं.,
ति.प./…/…	तिलोयपण्णत्ति/अधिकार सं./गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र. सं., वि. सं. १९९९
त्रि.सा./…	त्रिलोकसार/गाथा सं., जैन साहित्य बम्बई, प्र. सं., ई. १९१८
द.पा./मू./…/…	दर्शन पाहुड़/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
द.सा./…	दर्शनसार/गाथा सं., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र. सं., वि. १९७४
द्र.सं./मू./…/…	द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका/गाथा सं०/पृष्ठ सं०, देहली, प्र. सं. ई. १९५३
ध.प./…	धर्म परीक्षा/श्लोक सं.
ध.…/॥/…/…	धवला पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृ. सं./पंक्ति या गाथा सं., अमरावती, प्र. सं.
न.च.वृ./…	बृहद नयचक्र/गाथा सं. (श्रीदेवसेनाचार्यकृत), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७७
न.च./श्रुत./…	नयचक्र/श्रुत भवन दीपक/अधिकार सं./पृष्ठ सं . सिद्ध सागर, शोलापुर
नि.सा./मू./…	नियमसार/मूल या टीका/गाथा स.
नि.सा./ता.वृ./…/क…	नियमसार/तात्पर्य वृत्ति/गाथा सं./कलश सं.
न्या.दी./…/§…/…	न्यायदीपिका/अधिकार सं /प्रकरण सं./पृष्ठ सं., वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र. सं., वि. सं. २००२
न्या.बि./मू./…	न्यायबिन्दु/मूल या टीका/श्लोक सं., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
न्या.वि./मू./…/…/…/…	न्यायविनिश्चय/मूल या टीका/अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., ज्ञानपीठ बनारस
न्या.सू./मू./…/…/…/…	न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका/अध्याय/आह्निक/सूत्र./पृष्ठ, मुजफ्फरनगर, द्वि. सं., ई. १९३४
पं.का./मू./…/…	पंचास्तिकाय/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र. सं., वि. १९७२
पं.ध./पू./…	पंचाध्यायी/पूर्वार्ध/श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र. सं., ई. १९३२
पं.ध./उ./…	पंचाध्यायी/उत्तरार्ध/श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र. सं., ई. १९३२
पं.वि./…/…	पद्मनन्दि पंचविंशतिका/अधिकार सं./श्लोक सं., जीवराज ग्रन्थमाला, प्र. सं., ई. १९३२
पं.सं./प्रा./…/…	पंचसंग्रह/प्राकृत/अधिकार सं./गाथा सं., ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., ई. १९६०
पं.सं./सं/…/…	पंचसंग्रह/संस्कृत/अधिकार सं./श्लोक सं., पं. सं./प्रा. की टिप्पणी, प्र. सं., ई. १९६०

प.पु./…/…	पद्मपुराण/सर्ग/श्लोक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., वि. सं., २०१६
प.मु./…/…/…	परीक्षामुख/परिच्छेद सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी. प्र. सं.
प.प्र./मू./…/…/…	परमात्मप्रकाश/मूल या टीका/अधिकार सं./गाथा सं./पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि. सं., वि. सं. २०१७
पा.पु./…/…	पाण्डवपुराण/सर्ग सं./श्लोक सं., जीवराज, शोलापुर, प्र. सं., ई. १९६२
पु.सि.उ./…	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/श्लोक सं.
प्र.सा./मू./…/…	प्रवचनसार/मूल या टीका/गाथा सं.
प्रति.सा./…/…	प्रतिष्ठासारोद्धार/अध्याय/श्लोक सं.
बा.अ./…	बारस अणुवेक्खा/गाथा सं.
बो.पा./मू./…/…	बोधपाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
भ.आ./मू./…/…/…	भगवती आराधना/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र. सं., ई. १९३५
भा.पा./मू./…/…	भाव पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
म.पु./…/…	महापुराण/सर्ग सं./श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं., ई. सं. १९५१
म.बं…/§…/…	महाबन्ध पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं., ई. सं. १९५१
मू.आ/…	मूलाचार/गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७९
मो.पं./…	मोक्ष पंचाशिका/श्लोक सं.
मो.पा./मू./…/…	मोक्ष पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
मो.मा.प्र./…/…/…	मोक्षमार्गप्रकाशक/अधिकार सं./पृष्ठ सं./पं.सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि. सं., वि. सं. २०१०
यु.अनु./…	युक्त्यनुशासन/श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
यो.सा.अ./…/…	योगसार अमितगति/अधिकार सं./श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई. सं. १९१८
यो.सा.यो./…	योगसार योगेन्दुदेव/गाथा सं., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
र.क.श्रा./…	रत्नकरण्ड श्रावकाचार/श्लोक सं.
र.सा./…	रयणसार/गाथा सं.
रा.वा./…/…/…/…	राजवार्तिक/अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ प्र. सं., वि. सं. २००८
रा.वा.हि./…/…/…	राजवार्तिक हिन्दी/अध्याय सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल.सा./मू./…/…	लब्धिसार/मूल/गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्र० कलकत्ता, प्र. सं.
ला.सं./…/…	लाटी संहिता/अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं.
लि.पा./मू./…/…	लिंग पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७७
वसु.श्रा./…	वसुनन्दि श्रावकाचार/गाथा सं., भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., वि. सं. २००७
वैशे.द./…/…/…/…	वैशेषिक दर्शन/अध्याय/आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं., देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र. सं., वि. सं. २०१७
शी.पा./मू./…	शील पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पंक्ति सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
श्लो.वा./…/…/…/…	श्लोकवार्तिक पुस्तक सं./अध्याय सं./सूत्र सं./वार्तिक सं./पृष्ठ सं., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र. सं., १९४९-१९५६
ष.खं…/…III/…	षट्खण्डागम पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं,
स.भं.त./…/…	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी/पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि. सं., वि. सं. १९७२
स.म./…/…/…	स्याद्वादमञ्जरी/श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. सं. १९११
स.श./मू./…/…	समाधिशतक/मूल या टीका/श्लोक सं./पृष्ठ सं./इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र. सं., २०२१
स.सा./मू./…/…/…	समयसार/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन देहली, प्र. सं., ३१/१२/१९५८
स.सा./आ./…/क	समयसार/आत्मख्याति/गाथा सं./कलश सं.
स.सि./…/…/…	सर्वार्थसिद्धि/अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं. भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. सं., ई. १९५५
स. स्तो…	स्वयम्भू स्तोत्र/श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
सा.ध./…/…	सागार धर्मामृत/अधिकार सं./श्लोक सं.
सा.पा/…	सामायिक पाठ अमितगति/श्लोक सं.
सि.सा.सं./…/…	सिद्धान्तसार संग्रह/अध्याय सं./श्लोक सं./जीवराज जैन ग्रन्थमाला, प्र. सं. ई. १९५७
सि.वि./मू./…/…/…/…	सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका/प्रस्ताव सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. सं., ई. १९५९
सु.र.सं./…	सुभाषित रत्न संदोह/श्लोक सं. (अमितगति), जैन प्र. कलकत्ता, प्र. सं., ई० १९१७
सू.पा./मू./…/…	सूत्र पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
ह.पु./…/…	हरिवंश पुराण/सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. सं.

नोट : भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखाचित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ क्रमसे उस उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

(क्षु० जिनेन्द्र वर्णी)

व्यापिनीं सर्वलोकेषु सर्वतत्त्वप्रकाशिनीम् ।
अनेकान्तनयोपेतां पक्षपातविनाशिनीम् ॥ १ ॥
अज्ञानतमसंहर्त्रीं मोह-शोकनिवारिणीम् ।
देह्यद्वैतप्रभां मह्यं विमलाभां सरस्वति ! ॥ २ ॥

[अं]

अंक—१. (ध. ५/प्र. २७) Number. २. सौधर्म स्वर्गका १७वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५ । ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७ ।

अंककूट—मानुषोत्तर व कुण्डल पर्वतस्थ कूट—दे० लोक/७ ।

अंकगणना—(ध. ५/प्र./२७) Numeration.

अंकगणित—(ध. ५/प्र./२७) Arithematic.

अंकप्रभ—कुण्डलपर्वतस्थ कूट— दे० लोक/७ ।

अंकमय—पद्महदस्थ एक कूट— दे० लोक/७।

अंकमुख—(ति. प. /४/२५३३) कम चौड़ा ।

अंकलेश्वर—(ध. १/प्र.३२/H. L.) गुजरात देशस्थ भड़ौच जिलेका एक वर्तमान नगर ।

अंकावती—पूर्व विदेहस्थ रम्या क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७ ।

अंकुशित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

अंग—१. (म. पु./प्र.४१/पं. पन्नालाल) मगध देशका पूर्व भाग। प्रधान नगर चम्पा (भागलपुर) है। २. भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य /४ । ३. (प. पु./१०/१२) सुग्रीवका बड़ा पुत्र। ४. (ध. ५/प्र. २७।) Element. ५. प. ध./उ/४७८. लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ।=लक्षण, गुण और अंग ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं।

* **अनुमानके पाँच अंग**—दे० अनुमान/३ ।
* **जल्पके चार अंग**—दे० जल्प ।
* **सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रके अंग**—दे० वह वह नाम ।
* **शरीरके अंग**—दे० अंगोपांग ।

अंगज्ञान—१. श्रुतज्ञानका एक विकल्प—दे० श्रुतज्ञान III। २. अष्टांग निमित्तज्ञान—दे० निमित्त/२ ।

अंगद—(प. पु./१०/१२) सुग्रीवका द्वितीय पुत्र ।

अंगपण्णत्ति—आचार्य शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित एक ग्रन्थ—दे० 'शुभचन्द्र' ।

अंगार—१. आहार सम्बन्धी एक दोष—दे० आहार II/२ । २. वसति सम्बन्धी एक दोष—दे० वसति ।

अंगारक—भरत क्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

अंगारिणी—एक विद्या—दे० विद्या ।

अंगावर्त—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

अंगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे० गणित I/१ ।

अंगुलीचालन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

अंगोपांग—स. सि./८/११/३८९ यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्ग-नाम ।=जिसके उदयसे अंगोपांगका भेद होता है वह अंगोपांग नाम कर्म है।

ध. ६/१.९-१.२८/५४/२ जस्स कम्मखंधस्सुदएण सरीरस्संगोवंगणिप्फत्ती होज्ज तस्स कम्मक्खंधस्स सरीरअंगोवंगणाम ।=जिस कर्म स्कन्धके उदयसे शरीरके अंग और उपांगोंकी निष्पत्ति होती है, उस कर्म स्कन्धका शरीरांगोपांग यह नाम है। (ध. १३/५.५.१०१/३६४/४) (गो. जी./जी. प्र./३३/२९/५)

२. अंगोपांग नामकर्मके भेद

ष. खं. ६ / १.९-१ / सू. ३५ / ७२ जं सरीरअंगोवंगणामकम्मं तं तिविहं ओरालियसरीरअंगोवंगणामं वेउव्वियसरीरअंगोवंगणामं, आहार-सरीरअंगोवंगणामं चेदि ॥ ३५ ॥ =अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकारका है—औदारिकशरीर अंगोपांग नामकर्म, वैक्रियक शरीर अंगोपांग नामकर्म और आहारकशरीर अंगोपांग नामकर्म। (ष. ख. १३/५.५/सू.१०९/३६९) (पं. सं./प्रा./२/४/४७) (स.सि./८/११/३८९) (रा. वा./८/११/४/५७६/११) (गो. क./जी. प्र./२७/२२); (गो. क./जी. प्र./३३/२९)

* **अंगोपांग प्रकृतिकी बन्ध, उदय, सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियमादि**—दे० वह वह नाम ।

३. शरीरके अंगोपांगोंके नाम निर्देश—

पं. सं./प्रा./१/१६ णलयाबाहू य तहा णियंबपुट्ठी उरो य सीसं च। अट्ठेव दु अंगाई देहण्णाई उवंगाई ॥ १० ॥—शरीरमें दो हाथ, दो पैर, नितम्ब (कमरके पीछेका भाग,) पीठ, हृदय, और मस्तक ये आठ अंग होते हैं। इनके सिवाय अन्य (नाक, कान, आँख आदि) उपांग होते हैं। (ध. ६ / १, ६-१, २८ / गा. १० / ५४) (गो. जी /मू./२८)

ध. ६/१,६-१,२८/५४/७ शिरसि तावदुपाङ्गानि मूर्द्ध-करोटि-मस्तक-ललाट-शङ्ख-भ्रू-कर्ण-नासिका-नयनाक्षिकूट-हनु-कपोल-उत्तराधरोष्ठ-सृक्वणी-तालु-जिह्वादीनि।—शिरमें मूर्धा, कपाल, मस्तक, ललाट, शंख, भौंह, कान, नाक, आँख, अक्षिकूट, हनु (ठुड्डी), कपोल, ऊपर और नीचेके ओष्ठ, सृक्वणी (चाप), तालु और जीभ आदि उपांग होते हैं।

★ एकेन्द्रियोंमें अंगोपांग नहीं होते व तत्सम्बन्धी शंका—दे० उदय/५

★ हीनाधिक अंगोपांगवाला व्यक्ति प्रव्रज्याके अयोग्य है—दे० 'प्रव्रज्या'।

अंजन—१. सानत्कुमार स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक–दे० स्वर्ग/५। २. पूर्व विदेहस्थ एक वक्षार, उसका कूट व रक्षक देव–दे० लोक/७। ३. पूर्व विदेहस्थ वैश्रवण वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७। ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

अंजनकूट—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

अंजनगिरि—१. नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वादि दिशाओंमें ढोलके आकारके (Cylindrical) चार पर्वत हैं। इन पर चार चैत्यालय हैं। काले रंगके होनेके कारण इनका नाम अंजनगिरि है—दे० लोक/७। २. रुचक पर्वतस्थ वर्द्धमान कूटका रक्षक एक दिग्गजेन्द्रदेव—दे० लोक/७।

अंजनमूल—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

अंजनमूलक—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

अंजनवर—मध्यलोकके अन्तसे १२वाँ सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

अंजनशैल—विदेह क्षेत्रस्थ भद्रशाल वनमें एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७।

अंजना—१. (प. पु./१५/१६,६१,३०७) महेन्द्रपुरके राजा महेन्द्रकी पुत्री पवनञ्जयसे विवाही तथा हनुमान्‌की जन्ममाता। २. नरककी चौथी पृथिवी, पंकप्रभाका अपर नाम है।—दे० पंकप्रभा।

अंजसा—न्या.वि./टी.१/२/८७/१ तत्त्वत इत्यर्थः। —तत्त्व रूपसे।

अंड—स.सि./२/३३/१८९. यन्नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणित-परिवरणं परिमण्डलं तदण्डम्।—जो नखकी त्वचाके समान कठिन है, गोल है, और जिसका आवरण शुक्र और शोणितसे बना है उसे अण्ड कहते हैं। (रा.वा./२ / ३३ /२ / १४३ / ३२) (गो. जी. / जी. प्र./८४/२०७)

अंडज जन्म—दे० जन्म/१।

अंडर—ध.१४/५,६,९३/८६/५ तेसिं खंधाणं ववएसहरो तेसिं भवाण-मवयवा वलंजुअकच्छउडपुव्वावरभागसमाणा अंडरं णाम।"—जो उन स्कन्धों (मूली, थूअर आदि) के अवयव हैं और जो वलंजुअ-कच्छउडके पूर्वापर भागके समान हैं उन्हें अण्डर कहते हैं। (विशेष दे० वनस्पति ३/७)।

ध.१४/५,६,९४/११२/५ ण च रस-रुहिर-मांससरूवंडराणं खंधावयवाणं तत्तो पुधभावेण अवट्ठाणमत्थि।—स्कन्धोंके अवयव स्वरूप रस, रुधिर तथा मांस रूप अण्डरोंका उससे पृथक् रूप (स्कन्धसे पृथक् रूप) अवस्थान नहीं पाया जाता।

अंतःकरण—दे० मन।

अंतःकोटाकोटी—ध.६/१,९-६,३३/१७४/६ अंतोकोडाकोडीए त्ति वुत्ते सागरोवमकोडाकोडिसंखेज्जकोडीहि खंडिदएगखंडं होदि त्ति घेत्तव्वं।—अन्तःकोड़ाकोड़ी ऐसा कहने पर एक कोड़ाकोड़ी सागरोपमको संख्यात कोटियोंसे खंडित करने पर जो एक खण्ड होता है, वह अन्तःकोड़ाकोड़ीका अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

गो. जी./भाषा/५६०/१००३/६ कोडिके ऊपरि अर कोड़ाकोड़िके नीचे जो होइ ताकौ अंतःकोटाकोटी कहिये।

अंत—रा.वा./२/२२/१/१३४/२६ अयमन्तशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिद-वयवे, यथा वस्त्रान्तः वसनान्तः। क्वचित्सामीप्ये, यथोदकान्तं गतः उदकसमीपे गत इति। क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः संसारावसानं गत इति।—अन्त शब्दके अनेक अर्थ हैं। १. कहीं तो अवयवके अर्थमें प्रयोग होता है—जैसे वस्त्रके अन्त अर्थात् वस्त्रके अवयव। २. कहीं समीपताके अर्थमें प्रयोग होता है—जैसे 'उदकान्तं-गतः' अर्थात् जलके समीप पहुँचा हुआ। ३. कहीं समाप्तिके अर्थमें प्रयोग होता है—जैसे 'संसारान्तगत' अर्थात् संसारकी समाप्तिको प्राप्त।

न्या.दी./३/७६/११७. अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः। १. अनेक अन्त अर्थात् धर्म (इस प्रकार अन्त शब्द धर्मवाचक भी है)। २. गणितके अर्थमें भूमि अर्थात् Last Term or the last digit in numerical series—दे० गणित II/५।

अंतकृत्—ध.६/१,९-९,२१६/४९०/१ अष्टकर्मणामन्तं विनाशं कुर्व-न्तीति अन्तकृतः। अन्तकृतो भूत्वा सिज्झंति सिद्धयन्ति निस्ति-ष्ठन्ति निष्पद्यन्ते स्वरूपेणेत्यर्थः। बुज्झंति त्रिकालगोचरानन्तार्थ-व्यञ्जनपरिणामात्मकाशेषवस्तुतत्त्वं बुद्धयन्ति अवगच्छन्तीत्यर्थः। —जो आठ कर्मोंका अन्त अर्थात् विनाश करते हैं वे अन्तकृत् कहलाते हैं। अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं, निष्ठित होते हैं व अपने स्वरूपसे निष्पन्न होते हैं, ऐसा अर्थ जानना चाहिए। 'जानते हैं, अर्थात् त्रिकालगोचर अनन्त अर्थ और व्यञ्जन पर्यायात्मक अशेष वस्तु तत्त्वको जानते व समझते हैं।

अंतकृत् केवली—ध.१/१,१.२/१०२/२ संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽ-न्तकृतः (केवलिनः)।—जिन्होंने संसारका अन्त कर दिया है उन्हें अन्तकृत् केवली कहते हैं।

२. भगवान् वीरके तीर्थके दस अन्तकृत् केवलियोंका निर्देश

ध.१/१,१,२।१०३।२ नमि-मतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्किविल-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थंकर-तीर्थे।...दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो...।—वर्ध-मान तीर्थंकरके तीर्थमें नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किविल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश...दारुण उपसर्गोंको जीतकर सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृत् केवली हुए।

अंतकृद्दशांग—द्रव्यश्रुतज्ञानका आठवाँ अंग–दे० श्रुतज्ञान III।

अंतड़ी—१. औदारिक शरीरमें अन्तड़ियोंका प्रमाण—दे० औदा-रिक/१। २. इनमें षट्काल कृत हानि वृद्धि—दे० काल/४।

अंतरंग—**★अंतरंग परिग्रह आदि**—दे० वह वह विषय।

अंतर—कोई एक कार्य विशेष हो चुकनेपर जितने काल पश्चात् उसका पुनः होना सम्भव हो उसे अन्तर काल कहते हैं। जीवोंकी गुणस्थान प्राप्ति अथवा किन्हीं स्थान विशेषोंमें उसका जन्म-मरण अथवा कर्मों के

बन्ध उदय आदि सर्व प्रकरणोंमें इस अन्तर कालका विचार करना ज्ञानकी विशदताके लिए आवश्यक है। इसी विषयका कथन इस अधिकारमें किया गया है।

१. अन्तर निर्देश

१. अन्तर प्ररूपणा सामान्यका लक्षण—

स.सि./१/८/२९ अन्तरं विरहकालः। —विरह कालको अन्तर कहते हैं। (अर्थात् जितने काल तक अवस्था विशेषसे जुदा होकर पुनः उसकी प्राप्ति नहीं होती उस कालको अन्तर कहते हैं।) (ध. १/१,१,८/१०३/१५६) (गो. जी./जी.प्र./५५३/९८२)

रा. वा. १/८/७/४२/५. अन्तरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेः छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणम्।७। [अन्तरशब्दः] बहुष्वर्थेषु दृष्टप्रयोगः। क्वचिच्छिद्रे वर्तते सान्तरं काष्ठम्, सच्छिद्रम् इति। क्वचिदन्यत्वे 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते' [वैशे० सू० १/१/१०] इति। क्वचिन्मध्ये हिमवत्सागरान्तर इति। क्वचित्सामीप्ये 'स्फटिकस्य शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य तद्वर्णता' इति 'शुक्लरक्तसमीपस्थस्य' इति गम्यते। क्वचिद्विशेषे—"वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्। नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम्॥" [गरुड़ पु./२१०/१५] इति महान् विशेष इत्यर्थः। क्वचिद् बहिर्योगे 'ग्रामस्यान्तरे कूपाः' इति। क्वचिदुपसंव्याने—अन्तरे शाटका इति। क्वचिद्विरहे अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रं मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयत इत्यर्थः। —अन्तर शब्दके अनेक अर्थ हैं। १. यथा 'सान्तरं काष्ठं' में छिद्र अर्थ है। २. कहीं पर अन्य अर्थके रूपमें वर्तता है। ३. 'हिमवत्सागरान्तरे' में अन्तर शब्दका अर्थ मध्य है। ४. 'शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य स्फटिकस्य'—सफेद और लाल रंगके समीप रखा हुआ स्फटिक। यहाँ अन्तरका समीप अर्थ है। ५. कहींपर विशेषता अर्थमें भी प्रयुक्त होता है जैसे—घोड़ा, हाथी और लोहेमें, लकड़ी, पत्थर और कपड़ेमें, स्त्री, पुरुष और जलमें अन्तर ही नहीं, महान् अन्तर है। यहाँ अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक है। ६. 'ग्रामस्यान्तरे कूपाः' में बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँवके बाहर कुँआ है। ७. कहीं उपसंव्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्रके अर्थमें अन्तर शब्दका प्रयोग होता है यथा 'अन्तरे शाटकाः'। ८. कहीं विरह अर्थमें जैसे 'अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते'—अनिष्ट व्यक्तियोंके विरहमें मन्त्रणा करता है।

रा.वा./१/८/८/४२/१४ अनुपहतवीर्यस्य द्रव्यस्य निमित्तवशात् कस्यचित् पर्यायस्य न्यग्भावे सति पुनर्निमित्तान्तरात् तस्यैवाविर्भावदर्शनात् तदन्तरमित्युच्यते। —किसी समर्थ द्रव्यकी किसी निमित्तसे अमुक पर्यायका अभाव होनेपर निमित्तान्तरसे जब तक वह पर्याय पुनः प्रकट नहीं होती, तबतकके कालको अन्तर कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./१४३/३५७ लोके नानाजीवापेक्षया विवक्षितगुणस्थानं मार्गणास्थानं वा त्यक्त्वा गुणान्तरे मार्गणास्थानान्तरे वा गत्वा पुनर्यावत्तद्विवक्षितगुणस्थानं मार्गणास्थानं वा नायाति तावान् कालः अन्तरं नाम। —नाना जीवनिकी अपेक्षा विवक्षित गुणस्थान वा मार्गणास्थान नै छोडि अन्य कोई गुणस्थान वा मार्गणास्थानमें प्राप्त होई बहुरि उस ही विवक्षित स्थान वा मार्गणास्थान कौ यावत् काल प्राप्त न होई तिस कालका नाम अन्तर है।

२. अन्तरके भेद—ध. ५/१,६,१/पृ./प.

३. निक्षेप रूप अन्तरके लक्षण—दे० निक्षेप।
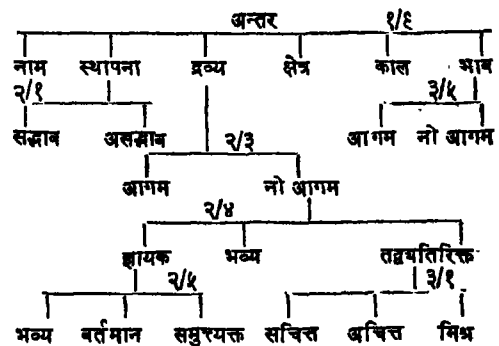
ध.५/१,६,१/ पृ.३/४ खेत्तकालंतराणि दव्वंतरे पविट्ठाणि. छद्दव्ववदिरित्तखेत्तकालाणमभावा। —क्षेत्रान्तर और कालान्तर, ये दोनों ही द्रव्यान्तरमें प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि छः द्रव्योंसे व्यतिरिक्त क्षेत्र और कालका अभाव है।

४. स्थानान्तरका लक्षण

ध.१२/४,२,७,२०१/११४/६ हेट्ठिमट्ठाणमुवरिमट्ठाणम्हि सोहियरूवूणे कदे जं लद्धं तं ट्ठाणंतरं णाम। —उपरिम स्थानोंमें अधस्तन स्थानको घटाकर एक कम करनेपर जो प्राप्त हो वह स्थानोंका अन्तर कहा जाता है।

२. अन्तर प्ररूपणा सम्बन्धी कुछ नियम—

१. अन्तर प्ररूपणा सम्बन्धी सामान्य नियम

ध.५/१,६,१०४/६६/२. जीए मग्गणाए बहुगुणट्ठाणाणि अत्थि तीए तं मग्गणमछंडिय अण्णगुणेहि अंतराविय अंतरपरूवणा कायव्वा। जीए

पुण्णमग्गणाए एक्कं चेव गुणट्ठाणं तत्थ अण्णमग्गणाए अंतराविय अंतरपरूवणा कादव्वा इदि एसो सुत्ताभिप्पाओ। =जिस मार्गणामें बहुत गुणस्थान होते हैं, उस मार्गणाको नहीं छोड़कर अन्य गुणस्थानोंसे अन्तर कराकर अन्तर प्ररूपणा करनी चाहिए। परन्तु जिस मार्गणामें एक ही गुणस्थान होता है, वहाँपर अन्य मार्गणामें अन्तर करा करके अन्तर प्ररूपणा करनी चाहिए। इस प्रकार यहाँपर यह सूत्रका अभिप्राय है।

२. योग मार्गणामें अन्तर सम्बन्धी नियम

ध.५/१,६,१५३/८७/६ कधमेगजीवमासेज्ज अंतराभावो। ण ताव जोगंतरगमणेणंतरं संभवदि, मग्गणाए विणासावत्तीदो। ण च अण्णगुणगमणेण अंतर संभवदि, गुणंतरं गदस्स जीवस्स जोगंतरगमणेण विणा पुणो आगमणाभावादो। =प्रश्न—एक जीवकी अपेक्षा अन्तरका अभाव कैसे कहा? उत्तर—सूत्रोक्त गुणस्थानों में न तो अन्य योगमें गमन-द्वारा अन्तर सम्भव है, क्योंकि, ऐसा माननेपर विवक्षित मार्गणाके विनाशकी आपत्ति आती है। और न अन्य गुणस्थानमें जानेसे भी अन्तर सम्भव है, क्योंकि दूसरे गुणस्थानको गये हुए जीवके अन्य योगको प्राप्त हुए बिना पुनः आगमनका अभाव है।

३. द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अन्तर सम्बन्धी नियम

ध.५/१,६,३७५/१७०/२ हेट्ठा ओइण्णस्स वेदगसम्मत्तमपडिवज्जिय पुव्वुवसमसम्मत्तेणुवसमसेढी समारूहणे संभवाभावादो। =उपशम श्रेणीसे नीचे उतरे हुए जीवके वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त हुए बिना पहलेवाले उपशम सम्यक्त्वके द्वारा पुनः उपशम श्रेणीपर समारोहणकी सम्भावनाका अभाव है।

४. सासादन सम्यक्त्वमें अन्तर सम्बन्धी नियम

ध.७/२,३,१३९/२३३/११ उवसमसेडीदो ओदिण्ण उवसमसम्माइट्ठी दोबारमेक्को ण सासणगुणं पडिवज्जदि त्ति। =उपशम श्रेणीसे उतरा हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि एक जीव दोबार सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं होता।

५. सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें अन्तर सम्बन्धी नियम

ध.५/१,६,३६/३१/२ जो जीवो सम्मादिट्ठी होदूण आउअं बंधिय सम्मामिच्छत्तं पडिवज्जदि, सो सम्मत्तेणेव णिप्फिददि। अह मिच्छादिट्ठी होदूण आउअं बंधिय जो सम्मामिच्छत्तं पडिवज्जदि, सो मिच्छत्तेणेव णिप्फिददि। =जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है, वह सम्यक्त्वके साथ ही उस गतिसे निकलता है। अथवा जो मिथ्यादृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है, वह मिथ्यात्वके साथ ही निकलता है।

६. प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनमें अन्तर सम्बन्धी नियम

ष. खं.७/२,३/सू.१३९/२३३. जहण्णेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागो।

ध.७/२,३,१३९/२३३/३. कुदो। पढमसम्मत्तं घेत्तूण अंतोमुहुत्तमच्छिय सासणगुणं गंतूणादि करिय मिच्छत्तं गंतूणंतरिय सव्वजहण्णेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तुव्वेलणकालेण सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं पढमसम्मत्तपाओग्गसागरोवमपुधत्तमेत्तट्ठिदिसंतकम्मं ठविय तिण्णि वि करणाणि काऊण पुणो पढमसम्मत्तं घेत्तूण छावलियावसेसाए उवसम-सम्मत्तद्धाए सासणं गदस्स पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागमेत्तंतरुवलंभादो। उवसमसेडीदो ओयरिय सासणं गंतूण अंतोमुहुत्तेण पुणो वि उवसमसेडिं चडिय ओदरिदूण सासणं गदस्स अंतोमुहुत्तमेत्तमंतरं उवलब्भदे, एदमेत्थ किण्ण परूविदं। ण च उवसमसेडीदो ओदिण्णउवसमसम्माइट्ठिणो सासणं (ण) गच्छंति त्ति णियमो अत्थि, 'आसाणं पि गच्छेज्ज' इदि कसायपाहुडे चुण्णिसुत्तदंसणादो। एत्थ परिहारो उच्चदे—उवसमसेडीदो ओदिण्ण उवसमसम्माइट्ठी दोबारमेक्को ण सासणगुणं पडिवज्जदि त्ति। तम्हि भवे सासणं पडिवज्जिय उवसमसेडिमारुहिय तत्तो ओदिण्णो वि ण सासणं पडिवज्जदि त्ति अहिप्पओ एदस्स सुत्तस्स। तेणंतोमुहुत्तमेत्तं जहण्णंतरं णोवलब्भदे।

ध.५/१,६,७/१०/३ उवसमसम्मत्तं पि अंतोमुहुत्तेण किण्ण पडिवज्जदे। ण उवसमसम्मादिट्ठी मिच्छत्तं गंतूणं सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणि उव्वेलमाणो तेसिमंतोकोडाकोडीमेत्तट्ठिदिं घादिय सागरोवमादो सागरोवमपुधत्तादो वा जाव हेट्ठा ण करेदि ताव उवसमसम्मत्तगहणसंभवाभावा। ताणं ट्ठिदीओ अंतोमुहुत्तेण घादिय सागरोवमादो सागरोवमपुधत्तादो वा हेट्ठा किण्ण करेदि। ण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तायामेण अंतोमुहुत्तुक्कीरणकालेहि उव्वेलणखंडएहि घादिज्जमाणाए सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तट्ठिदीए पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण विणा सागरोवमस्स वा सागरोवमपुधत्तस्स वा हेट्ठा पदणाणुववत्तीदो।

ध.१०/४,२,४,६५/२८८/१ एत्थ वेदगसम्मत्तं चेव एसो पडिवज्जदि उवसमसम्मत्तंतरकालस्स पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागस्स एत्थाणुवलंभादो।

=सासादन सम्यग्दृष्टियोंका अन्तर जघन्यसे पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र है ॥१३९॥। क्योंकि, प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण कर और अन्तर्मुहूर्त रहकर सासादन गुणस्थानको प्राप्त हो, आदि करके पुनः मिथ्यात्वमें जाकर अन्तरको प्राप्त हो सर्व जघन्य पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र उद्वेलना कालसे सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके प्रथम सम्यक्त्वके योग्य सागरोपम पृथक्त्वमात्र स्थिति सत्त्वको स्थापित कर तीनों ही करणोंको करके पुनः प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण कर उपशम सम्यक्त्व कालमें छः आवलियोंके शेष रहनेपर सासादनको प्राप्त हुए जीवके पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र जघन्य अन्तर प्राप्त होता है। (ध.५/१,६,५-७/७-११) (ध.५/१,६, ३७६/१७०/६) प्रश्न—उपशम श्रेणीसे उतरकर सासादनको प्राप्त हो अन्तर्मुहूर्तसे फिर भी उपशम श्रेणीपर चढ़कर व उतरकर सासादनको प्राप्त हुए जीवके अन्तर्मुहूर्तमात्र अन्तर प्राप्त होता है; उसका यहाँ निरूपण क्यों नहीं किया? उत्तर—उपशमश्रेणीसे उतरा हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सासादनको प्राप्त नहीं होता। क० पा० की अपेक्षा ऐसा सम्भव होने पर भी वहाँ एक ही जीव दो बार सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं करता। प्रश्न—वही जीव उपशम सम्यक्त्वको भी अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् ही क्यों नहीं प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वको प्राप्त होकर, सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिकी उद्वेलना करता हुआ, उनकी अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थितिको घात करके सागरोपमसे अथवा सागरोपम पृथक्त्वसे जबतक नीचे नहीं करता तबतक उपशम सम्यक्त्वका ग्रहण करना सम्भव ही नहीं है। प्रश्न—सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी स्थितियोंको अन्तर्मुहूर्त कालमें घात करके सागरोपमसे, अथवा सागरोपम पृथक्त्व कालसे नीचे क्यों नहीं करता? उत्तर—नहीं, क्योंकि पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र आयामके द्वारा अन्तर्मुहूर्त उत्कीरण कालवाले उद्वेलना काण्डकोंसे घात की जानेवाली सम्यक् और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी स्थितिका, पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र कालके बिना सागरोपमके अथवा सागरोपमपृथक्त्वके नीचे पतन नहीं हो सकता है। (और भी दे० सम्यग्दर्शन IV/२/५) यहाँ यह (पूर्व कोटि तक सम्यक्त्व सहित संयम पालन करके अन्त समय मिथ्यात्वको प्राप्त होकर मरने तथा हीन देवोंमें उत्पन्न होनेवाला जीव अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यदि सम्यक्त्वको प्राप्त करता भी है तो) वेदकसम्यक्त्वको ही प्राप्त करता है, क्योंकि उपशमसम्यग्दर्शनका अन्तरकाल जो पल्यका असंख्यातवाँ भाग है, वह यहाँ नहीं पाया जाता।

गो.जी./जी.प्र./७०४/११४१/१५ ते [प्रशमोपशमसम्यग्दृष्टयः] अप्रमत्तसंयतं विना त्रय एव तत्सम्यक्त्वकालान्तर्मुहूर्ते जघन्येन एकसमये उत्कृष्टेन च षडावलिमात्रे ऽवशिष्टे अनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदये सासादना भवन्ति। अथवा ते चत्वारोऽपि यदि भव्यतागुणविशेषेण सम्यक्त्वविराधका न स्युः तदा तत्काले संपूर्णे जाते सम्यक्प्रकृत्युदये वेदकसम्यग्दृष्टयो वा मिश्रप्रकृत्युदये सम्यग्मिथ्यादृष्टयो वा मिथ्यात्वोदये मिथ्यादृष्टयो भवन्ति। = अप्रमत्त संयतके बिना वे तीनों (४, ५, ६ठे गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यग्दृष्टि जीव) उस सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त कालमें जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवलिमात्र शेष रह जानेपर अनन्तानुबन्धीकी कोई एक प्रकृतिके उदयमें सासादन गुणस्थानको प्राप्त हो जाते हैं अथवा वे (४-७ तक) चारों ही यदि भव्यता गुण विशेषके द्वारा सम्यक्त्वकी विराधना न करें तो उतना काल पूर्ण हो जानेपर या तो सम्यक्प्रकृतिके उदयसे वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, या मिश्र प्रकृतिके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, या मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। नोट :— [यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उपशम श्रेणीपर चढ़कर उतरनेके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पुनः द्वितीयोपशम उत्पन्न करके श्रेणीपर आरूढ़ होना सम्भव है परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व तो मिथ्यादृष्टिको ही प्राप्त होता है, और वह भी उस समय जब कि उसकी सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्याप्रकृतिकी स्थिति सागरोपमपृथक्त्वसे कम हो जाये। अतः इसका जघन्य अन्तर पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र जानना।]

३. सारणीमें दिया गया अन्तरकाल निकालना

१. गुणस्थान परिवर्तन-द्वारा अन्तर निकालना

ध.५/१,६,३/५/५ एक्को मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छत्त-सम्मत्त-संजमासंजम-संजमेसु बहुसो परियट्टिदो, परिणामपच्चएण सम्मत्तं गदो, सव्वलहुमंतोमुहुत्तं सम्मत्तेण अच्छिय मिच्छत्तं गदो, लद्धमंतोमुहुत्तं सव्वजहण्णं मिच्छत्तंतरं। = एक मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरत-सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयममें बहुत बार परिवर्तित होता हुआ परिणामोंके निमित्तसे सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ, और वहाँपर सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्वके साथ रहकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। इस प्रकारसे सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिथ्यात्व गुणस्थानका अन्तर प्राप्त हो गया।

ध.५/१,६,६/९/२ नाना जीवकी अपेक्षा भी उपरोक्तवत् ही कथन है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ एक जीवकी बजाय युगपत् सात, आठ या अधिक जीवोंका ग्रहण करना चाहिए।

२. गति परिवर्तन-द्वारा अन्तर निकालना

ध.५/१,६,४५/४०/३ एक्को मणुसो णेरइयो देवो वा एगसमयावसेसाए सासणद्धाए पंचिंदियतिरिक्खेसु उववण्णो। तत्थ पंचाणउदिपुव्वकोडिअब्भहिय तिण्णि पलिदोवमाणि गमिय अवसाणे (उवसमसम्मत्तं घेत्तूण) एगसमयावसेसे आउए आसाणं गदो कालं करिय देवो जादो। एवं दुसमऊणसगट्ठिदी सासणुक्कस्संतरं होदि। = कोई एक मनुष्य, नारकी अथवा देव सासादन गुणस्थानके कालमें एक समय अवशेष रह जानेपर पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुआ। उनमें पंचानबे पूर्व कोटिकालसे अधिक तीन पल्योपम बिताकर अन्तमें (उपशम सम्यक्त्व ग्रहण करके) आयुके एक समय अवशेष रह जानेपर सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुआ और मरण करके देव उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दो समय कम अपनी स्थिति सासादन गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर होता है।

३. निरन्तरकाल निकालना

ध.५/१,६,२/४/८ णत्थि अंतरं मिच्छत्तपज्जयपरिणदजीवाणं तिसु वि कालेसु वोच्छेदो विरहो अभावो णत्थि त्ति उत्तं होदि। = अन्तर नहीं है। अर्थात् मिथ्यात्व पर्यायसे परिणत जीवोंका तीनों ही कालोंमें व्युच्छेद, विरह या अभाव नहीं होता है (अन्य विवक्षित स्थानोंके सम्बन्धमें भी निरन्तरका अर्थ नाना जीवापेक्षया ऐसा ही जानना।)

ध.५/१,६,१८/२१/७ एगजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं, णिरंतरं। १८। कुदो। खवगाणं पदणाभावा। = एक जीवकी अपेक्षा उक्त चारों क्षपकोंका और अयोगिकेवलीका अन्तर नहीं होता है, निरन्तर है। १८। क्योंकि, क्षपक श्रेणीवाले जीवोंके पतनका अभाव है।

ध.५/१,६,२०/२२/१ सजोगिणमजोगिभावेण परिणदाणं पुणो सजोगिभावेण परिणमणाभावा। = अयोगि केवली रूपसे परिणत हुए सयोगिकेवलियोंका पुनः सयोगिकेवली रूपसे परिणमन नहीं होता है। [अर्थात् उनका अपने स्थानसे पतन नहीं होता है। इसी प्रकार एक जीवकी अपेक्षा सर्वत्र ही निरन्तर काल निकालनेमें पतनाभाव कारण जानना।]

४. २ × ६६ सागर अन्तर निकालना—एक जीवापेक्षया—

ध.५/१,६,४/६/६ उक्कस्सेण वे छावट्ठिसागरोवमाणि देसूणाणि। ४। एदस्स णिदरिसणं—एक्को तिरिक्खो मणुस्सो वा लंतयकाविट्ठकप्पवासियदेवेसु चोद्दससागरोवमाउट्ठिदिएसु उप्पण्णो। एक्कं सागरोवमं गमिय विदियसागरोवमादिसमए सम्मत्तं पडिवण्णो। तेरससागरोवमाणि तत्थ अच्छिय सम्मत्तेण सह चुदो मणुसो जादो। तत्थ संजमं संजमासंजमं वा अणुपालिय मणुसाउएणूणवावीससागरोवमाउट्ठिदिएसु आरणच्चुददेवेसु उववण्णो। तत्तो चुदो मणुसो जादो। तत्थ संजममणुपालिय उवरिमगेवज्जे देवेसु मणुसाउएणूणएक्कत्तीससागरोवमाउट्ठिदिएसु उववण्णो। अंतोमुहुत्तूणछावट्ठिसागरोवमचरिमसमए परिणामपच्चएण सम्मामिच्छत्तं गदो। तत्थ अंतोमुहुत्तमच्छिय पुणो सम्मत्तं पडिवज्जिय विस्समिय चुदो मणुसो जादो। तत्थ संजमं संजमासंजमं वा अणुपालिय मणुस्साउएणूणवीससागरोवमाउट्ठिदिएसुववज्जिय पुणो जहाकमेण मणुसाउवेणूणवावीस-चउवीससागरोवमट्ठिदिएसु देवेसु-वज्जिय अंतोमुहुत्तूणवेछावट्ठिसागरोवमचरिमसमये मिच्छत्तं गदो। लद्धमंतरं अंतोमुहुत्तूण वेछावट्टिसागरोवमाणि। एसो उप्पत्तिकमो अउप्पण्णउप्पायणट्ठं उत्तो। परमत्थदो पुण जेण केण वि पयारेण छावट्ठी पूरेदव्वा। = मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो छयासठ सागरोपम काल है। ४। कोई एक तिर्यंच अथवा मनुष्य चौदह सागरोपम आयु स्थिति वाले लान्तव कापिष्ठ देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ एक सागरोपम काल बिताकर दूसरे सागरोपमके आदि समयमें सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तेरह सागरोपम काल वहाँ रहकर सम्यक्त्वके साथ ही च्युत हुआ और मनुष्य हो गया। उस मनुष्य भवमें संयमको अथवा संयमासंयमको अनुपालन कर इस मनुष्य भवसम्बन्धी आयुसे कम बाईस सागरोपम आयुकी स्थिति वाले आरणाच्युत कल्पके देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँसे च्युत होकर पुनः मनुष्य हुआ। इस मनुष्य भवमें संयमको अनुपालन कर उपरिम ग्रैवेयकमें मनुष्य आयुसे कम इकतीस सागरोपम आयुकी स्थितिवाले अहमिन्द्र देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागरोपम कालके चरम समयमें परिणामोंके निमित्तसे सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। उस सम्यग्मिथ्यात्वमें अन्तर्मुहूर्तकाल रहकर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त होकर, विश्राम ले, च्युत हो, मनुष्य हो गया। उस मनुष्य भवमें संयमको अथवा संयमासंयमको परिपालन कर, इस मनुष्य भव सम्बन्धी आयुसे कम बीस सागरोपम आयुकी स्थिति वाले आनत-प्राणत कल्पोंके देवोंमें उत्पन्न होकर पुनः यथाक्रमसे मनुष्यायुसे कम बाईस और चौबीस सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न होकर, अन्तर्मुहूर्त कम दो छयासठ सागरोपम कालके अन्तिम समयमें

मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। (१७-१+२२+३१+२०+२२+२४=२४६६ सागरोपम) यह ऊपर बताया गया उत्पत्तिका क्रम अव्युत्पन्न जनोंके समझानेके लिए कहा है। परमार्थसे तो जिस किसी भी प्रकारसे छयासठ सागरोपम काल पूरा किया जा सकता है।

५. एक समय अन्तर निकालनेका उपाय

नानाजीवापेक्षया—

[दो जीवोंको आदि करके पल्यके असंख्यातवें भाग मात्र विकल्पसे उपशम सम्यग्दृष्टि जीव, जितना काल अवशेष रहने पर सम्यक्त्व छोड़ा था उतने काल प्रमाण सासादन गुणस्थानमें रहकर सब मिथ्यात्वको प्राप्त हुए और तीनों लोकोंमें एक समयके लिए सासादन सम्यग्दृष्टियोंका अभाव हो गया। पुनः द्वितीय समयमें कुछ उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुए। इस प्रकार सासादन गुणस्थानका (*नानाजीवापेक्षया*) एक समय रूप *जघन्य अन्तर* प्राप्त हुआ। बहुत-से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अपने कालके क्षयसे सम्यक्त्वको अथवा मिथ्यात्वको प्राप्त हुए और तीनों ही लोकोंमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंका एक समयके लिए अभाव हो गया। पुनः अनन्तर समयमें ही मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि कुछ जीव सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त हुए। इस प्रकारसे सम्यग्मिथ्यात्वका एक समय रूप जघन्य अन्तर प्राप्त हो गया] (विशेष दे०-ध.५/१,६,४/७/६ ।)

६. पल्य / असं० अन्तर निकालनेका उपाय

नानाजीवापेक्षया—

[इसकी प्ररूपणा भी जघन्य अन्तर एक समयवत् ही जानना। विशेष केवल इतना है कि यहाँपर एक समयके स्थानपर उत्कृष्ट अन्तर पल्यका असंख्यातवाँ भाग मात्र कहा है] (विशेष दे० ध. ५/१,६,६/८/८।)

७. अनन्त काल अन्तर निकालना

एक जीवापेक्षया—

ध. ६/४,१,६६/३०५/२ होदु एदमंतरं पंचिंदियतिरिक्खाणं, ण तिरिक्खाणं; सेसतिगदीट्ठिदीए आणंतियाभावादो। ण, अप्पिदपदजीवं सेसतिगदीसु हिंडाविय अणप्पिदपदेण तिरिक्खेसु पवेसिय तत्थ अणंतकालमच्छिय णिप्पिदिदूण पुणो अप्पिदपदेण तिरिक्खेसुववकंतस्स अणंततरुवलंभादो। =प्रश्न—यह अन्तर पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका भले ही हो, किन्तु वह सामान्य तिर्यंचोंका नहीं हो सकता, क्योंकि, शेष तीन गतियोंका काल अनन्त नहीं है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि विवक्षित पद (कृति संचित आदि) वाले जीवको शेष तीन गतियोंमें घुमाकर तथा अविवक्षित पदसे तिर्यंचोंमें प्रवेश कराकर वहाँ अनन्तकाल तक रहनेके बाद निकलकर अर्पित पदसे तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेपर अनन्तकाल अन्तर पाया जाता है।

४. अन्तर विषयक प्ररूपणाएँ

१. नरक व देवगतिमें उपपाद विषयक अन्तर प्ररूपणा

१. नरक गति—

पं. सं./प्रा. १/२०६ पणयालीसमुहुत्ता पक्खो मासो य विण्णि चउमासा। छम्मास वरिसमेयं च अंतरं होइ पुढवीणं ॥ २०६ ॥ =रत्नप्रभादि सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तरकाल क्रमशः ४५ मुहूर्त, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष होता है।

ह. पु./४/३७०-३७१ चत्वारिंशत्सहाष्टाभिर्घटिकाः प्रथमक्षितौ। अन्तरं नारकोत्पत्तेरन्तरज्ञैः स्फुटीकृतम् ॥३७०॥ सप्ताहश्चैव पक्षः स्यान्मासो मासौ यथाक्रमम्। चत्वारोऽपि च षण्मासा विरहं षट्सु भूमिषु ॥३७१॥ =अन्तरके जाननेवाले आचार्योंने प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तर ४८ घड़ी बतलाया है ॥ ३७० ॥ और नीचेकी ६ भूमियोंमें क्रमसे १ सप्ताह, १ पक्ष, १ मास, २ मास, ४ मास और ६ मासका विरह अर्थात् अन्तरकाल कहा है। ३७१ ॥नोट—(यह कथन नानाजीवापेक्षया जानना। दोनों मान्यताओंमें कुछ अन्तर है जो ऊपरसे विदित होता है।

२. देवगति—

त्रि. सा./५२९-५३० दुसुदुसु तिचउक्केसु य सेसे जणणंतरं तु चवणे य। सत्तदिणपक्खमासं दुगचदुछम्मासगं होदि ॥ ५२९ ॥ वरविरहं छम्मासं इंदमहादेविलोयवालाणं। चउतेत्तीससुराणं तणुरक्खसमाणपरिसाणं। =दोय दोय तीन चतुष्क शेष इन विषै जननान्तर अर च्यवनै कहिये मरण विषै अन्तर सो सात दिन, पक्ष, मास, दो, चार, छह मास प्रमाण हैं। (अर्थात् सामान्य देवोंके जन्म व मरणका अन्तर उत्कृष्टपने सौधर्मादिक विमानवासी देवोंमें क्रमसे दो स्वर्गोंमें सात दिन, आगेके दो स्वर्गोंमें एक पक्ष, आगे चार स्वर्गोंमें एक मास, आगे चार स्वर्गोंमें दो मास, आगे चार स्वर्गोंमें चार मास, अवशेष ग्रैवेयकादि विषै छह मास जानना) ॥ ५२९ ॥ उत्कृष्टपने मरण भए पीछे तिसकी जगह अन्य जीव आय यावत् न अवतरै तिस कालका प्रमाण सो सर्व ही इन्द्र और इन्द्रकी महादेवी, अर लोकपाल, इनका तो विरह छह मास जानना। बहुरि त्रायस्त्रिंश देव अर अंगरक्षक अर सामानिक अर पारिषद इनका च्यार मास विरह काल जानना ॥५३०॥

२. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंकी सूची

संकेत	अर्थ
अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त (जघन्य कोष्ठकमें जघन्य व उत्कृष्ट कोष्ठकमें उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ।
अप०	अपर्याप्त
असं०	असंख्यात
आ०	आवली
२८/ज.	२८ प्रकृतियोंकी सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव ।
ज-उ०	उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य व अजघन्य बन्ध उदयादि ।
ति०	तिर्यंच
प०	पर्याप्त
पु० परि०	पुद्गल परिवर्तन
परि०	परिवर्तन
पू० को०	पूर्वकोटी
पृ०	पृथक्त्व
बा०	बादर
भुजगार	भुजगार अल्पतर अवस्थित अवक्तव्य बन्ध उदय आदि ।
मनु०	मनुष्य
ल० अप०	लब्धि अपर्याप्त
वृद्धि	बन्ध उदयादिमें षट्स्थान पतित वृद्धि हानि ।
वृद्धि आदि पद	जघन्य उत्कृष्ट वृद्धि हानि व अवस्थान पद ।
सं०	संख्यात
सा०	सागर व सामान्य
सू०	सूक्ष्म
स्थान	जैसे २४ प्रकृति बन्ध स्थान, २८ प्रकृति बन्धका स्थान आदि ।

३. अन्तर विषयक ओघ प्ररूपणा :—१. प० ख० ५/१-६/सूत्र सं० टीका सहित ध. ५/पृ. १-२१

गुणस्थान	नाना जीवापेक्षया						एक जीवापेक्षया					
	सू	जघन्य	अपेक्षा	सू	उत्कृष्ट	अपेक्षा	सू	जघन्य	अपेक्षा	सू	उत्कृष्ट	अपेक्षा
१	२	...	निरन्तर	२	...	निरन्तर	३	अन्तर्मुहूर्त	दे० अन्तर/३/१	४	२×६६ सा०—अन्तर्मुहूर्त	दे० अन्तर ३/४
२	५	१ समय	दे० अन्तर/३/५	६	पल्य/असं०	दे० अन्तर/३/६	७	पल्य/असं०	दे० अन्तर २/६/१	८	अर्ध०पु०परि०-१४ अन्तर्मुहूर्त +१ समय	प्रथमोपशमसे सासादन पूर्वक मिथ्यात्व पुनः वैसे ही। फिर वेदकक्षायिक व मोक्ष
३	५	,,	,,	५	,,	,,	७	अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	८	,,	सासादनवत्
४	६	...	निरन्तर	६	...	निरन्तर	१०	,,	४ व ५ के बीच गुणस्थान परिवर्तन	११	अर्ध०पु०परि० —११ अन्तर्मु०	मिथ्यात्वसे प्रथमोपशम, १ अन्तर्मु० आदिमें रहकर मिथ्यात्व। आगे १० अन्तर्मुहूर्त संसार शेष रहने पर ४थे को प्राप्त हुआ।
५	६	...	,,	६	...	,,	१०	,,	५वें से ४थे ६ठे या १ले में आ पुनः ५वाँ	११	,,	प्रथमोपशमके साथ ५वाँ। आगे उपरोक्तवत्
६	६	...	,,	६	...	,,	१०	,,	६ठे से ७वाँ पुनः ६ठा। नीचे उतर कर जघन्य अंतर प्राप्त नहीं होता।	११	अर्ध०पु०परि०-१० अन्तर्मुहूर्त	पहले ही प्रथमोपशमके साथ प्रमत्त। आगे उपरोक्तवत्
७	६	...	,,	६	...	,,	१०	,,	७वें से उपशम श्रेणी पुनः ७वाँ। नीचे उतर कर जघन्य अन्तर नहीं होता।	११	,,	उपरोक्तवत् (६ठे के स्थानपर ७वाँ)
उप० ८	१२	१ समय	७-८ जन ऊपर चढ़ें तब १ समय के लिए अंतर पड़े	१३	वर्ष पृ०	७-८ जनें ऊपर चढ़ें तब	१४	,,	यथा क्रम ८, ९, १०, ११ में चढ़ कर नीचे गिरा	१५	अर्ध०पु०परि०-२८ अन्तर्मुहूर्त	अनादि मिथ्यादृष्टि यथाक्रम ११वें जाकर ८वें को प्राप्त करता हुआ नीचे गिरा। पुनः ८,९,१०,११,१०,९,८,७-६,८,९ १०,१२,१३,१४,मोक्ष, यथायोग्यरूपेण उपरोक्तवत्
९-११	१२	,,	,,	१३	,,	,,	१४	,,	,,	१५	,,—२६ अन्तर्मु०	
१०	१२	,,	,,	१३	,,	,,	१४	,,	,,	१५	,,—२४ ,,	,, ,,
११	१२	,,	,,	१३	,,	,,	१४	,,	यथा क्रम ११ से १०, ९, ८, ७-६, ८, ९, १०, ११ रूपसे गिरकर ऊपर चढ़ना	१५	,,—२२ ,,	,, ,,
क्षप० ८-१२	१६	,,	७-८ या १०८ जन ऊपर चढ़ने पर अंतर होता है	१७	६ मास	,,	१८	...	पतनका अभाव	१८	...	पतनका अभाव
१३	१६	...	निरन्तर	१६	...	निरन्तर	२०	...	,,	२०	...	,,
१४	१६	१ समय	८-१२ तक की भाँति	१७	...	,,	१८	...	,,	१८	...	,,

४. आदेश प्ररूपणा :— प्रमाण—१. ष० ख० ५/१,६/सूत्र सं० टीका सहित. ध० पु० ५/पृ० २१-१७६ २. ष० ख० ७/२,३-/ सूत्र सं० टीका सहित. ध० ७/पृ० १८७-२३६ ३. ष० ख० ७/२, ६/सूत्र सं० टीका सहित, ध० ७/पृ० ४७८-४६४

मार्गणा		नानाजीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू.	सू.			सू.	सू.			सू.			सू.	सू.		
१. गति मार्गणा—																
१. नरकगति—																
नरक सामान्य	...		२	...	निरन्तर	—	२	...		२	अन्तर्मुहूर्त	गति परिवर्तन		३	असं० पु० परि०	गति परिवर्तन
१-७ पृथिवी	...		४	...	"	—	४	...		४	"	"		४	"	"
नरक सामान्य	१	२१		...	"	२१		...	२२		"	गुणस्थान परिवर्तन	२३		३३ सा०-६ अन्तर्मु०	२८/ज० ७वीं पृथिवीमें ६ पर्याप्तियाँ पूर्ण कर वेदकसम्य० हो भवके अन्तमें मिथ्यात्व सहित च्यय कर तिर्यच हुआ।
	४	२१		...	"	२१		...	२२		"	"	२३		" "	२८/ज० ७वीं पृ० १लेसे ४था वेदक पुन. १ला। आयुके अन्तमें उपशम सम्यक्त्व।
	२	२४		१ समय	ओघवत्	२५		पल्य/असं०	२६		पल्य/असं०	ओघवत्	२७		" -५ "	" " "
	३	२४		"	"	२५		"	२६		अन्तर्मुहूर्त	"	२७		" -६ "	" " "
१-७ पृथिवी	१,४	२८		...	निरन्तर	२८		...	२९		"	"	३०		क्रमेण देशोन १,३,७,१०,१७,२२,३३ सा०	" " "
	२	३१		१ समय	ओघवत्	३२		पल्य/असं०	३३		पल्य/असं०	"	३४		"	" " "
	३	३१		"	"	३२		"	३३		अन्तर्मुहूर्त	"	३४		"	" " "
२. तिर्यंच गति—																
तिर्यच सामान्य	...		६	...	निरन्तर		६	...		६	क्षुद्र भव	ति० से मनु० हो कदली घात कर पुनः ति०		७	१०० सा० पृ०	शेष अविवक्षित गतियोंमें भ्रमण
पंचे० सा०, प०, अप०,	...		६	...	"		६	...		६	"	"		१०	असं० पु० परि०	"
योनिमति	...		६	...	"		६	...		६	"	"		१०	"	"
ल० अप०	...	५२		...	"	५२	—	...	५३		"	पर्याय विच्छेद	५४		"	"
तिर्यच सामान्य	१	३५		...	"	३५		...	३६		अन्तर्मुहूर्त	ओघवत्	३७		३ पल्य-२ मास +मुहूर्त पृ०	२८/ज० वेदक हो आयुके अन्तमें मिथ्या०, पुनः सम्यक्त्व हो देवोंमें उत्पत्ति
	२-५	३८		ओघवत्	ओघवत्	३८		ओघवत्	३८		ओघवत्	"	३८		"	"
पंचे० सा० प० व योनिमति	१	३९		...	निरन्तर	३९		...	४०		अन्तर्मुहूर्त	"	४१		३ पल्य-२ मास +२ अन्तर्मुहूर्त०	"
	२	४२		१ समय	ओघवत्	४३		पल्य/असं०	४४		पल्य/असं०	"	४५		३ पल्य-६५ पृ० को योनिमतिमें ६५ के स्थानपर १५ पृ०को	दे० अन्तर/३/२
	३	४२		"	"	४२		"	४४		अन्तर्मुहूर्त	"	४५		"	" (सासा०के स्थान पर मिश्र)
	४	४६		...	निरन्तर	४६		...	४७		"	"	४८		"	" ([illegible] सम्य०)

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
पंचें० सा०, प०	५	४६		...	निरन्तर	४६		...	५०		अन्तर्मुहूर्त	ओघवत्	५१		३ पल्य+६६पू० को०	सासादनवत्
योनिमति	५	४६		...	,,	४६		...	५०		,,	,,	५१		,, +१६पू० को०	,,
पंचें० ति० ल० अप०	१	५२		...	,,	५२		...	५६		...	निरन्तर	५६		...	निरन्तर
३. मनुष्य गति :—																
मनु० सा०, प० व मनुष्यणी	...		६	...	निरन्तर		६	...		६	क्षुद्र भव	गति परिवर्तन (मनु० से ति०)		१०	असं० पु० परि०	अविवक्षित गतियों में भ्रमण
मनुष्य ल० अप०	...	७८	६	१ समय	...	७६	१०	पल्य/असं०	८०	६	,,	,,	८१	१०	,,	,,
मनु० सा० प० व मनुष्यणी	१	५७		...	निरन्तर			...	५८		अन्तर्मुहूर्त	ओघवत्	५६		३ पल्य-१ मास+४६ दिन+२ अन्तर्मु०	भोग भूमियों में भ्रमण
	२	६०		१ समय	ओघवत्	६१		पल्य/असं०	६२		पल्य/असं०	,,	६३		३ पल्य+४७पू० को०	मनु० गति में भ्रमण तथा गुण स्थान परिवर्तन
	३	६०		,,	,,	६१		,,	६२		अन्तर्मुहूर्त	,,	६३		उपरोक्त—८ वर्ष	,,
	४	६४		...	निरन्तर	६४		...	६५		,,	,,	६६		,,	,,
मनुष्य सामान्य	५-७	६७		...	,,	६७		...	६८		,,	,,	६६		३ पल्य—८ वर्ष+ ४८पू० को०	,,
मनुष्य पर्याप्त	५-७	६७		...	,,	६७		...	६८		,,	,,	६६		,, — ,,+२४ पू० को०	,,
मनुष्यणी	५-७	६७		...	,,	६७		...	६८		,,	,,	६६		,, — ,,+८ पू० को०	,,
उपशमक :—																
मनुष्य पर्याप्त,	८-११	७०		१ समय	ओघवत्	७१		वर्ष पृ०	७२		,,	,,	७३		,, — ,,+२४ पू० को०	,,
मनुष्यणी	८-११	७०		,,	,,	७१		,,	७२		,,	,,	७३		,, — ,,+ ८ पू० को०	,,
क्षपक :—																
मनुष्य पर्याप्त	८-१२	७४		,,	,,	७५		६ मास	७६		...	,,	७६		...	ओघवत्
मनुष्यणी	८-१२	७४		,,	उपशमकवत्	७५		वर्ष पृ०	७६		...	,,	७६		...	,,
मनुष्य व मनुष्यणी	१३	७७		...	ओघवत्	७७		...	७७		...	,,	७७		...	,,
	१४	७४		१ समय	८-१२ वत्	७५		६ मास व वर्ष पृ०	७६		...	,,	७६		...	,,
मनुष्य ल० अप०	१	८३		...	निरन्तर	८३		...	८३		...	निरन्तर	८३		...	निरन्तर

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
	...	सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
४ देवगति:—																
देवसामान्य	...		१२	...	निरन्तर		१२	...		१२	अन्तर्मुहूर्त	देवसे गर्भज मनु० या ति० पुनः देव		१३	असं० पु० परि०	तिर्यंचों में भ्रमण
भवनत्रिक	...		१४	...	"		१४	...		१४	"	"		१४	"	"
सौधर्म ईशान	...		१४	...	"		१४	...		१४	"	"		१४	"	"
सानत्कुमार माहेन्द्र	...		१४	...	"		१४	...		१६	मुहूर्त पृथक्त्व	इस स्वर्ग में मनु० या ति० की आयु इससे कम नहीं बन्धती		१७	"	"
ब्रह्म-कापिष्ठ	...		१४	...	"		१४	...		१९	दिवस पृथक्त्व	"		२०	"	"
शुक्र-सहस्रार	...		१४	...	"		१४	...		२२	पक्ष पृथक्त्व	"		२३	"	"
आनत-अच्युत	...		१४	...	"		१४	...		२५	मास पृथक्त्व	"		२६	"	"
नव ग्रैवेयक	...		१४	...	"		१४	...		२८	वर्ष पृथक्त्व	"		२९	"	"
नव अनुदिश	...		१४	...	"		१४	...		३१	"	"		३२	२ सा०+२ पू० को०	वहाँसे चय पूर्व कोटि वाला मनु० हो, वहाँसे सौधर्म ईशानमें जा; २ सा० पश्चात् पुनः पूर्व कोटिवाला मनु० ही संयम धार मरे और विवक्षित देव होय
सर्वार्थसिद्धि	...		१४	...	"		१४	...		३४	...	वहाँसे आकर नियमसे मोक्ष		३४	...	वहाँ से आकर नियम से मोक्ष
देव सामान्य	१	८४		...	"	८४		...	८५		अन्तर्मुहूर्त	ओघवत्	८६		३१ सा०-४ अंतर्मु०	द्रव्य लिंगी उपशम ग्रैवेयकमें जा सम्य० ग्रहणकर भवके अन्तमें मिथ्यात्व
	४	८४		...	"	८४		...	८५		"	"	८६		" -५ अंतर्मु०	"
	२	८७		१ समय	ओघवत्	८८		पल्य/असं०	८९		पल्य/असं०	"	९०		" -३ समय	" परन्तु सासादन सहित उत्पत्ति
	३	८७		"	"	८८		"	८९		अन्तर्मुहूर्त	"	९०		" -६ अंतर्मु०	उपरोक्त जीव नव ग्रैवेयकमें नवीन सम्य० को प्राप्त हुआ
भवनत्रिक व सौधर्म-सहस्रार	१	९१		...	निरन्तर	९१		...	९२		"	"	९३		स्व आयु-४ अंतर्मु०	मि० सहित उत्पत्ति, सम्य० प्राप्ति, अन्तमें च्युति
	४	९१		...	"	९१		...	९२		"	"	९३		" -५ अंतर्मु०	"
	२-३	९४		देव सा० वत्	देव सा० वत्	९४		देव सा० वत्	९४		देव सा० वत्	देव सा० वत्	९४		देव सा० वत्	नोट:—३१ सागरके स्थान पर स्व आयु लिखना।
आनत-उप० ग्रैवेयक	१-४	९६अ		"	"	९५अ		"	९६अ		"	"	९७अ		"	"
		९८				९८			९८				९८			
अनुदिश-सर्वार्थसिद्धि	४	९९		...	निरन्तर	९९		...	९९		...	वहाँसे आकर नियमसे मोक्ष	९९		...	वहाँसे आकर नियमसे मोक्ष

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण ०	३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	२	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	२	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
३. इन्द्रिय मार्गणाः--																
एकेन्द्रिय सा०	...	१०१	१६	...	निरन्तर	१०१	१६	...	१०२	३६	क्षुद्रभव	अन्य पर्याय में जाकर पुनः एकेन्द्रिय	१०३	३७	२००० सा०+पू० को०	त्रसकायिक में भ्रमण
बा० सा०, प०, अप०	...	१०४	१६	...	,,	१०४	१६	...	१०५	३९	,,	,,	१०६	४०	असं० लोक	सूक्ष्म एकें० में भ्रमण (तीनों में कुछ कुछ अन्तर है)
सू० सा०	...	१०८	१६	...	,,	१०८	१६	...	१०९	४२	,,	,,	११०	४३	असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी	बा० एके० में भ्रमण
सू० प०, अप०	...	१०८	१६	...	,,	१०८	१६	...	१०९	४२	,,	,,		४३	ऊपर से कुछ अधिक	अविवक्षित पर्यायों में भ्रमण
विकलें० व पचें० सा०	...	१११	१६	...	,,	१११	१६	...	११२	४५	,,	,,		४६	असं० पु० परि०	एकेन्द्रियों में भ्रमण
पचें० स० अप०	...	१२७		...	,,	१२७		...	१२७		,,	गति परिवर्तन	१२७		असं० पु० परि०	विकलेन्द्रिय में भ्रमण
,,	१	१२९		...	,,	१२९		...	१२९		...	निरन्तर	१२९		...	निरन्तर
एकेन्द्रिय सा०	१	१०१		...	,,	१०१		...	१०२		क्षुद्रभव	अन्य प०में जाकर पुनः ए०	१०३		२००० सा०+पू० को०	त्रसकाय में भ्रमण
,, बा० सा०	१	१०४		...	,,	१०४		...	१०५		,,	,,	१०६		असं० लोक	सूक्ष्म एकें० में भ्रमण
बा० प० अप०	१	१०७		...	,,	१०७		...	१०७		,,	,,	१०७		,,	,,
सू० सा०, प०, अप०	१	१०८		...	,,	१०८		...	१०९		,,	,,	११०		सू० सा० वत्	बा० एकें० में भ्रमण
विकलें० सा०, प०, अप०	१	१११		...	,,	१११		...	११२		,,	,,	११३		असं० पु० परि०	अविवक्षित पर्यायों में भ्रमण
पचें० सा०, प०,	१	११४		—	मूल ओघवत्	११४		—	११४		—	मूल ओघवत्	११४		—	ओघवत्
	२-३	११५		—	,,	११६		—	११७		—	,,	११८		भवनत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति-आ० /असं०-क्रमेण ६ या १२ अन्तर्मुहूर्त	एकेन्द्रिय जीव असंज्ञी पंचें० हो भवनत्रिक में उत्पन्न हुआ। उपशम पूर्वक सासादन फिर मिथ्यादृष्टि। भव के अंत में पुनः सासादन
	४	११९		—	,,	११९		—	१२०		—	,,	१२१		भवनत्रिककी उत्कृष्ट स्थिति-१० अंतर्मु०	असंज्ञी पंचें०भवको प्राप्त एकें० भवनत्रिक में उत्पन्न हो उपशम पा गिरा। भव के अंत में पुनः उपशम।
	५	११९		—	,,	११९		—	१२०		—	,,	१२१		स्व उ० स्थिति-३ पक्ष ३ दिन १२ अंत० + ६ मुहूर्त	संज्ञी भव प्राप्त एकें० उपशम सहित ५ वाँ पा गिरा। भव के अंत में पुनः उपशम सहित संयमासंयम प्राप्त किया
	६-७	११९		—	,,	११९		—	१२०		—	,,	१२१		स्व उ० स्थिति-(८वर्ष+१० अंतर्मु० +६ अंतर्मु०)	मनुष्य भव प्राप्त एकें० गर्भादि के काल पश्चात् संयम पा गिरा। मनु० व देवादि में भ्रमण। अन्त में मनुष्य हो, भव के अन्त में संयम
उपशमक	८-११	१२२		—	,,	१२२		—	१२३		—	,,	१२४		,,	नोटः-१० अन्तर्मु०के स्थानपर क्रमशः३०, २८, २६, २४ करें।
क्षपक	८-१४	१२५		—	,,	१२५		—	१२५		—	,,	१२५		—	मूलोघवत्

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
३. काय मार्गणा :–																
चार स्थावर बा० सू० प० अप०	...		१६	...	निरन्तर		१६	...		४८	क्षुद्रभव	अविवक्षित पर्यायमें जाकर लौटे		४६	असं० पु० परि०	अविवक्षित पर्यायों में भ्रमण
वनस्पति साधारण निगो०	...		१६	...	”		१६	...		५१	”	”		५२	असं० लोक	पृथिवी आदि में भ्रमण
बन०नि०बा०सू०प०अप०	...		१६	...	”		१६	...		५१	”	”		५२	”	”
बन० प्रत्येक बा० प०	...		१६	...	”		१६	...		५४	”	”		५५	$2\frac{1}{2}$ पु० परि०	निगोदादि में भ्रमण
त्रस० सा० प० अप०	...		१६	...	”		१६	...		५७	”	”		५८	असं० पु० परि०	वनस्पति आदि स्थावरों में भ्रमण
त्रस ल० अप०	...			...	”			...			”	”			..	”
चार स्थावर बा० सू० प० अप०	१	१३०		...	”	१३०		...	१३१		”	”	१३२			अविवक्षित वनस्पति में भ्रमण
बन० नि० सा० बा० सू० प० अप०	१	१३३		...	”	१३३		...	१३४		”	”	१३५		असं० लोक	चार स्थावरों में भ्रमण
बन० प्रत्येक सा०प०अप०	१	१३६		...	”	१३६		...	१३७		”	”	१३८		$2\frac{1}{2}$ पु० परि०	निगोदादि में भ्रमण
त्रस सा० प०	१	१३९		—	मूल ओघवत्	१३९		—	१३९		—	मूल ओघवत्	१३९		—	मूल ओघवत्
	२	१४०		—	”	१४०		—	१४१		—	”	१४२		२०००सा+पू०को० पृ० -आ/असं- ९ अंतर्मु०	असंज्ञी पंचें० भव प्राप्त एकें० भवनत्रिक में उत्पन्न हो सासादन वाला हुआ। च्युत हो त्रसों में भ्रमण कर अन्त में सासादन फिर स्थावर।
	३	१४०		—	”	१४०		—	१४१		—	”	१४२		” ”–१२ अंतर्मु०	”
	४	१४३		—	”	१४३		—	१४४		—	”	१४५		” ”–१०अंतर्मु०	”
	५	१४३		—	”	१४३		—	१४४		—	”	१४५		”–४८दिन-१२ अंतर्मु	संज्ञी प्राप्त एकें० ५ वाँ पा गिरे। भ्रमण। फिर संज्ञी पा ५ वाँ प्राप्त करे।
	६-७	१४३		—	”	१४३		—	१४४		—	”	१४५		”–८वर्ष–१० अंतर्मु०	उपरोक्तवत् परन्तु एकें० से मनु० भव।
उपशामक	८-११	१४६		—	”	१४६		—	१४७		—	”	१४८			नोट:–१० अंतर्मु०के स्थानपर क्रमशः ३०, २८, २६, २४ करें
क्षपक	८-१४	१४९		—	”	१४९		—	१४९		—	”	१४९		—	मूल ओघवत्
त्रस ल० अप०	१	१५१		...	निरन्तर	१५१		...	१५१		...	निरन्तर	१५१		...	निरन्तर
४. योग मार्गणा :–																
पाँचों मन व वचन योग	...		२२	...	”		२२	...		६०	अन्तर्मुहूर्त	एक समय अन्तर सम्भव नहीं		६१	असं० पु० परि०	काययोगियों में भ्रमण
काययोग सा०	...		२२	...	”		२२	...		६३	१ समय	मरण पश्चात् भी पुनः काय योग होता ही है।		६४	अन्तर्मुहूर्त	योग परिवर्तन

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
औदारिक०	...		२२	...	निरन्तर		२२	...		६६	१ समय	मरकर जन्मते ही काय योग होता ही है		६७	३३ सा०+१ अंतर्मु०+२ समय	औ० से चारों मनोयोग फिर चारों वचन योग फिर सर्वार्थसिद्धि देव, फिर मनुष्य में अन्तर्मु० तक औ० मिश्र, फिर औदारिक
औदारिक मिश्र	...		२२	...	,,		२२	...		६६	,,	विग्रह गतिमें १ समय कार्मण फिर औ० मिश्र०		६७	३३ सा०+पू० को० +अन्तर्मु०	,,
वैक्रियक	...		२२	...	,,		२२	...		६६	,,	व्याघात की अपेक्षा		७०	असं० पु० परि	औ० काययोगियों में भ्रमण
वैक्रियक मिश्र	...		२५	१ समय	...		२६	१२ मुहूर्त		७२	साधिक १०००० वर्ष	नारकी व देवों में जा वहाँ से आ पुनः वहीं ही जाने वाले मनु० व ति०		७३	,,	,,
आहारक	...		२८	,,	...		२९	वर्ष पृ०		७५	अन्तर्मुहूर्त	...		७६	अर्ध० पु० परि०— ८ अन्तर्मु०	...
आहारक मिश्र	...		२८	,,	...		२९	,,		७५	,,	...		७६	,, — ७ अन्तर्मु०	...
कार्मण	...		२२	...	निरन्तर			...		७८	क्षुद्र भव-३ समय	...		७९	असं०×असं० उत्० अवसर्पिणी	बिना मोड़े की गति से भ्रमण
मनो व वचन सा० व चारों प्रकार के विशेष तथा काय सा० व औ०	१	१५३		...	निरन्तर	१५३		...	१५३		...	निरन्तर (उत्कृष्टवत्)	१५३		...	गुणस्थान परिवर्तन करनेसे योग भी बदल जाता है।
	४-७	,,		...	,,	,,		...	,,		...	,,	,,		...	,,
	१३			...	,,	,,		...	,,		...	,,	,,		...	,,
	२-३	१५४		—	मूलोघवत्	१५५		—	१५६		—	,,	१५६		...	,,
उपशामक	८-११	१५७		—	,,	१५७		—	१५८		...	,,	१५८		...	,,
क्षपक	८-१२	१५९		—	,,	१५९		—	१५९		—	मूल ओघवत्	१५९		—	मूल ओघवत्
औ० मिश्र	१	१६०		...	निरन्तर	१६०		...	१६०		...	निरन्तर	१६०		...	निरन्तर
	२	१६१		—	मूलोघवत्	१६१		—	१६२		...	,,	१६२		...	मिश्र योग में अन्य योग रूप परि० भी नहीं तथा गुणस्थान परि० भी नहीं
	४	१६३		१ समय	(देखें नीचे)	१६४		वर्ष पृ०	१६५		...	निरन्तर (उत्कृष्टवत्)	१६५		...	,,
	१३	१६६		,,		१६७		,,	१६८		...	,,	१६८		...	,,
वैक्रियक	१-४	१६९		—	मनोयोगवत्	१६९		—	१६९		—	मनोयोगवत्	१६९		—	मनोयोगवत्
वै० मिश्र	१	१७०		१ समय		१७१		१२ मुहूर्त	१७२		...	निरन्तर (उत्कृष्टवत्)	१७२		...	औ० मिश्र के सासादनवत्
	२-४	१७३		—	औ० मिश्रवत्	१७३		—	१७३		—	औ० मिश्रवत्	१७३		—	औ० मिश्रवत्
आहारक व मिश्र	६	१७४		१ समय	...	१७५		वर्ष पृ०	१७६		—	निरन्तर (उत्कृष्टवत्)	१७६		...	औ० मिश्र के सासादनवत्
कार्मण	१,२,४,१३	१७७		—	औ० मिश्रवत्	१७७		—	१७७		...	,,	१७७		...	—

१ समय अन्तर=असंयत सम्यग्दृष्टि देव नरक व मनु० का मनु० में उत्पत्ति के बिना और असं० मनुष्योंका तिर्यंचोंमें उत्पत्तिके बिना

वर्ष पृ० अन्तर=असंयत सम्यग्दृष्टियोंका इतने कालतक तिर्यंच मनुष्योंमें उत्पाद नहीं होता

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
५. वेद मार्गणा :—																
स्त्रीवेद सा०	...		३१	...	निरन्तर		३१	...		८१	क्षुद्र भव			८२	असं० पु० परि०	नपुं० वेदी एकेन्द्रियोंमें भ्रमण
पुरुषवेद सा०	...		३१	...	”		३१	...		८४	१ समय	उपशम श्रेणी से उतरते हुए मृत्यु		८५	”	”
नपुंसकवेद सा०	...		३१	...	”		३१	...		८७	अन्तर्मुहूर्त	क्षुद्रभवमें भी नपुं० है।		८८	१०० सा० पृ०	अविवक्षित वेदों में भ्रमण
अपगतवेद उप०	...		३१	...	”		३१	...		९०	”	उपशम से उतर कर पुनः आरोहण		९१	कुछ कम अर्ध० पु० परि०	
” क्षपक	...		३१	...	”		३१	...		९२	...	पतन का अभाव		९२	...	पतन का अभाव
१. स्त्रीवेद	१	१७८		...	”	१७८		...	१७९		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	१८०		५५ पल्य-५ अन्तर्मु०	२८/ज. पुं० वेदी मनु० देवियोंमें जा गुणस्थान परिवर्तन कर पुनः मनुष्य
	२	१८१		—	मूलोघवत्	१८१		—	१८२		पल्य/असं०	मूल ओघवत्	१८३		पल्यशत पृ०-२ समय	सासादन की १ समय स्थिति रहने पर अन्य वेदी स्त्रीवेद सा०में उपजा। च्युत हो स्त्रीवेदियोंमें भ्रमण । भवान्त में सासादन हो देवों में जन्म।
	३	१८१		—	”	१८१		—	१८२		अन्तर्मुहूर्त	”	१८३		”-६ अंतर्मु०	” (परन्तु देवियोंमें जन्म)
	४	१८४		...	निरन्तर	१८४		...	१८५		”	”	१८६		”-५ अन्तर्मु०	” ”
	५	१८४		...	”	१८४		—	१८५		”	”	१८६		”-(२ मास+ दिवस पृ०+२ अंतर्मु०)	” (स्त्रीवेदी सामान्य में उत्पन्न कराना)
	६-७	१८४		...	”	१८४		...	१८५		”	”	१८६		”-(८वर्ष+३३ अंत०)	” (स्त्रीवेदी मनुष्यों में उत्पन्न कराना)
उपशमक	८	१८७		—	मूल ओघवत्	१८७		—	१८८		”	”	१८९		”-(८ वर्ष+१३अंत०)	” (”)
”	९	१८७		—	”	१८७		—	१८८		”	”	१८९		”-(८ वर्ष+१२अंत०)	” (”)
क्षपक	८-९	१९०		१ समय	अप्रशस्त वेदमें अधिक नहीं होते	१९१		वर्ष पृ०	१९२		...	पतन का अभाव	१९२		...	पतन का अभाव
२. पुरुषवेद	१	१९३		—	मूलोघवत्	१९३		—	१९३		—	मूलोघवत्	१९३		—	मूलोघवत्
	२	१९४		१ समय	”	१९५		पल्य/असं०	१९६		पल्य/असं०	”	१९७		पल्यशत पृ०-२ समय	स्त्रीवेदीवत् (परन्तु देवियों में जन्म)
	३	१९४		”	”	१९५		”	१९६		अन्तर्मुहूर्त	”	१९७		”-६ अन्तर्मु०	”
	४	१९८		...	निरन्तर	१९८		...	१९९		”	”	२००		”-५ ”	”
	५	१९८		...	”	१९८		...	१९९		”	”	२००		”-(२मा.३दि.११अंत०	”
	६-७	१९८		...	”	१९८		...	१९९		”	”	२००		”-(८वर्ष१०अं.+६अं)	”
उपशमक	८	२०१		—	मूलोघवत्	२०१		—	२०२		”	”	२०३		”-(८ वर्ष २९ अंत.)	”
”	९	२०१		—	”	२०१		—	२०२		”	”	२०३		”-(८ वर्ष २७ अंत.)	”
क्षपक (दृष्टि १)	८-९	२०४		१ समय	स्त्री व नपुं० रहते हैं	२०५		साधिक १ वर्ष ६ मास	२०६		...	पतन का अभाव	२०६		...	पतन का अभाव
” (दृष्टि २)	८-९	२०५		”	स्त्री व नपुं० नहीं	२०५		”	२०६		...	”	२०६		...	”

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू.	सू.			सू.	सू.		सू.	सू.			सू.	सू.		
३. नपुंसक वेद	१	२०७		...	निरन्तर	२०७		...	२०८		अन्तर्मुहूर्त	मूलोघवत्	२०९		३३ सा०-६ अन्तर्मु०	२८ ज० ७वीं पृथिवीमें उपज सम्यक्त्व पा भवके अन्तमें पुनः मिथ्यादृष्टि
	२-७	२१०		—	मूलोघवत्	२१०		—	२१०		—	,,	२१०		—	मूलोघवत्
उपशमक	८-९	२१०		—	,,	२१०		—	२१०		—	,,	२१०		—	,,
क्षपक	८-९	२११		१ समय	स्त्रीवेदीवत्	२१२		वर्ष पृ०	२१३		...	पतनका अभाव	२१३		...	पतनका अभाव
४. अपगत वेद उप०	९-१०	२१४		,,	मूलोघवत्	२१५		,,	२१६		अन्तर्मुहूर्त	मूलोघवत्	२१७		अन्तर्मुहूर्त	गिरनेपर अपगत वेदी नहीं रहता
	११	२१८		,,	ऊपर चढ़कर गिरे	२१९		,,	२२०		—	वेदका उदय नहीं	२२०		...	इस स्थानमें वेदका उदय नहीं
,, क्षपक	९-१४	२२१		—	मूलोघवत्	२२१		—	२२१		—	मूलोघवत्	२२१		—	मूलोघवत्
६. कषाय मार्गणा—																
क्रोध	...		३४	...	निरन्तर		३४	...		९४	१ समय	कषाय परि० कर मरे। नरकमें जन्म		९५	अन्तर्मुहूर्त	किसी भी कषायकी स्थिति इससे अधिक नहीं
मान	...		३४	...	,,		३४	...		९४	,,	,, मनु.जन्म व्याघात नहीं		९५	,,	,,
माया	...		३४	...	,,		३४	...		९४	,,	,, ति.जन्म व्याघात नहीं		९५	,,	,,
लोभ	...		३४	...	,,		३४	...		९४	,,	,, देवजन्म व्याघात नहीं		९५	,,	,,
उपशान्त कषाय	...			—	मूलोघवत्			—		९६	अन्तर्मुहूर्त	उपशम श्रेणीसे उतर पुनः आरोहण		९६	कुछ कम अर्ध० पु० परि०	,,
क्षीण कषाय	...			—	,,			—		९६	...	पतनका अभाव		९६	...	पतनका अभाव
चारों कषाय	१-१०	२२३		—	मनोयोगीवत्	२२३		—	२२३		—	मनोयोगीवत्	२२३		—	मनोयोगीवत्
उपशमक	८-१०	२२३		—	,,	२२३		—	२२३		—	,,	२२३		—	,,
क्षपक	८-१०	२२३		—	,,	२२३		—	२२३		—	,,	२२३		—	,,
अकषाय	११	२२४		१ समय	उपशम श्रेणीके कारण	२२५		वर्ष पृ०	२२६		...	नीचे उतरनेपर अकषाय नहीं रहता	२२६		...	नीचे उतरनेपर अकषाय नहीं रहता
,,	१२-१४	२२७		—	मूलोघवत्	२२७		—	२२७		—	मूलोघवत्	२२७		—	मूलोघवत्
७. ज्ञान मार्गणा—																
मति, श्रुत अज्ञान	...		३७	...	निरन्तर		३७	—		९८	अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन		९९	१३२ सा०	सम्यक्त्वके साथ ६६ सा० रह सम्यग्मि० में आ पुनः सम्यक्त्वके साथ ६६ सा०। फिर मिथ्या०
विभंग	...		३७	...	,,		३७	...		१०१	,,	,,		१०२	असं० पु० परि०	अविवक्षित पर्यायोंमें भ्रमण
मति, श्रुत, अवधिज्ञान	...		३७	...	,,		३७	...		१०४	,,	,,		१०५	कुछकम अर्ध०पु०परि०	सम्यक्त्वसे च्युत हो भ्रमण, पुनः सम्य०
मनःपर्यय	...		३७	...	,,		३७	...		१०४	,,	,,		१०५	,,	,,
केवल	...		३७	...	पतनका अभाव		३७	...		१०७	...	पतनका अभाव		१०७	...	पतनका अभाव
कुमति, कुश्रुत व विभंग	१	२२९		...	निरन्तर	२२९		...	२२९		...	निरन्तर	२२९		...	निरन्तर
	३	२३०		—	मूलोघवत्	२३०		—	२३१		...	,,	२३१		...	इस गुणस्थानमें अज्ञान ही होता है ज्ञान नहीं

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू.	सू.			सू.	सू.		सू.	सू.			सू.	सू.		
मति-श्रुतज्ञान	४	२३२		...	निरन्तर	२३२		...	२३३		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	२३४		१ पू०को०–४ अन्तर्मु०	२८/ज सम्मूर्च्छिम पर्याप्तकोंमें उपज ४थे ५वेंमें रहकर मरे देव होय
	५	२३५		...	"	२३५		...	२३६		"	"	२३७		६६ सा०+३पू०को० –८वर्ष ११ अन्तर्मु०	२८/ज. मनुष्य हो ५वाँ ६ठा धार उत्कृष्ट स्थिति पश्चात् देव हुआ। वहाँसे चय मनुष्य हो छठा धार पुनः देव हुआ। वहाँ से चय मनुष्य हो ५वाँ फिर ६ठा धार मुक्त हुआ
	६–७	२३८		...	"	२३८		...	२३९		"	"	२४०		३३ सा०+पू० को० –३½ व ५½ अन्तर्मु०	६ठेसे ऊपर जा मरा, देव हो, मनु० हुआ। भवके अन्तमें पुनः ६ठा।
उपशमक	८–११	२४१		१ समय	मूलोघवत्	२४२		वर्ष पृ०	२४३		"	"	२४४		६६सा०+३ पू० को० –८वर्ष २६ अन्तर्मु०	श्रेणी परि०कर नीचे आ संयत हो मनुष्य अनुत्तर देवोंमें उपजा। वहाँसे मनु० संयत, पुनः अनुत्तर देव। फिर मनु० उप०। पीछे नीचे आ क्षपक हो मुक्त हुआ
क्षपक	८–१२			—	"			—			—	मूल ओघवत्				
अवधिज्ञान	४	२३२		...	निरन्तर	२३२		...	२३३		"	गुणस्थान परिवर्तन	२३४		१पू०को०–५ अन्तर्मु०	मतिज्ञानवत् (सम्य०के साथ अवधि भी हुआ)
	५	२३५		..	"	२३५		...	२३६		"	"	२३७		६६ सा०+३पू०को० –८वर्ष १२ अन्तर्मु०	"
	६–७	२३८		—	मति-श्रुतवत्			—	२३९		—	मति-श्रुतवत्	२३९		—	मतिश्रुतवत्
उपशमक	८–१२	२४५		१ समय	ऐसेजीवकमहोतेहैं	२४५		वर्ष पृ०	२४५		...	पतनका अभाव	२४५		...	पतनका अभाव
क्षपक	८–१२	२४५		—	मूलोघवत्	२४५		—	२४५		—	मूलोघवत्	२४५		—	मूलोघवत्
मनःपर्यय	६–७	२४६		...	निरन्तर	२४६		...	२४७		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	२४८		अन्तर्मुहूर्त	६ठेसे ७वाँ और ७वेंसे ६ठा
उपशमक	८–११	२४९		१ समय	मूलोघवत्	२५०		वर्ष पृ०	२५१		"	"	२५२		पूर्व०को०–८ वर्ष –क्रमशः १२, १०, ६, ८ अन्तर्मु०	उप०श्रेणीप्राप्त मनुष्य गुणस्थान परि०कर भवके अन्तमें पुनः श्रेणी चढ़ मरे, देव हो
क्षपक	८–१२	२५३		"	"	२५४		"	२५५		...	पतनका अभाव	२५५		...	पतनका अभाव
केवलज्ञान	१३–१४	२५६		—	"	२५६		—	२५६		—	मूलोघवत्	२५६		—	मूलोघवत्
८. संयम मार्गणाः—																
संयम सामान्य	...		४०	...	निरन्तर			...		१०६	अन्तर्मुहूर्त	असंयत हो पुनः संयत		११०	कुछकमअर्ध०पु०परि०	
सामायिक छेदो०	...		४०	...	"			...		१०६	"	सूक्ष्म साम्प.हो पुनः सामा०		११०	" " – अन्तर्मु०	उप० सम्य० व संयमका युगपद् ग्रहण
परिहारविशुद्धि	...		४०	...	"			...		१०६	"	सामा० छेदो० हो पुनः परिहार विशुद्धि		११०	" –३०वर्ष–अन्तर्मु०	सम्य०के ३० वर्ष पश्चात् परिहार विशुद्धि-का ग्रहण
सूक्ष्मसाम्पराय उप०	...		४३	१ समय			४४	६ मास		११२	"	उपशान्तकषाय हो पुनः सूक्ष्मसाम्पराय		११३	अर्धपु०परि०–अंत०	उप० सम्य० व संयमका युगपद् ग्रहण। तुरत श्रेणी। गिरकर भ्रमण। पुनः श्रेणी।
" " क्षप०	...		४३	"			४४	"		११४	"	पतनका अभाव		११४	...	पतनका अभाव

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	एक जीवापेक्षया प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
यथाख्यात उप०	...		४०	...	निरन्तर		४०	...		११२	अंतर्मुहूर्त	सूक्ष्मसाम्पराय हो पुनः यथा०		११३	अर्ध० पु० परि०- अंतर्मु०	मिथ्यादृष्टियोंमें भ्रमण
क्षप०	...		४०	...	,,		४०	...		११४	...	पतनका अभाव		११४	...	पतनका अभाव
संयतासंयत	...		४०	...	,,		४०	...		१०९	अंतर्मुहूर्त	असंयत हो पुनः संयतासंयत		११०	कुछ कम अर्ध पु० परि०	मिथ्यादृष्टियोंमें भ्रमण
असंयत	...		४०	...	,,		४०	...		११६	,,	संयतासंयत हो पुनः असंयत		११७	१ पू० को०-अंतर्मु०	संयतासंयत हो देवगतिमें उत्पत्ति
सामान्य व उप०	६-११	२५८		—	मनःपर्यय-ज्ञानीवत्	२५८		—	२५८		—	मनःपर्ययज्ञानीवत्	२५८		—	मनःपर्ययज्ञानीवत्
क्षप०	८-१३	२५९		—	मूलोघवत्	२५९		—	२५९		—	मूलोघवत्	२५९		—	मूलोघवत्
सामायिक छेदो०	६-७	२६१		...	निरन्तर	२६१		...	२६२		अंतर्मुहूर्त	परस्पर गुणस्थान परि०	२६३		अंतर्मुहूर्त	परस्पर गुणस्थान परिवर्तन
उपशामक	८-९	२६४		१ समय	मूलोघवत्	२६५		वर्ष पृ०	२६६		,,	श्रेणीसे उतरकर पुनः चढ़नेवाले	२६७		पू० को०-८ वर्ष -११अंतर्मु०व१अंतर्मु०	श्रेणी चढ़ फिर प्रमत्त अप्रमत्त हो भवके अन्तमें पुनः श्रेणी चढ़ मरे देव हो
क्षपक	८-९	२६८		—	मूलोघवत्	२६८		—	२६८		—	मूलोघवत्	२६८		—	मूलोघवत्
परिहार विशुद्धि	६-७	२६९		...	निरन्तर	२६९		...	२७०		अंतर्मुहूर्त	परस्पर गुणस्थान परि०	२७१		अंतर्मुहूर्त	परस्पर गुणस्थान परिवर्तन
सूक्ष्मसाम्पराय उप०	१०	२७२		१ समय	मूलोघवत्	२७३		वर्ष पृ०	२७४		...	अन्य गुण० सम्भव नहीं	२७४		...	अन्य गुणस्थानमें सम्भव नहीं
,, क्षप०	१०	२७५		—	,,	२७५		—	२७५		—	मूलोघवत्	२७५		—	मूलोघवत्
यथाख्यात उप० क्षप०	११-१४	२७६		—	अकषायवत्	२७६		—	२७६		—	अकषायवत्	२७६		—	अकषायवत्
संयतासंयत	५	२७७		...	निरन्तर	२७७		...	२७७		...	अन्य गुण० सम्भव नहीं	२७७		...	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
असंयत	१	२७८		...	,,	२७८		...	२७९		अंतर्मुहूर्त	१ले व ४थेमें गुण० परि०	२८०		३३ सा०-६ अंतर्मु०	७वीं पृ०को प्राप्त मिथ्यात्वी सम्यक्त्व धार भवके अन्तमें पुनः मिथ्यात्व
	२-४	२८१		—	मूलोघवत्	२८१		—	२८१		—	मूलोघवत्	२८१		४थे में ११ को बजाये १५ अंतर्मु०	शेष मूलोघवत्
९ दर्शन मार्गणा :—																
चक्षुदर्शन सा०	...		४६	...	निरन्तर		४६	...		११९	क्षुद्रभव			१२०	असं० पु० परि०	अविवक्षित पर्यायोंमें भ्रमण
अचक्षुदर्शन सा०	...		४६	...	,,		४६	...		१२२	...	संसारी जीवको सदा रहता है		१२२	...	संसारी जीवको सदा रहता है
अवधिदर्शन	...		४६	...	,,		४६	...		१२३	अंतर्मुहूर्त	अवधिज्ञानवत्		१२३	कुछ कम अर्ध०पु० परि०	अवधि ज्ञानवत्
केवलदर्शन	...		४६	...	,,		४६	...		१२४	—	केवलज्ञानवत्		१२४	—	केवलज्ञानवत्
चक्षुदर्शन	१	२८२		—	मूलोघवत्	२८२		—	२८२		—	मूलोघवत्	२८२		—	मूलोघवत्
	२	२८३		—	,,	२८३		—	२८४		—	,,	२८५		२००० सा०-आ/ असं०-६ अंतर्मु०	अचक्षुसे असंज्ञी पंचें० सासादन हो फिर चक्षु दर्शनियोंमें भ्रमण। अंतिम भवमें पुनः सासादन

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
	३	२८३		—	मूलोघवत्	२८३		—	२८४		—	मूलोघवत्	२८५		२००० सा०-१२ अंतर्मु०	उपरोक्त जीव भवनत्रिकमें जा उप०सम्य० पूर्वक मिश्र हो गिरे। स्वस्थिति प्रमाण-भ्रमण। अंतिम भवके अन्तमें पुनः मिश्र।
चक्षुदर्शन	४	२८६		...	निरन्तर	२८६		...	२८७		अंतर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	२८८		२००० सा०-१० अंतर्मु०	उपरोक्त मिश्रवत्
	५	२८६		...	,,	२८६		...	२८७		,,	,,	२८८		,, -४८ दिन -१२ अंतर्मु०	अचक्षुदर्शनी गर्भज संज्ञीमें उपज उप० सम्य० पूर्वक ६ठां धार गिरा। स्वस्थिति प्रमाण भ्रमण। अन्तिम भवके अन्तमें वेदक सहित संयमासंयम।
	६-७	२८६		...	,,	२८६		...	२८७		,,	,,	२८८		,,-८ वर्ष-१० अंतर्मु०	" (परन्तु प्रथम व अन्तिम भवमें मनुष्य)
उपशामक	८-११	२८९		—	मूलोघवत्	२८९		—	२९०		,,	,,	२९१		,," ,, -क्रमशः २६, २७,२५,२३, अंतर्मु०	" "
क्षपक	८-१२	२९२		—	,,	२९२		—	२९२		—	मूलोघवत्	२९२		—	मूलोघवत्
अचक्षुदर्शन	१-१२	२९३		—	,,	२९३		—	२९३		—	,,	२९३		—	,,
अवधिदर्शन	४-१२	२९४		—	अवधिज्ञानवत्	२९४		—	२९४		—	अवधिज्ञानवत्	२९४		—	अवधिज्ञानवत्
केवलदर्शन	१३-१४	२९५		—	केवलज्ञानवत्	२९५		—	२९५		—	केवलज्ञानवत्	२९५		—	केवलज्ञानवत्
१० लेश्यामार्गणा :—																
कृष्ण	...		४६	...	निरन्तर		४६	...		१२६	अंतर्मुहूर्त	नीलमें जा पुनः कृष्ण		१२७	३३ सा०+१ पू० को०-८ वर्ष+१० अंतर्मु०	८ वर्षमें ६ अंतर्मु० शेष रहनेपर कृष्ण हो अन्य पाँचों लेश्याओंमें भ्रमण कर, संयम सहित १ पू० को० रह देव हुआ। वहाँसे आ पुनः कृष्ण।
नील	...		४६	...	,,		४६	...		१२६	,,	कापोत हो पुनः नील		१२७	"+" –"+८ अंतर्मु०	,,
कापोत	...		४६	...	,,		४६	...		१२७	,,	तेज हो पुनः कापोत		१२७	"+" –"+६ अंतर्मु०	,,
तेज	...		४६	...	,,		४६	...		१२९	,,			१३०	असं० पु० परि०	
													गो०	सा०	आ/असं० पु०परि०+	सं० सहस्रवर्ष + ६ अंतर्मु०
पद्म	...		४६	...	,,		४६	...		१२९	,,			१३०	असं० पु० परि०	
													गो०	सा०	आ/असं० पु०परि०+	सं० सहस्रवर्ष + पल्य + असं/२सा० + ६ अंतर्मु०
शुक्ल	...		४६	...	,,		४६	...		१२९	,,			१३०	असं० पु० परि०	...
													गो०	सा०	पद्मवत् परन्तु	६ अंतर्मु० की जगह ७ अंतर्मु०
कृष्ण	१	२९६		...	निरन्तर	२९६		...	२९७		,,	गुणस्थान परिवर्तन	२९८		३३ सा०-६ अंतर्मु०	७वीं पृ०में उपज सम्य०। भवान्तमें मिथ्या०
	२	२९९		१ समय	मूलोघवत्	२९९		पल्य/असं०	३००		पल्य/असं०	मूलोघवत्	३०१		" –५ अंतर्मु०	" (परन्तु सम्य० से मिथ्या० कराकर भवके अन्तमें सम्य० कराना)
	३	२९९		,,	,,	२९९		,,	३००		अंतर्मुहूर्त	,,	३०१		" –६ अंतर्मु०	" "
	४	२९६		...	निरन्तर	२९६		...	२९७		,,	गुणस्थान परिवर्तन	२९८		" –८ अंतर्मु०	७वीं पृ० में उपज सम्य० धार मिथ्या० हुआ। भवके अन्तमें पुनः सम्य०।

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
नील	१	२९६		...	निरन्तर	२९६		...	२९७		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	२९८		१७ सा०–४ अंतर्मु०	कृष्णवत् पर ७ वीं की अपेक्षा ६ वीं पृ०
	२	२९९		१ समय	मूलोघवत्	२९९		पल्य/असं०	३००		पल्य/असं०	मूलोघवत्	३०१		,,–४ ,,	,,
	३	२९९		,,	,,	२९९		,,	३००		अन्तर्मुहूर्त	,,	३०१		,,–६ ,,	,,
	४	२९६		...	निरन्तर	२९६		...	२९७		,,	गुणस्थान परिवर्तन	२९८		,,–६ ,,	,,
कापोत	१	२९६		...	,,	२९६		...	२९७		,,	,,	२९८		७ सा०–४ ,,	कृष्णवत् पर ७ वीं की अपेक्षा १ ली० पृ०
	२	२९९		१ समय	मूलोघवत्	२९९		पल्य/असं०	३००		पल्य/असं०	मूलोघवत्	३०१		,,–४ ,,	,,
	३	२९९		,,	,,	२९९		,,	३००		अन्तर्मुहूर्त	,,	३०१		,,–६ ,,	,,
	४	२९६		...	निरन्तर	२९६		...	२९७		,,	गुणस्थान परिवर्तन	२९८		,,–६ ,,	,,
तेज	१	३०२		...	,,	३०२		,,	३०३		,,	,,	३०४		साधिक २ सा० –४ अंतर्मु०	२ सागर आयु वाले देवोंमें उत्पन्न मिथ्या० सम्य० धारे। भवान्तमें पुनः मिथ्य
	२	३०५		१ समय	मूलोघवत्	३०५		पल्य/अ ं०	३०६		पल्य/असं०	मूलोघवत्	३०७		,,–२ समय	,,
	३	३०५		,,	,,	३०५		,,	३०६		अन्तर्मुहूर्त	,,	३०७		,,–६ अंतर्मु०	,,
	४	३०२		...	निरन्तर	३०२		...	३०३		,,	गुणस्थान परिवर्तन	३०४		,,–५ अंतर्मु०	,, (परन्तु मिथ्यात्व प्राप्तको भवान्तमें सम्य०)
पद्म	१	३०२		...	,,	३०२		...	३०३		,,	,,	३०४		साधिक १८ सा०–४ अंतर्मु०	तेजवत् पर ७ की बजाये १८ सा० आयु वाले देवोंमें उत्पत्ति
	२	३०५		१ समय	मूलोघवत्	३०५		पल्य/असं०	३०६		पल्य/असं०	मूलोघवत्	३०७		,, – २ समय	,,
	३	३०५		,,	,,	३०५		,,	३०६		अन्तर्मुहूर्त	,,	३०७		,,–६ अंतर्मु०	,,
	४	३०२		...	निरन्तर	३०२		...	३०३		,,	गुणस्थान परिवर्तन	३०४		,,–५ अंतर्मु०	,,
तेज व पद्म	५-७	३०८		...	निरन्तर	३०८		...	३०८		...	लेश्याकालसे गुण स्थान का काल अधिक है	३०८		...	लेश्या कालसे गुणस्थानका काल अधिक है।
शुक्ल	१	३०९		...	,,	३०९		...	३१०		अन्तर्मुहूर्त	देवोंमें गुणस्थान परि०	३११		३१ सा०– ४ अंतर्मु०	द्रव्य लिंगी उपरिम ग्रैवेयकमें जा सम्य० धार भवके अन्तमें पुनः मिथ्या०
	२	३१२		१ समय	मूलोघवत्	३१२		पल्य/असं०	३१३		पल्य/असं०	मूलोघवत्	३१४		,,–५ अंतर्मु०	,, (यथायोग्य)
	३	३१२		,,	,,	३१२		,,	३१३		अन्तर्मुहूर्त	,,	३१४		,,–५ ,,	,,
	४	३०९		...	निरन्तर	३०९		...	३१०		,,	देवोंमें गुणस्थान परि०	३११		,,–५ ,,	,, (परन्तु सम्य० से मिथ्या० भवान्तमें सम्य०)
	५-६	३१५		...	,,	३१५		...	३१५		...	लेश्याका काल गुणस्थान से कम है	३१५		...	लेश्याका काल गुण स्थान से कम है
	७	३१६		...	,,	३१६		...	३१७		अन्तर्मुहूर्त	ज्यों पूर्वक उपशम श्रेणी पर चढ़कर उतरे	३१८		अन्तर्मुहूर्त	उप० श्रेणीसे उतरकर प्रमत्त हो पुनः चढ़े
उपशामक	८-१०	३१९		१ समय	मूलोघवत्	३२०		वर्ष पृ०	३२१		,,	लघु कालसे चढ़कर उतरे	३२२		,,	दीर्घ काल से गिर कर चढ़े
	११	३२३		,,	,,	३२४		,,	३२५		...	गुणस्थानका काल लेश्या से अधिक है यदि नीचे उतरे तो लेश्या बदले	३२५		...	गुणस्थानका काल लेश्या से अधिक है यदि नीचे उतरे तो लेश्या बदल जाये
क्षपक	८-१३	३२६		—	मूलोघवत्	३२६		—	३२६		—	मूलोघवत्	३२६		—	मूलोघवत्

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षा प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	एक जीवापेक्षा प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
११ भव्यत्व मार्गणा :—																
भव्याभव्य सा०	...		५२	...	निरन्तर		५२	...		१३२	...	अन्योन्य परिवर्तनाभाव		१३२	...	अन्योन्य परिवर्तनका अभाव
भव्य	१-१४	३२८		—	मूलोघवत्	३२८		—	३२८		—	मूलोघवत्	३२८		—	मूलोघवत्
अभव्य	१	३२९		...	निरन्तर	३२९		...	३३०		...	परिवर्तनका अभाव	३३०		...	परिवर्तनका अभाव
१२ सम्यक्त्व मार्गणा:—																
सम्यक्त्व सा०	...		५५	...	निरन्तर		५५	...		१३४	अन्तर्मुहूर्त	मिथ्यात्व हो पुनः सम्य०		१३५	कुछ कम अर्ध पु०परि०	भ्रमण
क्षायिक सा०	...		५५	...	,,		५५	...		१३७	....	पतनका अभाव		१३७	...	पतनका अभाव
प्रथमोपशम	...			१ समय	सासादनवत्			पल्य/असं०			पल्य/असं०	(वे० अंतर/२/६)			कुछ कम अर्ध पु०परि०	परिभ्रमण
द्वितीयोपशम	...		५८	,,			५९	७ रात दिन		१३४	अन्तर्मुहूर्त	उप० श्रेणीसे उतर वेदक हो पुनः उप० श्रेणी		१३५	,,	,,
वेदक	...		५५	...	निरन्तर		५५	...		१३४	,,	मिथ्यात्व हो पुनः सम्य०		१३५	,,	,,
सासादन	...		६१	१ समय	मूलोघवत्		६२	पल्य/असं०		१३९	पल्य/असं०	मूलोघवत्		१४०	,,	,,
सम्यग्मिथ्यात्व	...		६१	,,	,,		६२	,,		१३४	अन्तर्मुहूर्त	मिथ्यात्व हो पुनः ३रा		१३५	,,	मिथ्यात्वमें ले जाकर चढ़ाना
मिथ्यादर्शन	...		५५	...	निरन्तर		५५	...		१४१	,,	मति अज्ञानवत्		१४१	१३२ सागर	मति अज्ञानवत्
सम्यक्त्व सा०	४	३३१		...	,,	३३१		...	३३२		अन्तर्मुहूर्त	मूलोघवत्	३३३		पू०को०पू०-४ अंतर्मु०	२८/ज संज्ञी सम्मूर्च्छिम हो वेदक सम्य० पा ५ वाँ धार मरा देव हुआ। मिथ्या दर्शनमें ले जानेसे मार्गणा नष्ट होती है
	५-७	३३४		—	अवधिज्ञानवत्	३३४		—	३३४		—	अवधिज्ञानवत्	३३४		—	अवधिज्ञानवत्
उपशमक	८-११	३३४		—	,,	३३४		—	३३४		—	,,	३३४		—	,,
क्षपक	८-१४	३३५		—	मूलोघवत्	३३५		—	३३५		—	मूलोघवत्	३३५		—	मूलोघवत्
क्षायिक सम्यक्त्व	४	३३७		...	निरन्तर	३३७		...	३३८		अन्तर्मुहूर्त	गुण स्थान परिवर्तन	३३९		पू०को०-८ वर्ष-२अंत०	२८/ज मनुष्य असंयत हो ऊपर चढ़े
	५	३४०		...	,,	३४०		...	३४१		,,	,,	३४२		३३ सा०+२ पू०को० —८ वर्ष-१४ अंतर्मु०	" पर अनुत्तर देव हो। चयकर मनु० हो भवान्तमें ५ वां व छठा धार मुक्त।
	६-७	३४०		...	,,	३४०		...	३४१		,,	,,	३४२		३३ सा०+१ पू०को० —८ वर्ष-१ अंतर्मु०	" (परन्तु प्रथम मनुष्यभवके अंतमें भी संयत बनाना)
उपशमक	८-११	३४३		१ समय	मूलोघवत्	३४४		वर्ष पृ०	३४५		,,	ऊपर नीचे दोनों ओर परिवर्तन	३४६		,,	(१ अंतर्मु० की जगह क्रमशः २७,२५,२३, २१ अंतर्मु०)
क्षपक	८-१४	३४७		—	मूलोघवत्	३४७		—	३४७		—	मूलोघवत्	३४७		—	मूलोघवत्
वेदक सम्यक्त्व	४	३४९		—	सम्यक्त्व सा० वत्	३४९		—	३४९		—	सम्यक्त्व सामान्यवत्	३४९		—	सम्यक्त्व सामान्यवत्
	५	३५०		...	निरन्तर	३५०		...	३५१		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	३५२		६६ सा०-३ अंतर्मु०	वेदक ५वाँ मनु० भवके आदिमें संयम पा मरे; अनुत्तर देव हो, फिर मनु०, संयत, देव, पुनः मनु०। वेदक कालकी समाप्तिके निकट संयतासंयत हो क्षायिक, संयत बन मोक्ष।

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	एक जीवापेक्षया प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		
वेदक सम्य०	६-७	३५३		...	निरन्तर	३५३		...	३५४		अन्तर्मुहूर्त	गुण स्थान परिवर्तन	३५५		३३सा०+पू० को –क्रमशः ७ व ८ अंत०	संयतासंयत वत् पर १ बार भ्रमण (६ ठे में ७ अंत० और ७ वें में ८ अंत०)
प्रथमोपशम*(दे० नीचे)	सामान्य			१ समय	सासादनवत्			पल्य/असं०			पल्य/असं०	सासादन मूलोघवत्			अर्ध पु० परि०	सासादन मूलोघवत्
उपशमसामान्य	४	३५६		१ समय	निरन्तर नहीं होते	३५७		७ दिन रात	३५८		अन्तर्मुहूर्त	श्रेणीसे उतर ४ थे व ५ वें में परिवर्तन	३५९		अंतर्मुहूर्त	श्रेणीसे उतर ४,५,७,६ में आ पुनः ४ था
	५	३६०		,,		३६१		१४ ,,	३६२		,,	,,	३६३		,,	,, ,, ५,७,६,४ में ,, ५ वाँ।
	६-७	३६४		,,		३६५		१५ ,,	३६६		,,	६-७ में गुणस्थान परि०	३६७		,,	,, ,, ६,५,४,५,७ और फिर ६ठा ,, ,, ७,६,४,५, ,, ,, ७वाँ
उपशमक	८-१०	३६८		,,	मूलोघवत्	३६९		वर्षपृथ०	३७०		,,	चढ़कर द्वि० बार उतरना	३७१		,,	चढ़कर प्रथम बार उतरना
	११	३७२		,,	,,	३७३		,,	३७४		...	श्रेणीसे उतरकर पुनः उसी सम्यक्त्वसे ऊपर नहीं चढ़ता	३७४		...	श्रेणी से उतर पुनः उसी सम्यक्त्वसे ऊपर नहीं चढ़ता
सासादन	२	३७५		,,	,,	३७६		पल्य/असं०	३७७		...	गुणस्थान परिवर्तनसे मार्गणा नष्ट हो जाती है	३७७		...	गुणस्थान परिवर्तन से मार्गणा नष्ट हो जाती है
सम्यग्मिथ्यात्व	३	३७५		,,	,,	३७६		,,	३७७		...	,,	३७७		...	,,
मिथ्यादर्शन	१	३७८		...	विच्छेदाभाव	३७८		...	३७८		...	अन्य गुणस्थानमें संक्रमण नहीं होता	३७८		...	अन्य गुणस्थानमें संक्रमण नहीं होता
१३. संज्ञी मार्गणा																
संज्ञी सामान्य	...		६४	...	निरन्तर		६४	...		१४३	क्षुद्रभव			१४४	असं० पु० परि०	असंज्ञियों में भ्रमण
असंज्ञी ,,	...		६४	...	,,		६४	...		१४६	,,			१४७	१०० सा०पृ०	संज्ञियों में भ्रमण
संज्ञी	१	३७९		—	मूलोघवत्	३७९		—	३७९		—	मूलोघवत्	३७९		—	मूलोघवत्
	२-७	३८०		—	पुरुषवेदवत्	३८०		—	३८०		—	पुरुषवेदवत्	३८०		—	पुरुषवेदवत्
उपशमक	८-११	३८०		—	,,	३८०		—	३८०		—	,,	३८०		—	,,
क्षपक	८-१२	३८१		—	मूलोघवत्	३८१		—	३८१		—	मूलोघवत्	३८१		—	मूलोघवत्
असंज्ञी	१	३८२		...	निरन्तर	३८२		...	३८३		...	गुणस्थान परिवर्तनाभाव	३८३		...	गुणस्थान परिवर्तनका अभाव
१४. आहारक मार्गणा																
आहारक सा०	...		६७	...	,,		६७	...		१४९	५ समय	विग्रह गति में		१५०	३ समय	विग्रह गति में
अनाहारक सा०	...		६७	...	,,		६७	...		१५१	क्षुद्रभव-३ समय	कार्मण काय-योगीवत्		१५१	असंख्यातासं० उत्० अवसर्पिणी	बिना मोड़े की गति से भ्रमण
आहारक	१	३८४		—	मूलोघवत्	३८४		—	३८४		—	मूलोघवत्	३८४		—	मूलोघवत्
	२	३८५		१ समय	,,	३८५		पल्य/असं०	३८६		पल्य/असं०	,,	३८७		आहारक काल –२ समय या असंख्यातासं० उत्० अवसर्पिणी	२ समय स्थिति वाला सासादन मरकर एक विग्रह से उत्पन्न होकर द्वितीय समय आहारक हो तृतीय

* नोट—ष. खं./१/६ में द्वितीयोपशम का कथन किया है, क्योंकि प्रथमोपशमसे मिथ्यात्वकी ओर ले जानेसे मार्गणा विनष्ट हो जाती है। इसके कथन के लिये देखो अंतर २/६ ।

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया							एक जीवापेक्षया							
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	प्रमाण ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	प्रमाण १	प्रमाण २	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १	प्रमाण २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		सू	सू			सू	सू		सू	सू			सू	सू		समय मिथ्यात्व में गया। परिभ्रमण कर आहारक कालके अंतमें उप० सम्य० को प्राप्त हो आहारक कालका एक समय शेष रहने पर पुनः सासादन।
	३	३८५		१ समय	मूलोघवत्	३८५		पल्य/असं०	३८६		अन्तर्मुहूर्त	मूलोघवत्	३८७		आहारक काल-६ अंतर्मु० या असं० उर्त० अवसर्पिणी	२८/ज देवोंमें उत्पन्न हो सम्यग्मिथ्या० को प्राप्तकर मिथ्यादृष्टि हो आहारक काल प्रमाण भ्रमण कर, उपशम पूर्वक सम्यग्मिथ्यात्व धार सम्य० या मिथ्या० होकर विग्रह गतिमें गया।
	४	३८८		...	निरन्तर	३८८		...	३८९		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	३९०		,,-५ अंतर्मु०	,,
	५	३८८		...	,,	३८८		...	३८९		,,	,,	३९०		,, ,,	,, किन्तु संज्ञी सम्मूर्च्छिम तिर्य० में उत्पन्न कराके प्रथम संयमासंयम ग्रहण कराना। फिर भ्रमण।
	६-७	३८८		...	,,	३८८		...	३८९		,,	,,	३९०		,,-८ वर्ष-३ अंतर्मु०	,, परन्तु मनुष्योंमें उत्पन्न कराके संयत बनाना। फिर भ्रमण.
उपशमक	८-११	३९१		—	मूलोघवत्	३९१		—	३९२		अन्तर्मुहूर्त	मूलोघवत्	३९३		,,- ८वर्ष-क्रमशः १२,१०,९,८ अंतर्मु०	प्रमत्ताप्रमत्तवत् (८वें में १२, ९वें में १०, १०वें में ९, ११ वें में ८)
क्षपक	८-१३	३९४		—	,,	३९४		—	३९४		—	,,	३९४		—	मूलोघवत्
अनाहारक	१,२,४, १३	३९६		—	कार्मण योगवत्	३९६		—	३९६		—	कार्मण काययोगवत्	३९६		—	कार्मण काययोगवत्
	१४	३९७		—	मूलोघवत्	३९७		—	३९७		—	मूलोघवत्	३९७		—	मूलोघवत्

५. कर्मोंके बन्ध उदय सत्त्व विषयक अन्तर प्ररूपणा:—

नोट:—उस उस विषयकी प्ररूपणाके लिए देखो संकेतित प्रमाण अर्थात् शास्त्रमें वह वह स्थल।

सं०	विषय	मूल प्रकृतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा		उत्तर प्रकृतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा	
		नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया	नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया
(१)	अष्ट कर्म प्रकृति बन्धमें अन्तर:—	(म० ब० पु०/सू०/पृ०)			
१	ज० उ०	१/३६५-३९०/२५०-२५८	१/८४-१२२/६१-९४		
(२)	अष्ट कर्म स्थिति बन्धमें अन्तर:—	(म० ब० पु०/सू०/पृ०)			
१	ज० उ०	२/२०४-२२०/११८-१२५	२/९७-१२५/५९-७७	२/५५५-५६४/२५६-२६०	२/२१७-२९१/३६५-४३९
२	भुजगार	२/३२६-३३६/१६१-१७२	२/२८१-२९४/१५१-१५७	३/७१६-८०६/३८०-३८५	३/७३३-७६३/३३९-३६१
३	वृद्धि०	२/४०३-४०४/२०२-२०३	२/३७०-३८२/१८८-१९४	ताड़ पत्र नष्ट हो गये	३/८८२-९१३/४१८-४४४
(३)	अष्ट कर्म अनुभाग बन्धमें अन्तर:—	(म० ब० पु०/	सू०/पृ०)		
१	ज० उ०	४/२५४-२५८/११६-१२०	४/११८-१७१/४४-७४		
२	भुजगार०	४/३००-३०१/१३८	४/२७३-२८४/१२७-१३१		
३	वृद्धि०	४/३३६/१६६	४/३५९/१६३		
(४)	अष्ट कर्म प्रदेशबन्धमें अन्तर:—	(म० ब० पु०/सू०/पृ०)			
१	ज० उ०	६/६५-६६/५०-५१	६/९०-९३/४५-४८		६/१४८-२६८/१५४
२	भुजगार०	६/१४०-१४१/७६-७७	६/१०७-१२४/५७-६५		
३	वृद्धि०				
(५)	अष्ट कर्म प्रकृति उदयमें अन्तर:—	(ध० पु०/पृ०)			
१	सामान्य	१५/२८५	१५/२८५	१५/२८८	१५/२८८
(६)	अष्ट कर्म स्थिति उदयमें अन्तर:—	(ध० पु०/पृ०)			
१	ज० उ०	१५/२९१	१५/२९१	१५/२९५	१५/२९५
२	भुजगार०	१५/२९४	१५/२९४	"	"
३	वृद्धि०	"	"	"	"
(७)	अष्ट कर्म अनुभाग उदयमें अन्तर:—	(ध० पु०/पृ०)			
१	ज० उ०	१५/२९६	१५/२९६	१५/२९६	१५/२९६
२	भुजगार०	"	"	"	"
३	वृद्धि०	"	"	"	"
(८)	अष्ट कर्म प्रदेश उदयमें अन्तर:—	(ध० पु०/पृ०)			
१	ज० उ०	१५/२९६	१५/२९६	१५/३०९	१५/३०९
२	भुजगार०	"	"		१५/३२९
३	वृद्धि०	"	"		
(९)	अष्ट कर्म प्रकृति उदीरणामें अन्तर:—	(ध० पु० पृ०)			
१	ज० उ०	१५/४६-५०	१५/४६-५०	१५/६८-९७	१५/६८-९७
२	भुजगार०	१५/५१-५२	१५/५१-५२	१५/९७	१५/९७
३	वृद्धि०				
(१०)	अष्ट कर्म स्थिति उदीरणामें अन्तर:—	(ध० पु०/पृ०)			
१	ज० उ०	१५/१४१	१५/१३०-१३७,	१५/१४१	१५/१३०-१३९
२	भुजगार०	१५/१६१-१६२	१५/१६१-१६२	१५/१६१-१६२	१५/१६१-१६२
३	वृद्धि०				

सं०	विषय	मूल प्रकृतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा		उत्तर प्रकृतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा	
		नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया	नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया
(११)	अष्ट कर्म अनुभाग उदीरणामें अन्तरः—	(ध० पु०/पृ०)			
१	ज० उ०			१५/२०८-२१०	१५/१९९-२०३
२	भुजगार०			१५/२३६	१५/२३३/२३४
३	वृद्धि०				
(१२)	अष्ट कर्म प्रदेश उदीरणामें अन्तरः—	(ध०पु०/पृ०)			
१	ज० उ०			१५/२६१	१५/२६१
२	भुजगार०			१५/२७४	१५/२७४
३	वृद्धि०			,,	,,
(१३)	अष्टकर्म अप्रशस्त उपशमनामें अन्तरः—	(ध० पु० पृ०)			
१	प्रकृतिके तीनों विकल्प	१५/२७७	१५/२७७	१५/२७८-२८०	१५/२७८-२८०
२	स्थितिके ,, ,,	१५/२८१	१५/२८१	१५/२८१	१५/२८१
३	अनुभाग ,, ,,	१५/२८२	१५/२८२	१५/२८२	१५/२८२
४	प्रदेश ,, ,,				
(१४)	अष्ट कर्म संक्रमणमें अन्तरः—	(ध० पु०/पृ०)			
१	प्रकृतिके तीनों विकल्प	१५/२८३-२८४	१५/२८३-२८४	१५/२८३-२८४	१५/२८३-२८४
२	स्थितिके ,, ,,	,,	,,	,,	,,
३	अनुभाग ,, ,,	,,	,,	,,	,,
४	प्रदेश ,, ,,	,,	,,	,,	,,
(१५)	मोहनीय प्रकृति सत्त्वमें अन्तर—	(क० पा० पु०/पैरा/पृ०)			
१	राग व द्वेष	१/§३९१/४०६-४०७	१/§३७५ २/§६४/४४		
२	सामान्य			२/§१८४-१८५/१७३-१७५	२/§१३५-१४१/१२२-१३०
३	सत्त्व स्थान०			२/§३७८-३८१/३४४-३५२	२/§३०८-३२५/१८१-२६२
४	भुजगार०			२/§४६४-४६७/४१९-४२२	२/§४३८-४४२/३९७-४०२
५	वृद्धि०			२/§५२९-५३१/४७५-४७८	२/§४९८-५०४/४४९-४५५
(१६)	मोहनीय स्थिति सत्त्वमें अन्तर—	(क० पा० पु०/पैरा/पृ०)			
१	ज० उ० स्थिति	३§२१८-२२२/१२३-१२५	३/§१८-१९४/१०८-११०	३/§१५५-१६३/८८-९३	३/§८३-९२/४७-५४
२	वृद्धि० आदि पद०	३/§३२८-३४१/१८०-१८५	३/§२७३-२८९/१४९-१६०		
३	ज० उ० स्थिति स्वामित्व			३/६७३-७०६/४०६-४२४	३/§५३८-५७२/३१६-३४५
४	भुजगार०			४/१४३-१६१/७४-८२	४/§७१-९१/४२-५०
५	वृद्धि०			४/§ -४५८/२६०-२७४	४/३१५-३५७/१९१-२२१
(१७)	मोहनीय अनुभागसत्त्वमें अन्तर—	(क०पा०पु/पैरा/पृ०)			
१	ज० उ०	५/§१३१-१३७/८५-९०	५/§६०-८१/४३-५२	५/§२९१-३१८/२४१-२४९	५/§३०३-३२४/२०१-२१२
२	भुजगार	५/§१५९/१०६	५/१४७-१५०/९७-९९	५/§५०५-५०८/२९५-२९७	५/§४८१-४८६/२८०-२८६
३	वृद्धि०	५/§१८३/१२३-१२४	५/§१७४-१७६/११६/११८		
४	वृद्धि आदि पद			५/§५६२-५६५/३२६-३२८	५/§५४०-५४४/३१२-३१६

५. अन्य विषयों सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणाओंकी सूची—

ध. ६/४,१,७१/३७०-४२८ पाँचों शरीरोंके योग्य पुद्गल स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य संघातन-परिशातन व तदुभय कृति सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा।

ध.१२/४,२,७,२०१/११५-१२७/१४ जीवसमासोंमें अनुभाग बन्ध स्थानोंके अन्तरका अल्प-बहुत्व।

ध.१३/५,४,३१/१३२-१७२ प्रयोग कर्म, समवधानकर्म, अधःकर्म, तपः-कर्म, ईर्यापथ कर्म, और क्रिया कर्म में १४ मार्गणाओंकी अपेक्षा प्ररूपणा।

ध. १४/५,६,११६/१५०-१५१/१ २३ प्रकार वर्गणाओंका जघन्य उत्कृष्ट अन्तर।

ध. १४/५,६,१६७/२८४-३०१/६ पाचों शरीरोंके स्वामियोंके (२,३,४) भंगोंका ओघ आदेशसे जघन्य उत्कृष्ट अन्तर।

अंतरकरण—पूर्वोपार्जित कर्म यथा काल उदयमें आकर जीवके गुणोंका पराभव करनेमें कारण पड़ते रहते हैं। और इस प्रकार जीव उसके प्रभावसे कभी भी मुक्त नहीं हो पाता। परन्तु आध्यात्मिक साधनाओंके द्वारा उनमें कदाचित् अन्तर पड़ना सम्भव है। कुछ काल सम्बन्धी कर्म निषेक अपना स्थान छोड़कर आगे पीछे हो जाते हैं। उस कालसे पूर्व भी कर्मोंका उदय रहता है और उस कालके पीछे भी। परन्तु उतने काल तक कर्म उदयमें नहीं आता। कर्मोंके इस प्रकार अन्तर उत्पन्न करनेको ही अन्तरकरण कहते हैं। इसी विषयका कथन इस अधिकारके अन्तर्गत किया गया है।

१. अन्तरकरण विधान

१. अन्तरकरणका लक्षण

ल.सा./भाषा./८४/११९ विवक्षित कोई निषेकनिका सर्व द्रव्य कौं अन्य निषेकनिविषैं निक्षेपण करि तिनि निषेकनिका जो अभाव करना सो अन्तरकरण कहिये।

२. प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरण-विधान

ध. ६/१,९-८,६/२३१/१४/विशेषार्थ—अन्तरकरण प्रारम्भ करनेके समयसे पूर्व उदयमें आनेवाले मिथ्यात्व कर्मकी अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिको उल्लंघन कर उससे ऊपरकी अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिके निषेकोंका उत्कीरण कर कुछ कर्म प्रदेशोंको प्रथम स्थितिमें क्षेपण करता है और कुछको द्वितीय स्थितिमें। अन्तरकरणसे नीचेकी अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिको प्रथम स्थिति कहते हैं, और अन्तरकरणसे ऊपरकी स्थितिको द्वितीयस्थिति कहते हैं। इस प्रकार प्रतिसमय अन्तरायाम सम्बन्धी कर्म प्रदेशोंको ऊपर नीचेकी स्थितियोंमें तबतक देता रहता है जबतक कि अन्तरायाम सम्बन्धी समस्त निषेकोंका अभाव नहीं हो जाता है। यह क्रिया एक अन्तर्मुहूर्त कालतक जारी रहती है। जब अन्तरायामके समस्त निषेक ऊपर वा नीचेकी स्थितिमें दे दिये जाते हैं और अन्तरकाल मिथ्यात्व स्थितिके कर्म निषेकोंसे सर्वथा शून्य हो जाता है तब अन्तर कर दिया गया ऐसा समझना चाहिए। वि. दे० (ध.६/१,९-८,६/२३१/३); (ल.सा./मू.८४-८६/११९-१२१)

३. प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरणकी संदृष्टि व यन्त्र

उदयागत निषेक—०

सत्तास्थित निषेक—०

उत्कीरित निषेक—×

निक्षिप्त निषेक—●
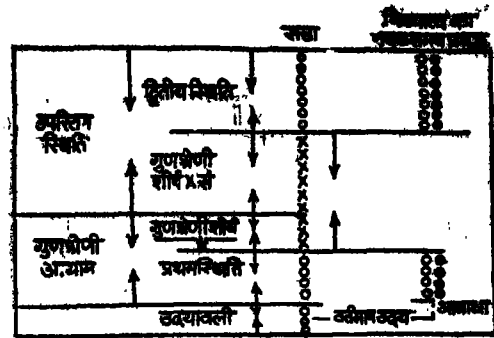
४. द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरण विधान

ध. ६/१,९-८,१४/२९०/३ तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण दंसणमोहणीयस्स अंतरं करेदि। तं जधा-सम्मत्तस्स पढमट्ठिदिमंतोमुहुत्तमेत्तं मोत्तूण अंतरं करेदि, मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ताणमुदयावलियं मोत्तूण अंतरं करेदि। अंतरम्हि उक्कीरिज्जमाणपदेसग्गं बिदियट्ठिदिम्हि ण संछुहदि, बंधाभावादो सव्वमाणेदूण सम्मत्तपढमट्ठिदिम्हि णिक्खिवदि। सम्मत्तपदेसग्गमप्पणो पढमट्ठिदिम्हि चेव संछुहदि। मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्ताणं बिदियट्ठिदिपदेसग्गं ओकड्डिदूण सम्मत्त-पढमट्ठिदीए देदि, अणुक्कीरिज्जमाणासु ट्ठिदीसु च देदि। सम्मत्त-पढमट्ठिदिसमाणासु ट्ठिदीसु ट्ठिद-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्तपदेसग्गं सम्मत्तपढमट्ठिदिसु संकामेदि। जाव अंतरदुचरिमफाली पददि ताव इमो कमो होदि। पुणो चरिमफालीए पदमाणाए मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ताणमंतरट्ठिदिपदेसग्गं सव्वं सम्मत्तपढमट्ठिदीए संछुहदि। एवं सम्मत्त-अंतरट्ठिदिपदेसं पि अप्पणो पढमट्ठिदीए चेव देदि। बिदियट्ठिदिपदेसग्गं पि ताव पढमट्ठिदिमेदि जाव आवलिय-पडिआवलियाओ पढमट्ठिदीए सेसाओ त्ति। — इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल जाकर दर्शनमोहनीयका अन्तर करता है। वह इस प्रकार है—सम्यक्त्वप्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्त मात्र प्रथम-स्थितिको छोड़कर अन्तर करता है। तथा मिथ्यात्व व सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृतियोंकी उदयावलीको छोड़कर अन्तर करता है। इस अन्तरकरणमें उत्कीरण किये जाने वाले प्रदेशाग्रको द्वितीय स्थितिमें नहीं स्थापित करता है, किन्तु बन्धका अभाव होनेसे सबको लाकर सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमें स्थापित करता है। सम्यक्त्व-प्रकृतिके प्रदेशाग्रको अपनी प्रथम स्थितिमें ही स्थापित करता है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके द्वितीय स्थिति सम्बन्धी प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितिमें देता है, और अनुत्कीर्यमाण (द्वितीय स्थितिकी) स्थितियोंमें भी देता है। सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितिके समान स्थितियोंमें स्थित मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृतियोंके प्रदेशाग्रको सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितियोंमें संक्रमण कराता है। जबतक अन्तरकरणकालकी द्विचरम फाली प्राप्त होती है तबतक यही क्रम रहता है। पुनः अन्तिम फालीके प्राप्त होनेपर मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके सब अन्तरस्थिति-सम्बन्धी प्रदेशाग्रको, सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितिमें स्थापित करता है। इस प्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तरस्थिति सम्बन्धी प्रदेशको भी अपनी प्रथम स्थितिमें ही देता है। द्वितीय स्थिति सम्बन्धी प्रदेशाग्र भी तबतक [illegible] स्थितिको प्राप्त होता है जबतक कि प्रथम स्थितिमें [illegible] रहती है।

५. द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरणकी संदृष्टि व यन्त्र
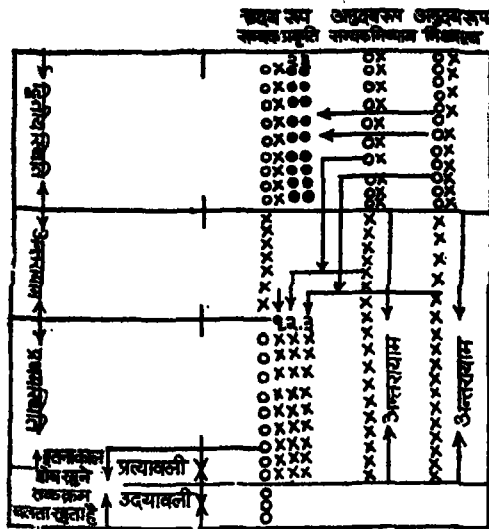
६. चारित्र मोहके उपशमकी अपेक्षा अन्तरकरण विधान

द्वितीयोपशमकी भाँति यहाँ भी दो प्रकारकी प्रकृतियाँ उपलब्ध हैं–उदयरूप, अनुदय रूप। इसके अतिरिक्त यहाँ एक विशेषता यह है कि यहाँ साथ-साथ चारित्र मोहकी किन्हीं प्रकृतियोंका नवीन बन्ध भी हो रहा है और किन्हींका नहीं भी हो रहा है।

इस देशघाती करणसे ऊपर संख्यात हजार स्थितिबन्धके पश्चात् मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभमें कोई एकके, तथा तीनों वेदोंमें किसी एकके उदय सहित श्रेणी चढ़ता है। इन उदय रूप दो प्रकृतियोंकी तो प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त स्थापै है और अनुदय रूप १९ प्रकृतियोंकी प्रथम स्थिति आवली मात्र (उदयावली) स्थापै है। इन प्रथम स्थिति प्रमाण निषेकोंको नीचै छोड़ ऊपरके निषेकोंका अन्तरकरण करता है, ऐसा अर्थ जानना। क्रम बिलकुल द्वितीयोपशमके समान ही है।

अन्तरके अर्थ उत्कीर्ण किये द्रव्यको अन्तरायाममें नहीं देता है। फिर किसमें देता है उसे कहते हैं। जिनका उदय नहीं होता केवल बन्ध ही होता है उन प्रकृतियोंके द्रव्यको उत्कर्षण करके तत्काल बँधनेवाली अपनी प्रकृतिकी आबाधाको छोड़कर, द्वितीय स्थितिके प्रथम समयसे लगाकर यथायोग्य अन्तपर्यन्त निक्षेपण करता है, और *अपकर्षण करके* उदय रूप जो *अन्य कषाय उसकी प्रथम* स्थितिमें निक्षेपण करता है।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता केवल उदय ही होता है, उनके द्रव्य का अपकर्षण करके अपनी प्रथम स्थितिमें देता है। और उत्कर्षण करके, जहाँ अन्य कषाय बँधती हैं उनकी द्वितीय स्थितिमें देता है, तथा अपकर्षण द्वारा उदय रूप अन्य क्रोधादि कषायकी प्रथम स्थितिमें संक्रमण कराके उदय प्रकृति रूप भी परिणमाता है।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध भी है और उदय भी है, उनके 'अन्तर' सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षण करके उदय रूप प्रथम स्थितिमें देता है तथा अन्य प्रकृति परिणमने रूप संक्रमण भी होता है। और उत्कर्षण करके जहाँ अन्य प्रकृति बँधती है उनकी द्वितीय स्थितिमें देता है।

बन्ध और उदय रहित प्रकृतियोंके अन्तर सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षण करके उदय रूप प्रकृतिकी प्रथम स्थितिमें संक्रमण कराता है वा तद्रूप परिणमाता है। और उत्कर्षण करके अन्य बँधनेवाली प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थिति रूप संक्रमण कराता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल तक अन्तर करने रूप क्रियाकी समाप्ति होती है। जब उदयावलीका एक समय व्यतीत होता है, तब गुणश्रेणीका एक समय उदयावलीमें प्रवेश करता है, और तब ही अन्तरायामका एक-एक समय गुणश्रेणीमें मिलता है, और द्वितीय स्थितिका एक समय अन्तरायाममें मिलकर द्वितीय स्थिति घटती है। प्रथम स्थिति और अन्तरायाम उतनाका उतना ही रहता है। (विशेष–दे०–ल. सा./मू. व. जी. प्र० २४१-२४७/२९७-३०४)

७. चारित्र मोह क्षपणकी अपेक्षा अन्तरकरण विधान

चारित्र मोह उपशम विधानवत् देशघाती करण तैं परैं संख्यात हजार स्थिति काण्डकोंके पश्चात् चार संज्वलन और नव नोकषायका अन्तर करता है। अन्तरकरण कालके प्रथम समयमें पूर्वसे अन्य प्रमाण लिये स्थितिकाण्डक, अनुभाग काण्डक व स्थिति बन्ध होता है। प्रथम समयमें उन निषेकोंके द्रव्यको अन्य निषेकोंमें निक्षेपण करता है।

संज्वलन चतुष्कमें-से कोई एक, तीनों वेदोंमें-से कोई एक ऐसे दो प्रकृतिकी तो अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थिति स्थापै है। इनके अतिरिक्त जिनका उदय नहीं ऐसी ११ प्रकृतियोंकी आवली मात्र स्थिति स्थापै है। वर्तमान सम्बन्धी निषेकसे लगाकर प्रथम स्थिति प्रमाण निषेकोंको नीचे छोड़ इनके ऊपरके निषेकोंका अन्तर करता है।

असंख्यातगुणा क्रम लिये अन्तर्मुहूर्तमात्र फालियोंके द्वारा सर्व द्रव्य अन्य निषेकोंमें निक्षेपण करता है। अन्तर रूप निषेकोंमें क्षेपण नहीं करता। कहाँ निक्षेपण करता है उसे कहते हैं।

बन्ध उदय रहित वा केवल बन्ध सहित उदय रहित प्रकृतियोंके द्रव्यको अपकर्षण करके उदय रूप अन्य प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिमें संक्रमण रूप निक्षेपण करता है। बन्ध उदय रहित प्रकृतियोंके द्रव्यको द्वितीय श्रेणीमें निक्षेपण नहीं करता है क्योंकि बन्ध बिना उत्कर्षण होना सम्भव नहीं है। केवल बन्ध सहित प्रकृतियोंके द्रव्यको उत्कर्षण करके अपनी द्वितीय स्थितिमें देता है, वा बँधनेवाली अन्य प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थितिमें संक्रमण रूपसे देता है।

केवल उदय सहित प्रकृतियोंके द्रव्यको अपकर्षण करके प्रथम स्थितिमें देता है और अन्य प्रकृतियोंके द्रव्यको भी इनकी प्रथम स्थितिमें संक्रमण रूप निक्षेपण करता है। इनका द्रव्य है सो उत्कर्षण करके बन्धने वाली अन्य प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थितिमें निक्षेपण करता है। केवल उदयमान प्रकृतियोंका द्रव्य अपनी द्वितीय स्थितिमें निक्षेपण नहीं करता है।

बन्ध उदय सहित प्रकृतियोंके द्रव्यको प्रथम स्थितिमें वा बन्धती द्वितीय स्थितिमें निक्षेपण करता है। विशेष दे०—क्ष. सा. / भाषा / ५३३-५३५ / ५१३)

२. अन्तरकरण सम्बन्धी नियम

१. अन्तरकरणकी निष्पत्ति अनिवृत्तिकरणके कालमें होती है

ध. ६/१,९-८,६/२३१/३ कम्हि अन्तरं करेदि। अणियट्टीअद्धाए संखेज्जे भागे गंतूण। =शंका—किसमें अर्थात् कहाँपर या किस करणके कालमें अन्तर करता है? उत्तर—अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यात भाग जाकर अन्तर करता है। (ल. सा./मू./८४/११८)

२. अन्तरकरणका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है

ल. सा. / मू. / ८५ / ११९ एयट्ठिदिखंडुक्कीरणकाले अंतरस्स णिप्पत्ती। अंतोमुहुत्तमेत्ते अंतरकरणस्स अद्धाणं ॥८५॥ =एक स्थिति खण्डोत्कीरण काल विषै अन्तरकी निष्पत्ति हो है। एक स्थिति काण्डोत्कीरणका जितना काल तितने काल करि अन्तर करै है। याकौ अन्तरकरण काल कहिए है, सो यह अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

३. अन्तरायाम भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होता है

ल. सा./जी. प्र./२४३/२९९ एवंविधान्तरायामप्रमाणं च ताभ्यां द्वाभ्यामन्तर्मुहूर्तावलिमात्रीभ्यां प्रथमस्थिती ताभ्यां संख्यातगुणितमेव भवति ।—बहुरि अन्तर्मुहूर्त वा आवलीमात्र जो उदय अनुदय प्रकृतिनिकी प्रथम स्थिति तातै संख्यातगुणा ऐसा अन्तर्मुहूर्त मात्र अंतरायाम है।

४. अन्तर पूरण करण

ल. सा. / मू. / १०३ / १३९ उवसमसम्मत्तुवरिं दंसणमोहं तुरंत पूरेदि। उदयिल्लस्सुदयादो सेसाणं उदयबाहिरदो ॥१०३॥—उपशम सम्यक्त्वके ऊपरि ताका अन्त समयके अनंतरि दर्शन मोहकी अन्तरायामके उपरिवर्ती जो द्वितीय स्थिति ताके निषेकनिका द्रव्य कौ अपकर्षण करि अंतर कौ पूरै है।

अंतरकृष्टि—दे० 'कृष्टि'।

अंतरव—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

अंतरात्मा—बाह्य विषयोंसे जीवकी दृष्टि हटकर जब अन्तरकी ओर झुक जाती है तब अन्तरात्मा कहलाता है।

१. अन्तरात्मा सामान्यका लक्षण

मो. पा. / मू. / ५ अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।—इन्द्रियनिकूं बाह्य आत्मा कहिए। उसमें आत्मत्वका संकल्प करे सो बहिरात्मा है। बहुरि अंतरात्मा है सो अन्तरंग विषै आत्माका प्रगट अनुभवगोचर संकल्प है। (द्र.सं./टी./१४/४६/८)

नि. सा. / मू. / १४९-१५०/३०० आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा। ...॥१४९॥ जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।—आवश्यक सहित श्रमण वह अन्तरात्मा है ॥१४९॥ जो जल्पोंमें नहीं वर्तता, वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥१५०॥

र. सा. / मू. / १४१ सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइभिण्णभावमई। भुंजइ णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥१४१॥—देहादिकसे अपने को भिन्न समझनेवाला जो व्यक्ति स्वप्नमें भी विषयोंको नहीं भोगता, परन्तु निजात्माको ही भोगता है, तथा शिव सुखमें रत रहता है वह अन्तरात्मा है।

प. प्र./मू./१४/२१/१३ देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ। परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥—जो पुरुष परमात्माको शरीरसे जुदा केवलज्ञान कर पूर्ण जानता है, वही परम समाधिमें तिष्ठता हुआ अन्तरात्मा अर्थात् विवेकी है।

ध. १/१,१,२/१२०/५ अट्ठ-कम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा।—आठ कर्मोंके भीतर रहता है इसलिए अन्तरात्मा है। (म.पु./२४/१०३,१०७)

ज्ञा. सा./३१ धर्मध्यानं ध्यायति दर्शनज्ञानयोः परिणतः नित्यम्। सः भण्यते अन्तरात्मा लक्ष्यते ज्ञानवद्भिः ॥३१॥—जो धर्मध्यानको ध्याता है, नित्य दर्शन व विज्ञानसे परिणत रहता है, उसको अन्तरात्मा कहते हैं।

का. अ. / मू. / १९४ जे जिण-वयणे कुसला भेयं जाणंति जीवदेहाणं। णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अंतरअप्पा य ते तिविहा ॥ १९४ ॥—जो जिनवचनोंमें कुशल हैं, जीव और देहके भेदको जानते हैं, तथा जिन्होंने आठ दुष्ट मदोंको जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं।

२. अन्तरात्माके भेद

द्र. सं./टी०/१४/३९ अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः।—अविरत गुणस्थानमें उसके योग्य अशुभ लेश्यासे परिणत जघन्य अन्तरात्मा है, और क्षीणकषाय गुणस्थानमें उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अविरत और क्षीणकषाय गुणस्थानोंके बीचमें जो सात गुणस्थान हैं सो उनमें मध्यम अन्तरात्मा है। (नि. सा./ता. वृ./१४९में 'मार्ग प्रकाश'से उद्धृत)

स. श. / भा. / ४. अन्तरात्माके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा, और जघन्य अन्तरात्मा। अन्तरंग-बहिरंग-परिग्रहका त्याग करनेवाले, विषय कषायोंको जीतनेवाले और शुद्धोपयोगमें लीन होनेवाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं, देशव्रतका पालन करनेवाले गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' कहे जाते हैं और तत्त्व श्रद्धाके साथ व्रतोंको न रखनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' रूपसे निर्दिष्ट हैं।

३. अन्तरात्माके भेदोंके लक्षण

का. अ. / मू. / १९५-१९७ पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं। णिज्जिय-सयल-पमाया, उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥ सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति। जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता ॥ १९६ ॥ अविरय-सम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता। अप्पाणं णिंदंता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥१९७॥—जो जीव पाँचों महाव्रतोंसे युक्त होते हैं, धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यानमें सदा स्थित रहते हैं, तथा जो समस्त प्रमादोंको जीत लेते हैं वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं ॥ १९५ ॥ श्रावकके व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थ और प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' होते हैं। ये जिनवचनमें अनुरक्त रहते हैं, उपशमस्वभावी होते हैं और महापराक्रमी होते हैं ॥१९६॥ जो जीव अविरत सम्यग्दृष्टि हैं वे जघन्य अन्तरात्मा हैं। वे जिन भगवान्‌के चरणोंके भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते रहते हैं और गुणोंको ग्रहण करनेमें बड़े अनुरागी होते हैं ॥ १९७ ॥

नि. सा. / टी० / १४९ में 'मार्ग प्रकाश'से उद्धृत—जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक्। प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः।—अन्तरात्माके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे (तीन) भेद हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि वह प्रथम (जघन्य) अन्तरात्मा है। क्षीणमोह अन्तिम अर्थात् उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और उन दोके मध्यमें स्थित मध्यम अन्तरात्मा है।

द्र सं./टी०/१४/४९/२—दे० ऊपरवाला शीर्षक सं० २।

★ **जीवको अन्तरात्मा कहनेकी विवक्षा**—दे० जीव/१/३।

अंतराय—अन्तराय नाम विघ्नका है। जो कर्म जीवके गुणोंमें बाधा डालता है, उसको अन्तराय कर्म कहते हैं। साधुओंकी आहारचर्यामें भी कदाचित् बाल या चींटी आदि पड़ जानेके कारण जो बाधा आती है उसे अन्तराय कहते हैं। दोनों ही प्रकारके अन्तरायोंके भेद-प्रभेदोंका कथन इस अधिकारमें किया गया है।

१. अंतराय कर्म निर्देश

१. अन्तराय कर्मका लक्षण

त. सू. / ६ / २७ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥—विघ्न करना अन्तरायका कार्य है। (स. सि./६/१०/३२७) (रा. वा./६/१०/४/५१७/१७) (ध. १३/५,५,१३७/३९०/४)' (गो.क./जी.प्र./८००/९७९/८)

स. सि. / ८ / १३ / ३९४ दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेशः।—दानादि परिणामके व्याघातका कारण होनेसे यह अर्थात् अन्तराय संज्ञा मिली है।

ध. १३/५,५,१३७/३८९/१२ अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायः।—जो अन्तर अर्थात् मध्यमें आता है वह अन्तराय कर्म है।

२. अन्तराय कर्मके भेद

त. सू./८/१३ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्।—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनके पाँच अन्तराय हैं। (मू० आ०/१२३४) (पं. सं./प्रा./२/४) (ष. ख. ६/१,९-१/सू. ४६/७८); (ष. ख. १२/२,४,१४/२२/४८५) (ध. १३/५,५,१३७/३८९/६) (पं. सं./.३/३३४); (गो. क./जी. प्र./३३/२७/२)

३. दानादि अन्तराय कर्मोंके लक्षण

स. सि./८/१३/३९४/६ यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते।—जिसके उदयसे देनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं कर पाता है, भोगनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग सकता है, और उत्साहित होनेकी इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है। (रा. वा./८/१३/२/५८०/३२) (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१८)

४. अन्तराय कर्मका कार्य

मो. मा. प्र./५/५६ अन्तराय कर्मके उदयसे जीव चाहै सो न होय। ...बहुरि तिसहीका क्षयोपशमतैं किंचित् मात्र चाहा भी होय।

५. अन्तराय कर्मके बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/२७. विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥—दानादिमें विघ्न डालना अन्तराय कर्मका आस्रव है।

रा.वा./६/२७/१/५३१/३० तद्विस्तरस्तु विवियते—ज्ञानप्रतिषेधसत्कारोपघात - दानलाभभोगोपभोगवीर्यस्नानानुलेपनगन्धमाल्याच्छादनविभूषणशयनासनभक्ष्यभोज्यपेयलेह्यपरिभोगविघ्नकरण - विभवसमृद्धिविस्मय–द्रव्यापरित्याग–द्रव्यासंप्रयोगसमर्थनाप्रमादावर्णवाद - देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहण-निरवद्योपकरणपरित्याग-परवीर्यापहरण-धर्मव्यवच्छेदनकरण - कुशलाचरणतपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात - प्रव्रजितकृपणदीनानाथवस्त्रपात्रप्रतिश्रयप्रतिषेधक्रियापरनिरोधबन्धनगुह्याङ्गच्छेदन - कर्ण-नासिकौष्ठकर्तन-प्राणिवधादिः।—उसका विस्तार इस प्रकार है—ज्ञानप्रतिषेध, सत्कारोपघात, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, भूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदिमें विघ्न करना, विभवसमृद्धिमें विस्मय करना, द्रव्यका त्याग न करना, द्रव्यके उपयोगके समर्थनमें प्रमाद करना, अवर्णवाद करना, देवताके लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्यका ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणोंका त्याग, दूसरेकी शक्तिका अपहरण, धर्म व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्रवाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्यकी पूजामें व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथको दिये जानेवाले वस्त्र, पात्र, आश्रय आदिमें विघ्न करना, पर निरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेद, कान, नाक, ओठ आदिका काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्मके आस्रवके कारण हैं। (त.सा./४/५५-५८) (गो.क./जी./मू./८१०/९८५)

२. आहार सम्बन्धी अन्तरायोंका निर्देश

१. श्रावक सम्बन्धी पंचेन्द्रियगत अन्तराय

१. सामान्य ६ भेद

ला.सं./५/२४० दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव मनसि स्मरणादपि। श्रवणाद्गन्धनाच्चापि रसनादन्तरायकाः ॥२४०॥—श्रावकोंके लिए भोजनके अन्तराय कई प्रकारके हैं। कितने ही अन्तराय देखनेसे होते हैं, कितने ही छूनेसे वा स्पर्श करनेसे होते हैं, कितने ही मनमें स्मरण कर लेने मात्रसे होते हैं, कितने हो सुननेसे होते हैं, कितने ही सूँघनेसे होते हैं और कितने ही अन्तराय चखने या स्वाद लेनेसे अथवा खाने मात्रसे होते हैं।

२. स्पर्शन सम्बन्धी अन्तराय

सा.ध./४/३१ ......स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकम् ॥ ३१ ॥—रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, कुत्ता, बिल्ली और चाण्डाल आदिका स्पर्श हो जानेपर आहार छोड़ देना चाहिए।

ला. सं./५/२४२,२४७ शुष्कचर्मास्थिलोमादिस्पर्शनान्नैव भोजयेत्। मूषकादिपशुस्पर्शात्त्यजेदाहारमञ्जसा ॥२४२॥—सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, बालादिका स्पर्श हो जानेपर भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार चूहा, कुत्ता, बिल्ली आदि घातक पशुओंका स्पर्श हो जानेपर शीघ्र ही भोजनका त्याग कर देना चाहिए। २४२।

नोट—और भी देखो आहारके १४ मल दोष—दे० आहार II/४।

३. रसना सम्बन्धी अन्तराय

सा.ध./४/३२,३३. ...भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥३२॥ संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः...॥३३॥—जिस वस्तुका त्याग कर दिया है, उसके भोजन कर लेनेपर, तथा जिन्हें भोजनसे अलग नहीं कर सकते ऐसे जीवित दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवोंके संसर्ग हो जानेपर (मिल जानेपर) अथवा तीन चार आदि मरे हुए जीवोंके मिल जानेपर उस समयका भोजन छोड़ देना चाहिए।

ला. सं./५/२४४-२४७ प्राक्परिसंख्यया त्यक्तं वस्तुजातं रसादिकम्। भ्रान्त्या विस्मृतमादाय त्यजेद्भोज्यमसंशयम् ॥ २४४ ॥ आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्नं परित्यजेत्। लालायाः स्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमूर्च्छनात् ॥२४५॥ भोज्यमध्यादशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान्। यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥२४६॥ चर्मतोयादिसम्मिश्रात्सदोषमनशनादिकम्। परिज्ञायेङ्गितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥२४७॥—भोगोपभोग पदार्थोंका परिमाण करते समय जिन पदार्थोंका त्याग कर दिया है अथवा जिन रसोंका त्याग कर दिया है उनको भूल जानेके कारण अथवा किसी समय अन्य पदार्थका भ्रम हो जानेके कारण ग्रहण कर ले तथा फिर उसी समय स्मरण आ जाय अथवा किसी भी तरह मालूम हो जाय तो बिना किसी सन्देहके उस समय भोजन छोड़ देना चाहिए ॥२४४॥ कच्चे दूध, दही आदि गोरसमें मिले हुए चना, उड़द, मूँग, रमास (बोड़ा) आदि जिनके बराबर दो भाग हो जाते हैं (जिनकी दाल बन जाती है) ऐसे अन्नका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि कच्चे गोरसमें मिले चना, उड़द, मूँगादि अन्नोंके खानेसे मुँहकी लारका स्पर्श होते ही उसमें उसी समय अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २४५ ॥ यदि बने हुए भोजनमें किसी भी प्रकारके त्रस जीवोंका कलेवर दिखाई पड़े तो उसे देखते ही भोजन छोड़ देना चाहिए, इसी प्रकार यदि भोजनमें जड़ सहित बाल दिखाई दे तो भी भोजन छोड़ देना चाहिए ॥ २४६ ॥ "यह भोजन चमड़ेके पानीसे बना है वा इसमें चमड़ेके बर्तनमें रखे हुए घी, दूध, तेल, पानी आदि पदार्थ मिले हुए हैं और इसलिए यह भोजन अशुद्ध व सदोष हो गया है" ऐसा किसी भी सूक्ष्म इशारेसे व किसी भी सूक्ष्म चेष्टासे मालूम हो जाये तो उसी समय आहार छोड़ देना चाहिए।

४. गन्ध सम्बन्धी अन्तराय

ला. सं./५/२४३ गन्धनान्मद्यगन्धेव पूतिगन्धेव तत्समे। आगते घ्राणमार्गं च नान्नं भुञ्जीत दोषवित् ॥ २४३ ॥—भोजनके अन्तराय और दोषोंको जाननेवाले श्रावकोंको मद्यकी दुर्गन्ध आनेपर वा मद्यकी दुर्गन्धके समान गन्ध आनेपर अथवा और भी अनेकों प्रकारकी दुर्गन्ध आनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

५. दृष्टि या दर्शन सम्बन्धी अन्तराय

सा. ध./४/३१ दृष्ट्वार्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकम्... ॥ ३१ ॥—गीला चमड़ा, गीली हड्डी, मदिरा, मांस, लोहू तथा पीबादि पदार्थोंको देखकर उसी समय भोजन छोड़ देना चाहिए। या पहले दीख जानेपर उसी समय भोजन न करके कुछ काल पीछे करना चाहिए। (ला. सं./५/२४१।)

चा.पा./टी./२१/४३/१५ अस्थिसुरामांसरक्तपूयमलमूत्रमृताङ्गिदर्शनतः प्रत्याख्यातान्नसेवनाच्चाण्डालादिदर्शनात्तच्छब्दश्रवणाच्च भोजनं त्यजेत्। —हड्डी, मद्य, चमड़ा, रक्त, पीब, मल, मूत्र, मृतक मनुष्य इन पदार्थोंके दीख पड़नेपर तथा त्याग किये हुए अन्नादिका सेवन हो जानेपर, अथवा चाण्डाल आदिके दिखाई दे जानेपर या उसका शब्द कानमें

पड़ जानेपर भोजन त्याग देना चाहिए। क्योंकि ये सब दर्शन-प्रतिमाके अतिचार हैं।

६. श्रोत्र सम्बन्धी अन्तराय

सा. ध. / ४ / ३२ श्रुत्वा कर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिस्वनं ... ॥ ३१ ॥– 'इसका मस्तक काटो' इत्यादि रूप कठोर शब्दोंको, 'हा हा' इत्यादि रूप आर्तस्वर वाले शब्दोंको और परचक्रके आगमनादि विषयक विड्वरप्राय शब्दोंको सुन करके भोजन त्याग देना चाहिए।

चा. पा. / टी. / २१/४३/१६ चाण्डालादिदर्शनात्तच्छब्दश्रवणाच्च भोजनं त्यजेत् ।–चाण्डालादिके दिखाई दे जानेपर, या उसका शब्द कानमें पड़ जानेपर आहार छोड़ देना चाहिए।

ला. सं./५/२४८–२४९ श्रवणाद्धिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत् । दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् । २४८ । शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् । दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥२४९॥–'मैं इसको मारता हूँ' इस प्रकारके हिंसक शब्दोंको सुनकर भोजनका परित्याग कर देना चाहिए। अथवा शोकसे उत्पन्न होनेवाले वचनोंको सुनकर वा किसीके मोहसे अत्यन्त रोनेके शब्द सुनकर अथवा अत्यन्त दीनताके वचन सुनकर वा अत्यन्त भयंकर शब्द सुनकर शीघ्र ही भोजन छोड़ देना चाहिए।

७. मन सम्बन्धी अन्तराय

सा. ध./४/३३ ...। इदं मांसमिति दृष्टसंकल्पे चाशनं त्यजेत् ॥ ३३ ॥–यह पदार्थ (जैसे तरबूज) मांसके समान है अर्थात् वैसी ही आकृतिका है इस प्रकार भक्ष्य पदार्थमें भी मनके द्वारा संकल्प हो जानेपर निस्सन्देह भोजन छोड़ दे।

ला. सं. / ५ / २५० उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत् । मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥२५०॥–'यह भोजन मांसके समान है वा रुधिरके समान है' इस प्रकार किसी भी उपमेय वा उपमानके द्वारा मनमें स्मरण हो आवे तो भी उसी समय समस्त जलपानादिका त्याग कर देना चाहिए। २५०।

२. साधु सम्बन्धी अन्तराय

मू. आ./मू./४९५-५०० कागामेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च। जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥४९५॥ णाभि अधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणाय जंतुवहो। कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥४९६॥ पाणीए जंतुवहो मांसादीदंसणे य उवसग्गो। पादंतरम्मि जीवो संपादो भोयणाणं च ॥४९७॥ उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं। उववेसणं सदंसं भूमीसंफासणिट्ठुवणं ॥ ४९८ ॥ उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो। पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमिए ॥ ४९९॥ एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह। बीहणलोगदुगंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च ॥ ५०० ॥–साधुके चलते समय वा खड़े रहते समय ऊपर जो कौआ आदि बीट करे तो वह काक नामा भोजनका अन्तराय है। अशुचि वस्तुसे चरण लिप्त हो जाना वह अमेध्य अन्तराय है। वमन होना छर्दि है। भोजनका निषेध करना रोध है, अपने या दूसरेके लोहू निकलता देखना रुधिर है। दुःखसे आँसू निकलते देखना अश्रुपात है। पैरके नीचे हाथसे स्पर्श करना जान्वधः परामर्श है। तथा घुटने प्रमाण काठके ऊपर उलंघ जाना वह जानूपरि व्यतिक्रम अन्तराय है। नाभिसे नीचा मस्तक कर निकलना वह नाभ्यधोनिर्गमन है। त्याग की गयी वस्तुका भक्षण करना प्रत्याख्यातसेवना है। जीव वध होना जन्तुवध है। कौआ ग्रास ले जावे वह काकादिपिण्डहरण है। पाणिपात्रसे पिण्डका गिर जाना पाणितः पिण्डपतन है। पाणिपात्रमें किसी जन्तुका मर जाना पाणितः जन्तुवध है। मांस आदिका दीखना मांसादि दर्शन है। देवादिकृत उपसर्गका होना उपसर्ग है। दोनों पैरोंके बीचमें कोई जीव गिर जावे वह जीवसंपात है। भोजन देनेवालेके हाथसे भोजन गिर जाना वह भोजनसंपात है। अपने उदरसे मल निकल जावे वह उच्चार है। मूत्रादि निकलना प्रस्रवण है। चाण्डालादि अभोज्यके घरमें प्रवेश हो जाना अभोज्यगृह प्रवेश है। मूर्च्छादिसे आप गिर जाना पतन है। बैठ जाना उपवेशन है। कुत्तादिका काटना संदंश है। हाथसे भूमिको छूना भूमिस्पर्श है। कफ आदि मलका फेंकना निष्ठीवन है। पेटसे कृमि अर्थात् कीड़ोंका निकलना उदरकृमिनिर्गमन है। बिना दिया किंचित् ग्रहण करना अदत्तग्रहण है। अपने व अन्यके तलवार आदिसे प्रहार हो तो प्रहार है। ग्राम जले तो ग्रामदाह है। पाँव-द्वारा भूमिसे कुछ उठा लेना वह पादेन किंचित् ग्रहण है। हाथ-द्वारा भूमिसे कुछ उठाना वह करेण किंचित् ग्रहण है। ये काकादि ३२ अन्तराय तथा दूसरे भी चाण्डाल स्पर्शादि, कलह, इष्टमरणादि बहुत-से भोजन त्यागके कारण जानना। तथा राजादिका भय होनेसे, लोकनिन्दा होनेसे, संयमके लिए, वैराग्यके लिए, आहारका त्याग करना चाहिए ॥४९५–५००॥ (अन. ध./५/४२-६०/५५०)

३. भोजन त्याग योग्य अवसर

मू. आ./४८० आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ। पाणिदया-तवहेऊ सरीरपरिहारवेच्छेदो ।–व्याधिके अकस्मात् हो जानेपर, देव-मनुष्यादि कृत उपसर्ग हो जानेपर, उत्तम क्षमा धारण करनेके समय, ब्रह्मचर्य रक्षण करनेके निमित्त, प्राणियोंकी दया पालनेके निमित्त, अनशन तपके निमित्त, शरीरसे ममता छोड़नेके निमित्त इन छः कारणोंके होनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

अन. ध./५/६४/५५८ आतङ्के उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये। काय-कार्श्यतपःप्राणिदयाद्यर्थं चानाहरेत् ॥ ६४ ॥–किसी भी आकस्मिक व्याधि-मारणान्तिक पीड़ाके उठ खड़े होनेपर, देवादिकके द्वारा किये उत्पातादिकके उपस्थित होनेपर, अथवा ब्रह्मचर्यको निर्मल बनाये रखनेके लिए यद्वा शरीरकी कृशता, तपश्चरण और प्राणिरक्षा आदि धर्मोंकी सिद्धिके लिए भी साधुओंको भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

४. एक स्थानसे उठकर अन्यत्र चले जाने योग्य अवसर

अन. ध./९/९४/९२५ प्रक्षाल्य करौ मौनेनान्यत्रार्थाद् व्रजेद्यदैवाशात् । चतुरङ्गुलान्तरसमक्रमः सहाञ्जलिपुटस्तदैव भवेत् ॥ ९४ ॥–भोजनके स्थानपर यदि कीड़ी आदि तुच्छ जीव-जन्तु चलते-फिरते अधिक नजर पड़ें, या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाये तो संयमियोंको हाथ धोकर वहाँसे दूसरी जगहके लिए आहारार्थ मौन पूर्वक चले जाना चाहिए। इसके सिवाय जिस समय वे अनगार ऋषि भोजन करें उसी समय उनको अपने दोनों पैरोंके बीच चार अंगुलका अन्तर रखकर, समरूपमें स्थापित करने चाहिए तथा उसी समय दोनों हाथोंकी अंजलि भी बनानी चाहिए।

★ अयोग्य वस्तु खाये जानेका प्रायश्चित्त—दे० भक्ष्याभक्ष्य/१।

अंतराल—Interval—दे० ज.प./प्र. १०५।

अंतरिक्ष निमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२।

अंतरिक्ष लोक—दे० ज्योतिष/४।

अंतरोपनिधा—दे० श्रेणी/१।

अंतर्चित्प्रकाश—दे० दर्शन/६।

अंतर्जातीय विवाह—दे० विवाह।

अंतर्द्वीप—१. सागरोंमें स्थित छोटे-छोटे भूखण्ड, दे० लोक/७ २. लवण समुद्रमें ४८ अन्तर्द्वीप हैं, जिनमें कुभोग-भूमिज मनुष्य रहते हैं। (दे० भूमि) ये द्वीप अन्य सागरोंमें नहीं हैं। दे० लोक/७।

अंतर्द्वीपज म्लेच्छ—दे० म्लेच्छ।

अंतर्धान ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

अंतर्पाण्ड्य—आर्यखण्डस्थ एक देश। दे० मनुष्य/४।

अंतर्मुहूर्त—

१. अन्तर्मुहूर्तका लक्षण (मुहूर्तसे कम और आवलीसे अधिक)

ध. ३/१,२,६/६७/६ तत्थ एगमावलियं घेत्तूण असंखेज्जेहि समयेहि एगावलिया होदि त्ति असंखेज्जा समया कायव्वा। तत्थ एगसमए अवणिदे सेसकालपमाणं भिण्णमुहुत्तो उच्चदि। पुणो वि अवरेगे समए अवणिदे सेसकालपमाणमंतोमुहुत्तं होदि। एवं पुणो पुणो समया अवणेयव्वा जाव उस्सासो णिट्ठिदो त्ति। तो वि सेसकालपमाणमंतोमुहुत्तं चेव होइ। एवं सेसुस्सासे वि अवणेयव्वा जावेगावलिया सेसा त्ति। सा आवलिया वि अंतोमुहुत्तमिदि भण्णदि।=एक आवलीको ग्रहण करके असंख्यात समयोंसे एक आवली होती है, इसलिए उस आवलीके असंख्यात समय कर लेने चाहिए। यहाँ मुहूर्तमें-से एक समय निकाल लेनेपर शेष कालके प्रमाणको भिन्न मुहूर्त कहते हैं। उस भिन्न मुहूर्तमें-से एक समय और निकाल लेनेपर शेष कालका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक समय कम करते हुए उच्छ्वासके उत्पन्न होने तक एक-एक समय निकालते जाना चाहिए। वह सब एक-एक समय कम किया हुआ काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। इसी प्रकार जबतक आवली उत्पन्न नहीं होती तबतक शेष रहे एक उच्छ्वासमें-से भी एक-एक समय कम करते जाना चाहिए, ऐसा करते हुए जो आवली उत्पन्न होती है उसे भी अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। (चा.पा./टी./१७/४१/५)

२. मुहूर्तके समीप या लगभग

ध. ३/१,२,६/६६/५ उवसमसम्माइट्ठीणमवहारकालो पुण असंखेज्जावलिमेत्तो, खइयसम्माइट्ठीहिंतो तेसिं असंखेज्जगुणहीणत्तण्णहाणुववत्तीदो। *सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठीणं पि अवहारकालो* असंखेज्जावलियमेत्तो, उवसमसम्माइट्ठीहिंतो तेसिमसंखेज्जगुणहीणत्तण्णहाणुववत्तीदो। 'एदेहि पलिदोवममवहिरदि अंतोमुहुत्तेण कालेण' इति सुत्तेण सह विरोहो वि ण होदि। सामीप्यार्थे वर्तमानान्तःशब्दग्रहणात्। मुहूर्तस्यान्तः अन्तर्मुहूर्तः।=उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंका अवहार काल तो असंख्यात आवली प्रमाण है, अन्यथा उपशम सम्यग्दृष्टि जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंसे असंख्यातगुणे हीन बन नहीं सकते हैं। उसी प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंका भी अवहारकाल असंख्यात आवली प्रमाण है, अन्यथा उपशम सम्यग्दृष्टियोंसे उक्त दोनों गुणस्थान वाले जीव असंख्यातगुणा हीन बन नहीं सकते हैं। 'इन गुणस्थानोंमें-से प्रत्येक गुणस्थानकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकालसे पल्योपम अपहृत होता है।' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ उक्त कथनका विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तमें जो अन्तर शब्द आया है उसका सामीप्य अर्थमें ग्रहण किया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो मुहूर्तके समीप हो उसे अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। इस अन्तर्मुहूर्तका अभिप्राय मुहूर्तसे अधिक भी हो सकता है।

अंतर्विचारिणी—एक ओषधि विद्या। दे० 'विद्या'।

अंतर्स्थिति—देखो स्थिति।

अंध—पाँचवें नरकका चौथा पटल। दे० नरक/५।

अंधश्रद्धान—दे० श्रद्धान/४।

अंध्रकरूढि—वानरवंशीय राजा प्रतिचन्द्रका पुत्र। दे० इतिहास/७/१३।

अंधकवृष्णि—(ह. पु./१८ श्लोक) पूर्वभव नं० ५—ब्राह्मणपुत्र रुद्रदत्त (९७-१०१), पूर्वभव नं. ४—सातवें नरकका नारकी (१०१), पूर्वभव नं. ३—गौतम ब्राह्मणका पुत्र (१०२-१८), पूर्वभव नं. २—स्वर्गमें देव (१०६), वर्तमान भव—शौरपुरके राजा शूरका पुत्र (१०), समुद्रविजयादि १० पुत्र तथा कुन्ती-मद्री दो पुत्रियोंका पिता एवं भगवान् नेमिनाथका बाबा था (१२-१३), अन्तमें पुत्रोंको राज्य दे दीक्षा धारण कर ली। (१७७-१७८)

अंध्रनगरी—(म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल) हैदराबाद प्रान्तमें वर्तमान वेंगीनगर।

अंबर—प. प्र./टी./२/१६३/२७५ अम्बरशब्देन शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किन्तु विषयकषायविकल्पशून्यपरमसमाधिर्ग्राह्यः।=अम्बर शब्द आकाशका वाचक नहीं समझना, किन्तु समस्त विषय कषायरूप विकल्प जालोंसे शून्य परम समाधि लेना।

अंबरीष—असुरकुमार भवनवासी देवोंका एक भेद।—दे० असुर।

अंबरतिलक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

अंबर्णा—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

अंश—पं. ध./पू./६० अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च। भेदश्छेदो भङ्गः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते॥६०॥=अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अर्थात् इनका दूसरा अर्थ नहीं है।

पं. ध./पू./२७६ तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति। तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य॥२७६॥=उन विधि और प्रतिषेधमें अंश कल्पनाका न होना विधि यह है तथा वह विधि इस प्रकार है कि जैसे स्वयं सब सत् ही है, और यहाँपर विभागोंके द्वारा उस सत्का विभाग करके उसके अंशोंकी कल्पना प्रतिषेध है।

★ **निरंश द्रव्यमें अंशकल्पना।**—'दे० द्रव्य'।

★ **उत्पादादि तीनों वस्तुके अंश हैं।**—दे० उत्पाद/२।

★ **गुणोंमें अंशकल्पना**—दे० गुण/२।

★ **गणित सम्बन्धी अर्थ**—x/y में x अंश कहलाता है—दे०—गणित II/१।

अकंपन—(म. पु./सर्ग/श्लोक) काशी देशका राजा (४३/१२७) स्वयंवर मार्गका संचालक था तथा भरत चक्रवर्तीका गृहपति था (४५/५१-५४) भरतके पुत्र अर्ककीर्ति तथा सेनापति जयकुमारमें सुलोचना नामक कन्याके निमित्त संघर्ष होनेपर (४४/३४४-३४५) अपनी बुद्धिमत्तासे अक्षमाला नामक कन्या अर्ककीर्तिके लिए दे सहज निपटारा किया (४५/१०-३०) अन्तमें दीक्षा धार अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त किया। (४५/८७,२०४-२०६)

अकंपनाचार्य—(ह. पु./२०/श्लोक) मुनिसंघके नायक थे (५) हस्तिनापुरमें ससंघ इनपर बलि आदि चार मन्त्रियोंने घोर उपसर्ग किया (३३-३४) जिसका निवारण विष्णुकुमार मुनिने किया (६२)।

अकबर—१. (स. सा./कलश टी० /प्र०/ब्र० शीतल) —दिल्लीका सम्राट्। समय-वि. १६०३-१६६२ (ई० १५५६-१६०५) २. हि. जै. सा. इ./६७ कामता—दिल्लीका सम्राट्। समय ई. श. १६।

अकर्तृत्वनय—दे० नय I/५।

अकर्तृत्व शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति नं. २१ सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः।—सब कर्मोंसे किये गये ज्ञातापनेमात्रसे भिन्न परिणाम उनके करनेका अभावस्वरूप इक्कीसवीं अकर्तृत्व शक्ति है।

अकलंक भट्ट—१. (सि. वि. / प्र. ५ / पं० महेन्द्रकुमार)—लघुहव्व नृपतिके ज्येष्ठ पुत्र थे। आपने राजा हिम-शीतलकी सभामें एक बौद्ध साधुको परास्त किया था, जिसकी ओरसे तारा देवी शास्त्रार्थ किया करती थी। अकलंक देव आपका नाम था और भट्ट आपका पद था। आपके शिष्यका नाम महीदेव भट्टारक था। आपने निम्नग्रन्थ रचे हैं :—१. तत्त्वार्थराजवार्तिक सभाष्य, २. अष्टशती, ३. लघीयस्त्रय सविवृत्ति, ४. न्यायविनिश्चय सविवृत्ति, ५. सिद्धिविनिश्चय, ६. प्रमाणसंग्रह, ७. स्वरूप संबोधन, ८. बृहत्त्रयम्, ९. न्याय चूलिका, १०. अकलंक स्तोत्र। आपके कालके सम्बन्धमें चार धारणाएँ हैं :—१. अकलंक चारित्रमें "विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूद्" ।—विक्रम संवत् ७०० (ई० ६४३) में बौद्धोंके साथ श्री अकलंक भट्टका महान् शास्त्रार्थ हुआ। २. वि. श. ६ (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम/प्र. २/टिप्पणीमें श्री नाथूराम प्रेमी)। ३. ई. श. ७ (आर. नरसिंहाचार्य, प्रो. एस. श्रीकण्ठ शास्त्री, पं. जुगलकिशोर, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिप्रसादजी)। ४. ई. स. ७२०-७८०(डॉ. के. बी. पाठक, डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, डॉ. आर. जी. भण्डारकर, पिटर्सन, लुइस राइस, डॉ. विण्टरनिट्ज, डॉ. एफ. डब्ल्यू. थामस्, डॉ. ए. बी. कीथ, डॉ. ए. एस. आल्तेकर, श्री नाथूराम प्रेमी, पं. सुखलाल, डॉ. बी. एन. सालेतोर, महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज, पं. महेन्द्रकुमार) उपरोक्त चार धारणाओंमें-से नं. १ वाली धारणा अधिक प्रामाणिक होनेके कारण आपका समय ई. ६४०-६८० के लगभग आता है।

★ **जैन साधु संघमें आपका स्थान**—दे० इतिहास /५/३/

अकलंक त्रैविद्य देव—(ध. २/प्र. ४/ H. L. Jain नन्दिसंघके देशिय गणकी गुर्वावलीके अनुसार यह देवकीर्ति पण्डितके शिष्य थे। त्रैविद्यदेव आपकी उपाधि थी। समय—वि. १२२५-१२३९ (ई. ११५८-११८२) आता है। विशेष—दे० इतिहास /५/१४।

अकलंक स्तोत्र—आ० अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित जिन-स्तोत्र। इसमें कुल १६२ श्लोक हैं। इस पर पं० सदासुख दास (ई० १७९३-१८६३) ने भाषामें टीका लिखी है।

अकषाय—दे० कषाय/१।

अकषाय वेदनीय—दे० मोहनीय/१।

अकाम निर्जरा—दे० 'निर्जरा'।

अकाय—दे० 'काय'

अकार्यकारण शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति १४ अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्तिः।—अन्यसे न करने योग्य और अन्यका कारण नहीं ऐसा एक द्रव्य, उस स्वरूप अकार्यकारण चौदहवीं शक्ति है।

अकालनय—१. दे० नय I/५। २. काल व अकाल नयका समन्वय-दे० नियति /५।

अकाल मृत्यु—दे० मरण /४।

अकालवर्ष—मान्यखेटके राजा अमोघवर्षके पुत्र थे। कृष्ण द्वितीय इनकी उपाधि थी जो कृष्ण प्रथमके पुत्र ध्रुवराजके राज्यपर आसीन होनेके कारण इन्हें प्राप्त थी। ये भी राष्ट्रकूटके राजा थे। राजा लोकादित्यके समकालीन थे। इनका समय ई० ८७८ से ९१२ है। (विशेष दे० इतिहास /३/४)। (ह.पु./६६/५२-५३); (उत्तरपुराणकी प्रशस्ति); (जीवन्धर चम्पू / प्र० ८ / A. N. Upadhye); (आ. अनु०/ प्र. ७० / H. L. Jain.); (म. पु./प्र. ४२ / पं. पन्नालाल बाकलीवाल)।

अकालाध्ययन—सम्यग्ज्ञानका एक दोष—दे० 'काल'।

अकिंचित्कर हेत्वाभास—प. मु. / ३ / ३५-३६ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः।—जो साध्य स्वयं सिद्ध हो अथवा प्रत्यक्षादिसे बाधित हो उस साध्यकी सिद्धिके लिए यदि हेतुका प्रयोग किया जाता है तो वह हेतु अकिंचित्कर कहा जाता है।

न्या. दी. / ३ / § ६३/१०२ अप्रयोजको हेतुरकिंचित्करः। —जो हेतु साध्यकी सिद्धि करनेमें अप्रयोजक अर्थात् असमर्थ है उसे अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं।

२. अकिंचित्कर हेत्वाभासके भेद

न्या. दी./३/ § ६३/१०२ स द्विविधः — सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति।—अकिंचित्कर हेत्वाभास दो प्रकारका है—सिद्धसाधन और बाधितविषय।

३. सिद्धसाधन अकिंचित्कर हेत्वाभासका लक्षण

प. मु./३/३६-३७ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्। किंचिदकरणात्।—शब्द कानसे सुना जाता है क्योंकि वह शब्द है। यहाँ पर शब्दमें श्रावणत्व स्वयं सिद्ध है इसलिए शब्दमें श्रावणत्वकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त शब्दत्व हेतु कुछ नहीं करता (अतः सिद्धसाधन हेत्वाभास है)।

स. म. / श्रुत प्रभावक मण्डल / १२७ / ११ पूर्वसे ही सिद्ध है (ऐसी) सिद्धिको साधनेसे सिद्ध साधन दोष उपस्थित होता है।

न्या. दी./३/ § ६३/१०२ यथा शब्दः श्रावणो भवितुमर्हति शब्दत्वादिति। अत्र श्रावणत्वस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन सिद्धत्वाद्धेतुरकिंचित्करः।=शब्द श्रोत्रेन्द्रियका विषय होना चाहिए, क्योंकि वह शब्द है। यहाँ श्रोत्रेन्द्रियकी विषयता रूप साध्य शब्दमें श्रावण प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। अतः उसको सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त किया गया 'शब्दपना' हेतु सिद्धसाधन नामका अकिंचित्कर हेत्वाभास है।

★ **प्रत्यक्षबाधित आदि हेत्वाभास**—दे०' बाधित'।

★ **कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास**—दे० 'कालात्ययापदिष्ट'।

अकृत—अभ्यागम दोष या हेत्वाभास। दे० 'कृतनाश'।

अकृतिधारा—दे० गणित II/५।

अकृतिमातृकधारा—दे० गणित II/५।

अक्रियावाद—१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा—

ध. ९/४,१,४५ / २०७ / ४ सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रपदैः ८८०००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं, सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते।=सूत्र अधिकारमें अठासी लाख ८८०००० पदों द्वारा पूर्वोक्त सब मतोंका निरूपण किया जाता है। इसके अतिरिक्त जीव अबन्धक है, अलेपक है, अभोक्ता है, अकर्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अद्वैत है, जीव नहीं है, जीव (पृथिवी आदि चार भूतोंके] समुदायसे उत्पन्न हुआ है, सब नहीं है अर्थात् शून्य है, बाह्य पदार्थ नहीं है, सब निरात्मक हैं, सब क्षणिक हैं, सब अक्षणिक अर्थात् नित्य हैं, अद्वैत हैं, इत्यादि दर्शन भेदोंका भी इसमें निरूपण किया जाता है। (ध. १/१,१,२/११०/८)

गो. क./भाषा./८८४/१०६८ अक्रियावादी वस्तु कौ नास्ति रूप मानि क्रियाका स्थापन नाहिं करै है।

भा.पा./भाषा/१३७/पं. जयचन्द—बहुरि केई अक्रियावादी हैं तिनि नैं जीवादिक पदार्थनि विषै क्रियाका अभाव मानि परस्पर विवाद करैं

हैं। केई कहैं हैं जीव जानैं नाहीं है, केई कहैं हैं कछु करैं नाहीं है, केई कहैं है भोगवै नाही है, केई कहै हैं उपजै नाहीं है, केई कहै हैं बिनसै नाहीं है, केई कहै हैं गमन नाहीं करै है, केई कहै हैं तिष्ठै नाहीं है। इत्यादिक क्रियाके अभाव पक्षपात करि सर्वथा एकान्ती होय है तिनिके संक्षेप करि चौरासी भेद किये है।

२. सम्यक् एकान्तकी अपेक्षा—

का. अ./मू./४१२ पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्ण-संपत्ती। इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह ॥ ४१२ ॥–पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्यबन्ध नहीं होता, बल्कि निरीह (इच्छा रहित) व्यक्तिको ही पुण्यकी प्राप्ति होती है। अतः ऐसा जानकर हे यतीश्वरो, पुण्यमें भी आदर भाव मत रक्खो।

प्र. सा./त. प्र./परि./नय नं. ३६ अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ॥ ३६ ॥ आत्म द्रव्य अकर्तृ त्व नयसे केवल साक्षी ही है (कर्ता नहीं), अपने कार्यमें प्रवृत्त रंगरेजको देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति।

प.प्र./मू./१/५५,६५ अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णव णव दोस वि जेण। सुद्धहं एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥५५॥ बन्ध वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्म जणेइ। अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भणेइ ॥६५॥ =जिस कारण आठों ही अनेक भेद वाले कर्म अठारह ही दोष इनमें-से एक भी शुद्धात्माके नहीं है, इसलिए शून्य भी कहा जाता है ॥५५॥ हे जीव, बन्धको और मोक्षको सबको जीवोंका कर्म ही करता है, आत्मा कुछ भी नहीं करता, निश्चय नय ऐसा कहता है।

३. अक्रियावादके ८४ भेद

ध. १/१,१,२/१०७/८ मरीचिकपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूतिवाद्वलिमाठर-मोद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः। = मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर और मोद्गल्यायन आदि अक्रियावादियोंके ८४ मतोंका...वर्णन और निराकरण किया गया है। (रा. वा./१/२०/१२/७४/४; ८/१/१०/५६२/४) (ध. ६/४,१, ४५/२०३/४); (गो. जी./जी. प्र./३६०/७७०/१२)

गो. क./मू./८८४-८८५/१०६७ णत्थि सदो परदो वि य सत्तपयत्था य पुण्ण पाऊणा। कालादियादि भंगा सत्तरि चदुपंति संजादा। ८८४। णत्थि य सत्त पदत्था णियदीदो कालदो तिपंतिभवा। चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी ॥८८५॥ =आगे अक्रियावादीनिके भंग कहैं हैं—(नास्ति)×(स्वतः परतः)×(जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष)×(काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव) =१×२×७×५=७० तथा (नास्ति)×(जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष)×(नियति, काल) =१×७×२=१४. मिलकर अक्रियावादके (७०+१४=८४) चौरासी भेद हुए। (ह.पु.१०/५२-५३)

अक्रियवान—क्रियवान अक्रियवानकी अपेक्षा द्रव्योंका विभाग। —दे० द्रव्य/३।

अक्ष—१. स. सि./१/१२/१०३ अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। =पहिचानता है, वा बोध करता है, व्याप्त होता है, जानता है, ऐसा 'अक्ष' आत्मा है। (रा. वा./१/१२/२/५३/११) (प्र.सा./ता. वृ./१/२२) (गो.जी./जी.प्र./३६९/७६५) २. पासा आदि दे० निक्षेप/४। ३. भेद व भंग—दे० गणित II/३।

अक्षम्रक्षण वृत्ति—भिक्षावृत्तिका एक भेद—दे० भिक्षा/१/७।

अक्षयनिधि व्रत—व्रतविधान संग्रह / ८३ गणना—कुल समय १० वर्ष; कुल उपवास २०; एकाशना २८०।

किशन सिंह क्रियाकोश। विधि—१० वर्ष तक प्रतिवर्षकी श्रावण शुक्ला दशमी व भाद्रपद कृष्णा १० को उपवास। इनके बीच २८ दिनोंमें एकाशन। मन्त्र—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप।

अक्षयफल दशमी व्रत—व्रत विधान सं.। ८६ गणना—कुल समय १० वर्षतक। विधि—प्रतिवर्ष श्रावण शु० १० को उपवास। मन्त्र—"ॐ ह्रीं वृषभजिनाय नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

अक्षर—ध. ६/१,९-१,१४/२१/११ खरणभावा अक्खरं केवलणाणं। = क्षरण अर्थात् विनाशका अभाव होनेसे केवलज्ञान अक्षर कहलाता है।

गो. जी./जी. प्र. /३३३/७२८/८ न क्षरतीत्यक्षरं द्रव्यरूपतया विनाशाभावात्। =द्रव्य रूपसे जिसका विनाश नहीं होता वह अक्षर है।

२. अक्षरके भेद

ध. १३/५,५,४८/२६४/१० लद्धिअक्खरं णिव्वत्तिअक्खरं संठाणक्खरं चेदि तिविहमक्खरं। =अक्षरके तीन भेद है—लब्ध्यक्षर, निर्वृत्त्यक्षर, व संस्थानाक्षर। (गो. जी./जी. प्र./३३३/७२८/७)

३. लब्ध्यक्षरका लक्षण

ध. १३/५,५,४८/२६४/११ सुहुमणिगोदअपज्जत्तप्पहुडि जाव सुदकेवलि त्ति ताव जे खओवसमा तेसिं लद्धिअक्खरमिदि सण्णा।...... संपहि लद्धिअक्खरं जहण्णं सुहुमणिगोदलद्धिअपज्जत्तस्स होदि, उक्कस्सं चोद्दसपुव्विस्स। =सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकसे लेकर श्रुतकेवली तक जीवोंके जितने क्षयोपशम होते हैं उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है।

गो. जी./जी. प्र. /३२२/६८२/४ लब्धिर्नामश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमः अर्थग्रहणशक्तिर्वा, लब्ध्या अक्षरं अविनश्वरं लब्ध्यक्षरं तावतः क्षयोपशमस्य सदा विद्यमानत्वात्। =लब्धि कहिये श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम वा जानन शक्ति ताकरि अक्षरं कहिए अविनाशी सो ऐसा पर्याय ज्ञान ही है, जातै इतना क्षयोपशम सदा काल विद्यमान रहे हैं।

गो. जी./जी.प्र./३३३/७२८/८ पर्यायज्ञानावरणप्रभृतिश्रुतकेवलज्ञानावरणपर्यन्तक्षयोपशमादुद्भूतात्मनोऽर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः भावेन्द्रियं, तद्रूपमक्षरं लब्ध्यक्षरं अक्षरज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात्। =तहाँ पर्यायज्ञानावरण आदि श्रुतकेवलज्ञानावरण पर्यन्तके क्षयोपशमतैं उत्पन्न भई जो पदार्थ जाननेकी शक्ति सो लब्धि रूप भावेन्द्रिय तीहिं स्वरूप जो अक्षर कहिये अविनाश सो लब्धि अक्षर कहिये जातैं अक्षर ज्ञान उपजने कौं कारण है।

४. निर्वृत्त्यक्षर सामान्य विशेषका लक्षण

ध. १३/५,५,४८/२६५/१ जीवाणं मुहादो णिग्गमस्स सद्दस्स णिव्वत्ति अक्खरमिदि सण्णा। तं च णिव्वत्ति अक्खरं वत्तमव्वत्तं चेदि दुविहं। तत्थ वत्तं सण्णिपंचिंदियपज्जत्तएसु होदि। अव्वत्तं बेइंदियप्पहुडि जाव सण्णिपंचिंदियपज्जत्तएसु होदि। ...णिव्वत्ति अक्खरं जहण्णयं बेइंदियपज्जत्तादिसु, उक्कस्सयं चोद्दसपुव्विस्स। =जीवोंके मुखसे निकले हुए शब्दकी निर्वृत्त्यक्षर संज्ञा है। उस निर्वृत्त्यक्षरके व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो भेद हैं। उनमेंसे व्यक्त निर्वृत्त्यक्षर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकोंके होता है, और अव्यक्त निर्वृत्त्यक्षर द्विइन्द्रियसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तक जीवोंके होता है। जघन्य निर्वृत्त्यक्षर द्वीन्द्रिय पर्याप्तक आदिक जीवोंके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है।

गो. जी./जी. प्र. / ३३३ / ७२८ / ६ कण्ठोष्ठताल्वादिस्थानस्पृष्टतादिकरणप्रयत्ननिर्वर्त्यमानस्वरूपं अकारादिककारादिस्वरव्यञ्जनरूपं मूलवर्णतत्संयोगादिसंस्थानं निर्वृत्त्यक्षरम्। =बहुरि कंठ, ओठ, तालु आदि अक्षर बुलावनेके स्थान अर होठनिका परस्पर मिलना सो स्पृष्टता ताकौं आदि देकरि प्रयत्न तीहिं करि उत्पन्न भया शब्द रूप अकारादि स्वर अर ककारादि व्यञ्जन अर संयोगी अक्षर सो निर्वृत्त्यक्षर कहिए।

५. स्थापना या संस्थानाक्षरका लक्षण

ध. १३ / ५,५,४८ / २६५ / ४ जं तं संठाणक्खरं णाम तं ट्ठवणक्खर-मिदि घेत्तव्वं । का ट्ठवणा णाम । एदमिदमक्खर मिदि अभेदेण बुद्धीए जा ट्ठविया लीहादव्वं वा तं ट्ठवणक्खरंणाम ।=संस्थानाक्षरका दूसरा नाम स्थापना अक्षर है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—स्थापना क्या है? उत्तर—'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेद रूपसे बुद्धिमें जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापना अक्षर है।

गो. जी./जी.प्र./३३३/७२८/१ पुस्तकेषु तद्देशानुरूपतया लिखितसंस्थानं स्थापनाक्षरम्।=पुस्तकादि विषैं निजदेशकी प्रवृत्तिके अनुसार अकारादिकनिका आकारकरि लिखिए सो स्थापना अक्षर कहिए।

६. बीजाक्षरका लक्षण

ध. ६ / ४,१,४४ / १२७ / १ संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंग-संगयं बीजपदं णाम।=संक्षिप्त शब्द रचनासे सहित व अनन्त अर्थोंके ज्ञानके हेतुभूत अनेक चिह्नोंसे संयुक्त बीजपद कहलाता है।

७. ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत अक्षरका लक्षण

ध. १३ / ५,५,४६ / २४८ / ३ एकमात्रो ह्रस्वः, द्विमात्रो दीर्घः, त्रिमात्रः प्लुतः, मात्रार्द्ध व्यञ्जनम्।=एक मात्रावाला वर्ण ह्रस्व होता है, दो मात्रावाला वर्ण दीर्घ होता है, तीन मात्रावाला वर्ण प्लुत होता है और अर्ध मात्रा वालावर्ण व्यञ्जन होता है।

८. व्यञ्जन स्वरादिकी अपेक्षा भेद व इनके संयोगी भंग

ध. १३/५,५,४५/२४७/८ वग्गक्खरा पंचवीस, अंतत्था चत्तारि, चत्तारि उम्हाक्खरा, एवं तेत्तीसा होंति वंजणाणि ३३। अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ एवमेदे णव सरा हरस्स-दीह-पुदभेदेण पुध पुध भिण्णा सत्तावीस होंति। एचां ह्रस्वा न सन्तीति चेत्-न, प्राकृते तत्र तत्सत्त्वा-विरोधात्। अजोगवाहा अं अः ≍ क ≍ प इति चत्तारि चेव होंति। एवं सव्वक्खराणि चउसट्ठी।

ध.१३/५,५,४६/२४९/९ एदेसिमक्खराणं संखं रासिं दुवे विरलिय-दुगुणिदमण्णोण्णेण संगुणे अण्णोण्णसमब्भासो एत्तिओ होदि—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६। एदम्मि संखाणे रूवूणे कदे संजोग-क्खराणं गणिदं होदि त्ति णिद्दिसे।

वर्णाक्षर पच्चीस, अंतस्थ चार, और ऊष्माक्षर चार इस प्रकार तेतीस व्यञ्जन होते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, इस प्रकार ये नौ स्वर अलग-अलग ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस होते हैं। शंका—एच् अर्थात् ए ऐ, ओ, औ इनके ह्रस्व भेद नहीं होते। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्राकृतमें उनमें इनका सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। अयोगवाह अं अः ≍ क और ≍ प ये चार ही होते हैं। इस प्रकार सब अक्षर ६४ होते हैं।......इन अक्षरोंकी संख्याकी राशि प्रमाण २ का विरलन करके परस्पर गुणा करनेसे प्राप्त हुई राशि इतनी होती है—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६। इस संख्यामें-से एक कम करनेपर संयोगाक्षरोंका प्रमाण होता है, ऐसा निर्देश करना चाहिए। (विस्तारके लिए दे० ध. १३/५.५.४६/२४९-२६०) (गो.जी./जी.प्र./३५२-३५४/७४९-७५९)

ध. १३/५.५.४७/२६०/१ जदि वि एगसंजोगक्खरमणेगेसु अत्थेसु अक्खर-वच्चासावब्भासबलेण वट्टदे तो वि अक्खरमेक्कं चेव, अण्णोण्णमवे-क्खिय णाणकज्जजणयाणं भेदाणुववत्तीदो।—यद्यपि एक संयोगाक्षर अनेक अर्थोंमें अक्षरोंके उलट-फेरके बलसे रहता है तो भी अक्षर एक ही है, क्योंकि एक दूसरेको देखते हुए ज्ञान रूप कार्यको उत्पन्न करनेकी अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं पाया जाता।

★ **अक्षरात्मक शब्द**—दे० भाषा।

★ **अक्षरगता असत्यमृषा भाषा**—दे० भाषा।

★ **आगमके अपुनरुक्त अक्षर**—दे० आगम/१।

★ **अक्षर संयोग तथा संयोगी अक्षरोंकी एकता अनेकता सम्बन्धी शंकाएँ**—दे० ध.१३/५.५.४६/२४९-२५०।

अक्षर ज्ञान—द्रव्य श्रुतका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान II।

अक्षर म्लेच्छ—दे० म्लेच्छ।

अक्षर समास—द्रव्य श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान II।

अक्ष संचार—गणित सम्बन्धी एक प्रक्रिया—दे० गणित II/३।

अक्षांश—(ज. प./प्र. १०५) Latitude.।

अक्षिप्र—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

अक्षीण महानस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/९।

अक्षीणमहालय ऋद्धि—दे० ऋद्धि/९।

अक्षीय परिभ्रमण—(ध. ५/प्र.२७) Axial Rcvolution।

अक्षोभ—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

अक्षौहिणी—सेनाका एक अंग—(दे० सेना)

अखंड—१. द्रव्यमें खण्डत्व अखण्डत्व निर्देश—दे० द्रव्य/४। २. गुण-में खण्डत्व अखण्डत्व निर्देश—दे० गुण/२। ३. चौथे नरकका सप्तम पटल—दे० नरक/५। ४. Continuous (ज.प./प्र.१०५)।

अगर्त—भरत क्षेत्रमें पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

अगाढ—सम्यग्दर्शनका एक दोष।

अन. ध./२/५७-५८ वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता। स्थान एव स्थिते कम्प्रमगाढं वेदकं यथा॥५७॥ स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते। अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते॥५८॥

अन. ध./२/६१की टीकामें उद्धृत—यच्चलं मलिनं चास्मादगाढम-नवस्थितम्। नित्यं चान्तर्मुहूर्तादिषट्षष्ठ्यब्ध्यन्तवर्ति यत्।

जिस प्रकार वृद्ध पुरुषकी लकड़ी तो हाथमें ही बनी रहती है, परन्तु अपने स्थानको न छोड़ती हुई भी कुछ काँपती रहती है उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दर्शन देव गुरु व तत्त्वादिककी श्रद्धामें स्थित रहते हुए भी सकम्प होता है। उसको अगाढ वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥५७॥ वह भ्रम व संशयको प्राप्त होकर अपने बनाये हुए चैत्यादिमें 'यह मेरा देव है' और अन्यके बनाये हुए चैत्यादिमें 'यह अन्यका देव है' ऐसा व्यवहार करने लगता है ॥५८॥ (गो. जी./जी. प्र./२५/५१/१५) इस प्रकार जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चल मलिन अगाढ व अन-वस्थित है वही नित्य भी है। अन्तर्मुहूर्तसे लेकर ६६ सागर पर्यन्त अवस्थित रहता है।

अगारी—त. सू. / ७ / २० अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥ =अणुव्रती श्रावक अगारी है।

स.सि./७/१९/३५७ प्रतिश्रयार्थिभिः अङ्ग्यते इति अगारं वेश्म, तद्वान-गारी। ... ननु चात्र विपर्ययोऽपि प्राप्नोति शून्यागारदेवकुलाद्यावा-सस्य मुनेरगारित्वम् अनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणाद् गृहं विमुच्य वने वसतोऽनगारत्वं च प्राप्नोति इति। नैष दोषः भावा-गारस्य विवक्षितत्वात्। चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागारमित्युच्यते। स यस्यास्त्यसावगारी वने वसन्नपि। गृहे वसन्नपि तदभावादनगार इति च भवति। —आश्रय चाहनेवाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार है। अगारका अर्थ वेश्म अर्थात् घर है, जिसके घर है वह अगारी है। शंका—उपरोक्त लक्षणसे विप-रीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योंकि शून्य घर व देव मन्दिर आदिमें वास करनेवाले मुनिके अगारपना प्राप्त हो जायेगा? और जिसकी विषय-तृष्णा अभी निवृत्त नहीं हुई है ऐसे किसी व्यक्तिको किसी कारणवश घर छोड़कर वनमें बसनेसे अनगारपना प्राप्त हो जायेगा?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यहाँपर भावागार विवक्षित है। चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर जो परिणाम घरसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वनमें निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें बसते हुए भी अनगार है। (रा. वा./ ७/१६/१/५४६/२४) (र.सा./४/७६)—(विषय विस्तार दे० श्रावक)।

अगासदेव—(म. पु./प्र. २०/पं० पन्नालाल) आप एक कवि थे।

कृति—चन्द्रप्रभपुराण।

अगुणी—दे० गुणी।

अगुप्ति भय—दे० भय।

अगुरुलघु—जड़ या चेतन प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघु नामका एक सूक्ष्म गुण स्वीकार किया गया है जिसके कारण वह प्रतिक्षण सूक्ष्म परिणमन करते हुए भी ज्योंका त्यों बना रहता है। संयोगी अवस्थामें वह परिणमन स्थूल रूपसे दृष्टिगत होता है। शरीरधारी जीव भी हलके-भारीपनेकी कल्पनासे युक्त हो जाता है। इस कल्पना का कारण अगुरुलघु नामका एक कर्म स्वीकार किया गया है। इन दोनोंका ही परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

अगुरुलघु निर्देश—

१. अगुरुलघु गुणका लक्षण (षट् गुण हानि वृद्धि)

आ. प. / ६ अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मावाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः। =अगुरुलघु भाव अगुरुलघुपन है। अर्थात् जिस गुणके निमित्तसे द्रव्यका द्रव्यपन सदा बना रहे अर्थात् द्रव्यका कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सके, अथवा न द्रव्यके गुण बिखरकर पृथक् पृथक् हो सकें और जिसके निमित्तसे प्रत्येक द्रव्यमें तथा उसके गुणोंमें समय-समय प्रति षट्गुण हानि वृद्धि होती रहे उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। अगुरुलघु गुणका यह सूक्ष्म परिणमन वचनके अगोचर है, केवल आगम प्रमाणगम्य है।

स. सा. / आ. / परि. / शक्ति नं. १७ षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः। =षट्स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप परिणत हुआ जो वस्तुके निज स्वभावकी प्रतिष्ठाका कारण विशेष अगुरुलघुत्व नामा गुण-स्वरूप अगुरुलघुत्व नामा सत्रहवीं शक्ति है।

प्र. सा./ता. वृ./८०/ १०१ अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः। =अगुरुलघु गुणकी षड्गुणहानि वृद्धि रूपसे प्रतिक्षण प्रवर्तमान अर्थ पर्याय होती है।

२. सिद्धोंके अगुरुलघु गुणका लक्षण

द्र.सं./टी./१४/४३ यदि सर्वथा गुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधःपतनं, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहतार्कतूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते। =यदि उनका स्वरूप सर्वथा गुरु हो तो लोहेके गोलेके समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि वह सर्वथा लघु हो तो वायुसे प्रेरित आककी रूईकी तरह वह सदा इधर-उधर घूमता रहेगा, किन्तु सिद्धोंका स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके 'अगुरुलघु' गुण कहा जाता है।

प.प्र./टी./१/ ६१ / ६२ सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम्। गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति। =सिद्धावस्थाके योग्य विशेष अगुरुलघुगुण, नामकर्मके उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढँक गया है। क्योंकि गोत्र कर्मके उदयसे जब नीच गोत्र पाया, तब तुच्छ या लघु कहलाया और उच्च गोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया।

३. अगुरुलघु नामकर्मका लक्षण

स. सि. / ८ / ११ / ३९१ यस्योदयादयःपिण्डवद् गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघु नाम। =जिसके उदयसे लोहेके पिण्डके समान गुरु होनेसे न तो नीचे गिरता है और न अर्कतूलके समान लघु होनेसे ऊपर जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१२/५७७/३१) (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१२)

ध.६/१,९-१,२८/५८/१ अणंताणंतेहि पोग्गलेहि आऊरियस्स जीवस्स जेहि कम्मक्खंधेहिंतो अगुरुअलहुअत्तं होदि, तेसिमगुरुअलहुअं त्ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो। जदि अगुरुअलहुअकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो जीवो लोहगोलओ व्व गरुअओ अक्कतूलं व हलुओ वा होज्ज। ण च एवं अणुवलंभादो। =अनन्तानन्त पुद्गलोंसे भरपूर जीवके जिन कर्मस्कन्धोंके द्वारा अगुरुलघुपना होता है, उन पुद्गल स्कन्धोंकी 'अगुरुलघु' यह संज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे की गयी है। यदि जीवके अगुरुलघु कर्म न हो, तो या तो जीव लोहेके गोलेके समान भारी हो जायेगा, अथवा आकके तूलके समान हलका हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता है। (ध. १३/५,५,१०१/३६४/१०)

ध. ६/१,९-२,७६/११४/३ अण्णहा गरुअसरीरेणोट्ठद्धो जीवो उट्ठेदुं पि ण सक्केज्ज। ण च एवं, सरीरस्स अगुरु-अलहु अत्ताणमणुवलंभा। =यदि ऐसा (इस कर्मको पुद्गल विपाकी) न माना जाये, तो गुरु भार वाले शरीरसे संयुक्त यह जीव उठनेके लिए भी न समर्थ होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीरके केवल हलकापन और केवल भारीपन नहीं पाया जाता है।

★ **अगुरुलघु नामकर्मकी बन्ध उदय सत्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियम आदि**—दे० वह वह नाम।

४. अगुरुलघु गुण अनिर्वचनीय है

आ.प./६ सूक्ष्मावाग्गोचराः आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः। =अगुरुलघु गुणका यह सूक्ष्म परिणमन वचनके अगोचर है। आगम प्रमाणके ही गम्य है। (नय चक्र श्रु./५७)

प.ध./पू./१६२ किंत्वस्ति च कोऽपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतःसिद्धः। नाम्ना चागुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा। =किन्तु स्वतःसिद्ध और प्रत्यक्षदर्शियोंके लक्ष्यमें आने योग्य अर्थात् केवलज्ञानगम्य अथवा स्वानुभूतिके द्वारा जाननेके योग्य तथा नामसे अगुरुलघु ऐसा कोई वचनोंके अगोचर गुण है।

५. जीवके अगुरुलघु गुण व अगुरुलघु नाम कर्मोदयकृत अगुरुलघुमें अन्तर

ध. ६/१,९-२,७८/११३/११ अगुरुअलहुअत्तं णाम सव्वजीवाणं पारिणामियमत्थि, सिद्धेसु खीणासेसकम्मेसु वि तस्सुवलंभा। तदो अगुरुअलहुअकम्मस्स फलाभावा तस्साभावो इदि। एत्थ परिहारो उच्चदे—होज्ज एसो दोसो, जदि अगुरुअलहुअं जीवविवाई होदि। किंतु एदं पोग्गलविवाई, अणंताणंतपोग्गलेहि गरुवपासेहि आरद्धस्स अगुरुअलहुअत्तुप्पायणादो। अण्णहा गरुअसरीरेणोट्ठद्धो जीवो उट्ठेदुं पि ण सक्केज्ज। ण च एवं, सरीरस्स अगुरु-अलहुअत्ताणमणुवलंभा। =शंका—अगुरुलघु नामका गुण सर्व जीवोंमें पारिणामिक है, क्योंकि अशेष कर्मोंसे रहित सिद्धोंमें भी उसका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए अगुरुलघु नामकर्मका कोई फल न होनेसे उसका अभाव मानना चाहिए? उत्तर—यहाँपर उक्त शंकाका परिहार करते हैं। यह उपर्युक्त दोष प्राप्त होता, यदि अगुरुलघु नाम-कर्म जीवविपाकी होता। किन्तु यह कर्म पुद्गलविपाकी है, क्योंकि गुरुस्पर्शवाले अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओंके द्वारा आरब्ध शरीरके अगुरुलघुताकी उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाये, तो गुरु भारवाले शरीरसे संयुक्त यह जीव उठनेके लिए भी न समर्थ होगा। किन्तु ऐसा है नहीं,

क्योंकि शरीरके केवल हल्कापन और केवल भारीपन नहीं पाया जाता।

ध.६/१,९-१,२८/५८/४ अगुरुवलहुअत्तं णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण, संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा। ण च सहावविणासे जीवस्स विणासो, लक्खणविणासे लक्खविणासस्स णाइयत्तादो। ण च णाण-दंसणे मुच्चा जीवस्स अगुरुलहुअत्तं लक्खणं, तस्स आयासादीसु वि उवलंभा। किं च ण एत्थ जीवस्स अगुरुलहुत्तं कम्मेण कीरइ, किंतु जीवम्हि भरिओ जो पोग्गलक्खंधो, सो जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स गरुओ हलुवो वा त्ति णावडइ तमगुरुवलहुअं। तेण ण एत्थ जीवविसय-अगुरुलहुवत्तस्स गहणं। प्रश्न—अगुरुलघु तो जीवका स्वाभाविक गुण है (फिर उसे यहाँ कर्म प्रकृतियोंमें क्यों गिनाया)? उत्तर—नहीं, क्योंकि संसार अवस्थामें कर्म-परतंत्र जीवमें उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुणका अभाव है। यदि ऐसा कहा जाये कि स्वभावका विनाश माननेपर जीवका विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि लक्षणके विनाश होनेपर लक्ष्यका विनाश होता है ऐसा न्याय है, सो भी यहाँ बात नहीं है, अर्थात् अगुरुलघु नामकर्मके विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शनको छोड़कर अगुरुलघुत्व जीवका लक्षण नहीं है, चूंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्योंमें भी पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ जीवका अगुरुलघुत्व कर्मके द्वारा नहीं किया जाता है किन्तु जीवमें भरा हुआ जो पुद्गल स्कन्ध है, वह जिस कर्मके उदयसे जीवके भारी या हलका नहीं होता है, वह अगुरुलघु यहाँ विवक्षित है। अतएव यहाँपर जीव विषयक अगुरुलघुत्वका ग्रहण नहीं करना चाहिए।

६. अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण कैसे घटित होता है

रा. वा./८/११/१२/५७७/३२ धर्मादीनामजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत्। अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात्।=प्रश्न—धर्म अधर्मादि अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघुपना कैसे घटित होता है? उत्तर अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुणके सम्बन्धसे उनमें उसकी सिद्धि हो जाती है।

७. मुक्त जीवोंमें अगुरुलघु गुण कैसे घटित होता है

रा. वा./८/११/१२/५७७/३३ मुक्तजीवानां कथमिति चेत्? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति।=प्रश्न—मुक्त जीवोंमें (अगुरुलघु) कैसे घटित होता है, क्योंकि वहाँ तो नामकर्मका अभाव है? उत्तर—अनादि कर्म नोकर्मके बन्धनसे बद्ध जीवोंमें कर्मोदय कृत अगुरुलघु गुण होता है। उसके अत्यन्ताभाव हो जाने पर मुक्त जीवोंके स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है।

अगृहीत चेटिका—दे० स्त्री।

अगृहीत मिथ्यात्व—दे० मिथ्यादृष्टि/१।

अग्नि—ज्ञा. सा./५७ अग्निः त्रिकोणः रक्तः।=अग्नि त्रिकोण व लाल होती है।

२. अग्निके अंगारादि भेद

मू. आ./मू./२२१ इंगालजालअच्ची मुम्मुरसुद्धागणी य अगणी य। ते जाण तेउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।=धुआँ रहित अंगार, ज्वाला, दीपककी लौ, कंडाकी आग, और वज्राग्नि, बिजली आदिसे उत्पन्न शुद्ध अग्नि, सामान्य अग्नि—ये तेजस्कायिक जीव हैं, इनको जानकर इनकी हिंसाका त्याग करना चाहिए (आचारांग निर्युक्ति/१६६) (पं. सं./प्रा./१/७९) (ध. १/१,१,४२/गा. १५१/२७३) (भ. आ./वि./६०८/८०५) (त. सा./२/६४)।

३. गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोंका निर्देश व उपयोग

म. पु./४०/८२-९० त्रयोऽग्नयः प्रणेयाः स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमैः। रत्नत्रितयसंकल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवाः ॥८२॥ तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे। पूजाङ्गत्वं समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥८३॥ कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धयः ॥८४॥ अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः। आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥८५॥ हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसंविधौ। वह्नीनां विनियोगः स्यादमीषां नित्यपूजने ॥८६॥ प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रयं गृहे। नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृताः ॥८७॥ न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा। किन्त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासंबन्धात् पावनोऽनलः ॥८८॥ ततः पूजाङ्गतामस्य मत्वार्चन्ति द्विजोत्तमाः। निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजातो न दुष्यति ॥८९॥ व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः। जैनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मनः ॥९०॥=क्रियाओंके प्रारम्भमें उत्तम द्विजोंको रत्नत्रयका संकल्प कर अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियाँ प्राप्त करनी चाहिए ॥८२॥ ये तीनों ही अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणोत्सवमें पूजाका अंग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती है ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनों महाग्नियोंको तीन कुण्डोंमें स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें मन्त्रोंके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है। और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती रहती है वह आहिताग्नि व अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्य पकानेमें, धूप खेनेमें और दीपक जलानेमें होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीप जलाया जाता है ॥८६॥ घरमें बड़े प्रयत्नसे इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है ऐसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिए ॥८७॥ अग्निमें स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवता रूप ही है किन्तु अर्हन्त देवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिए ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं अतः निर्वाण क्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नहीं है ॥८९॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता इष्ट है इसलिए जैन ब्राह्मणोंको भी आज यह व्यवहार नय उपयोगमें लाना चाहिए। (और भी देखो यज्ञमें आर्ष यज्ञ) (दे० मोक्ष/५/१) (भ. आ./वि./८/१८५६)

★ **अर्हत्पूजासे ही अग्नि पवित्र है स्वयं नहीं**—दे० अग्नि/३।

४. क्रोधादि तीन अग्नियोंका निर्देश

म. पु./६७/२०२-२०३ त्रयोऽग्नयः समुद्दिष्टाः क्रोधकामोदराग्नयः। तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने ॥२०२॥ स्थितर्षियतिमुन्यस्तशरणाः परमद्विजाः। इत्यात्मयज्ञमिष्टार्थमष्टमीमवनीं ययुः ॥२०३॥=क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियाँ बतलायी गयी हैं। इनमें क्षमा, वैराग्य, और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो ऋषि, यति, मुनि और अनगार रूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थकी देनेवाली अष्टम पृथिवी मोक्ष-स्थानको प्राप्त होते हैं।

५. पंचाग्निका अर्थ पंचाचार

पंचमहागुरु भक्ति—पंचहाचार-पंचग्गिसंसाहया……सूरिणो दिंतु मोक्खंगयासंगया।=जो पंचाचार रूप पंचाग्निके साधक हैं…वे आचार्य परमेष्ठी हमें उत्कृष्ट मोक्ष लक्ष्मी देवें। (विशेष दे० पंचाचार)।

६. प्राणायाम सम्बन्धी अग्निमण्डल

ज्ञा./२९/२२,२७/२८८ स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशताञ्चितम्। त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम् ॥२२॥ बालार्कसंनि-

भस्वोर्ध्वं क्षावर्तश्चतुरङ्गुलः । अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्तितो बुधैः ॥२७॥—अग्निके स्फुलिंग समान पिंगल वर्ण भीम रौद्र रूप ऊर्ध्वगमन स्वरूप सैकड़ों ज्वालाओं सहित त्रिकोणाकार स्वस्तिक (साथिये) सहित, बह्निबीजसे मण्डित ऐसा बह्निमण्डल है ॥२२॥ जो उगते हुए सूर्यके समान रक्त वर्ण हो तथा ऊँचा चलता हो, आवर्तों (चक्रों) सहित फिरता हुआ चले, चार अंगुल बाहर आवे और अति ऊष्ण हो ऐसा अग्निमण्डलका पवन पण्डितोंने कहा है ।

७. आग्नेयी धारणाका लक्षण

ज्ञा. /३७/१०-१९/३८२ ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले। स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥ १० ॥ प्रतिपत्रसमासीनस्वर-मालाविराजितम् । कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ ११ ॥ रेफरुद्धं कलाबिन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम् । लसदिन्दुच्छटा-कोटिकान्तिव्याप्तहरिन्मुखम् ॥१२॥ तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूम-शिखां स्मरेत् । स्फुलिङ्गसंततिं पश्चाज्ज्वालालीं तदनन्तरम् ॥ १३ ॥ तेन ज्वालाकलापेन वर्धमानेन संततम् । दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदिस्थितम् ॥ १४ ॥ तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् । दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थः प्रबलोऽनलः ॥ १५ ॥ ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् । स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥ १६ ॥ वह्निबीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् । ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूतं निर्धूमं काञ्चनप्रभम् ॥ १७ ॥ अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् । धगद्धगितिविस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥ १८ ॥ भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् । दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः ॥१९॥—तत्पश्चात् (पार्थिवी धारणाके) योगी (ध्यानी) निश्चल अभ्याससे अपने नाभिमण्डलमें सोलह ऊँचे-ऊँचे पत्रोंके एक मनोहर कमलका ध्यान करै ॥१०॥ तत्पश्चात् उस कमलकी कर्णिकामें महामन्त्रका (जो आगे कहा जाता है उसका) चिन्तवन करे और उस कमल के सोलह पत्रों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन १६ अक्षरोंका ध्यान करै ॥११॥ रेफ से रुद्ध कहिए आवृत और कला तथा बिन्दुसे चिह्नित और शून्य कहिए हकार ऐसा अक्षर लसत कहिए देदीप्यमान होते हुए बिन्दुकी छटा-कोटिकी कान्तिसे व्याप्त किया है दिशाका मुख जिसने ऐसा महा-मन्त्र "हं" उस कमलकी कर्णिकामें स्थापन कर, चिन्तवन करै ॥१२॥ तत्पश्चात् उस महामन्त्रके रेफसे मन्द-मन्द निकलती हुई धूम (धुएँ)की शिखाका चिन्तवन करै । तत्पश्चात् उसमें-से अनुक्रमसे प्रवाह रूप निकलते हुए स्फुलिंगोंकी पंक्तिका चिन्तवन करै और पश्चात् उसमें-से निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंको विचारै ॥१३॥ तत्पश्चात् योगी मुनि क्रमसे बढ़ते हुए उस ज्वालाके समूहसे अपने हृदयस्थ कमलको निरन्तर जलाता हुआ चिन्तवन करै ॥१४॥ वह हृदयस्थ कमल अधोमुख आठ पत्रका है। इन आठ पत्रोंपर आठ कर्म स्थित हों। ऐसे नाभिस्थ कमलकी कर्णिकामें स्थित "हं" महामन्त्र-के ध्यानसे उठी हुई प्रबल अग्नि निरन्तर दहती है, इस प्रकार चिन्तवन करै, तब अष्टकर्म जल जाते हैं, यह चैतन्य परिणामोंकी सामर्थ्य है ॥१५॥ उस कमलके दग्ध हुए पश्चात् शरीरके बाह्य त्रिकोण वह्निका चिन्तवन करै, सो ज्वालाके समूहसे जलते हुए बडवानलके समान ध्यान करै ॥१६॥ तथा अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अन्तमें साथियाके चिह्नसे चिह्नित हो, ऊर्ध्व वायुमण्डलसे उत्पन्न धूम रहित कांचनकी-सी प्रभावाला चिन्तवन करै ॥१७॥ इस प्रकार वह धगधगायमान फैलती हुई लपटोंके समूहोंसे देदीप्यमान बाहरका अग्निपुर (अग्निमण्डल) अन्तरंगकी मन्त्राग्निको दग्ध करता है ॥१८॥ तत्पश्चात् यह अग्निमण्डल उस नाभिस्थ कमल और शरीर-को भस्मीभूत करके दाह्यका अभाव होनेसे धीरे-धीरे अपने आप शान्त हो जाता है ॥१९॥ (त० अनु०/१८४)

अग्निगति—एक विद्या– दे० 'विद्या' ।

३. अग्नि जीव

* अग्नि जीवों सम्बन्धी, गुणस्थान, जीव समास, मार्गणा स्थान आदि २० प्ररूपणाएँ—दे० सत् ।
* सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ—दे० वह वह नाम ।
* तैजस कायिकोंमें वैक्रियक योगकी सम्भावना—दे० वैक्रियक ।
* मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार व्यय होनेका नियम—दे० मार्गणा ।
* अग्निकायिकोंमें कर्मोंके बन्ध उदय सत्त्व—दे० वह वह नाम ।
* अग्निमें पुद्गलके सर्व गुणोंका अस्तित्व—दे० पुद्गल /२ ।
* अग्नि जीवी कर्म—दे० सावद्य /२ ।
* अग्निमें कथंचित् त्रसपना—दे० स्थावर/१ ।
* अग्निके कायिकादि चार भेद—दे० पृथिवी ।
* तैजसकायिकमें आतप व उद्योतका अभाव—दे० उदय/४ ।
* सूक्ष्म अग्निकायिक जीव सर्वत्र पाये जाते हैं—दे० क्षेत्र/४ ।
* बादर तैजसकायिकादिक भवनवासी विमानों व आठों पृथिवियोंमें रहते हैं, परन्तु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं ।—दे० काय /२/५ ।

अग्निज्वाल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर–दे० 'विद्याधर'।

अग्निदेव—

* भूतकालीन ११ वें तीर्थंकर—दे० तीर्थकर/५ ।
* लोकपालोंके भेद रूप अग्नि—दे० लोकपाल ।
* अनलकायिक आकाशोपपन्न देव—दे० देव /१ ।
* अग्न्याभजातिके लौकान्तिक देव—दे० लौकान्तिक ।
* अग्निज्वाल नामा ग्रह—दे० ग्रह ।
* अग्निकुमार भवनवासी देव—दे० भवन/१ ।
* अग्निरुद्रनामा असुरकुमार देव—दे० असुर ।
* भौतिक अग्नि देवता रूप नहीं है ।—दे० अग्नि/३ ।

अग्निप्रभदेव—(प. पु./३९/७२ ।) इस ज्योतिष देवने देशभूषण व कुलभूषण मुनियों पर घोर उपसर्ग किया। जो वनवासी राम व लक्ष्मणके आनेपर शान्त हुआ ।

अग्निभूति—(ह० पु०/४३/१००,१३६-१४६) मगधदेश शालिग्राम निवासी सोमदेव ब्राह्मणका पुत्र था। मुनियोंसे पूर्वभवका श्रवण कर लज्जा एवं द्वेष पूर्वक मुनि हत्याका उद्यम करनेपर यक्ष-द्वारा कील दिया गया। मुनिकी दयासे छूटनेपर अणुव्रत ग्रहण कर अन्तमें सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ ।

अग्निमित्र—१. (म. पु./७४/७६) एक ब्राह्मण पुत्र था। यह वर्धमान भगवान्का दूरवर्ती पूर्वका भव है—दे० 'वर्धमान' । २. मगध देशकी राजवंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) यह एक शक जातिका सरदार था जिसने मौर्य कालमें ही मगध देशके किसी एक भागपर अपना अधिकार जमा रखा था। इसका अपर नाम भानु भी था। यह वसुमित्रके समकालीन था । समय– वी. नि. २८५-३४५. ई. पू. २४६-१८१ । दे०—इतिहास/३/१ ।

अग्निसह—(म. पु. / ७४ / ७४) एक ब्राह्मण पुत्र था। यह वर्धमान भगवान्का दूरवर्ती पूर्वभव है—दे० 'वर्धमान' ।

अज्ञात—स.सि. / ६ / ६ / ३२३ मदात्प्रमादाद्वानवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम्। —मद या प्रमादके कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। (रा. वा./६/६/४/५१२/४)

अज्ञातसिद्ध—एक हेत्वाभास—दे०—'असिद्ध'।

अज्ञान—जैनागममें अज्ञान शब्दका प्रयोग दो अर्थों में होता है—एक तो ज्ञानका अभाव या कमीके अर्थमें और दूसरा मिथ्याज्ञानके अर्थमें। पहलेवालेको औदयिक अज्ञान और दूसरेवालेको क्षायोपशमिक अज्ञान कहते हैं। मोक्षमार्गको प्रमुखता होनेके कारण आगममें अज्ञान शब्दसे प्रायः मिथ्याज्ञान कहना ही इष्ट होता है।

१. औदयिक अज्ञानका लक्षण

स. सि./२/६/१५६ ज्ञानावरणकर्मण उदयात्पदार्थानवबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्। =पदार्थों के नहीं जाननेको अज्ञान कहते हैं चूंकि वह ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है इसलिए औदयिक है। (रा.वा./२/६/५/१०६/८।

पं. ध./उ./१०२२ अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम्। तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥१०२२॥ =और जो यथार्थमें औदयिक अज्ञान है वह मृत देहकी तरह शून्य रूप है।

२. क्षायोपशमिक अज्ञानका लक्षण

१. मिथ्याज्ञानकी अपेक्षा

रा.वा./६/७/११/६०४/८ मिथ्यादर्शनोदयापादितकालुष्यमज्ञानं त्रिविधम्। =मिथ्यादर्शनके उदयसे उत्पन्न होनेवाला अज्ञान तीन प्रकारका है। (द्र० सं०/टी/५/१५) (त० सा०/१/३५).

ध.१/१.१.११५/३५३/७ मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात्। =मिथ्यात्व सहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है। (ध./५/१,७,४५/२२४/३)

स. सा./आ./२४७ सोऽज्ञानत्वान्मिथ्यादृष्टिः। =(परके कर्तृत्व रूप अध्यवसायके कारण) अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है।

स. सा./ता. वृ./८८/१४४ शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानम्। =शुद्धात्मादि भाव तत्त्वोंके विषयमें विपरीत ग्रहण रूप विकारी परिणामोंको जीवका अज्ञान कहते हैं।

पं. ध./उ/१०२१ त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः। क्षायोपशमिकं तत्स्यान्न स्यादौदयिकं क्वचित्। =इन तीन ज्ञानोंमें जो वास्तवमें अज्ञान है अर्थात् ज्ञानमें विशेषता होते हुए भी यदि वह सम्यग्दर्शन सहित नहीं तो उसे वास्तवमें अज्ञान कहते हैं। वह अज्ञान क्षायोपशमिक भाव है। कहीं भी औदयिक नहीं कहा जा सकता।

स. सा./पं. जयचन्द/१६५ मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। (स. सा./पं. जयचन्द/७४,१७७)

२. दूषित ज्ञानकी अपेक्षा

ध. १/१.१.१२०/३६४/६ यथायथमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। =न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं।

न. च. वृ./३०६ संसयविमोहविब्भमजुत्तं जं तं खु होइ अण्णाणं। अहव कुसच्छाज्झेयं पावपदं हवदि तं णाणं ॥३०६॥ =संशय, विमोह, विभ्रमसे युक्त ज्ञान अज्ञान कहलाता है अथवा कुशास्त्रोंका अध्ययन पापका कारण होनेसे वह भी अज्ञान कहलाता है।
(ध. १/१,१,४/१४३/३)

३. अज्ञान मिथ्यात्वकी अपेक्षा

स. सि./८/१/३७५ हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्। =हिताहितकी परीक्षासे रहित होना अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./८/१/२८/५६४/२२)

रा. वा. /८/१/१२/५६२/१३ अत्र चोद्यते-बादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिविहितक्रियानुष्ठायिनां कथमज्ञानिकत्वमिति। उच्यते-प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात्। न हि प्राणिवधः पापहेतुर्धर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति। =प्रश्न—बादरायण, वसु, जैमिनी, आदि तो वेद विहित क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, वे अज्ञानी कैसे हो सकते हैं? उत्तर—इनने प्राणी वधको धर्म माना है (परन्तु) प्राणी वध तो पापका ही साधन हो सकता है, धर्मका नहीं। (इनकी यह मान्यता ही अज्ञान है।)

ध. ८/३,६/२०/४ विचारिज्जमाणे जीवाजीवादिपयत्था ण संति णिच्चाणिच्चवियप्पेहिं, तदो सव्वमण्णाणमेव। णाणं णत्थि त्ति अहिणिवेसो अण्णाणमिच्छत्तं। =नित्यानित्य विकल्पोंसे विचार करनेपर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, अतएव सब अज्ञान ही है, ज्ञान नहीं है, ऐसे अभिनिवेशको अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

त. सा./५/७/२७८ हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम्। यथा पशुवधो धर्मस्तदज्ञानिकमुच्यते। =जिस मतमें हित और अहितका बिलकुल ही विवेचन नहीं है। 'पशुवध धर्म है' इस प्रकार अहितमें प्रवृत्ति करानेका उपदेश है वह अज्ञानिक मिथ्यात्व है।

नोट—और भी देखो आगे—'अज्ञानवाद'।

३. मति आदि ज्ञानोंको अज्ञान कैसे कहते हैं—

ध. ७/२,१,४५/८६-८८/७ कधं मदिअण्णाणिस्स खओवसमिया लद्धी। मदिअण्णाणावरणस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण मदिअण्णाणित्तुवलंभादो। जदि देसघादिफद्दयाणमुदएण अण्णाणित्तं होदि तो तस्स ओदइयत्तं पसज्जदे। ण सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावा। कध पुण खओवसमियत्तं। आवरणे संते वि आवरणिज्जस्स णाणस्स एगदेसो जम्हि उदए उवलब्भदे तस्स भावस्स खओवसमववएसादो खओवसमियत्तमण्णाणस्स ण विरुज्झदे। अधवा णाणस्स विणासो खओ णाम, तस्स उवसमो एगदेसक्खओ, तस्स खओवसमसण्णा।······ संपहि दोण्हं (सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण) पडिसेहं कादूण देसघादिफद्दयाणमुदयेणेव खओवसमिय भावो होदि त्ति परूवेंतस्स सुत्तवयणविरोहो किण्ण जायदे। ण, जदि सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण संजुत्तदेसघादिफद्दयाणमुदएणेव खओवसमिय भावो इच्छिज्जदि तो फासिंदिय-कायजोगो-मदि-सुदणाणाणं खओवसमिओ भावो ण पावदे, पासिंदियावरण वीरियंतराइय-मदि-सुदणाणावरणाणं सव्वघादिफद्दयाणं सव्वकालमुदयाभावा। ण च सुत्तवयणविरोहो वि, इंदियजोगमग्गणासु अण्णेसिमाइरियाणं वक्खाणक्कमजाणावणट्ठं तत्थ तधापरूवणादो। जं तदो णियमेण उप्पज्जदि तं तस्स कज्जमियर च कारणं। ण च देसघादिफद्दयाणमुदओ व्व सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खओ णियमेण अप्पप्पणो णाणजणओ, खीणकसायचरिमसमए ओहिमणपज्जवणाणावरणसव्वघादिफद्दयाणं खएण समुप्पज्जमाणओहिमणपज्जवणाणाणमुवलंभाभावादो। =प्रश्न—मति अज्ञानी जीवके क्षयोपशम लब्धि कैसे मानी जा सकती है? उत्तर—क्योंकि, उस जीवके मत्यज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे मत्यज्ञानित्व पाया जाता है। प्रश्न—यदि देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे अज्ञानित्व होता है तो अज्ञानित्वको औदयिक भाव माननेका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं आता, क्योंकि वहाँ सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयका अभाव है। प्रश्न—तो फिर अज्ञानित्वमें क्षायोपशमिकत्व क्या है? उत्तर—आवरणके होते हुए भी आवरणीय ज्ञानका एक देश जहाँपर उदयमें पाया जाता है उसी भावको क्षायोपशमिक नाम दिया जाता है। इससे अज्ञानको क्षायोपशमिक भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। अथवा ज्ञानके विनाशका नाम क्षय है उस क्षयका उपशम हुआ एकदेश क्षय। इस प्रकार ज्ञानके एक देशीय क्षयकी क्षयोपशम संज्ञा मानी जा सकती है···। प्रश्न—यहाँ (मति अज्ञान आदिकोंमें) सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय, क्षय और उनके सत्त्वोपशम इन दोनोंका प्रतिषेध करके केवल देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे क्षायोपशमिक भाव होता है ऐसा प्ररूपण

करनेवालेके स्ववचन-विरोध दोष क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं होता, क्योंकि यदि सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे संयुक्त देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे ही क्षायोपशमिक भाव मानना इष्ट है तो स्पर्शनेन्द्रिय, काययोग और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान इनके क्षायोपशमिक भाव प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि स्पर्शेन्द्रियावरण, वीर्यान्तराय, और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान इनके आवरणोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयका सब कालमें अभाव है। प्रश्न—[फिर आगममें "सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय, उन्हींका सदवस्था रूप उपशम व देशघातीका उदय" ऐसा क्षयोपशमका लक्षण क्यों किया गया?] उत्तर—अन्य आचार्योंके व्याख्यान क्रमका ज्ञान करानेके लिए वहाँ वैसा प्ररूपण किया गया है। इसलिए स्ववचन विरोध नहीं आता। जो जिससे नियमतः उत्पन्न होता है वह उसका कार्य होता है और वह दूसरा उसको उत्पन्न करनेवाला उसका कारण होता है। किन्तु देशघाती स्पर्धकोंके उदयके समान सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय-क्षय नियमसे अपने-अपने ज्ञानके उत्पादक नहीं होते क्योंकि, क्षीणकषायके अन्तिम समयमें अवधि और मनःपर्यय ज्ञानावरणोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयसे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हुए नहीं पाये जाते।

दे० ज्ञान/III। मिथ्यात्वके कारण ही उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञान मिथ्या नहीं होता।

४. अज्ञान नामक अतिचारका लक्षण

भ. आ./मू. आ./६१३/८१३ अज्ञानां आचरणदर्शनात्तथाचरणं, अज्ञानिना उपनीतस्य उद्गमादिदोषदुष्टस्य उपकरणादेः सेवनं वा ॥१३॥ =अज्ञ जीवोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना अथवा अज्ञानीके लाये, उद्गमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकरणादिकोंका सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* अज्ञान सम्बन्धी शंका समाधान—दे० ज्ञान/III/३/।
* सासादन गुणस्थानमें अज्ञानके सद्भाव सम्बन्धी शंका—दे० सासादन/३।
* मिश्र गुणस्थानमें अज्ञानके अभाव सम्बन्धी शंका—दे० मिश्र/२।
* ज्ञान व अज्ञान (मत्यज्ञान) में अन्तर—दे० ज्ञान/III/२/८।
* अज्ञान क्षायोपशमिक कैसे है—दे० मतिज्ञान /२/४।

अज्ञान निग्रहस्थान—न. सू./५/२/१७/३१६ अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥७॥ =वादीके कथनका परिषद्-द्वारा विज्ञान किये जा चुकनेपर यदि प्रतिवादीको विज्ञान नहीं हुआ है तो प्रतिवादीका 'अज्ञान' इस नामका निग्रहस्थान होगा। (श्लो. वा./पु.४/न्या. २४१/४१३/१३)।

अज्ञान परिषह—स. सि. / ९ / ९ / ४२७ अज्ञोऽयं न वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरतपोऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्यापि ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इति अनभिसंदधतोऽज्ञानपरिषहजयोऽवगन्तव्यः। = "यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता, पशुके समान है" इत्यादि तिरस्कारके वचनोंको मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तपका अनुष्ठान किया है, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञानका अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार विचार नहीं करनेवालेके अज्ञान परिषहजय जानना चाहिए। (रा. वा./९/९/२७/६१२/१३); (चा. सा./१२२/१)।

* प्रज्ञा व अज्ञान परिषहमें भेदाभेद—दे० प्रज्ञा/१।

अज्ञानवाद—

१. अज्ञानवादका इतिहास

द. सा./२० सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पाससंघगणिसीसो। मक्कडिपूरणसाहू अण्णाणं भासए लोए। २०। =महावीर भगवान्के तीर्थमें पार्श्वनाथ तीर्थंकरके संघके किसी गणीका शिष्य मस्करी पूरन नामका साधु था। उसने लोकमें अज्ञान मिथ्यात्वका उपदेश दिया। (गो. जी./जी. प्र./१६)।

२. अज्ञानवादका स्वरूप

स. सि./पं. जगरूप सहाय/८/१/पृ. ५ की टिप्पणी—"कुत्सितज्ञानमज्ञानं तदेषामस्ति ते अज्ञानिकाः। ते च वादिनश्च इति अज्ञानिकवादिनः। ते च अज्ञानमेव श्रेयः असञ्चिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यात्, तथा न ज्ञानं कस्यापि क्वचिदपि वस्तुन्यस्ति प्रमाणमसंपूर्णवस्तुविषयत्वादित्याद्यभ्युपगन्तव्यः। =कुत्सित या खोटे ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। वह जिनमें पाया जाये सो अज्ञानिक हैं। उन अज्ञानियोंका जो वाद या मत सो अज्ञानवाद है। उसे माननेवाले अज्ञानवादी हैं। उनकी मान्यता ऐसी है कि अज्ञान ही श्रेय है, क्योंकि असत् की चिन्ता करके किया गया कर्मोंका बन्ध विफल है, तथा किसीको भी, कभी भी, किसी भी वस्तु में ज्ञान नहीं होता, क्योंकि प्रमाणके द्वारा असम्पूर्ण ही वस्तुको विषय करनेमें आता है। इस प्रकार जानना चाहिए। (स्थानांग सूत्र/अभयदेव टी०/४/४/३४५) (सूत्रकृतांग/शीलांक टी०/१/१२) (नन्दिसूत्र/हरिभद्र टीका/सू. ४६) (षड्दर्शनसमुच्चय/बृहद्वृत्ति/श्लो० १)।

गो. क./ मू०/८८६–८८७/१०६९ को जाणइ णव भावे सत्तमसत्तं दयं अवत्तमिदि। अवयणजुदसत्ततयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी ॥८८६॥ =को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा। चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ॥ ८८७ ॥ =जीवादिक नवपदार्थनि विषैं एक एकको सप्तभंग अपेक्षा जानना। जीव अस्ति ऐसा कौन जानै है? जीव नास्ति ऐसा कौन जानै है। जीव अस्ति नास्ति ऐसा कौन जानै है। जीव अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। जीव अस्ति अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। जीव नास्ति अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। ऐसे ही जीवकी जायगां अजीवादिक कहैं तरेसठि भेद हो हैं ॥ ८८६ ॥ प्रथम शुद्ध पदार्थ ऐसा लिखिए ताकै उपरि अस्ति आदि च्यारि लिखिए। इन दोऊ पंक्तिनिकरि उपजे च्यारि भंग हो हैं। शुद्ध पदार्थ अस्ति ऐसा कौन जानै है। शुद्ध पदार्थ नास्ति ऐसा कौन जानै है। शुद्ध पदार्थ अस्ति नास्ति ऐसा कौन जानै है। शुद्ध पदार्थ अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। ऐसे च्यारि तो ए अर पूर्वोक्त तरेसठि मिलिकरि अज्ञानवाद सड़सठि हो हैं। भावार्थ—अज्ञानवाद वाले वस्तुका न जानना ही मानै हैं। (भा. पा./पं० जयचन्द/१३७)।

भा. पा./मू. व. टी./१३५। "सत्तट्ठी अण्णाणी··· ॥ १३५ ॥ सप्तषष्टिर—ज्ञानेन मोक्षं मन्वानां मस्करपूरणमतानुसारिणां भवति। =सड़सठ प्रकारके अज्ञान-द्वारा मोक्ष माननेवाले मस्करपूरण मतानुसारीको अज्ञान मिथ्यात्व होता है। (वि. दे०—मस्करी पूरन)

३. अज्ञानवादके ६७ भेद

ध. १/१,१,२/१०८/२ शाकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-बादरायण-स्वेष्टकृदैतिकायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः। =दृष्टिवाद अंगमें—शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, स्वेष्टकृत्, ऐतिकायन, वसु और जैमिनि आदि अज्ञानवादियोंके सड़सठ मतों का···वर्णन और निराकरण किया गया है।

(ध. १/४,१,४५/२०३।५) (रा. वा. /१/२०/१२/७४/५) (रा. वा./ ८/१/११/५६२/७) (गो. जी./जी. प्र./३६०/७७०/१३]

गो. क./मू./८८६–८८७/१०६६ नव पदार्थ×सप्तभंग=६३+(शुद्धपदार्थ)× (अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, अवक्तव्य=४. मिलिकरि अज्ञानवाद सड़सठ हो है। (मूलके लिये दे० शीर्षक सं० २)

अज्ञानी—दे० मिथ्या दृष्टि।

अग्र—१. विभिन्न अर्थोंमें—

ध० १३/५,५,५०/२८८।६ चारित्राच्छ्रुतं प्रधानमिति अग्र्यम्। कथं ततः श्रुतस्य प्रधानता। श्रुतज्ञानमन्तरेण चारित्रानुत्पत्तेः अथवा, अग्र्यं मोक्षः तत्साहचर्याच्छ्रुतमप्यग्र्यम्। =चारित्रमे श्रुतकी प्रधानता है इसलिए उसकी अग्र संज्ञा है? प्रश्न—चारित्रसे श्रुतकी प्रधानता किस कारणसे है। उत्तर—क्योंकि श्रुतज्ञानके बिना चारित्रकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए चारित्रकी अपेक्षा श्रुतकी प्रधानता है। अथवा अग्र्य शब्दका अर्थ मोक्ष है, इसके साहचर्यसे श्रुत भी अग्र्य कहलाता है।

ध./१४/५,६,३२३/३६९/४ जहण्णणिव्वत्तिए चरिमणिसेओ अग्गं णाम। =जघन्य निर्वृत्तिके अन्तिम निषेक की अग्र संज्ञा है।

स. सि./९/२७/४४४ अग्र मुखम्। =अग्र है सो मुख है। (अर्थात् अग्रका मुख, सहारा, अवलंबन, आश्रय, प्रधान वा सम्मुख अर्थ है।

२. आत्माके अर्थमें

रा. वा. /९/२७/३/६२५/२३ अङ्ग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाग्रं मुखम्। ३।

रा. वा. /९/२७/७/६२५/३२ अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्दः ॥ ७॥ अथवा अङ्ग्यते इत्यग्रः अर्थ इत्यर्थः।

रा. वा. /९/२७/२१/६२७/३ अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा ॥ २१॥ जिसके द्वारा जाना जाता है या जिसमें जाना जाता है ऐसा अग्र मुख है। ३। अग्र शब्द अर्थका पर्यायवाची है, जिसके द्वारा गमन किया जाये या जाना जाये सो अग्र या अर्थ है ऐसा अर्थ समझना। ७। जो गमन करता है या जानता है सो अग्र आत्मा है।

त. अनु०/६२ अथवाङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः। तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥ =जो गमन करता है या जानता है सो अग्र आत्मा है ऐसी निरुक्ति है या तत्त्वों में अग्रणी होनेके कारण यह आत्मा अग्र है ऐसा जाना जाता है।

अग्रनिर्वृत्ति क्रिया—दे० संस्कार /२।

अग्रस्थिति—दे० स्थिति/१।

अग्रवया—(म. प्र./५०/पं० पन्नालाल) वर्तमान नगर आगरा।

अग्रहण वर्गणा—दे० वर्गणा/१।

अग्रायणी—ध. १/१,१,२/११५/१/अग्गेणियं णाम पुव्वं···अंगाणग्गं वण्णेइ। =अग्र अर्थात् द्वादशांगों में प्रधानभूत वस्तुके अयन अर्थात् ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणी पूर्व कहते हैं।

ध. १/१,१,२/१२३/६ अंगाणमग्गपदं वण्णेदि त्ति अग्गेणियं गुणणामं। =अंगोंके अग्र अर्थात् प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण 'अग्रायणीय' यह गौण नाम है।

ध. ९/४,१,४५/२२६/७ अंगानामग्रमेति गच्छति प्रतिपादयतीति गोण्णणाममग्गेणियं। =अंगों के अग्र अर्थात् प्रधान पदार्थको वह प्राप्त होता है अर्थात् प्रतिपादन करता है अतः अग्रायणीय यह गौण नाम है।

* श्रुतज्ञानका द्वितीय पूर्व—दे० श्रुतज्ञान III/१

अग्राह्य वर्गणा—दे० वर्गणा/१।

अघ—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'

अघन धारा—दे० गणित II/५

अघन मातृक धारा—दे० गणित II/५

अघाती प्रकृतियाँ—दे० अनुभाग/३

अचक्षुदर्शन—दे० दर्शन/५

अचक्षुदर्शनावरण—दे० 'दर्शनावरण'।

अचल—१. जीवके अचल प्रदेश (दे० जीव/५) २. द्वितीय बलदेव। अपरनाम अचलस्तोक (दे० अचलस्तोक)। ३. षष्ठ रुद्र। अपरनाम बल=(दे० शलाका पुरुष/७)। ४. भरत क्षेत्रका एक ग्राम (दे० मनुष्य/४)। ५. पश्चिम धातकी खण्डका मेरु (दे० लोक/७)।

अचलप्र—कालका प्रमाण विशेष। अपरनाम अचलात्म चर्चिका (दे० गणित I /१)

अचलमात्रा—(ज. प./प्र. १०५) Invariant mass.

अचलस्तोक—(म. पु./५८/श्लोक) पूर्व भव नं० ३ में भरत क्षेत्र महापुर नगरका राजा वायुरथ (८०), पूर्व भव नं० २ में प्राणतेन्द्र (८२) वर्तमान भव—यह द्वितीय बलदेव हैं। अपर नाम अचल =दे० शलाका पुरुष/३।

अचलात्म—कालका प्रमाण विशेष=दे० गणित I /१

अचलावली—कालका प्रमाण विशेष=दे० 'आवलि'।

अचित्त—भक्ष्य पदार्थों का सचित्ताचित्त विचार=दे० सचित्त/३।

अचित्त गुणयोग—दे० योग/१।

अचित्त योनि—स. सि./२/३२/१८८ तेषां हि योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः। =उनके उपपाद देशके पुद्गल प्रचयरूप योनि अचित्त है। (रा. वा./२/३२/१८/१४३/१)

अचेतन—आ.प./११ अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमचैतन्यमननुभवनम्। =जिस गुणके निमित्तसे द्रव्य जाना जाये, पर जान न सके वह अचेतनत्व गुण है। अर्थात् जीवादि पदार्थोंको स्वयं न जान सके सो अचेतनत्व है।

अचेलकत्व—भ. आ./मू./११२३-११२४/११३० देसमासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ ११२३॥ णय होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं। तह्मा आचेलक्कं चाओ सव्वेसिं होइ संगाणं ॥ ११२४॥ =चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है अतः चेल शब्दका अर्थ वस्त्र ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहोंका भी ग्रहण करना चाहिए। इसके लिए आचार्यने तालपलम्बका उदाहरण दिया है। तालपलम्ब इस सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ ताड़का वृक्ष इतना ही नहीं अपितु वनस्पतियोंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतियोंका ग्रहण करते हैं॥ ११२३॥ वस्त्र मात्र का त्याग करनेपर भी यदि अन्य परिग्रहोसे मनुष्य युक्त है तो इसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिए। अतः वस्त्रके साथ सम्पूर्ण परिग्रह त्याग जिसने किया है वही अचेलक माना जाता है। (मू. आ./३०)

★ **पाँच प्रकारके वस्त्र**—दे० वस्त्र

२. नाग्न्य परिषहका लक्षण—

स. सि./९/९/४२२ जातरूपवन्निष्कलङ्कजातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं याचनारक्षणहिंसनादिदोषविनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाग्न्यं बिभ्रतो मनोविक्रियाविप्लुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेण भावयतो रात्रिन्दिवं ब्रह्म-

चर्यमखण्डमातिष्ठमानस्याचेलव्रतधारणमनवद्यमवगन्तव्यम्। = बालकके स्वरूपके समान जो निष्कलंक जातरूपको धारण करने रूप है, जिसका याचना करनेसे प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना, और हिंसा आदि दोषोंसे रहित है, जो निष्परिग्रह रूप होनेसे निर्वाण प्राप्तिका अनन्य साधन है, जो अन्य बाधाकर नहीं है, ऐसे नाग्न्यको जो धारण करता है, जो मनके विक्रिया रूप उपद्रवसे रहित होनेके कारण स्त्रियोंके रूपको अत्यन्त अपवित्र बदबूदार अनुभव करता है, जो रात-दिन अखण्ड ब्रह्मचर्यको धारण करता है, उसके निर्दोष अचेलव्रत होता है। (रा. वा./९/६।१०/६०९/२९) (चा. सा./१११/५)

★ द्रव्यलिंगकी प्रधानता व भावलिंगके साथ समन्वय—दे० लिंग/४

★ सवस्त्र मुक्तिका निषेध—दे० वेद/७।

३. अचेलकत्व के कारण व प्रयोजन

भ. आ./वि./४२१/६१०-६११/४ अचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति। आकिंचन्याख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति···असत्यारम्भे कुतोऽसंयमः।···न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य।···लाघवं च अचेलस्य भवति। अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति।···रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति।···चोत्तमाक्षमा व्यवतिष्ठते। ···मार्दवमपि तत्र सन्निहितं।···आर्जवता भवति··· सोढाश्चोपसर्गाः निश्चेलतामभ्युपगच्छता। तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण। अन्यथा प्रक्रम्यते अचेलताप्रशंसा। संयमशुद्धिरेको गुणः।···इन्द्रियविजयो द्वितीयः।···कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः। ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च।··· ग्रन्थत्यागश्च गुणः।···शरीर···आदरस्त्यक्तः।··· स्ववशता च गुणः।···चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां···। निर्भयता च गुणः···। अप्रतिलेखनता च गुणः। चतुर्दशविधं उपधिं गृह्णतां बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य। परिकर्मवर्जनं च गुणः।··· रञ्जनं इत्यादिकमनेकं परिकर्म सचेलस्य। स्वस्य वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च। लाघवं गुणः। अचेलोऽल्पोपधिः स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतरः। तीर्थकराचरितत्वं च गुणः···जिनाः सर्व एवाचेलाभूता भविष्यन्तश्च।···प्रतिमास्तीर्थंकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वम्।··· अतिगूढबलवीर्यता च गुणः।···इत्थं चेले दोषा अचेलतायां अपरिमिता गुणा इति। = वस्त्र रहित यति सर्व परिग्रहका त्याग होनेसे त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है।···आकिंचन्य धर्ममें प्रवृत्त होता है।···आरंभका अभाव होनेसे असंयम भी नष्ट हो चुका है।···असत्य भाषणका कारण ही नष्ट हो गया है।···आचेलक्यसे लाघवगुण प्राप्त होता है। अचौर्य महाव्रतकी पूर्णावस्था प्राप्त होती है।···रागादिकका त्याग होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आती है, जिससे ब्रह्मचर्यका निर्दोष रक्षण होता है।···और उत्तमक्षमा गुण प्रगट होता है।·· मार्दव गुण प्राप्त होता है···आर्जव गुणकी लब्धि होती है।···उपसर्ग व परिषह सहन करनेकी सामर्थ्य आत्मामें प्रगट होती है।···घोर तपका पालन भी होता है। अचेलता की प्रशंसा अब दूसरे प्रकार से आचार्य कहते हैं—संयम शुद्धि होती है···इन्द्रियविजय नामक गुण प्रगट होता है।···लोभादिक कषायोंका अभाव होता है।···ध्यान स्वाध्याय निर्विघ्न होते हैं।···परिग्रहत्याग नामका गुण प्रगट होता है। इससे आत्मा निर्मल होता है।···शरीर पर अनादर करना यह गुण है।··· स्ववशता गुण प्रगट होता है।···मन की विशुद्धि प्रगट होती है।··· निर्भयता गुण प्रगट होता है।···अप्रतिलेखना नामक गुण भी निष्परिग्रहतासे प्राप्त होता है। चौदह प्रकारकी उपधियोंको ग्रहण करनेवाले श्वेताम्बर मुनियोंको बहुत संशोधन करना पड़ता है, परन्तु दिगम्बर मुनियोंको उसकी आवश्यकता नहीं। परिकर्मवर्जन नामका गुण है।···रंगाना इत्यादिक कार्य वस्त्र सहित मुनिको करने पड़ते हैं।··· स्वतः के पास वस्त्र प्रावरणादिक हो तो उसको धोना पड़ेगा, फटनेपर सीना पड़ेगा, ऐसे कुत्सित कार्य करने पड़ेंगे तथा वस्त्र समीप होनेसे अपनेको अलंकृत करनेकी इच्छा होती है। और इसमें मोह उत्पन्न होता है। अचेलतामें लाघव नामक गुण है। निर्वस्त्र मुनि खड़े रहना, बैठना, गमन करना इत्यादिक कार्योंमें वायुके समान अप्रतिबद्ध रहते हैं। तीर्थंकराचरित नामका गुण भी अचेलतामें रहता है। जितने तीर्थंकर हो चुके और होनेवाले हैं वे सब वस्त्र-रहित होकर ही तप करते हैं।···जिनप्रतिमाएँ और तीर्थंकरोंके अनुयायी गणधर भी निर्वस्त्र ही हैं। उनके सर्व शिष्य भी वस्त्र रहित ही होते हैं।···नग्नतामें अपना बल और वीर्य प्रगट करना यह गुण है।···नग्नतामें दोष तो है ही नहीं परन्तु गुणमात्र अपरिमित हैं।

★ कदाचित् स्त्रीको नग्न रहनेकी आज्ञा—दे० लिंग/१/४।

४. कदाचित् परिस्थिति वश वस्त्र ग्रहणकी आज्ञा

भ. आ./वि./४२१/६११/१८ अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम्। तथा ह्याचारप्रणिधौ भणितम्—"प्रतिलिखेत्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते।"···वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते।···निषेधेऽप्युक्तं—"कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं" इति। एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इत्यत्रोच्यते-आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया। भिक्षूणां ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति।··· हिमसमये शीतबाधासहः परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति। कारणापेक्ष्यं ग्रहणमाख्यातम्। परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः। प्रक्षालनादिकसंस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता।···अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणम्। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारापेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्। = प्रश्न—पूर्वागमोंमें वस्त्र पात्रादिकके ग्रहण करनेका विधान मिलता है। आचारप्रणिधि नामक ग्रन्थमें लिखा है—"पात्र और कम्बल को अवश्य शोधना चाहिए। अर्थात् उनका प्रतिलेखन आवश्यक है"। यदि वस्त्र पात्रादिकका विधान न होता तो प्रतिलेखना निश्चयसे करनेका विधान क्यों लिखा होता? (आचारांग आदि सूत्रोंमें भी इसी प्रकारके अनेकों उद्धरण उपलब्ध होते हैं) वस्त्र पात्र यदि 'ग्राह्य नहीं हैं' ऐसा आगममें लिखा होता तो इन सूत्रोंका उल्लेख कैसे होता? वस्त्र पात्रके सम्बन्धमें ऐसा प्रमाण है 'सर्व प्रकारके वस्त्र कम्बलोंको ग्रहण करनेसे मुनिको लघुमासिक नामक प्रायश्चित्त विधि करनी पड़ती है'? इस प्रकार सूत्रोंमें ग्रहणका विधान है, इसलिए अचेलता या नग्नताका आपका विवेचन कैसे योग्य माना जायेगा? उत्तर—आगममें आर्यिकाओंको वस्त्र ग्रहण करनेकी आज्ञा है। और कारणकी अपेक्षासे भिक्षुओंको वस्त्र धारणकी आज्ञा है। जो साधु लज्जालु हैं, जिसके शरीरके अवयव अयोग्य हैं अर्थात् जिसके पुरुषलिंग पर चर्म नहीं हैं, जिसका लिंग अति दीर्घ है। (भ. आ./वि./७७) जिसके अण्डकोश दीर्घ हैं, अथवा जो परिषह सहन करनेमें असमर्थ है वह वस्त्र ग्रहण करता है। जाड़ेके दिनोंमें जिससे सर्दी सहन होती नहीं है ऐसे मुनिको वस्त्र ग्रहण करके जाड़ेके दिन समाप्त होने पर जीर्ण वस्त्र (पुराने वस्त्र) छोड़ देना चाहिए। कारणकी अपेक्षासे वस्त्र ग्रहण करनेका विधान है (निर्गलता वश

नहीं)। प्रश्न—जीर्ण वस्त्रका त्याग करनेका विधान आगममें है इसलिए दृढ़ (मजबूत) या जो अभी फटा नहीं है, वस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिए, ऐसा आगमसे सिद्ध होता है। उत्तर—ऐसा कहना अयोग्य है क्योंकि इससे आचार्य के मूल वचन (मूल गाथामें कथित) अचेलताके साथ विरोध आता है। प्रक्षालन आदि संस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीर्णता आती ही है। इसी अपेक्षासे जीर्णताका कथन किया है। अचेलता शब्दका अर्थ सर्व परिग्रह त्याग है। पात्र भी परिग्रह है, इसलिए उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है। अतः कारणकी अपेक्षासे वस्त्र पात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता है। जो उपकरण कारणकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसका त्याग भी अवश्य कहना चाहिए। इसलिए वस्त्र और पात्रका अर्थाधिकारकी अपेक्षासे सूत्रोंमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है, वह सब कारणकी अपेक्षासे ही है, ऐसा समझना चाहिए।

नोटः—[इस वादमें सभी उद्धरण श्वेताम्बर साहित्यमें-से लिये गये हैं अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विजयोदया टीकाकार आचार्यको श्वेताम्बरोंको प्रेमपूर्वक समझाना इष्ट था। वास्तवमें दिगम्बर आम्नायमें परिषहादिके कारण भी वस्त्रादिके ग्रहणकी आज्ञा नहीं है। यदि ऐसा करना ही पड़े तो मुनिपद छोड़ कर नीचे आ जाना पड़ता है।] (और भी दे० प्रव्रज्या/१/१)

अचैतन्य—दे० अचेतन।

अचौर्य—दे० अस्तेय।

अच्छेज्ज—वसतिका दोष—दे० वसति।

अच्युत—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद तथा उनका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५; २. कल्प स्वर्गों में १६वाँ स्वर्ग—दे० स्वर्ग/५; ३. आरण अच्युत स्वर्गका तृतीय पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५.। ४. (म.पु./सर्ग/श्लोक)—पूर्व भव नं० ८ में महानन्द राजाका पुत्र हरिवाहन था (८/२३७) पूर्व भव नं० ७ में सूकर बना (८/२२९) पूर्व भव नं० ६ में उत्तरकुरुमें मनुष्य पर्याय प्राप्त की (९/९०) पूर्व भव नं० ५ में ऐशान स्वर्गमें मणिकुण्डल नामक देव हुआ (९/१८७) पूर्व भव नं० ४ में नन्दिषेण राजाका पुत्र वरसेन हुआ (१०/१५०) पूर्वभव नं० ३ में विजय नामक राजपुत्र हुआ (११/१०) पूर्वभव नं० २ में सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ (११/१६०) वर्तमान भवमें ऋषभनाथ भगवान्‌का पुत्र तथा भरतका छोटा भाई (१६/४) भरत द्वारा राज्य माँगा जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली (३४/१२६) भरतके मुक्ति जानेके बाद मुक्तिको प्राप्त किया (४७/३९९) इनका अपर नाम श्रीषेण था (४७/३७२-३७३)।

अच्युता—एक विद्या—दे० विद्या।

अछेद्य—वसतिका दोष—दे० वसति।

अज—भारतीय इतिहासकी पुस्तक १/५०१-५०६ मगधका राजा था। शिशुनागवंशका था। समय-ई. पू. श. ६।

अजयवर्मा—द. सा. / प्र.३६-३७ / प्रेमीजी "भोजवंशी राजा था। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप राजा यशोवर्माके पुत्र और विन्ध्यवर्मा (विजयवर्मा) के पिता थे। मालवा (मगध) में आपका राज्य था। धारा व उज्जैनी आपकी राजधानी थी। समय ई० ११५३-११९२। (वि. दे० इतिहास/३/४)।

अजातशत्रु—मगधका एक राजा था। तथा शिशुनागवंशी था।

अजितंजय—ह. पु./६०/४९२, त्रि. सा./८५५-८५६ आगममें इस राजाको धर्मका संस्थापक माना गया है। जबकि कल्किके अत्याचारोंसे धर्म व साधुसंघ प्रायः नष्ट हो चुका था तब कल्किका पुत्र अजितंजय मगध देशका राजा हुआ था जिसने अत्याचारोंसे सन्तप्त प्रजाको सान्त्वना देकर पुनः संघ व धर्मकी वृद्धि की थी। समय वी. नि. १०४०; ई० ५१४।

अजितंधर—अष्टम रुद्र थे। (विशेष दे० शलाकापुरुष/७।)

अजित—१. चन्द्रप्रभ भगवान्‌का शासन यक्ष—दे० यक्ष। २. एक ब्रह्मचारी था। कृति-हनुमच्चरित्र (यु. अनु./प्र. २९/ पं० जुगलकिशोर)

अजितनाथ—(म. पु./४८/श्लोक) पूर्वभव नं० ३ में विदेह क्षेत्रके सुसीमा नगरका विमलवाहन नामक राजा था (२-४); पूर्वभव नं० २ में अनुत्तर विमानमें देव हुआ (१३); वर्तमान भव—दे० तीर्थंकर/५।

अजितनाभि—नवम रुद्र थे। अपर नाम जितनाभि था। (विशेष दे० शलाकापुरुष/७)।

अजितपुराण—कवि अरुणमणि (ई० १६५९) द्वारा विरचित भाषा छन्द बद्ध ग्रन्थ।

अजितसेन—१. (म. पु./५४/श्लोक) पूर्व धातकीखण्डमें राजा अजितंजयका पुत्र था (८६, ८७, ९२) पिताकी दीक्षाके पश्चात् क्रमसे चक्रवर्ती पद प्राप्त किया (९६,९७) एक माहके उपवासी मुनिको आहार देकर उनसे अपने पूर्वभव सुने तथा दीक्षा धारण कर ली। मरकर अच्युतेन्द्र पद प्राप्त किया (१२०-१२६) यह चन्द्रप्रभु भगवान्‌का पूर्वका पाँचवाँ भव है (२७६)। २. जैन साहित्य का इतिहास/२६७/प्रेमीजी, बाहुबलि चरित्र/श्लो० नं० ११,२८; गो. क./मू./२६६ गंगवंशीय राजा राजमल्ल, राजा मारसिंहके उत्तराधिकारी थे। उनके मन्त्रीका नाम चामुण्डराय था, जिनके पुत्र जिनदेव थे। ये सभी व्यक्ति समकालीन होते हुए आचार्य अजितसेनके शिष्य थे। चामुण्डराय या राजा राजमल्लके समयके अनुसार इनका समय-ई. श. १०-११ आता है।

अजीव—स. सि./१/४/१४ तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः। = जीवसे विपरीत लक्षण वाला अजीव है।

स. सि./५/२/२६६ तेषां धर्मादीनाम् 'अजीव' इति सामान्यसंज्ञा जीवलक्षणाभावमुखेन प्रवृत्ता। = धर्मादिक द्रव्योंमें जीवका लक्षण नहीं पाया जाता है इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा है।

प्र.सा./त.प्र./१२७ यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्‌ बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः। = जिसमें उपयोगके साथ रहनेवाली, यथोक्त लक्षण वाली चेतना का अभाव होनेसे बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है।

द्र.सं./टी/१५/५० इत्युक्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेयम्। = इस प्रकार की उक्त लक्षण वाली चेतना जहाँ नहीं है वह अजीव होता है ऐसा जानना चाहिए।

२. अजीवके दो आध्यात्मिक भेद

प. प्र./टी./१/३०/३३ तच्च द्विविधम्। जीवसंबन्धमजीवसंबन्धं च। = और वह दो प्रकारका है—जीव सम्बन्ध और अजीव सम्बन्ध।

३. अजीव के उपर्युक्त भेदोंके लक्षण

प.प्र./टी./१/३०/३३ देहरागादिरूपं जीवसंबन्धं, पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपमजीवसंबन्धमजीवलक्षणम्। = देहादिमें राग रूप तो जीव सम्बन्ध अजीव का लक्षण है और पुद्गलादि पंचद्रव्य रूप अजीव सम्बन्ध अजीव का लक्षण है।

४. पांच अजीव द्रव्योंका नाम निर्देश

त.सू./५/१,३९ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। १। कालश्च। ३९। = धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और काल द्रव्य ये पांच अजीवकाय हैं। (प्र.सा./त.प्र/१२७) (द्र.सं./मू./१५/५०)

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१ धर्मादि द्रव्य—दे० वह वह नाम।
२ जीवको कथंचित् अजीव कहना—दे० जीव /१/३।
३ अजीव-विचय धर्मध्यान का लक्षण—दे० धर्मध्यान I/१।
४ षट् द्रव्योंमें जीव अजीव विभाग—दे० द्रव्य /३।

अजीव आस्रव—दे० आस्रव।

अजीव कर्म—दे० कर्म।

अजीव निर्जरा—दे० निर्जरा।

अजीव बन्ध—दे० बंध।

अजीव मोक्ष—दे० मोक्ष।

अजीव विचय—दे० धर्मध्यान I/१।

अजीव संवर—दे० संवर।

अटट—काल प्रमाण का एक विकल्प=दे० गणित I/१।

अटटांग—काल प्रमाण का एक विकल्प=दे० गणित I/१।

अढाई द्वीप—जम्बू द्वीप, धातकी खण्ड, और पुष्कर द्वीपका अन्दर वाला अर्ध भाग, ये मिल कर अढाई द्वीप कहलाता है। मनुष्य का निवास व गमनागमन इसके भीतर ही भीतर है बाहर नहीं, इसलिए इसे मनुष्य लोक भी कहते हैं। – दे० लोक/७।

अणिमा ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

अणु—रा.वा./५/२५/१/४९१/११ प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिः गुणैस्सततं परिणमन्तः इत्येवं अण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः। सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च। =प्रदेश मात्र-भावि स्पर्शादि गुणोंसे जो परिणमन करते हैं और इसी रूपसे शब्दके विषय होते हैं वे अणु हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इनका आदि मध्य अन्त एक ही है।
पं. का./ता.वृ./४/१२ अणुशब्देनात्र प्रदेशा गृह्यन्ते। =अणु शब्द से यहाँ प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं।
द्र.सं./टी./२६/७३/११ अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गला उच्यन्ते···वस्तुवृत्त्या पुनरणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः। =अणु इस शब्द-द्वारा व्यवहार नयसे पुद्गल कहे जाते हैं। वास्तवमें अणु शब्द सूक्ष्मका वाचक है।

अणुव्रत—दे० व्रत।

अणुवयरयणपईव—अपर नाम अणुव्रतरत्नप्रदीप है। कवि लक्खण (ई० श० १३ का पूर्व) कृत श्रावकाचार विषयक प्राकृत छन्द बद्ध ग्रन्थ।

अणुविभंजन—(ज.प./प्र. १०५) Atomic Splitation।

अतत्—१. पं.ध./पू०/३१२ तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ-सदृशो वा ॥३१२॥ =तत् व अतत् भावके विचारमें परिणामोंकी सदृशता विसदृशताका भेद होता है। २. द्रव्य में तत्-अतत् धर्म —दे० अनेकांत/४,५।

अतत्त्वशक्ति—स.सा./परि./शक्ति नं० ३० अतद्रूपाऽभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः। =तत्स्वरूप न होने रूप तीसवीं अतत्त्वशक्ति है।

अतद्भाव—दे० अभाव।

अतिकाय—महोरग नामा व्यन्तर जातीय देवोंका एक भेद—दे० महोरग।

अतिक्रम—रा.वा./७/२३/३/५५२/११ अतिचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। =अतिक्रम भी अतिचारका ही दूसरा नाम है।
रा.वा./७/२७/३/५५४/११ उचितान्न्याय्याद् अन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते।=उचित न्याय्य भागसे अधिक भाग दूसरे उपायोंसे ग्रहण करना अतिक्रम है। (यह लक्षण अस्तेयके अतिचारों के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है)।
रा.वा./७/३०/१/५५५/१६ परिमितस्य दिगवधेरतिलङ्घनमतिक्रम इत्युच्यते।=दिशाओंको परिमित मर्यादाका उल्लंघन करना (दिग्व्रतका) अतिक्रम है।
रा.वा./७/३१/६/५५६/१२ स्वयमनतिक्रमन् अन्येनातिक्रामयति ततोऽतिक्रम इति व्यपदिश्यते। =स्वयं मर्यादाका उल्लंघन न करके दूसरेसे करवाता है। अतः उनको (आनयन आदिको देशव्रतका) 'अतिक्रम' ऐसा कहते हैं।
रा.वा./७/३६/५/५५८/२८ अकाले भोजनं कालातिक्रमः ॥५॥ अनगाराणाम् अयोग्यकाले भोजनं कालातिक्रम इति कथ्यते।=साधुओंको भिक्षा कालको टाल कर अयोग्य कालमें भोजन देने का भाव करना अतिथि संविभाग व्रत में कालका अतिक्रम कहलाता है।
पु.सि.उ./श्लो० ३० में उद्धृत "अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिः व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः। तथातिचारं करणालसत्वं भङ्गो ह्यनाचारमिह व्रतानाम्।"=मनकी शुद्धिमें हानि होना सो अतिक्रम है, विषयोंकी अभिलाषा सो व्यतिक्रम है, इन्द्रियोंकी असावधानी अर्थात् व्रतोंमें शिथिलता सो अतिचार है और व्रतका सर्वथा भंग हो जाना सो अनाचार है। (सामायिकपाठ अमितगति/९)

अतिक्रांत—(ज.प./प्र.१०५) Extra।

अतिगोल—(ज.प/प्र./१०५) Right circular cylinder।

अतिचार—रा.वा./७/२३/३/५५२/११ दर्शनमोहोदयादतिचरणमतिचारः ।३। दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमतिचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। =दर्शन मोहके उदयसे तत्त्वार्थश्रद्धानसे विचलित होना (सम्यग्दर्शनका) अतिचार है। अतिक्रम भी इसीका नाम है।
ध. ८/३,४१/८२/६ सुरावाण-मांसभक्खण-कोह-माण-माया-लोह-हस्स-रइ-सोग-भय-दुंगुछित्थि-पुरिस-णवुंसयवेयापरिच्चागो अदिचारो, एदेसिं विणासो णिरदिचारो संपुण्णदा, तस्स भावो णिरदिचारदा। =सुरापान, मांसभक्षण, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, एवं नपुसंक वेद, इनके त्याग न करनेका नाम अतिचार है और इनके विनाशका नाम निरतिचार या सम्पूर्णता है। इसके भावको निरतिचारता कहते हैं।
चा.सा./१३७।२ कर्तव्यस्याकरणे वर्जनीयस्यावर्जने यत्पापं सोऽतिचारः। =किसी करने योग्य कार्यके न करने पर और त्याग करने योग्य पदार्थके त्याग न करने पर जो पाप होता है उसे अतिचार कहते हैं।
सामायिक पाठ/अमितगति / ९ ··· / प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनम्। =विषयोंमें वर्तन करनेका नाम अतिचार है।
सा. ध./४/१८ सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभञ्जनम्। मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः, परेऽप्यूह्यास्तथात्यया:।=''मैं ग्रहण किये हुए अहिंसा व्रतका भंग नहीं करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकके व्रतका एक अंश भंग होना अर्थात् चाहे अन्तरंग व्रतका खण्डन होना अथवा बहिरंग व्रतका खण्डन होना उस व्रतमें अतिचार कहलाता है।
दे० अतिक्रम/पु. सि. उ. इन्द्रियोंकी असावधानी अर्थात् व्रतोंमें शिथिलता सो अतिचार है।

२. अतिचार सामान्यके भेद

भ. आ./मू. व. वि./४८७/७०६ दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य। देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥४८७॥···सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे देशत्याए विविधे देशातिचारं नानाप्रकारं मनोवाक्कायभेदात्कृतकारितानुमतविकल्पाच्च। सव्वच्चागे य सर्वातिचारे च आवण्णो आपन्नः।=सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, देशरूप अतिचार उत्पन्न हुए हों अथवा सर्व प्रकारोंसे अतिचार उत्पन्न हुए हों ये सर्व अतिचार क्षपक आचार्यके पास विश्वास युक्त होकर कहे ॥४८७॥···अतिचारके देशत्याग और सर्व-

त्याग ऐसे दो भेद हैं। मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन ऐसे नौ भेदोंमें-से किसी एकके द्वारा सम्यग्दर्शनादिकोंमें दोष उत्पन्न होना ये देशातिचार है और सर्व प्रकारसे अतिचार उत्पन्न होना सर्वत्यागातिचार है।

भ. आ./वि./६१२/८१२/६ [इस प्रकरणमें अतिचारोंके लक्षण दिये हैं। परन्तु यहाँ पर केवल भाषामें अतिचारोंके नाम मात्र देते हैं] १ अज्ञानातिचार; २ अनाभोगकृत अतिचार; ३ आपात अतिचार; ४ आर्तातिचार; ५ उपधि अतिचार; ६ उपचारातिचार; ७ गौरव अतिचार; ८ तित्तिणदा अतिचार; ९ देशातिचार; १० परवशातिचार; ११ पालिकुंचन अतिचार; १२ प्रदोषातिचार; १३ प्रमादातिचार; १४ भयातिचार; १५ परीक्षा मीमांसा अतिचार; १६ वचनातिचार; १७ वसति अतिचार; १८ विनयातिचार; १९ शंकितातिचार; २० सर्वातिचार; २१ सहसातिचार; २२ स्नेहातिचार; २३ स्वप्नातिचार; २४ स्वयं शोधक अतिचार तथा इसी प्रकार अन्य भी अनेकों अतिचार हो सकते हैं।

* आखेट व द्यूतके अतिचार— दे० वह वह नाम।
* ईर्यासमितिके अतिचार— दे० समिति/ १।
* कायोत्सर्गके अतिचार— दे० व्युत्सर्ग/१।
* जलगालनके अतिचार— दे० जल/२।
* तपोंके अतिचार— दे० वह वह नाम।
* *निरतिचार शीलव्रत— दे० शील।*
* परस्त्री व वेश्याके अतिचार— दे० ब्रह्मचर्य/२।
* मद्य, मांस, मधुके अतिचार— दे० वह वह नाम।
* मन, वचन, काय गुप्तिके अतिचार— दे० गुप्ति/२।
* व्रतोंके अतिचार— दे० वह वह नाम।
* *सम्यग्ज्ञानके अतिचार— दे० आगम/१।*
* *सम्यग्दर्शनके अतिचार— दे० सम्यग्दर्शन I/२।*

३. अतिचारके भेदोंके लक्षण

भ. आ./वि./६१२/८१२/६ उपयुक्तोऽपि सम्यगतीचारं न वेत्ति सोऽनाभोगकृत व्याक्षिप्तचेतसा वा कृतः। नदीपूरः, अग्न्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्ररोध इत्यादिका आपाताः। रोगार्तः शोकार्तो, वेदनार्तः इत्यार्तता त्रिविधा। रसासक्तता मुखरता चेति द्विप्रकारता तित्तिणदाशब्दवाच्या। सचित्तं किमचित्तमिति शङ्किते द्रव्ये भञ्जनभेदनभक्षणाभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शंकायामप्युपादानम्। अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्तिः सहसेत्युच्यते। एकान्तायां वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्स्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकषायपरिणामः प्रदोष इत्युच्यते। उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पाश्चत्वारः कषायाः। आत्मनश्चापरस्य वा बललाघवादिपरीक्षा मीमांसा तत्र जातोऽतिचारः। प्रसारितकराकुञ्चितम्, आकुञ्चितकरप्रसारणम्, धनुषाद्यारोपणं, उपलाद्युत्क्षेपणं, बाधनं, वृतिकण्टकाद्युल्लङ्घनं, पशुसर्पादीनां मन्त्रपरीक्षणार्थं धारणं, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमञ्जनस्य चूर्णस्य वा प्रयोगः द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणां च समूर्च्छना परीक्षा। अज्ञानामाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञः। अथवाज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहतं उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानात्प्रवृत्तोऽतीचारः। शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुषु, पार्श्वस्थेषु वा ममेदंभावः स्नेहस्तेन प्रवर्तित आचारः। मम शरीरमिदं, शीतो वातो बाधयति, कटादिभिरन्तर्धानं, अग्निसेवा, ग्रीष्मातपमोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं वा। उपकरणं विनश्यतीति तेन स्वकार्याकरणं यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जनं इत्यादिकम्। प्रक्षणं, तैलादिना कमण्डल्वादीनां प्रक्षालनं वा, वसतितृणादिभक्षणस्य भञ्जनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूनां यतीनां प्रवेशनं मदीयं कुलं न सहते, इति भाषणं, प्रवेशे कोपः, बहूनां न दातव्यमिति निवेदनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरणम्। निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र ममतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थानानिषेधनम्। यतीनां संबन्धिनां सुखेन सुखमात्मनो दुःखेन दुःखमित्यादिरतिचारः। पार्श्वस्थानां वन्दना, उपकरणादिदानं वा। तदुल्लङ्घनासमर्थता। गुरुता, ऋद्धित्यागासहता, ऋद्धिगौरवं, परिवारे कृतादरः। परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन। अभिमतरसात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवम्। निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्तिः सातगौरवम्। अनात्मवशतया प्रवर्तितातिचारः। उन्मादेन, पित्तेन पिशाचवशेन वा परवशता। अथवा ज्ञातिभिः परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमाल्यादिसेवा प्रत्याख्यातभोजनं, मुखवासताम्बूलादिभक्षणं वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलादब्रह्मकरणम्। चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यम्। उपधिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः। ज्ञात्वा दातृकुलं पूर्वमन्येभ्यः प्रवेशः। कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा। भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तमिति कथनम्। ग्लानस्याचार्यादेर्वा वैयावृत्त्यं करिष्यामि इति किंचिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवनम्। स्वप्ने वायोग्यसेवा सुमिणमित्युच्यते। द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथनं पालिकुञ्चनशब्देनोच्यते। कथं, सचित्तसेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति। अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति। तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अकषायतया संपादितं तीव्रक्रोधादिना संपादितमिति। यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सूरिः प्रायश्चित्तं प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्तम् इति स्वयं गृह्णाति स स्वयं शोधकः। एवं मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनम् = [यद्यपि मूल ज्यों का त्यों दे दिया है, पर सुविधार्थ भावार्थ वर्णानुक्रमसे दिया है] १. अज्ञानातिचार— दे० अज्ञान/४। २. अनाभोग कृत— उपयोग देकर भी जिसे अतिचारोंका सम्यग्ज्ञान नहीं होता, उसको अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं। अथवा मन दूसरी तरफ लगने पर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोगकृत है। ३. आपात— नदीपूर, अग्नि लगना, महावायु बहना, वृष्टि होना, शत्रुके सैन्यसे घिर जाना, इत्यादिक कारणोंसे होने वाले अतिचारोंको आपात अतिचार कहते हैं। ४. आर्त— रोग, शोक, या वेदनासे व्यथित होना ऐसे आर्तताके तीन प्रकार हैं। इससे होने वाले अतिचारोंको आर्तातिचार कहते हैं। ५. उपाधि— उपधि शब्दका अर्थ माया होता है। गुप्त रीतिसे मायाचारमें प्रवृत्ति करना, दाताके घरका शोध करके अन्य मुनि जानेके पूर्वमें वहाँ आहारार्थ प्रवेश करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दूसरे नहीं जान सकें इस प्रकारसे प्रवेश करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलनेपर 'मुझे विरस अन्न खानेको मिला' ऐसा कहना, रोगी मुनि आचार्य की वैयावृत्यके लिए श्रावकोंसे कुछ चीज माँगकर उसका स्वयं उपयोग करना। ऐसे दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। ६. उपचार— यह ठंडी हवा मेरे शरीरको पीड़ा देती है ऐसा विचार कर चटाईसे उसको ढकना, अग्निका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिए वस्त्र ग्रहण करना, उबटन लगाना, साफ करना, तैलादिकोंसे कमंडलु वगैरह साफ करना, धोना, उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे— पिच्छिका नष्ट जायेगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर व पुस्तकादि साफ न करना, ऐसे अतिचारोंको उपचारातिचार यह संज्ञा है। (और भी दे०— नं० १७ व १८) ७. गौरव— ऋद्धिका त्याग करनेमें असमर्थ होना, ऋद्धिमें

गौरव समझना, परिवारमें आदर करना, प्रिय भाषण करके और उपकरण देकर परकीय वस्तु अपने वश करना, इसको ऋद्धि गौरव कहते हैं। इष्ट रसका त्याग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रस गौरव कहते हैं, अतिशय भोजन करना, अतिशय सोना इसको सात गौरव कहते हैं। इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। ८. तितिणदा—रसमें आसक्त होना और वाचाल होना इसको तिंतिणदा अतिचार कहते हैं। ९. देशातिचार—मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदनाके विकल्पोंसे देशातिचार नाना प्रकारका है। १०. परवश—परवश होनेसे जो अतिचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, पित्त, पिशाच, इत्यादि कारणोंसे परवश होनेसे अतिचार होते हैं। अथवा जातिके लोगोंसे पकड़नेपर बलात्कार से इत्र, पुष्प, वगैरहका सेवन किया जाना, त्यागे हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रि भोजन करना, मुखको सुगन्धित करनेवाला पदार्थ ताम्बूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलात्कारसे ब्रह्मचर्यका विनाश होना, ऐसे कार्य परवशतासे होनेसे अतिचार लगते हैं। इनकी आलोचना करना क्षपक का कर्तव्य है। ११. पालिकुंचन—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे जो अतिचार हुए हों उनका अन्यथा कथन करना उसको पालिकंचन कहते हैं—जैसे सचित्त पदार्थका सेवन करके अचित्तका सेवन किया ऐसा कहना, या अचित्तका सेवन करके सचित्तका सेवन किया ऐसा कहना (द्रव्य), वसतिमें कोई कृत्य किया हो तो 'मैंने यह कार्य रास्तेमें किया' ऐसा कहना (क्षेत्र), सुभिक्षमें किया हुआ कृत्य दुर्भिक्षमें किया था ऐसा कहना, तथा दिनमें कोई कृत्य करनेपर भी मैंने रातमें अमुक कार्य किया था ऐसा बोलना (काल), अकषाय भावसे किये हुए कृत्यको तीव्र परिणामसे किया था ऐसा बोलना (भाव), इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। १२. प्रदोष—संज्वलन कषायोंका तीव्र परिणमन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना। जल, धूलि, पृथिवी, व पाषाण रेखा तुल्य क्रोध, मान, माया, व लोभके प्रत्येकके चार-चार भेद हैं। इन सोलह कषायोंसे होनेवाले अतिचार को प्रदोषातिचार कहते हैं। १३. प्रमाद—वाचना पृच्छना आदि चार प्रकार स्वाध्याय तथा सामायिक वन्दनादि आवश्यक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना प्रमाद नामका अतिचार है। १४. भय—एकान्त स्थानमें वसति होनेसे सर्प, दुष्ट पशु, बाघ इत्यादिक प्राणी प्रवेश करेंगे इस भयसे वसतिके द्वार बन्द करना भयातिचार है। १५. मीमांसा परीक्षा—अपना बल और दूसरेका बल, इसमें कम और ज्यादा किसका है इसकी परीक्षा करना, इससे होनेवाले अतिचारको मीमांसातिचार कहते हैं—जैसे फैले हुए हाथको समेट लेना, संकुचित हाथको फैला लेना, धनुषको डोरी लगाकर सज्ज करना, पत्थर फेंकना, माटीका ढेला फेंकना, बाधा देना, मर्यादा-बाड़को उल्लंघना, कंटकादिको लाँघकर गमन करना, पशु सर्प वगैरह प्राणियोंको मन्त्रकी परीक्षा करनेके लिए पकड़ना, और सामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिए अंजन और चूर्णका प्रयोग करना, द्रव्यों का संयोग करनेसे त्रस और एकेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना, इन कृत्योंको परीक्षा कहते हैं। ऐसे कृत्य करनेसे व्रतोंमें दोष उत्पन्न होते हैं। १६. वचन—दे० सं० ११ पालिकुंचन अतिचार। १७. वसति—वसतिका तृण कोई पशु खाता हो तो उसका निवारण करना, वसति भग्न होती हो तो उसका निवारण करना, बहुत-से व्यक्ति मेरी वसतिमें नहीं ठहर सकते ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि प्रवेश करने लगें तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतियोंको वसति मत दो ऐसा कहना, वसतिकी सेवा करना, अथवा अपने कुलके मुनियोंसे सेवा कराना, निमित्तादिकोंका उपदेश देना, ममत्वसे ग्राम नगरमें अथवा देशमें रहनेका निषेध न करना, अपने सम्बन्धी यतियोंके सुखसे अपनेको सुखी और उनके दुःखसे अपनेको दुःखी समझना। (इस प्रकारके अतिचारोंका अन्तर्भाव उपचारातिचारमें होता है) १८. विनयातिचार—पार्श्वस्थादि मुनियोंकी वन्दना करना, उनको उपकरणादि देना, उनका उल्लंघन करनेकी सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कृत्यों से जो दोष होते हैं, उनकी आलोचना करनी चाहिए (इसका अन्तर्भाव संख्या ६ वाले उपचारातिचारमें करना चाहिए) १९. शंका—पिच्छिका वगैरह उपयोगी द्रव्यों में ये सचित्त हैं या अचित्त हैं ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर भी उन्हें मोड़ना, फोड़ना, भक्षण करना। आहार, उपकरण और वसति ये पदार्थ उद्गमादि दोष रहित हैं, अथवा नहीं हैं ऐसी शंका आनेपर भी उनको स्वीकार करना यह शंकितातिचार है। २०. सर्वातिचार—(व्रतका बिलकुल भंग हो जाना सर्वातिचार है।) २१. सहसातिचार—अशुभवचन और अशुभ विचारोंमें वचनकी और मनकी तत्काल अविचार पूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिए। २२. स्नेहातिचार—शरीर, उपकरण, वसति, कुल, गाँव, नगर, देश, बन्धु और पार्श्वस्थ मुनि इनमें 'ये मेरे हैं' ऐसा भाव उत्पन्न होना इसको स्नेह कहते हैं। इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं। २३. स्वप्नातिचार—स्वप्नमें अयोग्य पदार्थका सेवन होना उसको सुमिण (स्वप्न) कहते हैं। २४. स्वयं शोधक—आचार्यके पास आलोचना करनेपर आचार्य के प्रायश्चित्त देनेसे पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है, ऐसा विचार कर स्वयं प्रायश्चित्त लेता है, उसको स्वयं-शोधक कहते हैं। स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन जानना।

★ बड़े-बड़े दोष भी अतिचार हो सकते हैं—दे० अतिचार सामान्यका लक्षण।

४. अतिचार व अनाचार में अन्तर

स. सि. /७/२५/३६६ दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः न प्राणव्यपरोपणम्, ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्। = डण्डा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है। यहाँ वधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया है, क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है। (भावार्थ—प्राण-व्यपरोपण अतिचार नहीं है, उससे तो व्रतका नाश होता है)।

सामायिक पाठ/अमितगति/९ क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलङ्घनम्। प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्। = मनकी शुद्धिमें क्षति होना अतिक्रम है, शील तथा व्रतोंकी मर्यादाका उल्लंघन करना व्यतिक्रम है, विषयोंमें वर्तन करना अतिचार है, और विषयोंमें अत्यन्त आसक्तिका होना अनाचार है। (पु. सि. उ. /३० में उद्धृत)

५. अतिचार लगनेके कारण

स. सि./७/३५/३७१ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु प्रवृत्तिः। प्रमादसंमोहाभ्याम्। = प्रश्न—यह गृहस्थ सचित्तादिकमें प्रवृत्ति किस कारणसे करता है। उत्तर—प्रमाद और संमोहके कारण।

क्रमशः रा. वा./हिं/७/३५/५८० प्रमाद तै तथा अति भूख तै तथा तीव्र राग तै होय है।

★ अतिचार लगनेकी सम्भावना—दे० सम्यग्दर्शन I/२/५।

★ व्रतोंमें अतिचार लगानेका निषेध—दे० व्रत/२।

अतिथि— स. सि./७/२१/३६२ संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः। =

संयमका विनाश न हो, इस विधिसे जो आता है, वह अतिथि है या जिसके आनेकी कोई तिथि नहीं उसे अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके आनेका कोई काल निश्चित नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं।

सा. ध./५/४२ में उद्धृत "तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना। अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः।"—जिस महात्माने तिथि पर्व उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया है अर्थात् अमुक पर्व या तिथिमें भोजन नहीं करना ऐसे नियमका त्याग कर दिया है उसको अतिथि कहते हैं। शेष व्यक्तियोंको अभ्यागत कहते हैं।

चा. पा./टी०/२५/४५ न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः। अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छति उद्दण्डचर्यां करोतीत्यतिथिर्यतिः।—जिसको प्रतिपदा आदिक तिथि न हों वह अतिथि है। अथवा संयम पालनार्थ जो विहार करता है, जाता है, उद्दण्डचर्या करता है ऐसा यति अतिथि है।

२. अतिथिसंविभाग व्रत

स. सि./७/२१/३६२ अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति। 'च' शब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः।—अतिथिके लिए विभाग करना अतिथिसंविभाग है। वह चार प्रकारका है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहनेका स्थान। जो मोक्षके लिए बद्धकक्ष है, संयमके पालन करनेमें तत्पर है और शुद्ध है, उस अतिथिके लिए शुद्ध मनसे निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। सम्यग्दर्शन आदिके बढ़ानेवाले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषधकी योजना करनी चाहिए तथा परम धर्मकी श्रद्धा पूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए। सूत्रमें 'च' शब्द है वह आगे कहे जानेवाले गृहस्थ धर्मके संग्रह करनेके लिए दिया गया है। (रा. वा./७/२१/१२/५४८/१८) (रा. वा./७/२१/२८/५५०/१०)

का. अ./ मू./३६०-३६१ तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइ-गुणेहि संजुदो णाणी। दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहीहि संजुत्तो ॥३६०॥ सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्वसिद्धि-सोक्खयरं। दाणं चउविहं पि य सव्वे दाणाण सारयरं ॥३६१॥—श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकारके पात्रोंको दानकी नौ विधियोंके साथ स्वयं दान देता है उसके तीसरा शिक्षा व्रत होता है। यह चार प्रकारका दान सब दानोंमें श्रेष्ठ है, और सब सुखोंका व सब सिद्धियोंका करनेवाला है।

सा. ध./५/४१ व्रतमतिथिसंविभागः, पात्रविशेषाय विधिविशेषेण। द्रव्यविशेषवितरणं, दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥४१॥—जो विशेष दाताका विशेष फलके लिए, विशेष विधिके द्वारा, विशेष पात्रके लिए, विशेष द्रव्यका दान करना है वह अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है।

३. अतिथिसंविभाग व्रतके पाँच अतिचार

त.सू./७/३६ सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः—१. सचित्त कमल पत्रादिमें आहार रखना, २. सचित्तसे ढक देना, ३. स्वयं न देकर दूसरेको दान देनेको कहकर चले जाना, ४. दान देते समय आदर भाव न रहना, ५. साधुओंके भिक्षा कालको टाल कर द्वारापेक्षण करना, ये पाँच अतिथि संविभाग व्रतके अतिचार हैं। (र.क.श्रा./१२१)

* दाता व दान योग्य पात्र अपात्र—दे० वह वह विषय।

अतिपुरुष—किंपुरुष नामा व्यन्तर जाति देवोंका एक भेद—दे० किंपुरुष।

अतिप्रसंग—पं.ध./पू./२८९ ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः श्रयासभारेण। अपि गौरवप्रसंगाद्वनुपादेयाच्च वाग्विलासत्वात्।—(शंकाकार का कहना है कि) जब अस्ति नास्ति दोनोंमें-से किसी एकसे ही काम चल जायेगा तो फिर दोनोंको मानकर होनेवाले प्रायः प्रयास भारसे क्या प्रयोजन है। तथा दोनोंको माननेसे गौरव प्रसंग आता है अर्थात् एक प्रकारका अतिप्रसंग दोष आता है, और वचनका विलास मात्र होनेसे दोनोंका मानना उपादेय नहीं है।

अतिबल—(म.पु./सर्ग/२श्लोक) "ऋषभ देव भगवान्‌के पूर्वके दसवें भवमें (५/२००) महाबलका पिता था (४/१३३) अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। (४/१५१-१५२)

अतिवीर—भगवान् महावीरका अपरनाम—दे० महावीर।

अतिवीर्य—(प.पु.६/३७/श्लोक) राम लक्ष्मणके वनवास होनेपर (१) इसने भरतपर चढ़ाई कर दी (२५-२६) नर्तकियोंके वेषमें गुप्त रहकर (६५-६६) उन वनवासियोंने इसे वहाँ जाकर बाँध लिया (१२७-१२८) परन्तु दया पूर्ण सीताने इसे छुड़ा दिया (१४६) अन्तमें दीक्षा ले ली। (१६१)।

अतिवेलंब—मानुषोत्तर पर्वतस्थ सर्वरत्न कूटका स्वामी भवनवासी वरुणकुमार देव—दे० लोक/७।

अतिव्याप्त—दे० लक्षण।

अतिशय—भगवान्‌के ३४ अतिशय—दे० अर्हंत/१।

अतिशायन हेतु—दे० हेतु।

अतिस्थापना—दे० अपकर्षण।

अतिस्थापनावलि—दे० आवलि।

अत्यंताभाव—दे० अभाव।

अत्यंतायोगव्यवच्छेद—दे० एव।

अत्यय—रा.वा./२/८/१८/१२२/२२ वाचां गोचरताऽत्ययात्।—शब्दके गोचर ही नहीं हो सकता।

अत्राणभय—दे० भय।

अथाप्रवृत्तसंयत—दे० संयत/१।

अथाप्रवृत्तसंयतासंयत—दे० संयतासंयत/१।

अथालंद—भ.आ./वि./१५५/३५३/४परिषहोपसर्गजये समर्थाः, अनिगूहितबलवीर्याः, आत्मानं मनसा तुल्यन्ति।···परिहारस्यासमर्थाः अथालन्दविधिमुपगन्तुकामास्त्रयः पञ्च सप्त नव वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्नाः स्थविरमूलनिवासिनः अवधृतात्मसामर्थ्या विदितायुःस्थितयः स्थविरं विज्ञापयन्ति। आचारो निरूप्यते—अथालन्दसंयतानां लिंगम् औत्सर्गिकं, देहस्योपकारार्थम् आहारं वा वसतिं च गृह्णन्ति, शेषं सकलं त्यजन्ति। तृणपीठकटफलकादिकम् उपधिं च न गृह्णन्ति।···अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्टशरीरसंस्काराः परीषहान् सहन्ते नो वा धृतिबलहीनाः।···त्रयः पञ्च वा सह प्रवर्तन्ते।···वेदनायाः प्रतिक्रियया वर्ज्या यदा तपसातिश्रान्तास्तदा सहायहस्तावलम्बनं कुर्वन्ति। वाचनादिकं च न कुर्वन्ति। यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते···अकृतप्रतिलेखा, लेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति।···श्मशानमध्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिषिद्धं, आवश्यकेषु च प्रयतन्ते। उपकरणप्रतिलेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति। मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तन्ते। दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते। दानं, ग्रहणं, अनुपालनं, विनयः,

सहजल्पनं च नास्ति संघेन तेषाम्। कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव संल्लापः कार्यः। यत्र क्षेत्रे सधर्मा तत्र क्षेत्रे न प्रविशन्ति। मौनाभिग्रहनिरताः पन्थानं पृच्छन्ति, शङ्कितव्यं वा द्रव्यं शय्याधरगृहं वा। एवं तिस्र एव भाषाः।...गृहे प्रज्वलिते न चलन्ति चलन्ति वा।...व्याघ्रादिव्यालमृगाश्च यद्यापतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा। पादे कण्टकालग्ने चक्षुषि रजःप्रवेशे वा, अपनयन्ति न वा।...धर्मोपदेशं कुर्वन्तः तत्प्रव्रज्यामि इच्छामि भगवतां पादमूले इत्युक्ता अपि न मनसापि वाञ्छन्ति। क्षेत्रतः सप्ततिधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति। कालतः सर्वदा। चारित्रतः सामायिकछेदोपस्थापनयोः। तीर्थतः सर्वतीर्थकृतां तीर्थेषु। जन्मनि त्रिंशद्वर्षजीविताः श्रामण्येन एकोनविंशतिवर्षाः। श्रुतेन नवदशपूर्वधराः। वेदतः पुमांसो नपुंसकाश्च। लेश्यया पद्मशुक्ललेश्याः। ध्यानेन धर्मध्यानाः। संस्थानतः षड्विधेष्वन्यतरसंस्थानाः देशोनसप्तहस्तादि यावत्पञ्चधनुःशतोत्सेधाः। कालतो भिन्नमुहूर्ताद्यूनपूर्वकोटिकालस्थितयः। विक्रियाचारणताक्षीरस्राविरवादयश्च तेषां जायन्ते। विरागतया न सेवन्ते। गच्छविनिर्गतालंदविधिरेष व्याख्यातः। गच्छप्रतिबद्धालंदकविधिरुच्यते—गच्छन्निर्गच्छन्तो बहिः सक्रोशयोजने विहरन्ति। सपराक्रमो गणधरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्गत्वार्थपदम्। तेष्वपि समर्था आगत्य शिक्षां गृह्णन्ति। एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञानधारणा गुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति। कृतप्रतिप्रश्नकार्याः स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति।...यदि गच्छेत्क्षेत्रान्तरं गणः अथालंदिका अपि गुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्रम्।...व्याख्यातोऽयमथालंदविधिः। =(सल्लेखना धारण विधिके अन्तर्गत भक्तप्रत्याख्यान आदि अनेकों विधियोंका निरूपण है। तहाँ एक अथालंद विधि भी है। वह दो प्रकारकी है—गच्छविनिर्गत और गच्छप्रतिबद्ध। इन दोनोंमें पहले गच्छविनिर्गतका स्वरूप कहते हैं—) १. परीषह व उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा व्यक्त बल वीर्य परन्तु परिहार विधिको धारण करनेमें असमर्थ साधु इस विधिको धारण करते हैं। ज्ञान दर्शन सम्पन्न तथा तीव्र संसारभीरु तीन, पाँच, सात अथवा नौ साधु मिल कर धारण करते हैं। धर्माचार्यकी शरणमें रहते हैं। उनका आचार बताते हैं—औत्सर्गिक (नग्न) लिंग धारण करते हैं। देहोपकारार्थ आहार, वसति, कमंडलु और पिच्छिकाका आश्रय लेते हैं। तृण, चटाई, फलक आदि अन्य परिग्रह व उपधिका त्याग करते हैं। बैठते उठते आदि समय पिच्छिकासे शरीरस्पर्श रूप प्रतिलेखन नहीं करते। शरीरसंस्कारका त्याग करते हैं, परीषह सहते हैं, तीन या पाँच आदि मिलकर प्रवृत्ति करते हैं, वेदनाका इलाज नहीं करते, तपसे अतिशय थक जानेपर सहायकोंके हस्तादिका आश्रय लेते हैं, वाचना, पृच्छना आदिका त्याग करते हैं, दिनमें व रातको कभी नहीं सोते, परन्तु न सोनेकी प्रतिज्ञा भी नहीं करते, ध्यानमें प्रयत रहते हैं, श्मशानमें भी ध्यान करनेका उन्हें निषेध नहीं है, षडावश्यक क्रियाओंमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं, सायं व प्रातः पिच्छिका व कमंडलुका संशोधन करते हैं। 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' इतना बोलकर ही दोषोंका निराकरण कर लेते हैं, दस प्रकारके समाचारोंमें प्रवृत्ति करते हैं। संघके साथ दान, ग्रहण, विनय आदिका व्यवहार नहीं करते। कार्यवश उनमें-से केवल एक साधु ही बोलता है, जिस क्षेत्रमें सधर्मीजन हों वहाँ प्रवेश नहीं करते, मौनका नियम होते हुए भी तीन विषयोंमें बोलते हैं—मार्ग पूछना, शास्त्र विषयक प्रश्न पूछना, घरका पता पूछना। वसतिमें आग आदि लग जानेपर उसे त्याग देते हैं अथवा नहीं भी त्यागते, व्याघ्रादि दुष्ट प्राणियोंके आ जानेपर मार्ग छोड़ देते हैं अथवा नहीं भी छोड़ते, कण्टक आदि लगने या आँखमें रजकण पड़नेपर उसे निकालते हैं अथवा नहीं भी निकालते। धर्मोपदेश करते हैं, परन्तु दीक्षार्थीको दीक्षा देनेका मनमें विचार भी नहीं करते। क्षेत्रकी अपेक्षा ये साधु सर्व कर्मभूमियोंमें होते हैं, कालकी अपेक्षा सदा होते हैं, चारित्रकी अपेक्षा सामायिक व छेदोपस्थापना ये दो चारित्र होते हैं, तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें होते हैं, ३० वर्ष पर्यन्त भोग भोगकर १९ वर्ष तक मुनि अवस्थामें रहनेके पश्चात् ही अथालंद विधि धारणके योग्य होते हैं, ज्ञानकी अपेक्षा नौ या दस पूर्वोंके ज्ञाता होते हैं, वेदकी अपेक्षा पुरुष या नपुंसकवेदी होते हैं। लेश्याकी अपेक्षा पद्म व शुक्ल लेश्यावाले होते हैं, ध्यानकी अपेक्षा धर्मध्यानी होते हैं। संस्थानकी अपेक्षा छहोंमें-से किसी भी एक संस्थानवाले होते हैं, अवगाहनाकी अपेक्षा सात हाथसे ५०० धनुषतकके होते हैं, कालकी अपेक्षा विधिको धारण करनेसे पूर्व बीती आयुसे हीन पूर्वकोटि प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिवाले होते हैं। (मध्यम जघन्य भी यथायोग्य जानना)। विक्रिया, चारण व क्षीरस्रावी आदि ऋद्धियोंके धारक होते हैं, परन्तु वैराग्यके कारण उनका सेवन नहीं करते। गच्छविनिर्गत अर्थात् गच्छसे निकलकर उससे पृथक् रहते हुए अथालंद विधि करनेवाले मुनियोंका यह स्वरूप है। २. अब गच्छप्रतिबद्ध अथालंद विधिका विवेचन करते हैं।- गच्छसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोश (५ कोश) पर ये मुनि विहार व निवास करते हैं। शक्तिमान् आचार्य स्वयं अपने क्षेत्रसे बाहर जाकर उनको अर्थपदका अध्ययन कराते हैं। अथवा समर्थ होनेपर अथालंद विधिवाले साधु स्वयं भी आचार्यके पास जाकर अध्ययन करते हैं। परिज्ञान व धारणा आदि गुणसम्पन्न एक, दो, या तीन मुनि गुरुके पास आते हैं और उनसे प्रश्नादि करके अपने स्थान पर लौट जाते हैं। यदि गच्छ क्षेत्रान्तरको विहार करता है, तो वे भी गुरुकी आज्ञा लेकर विहार करते हैं। (शेष विधि पूर्ववत् जानना)—इस प्रकार अथालंद विधिके दोनों भेदोंका कथन किया गया।

अदंतधोवन—मू.आ./३३ अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं। दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं। =अंगुली, नख, दातौन, तृणविशेष, पैनीकंकणी, वृक्षकी छाल (वक्कल), आदि कर दाँतके मलको नहीं शुद्ध करना वह इन्द्रिय संयमकी रक्षा करनेवाला अदंतधोवन मूल गुण है।

अदत्तादान—दे० अस्तेय।

अदर्शन परिषह—स.सि./९/९/४२७/१० परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्यार्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते। महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेयं प्रव्रज्या। विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरिषहसहनमवसातव्यम्। =परम वैराग्यकी भावनासे मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थोंके रहस्यको जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन, साधु, और धर्मका उपासक हूँ, चिरकालसे मैं प्रव्रजित हूँ तो भी मेरे अभी भी ज्ञानातिशय नहीं उत्पन्न हुआ है। महोपवास आदिका अनुष्ठान करनेवालेके प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए, यह प्रलापमात्र है। यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतोंका पालन करना निरर्थक है इत्यादि बातोंका दर्शनविशुद्धिके योगसे मनमें नहीं विचार करनेवाले के अदर्शनपरिषह सहन जानना चाहिए। (रा.वा/९/९/२८/६१२/१७). (चा.सा./१२८/४)।

१. प्रज्ञा व अदर्शन परिषहमें अन्तर—दे० प्रज्ञा।

२. अदर्शनका अर्थ अश्रद्धान क्यों अवलोकनाभाव क्यों नहीं

रा.वा./९/९/२९-३०/६१२/२३ श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेत्; न अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात्। २९। स्यादेतत् श्रद्धानमालोचनमिति द्विविधं दर्शनम्, तस्याविशेषेण ग्रहणमिह प्राप्नोति, कुतः, अविशेषात्। न हि किंचिद्विशेषलिङ्गमिहाश्रितमस्तीति, तन्न, किं कारणम्। अव्यभिचारी दर्शनार्थत्वात्। मत्यादिज्ञानपञ्चकाव्यभिचारिश्रद्धानं दर्शनम्। आलोचनं तु न, श्रुतमनःपर्यययोरप्रवृत्तेरतोऽस्याव्यभिचारिणः श्रद्धानस्य ग्रहणमिहोपपद्यते। मनोरथपरिकल्पनामात्रमिति

चेद् न वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्याद् ।३०।...दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ । त.सू./९/१४/इति । =यद्यपि दर्शनके श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते हैं, पर यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानोंके अव्यभिचारी श्रद्धान रूप दर्शनका ग्रहण है, आलोचन रूप दर्शन श्रुत और मनःपर्यय ज्ञानोंमें नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं है। आगे सू. सं. १४ में दर्शनमोहके उदयसे ही अदर्शन परिषह बतायी जायेगी। अतः दर्शन का अर्थ श्रद्धान है केवल कल्पनामात्र नहीं है।

अविति—(ह.पु./२२/५१-५३) तप भ्रष्ट नमि विनमि द्वारा ध्यानस्थ ऋषभनाथ भगवान्‌से राज्यकी याचना करनेपर, अपने पति धरणेन्द्र की आज्ञासे इस देवीने उन दोनोंको विद्याओंका कोप दिया था।

अदीक्षा ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

अदृष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

अदृष्टांत वचनोदाहरणाभास—दे० उदाहरण।

अद्धा—स.सि./३/३८ अद्धा कालस्थितिरित्यर्थः। =अद्धा और काल की स्थिति ये एकार्थवाची हैं। (ध.४/१,५,१/३१८/१) (ध./१३/५,५,५०/२८१/२) (भ.आ./वि./२५/८६/४)

रा.वा./५/१/१६/४३३/२२ अद्धाशब्दो निपातः कालवाची। =अद्धा शब्द एक निपात है, वह कालवाची है।

क.पा.४/३,२२/§२१/१५/८ का अद्धा णाम। ट्ठिदिबंधकालो। =अद्धा किसे कहते हैं? स्थिति बन्धके कालको अद्धा कहते हैं।

अद्धा असंक्षेप—ध.६/१,९-६,२३/१६७/१ असंखेपद्धा त्ति एवेसु आबाधावियप्पेसु देव-णेरइयाणं आउअस्स उक्कस्सणिसेयट्ठिदी संभवदि त्ति उत्तं होदि। =असंक्षेपाद्धा अर्थात् जिससे छोटा (संक्षिप्त) कोई काल न हो, ऐसे आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक जितने आबाधा के विकल्प होते हैं उनमें देव और नारकियोंके, आयुकी उत्कृष्ट निषेक स्थिति सम्भव है।

ध.१४/५,६,६४५/५०३/१२ जहण्णओ आउअबंधकालो जहण्णविस्समण कालपुरस्सरो असंखेपद्धा णाम। सो जवमज्झचरिमसमयप्पहुडि ताव होदि जाव जहण्णाउअबंधकालचरिमसमओ त्ति। एसा वि असंखेपद्धा तदियत्ति भागम्मि चेव होदि। =जघन्य विश्रमण काल पूर्वक जघन्य आयुबन्ध काल असंक्षेपाद्धा कहा जाता है। वह यव मध्यके अन्तिम समयसे लेकर जघन्य आयु बन्धके अन्तिम समय तक होता है। यह असंक्षेपाद्धा तृतीय त्रिभागमें ही होता है।

गो. जी./जी.प्र./५१८/९१३ असंखेपाद्धा भुज्यमानायुषोऽन्त्यावल्यसंख्येयभागः तस्मिन्नवशिष्टे प्रागेव अन्तर्मुहूर्तमात्रसमयप्रबद्धान् परभवायुर्नियमेन बद्ध्वा समाप्नोतीति नियमो ज्ञातव्यः। =‘असंखेपाद्धा’ जो आवलीका असंख्यातवाँ भाग प्रमाण काल भुज्यमान आयुका अवशेष रहै ताकै पहिले अन्तर्मुहूर्त काल मात्र समय प्रबद्धनिकरि परभव आयु को बाँधि पूर्ण करै है ऐसा नियम जानना।

गो. क./मू./२१७/११०२...आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स। =बहुरि नहीं पाइयें है आयुकी आबाधाका संक्षेप, घाटि पना जाते ऐसा जो अद्धा काल सो असंक्षेपाद्धा कहिये है।

अद्धाच्छेद—क.पा.३/३,२२/§२०/१५/३ चरिमणिसेयस्स कालो उक्कस्स अद्धाच्छेदो णाम। =(बद्ध कर्मके) अन्तिम निषेकके कालको उत्कृष्ट अद्धाच्छेद कहते हैं।

क.पा.३/३,२२/§५१३/२९२/५सयलणिसेयगयकालपहाणो अद्धाच्छेदो सयलणिसेगपहाणा ट्ठिदि त्ति। =सर्व निषेकगत काल-प्रधान अद्धाच्छेद होता है और सर्व निषेकप्रधान स्थिति होती है।

अद्धानशन—दे० अनशन।

अद्धापल्य—दे० गणित I/१।

अद्धायु—दे० आयु/१।

अद्धासागर—दे० सागर।

अद्वैत दर्शन—१. एकान्त अद्वैतका निरास—दे० द्रव्य/४; २. अद्वैत दर्शनका विकास क्रम—दे० दर्शन; ३. विशेष दे० वेदान्त।

अद्वैत नय—प्र.सा./त.प्र./परि./नय नं० ४५ निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ॥४५॥ =आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणुकी भाँति।

२. ज्ञान-ज्ञेय द्वैताद्वैत नय

प्र.सा./त.प्र./परि./नय नं० २४-२५ ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ॥२४॥ ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ॥२५॥ =आत्म द्रव्य ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनयसे (ज्ञान और ज्ञेयके अद्वैतरूप नयसे) महान् ईंधनसमूह रूप परिणत अग्नि की भाँति एक है ॥२४॥ आत्म द्रव्य ज्ञान-ज्ञेय द्वैतरूपनयसे, परके प्रतिबिम्बोंसे सम्पृक्त दर्पणकी भाँति अनेक है।

अद्वैतवाद १. पुरुषाद्वैतवाद

गो. क./मू./८८१/१०६५ एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य। सव्वंगणिगूढोवि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥ =एक ही महात्मा है। सोई पुरुष है। देव है। सर्व विषै व्यापक है। सर्वांगपनै निगूढ कहिए अगम्य है। चेतनासहित है। निर्गुण है। परम उत्कृष्ट है। ऐसे एक आत्मा ही करि सबकौं मानना सो आत्मवादका अर्थ है। (स. सि./८/१/५ की टिप्पणी जगरूपसहाय कृत) (और भी दे० वेदान्त/५)

स. म./१३/१५४/८ “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन”। इति समयात्। “अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात्।” =हमारे मतमें एक ब्रह्म ही सत् है। कहा भी है ‘यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, इसमें नानारूप नहीं हैं. ब्रह्मके प्रपञ्चको सब लोग देखते हैं, परन्तु ब्रह्मको कोई नहीं देखता’ तथा ‘यह प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है।’ (और भी दे० वेदान्त)

अभिधान राजेन्द्र कोश—पुरुष एवैकः सकललोकस्थितिसर्गप्रलयहेतुः प्रलयेऽप्यलुप्तज्ञानातिशयशक्तिरिति। तथा चोक्तम्। ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्। प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् इति। तथा ‘पुरुषं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।’ ऋ०वे०/१०/९०। इत्यादि मन्वानां वादः पुरुषवादः। =एक पुरुष ही सम्पूर्ण लोककी स्थिति, सर्ग और प्रलयका कारण है। प्रलयमें भी उसकी अतिशय ज्ञानशक्ति अलुप्त रहती है। कहा भी है–जिस प्रकार ऊर्णनाभ रश्मियोंका, चन्द्रकान्त जलका, और वटबीज प्ररोहका कारण है उसी प्रकार वह पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंका कारण है। जो हो चुका तथा जो होगा, उस सबका पुरुष ही हेतु है। इस प्रकारकी मान्यता पुरुषवाद है।

२. विज्ञानाद्वैतवाद

न्यायकुमुदचन्द्र/पृ० ११९ प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तःप्रविष्टत्वप्रसिद्धेः संवेदनमेव पारमार्थिकं तत्त्वम्। तथाहि यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति।... तथा यद्वेद्यते तद्धि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति। =प्रतिभासमान अशेष ही वस्तुओंका ज्ञानस्वरूपसे अन्तःप्रविष्टपन प्रसिद्ध होनेके कारण संवेदन ही पारमार्थिक तत्त्व है। वह इस प्रकार कि जो-जो भी अवभासित होता है वह ज्ञान ही है, जैसे सुखादि भाव ही

अवभासित होते हैं।...इसी प्रकार जो-जो भी वेदन करनेमें आता है वह ज्ञानसे अभिन्न है, जैसे विज्ञानस्वरूप नीलादिक पदार्थ वेदन किये जाते हैं। इसीलिए यहाँ भी विज्ञानाद्वैतवादकी सिद्धि होती है। (यु० अनु०/११/२४.)।

अभिधान राजेन्द्र कोश "बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्यते ते विज्ञानवादिनः। तेषां राद्धान्तो विज्ञानवादः।=बाहरके ज्ञेय पदार्थों से निरपेक्ष ज्ञानाद्वैतको ही जो कोई बौद्ध विशेष मानते हैं वे विज्ञानवादी हैं, उनका सिद्धान्त विज्ञानवाद है।

३. शब्दाद्वैतवाद

न्यायकुमुदचन्द्र / १३९-१४० योगजमयोगजं वा प्रत्यक्षं शब्दब्रह्मोल्लेख्येवावभासते बाह्याध्यात्मिकार्थेषूत्पद्यमानस्यास्य शब्दानुविद्धत्वेनैवोत्पत्तेः, तत्संस्पर्शवैकल्ये प्रत्ययानां प्रकाशमानतया दुर्घटत्वात्। वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च, तदभावे तेषां नापरं रूपमवशिष्यते। =समस्त योगज अथवा अयोगज प्रत्यक्ष शब्दब्रह्मका उल्लेख करनेवाले ही अवभासित होते हैं। क्योंकि बाह्य या आध्यात्मिक अर्थोंमें उत्पन्न होनेवाला यह प्रत्यक्ष शब्दसे अनुविद्ध ही उत्पन्न होता है। शब्दके संस्पर्शके अभावमें ज्ञानोंकी प्रकाशमानता दुर्घट है, बन नहीं सकती। वाग्रूपता नित्य और प्रत्यवमर्शिनी है, उसके अभावमें ज्ञानोंका कोई रूप शेष नहीं रहता।

★ सभी अद्वैत दर्शन संग्रह नयाभासी हैं— दे० अनेकान्त/२।९।

४. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

स्या. दी./३/§८४/१२८/३ एवमेव परमद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायविषयः परमद्रव्यं सत्ता, तदपेक्षया 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' सद्रूपेण चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात्। भेदे तु सद्विलक्षणत्वेन तेषामसत्त्वप्रसङ्गात्। =इसी प्रकार परम द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायका विषय परम सत्ता, महा सामान्य है। उसकी अपेक्षासे 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है यहाँ नाना अनेक कुछ भी नहीं है' इस प्रकारका प्रतिपादन किया जाता है। क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अचेतन पदार्थोंमें भेद नहीं है। यदि भेद माना जाये तो सत्से भिन्न होनेके कारण वे सब असत् हो जायेंगे।

★ द्वैत व अद्वैतका विधि निषेध— दे० द्रव्य/४।

★ परम अद्वैतके अपर नाम— दे० मोक्षमार्ग/२/५।

अधःकर्म— जिन कार्योंके करनेसे जीवहिंसा होती है उन्हें अधःकर्म कहते हैं। अधःकर्म युक्त किसी भी पदार्थकी मन, वचन, कायसे साधुजन अनुमोदना नहीं करते और न ही ऐसा आहार व वसति आदिका ग्रहण करते हैं। इस विषयका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. आहार सम्बन्धी अधःकर्म

मू. आ./मू./४२३ छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं। आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥४२३॥ =पृथ्वीकाय आदि छह कायके जीवोंको दुःख देना, मारना इससे उत्पन्न जो आहारादि वस्तु वह अधःकर्म है। वह पाप क्रिया आप कर की गयी, दूसरे कर की गयी, तथा आप कर अनुमोदना की गयी जानना।

ध १३/५,४,२१/४६/८ तं ओद्दावण-विद्दावण-परिदावण-आरंभकदणिप्फण्णं तं सव्वं आधाकम्मं णाम ॥२२॥ ...जीवस्य उपद्रवणम् ओद्दावणं णाम। अंगच्छेदनादिव्यापारः विद्दावणं णाम। संतापजननं परिदावणं णाम। प्राणिप्राण-वियोजनं आरंभो णाम। =जो उपद्रावण, विद्रावण, परितापन, और आरम्भ रूप कार्यसे निष्पन्न होता है, वह सब अधःकर्म है ॥२२॥ ...जीवका उपद्रव करना ओद्दावण कहलाता है। अंग छेदन आदि व्यापार करना विद्रावण कहलाता है। सन्ताप उत्पन्न करना परिदावण कहलाता है। और प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करना आरम्भ कहलाता है।

चा. सा/६८/१ षड्जीवनिकायस्योपद्रवणम् उपद्रवणम्, अंगच्छेदनादिव्यापारो विद्रावणम्, संतापजननं परितापनं, प्राणिप्राणव्यपरोपणमारम्भः, एवमुपद्रवणविद्रावणपरितापनारम्भक्रियया निष्पन्नमन्नं स्वेन कृतं परेण कारितं वानुमनितं वाधःकर्म (जनितं) तत्सेविनोऽनशनादितपांसि...प्रक्षन्ति। = षट्कायके जीव समूहोंके लिए उपद्रव होना उपद्रवण है। जीवोंके अंग छेद आदि व्यापारको विद्रावण कहते हैं। जीवोंको सन्ताप (मानसिक वा अन्तरंग पीड़ा) उत्पन्न होनेको परितापन कहते हैं। प्राणियोंके प्राण नाश होनेको आरम्भ कहते हैं। इस प्रकार उपद्रवण, विद्रावण, परितापन, आरम्भ क्रियाओंके द्वारा जो आहार तैयार किया गया हो, जो अपने हाथसे किया हो अथवा दूसरेसे कराया हो, अथवा करते हुए की अनुमोदना की हो, अथवा जो नीच कर्मोंसे बनाया गया हो, ऐसे आहारको ग्रहण करनेवाले मुनियोंके उपवासादि तपश्चरण नष्ट होते हैं।

२. वसति सम्बन्धी अधःकर्म

भ.आ./वि/२३०/४४७ तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते। वृक्षच्छेदस्तदानयनं, इष्टकापाकः, भूमिखननं, पाषाणसिकतादिभिः पूरणं, धरायाः कुट्टनं, कर्दमकरणं, कीलानां करणं, अग्निनायस्तापनं कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं, वासीभिस्तक्षणं, परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिरधःकर्मशब्देनोच्यते।=वृक्ष काटकर उनको लाना, ईंटोंका समुदाय पकाना, जमीन खोदना, पाषाण, बालु इत्यादिकोंसे खाड़ा भरना, जमीनको कूटना, कीचड़ करना, खम्भे तैयार करना, अग्नि से लोह तपवाना, करौतसे लकड़ी चीरना, पटासीसे छीलना, कुल्हाड़ीसे छेदन करना, इत्यादि क्रियाओंसे षट्काय जीवोंको बाधा देकर स्वयं वसति बनायी हो अथवा दूसरोंसे बनवायी हो, वह वसति अधःकर्मके दोषसे युक्त है।

३. अधःकर्म शरीर

ध. १३/५,४,२४/४७/५ जम्हि सरीरे ठिदाणं केसिं चि जीवाणं कम्हि वि काले ओद्दावण-विद्दावण-परिदावणेहि मरणं संभवदि तं सरीराधाकम्मं णाम। =जिस शरीरमें स्थित किन्हीं जीवोंके किसी भी कालमें उपद्रावण, विद्रावण और परितापनसे मरना संभव है, वह शरीर अधःकर्म है

४. नारकियों में अधःकर्म नहीं होता

ध. १३/५,४,३१/९१/५ आधाकम्म-इरियावधकम्म-तवोकम्माणि णत्थि; णेरइएसु ओरालियसरीरस्स उदयाभावादो पंचमहव्वयाभावादो। एवं सत्तसु पुढवीसु।=अधः कर्म, ईर्यापथ कर्म, और तपः कर्म नहीं होते, क्योंकि नारकियोंके औदारिक शरीरका उदय और पंचमहाव्रत नहीं होते। इसी प्रकार सातों पृथिवियोंमें जानना चाहिए।

५. नारकियोंका शरीर अधःकर्म नहीं

ध. १३/५,४,२४/४७/३ ओद्दावणादिदंसणादो णेरइयसरीरमाधाकम्मं त्ति किण्ण भण्णदे। [ण] तत्थ ओद्दावण-विद्दावण-परिदावणेहिंतो आरंभाभावादो। जम्हि सरीरे ठिदाणं केसिं वि जीवाणं कम्हि वि काले ओद्दावण-विद्दावण-परिदावणेहिं मरणं संभवदि तं सरीरमाधाकम्मं णाम ण च एदं विसेसणं णेरइयसरीरे अत्थि, तत्तो तेसिमवमिच्चुवज्जियाणं मरणाभावादो। अधवा चउण्णं समूहो जेणेगं विसेसणं, ण तेण पुव्वुत्तदोसो। प्रश्न—नारकियोंके शरीरमें भी उपद्रावण आदि कार्य देखे जाते हैं, इसलिए उसे अधः कर्म क्यों नहीं कहते? उत्तर—नहीं, क्योंकि वहाँ पर उपद्रावण-विद्रावण और परितापनसे आरम्भ (प्राणि प्राण वियोग) नहीं पाया जाता। जिस शरीरमें स्थित किन्हीं

जीवोंके किसी भी कालमें उपद्रावण, विद्रावण और परितापनसे मरना संभव है वह शरीर अधःकर्म है। परन्तु यह विशेषण नारकियोंके शरीरमें नहीं पाया जाता, क्योंकि इनसे उनकी अपमृत्यु नहीं होती, इसलिए उनका मरण नहीं होता। अथवा चूँकि उपद्रावण आदि चारोंका समुदायरूप एक विशेषण है, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं आता।

६. भोगभूमिजका शरीर अधःकर्म कैसे

ध. १३/५,४,२४/४७/१ एवं घेप्पमाणे भोगभूमिगयमणुस्सतिरिक्खाणं सरीरमाधाकम्मं ण होज्ज, तत्थ ओद्दावणादीणमभावादो। ण ओरालियसरीरजादिदुवारेण सवाह सरीरेण सह एयत्तमावण्णस्स आधाकम्मत्तासिद्धीदो। = प्रश्न—जिस शरीरमें स्थित जीवोंके उपद्रावण आदि अन्यके निमित्तसे होते हैं, वह शरीर अधःकर्म है। इस तरहसे स्वीकार करने पर भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर अधःकर्म नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ उपद्रावण आदि कार्य नहीं पाये जाते? उत्तर—नहीं, क्योंकि औदारिक शरीररूप जातिकी अपेक्षा यह बाधा सहित शरीर और भोगभूमिजोंका शरीर एक है, अतः उसमें अधःकर्मपनेकी सिद्धि हो जाती है।

★ अधःकर्म विषयक सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ— दे० वह वह नाम।

अधःप्रवृत्तिकरण—दे० करण/४।

अधःप्रवृत्तसंक्रमण—दे० संक्रमण/६।

अधर्म द्रव्य—दे० धर्माधर्म।

अधस्तन कृष्टि—दे० कृष्टि।

अधस्तन द्रव्य—दे० कृष्टि।

अधस्तन द्वीप—(ज.प./प्र. १०५) Inner Island।

अधस्तन शीर्ष—दे० कृष्टि।

अधिक—न्या. सू./५/२/१३/३१५ हेतूदाहरणाधिकमधिकम्। = हेतु और उदाहरणके अधिक होनेसे अधिक नामक निग्रह-स्थान है। (श्लो. वा.४/न्या.२२२/४००/१५)

अधिकरण—जिस धर्मीमें जो धर्म रहता है, उस धर्मीको उस धर्मका (न्याय विषयक) अधिकरण कहते हैं जैसे—घटत्व धर्मका अधिकरण घट है।

प्र. सा./त. प्र./१६/११ शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः। = शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरणताको आत्मसात् करता हुआ (इस प्रकार) स्वयमेव (अधिकरण कारक) रूप होता है।

प्र. सा./ता. वृ./१६/२२ निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावात्मनः स्वयमेवाधारत्वादधिकरणं भवति। = यह आत्मा निश्चयसे शुद्ध चैतन्यादि गुणोंका स्वयमेव आधार होनेसे अधिकरण कारकको स्वीकार करता है।

स. सा./आ./परि./शक्ति नं० ४६ भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः। = भावनेमें आता जो भाव इसके आधारपनमयी छयालीसवीं अधिकरण शक्ति है।

२. अधिकरणके भेद

त. सू./६/७-९ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥ आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥ निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥ = अधिकरण जीव और अजीव रूप है ॥७॥ पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ, आरम्भके भेदसे तीन प्रकारका, कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकारका तथा कषायोंके भेदसे चार प्रकारका होता हुआ परस्पर मिलानेसे १०८ प्रकारका है ॥८॥ पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेद वाले 'निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है ॥९॥ (भ. आ./मू./८११/९९४)

रा. वा./६/९/१२-१५/५१६/२८ अजीवाधिकरणं निर्वर्तनालक्षणं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः। मूलोत्तरभेदात्। मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणम् उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति। तत्र मूलं पञ्चविधानि शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च। उत्तरं काष्ठपुस्तकचित्रकर्मादि।...निक्षेपश्चतुर्धा भिद्यते। कुतः। अप्रत्यवेक्षदुष्प्रमार्जनसहसानाभोगभेदात्—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं, सहसानिक्षेपाधिकरणं, अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति।...संयोगो द्विधा विभज्यते। कुतः। भक्तपानोपकरणभेदात्, भक्तपानसंयोगाधिकरणम्, उपकरणसंयोगाधिकरणं चेति।...निसर्गस्त्रिधा कल्प्यते। कुतः। कायादिभेदात्। कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति।

रा. वा./६/७/५/५१३/२२ तदुभयमधिकरणं दशप्रकारम्—विषलवणक्षारकटुकाम्लस्नेहाग्नि - दुष्प्रयुक्तकायवाङ्मनोयोगभेदात्। = अजीवाधिकरणोंमें निर्वर्तनालक्षण अधिकरण दो प्रकारका है। कैसे? मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण। उसमें भी मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण ८ प्रकारका है—पाँच प्रकारके शरीर, मन, वचन, और प्राणापान। उत्तर गुणनिर्वर्तनाधिकरण काठ, पुस्तक व चित्रादि रूपसे अनेक प्रकारका है ॥ १२ ॥ निक्षेपाधिकरण चार प्रकारका है। कैसे? अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण ॥ १३ ॥ संयोगनिक्षेपाधिकरण दो प्रकारका है। कैसे? भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरण ॥ १४ ॥ निसर्गाधिकरण तीन प्रकारका है। कैसे? कायनिसर्गाधिकरण, वचननिसर्गाधिकरण, और मनोनिसर्गाधिकरण ॥ १५ ॥ तदुभयाधिकरण दश प्रकारका है—विष, लवण, क्षार, कटुक, आम्ल, स्निग्ध, अग्नि और दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय ॥ ५ ॥ (स. सि./६/९/३२७), (भ. आ./वि./८१२/९९७)
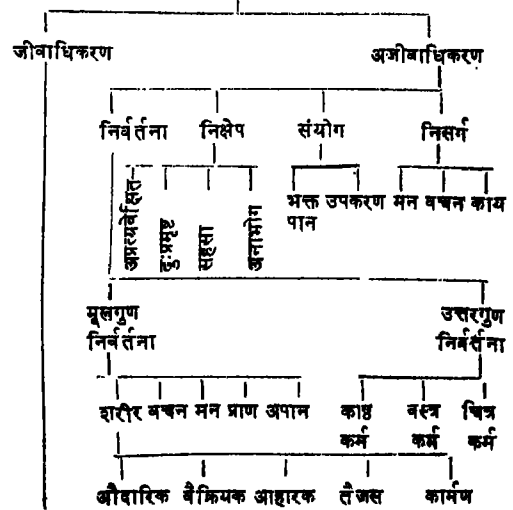
३. निर्वर्तनाधिकरण सामान्य-विशेष

स.सि./६/९/३२६ निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना निष्पादना। निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना। संयुज्यत इति संयोगो मिश्रीकृतम्। निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनम्। =निर्वर्तनाका अर्थ निष्पादना या रचना है। निक्षेपका अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है। संयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है और निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है। (रा.वा. ६/९/२/५१६/१)

भ.आ./वि./८१४/९९७...निक्षिप्यत इति निक्षेपः। उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात्। कुतश्चित्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन षड्जीवनिकायबाधाधिकरणं प्रतिपद्यन्ते। असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्ति न सन्तीति निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणादिकं अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते। दुष्प्रमृष्टमुपकरणादि निक्षिप्यमाणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरणं वा दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणम्। प्रमार्जनोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितं निक्षेपाधिकरणम्। निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—देहो य दुप्पजुत्तो दुःप्रयुक्तं शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यत इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति। उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधानिमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं यस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टानि म्रियन्ते ॥८१४॥ संजोजणमुवकरणाणं उपकरणानां पिच्छादीनां अन्योन्येन संयोजना। शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्डल्वादेर्वा आतपादिपिच्छेन प्रमार्जनं इत्यादिकम्। तहा तथा। पाणभोजणाणं च पानभोजनयोश्च पानेन पानं, भोजनं भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिकं संयोजनं। यस्य संमूर्छनं संभवति सा हिंसाधिकरणत्वेनात्रोपात्ता न सर्वा। दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्गशब्देनोच्यन्ते। =निक्षेप किया जाये उसे निक्षेप कहते हैं। पिच्छी कमण्डलु आदि उपकरण, पुस्तकादि, शरीर और शरीरका मल इनको भयसे सहसा जल्दी फैंक देना, रखना। किसी कार्यमें तत्पर रहनेसे अथवा त्वरासे पिच्छी कमण्डल्वादिक पदार्थ जब जमीन पर रखे जाते हैं तब षट्काय जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवोंको बाधा पहुँचती है। त्वरा नहीं होने पर भी जीव है अथवा नहीं है इसका विचार न करके, देख भाल किये बिना ही उपकरणादि जमीन पर रखना, फैंकना, उसको अनाभोग निक्षेपाधिकरण कहते हैं। उपकरणादिक वस्तु बिना साफ किये ही जमीन पर रख देना अथवा जिसपर उपकरणादिक रखे जाते हैं उसको अर्थात् चौकी जमीन वगैरहको अच्छी तरह साफ न करना, इसको दुष्प्रमृष्ट-निक्षेपाधिकरण कहते हैं। साफ करने पर जीव हैं अथवा नहीं हैं, यह देखे बिना उपकरणादिक रखना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है। शरीरकी असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करना दुःप्रयुक्त कहा जाता है, ऐसा दुःप्रयुक्त शरीर हिंसाका उपकरण बन जाता है। इसलिए इसको देहनिर्वर्तनाधिकरण कहते हैं। जीव-बाधाको कारण ऐसे छिद्र सहित उपकरण बनाना, इसको भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं। जैसे—कांजी वगैरह रखे हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर मर जाते हैं। पिच्छी-कमण्डलु आदि उपकरणोंका संयोग करना, जैसे ठण्डे स्पर्शवाले पुस्तकका धूपसे संतप्त कमण्डलु और पिच्छीके साथ संयोग करना अथवा धूपसे तपी हुई पिच्छीसे कमण्डलु, पुस्तकको स्वच्छ करना आदिको उपकरण संयोजना कहते हैं। जिनसे सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति होगी ऐसे पेयपदार्थ दूसरे पेयपदार्थके साथ संयुक्त करना, अथवा भोज्य पदार्थके साथ पेय पदार्थको संयुक्त करना। जिनसे जीवोंकी हिंसा होती है ऐसा ही पेय और भोज्य पदार्थोंका संयोग निषिद्ध है, इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है। ऐसा भक्तपान संयोजना है। मन, वचन और शरीरके द्वारा दुष्ट प्रवृत्ति करना उसको निसर्गाधिकरण कहते हैं।

४. असमीक्ष्याधिकरण

स.सि./७/३२/३७०असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमसमीक्ष्याधिकरणम्। =प्रयोजनका विचार किये बिना मर्यादाके बाहर अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण है।

रा.वा./७/३२/४,५/५५६/२२ असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम् ॥४॥ अधिरुपरिभावे वर्तते, करोति चापूर्वप्रादुर्भावे प्रयोजनमसमीक्ष्य आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम्। तत्त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात् ॥५॥ तदधिकरणं त्रेधा व्यवतिष्ठते। कुतः। कायवाङ्मनोविषयभेदात्। तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्, वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किंचनवक्तृत्वम्, कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्। अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम्। =प्रयोजनके बिना ही आधिक्य रूपसे प्रवर्तन अधिकरण कहलाता है। मन, वचन और कायके भेदसे वह तीन प्रकारका है। निरर्थक काव्य आदिका चिन्तन मानस अधिकरण है। निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास वाचनिक अधिकरण है। बिना प्रयोजन बैठे या चलते हुए सचित्त या अचित्त पत्र, पुष्प, फलोंका छेदन, भेदन, मर्दन, कुट्टन या क्षेपण आदि करना, तथा अग्नि विष क्षार आदि देना कायिक असमीक्ष्याधिकरण है। (चा./सा./१८/४)

अधिकरण सिद्धान्त—दे० सिद्धान्त।

अधिकारिणी क्रिया—दे० क्रिया/३।

अधिगत—दे० चारित्र/१।

अधिगम—मौखिक उपदेशोंको सुनकर या लिखित उपदेशोंको पढ़कर जीव जो भी गुण दोष उत्पन्न करता है वे अधिगमज कहलाते हैं, क्योंकि वे अधिगम पूर्वक हुए हैं। वे ही गुण या दोष यदि किन्हीं जीवोंमें स्वाभाविक होते हैं, तो उन्हें निसर्गज कहते हैं। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तो दो प्रकारका होता है पर चारित्र केवल अधिगमज ही होता है क्योंकि उसमें अवश्य ही किसीके उपदेशकी या अनुसरणकी आवश्यकता पड़ती है।

१. अधिगम सामान्य

स.सि./१/३/१२ अधिगमोऽर्थावबोधः। =अधिगमका अर्थ पदार्थका ज्ञान है।

रा.वा./१/३/.../२२/१४ अधिपूर्वाद् गमेर्भावसाधनोऽच् अधिगमनमधिगमः। ='अधि' उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातुमें भाव साधन अच् प्रत्यय करने पर अधिगम अर्थात् पदार्थका ज्ञान करना सो अधिगम है।

ध./३/१,२,५/३६/१ अधिगमो णाणपमाणमिदि एगट्ठो। =अधिगम और ज्ञान प्रमाण ये दोनों एकार्थवाची हैं।

रा.वा.हिं/१/६/४३ प्रमाण नय करि भया जो अपने स्वरूपका आकार ताकू अधिगम कहिये।

२. अधिगम सामान्यके भेद

त.सू./१/६ प्रमाणनयैरधिगमः। =जीवादि पदार्थोंका ज्ञान प्रमाण और नयों द्वारा होता है।

स.सि./१/६/३ जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधिगम्यते।... तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। =जीवादि पदार्थोंका स्वरूप प्रमाण और नयोंके द्वारा जाना जाता है। प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। (रा.वा./१/६/४/३३/११)।

स.भ.त./१/६ तत्राधिगमो द्विविधः स्वार्थः परार्थश्चेति ।...स च द्विविधः प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति ॥=अधिगम दो प्रकारका है—स्वार्थ और परार्थ। और वह अधिगम प्रमाण-रूप तथा नय-रूप इन दो भागोंमें विभक्त है।
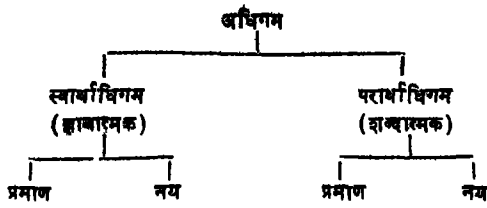
३. स्वार्थाधिगम

स. सि./१/६/३ ज्ञानात्मकं स्वार्थम्। =स्वार्थ अधिगम ज्ञान स्वरूप है।

रा. वा./१/६/४/३३/१२ स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाणनयविकल्पः। =स्वाधिगम हेतु ज्ञानात्मक है जो प्रमाण और नय भेदों वाला है।

स. भ. त./१/२ स्वार्थाधिगमो ज्ञानात्मको मतिश्रुत्यादिरूपः। =स्वार्थाधिगम ज्ञानात्मक है जो मति श्रुत आदि ज्ञान रूप है।

४. परार्थाधिगम

स. सि./१/६/३ वचनात्मकं परार्थम्। =परार्थ अधिगम वचन रूप है।

रा. वा./१/६/४/३३/१२ पराधिगमहेतुर्वचनात्मकः। तेन श्रुताख्येन प्रमाणेन स्याद्वादनयसंस्कृतेन प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गीमन्तो जीवादयः पदार्था अधिगमयितव्याः। =वचन पराधिगम हेतु हैं। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुतके द्वारा जीवादिककी प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूपसे जानी जाती है।

स. भ. त./१/७ परार्थाधिगमः शब्दरूपः। स च द्विविधः–प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति।......अयं द्विविधोऽपि भेदः सप्तधा प्रवर्तते, विधिप्रतिषेधप्राधान्यात्। इयमेव प्रमाणसप्तभङ्गी नयसप्तभङ्गी च कथ्यते। =शब्दात्मक अर्थात् वचन रूप अधिगमको परार्थाधिगम कहते हैं। वह अधिगम प्रमाण और नय रूप है। पुनः विधि प्रतिषेधकी प्रधानतासे ये दोनों भेद सप्त भंगमें विभक्त हैं। इसीको प्रमाणसप्तभङ्गी तथा नयसप्तभङ्गी कहते हैं।

५. निसर्गज सम्यग्दर्शन

स. सि./१/३/१२ यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्। =जो बाह्य उपदेशके बिना होता है, वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। (रा. वा./१/३/५/१३/२३)

श्लो. वा. २/१/३/१३/८५/२८ तत्र प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भव्यस्य दर्शनमोहोपशमादौ सत्यन्तरङ्गे हेतौ बहिरङ्गादपरोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानात्...... प्रजायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं निसर्गजम्......प्रत्येतव्यम्। =निकट सिद्धिवाले भव्य जीवके दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम आदिक अन्तरंग हेतुओंके विद्यमान रहने पर और परोपदेशको छोड़ कर शेष, ऋद्धि दर्शन, जिनबिम्ब दर्शन वेदना आदि बहिरंग कारणोंसे पैदा हुए तत्त्वार्थ-ज्ञानसे उत्पन्न हुआ तत्त्वार्थश्रद्धान निसर्गज समझना चाहिए।

६. अधिगमज सम्यग्दर्शन

स. सि./१/३/१२ यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्। =जो बाह्य उपदेश पूर्वक जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। (रा. वा./१/३/५/१४/२३)

ध. १/१,१,१४४/गा. २१२/३९५ छप्पंच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं। आणाए अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं। =जिनेन्द्र देवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, और नव पदार्थोंका आज्ञा अथवा अधिगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं। (गो. जी./मू./५६१/१००६)

गो. जी./जी. प्र./५६१/१३ तच्छ्रद्धानं......अधिगमेन प्रमाणनयनिक्षेपनिरुक्त्यनुयोगद्वारैः विशेषनिर्णयलक्षणेन भवति। =वह श्रद्धान प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण अर द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय अर नाम स्थापना द्रव्य भाव निक्षेप अर व्याकरणादिकरि साधित निरुक्ति अर निर्देश स्वामित्व आदि अनुयोग इत्यादि करि विशेष निर्णय रूप है लक्षण जाका ऐसा जो अधिगमज श्रद्धान हो है।

प्र. सा./ता. वृ./९३/११८/२८ परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्वं कथं भण्यत इति चेत्। परमोऽर्थः परमार्थः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा, परमार्थस्य विशेषणेन संशयादिरहितत्वेन निश्चयः परमार्थनिश्चयरूपोऽधिगमः। =परमार्थविनिश्चय अधिगमका अर्थ सम्यक्त्व है। सो कैसे?–परम अर्थ अर्थात् परमार्थ अर्थात् शुद्ध बुद्ध एकस्वभावी परमात्मा। परमार्थके विशेषण द्वारा संशयादि रहित निश्चय को परमार्थ निश्चयरूप अधिगम कहा गया है।

७. निसर्गज व अधिगमज सम्यग्दर्शनमें अन्तर

गो. क./जी. प्र./५५०/७४२/२३ निसर्गजेऽर्थावबोधः स्यान्न वा। यदि स्यात्तदा तदप्यधिगमजमेव। यदि न स्यात्तदानवगततत्त्वः श्रद्धत्तेति। तन्न। उभयत्रान्तरङ्गकारणे दर्शनमोहस्योपशमे क्षये क्षयोपशमे वा समाने च सत्याचार्याद्युपदेशेन जातमधिगमजं तद्विना जातं नैसर्गिकमिति भेदस्य सद्भावात्। =प्रश्न—जो निसर्ग विषें पदार्थनिका अवबोध है कि नाहिं, जौ है तो वह भी अधिगमज ही भया अर नाहीं है तो तत्त्वज्ञान बिना सम्यक्त्व कैसे नाम पाया? =उत्तर—दोउनिविषें अन्तरंग कारण दर्शन मोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी समानता है। ताकौं होतैं तहाँ आचार्यादिकका उपदेश करि तत्त्वज्ञान होय सो अधिगम है। तीहिं बिना होइ सो निसर्गज है। यह दोनोंमें अन्तर है।

अन. ध./२/४९/१७६ पर उद्धृत "यथा शूद्रस्य वेदार्थे शास्त्रान्तरसमीक्षणात्। स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं तत्त्वार्थे कस्यचित्तथा।" =जिस प्रकार शूद्र वेदके अर्थका साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ग्रन्थान्तरोंको पढ़कर उसके ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। किसी किसी जीवके तत्त्वार्थ का ज्ञान भी इसी तरहसे होता है। ऐसे जीवोंके गुरूपदेशादिके द्वारा साक्षात् तत्त्वबोध नहीं होता किन्तु उनके ग्रन्थोंके अध्ययन आदिके द्वारा स्वयं तत्त्वबोध और तत्त्वरुचि उत्पन्न हो जाती है।

अन. ध./२/४९/१७६ केनापि हेतुना मोहवैधुर्यात्कोऽपि रोचते। तत्त्वं हि चर्चानायस्तः कोऽपि च क्षोदयन्निधीः। =जिनका मोह वेदना अभिभवादिकोंमें-से किसी भी निमित्तको पाकर दूर हो गया है, सम्यग्दर्शनको घातनेवाली सात प्रकृतियोंका बाह्य निमित्त वश जिनके उपशम क्षय या क्षयोपशम हो चुका है उनमेंसे कोई जीव तो ऐसे होते हैं कि जिनको बिना किसी चर्चाके विशेष प्रयास के ही तत्त्वमें रुचि उत्पन्न हो जाती है। और कोई ऐसे होते हैं कि जो कुछ अधिक प्रयास करने पर ही बाह्य निमित्तके अनुसार मोहके दूर हो जाने पर तत्त्वरुचिको प्राप्त होते हैं। अल्प और अधिक प्रयासका ही निसर्ग और अधिगमज सम्यग्दर्शनमें अन्तर है।

८. सर्व सम्यग्दर्शन साक्षात् या परम्परासे अधिगमज ही होते हैं

श्लो. वा २/१/३/४/६७/२६ न हि निसर्गः स्वभावो येन ततः सम्यग्दर्शनमुत्पाद्यमानुपलब्धतत्त्वार्थगोचरतया रसायनवन्नोपपद्येत। =निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है जिससे कि उस स्वभावसे ही उत्पन्न हो रहा सत्ता सम्यग्दर्शन नहीं जाने हुए तत्त्वार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा से रसायनके समान सम्यग्दर्शन ही न बन सके, अर्थात् रसायनके तत्त्वोंको न समझ करके क्रिया करनेवाले पुरुषके जैसे रसायनकी सिद्धि नहीं हो पाती है।

श्ल. वा २/१/३/२/६३/१३ स्वयंबुद्धश्रुतज्ञानमपरोपदेशमिति चेन्न, तस्य जन्मान्तरोपदेशपूर्वकत्वात् तज्जन्मापेक्षया स्वयंबुद्धत्वस्याविरोधात्। =प्रश्न—जो मुनिमहाराज स्वयंबुद्ध हैं अर्थात् अपने आप ही पूर्ण श्रुतज्ञान को पैदा कर लिया है उन मुनियोंका श्रुतज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा नहीं रखता, अतः उसको निसर्गसे जन्य सम्यग्ज्ञान कह देना चाहिए? (रा. वा. हि./१/३/२८) उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन

प्रत्येक बुद्ध (स्वयंबुद्ध) मुनियोंके भी इस जन्मके पूर्वके दूसरे जन्मों में जाने हुए आप्त उपदेश को कारण मानकर ही इस जन्ममें पूर्ण श्रुतज्ञान हो सका है। इस जन्मकी अपेक्षासे उनको स्वयंबुद्ध होनेमें कोई विरोध नहीं है।

ध. ६/१,९-९/३४/४३१/१ जाइस्सरण-जिणबिंबदंसणेहि बिणा उप्पज्जमाण-णइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो। =जातिस्मरण और जिन-बिम्ब दर्शनके बिना उत्पन्न होनेवाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व असं-भव है।

ल. सा./जी.प्र./६/४ चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारणलाभो वा स देशनालब्धिर्भवति। तुशब्देनोपदेशकररहितेषु नारकादिभवेषु पूर्व-भवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते। =अथवा लम्बे समय पहले तत्त्वोंकी प्राप्ति देशना लब्धि है। तु शब्द करि नारकादि विषैं तहाँ उपदेश देने वाला नाहीं तहाँ पूर्व भवविषैं धार्या हुवा तत्त्वार्थके संस्कार बल तैं सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जाननी। (मो. मा. प्र./७/३८३/८)

प्र. सा./ता. वृ./६३/११९ परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् पर-मार्थविनिश्चयाधिगमम्। =क्योंकि परमार्थसे सम्यक्त्वसे ही अर्थाव-बोध होता है, इसलिए वह सम्यक्त्व हो परमार्थ विनिश्चयाधिगम है।

रा. वा. हिं./१/३/२८-२९ सम्यग्दर्शनके उपजावने योग्य बाह्य परोपदेश पहले होय है, तिस तैं सम्यग्दर्शन उपजै है। पीछे सम्यग्दर्शन होय तब सम्यग्ज्ञान नाम पावै।

★ **सर्वथा नैसर्गिक सम्यक्त्व असम्भव है**—दे० सम्य-ग्दर्शन III/२/१।

९. क्षायिक सम्यक्त्व साक्षात् रूपसे अधिगमज व निसर्गज दोनों होते हैं

श्ल. वा./ २/१/३/२/२०/६४ भाषा "किन्हीं कर्मभूमिया द्रव्य-मनुष्योंको केवली श्रुतकेवलीके निकट उपदेशसे और उपदेशके बिना भी क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है।

१० पाँचों ज्ञानोंमें निसर्गज व अधिगमजपना

रा. वा. हिं./१/३/२८ केवलज्ञान श्रुतज्ञान पूर्वक होता है तातैं निसर्गपना नाहीं। श्रुतज्ञान परोपदेश पूर्वक ही होता है। स्वयंबुद्धके श्रुतज्ञान हो है सो जन्मान्तरके उपदेश-पूर्वक है। (तातैं निसर्गज नाहीं) मति, अवधि, मनःपर्ययज्ञान निसर्गज ही हैं।

११. चारित्र तो अधिगमज ही होता है

श्लो. वा. २/१/३/२/२८/६४ चारित्रं पुनरधिगमजमेव तस्य श्रुतपूर्वकत्वा-त्तद्विशेषस्यापि निसर्गजत्वाभावात् द्विविधहेतुकत्वं संभवति। =चारित्र तो अधिगमसे ही जन्य है। निसर्ग (परोपदेशके बिना अन्य कारण समूह) से उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञानसे जीव आदि तत्त्वोंका निर्णय कर चारित्रका पालन किया जाता है, अतः श्रुतज्ञान पूर्वक ही चारित्र है। इसके विशेष अर्थात् सामायिक, परिहारविशुद्धि आदि भी निसर्गसे उत्पन्न नहीं होते। अतः चारित्र-निसर्ग व अधिगम दोनों प्रकारसे नहीं होता [अपितु अधिगमसे ही होता है।]

रा. वा. हिं/१/३/२८ चारित्र है सो अधिगम ही है तातैं श्रुतज्ञान-पूर्वक ही है।

अधिराज—दे० राजा।

अधोऽधिगम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/९।

अधोमुख—नवम नारद। अपर नाम उन्मुख—दे० शलाकापुरुष/६।

अधोलोक—१. चित्र—दे० लोक/३/२; २. व्याख्या—दे० लोक/७।

अध्यधि—१. आहारका एक दोष—दे० आहार II/४। २. वसति-का एक दोष—दे० वसति।

अध्ययन—दे० स्वाध्याय।

अध्ययन कुशल साधु—भ. आ./वि./४०३/५९२/१ स्वाध्यायं कृत्वा गव्यूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति। यत्र विप्र-कृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां वा मंगलं कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता। =जो मुनि स्वाध्याय कर दो कोस गमन करता है और जहाँ आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रकी वसतिमें जाकर ठहरता है। यदि मार्ग दूर होय तो सूत्रपौरुषी अथवा अर्थपौरुषीके समय मंगल करके आगे गमन करता है। वह स्वाध्याय कुशल मुनि है।

अध्यवधि—१. आहारका दोष।—दे० आहार II/२; २. वसतिका एक दोष।—दे० वसति।

अध्यवसान—स. सा./मू. व. आ./२७१/३५० बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई व विण्णाणं। एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परि-णामो ॥ २७१ ॥ स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितमात्रमध्यवसा-नम्। तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः। व्यवसानमात्रत्वाद् व्यवसायः। मननमात्रत्वान्मतिः। विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानम्। चेतनमात्रत्वाच्चित्तम्। चित्तो भवनमात्रत्वाद् भावः। चित्तः परिणमनमात्रत्वाद् परि-णामः। =बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं। ॥ २७१ ॥ स्व और परका ज्ञान न होनेसे जो जीव की निश्चिति होना यह अध्यवसान है। वही बोध-न मात्रपनसे बुद्धि है, निश्चयमात्रपनसे व्यवसाय है, जानन मात्रपनसे मति है, विज्ञप्तिमात्रपनसे विज्ञान है, चेतन मात्रपनसे चित्त है, चेतनके भवन मात्रपनसे भाव है, और परिणमन मात्रपनसे परिणाम है। अतः सब शब्द एकार्थवाची हैं।

स. सा./ता. वृ./९५/१५२ विकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽ-हमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः।

स. सा./ता. वृ./२७०/३४८ भेदविज्ञानं यदा न भवति तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं नारकोऽहमित्यादि कर्मोदय अध्यव-सानं, धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्वि-कल्प शुद्धात्मनः सकाशाद्भिन्नं न जानातीति।

=ज्ञेय पदार्थका विचार करते समय जब जीव विकल्प करता है तब शुद्धात्म स्वरूपको भूल जाता है। उस विकल्पके होनेपर 'मैं धर्मा-स्तिकाय द्रव्य हूँ' ऐसा विकल्प उपचारसे घटता है—यह भावार्थ है। भेद विज्ञान जब नहीं होता तब 'मैं जीवोंको मारता हूँ' इस प्रकारका हिंसाध्यवसान होता है। 'मैं नारकी हूँ' इस प्रकारका कर्मो-दय अध्यवसान होता है। 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इस प्रकारका ज्ञेय-पदार्थ अध्यवसान होता है।

स्व. स्तो./टी./७/२६ अहमस्य सर्वस्य स्त्र्यादिविषयस्य स्वामीति क्रिया 'अहंक्रिया'। ताभिः प्रसक्तः संलग्नः प्रवृत्तो वा मिथ्या, असत्यो, अध्यवसायो, अभिनिवेशः। ='मैं इन स्त्री आदि सर्व विषयोंका स्वामी हूँ' ऐसी क्रिया 'अहं क्रिया' है। इसके द्वारा प्रसक्त, संलग्न या प्रवृत्त मिथ्या है, असत्य है, अध्यवसाय है, अभिनिवेश है।

२. अध्यवसानके भेद

स. सा./आ./२१७/२९८ इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बन्धनिमित्ताः। यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः। यतरे बन्धनिमित्तास्त-तरे सुखदुःखाद्याः।

स. सा./आ./२७०/३४८ एतानि किल यानि त्रिविधा (अज्ञानादर्शना-चारित्रसंज्ञकानि) अध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्म-बन्धनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्।

—इस लोकमें निश्चयसे अध्यवसानके उदय कितने ही तो संसारके विषय हैं और कितने ही शरीरके विषय हैं। उनमें-से जितने संसारके विषय हैं उतने तो बन्धके निमित्त हैं, और जितने शरीरके विषय हैं उतने उपभोगके निमित्त हैं। वहाँ जितने बन्धके निमित्त हैं, उतने तो राग द्वेष मोहादिक हैं, और जितने उपभोगके निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं। ये पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकारके हैं—अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र। ये सभी शुभ-अशुभ कर्म बन्धके निमित्त हैं; क्योंकि ये स्वयं अज्ञानादि रूप हैं।

३. अध्यवसान विशेषके लक्षण

स. सा./आ./२७०/३४८ एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्मबन्धनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्। तथाहि, यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तदज्ञानमयत्वेन आत्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसान तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। ततो बन्धनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि।—ये पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकारके हैं—अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र। यह सभी शुभअशुभ कर्म बन्धके निमित्त हैं; क्योंकि ये स्वयं अज्ञानादि रूप हैं। किस तरह हैं सो कहते हैं—जो यह 'मैं जीवको मारता हूँ' इत्यादि अध्यवसान है, वह अज्ञानादि रूप है, क्योंकि आत्मा तो ज्ञायक है, इस ज्ञायकपनसे ज्ञप्ति क्रिया मात्र ही (होने योग्य) है (हनन क्रिया नहीं) इसलिए सद्रूप द्रव्य दृष्टिसे किसीसे उत्पन्न नहीं, ऐसा नित्य रूप जानने मात्र ही क्रियावाला है। हनना, घातना, आदि क्रियाएँ हैं वे रागद्वेषके उदयसे हैं। इस प्रकार आत्मा और घातने आदि क्रियाके भेदको न जाननेसे आत्माको भिन्न नहीं जाना, इसलिए 'मैं पर जीवका घात करता हूँ' ऐसा अध्यवसान मिथ्याज्ञान है। इसी प्रकार भिन्नात्माका श्रद्धान न होनेसे मिथ्यादर्शन है। इसी प्रकार भिन्नात्माके अनाचरणसे मिथ्याचारित्र है। 'यह धर्म द्रव्य मुझसे जाना जाता है' ऐसा अध्यवसाय भी अज्ञानादि रूप ही है। आत्मा तो ज्ञानमय होनेसे ज्ञानमात्र ही है, क्योंकि सद्रूप द्रव्य दृष्टिसे अहेतुक ज्ञानमात्र ही एक रूप वाला है। धर्मादिक तो ज्ञेयमय हैं। ऐसा ज्ञान ज्ञेयका विशेष न जाननेसे भिन्नात्माके अज्ञानसे 'मैं धर्म द्रव्यको जानता हूँ' ऐसा भी अज्ञान रूप अध्यवसान है। भिन्नात्माके न देखनेसे श्रद्धान न होनेसे यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है, और भिन्नात्माके अनाचरणसे यह अध्यवसान अचारित्र है। इसलिए ये सभी अध्यवसान बन्धके निमित्त हैं।

स. सा./ता. वृ./२७०/३४८ शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानं यदा न भवति तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं नारकोऽहमित्यादि कर्मोदयाध्यवसानं, धर्मास्तिकायोऽयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मनः सकाशाद्भिन्नं न जानातीति।—शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व अनुचरणरूप निश्चयरत्नत्रय लक्षणवाला भेदज्ञान जब नहीं होता तब 'मैं जीवोंका हनन करता हूँ' इत्यादि हिंसा आदि रूप अध्यवसान होता है। 'मैं नारकी हूँ' इत्यादि कर्मोदयरूप अध्यवसान होता है। 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादि ज्ञेय पदार्थ अध्यवसान होता है। निर्विकल्प शुद्धात्मको इन सबसे भिन्न नहीं जानता है।

४. अध्यवसान भावोंकी अनर्थ कार्यकारिता

स. सा./मू./२६६/३४३ दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि। जा एसा मूढमई णिरत्थया साहु दे मिच्छा ॥२६६॥

स. सा./आ./२६६/३४३ यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव।"

स. सा./ता. वृ./२६६/३४३ सुखितदुःखितान् जीवान् करोमि, बन्धयामि, तथा विमोचयामि या एषा तव मतिः सा निरर्थिका निष्प्रयोजना स्फुटम्। अहो ततः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति।

—भाई! तेरी जो ऐसी मूढबुद्धि है कि मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ, बँधाता हूँ और छुड़ाता हूँ, वह मोहस्वरूप बुद्धि निरर्थक है सत्यार्थ नहीं हैं, इसलिए निश्चयसे मिथ्या है। जो यह अध्यवसान है वह सभी मिथ्या है, क्योंकि परभावका परमें व्यापार न होनेसे स्वार्थ-क्रियाकारीपन नहीं है। परभाव परमें प्रवेश नहीं करता। जैसे कोई ऐसा अध्यवसान करे कि 'मैं आकाश-पुष्पको तोड़ता हूँ' इसी प्रकारके अध्यवसानवत् (वे सब उपर्युक्त भाव भी) मिथ्यारूप हैं, मात्र अपने अनर्थके लिए ही हैं, परका कुछ भी करनेवाले नहीं हैं। मैं जीवोंको सुखी व दुःखी करता हूँ, बँधाता व छुड़ाता हूँ, ऐसी जो तेरी बुद्धि है वह स्पष्टरूपसे निरर्थक व निष्प्रयोजन है। क्योंकि अन्यको दुःखी-सुखी करनेका अन्यका कार्य नहीं है। इसी कारण यह अध्यवसान मिथ्या है, वितथ है, व्यलीक है।

अध्यवसाय स. सा./आ./२५०/३३१ परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।—मैं पर जीवोंको जिलाता हूँ और पर जीव मुझे जिलाते हैं, ऐसा आशय निश्चयसे अज्ञान है। (और भी दे० अध्यवसान)

१. स्थितिबन्ध अध्यवसायस्थान

ध. ११/४,२,६,१६५/३१०/६ सव्वमूलपयडीणं सग-उदयादो समुप्पण्णपरिणामाणं सग-सगट्ठिदिबंधकारणत्तेण ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणं।—सब मूल प्रकृतियोंके अपने-अपने उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनकी ही अपनी-अपनी स्थितिके बन्धमें कारण होनेसे स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान संज्ञा है।

गो. जी./भाषा/३१०/१२ ज्ञानावरणादिक कर्मनि का ज्ञानकौं आवरना इत्यादिक स्वभाव करि संयुक्त रहनेको जो काल ताकौं स्थिति कहिये, तिसके सम्बन्ध कौं कारणभूत जे परिणामनिके स्थान तिनि का नाम स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान है।

२. कषाय व स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमें अन्तर

ध. ११/४,२,६,१६५/३१०/३ [जदि पुण कसायउदयट्ठाणाणि चेव ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि] होंति तो णेदमप्पाबहुगं घडदे, कसायोदयट्ठाणेण विणा मूलपयडिबंधाभावेण सव्वपयडिट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणं समाणत्तप्पसंगादो। तम्हा सव्वमूलपयडीणं सग-सग-उदयादो समुप्पण्णपरिणामाणं सग-सगट्ठिदिबंधकारणत्तेण ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणं।—यदि कषायोदय स्थान ही स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान हों तो यह अल्पबहुत्व घटित नहीं हो सकता है क्योंकि कषायोदय स्थानके बिना मूल प्रकृतियोंका बन्ध न हो सकनेसे सभी मूल प्रकृतियोंके स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थानोंकी समानताका प्रसंग आता है। अतएव सब मूल प्रकृतियोंके अपने-अपने उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनकी अपनी-अपनी स्थितिके बन्धमें कारण होनेसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान संज्ञा है।

४. अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थानोंमें हानि वृद्धि रचना

ध./६/१,९-७,४३/२००/३ सव्वट्ठिदिबंधट्ठाणाणं एक्केक्कट्ठिदिबंधट्ठाणाणं एक्केक्कट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणस्स हेट्ठा छवड्ढिकमेण असंखेज्ज-

लोगमेत्ताणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि होंति। ताणि च जहण्णकसाउदयअणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणप्पहुडि उवरि जाव जहण्णट्ठिदि-उक्कस्सकसाउदयट्ठाणअणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि त्ति विसेसाहियाणि। विसेसो पुण असंखेज्जा लोगा। = सर्व स्थिति-बन्धों सम्बन्धी एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानके नीचे उपर्युक्त षड्वृद्धिके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं। वे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान जघन्य कषायोदय सम्बन्धी अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे लेकर ऊपर जघन्य स्थितिके उत्कृष्ट कषायोदयस्थानसम्बन्धी अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तक विशेष विशेष अधिक हैं। यहाँ पर विशेषका प्रमाण असंख्यात लोक है।

५. अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थानमें गुणहानि शलाका सम्बन्धी दृष्टिभेद

गो. क./जी.प्र./६६४/११११/४ अनुभागबन्धाध्यवसायानां नानागुणहानिशलाकाः सन्ति न सन्तीत्युपदेशद्वयमस्ति। = अनुभाग बन्धाध्यवसायनि के नाना गुणहानि शलाका हैं वा नाही हैं ऐसा आचार्यनि के मतकरि दोऊ उपदेश हैं।

६. स्थिति बन्ध अध्यवसायस्थानोंमें हानि-वृद्धि रचना

ध.६/१,६-७,४३/१९९/४ एक्केक्कस्स ट्ठिदिबंधट्ठाणस्स असंखेज्जा लोगा ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि जहाकमेण विसेसाहियाणि। विसेसो पुण असंखेज्जा लोगा।...ताणि च ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि जहण्णट्ठाणादो जावप्पप्पणो उक्कस्सट्ठाणं ताव अणंतभागवड्ढी असंखेज्जभागवड्ढी, संखेज्जभागवड्ढी, संखेज्जगुणवड्ढी, असंखेज्जगुणवड्ढी, अणंतगुणवड्ढी त्ति छव्विधाए वड्ढीए ट्ठिदाणि। अणंतभागवड्ढिकंडयं गंतूण, एगा असंखेज्जभागवड्ढी होदि। असंखेज्जभागवड्ढिकंडयं गंतूण एगा संखेज्जभागवड्ढी होदि। संखेज्जभागवड्ढिकंडयं गंतूण एगा संखेज्जगुणवड्ढी होदि। संखेज्जगुणवड्ढिकंडयं गंतूण एगा असंखेज्जगुणवड्ढी होदि। असंखेज्जगुणवड्ढिकंडयं गंतूण एगा अणंतगुणवड्ढि होदि। एदमेगं छट्ठाणं। एरिसाणि असंखेज्जलोगमेत्ताणि छट्ठाणाणि होंति। = एक एक स्थिति बन्धस्थानके असंख्यात लोक प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान होते हैं। जो कि यथाक्रमसे विशेष विशेष अधिक हैं। इस विशेषका प्रमाण असंख्यात लोक है।...वे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान जघन्य स्थानसे लेकर अपने अपने उत्कृष्ट स्थान तक अनन्तभागवृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, इस ६ प्रकार की वृद्धिसे अवस्थित हैं। अनन्तभाग वृद्धिकाण्डक जाकर अर्थात् सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग मात्र बार अनन्तभागवृद्धि हो जानेपर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है। असंख्यात भागवृद्धि काण्डक जाकर एक बार संख्यात भागवृद्धि होती है। संख्यात भागवृद्धिकाण्डक जाकर एक बार संख्यातगुणवृद्धि होती है। संख्यातगुणवृद्धिकाण्डक जाकर एक बार असंख्यात गुणवृद्धि होती है। असंख्यात गुणवृद्धिकाण्डक जाकर एक बार अनन्तगुण वृद्धि होती है। (यहाँ सर्वत्र काण्डकसे अभिप्राय सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग मात्र बारोंसे है) यह एक षड्वृद्धि रूप स्थान है। इस प्रकारके असंख्यात लोकमात्र षड्वृद्धिरूप स्थान उन स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंके होते हैं।

७. पहले पहलेवाले स्थितिबन्ध अध्यवसायस्थान अगले अगले स्थानोंमें नहीं पाये जाते

ध. ११/४,२,६,२७०/३६४/५ जाणि बिदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि ताणि तदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणेसु होंति त्ति ण घेत्तव्वं, पढमखंडज्झवसाणट्ठाणाणं तदियट्ठिदिअज्झवसाणट्ठाणेसु अणुवलंभादो। = जो स्थिति बन्ध अध्यवसाय स्थान (कर्मको) द्वितीय स्थिति (बन्ध) में हैं, वे तृतीय स्थितिके अध्यवसायस्थानोंमें (भी) होते हैं, ऐसा नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि द्वितीय स्थितिके प्रथम खण्ड सम्बन्धी अध्यवसायस्थान तृतीय स्थितिके अध्यवसायस्थानोंमें नहीं पाये जाते हैं।

८. स्थिति व अनुभाग बन्ध अध्यवसायस्थानोंमें परस्पर सम्बन्ध

ध. ६/१,६-७,४३/२००/३ सव्वट्ठिदिबंधट्ठाणाणं एक्केक्कट्ठिदिबन्धज्झवसाणट्ठाणस्स हेट्ठा छवड्ढिकमेण असंखेज्जलोगमेत्ताणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि होंति। = सर्व स्थिति बन्धों सम्बन्धी एक-एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानके नीचे उपर्युक्त षड्वृद्धिके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं।

९. अनुभाग अध्यवसायस्थानोंमें परस्पर सम्बन्ध—

१. मूल प्रकृति—दे० म. बं. ४/३७१-३८६/१६८. २. उत्तर प्रकृति—दे० म. बं.५/६२६-६५८/३७२।

अध्यात्म—स. सा./ता. वृ./परि./पृ. ५२५ निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्। = अपने शुद्धात्मामें विशुद्धताका आधारभूत अनुष्ठान या आचरण अध्यात्म है।

पं. का./ता. वृ./परि./पृ. २५५/१० अर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते। = अभेद रूप रत्नत्रयके प्रतिपादक अर्थ और पदोंके अनुकूल जहाँ व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्म शास्त्र कहते हैं।

द्र. सं./टी/५७/२३८ मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यनुष्ठानं तदध्यात्ममिति। = मिथ्यात्वरागादि समस्त विकल्प समूहके त्याग द्वारा निज-शुद्धात्मामें जो अनुष्ठान प्रवृत्ति करना, उसको अध्यात्म कहते हैं।

सू. पा./६/पं जयचन्द "जहाँ एक आत्माके आश्रय निरूपण करिये सो अध्यात्म है।"

अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पं० राजमल्लजी (ई १५४६–१६०५) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ।

अध्यात्मनय—दे० नय I/१।

अध्यात्मपदटीका—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६–१५५६) द्वारा रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

अध्यात्मपद्धति—दे० पद्धति।

अध्यात्मरहस्य—आ० समन्तभद्र (ई. श. १) कृत स्वयंभू स्तोत्र में भगवान् सुपार्श्वनाथकी स्तुतिके अन्तर्गत भवितव्यकी अलंघ्य शक्तिका उल्लेख है। उसी श्लोक पर यह पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित टीका है जिसमें भवितव्य व पुरुषार्थका सुन्दर समन्वय किया गया है।

अध्यात्मसंदोह—आचार्य योगेन्द्रदेव (ई. श. ६) द्वारा विरचित प्राकृत छन्द बद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

अध्यात्म स्थान—स. सा./आ./५२/९४/६—यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य। = स्वपरके एकत्वका अध्यास होनेपर विशुद्ध चैतन्य परिणामसे भिन्न लक्षणवाले अध्यात्म स्थान भी जीवके लक्षण नहीं हैं।

अध्यारोप—१. एक बातको भूलसे दूसरी जगह लगाना; २. मिथ्या या निराधार कल्पना।

अभ्यास—स. सा./आ./५२/१४/ ६ यानि स्वपरैकत्वाभ्यासे सति...। =स्व परके एकत्व का अभ्यास होनेपर।

अध्रुव—१. मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४। २. अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

अध्वर—म.पु./६७/११३ यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः। मह इत्यपि पर्याय वचनान्यर्चनाविधेः। =याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द हैं।

अध्वान—ध. ८/३,५/ गा. २/८/२३ अध्वान अर्थात् बन्धसीमा। किस गुणस्थान तक बन्ध होता है।]

अनंगक्रीडा—रा.वा./७/२८/३/५५४/३१ अङ्गं प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजननविकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थः। =लिंग तथा भग या योनि अंग है। इससे दूसरे स्थानमें क्रीड़ा व केलि सो अयोग्य अंगसे क्रीड़ा है अर्थात् काम सेवन के योग्य अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंमें वा अन्य रीतिसे क्रीड़ा करना सो अनंगक्रीड़ा है॥

अनंत—द्रव्यों, पदार्थों व भावों तककी संख्याओंका विचित्र प्रकारसे निरूपण करनेका ढंग सर्वज्ञ मतसे अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। ये संख्याएँ गणनाको अतिक्रान्त करके वर्तनेके कारण असंख्यात व अनंत द्वारा प्ररूपित की जाती हैं। यद्यपि अनन्त संख्याको जानना अल्पज्ञके लिए सम्भव नहीं है फिर भी उसमें एक दूसरेकी अपेक्षा तरतमता दर्शाकर बड़ी योग्यताके साथ उसका अनुमान कराया जाता है।

१. अनंतके भेद व लक्षण

१. अनंत सामान्यका लक्षण

स. सि./५/१/२७५ अविद्यमानोऽन्तो येषां ते अनन्ताः। =जिनका अन्त नहीं है, वे अनन्त कहलाते हैं।

स. सि./८/१/३८६ अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्। =अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है।

ध./१/१,१,१४०/३९२/६ न हि सान्तस्यानन्त्यं विरोधात्। सव्ययस्य निरायस्य राशेः कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गः। सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति। =सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परन्तु उसमें आय नहीं है, तो उसको अनन्तपन कैसे बन सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना जावे तो एकको भी अनन्तपनेका प्रसंग आ जायेगा। व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता है यह एकान्त नियम है।

ध./३/१,२,५३/२६७/५ जो रासी एगेगरूवे अवणिज्जमाणे णिट्ठादि सो असंखेज्जो। जो पुण ण समप्पइ सो रासी अणंतो। =एक-एक संख्याके घटाते जानेपर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है। (ध. ३/१.२.२/१५/८) (ध./१४/५.६.२२८/२३५/६)।

२. अनंतके भेद-प्रभेद

ध.३/१,२,२/गा,८/११/७ णामं ट्ठवणा दवियं सस्सद गणणापदेसियमणंतं। एगो उभयादेसो वित्थारो सव्वभावो य। =नामानन्त, स्थापनानन्त, द्रव्यानन्त, शाश्वतानन्त, गणनानन्त, अप्रदेशिकानन्त, एकानन्त, उभयानन्त, विस्तारानन्त, सर्वानन्त, और भावानन्त इस प्रकार अनन्तके ग्यारह भेद हैं।

ध.३/१,२,२/पृ०/पं० तं दव्वाणंतं तं दुविहं आगमदो णोआगमदो य। १२/३:—तं णोआगमदो दव्वाणंतं तं तिविहं, जाणुगसरीरदव्वाणंतं भवियदव्वाणंतं तव्वदिरित्तदव्वाणंतं चेदि। १३/३:—तं दव्वादिरित्तदव्वाणंतं तं दुविहं, कम्माणंतं णोकम्माणंतमिदि। १५/१:—तं भावाणंतं तं दुविहं आगमदो णोआगमदो य/१६।१:—तं गणणाणंतं तं पि तिविहं, परित्ताणंतं जुत्ताणंतं अणंताणंतमिदि। १८/३:—तं अणंताणंतं तं पि तिविहं, जहण्णमुक्कस्सं मज्झिममिदि। १९/२। =द्रव्यानन्त आगम व नोआगमके भेदसे दो प्रकारका है। नोआगम द्रव्यानन्त तीन प्रकारका है—ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यानन्त, भव्य नोआगम द्रव्यानन्त, तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त। तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त दो प्रकारका है—कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त, और नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यानन्त। आगम और नोआगमकी अपेक्षा भावानन्त दो प्रकारका है। गणनानन्त तीन प्रकारका है—परीतानन्त, युक्तानन्त, और अनन्तानन्त। और उपलक्षणसे परीतानन्त व युक्तानन्त भी तीन प्रकारका है—जघन्य अनन्तानन्त, उत्कृष्ट अनन्तानन्त और मध्यम अनन्तानन्त। (ति. प./४/३११) (रा. वा./३/३८/५/१५/२०६-२०७)
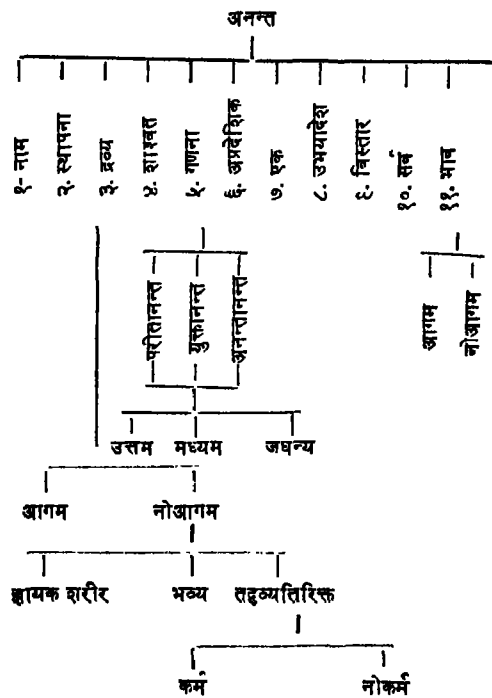
३. नामादि ११ भेदोंके लक्षण

ध. ३/१,२,२/११-१६/१ णामाणंतं जीवाजीवमिस्सदव्वस्स कारणणिरवेक्खा सण्णा अणंता इदि। जं तं ट्ठवणाणंतं णामं तं कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेणकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा अक्खो वा वराडयो वा जे च अण्णे ट्ठवणाए ट्ठविदा अणंतमिदि तं सव्वं ट्ठवणाणंतं णाम।...आगमो गंथो सुदणाणं सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो...तत्थ आगमदो दव्वाणंतं अणंतपाहुड जाणओ अणुवजुत्तो। आगमादण्णो णोआगमो। तत्थ जाणुगसरीरदव्वाणंतं अणंतपाहुड-

आणुगसरीरं तिकालजादं।…भवियाणंतं तं अणंतप्पाहुडजाणुगभावी जीवो…जं तं कम्माणंतं तं कम्मस्स पदेसा। जं तं णोकम्माणंतं तं कडय-रूजगदीव समुद्दादि एयपदेसादि पोग्गलदव्वं वा।…। जं तं सस्सदाणंतं तं धम्मादिदव्वगयं। कुदो। सासयत्तेण दव्वाणं विणासाभावादो। जं तं गणणाणंतं तं बहुवण्णणीयं सुगमं च। जं तं अपदेसियाणंतं तं परमाणू।…एकप्रदेशे परमाणौ तद्व्यतिरिक्तापरो द्वितीयः प्रदेशोऽन्तव्यपदेशभाक् नास्तीति परमाणुरप्रदेशानन्तः।… जं तं एयाणंतं तं लोगमज्झादो एगसेढिं पेक्खमाणे अंताभावादो एयाणंतं।…जहा अपारो सागरो, अथाहं जलमिदि। जं तं उभयाणंतं तं तधा चेव उभयदिसाए पेक्खमाणे अंताभावादो उभयादेसणंतं। जं तं वित्थाराणंतं तं पदरागारेण आगासं पेक्खमाणे अंताभावादो भवदि। जं तं सव्वाणंतं तं घणागारेण आगासं पेक्खमाणे अंताभावादो सव्वाणंतं भवदि।…आगमदो भावाणंतं अणंतपाहुडजाणगो उवजुत्तो। जं तं णोआगमदो भावाणंतं तं तिकालजादं अणंतपज्जयपरिणदजीवादिदव्वं। = १. **नामानन्त**—कारणके बिना ही जीव अजीव और मिश्र द्रव्यकी 'अनन्त' ऐसी संज्ञा करना नाम अनन्त है (११/६)। २. **स्थापनानन्त**—काष्ठ कर्म, चित्रकर्म, पुस्त (वस्त्र) कर्म, लेप्यकर्म, लेनकर्म, शैलकर्म, भित्तिकर्म, गृहकर्म, भेंडकर्म, अथवा दन्तकर्म में अथवा अक्ष (पासा) हो या कौड़ी हो, अथवा कोई दूसरी वस्तु हो उसमें 'यह अनन्त है' इस प्रकारकी स्थापना करना स्थापनानन्त है। (११।६) ३. **द्रव्यानन्त**—द्रव्यानन्त आगम नोआगमके भेदसे दो प्रकारका है। आगम, ग्रन्थ, श्रुतज्ञान, सिद्धान्त और प्रवचन ये एकार्थवाची शब्द हैं। (१२/३) १. आगम द्रव्यानन्त—अनन्त विषयक शास्त्रको जाननेवाले परन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यानन्त कहते हैं। (१२/११) २. नोआगम द्रव्यानन्त—[वह नोआगम द्रव्यानन्त तीन प्रकारका है—ज्ञायक शरीर, भव्य, और तद्व्यतिरिक्त] उनमें-से अनन्त विषयक शास्त्रको जाननेवाले (जीव) के तीनों कालोंमें होनेवाले शरीरको ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यानन्त कहते हैं। (१२/३) जो जीव भविष्यकालमें अनन्त विषयक शास्त्रको जानेगा उसे भावि नोआगम द्रव्यानन्त कहते हैं। तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त दो प्रकारका है—कर्म तद्व्यतिरिक्त और नोकर्म तद्व्यतिरिक्त। ज्ञानावरणादिक आदि आठ कर्मोंके प्रदेशोंको कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यानन्त कहते हैं। कटक (कंकण) रुचक (ताबीज) द्वीप और समुद्रादिक अथवा एकप्रदेशादिक पुद्गल द्रव्य ये सब नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यानन्त हैं। (१५।१) ४. **शाश्वतानन्त**—शाश्वतानन्त धर्मादि द्रव्योंमें रहता है, क्योंकि धर्मादि द्रव्य शाश्वतिक होनेसे उनका कभी भी विनाश नहीं होता। …अन्त विनाशको कहते हैं। जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं होता उसको अनन्त कहते हैं। (१५/४) ५. **गणनानन्त**—गणनानन्त बहुवर्णनीय है तथा सुगम है (दे० आगे पृथक् लक्षण) ६. **अप्रदेशानन्त**—एक परमाणुको अप्रदेशानन्त कहते हैं।…क्योंकि, एक प्रदेशी परमाणुमें उस एक प्रदेशको छोड़कर 'अन्त' इस संज्ञाको प्राप्त होनेवाला दूसरा प्रदेश नहीं पाया जाता है, इसलिए परमाणु अप्रदेशानन्त है। (१५।६) ७. **एकानन्त**—लोकके मध्यसे आकाशके प्रदेशोंकी एक श्रेणीको (एक दिशामें) देखनेपर उसका अन्त नहीं पाया जाता, इसलिए उसको एकानन्त कहते हैं—जैसे अथाह समुद्र, अथाह जलादि। Unidirectional infinite (ज. प./प्र.१०५) ८. **उभयानन्त**—लोकके मध्यसे आकाश प्रदेश पंक्तिको दो दिशाओंमें देखनेपर उनका अन्त नहीं पाया जाता है, इसलिए उसे उभयानन्त कहते हैं। ९. **विस्तारानन्त**—आकाशको प्रतर रूपसे देखनेपर उसका अन्त नहीं पाया जाता इसलिए उसे विस्तारानन्त कहते हैं। (१६/७) १०. **सर्वानन्त**—आकाश को घन रूपसे देखनेपर उसका अन्त नहीं पाया जाता इसलिए उसे सर्वानन्त कहते हैं। (१६/८) ११. **भावानन्त**—आगम और नोआगमकी अपेक्षा भावानन्त दो प्रकारका है। १. आगम भावानन्त—अनन्त विषयक शास्त्रको जानने वाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे उपयुक्त जीवको आगम भावानन्त कहते हैं। २. नोआगम भावानन्त—त्रिकाल जात अनन्त पर्यायोंसे परिणत जीवादि द्रव्यको नोआगम भावानन्त कहते हैं।

४. जघन्यादि परीतानन्तके लक्षण

रा. वा./३/३८/५/२०७/७ यज्जघन्या संख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं प्राप्नोति। ततो धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशप्रत्येकशरीरजीवबादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगविभागपरिच्छेदरूपाणि चासंख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयांश्च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तराशौ त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं कृत्वा उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्तं गत्वा पतितम्।…यज्जघन्यपरीतानन्तं तत्पूर्ववद्वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतानन्तं तद्भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टपरीतानन्तम्। = जघन्य संख्येयासंख्येय (देखो असंख्यात) को विरलन कर पूर्वोक्त विधिसे (दे० नीचे) तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर भी उत्कृष्ट संख्येयासंख्येय नहीं होता। इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येक शरीर, जीव, बादर निगोद शरीर ये छहों असंख्येय, स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, योगके अविभाग प्रतिच्छेद, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोंको जोड़कर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयको उल्लंघकर जघन्यपरीतानन्तमें जाकर स्थित होता है।…यह जो जघन्य परीतानन्त उसको पूर्ववत् वर्गितसंवर्गित करनेपर उत्कृष्ट परीतानन्तको उल्लंघकर जघन्य युक्तानन्तमें जाकर गिरता है। उसमें-से एक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतानन्त हो जाता है। मध्यम परीतानन्त इन दोनों सीमाओंके बीचमें अजघन्य व अनुत्कृष्ट रूपवाला है। (ति. प./४/३१०/१८१) (त्रि. सा./४५-४६)।

५. वर्गित संवर्गित करनेकी प्रक्रिया

ध./५/प्र.२३ (ध. ३/१,२,२/२०)
अ अ ज = जघन्य असंख्यातासंख्यात

[यही राशि]

$$\text{यदि 'क'} = \left[\left\{ (अ\ अ\ ज)^{(अ\ अ\ ज)} \right\}^{\left\{ (अ\ अ\ ज)^{(अ\ अ\ ज)} \right\}} \right]$$

'ख' = क + (धर्म व अधर्म द्रव्य तथा एक जीव व लोकाकाशके प्रदेश + प्रत्येक शरीर जीव + बादर निगोद शरीर ये छह)

$$\text{'ग'} = \left[\left\{ (ख)^{(ख)} \right\}^{\left\{ (ख)^{(ख)} \right\}} \right] + \text{४ निम्नराशि}$$

४ राशि = स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान + अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान + योगके अविभाग प्रतिच्छेद + उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंके कुल समय।

$$\text{तो जघन्य परीतानन्त} = \text{न.प.ज.} \left[\left\{ (\text{ग}^{\text{ग}})^{(\text{ग}^{\text{ग}})} \right\}^{\left\{ (\text{ग}^{\text{ग}})^{(\text{ग}^{\text{ग}})} \right\}} \right]$$
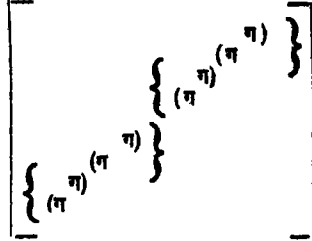
मध्यम परीतानन्त = न.प.म. = > न.प.ज. किन्तु < न.प.उ. अर्थात् न.प.ज.से बड़ा और न.प.उ. से छोटा।

उत्कृष्ट परीतानन्त = न.प.उ.—न.यु.ज.—१

६. जघन्यादि युक्तानन्तके लक्षण

रा.वा./३/३८/५/२०७/१५ यज्जघन्यपरीतानन्तं तत्पूर्ववद्वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्तं गत्वा पतितम्।...यज्जघन्ययुक्तानन्तं तद्विरलीकृत्यैकैकरूपे जघन्ययुक्तानन्तं दत्त्वा सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तानन्तमतीत्य जघन्यमनन्तानन्तं गत्वा पतितम्। तद् एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तानन्तं भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तम्। = जघन्य परीतानन्त पूर्ववद् वर्गित, संवर्गित उत्कृष्ट परीतानन्तको उल्लंघ कर जघन्य युक्तानन्तमें जाकर स्थित होता है।...इस जघन्य युक्तानन्तको विरलन कर प्रत्येक पर जघन्ययुक्तानन्तको रख उन्हें परस्पर वर्ग करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्तको उल्लंघकर जघन्य परीतानन्तको प्राप्त होता है अर्थात् $(\text{जघन्य युक्तानन्त})^{(\text{जघन्य युक्तानन्त})}$ यह राशि जघन्य अनन्तानन्तके बराबर है। इसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। मध्यम युक्तानन्त इन दोनोंकी सीमाओंके बीचमें अजघन्य व अनुत्कृष्ट रूप है। (ति.प./४/३११) (त्रि. सा./४६-४७)

७. जघन्यादि अनन्तानन्तके लक्षण

रा.वा./३/३८/५/२०७/१६ यज्जघन्ययुक्तानन्तं तद्विरलीकृत्यात्रैकैकरूपे जघन्ययुक्तानन्तं दत्त्वा सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तानन्तमतीत्य जघन्यानन्तानन्तं गत्वा पतितम्।...यज्जघन्यानन्तानन्तं तद्विरलीकृत्य पूर्ववत्त्रीन्वारात् वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टानन्तानन्तं न प्राप्नोति, ततः सिद्धनिगोतजीववनस्पतिकायातीतानागतकालसमय सर्वपुद्गलसर्वाकाशप्रदेशधर्माधर्मास्तिकायागुरुलघुगुणानन्तात् प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य त्रीन् वारान् वर्गितसंवर्गिते कृते उत्कृष्टानन्तानन्तं न प्राप्नोति ततोऽनन्ते केवलज्ञाने दर्शने च प्रक्षिप्ते उत्कृष्टानन्तानन्तं भवति। तद् एकरूपेऽपनीतेऽजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तं भवति। = जघन्य युक्तानन्तको विरलन कर प्रत्येक पर जघन्य युक्तानन्तको रख उन्हें परस्पर वर्ग करने पर अर्थात् $(\text{जघन्य युक्तानन्त})^{(\text{जघन्य युक्तानन्त})}$ उत्कृष्ट युक्तानन्तसे आगे जघन्य अनन्तानन्तमें जाकर प्राप्त होता है...इस जघन्य अनन्तानन्तको पूर्ववद् विरलीकृत कर तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त नहीं होता है। उसमें सिद्ध जीव, निगोद जीव, वनस्पति काय वाले जीव, अतीत व अनागत कालके समय, सर्व पुद्गल, सर्व आकाश प्रदेश, धर्म व अधर्मास्तिकाय द्रव्योंके अगुरुलघु गुणोंके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद जोड़ें। फिर तीन बार वर्गित संवर्गित करें। तब भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता है। अतः उसमें केवलज्ञान व केवलदर्शनको (अर्थात् इनके सर्व अविभागी प्रतिच्छेदोंको) जोड़ें, तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। उसमें से एक कम करने पर अजघन्योत्कृष्ट या मध्यम अनन्तानन्त होता है। (ति.प./४/३११) (ध. ३/१,२,२/१८/५) (त्रि.सा./४७-५१) (ध.५/प्र. २४) जघन्य अनन्तानन्त = न.न.ज.।
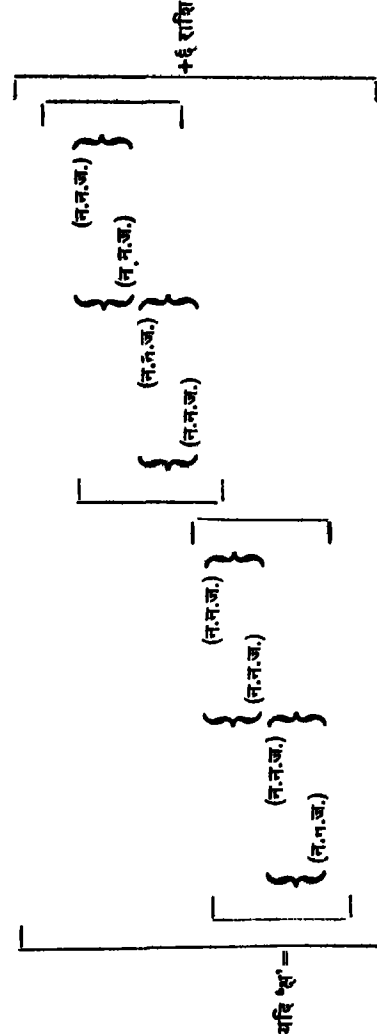
६: राशि = सिद्ध + साधारण वनस्पति निगोद + वनस्पति काय + अतीत व अनागत कालके समय या व्यवहार काल + पुद्गल + अलोकाकाश।

$$\text{'त्र'} = \left[\left\{ (\text{क्ष. क्ष.})^{(\text{क्ष. क्ष.})} \right\}^{\left\{ (\text{क्ष. क्ष.})^{(\text{क्ष क्ष})} \right\}} \right] + \text{दो राशि}$$

दो राशि = धर्म व अधर्म द्रव्यके अगुरुलघु गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेद।

$$\text{'ज्ञ'} = \left[\left\{ (\text{ज्ञ}^{\text{ज्ञ}})^{(\text{ज्ञ}^{\text{ज्ञ}})} \right\}^{\cdot^{\cdot^{\left\{ (\text{ज्ञ}^{\text{ज्ञ}})^{(\text{ज्ञ}^{\text{ज्ञ}})} \right\}}}} \right]$$
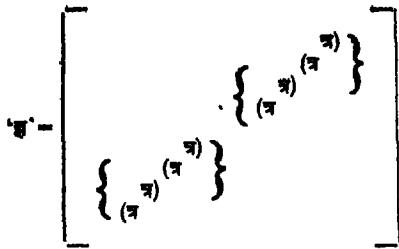
तब केवल ज्ञान राशि > 'ज्ञ'

उत्कृष्ट अनन्तानन्त = न.न.उ. = केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद = ज्ञ + ज्ञ = केवलज्ञान ।

२. अनन्त निर्देश

१. अनन्त वह है जिसका कभी अन्त न हो ।

ध./१/१,१,१४१/३६२/६ न हि सान्तस्यानन्त्यं विरोधात्। सव्ययनिरायस्य राशेः कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गः। सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति स्वसंख्येयासंख्येय भागव्ययस्य राशेरनन्तस्यापेक्षया तद्द्वित्र्यादिसंख्येयराशिव्ययतो न क्षयोऽपीत्यभ्युपगमात्। अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि क्षय दर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेन्न, उभयोर्भिन्ननिबन्धतः प्राप्तानन्तयोः साम्याभावतोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्याभावात्। तद्यथा अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालः सक्षयोऽप्यनन्तः छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। केवलमनन्तस्तद्विषयत्वाद्वा। जीवराशिस्तु पुनः संख्येयराशिक्षयोऽपि निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति। किं च सव्ययस्य निरवशेषक्षयेऽभ्युपगम्यमाने कालस्यापि निरवशेषक्षयो जायेत सव्ययत्वं प्रत्यविशेषात्। अस्तु चेन्न, सकलपर्यायक्षयतोऽशेषस्य वस्तुनः प्रक्षीणस्वलक्षणस्याभावापत्तेः। = जो राशि सान्त होती है उसमें अनन्तपन नहीं बन सकता है, क्योंकि सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परन्तु इसमें आय नहीं होती है तो उसको अनन्तपन कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं क्योंकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना जावे तो एकको भी अनन्त माननेका प्रसंग आ जायेगा। व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता, यह एकान्त नियम है, इसलिए जिसके संख्यातवें और असंख्यातवें भागका व्यय हो रहा है ऐसी राशिका, अनन्तकी अपेक्षा उसकी दो तीन आदि संख्यात राशिके व्यय होनेसे भी क्षय नहीं होता है, ऐसा स्वीकार किया है। प्रश्न—अर्ध पुद्गल परिवर्तन रूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है। इसलिए भव्य राशिके क्षय न होनेमें जो अनन्त रूप हेतु दिया है वह व्यभिचरित हो जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न कारणोंसे अनन्तपनको प्राप्त भव्य राशि और अर्धपुद्गल परिवर्तन काल वास्तवमें अनन्त रूप नहीं है। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं।—अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल क्षय सहित होते हुए भी इसलिए अनन्त है कि छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है। किन्तु केवलज्ञान वास्तवमें अनन्त है। अथवा अनन्तको विषय करनेवाला होनेसे वह अनन्त है। जीव राशि तो, उसका संख्यातवें भाग रूप राशिके क्षय हो जाने पर भी निर्मूल नाश नहीं होनेसे, अनन्त है। अथवा ऊपर जो भव्य राशिके क्षय होनेमें अनन्त रूप हेतु दे आये हैं, उसमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी उपलब्धि नहीं होती है, इस अपेक्षाके बिना ही, यह विशेषण लगा देनेसे अनैकान्तिक दोष नहीं आता है। दूसरे व्यय सहित अनन्तके सर्वथा क्षय मान लेने पर कालका भी सर्वथा क्षय हो जायेगा, क्योंकि व्यय सहित होनेके प्रति दोनों समान हैं। प्रश्न—यदि ऐसा ही मान लिया जाये तो क्या हानि है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे दूसरे द्रव्योंकी स्वलक्षण रूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायेगा। और इसलिए समस्त वस्तुओंके अभावकी आपत्ति आ जायेगी। (ध.४/१,५,४/३३८/४)

स.म./२१/श्लो० २ में उद्धृत/३३२/५ अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्। वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः ॥२॥ = अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न कभी घटती है, और न समाप्त होती है।

द्र.सं./टी./३७/१५७ यथा भाविकाले समयानां क्रमेण गच्छतां यद्यपि भाविकालसमयराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति। तथा मुक्तिं गच्छतां जीवानां यद्यपि जीवराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति। = क्रमसे जाते हुए जो भविष्यत् कालके समय, उनसे यद्यपि भविष्यत्कालके समयोंकी राशिमें कमी होती है, फिर भी उस समय-राशिका कभी अन्त न होगा, इसी प्रकार मुक्तिमें जाते हुए जीवोंसे यद्यपि जगत्‌में जीवराशिकी न्यूनता होती है तो भी उस राशिका अन्त नहीं होता।

२. अनन्तकी सिद्धि

रा.वा./५/६/३-५/४५२/३४ न च तेन परिच्छिन्नमित्यतः सान्तम्। अनन्तेनानन्तमिति ज्ञातत्वात्।...नात्र सर्वे प्रवादिनो विप्रतिपद्यन्ते केचित्तावदाहुः—'अनन्ता लोकधातवः' इति। अपरे मन्यन्ते—दिक्कालात्माकाशानां सर्वगतत्वाद् अनन्तत्वमिति। इतरे ब्रुवते-प्रकृति-पुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। न चैतेषामनन्तत्वादपरिज्ञानम्, नापि परिज्ञानत्वमात्रादेव तेषामन्तवत्त्वम्।...यस्य अर्थानामानन्त्यमपरिज्ञातकारणं तस्य सर्वज्ञाभावः प्रसजति।...अथान्तवत्त्वं स्यात् संसारो मोक्षश्च नोपपद्यते। कथमिति चेत्; उच्यते—जीवाश्चेत्सान्ताः; सर्वेषां हि मोक्षप्राप्तौ संसारोच्छेदः प्राप्नोति। तद्भयात् मुक्तानां पुनरावृत्त्यभ्युपगमे स मोक्ष एव न स्यात् अनात्यन्तिकत्वात्। एकैकस्मिन्नपि जीवे कर्मादिभावेन व्यवस्थिताः पुद्गलाः अनन्ताः, तेषामन्तवत्त्वे सति कर्मनोकर्मविषयविकल्पाभावात् संसाराभावः तदभावान्मोक्षश्च न स्यात्। तथा अतीतानागतकालयोरन्तवत्त्वे प्राक् पश्चाच्च कालव्यवहाराभावः स्यात्। न चासौ युक्तः असतः प्रादुर्भावाभावात् सतश्चात्यन्तविनाशानुपपत्तेरिति। तथा आकाशस्यान्तवत्त्वाभ्युपगमे ततो बहिर्घनत्वप्रसङ्गः। नास्ति चेद्घनत्वम् आकाशेनापि भवितव्यमित्यन्तवत्त्वाभावः। = प्रश्न—अनन्तको केवलज्ञानके द्वारा जान लेनेसे अनन्तता नहीं रहेगी? उत्तर—१. उसके द्वारा अनन्तका अनन्तके रूपमें ही ज्ञान हो जाता है। अतः मात्र सर्वज्ञके द्वारा ज्ञानसे उसमें सान्तत्व नहीं आता। २. प्रायः सभी वादी अनन्त भी मानते हैं और सर्वज्ञ भी। बौद्ध लोग धातुओंको अनन्त कहते हैं। वैशेषिक दिशा, काल, आकाश और आत्माको सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। सांख्य पुरुष और प्रकृतिको सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। इन सबका परिज्ञान होने मात्रसे सान्तता हो नहीं सकती। अतः अनन्त होनेसे अपरिज्ञानका दूषण ठीक नहीं है। ३. यदि अनन्त होनेसे पदार्थको अज्ञेय कहा जायेगा तो सर्वज्ञका अभाव हो जायेगा। ४. यदि पदार्थोंको सान्त माना जायेगा तो संसार और मोक्ष दोनोंका लोप हो जायेगा। सो कैसे? वह बताते हैं—(१) यदि जीवोंको सान्त माना जाता है तो सब जीव मोक्ष चले जायेंगे तब संसारका उच्छेद हो जायेगा। यदि संसारोच्छेदके भयसे मुक्त जीवोंका संसारमें पुनः आगमन माना जाये तो अनात्यन्तिक होनेसे मोक्षका भी उच्छेद हो जायेगा। (२) एक जीवमें कर्म और नोकर्म पुद्गल अनन्त हैं। यदि उन्हें सान्त माना जाये तो भी संसारका अभाव हो जायेगा और उसके अभावसे मोक्षका भी अभाव हो जायेगा। (३) इसी तरह अतीत और अनागत कालको सान्त माना जाये तो पहले और बादमें काल व्यवहारका अभाव ही हो

जायेगा, पर यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि असत्‌की उत्पत्ति और सत्‌का सर्वथा नाश दोनों ही अयुक्तिक हैं। (४) इसी तरह आकाश-को सान्त माननेपर उससे आगे कोई ठोस पदार्थ मानना होगा। यदि नहीं तो आकाश ही आकाश माननेपर सान्तता नहीं रहेगी। ज.प./प्र.१,२/प्रो० लक्ष्मीचन्द्र) पायथागोरियन युगमें 'जीनो'के तर्कोंने इसकी सिद्धि की थी।...कैंटरके कन्टीनम् (continuam) १,२,३...के अल्पबहुत्वसे अनन्तके अल्पबहुत्वकी सिद्धि होती है।... जार्ज केन्टरने 'Abstractset Theory' की रचना करके अनन्त-को स्वीकार किया है।

३. अर्धपुद्गल परिवर्तनको अनन्त कैसे कहते हैं

ध.१/१,१,१४१/३६३/२ अर्धपुद्गलपरिर्तनकालः सक्षयोऽप्यनन्तः छद्म-स्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। केवलमनन्तस्तद्विषयत्वाद्वा। —अर्द्ध पुद्गल परिवर्तनकाल क्षय सहित होते हुए भी इसीलिए अनन्त है कि छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है। वास्तवमें केवलज्ञान अनन्त है अथवा अनन्तको विषय करनेवाला होनेसे वह अनन्त है।

ध.३/१,२,५३/२६७/७ कधं पुणो तस्स अद्धपोग्गलपरिमट्टस्स अणंतववएसो। इदि चे ण, तस्स उवयारणिबंधणत्तादो। तं जहा अणंतस्स केवलणाणस्स अद्धपोग्गलपरियट्टकालो वि अणंतो होदि। —प्रश्न—अर्द्ध पुद्गल परिवर्तनकालको अनन्त संज्ञा कैसे दी गयी है? उत्तर—नहीं, क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तनकालको जो अनन्त संज्ञा दी गयी है, वह उपचार-निमित्तक है। आगे उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—अनन्त रूप केवलज्ञानका विषय होनेसे अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल भी अनन्त है, ऐसा कहा जाता है। (ध.३/१,२,२/२५-२६/६), (ध.४/१,२,२३/२६६/) (ध.१४/५,६,१२८/२३५/८)।

४. अनन्त, संख्यात व असंख्यातमें अन्तर

ध.३/१,२,५३/२६७/५ किमसंखेज्जं णाम। जो रासी एगेगरूवे अवणिज्ज-माणे णिट्ठादि सो असंखेज्जो। जो पुण ण समप्पइ सो रासी अणंतो। जदि एवं तो वयसहिदसक्खयअद्धपोग्गलपरियट्टकालो वि असंखेज्जो जायदे। होदु णाम। कधं पुणो तस्स अद्धपोग्गलपरियट्टस्स अणंतवव-एसो। इदि चे ण, तस्स उवयारनिबंधणादो। तं जहा—अणंतस्स केवलणाणस्स विसयत्तादो अद्धपोग्गलपरियट्टकालो वि अणंतो होदि। केवलणाणविसयत्तं पडि विसेसाभावा सव्वसंखाणमणंतत्तणं जायदे। चे ण, ओहिणाणविसयवदिरित्तसंखाणे अणण्णविसयत्तेण तदुवयारपवुत्तादो। अहवा जं संखाणं पंचिंदियविसओ तं संखेज्जं णाम। तदो उवरि जमोहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम। —प्रश्न—असंख्यात किसे कहते हैं, अर्थात् अनन्तसे असंख्यातमें क्या भेद है? उत्तर—एक-एक संख्याके घटाते जानेपर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो व्यय सहित होनेसे नाशको प्राप्त होनेवाला अर्धपुद्गल परिवर्तन काल भी असंख्यात रूप हो जायेगा? उत्तर—हो जाये। प्रश्न—तो फिर उस अर्धपुद्गल-परिवर्तनकालको अनन्त संज्ञा कैसे दी गयी है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अर्धपुद्गल परिवर्तनकालको जो अनन्त संज्ञा दी गयी है वह उपचार निमित्तक है। आगे उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—अनन्तरूप केवलज्ञानका विषय होनेसे अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल भी अनन्त है, ऐसा कहा जाता है। प्रश्न—केवलज्ञानके विषयत्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी संख्याओंको अनन्तत्व प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो संख्याएँ अवधिज्ञानका विषय हो सकती हैं उनसे अतिरिक्त ऊपरकी संख्याएँ केवलज्ञानको छोड़कर दूसरे और किसी ज्ञानका विषय नहीं हो सकतीं, अतएव ऐसी संख्याओंमें अनन्तत्वके उपचारकी प्रवृत्ति हो जाती है। अथवा, जो संख्या पाँचों इन्द्रियोंका विषय है वह संख्यात है, उसके ऊपर जो संख्या अवधि-ज्ञानका विषय है वह असंख्यात है, उसके ऊपर जो संख्या केवल-ज्ञानके विषय-भावको ही प्राप्त होती है वह अनन्त है।

त्रि.सा./५२ जावदियं पच्चक्खं जुगवं सुदओहिकेवलाण हवे। तावदियं संखेज्जमसंखमणंतं कमा जाणे ॥५२॥ —यावन्मात्र विषय युगपत् प्रत्यक्ष श्रुत, अवधि, केवलज्ञानके होंहि तावन्मात्र संख्यात असंख्यात अनन्त क्रमतें जानऊ।

५. सर्वज्ञत्वके साथ अनन्तत्वका समन्वय

रा.वा./५/९/३,४/४५२/२४ अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेत्ः न; अतिशय-ज्ञानदृष्टत्वात् ॥३॥ स्यादेतत्-सर्वज्ञेनानन्तं परिच्छिन्नं वा, अप-रिच्छिन्नं वा। यदि परिच्छिन्नम्; उपलब्धावसानत्वात् अनन्तत्व-मस्य हीयते। अथापरिच्छिन्नम्; तत्स्वरूपानवबोधात् असर्वज्ञत्वं स्यादिति। तन्न किं कारणम्। अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्। यत्तत्केवलिनां ज्ञानं क्षायिकम् अतिशयवत् अनन्तानन्तपरिमाणं तेन तदनन्तमव-बुध्यते साक्षात्। तदुपदेशादितरै रनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानिः। न च तेन परिच्छिन्नमित्यतः सान्तम् अनन्तेनानन्तमिति ज्ञातत्वात्। किं च सर्वेषामविप्रतिपत्तेः ॥४॥ —प्रश्न—अनन्त होनेके कारण वह ज्ञानमें नहीं आना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि अतिशय रूप केवलज्ञानके द्वारा उसे भी जान लिया जाता है। प्रश्न—सर्वज्ञके द्वारा अनन्त जाना जाता है अथवा नहीं जाना जाता? यदि अनन्त-को सर्वज्ञने जाना है तो अनन्तका ज्ञानके द्वारा अन्त जान लेनेसे अनन्तता नहीं रहेगी, और यदि नहीं जाना है तो उसके स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण असर्वज्ञताका प्रसंग आयेगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अतिशय ज्ञानके द्वारा वह जाना जाता है। यह जो केवल-ज्ञानियोंका क्षायिकज्ञान है सो अतिशयवान् तथा अनन्तानन्त परि-माण वाला है। उसके द्वारा अनन्त साक्षात् जाना जाता है। अन्य लोक सर्वज्ञके उपदेशसे तथा अनुमानसे अनन्तताका ज्ञान कर लेते हैं। प्रश्न—यदि कहोगे कि उसके द्वारा जाना गया है, अतः वह अनन्त भी सान्त है? उत्तर—तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञने अनन्तको अनन्त रूपसे ही जाना है। और सभी वादी प्रायः इस विषयमें विरोध भी नहीं रखते हैं (वि. दे. अनन्त/२/२)

ध./३/१,२,३/३०/६ ण च अणादि त्ति जाणिदे सादित्तं पावेदि, विरोहा। —अनादित्वका ज्ञान हो जाता है, इसलिए उसे सादित्व की प्राप्ति हो जायेगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है।

६. निर्व्यय भी अभव्यराशिमें अनन्तत्व कैसे सिद्ध होता है।

ध.७/२,५,१६०/२६५/१० कधं एदस्स अव्वए संते अव्वोच्छिज्जमाणस्स अणंतववएसो ण, अणंतस्स केवलणाणस्स चेव विसए अवट्ठिदाणं संखाणमुवयारेण अणंतत्तविरोहाभावादो। —प्रश्न—व्ययके न होनेसे व्युच्छित्तिको प्राप्त न होनेवाली अभव्य राशिके 'अनन्त' यह संज्ञा कैसे सम्भव है? —उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनन्त रूप केवलज्ञानके ही विषयमें अवस्थित संख्याओंके उपचारसे अनन्तपना माननेमें विरोध नहीं आता।

७. अनन्त चतुष्टयमें अनन्तत्व कैसे सिद्ध है

क्ष. सा/मू./६१०/७२५ खीणे घादिचउक्के णंतचउक्कस्स होदि उप्पत्ती। सादी अपज्जवसिदा उक्कस्साणंतपरिसंखा ॥६१०॥ प्रश्न—(घातिया कर्मनिके चतुष्टयका नाश होतैं अनन्तचतुष्टयकी उत्पत्ति हो है। अनन्तपन कैसे सम्भव है?) —उत्तर—सादि कहिये उपजने काल विषै आदि सहित है तथापि अपर्यवसिता कहिए अवसान या अन्त ताकरि रहित है तातैं अनन्त कहिये। अथवा अविभाग प्रतिच्छेदनि

की अपेक्षा इनकी उत्कृष्ट अनन्तानन्त मात्र संख्या है तातै भी अनन्त कहिये।

८. अनन्त भी कथंचित् सीमित है

ध.३/१,२,३/३०/१ तेन कारणेण मिच्छाइदिठरासी ण अवहिरिज्जदि, सव्वे समया अवहिरिज्जंति।…अण्णहा तस्साभावपसंगादो। ण च अणादि त्ति जाणिदं जादित्तं पावेदि, बिरोहा। – मिथ्यादृष्टि जीव-राशिका प्रमाण समाप्त नहीं होता, परन्तु अतीत कालके सम्पूर्ण समय समाप्त हो जाते हैं।…यदि उसका प्रमाण नहीं माना जाये तो उसके अभावका प्रसंग आ जायेगा। परन्तु उसके अनादित्वका ज्ञान हो जाता है, इसलिए उसे सादित्व की प्राप्ति हो जायेगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है।

श्लो. वा. २/१/७/११/५६६/६/भाषाकार "जैन सिद्धान्त अनुसार अलोकाकाशके अनन्तानन्त प्रदेश भी संख्यामें परिमित हैं, क्योंकि अक्षय अनन्त जीवराशिसे अनन्तगुणी पुद्गल राशिसे भी अनन्त गुणे हैं।

★ आगममें अनन्तकी यथास्थान प्रयोग विधि—दे० गणित I /१/६।

अनंतकथा—आचार्य पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) की संस्कृत छन्दबद्ध रचना।

अनंतकायिक—दे० वनस्पति।

अनंतकीर्ति—१. (सि.वि./प्र.४०/ पं० महेन्द्रकुमार) समय—ई० श० १०; कृति—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, लघुसर्वज्ञसिद्धि प्रकरण। यह दिगम्बराचार्य थे। २. आप ललितकीर्ति मुनिके गुरु थे। और ये ललितकीर्ति रत्ननन्दि नं० २ के शिक्षा गुरु व यशःकीर्ति नं० ३ के गुरु थे। तदनुसार आपका समय वि. १२४६ (ई० ११८९) आता है। (भद्रबाहु चरित/प्र० ७/ कामताप्रसाद)

अनंतगणनांक-सिद्धान्त—(ध. ५/प्र. २७) Theory of infinte cardinals.

अनंतचतुर्दशी व्रत—व्रत विधान संग्रह/पृ. ८७ गणना—कुल समय = १४ वर्षतक; उपवास = १४

किशन सिंह क्रिया कोश "विधि—१४ वर्ष तक प्रत्येक वर्ष अनन्त-चतुर्दशी (भाद्रपद शु० १४) को उपवास। अनन्तनाथ भगवान्‌की पूजा। मन्त्र—"ओं नमो अर्हते भगवते अनन्ते अनन्तकेवलीय अनन्तणाणे अणंतकेवलदंसणे अणुपूजवासणे अनन्ते अनन्तागमकेवलिने स्वाहा" अथवा—यदि लम्बा पड़े तो "ओं ह्रीं अर्हं हं सः अनन्त-केवलिने नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

अनंतचतुष्टय—दे० चतुष्टय।

अनंतदेव—स.भ.त./ अन्तिम प्रशस्ति—"आप दिगम्बराचार्य थे।" शिष्य विमलदास नामा एक गृहस्थ था। समय—प्लवङ्ग संवत्सर (?)

अनंतधर्मत्वशक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति नं० २९ विलक्षणानन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणानन्तधर्मत्वशक्तिः। = परस्पर भिन्न लक्षण स्वरूप जो अनन्तस्वभाव उनसे मिला हुआ जो एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी सत्ताईसवीं अनन्तधर्मत्व शक्ति है।

अनंतनाथ—म. पु./६०/श्लोक "पूर्वके तीसरे भवमें धातकी खण्ड-में पूर्व मेरुसे उत्तरकी ओर अरिष्ट नगरका पद्मरथ नामक राजा था (२-३) आगे पूर्वके दूसरे भव में पुष्पोत्तर विमानमें इन्द्रपद प्राप्त किया (१२) वर्तमान भवमें चौदहवें तीर्थंकर हुए हैं। (विशेष दे० तीर्थंकर/४)।

अनंतनाथपुराण—श्रीजन्नाचार्य (सं. १२०१) की रचना है।

अनंतबल मुनि—प. पु./१४/३७०-३७१ मेरुकी वन्दना करके लौटते समय मार्गमें आपसे रावणने परस्त्री त्याग व्रत ग्रहण किया था।

अनंतमति—भगवान् धर्मनाथका शासन देव—दे० यक्ष।

अनंतर—दे० बंध/१।

अनंतरथ—प. पु./२२/१६०-१६१ राजा अनरण्यका पुत्र तथा दशरथ-का बड़ा भाई था। पिताके साथ-साथ दीक्षा धारणकर अनन्त परी-षहको जीतनेके कारण अनन्तवीर्य नामको प्राप्त हुए।

अनंतरोपनिधा—ध. ११/४,२,६,२५२/३५२/१२ जत्थ णिरंतरं थोव-बहुत्तपरिक्खा कीरदे सा अणंतरोवणिधा। = जहाँपर निरन्तर अल्प बहुत्वकी परीक्षा की जाती है, वह अनन्तरोपनिधा कही जाती है।

अनंतवर्मन्—गंगवंशी राजा था। उड़ीसामें राज्य करता था। समय-ई० १०४०।

अनंतविजय—म. पु./सर्ग/श्लोक "पूर्वके नवमें भवमें पूर्व विदेहमें वत्सका देशके राजा प्रीतिवर्धनका पुरोहित था (८/११) फिर आठवें भवमें उत्तरकुरुमें मनुष्य हुआ (८/२१२) आगे पूर्वके सातवें भवमें प्रभजंन नामक देव हुआ (८/२१२-२१३) फिर छठें भवमें धन-मित्र नामक सेठ हुआ (८/२१८) फिर पाँचवें भवमें अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ (९/९०-९२) फिर चौथे भवमें वज्रसेन राजाका महापीठ नामक राजपुत्र हुआ (११/१३) फिर पूर्वके तीसरे भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ (११/१६०)। (युगपत् सर्वभव—४७/३६७-३६९)। वर्त-मान भवमें भगवान् ऋषभदेवके पुत्र तथा भरतचक्रवर्तीके छोटे भाई थे (१६/२) भरतने उन्हें नमस्कार करनेको कहा। स्वाभिमानी उन्होंने नमस्कार करनेकी बजाय भगवान्‌के समीप दीक्षा धारण कर ली (३४/१२६) अन्तमें मुक्ति प्राप्त की (४७/३९९)।

अनंतवीर्य—१. भूत कालीन चौबीसवें तीर्थंकर।—(विशेष परिचय दे० तीर्थंकर /५) २. भाविकालीन चौबीसवें तीर्थंकर।—(विशेष परि-चय दे० तीर्थंकर/५)। ३. म. पु./सर्ग/श्लो.।" आप पूर्वके नवमें भवमें सागरदत्तके उग्रसेन नामक पुत्र थे" (८/२२३-२२४) फिर व्याघ्र हुए (८/२२६) फिर सातवें भवमें उत्तरकुरुमें मनुष्य हुए (८/९०) वहाँसे फिर छठे भवमें ऐशान स्वर्गमें चित्रांगद नामक देव हुए (९/१८७) फिर पाँचवें भवमें विभीषण राजाके पुत्र वरदत्त हुए (१०/१४९) फिर चौथे भवमें अच्युत स्वर्गमें देव हुए (१०/१७२) फिर तीसरे भवमें जय नामक राजकुमार हुए (११/१०) फिर पूर्वके दूसरे भवमें स्वर्गमें अहमिन्द्र हुए (११/१६०) वर्तमान भवमें ऋषभनाथ भगवान्‌के पुत्र तथा भरतके छोटे भाई हुए (१६/३) भरतने इन्हें नमस्कार करनेको कहा। स्वाभिमानी इन्होंने नमस्कार करने-की बजाय भगवान्‌के समीप दीक्षा धारण कर ली तथा सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त किया (२४/१८१) अपर नाम महासेन था। (युगपत् सर्व भव ४७/३७१) ४. अनन्तवीर्यकी गुर्वावलीके (दे० इतिहास/५.) अनुसार श्रीगोणसेनके शिष्य तथा गुणकीर्ति सिद्धान्त भट्टारक और देवकीर्ति पण्डितके गुरु थे। वादिराजके दादा गुरु तथा श्रीपालके सधर्मा थे। कृति—सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालङ्कार। समय—ई. ९५०-९९०। (सि. वि./प्र. ७५, ७७ पर दिया गया शिलालेख) (सि. वि./प्र.८८/पं० महेन्द्रकुमार) ५. अनन्तवीर्य संघ—दे० इतिहास/५/४; ६. (म. पु./६२/श्लोक) वत्सकावती देश प्रभाकरी नगरीके राजा स्तमितसागरका पुत्र था (४१४) राज्य पाकर नृत्य देखनेमें आसक्त होनेसे नारदकी विनय करना भूल गया (४२२-४३०) क्रुद्ध नारदने शत्रु दमितारि को युद्धार्थ प्रस्तुत किया (४४३) इसने नर्तकीका वेश बना उसकी लड़कीका हरण कर लिया (४६१-४७३) उसके ही चक्रसे उसको मार दिया (४८३-४८४) आगे क्रमसे अर्धचक्री पद प्राप्त किया

(५१२) तथा नारायण होनेसे नरकमें गया (६३/२५) यह शान्तिनाथ भगवान्के चक्रायुध नामक प्रथम गणधरका पूर्वका नवम भव है —दे० चक्रायुध । ७. अपरनाम अनन्तरथ—दे० अनंतरथ ।

अनंतानंत—दे० अनंत ।

अनंतानुबंधी— जीवोंकी कषायोंकी विचित्रता सामान्य बुद्धिका विषय नहीं है । आगममें वे कषाय अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकार की बतायी गयी हैं । इन चारोंके निमित्त-भूत कर्म भी इन्हीं नाम वाले हैं । यह वासना रूप होती हैं व्यक्त रूप नहीं । तहाँ पर-पदार्थोंके प्रति मेरे-तेरेपनेकी, या इष्ट-अनिष्टपनेकी जो वासना जीवमें देखी जाती है, वह अनन्तानुबन्धी कषाय है, क्योंकि वह जीवका अनन्त संसारसे बन्ध कराती है । यह अनन्तानुबन्धी प्रकृतिके उदयसे होती है । अभिप्रायकी विपरीतताके कारण इसे सम्यक्त्वघाती तथा पर पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न करानेके कारण चारित्रघाती स्वीकार किया है ।

१. अनन्तानुबन्धीका लक्षण

स. सि./८/९/३८६ अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् । तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । =अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है तथा जो कषाय उसके अनुबन्धी हैं, वे अननन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं । (रा. वा/८/९/५/५७४/३३)

ध. ६/१,९-१,२३/४१/५ अनन्तान् भवाननुबद्धं शीलं येषां ते अनन्तानुबन्धिनः।···जेहि कोह-माण-माया लोहेहि अविणट्ठसरूवेहि सह जीवो अणंते भवे हिंडदि तेसिं कोह-माण-माया-लोहाणं *अणंताणुबंधी* सण्णा त्ति उत्तं होदि ।···एदेहि जीवम्हि जणिदसंसकारस्स अणंतेसु भवेसु अवट्ठाणब्भुवगमादो । अधवा अणंतो अणुबंधो तेसिं कोह-माण-माया-लोहाणं ते अणंताणुबंधी कोह-माण-माया-लोहा । एदेहिंतो संसारो *अणंतेसु भवेसु अणुबंधं ण छड्डेदि* त्ति *अणंताणुबंधो* संसारो । सो जेसिं ते *अणंताणुबंधिणो* कोह-माण-माया-लोहा । =१. अनन्त भवोंको बाँधना ही जिनका स्वभाव है, वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं । अनन्तानुबन्धी जो क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं । जिन अविनष्ट स्वरूपवाले अर्थात् अनादि परम्परागत क्रोध, मान, माया और लोभके साथ जीव अनन्तभवोंमें परिभ्रमण करता है उन क्रोध, मान, माया व लोभ कषायोंकी 'अनन्तानुबन्धी' संज्ञा है, यह अर्थ कहा गया है । २. इन कषायोंके द्वारा जीवमें उत्पन्न हुए संस्कारका अनन्त भवोंमें अवस्थान माना गया है । अथवा जिन क्रोध, मान, माया, लोभोंका अनुबन्ध (विपाक या सम्बन्ध) अनन्त होता है, वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं । ३. इनके द्वारा वृद्धिंगत संसार अनन्त भवोंमें अनुबन्धको नहीं छोड़ता है इसलिए 'अनन्तानुबन्ध' यह नाम संसारका है । वह संसारात्मक अनन्तानुबन्ध जिनके होता है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं ।

भ. आ./वि./२६/५५/५ न विद्यते अन्तः अवसानं यस्य तदनन्तं मिथ्यात्वम्, तदनुबध्नन्तीत्येवं शीला अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभाः । =नहीं पाइये है अन्त जाका ऐसा अनन्त कहिये मिथ्यात्व ताहि अनुबन्धति कहिये आश्रय करि प्रवर्तै ऐसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ हैं ।

गो. जी./जी. प्र./२८३/६०८/१३ अनन्तसंसारकारणत्वात्, अनन्तं मिथ्यात्वम् अनन्तभवसंस्कारकालं वा अनुबध्नन्ति संघटयन्तीत्यनन्तानुबन्धिन इति *निरुक्तिसामर्थ्यात्* । =*अनन्त संसारका कारण मिथ्यात्व वा अनन्त संसार अवस्था रूप काल ताहि अनुबध्नन्ति कहिये सम्बन्ध* रूप करें तिनिको अनन्तानुबन्धी कहिए । ऐसा निरुक्तिसे अर्थ है ।

द. पा./२/पं. जयचन्द "जो सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थके कहनेवाले जे अन्यमत, जिनका श्रद्धान तथा बाह्य वेष, ता विषै सत्यार्थपनेका अभिमान करना, तथा पर्यायनि विषै एकान्त तै आत्मबुद्धि करि अभिमान तथा प्रीति करनी, यह अनन्तानुबन्धीका कार्य है । (स. सा./२००/क. १३७/पं० जयचन्द)

२. अनन्तानुबन्धीका स्वभाव सम्यक्त्वको घातना है—

पं. सं./प्रा./१/११५ पढमो दंसणघाई बिदिओ तह घाइ देसविरइ त्ति । तइओ संजमघाई चउत्थो जहखायघाईया । =प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनका घात करती है, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरतिकी घातक है । तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलसंयमकी घातक है और चतुर्थ संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रकी घातक है । (पं. सं./प्रा./१/११०) (गो. जी./मू/२८३/६०८) (गो. क./मू./४५) (पं. सं./सं./१/२०४-२०५)—दे० सासादन/२/६ ।

३. वास्तवमें यह सम्यक्त्व व चारित्र दोनोंको घातती है—

ध./१/१,१,१०/१६५/१ अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात् ।···यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात् । =अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शन मोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्र मोहनीयका भेद है । प्रश्न—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरूप संज्ञा देना न्याय संगत है ? उत्तर—यह आरोप ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है । (ध./६/१,९-१,२३/४२/३)

गो. क./जी. प्र./५४६/७१/१२ मिथ्यात्वेन सह उदीयमाना कषायः सम्यक्त्वं घ्नन्ति । अनन्तानुबन्धिना च सम्यक्त्वसंयमौ । =मिथ्यात्व के साथ उदय होने वाली कषाय सम्यक्त्वको घातती हैं । और अनन्तानुबन्धीके साथ सम्यक्त्व व चारित्र दोनों को घातती हैं ।

४. एक ही प्रकृतिमें दो गुणोंको घातनेकी शक्ति कैसे सम्भव है

ध./६/१,९-१,२३/४२/४ का एत्थ जुत्ती । उच्चदे—ण ताव एदे दंसणमोहणिज्जा, सम्मत्त-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्तेहि चेव आवरियस्स सम्मत्तस्स आवरणे फलाभावादो । ण चारित्तमोहणिज्जा वि, अपच्चक्खाणावरणादीहि आवरिदचारित्तस्स आवरणे फलाभावा । तदो एदेसिमभावो चेव । ण च अभावो सुत्तम्हि एदेसिमत्थित्तपदुप्पायणादो । तम्हा एदेसिमुदएण सासणगुणुप्पत्तीए अण्णहाणुववत्तीदो सिद्धं दंसणमोहणीयत्तं चारित्तमोहणीयत्तं च । =प्रश्न—अनन्तानुबन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की है, इस विषयमें क्या युक्ति है ? उत्तर—ये चतुष्क दर्शन मोहनीय स्वरूप नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके द्वारा ही आवरण किये जानेवाले दर्शन मोहनीयके फलका अभाव है । और न इन्हें चारित्र मोहनीय स्वरूप ही माना जा सकता है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंके द्वारा आवरण किये गये चारित्रके आवरण करनेमें फलका अभाव है । इसलिए उपर्युक्त अनन्तानुबन्धी कषायों का अभाव ही सिद्ध होता है । किन्तु उनका अभाव नहीं है, क्योंकि सूत्रमें इनका अस्तित्व पाया जाता है । इसलिए इन अनन्तानुबन्धी कषायोंके उदयसे सासादन भावकी उत्पत्ति अन्यथा हो नहीं सकती

है। इस ही अन्यथानुपपत्तिसे इनके दर्शनमोहनीयता और चारित्र-मोहनीयता अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्रको घात करनेकी शक्तिका होना, सिद्ध होता है।

५. चारित्र मोहकी प्रकृति सम्यक्त्व घातक कैसे ?

.ध./उ./११४० सत्यं तत्राविनाभाविनो बन्धसत्त्वोदयं प्रति। द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥११४०॥ =मिथ्यात्वके बन्ध, उदय, सत्त्वके साथ अनन्तानुबन्धी कषायका अविनाभाव है। इसलिए दो में से एक की विवक्षा करनेसे दूसरीकी विवक्षा आ जाती है। अतः कोई दोष नहीं।

गो.क./जी.प्र./५४६/७१/१२ मिथ्यात्वेन सहोदीयमानाः कषायाः सम्यक्त्वं घ्नन्ति। अनन्तानुबन्धिना च सम्यक्त्वसंयमौ। =मिथ्यात्वके साथ उदय होनेवाली कषाय सम्यक्त्वको घातती हैं। और अनन्तानुबन्धीके द्वारा सम्यक्त्व और संयम घाता जाता है।

६. अनन्तानुबन्धीका जघन्य व उत्कृष्ट सत्त्व काल

१. ओघकी अपेक्षा

क.पा. २/§११८/९९/५ अणंताणु० चउक्क विहत्ती केवचिरं का०। अणादि० अपज्जवसिदा अणादि० सपज्जवसिदा, सादि० सपज्जवसिदा वा। जा सा सपज्जवसिदा तिस्से इमो णिद्देसो-जह० अंतोमुहुत्तं, उक्क० अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं। =अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विभक्तिवाले जीवोंका कितना काल है ? अनादि-अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त काल है। अनन्तानुबन्धी चतुष्कविभक्तिका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

क.पा.२/§१२५/१०८/५ अथवा सव्वत्थ उप्पज्जमाणसासणस्स एगसमओ वत्तव्वो। पंचिंदियअपज्जत्तएसु सम्मत्त-सम्मामि० विहत्ति० जह० एगसमओ। =अथवा जिन आचार्योंके मतसे सासादन सम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रियादि सभी पर्यायोंमें उत्पन्न होता है उनके मतसे पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके अनन्तानुबन्धी चतुष्कका एक समय जघन्य काल कहना चाहिए।

२. आदेशकी अपेक्षा

क.पा. २/§११९/१०१/१ आदेसेण णिरयगदीए णेरयिएसु मिच्छत्त-बारस-कसाय-णवनोकसाय० विहत्ती केव०। जह० दस वाससहस्साणि, उक्क० तेत्तीसं सागरोवमाणि।...पढमादि जाव सत्तमा त्ति एवं चेव वत्तव्वं।...णवरि सत्तमाए पुढवीए अणंताणु० चउक्कस्स जह० अंतोमुहुत्त। =आदेशकी अपेक्षा नरक गतिमें नारकियोंमें मिथ्यात्व, बारह कषाय और नौ नोकषाय विभक्तिका कितना काल है। उत्तर—जघन्य काल दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है। इसी प्रकार सम्यक्त्व-प्रकृति, सम्यक्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का काल भी समझना चाहिए। इतनी विशेषता है कि इनका जघन्य काल एक समय है। पहली पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक इसी प्रकार समझना चाहिए। परन्तु सातवीं पृथिवीमें अनन्तानुबन्धीका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

क.पा.२/§१२०/१०२/१ तिरिक्खगईए तिरिक्खेसु...अणंताणु० चउक्कस्स जह० एगसमओ, उक्क० दोण्हं पि अणंतकालो। =तिर्यञ्च गतिमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य काल एक समय है। तथा पूर्वोक्त बाईस और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन दोनोंका उत्कृष्ट अनन्तकाल है।

क.पा.२/§१२०/१०/२७ एवं मणुसतियस्स वत्तव्वं।

क.पा.२/§१२२/१०४/२ देवाणं णारगभंगो।

=मनुष्य-त्रिक् अर्थात् सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनीके भी उक्त अट्ठाईस प्रकृतियोंका काल समझना चाहिए। देवगतिमें सामान्य देवोंके अट्ठाईस प्रकृतियोंकी विभक्तिका सत्त्व काल सामान्य नारकियोंके समान कहना चाहिए।

७. जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर काल

क.पा.२/§१३५/१२३/७ अणंताणुबंधिचउक्क० विहत्ति० जह० अंतोमुहुत्त, उक्क० वेछावट्ठिसागरोवमाणि देसूणाणि। =अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तरकाल कुछ कम एक सौ बत्तीस सागर है।

८. अन्तर्मुहूर्त मात्र उदयवाली भी इस कषायमें अनन्तानुबन्धीपना कैसे ?

ध.६/१,९-१,२३/४१/६ एदेसिमुदयकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो चेय,...तदो एददेसिमणंतभवाणुबंधित्तं ण जुज्जदि त्ति। ण एस दोसो, एदेहि जीवम्हि जणिदसंसकारस्स अणंतेसु भवेसु अवट्ठाणब्भुवगमादो। =प्रश्न—उन अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकषायोंका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है...अतएव इन कषायोंमें अनन्तानुबन्धिता घटित नहीं होती ! उत्तर— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इन कषायोंके द्वारा जीवमें उत्पन्न हुए संस्कारका अवस्थान अनन्तभवोंमें माना गया है। (विशेष दे० अनन्तानुबन्धी /१)।

९. अनन्तानुबन्धीका वासना काल

गो.क./जी.प्र./४६,४७ अंतोमुहुत्तपक्खं छम्मासं संखासंखणंतभवं। संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥४६॥ उदयाभावेऽपि तत्संस्कार-कालो वासनाकालः स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्तः। प्रत्याख्यानावरणानामेकपक्षः। प्रत्याख्यानावरणानां षण्मासाः अनन्तानुबन्धिनां संख्यातभवाः असंख्यातभवाः, अनन्तभवा वा भवन्ति नियमेन। =उदयका अभाव होते संतै भी जो कषायनिका संस्कार जितनेकाल रहै ताका नाम वासनाकाल है। सो संज्वलन कषायनिका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। प्रत्याख्यानकषायनिका एक पक्ष है। अप्रत्याख्यान कषायनिका छः महीना है। अनन्तानुबन्धी कषायनिका संख्यात भव, असंख्यात भव, अनन्त भव पर्यन्त वासना काल है। जैसे-काहू पुरुषने क्रोध किया पीछे क्रोध मिटि और कार्य विषै लग्या, तहाँ क्रोधका उदय तो नाहीं परन्तु वासना काल रहै, तैतैं जोहस्यों क्रोध किया था तोहस्यों क्षमा रूप भी न प्रवर्तै सो ऐसैं वासना काल पूर्वोक्त प्रमाण सब कषायनिका नियम करके जानना। (चा.सा./९०/१)

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

* अनन्तानुबन्धी प्रकृतिका बंध उदय सत्त्व व तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान—दे० वह वह नाम।
* अनन्तानुबन्धीमें दशों करणोंकी सम्भावना—दे० करण/२।
* अनन्तानुबन्धीकी उद्वेलना—दे० संक्रमण/४।
* कषायोंकी तीव्रता मन्दतामें अनन्तानुबन्धी नहीं, लेश्या कारण है—दे० कषाय/३।
* अनन्तानुबन्धीका सर्वघातियापन—दे० अनुभाग/४।
* अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना—दे० विसंयोजना।
* यदि अनन्तानुबन्धी द्विस्वभावी है तो इसे दर्शनचारित्र मोहनीय क्यों नहीं कहते ?—दे० अनन्तानुबन्धी/३।
* अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्वजन्य विपरीताभिनिवेशमें अन्तर—दे० सासादन /१/२।

अनंतावधि ज्ञान—दे० अवधिज्ञान।

अनन्तर्द्धि प्राप्त आर्य—दे० आर्य।

अनक्षरगता भाषा—दे० भाषा।

अनक्षरात्मक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान I/१।

अनक्षरात्मक शब्द—दे० शब्द।

अनगारी—दे० अनगार।

अनधिगत चारित्र—दे० चारित्र/१।

अनध्यवसाय—न्या.दी./१/§१/८ किमत्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादि ज्ञानम्। ='यह क्या है' इस प्रकारका जो ज्ञान होता है, उसको अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे-रास्ता चलनेवालेको तृण या काँटे आदिके स्पर्श मात्रसे यह कुछ पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है, उसको अनध्यवसाय कहते हैं।

ध.९/४,१,४/१४८/५ प्रतिभासः प्रमाणश्चाप्रमाणश्च विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात्। =अनध्यवसाय रूप प्रतिभास प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि, उसमें विसंवाद अर्थात् 'यह क्या है' ऐसा *अनिश्चय* तथा *अविसंवाद अर्थात् 'कुछ है अवश्य'* ऐसा निश्चय दोनों पाये जाते हैं।

रा.वा./हिं./१/३२/१९२ काहै तैं निर्णय कीजिये? हेतुवाद तर्क शास्त्र है ते तो कहीं ठहरे नाहीं। बहुरि आगम हैं वे जुदे जुदे हैं। कोई कछु कहे कोई कछु कहे तिनि का ठिकाना नाहीं। बहुरि सर्वका ज्ञाता मुनि कोई प्रत्यक्ष नाहीं, जाके वचन प्रमाण कीजिये। बहुरि धर्मका स्वरूप यथार्थ सूक्ष्म है, सो कैसे निर्णय होय। तातैं जो बड़ा मार्ग चला आवे तैसे चलना, प्रवर्तना। निर्णय होता नाहीं, ऐसे अनध्यवसाय है।

★ **अनध्यवसाय, संशय व विपर्ययमें अन्तर**—दे० संशय/२।

अननुगामी—अवधिज्ञानका एक भेद=दे० अवधिज्ञान/१।

अननुभाषण—न्या.सू.।५/२/१६/३१६ विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥१६॥ =सभा अर्थात् सभासदने जिस अर्थको जान लिया और वादीने जिसको तीन बार कह दिया ऐसे जाने और तीन बार कहे हुएको सुनकर भी जो प्रतिवादी कुछ न कहे तो उसको 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान कहते हैं। (श्लो० वा ४./न्या. २३१/४०१/१०)

अनपायी—न.वि./वृ./१/९१/३६५ *अनपायी अव्यभिचारी यत् इति।* =अनपायी अव्यभिचारीको कहते हैं।

अनभिव्यक्ति—दे० व्यक्ति।

अनय—एक ग्रह—दे० ग्रह।

अनथाभास—दे० नय II/१।

अनर्थदंड—र.क.श्रा./७४ *आभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः। विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः।* =दिशाओंकी मर्यादाके भीतर-भीतर प्रयोजन रहित पापोंके कारणोंसे विरक्त होनेको व्रतधारियोंमें अग्रगण्य पुरुष अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं।

स. सि./७/२१/३५९ असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। =उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पापका कारण है, वह अनर्थदण्ड है। (रा. वा./७/२१/४/५४७/२६)।

चा.सा./१६/४ प्रयोजनं बिना पापादानहेतुरनर्थदण्डः।=बिना ही प्रयोजनके जितने पाप लगते हों उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं।

का.अ./मू०/३४३ *कज्जं किं पि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो। सो खलु हवदि अणत्थो पंच-पयारो वि सो विविहो॥* =जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सधता नहीं केवल पाप बन्धता है उसे अनर्थ कहते हैं।

वसु. श्रा./२१६ *अय-दंड-पास-विक्कय-कूड-तुलामाण-कूरसत्ताणं। जं संगहो ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं।* =लोहेके शस्त्र तलवार कुदाली वगैरहके तथा दण्ड और पाश (जाल) आदिके बेंचनेका त्याग करना, झूठी तराजू तथा कूट मान आदिके बाँटोंको कम नहीं रखना, तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियोंका संग्रह नहीं करना सो यह तीसरा अनर्थदण्ड त्याग नामका गुणव्रत जानना चाहिए ।२१६। (गुण. श्रा./१४२)

सा. ध./५/६ पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाङ्गिनाम्। अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम्। =अपने तथा अपने कुटुम्बी जनोंके शरीर, वचन तथा मन सम्बन्धी प्रयोजनके बिना, पापोपदेशादिकके द्वारा प्राणियोंको पीड़ा नहीं देना, अनर्थदण्डका त्याग अनर्थदण्डव्रत माना गया है।

२. अनर्थदण्डके भेद

र.क.श्रा./७५ पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च। प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः। =*दण्डको नहीं धरनेवाले गणधरादिक* आचार्य-पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पाँचोंको अनर्थदण्ड कहते हैं। (स.सि./७/२१/३६०) (रा. वा./७/२१/२१/५४९/५) (चा.सा./१६/४)

पु. सि. उ./१४१-१४६ अपध्यान ।१४१।, पापोपदेश ।१४२।, प्रमादाचरित ।१४३।, हिंसादान ।१४४।, दुःश्रुति ।१४५।, द्यूतक्रीड़ा ।१४६।

चा. सा./१६/५ पापोपदेशश्चतुर्विधः—क्लेशवणिज्य, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेशः, आरम्भकोपदेशश्च। =पापोपदेश चार प्रकारका है—क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश, आरम्भकोपदेश। [दुःश्रुति चार प्रकारकी है—स्त्रीकथा, भोगकथा, चोरकथा व राजकथा—दे० कथा]

३. अपध्यानादि विशेष अनर्थदण्डोंके लक्षण

१. अपध्यान अनर्थदण्ड—दे० अपध्यान।

२. पापोपदेश अनर्थदण्ड

र. क. श्रा./७६ *तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्। कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥७६॥* =तिर्यग्वणिज्या, क्लेशवणिज्या, हिंसा, आरंभ, ठगाई आदिकी कथाओंके प्रसंग उठानेको पापोपदेश नामका अनर्थदंड जानना चाहिए। (स. सि./७/२१/६०)

रा. वा./७/२१/५४९/७ क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथा अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। *गोमहिष्यादीन् अमुत्र गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति* तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्यः इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। =क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधक तथा आरम्भादिकमें पाप संयुक्त वचन पापोपदेश कहलाता है। वह इस प्रकार कि—१. इस देशमें दास-दासी बहुत सुलभ हैं। उनको अमुक देशमें ले जाकर बेचनेसे महान् अर्थ लाभ होता है। इसे क्लेशवणिज्या कहते हैं। २. गाय, भैंस आदि पशु अमुक स्थानसे ले जाकर अन्यत्र देशमें व्यवहार करनेसे महान् अर्थ लाभ होता है, इसे तिर्यग्वणिज्या कहते हैं। ३. बधक व शिकारी लोगोंको यह बताना कि हिरण, सूअर व पक्षी आदि अमुक देशमें अधिक होते हैं, ऐसा वचन बधकोपदेश है। ४. खेती आदि करनेवालोंसे यह कहना कि पृथ्वीका अथवा जल, अग्नि, पवन, वनस्पति आदिका आरम्भ इस उपायसे करना चाहिए। ऐसा कथन आरम्भकोपदेश है। इस प्रकारके पाप संयुक्त वचन पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है। (चा.सा./१६/५)

पु. सि. उ०/१४२ विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्। पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥ = बिना प्रयोजन किसी पुरुषको आजीविकाके कारण, विद्या, वाणिज्य, लेखनकला खेती, नौकरी और शिल्प आदिक नाना प्रकारके काम तथा हुनर करनेका उपदेश देना, पापोपदेश अनर्थदण्ड कहलाता है। पापोपदेश अनर्थदण्डके त्यागका नाम ही अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।

का. अ./मू/३४५ जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसु-पालण-वणिज्जपमुहेसु। पुरसित्थी-संजोए अणत्थ-दंडोहवे विदिओ। = कृषि, पशुपालन, व्यापार वगैरहका तथा स्त्री-पुरुषके समागमका जो उपदेश दिया जाता है वह दूसरा अनर्थदण्ड है।

सा.ध./५/७ पापोपदेशं यद्वाक्यं, हिंसाकृत्यादिसंश्रयम्। तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसज्जयेत् ॥७॥ = हिंसा, खेती और व्यापार आदिको विषय करनेवाला जो वचन होता है वह पापोपदेश कहलाता है इसलिए अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक श्रावक हिंसा, खेती और व्यापार आदिसे आजीविका करनेवाले, व्याध, ठग वगैरहके लिए उस पापोपदेशको नहीं देवें और कथा-वार्तालाप वगैरहमें उस पापोपदेशको प्रसंगमें नहीं लावें।

३. प्रमादाचरित अनर्थदण्ड

र. क. श्रा./मू./८० क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्। सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥८०॥ = बिना प्रयोजन पृथिवी, जल, अग्नि, और पवनके आरम्भ करनेको, वनस्पति छेदनेको, पर्यटन करनेको और दूसरोंको पर्यटन करानेको भी प्रमादचर्या नामा अनर्थदण्ड कहते हैं। (का. अ./मू./३४६)

स. सि./७/२१/३६० प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्। = बिना प्रयोजनके वृक्षादिका छेदना, भूमिका कूटना, पानीका सींचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नामका अनर्थदण्ड है। (रा. वा./७/२१/२१/५४९/१४) (चा. सा./१७/२)

पु. सि. उ./१४३ भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि। निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च। = बिना प्रयोजन जमीनका खोदना, वृक्षादिको उखाड़ना, दूब आदिक हरी घासको रौंदना या खोदना, पानी खींचना, फल, फूल, पत्रादिका तोड़ना इत्यादिक पाप क्रियाओंका करना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है।

सा.ध./५/१० प्रमादचर्यां विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम्। खातव्याघातविध्यापासेकच्छेदादि नाचरेत् ॥१०॥ = अनर्थदण्डका त्यागी श्रावक पृथिवीके खोदनेरूप, किवाड़ वगैरहके द्वारा वायुके प्रतिबन्ध करने रूप, जलादिसे अग्निको बुझाने रूप, भूमि वगैरहमें जलके फेंकने तथा वनस्पतिके छेदने आदि रूप प्रमादचर्याको नहीं करे।

४. हिंसादान अनर्थदण्ड

र. क. श्रा./७७ परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गशृङ्खलादीनाम्। वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७॥ = फरसा, तलवार, खनित्र, अग्नि, आयुध, सींगी, सांकल आदि हिंसा के कारणोंके माँगे देनेको पण्डित जन हिंसादान नामा अनर्थदण्ड कहते हैं।

स. सि./७/२१/३६० विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। = विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, और लकड़ी आदि हिंसाके उपकरणोंका प्रदान करना हिंसाप्रदान नामा अनर्थदण्ड है। (रा. वा./७/२१/२१/५४९/१६) (चा. सा./१७/३)।

पु. सि. उ./१४४ असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्। वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्। = असि, धेनु, जहर, अग्नि, हल, करवाल, धनुष आदि अनेक हिंसाके उपकरणोंको दूसरोंको माँगा देनेका त्याग करना, हिंसाप्रदान अनर्थदण्डव्रत है।

का. अ./मू./३४७ मज्जार-पहुदि-धरणं आउह-लोहादि-विक्कणं जं च। लक्खा-खलादि-गहणं अणत्थ-दण्डो हवे तुरिओ ॥३४७॥ = बिलावादि हिंसक जन्तुओंका पालना, लोहे तथा अस्त्र-शस्त्रोंका देना-लेना और लाख, विष वगैरहका लेना-देना चौथा अनर्थदण्ड है।

सा. ध./५/८ हिंसादानविषास्त्रादि-हिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत्। पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादिदाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत्। = विष या हथियार आदि हिंसाके कारण भूत पदार्थोंका देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड व्रत कहलाता है। उस हिंसादान अनर्थदण्डको छोड़ देना चाहिए। जिनसे अपना व्यवहार है ऐसे पुरुषोंसे भिन्न पुरुषोंके विषयमें पाकादिके लिए अग्नि नहीं देवे।

५. दुःश्रुति अनर्थदण्ड

र. क. श्रा./७९ आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः। चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥७९॥ = आरम्भ, परिग्रह, दुःसाहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, गर्व, कामवासना आदिसे चित्तको क्लेषित करनेवाले शास्त्रोंका सुनना-बाँचना सो दुःश्रुति नामा अनर्थदण्ड है।

स. सि./७/२१/३६० हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः। = हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। (रा. वा./७/२१/२१/५४९/१७) (चा.सा./१७/४)

पु. सि.उ./१४५ रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्। न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥ = राग-द्वेष आदिक विभाव भावोंके बढ़ानेवाली, अज्ञान भावसे भरी हुई दुष्ट कथाओंको सुनना, बनाना, एकत्रित करना, या सीखना आदिका त्याग करनेका नाम दुःश्रुति अनर्थदण्ड व्रत है।

का. अ./मू./३४८ जं सवणं सत्थाणं भंडण-वासियरण-काम-सत्थाणं। परदोसाणं च तहा अणत्थ-दण्डो हवे चरिमो। ३४८। = जिन शास्त्रों या पुस्तकोंमें गन्दे मजाक, वशीकरण, कामभोग वगैरहका वर्णन हो उनका सुनना और परके दोषोंकी चर्चा वार्ता सुनना पाँचवाँ अनर्थदण्ड है।

सा. ध./५/९ चित्तकालुष्यकृत्काम-हिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्। न दुःश्रुतिमपध्यानं, नार्तरौद्रात्म चान्वियात् ॥९॥ = अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक श्रावक चित्तमें कालुष्यता करनेवाला जो काम तथा हिंसा आदिक हैं तात्पर्य जिनके ऐसे शास्त्रोंके रूप दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डको नहीं करे और आर्त तथा रौद्र ध्यान स्वरूप अपध्यान नामक अनर्थदण्डको नहीं करे।

७. अनर्थदण्डव्रतके अतिचार

त. सू./७/३२ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि। = १. हास्ययुक्त अशिष्ट वचनका प्रयोग; २. काय की कुचेष्टा सहित ऐसे वचनका प्रयोग; ३. बेकार बोलते रहना, ४. प्रयोजनके बिना कोई न कोई तोड़-फोड़ करते रहना या काव्यादिका चिन्तवन करते रहना, ५. प्रयोजन न होने पर भी भोग-परिभोगकी सामग्री एकत्रित करना या रखना, ये पाँच अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार हैं। (र. क. श्रा./८१)

८. भोगोपभोग परिमाणव्रत व भोगोपभोग आनर्थक्य नामक अतिचारमें अन्तर

रा. वा./७/३२/६-७/५५६/२९ यावतार्थेन उपभोगपरिभोगौ प्रकल्प्येते तस्य तावानर्थ इत्युच्यते, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम्।६।...स्यादेतत्—उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भवतीति पौनरुक्त्यमासज्यत इति; तन्न; किं कारणम्। तदर्थानवधारणात्। इच्छावशात् उपभोगपरिभोगपरिमाणाग्रहः सावद्यप्रत्याख्यानं चेति तदुक्तम्, इह पुनः कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते। नन्वेवमपि तद्व्रतातिचारान्तर्भावाद् इदं वचनमनर्थकम्। नानर्थकम्; सचित्ताद्यतिक्रमवचनात्। = जिसके जितने उपभोग और परिभोगके पदार्थोंसे काम चल जाये वह उसके लिए अर्थ है, उससे अधिक पदार्थ रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है।

प्रश्न—इसका तो उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रतमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः इससे पुनरुक्तता प्राप्त होती है। उत्तर—नहीं होती, क्योंकि इसका अर्थ अन्य है। उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रतमें तो इच्छानुसार प्रमाण किया जाता है और सावद्यका परिहार किया जाता है, पर यहाँ आवश्यकताका विचार है। जो संकल्पित भी है पर यदि आवश्यकतासे अधिक है तो अतिचार है। तब इसका अन्तर्भाव भोगपरिभोग-परिमाणव्रतके अतिचारोंमें सचित्त सम्बन्ध आदि रूपसे मर्यादातिक्रम विवक्षित है, अतः इसका यहाँ कथन नहीं किया।

६. अनर्थदण्डव्रतका प्रयोजन

रा. वा./७/२१/२२/५४६/१६ दिग्देशयोरुत्तरयोश्चोपभोगपरिभोगयोरवधृतपरिमाणयोरनर्थकं चङ्क्रमणादिविषयोपसेवनं च निष्प्रयोजनं न कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिज्ञापनार्थं मध्येऽनर्थदण्डवचनं क्रियते। =पहले कहे गये दिग्व्रत तथा देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोग-परिभोग परिमाणव्रतमें स्वीकृत मर्यादामें भी निरर्थक गमन आदि तथा विषय सेवन आदि नहीं करना चाहिए, इस अतिरेकनिवृत्तिकी सूचनाके लिए बीचमें अनर्थदण्डविरतिका ग्रहण किया है।

७. अनर्थदण्डव्रतका महत्त्व

पु. सि. उ./१४७ एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः। तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥ =जो पुरुष इस प्रकार अन्य भी अनर्थदण्डोंको जानकर उनका त्याग करता है, वह निरन्तर निर्दोष अहिंसाव्रतका पालन करता है।

अनर्पित—स. सि./५/३२/३०३ तद्विपरीतमनर्पितम्। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। =अर्पितसे विपरीत अनर्पित है। अर्थात् प्रयोजनके अभावमें जिसकी प्रधानता नहीं रहती वह अनर्पित कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या धर्मके रहते हुए भी उसकी विवक्षा नहीं होती इसलिए जो गौण हो जाता है वह अनर्पित कहलाता है। (रा. वा./५/३२/२/४९७/१५)

अनल—दे० अग्नि।

अनलकायिक—आकाशोपपन्न देव—दे० देव II/१।

अनवधृत अनशन—दे० अनशन।

अनवस्था—श्लो. वा./४/न्या./४५६/५५१/१६ उत्तरोत्तरधर्मापेक्षया विश्रामाभावानवस्था। =उत्तर-उत्तर धर्मोंमें अनेकान्तकी कल्पना बढ़ती चली जानेसे उसको अनवस्था दोष कहते हैं।

स. भ. त/८२/४ अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावश्चानवस्थेत्युच्यते। =अप्रामाणिक पदार्थोंकी परम्परासे जो कल्पना है। उस कल्पनाके विश्रामके अभावको ही अनवस्था कहते हैं।

पं. ध./पू./३८२ अपि कोऽपि परायत्तः सोऽपि परः सर्वथा परायत्तात्। सोऽपि परायत्तः स्यादित्यनवस्थाप्रसङ्गदोषश्च ॥३८२॥ =यदि कदाचित् कहो कि (कोई एक धर्म) उनमें से परके आश्रय है, तो जिस परके आश्रय है वह पर भी सब तरहसे अपनेसे परके आश्रय होनेसे, अन्य परके आश्रयकी अपेक्षा करेगा और वह भी पर अन्यके आश्रयकी अपेक्षा रखता है इस प्रकार उत्तरोत्तर अन्य-अन्य आश्रयोंकी कल्पनाकी सम्भावनासे अनवस्था प्रसंग रूप दोष भी आवेगा।

अनवस्थाप्य—परिहार प्रायश्चित्तका एक भेद—दे० परिहार।

अनवस्थित—अवधिज्ञानका एक भेद—दे० अवधिज्ञान/१।

अनशन—यद्यपि भूखा मरना कोई धर्म नहीं, पर शरीरसे उपेक्षा हो जानेके कारण, अथवा अपनी चेतन वृत्तियोंको भोजन आदिके बन्धनोंसे मुक्त करनेके लिए, अथवा क्षुधा आदिमें भी साम्यरससे च्युत न होने रूप आत्मिक बलकी वृद्धिके लिए किया गया अशनका त्याग मोक्षमार्गीको अवश्य श्रेयस्कर है। ऐसे ही त्यागका नाम अनशन तप है, अन्यथा तो कोरा लंघन है, जिससे कुछ भी सिद्धि नहीं।

१. अनशन सामान्यका निश्चय लक्षण

का. अ./मू./४४०-४४१ जो मण-इंदिय विजई इह-भव-पर-लोय-सोक्ख-णिरवेक्खो। अप्पाणे विय णिवसइ सज्झाय-परायणो होदि ॥४४०॥ कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए। एग-दिणादि-पमाणं तस्स तवं अणसणं होदि। =जो मन और इन्द्रियोंको जीतता है, इस भव और परभवके विषय सुखकी अपेक्षा नहीं करता, अपने आत्मसुखमें ही निवास करता है और स्वाध्यायमें तत्पर रहता है ॥४४०॥ उक्त प्रकारका जो पुरुष कर्मोंकी निर्जराके लिए एक दिन वगैरहका परिमाण करके लीला मात्रसे आहारका त्याग करता है, उसके अनशन नामक तप होता है ॥४४१॥

प्र. सा./त. प्र./२२७/२७५ यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्ध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः। तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्। =सदा ही समस्त पुद्गलाहारसे शून्य आत्माको जानता हुआ समस्त अनशन तृष्णा रहित होनेसे जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योंकि अन्तरंगकी विशेष बलवत्ता है।

२. अनशन सामान्यका व्यवहार लक्षण

रा. वा./९/१९/१/६१८/१७ यत्किंचिद् दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। =मन्त्र साधनादि दृष्ट फलकी अपेक्षाके बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। (चा. सा./१३४/१)

भ. आ./वि./६/३२/१४ अनशनं नाम अशनत्यागः। स च त्रिप्रकारः मनसा भुञ्जे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि। भुञ्जे भुङ्क्ष्व, पचनं कुर्विति वचसा। तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसंधिपूर्वकं कायेनादानं हस्तसंज्ञायाः प्रवर्त्तनम् अनुमतिसूचनं कायेन। एतेषां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनं चारित्रमेव। =चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसको अनशन कहते हैं। यह अनशन तीन प्रकारका है। मैं भोजन करूँ, भोजन कराऊँ, भोजन करनेवालेको अनुमति देऊँ, इस तरह मनमें संकल्प करना। मैं आहार लेता हूँ, तू भोजन कर, तुम भोजन पकाओ ऐसा वचनसे कहना, चार प्रकारके आहारको संकल्प पूर्वक शरीरसे ग्रहण करना, हाथसे इशारा करके दूसरेको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करना, आहार ग्रहण करनेके कार्यमें शरीरसे सम्मति देना ऐसी जो मन, वचन, कायकी कर्म ग्रहण करनेमें निमित्त होने वाली क्रियाएँ उनका त्याग करना उसको अनशन कहते हैं।

ध. १३/५,४,२६/५५/१ तत्थ चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालस-पक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छरेसु एसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो। —चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषणका ग्रहण करना, तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषणका त्याग करना अनेषण नामका तप है।

अन. ध./७/११/६६४ चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवामृतेः। सकृद् भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते ॥११॥ —कर्मोंका क्षय करनेके उद्देश्यसे भोजनका त्याग करनेको अनशन तप कहते हैं।

३. अनशन तपके भेद

भ. आ./मू./२०९ अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ॥ —अर्धानशन और सर्वानशन ऐसे अनशन तपके दो भेद हैं।

मू.आ./मू./३४७ इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेदव्वं। ॥३४७॥ —अनशन तपके दो भेद हैं—इत्तिरिय तथा यावज्जीव।

रा.वा /९/१९/२/६१८/१८ तद्द्विविधमवधृतानवधृतकालभेदात् । =वह अनशन अनवधृत और अवधृतकालके भेदसे दो प्रकारका होता है। (चा.सा./१३४/२)

अन.ध./७/११/६६५

यह दो प्रकारका होता है—सकृद्भुक्ति या प्रोषध तथा दूसरा उपवास।··· उपवास दो प्रकारका माना है—अवधृतकाल और अनवधृतकाल।

४. अनशनके भेदोंके लक्षण

१. अवधृत काल अनशनका लक्षण

मू.आ./३४७-३४८··· इतिरियं साकाङ्क्षम्··· ॥३४७॥छट्ठट्ठमदसमद्वादसेहिं मासद्धमासखमणाणि। कणगेगावलि आदी तवोविहाणाणि णाहारे =॥३४८॥ कालकी मर्यादासे इतिरिय होता है ॥३४७॥ अर्थात् एक दिनमें दो भोजन वेला कही हैं। चार भोजन वेलाका त्याग उसे चतुर्थ उपवास कहते हैं। छः भोजन वेलाका त्याग वह दो उपवास कहे जाते हैं। इसीको षष्ठम तप कहते हैं। षष्ठम, अष्टम, दशम, द्वादश, पंद्रह, एक मास त्याग, कनकावली, एकावली, मुरज, मध्यविमानपंक्ति, सिंहनिःक्रीडित इत्यादि जो भेद जहाँ हैं वह सब साकांक्ष अनशन तप है ॥३४८॥ इसीको अवधृत काल अनशन तप कहते हैं। (चा.सा./१३४/२)।

रा.वा./९/१९/२/६१८/२० तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनं चतुर्थभक्तादि। =एक बार भोजन या एक दिन पश्चात् भोजन नियतकालीन अनशन है।

भ.आ./वि /२०९/४२५/१३ कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह–विहरन्तस्य ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य अद्धानशनं। =ग्रहण और प्रतिसेवना कालमें अद्धानशन तप मुनि करते हैं। दीक्षा ग्रहण कर जब तक संन्यास ग्रहण किया नहीं तब तक ग्रहण काल माना जाता है। तथा व्रतादिकोंमें अतिचार लगनेपर जो प्रायश्चित्तसे शुद्धि करनेके लिए कुछ दिन अर्थात् षष्ठम, अष्टम आदि अनशन करना पड़ता है, उसको प्रतिसेवनाकाल कहते हैं।

अन.ध./७/११/६६५ वह अनशन दो प्रकारका होता है सकृद्भुक्ति अर्थात् प्रोषध तथा दूसरा उपवास। दिनमें एक बार भोजन करनेको प्रोषध और सर्वथा भोजनके परिहारको उपवास कहते हैं। उसमें अवधृतकाल उपवासके चतुर्थसे लेकर षाण्मासिक तक अनेक भेद होते हैं।

२. अनवधृत काल या सर्वानशनका लक्षण

मू.आ./३४९ भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि। अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि ॥३४९॥ =भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण, अथवा अन्य भी अनेकों प्रकारके मरणोंमें जो मरण पर्यन्त आहारका त्याग करना है वह निराकांक्ष कहलाता है।

रा.वा./२/१९/२/६१८/२० अनवधृतकालमादेहोपरमात्। =शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित काल अनशन कहलाता है। (चा सा./१३४/३/ (अन.ध./७/११/६६४) (भ.आ./वि./२०९/४२५))।

५. सर्वानशन तप कब धारण किया जाता है

भ.आ./वि./२०९/४२५/१४ परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य यः सर्वकालः तस्मिन्ननशनं अशनत्यागः सर्वानशनम्।···चरिमंते परिणामकालस्यान्ते। =मरण समयमें अर्थात् संन्यास कालमें मुनि सर्वानशन तप करते हैं।

६. अनशनके अतिचार

भ.आ./वि./४८७/७०७/१ तपसोऽनशनाख्यस्यातिचारः। स्वयं न भुङ्क्ते अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च। स्वयं क्षुधापीडित आहारमभिलषति। मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति, क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः। =स्वयं भोजन नहीं करता है, परन्तु दूसरोंको भोजन कराता है, कोई भोजन कर रहा हो तो उसकी अनुमति देता है, यह अतिचार मनसे, वचनसे और शरीरसे करना। भूखसे पीड़ित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको कौन पारणा देगा, किस घरमें मेरा पारणा होगा, ऐसी चिन्ता करना, ये अनशन तपके अतिचार हैं।

७. अनशन शक्तिके अनुसार करना चाहिए

अन.ध./५/६५ द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च। स्वास्थ्याय वर्तता सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥६५॥ =विचार पूर्वक आचरण करनेवाले साधुओंको आरोग्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान रखनेके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और वीर्य इन छह बातोंका अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन विद्धाशन और शुद्धाशनके द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिए।

८. अनशनके कारण व प्रयोजन

स.सि./९/१९/४३८ दृष्टफलानपेक्षं संयमसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम्। =दृष्ट फल मन्त्रसाधना आदिकी अपेक्षा किये बिना संयमकी सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मोंका विनाश ध्यान और आगमकी प्राप्तिके लिए अनशन तप किया जाता है। (रा.वा./९/१९/१/६१८/१६) (चा.सा./१३४/४)

ध.१३/५,४,२६/५५/३ किमट्ठमेसो कीरदे। पाणिंदियसंजमट्ठं, भुत्तीए उभयासंजम अविणाभावदंसणादो। =प्रश्न—यह अनेषण किसलिए किया जाता है? उत्तर—यह प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयमकी सिद्धिके लिए किया जाता है, क्योंकि भोजनके साथ दोनों प्रकारके असंयमका अविनाभाव देखा जाता है।

९. अनशनमें ऐहलौकिक फलकी इच्छा नहीं होनी चाहिए

रा.वा./९।१९।१/६१८/१६ यत्किंचिद्दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। =मन्त्र साधनादि कुछ भी दृष्ट फलकी अपेक्षाके बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। (चा.सा /१३४/४)

रा.वा./९/१९/१६/६१९/२४ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः (९/३) इत्यतः सम्यक्ग्रहणमनुवर्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र। ='सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' इस सूत्रमें-से सम्यक् शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इसी 'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति आनेसे सर्वत्र (अनशन तपमें भी) दृष्टफल निरपेक्षताका होना तपोंमें अनिवार्य है। इसलिए सभी तपोंमें ऐहलौकिक फलकी कामना नहीं होनी चाहिए।

★ **अधिक से अधिक उपवास करनेकी सीमा**—दे० प्रोषधोपवास।

अनस्तमी व्रत—व्रतविधान संग्रह/पृ.१६ कुल समय-जीवन पर्यन्त।

"किशनसिंह क्रिया कोष" विधि—प्रतिदिन सूर्यके दो घड़ी पश्चात् तथा सूर्योदयसे दो घड़ी पहले भोजन करे। बीचके शेष समयोंमें चारों प्रकारके आहार का त्याग। मन्त्र—नमस्कारमन्त्रकी त्रिकाल जाप।

अनाकांक्ष क्रिया—दे० क्रिया/३।

अनाकार—दे० आकार।

अनगार—मू.आ./८८६ समणोत्ति संजदोत्ति य रिसिमुणिसाधुत्ति वीदरागो त्ति। णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८६॥ =उत्तम चारित्रवाले मुनियोंके ये नाम हैं—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दंत व यति।

चा.पा./मू./२० दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे निरायारं। सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु निरायारं ॥२०॥ =संयम चारित्र है सो

दो प्रकारका होता है—सागार तथा निरगार या अनगार तहाँ सागार तो परिग्रह सहित श्रावकके होता है और निरागार परिग्रह रहित साधुके होता है।

दे० अगारी। चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर जो परिणाम घरसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वनमें निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें वास करते हुए भी अनगार है।

त.सा./४/७६ अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते। महाव्रतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः ॥७६॥ —वे व्रती अनगार तथा अगारी ऐसे दो प्रकार हैं। महाव्रतधारियोंको अनगार कहते हैं।

प्र.सा/ता.वृ./२४९ अनगाराः सामान्यसाधवः। कस्मात्। सर्वेषां सुख-दुःखादिविषये समतापरिणामोऽस्ति। =अनगार सामान्य साधुओंको कहते हैं, क्योंकि, सर्व ही सुख व दुःख रूप विषयोंमें उनके समता परिणाम रहता है। (चा.सा./४७/४)

२. अनगारका विषय विस्तार—दे० साधु।

अनगारधर्म—र. सा/मू./११···/ झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि ॥११॥ =ध्यान और अध्ययन करना मुनीश्वरोंका मुख्य धर्म है। जो मुनिराज इन दोनोंको अपना मुख्य कर्तव्य समझकर अहर्निश पालन करता है, वही मुनीश्वर है, मोक्ष मार्गमें संलग्न है। अन्यथा वह मुनीश्वर नहीं है।

प. वि./१/३८ आचारो दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्या गुणाः मिथ्या-मोहमदोज्झनं शमदमध्यानप्रमादस्थितिः। वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः॥३८॥ —ज्ञानाचारादि स्वरूप पाँच प्रकारका आचार, उत्तम क्षमादि रूप दश प्रकारका धर्म, संयम, तप तथा मूलगुण और उत्तरगुण, मिथ्यात्व, मोह एवं मदका त्याग, कषायोंका शमन, इन्द्रियोंका दमन, ध्यान, प्रमाद रहित अवस्थान, संसार, शरीर एवं इन्द्रिय विषयोंसे विरक्ति, धर्मको बढ़ानेवाले अनेकों गुण, निर्मल रत्नत्रय तथा अन्तमें समाधिमरण यह सब मुनियोंका धर्म है जो अविनश्वर मोक्षपदके आनन्दका कारण है।

अनगारधर्मामृत—पं. आशाधरजी (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित संस्कृत श्लोक बद्ध यत्याचार विषयक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ। इसमें ६ अध्याय तथा ६५४ श्लोक हैं।

अनाकांक्ष क्रिया—दे० क्रिया/३।

अनाकार—दे० आकार।

अनाचार—दे० अतिचार/पु. सि. उ. "व्रतका सर्वथा भंग होना अतिचार है।"

दे० अतिचार/सामायिक पाठ "विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति सो अनाचार है।"

२. अनाचार व अतिचारमें अन्तर—दे० अतिचार।

अनात्मभूत कारण—दे० कारण I/१।

अनात्मभूत लक्षण—दे० लक्षण।

अनादर—जम्बूद्वीपका अधिपति व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

अनादि—१. ज्ञानमें आ जानेके कारण अनादि सादि नहीं हो जाता —दे० अनंत/२; २. भूत भविष्यत कालका प्रमाण निश्चित कर देनेपर अनादि भी सादि बन जायेगा।—दे० काल/३।

अनादिनय—सादि अनादि पर्यायार्थिक नय—दे० नय IV/४।

अनादि बंध—सादि अनादि बन्धी-प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बंध/२।

अनादृत—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

अनादेय—दे० आदेय।

अनाभोगनिक्षेपाधिकरण—दे० अधिकरण।

अनाभोगकृतातिचार—दे० अतिचार।

अनाभोग क्रिया—दे० क्रिया/३।

अनायतन—दे० आयतन।

अनारम्भ—प्र. सा./त. प्र./२३६ निःक्रियनिजशुद्धात्मद्रव्ये स्थिरत्वात् मनोवचनकायव्यापारनिवृत्तिरनारम्भः। =निष्क्रिय जो निज शुद्धात्म द्रव्य, उसमें स्थित होनेके कारण मन वचन कायके व्यापारसे निवृत्त हो जाना अनारम्भ है।

अनालब्ध—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

अनालोच्य वचन—दे० असत्य।

अनावर्त—१. एक यक्ष—दे० यक्ष; २. उत्तर जम्बूद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

अनाहारक—ष. ख.१/१,१/सू. १७७/४१०/१ अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१७७॥ =विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके, मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि तथा समुद्घातगत केवली, इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव और अयोगिकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं॥१७७॥ (ध.१/१,१,५/१५३/२), (गो.जी./मू./६६६/१११२)

स. सि./२/२९/१८६ उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारकः। इतरेषु त्रिषु समयेषु अनाहारकः। =जब यह जीव उपपाद क्षेत्रके प्रति ऋजुगतिमें रहता है तब आहारक होता है। बाकीके तीन समयोंमें अनाहारक होता है।

रा. वा./२/७/११/६०४/१६ उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारः, तद्वि-परीतोऽनाहारः। तत्राहारः शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदया-भावाच्च भवति। अनाहारः शरीरनामत्रयोदयाभावात् विग्रहगति-नामोदयाच्च भवति। =उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण आहार है, उससे विपरीत अनाहार है। शरीर नामकर्मके उदय और विग्रहगति नामके उदयाभावसे आहार होता है। तीनों शरीर नाम-कर्मोंके उदयाभाव तथा विग्रहगति नामके उदयसे अनाहार होता है।

अनिःसृत—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

अनिःसरणात्मक तैजस शरीर—दे० तैज/१।

अनिंदित—किन्नर नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे० किन्नर।

अनिंदिता—म. पु./६२/ श्लोक "मगध देशके राजा श्रीषेणकी पत्नी थी (४०)। आहार दानकी अनुमोदना करनेसे भोग भूमिका बन्ध किया (३३८-३५०) अन्तमें पुत्रोंके पारस्परिक कलहसे दुःखी हो विष पुष्प सूँघकर मर गयी (३५६)। यह शान्तिनाथ भगवान्के चक्रायुध नामा प्रथम गणधरका पूर्वका चौदहवाँ भव है।—दे० चक्रायुध।

अनिंद्रिय—१. अनिन्द्रियका लक्षण मनके अर्थमें—दे० मन।

२. अनिन्द्रियका लक्षण इन्द्रिय रहितके अर्थमें :

ध.१/१,१,३३/२४८/८ न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः। के ते। अशरीराः सिद्धाः। उक्तं च—

ध.१/१,१,३३/गा०१४०/२४८/ण वि इंदिय-करणजुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे। णेव य इंदिय-सोक्खा अणिंदियाणंतणाण-सुहा ॥१४०॥ —जिनके इन्द्रियाँ नहीं पायी जातीं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं। प्रश्न—वे कौन हैं? उत्तर—शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं। कहा भी है—वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अव-ग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं।

उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान व अनन्त सुख अनिन्द्रिय है। (गो.जी./मू./१७४)

अनित्थं—दे० संस्थान।

अनित्य—दे० नित्य।

अनित्य अनुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

अनित्य नय—दे० नय I/५; सद्भावानित्यपर्यायार्थिक नय—दे० नय IV/२)।

अनित्यसमा जाति—दे० नित्यसमा।

अनित्य स्वभाव निर्देश—दे० स्वभाव/१।

अनिबद्ध मंगल—दे० मंगल।

अनियति नय—दे० नियति।

अनिरुद्ध—(म. पु./५५/१८) कृष्णका पोता तथा प्रद्युम्नका पुत्र था।

अनिवर्तक—भाविकालीन बीसवें तीर्थकर। अपरनाम कंदर्प। (विशेष—दे० तीर्थंकर/५)।

अनिह्नव—दे० निह्नव।

अनिवृत्तिकरण—जीवोंकी परिणाम विशुद्धिमें तरतमताका नाम गुणस्थान है। बढ़ते-बढ़ते जब साधक निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करनेके अभिमुख होता है तो उसकी संज्ञा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। इस अवस्थाको प्राप्त सभी जीवोंके परिणाम तरतमता रहित सदृश होते हैं। अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंका सामान्य परिचय 'करण' में दिया गया है। यहाँ केवल-अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका प्रकरण है।

१. अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/२०-२१ एकम्मि कालसमये संठाणादीहि जह णिवट्टंति। ण णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहिं मिहो जम्हा ॥ २० ॥ होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा। विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ २१ ॥ =इस गुणस्थानके अन्तर्मुहूर्त-प्रमित कालमें-से विवक्षित किसी एक समयमें अवस्थित जीव यतः संस्थान (शरीरका आकार) आदिकी अपेक्षा जिस प्रकार निवृत्ति या भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार परिणामोंकी अपेक्षा परस्पर निवृत्तिको प्राप्त नहीं होते हैं, अतएव वे अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है। ऐसे ये जीव अपने अतिविमल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओं से कर्मरूप वनको सर्वथा जला डालते हैं। (ध. १/१,१,१७/१८६/गा. ११९-१२०) (गो. जी./मू./५६-५७/१४९) (पं. सं./सं./१/३८,४०)

रा. वा./९/१/२०/५९०/१४ अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायौ ॥ २० ॥···तत्र उपशमनीयाः क्षपणीयाश्च प्रकृतय उत्तरत्र वक्ष्यन्ते। =अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्म प्रकृतियोंको स्थूल रूपसे उपशम या क्षय करनेवाला उपशामक-क्षपक अनिवृत्तिकरण होता है।

ध. १/१,१,१७/१८३/११ समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः।···साम्परायाः कषायाः, बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च बादरसाम्परायाः। अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परायाश्च अनिवृत्तिबादरसाम्परायाः। तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां तेऽनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः। तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च। ते सर्वे एको गुणोऽनिवृत्तिरिति। =समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं। अथवा निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें अनिवृत्ति कहते हैं।··· साम्पराय शब्दका अर्थ कषाय है और बादर स्थूलको कहते हैं। इसलिए स्थूल कषायोंको बादरसाम्पराय कहते हैं, और अनिवृत्तिरूप बादरसाम्परायको अनिवृत्तिबादरसाम्पराय कहते हैं। उन अनिवृत्तिबादरसाम्परायरूप परिणामोंमें जिन संयतोंकी विशुद्धि प्रविष्ट हो गयी है, उन्हें अनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धि संयत कहते हैं। ऐसे संयतोंमें उपशामक व क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं। और उन सब संयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है।

गो. जी./जी. प्र./५७/१५०/३ न विद्यते निवृत्तिः विशुद्धिपरिणामभेदो येषां ते अनिवृत्तयः इति निरुक्त्याश्रयणात्। ते सर्वेऽपि अनिवृत्तिकरणा जीवाः तत्कालप्रथमसमयादिं कृत्वा प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिवृद्धया वर्धमानेन हीनाधिकभावरहितेन विशुद्धिपरिणामेन प्रवर्तमानाः सन्ति यतः, ततः प्रथमसमयवर्तिजीवविशुद्धिपरिणामेभ्यो द्वितीयसमयवर्तिजीवविशुद्धिपरिणामा अनन्तगुणा भवन्ति। एवं पूर्वपूर्वसमयवर्तीजीवविशुद्धिपरिणामेभ्यो जीवानामुत्तरोत्तरसमयवर्तिजीवशुद्धिपरिणामा अनन्तानन्तगुणितक्रमेण वर्धमाना भूत्वा गच्छन्ति। =जातैं नाहीं विद्यमान है निवृत्ति कहिये विशुद्धि, परिणामनि विषै भेद जिनके तै अनिवृत्तिकरण हैं ऐसी निरुक्ति जानना। जिन जीवनिको अनिवृत्तिकरण माडैं पहला दूसरा आदि समान समय भये होंहि, तिनि त्रिकालवर्ती अनेक जीवनिके परिणाम समान होंहि। जैसे—अधःकरण अपूर्वकरण विषैं समान होते थे तैसैं इहाँ नाहीं। बहुरि अनिवृत्तिकरण कालका प्रथम समयको आदि देकरि समय-समय प्रति वर्तमान जे सर्व जीवतैं हीन अधिकपनातै रहित समान विशुद्ध परिणाम धरैं हैं। तहाँ समय समय प्रति जे विशुद्ध परिणाम अनन्तगुणै अनन्तगुणै उपजै हैं, तहाँ प्रथम समय विषैं जे विशुद्ध परिणाम हैं तिनितैं द्वितीय समय विषैं विशुद्ध परिणाम अनन्तगुणै हो हैं। ऐसें पूर्व पूर्व समयवर्ती विशुद्ध परिणामनितैं जीवनिके उत्तरोत्तर समयवर्ती विशुद्ध परिणाम अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा अनन्तगुणा अनन्तगुणा अनुक्रमकरि बधता हुआ प्रवर्तें हैं।

द्र. सं. /टी./१३/३५ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिरूपसमस्तसंकल्पविकल्परहितनिजनिश्चलपरमात्मस्वैकाग्रध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये परस्परं पृथक्कर्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणौपशमिकक्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमक्षपणसमर्था नवमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति। =देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगोंकी वांछादि रूप सम्पूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूपके एकाग्र ध्यानके परिणामसे जिन जीवोंके एक समयमें परस्पर अन्तर नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थानके भेद होनेपर भी अनिवृत्तिकरण उपशामक व क्षपक संज्ञाके धारक; अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि इक्कीस प्रकारकी चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंके उपशमन और क्षपणमें समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

२. सम्यक्त्व व चारित्र दोनोंकी अपेक्षा औपशमिक व क्षायिक दोनों भावोंकी सम्भावना

ध. १/१,१,१७/१८५/८ काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति, काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः। काश्चित् प्रकृतीः क्षपयति काश्चिदुपरिष्टात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च। सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणस्तत्रान्यस्यासंभवात्। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिकश्चोभयोरपि तत्राविरोधात्।— इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है, और कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशमन करेगा, इस अपेक्षा यह गुणस्थान औपशमिक है। और कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता

है, तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इस दृष्टिसे क्षायिक भी है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान क्षायिक भावरूप ही है, क्योंकि क्षपक श्रेणीमें दूसरा भाव सम्भव ही नहीं है। तथा चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है, क्योंकि उपशम श्रेणीकी अपेक्षा वहाँपर दोनों भाव सम्भव हैं।

३. इस गुणस्थानमें औपशमिक व क्षायिक ही भाव क्यों

ध. ५/१,७,८/२०४/४ होदु णाम उवसंतकसायस्स ओवसमिओ भावो उवसमिदासेसकसायत्तादो। ण सेसाणं, तत्थ असेसमोहस्सुवसमाभावा। ण अणियट्टिबादरसांपराय-सुहुमसांपराइयाणं उवसमिदथोवकसाय-जणिदुवसमपरिणामाणं ओवसमियभावस्स अत्थित्ताविरोहा।

ध. ५/१,७,९/२०५/१० बादर-सुहुम ससांपराइयाणं पि खवियमोहेयदेसाणं कम्मक्खयजणिदभावोवलंभा।=

प्रश्न—समस्त कषायों और नोकषायोंके उपशमन करनेसे उपशान्तकषाय छद्मस्थ जीवके औपशमिक भाव भले रहा आवे, किन्तु अपूर्वकरणादि शेष गुणस्थानवर्ती जीवोंके औपशमिक भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, इन गुणस्थानोंमें समस्त मोहनीय कर्मके उपशमनका अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि कुछ कषायोंके उपशमन करनेसे उत्पन्न हुआ है उपशम परिणाम जिनके, ऐसे अनिवृत्तिकरण बादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय संयतके उपशम भावका अस्तित्व माननेमें कोई विरोध नहीं है। मोहनीय कर्मके एक देशके क्षपण करनेवाले बादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकोंके भी कर्मक्षय जनित भाव पाया जाता है। (ध. ७/२,१,४९/९३/१)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* इस गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी जीवसमास, मार्गणास्थानादि २० प्ररूपणाएँ—दे० सत्।
* इस गुणस्थान सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम।
* इस गुणस्थानमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व —दे० वह वह नाम।
* इस गुणस्थानमें कषाय, योग व संज्ञाके सद्भाव व तत्सम्बन्धी शंका समाधान —दे० वह वह नाम
* अनिवृत्तिकरणके परिणाम, आवश्यक व अपूर्वकरणसे अन्तर, अनिवृत्तिकरण लब्धि—दे० करण/६।
* अनिवृत्तिकरणमें योग व प्रदेश बन्धकी समानताका नियम नहीं। दे० करण/६।
* पुनः पुनः यह गुणस्थान प्राप्त करनेकी सीमा—दे० संयम/२।
* उपशम व क्षपक श्रेणी—दे० श्रेणी/३,४।
* बादर कृष्टि करण—दे० कृष्टि।
* सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा।

अनिष्ट—पदार्थकी इष्टता-अनिष्टता रागके कारणसे है। वास्तवमें कोई भी पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं।—दे० राग/२।

अनिष्ट पक्षाभास—दे० पक्ष।

अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान—दे० आर्तध्यान।

अनिसृष्ट—वसतिका दोष—दे० वसति।

अनीक—स. सि./४/४/२३९ पदात्यादीनि सप्त अनीकानि दण्डस्थानीयानी।—सेनाकी तरह सात प्रकारके पदाति आदि अनीक कहलाते हैं। (रा. वा./४/४/७/२१३/६)।

ति. प./३/६७ सेणोवमा यणिया ॥६७॥—अनीकदेव सेनाके तुल्य होते हैं।

त्रि. सा./२२४/भाषा "जैसे राजाके हस्ति आदि सेना है वैसे देवोंमें अनीक जातिके देव ही हस्ति आदि आकार अपने नियोग तैं होइ हैं।"

१. अनीक देवोंके भेद

ति. प./३/७७ सत्ताणीयं होंति हु पत्तेक्कं सत्त सत्त कक्खजुदा। पढमं ससमाणसमा तद्दुगुणा चरमकक्खंतं ॥७७॥—सात अनीकोंमें-से प्रत्येक अनीक सात-सात कक्षाओंसे युक्त होती है। उनमें-से प्रथम कक्षाका प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवोंके बराबर, तथा इसके आगे अन्तिम कक्षा तक उत्तरोत्तर प्रथम कक्षासे दूना-दूना प्रमाण होता चला गया है ॥७७॥

ज. प./४/१५८-१५९ ···सत्ताणिया पवक्खामि। सोहम्मकप्पवासीइंदस्स महाणुभावस्स ॥१५८॥ वसभरहतुरयमयगलणच्चणगंधव्वभिच्चवग्गाणं। सत्ताणीया दिट्ठा सत्तहि कच्छाहि संजुत्ता॥१५९॥—महा प्रभावसे युक्त सौधर्म इन्द्रकी सात अनीकोंका वर्णन करते हैं॥१५८॥ वृषभ, रथ, तुरग, मदगल (हाथी), नर्तक, गन्धर्व और भृत्यवर्ग इनकी सात कक्षाओंसे संयुक्त सात सेनाएँ कही गयी हैं।

त्रि. सा./२८०,२३० कुंजरतुरयपदादीरहगंधव्वा य णच्चवसहोत्ति। सत्तेवय अणीया पत्तेयं सत्त सत्त कक्खजुदा ॥२८०॥···। पढमं ससमाणसमं तद्दुगुणं चरिमकक्खोत्ति ॥२३०॥—हाथी, घोड़ा, पयादा, रथ, गन्धर्व, नृत्यकी, और वृषभ ऐसे सात प्रकार अनीक एक एकके हैं। बहुरि एक-एक अनीक सात-सात कक्ष कहिये फौज तिन करि संयुक्त है॥२८०॥ तहाँ प्रथम अनीकका कक्ष विषैं प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवनिके समान है। तातैं दूणां दूणां प्रमाण अन्तका कक्ष विषैं पर्यन्त जानना। तहाँ चमरेन्द्रके भैंसानिकी प्रथम फौजनि विषैं चौंसठ हजार भैंसे हैं। तातै दूणें दूसरी फौज विषैं भैंसे हैं। ऐसे सत्ताईस फौज पर्यन्त दूणें-दूणें जानने। बहुरि ऐसे हीं तथा इतने ही घोटक आदि जानने। याही प्रकार औरनिका यथा सम्भव जान लेना ॥२३०॥

* इन्द्रों आदिके परिवारमें अनीकोंका निर्देश—दे० देव। भवनवासी आदि भेद।

२. कल्पवासी अनीकोंकी देवियोंका प्रमाण

ति. प./८/३२८ सत्ताणीय पहूणं पुह पुह देवीओ छस्सया होंति। दोण्णि सया पत्तेक्कं देवीओ आणीय देवाणं ॥३२८॥—सात अनीकोंके प्रभुओंके पृथक् पृथक् छः सौ और प्रत्येक अनीकके दो सौ देवियाँ होती हैं।

अनीकदत्त—ह. पु./३४/ श्लोक "पूर्वके चतुर्थ भवमें भानू सेठके शूर नामक राजपुत्र हुआ (९७-९८)। फिर पूर्वके तीसरे भवमें चित्रचूल विद्याधरका पुत्र 'गरुड़ध्वज' हुआ (१३२-१३३)। फिर दूसरे भवमें गंगदेव राजाका पुत्र 'गंगरक्षित' हुआ (१४२-१४३)। वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र तथा कृष्णका भाई था (३४/७)। कंसके भयसे गुप्तरूपमें 'सुदृष्टि' नामक सेठके घर पालन-पोषण हुआ था (३४/७)। धर्म श्रवण कर दीक्षा धारण कर ली (५९/११५-१२०)। अन्तमें गिरनार पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)।

अनीकपाल—'अनीकदत्त'वत् ही है। नामोंमें शूरके स्थानपर 'सूरदेव' और गंगरक्षितके स्थानपर 'नन्द' पढ़ना।

अनीश्वरनय—दे० नय I/५।

अनु—स. सि./२/२६/१८३ अनुशब्दस्यानुपूर्व्येण वृत्तिः।—'अनु' शब्दका अर्थ 'यथाक्रम करि' ऐसा है। (रा. वा./२/२६/२/१३९/२८)

अनुकंपा—पं. का./मू./१३७/२०१ तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो। पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ =तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दुखीको देखकर जो जीव मनमें दुःख पाता हुआ उसके प्रति करुणासे वर्तता है, उसका वह भाव अनुकम्पा है।

स. सि./६/१२/३३० अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा। =अनुग्रहसे दयार्द्र चित्तवालेके दूसरेकी पीड़ाको अपनी ही माननेका जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। (रा. वा./६/१२/३/५२२/१६)।

रा.वा./१/२/३०/२२/६ सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। =सर्व प्राणी मात्रमें मैत्रीभाव अनुकम्पा है।

प्र.सा./ता.वृ./२६८ तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति दयापरिणामेन तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति। =प्यासेको या भूखेको या दुःखित किसी भी प्राणीको देखकर जो स्पष्टतः दुःखित मन होकर दया परिणामके द्वारा (उनकी सेवा आदि) स्वीकार करता है, उस पुरुषके प्रत्यक्षीभूत शुभोपयोग रूप यह दया या अनुकम्पा होती है।

पं.ध./उ०/४४६,४५० अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः। मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥४४६॥ समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा। अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥४५०॥ =अनुकम्पा शब्दका अर्थ कृपा समझना चाहिए अथवा वैरके त्याग पूर्वक सर्व प्राणियोंपर अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थभाव और शल्य रहित वृत्ति अनुकम्पा कहलाती है ॥४४६॥ जो सब प्राणियोंमें समता या माध्यस्थभाव और दूसरे प्राणियोंके प्रति दयाका भाव है वह सब वास्तवमें शल्यके समान शल्यके त्याग होनेके कारण स्वानुकम्पा ही है ॥४५०॥

द.पा./२/पं जयचन्द "सर्व प्राणीनि विषै उपकारकी बुद्धि तथा मैत्री भाव सो अनुकम्पा है, सो आप ही विषै अनुकम्पा है"।

२. अनुकम्पाके भेद

भ.आ./वि./१८३४/१६४३/३ अनुकम्पा त्रिप्रकारा। धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा चेति। =अनुकम्पा या दया इसके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा।

३. अनुकम्पाके भेदोंके लक्षण

भ.आ./वि./१८३४/१६४३/५ तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासंयमेषु मानावमानसुखदुःखलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियान्तःकरणेषु मातरमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु, संसारमहासमुद्रभयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अंगीकृतनिस्संगत्वेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथौषधादिकं संयमसाधनं यतिभ्यः प्रयच्छति। स्वामविनिगुह्यशक्तिम् उपसर्गदोषानपसारयति, आज्ञाप्यतामिति सेवां करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति। तैः प्रसंयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषाम् गुणान् कीर्तयति स्वान्ते गुरुमिव पश्यति तेषां गुणानामभीक्ष्णं स्मरति, महात्मभिः कदा नु मम समागम इति तैः संयोगं समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानान्निशम्य तुष्यति। इत्थमनुकम्पापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति। त्रिधा च सन्तो बन्धमुपदिशन्ति स्वयं कृतेः, करणायाः, परैः कृतस्यानुमतेश्च ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रवः। मिश्रानुकम्पोच्यते पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृताः संतोषवैराग्यपरमनिरताः दिग्विरतिं, देशविरतिं, अनर्थदण्डविरतिं चोपगतास्तीव्रदोषान् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणाः पापात्परिभीतचित्ताः, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पोच्यते। जीवेषु दयां च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमानाः जिनसूत्राद्बाह्या येऽन्यपाखण्डरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति क्रियमाणानुकम्पा तया सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्राप्नोति देशप्रवृत्तिगृहिणामकृत्स्नत्वात्। मिथ्यात्वदोषोपहतोऽन्यधर्म इत्येषु मिश्रो भवति धर्मो मिश्रानुकम्पामवगच्छेज्जन्तुः। सद्दृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः। यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा।

छिन्नान् भिन्नान् बद्धान् प्रकृतविलुप्यमानांश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरेनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोके परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माङ्गान् कुन्थुपिपीलिकाप्रभृतिप्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभिः संमृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदर्शनात् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, स्वपुत्रकलत्रादिभिरप्राप्तिकालिः (?) सहसा वियुज्य कुर्वतो रुजा विक्रोशतः, स्वाङ्गानि घ्नतश्च, शोकेन उपार्जितद्रविणैर्वियुज्यमानान् प्रनष्टबन्धून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् यान् प्रज्ञाप्रशवस्या वराकान् निरीक्ष्य दुःखमात्मस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकम्पा। =१. धर्मानुकम्पा—जिन्होंने असंयमका त्याग किया है। मान, अपमान, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ, तृण, स्वर्ण इत्यादिकोंमें जिनकी बुद्धि रागद्वेष रहित हो गयी है, इन्द्रिय और मन जिन्होंने अपने वश किये हैं, उग्र कषाय विषयोंको जिन्होंने छोड़ दिया है, दिव्य भोगोंको दोष युक्त देख कर जो वैराग्य युक्त हो गये हैं, संसार समुद्रकी भीतिसे रातमें भी अल्प निद्रा लेनेवाले हैं। जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़कर निःसंगता धारण की है, जो क्षमादि दस प्रकारके धर्मोंमें इतने तत्पर रहते हैं कि मानो स्वयं क्षमादि दशधर्म स्वरूप ही बनें हों, ऐसे संयमी मुनियोंके ऊपर दया करना, उसको धर्मानुकम्पा कहते हैं। यह अन्तःकरणमें जब उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थ यतियोंको योग्य अन्नजल, निवास, औषधादिक पदार्थ देता है। अपनी शक्तिको न छिपा कर वह मुनिके उपसर्गको दूर करता है। हे प्रभो! आज्ञा दीजिए, ऐसी प्रार्थना कर सेवा करता है। यदि कोई मुनि मार्गभ्रष्ट होकर दिङ्मूढ हो गये हों तो उनको मार्ग दिखाता है। मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेसे 'हम धन्य हैं' ऐसा समझकर मनमें आनन्दित होता है, सभामें उनके गुणोंका कीर्तन करता है। मनमें मुनियोंको धर्मपिता व गुरु समझता है। उनके गुणोंका चिन्तन सदा मनमें करता है, ऐसे महात्माओंका फिर कब संयोग होगा ऐसा विचार करता है, उनका सहवास सदा ही होनेकी इच्छा करता है, दूसरेके द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर सन्तुष्ट होता है। इस प्रकार धर्मानुकम्पा करनेवाला जीव साधुके गुणोंको अनुमोदन देनेवाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है। आचार्य बन्धके तीन प्रकार कहते हैं—अच्छे कार्य स्वयं करना, कराना, और करनेवालोंको अनुमति देना, इससे महान् पुण्यास्रव होता है, क्योंकि महागुणोंमें प्रेम धारण कर जो कृत कारित और अनुमोदन प्रवृत्ति होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करती है। २. मिश्रानुकम्पा—महान् पातकोंके मूल कारण रूप हिंसादिकोंसे विरक्त होकर अर्थात् अणुव्रती बनकर सन्तोष और वैराग्यमें तत्पर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डत्याग इन अणुव्रतोंको धारण करते हैं, जिनके सेवनसे महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भोगोपभोगोंका त्यागकर बाकीके भोगोपभोगकी वस्तुओंका जिन्होंने प्रमाण किया है, जिनका मन पापसे भय युक्त हुआ है, पापसे डर कर विशिष्ट देश और कालकी मर्यादा करि जिन्होंने सर्व पापोंका त्याग किया है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, पर्वोंके दिनमें सम्पूर्ण आरम्भ

का त्याग कर जो उपवास करते हैं; ऐसे संयतासंयत अर्थात् गृहस्थों पर जो दया की जाती है उसको मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो जीवोंपर दया करते हैं, परन्तु दयाका पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं, जो जिन सूत्रसे बाह्य हैं, जो अन्य पाखण्डी गुरुकी उपासना करते हैं, नम्र और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं, इनके ऊपर कृपा करना यह भी मिश्रानुकम्पा है, क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्ममें प्रवृत्ति है, वे सम्पूर्ण चारित्र रूप धर्मका पालन नहीं कर सकते। अन्य जनोंका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है। इस वास्ते गृहस्थ धर्म और अन्य धर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मिश्रानुकम्पा कहते हैं। 3. सर्वानुकम्पा—सुदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि जन, कुदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि जन यह दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं, इस दयाका नाम सर्वानुकम्पा है। जिनके अवयव टूट गये, जिनको जख्म हुई है, जो बान्धे गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे लूटे जा रहे हैं, ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निरपराधी मनुष्योंको देखकर मानो अपनेको ही दुःख हो रहा हो, ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुकम्पा है। हिरण, पक्षी, पेटसे रेंगनेवाले प्राणी, पशु, इनको मांसादिक के लिए लोग मारते हैं ऐसा देखकर, अथवा आपसमें उपर्युक्त प्राणी लड़ते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देख कर जो दया उत्पन्न होती है, उसको सर्वानुकम्पा कहते हैं। सूक्ष्म कुंथु, चींटी वगैरह प्राणी, मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़ा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं, ऐसा देख कर दया करनी चाहिए। असाध्य रोग रूपी सर्प से काटे जानेसे जो दुखी हुए हैं, 'मैं मर रहा हूँ' 'मेरा नाश हुआ' 'हे जन दौड़ो' ऐसा जो दुःखसे शब्द कर रहे हैं, उनके ऊपर दया करनी चाहिए। पुत्र, कलत्र, पत्नी वगैरहसे जिनका वियोग हुआ है, जो रोग पीड़ासे शोक कर रहे हैं, अपना मस्तक वगैरह जो वेदनासे पीटते हैं, कमाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है, जिनके बान्धव छोड़कर चले गये हैं, जो धैर्य, शिल्प, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकोंसे रहित है, उनको देखकर, अपनेको इनका दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उन प्राणियोंको स्वस्थ करना, उनकी पीड़ाका उपशम करना, यह सर्वानुकम्पा है।

अनुकृति—ध. ११/४,२,६,२४६/३४१/१२ अणुकट्ठी णाम ट्ठिदिं ज्झवसाणट्ठाणाणं समाणत्तमसमाणत्तं च परूवेदि। =अनुकृति अनुयोगद्वार प्रत्येक स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंकी समानता व असमानताको बतलाता है।

अनुकृष्टि—ल. सा./४३/७७/५ अनुकृष्टयद्धा एकसमयपरिणामनानाखण्डसंख्येत्यर्थः। =अनुकृष्टिका गच्छ, एक एक समय सम्बन्धी परिणामनि विषैं एते एते खण्ड हो हैं ऐसा अर्थ है। (विशेष दे० गणित II/५)।

अनुकृष्टि गच्छ आदि—दे० गणित II/६।

अनुकृष्टि चय—दे० गणित II/५।

अनुक्त—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

अनुगम—ध. ३/१,२,१/८/६ यथावस्त्ववबोधः अनुगमः केवलिश्रुतकेवलिभिरनुगतानुरूपेणावगमो वा। =वस्तुके अनुरूप ज्ञानको अनुगम कहते हैं। अथवा केवली और श्रुतकेवलियोंके द्वारा परम्परासे आये हुए अनुरूप ज्ञानको अनुगम कहते हैं।

ध. ९/४,१,४५/१४१/६ जम्हि जेण वा वत्तव्वं परूविज्जदि सो अणुगमो। अहियारसण्णिदाणमणिओगद्दाराणं जे अहियारा तेसिमणुगमो त्ति सण्णा, जहा वेयणाए पदमीमांसादि।...अथवा अनुगम्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अनेनेत्यनुगमः प्रमाणम्। =1. जहाँ या जिसके द्वारा वक्तव्यकी प्ररूपणा की जाती है, वह अनुगम कहलाता है। 2. अधिकार संज्ञा युक्त अनुयोगद्वारोंके जो अधिकार होते हैं उनका 'अनुगम' यह नाम है, जैसे—वेदनानुयोगद्वारके पदमीमांसा आदि अनुगम। 3. अथवा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं वह अनुगम अर्थात् प्रमाण कहलाता है।

ध. ९/४,१,४५/१६२/४ अथवा अनुगम्यन्ते परिच्छिद्यन्त इति अनुगमाः षट्द्रव्याणि त्रिकोटिपरिणामात्मकपाखण्ड्यविषयाविभाड्भावरूपाणि प्राप्तजात्यन्तराणि प्रमाणविषयतया अपसारितदुर्नयानि स्वविश्वरूपानन्तपर्यायसप्रतिपक्षविविधनियतभङ्गात्मकसत्तास्वरूपाणीति प्रतिपत्तव्यम्। एवमणुगमपरूवणा कदा। ='अथवा जो जाने जाते हैं' इस निरुक्तिके अनुसार त्रिकोटि स्वरूप (द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप) पाषण्डियोंके अविषय भूत अविभाड्भाव सम्बन्ध अर्थात् कथंचित् तादात्म्य सहित, जात्यन्तर स्वरूपको प्राप्त, प्रमाणके विषय होनेसे दुर्नयोंको दूर करनेवाले, अपनी नानारूप अनन्त पर्यायोंकी प्रतिपक्ष भूत असत्तासे सहित और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूपसे संयुक्त, ऐसे छह द्रव्य अनुगम हैं, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार अनुगमकी प्ररूपणा की है।

अनुगामी—अवधिज्ञानका एक भेद—दे० अवधिज्ञान/१।

अनुग्रह—स. सि./७/३८/३७२ स्वपरोपकारोऽनुग्रहः। स्वोपकारः पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः। =अपना तथा दूसरेका उपकार सो अनुग्रह है। (दान विषैं) अपना उपकार तो पुण्य संचय है और परका उपकार सम्यग्ज्ञानादिकी वृद्धि है। (रा.वा./७/३८/१/५५९/१५)

रा. वा./४/२०/२/२३५/१३ अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम्। =इष्ट प्रतिपादन करना अनुग्रह है।

रा. वा./५/१९/३/४६०/२५ द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह इत्याख्यायते। =द्रव्यकी अन्य शक्तियोंके प्रगट होनेमें कारणभावको अनुग्रह या उपग्रह कहते हैं।

अनुग्रहतंत्र नय—दे० नय I/५।

अनुजीवी गुण—दे० गुण/१।

अनुत्तर—ध.१३/५,५,५०/२८३/३ उत्तरं प्रतिवचनम्, न विद्यते उत्तरं यस्य श्रुतस्य तदनुत्तरं श्रुतम्। अथवा अधिकमुत्तरम्, न विद्यते उत्तरोऽन्यसिद्धान्तः अस्मादित्यनुत्तरं श्रुतम्। =1. उत्तर प्रतिवचनका दूसरा नाम है, जिस श्रुतका उत्तर नहीं है वह श्रुत अनुत्तर कहलाता है। अथवा उत्तर शब्दका अर्थ अधिक है, इससे अधिक चूँकि अन्य कोई भी सिद्धान्त नहीं पाया जाता, इसलिए इस श्रुतका नाम अनुत्तर है। 2. कल्पातीत स्वर्गोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/५।

अनुत्तरोपपादक—ध. १/१,१,२/१०४/१ अनुत्तरेष्वौपपादिका: अनुत्तरौपपादिकाः। =जो अनुत्तरोंमें उपपाद जन्मसे पैदा होते हैं, उन्हें अनुत्तरोपपादिक कहते हैं।

2. भगवान् वीरके तीर्थमें दश अनुत्तरोपपादकोंका निर्देश

ध./१,१,२/१०४/२ ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्त्तिकेयानन्द-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे। =ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्त्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरोपपादिक वर्धमान तीर्थंकरके तीर्थमें हुए हैं।

अनुत्तरोपपादकदशांग—द्रव्यश्रुतज्ञानका नवां अंग—दे० श्रुतज्ञान III।

अनुत्पत्तिसमाजाति—न्या. सू./५/१/१२/२९२ प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥१२॥ =उत्पत्तिके पहले कारणके न रहनेसे 'अनुत्पत्तिसम' होता है। शब्द अनित्य है, प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं होनेसे घट की नाईं है, ऐसा कहनेपर दूसरा कहता है कि उत्पत्तिके पहले अनुत्पन्न शब्दमें प्रयत्नावश्यकता जो अनित्यत्वकी हेतु है, वह नहीं है। उसके अभावमें नित्यका होना प्राप्त हुआ और नित्यकी उत्पत्ति है नहीं, अनुत्पत्तिसे प्रत्यवस्थान होनेसे अनुत्पत्तिसम हुआ। (श्लो. वा. ४/न्या. ३७३/५१/४)

अनुत्पादनोच्छेद—दे० व्युच्छित्ति।

अनुत्सेक—स. सि./६/२६/३४० विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारतानुत्सेकः। =ज्ञानादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सेक है।

अनुदिश—रा. वा./४/१९/५/२२५/१ किमनुदिशमिति। प्रतिदिशमित्यर्थः। =प्रश्न—अनुदिशसे क्या तात्पर्य है? उत्तर—अनुदिश अर्थात् प्रत्येक दिशामें वर्तमान विमान। (अर्थात् जो प्रत्येक आठ दिशाओंमें पाये जायें, वे अनुदिश हैं। क्योंकि अनुदिश विमान एक मध्यमें है तथा दिशाओं व विदिशाओंमें आठ हैं। अतः इन विमानोंको अनुदिश कहते हैं। २. कल्पातीत स्वर्गोंका एक भेद=दे० स्वर्ग/५।

अनुपक्रम—दे० काल/१।

अनुपचरित नय—दे० नय V/५।

अनुपमा—वरांग. च./सर्ग/श्लोक "समृद्धपुरके राजा धृतिसेनकी पुत्री थी (२/११)। वरांगकुमारसे विवाही गयो (२/८७)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (२९/१४) तथा घोर तपश्चरण कर स्वर्गमें देव हुई (३१/११४)।

अनुपलब्धि—दे० उपलब्धि।

अनुपसंहारी हेत्वाभास—श्लो. वा.४/न्या, २७३/४२५/२२ तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः। =व्यतिरेक नहीं पाया जाकर जिसका केवल अन्वय ही वर्तता है उसको पक्ष या साध्य बनाकर जिस अनुमानमें हेतु दिये जाते हैं, वे हेतु अनुपसंहारी हेत्वाभास हैं।

अनुपस्थापनापरिहार प्रायश्चित्त—दे० परिहार।

अनुपात—रा.वा./१/११/६/५२/२४ अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादिपरः। =अनुपात उपदेशादि 'पर' है।

रा. वा./६/७/१/६००/८ अनुपात्तानि परमाण्वादीनि। कर्मनोकर्मभावेन आत्मनागृहीतानि। =अनुपात द्रव्य जैसे परमाणु आदि हैं जो आत्माके द्वारा कर्म व नोकर्म रूपसे ग्रहण किये जाने योग्य नहीं हैं।

ध. १२/४,२,७/२२०/१९६/१ कोऽनुपातः। त्रैराशिकम्। =प्रश्न—अनुपात किसे कहते हैं? उत्तर—त्रैराशिकको अनुपात कहते हैं। २. (ज.प./प्र.१२७) Proportion.।

अनुपालनाशुद्धप्रत्याख्यान—दे० प्रत्याख्यान/१।

अनुप्रेक्षा—किसी बातको पुनः-पुनः चिन्तवन करते रहना अनुप्रेक्षा है। मोक्षमार्गमें वैराग्यकी वृद्धिके अर्थ बारह प्रकारकी अनुप्रेक्षाओंका कथन जैनागममें प्रसिद्ध है। इन्हें बारह वैराग्य भावनाएँ भी कहते हैं। इनके भानेसे व्यक्ति शरीर व भोगोंसे निर्विण्ण होकर साम्य भावमें स्थिति पा सकता है।

१. भेद व लक्षण

१. अनुप्रेक्षा सामान्यका लक्षण

त. सू./६/७ स्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। =बारह प्रकारसे कहे गये तत्त्वका पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

स. सि./६/२/४०६ शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। =शरीरादिकके स्वभावका पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। (रा. वा./६/२/४/५६१/३४)

स. सि./६/२५/४४३ अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। =जाने हुए अर्थका मनमें अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। (रा. वा./६/२५/३/६२४) (त.सा./७/२०) (चा.सा./१५३/३) (अन.ध./७/८६/७१५)

ध. ६/४,१,५५/२६३/१ कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणुपेक्खणा णाम। =कर्मोंकी निर्जराके लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्ण रूपसे हृदयंगम हुए श्रुतज्ञानके परिशीलन करनेका नाम अनुप्रेक्षणा है।

ध. १४/५,६,१४/६/५ सुदत्थस्स सुदाणुसारेण चिन्तणमणुपेहणं णाम। =सुने हुए अर्थका श्रुतके अनुसार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

२. अनुप्रेक्षाके भेद

त. सू./६/७ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥ =अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्वका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं। (बा.अ./२) (मू.आ./६६२) (रा.वा. १/७/१४/४०/१४) (पं.वि./६/४३-४४); (द्र.सं./टी/३५/१०१)

भ. आ./मू./१७१५/१५४७ अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोयमसुइत्तं। आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतिज्ज॥ =अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि ऐसे बारा अनुप्रेक्षाओंका भी चिन्तन करना चाहिए।

रा. वा./६/७/५/६०१/२६ अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते—नामस्थापनाद्रव्यभावालम्बनेन। =अन्यत्व नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके आश्रयसे चार प्रकारका है।

३. अनित्यानुप्रेक्षा—१ निश्चय

बा. अ./७ परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं। वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतये णिच्चं ॥७॥ =शुद्ध निश्चयनयसे आत्माका स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिए कि यह देव, असुर, मनुष्य और राजा आदिके विकल्पोंसे रहित है। अर्थात् इसमें देवादिक भेद नहीं हैं—ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहनेवाला है।

रा. वा./६/७/१/६००/७ उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वाभावोऽनित्यत्वम्। =उपात्त और अनुपात्त द्रव्य संयोगोंका व्यभिचारी-स्वभाव अनित्य है।

द्र. सं./टी/३५/१०२ तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम्। तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मानं भावयति तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। इत्यध्रुवानुप्रेक्षा मता। =(धन स्त्री आदि) सो सब अनित्य हैं, इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए। उस भावना सहित पुरुषके उन स्त्री आदिके वियोग होनेपर भी जूठे भोजनोंके समान ममत्व नहीं होता। उनमें ममत्वका अभाव होनेसे अविनाशी निज परमात्माको ही भेद, अभेद रत्नत्रयकी भावना-द्वारा भाता है। जैसी अविनश्वर आत्माको भाता है, वैसी ही अक्षय, अनन्त सुख स्वभाववाली मुक्त आत्माको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अध्रुव भावना है।

२. व्यवहार

बा. अ./६ जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं। भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥ =जब क्षीरनीरवत् जीवके साथ निबद्ध यह शरीर ही शीघ्र नष्ट हो जाता है, तो भोगोपभोगके कारण यह दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं। (भूधरकृत १२ भावनाएँ) (श्रीमद्कृत १२ भाव०)

स. सि./६/७/४१३ इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि जलबुद्बुदवदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनुप्रेक्षा। =ये समुदाय रूप शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य, जल बुद्बुदके समान अनवस्थित स्वभाववाले होते हैं, तथा गर्भादि अवस्था विशेषोंमें सदा प्राप्त होनेवाले संयोगोंसे विपरीत स्वभाववाले होते हैं। मोह वश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यताका अनुभव करता है, पर वस्तुतः आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके सिवा इस संसारमें कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू./१७१६-१७२८/१५४३) (मू.आ./६६३-६६४) (रा.वा./६/७/१/६००/६) (पं. वि./३ सम्पूर्ण) (पं.वि./६/४५) (चा.सा./१७८/१) (अन.ध./६/५८-५६/६०६)

४. अन्यत्वानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा. अ./२३ अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होइ बाहिरं दव्वं। णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥२३॥ =शरीरादि जो बाहिरी द्रव्य हैं, सो भी सब अपनेसे जुदा हैं और मेरा आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है, *इस प्रकार अन्यत्व भावनाका चिन्तवन करना चाहिए।* (स. सा./मू./२७,३८) (स.सा./क./५)

स. सि./६/७/४१५ शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा। तद्यथा-बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्योऽहमैन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽहमाद्यन्तवच्छरीरमनाद्यन्तोऽहम्। बहूनि मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवाहमन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादप्यन्यत्वं मे किमङ्ग, पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः। इत्येवं ह्यस्य मनः समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते। =शरीरसे अन्यत्वका चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यथा बन्धकी अपेक्षा अभेद होनेपर भी लक्षणके भेदसे 'मैं अन्य हूँ', शरीर ऐन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसारमें परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये हैं। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीरसे भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थोंसे भिन्न होऊँ, तो इसमें क्या आश्चर्य है? इस प्रकार मनको समाधान युक्त करनेवाले इसके शरीरादिमें स्पृहा उत्पन्न नहीं होती। (भ.आ./मू/१७५४) (मू.आ./७००-७०२) (रा.वा./६/७/५/६०१/३१) (चा.सा./१७०/४) (पं.वि./६/४६/२१०) (अन.ध./६/६६-६७/६/६)

रा. वा./६/७/५/६०१/२६ *अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते—नामस्थापनाद्रव्य*भावालम्बनेन। आत्मा जीव इति नामभेदः, काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः, जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः, एकस्मिन्नपि द्रव्ये बालो युवा मनुष्यो देव इति भावभेदः। तत्र बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वम्। =नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके अवलम्बन भेदसे अन्यत्व चार प्रकारका है। आत्मा जीव इत्यादि तो नाम भेद

या नामोंमें अन्यत्व है, काष्ठ आदिकी प्रतिमाओंमें भेद सो स्थापना अन्यत्व है, जीव-अजीव आदि सो द्रव्योंमें अन्यत्व है। और एक ही द्रव्यमें बाल और युवा, मनुष्य या देव आदिक भेद सो भावोंसे अन्यत्व है। बन्ध रूपसे एक होते हुए भी लक्षण रूपसे इन सबमें भेद होना सो अन्यत्व है।

२. व्यवहार

बा. अ./२१ मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो। जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण बट्टंति ॥२१॥ =माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, आदि बन्धुजनोंका समूह अपने कार्यके वश सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थमें जीवका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् ये सब जीवसे जुदे हैं।

धम्मपद/५/३ पुत्ता मत्थि धन मत्थि इदि बालो विहञ्ञति। अत्ता हि अत्तनो नत्थि कतो पुत्तो कतो धनं ॥ =मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है ऐसा अज्ञानीजन करते हैं। इस संसारमें जब शरीर ही अपना नहीं तब पुत्र धनादि कैसे अपने हो सकते हैं।

द्र. सं./टी./३५/१०८ देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि...निजपरमात्मपदार्थान्निश्चयनयेनान्यानि भिन्नानि। तेभ्यः पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति।...इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा...॥ =देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि कर्मोंके आधीन होनेसे विनश्वर हैं। निश्चय नयसे निज परमात्म पदार्थसे अन्य हैं भिन्न हैं। और उनसे आत्मा अन्य है भिन्न है। इस प्रकार अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू./१७५५-१७६७/१५४७) (भूधरकृत भावना सं. ४) (श्रीमद्कृत १२ भावनाएँ)

५. अशरणानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा. अ./११ जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा। जम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥ =जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदिसे आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वास्तवमें जो कर्मोंकी बन्ध, उदय और सत्ता अवस्थासे जुदा है, वह आत्मा ही इस संसारमें शरण है। अर्थात् संसारमें अपने आत्माके सिवाय अपना और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। यह स्वयं ही कर्मोंको खिपाकर जन्म जरा मरणादिके कष्टोंसे बच सकता है। (का.अ./३१) (स.सा./मू./७४)

का. अ./मू./३० दंसणणाण-चरित्तं सरणं सेवेह परम-सद्धाए। सण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥३०॥ =हे भव्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शरण हैं। परम श्रद्धाके साथ उन्हींका सेवन कर। संसारमें भ्रमण करते हुए जीवोंको उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है। (भ.आ./मू./१७४६)

द्र. सं./टी./३५/१०२-१०३ अथाशरणानुप्रेक्षा कथ्यते—निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनं च शरणम्, तस्माद्बहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्तिसुभटकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रासादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौ महाटव्यां व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव, महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम्। तद्विज्ञाय भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतसावलम्बने स्वशुद्धात्मन्येवालम्बनं कृत्वा भावनां करोति। यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणगतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति। इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता। —निश्चय रत्नत्रयसे परिणत जो शुद्धात्म द्रव्य और उसकी बहिरंग सहकारी कारण भूत पंचपरमेष्ठियोंकी आराधना, यह दोनों शरण हैं। उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट, और पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भहरा, मणि, मन्त्र-तन्त्र, आज्ञा, महल और औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरणादिके समय शरणभूत नहीं होते जैसे महावनमें व्याघ्र-द्वारा पकड़े हुए हिरणके बच्चेको अथवा समुद्रमें जहाज़से छूटे पक्षीको कोई शरण नहीं है। अन्य पदार्थोंको अपना शरण न जानकर आगामी भोगोंकी आकांक्षा रूप निदान बन्ध आदिका अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभवसे उत्पन्न सुख रूप अमृतका धारक निज शुद्धात्माका ही अवलम्बन करके, उस शुद्धात्माकी भावना करता है। जैसी आत्माको यह शरणभूत भाता है वैसे ही सदा शरणभूत, शरणमें आये हुएके लिए वज्रके पिंजरेके समान, निज शुद्धात्माको प्राप्त होता है। इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षाका व्याख्यान हुआ।

२ व्यवहार

भ. आ./मू./१७२६ णासदि मदि उदिण्णे कम्मेण य तस्स दीसदि उवाओ। अमदंपि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी। =कर्मका उदय आनेपर विचार युक्त बुद्धि नष्ट होती है, अवग्रह इत्यादि रूप मतिज्ञान और आप्तके उपदेशसे प्राप्त हुआ श्रुतज्ञान इन दोनोंसे मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है। अन्य उपायसे हिताहित नहीं जाना जाता है। असाता वेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष होता है और तृण भी छुरीका काम देता है, बन्धु भी शत्रु हो जाते हैं। (विस्तार दे० भ.आ./मू/१७२६-१७४५)

बा. अ./८ मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ। जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥ =मरते समय प्राणियोंको तीनों लोकोंमें मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ और जितनी विद्याएँ हैं, वे कोई भी शरण नहीं हैं अर्थात् ये सब उन्हें मरनेसे नहीं बचा सकते।

स. सि./९/७/४१४ यथा-मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किंचिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति। संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते। बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति। अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद् भवव्यसनसङ्कटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यत्किंचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा। =जैसे हिरणके बच्चेको अकेलेमें भूखे मांसके अभिलाषी व बलवान् व्याघ्र-द्वारा पकड़े हुएका कुछ भी शरण नहीं है, तैसे जन्म, बुढ़ापा, मरण, पीड़ा इत्यादि विपत्तिके बीचमें भ्रमते हुए जीवका कोई रक्षक नहीं है। बराबर पोषा हुआ शरीर भी भोजन करते ताईं सहाय करनेवाला होता है न कि कष्ट आनेपर। जतन करि इकट्ठा किया हुआ धन भी परलोकको नहीं जाता है। सुख-दुखमें भागी मित्र भी मरण समयमें रक्षा नहीं करते हैं। इकट्ठे हुए कुटुम्बी रोगग्रसितका प्रतिपालन नहीं कर सकते हैं। यदि भले प्रकार आचरण किया हुआ धर्म है तो विपत्ति रूपी बड़े समुद्रमें तरणेका उपाय होता है। कालकरि ग्रहण किये हुएका इन्द्रादिक भी शरण नहीं होते हैं। इसलिए भवरूपी विपत्तिमें वा कष्टमें धर्म ही शरण है, मित्र है, धन है, अविनाशी भी है। अन्य कुछ भी शरण नहीं है। इस प्रकार बार-बार चिन्तवन करना सो अशरण अनुप्रेक्षा है। (मू.आ./६९५-६९७) (रा.वा./९/७/२/६००/१५) (चा.सा./१७८/४) (पं.वि./६/४६) (अन.ध./६/६०-६१/६१२) (द्र.सं./टी./३५/१०३)।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा.अ./४६ देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो। चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥४६॥ —वास्तवमें आत्मा देह

से जुदा है, कर्मोंसे रहित है, अनन्त सुखोंका घर है, इसलिए शुद्ध है, इस प्रकार निरन्तरकी भावना करते रहना चाहिए। (मो.पा./मू०/१८) (श्रीमद् कृत १२ भावनाएँ)

द्र.सं./टी./३५/१०६ सप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादिनवरन्ध्रद्वारैरपि स्वरूपेणाशुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्चाशुचिरयं देहः। न केवलमशुचिकारणत्वेनाशुचिः स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचिः।...निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव शुचिः।...'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' इति वचनात्तथाविधब्रह्मचारिणामेव शुचित्वं च कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशौचेऽपि।...विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम्।...इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता। =अपवित्र, सात धातुमय होनेसे, नाकादि नौ छिद्र द्वार होनेसे, स्वरूपसे भी अशुचि होनेके कारण तथा मूत्र विष्ठा आदि अशुचि मलोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे ही यह देह अशुचि नहीं है, किन्तु यह शरीर स्वरूपसे भी अशुचि है और अशुचि मल आदिका उत्पादक होनेसे अशुचि है...निश्चयसे अपने आप पवित्र होनेसे यह परमात्मा (आत्मा) ही शुचि या पवित्र है। ...'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस वचनसे पूर्वोक्त प्रकारके ब्रह्मचारियों (आत्मा ही में चर्या करनेवाले मुनि)के ही पवित्रता है। जो काम क्रोधादिमें लीन जीव हैं उनके जल स्नान आदि करनेपर भी पवित्रता नहीं है।...आत्मारूपी शुद्ध नदीमें स्नान करना ही परम पवित्रताका कारण है, लौकिक गंगादि तीर्थमें स्नान करना नहीं।...इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षाका कथन हुआ।

२. व्यवहार

भ.आ./मू./१८१३-१८१५ असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं। एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ॥१८१३॥ इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं। अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो। ॥१८१४॥ कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा। उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८१५॥ =अर्थ व काम पुरुषार्थ तथा सर्व मनुष्योंका देह अशुभ है। एक धर्म ही शुभ है और सर्व सौख्योंका दाता है ॥१८१३॥ इस लोक और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पड़ते हैं। अर्थ पुरुषार्थके वश होकर पुरुष अन्याय करता है, चोरी करता है, और राजासे दण्डित होता है और परलोकमें नरकमें नाना दुःखोंका अनुभव लेता है, इसलिए अर्थ अर्थात् धन अनर्थका कारण है। महाभयका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलाके समान प्रतिबन्ध करता है ॥१८१४॥ यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है, इससे आत्मा हल्की होती है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुःख पाती है, यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। और प्राप्त होनेमें कठिन है।

का.अ./४४ दुग्गंधं वीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणा मुत्तं। सडणपडणसहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं ॥४॥ =यह देह दुर्गन्धमय है, डरावनी है, मलमूत्रसे भरी हुई है, जड़ है, मूर्तीक है और क्षीण होनेवाली है तथा विनाशीक स्वभाववाली है। इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिए।

स.सि./९/७/४१६ शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनिशुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवदशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिस्रोतोबिलमङ्गारवदात्मभावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति। स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुमस्य। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतोभावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। = यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थोंकी योनि है। शुक्र और शोणित रूप अशुचि पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है, शौचगृहके समान अशुचि पदार्थोंका भाजन है। त्वचा मात्रसे आच्छादित है। अति दुर्गन्धित रसको बहानेवाला झरना है। अंगारके समान अपने आश्रयमें आये हुए पदार्थोंको भी शीघ्र ही नष्ट कर देता है। स्नान, अनुलेपन, धूपका मालिश और सुगन्धित माला आदिके द्वारा भी इसकी अशुचिताको दूर कर सकना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीवकी आत्यन्तिक शुद्धिको प्रगट करते हैं। इस प्रकार वास्तविक रूपसे चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू./१८१६-१८२०) (भा.पा./मू./३७-४२) (मू.आ./७२०-७२३) (रा.वा./९/७/६/६०२) (चा.सा./१९०/६) (पं.वि./६/५०) (अन.ध./६/६८-६९) स.सा. नाटक/४/ (भूधरकृत भावना सं. ६) श्रीमद्कृत १२ भावनाएँ) (और भी देखो अशुचिके भेद)

७. आस्रवानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा.अ./६० पुव्वत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स। उदयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६०॥ —पूर्वोक्त आस्रव मिथ्यात्व आदि भेद निश्चय नयसे जीवके नहीं होते हैं। इसलिए निरन्तर ही आत्माके द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके आस्रवोंसे रहित चिन्तवन करना चाहिए। (स.सा./मू०/५१) (स.सा./आ./१७८/क० १२०)।

२. व्यवहार

बा.अ./५९ पारंपज्जएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं। संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥५९॥ =कर्मोंका आस्रव करनेवाली क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिए संसारमें भटकानेवाले आस्रवको बुरा समझना चाहिए।

मू.आ./७३० धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो। णवि बुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ॥७३०॥ मोहको सदा काल धिक्कार हो, धिक्कार हो; क्योंकि हृदयमें रहनेवाले जिस मोहसे मोहित हुआ यह जीव हितकारी मोक्ष सुखका कारण ऐसे जिनवचनको नहीं पहचानता।

स.सि./९/७/४१६ आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषायाव्रतादयः तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शादीनि वनगजवायसपन्नगपतङ्गहरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायोदयोऽपीह वधबन्धापयशःपरिक्लेशादीन् जनयन्ति। अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु परिभ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा। =आस्रव इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं। महानदीके प्रवाहके वेगके समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रत रूप हैं। उनमें से स्पर्शादिक इन्द्रियाँ वनगज, कौआ, सर्प, पतङ्ग और हरिण आदिको दुःखरूप समुद्रमें अवगाहन कराती हैं। कषाय आदि भी इस लोकमें, वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दुःखोंको उत्पन्न करते हैं। तथा परलोकमें नाना प्रकारके दुःखोंसे प्रज्वलित नाना गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रवके दोषोंका चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू०/१८२१-१८३५) (स.सा./मू०/१६४-१६५) (रा.वा./९/७/६/६०२/२२) (चा.सा/१९३/२) (पं.वि/६/५१) (अन.ध./६/७०-७१) (भूधर कृत भावना नं. ७)।

द्र.सं./टी/३५/११० इन्द्रियाणि...कषाया...पञ्चाव्रतानि...पञ्चविंशतिक्रिया...रूपास्रवाणां......द्वारैः......कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति। न च...मुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवमास्रवगतदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति। —पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रिया रूप आस्रवोंके द्वारोंसे कर्मजलके प्रवेश हो जानेपर संसारसमुद्रमें पतन होता है। और मुक्तिरूपी वेला पत्तनकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार आस्रवके दोषोंका पुनः-पुनः चिन्तवन सो आस्रवानुप्रेक्षा जानना चाहिए।

८. एकत्वानुप्रेक्षा—१. निश्चय

भ.आ./मू./१७५२-१७५३ जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइयो। सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७५२॥ बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स। विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु

महाभयेसु तहा ॥१७५३॥ =सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान रूप अर्थात् रत्नत्रय रूप धर्म जो इस जीवने धारण किया था वही लोकमें इसका कल्याण करनेवाला सहायक होता है ॥१७५२॥ रज्जु आदिसे बन्धा हुआ पुरुष जिस प्रकार उन रज्जु आदि बन्धनोंमें राग नहीं करता है, वैसे ही ज्ञानी जनोंके शरीरमें स्नेह नहीं होता है। तथा इसी प्रकार विषके समान दुःखद व महाभय प्रदायी अर्थमें अर्थात् धनमें भी राग नहीं होता है ॥१७५३॥

बा.अ./२० एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो। सुद्धे यत्तमुपादेय-मेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥ =मैं अकेला हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ, और ज्ञान दर्शन स्वरूप हूँ, इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय है, ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए। (स.सा./मू./७३) (सामायिक पाठ अमितगति/२७) (स.सा.ना./३३)

द्र. सं./टी./४३/१०७ निश्चयेन···केवलज्ञानमेवैकं सहजशरीरम्।··· न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम्।···निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारी न च पुत्रकलत्रादि।···स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वरहितकारो परमोऽर्थः न च सुवर्णाद्यर्थाः···स्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं न चाकुलत्वोत्पादेन्द्रियसुखमिति।···स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति।···एवं एकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना कर्तव्या। इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता। =निश्चय केवलज्ञान ही एक सहज या स्वाभाविक शरीर है, सप्तधातुमयी यह औदारिक शरीर नहीं। निजात्म तत्त्व ही एक सदा शाश्वत व परम हितकारी है, पुत्र कलत्रादि नहीं। स्वशुद्धात्म पदार्थ ही एक अविनश्वर व परम हितकारी परम धन है, सुवर्णादि रूप धन नहीं। स्वभावात्म सुख ही एक सुख है, आकुलता उत्पादक इन्द्रिय सुख नहीं। स्वशुद्धात्मा ही एक सहायी है। इस प्रकार एकत्व भावनाका फल जानकर निरन्तर शुद्धात्मामें एकत्व भावना करनी चाहिए। इस प्रकार एकत्व भावना कही गयी।

२. व्यवहार

बा.अ./१४ एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे। एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥ —यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बान्धता है, अकेला ही अनादि संसारमें भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मोंका फल भोगता है, अर्थात् इसका कोई साथी नहीं है। (मू.आ./६९९)

स. सि./९/७/४१५ जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते। एक एव जायेऽहम्। एक एव म्रिये। न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति। बन्धुमित्राणि श्मशानं नातिवर्तन्ते धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा। —जन्म, जरा, मरणकी आवृत्ति रूप महादुःखका अनुभव करनेके लिए अकेला ही मैं हूँ न कोई मेरा स्व है और न कोई पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन, व्याधि, जरा और मरण आदिके दुःखोंको दूर नहीं करता। बन्धु और मित्र श्मशानसे आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला सदाकाल सहायक है। इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। (भ.आ./१७४७-१७५१) (मू.आ./६९८) (रा.वा./९/७/४/६०१) (चा.सा./१८७/२) (पं.वि./६/४८ तथा सम्पूर्ण अधिकार नं. ४, श्लोक सं. २९) (अन.ध./६/६४-६५) (भूधरकृत भावना सं. ३) (श्रीमद्कृत १२ भावनाएँ)

९. धर्मानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा. अ./८२ णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो। मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं ॥८२॥ =जीव निश्चय नयसे सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनि धर्मसे बिलकुल जुदा है, इसलिए राग-द्वेष रहित परिणामोंसे शुद्ध स्वरूप आत्मा ही सदा ध्यान करना चाहिए।

रा. वा./९/७/१०/६०३/२३ उक्तानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि च, तेषां गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो धर्मः जिनशासने स्वाख्यातः। =पूर्वोक्त जीवस्थानों व गुणस्थानोंका उन गति आदि मार्गणास्थानोंमें अन्वेषण करते हुए स्वतत्त्वको विचारणालक्षणवाला धर्म जिनशासनमें भली प्रकार कहा गया है।

२. व्यवहार

बा. अ./६८,८१ एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं। सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥ सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो। सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं ॥८१॥ =उत्तम सुखमें लीन जिनदेवने कहा है कि श्रावकों और मुनियोंका धर्म जो कि सम्यक्त्व सहित होता है, क्रमसे ग्यारह प्रकारका और दस प्रकारका है ॥६८॥ जो जीव श्रावक धर्मको छोड़कर मुनियोंके धर्मका आचरण करता है, वह मोक्षको नहीं छोड़ता है, इस प्रकार धर्म भावनाका नित्य ही चिन्तन करते रहना चाहिए।

स. सि./९/७/४१९ अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः। अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदयप्राप्तिपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा। =जिनेन्द्रदेवने जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है। विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशमकी उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होनेसे दुष्कर्म विपाकसे जायमान दुःखको अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हैं। परन्तु इसका लाभ होनेपर नाना प्रकारके अभ्युदयोंकी प्राप्ति पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होना निश्चित है, ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा है। (भ. आ./मू./१८५७-१८६५) (मू. आ./७५०-७५४) (रा. वा./९/७/११/६०७/३) (चा. सा./२०१/२) (पं. वि./६/५६) (अन. ध./६/८०/६३२) (भूधरकृत, भावना सं. १२)

द्र. सं./टी./३५/१४५ चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये···दुःखानि सहमानः सन् भ्रमितोऽयं जीवो यदा पुनरेवं गुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा···विविधाभ्युदयसुखं प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाबलेनाक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायनं निधिनिधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्तामणिरिति।···इति संक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा गता। =चौरासी लाख योनियोंमें दुःखोंको सहते हुए भ्रमण करते इस जीवको जब इस प्रकारके पूर्वोक्त धर्मकी प्राप्ति होती है तब वह विविध प्रकारके अभ्युदय सुखोंको पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रयकी भावनाके बलसे अक्षयानन्त सुखादि गुणोंका स्थानभूत अर्हन्तपद और सिद्ध पदको प्राप्त होता है। इस कारण धर्म ही परम रसका रसायन है, धर्म ही निधियोंका भण्डार है, धर्म ही कल्पवृक्ष है, धर्म ही चिन्तामणि है···इस प्रकार संक्षेपसे धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई। (श्रीमद्कृत १२ भावनाएँ)

१०. निर्जरानुप्रेक्षा—१. निश्चय

स. सा./मू./१९८ उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं। ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥ =कर्मों के उदयका रस जिनेश्वर देवने अनेक प्रकारका कहा है। वे कर्म विपाकसे हुए भाव मेरा स्वभाव नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायक भाव स्वरूप हूँ।

द्र. सं./टी./३५/११२ निजपरमात्मानुभूतिबलेन निर्जरार्थ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिविभावपरिणामपरित्यागरूपैः संवेगवैराग्यपरिणामैर्वर्तत इति।…इति निर्जरानुप्रेक्षा गता। =निजपरमात्मानुभूतिके बलसे निर्जरा करनेके लिए दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकांक्षादिरूप विभाव परिणामके त्याग रूप संवेग तथा वैराग्य रूप परिणामोंके साथ रहता है। इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई। (स. सा./आ./१९३ उत्थानिका रूप कलश. १३३)

२. व्यवहार

बा. अ./६७ सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा। चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥ =उपरोक्त निर्जरा दो प्रकारकी है—स्वकाल पक्व और तप द्वारा की गयी। इनमें-से पहली तो चारों गतिवाले जीवोंके होती है और दूसरी केवल व्रतधारी श्रावक वा मुनियोंके होती है। (भूधरकृत भावना सं. १०)

स. सि./९/७/४१७ निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा-अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा। =वेदनाविपाकका नाम निर्जरा है, यह पहले कह आये हैं। वह दो प्रकारकी है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियोंमें कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है, वह अकुशलानुबन्धा है। तथा परिषहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जराके गुणदोषोंका चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू. १८४५-१८५६) (मू.आ./७४४-७४६) (रा.वा./९/७/६/६०२/११) (पं. वि./६/५३) (अन.ध./६/७४-७५/६२७)।

११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा.अ./८३-८४ उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स। चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥८३॥ कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु। सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं ॥८४॥ =जिस उपायसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति हो, उस उपायकी चिन्ता करनेको अत्यन्त दुर्लभबोधि भावना कहते हैं, क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञानका पाना अत्यन्त कठिन है ॥८३॥ अशुद्ध निश्चय नयसे क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मोंके उदयसे, जो कि परद्रव्य है, उत्पन्न होता है, इसलिए हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वद्रव्य है, अर्थात् आत्माका निज स्वभाव है, इसलिए उपादेय है ॥८४॥

२. व्यवहार

स.सि./९/७/४१८ एकस्मिन्निगोतशरीरे जीवा सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात्पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञमेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे च पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा। तल्लाभे च देशकुलेन्द्रियसंपन्नीरोगत्वान्युत्तरोत्तरतोऽतिदुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्याद् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थं चन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः। तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा। =एक निगोद शरीरमें सिद्धोंसे अनन्त गुणे जीव हैं। इस प्रकारके स्थावर जीवोंसे सर्वलोक निरन्तर भरा हुआ है। अतः इस लोकमें त्रस पर्यायका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है, जितना कि बालुकाके समुद्रमें पड़ी हुई वज्रसिकताकी कणिकाका प्राप्त होना दुर्लभ होता है। इसमें भी विकलेन्द्रिय जीवोंकी बहुलता होनेके कारण गुणोंमें जिस प्रकार कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्यायका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यंचोंकी बहुलता होती है। इसीलिए जिस प्रकार चौराहेपर रत्नराशिका प्राप्त होना अति कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना अति कठिन है। और मनुष्य पर्यायके मिलनेके बाद उसके च्युत हो जानेपर पुनः उसकी प्राप्ति होना इतना कठिन है जितनी कि जले हुए पुद्गलोंका पुनः उस वृक्ष पर्याय रूपसे उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रिय, सम्पत्, और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टिके बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्मका प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अति कठिनतासे प्राप्त होने योग्य उस धर्मको प्राप्त कर विषय सुखमें रममाण होना भस्मके लिए चन्दनको जलानेके समान निष्फल है। कदाचित् विषय सुखसे विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना और सुखपूर्वक मरण रूप समाधिका प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होनेपर ही बोधिलाभ सफल है, ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। (भ.आ.मू/१८६६-१८७३) (मू.आ०/७५५-७६२) (रा.वा./९/७/९/६०३) (चा.सा./१९८/४) (पं०वि०/६/५५) (अन० ध०/६/७८-७९/६३१) (भूधरकृत भावना सं० ११)।

द्र.सं.टी./३५/१४४ कथंचित् काकतालीयन्यायेन (एते मनुष्यगति आर्यत्वतत्त्वश्रवणादि सर्वे) लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधेः फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्त्यात्मकनिर्मलधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपः परमसमाधिर्दुर्लभः। तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीयः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति। एवं संक्षेपेण दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता॥ =यदि काकतालीयन्यायसे इन मनुष्य गति, आर्यत्व, तत्त्वश्रवणादि सबकी लब्धि हो जाये तो भी इनकी प्राप्ति रूप जो ज्ञान है, उसमें फलभूत जो शुद्धात्माके ज्ञान स्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूप परमसमाधि है, वह दुर्लभ है।…इसलिए उसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका प्राप्त होना तो बोधि कहलाती है। और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्विघ्न अन्य भवमें साथ ले जाना सो समाधि है। ऐसा संक्षेपसे बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

१२. लोकानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा.अ./४२ असुहेण णिरयतिरियं सुहउपजोगेण दिविजणरसोक्खं। सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥ =यह जीव अशुभ-विचारोंसे नरक तथा तिर्यंच गति पाता है, शुभविचारोंसे देवों तथा मनुष्योंके सुख भोगता है और शुद्ध विचारोंसे मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक भावनाका चिन्तन करना चाहिए। (भा.पा./मू./७६-७७, ८८) (श्रीमद्कृत १२ भावनाएँ)।

भ.आ./वि./१७९८/१६१४/१८ यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यं लोक एवोच्यते।…सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्। =यद्यपि (नाम, स्थापनादि विकल्पों से) लोकके अनेक भेद हैं तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्य लोक ही ग्राह्य है, क्योंकि जीवके धर्म प्रवृत्तिका यहाँ क्रम कहा गया है।

द्र.सं./टी.३५/१४३ आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते

दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते यतस्तेन कारणेन स एव निश्चय-लोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः।...इति...निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादैक-सुखामृतस्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा। —आदि, मध्य तथा अन्त रहित शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव तथा परमात्म-में पूर्ण विमल केवलज्ञानमयी नेत्र है, उसके द्वारा जेसे दर्पणमें प्रतिबिम्बोंका भान होता है उसी प्रकारसे शुद्धात्मादि पदार्थ देखे जाते हैं, जाने जाते हैं। इस कारण वह शुद्धात्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोकवाले निज शुद्धपरमात्मामें जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है।...इस प्रकार...निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न परमाह्लाद सुखरूपी अमृतके आस्वादके अनुभवसे जो भावना होती है वही निश्चयसे लोकानुप्रेक्षा है।

२. व्यवहार

मू.आ./७१५-७१९ तत्थणुवहंति जीवा सकम्मणिव्वत्तियं सुहं दुक्खं। जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे। ॥७१५॥ आदा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि। पुरिसोवि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जगे ॥७१६॥ होऊण तेयसत्ताधिओ दु बलविरियरूवसंपण्णो। जादो वच्चघरे किमिधिगत्थु संसारवासस्स ॥७१७॥ धिब्भवदु लोग-धम्मं देवावि य सूरवदीय महधीया। भोत्तूण य सुहमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥७१८॥ णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं। लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥७१९॥ —इस लोकमें ये जीव अपने कर्मोंसे उपार्जन किये सुख-दुःखको भोगते हैं और भयंकर इस भवसागरमें जन्म-मरणको बारम्बार अनुभव करते हैं ॥७१५॥ इस संसारमें माता है, वह पुत्री हो जाती है, पुत्री माता हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक हो जाती है ॥७१६॥ प्रताप सुन्दरतासे अधिक बल वीर्ययुक्त इनसे परिपूर्ण राजा भी कर्म-वश अशुचि (मैले) स्थानमें लट होता है। इसलिए ऐसे संसारमें रहने-को धिक्कार हो ॥७१७॥ लोकके स्वभावको धिक्कार हो जिससे कि देव और महान् ऋद्धि वाले इन्द्र अनुपम सुखको भोग कर पश्चात् दुख भोगनेवाले होते हैं ॥७१८॥ इस प्रकार लोकको निस्सार (तुच्छ) जानकर तथा उस संसारको अनन्त जानकर अनन्त सुखका स्थान ऐसे मोक्षका यत्नसे ध्यान कर ॥७१९॥

भ.आ./मू. १७९८,१८१२ आहिंडय पुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं होंति। सव्वे वि इमो पत्तो संबंधे सव्वजीवेहिं ॥१७९८॥ विज्जू वि चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं। णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खु-द्धुदं लोगं ॥१८१२॥ —एक देशसे दूसरे देशको जानेवाले पुरुषके समान इस जीवको सर्व जगमें बन्धु लाभ होता है, अमुक जीवके साथ इसका पिता पुत्र वगैरह रूपसे सम्बन्ध नहीं हुआ ऐसा काल ही नहीं था, अतः सर्व जीव इसके सम्बन्धी हैं। ॥१७९८॥ यह जगत् बिजलीके समान चंचल है, समुद्रके फेनके समान बलहीन है, व्याधि और मृत्युसे पीड़ित हुआ है। ज्ञानी पुरुष इसे दुःखोंसे भरा हुआ देखकर उसमें कैसो प्रीति करते हैं अर्थात् ज्ञानी इस लोकसे प्रेम नहीं करते। इसके ऊपर माध्यस्थभाव रखते हैं।

स.सि./९/७/४१८ लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः। समन्तादनन्त-स्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधि-र्व्याख्यातः। तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। —लोकका आकार व प्रकृति आदिकी विधि वर्णन कर दी गयी है। अर्थात् चारों ओरसे अनन्त अलोकाकाशके बहुमध्य देशमें स्थित लोकके आकारादिककी विधि कह दी गयी। उसके स्वभावका अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। (मू.आ./७११-७१४) (रा.वा./९/७/८/६०३) (चा.सा./१९६/४) (पं.वि./६/५४) (अन० ध०.६/७६-७७) (भूधरकृत भावना सं. ५)

१३. संवरानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा.अ./६५ जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो। संवरभाव-विमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं ॥६५॥ —शुद्ध निश्चय नयसे जीवके संवर ही नहीं है इसलिए संवरके विकल्पसे रहित आत्माका निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए। (स.सा./१८१/क० १२७)

द्र.सं./टी./३५/१११ अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति। तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्र-द्राणां झम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुण-रत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोति। एवं संवरगतगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या। —अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। वही समुद्रका जहाज अपने छेदोंके बन्द हो जानेसे जलके न घुसनेसे निर्विघ्न वेला-पत्तनको प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्म ज्ञानके बलसे इन्द्रिय आदि आस्रवछिद्रोंके मुँह बन्द हो जाने-पर कर्मरूपी जल न घुसनेसे केवलज्ञानादि अनन्त गुण रत्नोंसे पूर्ण मुक्ति रूपी वेलापत्तनको निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है। ऐसे संवरके गुणोंके चिन्तवन रूप संवर अनुप्रेक्षा जाननी चाहिए।

२. व्यवहार

बा.अ./६३,६४ सुहजोगेण पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स। सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥ सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स। तम्हा संवरहेदू झाणो त्ति विचिंतये णिच्चं ॥६४॥ —मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभोपयोगका संवर होता है और केवल आत्माके ध्यान रूप शुद्धोपयोगसे शुभयोग-का संवर होता है ॥६३॥ इसके पश्चात् शुद्धोपयोगसे जीवके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं। इसलिए संवरका कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए ॥६४॥

स.सि./९/७/४१७ यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमात्स्रुतजला-भिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं, तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्धः इति संवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा। —जिस प्रकार महार्णवमें नावके छिद्रके नहीं झके रहनेपर क्रमसे झिरे हुए जलसे उसके व्याप्त होनेपर उसके आश्रयपर बैठे हुए मनुष्योंका विनाश अवश्यम्भावी है, और छिद्रके झके रहनेपर निरुपद्रव रूपसे अभिलषित देशान्तरका प्राप्त होना अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार कर्मागमद्वारके झके होनेपर कल्याणका प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवरके गुणोंका चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू./१८३६-१८४४) (मू.आ./७३८-७४३) (रा.वा./९/७/६/६०२/३२) (चा.सा./१९६/२) (पं.वि./६/५२) (अन.ध./६/७२-७३) (भूधरकृत १२ भावनाएँ)

१४. संसारानुप्रेक्षा—१. निश्चय

बा.अ./३७ कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे। जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को ॥३७॥ —यद्यपि यह जीव कर्मके निमित्तसे संसार रूपी बड़े भारी वनमें भटकता रहता है, परन्तु *निश्चय नयसे यह कर्मसे रहित है, और इसीलिए इसका भ्रमण रूप* संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

द्र.सं./टी/३५/१०५ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्च-प्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीतस्वशुद्धात्मसंवित्ति-विनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीतसुखास्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन संसारविनाशकनिजनिरञ्जनपरमात्मनि एव भावनां करोति। ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणे मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति।...इति संसारानु-

प्रेक्षा गता। –इस प्रकारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकारके संसारको चिन्तवन करते हुए इस जीव के, संसार रहित निज शुद्धात्म ज्ञानका नाश करनेवाले तथा संसारकी वृद्धिके कारणभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं जाता, किन्तु वह संसारातीत सुखके अनुभवमें लीन होकर निज शुद्धात्मज्ञानके बलसे संसारको नष्ट करनेवाले निज निरंजन परमात्मा-में भावना करता है। तदनन्तर जिस प्रकारके परमात्माको भाता है उसी प्रकारके परमात्माको प्राप्त होकर संसारसे विलक्षण मोक्षमें अनन्त काल तक रहता है। इस प्रकार संसारानुप्रेक्षा समाप्त हुई।

२. व्यवहार

बा.अ./२४ पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे। जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥ =यह जीव जिनमार्गकी ओर ध्यान नहीं देता है, इसलिए जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भयसे भरे हुए पाँच प्रकारके संसारमें अनादि कालसे भटक रहा है।

स.सि./९/७/४१५ कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। स पुरस्तात्पञ्चविधपरिवर्तनरूपेण व्याख्यातः। तस्मिन्ननेकयोनिकुल-कोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति। नट इव रङ्गे। अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनमनुप्रेक्षा =कर्म विपाकके वशसे आत्माको भवान्तरकी प्राप्ति होना सो संसार है। उसका पहले पाँच प्रकारके परिवर्तन रूपसे व्याख्यान कर आये हैं। अनेक योनि और कुल कोटिलाखसे व्याप्त उस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्रसे प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या, और पुत्री होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थलमें नट नाना रूप धारण करता है उसी प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूपसे संसारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। (भ.आ./मू०/१७९८-१७९७) (मू०आ०/७०३-७१०) (रा.वा./९/७/३/६००-६०१) (चा.सा./१८६/५) (पं.वि./६/४७) (अन०ध०/६/६२-६५)

रा.वा./९/७/३/६००/२८ चतुर्विधात्मावस्थाः—संसारः असंसारः नोसंसारः तत्त्रितयव्यपायश्चेति। तत्र संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम्। अनागतिरसंसारः शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा। नोसंसारः सयोगकेवलिनः चतुर्गतिभ्रमणाभावात् असंसारप्राप्त्या-भावाच्च ईषत्संसारो नोसंसारः इति। अयोगकेवलिनः तत्त्रितय-व्यपायः। (नोसंसारो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कृष्टेन देशोनपूर्वको-टिलक्षः सादिः सपर्यवसानः संसारो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कृष्टेनार्ध-पुद्गलपरावर्तनकालः स च संसारो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदात् पञ्चविधो॥ (चा.सा.)। –आत्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं—संसार, असंसार, नोसंसार और तीनोंसे विलक्षण। अनेक योनि वाली चार गतियोंमें भ्रमण करना संसार है। शिवपदके परमामृत सुखमें प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिमें भ्रमण न होनेसे और मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेवलीकी जीवन मुक्ति अवस्था ईषद् संसार या नोसंसार है। अयोगकेवली इन तीनोंसे विलक्षण हैं। अभव्य तथा भव्य सामान्यकी दृष्टिसे संसार अनादि-अनन्त है। भव्य विशेषकी अपेक्षा अनादि और उच्छेदवाला है। नोसंसार सादि और सान्त है। असंसार सादि अनन्त है। त्रितय विलक्षणका काल अन्तर्मुहूर्त है। नोसंसारका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन एक लाख कोड़ पूर्व है। सादि सान्त संसारका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल है। ऐसा वह संसार, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भावके भेदसे पाँच प्रकारका है।

श्रीमद्राजचन्द्र—बहु पुण्य केरा पुञ्ज थी शुभ देह मानव नो मळ्यो। तोये अरे भव चक्र नो आंटो नहीं एके टळ्यो।...रे आत्म तारो। आत्म तारो॥ शीघ्र एने ओळखो। सर्वात्म मां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदय लखो। =बहुत पुण्यके उदयसे यह मानवकी उत्तम देह मिली, परन्तु फिर भी भवचक्रमें किंचित् हानि न कर सका। अरे! अब शीघ्र अपनी आत्माको पहिचानकर सर्व आत्माओंको समदृष्टिसे देख, इस वचनको हृदयमें रख। (विशेष दे०—संसार/३ में पंच परिवर्तन)

२. अनुप्रेक्षा निर्देश

१. सर्व अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन सर्व अवसरों पर आवश्यक नहीं

अन. ध/६/८२/६३४ इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽध्रुवादि-ष्वद्धा यत्किंचिदन्तःकरणकरणजिद्वेत्ति यः स्वं स्वयं स्वे। उच्चैरुच्चैः पदाशाधरभवविधुराम्भोधिपाराप्तिराजत्कार्तार्थ्यः पूतकीर्तिः प्रतपति स परैः स्वैर्गुणैर्लोकमूर्ध्नि॥ –परमागम ही हैं नेत्र जिसके ऐसा जो मुमुक्षु अध्रुवादि बारह अनुप्रेक्षाओंमें-से यथा रुचि एक अनेक अथवा सभीका तत्त्वतः हृदयमें ध्यान करता है वह मन और इन्द्रिय दोनोंपर विजय प्राप्त करके आत्मा ही में स्वयं अनुभव करने लगता है। तथा जहाँ पर चक्रवर्ती तीर्थंकरादि उन्नतोन्नत पदोंको प्राप्त करने की अभि-लाषा लगी हुई है ऐसे संसारके दुःख समुद्रसे पार पहुँच कर कृतकृत्यताको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह मुमुक्षु पवित्र यश और वचनोंको धारण करके जीवन्मुक्त बनकर अन्तमें अपने सम्यग्दर्शनादि उत्कृष्ट गुणों द्वारा तीन लोकके ऊपर प्रदीप्त होता है।

२. एकत्व व अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्तर

द्र.सं.टी./३५/१०८ एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादिविधिरूपेण व्याख्यानं, अन्यत्वानुप्रेक्षायां तु देहादयो मत्सकाशादन्ये मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण। इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षायां विधिनिषेधरूप एव विशेष-स्तात्पर्यं तदेव। =एकत्व अनुप्रेक्षामें तो 'मैं अकेला हूँ' इत्यादि प्रकारसे विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्व अनुप्रेक्षामें 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेध रूपसे वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओंमें विधि-निषेध रूपका ही अन्तर है। तात्पर्य दोनोंका एक ही है।

३. आस्रव, संवर, निर्जरा इन भावनाओंकी सार्थकता

रा.वा./९/७/७/६०२ आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेद, न-तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात् ॥७॥ =प्रश्न—क्योंकि संवर और निर्जराका कथन पहले प्रकरणोंमें हो चुका है अतः यहाँ अनुप्रेक्षा प्रकरणमें इनका ग्रहण करना निरर्थक है? उत्तर—नहीं, उनके दोष विचारनेके लिए यहाँ उनका ग्रहण किया है।

४. वैराग्यस्थिरीकरणार्थ कुछ अन्य भावनाएँ

त.सू./७/१२ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥ –संवेग और *वैराग्यके लिए जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी* चाहिए। (ज्ञा./२७/४)

म.पु./२१/९९ विषयेष्वनभिष्वङ्गः कायतत्त्वानुचिन्तनम्। जगत्स्व-भावचिन्त्येति वैराग्यस्थैर्यभावनाः॥९९॥ –विषयोंमें आसक्त न होना, शरीरके स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करना, और जगत्के स्वभावका *चिन्तवन करना ये वैराग्यको स्थिर रखनेवाली भावनाएँ हैं।*

३. निश्चय व्यवहार अनुप्रेक्षा विचार

१. अनुप्रेक्षाके साथ सम्यक्त्वका महत्त्व

स.सि./९/७/४१६ तत्त्वतत्त्वज्ञानभावनापूर्वके वैराग्यप्रकर्षे सति आत्यन्ति-कस्य मोक्षसुखस्यावाप्तिर्भवति। –इससे (अर्थात् शरीर व आत्माके

भिन्न रूप समाधानसे) तत्त्वज्ञानकी भावना पूर्वक आत्यन्तिक मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है।

२. अनुप्रेक्षा वास्तवमें शुभ भाव है

र.सा./६४-६५ दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु। बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥४६॥ रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे। इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५॥ –पंचास्तिकाय, छ द्रव्य, सात तत्त्व, नवपदार्थ, बंधमोक्ष, के कारण बारह भावना, रत्नत्रय, आर्जवभाव, क्षमाभाव और सामायिकादि चारित्रमय जिन भव्य जीवोंके भाव हैं वे शुभ भाव हैं।

का.अ./६३ सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स। सुहजोगस्स णिरोहो- सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥ =मन, वचन कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभ योगका संवर होता है। और केवल आत्मा के ध्यान रूप शुद्धोपयोगसे शुभयोग का संवर होता है।

द्र.सं./टी /१४६ एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम्।–इस प्रकार भाव संवरके कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, इन सबका जो व्याख्यान किया, उसमें निश्चय रत्नत्रयका साधक व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोगके वर्णन करनेवाले जो वाक्य हैं वे पापास्रवके संवरमें कारण जानने चाहिए। जो व्यवहार रत्नत्रयके साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रयके प्रतिपादक वाक्य हैं, वे पुण्य पाप इन दोनों आस्रवोंके संवरके कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

३. अन्तरंग सापेक्ष अनुप्रेक्षा संवरका कारण है

स.सा./६/४३/३५१ एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः। ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः ॥४३॥=इस प्रकार (अन्तरंग सापेक्ष) बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करनेसे साधुके धर्मका महान् उद्योत होता है। उससे वह निष्प्रमाद होता है, जिससे कि महान् संवर होता है।

४. अनुप्रेक्षाका कारण व प्रयोजन

१. अनुप्रेक्षाका माहात्म्य व फल

का.अ./८९,९० मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं। परिभविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८९॥ किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले। सेज्झंति य जे (भ) विया तज्जाणह तस्स माहप्पं ॥९०॥=जो पुरुष इन बारह भावनाओंका चिन्तन करके अनादि कालसे आज तक मोक्षको गये हैं उनको मैं मन, वचन, काय पूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥८९॥ इस विषयमें अधिक कहने की जरूरत नहीं है इतना ही बहुत है कि भूतकालमें जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए और जो आगे होंगे वे सब इन्हीं भावनाओंका चिन्तवन करके ही हुए हैं। इसे भावनाओंका ही महत्त्व समझना चाहिए।

ज्ञा./१३/२/५६/विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्। उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात्।–इन द्वादश भावनाओंके निरन्तर अभ्यास करनेसे पुरुषोंके हृदयमें कषाय रूप अग्नि बुझ जाती है तथा पर द्रव्योंके प्रति राग भाव गल जाता है और अज्ञान रूपी अन्धकारका विलय होकर ज्ञानरूप दीपका प्रकाश होता है।

पं.वि./६/४२ द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः। तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम् ॥४२॥ –महात्मा पुरुषोंको निरन्तर बारहों अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करना चाहिए। कारण यह है कि उनकी भावना (चिन्तन) कर्मके क्षयका कारण होती है।

२. अनुप्रेक्षा सामान्यका प्रयोजन

भ.आ./मू./१८७४/१६७६ इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स। ज्झायंताण विणस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी ॥१८७४॥ –धर्मध्यानमें जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधार रूप हैं, अनुप्रेक्षा के बल पर ध्याता धर्मध्यानमें स्थिर रहता है, जो जिस वस्तु स्वरूपमें एकाग्रचित्त होता है वह विस्मरण होने पर उससे चिगता है, परन्तु बार-बार उसको एकाग्रताके लिए आलंबन मिल जावेगा तो वह नहीं चिगेगा।

स.सि./९/६/४१३ कस्मात्क्षमादीनयममवलम्बते नान्यथा प्रवर्तत इत्युच्यते यस्मात्तप्तायःपिण्डवत्क्षमादिपरिणतेनात्महितैषिणा कर्तव्याः।

स.सि./९/७/४१९/ मध्ये अनुप्रेक्षावचनमुभयार्थम्। अनुप्रेक्षा हि भावयन्नुत्तमक्षमादींश्च प्रतिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते। =तपाये हुए लोहेके गोलेके समान क्षमादि रूपसे परिणत हुए आत्महितकी इच्छा करने वालोंको ये निम्न द्वादश अनुप्रेक्षा भानी चाहिए। बीचमें अनुप्रेक्षाओंका कथन दोनों अर्थके लिए है। क्योंकि अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करता हुआ यह जीव उत्तम क्षमादिका ठीक तरहसे पालन करता है और परिषहोंको जीतनेके लिए उत्साहित होता है।

३. अनित्यानुप्रेक्षा का प्रयोजन

स.सि./९/७/४१४ एवं ह्यस्य भव्यस्य चिन्तयतस्तेष्वभिष्वङ्गाभावाद् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोपपद्यते। =इस प्रकार विचार करनेवाले इस भव्यके उन शरीरादिमें आसक्ति का अभाव होनेसे भोग कर छोड़े हुए गन्ध और माला आदिके समान वियोग कालमें भी सन्ताप नहीं होता है। (रा.वा./९/७/६/६००/१२)।

का.अ.मू./२२ चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे। णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥२२॥ =हे भव्य जीवो! समस्त विषयोंको क्षणभंगुर जानकर महामोहको त्यागो और मनको विषयोंके सुखसे रहित करो, जिससे उत्तम सुखकी प्राप्ति हो। (चा.सा./१७८/२)

४. अन्यत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन

स.सि./९/७/४१६ इत्येवं ह्यस्य मनःसमादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते। ततस्तत्त्वज्ञानभावनापूर्वके वैराग्यप्रकर्षे सति आत्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्यावाप्तिर्भवति।=इस प्रकार मनको समाधान युक्त करनेवाले इसके शरीरादिमें स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्यकी वृद्धि होनेपर आत्यन्तिक मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है। (रा.वा./९/७/५/६०२/३) (चा.सा./१९०/४)।

का.अ./मू./८२ जो जाणिऊण देहं जीव-सरूवाद दु, तच्चदोभिण्णं। अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं। =जो आत्मस्वरूपको यथार्थमें शरीरसे भिन्न जानकर अपनी आत्माका ही ध्यान करता है उसके अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है। (चा.सा./१८/२)।

५. अशरणानुप्रेक्षा का प्रयोजन

स.सि./९/७/४१४एवं ह्यस्याध्यावसतो नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीत एव मार्गे प्रयत्नो भवति। –इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके 'मैं सदा अशरण हूँ' इस तरह अतिशय उद्विग्न होनेके कारण संसार के कारण भूत पदार्थोंमें ममता नहीं रहती और वह भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग ही प्रयत्नशील होता है। (रा.वा./९/७/१/६००/२५)

का. अ./मू.३१ अप्पाणं पि य सरणं खमादि-भावेहिं परिणदो होदि। तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥३१॥ –आत्माको उत्तम क्षमादि भावोंसे युक्त करना भी शरण है। जिसकी तीव्र कषाय होती है वह स्वयं अपना घात करता है। (चा.सा./१८०/२)।

६. अशुचि अनुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१६ एवं ह्यस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते। –इस प्रकार चिन्तवन करनेसे शरीरसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधिको तरनेके लिए चित्तको लगाता है। (रा.वा./९/७/६/६०२/१७) (चा.सा./१९२/६)।

का. अ./मू. ८७ जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं। अप्प सरूव-सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स। –जो दूसरोंके शरीरसे विरक्त है और अपने शरीरसे अनुराग नहीं करता है। तथा आत्मध्यानमें लीन रहता है उसके अशुचि भावना सफल है।

७. आस्रवानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१७ एवं ह्यस्य चिन्तयतः क्षमादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते। सर्व एते आस्रवदोषाः कूर्मवत्संवृतात्मनो न भवन्ति। –इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके क्षमादिकमें कल्याण रूप बुद्धिका त्याग नहीं होता तथा कछुएके समान जिसने अपनी आत्माको संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रवके दोष नहीं होते हैं। (रा.वा./९/७/७/६०२/३०) (चा०सा०/१९६/५)।

का. अ./मू. ९४ एदे मोहय-भावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो। हेयं ति मण्णमाणो आसव अणुवेहणं तस्स ॥९४॥ –जो मुनि साम्यभावमें लीन होता हुआ, मोहकर्मके उदयसे होनेवाले इन पूर्वोक्त भावोंको त्यागनेके योग्य जानकर, उन्हें छोड़ देता है, उसीके आस्रवानुप्रेक्षा है।

८. एकत्वानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१५ एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति। परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते। ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते। –इस प्रकार चिन्तवन करते हुए इस जीवके स्वजनोंमें प्रीतिका अनुबन्ध नहीं होता और परजनोंमें द्वेषका अनुबन्ध नहीं होता इसलिए निःसङ्गताको प्राप्त होकर मोक्षके लिए ही प्रयत्न करता है। (रा.वा. ९/७/४/६०१/२७) (चा.सा./१८८/३)।

का.अ./मू./७९ सव्वायरेण जाणह एक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं। जम्हि दु मुणिदे जीवे होदि असेसं खणे हेयं ॥७९॥ –पूरे प्रयत्नसे शरीरसे भिन्न एक जीवको जानो। उस जीवके जान लेनेपर क्षण भरमें ही शरीर, मित्र, स्त्री, धन, धान्य वगैरह सभी वस्तुएँ हेय हो जाती हैं।

९. धर्मानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१९ एवं ह्यस्य चिन्तयतो धर्मानुरागात्सदा प्रतियत्नो भवति। –इस प्रकार चिन्तवन करनेवाले इस जीवके धर्मानुरागवश उसकी प्राप्तिके लिए सदा यत्न होता है। (रा.वा./९/७/११/६०७/४) (चा.सा./२०१/३)।

का.अ./मू./४३७ इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माधम्माण विविहमाहप्पं। धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ॥४३७॥ –हे प्राणियो, इस धर्म और अधर्मका अनेक प्रकार माहात्म्य देखकर सदा धर्मका आचरण करो और पापसे दूर ही रहो।

१०. निर्जरानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१७ एवं ह्यस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै प्रवृत्तिर्भवति। –इस प्रकार चिन्तवन करनेवाले इसकी कर्म निर्जराके लिए प्रवृत्ति होती है। रा.वा./९/७/७/६०३/३) (चा.सा./१९७/२)।

का. अ./मू/११४ जो समसोक्ख-णिलीणो वारंवारं सरेइ अप्पाणं। इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥११४॥ –जो मुनि समता-रसमें लीन हुआ, बार-बार आत्माका स्मरण करता है, इन्द्रिय और कषाय जीतनेवाले उसीके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

११. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१९ एवं ह्यस्य भावयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवति। –इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके बोधिको प्राप्त कर कभी प्रमाद नहीं होता। (रा.वा./९/७/९/६०३/२२) (चा.सा./२०१/३)।

का. अ./मू/३०१ इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च। मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि ॥३०१॥ –इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रको संसारकी समस्त दुर्लभ वस्तुओंमें भी दुर्लभ जानकर इन तीनोंका अत्यन्त आदर करो।

१२. लोकानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१८ एवं ह्यस्याध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति। –इस प्रकार लोकस्वरूप विचारनेवालेके तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि होती है। (रा.वा./९/७/८/६०३/६) (चा.सा./१९८/३)।

का. अ./मू/२८३ एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्क-सब्भावो। सो खविय कम्म-पुंजं तिल्लोय-सिहामणी होदि ॥२८३॥ –जो पुरुष उपशम परिणामस्वरूप परिणत होकर इस प्रकार लोकके स्वरूपका ध्यान करता है वह कर्मपुंजको नष्ट करके उसी लोकका शिखामणि होता है।

१३. संवरानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स.सि./९/७/४१७ एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति। ततश्च निःश्रेयसपदप्राप्तिरिति। –इस प्रकार चिन्तवन करनेवाले इस जीवके संवरमें निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्ष पदकी प्राप्ति होती है।

१४. संसारानुप्रेक्षाका प्रयोजन

का. अ./३८ संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो। संसार-दुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८॥ –जो जीव संसारसे पार हो गया है, वह तो उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, ऐसा विचार करना चाहिए और जो संसाररूपी दुःखोंसे घिरा हुआ है वह हेय है ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

स.सि./९/७/४१५ एवं ह्यस्य भावयतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय प्रयतते। –इस प्रकार चिन्तवन करते हुए संसारके दुःखके भयसे उद्विग्न हुए इसके संसारसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसारका नाश करनेके लिए प्रयत्न करता है (रा.वा./९/७/३/६०१/१७)।

का. अ./मू/७३ इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चउऊणं। तं झायह स-सरूवं संसरणं जेण णासेइ ॥७३॥ –इस प्रकार संसारको जानकर और सम्यक् व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायोंसे मोहको त्याग कर अपने उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूपका ध्यान करो, जिससे पाँच प्रकारके संसार-परिभ्रमणका नाश होता है।

अनुभव—लौकिक अथवा पारमार्थिक सुख-दुःखके वेदनको अनुभव कहते हैं। पारमार्थिक आनन्दका अनुभव ही शुद्धात्माका अनुभव है, जो कि मोक्ष-मार्गमें सर्वप्रधान है। साधककी जघन्य स्थितिसे लेकर उसकी उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्त यह अनुभव बराबर तारतम्य भावसे बढ़ता जाता है, और एक दिन उसे कृतकृत्य कर देता है। इसी विषयका कथन इस अधिकारमें किया गया है।

१. भेद व लक्षण

१. अनुभवका अर्थ अनुभाग

त. सू./८/२१ विपाकोऽनुभवः। =विपाक अर्थात् विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका (कर्मोंमें) पड़ना ही अनुभव है।

२. अनुभवका अर्थ उपभोग

रा. वा./३/२९/३/१९१ अनुभवः उपभोगपरिभोगसम्पत्। =अनुभव उपभोग परिभोग रूप होता है। (स.सि./३/२७/२२२)।

३. अनुभवका अर्थ प्रत्यक्षवेदन

द्र. सं./टी./४२/१८४ स्वसंवेदनगम्य आत्म सुखका वेदन ही स्वानुभव है —दे० आगे स्वसंवेदन।

न्या. दी./३/८/५६ इदन्तोल्लेखिविज्ञानमनुभवः। ='यह है' ऐसे उल्लेखसे चिह्नित ज्ञान अनुभव है।

४. अनुभूतिका लक्षण प्रत्यक्षवेदन

स. सा./आ./१४/क १३ आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा। आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥ =शुद्धनयस्वरूप आत्माकी अनुभूति ही ज्ञानकी अनुभूति है। अतः आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है, इस प्रकार देखो।

पं.का./त. प्र./३९/७९ चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात् । =चेतना अनुभव, उपलब्धि और वेदना ये एकार्थक हैं।

पं.ध./पू./६५१-६५२ स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपि किल यावत्। अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभवितामस्य नयपक्षः॥६५१॥ चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पकश्च स्यात्। स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥६५२॥ =स्वात्मध्यानसे युक्त कोई मनुष्य भी जहाँ तक "मैं ही यह आत्मा हूँ और मैं स्व ही उसका अनुभव करनेवाला हूँ" इस प्रकारके विकल्पसे युक्त रहता है, तब तक वह नयपक्ष वाला कहा जाता है ॥६५१॥ किन्तु यदि वही दैववशसे अधिक या थोड़े कालमें निर्विकल्प हो जाता है, तो 'मैं स्वयं आत्मा हूँ' इस प्रकारका अनुभव करनेसे यहाँ पर उसी समय आत्मानुभूति कही जाती है।

७. स्वसंवेदनज्ञानका अर्थ अन्तःसुखका वेदन

त. अनु./१६१ वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत् स्वस्य स्वेन योगिनः। तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥ ='स्वसंवेदन' आत्माके उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभवका नाम है जिसमें योगी आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा भावको प्राप्त होता है।

प. प्र. / टी. / १२ अन्तरात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन···यं परमात्मस्वभावम्···ज्ञातः। =अन्तरात्म लक्षण वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा जो यह परमात्मस्वभाव जाना गया है।

द्र.सं./टी./४१/१७६ रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसंजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं···। =रागादि विकल्पोंकी उपाधि से रहित परम स्वास्थ्य लक्षण संवित्ति या स्वसंवेदनसे उत्पन्न सदानन्द रूप एक लक्षण अमृतरसका आस्वाद···(द्र. सं./टी/४०/१६३; ४२/१८४)।

द्र. सं./टी/४१/१७७ शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन। =शुद्धोपयोग लक्षण स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा···।

द्र. सं./टी/५२/२१ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानम्। =उसी शुद्धात्माके उपाधिरहित स्वसंवेदरूप भेदज्ञान-द्वारा मिथ्यात्व रागादि परभावोंसे भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है।

८. संवित्तिका अर्थ सुखसंवेदन

न. च./वृ./३५० लक्खणदो णियलक्खे अणुहवमाणस्स जं हवे सोक्खं। सा संवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिद्दहणा ॥३५०॥ =निजात्माके लक्ष्यसे सकल विकल्पोंको दग्ध करनेपर जो सौख्य होता है उसे संवित्ति कहते हैं।

२. अनुभव निर्देश

१. स्वसंवेदनज्ञान मानस अचक्षुदर्शनका विषय है

प. प्र./टी/२/३४/१५५ अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमात्मग्राहकं भवति। =चारों दर्शनोंमें-से, मानस अचक्षुदर्शन आत्मग्राहक है।

प.ध./पू./७११-७१२ तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन्। स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोतं च नोपयोगि मतम् ॥७११॥ केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा। द्रव्यमनो भावमनो नोइंद्रियनाम किल स्वार्थात् ॥७१२॥ =शुद्ध स्वात्मानुभूतिके समयमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी जातीं ॥७११॥ वहाँ केवल एक मन ही उपयोगी है, और वह मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन।

२. आत्मानुभव स्वसंवेदन द्वारा ही संभव है

त. अनु/१६६-१६७ मेहीन्द्रियाधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः। वितर्कास्तत्र पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥१६६॥ उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्। स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥ =रूपादिसे रहित होनेके कारण वह आत्मरूप इन्द्रियज्ञानसे दिखाई देनेवाला नहीं है। तर्क करनेवाले उसे देख नहीं पाते। वे अपनी तर्कणामें भी विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं हो पाते ॥१६६॥ इन्द्रिय और मन दोनोंके निरुद्ध होनेपर अतीन्द्रिय ज्ञान विशेष रूपसे स्पष्ट होता है। अपना वह जो स्वसंवेदनके गोचर है, उसे स्वसंवेदनके द्वारा ही देखना चाहिए ॥१६७॥

३. अन्य ज्ञेयोंसे शून्य होता हुआ भी वह सर्वथा शून्य नहीं है

त. अनु/१६०,१७२ चिन्ताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव। दृग्बोधसाम्यरूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः ॥१६०॥ तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि। अन्यत्र किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥ =चिन्ताका अभाव जैनियोंके मतमें अन्य मिथ्यादृष्टियोंके समान तुच्छाभाव नहीं है, क्योंकि वह वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और समतारूप आत्माके संवेदन रूप है ॥१६०॥ उस समाधिकालमें स्वात्मामें देखनेवाले योगीको परम एकाग्रताके कारण बाह्य पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी आत्माके (सामान्य प्रतिभासके) अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता ॥१७२॥

दे. ध्यान/४/६ (आलेख्याकारवत् अन्य ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं) —इन दोनोंका समन्वय दे० दर्शन/२।

४. शुद्धात्मानुभव करनेकी विधि

स. सा./आ./१४४ यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वतः, तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुलयन्तीः श्रुतज्ञानबुद्धिरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यन्तमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तमादिमध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरन्तमिवाखण्डप्रतिभासमयमनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विन्दन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च। =प्रथम श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, और फिर आत्माकी प्रसिद्धिके लिए, पर पदार्थकी प्रसिद्धिके कारणभूत इन्द्रियों और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंको मर्यादामें लेकर जिसने मतिज्ञान तत्त्वको आत्मसम्मुख किया है; तथा जो नाना प्रकारके नयपक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्मसम्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरससे ही प्रकट होता हुआ, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनाकुल, केवल, एक, सम्पूर्ण ही विश्वपर मानो तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है, तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है, और ज्ञात होता है।

स. सा./आ./३८१/क२२३ रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः, पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्। दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं, विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥ =जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभावसे रहित है, जो सदा स्वभावको स्पर्श करनेवाले हैं, जो भूतकालके तथा भविष्यत्कालके समस्त कर्मोंसे रहित हैं, और जो वर्तमानकालके कर्मोदयसे

भिन्न हैं; वे ज्ञानी अतिप्रबल चारित्रके वैभवके बलसे ज्ञानकी संचेतनाका अनुभव करते हैं—जो ज्ञान चेतना चमकती हुई चैतन्य ज्योतिमय है और जिसने अपने रससे समस्त लोकको सींचा है।

३. मोक्षमार्गमें आत्मानुभवका स्थान

१. आत्माको जाननेमें अनुभव ही प्रधान है

स. सा./मू./५ तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥५॥ =उस एकत्व विभक्त आत्माको मैं निजात्माके वैभवसे दिखाता हूँ। यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना। (स. रा./मू./३), (पं. वि./१/११०), (पं. ध./उ./६६३) (पं. ध./पू./७१)

स.सा./आ./५ यदि दर्शयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यम्। =मैं जो यह दिखाऊँ उसे स्वयमेव अपने अनुभव प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना।

प्र. सा./त. प्र./परिशिष्ट/प्रारम्भ–ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणपूर्वकस्वानुभव - प्रमीयमाणत्वात्। =प्रश्न—यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है? उत्तर—आत्मा वास्तवमें चैतन्यसामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभवसे प्रमेय होता है।

पं. का./ता. वृ./२०/४४ तदित्थंभूतमपागमानुमानस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानात् शुद्धो भवति। =वह इस प्रकारका यह आत्मा आगम, अनुमान और स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे शुद्ध होता है।

२. पदार्थकी सिद्धि आगम, युक्ति व अनुभवसे होती है।

स. सा./आ./४४ न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः। =जो इन अध्यवसानादिकको जीव कहते हैं, वे वास्तवमें परमार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभवसे उनका पक्ष बाधित है। (और भी दे० पक्षाभास व अकिंचित्करहेत्वाभास)

३. तत्त्वार्थश्रद्धानमें आत्मानुभव ही प्रधान है

स. सा./आ./१७-१८ परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते। =परके साथ एकत्वके निश्चयसे मूढ अज्ञानी जनको 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभावसे, अज्ञातका श्रद्धान गधेके सींगके समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता।

पं. ध./उ./४१५-२० स्वानुभूतिसनाथश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः। स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥४१५॥ नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः। नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥४२०॥ —यदि श्रद्धा आदि स्वानुभव सहित हों तो वे सम्यग्दृष्टिके गुण लक्षण कहलाते हैं और वास्तवमें स्वानुभवके बिना उक्त श्रद्धा आदि सम्यग्दर्शनके लक्षण नहीं कहलाते किन्तु लक्षणाभास कहलाते हैं ॥४१५॥ श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनोंमें समव्याप्ति है, कारण कि निश्चयसे सम्यग्ज्ञानके द्वारा अगृहीत पदार्थमें सम्यक्श्रद्धा खरविषाणके समान हो ही नहीं सकती ॥ ४२०॥ (ला. सं./३/६०,६६)

४. आत्मानुभवके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता

र. सा./९० णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण। सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥९०॥ निज तत्त्वोपलब्धिके बिना सम्यक्त्वकी उपलब्धि नहीं होती, और सम्यक्त्वकी उपलब्धिके बिना निर्वाण नहीं होता ॥९०॥

स. सा./आ./१२/क६ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः, पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्। सम्यग्दर्शनमेतदेव नियतमात्मा च तावानयं, तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥ =इस आत्माको अन्यद्रव्योंसे पृथक् देखना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें व्याप्त रहनेवाला है और शुद्ध नयसे एक तत्त्वमें निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है। एवं जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इसलिए इस नव तत्त्वकी सन्ततिको छोड़कर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो।

४. स्वसंवेदनज्ञानकी प्रत्यक्षता

१. स्वसंवेदन द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष होता है

न. च. वृ./२६६ पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥२६६॥ =आराधनाकालमें युक्ति आदिका आलम्बन करना योग्य नहीं; क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष होता है।

त. अनु./१६८ वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासती। चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि ॥१६८॥ =स्वतन्त्रतासे चमकती हुई यह ज्ञानरूपा चेतना शरीर रूपसे प्रतिभासित न होनेपर भी स्वयं ही दिखाई पड़ती है।

पं. का./ता. वृ./१२७/१९० यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्षज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि स्वसंवेदनज्ञानसमुत्पन्न··· सुखामृतजलेन···भरितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवति। =यद्यपि अनुमान लक्षण परोक्षज्ञानके द्वारा व्यवहारनयसे धूमसे अग्निकी भाँति अशुद्धात्मा जानी जाती है, परन्तु स्वसंवेदन ज्ञानसे उत्पन्न सुखामृत जलसे परिपूर्ण परमयोगियोंको जैसा शुद्धात्मा प्रत्यक्ष होता है, वैसा अन्यको नहीं होता। (प्र. सा./ता. वृ.)

२. स्वसंवेदनमें केवलज्ञानवत् आत्मप्रत्यक्ष होता है

स. सा./ता. वृ./१९० प्रक्षेपक गाथा—को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्जरूवमिणं। पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं। =वर्तमानमें ही परोक्ष ज्ञानमें प्रवर्तमान स्वरूप भी साधुको प्रत्यक्ष होता है।

क. पा./१/१/§३१/४४ केवलणाणस्स ससंवेयणपच्चक्खेण णिब्बाहेणुवलंभादो। =स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशरूप ज्ञानकी निर्बाधरूपसे उपलब्धि होती है।

स. सा./आ./१४३ यथा खलु भगवान्केवली···विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु···नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल यः···श्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु···स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात्··· नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः। =जैसे केवली भगवान् विश्वके साक्षीपनेके कारण, स्वरूपको ही मात्र जानते हैं, परन्तु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते; इसी प्रकार-श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होनेपर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे स्वरूपको ही केवल जानते हैं परन्तु स्वयं ही विज्ञानघन होनेसे नय पक्षको ग्रहण नहीं करता, वह वास्तवमें समस्त विकल्पों से पर परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्याति रूप अनुभूतिमात्र समयसार है। (और भी दे० नय I/३/५-६)

स. सा./आ./१४/१२ भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधीर्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्। आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं, नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव

स्वयं शाश्वतः ॥१२॥ =यदि कोई सुबुद्धि जीव भूत, वर्तमान व भविष्यत् कर्मोंके बन्धको अपने आत्मासे तत्काल भिन्न करके तथा उस कर्मोदयके बलसे होने वाले मिथ्यात्वको अपने बलसे रोककर अन्तरंगमें अभ्यास करे, तो यह आत्मा अपने अनुभवसे ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है, ऐसा व्यक्त, निश्चल, शाश्वत, नित्य कर्मकलंकसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है। (स.सा./आ./२०३/क २४०)

ज्ञा./३२/४४ सुसंवृत्तेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि । क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥४४॥ =इन्द्रियों का संवर करके अन्तरंगमें अन्तरात्माके प्रसन्न होने पर जो उस समय तत्त्व स्फुरण होता है, वही परमेष्ठीका रूप है। (स.श/मू/३०)

स. सा./ता.वृ/११० इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत् । =यह आत्म-स्वरूप मेरे द्वारा चतुर्थ कालमें केवलज्ञानियोंकी भाँति प्रत्यक्ष देखा गया।

प्र. सा./ता. वृ./३३ यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति। संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति । =जैसे कोई देवदत्त सूर्योदयके द्वारा दिनमें देखता है और दीपकके द्वारा रात्रिको कुछ देखता है। उसी प्रकार मोक्ष पर्यायमें भगवान् आत्माको केवलज्ञानके द्वारा देखते हैं। संसारी विवेकी जन संसारी पर्यायमें रागादिविकल्प रहित समाधिके द्वारा निजात्माको देखते हैं।

नि.सा./ता.वृ/१४६/क२५३ सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः । न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडाः वयम् ॥२५३॥ =सर्वज्ञ वीतरागमें और इस स्व वश योगीमें कहीं कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरेरे ! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं ॥२५३॥

नि.सा./ता.वृ/१७८/क २९७ भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः । स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ॥२९७॥ =भाव पाँच है, जिनमें यह परम पंचम भाव (पारिणामिक भाव) निरन्तर स्थायी है। संसारके नाशका कारण है और सम्यग्दृष्टियोंके गोचर है।

पं.ध./उ./२१०,४८९ नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः । तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥२१०॥ अस्ति चात्मपरिच्छेदिज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः । स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥४८९॥ =स्वानुभूति रूप मति-श्रुतज्ञानमें अथवा सर्वज्ञके ज्ञानमें अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि उन दोनों ज्ञानोंमें सुख-दुःखका संवेदन नहीं होता है। वे मात्र ज्ञान रूप होते हैं ॥२१०॥ सम्यग्दृष्टि जीवका अपनी आत्माको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान शुद्ध और सिद्धोंके समान होता है ॥४८९॥

स.सा./१४३ पं. जयचन्द "जब नयपक्षको छोड़ वस्तुस्वरूपको केवल जानता ही हो, तब उस कालमें श्रुतज्ञानी भी केवलीकी तरह वीतरागके समान ही होता है।

३. सम्यग्दृष्टिको स्वात्मदर्शनके सम्बन्धमें किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं

स.सा./आ./२०६ आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि मा अन्यान् प्राक्षीः । =आत्मसे तृप्त ऐसे तुझको वचन अगोचर सुख प्राप्त होगा और उस सुखको उसी क्षण तू ही स्वयं देखेगा, दूसरोंसे मत पूछ।

४. मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षता व परोक्षताका समन्वय

स.सा./ता.वृ/१९०यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इन्द्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम्। तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षोऽपि भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति। किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः, किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति। तेऽपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति। तथापि श्रवणकाले श्रोतॄणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति। तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थः। =यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा रागादि विकल्परहित स्वसंवेदनरूप भाव श्रुतज्ञान शुद्ध निश्चयसे परोक्ष कहा जाता है, तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। इस प्रकार आत्मा स्वसंवेदनज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता हुआ भी केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष भी है। 'सर्वथा परोक्ष ही है' ऐसा कहना नहीं बनता। चतुर्थकालमें क्या केवली भगवान् आत्माको हाथमें लेकर दिखाते हैं? वे भी तो दिव्यध्वनिके द्वारा कहकर चले ही जाते हैं। फिर भी सुननेके *समय जो श्रोताके लिए परोक्ष है, वही पीछे परम समाधिकालमें* प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार वर्तमान कालमें भी समझना।

पं. का./ता. वृ/१६।१५६ स्वसंवेदनज्ञानरूपेण यदात्मग्राहकं भावश्रुतं तत्प्रत्यक्षं यत्पुनर्द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपपरमागमसंज्ञं तच्च मूर्तामूर्तोभयपरिच्छित्तिविषये व्याप्तिज्ञानरूपेण परोक्षमपि केवलज्ञानसदृशमित्यभिप्रायः । =स्वसंवेदन ज्ञानरूपसे आत्मग्राहक भाव श्रुतज्ञान है वह प्रत्यक्ष है, और जो बारह अंग चौदह पूर्व रूप परमागम नामवाला ज्ञान है, वह मूर्त, अमूर्त व उभय रूप अर्थोंके जाननेके विषयमें अनुमान ज्ञानके रूपमें परोक्ष होता हुआ भी केवलज्ञानसदृश है।

द्र.सं./टी./५/१६/१ शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत्; स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षम् यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत्परोक्षम्। यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्। अभेदनयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि *संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते।* अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति, कथं प्रत्यक्षं भवतीति परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम्, यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति। तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम्। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते। यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा। =श्रुतज्ञानके भेदोंमें शब्दात्मश्रुतज्ञान तो परोक्ष ही है, और स्वर्ग मोक्ष आदि बाह्य विषयोंकी परिच्छित्ति रूप विकल्पात्मक ज्ञान भी परोक्ष ही है। यह जो अभ्यन्तरमें 'सुख दुःखके विकल्प रूप या अनन्त ज्ञानादि रूप मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होता है वह ईषत्परोक्ष है। परन्तु जो निश्चय भाव श्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्माभिमुख स्वसंवित्ति स्वरूप है। यह यद्यपि संवित्तिके आकार रूपसे सविकल्प है, परन्तु इन्द्रिय मनोजनित रागादि विकल्प जालसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है। अभेद नयसे वही ज्ञान आत्मा शब्दसे कहा जाता है, तथा वह वीतराग चारित्रके बिना नहीं होता। वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है तथापि संसारियोंको क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे क्षायोपशमिक होने पर भी 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। प्रश्न—'आद्ये परोक्षम्' इस तत्त्वार्थसूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है, फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? उत्तर—तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्ग व्याख्यानकी अपेक्षा कहा है और यहाँ अपवाद व्याख्यानकी अपेक्षा है। यदि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्गका कथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्रमें मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा

गया है ? और यदि सूत्रके अनुसार वह सर्वथा परोक्ष ही होता तो तर्कशास्त्रमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ? इसलिए जैसे अपवाद व्याख्यानसे परोक्षरूप भी मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है वैसे ही स्वात्मसन्मुख ज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि एकान्तसे मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दुःख आदिका जो संवेदन होता है वह भी परोक्ष ही होगा। किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है।

पं.ध./पू./७०६-७०७ अपि किंवाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्। स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥ तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे। व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात् ॥७०७॥ =स्वात्मानुभूतिके समयमें मति व श्रुत ज्ञान प्रत्यक्षकी भाँति होनेके कारण प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं ॥७०६॥ स्पर्शादि इन्द्रियके विषयोंको ग्रहण करते समय और आकाशादि पदार्थोंको विषय करते समय ये दोनों ही परोक्ष हैं प्रत्यक्ष नहीं। (पं.ध/उ/४६०-४६२)

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडरमल—"अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष ही है।—परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होते जो स्वानुभव हुआ वह स्वानुभवप्रत्यक्ष है···स्वयं ही इस अनुभवका रसास्वाद वेदे है।

५. मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षताका प्रयोजन

का./ता.वृ/४३/८६ निर्विकारशुद्धात्मानुभूत्यभिमुखं यन्मतिज्ञानं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखसाधकत्वान्निश्चयेनोपादेयं तत्साधकं बहिरङ्गं पुनर्व्यवहारेणेति तात्पर्यम् ।···अभेदरत्नत्रयात्मकं यद्भावश्रुतं तदेवोपादेयभूतपरमात्मतत्त्वसाधकत्वान्निश्चयेनोपादेयं, तत्साधकं बहिरङ्गं तु व्यवहारेणेति तात्पर्यम् । =निर्विकार शुद्धात्मानुभूतिके अभिमुख जो मतिज्ञान है वही उपादेयभूत अनन्त सुखका साधक होनेसे निश्चयसे उपादेय है, और उसका साधक बहिरंग मतिज्ञान व्यवहारसे उपादेय है। इसी प्रकार अभेद रत्नत्रयात्मक जो भाव श्रुतज्ञान है वही उपादेयभूत परमात्मतत्त्वका साधक होनेसे निश्चयसे उपादेय है और उसका साधक बहिरंग श्रुतज्ञान व्यवहारसे उपादेय है, ऐसा तात्पर्य है।

५. अल्प भूमिकाओंमें आत्मानुभव विषयक चर्चा

१. सम्यग्दृष्टिको स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम अवश्य होता है

पं.ध./उ./४०७,८५६ हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यतः। तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥४०७॥ अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः···॥८५६॥ =सम्यक्त्वके होनेपर नियमपूर्वक लब्धि रूप स्वानुभूतिके रहनेमें कारण यह है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय अवश्य ही स्वयं स्वानुभूत्यावरण कर्मका भी यथा योग्य क्षयोपशम होता है ॥४०७॥ सम्यक्त्व होते ही स्वानुभूत्यावरण कर्मका नाश अवश्य होता है ॥८५६॥

२. सम्यग्दृष्टिको कथंचित् आत्मानुभव अवश्य होता है

स.सा./मू./१४ जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥ =जो नय आत्मा बन्ध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्यके संयोगसे रहित ऐसे पाँच भाव रूपसे देखता है उसे हे शिष्य ! तू शुद्ध नय जान ॥१४॥ इस नयके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है ॥११॥ (पं.ध/उ/२३३)

ध.१/१,१,१/३८/४ सम्यग्दृष्टीनामाप्तस्वरूपाणां ··· ज्ञानदर्शनानावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्तिखचितात्मस्मर्तॄणां वा पापक्षयकारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः । =आप्तके स्वरूपको जाननेवाले और आवरणरहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानमें पापका क्षयकारीपना पाया जाता है।

स.सा./आ./१४/क१३ आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा···॥१३॥ =जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है, वही वास्तवमें ज्ञानकी अनुभूति है। (स.सा./आ/१७-१८)।

पं.का./त.प्र./१६६/२३९. अर्हदादिभक्तिसंपन्नः कथंचिच्छुद्धसंप्रयोगोऽपि सन् जीवो जीवद्रागलवत्वाच्छुभोपयोगतामजहत् बहुशः पुण्यं बध्नाति, न खलु सकलकर्मक्षयमारभते। =अर्हन्तादिके प्रति भक्ति सम्पन्न जीव कथंचित् शुद्ध संप्रयोगवाला होनेपर भी राग लव जीवित होनेसे शुभोपयोगको न छोड़ता हुआ बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तवमें सकल कर्मोंका क्षय नहीं करता।

ज्ञा./३२/४३ स्याद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम्। बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥४३॥ =अज्ञानी पुरुष जिस-जिस विषयमें प्रीति करता है, वे सब ज्ञानीके लिए आपदाके स्थान हैं, तथा अज्ञानी जिस-जिस तपश्चरणादिसे भय करता है वही ज्ञानीके आनन्दका निवास है।

प्र.सा./ता.वृ/२४८ श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते। =श्रावकोंके भी सामायिकादि कालमें शुद्ध भावना दिखाई देती है।

पं.का./ता.वृ./१७० चतुर्थगुणस्थानयोग्यमात्मभावनामपरित्यजन् सन् देवलोके कालं गमयति, ततोऽपि स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादिविभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्मभावनाबलेन मोहं न करोति। =चतुर्थ गुणस्थानके योग्य आत्मभावनाको नहीं छोड़ता हुआ वह देवलोकमें काल गँवाता है। पीछे स्वर्गसे आकर मनुष्य भवमें चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको प्राप्त करके भी, पूर्वभवमें भावित शुद्धात्मभावनाके बलसे मोह नहीं करता है।

पं.ध./पू./७१० इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः। काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यथा ॥ =सम्यग्दृष्टि जीवके निश्चय ही मिथ्यात्वकर्मके अभावसे कोई अनिर्वचनीय शक्ति होती है जिससे यह आत्मप्रत्यक्ष होता है।

मो.मा.प्र/७/३७६/६ नीचली दशाविषै केई जीवनिकै शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका युक्तपना पाइये है।

ला.सं./भाषा/४/२६६/१६३ चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी आत्मामें प्रगट हो जाता है।

यु.अ./५१ पं.जुगल किशोर "स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ।५१। =असंयत सम्यग्दृष्टिके भी स्वानुरूप मनःसाम्यकी अपेक्षा मनका सम होना बनता है; क्योंकि उसके संयमका सर्वथा अभाव नहीं है।

३. धर्मध्यानमें किंचित् आत्मानुभव अवश्य होता है

द्र.सं./टी./४७/१९९ निश्चयमोक्षमार्गं तथैव···व्यवहारमोक्षमार्गं च · तद्द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति···/ =निश्चय मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग इन दोनोंको मुनि निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमध्यानके द्वारा प्राप्त करता है।

द्र.सं./टी.५६/२२५ तस्मिन्ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्। तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते। तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं तदेवैकदेशव्यक्तिरूप···परमहंसस्वरूपम्।··· तदेव शुद्धचारित्रं···स एव शुद्धोपयोगः,···षडावश्यकस्वरूपं,···सामायिकं,·· चतुर्विधाराधना,···धर्मध्यानं,···शुक्लध्यानं···शून्यध्यानं···परमसाम्यं,··· भेदज्ञानं, ···परमसमाधि, ···परमस्वाध्याय इत्यादि ६६ बोल। =उस ध्यानमें स्थित जीवोंको जो वीतराग परमानन्द सुख प्रतिभासता है, वह निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप है। वही पर्यायान्तरसे क्या-क्या कहा

जाता है, सो कहते हैं। वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप तथा एकदेश परमहंसस्वरूप है। वही शुद्धचारित्र, शुद्धोपयोग, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, शून्यध्यान, परमसाम्य, भेदज्ञान, परम समाधि, परमस्वाध्याय आदि हैं।

४. धर्मध्यान अल्प भूमिकाओंमें भी यथायोग्य होता है

प्र.सा./ता.वृ./१९४ ध्यायति यः कर्ता। कम्। निजात्मानम्। किं कृत्वा। स्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा।…कथंभूतः।…यतिः गृहस्थः। य एवं गुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्।=जो यति या गृहस्थ स्वसंवेदनज्ञानसे जानकर निजात्माको ध्याता है उसकी मोहग्रन्थि नष्ट हो जाती है।

द्र.सं./टी./४८/२०१-२०५ तावदागमभाषया (२०१)…तारतम्यवृद्धिक्रमेणा-संयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्त्ति-जीवसंभवं, मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारणं चेति धर्मध्यानं कथ्यते ॥२०२॥…अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरम-चैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावनारूपमभ्यन्तर-धर्मध्यानमुच्यते। पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादि तदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरंग-धर्मध्यानं भवति (२०४)।=आगम भाषाके अनुसार तारतम्य रूपसे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानवर्ती जीवोंमें सम्भव, मुख्यरूपसे पुण्यबन्धका कारण होते हुए भी परम्परासे मुक्तिका कारण धर्मध्यान कहा गया है। अध्यात्म भाषाके अनुसार सहज शुद्ध परम चैतन्य शालिनी निर्भरानन्द मालिनी भगवती निजात्मामें उपादेय बुद्धि करके पीछे 'मैं अनन्त ज्ञानरूप हूँ, मैं अनन्त सुख रूप हूँ' ऐसी भावना रूप अभ्यन्तर धर्म-ध्यान कहा जाता है। पञ्चपरमेष्ठीकी भक्ति आदि तथा तदनुकूल शुभानुष्ठान बहिरंग धर्मध्यान होता है।

पं.ध./उ./६८८,९१५ दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्। न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥६८८॥ प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना। अस्तीति वासनोन्मेषः केषांश्चित्स न सन्निह ॥९१५॥=आत्माके दर्शनमोहकर्मका अभाव होनेपर शुद्धात्माका अनुभव होता है। उसमें किसी भी चारित्रावरणकर्मका उदय बाधक नहीं होता ॥६८८॥ 'प्रमत्तगुणस्थान तक विकल्पका सद्भाव होनेसे वहाँ शुद्ध चेतना सम्भव नहीं' ऐसा जो किन्हींके वासनाका उदय है, सो ठीक नहीं है ॥९१५॥

५. निश्चय धर्मध्यान मुनिको होता है गृहस्थको नहीं

ज्ञा./४/१७ खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते। न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥=आकाशपुष्प अथवा खरविषाणका होना कदाचित् सम्भव है, परन्तु किसी भी देशकालमें गृहस्थाश्रममें ध्यानकी सिद्धि होनी सम्भव नहीं ॥१७॥

त.अनु./४७ मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा। अप्रमत्तेषु तन्मुख्य-मितरेष्वौपचारिकम् ॥४७॥=धर्मध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे दो प्रकारका है। अप्रमत्त गुणस्थानोंमें मुख्य तथा अन्य प्रमत्तगुण-स्थानोंमें औपचारिक धर्मध्यान होता है।

स.सा./ता.वृ/९६ ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानं-मस्तीति। अत्रोत्तरं विषयसुखानुभवानन्दरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजन-प्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः।—प्रश्न—वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानका विचार करते हुए आप सर्वत्र 'वीतराग' विशेषण किसलिए लगाते हैं। क्या सरागको भी स्वसंवेदनज्ञान होता है? उत्तर—विषय सुखानुभवके आनन्द रूप स्वसंवेदनज्ञान सर्वजन प्रसिद्ध है। वह सरागको भी होता है। परन्तु शुद्धात्म सुखानुभूति रूप स्वसंवेदनज्ञान वीतरागको ही होता है। स्वसंवेदनज्ञानके प्रकरणमें सर्वत्र यह व्याख्यान जानना चाहिए।

प्र.सा./ता.वृ.२५४/३४७ विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्त्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति।=विषय कषायके निमित्तसे उत्पन्न आर्त-रौद्र ध्यानोंमें परिणत गृहस्थजनोंको आत्माश्रित निश्चय धर्मका अवकाश नहीं है।

द्र. सं./टी./३४/९६. असंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।=असंयत सम्यग्दृष्टिसे प्रमत्तसंयत तकके तीन गुणस्थानोंमें परम्परा रूपसे शुद्धोपयोगका साधक, तथा ऊपर-ऊपर अधिक-अधिक विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है। और उसके अनन्तर अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यन्तके गुणस्थानोंमें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदको लिये विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

मो.पा./टी./२/३०५/९ मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते। तप्तलोहगोलक-समानगृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते।=मुनियोंके ही परमात्म-ध्यान घटित होता है। तप्तलोहके गोलेके समान गृहस्थोंको परमात्मध्यान प्राप्त नहीं होता। (देवसेन सूरिकृत भावसंग्रह। ३७१-३९७, ६०५)

भा.पा./टी.८१/२३२/२४ क्षोभः परीषहोपसर्गनिपाते चित्तस्य चलनं ताभ्यां विहीनो रहितः मोहक्षोभविहीनः। एवं गुणविशिष्ट आत्मनः शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य चिच्चमत्कारलक्षणश्चिदानन्दरूपः परिणामो इत्युच्यते। स परिणामो गृहस्थानां न भवति। पञ्चसूनासहितत्वात्। =परिषह व उपसर्गके आनेपर चित्तका चलना क्षोभ है। उससे रहित मोह-क्षोभ विहीन है। ऐसे गुणोंसे विशिष्ट शुद्धबुद्ध एकस्वभावी आत्माका चिच्चमत्कार लक्षण चिदानन्द परिणाम धर्म कहलाता है। पंचसून दोष सहित होनेके कारण वह परिणाम गृहस्थोंको नहीं होता।

६. गृहस्थको निश्चयध्यान कहना अज्ञान है

मो.पा./टी./२/३०५ ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः। =जो गृहस्थ होते हुए भी मनाक् आत्मभावनाको प्राप्त करके 'हम ध्यानी हैं' ऐसा कहते हैं, वे जिनधर्म विराधक मिथ्यादृष्टि जानने चाहिए।

भावसंग्रह/ ३८५ (गृहस्थोंको निरालम्ब ध्यान माननेवाला मूर्ख है।)

७. साधु व गृहस्थके निश्चयध्यानमें अन्तर

मो.पा./मू./८३-८६ णिच्छयणयस्स एवं अप्पम्मि अप्पणे सुरदो। सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥ एवं जिणेहिं कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु। संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥ गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं। तं जाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥=निश्चय नयका ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा ही विषैं आपहीके अर्थि भले प्रकार रत होय सो योगी ध्यानी मुनि सम्यग्चारित्रवान् भया संता निर्वाणकूं पावै है ॥८३॥ इस प्रकारका उपदेश श्रमणोंके लिए किया गया है। बहुरि अब श्रावकनिकूं कहिये हैं, सो सुनो। कैसा कहिये है—संसार-का तो विनाश करनेवाला और सिद्धि जो मोक्ष ताका करनेवाला उत्कृष्ट कारण है ॥८५॥ प्रथम तौ श्रावककूं भलै प्रकार निर्मल और मेरुवत् अचल अर चल, मलिन, अगाढ दूषण रहित अत्यन्त निश्चल ऐसा सम्यक्त्वकं ग्रहणकरि, तिसकं ध्यानविषैं ध्यावना, कौन अर्थि-

दुःखका क्षयके अर्थि ध्यावना ॥८६॥ जो जीव सम्यक्त्वकं ध्यावै है, सो जीव सम्यग्दृष्टि है, बहुरि सम्यक्त्वरूप परिणया संता दुष्ट जे आठ कर्म तिनिका क्षय करै है ॥८७॥

८. अल्पभूमिकामें आत्मानुभवके सद्भाव-असद्भावका समन्वय

स.सा./ता.वृ./१० यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति, बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति। ननु तर्हि—स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति। तत्र यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्मध्यानयोग्यमस्तीत्यर्थः। =जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञानके बलसे शुद्धात्माको जानता है, वह निश्चय श्रुतकेवली होता है। जो शुद्धात्माका संवेदन तो नहीं करता परन्तु बहिर्विषयरूप द्रव्य श्रुतको जानता है वह व्यवहारश्रुतकेवली होता है। प्रश्न—तब तो स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे इस कालमें श्रुतकेवली हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकारका शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान पूर्वपुरुषोंको होता था वैसा इस कालमें नहीं है, किन्तु धर्मध्यानके योग्य है।

प्र.सा./ता.वृ./२४८ ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते। श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते; तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति। परिहारमाह—युक्तमुक्तं भवता परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्त्तन्ते, यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्त्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्। बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति। =प्रश्न—शुभोपयोगियोंके भी किसी काल शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है और शुद्धोपयोगियोंके भी किसी काल शुभोपयोगकी भावना देखी जाती है। श्रावकोंके भी सामायिकादि कालमें शुद्धभावना दिखाई देती है। इनमें किस प्रकार विशेष या भेद जाना जाये? उत्तर—जो प्रचुर रूपसे शुभोपयोगमें वर्तते हैं वे यद्यपि किसी काल शुद्धोपयोगकी भावना भी करते हैं तथापि शुभोपयोगी ही कहलाते हैं। और इसी प्रकार शुद्धोपयोगी भी यद्यपि किसी काल शुभोपयोग रूपसे वर्तते हैं तथापि शुद्धोपयोगी ही कहे जाते हैं। कारण कि आम्रवन व निम्बवनकी भाँति बहुपदकी प्रधानता होती है।

द्र.सं./टी./३४/६७/१ तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगो कथं घटते इति चेत्तत्रोत्तरम्—शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्माध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति फलभूतकेवलज्ञानपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति किंतु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं एकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते। =प्रश्न—अशुद्ध निश्चयमें शुद्धोपयोग कैसे घटित होता है? उत्तर—शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा ध्येयरूपसे रहती है। इस कारणसे शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्ध अवलम्बन होनेसे और शुद्धात्मस्वरूपका साधक होनेसे शुद्धोपयोग घटित होता है। संवर शब्दका वाच्य वह शुद्धोपयोग न तो मिथ्यात्वरागादि अशुद्ध पर्यायवत् अशुद्ध होता है और न ही केवलज्ञान पर्यायवत् शुद्ध ही होता है। किन्तु अशुद्ध व शुद्ध दोनों पर्यायोंसे विलक्षण एकदेश निरावरण तृतीय अवस्थान्तर कही जाती है। (प्र.सा./ता.वृ./१८१/२४५/११)।

६. शुद्धात्माके अनुभव विषयक शंका-समाधान

१. अशुद्ध ज्ञानसे शुद्धात्माका अनुभव कैसे करें

स.सा./ता.वृ./४१४/५०८/२३ केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति।...नैवं छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वम्। तद्यथा—यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्चारित्रसहितत्वेन च शुद्धम्। अभेदनयेन छद्मस्थानां संबन्धिभेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः।...क्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवति। शुद्धपारिणामिकभावः एकदेशव्यक्तिलक्षणायां कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति न च ध्यानपर्यायरूपेण। =प्रश्न—केवलज्ञान शुद्ध होता है और छद्मस्थका ज्ञान अशुद्ध। वह शुद्ध केवलज्ञानका कारण नहीं हो सकता?—उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि छद्मस्थज्ञानमें भी कथंचित् शुद्धाशुद्धत्व होता है। वह ऐसे कि यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा तो वह शुद्ध नहीं होता, तथापि मिथ्यात्व रागादिसे रहित होनेके कारण तथा वीतराग सम्यक्चारित्रसे सहित होनेके कारण वह शुद्ध भी है। अभेद नयसे छद्मस्थों सम्बन्धी भेदज्ञान भी आत्मस्वरूप ही है। इस कारण एक देश व्यक्तिरूप उस ज्ञानसे सकल व्यक्तिरूप केवलज्ञान हो जाता है, इसमें कोई दोष नहीं है। क्षायोपशमिक भावश्रुतज्ञान भी (भले सावरण हो पर) मोक्षका कारण हो सकता है। शुद्ध पारिणामिकभाव एकदेश व्यक्तिलक्षणरूपसे कथंचित् भेदाभेद द्रव्यपर्यायात्मक जीवपदार्थकी शुद्धभावनाकी अवस्थामें ध्येयभूत द्रव्यरूपसे रहता है, ध्यानकी पर्यायरूपसे नहीं। (और भी देखो पीछे 'अनुभव/५/७')।

२. अशुद्धताके सद्भावमें भी उसकी उपेक्षा कैसे करें

पं.ध./उ./१५६,१६२ न चाशङ्क्यं सतस्तस्यस्यादुपेक्षा कथं जवात् ॥१५६॥ यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम्। न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥१६२॥ =उस सत्स्वरूप पर संयुक्त द्रव्यकी सहसा उपेक्षा कैसे हो जायेगी—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए ॥१५६॥ क्योंकि जिस समय अशुद्ध स्वर्णके रूपोंमें केवल शुद्ध स्वर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है, उस समय परद्रव्यकी उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणसे अपना अभीष्ट वह केवल शुद्धस्वर्ण ही दृष्टिगोचर होता है।

३. देह सहित भी उसका देह रहित अनुभव कैसे करें

ज्ञा./३२/६-११ कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात्। आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥६॥ अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना। ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥१०॥ संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः। बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनाम् ॥११॥ =प्रश्न—यदि आत्मा ऐसा है तो इसे देहादि पदार्थोंके समूहसे पृथक् करके निर्विकल्प व अतीन्द्रिय, ऐसा कैसे ध्यान करैं ॥६॥ उत्तर—योगी बहिरात्माको छोड़कर भले प्रकार स्थिर अन्तरात्मा होकर अत्यन्त विशुद्ध अविनाशी परमात्माका ध्यान करै ॥१०॥ जो बहिरात्मा है, सो चैतन्यरूप आत्माको देहके साथ संयोजन करता है। और ज्ञानी देहको देहीसे पृथक् ही देखता है ॥११॥

४. परोक्ष आत्माका प्रत्यक्ष कैसे करें

ज्ञा./३३/४ अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्। सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥४॥ =तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वको प्रगटतया चिन्तवन करे कि लक्ष्यके सम्बन्धसे तो अलक्ष्यको और स्थूलसे सूक्ष्मको और सालम्ब ध्यानसे निरालम्ब वस्तु स्वरूपको चिन्तवन करता हुआ उससे तन्मय हो जाये।

स.सा./ता.वृ./१९० परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं भवतीति। उपदेशेन परोक्षरूपं यथा प्रष्टा जानाति भण्यते तथैव भ्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च॥१॥ आत्मा स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षो भवति केवलज्ञानापेक्षया परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्षमिति वक्तुं नायाति। =प्रश्न—परोक्ष आत्माका ध्यान कैसे होता है? उत्तर—उपदेशके द्वारा परोक्षरूपसे भी जैसे द्रष्टा जानता है, उसे उसी प्रकार कहता है और धारण करता है। अतः जीव द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है॥१॥ आत्मा स्वसंवेदनकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है और केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष भी होता है सर्वथा परोक्ष कहना नहीं बनता।

स. सा/ता.वृ/२९६ कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिविषयो न भवत्यमूर्तत्वात्, इति प्रश्नः। प्रज्ञाभेदज्ञानेन गृह्यते इत्युत्तरम्। =प्रश्न—वह आत्मा कैसे ग्रहण की जाती है, क्योंकि अमूर्त होनेके कारण वह दृष्टिका विषय नहीं है। उत्तर—प्रज्ञारूप भेदज्ञानके द्वारा ग्रहण किया जाता है।

अनुभव प्रकाश—पं० दीपचन्दजी शाह (ई० १७२२) द्वारा रचित हिन्दी भाषाका एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

अनुभाग—अनुभाग नाम द्रव्यकी शक्तिका है। जीवके रागादि भावों की तरतमताके अनुसार, उसके साथ बन्धने वाले कर्मोंकी फलदान शक्तिमें भी तरतमता होनी स्वाभाविक है। मोक्षके प्रकरणमें कर्मोंकी यह शक्ति ही अनुभाग रूपसे इष्ट है। जिस प्रकार एक बूँद भी पकता हुआ तेल शरीरको दफानेमें समर्थ है और मन भर भी कम गर्म तेल शरीरको जलानेमें समर्थ नहीं है; उसी प्रकार अधिक अनुभाग युक्त थोड़े भी कर्मप्रदेश जीवके गुणोंका घात करनेमें समर्थ हैं, परन्तु अल्प अनुभाग युक्त अधिक भी कर्मप्रदेश उसका पराभव करनेमें समर्थ नहीं है। अतः कर्मबन्धके प्रकरणमें कर्मप्रदेशोंकी गणना प्रधान नहीं है, बल्कि अनुभाग ही प्रधान है। हीन शक्तिवाला अनुभाग केवल एक देश रूपसे गुणका घात करनेके कारण देशघाती और अधिक शक्तिवाला अनुभाग पूर्ण रूपेण गुणका घातक होनेके कारण सर्वघाती कहलाता है। इस विषयका ही कथन इस अधिकारमें किया गया है।

	(१) केवलज्ञानदर्शनावरण, असाता व अन्तरायके अनुभाग परस्पर समान होते हैं।
	(२) तिर्यंचायुसे मनुष्यायुका अनुभाग अनन्तगुणा है।
३	जघन्य व उत्कृष्ट अनुभाग बन्धकी सम्बन्धी नियम :–
	* उत्कृष्ट अनुभागका बन्धक ही उत्कृष्ट स्थितिको बान्धता है। दे० स्थिति०/४।
	* उत्कृष्ट अनुभागके साथ ही उत्कृष्ट स्थिति बन्धका कारण दे० स्थिति/५।
	(१) अघातिया कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभाग सम्यग्दृष्टिको ही बाँधता है, मिथ्यादृष्टिको नहीं।
	(२) गोत्रकर्मका जघन्य अनुभागबंध तेज व वात कायिकोंमें ही सम्भव है।
४	प्रकृतियोंके जघन्य व उत्कृष्ट अनुभाग बंधकोंकी प्ररूपणा।
५	अनुभाग विषयक अन्य प्ररूपणाओंका सूत्रोपत्र।
	अनुभाग सत्त्व। दे० 'सत्त्व'
*	प्रकृतियोंके चतुःस्थानीय अनुभाग बन्धके काल, अंतर, क्षेत्र, स्पर्शन, भाव अल्पबहुत्व व संख्या सम्बन्धी प्ररूपणाएँ। दे० वह वह नाम

१. भेद व लक्षण

१. अनुभाग सामान्यका लक्षण व भेद

ध.१३/५,५,८२/३४९/५ छदव्वाणं सत्ती अणुभागो णाम। सो च अणुभागो छव्विहो—जीवाणुभागो, पोग्गलाणुभागो धम्मत्थियअणुभागो अधम्मत्थियअणुभागो आगासत्थियअणुभागो कालदव्वाणुभागो चेदि। —छह द्रव्योंकी शक्तिका नाम अनुभाग है। वह अनुभाग छः प्रकारका है—जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग।

२. जीवादि द्रव्यानुभागोंके लक्षण

ध./१३/५,५,८२/३४९/७ तत्थ असेसदव्वागमो जीवाणुभागो। जरकुट्ठक्खयादिविणासणं तदुप्पायणं च पोग्गलाणुभागो। जोणिपाहुडे भणिदमंततंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेतव्वो। जीवपोग्गलाणं गमणागमणहेदुत्तं धम्मत्थियाणुभागो। तेसिमवट्ठाणहेदुत्तं अधम्मत्थियाणुभागो। जीवादिदव्वाणमाहारत्तमागासत्थियाणुभागो। अण्णेसिं दव्वाणं कमाकमेहि परिणमणहेदुत्तं कालदव्वाणुभागो। एवं दुसंजोगादिणा अणुभागपरूवणा कायव्वा। जहा [मट्टिआ] पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीणं घडुप्पायणाणुभागो। —समस्त द्रव्योंका जानना जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ट और क्षय आदिका विनाश करना और उनका उत्पन्न करना, इसका नाम पुद्गलानुभाग है। योनिप्राभृतमें कहे गये मन्त्र तन्त्ररूप शक्तियोंका नाम पुद्गलानुभाग है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। जीव और पुद्गलोंके गमन और आगमनमें हेतु होना, धर्मास्तिकायानुभाग है। उन्हींके अवस्थानमें हेतु होना, अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्योंका आधार होना, आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे परिणमनमें हेतु होना, कालद्रव्यानुभाग है। इसी प्रकार द्विसंयोगादि रूपसे अनुभागका कथन करना चाहिए। जैसे—मृत्तिकापिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्भार आदिका घटोत्पादन रूप अनुभाग।

३. अनुभाग बन्ध सामान्यका लक्षण

त.सू./८/२१,२२. विपाकोऽनुभवः ॥२१॥ स यथानाम ॥२२॥ —विविध प्रकारके पाक अर्थात् फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभव है ॥२१॥ वह जिस कर्मका जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है ॥२२॥

मू.आ./१२४० कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाणजणिद सुह असुहो वा। बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ ॥१२४०॥ —ज्ञानावरणादि कर्मोंका जो कषायादि परिणामजनित शुभ अथवा अशुभ रस है वह अनुभागबन्ध है।

स.सि./८/३/३७९ तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथा—अजगोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। —उस (कर्म) के रस विशेषको अनुभव कहते हैं। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका अलग अलग तीव्र मन्द आदि रस विशेष होता है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गलोंका अलग-अलग स्वगत सामर्थ्य विशेष अनुभव है। (पं.सं./प्रा./४/५१४), (रा.वा./८/३/६/५६७) (पं.सं./सं./४/३६६) (द्र.स./टी./३३/९३)

ध.१२/४,२,७,१९९/९१/८ अट्ठण्णं वि कम्माणं जीवपदेसाणं अण्णोणाणुगमणहेदुपरिणामो। —अनुभाग किसे कहते हैं? आठों कर्मों और प्रदेशोंके परस्परमें अन्वय (एकरूपता) के कारणभूत परिणामको अनुभाग कहते हैं।

क.पा.५/४-२३/§१/२/३ को अणुभागो। कम्माणं सगकज्जकरणसत्ती अणुभागो णामा। —कर्मोंके अपना कार्य करने (फल देने)की शक्तिको अनुभाग कहते हैं।

नि.सा./ता.वृ./४० शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखफलदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः। —शुभाशुभकर्मकी निर्जराके समय सुखदुःखरूप फल देनेकी शक्तिवाला अनुभागबन्ध है।

४. अनुभाग बन्धके १४ भेद

पं.सं.प्रा./४/४४१ सादि अणादिय अट्ठ य पसत्थिदरपरूवणा तहा सण्णा। पच्चय विवाय देसा सामित्तेणाह अणुभागो ॥४४१॥ —अनुभागके चौदह भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—१. सादि, २. अनादि, ३. ध्रुव, ४. अध्रुव, ५. जघन्य, ६. अजघन्य, ७. उत्कृष्ट, ८. अनुत्कृष्ट, ९. प्रशस्त, १०. अप्रशस्त, ११. देशघाति व सर्वघाति, १२. प्रत्यय, १३. विपाक, ये तेरह प्रकार तो अनुभाग बन्ध और १४ वाँ स्वामित्व। इन चौदह भेदोंकी अपेक्षा अनुभाग बन्धका वर्णन किया जाता है।

५. सादि अनादि आदि भेद व लक्षण

गो.क./जी.प्र./९१/७५ येषां कर्मणां उत्कृष्टः तेषामेव कर्मणां उत्कृष्टः स्थित्यनुभागप्रदेशः साद्यादिभेदाच्चतुर्विधो भवति। अजघन्येऽपि एवमेव चतुर्विधः। तेषां लक्षणं…अत्रोदाहरणमात्रं किंचित्प्रदर्श्यते। तद्यथा—उपशमश्रेण्यारोहकः सूक्ष्मसाम्परायः उच्चैर्गोत्रानुभागं उत्कृष्टं बद्ध्वा उपशान्तकषायो जातः। पुनरवरोहणे सूक्ष्मसाम्परायो भूत्वा तदनुभागमनुत्कृष्टं बध्नाति तदास्य सादित्वम्। तत्सूक्ष्मसाम्परायचरमादधोऽनादित्वम्। अभव्ये ध्रुवत्वं यदा अनुत्कृष्टं त्यक्त्वा उत्कृष्टं बध्नाति तदा अध्रुवत्वमिति। अजघन्येऽप्येवमेव चतुर्विधः। तद्यथा—सप्तमपृथिव्यां प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिश्चरमसमये नीचैर्गोत्रानुभागं जघन्यं बद्ध्वा सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा तदनुभागमजघन्यं बध्नाति तदास्य सादित्वं द्वितीयादिसमयेषु अनादित्वमिति चतुर्विधं यथासम्भवं द्रष्टव्यम्। —अनुभाग व प्रदेश बन्ध सादि, अनादि ध्रुव, अध्रुव भेदतैं चार प्रकार हो है। बहुरि अजघन्य भी ऐसे ही अनुत्कृष्ट-

वत् च्यार प्रकार हो है। इनके लक्षण यहाँ उदाहरण मात्र किंचित् कहिये है—उपशम श्रेणी चढ़नेवाला जीव सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवर्ती भया तहाँ उत्कृष्ट उच्चगोत्रका अनुभागबन्ध करि पीछे उपशान्तकषाय गुणस्थानवतवर्ती भया। बहुरि इहाँ तैं उतरि करि सूक्ष्मसाम्परायँ गुणस्थानवर्ती भया। तहाँ अनुत्कृष्ट उच्चगोत्रका अनुभागबन्ध किया। तहाँ इस अनुत्कृष्ट उच्चगोत्र के अनुभागको सादि कहिये। जातैं अनुत्कृष्ट उच्चगोत्रके अनुभागका अभाव होइ बहुरि सद्भाव भया तातैं सादि कहिये। बहुरि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानतैं नीचेके गुणस्थानवर्ती जीव हैं तिनिकै सो बन्ध अनादि है। बहुरि अभव्य जीव विषैं सो बन्ध ध्रुव है। बहुरि उपशम श्रेणी वालेके जहाँ अनुत्कृष्टको उत्कृष्ट बन्ध हो है तहाँ सो बन्ध अध्रुव है ऐसे अनुत्कृष्ट उच्चगोत्रके अनुभाग बन्धविषैं सादि अनादि ध्रुव अध्रुव च्यारि प्रकार कहै। ऐसे ही जघन्य भी च्यार प्रकार है, सो कहिये है। सप्तम नरक पृथिवीविषैं प्रथमोपशम सम्यक्त्वका सन्मुख भया मिथ्यादृष्टि जीव तहाँ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका अन्तसमय विषैं जघन्य नीचगोत्रके अनुभागको बान्धे है। बहुरि सो जीव सम्यग्दृष्टि होइ पीछे मिथ्यात्वके उदयकरि मिथ्यादृष्टि भया तहाँ अजघन्य नीचगोत्रके अनुभागको बान्धे है। तहाँ इस अजघन्य नीचगोत्रके अनुभागको सादि कहिये। बहुरि तिस मिथ्यादृष्टिकै तिस अंतसमयतै पहिलै सो बन्ध अनादि है। अभव्य जीवोंके सो बन्ध ध्रुव है। जहाँ अजघन्यको छोड़ जघन्यको प्राप्त भया तहाँ सो बन्ध अध्रुव है। ऐसे अजघन्य नीचगोत्रके अनुभागविषैं सादि अनादि ध्रुव अध्रुव च्यारि प्रकार कहै। ऐसे ही यथा सम्भव और भी बन्ध विषैं सादि अनादि ध्रुव अध्रुव च्यारि प्रकार जानने। प्रकृति बन्ध विषैं उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य अजघन्य ऐसे भेद नाहीं हैं। स्थिति, अनुभाग, प्रदेशबन्धनि विषैं वे भेद यथा योग्य जानने।

६. अनुभागस्थान सामान्यका लक्षण

ध./१२/४,२,७,२००/१११/१२ एगजीवम्मि एक्कम्हि समये जो दीसदि कम्माणुभागो तं ठाणं णाम। —एक जीवमें एक समयमें जो कर्मानुभाग दिखता है उसे स्थान कहते हैं।

क.पा./५/४-२२/§५७२/३३६/१ अनुभागट्ठाणं णाम चरिमफद्दयचरिमवग्गणाए एगपरमाणुम्हि ट्ठिदअणुभागट्ठाणविभागपडिच्छेदकलावो। सो उक्कडणाए वट्टदि···। —अन्तिम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणाके एक परमाणुमें स्थित अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेदोंके समूहको अनुभाग स्थान कहते हैं। प्रश्न—ऐसा माननेपर 'एक अनुभाग स्थानमें अनन्त स्पर्धक होते हैं' इस सूत्रके साथ विरोध आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जघन्य अनुभाग स्थानके जघन्य स्पर्धकसे लेकर ऊपरके सर्व स्पर्धक उसमें पाये जाते हैं।·· प्रश्न—तो एक अनुभाग स्थानमें जघन्य वर्गणासे लेकर उत्कृष्ट स्थानकी उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त क्रमसे बढ़ते हुए प्रदेशोंके रहनेका जो कथन किया जाता है उसका अभाव प्राप्त होता है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ यह उत्कृष्ट अनुभागवाला परमाणु है, वहाँ क्या यह एक ही परमाणु है या अन्य भी परमाणु हैं। ऐसा पूछा जानेपर कहा जायेगा कि वहाँ वह एक ही परमाणु नहीं है, किन्तु वहाँ अनन्त कर्मस्कन्ध होने चाहिए, और उन कर्मस्कन्धोंके अवस्थानका यह क्रम है, यह बतलानेके लिए अनुभाग स्थानकी उक्त प्रकारसे प्ररूपणा की है। प्रश्न—जैसे योगस्थानमें जीवके सब प्रदेशोंकी सब योगोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंको लेकर स्थान प्ररूपणा की है वैसा कथन यहाँ क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं, क्योंकि वैसा कथन करनेपर अधःस्थित गलनाके द्वारा और अन्य प्रकृति रूप संक्रमणके द्वारा अनुभाग काण्डककी अन्तिम फालीको छोड़कर द्विचरम आदि फालियोंमें अनुभागस्थानके घातका प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि काण्डक घातको छोड़कर अन्यत्र उसका घात नहीं होता।

स.सा./आ./५२ यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणानि अनुभागस्थानानि···। —भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके रसके परिणाम जिनका लक्षण हैं, ऐसे जो अनुभाग स्थान···।

७. अनुभाग स्थानोंके भेद

ध./१२/४-७-२-२००/१११/१३. तं च ठाणं दुविहं—अणुभागबंधट्ठाणं अणुभागसंतट्ठाणं चेदि। —वह स्थान दो प्रकारका है—अनुभाग बन्ध स्थान व अनुभाग सत्त्वस्थान।

क.पा./५/४-२२/ठाणप्ररूपणा सूत्र/पृ३३०/१४ संतकम्मट्ठाणाणि तिविहाणि—बंधसमुप्पत्तियाणि हदसमुप्पत्तियाणि हदहदसमुप्पत्तिमाणि। —सत्कर्मस्थान (अनुभाग) तीन प्रकारके हैं—बन्धसमुत्पत्तिक, हतसमुत्पत्तिक और हतहतसमुत्पत्तिक। (क.पा./५/४-२२/§१८६/१२५/८)

८. अनुभागस्थानके भेदोंके लक्षण

१. अनुभाग सत्कर्मका लक्षण

ध./१२/४,२,५-२००।११२/१ जमणुभागट्ठाणं घादिज्जमाणं बंधाणुभागट्ठाणेण सरिसं ण होदि, बंधअट्ठंकउव्वंकाणं विच्चाले हेट्ठिम उव्वंकादो अणंतगुणं उवरिमअट्ठंकादो अणंतगुणहीणं होदूण चेट्ठदि, तमणुभागसंतकम्मट्ठाणं। —घाता जानेवाला जो अनुभागस्थान बन्धानुभागके सदृश नहीं होता है, किन्तु बन्ध सदृश अष्टांक और उर्वंकके मध्यमें अधस्तन उर्वंकसे अनन्तगुणा और उपरिम अष्टांकसे अनन्तगुणा हीन होकर स्थित रहता है, वह अनुभाग सत्कर्मस्थान है।

२. अनुभागबन्धस्थानका लक्षण

ध./१२/४,२,७,२००/१३ तत्थ जं बंधेण णिप्फण्णं तं बंधट्ठाणं णाम। पुव्वबंधाणुभागे घादिज्जमाणे जं बंधाणुभागेण सरिसं होदूण पददि तं पि बंधट्ठाणं चेव, तस्सरिसअणुभागबंधुवलंभादो। —जो बन्धसे उत्पन्न होता है वह बन्धस्थान कहा जाता है। पूर्व बद्ध अनुभागका घात किये जानेपर जो बन्ध अनुभागके सदृश होकर पड़ता है वह भी बन्धस्थान ही है, क्योंकि, उसके सदृश अनुभाग बन्ध पाया जाता है।

३. बन्ध समुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मका लक्षण

क.पा/५।४-२२।§५७०/३३१/१ बन्धात्समुत्पत्तिर्येषां तानि बन्धसमुत्पत्तिकानि। —जिन सत्कर्मस्थानोंकी उत्पत्ति बन्धसे होती है, उन्हें बन्धसमुत्पत्तिक कहते हैं।

क.पा /५/४-२२/§१८६/१२५/१ हदसमुप्पत्तियं कादूणच्छिदसुहुमणिगोदजहण्णाणुभागसंतट्ठाणसमाणबंधट्ठाणमादिं कादूण जाव सण्णिपंचिंदियपज्जतसव्वुक्कस्साणुभागबंधट्ठाणे त्ति ताव एदाणि असंखे०लोगमेत्तछट्ठाणाणि बंधसमुप्पत्तियट्ठाणाणि त्ति भण्णंति, बंधेण समुप्पण्णत्तादो। अणुभागसंतट्ठाणघादेण जमुप्पण्णमणुभागसंतट्ठाणं तं पि एत्थ बंधट्ठाणमिदि घेत्तव्वं, बंधट्ठाणसमाणत्तादो। —१. हतसमुत्पत्तिक सत्कर्मको करके स्थित हुए सूक्ष्म निगोदिया जीवके जघन्य अनुभाग सत्त्वस्थानके समान बन्धस्थानसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके सर्वोत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान पर्यन्त जो असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान हैं उन्हें बन्ध समुत्पत्तिकस्थान कहते हैं, क्योंकि वे स्थान बन्धसे उत्पन्न होते हैं। २. अनुभाग सत्त्वस्थानके घातसे जो अनुभाग सत्त्वस्थान उत्पन्न होते हैं उन्हें भी यहाँ बन्धस्थान ही मानना चाहिए; क्योंकि वे बन्धस्थानके समान हैं। (सारांश यह है कि बन्धनेवाले स्थानोंको ही बन्धसमुत्पत्तिकस्थान नहीं कहते, किन्तु पूर्वबद्ध अनुभागस्थानोंमें भी रसघात होने

से परिवर्तन होकर समानता रहती है तो वे स्थान भी बंधस्थान ही कहे जाते हैं।)

४. हतसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मस्थानका लक्षण

ध./१२/४,२,७-३५/२१/५ 'हदसमुप्पत्तियकम्मेण' इति वुत्ते पुव्विल्लमणुभागसंतकम्मं सव्वं घादिय अणंतगुणहीणं कादूण 'ट्ठिदेण' इति वुत्तं होदि। ='हतसमुत्पत्तिक कर्मवाले' ऐसा कहनेपर पूर्वके समस्त अनुभाग सत्त्वका घात करके और उसे अनन्त गुणा हीन करके स्थित हुए जीवके द्वारा, यह अभिप्राय समझना चाहिए।

क.पा./५/४,२२/§४७०/३३१/१ हते समुत्पत्तिर्येषां तानि हतसमुत्पत्तिकानि। = घात किये जानेपर जिन सत्कर्मस्थानोंकी उत्पत्ति होती है, उन्हें हतसमुत्पत्तिक कहते हैं।

क.पा./५/४-२२/§१८६/१२५/१४ पुणो एवेसिमसंखे०लोगमेत्तछट्ठाणाणं मज्झे अणंतगुणवड्ढि-अणंतगुणहाणि अट्ठंकुव्वंकाणं विच्चालेसु असंखे०लोगमेत्तछट्ठाणाणि हदसमुप्पत्तियसंतकम्मछट्ठाणाणि भण्णंति। बंधट्ठाणघादेण बंधट्ठाणाणं विच्चालेसु जच्चंतरभावेण उप्पणत्तादो।" = इन असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानोंके मध्यमें अष्टांक और उर्वंक रूप जो अणंतगुणवृद्धियाँ और अणंतगुणहानियाँ हैं उनके मध्यमें जो असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान हैं, उन्हें हतसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान कहते हैं। क्योंकि बंधस्थानका घात होनेसे बन्धस्थानोंके बीचमें ये जात्यन्तर रूपसे उत्पन्न हुए हैं।

५. हतहतसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मस्थानका लक्षण

क.पा./५/४-२२/ § ४७०/३३१/२ हतस्य हतिः हतहतिः ततः समुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतिसमुत्पत्तिकानि। = घाते हुए का पुनः घात किये जाने पर जिन सत्कर्मस्थानोंकी उत्पत्ति होती है, उन्हें हतहतसमुत्पत्तिक कहते हैं।

क. पा./५/४-२२/§१८६/१२६/२. पुणो एदेसिमसंखे०लोगमेत्ताणं हदसमुप्पत्तियसंतकम्मट्ठाणाणमणंतगुणवड्ढि-हाणि अट्ठंकुव्वंकाणं विच्चालेसु असंखे०लोगमेत्तछट्ठाणाणि हदहदसमुप्पत्तियसंतकम्म ट्ठाणाणि, वुच्चंति, घादेणुप्पण्णअणुभागट्ठाणाणि बंधाणुभागट्ठाणेहिंतो विसरिसाणि घादिय बंधसमुप्पत्तिय-हदसमुप्पत्तियअणुभागट्ठाणेहिंतो विसरिसभावेण उप्पाइदत्तादो। = इन असंख्यात लोकप्रमाण हतसमुत्पत्तिक-सत्कर्मस्थानोंके जो कि अष्टांक और उर्वकरूप अनन्तगुण वृद्धि-हानिरूप हैं, बीचमें जो असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान हैं, उन्हें हतहतसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान कहते हैं। बन्धस्थानोंसे विलक्षण जो अनुभागस्थान रसघातसे उत्पन्न हुए हैं; उनका घात करके उत्पन्न हुए ये स्थान बन्धसमुत्पत्तिक और हतसमुत्पत्तिक अनुभागस्थानोंसे विलक्षणरूपसे ही वे उत्पन्न किये जाते हैं।

२. अनुभागबन्ध निर्देश

१. अनुभाग बन्धका कारण

ष.खं./१२/४-२-८ सन्त १३/२८८ कसायपच्चए ट्ठिदि अणुभागवेयणा ॥१३॥ = कषाय प्रत्ययसे स्थिति व अनुभाग वेदना होती है। (स.सि./८/३/३७९) (रा.वा./८/३/१०/५६७) (ध. १२/४-२-८-१३/गा.२/४८९) (न.च.वृ. १५५), (गो.क./मू./२५७/३६४), (द्र. सं./मू./३३)

२. शुभाशुभ प्रकृतियोंके उत्कृष्टानुत्कृष्ट अनुभाग बन्धके कारण

पं.सं./४/४५१-४५२ सुहपयडीण विसोही तिव्वं असुहाण संकिलेसेण। विवरीए दु जहण्णो अणुभाओ सव्वपयडीणं॥४५१॥ बायालं पि पसत्था विसोहिगुण उक्कडस्स तिव्वाओ। वासीय अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकिलिट्ठस्स ॥४५२॥ = शुभ प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे तीव्र अर्थात् उत्कृष्ट होता है। अशुभ प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध संक्लेश परिणामोंसे उत्कृष्ट होता है। इससे विपरीत अर्थात् शुभ प्रकृतियोंका संक्लेशसे और अशुभ प्रकृतियोंका विशुद्धिसे जघन्य अनुभाग बन्ध होता है ॥४५१॥ जो ब्यालीस प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्धिगुणकी उत्कटता वाले जीवके होता है। तथा ब्यासी जो अप्रशस्त प्रकृतियाँ है, उनका उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश वाले मिथ्यादृष्टि जीवके होता है ॥४५२॥ (स.सि./८/२१/३९८) (रा.वा./८/२१/१/५८३/१४) (गो. क./मू/१६३-१६४/१९९) (पं.सं./सं/४/२७३-२७४)

३. शुभाशुभ प्रकृतियोंमें चतुःस्थानीय अनुभाग निर्देश

पं.सं./प्रा/४/४८७ सुहपयडीणं भावा गुडखंडसियामयाण खलु सरिसा। इयरा दु णिंबकंजीरविसहालाहलेण अहमाई। = शुभ प्रकृतियोंके अनुभाग गुड़ खांड शक्कर और अमृतके तुल्य उत्तरोत्तर मिष्ट होते हैं। पाप प्रकृतियोंका अनुभाग निंब, कांजीर, विष व हालाहलके समान निश्चयसे उत्तरोत्तर कटुक जानना। (पं. सं/४/३११) (गो. क./मू/१८४/२१९) (द्र.सं/टी/३३/३१)

४. प्रदेशोंके बिना अनुभागबन्ध सम्भव नहीं

ध./६/१,९-७,४३/२०१/५ अणुभागबंधादो पदेसबंधो तक्कारणजोगट्ठाणाणि च सिद्धाणि हवंति। कुदो। पदेसेहि विणा अणुभागाणुववत्तीदो। = अनुभाग बन्धसे प्रदेश बन्ध और उसके कारणभूत योगस्थान सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्रदेशोंके बिना अनुभाग बन्ध नहीं हो सकता।

५. परन्तु प्रदेशोंकी हीनाधिकतासे अनुभागकी हीनाधिकता नहीं होती

क.पा/५/४-२२/ § ५५७/३३७/११ ट्ठिदीए इव पदेसगलणाए अणुभागघादो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं। = प्रदेशोंके गलनेसे जैसे स्थिति घात होता है, वैसे प्रदेशोंके गलनेसे अनुभागका घात नहीं होता।

क.पा/५/४-२२/ § ५७२/३३६/१ उक्कड्ढिदे अणुभागट्ठाणाविभागपडिछेदाणं वड्ढीए अभावादो।...ण सो उक्कडणाए वड्ढदि, बंधेण विणा तदुक्कड्डणाणुववत्तीदो। = उत्कर्षणके होने पर अनुभाग स्थानके अविभागप्रतिच्छेदोंकी वृद्धि नहीं होती है।· अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेदोंका समूहरूप वह अनुभाग स्थान उत्कर्षणसे नहीं बढ़ता, क्योंकि बन्धके बिना उनका उत्कर्षण नहीं बन सकता।

ध./१२/४,२,७,२०१/११५/५ जोगवड्ढीदो अणुभागवड्ढीए अभावादो। = योग वृद्धिसे अनुभाग वृद्धि सम्भव नहीं।

३. घाती अघाती अनुभाग निर्देश

१. घाती व अघाती प्रकृतिके लक्षण

ध.७/२,१,१५/६२/६ केवलणाण-दंसण-सम्मत्त-चारित्तवीरियाणमणेयभेय-भिण्णाणं जीवगुणाणं विरोहित्तणेण तेसिं घादिववदेसादो। = केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य रूप जो अनेक भेद-भिन्न जीवगुण हैं, उनके उक्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते हैं और इसीलिए वे घातियाकर्म कहलाते हैं। (गो.क./जी.प्र./१०/८) (पं.ध./उ./९९८)

ध./७/२,१,१५/६२/७ सेसकम्माणं घादिववदेसो किण्ण होदि। ण, तेसिं जीवगुणविणासणसत्तीए अभावा। = शेष कर्मोंको घातिया नहीं कहते क्योंकि, उनमें जीवके गुणोंका विनाश करनेकी शक्ति नहीं पायी जाती। (पं.ध./उ./९९९)

२. घाती अघातीकी अपेक्षा प्रकृतियोंका विभाग

रा.वा./८/२३/७/५८४/२८ ताः पुनः कर्मप्रकृतयो द्विविधाः —घातिका अघातिकाश्चेति। तत्र ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाख्या घातिकाः।

इतरा अघातिकाः। —वह कर्म प्रकृतियाँ दो प्रकारकी हैं—घातिया व अघातिया। तहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह व अन्तराय ये तो घातिया हैं और शेष चार (वेदनीय आयु, नाम, गोत्र) अघातिया। (ध.७/२,१,१५/६२), (गो.क./मू./७,६/७)

३. जीवविपाकी प्रकृतियोंको घातिया न कहनेका कारण

ध.७/२,१,१५/६३/१ जीवविवाइणामकम्मवेयणियाणं घादिकम्मववएसो किण्ण होदि। ण जीवस्स अणप्पभूदसुभगदुभगादिपज्जयसमुप्पायणे वावदाणं जीव-गुणविणासयत्तविरहादो। जीवस्स सुहविणासिय दुक्खप्पाययं असादावेदणीयं घादिववएसं किण्ण लहदे। ण तस्स घादिकम्मसहायस्स घादिकम्मेहि विणा सकलकरणे असमत्थस्स सदो तत्थ पउत्ती णत्थि त्ति जाणावणट्ठं तव्ववएसाकरणादो। —प्रश्न—जीवविपाकी नामकर्म एवं वेदनीय कर्मोंको घातिया कर्म क्यों नहीं माना? उत्तर—नहीं माना, क्योंकि, उनका काम अनात्मभूत सुभग दुर्भग आदि जीवकी पर्यायें उत्पन्न करना है, जिससे उन्हें जीवगुण विनाशक माननेमें विरोध उत्पन्न होता है। प्रश्न—जीवके सुखको नष्ट करके दुःख उत्पन्न करनेवाले असातावेदनीयको घातिया कर्म नाम क्यों नहीं दिया? उत्तर—नहीं दिया, क्योंकि, वह घातियाकर्मोंका सहायक मात्र है, और घातिया कर्मोंके बिना अपना कार्य करनेमें असमर्थ तथा उसमें प्रवृत्ति रहित है। इसी बातको बतलानेके लिए असाता वेदनीयको घातिया कर्म नहीं कहा।

४. वेदनीय भी कथंचित् घातिया है

गो.क./मू./१९/१२ घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं। इदि *घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१९॥* —वेदनीयकर्म घातिया कर्मवत् मोहनीयकर्मका भेद जो रति अरति तिनिके उदयकाल करि ही जीवको घातै है। इसी कारण इसको घाती कर्मोंके बीचमें मोहनीयसे पहिले गिना गया है।

५. अन्तराय भी कथंचित् अघातिया है

गो.क./मू./१७/११ घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो। णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥१७॥ —अन्तरायकर्म घातिया है तथापि अघातिया कर्मवत् है। समस्त जीवके गुण घातनेको समर्थ नाहीं है। नाम, गोत्र, वेदनीय इन तीन कर्मनिके निमित्ततैं ही इसका व्यापार है। इसी कारण अघातियानिके पीछे अन्त विषैं अन्तराय कर्म कहा है।

ध. १/१,१,१/४४/४ रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता। =रहस्य अन्तरायकर्मको कहते हैं। अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तरायकर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं।

४. सर्वघाती व देशघाती अनुभाग निर्देश

१. सर्वघाती व देशघाती अनुभाग निर्देश

रा.वा./८/२३/७/५८४/२६ घातिकाश्चापि द्विविधाः सर्वघातिका देशघातिकाश्चेति। —घातिया प्रकृतियाँ भी दो प्रकार हैं—सर्वघाती व देशघाती। (ध. ७/२,१,१५/६३/६) (गो.क./जी.प्र/३८/४८/२)

२. सर्वघाति व देशघातिके लक्षण

क.पा.५/§३/३./११ सव्वघादि त्ति किं। सगपडिबद्धं जीवगुणं सव्वं णिरवसेसं घाइउं विणासिदुं सीलं जस्स अणुभागस्स सो अणुभागो सव्वघादी। —सर्वघाती इस पदका क्या अर्थ है? अपनेसे प्रतिबद्ध जीवके गुणको पूरी तरहसे घातनेका जिस अनुभागका स्वभाव है उस अनुभागको सर्वघाती कहते हैं।

द्र.सं./टी/३४/९९ सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते। —सर्वप्रकारसे आत्मगुणप्रच्छादक कर्मोंकी शक्तियाँ सर्वघाती स्पर्धक कहे जाते हैं और विवक्षित एकदेश रूपसे आत्मगुणप्रच्छादक शक्तियाँ देशघाती स्पर्द्धक कहे जाते हैं।

३. सर्वघाती व देशघाती प्रकृतियोंका निर्देश

पं.स./प्रा/४८३-४८४ केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसयं। ता सव्वघाइसण्णा मिस्सं मिच्छत्तमेयवीसदिमं ॥४८३॥ णाणावरणचउक्कं दंसणतिगमंतराइगे पंच। ता होंति देसघाई सम्मं संजलणणोकसाया य ॥४८४॥ =केवलज्ञानावरण, दर्शनावरणषटक् अर्थात् पाँच निद्रायें व केवलदर्शनावरण, मोहनीयकी बारह अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान चतुष्क, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन २१ प्रकृतियोंकी सर्वघाती संज्ञा है ॥४८३॥ ज्ञानावरणके शेष चार, दर्शनावरणकी शेष तीन, अन्तरायकी पाँच, सम्यक्त्वप्रकृति, संज्वलनचतुष्क और नौ नोकषाय—ये छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं ॥४८४॥ (रा. वा./८/२३/७/५८४/३०) (गो.क./मू./३९-४०/४३) (प. सं./सं./४/३१०-३१३)

गो.क./जी.प्र./ ५४६/७०८/१४ द्वादश कषायाणां स्पर्धकानि सर्वघातीन्येव न देशघातीनि। =बारह कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान चतुष्कके स्पर्धक सर्वघाती ही हैं, देशघाती नहीं।

४. सर्व व देशघाती प्रकृतियोंमें चतुःस्थानीय शक्ति-निर्देश

ध./७/२,१,१५/६३/गा१४ सव्वावरणीयं पुण उक्कस्सं होदि दारुगसमाणे। हेट्ठा देसावरणं सव्वावरणं च उवरिल्लं।१४। =घातिया कर्मोंकी जो *अनुभाग शक्ति लता, दारु, अस्थि और शैल समान कही गयी* है, उसमें दारु तुल्यसे ऊपर अस्थि और शैल तुल्य भागोंमें तो उत्कृष्ट सर्वावरणीय या सर्वघाती शक्ति पायी जाती है, किन्तु दारु सम भागके निचले अनन्तिम भागमें (व उससे नीचे सब लता तुल्य भागमें) देशावरण या देशघाती शक्ति है, तथा ऊपरके अनन्त बहु भागोंमें (मध्यम) सर्वावरण शक्ति है।

गो. क./मू./१८०/२११ सत्ती य लदादारू अट्ठीसेलोवमाहु घादीणं। दारुअणंतिमभागोत्ति देसघादी तदो सव्वं। —घातिया प्रकृतियोंमें लता दारु अस्थि व शैल ऐसी चार शक्तियाँ हैं। उनमें,से दारुका अनन्तिम भाग (तथा लता) तो देशघाती हैं और शेष सर्वघाती हैं। (द्र. सं./टी./३३/९३)

क्ष. सा./भाषा टी./४६५/५४०/११ तहां जघन्य स्पर्धकतैं लगाय अनन्त स्पर्धक लता भाग रूप हैं। तिनिके ऊपर अनन्त स्पर्धक दारु भाग रूप हैं। तिनिके ऊपर अनन्त स्पर्धक अस्थि भाग रूप हैं। तिनिके ऊपर उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त अनन्त स्पर्धक शैल भाग रूप हैं। तहाँ प्रथम स्पर्धक देशघातीका जघन्य-स्पर्धक है तहाँ तैं लगाय लता भागके सर्व स्पर्धक अर दारु भागके अनन्तवाँ भाग मात्र (निचले) स्पर्धक देशघाती हैं। तहां अन्त विषैं देशघाती उत्कृष्ट स्पर्धक भया। बहुरि ताके ऊपरि सर्वघातीका जघन्य स्पर्धक है। तातैं लगाय ऊपरिके सब स्पर्धक सर्वघाती है। तहाँ अन्त स्पर्धक उत्कृष्ट सर्वघाती जानना।

५. कर्म प्रकृतियोंमें यथायोग्य चतुःस्थानीय अनुभाग निर्देश

१. ज्ञानावरणादि सर्व प्रकृतियोंको सामान्य प्ररूपणा

पं. सं./प्रा./४/४८६ आवरणदेसघायंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं। चउविहभावपरिणया तिभावसेसा सयं तु सत्तहियं। =मतिज्ञानावरणादि चार, चक्षुदर्शनावरणादि तीन, अन्तरायको पाँच, संज्वलन चतुष्क और पुरुषवेद, ये सत्तरह प्रकृतियाँ लता, दारु, अस्थि और शैल रूप चार प्रकारके भावोंसे परिणत हैं। अर्थात् इनका अनुभाग बन्ध एक स्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय होता है। शेष १०७ प्रकृतियाँ दारु, अस्थि और शैलरूप तीन प्रकारके भावोंसे परिणत होती हैं। उनका एक स्थानीय (केवल लता रूप) अनुभाग बन्ध नहीं होता।४८६।

क्ष. सा./भाषा टीका/४६५/५४०/१७ केवलके बिना च्यारि ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, अर सम्यक्त्व मोहनीय, संज्वलन चतुष्क, नोकषाय नव, अन्तराय पाँच इन छब्बीस प्रकृतिनिकी लता समान स्पर्धकको प्रथम वर्गणा सो एक-एक वर्गके अविभाग प्रतिच्छेदकी अपेक्षा समान है।...बहुरि मिथ्यात्व बिना केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा पाँच, मिश्रमोहनीय, संज्वलन बिना १२ कषाय इन सर्वघाती २० प्रकृतिनिके देशघाती स्पर्धक हैं नाहीं। तातैं सर्वघाती जघन्य स्पर्धक वर्गणा तैसे ही परस्पर समान जाननी। तहाँ पूर्वोक्त देशघाती छब्बीस प्रकृतिनिकी अनुभाग रचना देशघाती जघन्य स्पर्धक तैं लगाय उत्कृष्ट देशघाती स्पर्धक पर्यन्त होइ। तहाँ सम्यक्त्वमोहनीयका तौ इहाँ ही उत्कृष्ट अनुभाग होइ निवरया। अवशेष २५ प्रकृतिनिकी रचना तहाँ तैं ऊपर सर्वघाती उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त जाननी। बहुरि सर्वघाती बीस प्रकृतिनिकी रचना सर्वघातीका जघन्य स्पर्धकतैं लगाय उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त है। यहाँ विशेष इतना—सर्वघाती दारु भागके स्पर्धकनिका अनन्तवाँ भागमात्र स्पर्धक पर्यन्त मिश्र मोहनीयके स्पर्धक जानने। ऊपरि नहीं हैं। बहुरि इहाँ पर्यन्त मिथ्यात्वके स्पर्धक नाहीं हैं। इहाँतै ऊपरि उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त मिथ्यात्वके स्पर्धक हैं।

२. मोहनीय प्रकृतिकी विशेष प्ररूपणा

क. पा. ५/४-२२/चूर्णसूत्र/§१८९-२१४/१२९-१५१ उत्तरपयडिअणुभागविहत्तिं वत्तइस्सामो।§१८९। पुव्वं गणिज्जा इमा परूवणा।§१९०। सम्मत्तस्स पढमं देसघादिफद्दयमादिं कादूण जाव चरिम घादिफद्दगं त्ति एदाणि फद्दयाणि।§१९१। सम्मामिच्छत्तस्स अणुभागसंतकम्मं सव्वघादिआदिफद्दयमादिं कादूण दारुअसमाणस्स अणंतभागे णिट्ठिदं।§१९२। मिच्छत्तस्स अणुभागसंतकम्मं जम्हि सम्मामिच्छत्तस्स अणुभागसंतकम्मं णिट्ठिदं तदो अणंतरफद्दयमाढत्ता उवरि अप्पडिसिद्धं।§१९३। बारसकसायाणमणुभागसंतकम्मं सव्वघादीणं दुट्ठाणियमादिफद्दयमादिं कादूण उवरिमप्पडिसिद्धं।§१९४। चदुसंजलणणवणोकसायाणमणुभागसंतकम्मं देसघादीणमादिफद्दयमादिं कादूण उवरि सव्वघादि त्ति अप्पडिसिद्धं।§१९५। तत्थ दुविधा सण्णा घादिसण्णा ट्ठाणसण्णा च।§१९६। ताओ दो वि एक्कदो णिज्जंति।§१९७। मिच्छत्तस्स अणुभागसंतकम्मं जहण्णयं सव्वघादि दुट्ठाणियं।§१९८। उक्कस्सयमणुभागसंतकम्मं सव्वघादिचदुट्ठाणियं।§२००। एवं बारसकसायछण्णोकसायाणं।§२०१। सम्मत्तस्स अणुभागसंतकम्मं देसघादि एगट्ठाणियं वा दुट्ठाणियं वा।§२०२। सम्मामिच्छत्तस्स अणुभागसंतकम्मं सव्वघादि दुट्ठाणियं।§२०३। एक्कं चेव ट्ठाणं सम्मामिच्छत्ताणुभागस्स।§२०४। चदुसंजलणाणमणुभागसंतकम्मं सव्वघादी वा देसघादी वा एगट्ठाणियं वा दुट्ठाणियं वा तिट्ठाणियं वा चउट्ठाणियं वा।§२०५। इत्थिवेदस्स अणुभागसंतकम्मं सव्वघादी दुट्ठाणियं वा तिट्ठाणियं वा चउट्ठाणियं वा।§२०६। मोत्तूण खवगचरिमसमयइत्थिवेदय उदयणिसेगं।§२०७। तस्स देसघादी एगट्ठाणियं।§२०८। पुरिसवेदस्स अणुभागसंतकम्मं जहण्णयं देसघादी एगट्ठाणियं।§२०९। उक्कस्साणुभागसंतकम्मं सव्वघादी चदुट्ठाणियं।§२१०। णवुंसयवेदयस्स अणुभागसंतकम्मं जहण्णयं सव्वघादी दुट्ठाणियं।§२११। उक्कस्सयमणुभागसंतकम्मं सव्वघादी चउट्ठाणियं।§२१२। णवरि खवगस्स चरिमसमयणवुंसयवेदयस्स अणुभागसंतकम्मं देसघादी एगट्ठाणियं।§२१४। =अब उत्तर प्रकृति अनुभाग विभक्तिको कहते हैं॥१८९॥ पहिले इस प्ररूपणाको जानना चाहिए॥१९०॥ सम्यक्त्व प्रकृतिके प्रथम देशघाती स्पर्धकसे लेकर अन्तिम देशघाती स्पर्धक पर्यन्त ये स्पर्धक होते हैं॥१९१॥ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिका अनुभागसत्कर्म प्रथम सर्वघाती स्पर्धकसे लेकर दारुके अनन्तवें भाग तक होता है॥१९२॥ जिस स्थानमें सम्यग्मिथ्यात्वका अनुभागसत्कर्म समाप्त हुआ उसके अनन्तरवर्ती स्पर्धकसे लेकर आगे बिना प्रतिषेधके मिथ्यात्व सत्कर्म होता है॥१९३॥ बारह कषायोंका अनुभागसत्कर्म सर्वघातियोंके द्विस्थानिक प्रथम स्पर्धकसे लेकर आगे बिना प्रतिषेधके होते हैं। (अर्थात् दारुके जिस भागसे सर्वघाती स्पर्धक प्रारम्भ होते हैं उस भागसे लेकर शैल पर्यन्त उनके स्पर्धक होते हैं॥१९४॥ चार संज्वलन और नव नोकषायोंका अनुभागसत्कर्म देशघातियोंके प्रथम स्पर्धकसे लेकर आगे बिना प्रतिषेधके सर्वघाती पर्यन्त है। (तो भी उन सबके अन्तिम स्पर्धक समान नहीं हैं)॥१९५॥ उनमें-से संज्ञा दो प्रकारकी है—घाति संज्ञा और स्थान संज्ञा॥१९६॥ आगे उन दोनों संज्ञाओंको एक साथ कहते हैं॥१९७॥ मिथ्यात्वका जघन्य अनुभाग सत्कर्म सर्वघाती और द्विस्थानिक (लता, दारु रूप) है॥१९८॥ मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्म सर्वघाती और चतुस्थानिक (लता, दारु, अस्थि, शैल) रूप है॥२००॥ इसी प्रकार बारह कषाय और छः नोकषायों (त्रिवेद रहित) का अनुभाग सत्कर्म है॥२०१॥ सम्यक्त्वका अनुभाग सत्कर्म देशघाती है और एकस्थानिक तथा द्विस्थानिक है (लता रूप तथा लता दारु रूप)॥२०२॥ सम्यग्मिथ्यात्वका अनुभागसत्कर्म सर्वघाती और द्विस्थानिक (लता दारु रूप) है॥२०३॥ सम्यग्मिथ्यात्वके अनुभागका एक (द्विस्थानिक) ही स्थान होता है॥२०४॥ चार संज्वलन कषायोंका अनुभागसत्कर्म सर्वघाती और देशघाती तथा एक स्थानिक (लता) द्विस्थानिक (लता, दारु), त्रिस्थानिक (लता, दारु, अस्थि) और चतुःस्थानिक (लता, दारु, अस्थि व शैल) होता है॥२०५॥ स्त्रीवेदका अनुभाग सत्कर्म सर्वघाती तथा द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है (केवल लतारूप नहीं होता)॥२०६॥ मात्र अन्तिम समयवर्ती क्षपक स्त्रीवेदीके उदयगत निषेकको छोड़कर शेष अनुभाग सर्वघाती तथा द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है॥२०७॥ किन्तु उस (पूर्वोक्त क्षपक) का अनुभाग सत्कर्म देशघाती और एक स्थानिक होता है॥२०८॥ पुरुषवेदका जघन्यअनुभागसत्कर्म देशघाती और एक स्थानिक है॥१०९॥ तथा उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म सर्वघाती और चतुःस्थानिक होता है॥११०॥ नपुंसकवेदका जघन्य अनुभागसत्कर्म सर्वघाती और द्विस्थानिक होता है॥२११॥ तथा (उसीका) उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म सर्वघाती और चतुःस्थानिक होता है॥२१२॥ इतना विशेष है कि अन्तिम समयवर्ती नपुंसकवेदी क्षपकका अनुभागसत्कर्म देशघाती और एक स्थानिक होता है॥२१४॥

६. कर्मप्रकृतियोंमें सर्वघाती व देशघाती अनुभाग विषयक शंका-समाधान

१. मति आदि ज्ञानावरण देशघाती कैसे हैं

ज्ञानबिन्दु—प्रश्न—मति आदि ज्ञानावरण देशघाती कैसे हैं? उत्तर—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय चार ज्ञानावरण ज्ञानांशको घात करनेके

कारण देशघाती हैं, जब कि केवलज्ञानावरण ज्ञानके प्रचुर अंशोंको घातनेके कारण सर्वघाती है। (अवधि व मनःपर्यय ज्ञानावरणमें देशघाती सर्वघाती दोनों स्पर्धक हैं। दे.—उदय/४।२)

२. केवलज्ञानावरण सर्वघाती है या देशघाती

ध. १३/५,५,२१/२१४/१० केवलणाणावरणीयं किं सव्वघादी आहो देसघादी। ण ताव सव्वघादी, केवलणाणस्स णिस्सेसाभावे संते जीवाभावप्पसंगादो आवरणिज्जाभावेण सेसावरणाणमभावप्पसंगादो वा। ण च देसघादी, 'केवलणाण-केवलदंसणावरणीयपयडीओ सव्वघादियाओ' त्ति सुत्तेण सह विरोहादो: एत्थ परिहारो—ण ताव केवलणाणावरणीयं देसघादी, किंतु सव्वघादी चेव; णिस्सेसमावरिदकेवलणाणत्तादो। ण च जीवाभावो, केवलणाणे आवरिदे वि चदुण्णं णाणाणं संतुवलंभादो। जीवम्मि एक्कं केवलणाणं, तं च णिस्सेसमावरिदं। कत्तो पुण चदुण्णं णाणाणं संभवो। ण, छारच्छण्णग्गीदो बप्फुप्पत्तीए इव सव्वघादिणा आवरणेण आवरिदकेवलणाणादो चदुण्णं णाणाणमुप्पत्तीए विरोहाभावादो। एदाणि चत्तारि वि णाणाणि केवलणाणस्स अवयवा ण होंति।=प्रश्न—केवलज्ञानावरणीयकर्म क्या सर्वघाती है या देशघाती? (क) सर्वघाती तो हो नहीं सकता, क्योंकि केवलज्ञानका *निःशेष अभाव मान लेनेपर जीवके अभावका प्रसंग आता है।* अथवा आवरणीय ज्ञानोंका अभाव होनेपर शेष आवरणोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। (ख) केवलज्ञानावरणीय कर्म देशघाती भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर 'केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय कर्म सर्वघाती हैं' इस सूत्रके साथ विरोध आता है? उत्तर—केवल ज्ञानावरणीय देशघाती तो नहीं है, किन्तु सर्वघाती ही है; क्योंकि वह केवलज्ञानका निःशेष आवरण करता है, फिर भी जीवका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी चार ज्ञानोंका अस्तित्व उपलब्ध होता है। प्रश्न—जीवमें एक केवलज्ञान है। उसे जब पूर्णतया आवृत कहते हो, तब फिर चार ज्ञानोंका सद्भाव कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार राखसे ढकी हुई अग्निसे बाष्पकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सर्वघाती आवरणके द्वारा केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी उससे चार ज्ञानोंकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—चारों ज्ञान केवलज्ञानके अवयव हैं या स्वतन्त्र? उत्तर—दे० ज्ञान/I/४।

३. सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती कैसे है

क. पा./५/४-२२/§१६१/१३०/१ लदासमाणजहण्णफद्दयमादिं कादूण जाव देसघादिदारू असमाणुक्कस्सफद्दयं ति ट्ठिदसम्मत्ताणुभागस्स कुदो देसघादित्तं। ण, सम्मत्तस्स एगदेसं घादेंताणं तदविरोहो। को भागो सम्मत्तस्स तेण घाइज्जदि। *थिरत्तं णिक्कंखत्तं।* प्रश्न—लता रूप जघन्य स्पर्धकसे लेकर देशघाती दारुरूप उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त स्थित सम्यक्त्वका अनुभाग देशघाती कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृतिका अनुभाग सम्यग्दर्शनके एकदेशको घातता है। अतः उसके देशघाती होनेमें कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—सम्यक्त्वके कौन-से *भागका सम्यक्त्व प्रकृति द्वारा घात होता है?* उत्तर—उसकी स्थिरता और निष्कांक्षिताका घात होता है। अर्थात् उसके द्वारा घाते जानेसे सम्यग्दर्शनका मूलसे विनाश तो नहीं होता किन्तु उसमें चल, मल आदि दोष आ जाते हैं।

४. सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघाती कैसे है

क. पा. ५/४-२२/§१६२/१३०/१० सम्मामिच्छत्तफद्दयाणं कुदो सव्वघादित्तं। णिस्सेससम्मत्तघायणादो। ण च सम्मामिच्छत्ते सम्मत्तस्स गंधो वि अत्थि, मिच्छत्तसम्मत्तेहिंतो जच्चंतरभावेणुप्पण्णे सम्मामिच्छत्ते सम्मत्त-मिच्छत्ताणमत्थित्तविरोहादो।=प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वके स्पर्धक सर्वघाती कैसे हैं? उत्तर—क्योंकि वे सम्पूर्ण सम्यक्त्वका घात करते हैं। सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें सम्यक्त्वकी गन्ध भी नहीं रहती, क्योंकि मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी अपेक्षा जात्यन्तररूपसे उत्पन्न हुए सम्यग्मिथ्यात्वमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके अस्तित्वका विरोध है। अर्थात् उस समय न सम्यक्त्व ही रहता है और न मिथ्यात्व ही रहता है, किन्तु मिला हुआ दही-गुड़के समान एक विचित्र ही मिश्रभाव रहता है।

ध./५/१,७,४/१९८/६ सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि चे एवंविहविवक्खाए सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं मा होदु, किंतु अवयव्यवयवनिराकरणानिराकरणं पडुच्च खओवसमियं सम्मामिच्छत्तदव्वकम्मं पि सव्वघादी चेव होदु, जच्चंतरस्स सम्मामिच्छत्तस्स सम्मत्ताभावादो। किंतु सद्दहणभागो *ण होदि*, सद्दहणासद्दहणाणमेयत्तविरोहा। =सम्यग्मिथ्यात्वका उदय रहते हुए अवयवी रूप सम्यक्त्व गुणका तो निराकरण रहता है किन्तु सम्यक्त्व गुणका अवयव रूप अंश प्रगट रहता है, इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाती ही होवे, क्योंकि जात्यन्तर सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्वताका अभाव है। किन्तु श्रद्धान भाग अश्रद्धान भाग नहीं हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धानके एकताका विरोध है।

ध. १/१,१,११/१६८/५ सम्यग्दृष्टेर्निरन्वयविनाशाकारिणः सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वघातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य तस्य तथोपदेशात्। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिबन्ध करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है।

ध./७/२,१,७९/११०/८ होदु णाम सम्मत्तं पडुच्च सम्मामिच्छत्तफद्दयाणं सव्वघादित्तं, किंतु असुद्धणए विवक्खिए ण सम्मामिच्छत्तफद्दयाणं सव्वघादित्तमत्थि, तेसिमुदए संते वि मिच्छत्तसंवलिदसम्मत्तकणस्सुवलंभादो। =सम्यक्त्वकी अपेक्षा भले ही सम्यग्मिथ्यात्व स्पर्धकोंमें सर्वघातीपन हो, किन्तु अशुद्धनयकी विवक्षासे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें सर्वघातीपन नहीं होता, क्योंकि उनका उदय रहने पर भी *मिथ्यात्वमिश्रित सम्यक्त्वका* कण पाया जाता है। (ध./१४/५,६,१९/२१/६)

५. मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती कैसे है

क. पा /५/४-२२/§२००/१३६/७ कुदो सव्वघादित्तं। सम्मत्तासेसावयवविणासणेण। =प्रश्न—*यह सर्वघाती क्यों है?* उत्तर—*क्योंकि यह* सम्यक्त्वके सब अवयवोंका विनाश करता है, अतः सर्वघाती है।

६. प्रत्याख्यानकषाय सर्वघाती कैसे है

ध./५/१,७,७/२०२/५ एवं संते पच्चक्खाणावरणस्स सव्वघादित्तं फिट्टदि त्ति उत्ते ण फिट्टदि, पच्चक्खाणं सव्वं घादयदि त्ति तं सव्वघादी उच्चदि। सव्वमपच्चक्खाणं ण घादेदि, तस्स तत्थ वावाराभावा।=प्रश्न—यदि ऐसा माना जाये (कि प्रत्याख्यानावरण चतुष्कके उदयके सर्व प्रकारसे चारित्र विनाश करनेकी शक्तिका अभाव है) तो प्रत्याख्यानावरण कषायका सर्वघातीपन नष्ट हो जाता है? उत्तर—नहीं होता, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कषाय अपने प्रतिपक्षी सर्व प्रत्याख्यान (संयम) गुणको घातता है, इसलिए वह सर्वघाती कहा जाता है। किन्तु सर्व अप्रत्याख्यानको नहीं घातता है, क्योंकि इसका इस विषयमें व्यापार नहीं है।

७. मिथ्यात्वका अनुभाग चतुस्थानीय कैसे हो सकता है

क. पा./५/४-२२/§ १९८-२००/१३७-१४०/१२ मिच्छत्ताणुभागस्स दारुअट्ठि-सेलसमाणाणि त्ति तिण्णि चेव ट्ठाणाणि लदासमाणफद्दयाणि *उल्लंघिय दारुसमाणम्मि अवट्ठिदसम्मामिच्छत्तुक्कस्सफद्दयादो अणंत-*

गुणभावेण मिच्छत्तजहण्णफद्दयस्स अवट्ठाणादो। तदो मिच्छत्तस्स जहण्णाणु भागसंतकम्मं दुट्ठाणियमिदि वुत्ते दारु-अट्ठि-समाणफद्दयाणं गहणं कायव्वं, अण्णहा तस्स दुट्ठाणियत्ताणुववत्तीदो !···लतादारु-स्थानाभ्यां केनचिदंशान्तरेण समानतया एकत्वमापन्नस्य दारुसमान-स्थानस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेः। समुदाये प्रवृत्तस्य शब्दस्य तदवयवेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भाद्वा ॥ पृ० १३७-१३८॥ लदासमाणफद्दएहि विणा कधं मिच्छत्ताणुभागस्स चदुट्ठाणियत्तं।···मिच्छत्तुक्कस्सफद्दयम्मि लदा-दारु-अट्ठि-सेलसमाणट्ठाणाणि चत्तारि वि अत्थि, तेसिं फद्दयाविभाग-पलिच्छेदाणसंभवो,·· मिच्छत्तुक्कस्साणुभागसंतकम्मं चदुट्ठाणिय-मिदि वुत्ते मिच्छत्तेणुक्कस्सफद्दयस्सेव कधं गहणं। ण, मिच्छत्तुक्कस्स-फद्दयचरियवग्गणाए एगपरमाणुणा धरिदअणंताविभागपलिच्छेद-णिप्पण्णअणंतफद्दयाणमुक्कस्साणुभागसंतकम्मववएसादो। =प्रश्न—मिथ्यात्वके अनुभागके दारुके समान, अस्थिके समान और शैलके समान, इस प्रकार तीन ही स्थान हैं। क्योंकि लता समान स्पर्धकों-को उल्लंघन करके दारुसमान अनुभागमें स्थित सम्यग्मिथ्यात्वके उत्कृष्ट स्पर्धकसे मिथ्यात्वका जघन्य अनुभागसत्कर्म द्विस्थानिक है ऐसा कहनेपर दारुसमान और अस्थिसमान स्पर्धकोंका ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा वह द्विस्थानिक नहीं बन सकता !···उत्तर—किसी अंशान्तरकी अपेक्षा समान होनेके कारण लता समान और दारु समान स्थानोंसे दारुस्थान अभिन्न है, अतः उसमें द्विस्थानिक व्यप-देश हो सकता है। अथवा जो शब्द समुदायमें प्रवृत्त होता है, उसके अवयवमें भी उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः केवल दारुसमान स्थानोंको भी द्विस्थानिक कहा जाता है।···प्रश्न—जब मिथ्यात्वके स्पर्धक लता समान नहीं होते तो उसका अनुभाग चतुःस्थानिक कैसे है ? उत्तर—मिथ्यात्वके उत्कृष्ट स्पर्धकमें लता समान, दारु-समान अस्थिसमान और शैलसमान चारों ही स्थान हैं, क्योंकि उनके स्पर्धकोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या यहाँ पायी जाती है। और बहुत अविभाग प्रतिच्छेदोंमें स्तोक अविभाग प्रतिच्छेदोंका होना असंभव नहीं है, क्योंकि एक आदि संख्याके बिना अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या बहुत नहीं हो सकती।···प्रश्न—मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म चतुःस्थानिक है, ऐसा कहनेपर मिथ्यात्वके एक उत्कृष्ट स्पर्धकका ही ग्रहण कैसे होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्वके उत्कृष्ट स्पर्धककी अन्तिम वर्गणामें एक परमाणुके द्वारा धारण किये गये अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न अनन्त स्पर्धकोंको उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्म संज्ञा है।

८. मानकषायकी शक्तियोंके दृष्टान्त मिथ्यात्वादिके अनुभागोंमें कैसे लागू हो सकते हैं

क. पा./५/४-२२/§१९९/१३१/१ लदा-दारु-अट्ठि-सेलसण्णाओ माणाणु-भागफद्दयाणं लयाओ, कधं मिच्छत्तम्मि पयट्टंति। ण, माणम्मि अवट्ठिदचदुण्हं सण्णाणमणुभागाविभागपलिच्छेदेहि समाणत्तं पेक्खि-दूण पयडिविरुद्धमिच्छत्तादिफद्दएसु वि पवुत्तीए विरोहाभावादो।=प्रश्न—लता, दारु, अस्थि और शैल संज्ञाएँ मान कषायके अनुभाग स्पर्धकोंमें की गयी हैं। (दे० कषाय/३), ऐसी दशामें वे संज्ञाएँ मिथ्यात्वमें कैसे प्रवृत्त हो सकती हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, मान-कषाय और मिथ्यात्वके अनुभागके अविभागी प्रतिच्छेदोंके परस्परमें समानता देखकर मानकषायमें होनेवाली चारों संज्ञाओंकी मान-कषायसे विरुद्ध प्रकृतिवाले मिथ्यात्वादि (सर्व कर्मोंके अनुभाग) स्पर्धकोंमें भी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५. अनुभाग बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. प्रकृतियोंमें अनुभागकी तरतमता सम्बन्धी सामान्य नियम

ध. १२/४,२,७,६५/५५/४ महाविसयस्स अणुभागो महल्लो होदि, थोव-विसयस्स अणुभागो थोवो होदि।···खवगसेडीए देसघादिबंधकरणे जस्स पुव्वमेव अणुभागबंधो देसघादी जादो तस्साणुभागो थोवो। जस्स पच्छा जादो तस्स बहुओ।=महान् विषयवाली प्रकृतिका अनुभाग महान् होता है और अल्प विषयवाली प्रकृतिका अनुभाग अल्प होता है।···यथा—क्षपकश्रेणीमें देशघाती बन्धकरणके समय जिसका अनभाग बन्ध पहिले ही देशघाती हो गया है उसका अनु-भाग स्तोक होता है, और जिसका अनुभागबन्ध पीछे देशघाती होता है उसका अनुभाग बहुत होता है। (ध. १२/४,२,७,१२४/६६/१५)

२. प्रकृति विशेषोंमें अनुभागकी तरतमताका निर्देश

१. ज्ञानावरण व दर्शनावरणके अनुभाग परस्पर समान होते हैं

ष.ख. १२/४,२,७/४३/३३/२ णाणावरणीय-दंसणावरणीयवेयणाभावदो जहण्णियाओ दो वि तुल्लाओ अणंतगुणाओ। =भावकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी जघन्य वेदनाएँ दोनों ही परस्पर तुल्य होकर अनन्तगुणी हैं।

२. केवल ज्ञानावरण व दर्शनावरण, असाता व वीर्यान्तरायके अनुभाग परस्पर समान हैं

ष.ख. १२/४,२,७/सू. ७६/४१/६ केवलणाणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं असादवेदणीयं वीरियंतराइयं च चत्तारि वि तुल्लाणि अणंतगुणही-णाणि ॥७६॥ केवलज्ञानावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, असातावेदनीय और वीर्यान्तराय ये चारों ही प्रकृतियाँ तुल्य होकर उससे अनंत-गुणी हैं ॥७६॥

३. तिर्यंचायुसे मनुष्यका अनुभाग अनन्तगुणा है

ध. १२/४,२,१३,१६२/४३१/१२ सहावदो चेव तिरिक्खाउआणुभागादो मणुसाउअभावस्स अणंतगुणत्ता। =स्वभावसे ही तिर्यंचायुके अनुभाग-से मनुष्यायुका भाव अनन्त गुणा है।

३. जघन्य व उत्कृष्ट अनुभागके बन्धकों सम्बन्धी नियम

१. अघातिया कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभाग सम्यग्दृष्टिको ही बन्धता है मिथ्यादृष्टिको नहीं।

ध. १२/४,२,१३/२५०/४५६/४ ण च मिच्छाइट्ठीसु अघादिकम्माणमुक्कस्स-भावो अत्थि सम्माइट्ठीसु णियमिदउक्कस्साणुभागस्स मिच्छाइट्ठीसु संभवविरोहादो।=मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अघातिकर्मोंका उत्कृष्ट भाव संभव नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवोंमें नियमसे पाये जानेवाले अघाति कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागके मिथ्यादृष्टि जीवोंमें होनेका विरोध है।

ध. १२/४,२,१३,२५६/४५९/२ असंजदसम्मादिट्ठिणा मिच्छादिट्ठिणा वा बद्धस्स देवाउअं पेक्खिदूण अप्पसत्थस्स उक्कस्सत्तविरोहादो। तेण अणंतगुणहीणा।=सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके द्वारा बान्धी गयी मनुष्यायु चूँकि देवायुकी अपेक्षा अप्रशस्त है, अतएव उसके उत्कृष्ट होनेका विरोध है। इसी कारण वह अनन्तगुणी हीन है।

२. गोत्रकर्मका जघन्य अनुभाग बन्ध तेज व वातकायिकमें ही सम्भव है।

ध. १२/४,२,१३,२०४/४४१/८ बादरतेउवाउक्काइयपज्जत्तएसु जादजह-ण्णाणुभागेण सह अण्णत्थ उप्पत्तीए अभावादो। जदि अण्णत्थ उप्पज्जदि तो णियमा अणंतगुणवड्ढीए वड्ढिदो चेव उप्पज्जदि ण अण्णहा।=बादरतेजकायिक व वायुकायिक पर्याप्तक जीवोंमें उत्पन्न जघन्य अनुभागके साथ अन्य जीवोंमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं। यदि वह अन्य जीवोंमें उत्पन्न होता है तो नियमसे वह अनन्तगुण वृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकारसे नहीं।

४. प्रकृतियोंके जघन्य व उत्कृष्ट अनुभाग बन्धकोंकी प्ररूपणा

प्रमाण—१. (पं.सं./प्रा./४/४६०-४८२) (दे. स्थिति/६), (क.पा.५/४-२२/§२२६-२७६/१५१-१८५/केवल मोहनीय कर्म विषयक)।

संकेत—अनि० = अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें उस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्ति से पहला समय; अपू० = अपूर्वकरण गुणस्थानमें उस प्रकृतिकी बन्धव्युच्छित्तिसे पहला समय; अप्र० = अप्रमत्तसंयत; अवि० = अविरतसम्यग्दृष्टि; क्षपक० = क्षपकश्रेणी; चतु० = चतुर्गतिके जीव; ति० = तिर्यंच; तीव्र० = तीव्र संक्लेश या कषाययुक्त जीव; = देश० देशसंयत; ना० = नारकी; प्र० = प्रमत्तसंयत; मध्य० = मध्य परिणामों युक्त जीव; मनु० = मनुष्य; मि० = मिथ्यादृष्टि; विशु० = अत्यन्त विशुद्ध परिणामयुक्त जीव; सम्य० = सम्यग्दृष्टि; सा० मि० = सातिशय मिथ्यादृष्टि; सू० सा० = सूक्ष्मसाम्परायका चरम समय।

नाम प्रकृति	उत्कृष्ट-अनु०	जघन्य-अनु०
ज्ञानावरणीय ५	तीव्र० चतु० मि०	सू० सा०
दर्शनावरणीय ४	,,	,,
निद्रा, प्रचला	,,	अपू०
निद्रा निद्रा, प्रचला प्रच०	,,	सा० मि०/चरम
स्त्यानगृद्धि	,,	,,
अन्तराय ५	,,	सू० सा०
मिथ्यात्व	,,	सा० मि०/चरम
अनन्तानुबन्धी चतु०	,,	,,
अप्रत्याख्यान चतु०	,,	प्र० सन्मुख अवि०
प्रत्याख्यान चतु०	,,	प्र० सन्मुख देश०
संज्वलन चतु०	,,	अनि०
हास्य, रति	,,	अपू०
अरति, शोक	,,	अप्र० सन्मुख प्र०
भय, जुगुप्सा	,,	अपू०
स्त्री, नपुंसक वेद	,,	तीव्र० चतु० मि०
पुरुष वेद	,,	अनि०
साता	क्षपक०	मध्य० मि० सम्य०
असाता	तीव्र० चतु० मि०	,,
नरकायु	मि० मनु० ति०	मि० मनु० ति०
तिर्यंचायु	,,	,,
मनुष्यायु	,,	,,
देवायु	अप्र०	,,
नरक द्वि०	मि० मनु० ति०	,,
तिर्यक् द्वि०	मि० देव० ना०	सप्तम पृ० ना०
मनुष्य द्वि०	सम्य० देव० ना०	मध्य० मि०
देव द्वि०	क्षपक०	मि० मनु० ति०
एकेन्द्रिय जाति	मि० देव	मध्य० मि०
२-४ इन्द्रिय जाति	मि० मनु० ति०	देव० मनु० ति०
पंचेन्द्रिय जाति	क्षपक०	मि० मनु० ति० तीव्र० चतु० मि०
औदारिक द्वि०	सम्य० देव ना०	मि० देव० ना०
वैक्रियक द्वि०	क्षपक०	मि० मनु० ति०
आहारक द्वि०	,,	प्र० सन्मुख अप्र०
तैजस शरीर	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
कार्मण शरीर	,,	,,
निर्माण	,,	,,
प्रशस्त वर्णादि ४	,,	,,
अप्रशस्त वर्णादि ४	तीव्र० चतु० मि०	अपू० मध्य० मि०
समचतुरस्रसंस्था०	,,	मध्य० मि०
शेष पाँच संस्थान	तीव्र चतु० मि०	,,
वज्र ऋषभ नाराच	सम्य० देव ना०	,,
वज्र नाराच आदि ४	तीव्र० चतु० मि०	,,
असंप्राप्त सृपाटिका	मि० देव ना०	,,
अगुरुलघु	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
उपघात	तीव्र० चतु० मि०	अपू०
परघात	क्षपक	तीव्र० चतु० मि०
आतप	मि० देव	तीव्र० मि० भवन-त्रिकसे ईशान०
उद्योत	,,	मि० देव ना०
उच्छ्वास	सू० सा०	तीव्र० चतु० मि०
प्रशस्त विहायो०	क्षपक०	मध्य० मि०
अप्रश० विहायो०	,,	मध्य० मि०
प्रत्येक	,,	तीव्र० चतु० मि०
साधारण	मि० मनु० ति०	मि० मनु० ति०
त्रस	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
स्थावर	मि० देव	मध्य० मि० देव मनु० ति०
सुभग	क्षपक०	मध्य० मि०
दुर्भग	तीव्र० चतु० मि०	,,
सुस्वर	क्षपक०	,,
दुस्स्वर	तीव्र० चतु० मि०	,,
शुभ	क्षपक०	मध्य० मि० सम्य०
अशुभ	तीव्र० चतु० मि०	,,
सूक्ष्म	मि० मनु० ति०	मि० मनु० ति०
बादर	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
पर्याप्त	,,	,,
अपर्याप्त	मि० मनु० ति०	मि० मनु० ति०
स्थिर	क्षपक०	मध्य० मि० सम्य०
अस्थिर	तीव्र० चतु० मि०	,,
आदेय	क्षपक०	मध्य० मि०
अनादेय	तीव्र० चतु० मि०	,,
यशःकीर्ति	क्षपक०	मध्य० मि० सम्य०
अयशःकीर्ति	तीव्र० चतु० मि०	,,
तीर्थंकर	क्षपक०	ना० सन्मुख अवि०
उच्च गोत्र	क्षपक०	मध्य० मि०
नीच गोत्र	तीव्र० चतु० मि०	सप्तम पृ० ना० मि०
अन्तराय ५	दे० दर्शनावरणीयके पश्चात	

५. अनुभाग विषयक अन्य प्ररूपणाएँ

नाम प्रकृति	विषय	ज० उ० पद म० ब० पु०/§ ··पृ०	भुजगारादि पद म०ब० पृ०/···/पृ०	ज० उ० वृद्धि म० ब० पु०/§ ··पृ०	षड् गुण वृद्धि म० ब० पु०/§···पृ०
१. मूल प्रकृति	संनिकर्ष	४/१७२-१८१/७४-७६			
	भंगविचय	४/१८२-१८५/७६-८१	४/२८५/१३१-१३२		४/३६०-३६१/१६३-१६४
	अनुभाग अध्यवसाय स्थान	सम्बन्धी सर्व प्ररूपणाएँ—	म० ब०/४/३७१-३८६/	१६८-१७६)	
२. उत्तरप्रकृति	संनिकर्ष	५/१-३०८/१-१२६			
	भंगविचय	५/३०९-३१३/१२६-१२९	५/४९२-४९७/२७६-७८		५/६१७/३६२
	अध्यवसाय स्थान सम्बन्धी	सर्व प्ररूपणाएँ—(म.ब/	५ / ६२६-६५८ / ३७२-	३९८)	

अनुभाषण—शुद्ध प्रत्याख्यान—दे० प्रत्याख्यान/१।

अनुभूति—दे० अनुभव।

अनुमत—दे० अनुमति।

अनुमति—स्वयं तो कोई कार्य न करना, पर अन्यको करनेकी राय देना, अथवा उसके द्वारा स्वयं किया जानेपर प्रसन्न होना, अनुमति कहलाता है।

१. अनुमति सामान्यका लक्षण

रा.वा./६,८/९/५१४/११ अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः ॥९॥ यथा मौनव्रतिकश्चक्षुष्मान् पश्यत् क्रियमाणस्य कार्यस्याप्रतिषेधात् अभ्युपगमाद् अनुमन्ता, तथा कारयिता प्रयोक्तृत्वात्, तत्समर्थाचरणाहितमनःपरिणामः अनुमन्तेत्यवगम्यते। =करनेवालेके मानस-परिणामोंकी स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जानेवाले कार्यका यदि निषेध नहीं करता तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी तरह करानेवाला प्रयोक्ता होनेसे और उन परिणामोंका समर्थक होनेसे अनुमोदक है। (स.सि./६/८/३२५) (चा.सा./८८/६)।

२. अनुमतिके भेद

मू.आ./४१४ पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदी तिविहा। =प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण, संवास ये तीन भेद अनुमतिके हैं।

३. प्रतिसेवा अनुमति

मू.आ./४१४ उद्दिष्टं यदि भुङ्क्ते भोगयति च भवति प्रतिसेवा। =उद्दिष्ट आहारका भोजन करनेवाले साधुके प्रतिसेवा अनुमति नामका दोष होता है।

४. प्रतिश्रवण अनुमति

मू.आ./४१५ उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छा व होदि पडिसुण्णं। ='यह आहार आपके निमित्त बनाया गया है' आहारसे पहिले या पीछे इस प्रकारके वचन दाताके मुखसे सुन लेनेपर आहार कर लेना या सन्तुष्ट तिष्ठना साधुके लिए प्रतिश्रवण अनुमति है।

५. संवास अनुमति

मू.आ./४१५ सावज्ज संकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥४१५॥ =यदि साधु आहारादिके निमित्त ऐसा ममत्वभाव करे कि ये गृहस्थलोक हमारे हैं, वह उसके लिए संवास नामकी अनुमति है।

६. अनुमति त्याग प्रतिमा

र.क.श्रा./१४६ अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा। नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥ =जिसकी आरम्भ में अथवा परिग्रहमें या इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें अनुमति नहीं है, वह समबुद्धिवाला निश्चय करके अनुमति त्याग प्रतिमाका धारी मानने योग्य है। (का.अ./मू./३८८) (वसु.श्रा./३००) (गुणभद्र श्रा०/१८२)।

सा. ध./७/३१-३४ चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात्। ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽश्नाद् गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१॥ यथाप्राप्तमदन् देहसिद्ध्यर्थं खलु भोजनम्। देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२॥ सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नतः। कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रियः ॥३३॥ पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात्। आपृच्छेत गुरून् बन्धून् पुत्रादींश्च यथोचितम् ॥३४॥ =इस अनुमतिविरति श्रावकको जिनालयमें रहकर ही शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। तथा मध्याह्न वन्दना आदि कर लेनेके पश्चात् किसीके बुलानेपर पुत्रादिके घर अथवा किसी अन्यके घर भोजन करे ॥३१॥ भोजनके सम्बन्धमें इसे ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मुमुक्षुजन शरीरकी स्थितिके अर्थ ही भोजन की अपेक्षा रखते हैं। और शरीरकी स्थिति भी धर्मसिद्धिके अर्थ करते हैं ॥३२॥ परन्तु उद्दिष्ट आहार करनेवाले मुझको उस धर्मकी सिद्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि यह तो सावद्ययोग तथा जघन्य क्रियाओं-के द्वारा उत्पन्न किया गया है। वह समय कब आयेगा जब कि मैं भिक्षा रूपी अमृतका भोजन करूँगा ॥३३॥ पंचाचार पालन करनेवाले तथा गृहत्यागकी इच्छा रखनेवाले उसको माता-पितासे, बन्धुवर्गसे तथा पुत्रादिकोंसे यथोचित रूपसे पूछना चाहिए ॥३४॥

अनुमान—यह परोक्ष प्रमाणका एक भेद है, जो जैन व जैनेतर सर्व दर्शनकारोंको समान रूपसे मान्य है। यह दो प्रकारका होता है—स्वार्थ व परार्थ। लिंग परसे लिंगीका ज्ञान हो जाना स्वार्थ अनुमान है, जैसे धुएँको देखकर अग्निका ज्ञान स्वतः हो जाता है। और हेतु तर्क आदि-द्वारा पदार्थका जो ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। इसमें पाँच अवयव होते हैं—पक्ष, हेतु, उदाहरण, उपनय व निगमन। इनका उचित रीतिसे प्रयोग करना 'न्याय' माना गया है। इसी विषयका कथन इस अधिकार में किया गया है।

१. भेद व लक्षण

१. अनुमान सामान्यका लक्षण—

न्या. वि./मू/२-१/१ साधनात्साध्यज्ञानमनुमानम्। =साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है। (प. मु/३।१४) (का. अ./मू./२६७) न्या. दी./३/§१७) (न्या. वि./ वृ./२-१/१/१९) (क. पा./पु. २/१-१५/§३०१/३४१/३).

२. अनुमान सामान्यके भेद (स्वार्थ व परार्थ)

प. मु./३/५२-५३ तदनुमानं द्वेधा ॥५२॥ स्वार्थपरार्थभेदात् ॥५३॥ =स्वार्थ व परार्थके भेदसे वह अनुमान दो प्रकारका है। (स.म./२८/३२२/१) (न्या. दी./३/§२३)।

३. स्वार्थानुमानके भेद (पूर्ववत् आदि)—

न्या. सू./मू./१-१/५ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥५॥ =प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकारका है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। (रा. वा./१/२०/१५/७८।११)

४. स्वार्थानुमानका लक्षण

प. मु./३/५४,१४ स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५४॥ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१४॥ =स्वार्थका लक्षण पहिले कह दिया गया है ॥५४॥ कि साधनसे साध्यका विज्ञान होना अनुमान है ॥१४॥

स.म./२८/३२९/२ तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। =अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षणवाले हेतुको ग्रहण करनेके सम्बन्धके स्मरणपूर्वक साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं। (स. म./२०/२५६/१३)।

न्या. दी./३/§२८/७५ में उद्धृत "परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम्। यद्द्रष्टुर्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते ॥ =परोपदेशके अभावमें भी केवल साधनसे साध्यको जान जो ज्ञान देखनेवालेको उत्पन्न हो जाता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

न्या. दी./३/§२३/७१ परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादेः साधनादुत्पन्नपर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः। =परोपदेशकी अपेक्षा न रखकर स्वयं ही निश्चित, तथा तर्क प्रमाणसे जिसका फल पहिले हो अनुभव हो चुकता है ऐसी व्याप्तिके स्मरणसे युक्त, ऐसे धूम आदि हेतुसे पर्वतादि धर्मीमें उत्पन्न होनेवाले जो अग्नि आदिक साध्यका ज्ञान, उसको स्वार्थानुमान कहते हैं। (न्या. दी./३/§१७)।

और भी. दे० प्रमाण/१. (स्वार्थ प्रमाण ज्ञानात्मक होता है)

५. परार्थानुमानका लक्षण

प. मु./३/५५-५६ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥५५॥ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५६॥ =स्वार्थानुमानके विषयभूत हेतु और साध्यको अवलम्बन करनेवाले वचनोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको परार्थानुमान कहते हैं ॥५५॥ परार्थानुमानके प्रतिपादक वचन भी उस ज्ञानका कारण होनेसे उपचारसे परार्थानुमान हैं, मुख्यरूपसे नहीं ॥५६॥ (स.म./२८/३२२/३)

न्या. दी./३/§२१/ परोपदेशमपेक्ष्य साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानम्। प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशवशाच्छ्रोतुरुत्पन्नं साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। यतः पर्वतोऽयमग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं पर्यालोचयतः स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते। =परोपदेशसे जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतुरूप दूसरेका उपदेश सुननेवालेको जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। जैसे कि इस पर्वतमें अग्नि होनी चाहिए, क्योंकि यदि यहाँपर अग्नि न होती तो धूम नहीं हो सकता था। इस प्रकार किसीके कहनेपर सुननेवालेको उक्त वाक्यके अर्थका विचार करते हुए और व्याप्तिका स्मरण होनेसे जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है। और भी दे० प्रमाण/१ (परार्थ प्रमाण वचनात्मक होता है)।

६. अन्वय व व्यतिरेक व्याप्ति लिंगज अनुमानके लक्षण

स.म/१६/२११/६. यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तद् ततो न भिद्यते, यथा सच्चन्द्रादसच्चन्द्रः। नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः। =जो जिसके साथ नियमसे उपलब्ध होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे यथार्थ चन्द्रमा भ्रान्त चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, अतएव भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमासे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और पदार्थ एक साथ पाये जाते हैं, अतएव ज्ञान

पदार्थसे भिन्न नहीं है। इस व्यापकानुपलब्धि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है।

वैशेषिक सूत्रोपस्कार (चौखम्बा काशी)/२,१/१ व्यतिरेकव्याप्तिकाल्लिङ्गाद् यदनुमानं क्रियते तद्व्यतिरेकिलिङ्गानुमानमुच्यते। साध्याभावे साधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः। तथा च प्रकृते अनुमाने सर्वरूपसाध्याभावे निर्दोषत्वरूपसाधनाभावः प्रदर्शितः। =व्यतिरेकव्याप्तिवाले लिंगसे जो अनुमान किया जाता है उसे व्यतिरेकि लिंगानुमान कहते हैं। साध्यके अभावमें साधनका भी अभाव दिखलाना व्यतिरेकव्याप्ति है। प्रकृतमें सर्वज्ञरूप साध्यके अभावमें निर्दोषत्व रूप साधनाका भी अभाव दर्शाया गया है। अर्थात् यदि सर्वज्ञ नहीं है तो निर्दोषपना भी नहीं हो सकता। ऐसा अनुमान व्यतिरेकव्याप्ति अनुमान है।

७. पूर्ववत् अनुमानका लक्षण

रा. वा./१/२०/१५/७८/१२ तत्र येनाग्नेर्निःसरत् पूर्वं धूमो दृष्टः स प्रसिद्धाग्निधूमसंबन्धाहितसंस्कारः पश्चाद्धूमदर्शनाद् 'अस्त्यत्राग्निः' इति पूर्ववदग्निं गृह्णातीति पूर्ववदनुमानम्। =जिसने अग्निसे निकलते हुए धूमको पहिले देखा है, वह व्यक्ति अग्नि और धूमके प्रसिद्ध सम्बन्ध विशेषको जाननेके संस्कारसे सहित है। वह व्यक्ति पीछे कभी धूमके दर्शन मात्रसे 'यहाँ अग्नि है' इस प्रकार पहिलेकी भाँति अग्निको ग्रहण कर लेता है। ऐसा पूर्ववत् अनुमान है। (न्या. सू./भा./१-१/५/१३/१)

न्या. सू./१-१/५/१२/२४ पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति। =जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान होता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं, जैसे बादलोंके देखनेसे आगामी वृष्टिका अनुमान करना।

८. शेषवत् अनुमानका लक्षण

रा. वा./१/२०/१५/७८/१४ येन पूर्वं विषाणविषाणिनोः संबन्ध उपलब्धः तस्य विषाणरूपदर्शनाद्विषाणिन्यनुमानं शेषवत्। =जिस व्यक्तिने पहिले कभी सींग व सींगवालेके सम्बन्धका ज्ञान कर लिया है, उस व्यक्तिको पीछे कभी भी सींग मात्रका दर्शन हो जानेपर सींगवालेका ज्ञान हो जाता है। अथवा उस पशुके एक अवयवको देखनेपर भी शेष अनेक अवयवों सहित सम्पूर्ण पशुका ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह शेषवत् अनुमान है।

न्या. सू./भा./१-१/५/१२/२५ शेषवदिति यत्र कार्येण कारणमनुमीयते। पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति। =कार्यसे कारणका अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे नदीकी बाढ़को देखकर उससे पहिले हुई वर्षाका अनुमान होता है, क्योंकि नदीका चढ़ना वर्षाका कार्य है।

९. सामान्यतोदृष्ट अनुमानका लक्षण

रा. वा./१/२०/१५/७८/१५ देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां दृष्ट्वा संबन्ध्यन्तरे सवितरि देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् गतेरत्यन्तपरोक्षाया अनुमानं सामान्यतोदृष्टम्। =देवदत्तका देशान्तरमें पहुँचना गतिपूर्वक होता है, यह देखकर सूर्यकी देशान्तर प्राप्तिपरसे अत्यन्त परोक्ष उसकी गतिका अनुमान कर लेना सामान्यतोदृष्ट है। (न्या. सू./भा/१-१/५/१२/२६)

२. अनुमान सामान्य निर्देश

१. अनुमान ज्ञान श्रुतज्ञान है

रा. वा./१/२०/१५/७८/१६ तदेतत्त्रितयमपि स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं परप्रतिपत्तिकाले अक्षरश्रुतम्। =तीनों (पूर्ववत् शेषवत् व सामान्यतोदृष्ट) अनुमान स्वप्रतिपत्ति कालमें अनक्षरश्रुत हैं और पर प्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत हैं।

क. पा./पु./१/१-१५/३४१/३ धूमादिअत्थलिंगजं पुण अणुमाणं णाम। =धूमादि पदार्थरूप लिंगसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है।

२. अनुमान ज्ञान कोई प्रमाण नहीं

ध./६/१-९-६,६/१५१/१ पवयणे अणुमाणस्स पमाणस्स पमाणत्ताभावत्तादो। =प्रवचन (परमागम) में अनुमान प्रमाणके प्रमाणता नहीं मानी गयी है।

३. अनुमान ज्ञान भ्रान्ति या व्यवहारमात्र नहीं है बल्कि प्रमाण है

सि. वि./मू./६/११-१२/३८६ यथास्वं न चेद्बुद्धेः स्वसंविदन्यथा पुनः। स्वाकारविभ्रमात् सिध्येद् भ्रान्तिरप्यनुमानधीः ॥११॥ स्वव्यक्तसंवृतात्मानौ व्याप्नोत्येकं स्वलक्षणम्। यदि हेतुफलात्मानौ व्याप्नोत्येकं स्वलक्षणम् ॥१२॥ न बुद्धे र्ग्राह्यग्राहकाकारौ भ्रान्तावेव स्वयमेकान्तहानेः। =यदि ज्ञान यथायोग्य अपने स्वरूप को नहीं जानता तो अपने स्वरूपमें भी विभ्रम होनेसे स्वलक्षण बुद्धि भी भ्रान्तिरूप सिद्ध होगी। यदि कहोगे कि अनुमानसे जानेंगे तो अनुमान बुद्धि भी तो भ्रान्त है। यदि एक स्वलक्षण (बुद्धिवस्तु) सुव्यक्त (बोधस्वभाव प्रत्यक्ष) और संवृत (उससे विपरीत) रूपों में व्याप्त होता है, अर्थात् एक साथ व्यक्त और अव्यक्त स्वभाव रूप होता है तो उस स्वलक्षणके अपने कारण और कार्यमें व्याप्त होनेमें क्या रुकावट हो सकती है? बुद्धिके ग्राह्य और ग्राहक आकार सर्वथा भ्रान्त नहीं हैं ऐसा माननेसे स्वयं बौद्धके एकान्तकी हानि होती है।

सि. वि./वृ./६/१/३८७/२१ प्रमाणतः सिद्धाः, किमुच्यते व्यवहारिणेति। प्रमाणसिद्ध[स्योभ]योरपि अभ्युपगमार्हत्वात्; अन्यथा स्परतः प्रामाणिकत्वाद्वो येन (परस्यापि न प्रामाणिकत्वम्)। व्यवहार्यभ्युपगमात् चेत्, अत एव प्रतिबन्धान्तरमस्तु। न च अप्रमाणाभ्युपगमसिद्ध र्वैसस (द्धेः अर्धवैशस्य) न्यायो न्यायानुसारिणां युक्तः। =यदि पूर्व और उत्तर क्षणमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध प्रमाणसे सिद्ध है तो उसे व्यवहार सिद्ध क्यों कहते हो? जो प्रमाण सिद्ध है वह तो वादी और प्रतिवादी दोनोंके ही स्वीकार करने योग्य है। अन्यथा यदि वह प्रमाणसिद्ध नहीं है तो दूसरेको भी प्रामाणिकपना नहीं है। यदि व्यवहारीके द्वारा स्वीकृत होनेसे उसे स्वीकार करते हैं तो इसीसे उन दोनोंके बीचमें अन्य प्रतिबन्ध मानना चाहिए। अप्रमाण भी हो और अभ्युगम (स्वीकृति) सिद्ध भी हो यह अर्ध वैशसन्याय न्यायानुसारियों के योग्य नहीं है।

४. कार्यपर-से कारणका अनुमान किया जाता है

आप्त. मी./मू./६८/६६ कार्यलिङ्गं हि कारणम्। =कार्यलिंगसे ही कारणका अनुमान करिये है।

पं. ध./उ./३१२ अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित्। दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥३१२॥ =निश्चयसे कार्यके अनुमानसे कारणका अनुमान होता है। जैसे नदीमें पूर आया देखनेसे यह अनुमान हो जाता है कि ऊपर कहीं वर्षा हुई है। (अनुमान/१/८)

५. स्थूलपर-से सूक्ष्मका अनुमान होता है

ज्ञा./३३/४ अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्। सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥४॥ =तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वको

प्रगटतया चिन्तवन करे कि—लक्ष्यके सम्बन्धसे तो अलक्ष्यको और स्थूलसे सूक्ष्म पदार्थको चिन्तवन करे। इसी प्रकार किसी पदार्थ विशेषका अवलम्बन लेकर निरालम्ब स्वरूपसे तन्मय हो।

१. परन्तु जीव अनुमानगम्य नहीं है

प्र. सा./त. प्र./१७२ आत्मनो हि···अलिङ्गग्राह्यत्वम्···न लिङ्गादिन्द्रियगम्याद्व धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। —आत्माके अलिंगग्राह्यत्व है। क्योंकि जैसे धुएँसे अग्निका ग्रहण होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है।

३. अनुमानके अवयव

१. अनुमानके पाँच अवयवोंका नाम निर्देश

न्या. सू./मू./१-१/३२ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥३२॥ =प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये अनुमान वाक्यके पाँच अवयव हैं।

२. पाँचों अवयवोंकी प्रयोगविधि

प. मु./३/६५ परिणामी शब्दः कृतकत्वात्। य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः। कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी। यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा बन्ध्यास्तनंधयः। कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी ॥६५॥ —शब्द परिणामस्वभावी है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कृतक है (हेतु)। जो-जो पदार्थ कृतक होता है वह-वह परिणामी देखा गया है, जैसे घट (अन्वय उदाहरण), जो परिणामी नहीं होता, वह कृतक भी नहीं होता जैसे बन्ध्यापुत्र (*व्यतिरेकी उदाहरण*)। यह शब्द कृतक है (उपनय) इसलिए परिणामी है (निगमन)।

द्र. सं./टी/५०/२१३ अन्तरिताः सूक्ष्मपदार्थाः, धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम्। कस्मादिति चेत्, अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम्। किंवत्। यद्यदनुमानविषयं तत्तत् कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथाग्न्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनम्। अनुमानेन विषयाश्चेति इत्युपनयवचनम्। तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनम्। इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते—यन्न कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न भवति यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्। अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम्। तस्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति। =अन्तरित व सूक्ष्म पदार्थ रूप धर्मी किसी भी पुरुष विशेषके प्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रकार साध्य धर्मी और धर्मके समुदायसे पक्षवचन अथवा प्रतिज्ञा है। क्योंकि वे अनुमानके विषय हैं, यह हेतु वचन है। किसकी भाँति? जो-जो अनुमानका विषय है वह-वह किसीके प्रत्यक्ष होता है, जैसे अग्नि आदि, यह अन्वय दृष्टान्तका वचन है। और ये पदार्थ भी अनुमानके विषय हैं, यह उपनयका वचन है। इसलिए किसीके प्रत्यक्ष होते हैं, यह निगमन वाक्य है।

अब व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं—जो किसीके भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमानके विषय भी नहीं होते, जैसे कि आकाशके पुष्प आदि, यह व्यतिरेकी दृष्टान्त वचन है। और ये अनुमानके विषय हैं, यह पुनः उपनयका वचन है। इसीलिए किसीके प्रत्यक्ष भी अवश्य होते हैं, यह पुनः निगमन वाक्य है।

३. स्वार्थानुमानमें दो ही अवयव होते हैं

न्या. दी./३/§२४-२५/७२ अस्य स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि—धर्मी, साध्यं, साधनं च···॥२४॥ पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात्। तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मीसाध्यसाधनभेदात्त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं चेति सिद्धं, विवक्षाया वैचित्र्यात् ॥२५॥ —इस स्वार्थानुमानके तीन अंग हैं—धर्म, साध्य व साधन ॥२४॥ अथवा पक्ष व हेतु इस प्रकार दो अंग भी स्वार्थानुमानके हैं, क्योंकि, साध्य धर्मसे विशिष्ट होनेके कारण साध्य व धर्मी दोनोंका पक्षमें अन्तर्भाव हो जाता है, और साधन व हेतु एकार्थवाचक हैं। (यहाँ प्रतिज्ञा नामका कोई अंग नहीं होता, उसके स्थानपर पक्ष होता है)। इस प्रकार स्वार्थानुमानके धर्मी, साध्य व साधनके भेदसे तीन अंग भी होते हैं और पक्ष व हेतुके भेदसे दो अंग भी होते हैं। ऐसा सिद्ध है। यहाँ केवल विवक्षाका ही भेद है ॥२५॥

४. परार्थानुमानमें भी शेष तीन अवयव वीतराग कथामें होते हैं, वादमें नहीं

प. मु./३/३७,४६ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३७॥ न च तदङ्गे ॥४४॥···बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादे, अनुपयोगात् ॥४६॥ —पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुमानके अंग हैं, उदाहरण नहीं ॥३७॥ न ही उपनय व निगमन अंग हैं ॥४४॥ क्योंकि बाल व्युत्पत्तिके निमित्त इन तीनोंका उपयोग शास्त्रमें होता है, वादमें नहीं, क्योंकि वहाँ वे अनुपयोगी हैं ॥४६॥

न्या. दी./३/§३१,३४,३६/७६,८१,८२ परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य द्वाववयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्च ॥३१॥ प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमात्रेणोदाहरणादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात्। गम्यमानस्याप्यभिधाने पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् ॥३४॥ वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रतिज्ञाहेतू द्वाववयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा पञ्चेति यथायोग्यं प्रयोगपरिपाटी। ···तदेव प्रतिज्ञादिरूपात्परोपदेशादुत्पन्नं परार्थानुमानम् ॥३६॥ —परार्थानुमान प्रयोजक वाक्यके दो अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा व हेतु ॥३१॥ प्रतिज्ञा व हेतु इन दो मात्रके प्रयोगसे ही व्युत्पन्न जनोंको उदाहरणादिके द्वारा प्रतिपाद्य व जाना जाने योग्य अर्थका भी ज्ञान हो जाता है। जान लिये गये के प्रति भी इनको कहनेसे पुनरुक्तिका प्रसंग आता है ॥३४॥ परन्तु वीतराग कथामें प्रतिपाद्य अभिप्रायके अनुरोधसे प्रतिज्ञा व हेतु ये दो अवयव भी हैं; प्रतिज्ञा, हेतु, व उदाहरण इस प्रकार तीन अवयव भी हैं; उदाहरण और उपनय इस प्रकार चार भी हैं; तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इस प्रकार पाँच भी हैं। यथायोग्य परिपाटीके अनुसार ये सब ही विकल्पघटित हो जाते हैं। इस प्रकार प्रतिज्ञादि रूप परोपदेशसे उत्पन्न होनेके कारण वह परार्थानुमान है ॥३६॥

अनुमानित—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

अनुमोदना—दे० अनुमति।

अनुयोग—जैनागम चार भागोंमें विभक्त है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इन चारोंमें क्रमसे कथाएँ व पुराण, कर्म सिद्धान्त व लोक विभाग, जीवका आचार-विचार और चेतनाचेतन द्रव्योंका स्वरूप व तत्त्वोंका निर्देश है। इसके अतिरिक्त वस्तुका कथन करनेमें जिन अधिकारोंकी आवश्यकता होती है उन्हें अनुयोगद्वार कहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके अनुयोगोंका कथन इस अधिकारमें किया गया है।

१. आगमगत चार अनुयोग

१. आगमका चार अनुयोगोंमें विभाजन

क्रियाकलापमें समाधिभक्ति—"प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः। =प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगको नमस्कार है।

द्र.सं./टी./४२/१८२ प्रथमानुयोगो·· चरणानुयोगो···करणानुयोगो··· द्रव्यानुयोगो इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम्। =प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे उक्त लक्षणोंवाले चार अनुयोगोंरूपसे चार प्रकारका श्रुतज्ञान जानना चाहिए। (पं.का/ता.वृ/१७३/२५४/१५)

२. आगमगत चार अनुयोगोंके लक्षण

१. प्रथमानुयोगका लक्षण

र.क.श्रा./४३ प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्। बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥ =सम्यग्ज्ञान है सो परमार्थ विषयका अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका अथवा एक पुरुषके आश्रय कथाका अथवा त्रेसठ पुरुषोंके चरित्रका अथवा पुण्यका अथवा रत्नत्रय और ध्यानका है कथन जिसमें सो प्रथमानुयोग रूप शास्त्र जानना चाहिए। (अन.ध./३/९/२५८)

ह.पु./१०/७१ पदैः पञ्चसहस्रैस्तु प्रयुक्ते प्रथमे पुनः। अनुयोगे पुराणार्थस्त्रिषष्टिरुपवर्ण्यते ॥७१॥ =दृष्टिवादके तीसरे भेद अनुयोगमें पाँच हजार पद हैं तथा इसके अवान्तर भेद प्रथमानुयोगमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंके पुराणका वर्णन है ॥७१॥ (क.पा./१/§१०३/१३८) (गो.क/जी.प्र./३६१–३६२/७७३/३) (द्र.सं./टी/४२/१८२/८) (पं.का/ता.वृ./१७३/२५४/१५)

ध./२/१,१,२/१,१,२/४ पढमाणियोगो पंचसहस्सपदेहि पुराणं वण्णेदि। प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पाँच हजार पदोंके द्वारा पुराणोंका वर्णन करता है।

२. चरणानुयोगका लक्षण

र.क.श्रा/४५ गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्। चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥ =सम्यग्ज्ञान ही गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षाके अंगभूत चरणानुयोग शास्त्रको विशेष प्रकारसे जानता है। (अन. ध./३/११/२६१)

द्र.सं/टी/४२/१८२/९ उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मम्, आचाराराधनौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते। =उपासकाध्ययन आदिमें श्रावकका धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदिमें यतिका धर्म जहाँ मुख्यतासे कहा गया है, वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है। (पं.का/ता.वृ./१७३/२५४/१६)

३. करणानुयोगका लक्षण

र.क.श्रा/४४ लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च। आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥ =लोक अलोकके विभागको, युगोंके परिवर्तनको, तथा चारों गतियोंको दर्पणके समान प्रगट करनेवाले करणानुयोगको सम्यग्ज्ञान जानता है। (अन. ध./३/१०/२६०)

द्र.सं/टी/४२/१८२/१० त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेयः। =त्रिलोकसारमें तीर्थंकरोंका अन्तराल और लोकविभाग आदि व्याख्यान है। ऐसे ग्रन्थरूप करणानुयोग जानना चाहिए। (पं.का/ता.वृ/१७३/१५४/१७)

४. द्रव्यानुयोगका लक्षण

र.क.श्रा./४६ जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च। द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥ =द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव-अजीवरूप सुतत्त्वोंको, पुण्य पाप और बन्ध-मोक्षको तथा भावश्रुतरूपी प्रकाशको विस्तारता है। (अन. ध./३/१२/२६१)

ध./ १/१,१,७/१५८/४ संताणियोगम्हि जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परूवेदि दव्वाणियोगे। =सत्प्ररूपणामें जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है। यह लक्षण अनुयोगद्वारोंके अन्तर्गत द्रव्यानुयोगका है।

द्र.सं./टी./४२/१८२/११ प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषड्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते। =समयसार आदि प्राभृत और तत्त्वार्थसूत्र तथा सिद्धान्त आदि शास्त्रोंमें मुख्यतासे शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छः द्रव्य आदिका जो वर्णन किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। (पं.का./ता.वृ./१७३/२५४/१८)

३. चारों अनुयोगोंकी कथन पद्धतिमें अन्तर

१. द्रव्यानुयोग व करणानुयोगमें

द्र.सं./टी./१३/४०/५ एवं पुढविजलतेउवाऊ इत्यादिगाथाद्वयेन तृतीयगाथापादत्रयेण च···धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्त-

त्रयबीजपदं सूचितम्। 'सर्व्वसुद्धा हु सुद्धणया' इति शुद्धात्मतत्त्व-प्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितम्।...यच्चाध्यात्मग्रन्थस्य बीज-पदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव। –इस रीतिसे चौदह मार्गणाओंके कथनके अन्तर्गत 'पुढविजलतेउवाऊ' इत्यादि दो गाथाओं और तीसरी गाथाके तीन पदोंसे धवल, जयधवल और महाधवल प्रबन्ध नामक जो तीन (करणानुयोगके) सिद्धान्त ग्रन्थ हैं, उनके बीजपदकी सूचना ग्रन्थकारने की है। 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इस तृतीय गाथाके चौथे पादसे शुद्धात्मतत्त्वके प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीनों प्राभृतोंका बीजपद सूचित किया है। तहाँ जो अध्यात्मग्रन्थका बीज पदभूत शुद्धात्माका स्वरूप कहा है वह तो उपादेय ही है।

नोट—(धवल आदि करणानुयोगके शास्त्रोंके अनुसार जीव तत्त्वका व्याख्यान पृथिवी जल आदि असद्भूत व्यवहार गत पर्यायोंके आधार पर किया जाता है; और पंचास्तिकाय आदि द्रव्यानुयोगके शास्त्रोंके अनुसार उसी जीव तत्त्वका व्याख्यान उसकी शुद्धाशुद्ध निश्चय नयाश्रित पर्यायोंके आधारपर किया जात है। इस प्रकार करणानुयोगमें व्यवहार नयकी मुख्यतासे और द्रव्यानुयोगमें निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन किया जाता है।

मो.मा.प्र./८/७/४०४/१ करणानुयोगविषैं...व्यवहारनयकी प्रधानता लिये व्याख्यान जानना।

मो.मा.प्र./८/८/४०७/२ करणानुयोगविषैं भी कहीं उपदेशकी मुख्यता लिये व्याख्यान हो है ताकौं सर्वथा तैसैं ही न मानना।

मो.मा.प्र./८/८/४०६/१४ करणानुयोग विषैं तौ यथार्थ पदार्थ जनावनेका मुख्य प्रयोजन है। आचरण करावनेकी मुख्यता नाहीं।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं० टोडरमल—समयसार आदि ग्रन्थ अध्यात्म है और आगमकी चर्चा गोमट्टसार (करणानुयोग) में है।

२. द्रव्यानुयोग व चरणानुयोगमें

मो.मा.प्र./८/१४/४२१/७ (द्रव्यानुयोगके अनुसार) रागादि भाव घटैं बाह्य ऐसैं अनुक्रमतैं श्रावक मुनि धर्म होय। अथवा ऐसै श्रावक मुनि धर्म अंगीकार किये पंचम-षष्ठम आदि गुणस्थाननि विषैं रागादि घटावनेरूप परिणामनिकी प्राप्ति हो है। ऐसा निरूपण चरणानुयोग-विषैं किया।

३. करणानुयोग व चरणानुयोग में

मो.मा.प्र./८/७/४०६/१४ करणानुयोग विषैं तो यथार्थ पदार्थ जनावनेका मुख्य प्रयोजन है। आचरण करावनेकी मुख्यता नाहीं। तातैं यह तौ चरणानुयोगादिककै अनुसार प्रवर्त्तै, तिसतैं जो कार्य होना है सो स्वयमेव ही होय है। जैसे आप कर्मनिका उपशमादि किया चाहे तौ कैसै होय!

४. चारों अनुयोगोंका प्रयोजन

१. प्रथमानुयोगका प्रयोजन

गो.जी./जी.प्र./३६१-३६२/७७३/३ प्रथमानुयोगः प्रथमं मिथ्यादृष्टिम-विरतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः। –प्रथम कहिये मिथ्यादृष्टि अव्रती, विशेष ज्ञान-रहित; ताको उपदेश देने निमित्त जो प्रवृत्त भया अधिकार अनुयोग कहिए सो प्रथमानुयोग कहिए।

मो.मा.प्र./८/२/३६४/११ जे जीव तुच्छ बुद्धि होंय ते भी तिस करि धर्म सन्मुख होये हैं। जातैं वे जीव सूक्ष्म निरूपणको पहिचानैं नाहीं, लौकिक वार्तानिकूं जानैं। तहाँ तिनिका उपयोग लागै। बहुरि प्रथमानुयोगविषैं लौकिक प्रवृत्तिरूप निरूपण होय, ताकौं ते नीकैं समझ जाय।

२. करणानुयोगका प्रयोजन

मो.मा.प्र./८/३/३६५/२० जे जीव धर्म विषैं उपयोग लगाया चाहैं... ऐसे विचारविषैं (अर्थात् करणानुयोग विषय उनका) उपयोग रमि जाय, तब पाप प्रवृत्ति छूट स्वयमेव तत्काल धर्म उपजै है। तिस अभ्यासकरि तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र हो है। बहुरि 'ऐसा सूक्ष्म कथन जिनमत विषैं ही है, अन्यत्र नाहीं, ऐसे महिमा जान जिन-मतका श्रद्धानी हो है। बहुरि जे जीव तत्त्वज्ञानी होय इस करणानु-योगको अभ्यासै हैं, तिनकौ यहु तिसका (तत्त्वनिका) विशेषरूप भासै है।

३. चरणानुयोगका प्रयोजन

मो.मा.प्र./८/४/३६७/७ जे जीव हित-अहितकौ जानैं नाहीं, हिंसादि पाप कार्यनि विषैं तत्पर होय रहे हैं, तिनिको जैसे वे पापकार्यकौं छोड़ धर्मकार्यनिविषैं लागैं, तैसे उपदेश दिया। ताकौं जानि धर्म आचरण करने कौं सन्मुख भये।...ऐसैं साधनतैं कषाय मन्द हो है। ताका फलतैं इतना तौ हो है, जो कुगति विषै दुख न पावैं, अर सुगतिविषैं सुख पावैं।...बहुरि (जो) जीवतत्त्वके ज्ञानी होय करि चरणानुयोगकौ अभ्यासै हैं, तिनकौं ए सर्व आचरण अपने वीतराग-भावके अनुसारी भासै हैं। एकदेश वा सर्व देश वीतरागता भये ऐसी श्रावकदशा ऐसी मुनिदशा हो है।

४. द्रव्यानुयोगका प्रयोजन

मो.मा.प्र/८/५/३६८/४ जे जीवादि द्रव्यनिकौ वा तत्त्वनिकौ पहिचानैं नाहीं; आपापरकौ भिन्न जानैं नाहीं, तिनिकौ हेतु दृष्टान्त युक्तिकरि वा प्रमाणनयादि करि तिनिका स्वरूप ऐसे दिखाया जैसैं याकै प्रतीति होय जाय। उनके भावोंको पहिचाननेका अभ्यास राखै तौ शीघ्र ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होय जाय। बहुरि जिनिकै तत्त्वज्ञान भया होय, ते जीवद्रव्यानुयोग कौं अभ्यासैं। तिनिको अपने श्रद्धानके अनु-सारि सो सर्व कथन प्रतिभासै है।

५. चारों अनुयोगों की कथंचित् मुख्यता गौणता

१. प्रथमानुयोगकी गौणता

मो.मा.प्र/८/६/४०१/१ यहाँ (प्रथमानुयोगमें) उपचाररूप व्यवहार वर्णन किया है, ऐसै याको प्रमाण कीजिये है। याकौं तारतम्य न मानि लेना। तारतम्य करणानुयोग विषैं निरूपण किया है सो जानना। बहुरि प्रथमानुयोगविषैं उपचाररूप कोई धर्मका अंग भये सम्पूर्ण धर्म भया कहिए है।—(जैसे) निश्चय सम्यक्त्वका तौ व्यवहार विषैं उपचार किया, बहुरि व्यवहार सम्यक्त्वके कोई एक अंग विषैं सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार किया, ऐसे उपचार करि सम्यक्त्व भया कहिए है।

२. करणानुयोगकी गौणता

मो. मा. प्र/८/७/४०४/१५ करणानुयोग विषैं...व्यवहार नयकी प्रधा-नता लिये व्याख्यान जानना, जातै व्यवहार बिना विशेष जान सके नाहीं। बहुरि कहीं निश्चय वर्णन भी पाइये है।

मो.मा. प्र/८/७/४०७/२ करणानुयोगविषैं भी कहीं उपदेशकी मुख्यता लिए व्याख्यान हो है, ताकौ सर्वथा तैसै ही न मानना।

मो.मा. प्र/८/७/४०६/२४ करणानुयोग विषैं तौ यथार्थ पदार्थ जनावनैका मुख्य प्रयोजन है, आचरण करावनैंकी मुख्यता नाहीं।

३. चरणानुयोगकी गौणता

मो.मा. प्र/८/८/४०७/१६ चरणानुयोगविषैं जैसे जीवनिकै अपनी बुद्धि-गोचर धर्मका आचरण होय सो उपदेश दिया है। तहाँ धर्म तौ निश्चयरूप मोक्षमार्ग है, सोई है। ताकै साधनादिक उपचारतैं धर्म

है, सो व्यवहारनयकी प्रधानताकरि नाना प्रकार उपचार धर्मके भेदादिकका या विषै निरूपण करिए है।

४. द्रव्यानुयोगकी प्रधानता

मो.मा. प्र/८/१५/४३०/६ मोक्षमार्गका मूल उपदेश तौ तहाँ (द्रव्यानुयोग विषै) ही है।

६. चारों अनुयोगोंका समन्वय

१. प्रथमानुयोगका समन्वय

मो.मा. प्र/८/६/४००/१६ प्रश्न—(प्रथमानुयोगमें) ऐसा झूठा फल दिखावना तो योग्य नाहीं, ऐसे कथनको प्रमाण कैसे कीजिए? उत्तर—जे अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाए बिना धर्म विषै न लागैं, वा पाप तैं न डरैं, तिनिका भला करनेंके अर्थि ऐसे वर्णन करिए है।

मो.मा. प्र/८/१२/४२५/१५ प्रश्न—(प्रथमानुयोग) रागादिका निमित्त होय, सो कथन ही न करना था। उत्तर—सरागी जीवनिका मन केवल वैराग्य कथन विषै लागै नाहीं, तातै जैसे बालकको बतासाकै आश्रय औषध दीजिये, तैसे सरागीकूँ भोगादि कथनकै आश्रय धर्मविषैं रुचि कराईए है।

२. करणानुयोगका समन्वय

मो. मा. प्र/८/१३/४२७/१३ प्रश्न—द्वीप समुद्रादिकके योजनादि निरूपे तिनमें कहा सिद्धि है? उत्तर—तिनिकौं जानै किछू तिनिविषैं इष्ट अनिष्ट बुद्धि न होय, तातैं पूर्वोक्त सिद्धि हो है। प्रश्न—तौ जिसतैं किछू प्रयोजन नाहीं, ऐसा पाषाणादिककौं भी जानै तहाँ इष्ट अनिष्टपनों न मानिए है, सो भी कार्यकारी भया? उत्तर—सरागी जीव रागादि प्रयोजन बिना काहूको जाननेका उद्यम न करै। जो स्वयमेव उनका जानना होय—तो तहाँतै उपयोगको छुड़ाया ही चाहे है। यहाँ उद्यमकरि द्वीप समुद्रादिककौ जानै है, तहाँ उपयोग लगावै है। सो रागादि घटै ऐसा कार्य हो है। बहुरि पाषाणादि विषै लोकका कोई प्रयोजन भास जाय तौ रागादिक होय आवै। अर द्वीपादिकविषैं इस लोक सम्बन्धी कार्य किछू नाहीं, तातैं रागादिका कारण नाहीं।...बहुरि यथावत् रचना जाननें करि भ्रम मिटैं उपयोग की निर्मलता होय, तातैं यह अभ्यासकारी है।

३. चरणानुयोगका समन्वय

प्र. सा./त. प्र./२००/क १२-१३ द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि, द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्। तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं, द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥१२॥ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ। बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥१३॥ =चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है, इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए या तो द्रव्यका आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्गमें आरोहण करो ॥१२॥ द्रव्यकी सिद्धिमें चरणकी सिद्धि है, और चरणकी सिद्धिमें द्रव्यकी सिद्धि है, यह जानकर कर्मोंसे (शुभाशुभ भावों) से अविरत दूसरे भी, द्रव्यसे अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो ॥१३॥

मो. मा. प्र./८/१४/४२८/२० प्रश्न—चरणानुयोगविषैं बाह्यव्रतादि साधनका उपदेश है, सो इनतैं किछू सिद्धि नाहीं। अपने परिणाम निर्मल चाहिए, बाह्य चाहो जैसे प्रवर्त्तौ। उत्तर—आत्म परिणामनिकै और बाह्य प्रवृत्तिकै निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जातैं छद्मस्थकै क्रिया परिणामपूर्वक हो है।—अथवा बाह्य पदार्थनिका आश्रय पाय परिणाम हो सकै हैं। तातैं परिणाम मेटनेकै अर्थ बाह्य वस्तुका निषेध करना समयसारादिविषैं (स. सा/मू/२८५)—कह्या है।—बहुरि जो बाह्यसंयमतैं किछू सिद्धि न होय तौ सर्वार्थसिद्धिके वासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी तिनिकै तो चौथा गुणस्थान होय अर गृहस्थ श्रावक मनुष्यके पंचम गुणस्थान होय, सो कारण कहा? बहुरि तीर्थंकरादि गृहस्थ पद छोड़ि काहेकौं संयम ग्रहैं।

४. द्रव्यानुयोगका समन्वय

मो.मा. प्र/८/१५/४२६/११ प्रश्न—द्रव्यानुयोगविषैं व्रत-संयमादि व्यवहारधर्मका हीनपना प्रगट किया है।...इत्यादि कथन सुन जीव हैं सो स्वच्छन्द होय पुण्य छोड़ि पापविषैं प्रवर्त्तैंगे, तातैं इनका बांचना सुनना युक्त नाहीं। उत्तर—जैसे गर्दभ मिश्री खाए मरै, तौ मनुष्य तौ मिश्री खाना न छाड़े। तैसे विपरीतबुद्धि अध्यात्म ग्रन्थ सुनि स्वच्छन्द होय तौ विवेकी तौ अध्यात्मग्रन्थनिका अभ्यास न छोड़ैं। इतना करै जाकौ स्वच्छन्द होता जानै, ताकौं जैसे वह स्वच्छन्द न होय, तैसे उपदेश दें। बहुरि अध्यात्म ग्रन्थनिविषैं भी जहाँ तहाँ स्वच्छन्द होनेका निषेध कीजिये है।...बहुरि जो झूठा दोषकी कल्पनाकरि अध्यात्म शास्त्रका बांचना-सुनना निषेधिये तौ मोक्षमार्गका मूल उपदेश तो तहाँ ही है। ताका निषेध किये मोक्षमार्गका निषेध होय।

२. अनुयोगद्वारोंके भेद व लक्षण

१. अनुयोगद्वार सामान्यका लक्षण

क. पा. ३/३-२२/§७/३ किमणिओगद्दारं णाम। अहियारो भण्णमाणत्थस्स अवगमोवाओ। =अनुयोगद्वार किसे कहते हैं? कहे जानेवाले अर्थके जाननेके उपायभूत अधिकारको अनुयोगद्वार कहते हैं।

ध. १/१,१,५/१००-१०१/१५३/८ अनियोगो नियोगो भाषा विभाषा वार्त्तिकेत्यर्थः। उक्तं च—अणियोगो य णियोगो भास विभासा य वट्टिया चेय। एदे अणिओअस्स दु णामा एयट्ठआ पंच ॥१००॥ सूई मुद्दा पडिहो संभवदल-वट्टिया चेय। अणियोगनिरुत्तीए दिट्ठंता होंति पंचेय ॥१०१॥ =अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्त्तिक ये पाँचों पर्यायवाची नाम हैं। कहा भी है—अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पाँच अनुयोग के एकार्थवाची नाम जानने चाहिए ॥१००॥ अनुयोगकी निरुक्तिमें सूची, मुद्रा, प्रतिघ, संभवदल और वार्त्तिका ये पाँच दृष्टान्त होते हैं। **विशेषार्थ**—लकड़ीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिए पहिले लकड़ीके निरुपयोगी भागको निकालनेके लिए उसके ऊपर एक रेखामें जो डोरा डाला जाता है, वह सूचीकर्म है। अनन्तर उस डोरासे लकड़ीके ऊपर जो चिह्न कर दिया जाता है वह मुद्रा कर्म है। इसके बाद उसके निरुपयोगी भागको छाँटकर निकाल दिया जाता है। इसे ही प्रतिघ या प्रतिघात कर्म कहते हैं। फिर इस लकड़ीके आवश्यकतानुसार जो भाग कर लिये जाते हैं वह सम्भवदलकर्म है। और अन्तमें वस्तु तैयार करके उसपर पालिश आदि कर दी जाती है, वही वार्त्तिका कर्म है। इस तरह इन पाँच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसी प्रकार अनुयोग शब्दसे भी आगमानुकूल सम्पूर्ण अर्थका ग्रहण होता है। नियोग, भाषा, विभाषा और वार्त्तिक ये चारों अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर विशद करते हैं, अतएव वे अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं। (ध./४,१,५४/१२२-१२३/२६०)

द्र. सं./टी /४२/१८३/२ अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः। =अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद, प्रकरण, इत्यादिक सब शब्द एकार्थवाची हैं।

२. अनुयोगद्वारोंके भेद-प्रभेदोंके नाम निर्देश

१. उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार

स. म./२८/३०६/२२ चत्वारि हि प्रवचनानुयोगमहानगरस्य द्वाराणि उपक्रमः निक्षेपः अनुगमः नयश्चेति। =प्रवचन अनुयोगरूपी महानगरके चार द्वार हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। (इनके प्रभेद व लक्षण—दे० वह-वह नाम)

२. निर्देश, स्वामित्व आदि छः अनुयोगद्वार

त.सू./१/७ निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥ =निर्देश, स्वामित्व, साधना (कारण), अधिकरण (आधार), स्थिति (काल), तथा विधान (प्रकार)—ऐसे छः प्रकारसे सात तत्त्वोंको जाना जाता है। (लघीयस्त्रय पृ० १५)

ध. १/१,१,१/१८/३४ किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो त्ति। छहि अणिओगद्दारेहि सव्वभावाणुगंतव्वा ॥१८॥ =पदार्थ क्या है (निर्देश), किसका है (स्वामित्व), किसके द्वारा होता है (साधन), कहाँपर होता है (अधिकरण), कितने समय तक रहता है (स्थिति), कितने प्रकारका है (विधान), इस प्रकार इन छह अनुयोगद्वारोंसे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिए।

३. सत् संख्यादि ८ अनुयोगद्वार तथा उनके भेद-प्रभेद
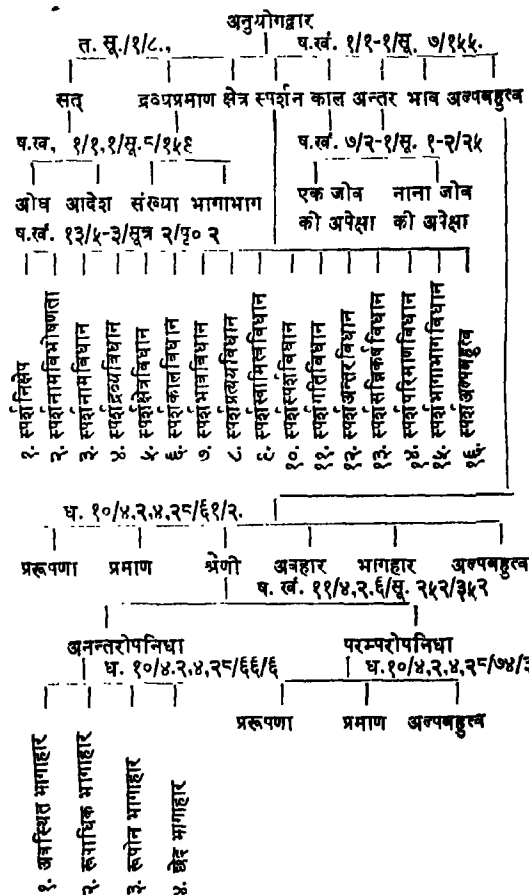
४. पदमीमांसादि अनुयोगद्वार निर्देश

ष. खं. १०/४,२,४/सू. १/१८ वेयणादव्वविहाणे त्ति तत्थ इमाणि तिण्णि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति—पदमीमांसा सामित्तमप्पाबहुए त्ति ॥१॥ —अब वेदना द्रव्य विधानका प्रकरण है। उसमें पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व, ये तीन अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं ॥१॥

ध. १०/४,२,४,१/१८/५ तत्थ पदं दुविहं—ववत्थापदं भेदपदमिदि।

ध. १०/४,२,४,१/१६/२ एत्थभेदपदेन उक्कस्सादिसरूवेण अहियारो। उक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्ण-सादि-अणादि-धुव-अद्धुव-ओज-जुम्म-ओम-विसिट्ठ-णोमणोविसिट्ठपदभेदेण एत्थतेरस पदाणि।

ध. १०/४,२,४,१/गा. २/१६ पदमीमांसा संखा गुणयारो चउत्थयं च सामित्तं। ओजो अप्पाबहुगं ठाणाणि य जीवसमुहारो।

—पद दो प्रकारका है—व्यवस्थापद और भेदपद। यहाँ उत्कृष्टादि भेदपदका अधिकार है। उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोओम-नोविशिष्ट पदके भेदसे यहाँ तेरह पद हैं।—पदमीमांसा, संख्या, गुणकार, चौथा स्वामित्व, ओज, अल्पबहुत्व, स्थान और जीव समुदाहार, ये आठ अनुयोगद्वार हैं।

३. अनुयोगद्वार निर्देश

१. सत्-संख्यादि अनुयोगद्वारोंके क्रमका कारण

ध. १/१,१,७/१५५-१५८/७ संताणियोगो सेसाणियोगद्दाराणं जेण जोणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेव भण्णदे।...णिय-संखा-गुणिदोगाहणखेत्तं खेत्तं उच्चदे दि। एदं चेव अदीद-फुसणेण सह फोसण उच्चदे। तदो दो वि अहियारा संखा-जोणिणो। णाणेग-जीवे अस्सिऊण उच्चमाण-कालंतर-परूवणा वि संखा-जोणी। इदं थोवमिदं च बहुवमिदि भण्णमाण-अप्पाबहुगं पि संखा-जोणी। तेण एदाणमाइम्हि दव्वपमाणाणुगमो भणण-जोग्गो।...भावो...तस्स बहुवण्णादो।...अवगय-वट्टमाण फासो सुहेण दो वि पच्छा जाणदु त्ति पोसणपरूवणादो होदु णाम पुव्वं खेत्तस्स परूवणा,...अणवगयखेत्त-फोसणस्स तक्कालंतर-जाणणुवायाभावादो।...तहा भावप्पाबहुगाणं पि परूवणा खेत्त-फोसणाणुगममंतरेण ण तव्विसया होंति त्ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परूवणा कायव्वा।...ण ताव अंतरपरूवणा एत्थ भणण-जोग्गा कालजोणित्तादो। ण भावो वि तस्स तदो हेट्ठिम-अहियार-जोणित्तादो। ण अप्पाबहुगं पि तस्स वि सेसाणियोग-जोणित्तादो। परिसेसादो कालो चेव तत्थ परूवणा-जोगो त्ति। भावप्पाबहुगाणं जोणित्तादो पुव्वमेवंतरपरूवणा उत्ता अप्पाबहुग-जोणित्तादो पुव्वमेव भावपरूवणा उच्चदे। =सत्प्ररूपणारूप अनुयोगद्वार जिस कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत है, उसी कारण सबसे पहिले सत्प्ररूपणाका ही निरूपण किया है ॥पृ० १५५॥ अपनी-अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते हैं। इसी प्रकार अतीतकालीन स्पर्शके साथ स्पर्शनानुगम कहा जाता है। इसलिए इन दोनों ही अधिकारोंका संख्याधिकार योनिभूत है। उसी प्रकार नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली काल प्ररूपणा और अन्तर प्ररूपणाका भी संख्याधिकार योनिभूत है। तथा यह अल्प है और यह बहुत है इस प्रकार कहे जाने वाले अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी संख्याधिकार योनिभूत है। इसलिए इन सबके आदिमें द्रव्यप्रमाणानुगम या संख्यानुयोगद्वारका ही कथन करना चाहिए। बहुत विषयवाला होनेके कारण भाव प्ररूपणाका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ॥पृ० १५६॥ जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लिया है, वह अनन्तर सरलतापूर्वक अतीत व वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिए स्पर्शनप्ररूपणासे पहिले क्षेत्रप्ररूपणाका कथन रहा आवे। जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है, उसे तत्सम्बन्धी काल और अन्तरको जाननेका कोई भी उपाय नहीं हो सकता है। उसी प्रकार भाव और अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शनानुगमके बिना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती। इसलिए

इन सबके पहिले ही क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिए ॥पृ० १५७॥ यहाँपर अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि अन्तरप्ररूपणाकी योनिभूत कालप्ररूपणा है। स्पर्शनप्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कालप्ररूपणासे नीचेका अधिकार भावप्ररूपणाका योनिभूत है। उसी प्रकार स्पर्शनप्ररूपणाके बाद अल्पबहुत्वका भी कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शेषानुयोग (भावानुयोग) अल्पबहुत्व-प्ररूपणाका योनिभूत है। तब परिशेषन्यायसे वहाँपर काल ही प्ररू-पणाके योग्य है, यह बात सिद्ध हो जाती है ॥पृ० १५७॥ भाव प्ररू, पणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणाकी योनिभूत होनेसे इन दोनोंके पहिले ही अन्तर प्ररूपणाका उल्लेख किया गया है। तथा अल्पबहुत्वकी योनि होनेसे इसके पीछे ही भावप्ररूपणाका कथन किया है ॥पृ० १५८॥ (रा. वा./१/८/२-६/४१)

२. अनुयोगद्वारोंमें परस्पर अन्तर

१. काल अन्तर व भंग विचयमें अन्तर

ध. ७/२,१,२/२७/१० णाणाजीवेहि काल-भंगविचयाणं को विसेसो। ण, णाणाजीवेहि भंगविचयस्स मग्गणाणं विच्छेदाविच्छेदत्थित्त-परूवयस्स मग्गणकालंतरेहि सह एयत्तविरोहादो। = प्रश्न—नाना जीवोंकी अपेक्षा काल और नाना जीवोंका अपेक्षा भंग विचय इन दोनोंमें क्या भेद है? उत्तर—नहीं, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय नामक अनुयोगद्वार मार्गणाओंके विच्छेद और विच्छेदके अस्तित्वका प्ररूपक है। अतः उसका मार्गणाओंके काल और अन्तर बतलानेवाले अनुयोगद्वारोंके साथ एकत्व माननेमें विरोध आता है।

२. उत्कृष्ट विभक्ति सर्वस्थिति अद्धाच्छेदमें अन्तर

क.पा.३/३-२२/§२०/१४/१२ सव्वट्ठिदीए अद्धाछेदम्मि भणिदउक्कस्सट्ठिदीए च को भेदो। वुच्चदे—चरिमणिसेयस्स जो कालो सो उक्कस्सअद्धाछेदम्मि भणिदउक्कस्सट्ठिदी णाम। तत्थतणसव्वणिसेयाणं समूहो सव्वट्ठिदी णाम। तेण दोण्हमत्थि भेदो। उक्कस्सविहत्तीए उक्कस्सअद्धाछेदस्स च को भेदो। वुच्चदे—चरिमणिसेयस्स कालो उक्कस्सअद्धाच्छेदो णाम। उक्कस्सट्ठिदीविहत्ती पुण सव्वणिसेयाणं सव्वणिसेयपदेसाणं वा कालो। तेण एदेसिं पि अत्थि भेदो। = प्रश्न—सर्वस्थिति और अद्धाच्छेदमें कही गयी उत्कृष्ट स्थितिमें क्या भेद है? उत्तर—अन्तिम निषेकका जो काल है वह उत्कृष्ट अद्धाच्छेदमें कही गयी उत्कृष्ट स्थिति है। तथा वहाँपर रहनेवाले सम्पूर्ण निषेकोंका जो समूह है वह सर्व स्थिति है, इसलिए इन दोनोंमें भेद है। प्रश्न—उत्कृष्ट विभक्ति व उत्कृष्ट अद्धाच्छेदमें क्या भेद है? उत्तर—अन्तिम निषेकके कालको उत्कृष्ट अद्धाच्छेद कहते हैं, और समस्त निषेकोंके या समस्त निषेकोंके प्रदेशोंके कालको उत्कृष्ट स्थिति विभक्ति कहते हैं, इसलिए इन दोनोंमें भेद है।

३. उत्कृष्ट विभक्ति व सर्वस्थितिमें अन्तर

क.पा.३/३-२२/§२०/१५/५ एवं संते सव्वुक्कस्सविहत्तीणं णत्थि भेदो त्ति णासंकणिज्जं। ताणं पि णयविसेसवसेण कथंचि भेदुवलंभादो। तं जहा-समुदायपहाणा उक्कस्सविहत्ती। अवयवपहाणा सव्वविहत्ति त्ति। —ऐसा (उपरोक्त शंकाका समाधान) होते हुए सर्वविभक्ति और उत्कृष्ट विभक्ति इन दोनोंमें भेद नहीं है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, नय विशेषकी अपेक्षा उन दोनोंमें भी कथंचित् भेद पाया जाता है। वह इस प्रकार है—उत्कृष्टविभक्ति समुदायप्रधान होती है, और सर्वविभक्ति अवयवप्रधान होती है।

३. अनुयोगद्वारोंका परस्पर अन्तर्भाव

क.पा.२/२-२२/§११/८१/५ कमणियोगद्दारं कम्मिसंगहियं। वुच्चदे, समुक्कित्तणा ताव पुध ण वत्तव्वा सामित्तादिअणियोगद्दारेहि चेव एदेसिपयडीणमत्थित्तसिद्धीदो अवगयत्थपरूवणाए फलाभावादो। सव्वविहत्ती णोसव्वविहत्ती उक्कस्सविहत्ती अणुक्कस्सविहत्ती जहण्ण-विहत्ती अजहण्णविहत्तीओ च ण वत्तव्वाओ, सामित्त-सण्णियासादि-अणिओगद्दारेसु भण्णमाणेसु अवगयपयडिसंखस्स सिस्सस्स उक्कस्साणुक्कस्सजहण्णाजहण्णपयडिसंखाविसयपडिबोहुप्पत्तीदो। सादि-अणादि-धुव-अद्धुव अहियारा वि ण वत्तव्वा कालंतरेसु परूविज्जमाणेसु तदवगमुप्पत्तीदो। भागाभागो ण वत्तव्वो; अवगयअप्पाबहुग (स्स) संखविसयपडिबोहुप्पत्तीदो। भावो वि ण वत्तव्वो; उवदेसेण विणा वि मोहोदएण मोहपयडिविहत्तीए संभवो होदि त्ति अवगमुप्पत्तीदो। एवं संगहियसेसतेरसअत्थाहियारत्तादो एक्कारसअणिओगद्दारपरूवणा चउवीसअणियोगद्दारपरूवणाए सह ण विरुज्झदे। = अब किस अनुयोगद्वारका किस अनुयोगद्वारमें संग्रह किया है इसका कथन करते हैं। यद्यपि समुत्कोर्तना अनुयोगद्वारमें प्रकृतियोंका अस्तित्व बतलाया जाता है तो भी उसे अलग नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वामित्वादि अनुयोगोंके कथनके द्वारा प्रत्येक प्रकृतिका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है अतः जाने हुए अर्थका कथन करनेमें कोई फल नहीं है। तथा सर्व विभक्ति, नोसर्व विभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति, जघन्य विभक्ति और अजघन्य विभक्तिका भी अलगसे कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वामित्व, सन्निकर्ष आदि अनुयोगद्वारोंके कथनसे जिस शिष्यने प्रकृतियोंकी संख्याका ज्ञान कर लिया है उसे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, तथा जघन्य और अजघन्य प्रकृतियोंकी संख्याका ज्ञान हो ही जाता है। तथा सादि, अनादि, ध्रुव, और अध्रुव अधिकारोंका पृथक् कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि काल और अन्तर अनुयोग द्वारोंके कथन करनेपर उनका ज्ञान हो जाता है। तथा भागाभाग अनुयोगद्वारका भी पृथक् कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसे अल्पबहुत्वका ज्ञान हो गया है उसे भागाभागका ज्ञान हो ही जाता है। उसी प्रकार भाव अनुयोगद्वारका भी पृथक् कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि, मोहके उदयसे मोहप्रकृतिविभक्ति होती है, ये बात उपदेशके बिना भी ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार शेष तेरह अनुयोग-द्वार ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें ही संग्रहीत हो जाते हैं। अतः ग्यारह अनुयोगद्वारोंका कथन चौबीस अनुयोगद्वारोंके कथनके साथ विरोध-को नहीं प्राप्त होता।

४. ओघ और आदेश प्ररूपणाओंका विषय

रा.वा.हिं./१/८/६८ सामान्य करि तो गुणस्थान विषैं कहिये और विशेष करि मार्गणा विषैं कहिए।

५. प्ररूपणाओं या अनुयोगोंका प्रयोजन

ध.२/१,१/४१५/२ प्ररूपणायां किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते, सूत्रेण सूचितार्थानां स्पष्टीकरणार्थं विंशतिविधानेन प्ररूपणोच्यते। = प्रश्न—प्ररूपणा करनेमें क्या प्रयोजन है? उत्तर—सूत्रके द्वारा सूचित पदार्थोंके स्पष्टीकरण करनेके लिए बीस प्रकारसे प्ररूपणा कही जाती है।

अनुयोगसमास—श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान II।

अनुयोगी—(यह शब्द नैयायिक व वैशेषिक दर्शनकार आधार व आश्रयके अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। द्रव्य अपने गुणोंका अनुयोगी है, परन्तु गुण अपने द्रव्यका नहीं, क्योंकि द्रव्य ही गुणका आश्रय है, गुण द्रव्यका नहीं)।

अनुराग—दे० राग।

अनुराधा—एक नक्षत्र। दे० नक्षत्र।

अनुलोम—(पं.ध./पू./२८८/भाषाकार) सामान्यकी मुख्यता तथा विशेषकी गौणता करनेसे जो अस्तिनास्तिरूप वस्तु प्रतिपादित होती है, उसको अनुलोमक्रम कहते हैं।

अनुवाद—ध.१/१.१.२४/२०१/४ गतिरुक्तलक्षणा, तस्याः वदनं वादः। प्रसिद्धस्याचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पश्चात् वादोऽनुवादः। =गतिका लक्षण पहिले कह आये हैं। उसके कथन करनेको वाद कहते हैं। आचार्य परम्परासे आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है।

ध.१/१,१,१११/३४६/३ तथोपदिष्टमेवानुवदनमनुवादः।···प्रसिद्धस्य कथनमनुवादः। =जिस प्रकार उपदेश दिया है, उसी प्रकार कथन करनेको अनुवाद कहते हैं।···अथवा प्रसिद्ध अर्थके अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं।

अनुवीचिभाषण—रा.वा./७/५/१/५३६/१२ अनुवीचिभाषणं अनुलोमभाषणमित्यर्थः। =अनुवीचिभाषण अर्थात् विचारपूर्वक बोलना (चा.स./९३/३)।

चा.पा./टी./४६/११ वीची वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सोऽनुवीचिभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचिभाषा पूर्वाचार्यसूत्रपरिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीयमित्यर्थः। =वीची वाग्लहरीको कहते हैं उसका अनुसरण करके जो भाषा बोली जाती है सो अनुवीचीभाषण है। जिनसूत्रकी अनुसारिणीभाषा अनुवीची भाषा है। पूर्वाचार्यकृत सूत्रकी परिपाटीको उल्लंघन न करके बोलना, ऐसा अर्थ है।

अनुवृत्ति—स.सि.१/३३/१४०/६ द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। =द्रव्यका अर्थ सामान्य उत्सर्ग और अनुवृत्ति है।

स्या.मं./४/१६/२ एकाकारप्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः। =एक नामसे जाननेवाली प्रतीतिको अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं। किसी धर्मकी विधिरूपसे वृत्ति या अनुस्यूतिको अनुवृत्ति कहते हैं। जैसे घटमें घटत्वकी अनुवृत्ति है। (न्या. दी./३/§७६)।

अनुशिष्ट—भ.आ./वि./६८/१९६/४ अणुसिट्ठि सूत्रानुसारेण शासनम्। =अनुशिष्ट अर्थात् आगमके अविरुद्ध उपदेश करना।

अनुश्रेणी—ज.प./प्र १०५ Along a world line अर्थात् एक प्रदेश, पंक्ति।

अनुश्रेणीगति—दे० विग्रह गति।

अनुसमयापवर्तना—१. काण्डकघात व अनुसमयापवर्तनामें अन्तर दे० अपकर्षण/४।

अनुस्मरण—रा. वा/१/१२/११/५५/१६ पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम् =पूर्वकी अनुभूतियोंके अनुसार विकल्प करना अनुस्मरण है।

अनृत—दे० सत्य।

अनेक—१. द्रव्यमें एक अनेक धर्म (दे० अनेकान्त/४)। २. षट्द्रव्योंमें एक अनेक विभाग (दे० द्रव्य/३)

अनेकत्व—न. च. वृ/६२/६५ अणेक्करूवा हु विविहभावत्था /६२/··· अणेक्कं···पज्जयदो/६५/ =अनेक रूप अर्थात् विविध भावों या पर्यायोंमें स्थित/६२/द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा अनेक है।

आ.प./६/गुणपर्यायाधिकार "एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेकस्वभावः। =एक द्रव्यके अनेक स्वभावकी उपलब्धि होनेके कारण वह अनेक स्वभाववाला है।

स.सा/आ/परि०/शक्ति नं० ३२ एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः। =एक द्रव्यसे व्याप्य (व्यापने योग्य) अनेक पर्यायमयपनारूप अनेकत्व शक्ति है।

अनेकान्त—वस्तुमें एक ही समय अनेकों क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती *विरोधी धर्मों गुणों, स्वभावों व पर्यायोंके रूपमें—भली प्रकार* प्रतीतिके विषय बन रहे हैं। जो वस्तु किसी एक दृष्टिसे नित्य प्रतीत होती है वही किसी अन्य दृष्टिसे अनित्य प्रतीत होती है, जैसे व्यक्ति वह का वह रहते हुए भी बालकसे बूढ़ा और गँवारसे साहब बन जाता है। यद्यपि विरोधी धर्मोंका एक ही आधारमें रहना साधारण जनोंको स्वीकार नहीं हो सकता पर विशेष विचारकजन दृष्टिभेदकी अपेक्षाओंको मुख्य गौण करके विरोधमें भी अविरोधका विचित्र दर्शन कर सकते हैं। इसी विषयका इस अधिकारमें कथन किया गया है।

१. भेद व लक्षण

१. अनेकान्त सामान्यका लक्षण

ध.१५/२५/१ को अणेयंतो णाम। जच्चंतरत्तं।" =अनेकान्त किसको कहते हैं? जात्यन्तरभावको अनेकान्त कहते हैं (अर्थात् अनेक धर्मों या स्वादोंके एकरसात्मक मिश्रणसे जो जात्यन्तरपना या स्वाद उत्पन्न होता है, वही अनेकान्त शब्दका वाच्य है)।

स. सा./आ./परि० "यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः। =जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है। (और भी देखो आगे सम्यगेकान्तका लक्षण)

न. दी./३/§७६ अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्याया गुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः। =जिसके सामान्य विशेष पर्याय व गुणरूप अनेक अन्त या धर्म हैं, वह अनेकान्त रूप सिद्ध होता है। (स.भ.त./३०/२)

२. अनेकान्तके दो भेद—सम्यक् व मिथ्या

रा. वा./१/६/७/३५/२३ अनेकान्तोऽपि द्विविधः—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। =अनेकान्त भी दो प्रकारका है—सम्यगनेकान्त व मिथ्या अनेकान्त। (स.भ.त./७३/१०)

३. सम्यक् व मिथ्या अनेकान्तके लक्षण

१. सम्यगनेकान्तका लक्षण

रा. वा./१/६/७/३५/३६ एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः। =युक्ति व आगमसे अविरुद्ध एक ही स्थानपर प्रतिपक्षी अनेक धर्मोंके स्वरूपका निरूपण करना सम्यगनेकान्त है। (स.भ.त./७४/२)

२. मिथ्या अनेकान्तका लक्षण

रा. वा./१/६/७/३५/२७ तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्तः। =तत् व अतत् स्वभाववस्तुसे शून्य केवल वचन विलास रूप परिकल्पित अनेक धर्मात्मक मिथ्या अनेकान्त है। (स.भ.त./७४/३)

४. क्रम व अक्रम अनेकान्तके लक्षण

प्र. सा./ता. वृ./१४१/२००/६ तिर्यक्प्रचयाः तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते।...ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते। =तिर्यक्प्रचय, तिर्यक् सामान्य, विस्तार सामान्य और अक्रमानेकान्त यह सब शब्द तिर्यक् प्रचयके नाम हैं। और इसी प्रकार, ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्वसामान्य, आयतसामान्य तथा क्रमानेकान्त ये सब शब्द ऊर्ध्व प्रचयके वाचक हैं। (अर्थात् वस्तुका गुणसमूह अक्रमानेकान्त है, क्योंकि गुणोंकी वस्तुमें युगपत् वृत्ति है और पर्यायोंका समूह क्रमानेकान्त है, क्योंकि पर्यायोंकी वस्तुमें क्रमसे वृत्ति है।

२. अनेकान्त निर्देश

१. अनेकान्त छल नहीं है

रा.वा./१/६/८/३६/१ स्यान्मतम्—'तदेवास्ति तदेव नास्ति तदेव नित्यं तदेवानित्यम्' इति चानेकान्तप्ररूपणं छलमात्रमिति; तन्न; कुतः। छललक्षणाभावात्। छलस्य हि लक्षणमुक्तम्—"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् यथा नवकम्बलोऽयम् इत्यविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनम् नवास्य कम्बला न चत्वारः इति, नवो वास्य कम्बलो न पुराणः" इति नवकम्बलः। न तथानेकान्तवादः। *यत उभयनयगुणप्रधानभावापादितार्पितानर्पितव्यवहारसिद्धिविशेषबललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थः अनेकान्तवादः।* =प्रश्न—'वही वस्तु है और वही वस्तु नहीं है, वही वस्तु नित्य है और वही वस्तु अनित्य है' इस प्रकार अनेकान्तका प्ररूपण छल मात्र है? =उत्तर—अनेकान्त छल रूप नहीं है, क्योंकि, जहाँ वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करके वचन विघात किया जाता है, वहाँ छल होता है। जैसे 'नवकम्बलो देवदत्तः' यहाँ 'नव' शब्दके दो अर्थ होते हैं। एक ९ संख्या और दूसरा नया। तो 'नूतन' विवक्षा कहे गये 'नव' शब्दका ९ संख्या रूप अर्थविकल्प करके वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना छल कही जाती है। किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षासे सम्भव अनेक धर्मोंका सुनिर्णीत रूपसे प्रतिपादन करनेवाला अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता, क्योंकि, इसमें वचनविघात नहीं किया गया है, अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्वका निरूपण किया गया है। (स.भ.त./७९/१०)

२. अनेकान्त संशयवाद नहीं

रा.वा./१/६/९-१२/३६/८ स्यान्मतम्—संशयहेतुरनेकान्तवादः। कथम्। एकत्राधारे विरोधिनोऽनेकस्यासम्भवात्।...तन्न; कस्मात्। विशेषलक्षणोपलब्धेः। इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः।...न च तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुलब्धिः, यतः स्वरूपाद्यादेशवशीकृता विशेषा उक्ता वक्तव्याः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। ततो विशेषोपलब्धेर्न संशयहेतुः ॥९॥ विरोधाभावात् संशयाभावः ॥१०॥...उक्तादर्पणाभेदाद् एकत्राविरोधेनावरोधो धर्माणां पितापुत्रादिसंबन्धवत् ॥११॥ सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मवद्वा ॥ १२ ॥ =प्रश्न—अनेकान्तसंशयका हेतु है, क्योंकि एक आधारमें अनेक

विरोधी धर्मोंका रहना असम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँ विशेष लक्षणकी उपलब्धि होती है।...सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेसे विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्मरण होनेपर संशय होता है। जैसे धुँधली रात्रिमें स्थाणु और पुरुषगत ऊँचाई आदि सामान्य धर्मकी प्रत्यक्षता होनेपर, स्थाणुगत पक्षी-निवास व कोटर तथा पुरुषगत सिर खुजाना कपड़ा हिलना आदि विशेष धर्मके न दिखनेपर किन्तु उन विशेषोंका स्मरण रहनेपर ज्ञान दो कोटिमें दोलित हो जाता है, कि यह स्थाणु है या पुरुष। इसे संशय कहते हैं। किन्तु इस भाँति अनेकान्तवादमें विशेषोंकी अनुपलब्धि नहीं है। क्योंकि स्वरूपादिकी अपेक्षा करके कहे गये और कहे जाने योग्य सर्व विशेषोंकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। इसलिए अनेकान्त संशयका हेतु नहीं है।।६।। इन धर्मोंमें परस्पर विरोध नहीं है, इसलिए भी संशयका अभाव है।१०। पिता-पुत्रादि सम्बन्धवत् मुख्यगौण विवक्षासे अविरोध सिद्ध है (देखो आगे अनेकान्त/५) ।११। तथा जिस प्रकार वादी या प्रतिवादीके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्षकी अपेक्षा साधक और परपक्षकी अपेक्षा दूषक होता है, उसी प्रकार एक ही वस्तुमें विविध अपेक्षाओंसे सत्त्व-असत्त्वादि विविध धर्म रह सकते हैं, इसलिए भी विरोध नहीं है।१२। (स. भ. त./८१-६३। आठ दोषोंका निराकरण)

३. अनेकान्तके बिना वस्तु ही सिद्ध नहीं होती

स्व. स्तो./२२-२५ अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्। मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ।।२२।। न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्। नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ।।२४।। विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ, विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था। =वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेद-अभेद ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एक रूप है। भेद ज्ञानसे अनेक और अभेद ज्ञानसे एक है। ऐसा भेदाभेद ग्राहक ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमें-से एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है, क्योंकि दोनों धर्मोंमें-से एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। दोनोंका अभाव हो जानेपर वस्तुतत्त्व अनुपाख्य अर्थात् निःस्वभाव हो जाता है ।।२१।। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती, और न उसमें क्रियाकारककी ही योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता किन्तु अन्धकार रूप पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ।।२४।। वास्तवमें विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं। विवक्षा वश उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है ।।२५।। (स्व.स्तो./४२-४४; ६२-६५), (पं. ध/पू./४१८-४३३)

ध.१/१,१,११/१६७/२ नात्मनोऽनेकान्तत्वमसिद्धमनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थ-कारित्वानुपपत्तेः। =आत्माका अनेकान्तपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि अनेकान्तके बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता। (श्लो. वा. १/१,१,१२७/५६७)

४. किसी न किसी रूपमें सब अनेकान्त स्वीकार करते हैं

रा.वा./१/६/१४/३७ नात्र प्रतिवादिनो विसंवदन्ते एकमनेकात्मकमिति। केचित्तावदाहुः—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्' इति। तेषां प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावानां प्रधानात्मना मिथश्च न विरोधः। अथ मन्येथाः 'न प्रधानं नामैकं गुणेभ्योऽर्थान्तर-भूतमस्ति, किन्तु त एव गुणाः साम्यापन्नाः प्रधानाख्यं लभन्ते इति। यद्येवं भूमा प्रधानस्य स्यात्। स्यादेतत्—तेषां समुदयः प्रधानमेक-मिति; अतएवाविरोधः सिद्धः गुणानामवयवानां समुदायस्य च। अपरे मन्यन्ते—'अनुवृत्तिविनिवृत्तिबुद्ध्यभिधानलक्षणः सामान्य-विशेषः' इति। तेषां च सामान्यमेव विशेषः सामान्यविशेषः इत्येक-स्यात्मन उभयात्मकं न विरुध्यते। अपरे आहुः—'वर्णादिपरमाणु-समुदयो रूपपरमाणुः' इति। तेषां कक्खटत्वादिभिन्नलक्षणानां रूपात्मना मिथश्च न विरोधः। अथ मतम् 'न परमाणुर्नामैकोऽस्ति बाह्यः, किन्तु विज्ञानमेव तदाकारपरिणतं परमाणुव्यपदेशार्हम् इत्युच्यते; अत्रापि ग्राहकविषयाभाससंवित्तिशक्तित्रयाकाराधि-करणस्यैकस्याभ्युपगमाच्च विरोधः। किं सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तर-कालभावावस्था विशेषार्पणाभेदादेकस्य कार्यकारणशक्तिसमन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्यविरोधसिद्धिः। ='एक वस्तु अनेक धर्मात्मक है' इसमें किसी वादीको विवाद भी नहीं है। यथा सांख्य लोग सत्त्व रज और तम इन भिन्नस्वभाववाले धर्मोंका आधार एक प्रधान मानते हैं। उनके मतमें प्रसाद, लाघव, शोषण, अपवरण, सादन आदि भिन्न-भिन्न गुणोंका प्रधानसे अथवा परस्परमें विरोध नहीं है। वह प्रधान नामक वस्तु उन गुणोंसे पृथक् ही कुछ हो सो भी नहीं है, किन्तु वे ही गुण साम्यावस्थाको प्राप्त करके 'प्रधान' संज्ञाको प्राप्त होते हैं। और यदि ऐसे हों तो प्रधान भूमा (व्यापक) सिद्ध होता है। यदि यहाँ यह कहो कि उनका समुदाय प्रधान एक है तो स्वयं ही गुणरूप अवयवोंके समुदायमें अविरोध सिद्ध हो जाता है। वैशेषिक जन पृथिवीत्व आदि सामान्य विशेष स्वीकार करते हैं। एक ही पृथिवी स्वव्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यात्मक होकर भी जलादिसे व्यावृत्ति करानेके कारण विशेष कहा जाता है। उनके यहाँ 'सामान्य ही विशेष है' इस प्रकार पृथिवीत्व आदिको सामान्यविशेष माना गया है। अतः उनके यहाँ भी एक आत्माके उभयात्मकपन विरोधको प्राप्त नहीं होता। बौद्ध जन कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओंके समुदायको एकरूप स्वलक्षण मानते हैं। इनके मतमें भी विभिन्न परमाणुओंमें रूपकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं है। विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध एक ही विज्ञानको ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही हैं। सभी वादी पूर्वावस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं, अतः एक ही पदार्थमें अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी दृष्टिसे कारण-कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता है। उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंके आधार सिद्ध होते हैं। (गीता/१३/१४-१६) (ईशोपनिषद्/८)

५. अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है

स्व. स्तो./१०३ ननु भगवन्मते येन रूपेण जीवादि वस्तु नित्यादिस्वभावं तेन किं कथंचित्तथा सर्वथा वा। यदि सर्वथा तदेकान्तप्रसङ्गादनेकान्तक्षतिः, अथ कथंचित्तदानवस्थेत्याशङ्क्याह—अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्। =प्रश्न—भगवान्‌के मतमें जीवादि वस्तुका जिस रूपसे नित्यादि स्वभाव बताया है, वह कथंचित् रूपसे है या सर्वथा रूपसे। यदि सर्वथा रूपसे है तब तो एकान्तका प्रसंग आनेके कारण अनेकान्तकी क्षति होती है, और यदि कथंचित् रूपसे है तो अनवस्था दोष आता है। इसी आशंकाके उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं। उत्तर—आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनोंको लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है। प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप सिद्ध होता है।

रा. वा./१/६/७/३५/२८ नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्; प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्। =एक अंगका निश्चय करानेवाला होनेके कारण नयकी मुख्यतासे एकान्त होता है, और अनेक अंगोंका निश्चय करानेवाला होनेके कारण प्रमाणकी विवक्षासे अनेकान्त होता है।

श्लो. वा./२/१.६.५६/४७४ न चैवमेकान्तोपगमे कश्चिद्दोषः सुनयार्पितस्यैकान्तस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणार्पितस्यास्तित्वानेकान्तस्य प्रसिद्धेः। येनात्मनानेकान्तस्तेनात्मनानेकान्त एवेत्येकान्तानुषङ्गोऽपि नानिष्टः। प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धेः नयसाधनस्यैकान्तव्यवस्थितेरनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात्। तदुक्तम्—"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः···(देखो ऊपर नं० १)।" =इस प्रकार एकान्तको स्वीकार करनेपर भी हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठ नयसे विवक्षित किये गये एकान्तकी समीचीन रूपसे सिद्धि हो चुकी है, और प्रमाणसे विवक्षित किये गये अस्तित्वके अनेकान्तकी प्रसिद्धि हो रही है। 'जिस विवक्षित प्रमाणस्वरूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त ही है', ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है, क्योंकि, प्रमाण करके साधे गये विषयको ही अनेकान्तपना सिद्ध है। और नयके द्वारा साधन किये गये विषयको एकान्तपना व्यवस्थित हो रहा है। हम तो सबको अनेकान्त होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, इसलिए अनेकान्त भी अनेक धर्मवाला होकर अनेकान्त है। श्री १०८ समन्तभद्राचार्यने कहा भी है, कि अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है···इत्यादि (देखो ऊपर नं० १ स्व. स्त./१०३)

न. च. वृ./१८१ एयंतो एयणयो होइ अणेयंतमस्स सम्मूहो। =एकान्त एक नयरूप होता है और अनेकान्त नयोंका समूह होता है।

का. अ./मू./२६१ जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं। सुयणाणेण णएहि य णिरवेक्खं दोसदे णेव ॥२६१॥ =जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्तरूप भी है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनेकान्त रूपसे है और नयोंकी अपेक्षा एकान्त रूप है ॥२६१॥

६. अनेकान्तमें सर्व एकान्त रहते हैं पर एकान्तमें अनेकान्त नहीं रहता

न. च. वृ./५७में उद्धृत "नित्यैकान्तमतं यस्य तस्यानेकान्तता कथम्। अनेकान्तमतं यस्य तस्यैकान्तमतं स्फुटम्। =जिसका मत नित्य एकान्तस्वरूप है उसके अनेकान्तता कैसे हो सकती है। जिसका मत अनेकान्त स्वरूप है उसके स्पष्ट रूपसे एकान्तता होती है।

न. च. वृ./१७६ जह सद्धाणमाई सम्मत्तं जह तवाइगुणणिलए। धाओ वा एयरसो तह णयमूलं अणेयंतो ॥१७६॥ =जिस प्रकार तप ध्यान आदि गुणोंमें, श्रद्धान, सम्यक्त्व, ध्येय आदि एक रसरूपसे रहते हैं, उसी प्रकार नयमूलक अनेकान्त होता है। अर्थात् अनेकान्तमें सर्व नय एक रसरूपसे रहते हैं।

स्या. मं./३०/३३६/११ सर्वनयात्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः, एवं पृथगभिसंबन्धिनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति। =अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियोंको एक सूत्रमें पिरो देनेसे मोतियोंका सुन्दर हार बन जाता है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयोंको स्याद्वादरूपी सूतमें पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय 'श्रुत प्रमाण' कहे जाते हैं।

स्या. मं./३०/३३६/२१ न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति। समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तासु अनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादा (ई० ५५०) उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः। न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः। =प्रश्न—यदि भगवान्का शासन सर्वदर्शन स्वरूप है, तो यह शासन सर्वदर्शनोंमें क्यों नहीं पाया जाता? उत्तर—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं पाया जाता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें जैनदर्शन नहीं पाया जाता। वक्ता और उसके वचनोंमें अभेद मानकर श्री सिद्धसेन दिवाकर (ई. ५५०) ने कहा है, 'हे नाथ जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें आकर मिलती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृष्टियोंका आपमें समावेश होता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियोंमें सागर नहीं रहता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें आप नहीं रहते।

७. निरपेक्ष नयोंका समूह अनेकान्त नहीं है

आ. मी./१०८ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥१०८॥ =मिथ्या नयोंका समूह भी मिथ्या ही है, परन्तु हमारे यहाँ नयोंका समूह मिथ्या नहीं है, क्योंकि, परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, परन्तु जो अपेक्षा सहित नय हैं वे वस्तुस्वरूप हैं।

प. मु./६/६१-६२ विषयाभासं सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥ तथा प्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६२॥ =वस्तुके सामान्य व विशेष दोनों अंशोंको स्वतन्त्र विषय मानना विषयाभास है ॥६१॥ क्योंकि न तो ऐसे पृथक् सामान्य या विशेषोंकी प्रतीति है और न ही पृथक्-पृथक् इन दोनोंसे कोई अर्थ क्रिया सम्भव है।

न्या. दी./३/§८६ ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मनां परस्परसाहचर्यानपेक्षाणां मिथ्याभूतानामेकत्वादीनां धर्माणां साहचर्यलक्षणसमुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्तदङ्गीकुर्महे, परस्परोपकार्योपकारकभावं विना स्वतन्त्रतया नैरपेक्ष्यापेक्षायां परस्वभावविमुक्तस्य तन्तुसमूहस्य शीतनिवारणाद्यर्थक्रियावदेकत्वानेकत्वानामर्थक्रियायां सामर्थ्याभावात्कथंचिन्मिथ्यात्वस्यापि संभवात्। =प्रश्न—एक-एक अभिप्रायके विषयरूपसे भिन्न-भिन्न सिद्ध होनेवाले और परस्परमें साहचर्यकी अपेक्षा न रखनेपर मिथ्याभूत हुए एकत्व अनेकत्व आदि धर्मोंका साहचर्य रूप समूह भी जो कि अनेकान्त माना जाता है, मिथ्या ही है। तात्पर्य यह कि परस्पर निरपेक्ष एकत्वादि एकान्त जब मिथ्या हैं तो उनका समूहरूप अनेकान्त भी मिथ्या ही कहलायेगा? उत्तर—वह हमें इष्ट है। जिस प्रकार परस्परके उपकार्य-उपकारक भावके बिना स्वतन्त्र होनेसे एक दूसरेकी अपेक्षा न करनेपर वस्त्ररूप अवस्थासे रहित तन्तुओंका समूह शीत निवारण आदि कार्य नहीं कर सकता है, उसी प्रकार एक दूसरेकी अपेक्षा न करनेपर एकत्वादिक धर्म भी यथार्थ ज्ञान कराने आदि अर्थक्रियामें समर्थ नहीं है। इसलिए उन परस्पर निरपेक्ष धर्मोंमें कथंचित् मिथ्यापन भी सम्भव है।

८. अनेकान्त व एकान्तका समन्वय

रा.वा./१/६/७/३५/२१ यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्; एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभावः स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। यदि चैकान्त एव स्यात्; तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोपः स्यात्। एवम् उत्तरे च भङ्गा योजयितव्याः। =यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाये और एकान्तका सर्वथा लोप किया जाये तो सम्यगेकान्तके अभावमें, शाखादिके अभावमें वृक्षके अभावकी तरह तत्समुदायरूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायेगा। यदि एकान्त ही माना जाये तो अविनाभावी इतर धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत शेषका भी लोप होनेसे सर्व लोपका प्रसंग प्राप्त होता है। इसी प्रकार (अस्ति नास्ति भंगवत्) अनेकान्त व एकान्तमें शेष भंग भी लागू कर लेने चाहिए। (स.भ.त./७५/४)।

९. सर्व एकान्तवादियोंके मत किसी न किसी नयमें गर्भित हैं

स्या. मं./२८/३१५/७ एत एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते। तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः। तथाहि—नैगमनयदर्शनानुसारिणौ नैयायिक-वैशेषिकौ। संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च। व्यवहारनयानुपातिप्रायश्चार्वाकदर्शनम्। ऋजुसूत्राकूत-

प्रवृत्तावृजुसूत्रस्तथागताः । शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः ।—जिस समय ये नय अन्य धर्मोंका निषेध करके केवल अपने एक अभीष्ट धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं। एकान्तवादी लोग वस्तुके एक धर्मको सत्य मानकर अन्य धर्मों-का निषेध करते हैं, इसलिए वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं। वह ऐसे कि—न्याय-वैशेषिक लोग नैगमनयका अनुसरण करते हैं, वेदान्ती अथवा सभी अद्वैतवादी संग्रहनयको मानते हैं। चार्वाक लोग व्यवहारनयवादी हैं, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्रनयको मानते हैं तथा *वैयाकरण शब्दादि तीनों नयका अनुकरण करते हैं।* **नोट :—** [इन नयाभासोंके लक्षण (दे० नय/III)]।

३. अनेकान्तका कारण व प्रयोजन

१. अनेकान्तके उपदेशका कारण

स.सा./परि० "ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनानुशास्यतेऽनेकान्तः। अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकान्त-मन्तरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति। तथा हि—इह स्वभावत एव बहुभावनिर्भरविश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभय-भावाध्यासितमेव।—प्रश्न—यदि आत्मवस्तुको ज्ञानमात्रता होनेपर भी, स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है, तब फिर अर्हन्त भगवान् उसके साधनके रूपमें अनेकान्तका उपदेश क्यों देते हैं? उत्तर—अज्ञानियों-के ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकी प्रसिद्धि करनेके लिए उपदेश देते हैं, ऐसा हम कहते हैं। वास्तवमें अनेकान्तके बिना ज्ञानमात्र आत्म वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसीको इस प्रकार समझाते हैं। स्वभावसे ही बहुत-से भावोंसे भरे हुए इस विश्वमें सर्व भावोंका स्वभावसे अद्वैत होनेपर भी, द्वैतका निषेध करना अशक्य होनेसे समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवृत्ति और पररूपसे व्यावृत्तिके द्वारा दोनों भावोंसे अध्यासित है। (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवर्तमान होनेसे और पर रूपसे भिन्न रहनेसे प्रत्येक वस्तुमें दोनों भाव रह रहे हैं।

पं.का./त.प्र./१० अविशेषाद्द्रव्यस्य सत्स्वरूपमेव लक्षणम्, न चानेकान्तात्मकस्य द्रव्यस्य सन्मात्रमेव स्वरूपम्।=सत्तासे द्रव्य अभिन्न होनेके कारण सत् स्वरूप ही द्रव्यका लक्षण है, परन्तु अनेकान्तात्मक द्रव्यका सन्मात्र ही स्वरूप नहीं है।

और भी दे० नय II/१/५–(अनेक धर्मोंको युगपत् जाननेवाला ज्ञान ही प्रमाण है।)

और भी दे नय II/१/८ (वस्तुमें सर्व धर्म युगपत् पाये जाते हैं।)

२. अनेकान्त उपदेशका प्रयोजन

न.च.वृ./२६०-२६१ तच्चं पि हेयमियरं हेयं खलु भणिय ताण परदव्वं। णिय दव्वं पि य जाणसु हेयाहेयं च णयजोगे॥२६०॥ मिच्छासरागभूयो हेयो आदा हवेइ णियमेण। तव्विवरीओ झेओ णायव्वो सिद्धिकामेन ॥२६१॥=तत्त्व भी हेय और उपादेय रूपसे दो प्रकारका है। तहाँ पर-द्रव्यरूप तत्त्व तो हेय है और निजद्रव्यरूप तत्त्व उपादेय है। ऐसा नय योगसे जाना जाता है ॥२६०॥ नियमसे मिथ्यात्व व राग सहित आत्मा हेय है और उससे विपरीत ध्येय है ॥२६१॥

का.अ./मू./३११-३१२ जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं। लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च ॥३११॥ जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णवविहं अत्थं। सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥३१२॥=जो लोगोंके प्रश्नोंके वशसे तथा व्यवहार चलानेके लिए सप्तभंगीके द्वारा नियमसे अनेकान्त तत्त्वका श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है ॥३११॥ जो श्रुतज्ञान तथा नयोंके द्वारा जीव-अजीव आदि नव प्रकारके पदार्थोंको आदर पूर्वक मानता है, वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है ॥३१२॥

३. अनेकान्तवादियोंको कुछ भी कहना अनिष्ट नहीं है

श्लो.वा.२/१,२-१४/१८० व्यक्तिरपि तथा नित्या स्यादिति चेत् न किंचिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादेव विशेषपर्यायस्य सामान्यपर्यायस्य चानित्यत्वोपगमात्। प्रश्न—यदि कोई कहे कि इस प्रकार तो द्रव्यकी व्यक्तियें अर्थात् घट पट आदि पर्यायें भी नित्य हो जायेंगी? उत्तर—हो जाने दो। हम स्याद्वादियोंको कुछ भी अनिष्ट नहीं है। हमने पर्यायार्थिक नयसे ही सामान्य व विशेष पर्यायोंको अनित्य स्वीकार किया है, द्रव्यार्थिक नयसे तो सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं ही।

४. अनेकान्तकी प्रधानता व महत्ता

स्व. स्तो./९८ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः। ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥९८॥—आपकी अनेकान्त दृष्टि सच्ची है। विपरीत इसके जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत् है, अतः जो कथन अनेकान्त दृष्टिसे रहित है, वह सब मिथ्या है।

ध. १/१,१,२७/२२२/२ उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कधं वज्जभीरुणो। इदि चे ण एस दोसो, दोण्हं मज्झे एकस्सेव संगहे कीरमाणे वज्ज-भीरुत्तं णिवट्टति। दोण्हं पि संगहं करेंताणमाइरियाणं वज्जभीरुत्ता-विणासादो। =प्रश्न—उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे माने जा सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकारके वचनोंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छृंखलता आ जाती है। अतएव दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है।

गो.क./मू./८९५/१०७४ एकान्तवादियोंका सर्व कथन मिथ्या और अनेकान्तवादियोंका सर्व कथन सम्यक् है। (दे० स्याद्वाद/५)।

प्र.सा./त.प्र./२७ अनेकान्तोऽत्र बलवान्। =यहाँ अनेकान्त बलवान् है।

पं.का./त.प्र./२१ स खल्वयं प्रसादोऽनेकान्तवादस्य यदीदृशोऽपि विरोधो न विरुध्यते। =यह प्रसाद वास्तवमें अनेकान्तवादका है कि ऐसा विरोध भी विरोध नहीं है।

पं.ध./पू./२२७ तत्र यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः। सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥२२७॥—जैन सिद्धान्तमें निश्चयसे अनेकान्त बलवान् है, सर्वथा एकान्त बलवान् नहीं है। इसलिए अनेकान्त पूर्वक सब ही कथन अविरुद्ध पड़ता है और अनेकान्तके बिना सर्व ही कथन विरुद्ध हो जाता है।

४. वस्तुमें विरोधी धर्मोंका निर्देश

१. वस्तु अनेकों विरोधी धर्मोंसे गुम्फित है

स.सा./आ./परि० "अत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तु वस्तुत्वनिष्पादक-परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः। =अनेकान्त। १/१ (स.सा./ता.वृ./परि.)।

न्या.दी./३/§५७ सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानेक-रूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम्। —सर्व ही जीवादि वस्तुओंमें भावपना-अभावपना, एकरूपपना-अनेकरूपपना नित्यपना-अनित्यपना, इस प्रकार अनेकान्तात्मकपना है।

पं.ध./पू./२६२ २६३ स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च। तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥२६२॥ अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च। द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथवापि भावेन ॥२६३॥—कथंचित् है और नहीं है यह, तथा नित्य-अनित्य, और एक-अनेक, तत्-अतत् इस प्रकार इन चारयुगलोंके द्वारा वस्तु गुंथी हुई की तरह है ॥२६२॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि निश्चयसे स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चारोंके द्वारा जो सत्

है वही द्रव्यादि-क्षेत्रसे असत् है। इस प्रकारसे द्रव्यादि रूपसे अस्ति-नास्तिका चतुष्टय हो जाता है ॥२६३॥

२. वस्तु भेदाभेदात्मक है

यु. अनु./७ अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं, तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम् ॥ =हे प्रभु ! आपका अर्थ तत्त्व अभेदभेदात्मक है। अभेदात्मक और भेदात्मक दोनोंको स्वतन्त्र स्वीकार करनेपर प्रत्येक आकाश पुष्पके समान हो जाता है।

३. सत् सदा अपने प्रतिपक्षीकी अपेक्षा रखता है

पं.का./मू./८ सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥ =सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक,एक, सर्वपदार्थस्थित, सविश्वरूप, अनन्तपर्यायमय, और सप्रतिपक्ष (क.पा.१/१-१/६/५३) (ध. १४/५-६-१२८/१८/२३४)।

पं.का./त.प्र/८ एवंभूतापि सा न खलु निरङ्कुशा किंतु सप्रतिपक्षा। प्रतिपक्षो ह्यसत्ता सत्तायाः, अत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः अनेकत्वमेकस्याः, एकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः, एकरूपत्वं सविश्वरूपायाः, एकपर्यायत्वमनन्तपर्यायाया इति। =ऐसी होनेपर भी वह (सत्ता) वास्तवमें निरंकुश नहीं है, किन्तु सप्रतिपक्ष है। १. सत्ताको असत्ता प्रतिपक्ष है; २. त्रिलक्षणको अत्रिलक्षणपना प्रतिपक्ष है; ३. एकको अनेकपना प्रतिपक्ष है: ४. सर्वपदार्थस्थितको एकपदार्थस्थितपना प्रतिपक्ष है; ५. सविश्वरूपको एकरूपपना प्रतिपक्ष है, ६. अनन्तपर्यायमयको एकपर्यायमयपना प्रतिपक्ष है। (पं.ध./पू./१५) (न.च./श्रु/५३)।

नि.सा./ता.वृ./३४ अस्तित्वं नाम सत्ता। सा किंविशिष्टा। सप्रतिपक्षा, अवान्तरसत्ता महासत्तेति। =अस्तित्व नाम सत्ताका है। वह कैसी है? महासत्ता और अवान्तरसत्ता—ऐसी सप्रतिपक्ष है।

स.भ.त./५१/३ सत्ता सप्रतिपक्षैका इति वचनात्। =सम्पूर्ण, द्रव्य, क्षेत्र, कालादि रूप जो एक महासत्ता है वही विकल द्रव्य, क्षेत्र, आदिसे प्रतिपक्ष सहित है। ऐसा अन्यत्र आचार्यका वचन है।

४. स्व सदा परकी अपेक्षा रखता है

स्या. मं./१६/२१८/११ कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः। प्रतियोगीशब्दो ह्ययं परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते। ='स्व' शब्दका प्रयोग अन्यथा क्यों किया है? स्व-शब्द प्रतियोगी शब्द है। अतएव स्वशब्दसे पर शब्दका भी ज्ञान होता है।

५. विधि निषेधकी अपेक्षा रखता है

न.च.वृ./२५७,३०४ एकणिरुद्धे इयरो पडिवक्खो अणवरेइ सब्भावो। सव्वेसिं च सहावे कायव्वा होइ तह भंगी ॥२५७॥ अत्थित्तं णो णत्थिसहावस्स जो हु सावेक्खं। णत्थी विय तह दव्वे मूढो मूढो दु सव्वत्थ ॥३०४॥ =एक स्वभावका निषेध होनेपर दूसरा प्रतिपक्षी स्वभाव अनुवृत्ति करता है, इस प्रकार सभी स्वभावोंमें सप्तभंगी करनी चाहिए ॥२५७॥ जो अस्तित्वको नास्तित्व सापेक्ष और नास्तित्वको अस्तित्व सापेक्ष नहीं मानता है, वह द्रव्यमें मूढ़ और इसलिए सर्वत्र मूढ़ है।

रा.वा./१/६/१३/३७/१ यो हेतुरुपदिश्यते स साधको दूषकश्च स्वपक्षं साधयति परपक्षं दूषयति। =जो हेतु कहा जाता है वह साधक भी होता है और दूषक भी, क्योंकि स्वपक्षको सिद्ध करता है पर पक्षमें दोष निकालता है (स. भ. त./१०/३)।

पं.ध./पू./६६५ विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः। मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम्। =विधिपूर्वक प्रतिषेध और प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है, परन्तु इन दोनोंकी मैत्री स्वपराकारग्राही ज्ञान रूप है। वही प्रमाण है।

६. वस्तुके कुछ विरोधी धर्मोंका निर्देश

दे० अनेकान्त / शीर्षक "संख्या सत्-असत्; एक-अनेक; नित्य-अनित्य; तत्-अतत्। (४/१); भेद-अभेद (४/२)। सत्ता-असत्ता; त्रिलक्षणत्व-अत्रिलक्षणत्व; एकत्व-अनेकत्व; सर्वपदार्थस्थित-एकपदार्थस्थित; सविश्वरूप-एकरूप; अनन्तपर्यायमयत्व-एकपर्यायमयत्व; महासत्ता-अवान्तरसत्ता; स्व-पर; (४/३)।"

न.च.वृ./७०/ टीका "सद्रूप-असद्रूप; नित्य-अनित्य; एक-अनेक; भेद-अभेद; भव्य-अभव्य; स्वभाव-विभाव; चैतन्य-अचैतन्य; मूर्त-अमूर्त; एकप्रदेशत्व-अनेकप्रदेशत्व; शुद्ध-अशुद्ध; उपचरित-अनुपचरित; एकान्त-अनेकान्त···इत्यादि स्वभाव है।"

स्या.मं./मू./२५ अनित्य-नित्य; सदृश-विसदृश; वाच्य-अवाच्य; सत्-असत्।

पं.ध./पू./श्लो.नं. "देश-देशांश ॥७४॥; स्व द्रव्य=महासत्ता-अवान्तर सत्ता ॥२६४॥; स्वक्षेत्र=सामान्य-विशेष; अर्थात् अखण्ड द्रव्य तथा उसके प्रदेश; स्व काल=सामान्य-विशेष अर्थात् अखण्ड द्रव्यकी एक पर्याय तथा पृथक्-पृथक् गुणोंकी पर्याय; स्वभाव=सामान्य व विशेष अर्थात् द्रव्य तथा गुण व पर्याय ॥२७०-२८०॥ (और भी दे० जीव ३/४)

७. वस्तुमें कथंचित् स्वपर भाव निर्देश

रा.वा./१/६/५/३४/२१ चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च·· तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा तन्मूलत्वाद् घटव्यवहारस्य। ज्ञानाकारः परात्मा सर्वसाधारणत्वात्। =चैतन्य शक्तिमें दो आकार रहते हैं—ज्ञानाकार व ज्ञेयाकार। तहाँ ज्ञानाकार तो घटव्यवहारका मूल होनेके कारण स्वात्मा है, तथा सर्वसाधारण होनेके कारण ज्ञेयाकार परात्मा है।

रा.वा./१/६/५/३३/२१,४०,४१,४३ घटत्व नामक धर्म 'घट'का स्वरूप है और पटत्वादि पररूप है।···नाम, स्थापना, द्रव्य, भावादिकोंमें जो विवक्षित है, वह स्वरूप है और जो अविवक्षित है, वह पररूप है। घट विशेषके अपने स्थौल्यादि धर्मोंसे विशिष्ट घटत्व तो उसका स्वरूप है और अन्य घटोंका घटत्व उसका पररूप है। और उस ही घट विशेषमें पूर्वोत्तरकालवर्ती पिण्ड कुशूलादि उसका पररूप है और उन पिण्ड कुशूलादिमें अनुस्यूत एक घटत्व उसका स्वरूप है। ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा वर्तमान घटपर्याय स्वरूप है और पूर्वोत्तर कालवर्ती घटपर्याय पररूप है। उस क्षणमें भी तत्क्षणवर्ती रूपादि समुदायात्मक घटमें रहनेवाले पृथुबुध्नोदरादि आकार तो उसके स्वरूप हैं और इसके अतिरिक्त अन्य आकार उसके पररूप हैं। तत्क्षणवर्ती रूपादिकोंमें भी रूप उसका स्वरूप है और अन्य जो रसादि वे उसके पर रूप हैं, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूपमुखेन ही घटका ग्रहण होता है। समभिरूढ नयसे घटनक्रिया विषयक कर्तृत्व ही घटका स्वरूप है और अन्य कौटिल्यादि धर्म उसके पररूप हैं। मृत द्रव्य उसका स्व-द्रव्य है और अन्य स्वर्णादि द्रव्य उसके परद्रव्य हैं। घटका स्वक्षेत्र भूतल आदि है और परक्षेत्र भीत आदि हैं। घटका स्वकाल वर्तमानकाल है और परकाल अतीतादि है। (स.भ.त./पृ. ३१-४५)।

स.भ.त./४९-५१ प्रमेयका प्रमेयत्व उसका स्वरूप है घटत्वादिक ज्ञेय उसका पररूप है। अथवा प्रमेयका स्वरूप तो प्रमेयत्व है और पररूप अप्रमेयत्व है ॥४९-५०॥ छहो द्रव्योंका शुद्ध अस्तित्व तो उनका स्वरूप है और उनका प्रतिपक्षी अशुद्ध अस्तित्व उनका पररूप है। शुद्ध द्रव्यमें भी उसका सकल द्रव्य क्षेत्र काल भावकी उपेक्षा सत्त्व है और विकल द्रव्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा असत्त्व है ॥५१॥

पं.ध./उ./३९८ ज्ञानात्मक आत्माका एक ज्ञान गुण स्वार्थ है और शेष सुख आदि गुण परार्थ है।

रा.वा./१/६/५/३५/११ एवमियं सप्तभङ्गी जीवादिषु सम्यग्दर्शनादिषु च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाभेदाद्योजयितव्या। =इस प्रकार यह

सप्तभंगी जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिक सर्व विषयोंमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भेद करके लागू कर लेनी चाहिए।

५. विरोधमें अविरोध

१. विरोधी धर्म रहनेपर भी वस्तुमें कोई विरोध नहीं पड़ता

ध. १/१,१,११/१६६/६ अक्रमेण सम्यग्मिथ्यारुच्यात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे। न विरोधोऽप्यनेकान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थालक्षणविरोधासिद्धेः। = युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, ऐसा मानते हैं। और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता, क्योंकि आत्मा अनेकधर्मात्मक है, इसलिए उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थालक्षण-विरोध असिद्ध है।

पं.वि./८/१३/१५१ यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते, नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च। एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्ते प्रतीतिं दृढां, सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते ॥१३॥

पं.वि./१०/१४/१७२ निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं शून्यमत्यतिशयेन संभृतम्। एकमेव गतमप्यनेकतां तत्त्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥१४॥ = जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, शून्य भी है और परिपूर्ण भी है, उत्पाद-विनाशशाली भी है और नित्य भी है, सद्भावरूप भी है, और अभावरूप भी है, तथा एक भी है और अनेक भी है, ऐसी वह दृढ़ प्रतीतिको प्राप्त हुई अमूर्तिक चेतन एवं सुखस्वरूप सिद्ध ज्योति किसी बिरले ही योगी पुरुषके द्वारा देखी जाती है ॥१३॥ वह आत्मतत्त्व विनाशसे रहित होकर भी नाशको प्राप्त है, शून्य होकर भी अतिशयसे परिपूर्ण है, तथा एक होकर भी अनेकताको प्राप्त है। इस प्रकार नय विवक्षासे ऐसा माननेमें कुछ भी विरोध नहीं आता है (गीता/१३/१४-१६) (ईशोपनिषद्/८) (और भी दे० अनेकान्त/२/५)।

२. सभी धर्मोंमें नहीं बल्कि यथायोग्य धर्मोंमें ही अविरोध है

ध. १/१,१,११/१६७/३ अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानां प्रत्यविरुद्धानां संभवो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानाप्यत्रस्थितिरिति चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थितिप्रसङ्गात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्कचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे। = प्रश्न—जिन धर्मोंका एक आत्मामें एक साथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रहें, परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मामें रह नहीं सकते हैं? उत्तर—कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मोंका एक साथ एक आत्मामें रहना सम्भव है? यदि सम्पूर्ण धर्मोंका एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मोंका एक साथ एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायेगा। इसलिए 'सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मामें रहते हैं', अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए। किन्तु जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं (यहाँ सम्यग्मिथ्यात्व भावका प्रकरण है) वे धर्म उस आत्मामें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं।

३. अपेक्षा भेदसे अविरोध सिद्ध है

स.सि./५/३२/३०३ ताभ्यां सिद्धेरर्पितानर्पितसिद्धेर्नास्ति विरोधः। तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय इत्येवमादयः संबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते; अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति विरोधः। = इन दोनोंकी अपेक्षा एक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सिद्धि होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है।—जैसे देवदत्त के पिता, पुत्र, भाई और भानजे, इसी प्रकार और भी जनकत्व और जन्यत्वादिके निमित्तसे होनेवाले सम्बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होते। जब जिस धर्मकी प्रधानता होती है उस समय उसमें वही धर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ—पुत्रकी अपेक्षा वह पिता है और पिताकी अपेक्षा वह पुत्र है आदि। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। (रा.वा./१/६/११/३६/२२)।

रा.वा./५/३१/२/४९७/४ वियदेव न व्येति, उत्पद्यमान एव नोत्पद्यते इति विरोधः, ततो न युक्तमिति; तन्न; किं कारणम्। धर्मान्तराश्रयणात्। यदि येन रूपेण व्ययोदयकल्पना तेनैव रूपेण नित्यता प्रतिज्ञायेत स्याद्विरोधः, जनकत्वापेक्षयैव पितापुत्रव्यपदेशवत्, नन्तु धर्मान्तरसंश्रयणात्। = प्रश्न—'जो नष्ट होता है वही नष्ट नहीं होता और जो उत्पन्न होता है वही उत्पन्न नहीं होता', यह बात परस्पर विरोधी मालूम होती है? उत्तर—वस्तुतः विरोध नहीं है, क्योंकि जिस दृष्टिसे नित्य कहते हैं यदि उसी दृष्टिसे अनित्य कहते तो विरोध होता जैसे कि एक जनकत्वकी ही अपेक्षा किसीको पिता और पुत्र कहनेमें। पर यहाँ द्रव्य दृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य कहा जाता है, अतः विरोध नहीं है। दोनों नयोंकी दृष्टिसे दोनों धर्म बन जाते हैं।

न.च./श्रु/पृ.६५ यथा स्वस्वरूपेणास्तित्वं तथा पररूपेणाप्यस्तित्वं माभूदिति स्याच्छब्दः।...यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेण (अपि) नित्यत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। = जिस प्रकार वस्तुका स्वरूपसे अस्तित्व है, उसी प्रकार पररूपसे भी अस्तित्व न हो जाये, इसलिए स्यात् शब्द या अपेक्षाका प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य है, उसी प्रकार पर्यायरूपसे भी वह नित्य न हो जाये इसलिए स्यात् शब्दका प्रयोग किया जाता है। (स्या.मं./२३/२७६/७)।

पं.का./ता.वृ./१८/३८ ननु यद्युत्पादविनाशौ तर्हि तस्यैव पदार्थस्य नित्यत्वं कथम्। नित्यं तर्हि तस्यैवोत्पादव्ययद्वयं च कथम्। परस्परविरुद्धमिदं शीतोष्णवदिति पूर्वपक्षे परिहारमाहुः। येषां मते सर्वथैकान्तेन नित्यं वस्तु क्षणिकं वा तेषां दूषणमिदम्। कथमिति चेत्। येनैव रूपेण नित्यत्वं तेनैवानित्यत्वं न घटते, येन च रूपेणानित्यत्वं तेनैव न नित्यत्वं घटते। कस्मात्। एकस्वभावत्वाद्वस्तुनस्तन्मते। जैनमते पुनरनेकस्वभावं वस्तु तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यरूपेण नित्यत्वं घटते पर्यायार्थिकनयेन पर्यायरूपेणानित्यत्वं च घटते। तौ च द्रव्यपर्यायौ परस्परं सापेक्षौ—तेन कारणेन...एकदेवदत्तस्य जन्यजनकादिभाववत् एकस्यापि द्रव्यस्य नित्यानित्यत्वं घटते नास्ति विरोधः। = प्रश्न—यदि उत्पाद और विनाश है तो उसी पदार्थमें नित्यत्व कैसे हो सकता है? और यदि नित्य है तो उत्पाद-व्यय कैसे हो सकते हैं। शीत व उष्ण की भाँति ये परस्पर विरुद्ध हैं? उत्तर—जिनके मतमें वस्तु सर्वथा एकान्त नित्य या क्षणिक है उनको यह दूषण दिया जा सकता है। कैसे? वह ऐसे कि जिस रूपसे नित्यत्व है, उसी रूपसे अनित्यत्व घटित नहीं होता, और जिस रूपसे अनित्यत्व है, उसी रूपसे नित्यत्व घटित नहीं होता। क्योंकि उनके मतमें वस्तु एक स्वभावी है। जैन मतमें वस्तु अनेकस्वभावी है, इसलिए द्रव्यार्थिकनयसे नित्यत्व और पर्यायार्थिकनयसे अनित्यत्व घटित हो जाता है। और क्योंकि ये द्रव्य व पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए एक देवदत्तके जन्य-जनकत्वादि भाववत् एक ही द्रव्यके नित्यानित्यत्व घटित होनेमें कोई विरोध नहीं है।

स्या.मं./२४/२९०/८ तदा हि विरोधः स्याद् यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात्। न चैवम्। यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि। किंत्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम्। स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम्। =सत्त्व असत्त्व धर्मोंमें तब तो विरोध हुआ होता जब दोनोंको एक ही अपेक्षासे माना गया होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, जिस अंशसे सत्त्व है उसी अंशसे असत्त्व नहीं है। किन्तु अन्य अपेक्षासे सत्त्व है और किसी अन्य ही अपेक्षासे असत्त्व है। स्वरूपसे सत्त्व है और पररूपसे असत्त्व है।

४. वस्तु एक अपेक्षासे एक रूप है और अन्य अपेक्षासे अन्य रूप

रा.वा./१/६/१२/३८/१ सपक्षासपक्षापेक्षयोपलक्षितानां सत्त्वासत्त्वादीनां भेदानामाधारेण पक्षधर्मेणैकेन तुल्यं सर्वद्रव्यम्। =जैसे एक ही हेतु सपक्षमें सत् और विपक्षमें असत् होता है उसी तरह विभिन्न अपेक्षाओंसे अस्तित्व आदि धर्मोंके रहनेमें भी कोई विरोध नहीं है। (तथा *इसी प्रकार अन्य अपेक्षाओंसे भी कथन किया है*)।

न.च.वृ./५८ भावा णेयसहावा पमाणगहणेण होंति णिव्वत्ता। एक्कसहावा वि पुणो ते *चिय णयभेयगहणेण* ॥५८॥ =प्रमाणकी अपेक्षा करनेपर भाव अनेकस्वभावोंसे निष्पन्न भी हैं और नय भेदकी अपेक्षा करनेपर वे एक स्वभावी भी हैं।

स.सा./आ./परि० "अत्र स्वात्मवस्तुज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वमेवानेकान्तत्वात्।… अन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वाद् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्। सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनासत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव।…=इसलिए आत्मवस्तुको ज्ञानमात्रता होनेपर भी, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्त्व असत्त्व, और नित्यत्वपना प्रकाशता ही है, क्योंकि उसके अन्तरंगमें चकचकित ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्पना है; और बाहर प्रगट होते, अनन्त ज्ञेयत्वको प्राप्त, स्वरूपसे भिन्न ऐसे पर रूपके द्वारा अतत् पना है। सहभूत प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य अंशोंके समुदायरूप अविभाग द्रव्यके द्वारा एकत्व है, और अविभाग एक द्रव्यमें व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य अंशरूप पर्यायोंके द्वारा अनेकत्व है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा सत्त्व है, और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप न होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपनेके द्वारा असत्त्व है, अनादि निधन अविभाग एक वृत्तिरूपसे परिणतपनेके द्वारा नित्यत्व है; और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्ति अंशोंरूपसे परिणतपनेके द्वारा अनित्यत्व है। दे० नय I/६/५।

५. नयोंको एकत्र मिलानेपर भी उनका विरोध कैसे दूर हो सकता है

स्व. स्तो./१ *य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणा*शिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः, परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः। =जो ही ये नित्य क्षणिकादि नय परस्परमें अनपेक्ष होनेसे स्व-पर प्रणाशी हैं, वे ही नय हे प्रत्यक्षज्ञानी विमल जिन! आपके मतमें परस्पर सापेक्ष होनेसे स्व-पर उपकारी हैं।

स्या.मं./३०/३३६/१३ ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वं कथं समुदितानां निर्विरोधिता। उच्यते। *यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णीता*रमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति, एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयावतिष्ठन्ते। =प्रश्न—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध है तो उन नयोंके एकत्र मिलानेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता है? उत्तर—परस्पर वाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायीके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवान्‌के शासनकी शरण लेकर 'स्याद्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर मैत्री भावसे एकत्र रहने लगते हैं। (स्याद्वाद/५ में देखो स्यात् पद प्रयोगका महत्त्व)।

६. विरोधी धर्मोंमें अपेक्षा लगानेकी विधि

१. सत् असत् धर्मोंकी योजना विधि—(दे० सप्तभंगी/४)

२. एक अनेक धर्मोंकी योजना विधि—

पं.ध./पू./श्लोक सं./केवल भावार्थ—"द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा वह सत् अखण्ड या एक कैसे सिद्ध होता है, इसका निरूपण करते हैं ॥४३७॥ १. द्रव्यकी अपेक्षा—गुणपर्यायवान् द्रव्य कहनेसे यह अर्थ ग्रहण करना नहीं चाहिए कि उस सत्के कुछ अंश गुण रूप हैं और कुछ अंश पर्याय रूप हैं, बल्कि उन गुणपर्यायोंका शरीर वह एक सत् है ॥४३८॥ तथा वही सत् द्रव्यादि चतुष्टय के द्वारा अखण्डित होते हुए भी अनेक है, क्योंकि व्यतिरेकके बिना अन्वय भी अपने पक्षकी रक्षा नहीं कर सकता है ॥४६४॥ द्रव्य, गुण व पर्याय इन तीनोंमें संज्ञा लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद सिद्ध होनेपर वह सत् अनेक रूप क्यों न होगा ॥४६५॥ २. क्षेत्रकी अपेक्षा—क्षेत्रके द्वारा भी अखण्डित होनेके कारण सत् एक है ॥४५४॥ अखण्ड भी उस द्रव्यके प्रदेशोंको देखने पर—जो सत् एक प्रदेशमें है वह उसीमें है उससे भिन्न दूसरे प्रदेशमें नहीं। अर्थात् प्रत्येक प्रदेशकी सत्ता जुदा-जुदा दिखाई देती है। इसलिए कौन क्षेत्रसे भी सत्को अनेक नहीं मानेगा ॥४६६॥ ३. कालकी अपेक्षा—वह सत् बार-बार परिणमन करता हुआ भी अपने प्रमाणके बराबर रहनेसे अथवा खण्डित नहीं होनेसे कालकी अपेक्षासे भी एक है ॥४७८॥ क्योंकि सत्की पर्यायमालाको स्थापित करके देखें तो एक समयकी पर्यायमें रहनेवाला जो जितना व जिस प्रकारका सत् है, वही उतना तथा उसी प्रकारका सम्पूर्ण सत् समुदित सब समयोंमें भी है। कहीं कालकी वृद्धि-हानि होनेसे शरीरकी भाँति उसमें वृद्धि-हानि नहीं हो जाती ॥४७२-४७४॥ पृथक्-पृथक् पर्यायोंको देखनेपर जो सत् एक कालमें है, वह सत् अर्थात् विवक्षित पर्याय विशिष्ट द्रव्य उससे भिन्न कालमें नहीं है। इसलिए *कालसे वह सत् अनेक है ॥४६७॥ ४. भावकी अपेक्षा—(यदि सम्पूर्ण* सत्को गुणोंकी पंक्तिरूपसे स्थापित करके केवल भावमुखेन देखो तो *इन गुणोंमें सब सत् ही है और यहाँ पर कुछ भी नहीं है।* इसलिए वह सत् एक है ॥४८१॥ जिस-जिस भावमुखसे जिस-जिस समय सत्‌की विवक्षा की जायेगी, उस-उस समय वह सत् उस-उस भावमय ही कहा जायेगा या प्रतीतिमें आयेगा अन्य भाव रूप नहीं। इस प्रकार भावकी अपेक्षा वह सत् अनेक भी है ॥४९८॥

३. अनित्य व नित्य धर्मोंकी योजना विधि

पं.ध./पू. श्लोक सं० "जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है और परिणाम दृष्टिगत नहीं होता उस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य है ॥३३१॥ जिस समय यहाँ केवल परिणाम दृष्टिगत होता है और वस्तु दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायार्थिक

नयकी अपेक्षासे, नवीन पर्याय रूपसे उत्पन्न और पूर्व पर्यायरूपसे विनष्ट होनेसे सब वस्तु अनित्य है।

४. सत् व असत् धर्मोंकी योजना विधि

पं.ध./पू./श्लो.सं. "परिणमन करते हुए भी अपने सम्पूर्ण परिणमनोंमें तज्जातीयपमा उल्लंघन न करनेके कारण वह सत् तत् रूप है ॥३१२॥ परन्तु सत् असत्की तरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा देखने पर प्रत्येक पर्यायमें वह सत् अन्य-अन्य दिखनेके कारण अतत् रूप भी है ॥३३३॥

७. विरोधी धर्म बतानेका प्रयोजन

पं.ध./पू./३३२,४४२ अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात्। न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥३३२॥ स्यादेकत्वं प्रति प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वम्। प्रकृतं यथासदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत् ॥ = सत्-असत्की तरह तत्-अतत् भी विधि-निषेध रूप होते हैं, किन्तु निरपेक्षपने नहीं क्योंकि परस्पर सापेक्षपनेसे वे दोनों तत्-अतत् भी तत्त्व हैं ॥३३२॥ कथंचित् एकत्व बताना वस्तुकी अखण्डताका प्रयोजक है।

न.च./श्रु./पृ. ६५-६७/भावार्थ "स्यात् नित्यका फल चिरकाल तक स्थायीपना है। स्यादनित्यका फल निज हेतुओंके द्वारा अनित्य स्वभावी कर्मके ग्रहण व परित्यागादि होते हैं।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—दे० व्यभिचार।

अनोजीविका—दे० सावद्य/२।

अन्न—१. अन्नं मुद्गादि (ला.सं./२/१६) मूंग, मोठ, चना, गेहूँ आदि अन्न कहलाता है। २. बोधा व संदिग्ध अन्न अभक्ष्य है—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

अन्नप्राशन क्रिया—दे० संस्कार/१।

अन्यत्व—रा.वा./२/७/१३/११२/१ अन्यत्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां परस्परतोऽन्यत्वात्। कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम्। = एक द्रव्य दूसरेसे भिन्न होता है, अतः अन्यत्व भी सर्वसाधारण है। कर्मोदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेके कारण, यह पारिणामिक भाव है, अर्थात् स्वभावसे ही सबमें पाया जाता है।

स.सा./आ./३५५/क २१३ वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनः, येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्। निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः, किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१३॥ = इस लोकमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, इसलिए वास्तवमें वस्तु वस्तु ही है। ऐसा होनेसे कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तुके बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है।

प्र.सा./त.प्र./१०६ अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव। = अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है, वह तो सत्ता और द्रव्यके है ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका अभाव होता है—शुक्ल व वस्त्रकी भाँति।

★ **दो पदार्थोंके मध्य अन्यत्वका विशेष रूप**—दे० कारक, कारण।

अन्यत्वानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

अन्यथानुपपत्ति—दे० हेतु।

अन्यथायुक्ति खण्डन—(ज.प./प्र.१०५) Reductio-ad-absurdum.

अन्यदृष्टिप्रशंसा—स.सि./७/२३/३६४ प्रशंसासंस्तवयोः को विशेषः। मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, भूताभूतगुणोद्भाववचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः। = प्रश्न—प्रशंसा और संस्तवमें क्या अन्तर है? उत्तर—मिथ्यादृष्टिके ज्ञान और चारित्र गुणोंको मनसे उद्भावन करना प्रशंसा है; और मिथ्यादृष्टिमें जो गुण है या जो गुण नहीं है इन दोनोंका सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है, इस प्रकार इन दोनोंमें अन्तर है। (रा. वा./७/२३/१/५५२) (चा.सा./७/२)

अन्ययोगव्यवच्छेद

१. अन्ययोगव्यवच्छेदात्मक एवकार—दे० एव।

२. अन्ययोगव्यवच्छेद नामका ग्रन्थ—श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८-११७३) द्वारा रचा गया एक न्यायविषयक ग्रन्थ है। इसपर श्री मल्लिषेण सूरि (ई० १२९२) ने स्याद्वादमंजरी नामकी टीका लिखी है।

अन्योन्यगुणकार शलाका—(ज.प./प्र.१०५) Mutual multiple log.

अन्योन्याभाव—दे० अभाव।

अन्योन्याभ्यस्तराशि—गो.क./मू./९३७/११३७ इट्ठसलायपमाणे दुगसंवग्गे कदेदु इट्ठस्स। पयडिस्स य अण्णोण्णाभत्थपमाणं हवे णियमा॥ = अपनी-अपनी इष्ट शलाका जो नाना गुणहानि शलाका तीहिं प्रमाण दोयके अंक मांडि परस्पर गुणे अपनी इष्ट प्रकृतिका अन्योन्याभ्यस्त राशिका प्रमाण हो है। (गो.क./भाषा/९२२/११०६/३) (गो.जी./भाषा/५९/१५६/९) (विशेष दे० गणित/६)

२. प्रत्येक कर्मकी अन्योन्याभ्यस्त राशि—दे० गणित/६।

अन्योन्याश्रय हेत्वाभास—श्लो.वा. ४/न्या. ४५९/५५५/६/भाषाकार "परस्परमें धारावाही रूपसे एक-दूसरेकी अपेक्षा लागू रहना अन्योन्याश्रय है (जैसे खटकेके तालेकी चाबी तो आलमारीमें रह गयी और बाहरसे ताला बन्द हो गया। तब चाबी निकले तो ताला खुले और ताला खुले तो चाबी निकले, ऐसी परस्परकी अपेक्षा लागू होती है)।

अन्वय—रा. वा./५/२/४३६/२१ स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयः। = अपनी जातिको न छोड़ते हुए उसी रूपसे अवस्थित रहना अन्वय है।

रा.वा./५/४२/११/२५२/१४ के पुनरन्वयाः। बुद्ध्यभिधानानुवृत्तिलिङ्गेन अनुमीयमानाविच्छेदाः स्वात्मभूतास्तित्वादयः। प्रश्न—अन्वय क्या है? उत्तर—अनुगताकार (यह वही है ऐसी) बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोगके द्वारा अनुमान किये जाने वाले तथा नित्य स्थित स्वात्मभूत अस्तित्वादि गुण अन्वय कहलाते हैं।

स.सा./ता.वृ./२२३ अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ। = अन्वय और व्यतिरेक शब्दसे सर्वत्र विधि-निषेध जानना चाहिए।

पं.ध./पू./१४३ सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥१४३॥ = सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये सब शब्द अविशेषरूपसे एकार्थवाचक हैं।

२. अन्वय व्यतिरेककी परस्पर सापेक्षता—दे० सप्तभंगी/४।

३. अन्वय द्रव्यार्थिक नय—दे० नय IV/12।

अन्वयी—स.सि./५/३८/३०९ अन्वयिनो गुणाः। = गुण अन्वयी होते हैं। (रा.वा./५/४२/११/२५२/१४) (प्र.सा./त.प्र./८०) (पं.ध./पू./१४४)।

पं.ध./पू./१३८ तत्रान्वयान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोऽपि चान्वयिनः। अर्थाच्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥१३८॥ = गुण, सह और

अन्वयी तथा अर्थ ये सब शब्द अर्थकी दृष्टिसे एकार्थक होनेके कारण एकार्थवाचक हैं।

अन्वर्थ—पं.का./ता.वृ./१/७/१ अन्वर्थनाम किं यादृशं नाम तादृशोऽर्थः यथा तपतीति तपन आदित्य इत्यर्थः। =जैसा नाम हो वैसा हो पदार्थ हो उसे अन्वर्थ नाम कहते हैं—जैसे जो तपता है सो तपन अर्थात् सूर्य है।

अप्—दे० जल।

अपकर्ष—गो.जी./जी.प्र./५१८/९१३/१७ भुज्यमानायुरपकृष्यापकृष्य परभवायुर्बध्यते इत्यपकर्षः। =भुज्यमान आयुको घटा-घटाकर आगामी परभवकी आयुको बाँधे सो अपकर्ष कहिये (अर्थात् भुज्यमान आयुका २/३ भाग शेष रहनेपर आयुबन्धके योग्य प्रथम अवसर आता है। यदि वहाँ न बन्धे तो शेष १/३ आयुका पुनः २/३ भाग बीत जानेपर दूसरा अवसर आता है। इस प्रकार आयुके अन्तपर्यन्त आठ अवसर आते हैं। इन्हें आठ अपकर्ष कहते हैं। (विशेष दे० आयु/४)।

अपकर्षण—अपकर्षणका अर्थ घटना है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके कारण स्वतः अथवा तपश्चरण आदिके द्वारा साधक पूर्वोपार्जित कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग बराबर घटाता हुआ अथवा घातता हुआ, आगे बढ़ता है। इसीका नाम मोक्षमार्गमें अपकर्षण इष्ट है। संसारी जीवोंके भी प्रतिपक्ष शुभ या अशुभ परिणामोंके कारण पुण्य या पाप प्रकृतियोंका अपकर्षण हुआ करता है। वह अपकर्षण दो प्रकारसे होता है—साधारण व गुणाकार रूपसे। इनमें पहिलेको अपकर्षण व अपसरण तथा दूसरेको काण्डकघात कहते हैं, क्योंकि इसमें कर्मोंके गट्ठे के गट्ठे एक-एक बारमें तोड़ दिये जाते हैं। यह काण्डकघात ही मोक्षका साक्षात् कारण है और केवल ऊँचे दर्जेके ध्यानियोंको होता है। इसी विषयका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. भेद व लक्षण

१. अपकर्षण सामान्यका लक्षण

ध.१०/४,२,४,२१/५३/२ पदेसाणं ठिदीणमोवट्टणा ओक्कड्डणा णाम। =कर्मप्रदेशोंकी स्थितियोंके अपवर्तन (घटने) का नाम अपकर्षण है।

गो.क./जी.प्र./४३८/५९१ स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणं णाम। =स्थिति और अनुभागकी हानि अर्थात् पहिले बान्धी थी उससे कम करना अपकर्षण है।

ल.सा./भाषा/५५/८७ स्थिति घटाय ऊपरिके निषेकनिका द्रव्य नीचले निषेकनि विषैं जहाँ दीजिये तहाँ अपकर्षण कहिये। (पीछे उदय आने योग्य द्रव्यको ऊपरका और पहिले उदयमें आने योग्यको नीचेका जानना चाहिए। (गो.जी./भाषा/२५८/५६६/१६)।

२. अपकर्षणके भेद

(अपकर्षण दो प्रकारका कहा गया है—अव्याघात अपकर्षण और व्याघात अपकर्षण। व्याघात अपकर्षणका ही दूसरा नाम काण्डकघात भी है, जैसा कि इस संज्ञासे ही विदित है।)

३. अव्याघात अपकर्षणका लक्षण

ल.सा./भाषा/५६/८८/१ जहाँ स्थितिकाण्डकघात न पाइए सो अव्याघात कहिये।

४. व्याघात अपकर्षणका लक्षण

ल.सा./भाषा/५९/९२/१ जहाँ स्थितिकाण्डकघात होइ सो व्याघात कहिये।

५. अतिस्थापना व निक्षेपके लक्षण

ल.सा./जी.प्र./५६/८७/१२ अपकृष्टद्रव्यस्य निक्षेपस्थानं निक्षेपः, निक्षिप्यतेऽस्मिन्निति निर्वचनात्। तेनातिक्रम्यमाणं स्थानमतिस्थापनं, अतिस्थाप्यते अतिक्रम्यतेऽस्मिन्निति अतिस्थापनम्। =अपकर्षण किये गये द्रव्यका निक्षेपणस्थान, अर्थात् जिन निषेकोंमें उन्हें मिलाते हैं, वे निषेक निक्षेप कहलाते हैं, क्योंकि, 'जिसमें क्षेपण किया जाये

सो निक्षेप है, ऐसा वचन है, उसके द्वारा अतिक्रमण या उल्लंघन किया जानेवाला स्थान, अर्थात् जिन निषेकोंमें नहीं मिलाते वे सब, अतिस्थापना हैं, क्योंकि, 'जिसमें अतिस्थापन या अतिक्रमण किया जाता है, सो अतिस्थापना है' ऐसा इसका अर्थ है। (ल.सा./भाषा/५५/८७/२) (ल.सा./भाषा/८१/११६/१८)।

२. अपकर्षण सामान्य निर्देश

१. अव्याघात अपकर्षण विधान

ल.सा./मू. व टीका/५६-५८/८८-९० केवल भावार्थ (नोट– साथ आगे दिया गया यन्त्र देखिए। द्वितीयावलीके प्रथम निषेकका अपकर्षण करि नीचे (प्रथमावलीमें) निक्षेपण करिये तहाँ भी कुछ निषेकोंमें तो निक्षेपण करते हैं, और कुछ निषेक अतिस्थापना रूप रहते हैं। उनका विशेष प्रमाण बताते हैं।) प्रथमावलीके निषेकनि विषैं समयघाट आवलीका त्रिभागसे एक समय अधिक प्रमाण निषेक तो निक्षेप रूप हैं (अर्थात् यदि आवली १६ समय प्रमाण तो $\frac{१६-१}{३}+१=६$ निषेक निक्षेप रूप है।) इस विषैं सोई द्रव्य दीजिये है। बहुरि अवशेष (नं० ७-१६ तकके १०) निषेक अतिस्थापना रूप हैं। (दे० यन्त्र नं० २)।
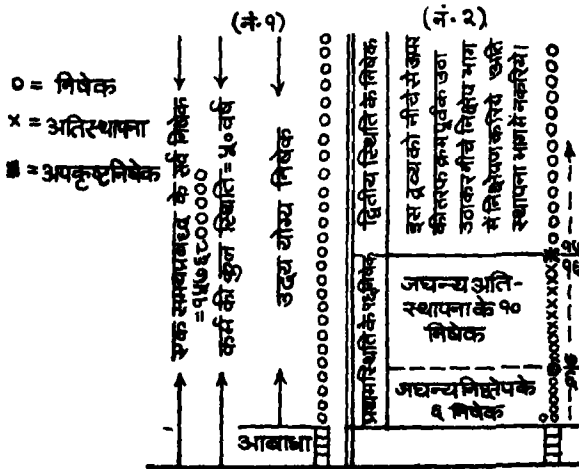
यातैं ऊपरि द्वितीयावलीके द्वितीय निषेकका अपकर्षण किया। तहाँ एक समय अधिक आवली मात्र (१६+१=१७) याके बीच निषेक हैं। तिनि विषैं निक्षेप तो (वही पहले वाला अर्थात्) निषेक घाट आवलीका त्रिभागसे एक समय अधिक ही है। अति-स्थापना पूर्वतैं एक समय अधिक है (क्योंकि द्वितीयावलीका प्रथम समय जिसके द्रव्यको पहिले अपकर्षण कर दिया गया है, अब खाली होकर अतिस्थापनाके समयोंमें सम्मिलित हो गया है।) ऐसे क्रमतैं द्वितीयावलीके तृतीयादि निषेकनिका अपकर्षण होते निक्षेप तो पूर्वोक्त प्रमाण ही और अतिस्थापना एक एक समय अधिक क्रमतै जानना। (इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते) अतिस्थापना आवली मात्र (अर्थात् १६ निषेक प्रमाण) हो है, सो यहु उत्कृष्ट अतिस्थापना है। यहाँ तैं (आगे) ऊपरिके निषेकनिका द्रव्य (अर्थात् द्वितीय स्थिति के नं० ७ आदि निषेक) अपकर्षण किये सर्वत्र अतिस्थापना तो आवली मात्र ही जानना अर निक्षेप एक-एक समय क्रमतैं बँधता जावे।
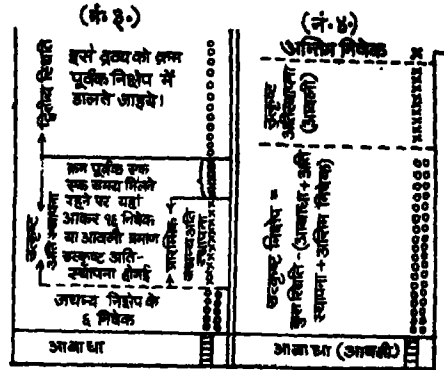
तहाँ स्थितिका अन्त निषेकका द्रव्यको अपकर्षण करि नीचले निषेकनि विषैं निक्षेपण करते, तिस अन्त निषेकके नीचे आवली मात्र निषेक तौ अतिस्थापना रूप हैं, और समय अधिक दोय आवली करि हीन उत्कृष्ट स्थिति मात्र निक्षेप है। सो यहु उत्कृष्ट निक्षेप जानना। (कुल स्थितिमेंसे एक आवली तो आबाधा काल और एक आवली अतिस्थापना काल तथा एक समय अन्तिम निषेकका कम करनेपर यह उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होता है। दे० यन्त्र नं० ४)।

२. अपकर्षण योग्य स्थान व प्रकृतियाँ

गो.क./मू/४४५-४४८/५९५-५९८ ओवकट्टणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति। खीणं सुहुमंताणं खयदेसं सावलीयसमयोत्ति ॥४४५॥ उवसंतोत्ति सुराऊ मिच्छत्तिय खवगसोलसाणं च। खयदेसोत्ति य खवगे अट्ठकसायादिवीसाणं ॥४४६॥ मिच्छत्तियसोलसाणं उवसमसेढिम्मि संतमोहोत्ति। अट्ठकसायादीणं उवसमियट्ठाणगोत्ति हवे ॥४४७॥ पढमकसायाणं च विसंजोजकं ओत्ति अयदवेसोत्ति। णिरयतिरियाउगाणमुदीरणसत्तोदया सिद्धा ॥४४८॥ =अयोगि विषैं सत्त्वरूप कही पिच्यासी प्रकृति (पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छः संस्थान, तीन अंगोपांग, छः संहनन, पाँच वर्ण, दोय गंध, पाँच रस, आठ स्पर्श, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, देवगति व आनुपूर्वी, प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, अनुदयरूप अन्यतम वेदनीय, नीच गोत्र—ये ७२ प्रकृति की तौ अयोगिके द्वि चरम समय सत्त्वमें व्युच्छित्ति होती है; बहुरि जिनका उदय अयोगि विषैं पाइये ऐसे उदयरूप अन्यतम वेदनीय, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थकरत्व, मनुष्यायु व आनुपूर्वी, उच्च गोत्र—इन तेरह प्रकृतियोंकी अयोगिके अन्त समय सत्त्वसे व्युच्छित्ति होती है। सर्व मिलि ८५ भई।) तिनिकै (८५ प्रकृतिनि कै) सयोगिका अन्त समय पर्यन्त अपकर्षण जानना। बहुरि क्षीणकषाय विषय सत्त्वसे व्युच्छित्ति भई सोलह और सूक्ष्म-साम्परायविषैं सत्त्वतैं व्युच्छित्ति भया सूक्ष्म लोभ इन तेरह प्रकृतिनिकैं क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षणकरण

जानना। (पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, निद्रा-
 ५ ४ ५ २
प्रचला ये सोलह तथा सूक्ष्म लोभ। सर्व मिलि १७ भई।) तहाँ क्षयदेश कहा सो कहिये है—जे प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप उदय देय विनसै हैं; ऐसी परमुखोदयी हैं, तिनिकें तो अन्तकाण्डककी अन्त फालि क्षयदेश है। बहुरि अपने ही रूप फल देइ विनसै हैं ऐसी स्वमुखोदयी प्रकृति, तिनिकै एक-एक समय अधिक आवली प्रमाण क्षयदेश है, तातैं तिनि सतरह प्रकृतिनिकै एक समय आवली काल पर्यंत अपकर्षण पाइये ॥४४५॥ उपशान्तकषाय पर्यन्त देवायुके अपकर्षणकरण है। बहुरि मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन और 'णिरय तिरक्खा' इत्यादि सूत्रोक्त अनिवृत्तिकरण विषै क्षय भई सोलह प्रकृति (नरक गति व आनुपूर्वी, तिर्यंचगति व आनुपूर्वी,
 २ २
विकलत्रय, स्त्यानगृद्धित्रिक, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण,
 ३ ३ १ १ १ १
सूक्ष्म, स्थावर, इन सोलह प्रकृतिनिकी अनिवृत्तिकरणके पहिले भाग
 १ १
विषैं सत्त्वसे व्युच्छित्ति है)। इनिके क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षणकरण है—अन्तकाण्डकका अन्तका फालि पर्यन्त है, ऐसा जानना। बहुरि आठ कषायने आदि देकरि अनिवृत्तिकरणविषैं क्षय भई ऐसी बीस प्रकृति (अप्रत्याख्यान कषाय, प्रत्याख्यान कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद
 ४ ४ १ १
छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध मान व माया। सर्व मिलि
 ६ १ ३
२० भई।) तिनिकैं अपने-अपने क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षणकरण है। जिस स्थानक क्षय भया सो क्षय देश कहिये ॥४४६॥

उपशम श्रेणीविषैं मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन अर नरक द्विकादिक सोलह (अनिवृत्तिकरणमें व्युच्छित्तिप्राप्त पूर्वोक्त १६) इनिकै उपशान्तकषाय पर्यन्त अपकर्षण है। बहुरि अष्ट कषायादिक (अनिवृत्तिकरणमें व्युच्छित्ति प्राप्त पूर्वोक्त २०) तिनिके अपने-अपने उपशमनेके ठिकाने पर्यन्त अपकर्षणकरण है ॥४४७॥ अनन्तानुबन्धी चतुष्ककै देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्तनि विषैं यथा सम्भव जहाँ विसंयोजना होई तहां पर्यन्त अपकर्षणकरण है ॥४४८॥

३. अपकृष्ट द्रव्यमें भी पुनः परिवर्तन होना सम्भव है

ध. ६/१,६-८,१६/२२/३४७ ओकड्डुदि जे अंसेसे काले ते च होंति भजिदव्वा। वड्ढीए अवट्ठाणे हाणीए संकमे उदए ॥२२॥ =जिन कर्मांशोंका अपकर्षण करता है वे अनन्तर कालमें स्थित्यादिकी वृद्धि, अवस्थान, हानि, संक्रमण, और उदय, इनसे भजनीय हैं, अर्थात् अपकर्षण किये जानेके अनन्तर समयमें ही उनमें वृद्धि आदिक उक्त क्रियाओंका होना सम्भव है ॥२२॥

४. उदयावलिसे बाहर स्थित निषेकोंका ही अपकर्षण होता है भीतरवालोंका नहीं

क.पा.७/चूर्ण सूत्र/§३२३-४२४/२३१ ओकड्डुणादो झीणट्ठिदियं णाम किं ॥४२३॥ जं कम्ममुदयावलियब्भंतरे ट्ठियं तमोकड्डुणादो झीणट्ठिदियं। जमुदयावलियबाहिरे ट्ठिदं तमोकड्डुणादो अज्झीणट्ठिदियं ॥४२४॥ —प्रश्न—वे कौनसे कर्मपरमाणु हैं जो अपकर्षणसे झीन (रहित) स्थितिवाले हैं ॥४२३॥ उत्तर—जो कर्मपरमाणु उदयावलिके भीतर स्थित हैं वे अपकर्षणसे झीन स्थितिवाले हैं और जो कर्मपरमाणु उदयावलिके बाहर स्थित हैं वे अपकर्षणसे अझीन स्थितिवाले हैं। अर्थात् उदयावलिके भीतर स्थित कर्म परमाणुओंका अपकर्षण नहीं होता, किन्तु उदयावलिके बाहर स्थित कर्मपरमाणुओंका अपकर्षण हो सकता है।

३. अपसरण निर्देश

१. चौंतीस स्थिति बन्धापसरण निर्देश

१. मनुष्य व तिर्यंचोंकी अपेक्षा

ल.सा./मू. व जी.प्र./८/१-१६/४७-५३. केवल भाषार्थ ''प्रथमोपशम सम्यक्त्वको सन्मुख भया मिथ्यादृष्टि जीव सो विशुद्धताकी वृद्धिकरि वर्द्धमान होता संता प्रायोग्यलब्धिका प्रथम समयतैं लगाय पूर्व स्थिति बन्धकै (?) संख्यातवें भागमात्र अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण आयु बिना सात कर्मनिका स्थितिबन्ध करै है ॥९॥ तिस अन्तःकोटाकोटी सागर स्थितिबन्ध तैं पल्यका संख्यातवां भागमात्र घटता स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त समानता लिये करै। बहुरि तातैं पल्यका संख्यातवां भागमात्र घटता स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त करै है। ऐसै क्रमतै संख्यात स्थितिबन्धापसरणनि करि पृथक्त्वसौ (८०० या ९००) सागर घटै पहिला स्थिति बन्धापसरण स्थान होइ। २ बहुरि तिस ही क्रमतैं तिस तैं भी पृथक्त्वसौ घटै दूसरा स्थितिबन्धापसरण स्थान हो है। ऐसे इस ही क्रमतैं इतना-इतना स्थिति बन्ध घटै एक-एक स्थान होइ। ऐसे स्थिति बन्धापसरणके चौंतीस स्थान होंइ। चौंतीस स्थाननिविषैं कैसी प्रकृतिका (बन्ध) व्युच्छेद हो है सो कहिए ॥१०॥ १. पहिला नरकायुका व्युच्छित्ति स्थान है। इहां तै लगाय उपशम सम्यक्त्व पर्यन्त नरकायुका बन्ध न होइ, ऐसे ही आगे जानना। २. दूसरा तिर्यंचायुका है। (इससे क्रमसे) ३. मनुष्यायु; ४. देवायु; ५. नरकगति व आनुपूर्वी; ६. संयोगरूप सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण; (संयोग रूप अर्थात् तीनोंका युगपत् बन्ध); ७. संयोगरूप सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक; ८. संयोगरूप बादर अपर्याप्त साधारण; ९. संयोगरूप बादर अपर्याप्त प्रत्येक; १०. संयोगरूप बेइन्द्रिय अपर्याप्त; ११. संयोगरूप तेइन्द्रिय अपर्याप्त; १२. संयोगरूप चौइन्द्रिय अपर्याप्त; १३. संयोगरूप असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त; १४. संयोगरूप संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ॥११॥ १५. संयोगरूप सूक्ष्म पर्याप्त साधारण; १६. संयोगरूप सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक; १७. संयोगरूप बादर पर्याप्त साधारण; १८. संयोगरूप बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय आतप स्थावर; १९. संयोग रूप बेइन्द्रिय पर्याप्त; २०. संयोगरूप तेइन्द्रिय पर्याप्त; २१. चौइन्द्रिय पर्याप्त; २२. असंज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त ॥१२॥ २३. संयोगरूप तिर्यंच व आनुपूर्वी तथा उद्योत; २४. नीच गोत्र; २५. संयोगरूप अप्रशस्त विहायोगति दुर्भग-दुःस्वर-अनादेय; २६. हुंडकसंस्थान, सृपाटिका संहनन; २७. नपुंसकवेद; २८. वामन संस्थान, कीलित संहनन; ॥१३॥ २९. कुब्जक संस्थान, अर्धनाराच संहनन; ३०. स्त्रीवेद; ३१. स्वाति संस्थान, नाराच संहनन, ३२. न्यग्रोध संस्थान, वज्रनाराच संहनन; ३३. संयोगरूप मनुष्यगति व आनुपूर्वी-औदारिक शरीर व अंगोपांग—वज्रवृषभनाराच संहनन; ३४. संयोगरूप अस्थिर-अशुभ-अयश- ॥१४॥ अरति-शोक-असाता—। ऐसे ये चौंतीस स्थान भव्य और अभव्यके समान ही हैं ॥१५॥ मनुष्य तिर्यंचनिकैं तो सामान्योक्त चौंतीस स्थान पाइये है तिनिके ११७ बन्ध योग्यमें से ४६ की व्युच्छित्ति भई, अवशेष ७१ बान्धिये है ॥१६॥ (ध.६/१,९-२,२/१३५/५) (ल.सा./२२२-२२३/२६७) (क.पा.सू./१०-१४/४०/पृ.६१७-६११) (म.ब./पु.३/११५-११६)।

२. भवनत्रिक व सौधर्म युगलकी अपेक्षा

ल.सा./मू.व.टी./१६/५३/केवल भाषार्थ ''भवनत्रिक व सौधर्म युगलविषैं दूसरा, तीसरा, अठारहवाँ और तेईसवाँ आदि दस (२३-३२) और अन्तका चौंतीसवाँ ये चौदह स्थान ही संभवै हैं। तहां ३१ प्रकृतिनि की व्युच्छित्ति हो है और बन्ध योग्य १०३ विषैं ७२ प्रकृतिनिका बन्ध अवशेष रहे है ॥१६॥

३. प्रथम छह नरकों तथा सनत्कुमारादि १० स्वर्गोंकी अपेक्षा

ल.सा./मू.व.टी./१७/५४ केवल भाषार्थ—"रत्नप्रभा आदि छह नरक पृथिवीनिविषैं और सनत्कुमार आदि दश स्वर्गनिविषैं पूर्वोक्त (भवनत्रिकके) १४ स्थान अठारहवें बिना पाइये है। तिनि तेरह स्थाननिकरि अठाईस प्रकृति व्युच्छित्ति हो हैं। तहां बंधयोग्य १०० प्रकृतिनिविषैं ७२ का बन्ध अवशेष रहे है ॥१७॥

४. आनतसे उपरिम ग्रैवेयक तककी अपेक्षा

ल.सा./मू.व.टी./१८/५५/केवल भाषार्थ—"आनत स्वर्गादि उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त विषै (उपरोक्त) १३ स्थान दूसरा व तेईसवां विना पाइये। तहां तिनि ग्यारह स्थाननिकरि चौबीस घटाइ बन्धयोग्य ९६ प्रकृतिनिविषै ७२ बांधिये है ॥१८॥

५. सातवीं पृथिवीकी अपेक्षा

ल.सा./मू.व.टी/१९/५५/केवल भाषार्थ—"सातवीं नरक पृथिवी विषै जे (उपरोक्त) ११ स्थान तीसरा करि हीन और दूसरा करि सहित तथा चौबीसवां करि हीन पाइये। तहां तिनि १० स्थाननि करि तेईसवां उद्योत सहित ये चौबीस घटाइ बन्ध योग्य ९६ प्रकृतिनिविषैं ७३ वा ७२ बांधिये है, जातैं उद्योतको बन्ध वा अबन्ध दोनों संभवे है ॥१९॥

२. स्थिति सत्त्वापसरण निर्देश

क्ष.सा./मू.व.टी./४२७–४२८/५०६/केवल भाषार्थ "मोहादिकका क्रम लिए जो क्रमकरण (दे० क्रमकरण) रूप बन्ध भया, तातैं परै इस ही क्रम लिये तितने ही संख्यात हजार स्थिति बन्ध भये असंज्ञी पंचेन्द्रिय समान (सागरोपमलक्षपृथक्त्व) स्थिति सत्त्व है। बहुरि तातैं परै जैसे-जैसे मोहनीयादिकका क्रमकरण पर्यन्त स्थिति बन्धका व्याख्यान किया तैसे ही स्थिति सत्त्वका होना अनुक्रम तैं जानना। तहां एक पल्य स्थिति पर्यन्त पल्यका संख्यातवां भागमात्र, तातैं दूरापकृष्टि पर्यन्त पल्यका संख्यातवां भागमात्र, तातैं संख्यात हजार वर्ष स्थिति पर्यन्त पल्यका असंख्यातवां बहुभागमात्र आयाम लिये जो स्थिति बन्धापसरण तिनिकरि स्थिति बन्धका घटना कहा था, तैसे ही इहां तितने आयाम लिये स्थिति काण्डकनिकरि स्थितिसत्त्वका घटना हो है। बहुरि तहां संख्यात हजार स्थिति बन्धका व्यतीत होना कहा तैसे इहां भी कहिए है, वा तहां तितने स्थिति काण्डकनिका व्यतीत होना कहिए। जातैं स्थिति बन्धापसरण और स्थितिकाण्डकोत्करणका काल समान है। बहुरि तहां स्थिति बन्ध जहां कह्या था यहां स्थिति सत्त्व तहां कहना। बहुरि अल्प बहुत्व त्रैराशिक आदि विशेष बन्धापसरणवत् ही जानना। सो स्थिति सत्त्वका क्रम कहिए—प्रत्येक संख्यात हजार काण्डक गये क्रमतैं असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, बेइन्द्रिय, एकेन्द्रियनिकै स्थिति बन्ध के समान कर्मनिकी स्थिति सत्त्व हजार, सौ, पचास, पच्चीस, एक सागर प्रमाण हो है। बहुरि संख्यात स्थिति काण्डक भये बीसयनि (नाम गोत्र) का एक पल्य; तीसियनि (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय) का ड्योढ़ पल्य; मोहका दोय पल्य स्थिति सत्त्व हो है। १. तातैं परै पूर्व सत्त्वका संख्यात बहुभागमात्र एक काण्डक भये बीसयनिका पल्यके संख्यात भागमात्र स्थिति सत्त्व भया तिस कालविषैं बीसयनिकेतै तीसयनिका संख्यातगुणा मोहका विशेष अधिक स्थिति सत्त्व भया। २. बहुरि इस क्रमतै संख्यात हजार स्थिति काण्डक भये तीसयनिका (एक) पल्यमात्र, मोहका त्रिभाग अधिक पल्य ($1\frac{1}{3}$) मात्र स्थिति सत्त्व भया। ताके परै एक काण्डक भये तीसयनिका भी पल्यके संख्यातवें भागमात्र स्थिति सत्त्व हो है। तिस समय बीसयनिका स्तोक तातैं तीसयनिका संख्यातगुणा तातैं मोहका संख्यातगुणा स्थिति सत्त्व हो है। ३. बहुरि इस क्रम लिये संख्यात स्थितिकाण्डक भये मोहका पल्यमात्र स्थिति सत्त्व हो है। बहुरि एक काण्डक भये मोहका भी पल्यके संख्यातवें भागमात्र स्थिति सत्त्व हो है। तीहि समय सातों कर्मनिका स्थिति सत्त्व पल्यके संख्यातवें भागमात्र भया। तहां बीसयनिका स्तोक, तीसयनिका संख्यातगुणा तातैं मोहका संख्यातगुणा स्थिति सत्त्व हो है। ४. तातैं परै इस क्रम लिये संख्यात हजार स्थितिकाण्डक भये बीसयनिका स्थितिसत्त्व दूरापकृष्टिको उल्लंघि पल्यके असंख्यातवें भागमात्र भया। तिस समय बीसयनिका स्तोक तातैं तीसयनिका असंख्यातगुणा तातैं मोहका संख्यातगुणा स्थिति सत्त्व हो है। ५. तातैं परै इस क्रम लिये संख्यात हजार स्थितिकाण्डक भये तीसयनिका स्थितिसत्त्व दूरापकृष्टिकौ उल्लंघि पल्यके असंख्यातवें भागमात्र भया। तब सर्व ही कर्मनिका स्थितिसत्त्व पल्यके असंख्यातवें भागमात्र भया। तहां बीसयनिका स्तोक तातैं तीसयनिका असंख्यातगुणा तातैं मोहका असंख्यातगुणा स्थितिसत्त्व हो है। ६. बहुरि इस क्रमकरि संख्यात हजार स्थितिकाण्डक भये नाम-गोत्रका स्तोक तातैं मोहका असंख्यातगुणा तातैं तीसयनिका असंख्यातगुणा स्थितिसत्त्व हो है। ७. बहुरि इस क्रम लिये संख्यात हजार स्थितिकाण्डक भये मोहका स्तोक तातैं बीसयनिका असंख्यातगुणा तातैं तीसयनिका असंख्यातगुणा स्थितिसत्त्व हो है। ८. बहुरि इस क्रम लिये संख्यात हजार स्थितिकाण्डक भये मोहका स्तोक तातैं बीसयनिका असंख्यातगुणा तातैं तीन घातियानिका असंख्यातगुणा तातैं वेदनीयका असंख्यातगुणा स्थितिसत्त्व हो है। ९. बहुरि इस क्रम लिये संख्यात हजार स्थितिकाण्डक भये मोहका स्तोक, तातैं तीन घातियानिका असंख्यातगुणा तातैं नाम-गोत्रका असंख्यातगुणा तातैं वेदनीयका विशेष अधिक स्थितिसत्त्व हो है। १०. ऐसे अंतविषैं नाम गोत्रतैं वेदनीयका स्थितिसत्त्व साधिक भया तब मोहादिकैं क्रम लिये स्थिति सत्त्वका क्रमकरण भया ॥४२७॥ बहुरि इस क्रमकरणतैं परैं संख्यात हजार स्थितिबन्ध व्यतीत भये जो पल्यका असंख्यातवां भागमात्र स्थितिबन्ध होइ ताकौं होतै संतै तहां असंख्यात समय प्रबद्धनिकी उदीरणा हो है। इहाँ तै पहिलै अपकर्षण किया द्रव्यकौ उदयावली विषैं देनेके अर्थि असंख्यात लोकप्रमाण भागहार संभवै था। तहाँ समयप्रबद्धके असंख्यातवां भाग मात्र उदीरणाद्रव्य था। अब तहां पल्यका असंख्यातवां भागप्रमाण भागहार होनेतैं असंख्यात समयप्रबद्धमात्र उदीरणाद्रव्य भया ॥४२८॥

३. ३४ बन्धापसरणोंकी अभव्यमें संभावना व असंभावना संबन्धी दो मत

१. अभव्यको भी संभव है

ल.सा./मू./१५/४७ बंधापसरणस्थानानि भव्याभव्येषु सामान्यानि। —चौतीस बन्धापसरणस्थान भव्य वा अभव्यके समान हो हैं।

२. अभव्यको संभव नहीं

म.ब.३/११५/११ पंचिंदियाणं सण्णीणं मिच्छादिट्ठीणं अभवसिद्धिया० पाओग्गं अंतोकोडाकोडिपुधत्तं बंधमाणस्स णत्थि ट्ठिदिबंधवोच्छेदो। —पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अभव्योंके योग्य अन्तःकोड़ाकोड़ीपृथक्त्वप्रमाण स्थितिका बन्ध करनेवाले जीवके स्थितिकी बन्ध व्युच्छित्ति नहीं होती है।

४. व्याघात या काण्डकघात निर्देश

१. स्थितिकाण्डक घात विधान

ल.सा./मू.६०/९२/केवल भाषार्थ "जहां स्थिति काण्डकघात होइ सो व्याघात कहिए। तहाँ कहिए है—कोई जीव उत्कृष्ट स्थिति बान्धि पीछे क्षयोपशमलब्धिकरि विशुद्ध भया तब बन्धी थी जो स्थिति ताहीं

विषै आबाधारूप बन्धावलीकौ व्यतीत भये पीछे एक अन्तर्मुहूर्त कालकरि स्थितिकाण्डकका घात किया। तहाँ जो उत्कृष्ट स्थिति-बान्धी थी, तिस विषैं अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति अवशेष राखि अन्य सर्व स्थितिका घात तिस काण्डककरि हो है। तहाँ काण्डकविषैं जेती स्थिति घटाई ताके सर्व निषेकनिका परमाणूनिकौ समय समय प्रति असंख्यातगुणा क्रम लिये, अवशेष राखी स्थितिविषैं अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निक्षेपण करिए है। सो समय-समय प्रति जो द्रव्य निक्षेपण किया सोई फालि है। तहाँ अन्तकी फालिविषैं, स्थितिके अन्त निषेकका जो द्रव्य ताकौ ग्रहि अवशेष राखी स्थितिविषैं दिया। तहाँ अन्तःकोटाकोटी सागरकरि हीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना हो है, जातैं इस विषैं सो द्रव्य न दिया। इहाँ उत्कृष्ट स्थितिविषैं अन्तःकोटाकोटी सागरमात्र स्थिति अवशेष रही तिसविषैं द्रव्य दिया, सो यहू निक्षेप रूप भया। तातैं यहू घटाया अर एक अन्त निषेकका द्रव्य ग्रह्या ही है तातैं एक समय घटाया है अंक संदृष्टिकरि जैसे हजार समयनिकी स्थितिविषैं काण्डकघातकरि सौ समयकी स्थिति राखी। (तहाँ सौ समय उत्कृष्ट निक्षेप रूप रहे अर्थात्, हजारवाँ समय सम्बन्धी निषेकका द्रव्यकौ आदिके सौ समयसम्बन्धी निषेकनिविषैं दिया)। तहाँ शेष बचे ८९९ मात्र समय उत्कृष्ट अतिस्थापना हो है ॥५९-६०॥

सत्तास्थितनिषेक–०
उत्कीरित निषेक–×

अन्तिम निषेक ×
कुल स्थिति -(आबाधा + निक्षेपकाल+१अन्तिम निषेकका समय) इतनी स्थिति पूर्ण नष्ट हो गई।
स्थिति घटाकर शेष राखी स्थिति
अन्तर्मुहूर्त प्रमाण "काण्डकघात काल"
आबाधा आवली

नोट—(अव्याघात विधानमें अतिस्थापना केवल आवली मात्र थी और निक्षेप एक एक समय बढ़ता हुआ लगभग पूर्ण स्थिति प्रमाण ही रहता था, इसलिए तहाँ स्थितिका घात होना संभव न था। वहाँ प्रदेशोंका अपकर्षण तो हुआ पर स्थितिका नहीं। यहाँ स्थिति काण्डक घात विषैं निक्षेप अत्यन्त अल्प है और शेष सर्व स्थिति अतिस्थापना रूप रहती है, अर्थात् अपकृष्ट द्रव्य केवल अल्प मात्र निषेकोंमें ही मिलाया जाता है शेष सर्व स्थितिमें नहीं। उस स्थानका द्रव्य हटा कर निक्षेप में मिला दिया और तहाँ दिया कुछ न गया। इसलिए वह सर्वस्थान निषेकोंसे शून्य हो गया। यही स्थितिका घटना है। (दे० अपकर्षण/२/१)। जैसे अव्याघात विधानमें आवली प्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना प्राप्त होनेके पश्चात्, ऊपरका जो निषेक उठाया जाता था उसका समय तो अतिस्थापनाके आवली प्रमाण समयोंमें से नीचेका एक समय निक्षेप रूप बन जाता था। क्योंकि निक्षेप रूप अन्य निषेकोंके साथ-साथ उसमें भी अपकृष्ट द्रव्य मिलाया जाता था। इस प्रकार अतिस्थापनामें तो एक-एक समयकी वृद्धि व हानि बराबर बनी रहनेके कारण वह तो अन्त तक आवली प्रमाण ही रहती थी, और निक्षेप में बराबर एक-एक समय की वृद्धि होनेके कारण वह कुछ स्थितिसे केवल अतिस्थापनावली करि हीन रहता था। यहाँ व्याघात विधान विषै उलटा क्रम है। यहाँ निक्षेपमें वृद्धि होनेकी बजाये अतिस्थापनामें वृद्धि होती है। अपकर्षण-द्वारा जितनी स्थिति शेष रखी गयी उतना ही यहाँ उत्कृष्ट निक्षेप है। जघन्य निक्षेपका यहाँ विकल्प नहीं है। तथा उससे पूर्व स्थितिके अन्तिम समय तक सर्वकाल अतिस्थापना रूप है। यहाँ ऊपरवाले निषेकोंका द्रव्य पहिले उठाया जाता है और नीचे वालोंका क्रम पूर्वक उसके पीछे। अव्याघात विधानमें प्रति समय एक ही निषेक उठाया जाता था पर यहाँ प्रति समय असंख्यात निषेकोंका द्रव्य इकट्ठा उठाया जाता है। एक समयमें उठाये गये सर्व द्रव्यको एक फालि कहते हैं। व्याघात विधानका कुल काल केवल एक अन्तर्मुहूर्त है, जिसमें कि उपरोक्त सर्व स्थितिका घात करना इष्ट है। अन्तर्मुहूर्तके असंख्यातों खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में भी एक प्रति समय एक एक फालिके क्रमसे जितना द्रव्य उठाया गया उसे एक काण्डक कहते हैं। इस प्रकार एक एक अन्तर्मुहूर्त में एक एक काण्डकका निक्षेपण करते हुए कुल व्याघातके कालमें असंख्यात काण्डक उठा लिये जाते हैं, और निक्षेप रूप निषेकोंके अतिरिक्त ऊपरके अन्य सर्व निषेकोंके समय कार्माण द्रव्यसे शून्य कर दिये जाते हैं। इसीलिए स्थितिका घात हुआ कहा जाता है। क्योंकि इस विधानमें काण्डकरूपसे द्रव्यका निक्षेपण होता है, इसलिए इसे काण्डक घात कहते हैं, और स्थितिका घात होनेके कारण व्याघात कहते हैं।)

२. काण्डकघातके बिना स्थितिघात सम्भव नहीं

ध.१२/४,२,१४,३०/४८९/८ खंडयघादेण विणा कम्मट्ठिदीए घादाभावादो। =काण्डकघातके बिना कर्म स्थितिका घात सम्भव नहीं है।

३. आयुका स्थितिकाण्डकघात नहीं होता

ध. ६/१,९-८,५/२२४/३ अपुव्वकरणस्स · आयुगवज्जाणे सव्वकम्माणट्ठिदिखंडओ होदि। =(अपूर्वकरणके प्रकरणमें) यह स्थितिखण्ड आयु कर्मको छोड़कर शेष समस्त कर्मोंका होता है। (अन्यत्र भी सर्वत्र यह नियम लागू होता है)।

४. स्थितिकाण्डकघात व स्थिति बन्धापसरणमें अन्तर

क्ष.सा./मू.४१८/४९९ बंधोसरणा बंधो ठिदिखंडं संतमोसरदि ॥४१८॥ =स्थितिबन्धापसरणकरि स्थितिबन्ध घटै है और स्थिति काण्डकनिकरि स्थितिसत्त्व घटै है। नोट—(स्थिति बन्धापसरणमें विशेष हानिक्रमसे बन्ध घटता है और स्थितिकाण्डकघातमें गुणहानिक्रमसे सत्त्व घटता है।)

ल.सा./जी.प्र./७९/११४ एकैकस्थितिखण्डनिपतनकालः, एकैकस्थितिबन्धापसरणकालश्च समानावन्तर्मुहूर्तमात्रौ। =जाकरि एक बार स्थिति सत्त्व घटाइये ऐसा काण्डकोत्करणकाल और जाकरि एक बार स्थितिबन्ध घटाइये सो स्थिति बन्धापसरण काल ए दोऊ समान हैं, अन्तर्मुहूर्त मात्र हैं।

५. अनुभागकाण्डकघात विधान

ल.सा./मू.व टीका/८०–८१/११४–११६/केवल भाषार्थ "अप्रशस्त जे असाता प्रकृति तिनिका अनुभाग काण्डकायाम अनन्तबहुभागमात्र है। अपूर्वकरणका प्रथम समय विषैं (चारित्रमोहोपशमका प्रकरण है) जो पाइए अनुभाग सत्त्व ताकौ अनन्तका भाग दीए तहाँ एक काण्डक करि बहुभाग घटावै। एक भाग अवशेष राखै है। यहु प्रथम खण्ड भया। याकौ अनन्तका भाग दीए दूसरे काण्डक करि बहुभाग घटाइ एक भाग अवशेष राखे है। ऐसै एक एक अन्तर्मुहूर्त करि एक एक अनुभाग काण्डकघात हो है। तहाँ एक अनुभाग काण्डकोत्करण काल विषैं समय-समय प्रति एक-एक फालिका घटावना हो है ॥८०॥ अनुभागको प्राप्त ऐसे कर्म परमाणु सम्बन्धी एक गुणहानिविषैं स्पर्धकनिका प्रमाण सो स्तोक है। तातैं अनन्तगुणे अतिस्थापनारूप स्पर्धक हैं। तातैं अनन्तगुणे निक्षेप स्पर्धक है। तातैं अनन्तगुणा अनुभाग काण्डकायाम हैं। इहाँ ऐसा जानना कि कर्मनिके अनुभाग विषैं अनुभाग रचना है। तहाँ प्रथमादि स्पर्धक स्तोक अनुभाग युक्त हैं। ऊपरिके स्पर्धक

बहु अनुभागयुक्त हैं। तहाँ तिनि सर्व स्पर्धकनिकौं अनन्तका भाग दियें बहुभागमात्र जे ऊपरिके स्पर्धक, तिनिके परमाणूनिकौ एक भागमात्र जे निचले स्पर्धक तिनि विषैं, केतेइक ऊपरिके स्पर्धक छोड़ि अवशेष निचले स्पर्धकनिरूप परिणमावै है। तहाँ केतेइक परमाणु पहिले समय परिणमावै हैं, केतेइक दूसरे समय परिणमावै हैं। ऐसे अन्तर्मुहूर्त कालकरि सर्व परमाणू परिणमाइ तिनि ऊपरि के स्पर्धकनिका अभाव करै है।···तिनिका द्रव्यको जे काण्डकघात भये पीछैं अवशेष स्पर्धक रहैं तिनिविषैं तिनि प्रथमादि स्पर्धकनिविषैं मिलाया, ते तौ निक्षेप रूप हैं, अर जिनि ऊपरिके स्पर्धकनि विषैं न मिलाया ते अतिस्थापना रूप हैं॥८१॥ (क्ष.सा./मू. व टी./४०८–४०६/४६३)

६. अनुभाग काण्डकघात व अपवर्तनघातमें अन्तर

ध, १२/४,२,७,४१/३२/१ एसो अणुभागखंडयघादो त्ति किण्ण वुच्चदे। ण, पारद्धपढमसमयादो अंतोमुहुत्तेण कालेण जो घादो णिप्पज्जदि सो अणुभागखंडयघादो णाम, जो पुण उक्कीरणकालेण विणा एगसमएणेव पददि सा अणुसमओवट्टणा। अण्णं च, अणुसमओवट्टणाए णियमेण अणंता भागा हम्मंति, अणुभागखंडयघादे पुण णत्थि ऐसो णियमो, छव्विहहाणीए खंडयघादुवलंभादो। =प्रश्न—इसे (अनुसमयापवर्तनाघातको) अनुभागकाण्डकघात क्यों नहीं कहते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रारम्भ किये गये प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा जो घात निष्पन्न होता है, वह अनुभागकाण्डकघात है। परन्तु उत्कीरण कालके बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है, वह अनुसमयापवर्तना है। दूसरे अनुसमयापवर्तनामें नियमसे अनन्त बहुभाग नष्ट होता है परन्तु अनुभाग काण्डकघातमें यह नियम नहीं है, क्योंकि छह प्रकारकी हानि-द्वारा काण्डकघातकी उपलब्धि होती है। **विशेषार्थ**—काण्डक पोरको कहते हैं। कुल अनुभागके हिस्से करके, एक एक हिस्सेका फालि क्रमसे अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डक घात कहलाता है। और प्रति समय अनन्त बहुभाग अनुभागका अभाव करना अनुसमयापवर्तना कहलाती है। मुख्य रूपसे यही इन दोनोंमें अन्तर है।

७. शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग घात नहीं होता

ध, १२/४,२,७,१४/१८/१ सुहाणं पयडीणं विसोहिदो केवलिसमुग्घादेण जोगणिरोहेण वा अणुभागघादो णत्थि त्ति जाणावेदि। खीणकसायसजोगीसु ट्ठिदिअणुभागघादेसु संतेसु वि सुहाणं पयडीणं अणुभागघादो त्ति सिद्धे ट्ठिदिअणुभागवज्जिदे सुहाणं पयडीणमुक्कस्साणुभागो होदि णत्थि त्ति अत्थावत्तिसिद्धं। =शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात विशुद्धि, केवलि समुद्घात अथवा योगनिरोधसे नहीं होता। क्षीणकषाय और सयोगी गुणस्थानोंमें स्थितिघात व अनुभागघातके होनेपर भी शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात वहाँ नहीं होता, यह सिद्ध होनेपर 'स्थिति व अनुभागसे रहित अयोगी गुणस्थानमें शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग होता है,' यह अर्थापत्तिसे सिद्ध है।

ल.सा./मू./८०/११४ सुहपयडीणं णियमा णत्थि त्ति रसस्स खंडाणि। =शुभ प्रकृतियोंका अनुभागकाण्डकघात नियमसे नहीं होता है।

८. प्रदेशघातसे स्थिति घटती है पर अनुभाग नहीं

क.पा. ५/४-२२/§५७२/३३७/११ ट्ठिदीए इव पदेसगलणाए अणुभागघादो णत्थि त्ति। =प्रदेशोंके गलनेसे जैसे स्थितिघात होता है, वैसे प्रदेशोंके गलनेसे अनुभागका घात नहीं होता।

९. स्थिति व अनुभाग घातमें परस्पर सम्बन्ध

ध. ६/१,६-८,१७/२१६/१० अंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदिकंडयं घादेंतो अप्पणो कालब्भंतरे संखेज्जसहस्साणि ट्ठिदिकंडयाणि घादेदि। तत्तियाणि चेव ट्ठिदिबंधोसरणाणि वि करेदि। तेहितो संखेज्जसहस्सगुणे अणुभागकंडय-घादे करेदि, 'एक्काणुभाग-कंडय-उक्कीरणकालादो एक्कं ट्ठिदिकंडय-उक्कीरणकालो संखेज्जगुणो' त्ति सुत्तादो। =एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक-एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यात हजार स्थितिकाण्डकोंका घात करता है। और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है। तथा उनसे संख्यात हजार गुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है, क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरणकालसे एक स्थितिकाण्डकके उत्कीरणकाल संख्यात गुणा है। (ल.सा./मू/७६/११४)

ध, १२/४,२,१३,४०/३६३/१२ पडिभग्गपढमसमयप्पहुडि जाव अंतोमुहुत्तकालो ण गदो ताव अणुभागखंडयघादाभावादो।

ध, १२/४,२,१३,६४/४१३/७ अंतोमुहुत्तचरिमसमयस्स कधमुक्कस्साणुभागसंभवो। ण, तस्स अणुभागखंडयघादाभावादो।

=प्रतिभग्न होनेके प्रथम समयसे लेकर जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल नहीं बीत जाता तब तक अनुभागकाण्डकघात सम्भव नहीं। —**प्रश्न**—अन्तर्मुहूर्तके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट अनुभागकी संभावना कैसे है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, उसके अनुभागकाण्डक घातका अभाव है।

ध, १२/४,२,१३,४१/१–२/३६४ ट्ठिदिघादे हंमंते अणुभागा आऊआण सव्वेसिं। अणुभागेण विणा वि हु आउववज्जाण ट्ठिदिघादो॥१॥ अणुभागे हंमंते ट्ठिदिघादो आउआण सव्वेसिं। ट्ठिदिघादेण विणा वि हु आउववज्जाणमणुभागो॥२॥ =स्थितिघात होनेपर (ही) सब आयुओंके अनुभागका नाश होता है। (परन्तु) आयुको छोड़कर शेष कर्मोंका अनुभागके बिना भी स्थितिघात होता है॥१॥ (इसी प्रकार) अनुभागका घात होनेपर (ही) सब आयुओंका स्थितिघात होता है (परन्तु) आयुको छोड़कर शेष कर्मोंका स्थितिघातके बिना भी अनुभागघात होता है॥२॥

ध, १२/४,२,१६,१६२/४३१/१३ आउअस्स खवगसेढीए पदेसस्स गुणसेढिणिज्जराभावो व ट्ठिदि-अणुभागाणं घादाभावादो। =क्षपकश्रेणीमें आयुकर्मके प्रदेशोंकी गुणश्रेणी निर्जराके अभावके समान स्थिति और अनुभागके घातका अभाव है। इसीलिए वहाँ घातको प्राप्त हुआ अनुभाग अनन्तगुणा हो जाता है)।

अपकर्षसमा—न्या.सू./५/१/४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः॥४॥

न्या.भा./५/१/४/२८८ साध्ये धर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसञ्जतोऽपकर्षसमः। लोष्टः खलु क्रियावानविभुर्दृष्टः काममात्मापि क्रियावानविभुरस्तु विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति।

=साध्यमें दृष्टान्तसे धर्माभावके प्रसंगको अपकर्षसम कहते हैं। जैसे कि 'लोष्ठ निश्चय क्रियावाला व अविभु देखा गया है अतः (इस दृष्टान्त-द्वारा साध्य) आत्मा भी क्रियावान् व अविभु होना चाहिए। जो ऐसा नहीं है तो विशेषता दिखानी चाहिए।

श्लो. वा. ४/न्या. ३४४/४७७/४ विद्यमानधर्मापनयोऽपकर्षः।

श्लो. वा. ४/न्या.३४१/४७६ तत्रैव क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते सति साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टान्तात् समा संजयन् यो वक्ति सोऽपकर्षसमाजातिं वदति। यथा लोष्टः क्रियाश्रयोऽसर्वगतो दृष्टस्तद्वदात्मा सदाप्यसर्वगतोऽस्तु विपर्यये वा विशेषकृद्धेतुर्वाच्य इति।

=विद्यमान हो रहे धर्मका पक्षमें-से अलग कर देना अपकर्ष है। क्रियावान् जीवके साधनेका प्रयोग प्राप्त होनेपर जो प्रतिवादी साध्यधर्मीमें धर्मके अभावको दृष्टान्तसे भले प्रकार प्रसंग कराता हुआ कह रहा हो कि वह अपकर्षसमा जाति है।—जैसे कि लोष्ठ क्रियावान् हो रहा अव्यापक देखा गया है, उसीके समान आत्मा भी सर्वदा असर्वगत हो जाओ। अथवा विपरीत माननेपर कोई विशेषताको करनेवाला कारण बतलाना चाहिए, जिससे कि डेलेका

एक धर्म (क्रियावान्‌पना) तो आत्मामें मिलता रहे और दूसरा धर्म (असर्वगतपना) आत्मामें न ठहर सके।

अपकार—दे० उपकार।

अपकृष्ट—क्ष.सा./भाषा/५८८/७०६ गुणश्रेणी आदिके अर्थि जो सर्व स्थितिके द्रव्यको अपकर्षण करि ग्रहिये सो अपकृष्टि (अपकृष्ट) द्रव्य कहिए है।

अपक्षय—रा.वा./४/४२/४/२५०/१६ क्रमेण पूर्वभावैकदेशनिवृत्तिरपक्षयः। =क्रमपूर्वक पूर्वभावकी एकदेश निवृत्ति होना अपक्षय है।

अपवर्गा—नील पर्वतस्थ कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/७।

अपदेश—स.सा./ता.वृ./१५ अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दः द्रव्यश्रुतमिति। =जिसके द्वारा अर्थ निर्देशित किये जायें सो अपदेश है। वह शब्द अर्थात् द्रव्यश्रुत है।

अपध्यान—र.क.श्रा./मू./७८ वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदः ॥७८॥ =जिनशासनमें चतुर पुरुष, रागसे अथवा द्वेषसे अन्यकी स्त्री आदिके नाश होने, कैद होने, कट जाने आदिके चिन्तन करनेको आध्यान या अपध्याननामा अनर्थदण्ड कहते हैं।

स.सि./७/२१/३६० परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्गच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। =दूसरोंका जय, पराजय, मारना, बाँधना, अंगोंका छेदना, और धनका अपहरण आदि कैसे किया जाये इस प्रकार मनसे विचार करना अपध्यान है। (रा.वा./७/२१/२१/५४९/७) (चा.सा./१६/५) (पु.सि.उ./१४१)

चा.सा./१७१/३ उभयमप्येतदपध्यानम्। =ये दोनों आर्त व रौद्रध्यान अपध्यान हैं। (सा.ध./५/६)

का.अ./मू.३४४ परदोसाण वि गहणं परलच्छीणं समीहणं जं च। परइत्थी अवलोओ परकलहालोयणं पढमं ॥३४४॥ =परके दोषोंका ग्रहण करना, परकी लक्ष्मीको चाहना, परायी स्त्रीको ताकना तथा परायी कलहको देखना प्रथम (अपध्यान) अनर्थदण्ड है।

द्र.सं./टी./२२/६६/१ स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभवं दृष्टं श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयाभिलाषं करोति तदपध्यानं भण्यते। =स्वयं विषयोंके अनुभवसे रहित भी यह जीव अन्यके देखे हुए तथा सुने हुए विषयके अनुभवको मनमें स्मरण करके विषयोंकी इच्छा करता है, उसको अपध्यान कहते हैं (प्र.सा./ता.वृ./१५८/२१६)।

अपरविदेह—१. सुमेरु पर्वतके पश्चिममें स्थित गन्धमालिनी आदि १६ क्षेत्र अपर या पश्चिम विदेह कहलाते हैं—दे० लोक/७। २. नील पर्वतस्थ एक कूट व उसके रक्षक देवका नाम भी अपरविदेह है—दे० लोक/७।

अपरव्यवहार—आगमकी ७ नयोंमें व्यवहारनयका एक भेद—दे० नय III/५।

अपरसंग्रह—आगमकी ७ नयोंमें संग्रहनयका एक भेद—दे० नय III/४।

अपराजित—१. एक यक्ष—दे० यक्ष; २. एक ग्रह—दे० ग्रह; ३. कल्पातीत देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/१; ४. अपराजित स्वर्ग—दे० स्वर्ग/५; ५. जम्बूद्वीपकी वेदिकाका उत्तर द्वार—दे० लोक/७; ६. अपर विदेहस्थ वप्रवान क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७; ७. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; ८. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ९. (म.पु./५२/श्लो०७) धातकी खण्डमें सुसीमा देशका राजा था (२-३) प्रव्रज्या ग्रहणकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया और ऊर्ध्व ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हो गये (१२-१४) यह पद्मप्रभ भगवान्‌का पूर्वका तीसरा भव है। १०. (म.पु./६२/श्लो-) वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके राजा स्तमितसागरका पुत्र था (४१२-४१३) राज्य पाकर नृत्य देखनेमें आसक्त हो गया और नारदका सत्कार करना भूल गया (४३०-४३१) क्रुद्ध नारदने शत्रु दमितारिको युद्धार्थ प्रस्तुत किया (४४३) इन्होंने नर्तकीका वेश बना उसकी लड़कीका हरण कर लिया और युद्धमें उसको हरा दिया (४६१-४८४) तथा बलभद्र पद पाया (५१०)। अन्तमें दीक्षा ले समाधिमरण कर अच्युतेन्द्र पद पाया (२६-२७)। यह शान्तिनाथ भगवान्‌का पूर्वका ७वाँ भव है। ११. (म.पु./६२/श्लो.) सुगन्धिला देशके सिंहपुरनगरके राजा अर्हद्दासका पुत्र था (३-१०) पहिले अणुव्रत धारण किये(१६) फिर एक माहका उत्कृष्ट संन्यास धारण कर अच्युतेन्द्र हुआ (४५-५०) यह भगवान् नेमिनाथका पूर्वका पाँचवाँ भव है। १२. (ह.पु./३६/श्लो.) जरासन्धका भाई था, कंसकी मृत्युके पश्चात् कृष्णके साथ युद्धमें मारा गया (७२-७३)। १३. श्रुतावतारके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् तृतीय श्रुतकेवली हुए थे। समय—वी. नि. ९२-११४, ई० पू० ४३४-४१२। दे० इतिहास।४/१। १४. (सि.वि./प्र. ३४/पं. महेन्द्रकुमार) आप सुमति आचार्यके शिष्य थे। समय—वि. ४६४ (ई० ४३७)। १५. (भ.आ./प्र./पं. नाथूराम प्रेमी) आप चन्द्रनन्दिके दादागुरु थे और बलदेवसूरिके दीक्षागुरु थे। आपका अपर नाम विजयाचार्य था। आपने भगवती आराधनापर विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है। समय—वि. श. ६-११।

अपराजित संघ—आचार्य अर्हद्बलि-द्वारा स्थापित दिगम्बर साधु संघोंमें-से एक था। दे० इतिहास/५/५।

अपराजिता—१. भगवान् मुनिसुव्रतनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष; २. पूर्व विदेहस्थ महावत्सा देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७; ३. नन्दीश्वर द्वीपके पश्चिममें स्थित एक वापी; दे० लोक/७; ४. रुचकपर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरिका—दे० लोक/७; ५. रुचकपर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

अपराध—स.सा./मू./३०४ संसिद्धिराद्धसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं। अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥ संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित, ये एकार्थवाची शब्द हैं। जो आत्मा अपगतराध अर्थात् राधसे रहित है वह आत्मा अपराध है। (नि.सा./ता.वृ./८४)।

स.सा./आ./३००/क१८६ परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्। बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥१८६॥ =जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है, इसलिए बन्धमें पड़ता है। और जो स्वद्रव्यमें ही संवृत है, ऐसा यति निरपराधी है, इसलिए बन्धता नहीं है (स.सा./आ./३०१)।

अपराह्न—दिनका तीसरा पहर।

अपरिगृहीता—स.सि./७/२८/३६८ या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। =जो वेश्या या व्यभिचारिणी होनेसे दूसरे पुरुषोंके पास आती-जाती रहती है, और जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है, वह अपरिगृहीता कहलाती है।

अपरिणत—आहारका एक दोष—दे० आहार II/४।

अपरिणामी—दे० परिणमन।

अपरिस्राविता—भ.आ./मू./४८६,४९५ लोहेण पदीमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा। ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अपरिस्सवो होदि ॥४८६॥ इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स। पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धारिस्स ॥४९५॥ =जैसे तपा हुआ लोहेका गोला चारों तरफसे पानीका शोषण कर लेता है, वैसे ही जो आचार्य

क्षपकके दोषोंको सुनकर अपने अन्दर ही शोषण कर पूछनेपर अथवा न पूछनेपर भी जो उन्हें अन्यपर प्रगट न करे, वह अपरिस्रावी गुणका धारक है।

अपर्याप्त—दे० पर्याप्त।

अपवर्ग—न्या.सू./मू./१-१/२२ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। =उस दुःखदायी जन्मसे अत्यन्त विमुक्तिका नाम अपवर्ग है।

अपवर्तन—

१. अपवर्तनाघात सामान्यका लक्षण

स.सि./२/५३/२०१ बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विषशस्त्रादेः सति संनिधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम्। =उपघातके निमित्त विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर जो आयु घट जाती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है।

क.पा.१/१,१८/§३१५/३४७/५ किमोवट्टणं णाम। णवुंसयवेए खविदे सेसणोकसायक्खवणमोवट्टणं णाम। =प्रश्न—अपवर्तना किसे कहते हैं? उत्तर—नपुंसकवेदका क्षपण हो जानेपर शेष नोकषायोंके क्षपण होनेको यहाँ अपवर्तना कहा है।

गो.क./जी.प्र./६४३/८३७/१६ आयुर्बन्धं कुर्वतां जीवानां परिणामवशेन बध्यमानस्यायुषोऽपवर्तनमपि भवति तदेवापवर्तनघात इत्युच्यते, उदीयमानायुरपवर्तनस्यैव कदलीघाताभिधानात्। =आयुके बन्धको करते जीव तिनिकै परिणामनिके वशतें बध्यमान आयुका अपवर्तन भी होता है। अपवर्तन नाम घटनेका है, सो याकौ अपवर्तनघात कहिए, जातें उदय आई (भुज्यमान) आयुके अपवर्तनका नाम कदलीघात है। (अर्थात् भुज्यमान आयुके घटनेका नाम कदलीघात और बध्यमान आयुके घटनेका नाम अपवर्तनघात है।)

२. अनुसमयापवर्तनाका लक्षण

क.पा.५/४-२२/§६२७/३६६/१३ का अणुसमओवट्टणा। उदय-उदयावलियासु पविस्समाणट्ठिदीणमणुभागस्स उदयावलियबाहिरट्ठिदीणमणुभागस्स य समयं पडि अणंतगुणहीणकमेण घादो। =प्रश्न—प्रति समय अपवर्तना किसे कहते हैं? उत्तर—उदय और उदयावलिमें प्रवेश करनेवाली स्थितियोंके अनुभागका तथा उदयावलीसे बाहरकी स्थितियोंके अनुभागका जो प्रति समय अनन्तगुणहीन क्रमसे घात होता है उसे प्रतिसमय अपवर्तना कहते हैं।

ध.१२/४,२,७,४१/१२/३२/२ उक्कीरणकालेण विणा एगसमएणेव पददि सा अणुसमओवट्टणा। अण्णं च, अणुसमओवट्टणाए णियमेण अणंताभागा हम्मंति। =उत्कीरणकालके बिना एक समय-द्वारा जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तना है। अथवा अनुसमयापवर्तनामें नियमसे अनन्त बहुभाग नष्ट होता है। (अर्थात् एक समयमें ही अनन्तों काण्डकोंका युगपत् घात करना अनुसमयापवर्तना है।)

★ अनुसमयापवर्तना व काण्डकघातमें अन्तर— दे० अपकर्षण/४/६।

★ आयुके अपवर्तन सम्बन्धी—दे० आयु/५।

★ अकाल मृत्यु वश आयुका अपवर्तन—दे० मरण/६।

★ अपवर्तनोद्वर्तन—दे० अश्वकर्ण करण।

३. गणितके सम्बन्धमें अपवर्तन

समान मूल्योंमें बदलना जैसे १८/७२=१/४—दे० गणित II/१/१०।

अपवाद—यद्यपि मोक्षमार्ग केवल साम्यता की साधना का नाम है, परन्तु शरीरस्थितिके कारण आहार-विहार आदिमें प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। यदि इससे सर्वथा उपेक्षित हो जाये तो भी साधना होनी सम्भव नहीं और यदि केवल इसहीकी चर्यामें निरर्गल प्रवृत्ति करने लगे तो भी साधना सम्भव नहीं। अतः साधकको दोनों ही बातोंका सन्तुलन करके चलना आवश्यक है। तहाँ साम्यताकी वास्तविक साधनाको उत्सर्ग और शरीर चर्याको अपवाद कहते हैं। इन दोनों के सम्मेल सम्बन्धी विषय ही इस अधिकारमें प्ररूपित है।

१. भेद व लक्षण

१. अपवाद सामान्यका लक्षण

स.सि./१/३३/१४१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। =पर्याय का अर्थ विशेष अपवाद और व्यावृत्ति है।

द.पा./टी./२४/२१/२० विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात्। =विशेष रूपसे कही गयी विधिको अपवाद कहते हैं।

२. अपवादमार्गका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./२३० शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः। =बाल, वृद्ध, श्रान्त व ग्लान मुनियोंको शुद्धात्म तत्त्वके साधनभूत संयमका साधन होनेके कारण जो मूलभूत है, उसका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना, इस प्रकार अपवाद है।

प्र.सा./ता.वृ./२३० असमर्थः पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो 'व्यवहारनय' एकदेश-परित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदे-कार्थः। =असमर्थ जन शुद्धात्मभावनाके सहकारीभूत जो कुछ भी प्रासुक आहार ज्ञान व उपकरण आदिका ग्रहण करते हैं, उसीको अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशत्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र, शुभोपयोग इन नामोंसे कहा जाता है।

३. उत्सर्ग मार्गका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./२२२ आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः। =उत्सर्ग मार्ग वह है जिसमें कि सर्व परिग्रहका त्याग किया जाये, क्योंकि, आत्माके एक अपने भावके सिवाय पर-द्रव्यरूप दूसरा पुद्गलभाव नहीं है। इस कारण उत्सर्ग मार्ग परिग्रह रहित है।

प्र.सा./त.प्र./२३० बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमा-चरणीयमित्युत्सर्गः। =बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (रोगी श्रमण) को भी संयमका जो कि शुद्धात्मतत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो उस प्रकार संयतको अपने योग्य अतिकर्कश आचरण ही आचरना; इस प्रकार उत्सर्ग है।

प्र.सा./ता.वृ./२३०/३१५/५ शुद्धात्मनः सकाशादन्यद्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-रूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो 'निश्चयनयः' सर्वपरित्यागः परमोपेक्षा-संयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः। =शुद्धात्माके सिवाय अन्य जो कुछ भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह रूप है, उस सर्वका त्याग ही उत्सर्ग है। निश्चयनय कहो या सर्वपरित्याग कहो या परमोपेक्षा संयम कहो, या वीतरागचारित्र कहो या शुद्धोपयोग कहो. ये सब एकार्थवाची हैं।

२. अपवादमार्ग निर्देश

१. मोक्षमार्गमें क्षेत्र कालादिका विचार आवश्यक है

अन.ध./५/६५/५५८ द्रव्यं क्षेत्रं बलं भावं कालं वीर्यं समीक्ष्य च। स्वा-स्थाय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥६५॥ =विचार पूर्वक आच-रण करनेवाले साधुओंको आरोग्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान रखनेके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और वीर्य इन छः बातों-का अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन, विद्धाशन और शुद्धा-शनके द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिए। (अन. ध./७/१६–१७)

२. अपनी शक्तिका विचार आवश्यक है

ध.१३/५,४,२६/५६/१२ पित्तप्पकोवेण उववास अक्खमेहि अद्धाहारेण उववासादो अहियपरिस्समेहि···। =जो पित्तके प्रकोपवश उपवास करनेमें असमर्थ है; जिन्हें आधे आहारकी अपेक्षा उपवास करनेमें अधिक थकान होती है···(उन्हें यह अवमोदर्य तप करना चाहिए।)

अन.ध./५/६५; ७/१६–१७ – दे० पहलेवाला सं० २/१।

प्र.सा./ता.वृ./२३० (असमर्थ पुरुषको अपवादमार्गका आश्रय लेना चाहिए दे० पहले सं० १/२)।

३. आत्मोपयोगमें विघ्न न पड़े ऐसा ही त्याग योग्य है

प्र.स./त.प्र./२१५ तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरङ्गनिस्तरङ्ग-विश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे···। =तथाविध शरीरकी वृत्तिके साथ विरोधरहित शुद्धात्म द्रव्यमें नीरंग और निस्तरंग विश्रान्तिकी रचनानुसार प्रवर्तमान अनशनमें···।

४. आत्मोपयोगमें विघ्न पड़ता जाने तो अपवादमार्गका आश्रय करे

स्या.मं./११/१३८ पर उद्धृत "सव्वत्थं संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही नयाविरई। =मुनिको सर्व प्रकारसे अपने संयमकी रक्षा करनी चाहिए। यदि संयमका पालन करनेमें अपना मरण होता हो तो संयमको छोड़कर अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इस तरह मुनि दोषोंसे रहित होता है। वह फिरसे शुद्ध हो सकता है, और उसके व्रत भंगका दोष नहीं लगता।

३. परिस्थितिवश साधुवृत्तिमें कुछ अपवाद

१. ९ कोटिकी अपेक्षा ५ कोटि शुद्ध आहारका ग्रहण

स्या.मं./११/१३८/६ यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः। तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकादियतनया अनेषणीयादिग्रहणमपवादः। सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव। =जैन मुनियोंके वास्ते सामान्यरूपसे संयमकी रक्षाके लिए नव कोटिसे विशुद्ध आहार ग्रहण करनेकी विधि बतायी गयी है। परन्तु यदि किसी कारणसे कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावजन्य आपदाओंसे ग्रस्त हो जाये और उसे कोई मार्ग सूझ न पड़े, तो ऐसी दशामें वह पाँच कोटिसे शुद्ध आहारका ग्रहण कर सकता है। यह अपवाद नियम है। परन्तु जैसे सामान्य विधि संयमकी रक्षाके लिए है, वैसे ही अपवाद विधि भी संयमकी रक्षाके लिए है।

२. उपदेशार्थ शास्त्र तथा वैयावृत्यर्थ औषध संग्रह

भ.आ./वि./१७५/३९३ किंचित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहणं, परेषां वा श्रुतोपदेशम् आचार्यादिवैयावृत्यादिकं, वा परिभुक्तं व्यवहृतम्। उवधि परिग्रहमौषधं अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा। अणुपधि ईषत्परिग्रहम्।...वसतिरुच्यते...वर्जयित्वा आचरति। =शास्त्र पढ़ना, दूसरोंको शास्त्रोपदेश देना, आचार्योंकी वैयावृत्य करना इत्यादि कारणोंके उद्देश्यसे जो परिग्रह संगृहीत किया था, अथवा औषध व तद्व्यतिरिक्त ज्ञानोपकरण और संयमोपकरण संगृहीत किया था, उसका (इस सल्लेखनाके अन्तिम अवसर पर) त्यागकर विहार करे। तथा ईषत्परिग्रह अर्थात् वसतिका भी त्याग करे।

३. क्षपकके लिए आहार आदि माँग कर लाना

भ.आ./मू./६६२-६६४ चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं। छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥ चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं। छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धि संपण्णा ॥६६३॥ चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं। अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥६६४॥ काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिट्ठवंति खवयस्स। पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं ॥६६५॥ खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि। चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खंति जदणाए ॥६६६॥ =चार साधु तो क्षपकके लिए उद्गमादि दोषरहित आहारके पदार्थ (श्रावकके घरसे माँग कर) लाते हैं। चार साधु पीनेके पदार्थ लाते हैं। कितने दिन तक लाना पड़ेगा, इतना विचार भी नहीं करते हैं। माया भाव रहित वे मुनि वात, पित्त, कफ सम्बन्धी दोषोंको शान्त करनेवाले ही पदार्थ लाते हैं। भिक्षा लब्धिसे सम्पन्न अर्थात् जिन्हें भिक्षा आसानीसे मिल जाती है, ऐसे मुनि ही इस कामके लिए नियुक्त किये जाते हैं ॥ ६६२-६६३ ॥ उपर्युक्त मुनियों-द्वारा लाये गये आहार-पानकी चार मुनि प्रमाद छोड़कर रक्षा करते हैं, ताकि उन पदार्थोंमें त्रस जीवोंका प्रवेश न होने पावे। क्योंकि जिस प्रकार भी क्षपकका मन रत्नत्रयमें स्थिर हो वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं ॥६६४॥ चार मुनि क्षपकका मलमूत्र निकालनेका कार्य करते हैं, तथा सूर्यके उदयकालमें और अस्तकालके समयमें वे वसतिका, उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं ॥६६५॥ चार परिचारक मुनि क्षपकको वसतिकाके दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, अर्थात् असंयत और शिक्षकोंको वे अन्दर आनेको मना करते हैं और चार मुनि समोसरणके द्वारका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारपर चार मुनि रक्षणके लिए बैठते हैं ॥६६६॥ (भ.आ./मू./१९९३)।

भ.आ./मू./१९७८/१७४२ उयसयपडिदावण्णं उवसंगहिदं तु तत्थ उवकरणं। सागारियं च दुविहं पडिहारियमपडिहारिं वा ॥१९७८॥ =क्षपककी शुश्रूषा करनेके लिए जिन उपकरणोंका संग्रह किया जाता था उनका वर्णन इस गाथामें किया गया है! कुछ उपकरण गृहस्थोंसे लाये जाते थे जैसे औषध, जलपात्र, थाली वगैरह। कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं, और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते। जो त्याज्य नहीं हैं वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं। कुछ कपड़ा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है।

दे० सल्लेखना/३/१२ [इंगिनीमरण धारक क्षपक अपने संस्तारके लिए स्वयं गाँवसे तृण माँगकर लाता है।]

४. क्षपकको कुरले व तेलमर्दन आदि

भ.आ./मू./६८८ तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेतव्वा। जिब्भाकण्णाण बलं होहि दि तुंडं च मे विसदं ॥६८८॥ =तेल और कषायले द्रव्यके क्षपकको बहुत बार कुरले करने चाहिये। कुरले करनेसे जीभ और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होती है। कर्णमें तेल डालनेसे श्रवण शक्ति बढ़ती है ॥६८८॥

५. क्षपकके लिए शीतोपचार आदि

भ.आ./मू./१४९९ बच्छीहिं अवट्ठवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं। अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥१४९९॥ =बस्ति कर्म (अनीमा करना), अग्निसे सेंकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औषधिका लेप करना, शीतपना उत्पन्न करना, सर्व अंग मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपककी वेदनाका उपशमन करना चाहिए।

मू.आ./टी./३७५ 'प्रतिरूपकालक्रिया'—उष्णकाले शीतक्रिया, शीतकाले उष्णक्रिया, वर्षाकाले तद्योग्यक्रिया। =उष्णकालमें शीतक्रिया और शीतकालमें उष्णक्रिया, वर्षाकालमें तद्योग्य क्रिया करना प्रतिरूपकाल क्रिया है (जिसके करनेका मूल गाथामें निर्देश किया है)।

त.वृ./९/४७/३१६/१२ केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति। ...केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाल्लज्जित्वात् तथा कुर्वन्तीति। व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम्। =कोई-कोई असमर्थ महर्षि शीत आदि कालमें कम्बल शब्दका वाच्य कुश घास या पराली आदिक ग्रहण कर लेते हैं। कोई शरीरमें उत्पन्न हुए दोष वश लज्जाके कारण ऐसा करते हैं। यह व्याख्यान भगवती आराधनामें कहे हुए अभिप्रायसे अपवाद रूप है। (भ.आ./वि./४२१/६११/१८)।

बो.पा./टी./१७/८५ तस्य...आचार्यस्य—वात्सल्यं भोजनं पानं पादमर्दनं शुद्धतैलादिनाङ्गाभ्यञ्जनं तत्प्रक्षालनं चेत्यादिकं कर्म सर्वं तीर्थकरनामकर्मोपार्जनहेतुभूतं वैयावृत्त्यं कुरुत यूयम्। =उन आचार्य (उपाध्याय व साधु) परमेष्ठीकी वात्सल्य, भोजन, पान, पादमर्दन, शुद्धतैल आदिके द्वारा अंगमर्दन, शरीर प्रक्षालन आदिक द्वारा वैयावृत्ति करना, ये सब कर्म तीर्थंकर नाम कर्मोपार्जनके हेतुभूत हैं।

६. क्षपकके मृत शरीरके अंगोपांगोंका छेदन

भ.आ./मू./१९७६-१९७७ गीदत्था कदकज्जा महाबलपरक्कमा महासत्ता। बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥१९७६॥ जदि वा एस ण कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई। आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१९७७॥ =महान् पराक्रम और धैर्य युक्त मुनि क्षपकके हाथ और पाँव तथा अंगूठा इनका कुछ भाग बान्धते हैं अथवा छेदते हैं ॥१९७६॥ यदि यह विधि न की जायेगी तो उस मृतशरीरमें क्रीड़ा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा पिशाच प्रवेश करेगा, जिसके उपकरण वह शरीर उठना, बैठना, भागना आदि भीषण क्रियायें करेगा ॥१९७७॥

७. परोपकारार्थ विद्या व शस्त्रादिका प्रदान

म.पु./६५/९८ कामधेन्वभिधां विद्यामीप्सितार्थप्रदायिनीम्। तस्यै विश्राणयाचक्रे समन्त्रं परशुं च सः ॥९८॥ =उन्होंने (मुनिराजने रेणुकाको, उसके सम्यक्त्व व व्रत ग्रहणसे सन्तुष्ट हो कर) मनवांछित पदार्थ देनेवाली कामधेनु नामकी विद्या और मन्त्र सहित एक फरसा भी उसके लिए प्रदान किया ॥९८॥

८. कदाचित् रात्रिको भी बोलते हैं

प.पु./४८/३८ स्मरेषुहतचित्तोऽसौ तामुद्दिश्य व्रजन्निशि। मुनिनावधियुक्तेन मैवमित्यभ्यभाषत ।।३८।। =(दरिद्रोंको बस्तीमें किसी सुन्दरीको देखकर) काम बाणोंसे उसका (यक्षदत्तका) हृदय हरा गया। सो वह रात्रिके समय उसके उद्देश्यसे जा रहा था, कि अवधिज्ञानसे युक्त मुनिराजने 'मा अर्थात् नहीं' इस प्रकार (शब्द) उच्चारण किया।

४. उत्सर्ग व अपवाद मार्गका समन्वय

१. वास्तवमें उत्सर्ग ही मार्ग है, अपवाद नहीं

प्र.सा./त.प्र./२२४ ततोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः। इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम्। =इससे निश्चय होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद नहीं। तात्पर्य यह है कि वस्तु धर्म होनेसे परम निर्ग्रन्थत्व ही अवलम्बन योग्य है।

२. कारणवश ही अपवादका ग्रहण निर्दिष्ट है, सर्वतः नहीं

भ.आ./वि./४२१/६१२/१४ तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्। =इसलिए अर्थाधिकारकी अपेक्षासे बहुत-से सूत्रोंमें जो वस्त्र और पात्रका ग्रहण कहा गया है, वह कारणकी अपेक्षासे निर्दिष्ट है, ऐसा समझना चाहिए।

म.पु./७४/३१४ चतुर्थज्ञाननेत्रस्य निसर्गबलशालिनः। तस्याद्यमेव चारित्रं द्वितीयं तु प्रमादिनाम् ।।३१४।। =मनःपर्ययज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले और स्वाभाविक बलसे सुशोभित उन भगवान्‌के पहिला सामायिक चारित्र ही था, क्योंकि दूसरा छेदोपस्थापना चारित्र *प्रमादी जीवोंके ही होता है। (गो.क./जी.प्र./५४७/७१४/५)।*

प्र.सा./त.प्र./२२२ अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः। यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परमुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशादवसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते। =विशिष्ट काल, क्षेत्रके वश कोई उपधि अनिषिद्ध है। ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधिके निषेधका आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होनेपर भी विशिष्ट काल, क्षेत्रके वश हीन शक्तिवाला होनेसे उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है, तब उसमें अपकर्षण करके (अनुत्कृष्ट) संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बाह्य साधनमात्र उपधिका आश्रय लेता है।

३. अपवाद मार्गमें भी योग्य ही उपधि आदिके ग्रहणकी आज्ञा है अयोग्यकी नहीं

प्र.सा./मू./२२३ अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं। मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ।।२२३।। =भले ही अल्प हो तथापि जो अनिन्दित हो, असंयत जनोंसे अप्रार्थनीय हो और मूर्च्छादि उत्पन्न करनेवाली न हो, ऐसी ही उपधिको श्रमण ग्रहण करो।

भ.आ./वि./१६२/३७५/११ उपधिर्नाम पिच्छान्तरं कमण्डल्वन्तरं वा तदानीं संयमसिद्धौ न करणमिति संयमसाधनं न भवति।···अथवा ज्ञानोपकरणं अवशिष्टोपधिरुच्यते। =एक ही पिच्छिका और एक ही कमण्डल रखता है, क्योंकि उससे ही उसका संयम साधन होता है। दूसरा कमण्डल व दूसरी पिच्छिका उसको संयम साधनमें कारण नहीं है। अवशिष्ट ज्ञानोपकरण (शास्त्र) भी उस (सल्लेखनाके) समय परिग्रह माना गया है।

प्र.सा./त.प्र./२२२ की उत्थानिका "कस्यचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति। =किसीके कहीं कभी किसी प्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है, ऐसा अपवाद कहते हैं।

प्र.सा./ता.वृ./२२३ गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पं तथापि पूर्वोक्तोचितलक्षणमेव ग्राह्यं न च तद्विपरीतमधिकं वेत्यभिप्रायः। =श्रमण जो कुछ भी अल्पमात्र उपधि ग्रहण करता है वह पूर्वोक्त उचित लक्षणवाली ही ग्रहण करता है, उससे विपरीत या अधिक नहीं, ऐसा अभिप्राय है।

४. अपवादका अर्थ स्वच्छन्द वृत्ति नहीं है

मू.आ./६३१ जो जट्ठ जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधियादीयं। समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होदि ।।६३१।। =जो साधु जिस शुद्ध-अशुद्ध देशमें जैसा कैसा शुद्ध-अशुद्ध मिला आहार व उपकरण ग्रहण करता है, वह श्रमणगुणसे रहित योगी संसारको बढ़ानेवाला ही होता है।

प.प्र./मू./२/९१ जे जिणलिंगु धरेवि मुणि इट्ठ परिग्गह लेंति। छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ।।९१।। =जो मुनि जिनलिंगको धारण कर फिर भी इच्छित परिग्रहका ग्रहण करते हैं, हे जीव! वे ही वमन करके फिर उस वमनको पीछे निगलते हैं।

प्र.सा./ता.वृ./२५० योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं (अपवादमार्ग) व्याख्यानं शोभते। यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति।

प्र.सा./ता.वृ./२५२ अत्रेदं तात्पर्यम्···स्वभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्त्यं करोति शेषकाले स्वकीयानुष्ठानं करोतीति।

=जो स्व शरीरका पोषण करनेके लिए अथवा शिष्य आदिके मोहके कारण सावद्यकी इच्छा नहीं करता है, उसको ही यह अपवाद मार्गका व्याख्यान शोभा देता है। यदि अन्यत्र तो सावद्यकी इच्छा करे और वैयावृत्ति आदि स्वकीय अवस्थाके योग्य धर्मकार्यमें इच्छा न करे, तब तो उसके सम्यक्त्व ही नहीं है ।।२५०।। यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि स्वभाव विघातक रोगादि आ जानेपर तो वैयावृत्ति करता है, परन्तु शेषकालमें स्वकीय अनुष्ठान (ध्यान आदि) ही करता है ।।२५२।।

५. अपवादका ग्रहण भी त्यागके अर्थ होता है

प्र.सा./त.प्र./२२२ अयं तु···आहारनिहारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात्। =यह आहारनीहारादिका ग्रहण-विसर्जन सम्बन्धी बात छेदके निषेधार्थ ग्रहण करनेमें आयी है, क्योंकि, सर्वत्र शुद्धोपयोग सहित है। इसलिए वह छेदके निषेधरूप ही है।

६. अपवाद उत्सर्गका साधक होना चाहिए

स्या.मं./११/१३८/६ अन्यार्थमुत्सृष्टम्—अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्—उत्सर्गवाक्यम्, अन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते—नापवादगोचरीक्रियते। यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते, तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात्।···सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव। =सामान्य (उत्सर्ग) और अपवाद दोनों वाक्य शास्त्रोंके एक ही अर्थको लेकर प्रयुक्त होते हैं। जैसे ऊँच-नीच आदिका व्यवहार सापेक्ष होनेसे एक ही अर्थका साधक है, वैसे ही सामान्य और अपवाद दोनों परस्पर सापेक्ष होनेसे एक ही प्रयोजनको सिद्ध करते हैं।—(उदाहरणार्थ नव कोटि शुद्धकी बजाये परिस्थितिवश साधु जो पंचकोटि भी शुद्ध आहारका ग्रहण कर लेता है) जैसे सामान्य विधि संयमकी रक्षाके लिए है, वैसे ही वह अपवाद भी संयमकी रक्षाके लिए ही है।

७. उत्सर्ग व अपवादमें परस्पर सापेक्षता ही श्रेय है

प्र.सा./मू./२३० बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा। चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि ।२३०। =बाल, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान श्रमण, मूलका छेद जिस प्रकारसे न होय उस प्रकार अपने योग्य आचरण आचरो।

प्र.सा./त.प्र./२३० बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यातिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः।···शरीरस्य·· छेदो न यथा स्यात्तथा···स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः। संयमस्य···छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य···छेदो यथा न स्यात्तथा···स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्ययमपवादसापेक्ष उत्सर्गः। शरीरस्य छेदो नै यथा स्यात्तथा स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य···छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम्। =बाल, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान श्रमणको भी संयमका, कि जो शुद्धात्म तत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत है, उसका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार संयतका ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण ही आचरना उत्सर्ग है।···संयमके साधनभूत शरीरका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण हो आचरना अपवाद है। संयमका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य अतिकर्कश आचरण आचरते हुए भी शरीरका छेद जिस प्रकार न होय उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरणका आचरना अपवादसापेक्ष उत्सर्ग है। शरीरका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरणको आचरते हुए भी संयमका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य अतिकर्कश आचरणको भी आचरना उत्सर्गसापेक्ष अपवाद है। इससे सर्वथा उत्सर्ग अपवादकी मैत्रीके द्वारा आचरणको स्थिर करना चाहिए।

८. निरपेक्ष उत्सर्ग या अपवाद श्रेय नहीं

प्र.सा./त.प्र./२३१ अथ देशकालज्ञस्यापि···मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः।···मृद्वाचरणं प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः। ··· अल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाऽशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि···आहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्त्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति, तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः। अतः···परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः। =देशकालज्ञको भी मृदु आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अल्प लेप होता ही है, इसलिए उत्सर्ग अच्छा है। और मृदु आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अल्प (मात्र) ही लेप होता है, इसलिए अपवाद अच्छा है। अल्पलेपके भयसे उसमें प्रवृत्ति न करे तो अतिकर्कश आचरण रूप होकर अक्रमसे ही शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करता है। तहाँ जिसने समस्त संयमामृतका समूह वमन कर डाला है, उसे तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतिकार अशक्य है, ऐसा महान् लेप होता है। इसलिए अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं। देशकालज्ञको भी, आहार-विहार आदिसे होनेवाले अल्पलेपको न गिनकर यदि वह उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो, मृदु आचरणरूप होकर संयमविरोधी असंयतजनके समान हुए उसको उस समय तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है। इसलिए उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है। इसलिए परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सदा अनुगम्य है।

अपशब्द खंडन—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित न्याय विषयक एक ग्रन्थ।

अपसरण—दे० अपकर्षण/३।

अपसिद्धान्त—न्या.सू./मू./५/२/२३ सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः। (श्लो.वा.४/न्या.२६८/४२२/१५) =किसी अर्थके सिद्धान्तको मानकर नियम-विरुद्ध 'कथाप्रसंग' करना 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान होता है। अर्थात् स्वीकृत आगमके विरुद्ध अर्थका साधन करने लग जाना अपसिद्धान्त है।

पं.ध./पू./५६८ जैसे शरीरको जीव बताना अपसिद्धान्त रूप विरुद्ध वचन है।

अपहृत-संयम—दे० संयम/१।

अपाच्य—पश्चिम दिशा।

अपात्र—१. दान योग्य अपात्र—दे० पात्र। २. ज्ञान योग्य अपात्र—दे० श्रोता।

अपादान कारक—प्र.सा/त.प्र./१६ शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः। =शुद्धानन्त शक्तिमय ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके समय पूर्वमें प्रवर्तमान विकलज्ञानस्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञानस्वभावसे स्वयं ही ध्रुवताका अवलम्बन करनेसे (आत्मा) अपादानताको धारण करता है।

अभिन्नकारकी व्यवस्था—दे० कारक/१।

अपादान कारण—दे० उपादान।

अपादान शक्ति—स.सा./आ./परि०/शक्ति नं० ४५ उत्पादव्ययालिङ्गितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः। =उत्पाद व्ययसे आलिंगित भावका अपाय (हानि या नाश) होनेसे हानिको प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी अपादान शक्ति है।

अपान—स.सि./५/१९/२८८ आत्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपान इत्याख्यायते। =आत्मा जिस बाहरी वायुको भीतर करता है निःश्वास लक्षण उस वायुको अपान कहते हैं। (रा.वा./५/१९/३६/४७३) (गो.जी./जी.-प्र/६०६/१०६२/१२।

अपाप—भावी तेरहवें तीर्थकर/ अपर नाम 'निष्पाप', व 'पुण्यमूर्ति' व 'निष्कषाय'। विशेष दे० तीर्थंकर/५।

अपाय—स.सि./७/९/३४७ अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकः प्रयोगोऽपायः। =स्वर्ग और मोक्षकी क्रियाओंका विनाश करनेवाली प्रवृत्ति अपाय है।

रा.वा./७/९/१/५३७ अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियासाधनानां नाशकोऽनर्थः अपाय इत्युच्यते। अथवा ऐहलौकिकादिसप्तविधं भयमपाय इति कथ्यते। =अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनोंका अनर्थ अपाय है। अथवा इहलोकभय परलोकभय आदि सात प्रकारके भय अपाय हैं।

अपाय विचय—धर्मध्यानका एक भेद व लक्षण। दे० धर्मध्यान/१।

अपार्थक—न्या.सू./५/२/१० पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबन्धार्थमपार्थम्। =जहाँ अनेक पद या वाक्योंका पूर्व-पर क्रमसे अन्वय न हो अतएव एक दूसरेसे मेल न खाता हुआ असम्बन्धार्थत्व जाना जाता है, वह समुदाय अर्थके अपाय (हानि) से 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान

कहलाता है। उदाहरण जैसे दश अनार, छ पूये, कुण्ड, चर्म, अजा, कहना आदि। वाक्यका दृष्टान्त जैसे यह कुमारोका गैरुक (मृगचर्म) शय्या है। उसका पिता सोया नहीं है। ऐसा कहना अनार्थक है। (श्लो.वा.४/न्या.२०१/३८७/११)।

अपूर्वकरण—जीवोंके परिणामोंमें क्रमपूर्वक विशुद्धिकी वृद्धियोंके स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं। मोक्षमार्गमें १४ गुणस्थानोंका निर्देश किया गया है। तहाँ अपूर्वकरण नामका आठवाँ गुणस्थान है।

* **इस गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान, जीव समास, मार्गणा स्थानादि २० प्ररूपणाएँ।** दे० सत
* **इस गुणस्थानकी सत् (अस्तित्व), संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ।** —दे० वह वह नाम।
* **इस गुणस्थानमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व।** —दे० वह वह नाम।
* **इस गुणस्थानमें कषाय, योग व संज्ञाओंका सद्भाव तथा तत्सम्बन्धी शंकाएँ।** —दे० वह वह नाम।
* **इस गुणस्थानकी पुनः पुनः प्राप्तिकी सीमा।** —दे० संयम/२।
* **इस गुणस्थानमें मृत्युका विधि-निषेध** —दे० मरण/३।
* **सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम।** —दे० मार्गणा।

१. अपूर्वकरण गुणस्थानका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/१७-१९ *भिण्णसमयट्ठिएहिं दु जीवेहि ण होइ सव्वहा सरिसो। करणेहि एयसमयट्ठिएहिं सरिसो विसरिसो वा ॥१७॥ एयम्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं। पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥१८॥ तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं। मोहस्सऽपुव्वकरणाखवणुवसमणुज्जया भणिया ॥१९॥* =इस गुणस्थानमें, भिन्न समयवर्ती जीवोंमें करण अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता। किन्तु एक समयवर्ती जीवोंमें सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही पाये जाते हैं ॥१४॥ इस गुणस्थानमें यतः विभिन्न समयस्थित जीवोंके पूर्वमें अप्राप्त अपूर्व परिणाम होते हैं, अतः उन्हें अपूर्वकरण कहते हैं ॥१८॥ इस प्रकारके अपूर्वकरण परिणामोंमें स्थित जीव मोहकर्मके क्षपण या उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं, ऐसा अज्ञान तिमिर वीतरागी जिनोंने कहा है ॥१७-१९॥ (ध.१/१,१,१७/११६-११८/१८३) (गो.जी./मू./५१,५२,५४/१४०), (पं.सं./सं.१/३५-३७)।

ध.१/१,१,१६/१८०/१ करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः। नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत्। अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः। =करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहिले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए असंख्यातलोक प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं। अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं। इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं।

अभिधान राजेन्द्रकोश / अपुव्वकरण "अपूर्वमपूर्वां क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम्। तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमाः *अन्यश्च स्थितिबन्धः इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम्।* =अपूर्व-अपूर्व क्रियाको प्राप्त करता होने से अपूर्वकरण है। तहाँ प्रथम समयसे ही-स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, और स्थितिबन्धापसरण ये पाँच अधिकार युगपत् प्रवर्तते हैं। क्योंकि ये इससे पहिले नहीं प्रवर्तते इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं।

द्र.सं./टी./१३/३४ स एवातीतसंज्वलनकषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्टमगुणस्थानवर्ती भवति=वही (सप्तगुणस्थानवर्ती साधु) अतीत संज्वलन कषायका मन्द उदय होने पर अपूर्व, परम आह्लाद सुखके अनुभवरूप अपूर्वकरणमें उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है।

* **अपूर्वकरणके चार आवश्यक, परिणाम तथा अनिवृत्तिकरणके साथ इसका भेद** दे० करण/५।
* **अपूर्वकरण लब्धि** दे० करण/५।

२. इस गुणस्थानमें क्षायिक व औपशमिक दो ही भाव सम्भव हैं

ध १/१,१,१६/१८२/४ पञ्चसु गुणेषु कोऽत्रतनगुणश्चेत्क्षपकस्य क्षायिकः उपशमकस्यौपशमिकः।···सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भावः दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशमक्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात्। =प्रश्न—पाँच प्रकारके भावोंमें-से इस गुणस्थानमें कौन-सा भाव पाया जाता है? उत्तर—(चारित्रकी अपेक्षा) क्षपकके क्षायिक और उपशमके औपशमिक भाव पाया जाता है।··· सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिक भाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है, वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है। और उपशमकके औपशमिक या क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है, वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है।

३. इस गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम या क्षय नहीं होता

रा.वा./९/१/१९/५९०/११. तत्र कर्मप्रकृतीनां नोपशमो नापि क्षयः। =तहाँ अपूर्वकरण गुणस्थानमें, कर्म प्रकृतियोंका न उपशम है और न क्षय।

ध १/१,१,२७/२११/३ अपुव्वकरणे ण एक्कं पि कम्ममुवसमदि। किंतु अपुव्वकरणो पडिसमयमणंतगुण-विसोहीए वड्ढंतो अंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदिखंडयं घादेंतो संखेज्जसहस्साणि ट्ठिदिखंडयाणि घादेदि, तत्तियमेत्ताणि ट्ठिदिबंधोसरणाणि करेदि। =अपूर्वकरण गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक समयमें अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ता हुआ एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थितिखण्डोंका घात करता हुआ संख्यात हजार स्थितिखण्डोंका घात करता है। और उतने ही स्थिति बन्धापसरणोंको करता है।

ध १/१,१,२७/२१६/१ सो ण एक्कं पि कम्मं क्खवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्जगुणसरूवेण पदेस णिज्जरं करेदि। अंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदिकंडयं घादेंतो अप्पणो कालब्भंतरे संखेज्जसहस्साणि ट्ठिदिखंडयाणि घादेदि। तत्तियाणि चेव ट्ठिदिबंधोसरणाणि वि करेदि। तेहिंतो संखेज्जसहस्सगुणे अणुभागकंडयघादे करेदि। =वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किंतु प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणित रूपसे कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा करता है। एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक स्थिति काण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यात

हजार स्थिति काण्डकोंका घात करता है। और उतने ही स्थिति बन्धापसरण करता है। तथा उनसे संख्यात हजारगुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है।

४. उपशम व क्षय किये बिना भी इसमें वे भाव कैसे सम्भव हैं

रा.वा./९/१/१९/५९०/१२ पूर्वत्रोत्तरत्र च उपशमं क्षयं वापेक्ष्य उपशमकः क्षपक इति च घृतघटवदुपचर्यते। =आगे होनेवाले उपशम या क्षयकी दृष्टिसे इस गुणस्थानमें भी उपशमक और क्षपक व्यवहार घीके घड़ेकी तरह हो जाता है।

ध.१/१,१,१६/१८१/४ अक्षपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, भाविनि भूतवदुपचारतस्तत्सिद्धेः। सत्येवमतिप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न, असति प्रतिबन्धरि मरणे नियमेन चारित्रमोहक्षपणोपशमकारिणां तदुन्मुखानामुपचारभाजामुपलम्भात्। =प्रश्न—आठवें गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है, और न उपशम ही, फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवोंको क्षपक और उपशमक कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—नहीं; क्योंकि, भावी अर्थमें भूतकालीन अर्थके समान उपचार कर लेनेसे आठवें गुणस्थानमें क्षपक और उपशमक व्यवहारकी सिद्धि हो जाती है। प्रश्न—इस प्रकार माननेपर तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धक मरणके अभावमें नियमसे चारित्रमोहका उपशम करनेवाले तथा चरित्रमोहका क्षय करने वाले, अतएव उपशमन व क्षपणके सन्मुख हुए और उपचारसे क्षपक या उपशमक संज्ञाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके आठवें गुणस्थानमें भी क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है। (ध. ५/१,७,९/२०५/४)

ध ५/१,७,९/२०५/२ उवसमसमणसत्तिसमण्णिदअपुव्वकरणस्य तदत्थित्ताविरोहा। =उपशमन शक्तिसे समन्वित अपूर्वकरणसंयतके औपशमिक भावके अस्तित्वको माननेमें कोई विरोध नहीं है।

ध ५/१,७,९/२०६/१ अपुव्वकरणस्स अविणट्ठकम्मस्स कधं खइयो भावो। ण तस्स वि कम्मक्खयणिमित्तपरिणामुवलंभादो।...उवयारेण वा अपुव्वकरणस्स खइओ भावो। उवयारे आसयिज्जमाणे अइप्पसंगो किण्ण होदीदि चे ण, पच्चासत्तीदो अइप्पसंगपडिसेहादो। =प्रश्न—किसी भी कर्मके नष्ट नहीं करनेवाले अपूर्वकरणसंयतके क्षायिकभाव कैसे माना जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसके भी कर्म क्षयके निमित्तभूत परिणाम पाये जाते हैं।...अथवा उपचारसे अपूर्वकरणसंयतके क्षायिकभाव मानना चाहिए। प्रश्न—इस प्रकार सर्वत्र उपचारका आश्रय करनेपर अतिप्रसंग दोप क्यों न आयेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थके प्रसंगसे अतिप्रसंग दोषका प्रतिबंध हो जाता है।

ध ७/२,१,४९/९३/५ खवगुवसामगअपुव्वकरणपढमसमयप्पहुडि थोवथोवखवगुवसामणकज्जणिप्पत्तिदंसणादो। पडिसमयं कज्जणिप्पत्तीए विणा चरिमसमए चेव णिप्पज्जमाणकज्जाणुवलंभादो च। =क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लगाकर थोड़े-थोड़े क्षपण व उपशामन रूप कार्यकी निष्पत्ति देखी जाती है। यदि प्रत्येक समय कार्यकी निष्पत्ति न हो तो अन्तिम समयमें भी कार्य पूरा होता नहीं पाया जा सकता।

दे० सम्यग्दर्शन/IIV/२/१० दर्शनमोहका उपशम करने वाला जीव उपद्रव आने पर भी उसका उपशम किये बिना नहीं रहता।

अपूर्व कृष्टि—दे० कृष्टि।

अपूर्वस्पर्धक—दे० स्पर्धक।

अपूर्वार्थ—(प. मु./१/४-५)—अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥५॥ =जो पदार्थ पूर्वमें किसी भी प्रमाण द्वारा निश्चित न हुआ हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं ॥४॥ तथा यदि किसी प्रमाणसे निर्णीत होनेके पश्चात् पुनः उसमें संशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय हो जाये तो उसे भी अपूर्वार्थ समझना ॥५॥

अपेक्षा—दे० स्याद्वाद/२।

अपोह—ष.ख./१३/५,५,३८/सू३८/२४२ ईहा ऊहा अपोहा मग्गणागवेसणा मीमांसा ॥३८॥ =ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा, और मीमांसा ये ईहाके पर्याय नाम हैं।

ध/१३/५,५,३८/२४२/९ अपोह्यते संशयनिबन्धनविकल्पः अनया इति अपोहा। =जिसके द्वारा संशयके कारणभूत विकल्पका निराकरण किया जाता है वह अपोह है।

अपोहरूपता—एक पदार्थके अभावसे दूसरे पदार्थके सद्भावको दर्शाना—जैसे घटका अभाव ही पट है, या द्रव्यका अभाव ही गुण है इत्यादि। (प्र० सा०/त० प्र०/१०८)

अपोही—न. वि. वृ./२/२५/५० अपोहिनाम् विजातीयविशेषवतां खण्डादीनाम्। =विजातीयविशेषवानके खण्डादि।

अपौरुषेय—आगमका पौरुषेय व अपौरुषेयपना। —दे० आगम/६

अप्रणीत वाक्—दे० वचन।

अप्रतिकर्म—प्र.सा./ता.वृ./२०४ परमोपेक्षासंयमबलेन देहप्रतिकाररहितत्वादप्रतिकर्म भवति। =परमोपेक्षा संयमके बलसे देहके प्रतिकार रहित होनेसे अप्रतिकर्म होता है।

अप्रतिक्रमण—दे० प्रतिक्रमण।

अप्रतिघातऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

अप्रतिघाती—सूक्ष्म पदार्थोंका अप्रतिघातीपना। —दे० सूक्ष्म/१।

अप्रतिचक्रेश्वरी—भगवान् पद्मप्रभुकी शासक यक्षिणी।—दे० यक्ष।

अप्रतिपक्षी प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बन्ध/२।

अप्रतिपत्ति—श्लो./वा./४/न्या.४५९/५५१/२० अनुपलम्भोऽप्रतिपत्तिः। =अनुपलब्धिको अप्रतिपत्ति कहते हैं। जिसकी अप्रतिपत्ति है उसका अभाव मान लिया जाता है।

अप्रतिपाती—१. अप्रतिपाती अवधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/६। २. अप्रतिपाती मनःपर्यय ज्ञान—दे० मनःपर्ययज्ञान/२।

अप्रतिबुद्ध—स.सा./मू./१९ कम्मे णोकम्म्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं। जा एसा खलु बुद्धी अपडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥ =जब तक इस आत्माकी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नामकर्ममें 'यह मैं हूँ' और 'मुझमें यह कर्म नोकर्म हैं' ऐसी बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है।

अप्रतिभा—न्या./सू./मू./५२/२/१८ उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥१८॥ =परपक्षका खण्डन करना उत्तर है। सो यदि किसी कारणसे वादी समयपर उत्तर नहीं देता तो यह उसका अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान है। (श्लो.वा.४/न्या.२४५/४१४/१४)

अप्रतियोगी—जिस धर्ममें जिस किसी धर्मका अभाव नहीं होता है, वह धर्म उस अभावका अप्रतियोगी है। जैसे घटमें घटत्व।

अप्रतिष्ठान—सप्तम नरकका इन्द्रक बिल—दे० नरक/५।

अप्रतिष्ठित—अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—दे० वनस्पति।

अप्रत्यवेक्षित—निक्षेपाधिकरण—दे० अधिकरण।

अप्रत्यवेक्षितोत्सर्ग—दे० उत्सर्ग।

अप्रत्याख्यान—ध.६/१,६-१,२३/४३/३ **१. संयमासंयमके अर्थमें**—प्रत्याख्यानं संयमः, न प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानमिति देशसंयमः। =प्रत्याख्यान संयमको कहते हैं। जो प्रत्याख्यान रूप नहीं है वह अप्रत्याख्यान है। इस प्रकार 'अप्रत्याख्यान' यह शब्द देशसंयमका वाचक है। (ध.६/१,६-१,२३/४४/३)

ध.१३/५,५,६५/३६०/१० ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानमिति व्युत्पत्तेः अणुव्रतानामप्रत्याख्यानसंज्ञा। ='ईषत् प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अणुव्रतोंकी अप्रत्याख्यान संज्ञा है। (गो.जी./जी.प्र./२८३/६०८/१४)

२. विषयाकांक्षाके अर्थमें

स.सा./ता.वृ./२८३ रागादि विषयाकाङ्क्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं···द्रव्यभावरूपेण। =रागादि विषयोंकी आकांक्षारूप अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिए—द्रव्य अप्रत्याख्यान व भाव अप्रत्याख्यान।

अप्रत्याख्यान क्रिया—दे० क्रिया/३।

अप्रत्याख्यानावरण

१. अप्रत्याख्यानावरण कर्मका लक्षण

स.सि./८/६/३८६/७ यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावरणवन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। =जिनके उदयसे संयमासंयम नामवाले देशविरतिको यह जीव स्वल्प भी करनेमें समर्थ नहीं होता है वे देश प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। (रा.वा./८/६/५/५७५/१) (ध.६/१-६,१,२३/४,४/४) (ध.१३/५,५,६५/३६०/१०) (गो.क./जी.प्र./४५/४६/१२) (गो.जी./जी.प्र./३३/२८/४) (गो.जी./जी.प्र./२८३/६०८/१४)

* **अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिकी बंध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान** —दे० वह वह नाम।

* **अप्रत्याख्यानावरणका सर्वघातीपना** —दे० अनुभाग/४।

* **अप्रत्याख्यानावरणमें दशों करणोंकी संभावना** —दे० करण/२।

२. अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशव्रतको घातती है

पं.सं./प्रा./१/११५ पढमो दंसणघाई बिदिओ तह घाइ देसविरइ त्ति। =प्रथम अनन्तानुबन्धी तो सम्यग्दर्शनका घात करती है, और द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरतिकी घातक है। (गो.क./मू./४५/४६) (गो.जी./मू./२८३/६०८) (पं.सं./सं./१/२०५)

३. अप्रत्याख्यानावरण कषायका वासना काल

गो.क./मू. व टी./४६/४७ अन्तर्मुहूर्तः पक्षः षण्मासाः संख्यासंख्यानन्तभवाः। संज्वलनादीनां वासनाकालः तु नियमेन। अप्रत्याख्यानावरणानां षण्मासाः। =संज्वलनादि कषायोंका वासनाकाल नियमसे अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, छः मास तथा संख्यात असंख्यात व अनन्त भव है। अप्रत्याख्यानावरणका छः मास है।

* **कषायोंकी तीव्रता मन्दतामें अप्रत्याख्यानावरण नहीं बल्कि लेश्या कारण है** —दे० कषाय/३।

अप्रदेशासंख्यात—दे० असंख्यात।

अप्रदेशी—स.सि./५/११/२७७ यथाणोः प्रदेशमात्रत्वाद् द्वितीयादयोऽस्य प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः तथाकालपरमाणुरप्येकप्रदेशत्वादप्रदेश इति। =जिस प्रकार अणु एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसके द्वितीयादि प्रदेश नहीं होते, इसलिए अणुको अप्रदेशी कहते हैं, उसी प्रकार काल परमाणु भी एक प्रदेशरूप होनेके कारण अप्रदेशी है।

अप्रमत्तसंयत—दे० संयत।

अप्रमार्जितोत्सर्ग—दे० उत्सर्ग।

अप्रशस्त—स.सि./७/१४/३५२/७ प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तम्। =जिससे प्राणियोंको पीड़ा होती है, उसे (ऐसे कार्यको) अप्रशस्त कहते हैं।

स.सि./९/२८/४४५ अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्। =जो पापास्रवका कारण है, वह (ध्यान) अप्रशस्त है।

अप्रशस्तोपशम—दे० उपशम/१।

अप्राप्तकाल—न्या.सू./मू./५/२/११ अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥११॥ =प्रतिज्ञा आदि अवयवोंका जैसा लक्षण कहा गया है, उससे विपरीत आगे पीछे कहना। अर्थात् जिस अवयवके पहिले या पीछे जिस अवयवके कहनेका समय है, उस प्रकारसे न कहनेको अप्राप्त काल नामक निग्रहस्थान कहते हैं। क्योंकि क्रमसे विपरीत अवयवोंके कहनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती। (श्लो.वा./पु.४/न्या.२११/३११/१)

अप्राप्तिसमा—दे० प्राप्तिसमा।

अप्राप्यकारी—अप्राप्यकारी इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/२।

अप्रियवाक्—दे० वचन।

अबंध—१. अबन्धका लक्षण—दे० बंध/२। २. अबन्ध प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबंध/२।

अबद्ध—पं.ध./उ./६६ मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात्। =मोहकर्मसे युक्त ज्ञानको बद्ध तथा मोहकर्मके अभावसे ज्ञानको अबद्ध कहते हैं।

अबुद्धि—दे० बुद्धि।

अब्बहुल—ति.प./२/११ अब्बहुलो वि भागं सलिलसरूवस्सओ होदि ॥११॥ =अब्बहुल भाग (अधोलोकमें प्रथम पृथिवी) जलस्वरूपके आश्रयसे है।

* **लोकमें इसका अवस्थान**—दे० लोक/३।

अब्भोब्भव—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वसतिका एक दोष—दे० वसति।

अब्रह्म—त.सू./७/१६ मैथुनमब्रह्म। =मैथुन करना अब्रह्म है। (त.सा./४/७७)।

अब्रह्मनिषेध आदि—दे० ब्रह्मचर्य/३,४।

अभक्ष्य—दे० भक्ष्याभक्ष्य।

अभयंकर—एक ग्रह—दे० ग्रह।

अभय—१. भगवान् वीरके तीर्थमें हुए अनुत्तरोपपादकोंमें-से एक—दे० अनुत्तरोपपादक। २. श्रुतावतारके अनुसार आप एक आचार्य थे जिनका अपर नाम यशोभद्र व भद्र था—दे० 'यशोभद्र'।

अभयकुमार—(म.पु./७४/श्लो० सं०) पूर्व भव सं०३ में ब्राह्मणका पुत्र तथा महामिथ्यात्वी था। एक श्रावकके उपदेशसे मूढताओंका त्याग करके फिर पूर्वके दूसरे भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें राजा श्रेणिककी ब्राह्मणी रानीसे पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४२६॥

अभयचन्द्र—१. (सि.वि./प्र/४३ पं० महेन्द्रकुमार) आप ई. श. १३ के आचार्य हैं। आपने 'लघीयस्त्रय' पर स्याद्वादभूषण नामकी तात्पर्य-वृत्ति लिखी है। २. आप ई० १३३३-१३४३ के एक आचार्य हैं जिन्होंने गोमट्टसार पर मन्दप्रबोधिनी टीका सं० १ लिखी है। (मो.मा.प्र./प्र/२२ परमानन्द शास्त्री) (गोमट्टसारकी छोटी टीकाकी प्रस्तावना। पं० मनोहरलाल)।

अभयदत्ति—दे० दान।

अभयदान—दे० दान।

अभयदेव—(सि.वि./प्र. ४० पं० महेन्द्रकुमार)—आप ई.श. १० के श्वेताम्बर आचार्य हैं। आपने वादमहार्णव और सन्मतितर्क टीका लिखी है।

अभयनंदि—(जैन साहित्यका इतिहास/पृ २७०/नाथूराम प्रेमी) (द्र. सं./प्र./८/पं० जवाहरलाल),—आप मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके समकालीन थे, तथा आचार्य वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि व नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गुरु थे। आपको क्योंकि सिद्धान्तचक्रवर्तीकी उपाधि प्राप्त थी इसलिए इन तीनों शिष्योंको भी वह सहज मिल गई। इन तीनोंमें आचार्य वीरनन्दि पहिले आ० मेघचन्द्रके शिष्य थे, पीछे विशेष ज्ञान प्राप्तिके अर्थ आपकी शरणमें चले गये थे। आप मन्त्री चामुण्डराय के समवर्ती थे। आपने निम्न कृतियाँ लिखी हैं—१. बिना संदृष्टिकी गोमट्टसार टीका; २. कर्मप्रकृति रहस्य; ३. तत्त्वार्थ सूत्रकी तात्पर्य वृत्ति टीका, ४. श्रेयोविधा; ५. पूजाकल्प। **समय**—चामुण्डरायके समय के अनुसार आपका समय ई. श. १०-११ आता है। सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम/प्र/२ पर तो नाथूरामजी प्रेमी इनका समय वि. ७७५ (ई. ७१८) बताते हैं। और जैन साहित्य इतिहासमें वि.श. ११ का पूर्वार्ध बताते हैं। दोनों बातोंमें मेल नहीं बैठता। फिर भी ई.श.१०-११ वाला समय ही युक्त जंचता है।

अभयसेन—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आ० सिद्धसेनके शिष्य तथा आ० भीमसेनके गुरु थे। दे० इतिहास/५/१८।

अभव्य—दे० भव्य।

अभाव—यह वैशेषिकों द्वारा मान्य एक पदार्थ है। जैन न्याय शास्त्र-में भी इसे स्वीकार किया गया है, परन्तु वैशेषिकोंवत् सर्वथा निषेध-कारी रूपसे नहीं, बल्कि एक कथंचित् रूपसे।

१. भेद व लक्षण

१. अभाव सामान्यका लक्षण

न्या.सू./भा/२-२/१०/११० यत्र भूत्वा किंचिन्न भवति तत्र तस्याभाव उप-पद्यते।=जहां पहिले होकर फिर पीछे न हो वहां उसका अभाव कहा जाता है। जैसे किसी स्थानमें पहिले घट रक्खा था और फिर वहाँ से वह हटा लिया गया तो वहांके घड़ेका अभाव हो गया।

श्लो.वा. ४/न्या. ४५६/५५१/२० सद्भावे दोषप्रसक्तेः सिद्धिविरहान्नास्ति-त्वापादनमभावः।=सद्भावमें दोषका प्रसंग आ जानेपर, सिद्धि न होनेके कारण, जिसकी नास्ति या अप्रतिपत्ति है उसका अभाव मान लिया जाता है।

प्र.सा./ता.वृ./१०० भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव इति वचनात्।=भावान्तर स्वभाव रूप ही अभाव होता है, न कि सर्वथा अभाव रूप जैसे कि मिथ्यात्व पर्यायके भंगका सम्यक्त्वपर्याय रूपसे प्रतिभास होता है।

न्याय भाषामें प्रयोग—जिस धर्मीमें जो धर्म नहीं रहता उस धर्मीमें उस धर्मका अभाव है।

२. अभावके भेद

न्या.सू./२-२/१२ प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च।=अभाव दो प्रकारका—एक जो उत्पत्ति होनेके पहिले (प्रागभाव); और दूसरा जब कोई वस्तु नष्ट हो जाती है (प्रध्वंसाभाव)।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८१ अभाव चार हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव।

३. अभावके भेद (पर्युदास व प्रसज्य)

ध. ७/२,१,४/४७९/२४ विशेषार्थ—अभाव दो प्रकारका होता है—पर्युदास और प्रसज्य।

४. प्रागभाव

वै.द/६/१/१ क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्।=क्रिया व गुणके व्यपदेशका अभाव होनेके कारण प्रागसत् होता है। अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्तिसे पहिले नहीं होता।

आप्त.मी./पं० जयचन्द/१० प्रागभाव कहिए कार्यके पहिले न होना।

जैन.सिद्धान्तप्रवेशिका/१८२ वर्तमान पर्यायका पूर्व पर्यायमें जो अभाव है उसे प्रागभाव कहते हैं।

क.पा.१/१,१३-१४/§२०५/गा.१०४/२५० विशेषार्थ—कार्यके स्वरूपलाभ करनेके पहिले उसका जो अभाव रहता है वह प्रागभाव है।

५. प्रध्वंसाभाव

वै.द./६-१/२ सदसत् ॥२॥=कार्यकी उत्पत्तिके नाश होनेके पश्चात्के अभावका नाम प्रध्वंसाभाव है।

आप्त. मी./पं० जयचन्द/१० प्रध्वंस कहिए कार्यका विघटननामा धर्म।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८३ आगामी पर्यायमें वर्तमान पर्यायके अभावको प्रध्वंसाभाव कहिए।

क.पा./१/१,१३-१४/§२०५/गा. १०४/२५० भावार्थ—कार्यका स्वरूपलाभके पश्चात् जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव है।

६. अन्योन्याभाव

वै.द./६-१/४ सच्चासत् ॥४॥ जहां घड़ेकी उपस्थितिमें उसका वर्णन किया जाता है कि गौ ऊंट नहीं और ऊंट गौ नहीं। उनमें तादा-त्म्याभाव अर्थात् उसमें उसका अभाव और उसमें उसका अभाव है।...उसका नाम अन्योन्याभाव है।

आप्त.मी./पं० जयचन्द/११ अन्य स्वभावरूप वस्तुतैं अपने स्वभावका भिन्नपना याकूं इतरेतराभाव कहिये।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८४ पुद्गलकी एक वर्तमान पर्यायमें दूसरे पुद्गलकी वर्तमान पर्यायके अभावको अन्योन्याभाव कहते हैं।

क.पा.१/१,१३-१४/§२०५/गा.१०५/२५१ विशेषार्थ—एक द्रव्यकी एक पर्याय का उसकी दूसरी पर्यायमें जो अभाव है उसे अन्यापोह या इतरेतरा-भाव कहते हैं। (जैसे घटका पटमें अभाव)

७. अत्यन्ताभाव

वै.द./६-१/५ यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥५॥ उन तीनों प्रकारके अभावोंके अतिरिक्त जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है।

आप्त.मी./पं. जयचन्द/११ अत्यन्ताभाव है सो द्रव्यार्थिकनयका प्रधान-पनाकरि है। अन्य द्रव्यका अन्यद्रव्यविषैं अत्यन्ताभाव है।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८५ एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके अभावको अत्यन्ता-भाव कहते हैं।

क.पा.१/१,१३-१४/§२०५/गा १०५/२५१/भावार्थ—रूपादिकका स्वसमवायी पुद्गलादिकसे भिन्न जीवादिकमें समवेत होना अन्यत्रसमवाय कहलाता है। यदि इसे स्वीकार किया जाता है, अर्थात् अत्यन्ताभावका अभाव माना जाता है तो पदार्थका किसी भी असाधारणरूपमें कथन नहीं किया जा सकता है।

८. पर्युदास अभाव

ध.७/२,६,४/४७६/२४ विशेषार्थ—पर्युदासके द्वारा एक वस्तुके अभावमें दूसरी वस्तुका सद्भाव ग्रहण किया जाता है।

रा.वा/२/८/१८/१२२/८ प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्ष इति पर्युदासः। =प्रत्यक्षसे अन्य सो अप्रत्यक्ष—ऐसा पर्युदास हुआ।

९. प्रसज्य अभाव

रा.वा./२/८/१८/१२२/८ प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो··· =जो प्रत्यक्ष न हो सो अप्रत्यक्ष ऐसा प्रसज्य अभाव है।

ध.७/२,६,४/४७६/२४ विशेषार्थ—प्रसज्यके द्वारा केवल अभावमात्र समझा जाता है।

क.पा.१/१३-१४/§१६०/२२७/१ कारकप्रतिषेधव्यापृतात्। =क्रियाके साथ निषेधवाचक 'नञ्' का सम्बन्ध।

१०. स्वरूपाभाव या अतद्भाव

प्र.सा./मू./१०६,१०८ पविभत्तपदेसत्त पुधुत्तमिदि सासणं हि वीरस्स। अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भयं होदि कधमेगं। जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो॥१०६॥ एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो॥१०८॥ =विभक्त प्रदेशत्व पृथक्त्व है—ऐसा वीरका उपदेश है। अतद्भाव अन्यत्व है। जो उस रूप न हो वह एक कैसे हो सकता है॥१०६॥ स्वरूपापेक्षासे जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। यह अतद्भाव है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं। ऐसा निर्दिष्ट किया गया है।

प्र.सा./त.प्र./१०६-१०७ अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ता द्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव॥१०६॥ यथा—एकस्मिन्मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः। तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्त्वाभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः॥१०७॥ =अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है, वह तो सत्तागुण और द्रव्यके है ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका अभाव होता है—शुक्लत्व और वस्त्र (या हार) की भाँति॥१०६॥ जैसे एक मोतियोंकी मालामें जो शुक्लगुण है, वह हार नहीं है, धागा नहीं है, या मोती नहीं है; और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नहीं है—इस प्रकार एक-दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव है' सो वह 'तदभाव' लक्षणवाला 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्वका कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्यमें जो सत्तागुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है या पर्याय नहीं है; और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है; वह सत्तागुण नहीं है।—इस प्रकार एक-दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है वह 'तदभाव' लक्षण 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्वका कारण है।

प्र.सा./ता.वृ./१०७/१४१/२ परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते।···अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति। =परस्पर प्रदेशोंमें अभेद होनेपर भी जो यह संज्ञादिका भेद है वही उस पूर्वोक्त लक्षण रूप तद्भावका अभाव या तदभाव कहा जाता है। उसीको अतद्भाव भी कहते हैं—संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिसे भेद होना, ऐसा अर्थ है।

११. अभाववादका लक्षण

यु. अनु./२५ अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः, सा संवृतिः सर्व-विशेष-शून्या। तस्या विशेषौ किल बन्धमोक्षौ हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम्॥२५॥ =परमार्थवृत्तिसे तत्त्व अभावमात्र है, और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप है। और संवृति सर्व विशेषोंसे शून्य है। उक्त अविद्यात्मिका एवं सकल तात्त्विक विशेषशून्या संवृति भी जो बन्ध और मोक्ष विशेष हैं वे हेत्वाभास हैं। "इस प्रकार यह उन (संवित्ताद्वैतवादी बौद्धों) का वाक्य है। (जैन दर्शन द्रव्यार्थिक नयसे अभावको स्वीकार नहीं करता पर पर्यायार्थिकनयसे करता है।—दे० उत्पाद/२/७।

२. अभावोंमें परस्पर अन्तर व फल

१. पर्युदास व प्रसज्यमें अन्तर

न्या.वि.वृ./२/१२३/१५३ नयबुद्धिवशादभावौदासीन्येन भावस्य, तदौदासीन्येन चाभावस्य प्राधान्यसमर्पणे पर्युदासप्रसज्ययोर्विशेषस्य विकल्पनात्। =नय विवक्षाके वशसे भावकी उदासीनतासे भावका और और अभावकी उदासीनतासे अभावका प्राधान्य समर्पण होनेपर पर्युदास व प्रसज्य इन दोनोंमें विशेषताका विकल्प हो जाता है। अर्थात्—किसी एक वस्तुके अभाव-द्वारा दूसरी वस्तुका सद्भाव दर्शाना तो पर्युदास है, जैसे प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है। और वस्तुका अभाव मात्र दर्शाना प्रसज्य है, जैसे इस भूतलपर घटका अभाव है।

२. प्राक्, प्रध्वंस व अन्योन्याभावोंमें अन्तर

वै.द./भा./९-१/४/२७२ यह (अन्योन्याभाव) अभाव दो प्रकारके अभावसे पृथक् तीसरे प्रकारका अभाव है। वस्तुकी उत्पत्तिसे प्रथम नहीं और न उसके नाशके पश्चात् उसका नाम अन्योन्याभाव है। यह अभाव हमेशा रहनेवाला है, क्योंकि, घड़ेका कपड़ा और कपड़ेका घड़ा होना हर प्रकार असम्भव है। वे सर्वदा पृथक्-पृथक् ही रहेंगे। इस वास्ते जिस प्रकार पहिली व दूसरी तरहका अभाव (प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अनित्य हैं, यह अभाव उसके विरुद्ध नित्य है।

आप्त.मी./पं. जयचन्द (अष्टसहस्रीके आधारपर)/११। प्रश्न—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभावमें विशेष कहा है? उत्तर—जो कार्यद्रव्य घटादिक, ताकै पहिले (पिंड आदिक) अवस्था थी, सो तो प्रागभाव है (अर्थात् घटादिकका पिण्डादिकमें प्रागभाव है) बहुरि कार्यद्रव्यके पीछे जो अवस्था होय सो प्रध्वंसाभाव है (अर्थात् घटमें पिण्ड आदिकका अभाव प्रध्वंसाभाव है)। बहुरि इतरेतराभाव है, सो ऐसा नहीं है। जो दोय भावरूप वस्तु न्यारे-न्यारे युगपत् दीसै तीनिके परस्पर स्वभाव भेदकरि (वाका निषेध यामैं और याका निषेध वामैं इतरेतराभाव है। (जैसे घटका पटमें और पटका घटमें अभाव अन्योन्याभाव है।)

३. अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभावमें अन्तर

वै.द./भा./९-१/५/२७३ उन तीनों प्रकारके अभावोंके अतिरिक्त जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है, क्योंकि प्रागभावके पश्चात् नाश हो जाता, अर्थात् वस्तुकी उत्पत्ति होनेपर उस (प्रागभावका) अभाव नहीं रहता। और विध्वंसाभावका नाश होनेसे प्रथम अभाव है। अर्थात् जब तक किसी वस्तुका नाश नहीं हुआ तब तक उसका विध्वंसाभाव उपस्थित ही नहीं। और अन्योन्याभाव विपक्षीमें रहता है और अपनी सत्तामें नहीं रहता। परन्तु अत्यन्ताभाव इन तीनों का विपक्षी अभाव है।

अष्टसहस्री/११/पृ.१०६ ततः सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभाव-व्यावृत्तिरन्यापोह इति। तस्य कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेऽप्यभावादतिव्याप्त्ययोगात्। न हि घटपटयोरितरेतराभावः कालत्रयापेक्षः कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसंभवात्, तथा परिणामकारणसाकल्ये तदविरोधात्, पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात्। न चैवं चेतनाचेतनयोः कदाचित्तादात्म्यपरिणामः, तत्त्वविरोधात्।

अष्टसहस्री/११/पृ.१४४ न च किंचित्स्वात्मन्येव परात्मनाप्युपलभ्यते ततः *किंचित्स्वेष्टं तत्त्वं क्वचिदनिष्टेऽर्थे सत्यात्मनानुपलभ्यमानः काल*त्रयेऽपि तत्तत्र तथा नास्तीति प्रतिपद्यते एवेति सिद्धोऽत्यन्ताभावः।

=इस प्रकार स्वभावान्तरसे स्वभावको व्यावृत्तिको अन्यापोह कहते हैं, यह लक्षण ठीक ही कहा है: यह लक्षण कालत्रय सापेक्ष अत्यन्ताभावमें भी रहता अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। घट और पटका इतरेतराभाव कालत्रयापेक्षी नहीं है। कभी पटका भी घट परिणाम सम्भव है, उस प्रकारके परिणमनमें कारण समुदायके मिलनेपर, इसका अविरोध है। पुद्गलोंमें परिणामका नियम नहीं देखा जाता है, किन्तु इस तरह चेतन-अचेतनका कभी भी तादात्म्य परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों भिन्न तत्त्व हैं—उनका परस्परमें विरोध है।

आप्त.मी./पं० जयचन्द (अष्टसहस्रीके आधारपर)/११ इतरेतराभाव है सो जो दोय भावरूप वस्तु न्यारे-न्यारे युगपत् दीसै तिनिकै परस्पर स्वभाव भेदकरि वाका निषेध वामैं और वाका निषेध वामैं इतरेतराभाव है। यह विशेष है कि यह तो पर्यायार्थिक नयका विशेषपणा प्रधानकरि पर्यायनिके परस्पर अभाव जानना। बहुरि अत्यन्ताभाव है सो द्रव्यार्थिकनयका प्रधानपणाकरि है। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य विषैं अत्यन्ताभाव है। ज्ञानादिक तौ काहू कालविषैं पुद्गलमें होय नाहीं। बहुरि रूपादिक जीव द्रव्यमैं काहू कालविषैं होइ नाहीं। ऐसे इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव ये दोऊ (हैं)।

★ अन्योन्याभाव केवल पुद्गलमें ही होता है

दे० अभाव/२/३

४. चारों अभावोंको न माननेमें दोष

आप्त.मी./मू./१०-११ कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥ सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥ —प्रागभावका अपलाप करनेपर कार्यद्रव्य घट पटादि अनादि हो जाते हैं। प्रध्वंसाभावका अपलाप करनेपर घट पटादि कार्य अनन्त अर्थात् अन्तरहित अविनाशी हो जाते हैं ॥१०॥ इतरेतराभावका अपलाप करनेपर प्रतिनियत द्रव्यकी सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं। रूपादिकका स्वसमवायी पुद्गलादिकसे भिन्न जीवादिकमें समवेत होना अन्यत्रसमवाय कहलाता है। यदि इसे स्वीकार किया जाता है, अर्थात् यदि अत्यन्ताभावका अभाव माना जाता है तो पदार्थका किसी भी असाधारण रूपसे कथन नहीं किया जा सकता ॥११॥ (आशय यह है कि इतरेतराभावको नहीं माननेपर एक द्रव्यकी विभिन्न पर्यायोंमें कोई भेद नहीं रहता—सब पर्यायें सबरूप हो जाती हैं। तथा अत्यन्ताभावको नहीं माननेपर सभी वादियोंके द्वारा माने गये अपने-अपने मूल तत्त्वोंमें कोई भेद नहीं रहता—एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप हो जाता है। ऐसी हालतमें जीवद्रव्य चैतन्यगुणकी अपेक्षा चेतन ही है और पुद्गल द्रव्य अचेतन ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।) (क.पा.१/§२०५/गा.१०४-१०५/२५०)।

५. एकान्त अभाववादमें दोष

आप्त.मी./मू./१२ अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्। बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम् ॥१०६॥ —जो वादी भाव रूप वस्तुको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अभावैकान्त पक्षमें भी बोध अर्थात् स्वार्थानुमान और वाक्य अर्थात् परार्थानुमान प्रमाण नहीं बनते हैं। ऐसी अवस्थामें वे स्वमतका साधन किस प्रमाणसे करेंगे, और परमतमें दूषण किस प्रमाणसे देंगे।

अभाव शक्ति—दे० भाव।

अभिघट—१. आहारका एक दोष—दे० आहार II/४। २. वसति का एक दोष—दे० वसति।

अभिचन्द्र—(म.पु./३/१२९) दशवें कुलकर (विशेष दे० शलाका पुरुष/९)।

अभिजित—एक नक्षत्र। दे० नक्षत्र।

अभिधान—द्र.सं./टी./१/७/५ यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्तं तदेवाभिधानं वाचकं प्रतिपादकं भण्यते। =जो व्याख्यान किये जाने योग्य सूत्र कहे गये हैं, वही अभिधान अर्थात् वाचक या प्रतिपादक कहलाते हैं।

अभिधानचिन्तामणि कोश—दे० शब्दकोश।

अभिधाननिबंधननाम— ध.१५/२/५ जो णामसद्दो पवुत्तो संतो अप्पाणं चेव जाणावेदि तमभिहाणणिबंधणं णाम। =जो संज्ञा शब्द प्रवृत्त होकर अपने आपको जतलाता है, वह अभिधाननिबन्धन (नाम) कहा जाता है।

अभिधानमल—दे० मल।

अभिधेय—द्र.सं./टी./१/७/६ अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमात्मादिस्वभावोऽभिधेयो वाच्यः प्रतिपाद्यः। =अनन्तज्ञानादि अनन्तगुणोंका आधार जो परमात्मा आदिका स्वभाव है, वह अभिधेय है, अर्थात् वाच्य या प्रतिपाद्य अथवा कथन करने योग्य विषय है।

अभिनंदन—द्र.सं.वृ./टी./१३ अभिनन्दनमभिवृद्धिः। =अभिनन्दन अर्थात् अभिवृद्धि।

अभिनन्दन—(म.पु./५०/श्लो.सं.) पूर्वके तीसरे भवमें मंगलावती देश का राजा महाबल था ॥२-३॥ दूसरे भवमें विजय नामक विमानमें अहमिन्द्र हुए ॥१३॥ और वर्तमान भवमें चौथे तीर्थंकर हुए। आप अयोध्या नगरीके राजा स्वयंवरके पुत्र थे ॥१६-११॥ एक हजार राजाओंके संग दीक्षा धारण कर ली। उसी समय मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति हो गयी ॥४६-५३॥ अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया ॥६५-६६॥ (विशेष दे० तीर्थंकर ५/)।

अभिनिबोध—स.सि./१/१३/१०६ अभिनिबोधनमभिनिबोधः। =साधनके साध्यका ज्ञान अभिनिबोध ज्ञान है।

ध.६/१,९-१,१४/१५/१ अहिमुह-णियमिय अत्थावबोहो अभिणिबोहो। थूल-वट्टमाण-अणंतरिदअत्था अहिमुहा। चक्खिंदिए रूवं णियमिदं, सोदिंदिए सद्दो, घाणिंदिए गंधो, जिब्भिंदिए रसो, फासिंदिए फासो, णोइंदिए दिट्ठ-सुदाणुभूदत्था णियमिदा। अहिमुह-णियमिदट्ठेसु जो बोधो सो अहिणिबोधो। अहिणिबोध एव आहिणिबोधियणाणं। —अभिमुख और नियमित अर्थके अवबोधको अभिनिबोध कहते हैं। स्थूल वर्तमान और अनन्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थोंको अभिमुख कहते हैं। चक्षुरिन्द्रियमें रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रियमें शब्द, घ्राणेन्द्रियमें गन्ध, जिह्वेन्द्रियमें रस, स्पर्शनेन्द्रियमें स्पर्श और नोइन्द्रिय अर्थात् मनमें दृष्ट, श्रुत, और अनुभूत पदार्थ नियमित हैं। इस प्रकारके अभिमुख और नियमित पदार्थोंमें जो बोध होता है, वह अभिनिबोध है। अभिनिबोध ही आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। (और भी दे० मतिज्ञान/१/१/२)।

★ स्तुति आदि शब्दों की कथंचित् एकार्थता की सिद्धि— दे० मतिज्ञान/३।

अभिनिवेश—स.स्तो./टी./१७ में उद्धृत "ममेदमित्यभिनिवेशः। शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु। आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मया यथा देहः। ='यह मेरा है' इस भावको अभिनिवेश कहते हैं। 'शाश्वत रूपसे अनात्मीय तथा कर्मजनित स्वशरीर आदि द्रव्योंमें आत्मीयपनेका भाव अभिनिवेश कहलाता है—जैसे 'यह शरीर मेरा है' ऐसा कहना।

स.स्तो./टी./१२/२६ अहमस्य सर्वस्य स्त्र्यादिविषयस्य स्वामीति क्रिया अहंक्रियाः। ताभिः प्रसक्तः संलग्नः प्रवृत्तो वा मिथ्याः, असत्यो, अध्यवसायो, अभिनिवेशः। सैव दोषो। =मैं इन सर्व स्त्री आदि विषयोंका स्वामी हूँ, ऐसी क्रियाको अहंक्रिया कहते हैं। इनसे प्रसक्त या संलग्न प्रवृत्ति मिथ्या है, असत्य है, अध्यवसाय है, अभिनिवेश है। वह ही महान् दोष है।

अभिन्न—एक ग्रह।—दे० ग्रह।

अभिन्नपूर्वी—अभिन्न दश पूर्वी व अभिन्न चतुर्दश पूर्वी।—दे० श्रुतकेवली।

अभिमन्यु—पा.पु./पर्व/श्लो. नं०—सुभद्रा रानीसे अर्जुनका पुत्र था।१६/१०१॥ कृष्ण जरासन्ध युद्धमें अनेकोंको मारा। १९/१७८॥ अन्तमें कौरवोंके मध्य घिर जानेपर संन्यास मरण कर देवत्व प्राप्त किया। २०/२६-३६॥

अभिमान—स. सि./४/२१/२५२ मानकषायादुत्पन्नोऽहंकारोऽभिमानः। =मान कषायके उदयसे उत्पन्न अहंकारको अभिमान कहते हैं। (रा.वा./४/२१/४/२३६)।

अभियोग (देव)—रा.वा./४/४/६/२१२/१० यथेह दासा वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राभियोग्या वाहनादिभावेनोपकुर्वन्ति। =जिस प्रकार यहाँ दास जन वाहनादि व्यापार करते हैं, उसी प्रकार वहाँ (देवोंमें) अभियोग्य नामा देव वाहनादि रूपसे उपकार करते हैं। (स.सि./४/४/१४/२३६) (ति.प./३/६८) (म पु./२२/२९) (त्रि.सा./भाषा/२२४)।

रा.वा./४/१३/६/२२०/१७ कर्मणां हि फलं वैचित्र्येण पच्यते ततस्तेषां गतिपरिणतिमुखेनैव कर्मफलमवबोद्धव्यम्। =कर्मोंका फल विचित्रतासे पकता है। इसलिए गतिपरिणतिमुखेन ही उनके कर्मका फल जानना चाहिए।

★ देवोंके परिवारोंमें इन देवोंका निर्देशादि —दे० देव/भवनवासी आदि भेद

२. इन देवोंका गमनागमन अच्युत स्वर्ग पर्यन्त ही है

मू.आ./११३३ कंदप्पमाभिजोगा देवीओ चावि आरणचुदोत्ति। =कंदर्प और अभियोग्य जातिके देव आरण-अच्युत स्वर्ग पर्यन्त हैं।

अभियोगी भावना—(भ.आ./मू./१८२) मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु। इड्ढिरससादहेदुं अभिओगं भावणं कुणइ॥१८२॥ =मन्त्र प्रयोग करना, कौतुककारक अकाल वृष्टि आदि करना तथा ऋद्धि, रस व सात गौरवयुक्त अन्य इसी प्रकारके कार्य करना मुनिके लिए आभियोगी भावना कहलाती है।

अभिलाप—न. वि./वृ./१/१३५/२ अभिलपनमभिधेयप्रतिपादनम् अभिलापः। =अभिलपन अर्थात् अभिधेयका प्रतिपादन करना अभिलाप है।

अभिलाषा—पं.ध./उ./७०५-७०७ न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित्॥७०५॥ नैवं हेतुरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु। बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः॥७०७॥ =न्यायानुसार इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाके सिवाय कभी भी (अन्य कोई इच्छा) अभिलाषा नहीं कहलाती॥७०५॥ इच्छाके बिना क्रियाके न माननेसे क्षीणकषाय और उसके समीपके (११,१२,१३) गुणस्थानोंमें अनिच्छापूर्वक क्रियाके पाये जानेके कारण उक्त लक्षण (क्रिया करना मात्र अभिलाषा है) में अतिव्याप्ति नामका दोष आता है। क्योंकि यदि उक्त गुणस्थानोंमें क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायेगा तो बन्धके नित्यत्वका प्रसंग आनेसे मुक्तिका होना भी असम्भव हो जायेगा॥७०७॥ तात्पर्य है इन्द्रिय भोगोंकी इच्छा ही अभिलाषा है। मन, वचन, कायको क्रिया परसे उस इच्छाका सद्भाव या असद्भाव सिद्ध नहीं होता।

अभिलाषा या इच्छाका निषेध—दे० राग।

आकांक्षा तीन प्रकार है—दे० निःकांक्षित/१।

अभिव्यक्ति—दे० व्यक्ति।

अभिषव—स.सि./७/३५/३७१ द्रवो वृष्यो वाभिषवः। =द्रव, वृष्य और अभिषव इनका एक अर्थ है। (रा.वा./७/३५/५/५५८)।

अभिहत—दे० पूजा।

अभिषेक—वसति विषयक एक दोष - दे० वसति।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—स.सि./६/२४/३३८ जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः। =जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमें निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। (सा.ध./टी./७७/२२१/६)।

रा.वा./६/२४/४/५२९ मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषयं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्, तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः। =जीवादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेवाले मति आदि पाँच ज्ञान हैं। अज्ञाननिवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित या परम्परा फल है। इस ज्ञानकी भावनामें सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। (चा.सा./५३/३)।

ध.८/३,४१/६१/४ अभिक्खणमभिक्खणं णाम बहुवारमिदि भणिदं होदि। णाणोवजोगो त्ति भावसुदं दव्वसुदं वावेक्खदे। तेसु मुहुम्मुहुजुत्तदाए तित्थयरणामकम्मं बज्झइ। =अभीक्ष्णका अर्थ बहुत बार है। ज्ञानोपयोगसे भावश्रुत अथवा द्रव्यश्रुतकी अपेक्षा है। उन (द्रव्य व भावश्रुत) में बारबार उद्यत रहनेसे तीर्थंकर नाम कर्म बन्धता है।

२. अभीक्ष्णज्ञानोपयोगकी अन्य १५ भावनाओंके साथ व्याप्ति

ध.८/३,४१/६१/६ दंसणविसुज्झदादीहि विणा एदिस्से अणुववत्तीदो। =दर्शनविशुद्धता आदिक (अन्य १५ भावनाओं) के बिना यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयुक्तता बन नहीं सकती।

★ एक अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसे ही तीर्थंकरत्वका बन्ध सम्भव है—दे० भावना/२।

अभूतार्थ—स.सा./पं. जयचन्द/११ जिसका विषय विद्यमान न हो, या असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। (गधेके सींग विद्यमान न होनेके कारण अभूतार्थ हैं और घट पट आदि संयोगी पदार्थ असत्यार्थ होनेके कारण अभूतार्थ हैं।

अभूतोद्भावन—दे० असत्य।

अभेद—न.च.वृ./२/३६/६६ अभेदः तिर्यक्सामान्यम्। =तिर्यक्-सामान्य अर्थात् द्रव्यों व गुणोंकी युगपत् वृत्ति ही अभेद है।

* **अन्य विषय**—दे० भेद।

अभेद वृत्ति—रा.वा./४/४२/१४/२५३/१ द्रव्यार्थत्वेनाश्रयेण तदव्यतिरेकादभेदवृत्तिः। =द्रव्यार्थिक नयके आश्रयसे द्रव्य गुण आदिका व्यतिरेक न होनेके कारण अभेद वृत्ति है। (स.भ.त./११/१३)।

अभेद स्वभाव—आ.प./६ गुणगुण्याद्येकस्वभावत्वादभेदस्वभावः। =गुण व गुणी आदिकमें एकपना होनेके कारण अभेद स्वभाव है। (न.च.वृ./६२)।

अभेदोपचार—रा.वा./४/४२/१४/२५३/१पर्यायार्थत्वेनाश्रयेण परस्पर-व्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोपः ततश्चाभेदोपचारः। =पर्यायार्थिक नयके आश्रयसे विभिन्न पर्यायोंमें परस्पर व्यतिरेक होते हुए भी उनमें एकत्वका अध्यारोप करना अभेदोपचार है। (स.भ.त./१६/१३)।

अभेद्य—ज.प./प्र.१०५—Indivisible।

अभोक्तृत्व नय—दे० नय I/५।

अभोक्तृत्व शक्ति—स.सा./आ./परि./शक्ति नं. २२ सकलकर्मकृतज्ञातृमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः। =समस्त कर्मोंसे किये गये, ज्ञातृत्वमात्रसे भिन्न परिणामोंके अनुभवका (भोक्तृत्वका) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्व शक्ति है।

अभ्यंतर—स.सि./९/२०/४३९ कथमस्याभ्यन्तरत्वम्। मनोनियमनार्थत्वात्। =प्रश्न—इस तपके अभ्यन्तरपना कैसे है? उत्तर—मनका नियमन करनेवाला होनेसे इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं।

अभ्यंतर इंद्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

अभ्यंतर कारण—दे० कारण II।

अभ्यस्त—गणितकी गुणकार विधिमें—गुण्यको गुणकार-द्वारा अभ्यस्त किया गया कहते हैं। दे० गणित II/१/५।

अभ्याख्यान—रा.वा./१/२०/१२/७५/१२ हिंसादेः कर्मणः कर्तुर्विरतस्य विरताविरतस्य वायमस्य कर्तेत्यभिधानम् अभ्याख्यानम्। =हिंसादि कार्य करके हिंसासे विरक्त मुनि या श्रावकको दोष लगाते हुए 'यह इसका कार्य है, अर्थात् यह कार्य इसने किया है' ऐसा कहना अभ्याख्यान है। (ध.१/१,१,२/११६/१२) (ध.९/४,१,४५/२१७/३) (गो.जी./जी.प्र./३६६/७७८/११)।

ध.१२/४,२,८,१०/२८५/४ क्रोधमानमायालोभादिभिः परेष्वविद्यमानदोषोद्भावनमभ्याख्यानम्। =क्रोध मान माया और लोभ आदिके कारण दूसरोंमें अविद्यमान दोषोंको प्रगट करना अभ्याख्यान कहा जाता है।

अभ्यागत—सा.ध./टी./५/४२ में उद्धृत तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना। अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः। =तिथि पर्व तथा उत्सव आदि दिनोंका जिस महात्माने त्याग किया है, अर्थात् सब तिथियाँ जिसके समान हैं, उसे अतिथि कहते हैं, और शेष व्यक्तियोंको अभ्यागत कहते हैं।

अभ्यास—न्या० सू./भा०/३-२/४३ अभ्यासस्तु समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिरभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोऽभ्यासशब्देनोच्यते स च स्मृतिहेतुः समान इति। =एक विषयमें बार बार ज्ञानके होनेसे जो संस्कार उत्पन्न होता है, उसीको अभ्यास कहते हैं। यह भी स्मरणका कारण है।

२. मोक्षमार्गमें अभ्यासका महत्त्व

स.श./मू./३७अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः। तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥३७॥ =शरीरादिकको शुचि स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा मन स्ववश न रहकर विक्षिप्त हो जाता है। वही मन आत्म देहके भेद विज्ञानरूप संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

मो.पा./टी./६३/३५१ शनैः शनैः आहारोऽल्पः क्रियते। शनैः शनैरासनं पद्मासनं उद्भासनं चाभ्यस्यते। शनैः शनैः निद्रापि स्तोका स्तोका क्रियते एकस्मिन्नेव पार्श्वे पार्श्वपरिवर्तनं न क्रियते। एवं सति सर्वोऽप्याहारस्त्यक्तुं शक्यते। आसनं च कदाचिदपि त्यक्तुं(न) शक्यते। निद्रापि कदाचिदप्यकर्तुं शक्यते। अभ्यासात् किं न भवति। तस्मादेव कारणात्केवलिभिः कदाचिदपि न भुज्यते। पद्मासन एव वर्षाणां सहस्रैरपि स्थीयते, निद्राजयेनाप्रमत्तैर्भूयते, स्वप्नो न दृश्यते। =धीरे धीरे आहार अल्प किया जाता है, धीरे धीरे पद्मासन या खड्गासनका अभ्यास किया जाता है। धीरे धीरे ही निद्राको कम किया जाता है। करवट बदले बिना एक ही करवट पर सोनेका अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार करते करते एक दिन सर्व ही आहारका त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है, आसन भी ऐसा स्थिर हो जाता है, कि कभी भी न छूटे। निद्रा भी कभी न आये ऐसा हो जाता है। अभ्याससे क्या क्या नहीं हो जाता है? इसीलिए तो केवली भगवान् कभी भी भोजन नहीं करते, तथा हजारों वर्षों तक पद्मासनसे ही स्थित रह जाते हैं। निद्राजयके द्वारा अप्रमत्त होकर रह सकते हैं, कभी स्वप्न नहीं देखते। अर्थात् यह सब उनके पूर्व अभ्यासका फल है।

३. ध्यान सामायिकमें अभ्यासका महत्त्व

ध. १३/५,४,२६/गा.२३-२४/६७-६८ एगवारेणेव बुद्धीए थिरत्ताणुववत्तीदो एत्थ गाहा—पुव्वकयब्भासो भावणाहिज्झाणस्स जोग्गदमुवेदि। ताओ य णाणदंसणचरित्त-वेरग्गजणियाओ॥२३॥ णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोवाइणं विसुद्धिं च। णाणगुणमुणियसारो तो ज्झायइ णिच्चलमईओ॥२४॥ =केवल एक बारमें ही बुद्धिमें स्थिरता नहीं आती। इस विषयमें गाथा है—जिसने पहिले उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है वह पुरुष ही भावनाओं-द्वारा ध्यानकी योग्यताको प्राप्त होता है और वे भावनाएँ ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्यसे उत्पन्न होती हैं॥२३॥ जिसने ज्ञानका निरन्तर अभ्यास किया है वह पुरुष ही मनोनिग्रह और विशुद्धिको प्राप्त होता है, क्योंकि जिसने ज्ञानगुणके बलसे सार-भूत वस्तुको जान लिया है वही निश्चलमति हो ध्यान करता है॥२४॥

सा.ध./५/३२ सामायिकं सुदुःसाध्यमप्यभ्यासेन साध्यते। निम्नीकरोति वार्बिन्दुः किं नाश्मानं मुहुः पतन्॥३२॥ =अत्यन्त दुःसाध्य भी सामायिक व्रत अभ्यासके द्वारा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि, जैसे कि बार बार गिरने वाली जलकी बून्द क्या पत्थरमें गड्ढा नहीं कर देती॥३२॥

अन.ध./८/७७/८०५ नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा, योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः। स प्रोद्बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुरद्विश्वाकारसमग्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते॥७७॥ =नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापकर्मोंका निर्मूलन करते हुए और मन वचन कायके व्यापारोंको भले प्रकार निग्रह करके तीनों गुप्तियोंके आश्रयसे ज्ञानको निर्मल बनाता है, वह उस कैवल्य निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

अभ्युत्थान—प्र.सा./ता.वृ./२६२ अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्। =विनयपूर्वक मुनिके सम्मुख जाना अभ्युत्थान है। (विशेष दे० विनय)।

अभ्युदय—र.क.श्रा./मू./१३५ पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः। अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥१३५॥ =सल्लेखनादिसे उपार्जन किया हुआ समीचीन धर्मप्रतिष्ठा धन आज्ञा

और ऐश्वर्यसे तथा सेना नौकर-चाकर और काम भोगोंकी बहुलतासे लोकातिशयी अद्‌भुत अभ्युदयको फलता है। (लौकिक सुख)।

ध.१/१,१,१/५६/६ तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादिप्रशस्तकर्म-तीव्रानुभागोदयजनितेन्द्रप्रतीन्द्र-सामानिकत्रायस्त्रिंशदादिदेव-चक्रवर्तिबलदेवनारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्यमानुषसुखम्। =साता वेदनीय प्रशस्त कर्म प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ जो—इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव सम्बन्धी दिव्य सुख; और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर (तीर्थंकर) आदि सम्बन्धी मानुष सुखको अभ्युदय सुख कहते हैं। (ध.१/१,१,१/गा.४५/५८)।

अभ्युपगमसिद्धान्त—दे० सिद्धान्त।

अभ्र—सौधर्म स्वर्गका २१वाँ पटल व इन्द्रक। —दे० स्वर्ग/५।

अमम—काल-विषयक एक प्रमाण—दे० गणित I/१।

अममांग—काल-विषयक एक प्रमाण—दे० गणित I/१।

अमरप्रभ—यह वानर वंशका संस्थापक वानरवंशी राजा था। —दे० इतिहास/७/१३।

अमर्यादित—१. अमर्यादित भोजन—दे० भक्ष्याभक्ष्य/८। २. भक्ष्य पदार्थोंकी मर्यादाएँ—दे० भक्ष्याभक्ष्य/८।

अमलप्रभ—भूतकालीन नवम तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

अमात्य—त्रि.सा./टी./६८३ अमात्य कहिए देशका अधिकारी।

अमावस्या—ति.प./७/२११-२१२ ससिबिंबस्स दिणं पडि एक्केक्कपहम्मिभागमेक्केक्कं। पच्छादेदि हु राहू पण्णरसकलाओ परियंतं ॥२११॥ इय एक्केक्ककलाए आवरिदाए खु राहुबिंबेणं। चंदेक्ककला मग्गे जस्सिं दिस्सेदि सो य अमवासो ॥२१२॥ =राहु प्रतिदिन (चन्द्रमाके) एक एक पथमें पन्द्रह कला पर्यन्त चन्द्रबिम्बके एक एक भागको आच्छादित करता है ॥२११॥ इस प्रकार राहुबिम्बके द्वारा एक एक करके कलाओंके आच्छादित हो जानेपर जिस मार्गमें चन्द्रमा की एक ही कला दिखती है वह अमावस्या दिवस होता है ॥२१२॥ विशेष दे० ज्योतिषी/२/८।

अमितगति—१. माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार (देखो इतिहास/५/२३) आप देवसेनके शिष्य तथा नेमिषेणके गुरु थे। **कृति**—योगसार, **समय**—वि० ९७५-१०२५ (ई० ९१८-९६८)। (सुभाषित रत्नसंदोहकी प्रशस्ति); (प.प्र./प्र. १२१ में A. N. up. भी आपका समय ई० श० १० निश्चित करते हैं)। २. (सुभाषित रत्न संदोहकी प्रशस्ति)—माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अमितगति प्रथम के शिष्य माधवसेनके शिष्य थे। आप मुञ्जराजाके राज्यकालमें हुए थे। **कृतियाँ**—१. पंच संग्रह संस्कृत (वि० १०७३); २. जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति; ३. चन्द्रप्रज्ञप्ति; ४. सार्द्ध द्वय द्वीपप्रज्ञप्ति; ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति; ६. धर्म परीक्षा; ७. सामायिक पाठ; ८. सुभाषित रत्नसन्दोह; ९. भगवती आराधनाके संस्कृत श्लोक; १०. अमितगति श्रावकाचार। **समय**—वि० १०५०-१०७८ (ई० ९९३-१०२१)। (का.अ./प्र.३५/ A. N. up.); (सुभाषित रत्न सन्दोह/प्र. पं० पन्नालाल); (यो. सा/अ/प्र.२ पं० गजाधरलाल), (अ.ग.श्रा./प्र.१/पं० गजाधरलाल —दे० इतिहास/५/२३)

अमितगति श्रावकाचार—आ. अमितगति (ई० ९९३-१०२१) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित ग्रन्थ है। इसमें १ परिच्छेद हैं और कुल २०७० श्लोक हैं।

अमिततेज—म.पु./६२/श्लो०नं०—अर्ककीर्तिका पुत्र था ॥१५२॥ अशनिघोष द्वारा बहन सुताराके चुराये जानेपर महाज्वाला विद्या सिद्ध कर अशनिघोषको हराया ॥२६८-८०॥ अनेकों विद्याएँ सिद्ध कीं और भोगोंके निदान सहित दीक्षा ले तेरहवें स्वर्गमें देव हुआ ॥३८७-४११॥ यह शान्तिनाथ भगवान्‌का पूर्वका नवमां भव है।

अमितसेन—पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आचार्य जयसेनके शिष्य तथा कीर्तिषेणके गुरु थे। **समय**—वि० ८००-८५० (ई० ७४३-७९३)—दे० इतिहास/५/१८।

अमुख मंगल—दे० मंगल।

अमूढदृष्टि—

१. अमूढदृष्टिका निश्चय लक्षण—

स.सा./मू./२३२—जो हवइ अम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु। सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥ =जो चेतयिता समस्त भावोंमें अमूढ है। यथार्थ दृष्टिवाला है, उसको निश्चयसे अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। (स. सा/आ०२३२).

रा. वा/६/२४/१/५२९/१२ "बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्तयभावं परीक्षाचक्षुषा व्यवसाय्य विरहितमोहता अमूढदृष्टिता =बहुत प्रकारके मिथ्यावादियोंके एकान्त दर्शनोंमें तत्त्वबुद्धि और युक्तियुक्तता छोड़कर परीक्षारूपी चक्षुद्वारा सत्य असत्यका निर्णय करता हुआ मोह रहित होना अमूढदृष्टिता है।

द्र. सं.वृ/टी./४१/१७३/९ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारमूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेनान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिथ्यात्वरागादिशुभाशुभसंकल्प-विकल्पेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिरूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति।"—निश्चयनयसे व्यवहार अमूढदृष्टिगुणके प्रसादसे जब अन्तरंग और बहिरंग तत्त्वका निश्चय हो जाता है, तब सम्पूर्ण मिथ्यात्व रागादि शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंमें इष्ट बुद्धिको छोड़कर त्रिगुप्तिरूपसे विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निजात्मामें निश्चल अवस्थान करता है, वही अमूढदृष्टिगुण है।

२. अमूढदृष्टिका व्यवहार लक्षण

मू. आ.-/२५६ लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं। णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए ॥२५६॥ =मूढताके चार भेद हैं—लौकिक मूढता, वैदिकमूढता, सामायिक मूढता, अन्यदेवतामूढता इन चारोंको दर्शनघातक जानकर अपनी शक्तिकर नहीं करना चाहिए। (पु. सि.उ./मू/१४)।

र.क.श्रा/१४ कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः। असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥ =कुमार्ग व कुमार्गियोंमें मनसे सम्मत न होना, कायसे सराहना नहीं करना, वचनसे प्रशंसा नहीं करनी सो अमूढदृष्टिनामा अंग कहा जाता है।

द्र. सं. /टी/४१/१७३/५ कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं—अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्ध्या तत्र रुचिं भक्तिं न कुरुते स एवं व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते। =कुदृष्टियोंके द्वारा बनाये हुए, अज्ञानियोंके चित्तमें विस्मयको उत्पन्न करनेवाले रसायनादिक शास्त्रोंको देखकर या सुनकर जो कोई मूढभावसे धर्मबुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है उसको व्यवहारसे अमूढदृष्टि कहते हैं।

पं. ध./उ./५८९-५९९,७७५ अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्। नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥५८९॥ अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह। अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥५९५॥ कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः। मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥५९६॥ देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थ-

दर्शिनी। स्यातोऽप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥७७५॥ —मूढ दृष्टि लक्षणकी अपेक्षासे अतत्त्वोंमें तत्त्वपनेके श्रद्धानको मूढदृष्टि कहते हैं। वह मूढदृष्टि जिस जीवको नहीं है सो अमूढदृष्टिवाला प्रगट सम्यग्दृष्टि है ॥५८६॥ इस लोकमें जो कुदेव हैं, उनमें देवबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि, तथा कुगुरुमें गुरु बुद्धि होती है वह देवादिमूढता कहनेमें आती है ॥५६५॥ इस लोक सम्बन्धी श्रेयके लिए जो मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादेवों की आराधना करता है, वह मात्र मिथ्यालोकोपचारवश करानेमें आयी होनेसे अकल्याणकारी लोकमूढता है ॥५६६॥ देवमें, गुरुमें और धर्ममें समीचीन श्रद्धा करनेवाली जो दृष्टि है वह अमूढदृष्टि कहलाती है और असमीचीन श्रद्धा करनेवाली जो दृष्टि है वह मूढदृष्टि है ॥७७५॥

(स,सा/२३६/ पं० जयचन्द) (द.पा/ पं० जयचन्द/२)

३. कुगुरु आदिके निषेधका कारण

अन. ध/२/८५/२११ सम्यक्त्वगन्धकलभः प्रबलप्रतिपक्षकरीटसंघट्टम्। कुर्वन्नेव निवार्यः स्वपक्षकल्याणमभिलषता ॥८५॥ —जिस प्रकार अपने यूथकी कुशल चाहनेवाला सेनापति अपने यूथके मदोन्मत हाथीके बच्चेकी प्रतिपक्षियोंके प्रबल हाथीसे रक्षा करता है, क्योंकि वह बच्चा है। बड़ा होनेपर उस प्रबल हाथीका घात करने योग्य हो जायेगा तब स्वयं उसका घात कर देगा। ऐसे ही पहिली भूमिकामें अन्यदृष्टिके साथ भिड़नेसे अपनेको बचाये।

★ **कुगुरु आदिकी विनयका निषेध**—दे० विनय/४।

★ **देवगुरु धर्ममूढता**—दे० मूढता।

अमूर्त—१. गणित सम्बन्धी अर्थ (ज. प/प्र १०५); Abestract २. अमूर्तत्व सामान्य व अमूर्तत्व शक्ति—दे० मूर्त; ३. जीवका अमूर्तत्व निर्देश—दे० जीव/३; ४. द्रव्योंमें मूर्तामूर्तकी अपेक्षा विभाजन—देखो द्रव्य/३; ५. अमूर्त जीवसे मूर्त कर्म कैसे बन्धे—दे० बंध/३; ६. अमूर्त द्रव्योंके साथ मूर्त द्रव्योंका स्पर्श कैसे सम्भव है—दे० स्पर्श/२/

अमृतचन्द्र—आप एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। कृतियाँ—१. समयसार पर आत्मख्याति टीका; २. प्रवचनसार पर तत्त्वप्रदीपिका टीका; ३. पंचास्तिकाय पर तत्त्व प्रदीपिका टीका; ४. परमाध्यात्मतरंगिनी; ५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय; ६. तत्त्वार्थसार। समय—ई० ६६२-१०१५. (प.प्र/प्र१२१/A.N.Upa) (पं. वि/प्र३१A.N.Upa) (प. का/प्र २/पं. पन्नालाल बाकलीवाल) (परमाध्यात्मतरंगिनो/प्र १/पं. गजाधरलाल) (स. सा.—नाटक/प्र १) (पु.सि. उ./प्र० उग्रसेन जैन रोहतक)

अमृतधार—बिजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर। दे० विद्याधर।

अमृतरसायन—ह० पु०/३३ श्लो०—गिरिनगरके मांसभक्षी राजा चित्ररथका रसोइया था ॥१५१॥ मुनियोंके उपदेशसे राजाने दीक्षा तथा राजपुत्रने अणुव्रत धारण कर लिये ॥१५२-१५३॥ इससे कुपित हो इसने मुनियोंको कड़वी तूम्बीका आहार दे दिया, जिसके फलसे तीसरे नरक गया ॥१५४-१५६॥ यह कृष्ण नारायणका पूर्वका पाँचवाँ भव है।

अमृतस्रावी ऋद्धि—दे० ऋद्धि /

अमृताशीति—आचार्य योगेन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित उपदेशमूलक विभिन्न छन्दबद्ध अपभ्रंश भाषाके ८२ पद्य हैं। प्रेमीजीके अनुसार ये छन्द इन्हीं-द्वारा विरचित अध्यात्म सन्दोहके हैं। (प. प्र/प्र ११६ H.L. Jain)

अमेचक—स.सा/आ/१६/क.१८ परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः। सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥ —शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाये तो प्रगट ज्ञायकत्व ज्योतिमात्रसे आत्मा एक स्वरूप है। क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे सर्व अन्य द्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको दूर करनेरूप उसका स्वभाव है। इसलिए वह अमेचक है—शुद्ध एकाकार है।

अमोघ—१. नवग्रैवेयक स्वर्गका द्वितीय पटल—दे० स्वर्ग/५; २. मानुषोत्तर पर्वतस्थ अंककूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७। ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

अमोघवर्ष—१. अमोघवर्ष प्रथम—मान्यखेटके राजा जगत्तुङ्ग (गोविन्द तृ०) के पुत्र थे। पिताके पश्चात् राज्यारूढ़ हुए। बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने अपने चाचा इन्द्रराजके पुत्र कर्कराजकी सहायतासे श. सं० ७५७ में लाट देशके राजा ध्रुव राजाको जीतकर उसका देश भी अपने राज्यमें मिला लिया था। इनका राज्य समस्त राष्ट्रकूटमें फैला हुआ था। आप जिनधर्मवत्सल थे। आचार्य भगवज्जिनसेनाचार्य (महापुराणके कर्ता) के शिष्य थे। इसीलिए पिछली अवस्थामें राज्य छोड़कर उन्होंने वैराग्य ले लिया था। इनका बचपनका नाम 'बाछणराय' था तथा उपाधि 'नृपतुंग' थी। 'गोविन्द चतुर्थ' भी इन्हें ही कहते हैं। अकालवर्ष (कृष्ण द्वि०) इनका पुत्र था। इन्होंने एक 'प्रश्नोत्तर माला' नामका ग्रन्थ भी लिखा है। समय—निश्चितरूपसे आपका समय श० सं० ७३६-८००;वि. ८७३-६३५; ई० ८१४-८७८ हैं। विशेष देखो—इतिहास/३/४.

(आ. अनु/प्र/A.N. Upa.) (ष. ख१/प्र/ A.N. Upa.) ष.ख१/प्र ३६/ H. L. Jain). (क. पा १/प्र ७३/पं महेन्द्रकुमार); (ज्ञा/प्र ७/ पं. पन्नालाल बाकलीवाल); (म. पु/प्र ४१/ पं. पन्नालाल बाकलीवाल)। २. अमोघवर्ष द्वितीय—अमोघवर्ष प्र० के पुत्र अकालवर्ष (कृष्णराज द्वितीय) का नाम ही अमोघवर्ष द्वि० था—दे० इतिहास/३/२. ३. अमोघवर्ष तृतीय—अकालवर्षके पुत्र कृष्णराज तृतीयका नाम ही अमोघवर्ष तृतीय था। दे० कृष्णराज तृतीय—इतिहास/३/२।

अयन—१. कालका एक प्रमाण—दे० गणित २/१; २. (ज. प्र/प्र १०५) solstice।

अयशःकीर्ति—दे० यशःकीर्ति।

अयुतसिद्ध—दे० युत।

अयोग—दे० योग।

अयोग केवली—दे० केवली/१।

अयोगव्यवच्छेद—१. अयोगव्यवच्छेदात्मक एवकार—दे० एव। २. अयोगव्यवच्छेद नामक एक न्याय विषयक ग्रन्थ, जिसे श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८-११७३) ने केवल ३२ श्लोकोंमें रचा था, और इसी कारणसे जिसको द्वात्रिंशिका भी कहते हैं। मल्लिषेणसूरिने (ई० १२९२) में इसपर स्याद्वादमंजरी नामकी टीका रची।

अयोध्या—१. अपर विदेहस्थ गन्धमालिनी क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७; २. अयोध्या, साकेत, सुकौशला और विनीता ये सब एक ही नगरके नाम हैं (म.पु/मू/१२/७३)।

अरक्षा भय—दे० भय।

अरजस्का—बिजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

अरजा—१. अपर विदेहस्थ शंख क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/७; २. नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामें स्थित वापी—दे० लोक/७।

अरण्य—नि.सा./ता. वृ./५८ मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्णमरण्यं। —मनुष्यसंचारसे शून्य वनस्पति, बेलों, व वृक्षादिसे परिपूर्ण अरण्य कहलाता है।

अरति—अरति कषाय द्वेष है—दे० कषाय/४।

अरति परिषह—स. सि./९/९/४२२/७ संयतस्येन्द्रियेष्टविषय-सम्बन्धं प्रति निरुत्सुकस्य गीतनृत्यवादित्रादिविरहितेषु शून्यागार-देवकुलतरुकोटरशिलागुहादिषु स्वाध्यायध्यानभावनारतिमास्कन्दतो दृष्टश्रुतानुभूतरतिस्मरणतत्कथाश्रवणकामशरप्रवेशनिर्विवरहृदयस्य प्राणिषु सदा सदयस्यारतिपरिषहजयोऽवसेयः। =जो संयत इन्द्रियों-के इष्ट विषय सम्बन्धके प्रति निरुत्सुक है; जो गीत, नृत्य और वादित्र आदिसे रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर, और शिलागुफा आदिमें स्वाध्याय, ध्यान और भावनामें लीन हैं; पहिले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषय भोगके स्मरण, विषय भोग सम्बन्धी कथाके श्रवण और कामशर पवेशके लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियों के ऊपर सदाकाल सदय है; उसके अरति परिषहजय जानना चाहिए। (रा. वा./९/९/११/६०९/३६) (चा. सा./११५/३)

२. अरति व अन्य परिषहोंमें अन्तर

रा. वा./९/९/१२/६१०/३ स्यादेतत—क्षुधादीनां सर्वेषामरतिहेतुत्वात पृथगरतिग्रहणमनर्थकमिति। तन्न; किं कारणम्। क्षुधाद्यभावेऽपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः। मोहोदयाकुलितचेतसो हि क्षुधादिवेदनाभावेऽपि संयमेऽरतिरुपजायते। =प्रश्न—क्षुधा आदिक सर्व ही परिषह अरतिके हेतु होनेके कारण अरति परिषहका पृथक् ग्रहण अनर्थक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, क्षुधादिके न होनेपर भी मोह कर्मके उदयसे होनेवाली संयमको अरतिका संग्रह करनेके लिए 'अरति' का पृथक् ग्रहण किया है।

अरति प्रकृति—स. सि./८/९/३८५/१३ यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। अरतिस्तद्विपरीता। =जिसके उदयसे देश आदिमें उत्सुकता होती है, वह रति है। अरति इससे विपरीत है। (रा. वा./८/९/४/५७४/१७) (ध. १३/५,५,९०/२८५/६)

अरतिवाक्—दे० वचन।

अरनाथ—१. (म. पु./६५/श्लो० नं०)—पूर्वके तीसरे भवमें कच्छदेश-की क्षेमपुरी नगरीके राजा 'धनपति' थे। २. पूर्वके भवमें जयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए। ८-९। वर्तमान भवमें १८वें तीर्थंकर हुए। (विशेष दे० तीर्थंकर/५) (युगपत सर्व भव दे० म. पु./६५/५०) २. भावी बारहवें तीर्थंकरका भी यही नाम है। अपर नाम पूर्व-बुद्धि है। (विशेष दे० तीर्थंकर/५)

अरिंजय—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्या-धर; २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

अरि—ध. १/१,१,१/४२/९ नरकतिर्यक्कुमानुष्यप्रेतावासगताशेषदुःख-प्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। =नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्त-कारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात शत्रु कहते हैं। (विशेष दे० मोहनीय/१/४)

अरिकेसरी—आप चालुक्यवंशी राजा थे। इनका पुत्र 'बद्दिग' था जो, कृष्णराज तृतीयके आधीन था। तदनुसार इनका समय वि. ९९८ (ई० ९४१-९७४) आता है। इनके समयमें कन्नड़ जैन कवि 'पम्प' ने 'विक्रमार्जन विजय' नामका ग्रन्थ लिखकर पूरा किया था। (यशस्तिलक चम्पू/प्र. २०/-पं० सुन्दरलाल)

अरिष्ट—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकांतिक; २. अरिष्ट देवोंका निवास—दे० लोक/७; ३. ब्रह्मस्वर्गका प्रथम पटल—दे० स्वर्ग/५; ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

अरिष्टपुर—पूर्व विदेहस्थ कच्छक देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७।

अरिष्टसंभवा—आकाशोपपन्न देवोंका एक भेद—दे० देव II/१।

अरिष्टा—१. नरककी पाँचवीं पृथिवी—दे० धूमप्रभा। २. पूर्व विदे-हस्थ कच्छ देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७।

अरुण—१. सौधर्म स्वर्गका छठा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५; २. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकांतिक; ३. अरुण देवोंका अवस्थान—दे० लोक/७; ४. दक्षिण अरुणवर द्वीपका रक्षक देव—दे० भवन/४; ५. दक्षिण अरुणवर समुद्रका रक्षक देव—दे० भवन/४।

अरुणप्रभ—१. उत्तर अरुणवर द्वीपका रक्षक देव—दे० भवन/४; २. उत्तर अरुणवर समुद्रका रक्षक देव—दे० भवन/४।

अरुणमणि—आप एक कवि थे। आपने 'अजित पुराण' ग्रन्थ रचा। समय—वि० १७१६ (ई० १६५९) में उपरोक्त ग्रन्थ पूर्ण किया था। (म. पु./प्र. २०/पं० पन्नालाल)

अरुणवर—मध्यलोकका नवमा द्वीप व सागर—दे० लोक/५।

अरुणा—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

अरुणी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

अरुणी—मध्यलोकका नवम द्वीप व सागर—दे० लोक/५।

अरूपत्व—दे० मूर्त।

अरूपी—दे० मूर्त।

अर्ककीर्ति—(म. पु./सर्ग/श्लो० न०)—भरत चक्रवर्तीका पुत्र था। ४७/१८६-१८७। सुलोचना कन्याके अर्थ सेनापति जयसेन-द्वारा युद्धमें परास्त किया गया/४४/७१,७२,३४४-४५। गृहपति अकम्पन-द्वारा समझाया जानेपर 'अक्षमाला' कन्याको प्राप्त कर सन्तुष्ट हुआ/४५/१०-३०। इसीसे सूर्यवंशकी उत्पत्ति हुई। (प. पु./५/४); (प. पु./५/२६०-२६१) (ह. पु./३/९-७)।

अर्कमूल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

अर्चट—आप एक बौद्ध नैयायिक थे। अपर नाम धर्माकर दत्त था। आप धर्मोत्तरके गुरु थे। कृतियाँ—१. हेतु बिन्दु टीका; २. क्षणभङ्ग-सिद्धि, ३. प्रमाणद्वय सिद्धि। समय—ई० श० ७-८./. (सि. वि./प्र. ३२/पं. महेन्द्रकुमार)।

अर्चन—(दे० जा/४/१ में ध. ८)।

अर्जुन—(पा. पु./सर्ग/श्लो० नं०) पूर्वके तीसरे भवमें सोमभूति ब्राह्मणका पुत्र था/२३/८२। पूर्वके दूसरे भवमें अच्युत स्वर्गमें देव/२३/१०६। वर्तमान भवमें राजा पाण्डुका कुन्ती रानीसे पुत्र उत्पन्न हुआ/८/१७०-७३। अपर नाम धनंजय व धृष्टद्युम्न भी था/१९/२१२। द्रोणाचार्यसे शब्दबेधनी धनुर्विद्या पायी/८/२०८-२१६। तथा स्वयंवर-में गाण्डीव धनुष चढ़ाकर द्रौपदीको वरा/१५/१०५। युद्धमें दुर्योधन आदिक कौरवोंको परास्त किया/१९/६१। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। दुर्योधनके भानजेकृत उपसर्गको जीत मोक्ष प्राप्त किया/२५/१२-१७, ५१-१३३।

अर्जुन—(भारतीय इतिहास १/१८६)—आप एक कवि थे, अपर नाम अश्वमेध दत्त था—समय ई० पू० १५००।

अर्जुन वर्मा—(द.सा./प्र. ३६-३७/नाथूरामजी प्रेमी) आप सुभट-वर्माके पुत्र और देवपालके पिता थे। मालवा (मगध) के राजा थे।

धारा व उज्जैनी नगरी राजधानी थी। समय—ई० १२०७-१२१८/ विशेष दे० इतिहास/३/४।

अर्जुनी—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

अर्थ—**१. अर्थ=जो जाना जाये**

स.सि./१/२/८ अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्। =जो निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं।

रा.वा./१/२/६/१९/२३ अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः। =जो जाना जाये या निश्चय किया जाये उसे अर्थ कहते हैं। (रा.वा./१/३३/१/९५/४), (ध.१२/४,२,१४,२/४७८/७), (ध.१३/५,५,५०/२८१/१२), (न्या.वि./वृ./१/१/१६५/२३) (स.म./२८/३०७/१५) (प.ध./पू./१४८)।

२. अर्थ=द्रव्य गुण पर्याय

स.सि./१/१७/११६/२ "इयर्ति पर्यायास्तैर्वाऽर्यत इत्यर्थो द्रव्यं...।" =जो पर्यायोंको प्राप्त होता है, या जो पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है, यह अर्थ शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार अर्थ द्रव्य ठहरता है। (रा.वा./१/१७/६५/३०)।

स.सि./९/४४/४५५ अर्थं ध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा। =अर्थ ध्येयको कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं।

रा.वा./१/३३/१/९५/४ अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम्। =जो जाना जाता है, प्राप्त किया जाता है, या निष्पादन किया जाता है वह 'अर्थ' कार्य या पर्याय है।

ध.१३/५,५,५०/२८१/१२ अर्यते गम्यते परिच्छिद्यत इति अर्थो नव पदार्थाः। =जाना जाता है वह अर्थ है। यहाँ अर्थ पदसे नौ पदार्थ लिये गये हैं।

प.मु./४/१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। =सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप पदार्थ प्रमाण (ज्ञान) का विषय होता है।

प्र.सा./त.प्र./८७ गुणपर्यायानियूति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयूति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः। =जो गुणोंको और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं, अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' द्रव्य हैं। जो द्रव्योंको आश्रयके रूपमें प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' गुण हैं। जो द्रव्योंको क्रम परिणामसे प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रम परिणामसे प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे 'अर्थ' पर्याय हैं।

न.दी/३/७६ कोऽयमर्थो नाम। उच्यते। अर्थोऽनेकान्तः। =अर्थ किसे कहते हैं—अनेकान्तको अर्थ कहते हैं।

३. अर्थ=ज्ञेय रूप विश्व

प्र.सा./त.प्र./१२४ तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं। =अर्थ क्या है? स्व परके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व ही अर्थ है। (पं.ध./पू./५४१) (पं.ध./उ./३९१) —दे० नय I/४ समस्त विश्व शब्द, अर्थ व ज्ञान इन तीनमें विभक्त है।

४. अर्थ=श्रुतज्ञान

ध.१४/५,६,१२/८/८ अत्थो गणहरदेवो, आगमसुत्तेण विणा सयलसुदणाणपज्जाएण परिणदत्तादो। तेण समं सुदणाणं अत्थसमं। अथवा अत्थो बीजपदं, तत्तो उप्पण्णं सयलसुदणाणमत्थसमं। =‘अर्थ’ गणधरदेवका नाम है, क्योंकि, वे आगम सूत्रके बिना सकल श्रुतज्ञानरूप पर्यायसे परिणत रहते हैं। इनके समान जो श्रुतज्ञान होता है वह अर्थसम श्रुतज्ञान है। अथवा अर्थ बीज पदको कहते हैं, इससे जो समस्त श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थसम श्रुतज्ञान है।

५. अर्थ=प्रयोजन

स.सि./१/६/२१ द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः। =द्रव्य ही अर्थ या प्रयोजन जिसका सो द्रव्यार्थिक नय है। (रा.वा./१/३३/१/९५/८) (ध.१/१,१,१/८३/११) (ध.९/४,१,४५/१७०/१) (आ.प./९)

रा.वा./४/४२/१५ अर्थाकरणसंभव अभिप्रायादिशब्दः न्यायारकल्पितो अर्थाधिगम्यः। =अर्थ, अकरण, सम्भव, अभिप्राय आदि शब्द न्यायसे कल्पित किये हुए अर्थाधिगम्य कहलाते हैं, जैसे रोटी खाते हुए 'सैन्धव लाओ' कहनेसे नमक ही लाना, घोड़ा नहीं ऐसा स्पष्ट अभिप्राय न्यायसे सिद्ध है।

न्या.दी./३/§७३ अर्थस्तावत्तात्पर्यरूढ इति यावत्। अर्थ एव तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात्। =‘अर्थ’ पद तात्पर्यमें रूढ है अर्थात् प्रयोजनार्थक है, क्योंकि, 'अर्थ ही या तात्पर्य ही वचनोंमें है' ऐसा आर्ष वचन है।

६. 'अर्थ' पदके अनेकों अर्थ

रा.वा./१/२/१९/२०/३१ अर्थशब्दोऽर्थमनेकार्थः—क्वचिद् द्रव्यगुणकर्मसु वर्तते 'अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु' (वै.सू./७/२/३) इति वचनात्। क्वचित् प्रयोजने वर्तते 'किमर्थमिहागमनं भवतः?' किं प्रयोजनमिति। क्वचिद्धने वर्तते अर्थवानयं देवदत्तः धनवानिति। क्वचिदभिधेये वर्तते शब्दार्थसम्बन्ध इति। =‘अर्थ’ शब्दके अनेक अर्थ हैं—१. वैशेषिक शास्त्रमें द्रव्य गुण कर्म इन तीन पदार्थोंकी अर्थसंज्ञा है। २. 'आप यहाँ किस अर्थ आये हैं' यहाँ अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है। ३. 'देवदत्त अर्थवान है' यहाँ अर्थ शब्द धनके अर्थमें ग्रहण किया गया है—अर्थवान अर्थात् धनवान। ४. 'शब्दार्थसम्बन्ध' इस पदमें अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय या वाच्य है।

प्रा.वि./वृ./१/७/१४८/१५ अर्थोऽभिधेयः। =अर्थ अर्थात् अभिधेय (भ.आ./वि./११३/२६१/१२)।

पं.ध./पू./१४३ सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥१४३॥ =सत्ता, सत्त्व, अथवा सत, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्य रूपसे एक द्रव्य रूप अर्थके ही वाचक हैं।

★ वर्तमान पर्यायको ही अर्थ कहने सम्बन्धी शंका —दे० केवलज्ञान/५/२।

★ शब्द अर्थ सम्बन्ध —दे० आगम/४।

★ अर्थकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद —दे० 'सप्तभंगी/५।

अर्थनय—दे० नय I/४।

अर्थ पद—दे० पद।

अर्थ पर्याय—दे० पर्याय/३।

अर्थ पुनरुक्त—दे० पुनरुक्त।

अर्थ पुरुषार्थ—दे० पुरुषार्थ।

अर्थ मल—दे० मल।

अर्थ वाद—अर्थवाद रूप वाक्य—दे० वाक्य।

अर्थ शुद्धि—मू.आ./मू./२८५ विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं। पयदेण च जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥२८५॥ =जो सूत्रको अक्षरशुद्ध अर्थशुद्ध अथवा दोनों कर शुद्ध सावधानीसे पढता पढ़ाता है, उसीके शुद्ध ज्ञान होता है।

भ.आ./वि./११३/२६१/१२ अथ अर्थशब्देन किमुच्यते। व्यञ्जनशब्दस्य सांनिध्यादर्थशब्दः शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते।

तत्व का शुद्धिः। विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधारत्वान्निरूपणाया अवैपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते। ='अर्थ' शब्दसे हम क्या समझें ? अर्थ शब्द व्यञ्जन शब्दके समीप होनेसे शब्दोंका उच्चारण होनेपर मनमें जो अभिप्राय उत्पन्न होता है वह अर्थ शब्दका भाव है। अर्थात् गणधर आदि रचित सूत्रोंके अर्थको यहाँ अर्थ समझना चाहिए। 'शुद्धि'का अर्थ इस प्रकार जानना—विपरीतरूपसे सूत्रार्थकी निरूपणामें अर्थ ही आधारभूत है। अतः ऐसी निरूपणा अर्थशुद्धि नहीं है। संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादि दोषोंसे रहित सूत्रार्थ निरूपणको अर्थ शुद्धि कहते हैं।

अर्थ संदृष्टि—आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई० ६६३-७१३) कृत गोमट्टसार, लब्धिसार व क्षपणसार इन तीनों ग्रन्थोंमें प्रयुक्त गणितके आधारपर पं० टोडरमल्लने (ई० १७३६) तीनों सम्बन्धी तीन अर्थ संदृष्टियाँ रची हैं।

अर्थसम—अर्थसम द्रव्य निक्षेप। दे० निक्षेप/५/८।

अर्थसमय—दे० समय।

अर्थ सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन I/१।

अर्थांतर—(न्या.सू./मू./५-२/७) प्रकृतार्थादप्रतिसम्बन्धार्थमर्थान्तरम्। =प्रकृत अर्थसे सम्बन्ध न रखनेवाले अर्थको अर्थान्तर निग्रहस्थान कहते हैं, उदाहरण जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है, अस्पर्शत्व होनेसे। हेतु किसे कहते हैं। 'हि' धातुसे 'तुनि' प्रत्यय करनेसे हेतु यह कृदन्त पद हुआ और नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये पद हैं। यह प्रकृत अर्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। (श्लो.वा.४/न्या. १६१/३८०/९)

अर्थाधिगम—दे० अधिगम।

अर्थापत्ति—रा.वा./६/१/६/५१६/१ यथा हि असति हि मेघे वृष्टिर्नास्तीत्युक्ते अर्थादापन्नं सति मेघे वृष्टिरस्तीति। =जैसे 'मेघके अभावमें वृष्टि नहीं होती' ऐसा कहनेपर अर्थापत्तिसे ही जाना जाता है कि मेघके होनेपर वृष्टि होती है।

२. अर्थापत्तिमें अनैकान्तिक दोषका निरास

रा.वा./६/१/६/५१६/१० सत्यपि मेघे कदाचिद्वृष्टिर्नास्तीत्यर्थापत्तिरनैकान्तिकीति ; तन्न; किं कारणम्। प्रयासमात्रत्वात्। प्रयासमात्रमेतत् अर्थापत्तिरनैकान्तिकीति। 'अहिंसा धर्मः' इत्युक्ते अर्थापत्त्या 'हिंसा अधर्मः' इति न सिद्ध्यति। सिद्ध्यत्येव। असति मेघे न वृष्टिरित्युक्ते सति मेघे वृष्टिरित्यत्रापि सत्येव मेघे इति नास्ति दोषः। =**प्रश्न**—मेघोंके होनेपर भी कदाचित् वृष्टि नहीं होती है, इसलिए अर्थापत्ति अनैकान्तिकी है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, इस प्रकार अर्थापत्तिको अनैकान्तिकी सिद्ध करनेका यह आपका प्रयास मात्र है। 'अहिंसा धर्म है' ऐसो कहनेपर अर्थापत्तिसे ही क्या यह सिद्ध नहीं हो जाता कि 'हिंसा अधर्म है'? होता ही है। कभी मेघके होनेपर ही वृष्टिके न देखे जानेसे इतना ही कह सकते हैं, कि वृष्टि 'मेघके होनेपर ही होगो' अभावमें नहीं।

३. अर्थापत्तिका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव

रा.वा./१/२०/१५/७८/२३ एतेषामप्यर्थापत्त्यादीनाम् अनुक्तानामनुमानसमानमिति पूर्ववत् श्रुतान्तर्भावः। =न कहे गये जो अर्थापत्ति आदि प्रमाण हैं उन सबका, अनुमान समान होनेके कारण श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

अर्थापत्ति समा जाति—न्या.सू./मू./५/१/२१ अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः। =अर्थापत्तिसे प्रतिपक्षके साधन करनेवाले हेतुको अर्थापत्ति समा कहते हैं। जैसे वादी-द्वारा शब्दके अनित्यत्वमें प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप हेतु के दिये जानेपर, प्रतिवादी कहता है, कि यदि प्रयत्नान्तरीयकत्व रूप अनित्य धर्मके साधर्म्यके कारण शब्द अनित्य है तो अस्पर्शत्वस्वरूप नित्य धर्मके साधर्म्यसे वह नित्य भी हो जाओ। (श्लो.वा.४/न्या. ४०२/५१६/२७)।

अर्थापदत्व—ध./१,१,७/१५७/२ ण च संतमत्थमागमो ण परूवेई तस्स अत्थावयत्तप्पसंगादो। =आगम, जिस प्रकारसे वस्तु व्यवस्था है उसी प्रकारसे प्ररूपण न करे, ऐसा हो नहीं सकता। यदि ऐसा माना जावे तो उस आगमको अर्थापदत्व अर्थात् अनर्थकपदत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

अर्थावग्रह—दे० अवग्रह।

अर्द्ध कथानक—पं० बनारसीदास (ई० १६३६-१६४४) द्वारा रचित एक भाषा कथा।

अर्द्धक्रम—(ध.५/प्र.२७) Operation of mediation.

अर्द्ध गोलक—(ज.प./प्र.१०५) Hemisphere.

अर्द्धच्छेद—(ध.५/प्र.२७) १. The number of times a number is halved/Mediation/Logarithm. २. (ज.प./प्र.१०५) log to the base 2 (विशेष दे० गणित II/२)।

अर्द्ध नाराच—दे० संहनन।

अर्द्ध पुद्गल परावर्तन—दे० अनंत।

अर्द्ध फालक—श्वेताम्बर सम्प्रदायका आदिम रूप—दे० श्वेताम्बर।

अर्द्ध मंडलीक—दे० राजा।

अर्द्धेन्द्रा—पाँचवें नरकका चौथा पटल—दे० नरक/५।

अर्पित—स.सि./५/३२/३०३ अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। =वस्तु अनेकान्तात्मक है। प्रयोजनके अनुसार उसके किसी एक धर्मकी विवक्षासे जब प्रधानता प्राप्त होती है तो वह अर्पित या उपनीत कहलाता है। और प्रयोजनके अभावमें जिसकी प्रधानता नहीं रहती वह अनर्पित कहलाता है। **नोट**—इस शब्दका न्यायविषयक अर्थ योजित है।

अर्हन्त—जैन दर्शनके अनुसार व्यक्ति अपने कर्मोंका विनाश करके स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस परमात्माकी दो अवस्थाएँ हैं—एक शरीर सहित जीवन्मुक्त अवस्था, और दूसरी शरीर रहित देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्थाको यहाँ अर्हन्त और दूसरी अवस्थाको सिद्ध कहा जाता है। अर्हन्त भी दो प्रकारके होते है—तीर्थंकर व सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं तीर्थंकर कहलाते है, और शेष सर्व सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व युक्त होनेके कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।

१. अर्हन्तका लक्षण

१. पूजाके महत्त्वसे अर्हन्त व्यपदेश

मू.आ./मू./५०५, ५६२ अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए। ॥५०५॥ अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं। अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥५६२॥ =जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजाके योग्य हैं और देवोंमें उत्तम हैं, वे अर्हन्त हैं ॥५०५॥ वन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, मोक्ष जानेके योग्य हैं इस कारणसे अर्हन्त कहे जाते हैं ॥५६२॥

ध.१/१,१,१/४४/६ अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। =अतिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है। (म.पु./३३/१८६) (न.च.वृ./२७२) (भा.पा./टी./१/३१/५)।

द्र. स/टी/५०/२११/१ पञ्चमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते। =पंच महाकल्याणक रूप पूजाके योग्य होता है, इस कारण अर्हन् कहलाता है।

२. कर्मों आदिके हनन करनेसे अर्हन्त है

बो. पा/मू/३० जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च। हतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥ =जरा और व्याधि अर जन्ममरण, चार गति विषै गमन, पुण्य और पाप इन दोषनिके उपजानेवाले कर्म हैं। तिनिका नाश करि अर केवलज्ञान मई अरहंत हुआ होय सो अरहंत हैं।

मू.आ./मू/५०५, ५६१. रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे ॥५०५॥ जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति। हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति ॥५६१॥ =अरि अर्थात् मोह कर्म, रज अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म और अन्तराय कर्म इन चारके हनन करनेवाले हैं। इसलिए 'अरि' का प्रथमाक्षर 'अ', 'रज' का प्रथमाक्षर 'र' लेकर उसके आगे हननका वाचक 'हन्त' शब्द जोड़ देनेपर अर्हंत बनता है ॥५०५॥ क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंको जीत लेनेके कारण 'जिन' हैं और कर्म शत्रुओं व संसारके नाशक होनेके कारण अर्हंत कहलाते हैं ॥५६१॥

ध. १/१,१,१/४२/६ अरिहननादरिहन्ता। अशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः।···रजोहननाद्वा अरिहंता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव···वस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि।···रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता। ='अरि' अर्थात् शत्रुओंका नाश करनेसे अरिहंत यह संज्ञा प्राप्त होती है। समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्त कारण होनेसे मोहको अरि कहते हैं।·· अथवा रज अर्थात् आवरण कर्मोंका नाश करनेसे 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण रजकी भाँति वस्तु विषयक बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं।···अथवा रहस्यके अभावसे भी अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन उपरोक्त कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तराय कर्मके नाश होनेपर शेष चार अघातिया कर्म भी भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं। (न.च.वृ./२७२), (भ. आ/वि/४६/१५३/१२) (म.पु./३३/१८६), (द्र.सं/टी/५०/२१०/१), (चा.पा/टी/१/३१)।

ध. ८/३,४१/८९/२. "खविदघादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा अरहंता णाम। अधवा, णिट्ठविदट्ठकम्माणं घाइदघादिकम्माणं च अरहंतेत्ति सण्णा, अरिहणणं पदिदोण्हं भेदाभावादो।"=जिन्होंने घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको देख लिया है वे अरहन्त हैं। अथवा आठों कर्मोंको दूर कर देनेवाले और घातिया कर्मोंको नष्ट कर देनेवालोंका नाम अरहन्त है। क्योंकि कर्म शत्रुके विनाशके प्रति दोनोंमें कोई भेद नहीं है। (अर्थात् अर्हंत व सिद्ध जिन दोनों ही अरहन्त हैं)।

२. अर्हन्तके भेद

सत्तास्वरूप/३८ सात प्रकारके अर्हन्त होते हैं। पाँच, तीन व दो कल्याणकयुक्त (देखो तीर्थंकर/१); सातिशय केवली अर्थात् गन्धकुटी युक्त केवली, सामान्य केवली अर्थात् मूक केवली, उत्सर्ग केवली और अन्तकृत् केवली। और भी दे०-केवली/१।

३. भगवान्‌में १८ दोषोंके अभावका निर्देश

नि. सा/मू/६ "छुह तण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंताजरारुजामिच्चू। स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दाजणुव्वेगो ॥६॥ =१, क्षुधा, २. तृषा, ३, भय, ४, रोष (क्रोध), ५. राग, ६, मोह, ७, चिन्ता, ८, जरा, ९. रोग, १०, मृत्यु, ११, स्वेद, १२. खेद, १३, मद, १४, रति, १५. विस्मय, १६. निद्रा, १७, जन्म और १८, उद्वेग (अरति — (ये अठारह दोष हैं) (ज. प./१३/८५-८७) (द्र. सं/टी/५०/२१०)।

४. भगवान्‌के ४६ गुण

(चार अनन्त चतुष्टय, ३४ अतिशय और आठ प्रातिहार्य, ये भगवान्‌के ४६ गुण हैं।)

५. भगवान्‌के अनन्त चतुष्टय

(अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य—ये चार अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं—विशेष दे० चतुष्टय।

६. चौंतीस अतिशयोंके नाम निर्देश

ति. प/४/८९६-९१४/ केवल भाषार्थ—१. जन्मके १० अतिशय १, स्वेदरहितता; २. निर्मलशरीरता; ३. दूधके समान धवल रुधिर; ४, वज्रऋषभनाराच संहनन; ५. समचतुरस्र शरीर संस्थान; ६, अनुपमरूप; ७, नृपचम्पकके समान उत्तम गन्धको धारण करना; ८. १००८ उत्तम लक्षणोंका धारण; ९. अनन्त बल; १०, हित मित एवं मधुर भाषण; ये स्वाभाविक अतिशयके १० भेद हैं जो तीर्थंकरोंके जन्म ग्रहणसे ही उत्पन्न हो जाते हैं। ८९६-८९८। २. केवलज्ञानके ११ अतिशय:—१. अपने पाससे चारों दिशाओंमें एक सौ योजन तक सुभिक्षता; २. आकाश गमन; ३. हिंसाका अभाव; ४. भोजनका अभाव; ५. उपसर्गका अभाव; ६. सबकी ओर मुख करके स्थित होना; ७, छाया रहितता; ८. निर्निमेष दृष्टि; ९. विद्याओंकी ईशता; १०. सजीव होते हुए भी नख और रोमोंका समान रहना; ११. अठारह महा भाषा तथा सातसौ क्षुद्रभाषा युक्त दिव्यध्वनि। इस प्रकार घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए ये महान् आश्चर्यजनक ११ अतिशय तीर्थंकरोंके केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर प्रगट होते हैं॥ ८९९-९०६॥ ३. देवकृत १३ अतिशय—१. तीर्थंकरोंके माहात्म्यसे संख्यात योजनों तक वन असमयमें ही पत्र फूल और फलोंकी वृद्धिसे संयुक्त हो जाता है; २. कंटक और रेती आदिको दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है; ३. जीव पूर्व वैरको छोड़कर मैत्रीभावसे रहने लगते हैं; ४. उतनी भूमि दर्पणतलके सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है; ५, सौधर्म इन्द्रकी आज्ञासे मेघकुमारदेव सुगन्धित जलकी वर्षा करते हैं; ६. देव विक्रियासे फलोंके भारसे नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्यको रचते हैं; ७. सब जीवोंको नित्य आनन्द उत्पन्न होता है; ८, वायुकुमार देव विक्रियासे शीतल पवन चलाता है; ९. कूप और तालाब आदिक निर्मल जलसे पूर्ण हो जाते हैं; १०, आकाश धुआँ और उल्कापातादिसे रहित होकर निर्मल हो जाता है; ११, सम्पूर्ण जीवोंको रोग आदिककी बाधायें नहीं होती हैं; १२. यक्षेन्द्रोंके मस्तकोंपर स्थित और किरणोंसे उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म चक्रोंको देखकर जनोंको आश्चर्य होता है; १३, तीर्थंकरोंके चारों दिशाओंमें (व विदिशाओंमें) छप्पन सुवर्ण कमल, एक पादपीठ, और दिव्य एवं विविध प्रकारके पूजन द्रव्य होते हैं/९०७–९१४। चौतीस अतिशयोंका वर्णन समाप्त हुआ/(ज. प./१३/९३–११४) (द. पा./टी./३५/२८)

७. इतने ही नहीं और भी अनन्तों अतिशय होते हैं

स. म./१/८/४ यथा निशीथचूर्णौ भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसंख्याबाह्यलक्षणसंख्याया उपलक्षणत्वेनानन्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्। एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम्। —जिस प्रकार 'निशीथ चूर्णि' नाम ग्रन्थमें श्री अर्हन्त भगवान्‌के १००८ बाह्य लक्षणोंको उपलक्षण मानकर सत्त्वादि अन्तरंग लक्षणोंको अनन्त कहा गया है, उसी प्रकार उपलक्षणसे अति-

शयोंको परिमित मान करके भी उन्हें अनन्त कहा जा सकता है। इसमें कोई शास्त्र विरोध नहीं है।

८. भगवान्‌के ८ प्रातिहार्य

ति. प./४/६१५–६२७/भावार्थ—१. अशोक वृक्ष; २. तीन छत्र; ३. रत्न-खचित सिंहासन; ४. भक्ति युक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना; ५. दुन्दुभि नाद; ६. पुष्पवृष्टि; ७. प्रभामण्डल; ८. चौसठ चमरयुक्तता (ज. प./१३/१२२–१३०)।

★ **अष्टमंगल द्रव्योंके नाम**—दे० चैत्य/१/११।

★ **अर्हन्तको जटाओंका सद्भाव व असद्भाव**—दे० केश लोच/४।

★ **अर्हन्तोंका वीतराग शरीर**—दे० चैत्य/१/१२।

★ **अर्हन्तोंके मृत शरीर सम्बन्धी कुछ धारणाएँ**—दे० मोक्ष/५।

★ **अर्हन्तोंका विहार व दिव्य ध्वनि**—दे० वह वह नाम।

★ **भगवान्‌के १००८ नाम**—दे० म. पु./२५/१००–२१७।

९. भगवान्‌के १००८ लक्षण

म. पु./१५/३७–४४/केवल भाषार्थ—श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तमघोड़ा, तालवृन्त (पंखा), बाँसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्त्र, दुकान, कुण्डलको आदि लेकर चमकते हुए चित्र विचित्र आभूषण, फल सहित उपवन, पके हुए वृक्षोंसे सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूडामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादि ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, और आठ मंगल द्रव्य, इन्हें आदि लेकर एकसौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यंजन भगवान्‌के शरीरमें विद्यमान थे। (इस प्रकार १०८ लक्षण+९०० व्यंजन=१००८)—(द. पा./टी/३५/२७)

★ **अर्हन्तके चारित्रमें कथंचित् मलका सद्भाव** (दे० केवली/२/सयोगी व अयोगीमें अन्तर)।

★ **सयोग केवली**—दे० केवली।

१०. सयोग केवली व अयोगकेवली दोनों अर्हन्त हैं

ध./८/३,४१/८९/२ खविदघादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा अरहंता णाम। =जिन्होंने घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको देख लिया है वे अरहन्त हैं। (अर्थात् सयोग व अयोग केवली दोनों ही अर्हन्त संज्ञाको प्राप्त हैं।)

★ **सयोग व अयोग केवलीमें अन्तर**—दे० केवली/२।

११. अर्हन्तोंकी महिमा व विभूति

नि. सा./मू/७१ घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया। चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति। =घनघातिकर्म रहित, केवलज्ञानादि परमगुणों सहित, और चौंतीस अतिशय संयुक्त ऐसे अर्हन्त होते हैं। (क्रि. क./३-१/१)

नि. सा./ता. वृ./७ में उद्धृत कुन्दकुन्दाचार्यकी गाथा—"तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं। तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो। =तेज (भामण्डल), केवलदर्शन, केवलज्ञान, ऋद्धि (समवसरणादि) अनन्त सौख्य, ऐश्वर्य, और त्रिभुवनप्रधान-वल्लभपना—ऐसा जिनका माहात्म्य है, वे अर्हन्त हैं।

बो. पा./मू./२९ दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण। णिरुवमगुण-मारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२९॥ =जाके दर्शन और ज्ञान ये तौ अनन्त हैं, बहुरि नष्ट भया जो अष्ट कर्मनिका बन्ध ताकरि जाके मोक्ष है, निरुपम गुणोंपर जो आरूढ़ हैं ऐसे अर्हन्त होते हैं। (द्र. सं./मू./५०) (पं. ध./उ०/६०७)

ध. १/१,१,१/ २३–२५/४५/केवल भावार्थ—मोह, अज्ञान व विघ्न समूहको नष्ट कर दिया है ॥२३॥ कामदेव विजेता, त्रिनेत्र द्वारा सकलार्थ व त्रिकालके ज्ञाता, मोह राग द्वेष रूप त्रिपुर दाहक तथा मुनि-पति हैं ॥२४॥ रत्नत्रयरूपी त्रिशूल द्वारा मोहरूपी अन्धासुरके विजेता, आत्मस्वरूप निष्ठ, तथा दुर्नयका अन्त करनेवाले ॥२५॥ ऐसे अर्हन्त होते हैं।

त. अनु./१२३–१२८/केवल भावार्थ—देवाधिदेव, घातिकर्म विनाशक, अनन्त चतुष्टय प्राप्त ॥१२३॥ आकाश तलमें अन्तरिक्ष विराजमान, परमौदारिक देहधारी ॥१२४॥ ३४ अतिशय व अष्ट प्रातिहार्य युक्त तथा मनुष्य तिर्यंच व देवों द्वारा सेवित/१२५। पंचमहाकल्याणकयुक्त, केवलज्ञान द्वारा सकल तत्त्व दर्शक/१२६। समस्त लक्षणोंयुक्त उज्ज्वल शरीरधारी, अद्वितीय तेजवन्त, परमात्मावस्थाको प्राप्त/१२७–१२८। ऐसे अर्हन्त होते हैं।

अर्हं (सूत्र)—भ. आ./वि./६७/१९४/१ अरिहे अर्हः योग्यः। सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्यायं योग्यो नेति प्रथमोऽधिकारः। =अरिह—अर्ह अर्थात् योग्य। सविचारभक्त प्रत्याख्यान सल्लेखनाके लिए कौन व्यक्ति योग्य होता है और कौन नहीं, इसका वर्णन 'अर्ह' सूत्रसे किया जाता है। यह प्रथमाधिकार है। (विस्तारके लिए दे० (भ. आ./मू./७१–७६)

अर्हंत्—दे० अर्हन्त।

अर्हंत्पासाकेवली—कवि वृन्दावन (ई० १७९१–१८४८) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित, भाग्य निर्णय विषयक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें एक लकड़ीका पासा फैंककर, उसपर दिये गये चिह्नोंके आधार-पर भाग्य सम्बन्धी बातें जानी जाती हैं।

अर्हंत्सेन—सेन संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप दिवाकरसेनके शिष्य तथा लक्ष्मणसेनके गुरु थे।—समय—वि. ६६०–७०० (ई० ६०३–६४६) विशेष दे० इतिहास/५/२८। १. (प. पु./मू./१२३/१६७); २. (प. पु./प्र. ११/पं. पन्नालाल)

अर्हद्दत्त—श्रुतावतार नं० २ के अनुसार भगवान् महावीरकी मूल परम्परामें लोहाचार्यके पश्चात्वाले चार आचार्योंमें आपका भी नाम है। समय—वी. नि. ५६५–५८५; ई० ३८–५८। विशेष दे० इतिहास/४/२।

अर्हद्दत्त सेठ—(प. पु./सर्ग/श्लो. नं०) वर्षायोगमें आहारार्थ पधारे गगन विहारी मुनियोंको ढोंगी जानकर उन्हें आहार न दिया। पीछे आचार्यके द्वारा भूल सुझाई जानेपर बहुत पश्चात्ताप किया/(९२/२०–३१)। फिर मथुरा जाकर उक्त मुनियोंको आहार देकर सन्तुष्ट हुआ। (९२/४२)।

अर्हद्बलि—(ष. ख. १/प्र. पृ. सं./H. L. Jain)—अर्हद्बलि बड़े भारी संघनायक थे। वे पूर्वदेशस्थ पुण्ड्रवर्द्धन देशके निवासी थे। पंच वर्षीय युगप्रतिक्रमणके अवसरपर महिमा नगरमें बड़ा भारी यति सम्मेलन किया था। जिसमें सौ योजनके यति एकत्रित हुए थे। उनकी भावनाओंपर-से ही दूरदर्शी आपने यह बात ताड़ ली कि अब पक्षपातका जमाना आ गया है। इसी परिस्थितिमें आवश्यक समझते हुए आपने नन्दि आदि नामोंसे भिन्न-भिन्न संघोंकी स्थापना

की/पृ. १४। यद्यपि आप एकदेश अंगधारी आचार्य थे, परन्तु संघ-भेदके निर्माता होनेके कारण आपका नाम भगवान्‌के परम्परा दर्शक श्रुतावतारोंमें सर्वत्र नहीं रखा गया है/पृ २८। समय—वी. नि. ५६५-५९३ (ई० ३८-६६)। विशेष दे० इतिहास/४/४/१।

अर्हद्भक्ति—दे० भक्ति/१।

अलंकारोदय—(प. पु./४/श्लो. नं०)—पृथिवीके भीतर अत्यन्त गुप्त एक सुन्दर नगरी थी/१६२-१६४। इसको रावणके पूर्वज मेघवाहनके लिए राक्षसोंके इन्द्र भीम सुभीमने रक्षार्थ प्रदान की थी।

अलंभूषा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

अलक—एक ग्रह—दे० ग्रह।

अलका—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; २. पूर्वके दूसरे भवमें 'रेवती' नामकी धाय थी। इसने कृष्णके पूर्व भवमें अर्थात् निर्नामिकको पर्यायमें उसका पालन किया था/१४४-१४५। वर्तमान भवमें भद्रिला नगरमें सुदृष्टि नामा सेठकी स्त्री हुई/१६७। इसने कृष्णके छः भाइयोंको अपने छः मृत पुत्रोंके बदलेमें पाला था/३५-३९।

अलाभ—दे० लाभ।

अलाभ परिषह—स. सि./९/९/४२५ वायुवदसंगादनेकदेशचारिणोऽभ्युपगतैककालसंभोजनस्य वाचंयमस्य तत्समितस्य वा सकृत्स्वतनुदर्शनमात्रतन्त्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तप इति संतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः। =वायुके समान निःसंग होनेसे जो अनेक देशोंमें विचरण करता है, जिसने दिनमें एक बारके भोजनको स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषा समितिका पालन करता है, एक बार अपने शरीरको दिखलाना मात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, बहुत दिनों तक या बहुत घरोंमें भिक्षाके न प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त संक्लेशसे रहित है, दाताविशेषकी परीक्षा करनेमें जो निरुत्सुक है, तथा 'लाभसे भी अलाभ मेरे लिये परम तप है' इस प्रकार जो सन्तुष्ट है, उसके अलाभ परिषहजय जानना चाहिए/(रा. वा./९/९/२०/६११/१८) (चा. सा./१२३/४)।

अलेवड—भ. आ./वि./७००/८८२/७ अलेवडं अलेपसहितं, यन्न हस्ततलं विलिम्पति। =अलेवड—हाथको न चिपकनेवाला मांड ताक वगैरह।

अलोक—अलोकाकाश—दे० आकाश/१,२।

अलौकिक—दे० लोकोत्तर।

अलौकिक गणना प्रमाण—दे० प्रमाण/६।

अलौकिक शुचि—दे० शुचि।

अल्पतर बंध—दे० प्रकृति बंध/१।

अल्पबहुत्व—पदार्थोंका निर्णय अनेक प्रकारसे किया जाता है—उनका अस्तित्व व लक्षण आदि जानकर, उनकी संख्या या प्रमाण जानकर तथा उनका अवस्थान आदि जान कर। तहाँ पदार्थोंकी गणना क्योंकि संख्याको उल्लंघन कर जाती है और असंख्यात व अनन्त कहकर उनका निर्देश किया जाता है, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि किसी प्रकार भी उस अनन्त या असंख्य में तरतमता या विशेषता दर्शायी जाय ताकि विभिन्न पदार्थोंकी विभिन्न गणनाओंका ठीक ठीक अनुमान हो सके। यह अल्पबहुत्व नामका अधिकार जैसा कि इसके नामसे ही विदित है इसी प्रयोजनकी सिद्धि करता है।

९ कर्मोंके सत्त्व व बन्धस्थानोंकी प्ररूपणाएँ

१. जीवोंके स्थिति बन्धस्थानोंकी अपेक्षा।
२. स्थिति बन्धमें जघन्य व उत्कृष्ट स्थानोंकी अपेक्षा।
३. स्थितिबन्धके निषेकोंकी अपेक्षा।
* अनिवृत्ति गुणस्थानमें स्थितिबन्धकी अपेक्षा। —दे० (ध. ६/१,९-८,१४/२६७/४)।
* उपशान्तकषायसे उतरे अनिवृत्तिकरणमें स्थितिबन्धकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,१४/३२४/३)
* चारित्रमोह क्षपक अनिवृत्तिकरणके स्थितिबन्धकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,१४/३५०/२) (विशेष दे० आगे अल्पबहुत्व/३/११/८)।
४. मोहनीय कर्मके स्थितिसत्त्वस्थानोंकी अपेक्षा।
५. बन्धसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्वके जघन्यस्थानोंकी अपेक्षा।
६. हतसमुत्पत्तिक अनुभागसत्त्वके जघन्य स्थानोंकी अपेक्षा।
७. अष्टकर्मप्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागकी ६४ स्थानीय स्वस्थान ओघ-आदेश प्ररूपणा।
८. अष्टकर्म प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागकी ६४ स्थानीय स्वस्थान ओघ प्ररूपणा।
९. अष्टकर्म प्रकृतियोंके उ० अनुभागकी ६४ स्थानीय परस्थान ओघ प्ररूपणा।
* उपरोक्त विषयक आदेश प्ररूपणाएँ। —दे० (म.बं. ५/§४३९-४४२/२३१-२३३)।
१०. अष्टकर्म प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागकी ६४ स्थानीय परस्थान ओघ प्ररूपणा।
* उपरोक्त विषयक आदेश प्ररूपणा। —दे० (म.बं. ५/§४४४-४५०/२३५-२३९)।
११. एक समयप्रबद्ध प्रदेशाग्रमें सर्व व देशघाती अनुभागके विभागकी अपेक्षा।
१२. एक समयप्रबद्ध प्रदेशाग्रमें निषेकसामान्यके विभागकी अपेक्षा।
१३. एक समयप्रबद्धमें अष्टकर्म प्रकृतियोंके प्रदेशाग्र विभाग की अपेक्षा स्व पर स्थान प्ररूपणा।
१४. जीव समासोंमें विभिन्न प्रदेशबन्धोंकी अपेक्षा।
१५. आठ अपकर्षोंकी अपेक्षा आयुबन्धक जीवोंके प्रमाणकी अपेक्षा।
१६. आठ अपकर्षोंमें आयुबन्धके कालकी अपेक्षा।

१० अष्टकर्म संक्रमण व निर्जराकी अपेक्षा अल्पबहुत्व प्ररूपणा

१. भिन्न गुणधारी जीवोंमें गुणश्रेणीरूप प्रदेश निर्जराकी ११ स्थानीय सामान्य प्ररूपणा।
२. भिन्न गुणधारी जीवोंमें गुणश्रेणी प्रदेश निर्जराके कालकी ११ स्थानीय प्ररूपणा।
३. पाँच प्रकारके संक्रमणों द्वारा हत कर्मप्रदेशोंके प्रमाणमें अल्पबहुत्व।
* प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति विधानमें अपूर्वकरणके काण्डकघातकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,५/२२८/१)।
* द्वितीयोपशम प्राप्ति विधानमें उपरोक्त विकल्प। —दे० (ध.६/१,९-८,१४/२८९/१०)।
* अश्वकर्ण प्रस्थापक चारित्रमोह क्षपकके अनुभागसत्त्वकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,१२/२६३/६)।
* अपूर्वस्पर्धककरणमें अनुभाग काण्डकघातकी अपेक्षा दे०(ध. ६/१,९-८,१६/३६६/११)।
* चारित्रमोह क्षपकके अपूर्वकरणमें स्थिति काण्डकघातकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,१६/३४४/८)।
* त्रिकरण विधानकी अवस्था विशेषोंके उत्कीरणकालों तथा स्थिति बन्ध व सत्त्व आदि विकल्पोंकी अपेक्षा प्ररूपणाएँ।
* प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,७/२३६/८)।
* प्रथमोपशम व वेदक सम्यक्त्व तथा संयमासंयमको युगपत् ग्रहण करनेकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,११/२४७/१)।
* पुरुषवेद सहित क्रोधके उदयसे आरोहण व अवरोहण करनेवाले चारित्रमोहोपशामक अपूर्वकरणके भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके आश्रय सर्व विकल्परूप उत्कीरण कालोंकी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८,१४/३३५/११)
* दर्शनमोह क्षपककी अपेक्षा। —दे० (ध.६/१,९-८ १२/२६३/६)।
* अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें चारित्रमोहकी यथायोग्य प्रकृतियोंके उपशमनकी अपेक्षा। —(ध.६/१,९-८,१४/३०३/६)।

११ अष्टकर्म बन्ध उदय सत्त्वादि १० करणोंकी अपेक्षा भुजगारादि पदोंमें अल्पबहुत्वकी ओघ आदेश प्ररूपणाएँ

१. उदीर्णाकी अपेक्षा अष्टकर्म प्ररूपणा।
२. उदय " " " " "।
३. उपशमना " " " " "।
४. संक्रमण " " " " "।
५. बन्ध " " " " "।
६. मोहनीयकर्म विशेषके सत्त्वकी अपेक्षा।
७. अष्टकर्मबन्ध वेदनामें स्थिति अनुभाग प्रदेश व प्रकृति बन्धोंकी अपेक्षा ओघ आदेश स्व-पर स्थान अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ।

*** प्रयोग व समवदान आदि षट् कर्मोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व प्ररूपणा**

* १४ मार्गणाओंमें जीवोंकी तथा उनमें स्थित कर्मोंकी उपरोक्त षट् कर्मोंकी अपेक्षा प्ररूपणा। —दे०(ध.१३/५,४,३१/१७५-१९५)।

*** निगोद जीवोंकी उत्पत्ति आदि विषयक अल्पबहुत्व प्ररूपणा**

* साधारण शरीरमें निगोद जीवोंका उत्पत्तिक्रम। निरन्तर व सान्तर कालोंकी अपेक्षा। —दे० (ष.खं./१४/५,६/सू. ५८७-६२८/४७४)।
* उपरोक्त कालोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके प्रमाणकी अपेक्षा—दे० (ष.खं. १४/५,६/सू.५८७-६२८/४७४)।

१. अल्पबहुत्व निर्देश व शंकाएँ

१. अल्पबहुत्वका लक्षण

स. सि./१०/६/४७३ क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्या विशेषोऽल्पबहुत्वम् । =क्षेत्रादि भेदोंकी अपेक्षा भेदको प्राप्त हुए जीवोंकी परस्पर संख्याका विशेष प्राप्त करना अल्पबहुत्व है। (रा. वा./१०/६/१४/६४७/२७)

रा.वा./१/८/१०/४२/१६ संख्यातादिष्वन्यतमेन परिमाणेन निश्चितानामन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनं क्रियते—इमे एभ्योऽल्पा इमे बहवः इति । =संख्यात आदि पदार्थोंमें अन्यतम किसी एकके परिमाणका निश्चय हो जानेपर उनकी परस्पर विशेष प्रतिपत्तिके लिए अल्पबहुत्व करनेमें आता है। जैसे यह इनकी अपेक्षा अल्प है, यह अधिक है इत्यादि। (स.सि./१/८/२६)।

ध. ५/१,८,१/२४२/७ किमप्पाबहुअं। संखाधम्मो एदम्हादो एदं तिगुणं चदुगुणमिदि बुद्धिगेज्झो। =प्रश्न—अल्पबहुत्व क्या है? उत्तर—यह उससे तिगुणा है, अथवा चतुर्गुणा है, इस प्रकार बुद्धिके द्वारा ग्रहण करने योग्य संख्याके धर्मको अल्पबहुत्व कहते हैं।

२. अल्पबहुत्वके भेद

ध. ५/१,८,१/२४१/१० (द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि निक्षेपोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व अनेक भेद रूप है। (विशेष दे० निक्षेप)

३. संयतकी अपेक्षा असंयतकी निर्जरा अधिक कैसे

ध. १२/४,२,७,१७८/६ संजमपरिणामेहिंतो अणंताणुबंधि विसंजोएंतस्स असंजदसम्मादिट्ठस्स परिणामो अणंतगुणहीणो, कधं तत्तो असंखेज्जगुणपदेसणिज्जरा। ण एस दोसो संजमपरिणामेहिंतो अणंताणुबंधीणं विसंजोजणाए कारणभूदाणं सम्मत्तपरिणामाणमणंतगुणत्तुवलंभादो। जदि सम्मत्तपरिणामेहिं अणंताणुबंधीणं विसंजोजणा कीरदे तो सव्वसम्माइट्ठीसु तब्भावो पसज्जदि त्ति वुत्ते ण, विसिट्ठेहि चेव सम्मत्तपरिणामेहिं तव्विसंजोयणब्भुवगमादो त्ति ।=प्रश्न—संयमरूप परिणामोंकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाले असंयतसम्यग्दृष्टिका परिणाम अनन्तगुणा हीन होता है। ऐसी अवस्थामें उससे असंख्यातगुणी प्रदेश निर्जरा कैसे हो सकती है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है—क्योंकि संयमरूप परिणामोंकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायोंकी विसंयोजनामें कारणभूत सम्यक्त्वरूप परिणाम अनन्तगुणे उपलब्ध होते हैं। प्रश्न—यदि सम्यक्त्वरूप परिणामोंके द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायोंकी विसंयोजना की जाती है तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उसकी विसंयोजनाका प्रसंग आता है? उत्तर—सब सम्यग्दृष्टियोंमें उसकी विसंयोजनाका प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि विशिष्ट सम्यक्त्वरूप परिणामोंके द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायोंकी विसंयोजना स्वीकार की गयी है।

४. सिद्धोंके अल्पबहुत्व सम्बन्धी शंका

ध. ६/४,१,६६/३१८/७ एदमप्पाबहुगं सोलसवदियअप्पाबहुएण सह विरुज्झदे, सिद्धकालादो सिद्धाणं संखेज्जगुणत्तं फिट्टिदूण विसेसाहियत्तप्पसंगादो। तेणेत्थ उवएसं लहिय एगदरणिण्णओ कायव्वो। =यह अल्पबहुत्व (सिद्धोंमें कृति संचय सबसे स्तोक है, अव्यक्त संचित असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि) षोडशपदादिक अल्पबहुत्व (अल्पबहुत्व २/२) के साथ विरोधको प्राप्त होता है, क्योंकि सिद्धकालकी अपेक्षा सिद्धोंके संख्यातगुणत्व नष्ट होकर विशेषाधिकपनेका प्रसंग आता है। इस कारण यहाँ उपदेश प्राप्त कर दोमें-से किसी एकका निर्णय करना चाहिए।

५. वर्गणाओंके अल्पबहुत्व सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध. १४/५,६,९३/१११/४ जहण्णादो पुण उक्कस्सबादरणिगोदवग्गणा असंखेज्जगुणा। को गुणकारो। जगसेडीए असंखेज्जदिभागो। के वि आइरिया गुणगारो पुण आवलियाए असंखेज्जदिभागो होदि त्ति भणंति, तण्ण घडदे। कुदो। बादरणिगोदवग्गणाए उक्कसियाए सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं त्ति एदेण चूलियासुत्तेण स विरोहादो। =अपनी जघन्यसे उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा असंख्यातगुणी है। गुणकार क्या है? जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण गुणकार है। कितने ही आचार्य गुणकार आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है, ऐसा कहते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, 'उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणामें निगोद जीवोंका प्रमाण जगश्रेणिके असंख्यातवें भागमात्र है', इस चूलिकासूत्रके साथ विरोध आता है।

ध. १४/५,६,११६/१६६/७ एत्थ के वि आइरिया उक्कस्सपत्तेयसरीरवग्गणादो उवरिमधुवसुण्णएगसेडी असंखेज्जगुणा। गुणगारो वि घणावलियाए असंखेज्जदिभागो त्ति भणंति तण्ण घडदे। कुदो। संखेज्जेहि असंखेज्जेहि वा जीवेहि जहण्णबादरणिगोदवग्गणाणुप्पत्तीदो।…तम्हा अणंतलोगा गुणगारो त्ति एदं चेव घेत्तव्वं। =यहाँपर कितने ही आचार्य 'उत्कृष्ट प्रत्येक वर्गणासे उपरिम ध्रुव शून्य एक श्रेणि असंख्यातगुणी है, और गुणकार भी घनावलिके असंख्यातवें भागप्रमाण है,' ऐसा कहते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि संख्यात या असंख्यात जीवोंसे जघन्य बादरनिगोदवर्गणाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।…इसलिए 'अनन्त लोक गुणकार है' यह वचन ही ग्रहण करना चाहिए।

ध. १४/५,६,११६/२१६/१३ कम्मइयवग्गणादो हेट्ठिमाहारवग्गणादो उवरिमअगहणवग्गणमद्धाणगुणगारेहिंतो आहारादिवग्गणाणं अद्धाणुप्पायणट्ठं ट्ठविदभागहारो अणंतगुणो त्ति के वि आइरिया इच्छंति, तेसिमहिप्पाएण पुव्विल्लमप्पाबहुगं परूविदं। भागाहारेहिंतो गुणगारा अणंतगुणा त्ति के वि आइरिया भणंति। तेसिमहिप्पाएणं एदमप्पाबहुगं परूविज्जदे, तेणेसो ण दोसो। =कार्माणवर्गणासे अधस्तन आहार वर्गणासे उपरिम अग्रहणवर्गणाके अध्वानके गुणकारसे आहारादि वर्गणाओंके अध्वानको उत्पन्न करनेके लिए स्थापित भागाहार अनन्तगुणा है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, इसलिए उनके अभिप्रायानुसार पहिलेका अल्पबहुत्व कहा है। तथा भागहारोंसे गुणकार अनन्तगुणे हैं ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। इसलिए उनके अभिप्रायानुसार यह अल्पबहुत्व कहा जा रहा है। इसलिए यह कोई दोष नहीं है।

६. पंचशरीर विस्रसोपचय वर्गणाके अल्पबहुत्व सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध. १४/५,६,५५२/४५७/६ सव्वत्थ गुणगारो सव्वजीवेहि अणंतगुणो। एदमप्पाबहुगं बाहिरवग्गणाए पुधभूदं त्ति काऊण के वि आइरिया जीवसंबद्धपंचण्णं सरीराणं विस्ससुवचयस्सुवरि परूवेंति तण्ण घडदे, जहण्णपत्तेयसरीरवग्गणादो उक्कस्सपत्तेयसरीरवग्गणाए अणंतगुणप्पसंगादो। ='सर्वत्र गुणकार सब जीवोंसे अनन्तगुणा है।' यह अल्पबहुत्व बाह्य वर्गणासे पृथग्भूत है, ऐसा मानकर कितने ही आचार्य जीव सम्बद्ध पाँच शरीरोंके विस्रसोपचयके ऊपर कथन करते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेपर जघन्य प्रत्येक शरीरवर्गणासे उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरवर्गणाके अनन्तगुणे होनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

७. मोह प्रकृतिके प्रदेशाग्रों सम्बन्धी दृष्टिभेद

क.पा. ४/३-२२/§६३६/३३४/११ सम्मत्तचरिमफालीदो सम्मामिच्छत्त-चरिमफाली असंखे० गुणहीणा त्ति एगो उवएसो। अवरेगो सम्मामिच्छत्तचरिमफाली तत्तो विसेसाहिया त्ति। एत्थ एदेसिं दोण्हं पि उवएसाणं णिच्छयं काउमसमत्थेण जइवसहाइरिएण एगो एत्थ विलिहिदो अवरेगो ट्ठिदिसंकम्मे। तेणेदे बे वि उवदेसा थप्पं कादूण वत्तव्वा त्ति। –सम्यक्त्वकी अन्तिम फालिसे सम्यग्मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि असंख्यातगुणी हीन है, यह पहिला उपदेश है। तथा सम्यग्मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि उससे विशेष अधिक है यह दूसरा उपदेश है। यहाँ इन दोनों ही उपदेशोंका निश्चय करनेमें असमर्थ यतिवृषभ आचार्यने एक उपदेश यहाँ लिखा और एक उपदेश स्थिति संक्रमणमें लिखा, अतः इन दोनों ही उपदेशोंको स्थगित करके कथन करना चाहिए।

२. ओघ आदेश प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ

संकेत	अर्थ	संकेत	अर्थ	संकेत	अर्थ
अंगु०	अंगुल	क्षप०	क्षपक श्रेणी	पृ०	पृथिवी
अंत०	अंतर्मुहूर्त	क्षा०	क्षायिक सम्यक्त्व	प्रति०	प्रतिष्ठित
अप०	अपर्याप्त	गुण०	गुणकार या गुणस्थान	बा०	बादर
अप्र०	अप्रतिष्ठित	ज०	जघन्य	ल० अप०	लब्ध्यपर्याप्त
असं०	असंख्यात	ज० प्र०	जगप्रतर	वन०	वनस्पति
आ०	आवली; आहारक शरीर	ज० श्रे०	जगश्रेणी	वे०	वेदक सम्यक्त्व
उ०	उत्कृष्ट	तै०	तैजस शरीर	सं०	संख्यात
उप०	उपशम सम्यक्त्व या उपशम श्रेणी	नि० अप०	निर्वृत्त्यपर्याप्त	सम्मू०	सम्मूर्च्छन
	उपपाद योग स्थान	नि० प०	निर्वृत्ति पर्याप्त	सा०	सामान्य
एका०	एकान्तानुवृद्धि योगस्थान	पंचे०	पंचेन्द्रिय	सू०	सूक्ष्म
औ०	औदारिक शरीर	प०	पर्याप्त		
का०	कार्मण शरीर	परि०	परिणाम योग स्थान		

२. षट् द्रव्योंका षोडशपदिक अल्पबहुत्व

ध.३/१,२,३/३०/७

नं०	द्रव्य	अल्प बहुत्व	गुणकार	नं०	द्रव्य	अल्प बहुत्व	गुणकार
१	वर्तमान काल	स्तोक		९	मिथ्यादृष्टि सामान्य	विशेषाधिक	अभव्य
२	अभव्य राशि	अनन्त गुणी	ज० युक्तानन्त	१०	संसारी जीव	,,	भव्य
३	सिद्ध काल	,,		११	सम्पूर्ण जीवराशि	,,	सिद्ध
४	सिद्ध जीव	असं० गुणे	शत पृथक्त्व	१२	पुद्गल द्रव्य	अनन्त गुणे	
५	असिद्ध काल	,,	सं० आवली	१३	अनागत काल	अनन्त गुणा	पुद्गल×अनन्त
६	अतीत काल	विशेषाधिक	सिद्ध काल	१४	सम्पूर्ण काल	विशेषाधिक	सर्व योग
७	भव्य मिथ्यादृष्टि	अनन्त गुणे		१५	अलोकाकाश	अनन्त गुणा	काल×अनन्त
८	भव्य सामान्य	विशेषाधिक	सम्यग्दृष्टि	१६	सम्पूर्ण आकाश	विशेषाधिक	लोक

३. जीव द्रव्यप्रमाणमें ओघ प्ररूपणा

(ष.खं.५/१,८/सू.१-२६)

नोट—प्रमाणवाले कोष्ठकमें सर्वत्र सूत्र नं० लिखे हैं। वहाँ यथा स्थान उस उस सूत्रकी टीका भी सम्मिलित जानना।

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१. प्रवेशकी अपेक्षा				
	उपशमक			
२		८	स्तोक	अधिकसे अधिक ५४ जीवोंका प्रवेश ही सम्भव है
,,		९	ऊपर तुल्य	
,,		१	,,	,,
३		११	,,	,,
	क्षपक			
४		८	दुगुने	१०८ तक जीवोंका प्रवेश सम्भव है
५		९	ऊपर तुल्य	
,,		१०	,,	,,
,,		१२	,,	,,
६		१३	,,	,,
,,		१४	,,	,,
२. संचयकी अपेक्षा				
	उपशमक			
४		८	स्तोक	प्रवेशके अनुरूपही संचय होता है। कुल २९९ जीव संचित होने सम्भव हैं
,,		९	ऊपर तुल्य	
,,		१०	,,	
,,		११	,,	,,
	क्षपक			
,,		८	दुगुने	कुल ५९८ जीव संचित होते हैं
,,		९	ऊपर तुल्य	,,
,,		१०	,,	,,
५		१२	,,	,,
६		१४	,,	,,
७		१३	सं० गुणे	८९८५०२ जीवोंका संचय
	अक्षपक व अनुपशमक			
८		७	सं० गुणे	२९६९९२०३ जीवोंका संचय
९		६	दुगुने	५९३९८२०६ ,, ,,
१०		५	पल्य/असं० गुणे	मध्य लोकमें स्वयम्भू-रमण पर्वतके पर भागमें अवस्थान
११		२	आ०/असं० गुणे	एक समयमें प्राप्त संयता-संयतसे एक समय गत सासादन राशि असं० गुणी है।
१२		३	सं० गुणे	१. सासादनसे सं० गुणा संचय काल २. सासादनके उपरान्त उपशम सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है पर इसके उपरान्त उपशम व वेदक सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व तीनों प्राप्त होते हैं। ३. उपशमसे वेदक सम्यग्दृष्टि सं० गुणे हैं।
१३		४	आ./असं.गुणे	सम्य०मिथ्यात्वका संचय काल अन्तर्मुहूर्त है और इसका २ सागर है।
१४		१	सिद्धों से अनन्त-गुणावाला अनन्तसे गुणित	
३. सम्यक्त्वमें संचयकी अपेक्षा				
१५	असंयत	उप०	स्तोक	
१६		क्षा०	आ./असं.गुणे	अधिक संचय काल
१७		वे०	,,	सुलभता
१८	संयतासंयत	उप०	स्तोक	तिर्यंचोंमें अभाव तथा दुर्लभ
१९		क्षा०	पल्य/असं.गुणे	तिर्यंचोंमें उत्पत्ति
२०		वे०	आ०/असं० गुणे	तिर्यंचोंमें उत्पत्ति तथा सुलभ
२१	६ठा ७वाँ गुणस्थान	उप०	स्तोक	अल्प संचय काल तथा संयमकी दुर्लभता
२२		क्षा०	सं० गुणा	अधिक संचय काल
२३		वे०	,, ,,	सुलभता
२५	८-१०वाँ गुणस्थान	उप०	स्तोक	अल्प संचय काल तथा श्रेणीको दुर्लभता
२६		क्षा०	सं० गुणे	अधिक संचय काल
	चारित्र	उप०	स्तोक	अल्प संचय काल
		क्षप०	सं० गुणे	अधिक संचय काल

४. गति मार्गणा

१. पाँच गतिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(ष.खं.७/२,११/सू.२-६) (मू.आ./१२०७-१२०८)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२	मनुष्य		स्तोक	
३	नारकी		असं० गुणे	गुणकार—सूच्यंगु०/असं०
४	देव		असं० गुणे	
५	सिद्ध		अनन्त गुणे	गुणकार—भव्य/अनन्त
६	तिर्यंच		,,	

२. ८ गतिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—(ष. खं.७/२,११/सू.८-१५)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
८	मनुष्यणी		स्तोक	
९	मनुष्य		असं० गुणे	गुणकार—ज० श्रे०/असं०
१०	नारकी		,,	,,
११	देव		सं० गुणे	

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१२	देवी		३२ गुणी	
१३	सिद्ध		अनन्त गुणे	
१५	तिर्यञ्च		"	

३. नरक गति—

१. नरकगतिकी सामान्य प्ररूपणा—(मू.आ./१२०६)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
	सप्तम पृ०		स्तोक	असंख्यात बहुभाग क्रम
	६ठी "		असं० गुणे	से पहिलीसे सप्त पृथिवी
	५वीं "		"	तक हानि समझना
	४थी "		"	(ध./३/पृ० २०७)
	३री "		"	
	२री "		"	
	१ली "		"	

२. नरकगतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा—(ष.खं.५/१,८/सू.२७–४०)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२७	नारकी	२	स्तोक	
२८	सामान्य	३	सं० गुणे	अधिक उपक्रमण काल
२९		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
३०		१	असं० गुणे	,, = अंगुल/असं०/ज.प्र
३१	सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
३२		क्षा०	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं० अधिक संचय काल
३३		वे०	"	गुणकार = आ०/असं०
३४	प्रथम पृ०	१–४		नारकी सामान्यवत्
३५	२–७ पृ०	२	स्तोक	पृथक् पृथक्
३६		३	सं० गुणे	
३७		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
३८		१	"	" = अंगु०/असं०÷ज.प्र.
			क्रमेण– २	, ३ , ४ , ५ , ६ , ७
			ज. श्रे = १/२४	१/२०,१/१६,१/१२,१/६, १/४
३९		उप०	स्तोक	
४०	सम्यक्त्व	वे०	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०× आ०/असं०
		क्षा०	...	क्षायिकका अभाव

४. तिर्यंच गति—

१. तिर्यंच गतिकी सामान्य प्ररूपणा—(ष.खं.५/१०८/सू.४१–५०)
नोट—दे० इन्द्रिय व काय मार्गणा

२. तिर्यंच गतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा—(ष.खं.५/१,८/सू.४१–५०)
तिर्यंच सा०, पंचे० ति० सा०, पंचे० प०, योनिमति--

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
४१	सामान्य	५	स्तोक	दुर्लभता
४२		२	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
४३		३	सं० गुणे	
४४		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
४५		१	अनन्तगुणे	
४६	असंयतोंमें-	उप०	स्तोक	
४७	सम्यक्त्व	क्षा०	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
४८		वे०	"	भोगभूमि में संचय
४९	संयतासंयतोंमें-	उप०	स्तोक	
५०	सम्यक्त्व	वे०	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
		क्षा०	...	अभाव

५. मनुष्य गति—

१. मनुष्य गतिकी सामान्य प्ररूपणा—
(ति.प./४/२९३१–३३) (मू.आ./१२१२–१२१५) (ध.३/१,२,१४/९९/२)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
	अन्तर्द्वीपज प०		स्तोक	
	उत्तम भोगभूमि प०		सं० गुणे	देवकुरु व उत्तरकुरु
	मध्य भोगभूमि प०		"	हरि व रम्यक
	जघन्यभोगभूमि प०		"	हैमवत हैरण्यवत
	अनवस्थितकर्मभू प०		"	भरत ऐरावत
	अवस्थित " प०		"	विदेह क्षेत्र
	लब्ध्यपर्याप्त		असं० गुणे	
	सर्व मनुष्य सामान्य		विशेषाधिक	पर्याप्त+अपर्याप्त

२. मनुष्यगतिकी ओघ व आदेश प्ररूपणा—(ष.खं.५/१,८/सू.५३–८०)
मनुष्य सामान्य, मनुष्य प०, मनुष्यणी

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
५३	उपशामक	८–१०	स्तोक	प्रवेश व संचय दोनों
५४		११	ऊपर तुल्य	तीनोंपरस्प.तुल्य(५४जीव)
५५	क्षपक	८–१०	दुगुने	" (१०८ जीव)
५६		१२	ऊपर तुल्य	"
५७		१४	"	"
५७		१३	"	प्रवेशापेक्षया
५८			सं० गुणे	संचयापेक्षया
५९	अक्षपक व अनुपश०	७	"	मूलोघवत्
६०		६	दुगुने	"
६१		५	सं० गुणे	"
६२		२	"	"
६३		३	"	"
६४		४	"	"
६५		१	"	मनुष्य प० व मनुष्यणीमें
६५			असं० गुणे	मनुष्य सा० व अप०
६६	असंयतोंमें-	उप०	स्तोक	मूलोघवत्
६७	सम्यक्त्व	क्षा०	सं० गुणे	"
६८		वे०	"	"
६९	संयतासंयतोंमें- सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	क्षायिकसम्यक्त्वी प्रायः संयमासंयम नहीं धरते या असंयमी रहते हैं या संयम ही धरते हैं।
७०		उप०	सं० गुणे	बहु उपलब्धि
७१		वे०	"	अधिक आय
७२	गुण स्थान ६–७ में	उप०	स्तोक	मूलोघवत्
७३	–सम्यक्त्व	क्षा०	सं० गुणे	"
७४		वे०	"	"
७८	उपशामकोंमें	उप०	स्तोक	
	सम्यक्त्व	क्षा०	सं० गुणे	
७९	चारित्र	उप०	स्तोक	
८०		क्षप०	सं० गुणे	

३. केवल मनुष्यणीकी विशेषता—(ष.खं.५/१,८/सू.७५–७८)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
७५	गुण स्थान ४–७ में –सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	अप्रशस्त वेदमें क्षायिक सम्यक्त्व दुर्लभ है।
७६		उप०	सं० गुणे	
७७		वे०	"	

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
७८	उपशमकोंमें सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	उपरोक्तवत्
		उप०	सं० गुणे	

६. देवगति—

१. देवगतिकी सामान्य प्ररूपणा—(मू.आ./१२१६)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
	कल्पवासी देवदेवी		स्तोक	
	भवनवासी „ „		असं० गुणे	
	व्यन्तर „ „		„	
	ज्योतिषी „ „		„	

२. देवगतिकी ओघ आदेश प्ररूपणा—(ष.खं.५/१,८/सू.८१-१०२)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
८१	देव सामान्य	२	स्तोक	
८२		३	सं० गुणे	अधिक उपक्रमण काल
८३		४	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
८४		१	„	„=आ०/असं०/ज०प्र०
८५	सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	अल्प संचय काल
८६		क्षा०	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
८७		वे०	„	„
८८	भवनत्रिक देवदेवी व सौधर्म देवी सा०	२	स्तोक	सप्तम नरकवत्
„		३	सं० गुणे	„
„		४	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
„		१	„	गुणकार=आ०/असं०/ज० प्र०
„	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	सप्तम पृथिवीवत्
„		वे०	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
„		क्षा०		अभाव
८९	सौधर्मसे सहस्रार	१-४		देव सामान्यवत्
९०	आनतसे उ० ग्रैवेयक सामान्य	२	स्तोक	„
९१		३	सं० गुणे	„
९२		१	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
९३		४	सं० गुणे	अधिक उपपाद
९४	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
९५		क्षा०	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं० संचयकाल=सं०सागर
९६		वे०	सं० गुणे	
९७		उप०	स्तोक	अन्य गुणस्थानोंका अभाव
९८	अनुदिशसे अपराजितमें सम्यक्त्व	क्षा०	असं० गुणे	गुणकार=पल्य०/असं०
९९		वे०	सं० गुणे	अधिक उपपाद
१००		उप०	स्तोक	अल्प संचय काल
१०१	सर्वार्थसिद्धिमें सम्यक्त्व	क्षा०	सं० गुणे	अधिक संचय काल
१०२		वे०	सं० गुणे	अधिक उपपाद

५. इन्द्रिय मार्गणा

१. इन्द्रिय की अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ष.खं.७/२,११/सू.१६-२१

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१६	पंचेन्द्रिय		स्तोक	
१७	चतुरिन्द्रिय		विशेषाधिक	(पंचे०+पंचे०/आ०/असं० ×(ज०प्र०/असं) अधिक
१८	त्रीन्द्रिय		विशेषा०	उपरोक्त+बहु/आ०/असं
१९	द्वीन्द्रिय		„	„
२०	अनिन्द्रिय (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
२१	एकेन्द्रिय		„ „	

२. इन्द्रियोंमें पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ति.प./४/३१४) (ष.खं.७/२,११/सू.२२-३७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२२	चतुरिन्द्रिय प०		स्तोक	ज०प्र०/प्रतरांगुल+असं०
२३	पचेन्द्रिय प०		विशेषा०	उपरोक्त+बहु/आ०+असं०
२४	द्वीन्द्रिय प०		„	„
२५	त्रीन्द्रिय प०		„	„
२६	पंचेन्द्रिय अप०		असं गुणा	गुणकार=आ०/असं०
२७	चतुरिन्द्रिय अप०		विशेषा०	उपरोक्त+बहु/आ०+असं.
२८	त्रीन्द्रिय अप०		„	„
२९	द्वीन्द्रिय अप०		„	„
३०	अनिन्द्रिय (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
३१	एकेन्द्रिय बा० प०		„	
३२	„ „ अप०		असं० गुणे	
३३	„ „ सा०		विशेषा०	पर्याप्त+अपर्याप्त
३४	„ सू० अप०		असं० गुणे	
३५	„ „ प०		सं० गुणे	
३६	„ „ सा०		विशेषा०	पर्याप्त+अपर्याप्त
३७	एकेन्द्रिय सा०		विशेषा०	बा०सा०+सू०सा०

३. इन्द्रियकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा—
(ष.खं.५/१,८/सू.१०३)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
	एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक		उपरोक्त सामान्य प्ररूपणावत्	एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही सम्भव है।
	पंचे० सा० व पंचे० प०	२-१४	मूलोघवत्	
	पंचे० प०	१	असं०सम्य० से असं०गुणे	

६. काय मार्गणा

१. त्रसस्थावर कायकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ष.खं.७/२,११सू.३८-४४); (ष.खं.१४।५,६/सू.५६८-५७४/४६५); (स.म./२९/३३१/७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३८	त्रस सा०		स्तोक	ज०प्र०/असं०
३९	तेज सा०		असं० गुणे	असं० लोक गुणकार
४०	पृथिवी सा०		विशेषा०	उपरोक्त+बहु+लोक/असं०
४१	अप सा०		„	„
४२	वायु सा०		विशेषाधिक	उपरोक्त+बहु+लोक/असं०
४३	अकायिक (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
४४	वनस्पति सा०		अनन्त गुणे	

२. काय मार्गणामें पर्याप्तापर्याप्त सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा
(ष.खं.७/२,११/सू.४५-५१)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
४५	त्रस प०		स्तोक	ज०प्र०+प्रतरांगुल/असं०
४६	„ अप०		असं० गुणे	
४७	तेज अप०		„	
४८	पृथिवी अप०		„	
४९	अप्० अप०		विशेषा०	उपरोक्त+बहु+असं०लोक
५०	वायु अप०		„	„
५१	तेज प०		सं० गुणे	

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
५२	पृथिवी प०		विशेषा०	उपरोक्त+बहु/असं० लोक
५३	अप् प०		,,	,,
५४	वायु प०		,,	,,
५५	अकायिक (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
५६	वनस्पति अप०		,,	
५७	,, अप०		सं० गुणे	
५८	,, सा०		विशेषा०	पर्याप्त+अपर्याप्त
५९	निगोद सा०		,,	

३. काय मार्गणामें बादर सूक्ष्म सामान्यकी अपेक्षा सा० प्ररूपणा—
(ष.खं.७/२,११/सू.६०-७५)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
६०	त्रस सा०		स्तोक	ज०प्र०/असं०
६१	तेज बा० सा०		असं० गुणे	गुणकार=असं० लोक
६२	वन०प्रत्येक बा०सा०		,,	,,
६३	बा० निगोद सा० या प्रतिष्ठित प्रत्येकमें उपलब्ध निगोद		,,	,,
६४	पृथिवी बा० सा०		,,	,,
६५	अप् बा० सा०		,,	,,
६६	वायु बा० सा०		,,	,,
६७	तेज सू० सा०		,,	,,
६८	पृथिवी सू० सा०		विशेषा०	उपरोक्त+बहु/असं० लोक
६९	अप० सू० सा०		,,	,,
७०	वायु सू० सा०		,,	,,
७१	अकायिक (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
७२	वन० बा० सा०		,,	
७३	,, सू० सा०		असं० गुणे	गुणकार=असं० लोक
७४	वन० सा०		विशेषा०	बा०+सू०
७५	निगोद		,,	

४. काय मार्गणामें बा०सू०प०अप० की अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ष.खं.७/२,११/सू.७६-१०६) (ति० प०/४/३१४)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
७६	तेज बा० प०		स्तोक	असं० प्रतरावली
७७	त्रस प०		असं० गुणा	गुणकार=ज०प्र०/असं०
७८	,, अप०		,,	,,=आ०/असं०
	त्रस विशेष :—(ति.प./४/३१४)			
	पंचेन्द्रिय संज्ञी अप०		तेजकाय बा० प० से असं० गुणा	विशेषके लिए देखो इन्द्रिय मार्गणा नं (२)
	,, ,, प०		सं० गुणे	
	चतुरिन्द्रिय प०		,,	
	पंचे० असंज्ञी प०		विशेषाधिक	
	द्वीन्द्रिय प०		,,	
	त्रीन्द्रिय प०		,,	
	पंचे० असंज्ञी अप०		असं० गुणे	
	चतु० अप०		विशेषा०	
	त्री० अप०		,,	
	द्वी० अप०		,,	
७९	वन० प्रत्येक प०		असं० गुणे	गुणकार=पल्य/असं०
८०	वन० प्रति० प्रत्ये. प०		,,	,,
८१	पृथिवी बा० प०		,,	गुणकार=आ०/असं०
८२	अप् बा० प०		असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
८३	वायु बा० प०		,,	गुणकार=प्रतरांगुल/असं०
८४	तेज बा० अप०		,,	गुणकार=असं० लोक
८५	वन. अप्रति. प्रत्ये. अप		,,	,,
८६	,, प्रति० ,, अप०		,,	ति०प०/४/३१४ में तेजकाय बा०अप०को वन०अप्रति. प्रत्येक अप० से असं० गुणा बताया है।
८७	पृथिवी बा० अप०		,,	गुणकार=असं० लोक
८८	अप् बा० ,,		,,	,,
८९	वायु बा० ,,		,,	,,
९०	तेज० सू० ,,		,,	,,
९१	पृथिवी सू० ,,		विशेषाधिक	उपरोक्त+बहु/असं०
९२	अप्काय सू० ,,		,,	,,
९३	वायु सू०		,,	,,
९४	तेज सू० प०		सं० गुणे	
९५	पृथिवी सू० प०		विशेषाधिक	उपरोक्त+बहु/असं०
९६	अप् काय सू० प०		,,	,,
९७	वायु सू० प०		,,	,,
९८	अकायिक (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
९९	वन० साधारण बा०प०		,,	
१००	,, ,, ,, अप०		असं० गुणे	गुणकार=असं० लोक
१०१	,, ,, ,, सा०		विशेषा०	पर्याप्त+अपर्याप्त
१०२	,, ,, सू० अप०		असं० गुणे	गुणकार=असं० लोक
१०३	,, ,, ,, प०		सं० गुणे	
१०४	वन० साधा० सू० सा०		विशेषाधिक	अपर्याप्त+पर्याप्त
१०५	वन० साधारण सा०		,,	बादर+सूक्ष्म
१०६	निगोद		,,	बादर प्रत्येक+बा०नि० प्रति०

५. काय मार्गणामें ओघ आदेश प्ररूपणा—

मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
त्रस काय सा०व०प०	२-१४	मूलोघवत्	(ष.खं.५/१,८/सूत्र १०४)
	२ (मिथ्य०)	असंय. सम्य. से असं० गुणे	

७. गति इन्द्रिय व कायकी संयोगी पर स्थान प्ररूपणा
(ष.खं.७/२,११/सूत्र १-७९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२	मनुष्य गर्भज प०		स्तोक	मनुष्य सा०/४
३	मनुष्यणी ,, ,,		तिगुनी	
४	सर्वार्थ सिद्धि देव		४ या ७ गुणे	
५	तेज काय बा० प०		असं० गुणे	गुणकार=असं प्रतरावली
६	विजयादि चार अनुत्तर विमान		,,	गुणकार=पल्य/असं०
७	नव अनुदिश		सं० गुणे	गुणकार=सं० समय
८	९ वाँ० उपरिम ग्रैवे०		,,	,,
९	८ वाँ० ,, ,,		,,	,,
१०	७ वाँ० ,, ,,		,,	,,
११	६ ठा० मध्य० ,,		,,	,,
१२	५ वाँ ,, ,,		,,	,,
१३	४ था० ,, ,,		,,	,,
१४	३ रा० अधो० ,,		,,	,,

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१५	२ रा० अधो ग्रैवेयक		सं०, गुणे	गुणकार=सं० समय
१६	१ ला० ,, ,,		,,	,,
१७	आरण अच्युत		,,	,,
१८	आनत प्राणत		,,	,,
१९	७वीं पृथिवी नरक		असं० गुण	गुणकार=(ज०श्रे०) १/२
२०	६ठी ,, ,,		,,	,, =(ज० श्रे०) ३/२
२१	शतार-सहस्रार		,,	,, =(ज० श्रे०) ४/२
२२	शुक्र महा शुक्र		,,	,, =(ज० श्रे०) ५/२
२३	५वीं पृथिवी नरक		,,	,, =(ज० श्रे०) ६/२
२४	लांतव कापिष्ठ		,,	,, =(ज० श्रे०) ७/२
२५	४थीं पृथिवी नरक		,,	,, =(ज० श्रे०) ८/२
२६	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर		,,	,, =(ज० श्रे०) ९/२
२७	३री० पृथिवी नरक		,,	,, =(ज० श्रे०) १०/२
२८	माहेन्द्र स्वर्ग		,,	,, =(ज० श्रे०) ११/२
२९	सनत्कुमार ,,		,,	,, =असं० समय
३०	२री पृथिवी नरक		,,	,, =(ज० श्रे०) १२/२
३१	मनुष्य अप०		,,	,, =(१२ज०श्रे०)/२असं०
३२	ईशान देव		,,	,, =सूच्यंगुल/असं०
३३	ईशान देवियाँ		३२ गुणी	
३४	सौधर्म देव		सं० गुणे	
३५	,, देवियाँ		३२ गुणीं	
३६	१ली पृथिवी नरक		असं० गुणे	गुणकार=(घनांगुल) ३/२
३७	भवनवासी देव		,,	,, =घनांगुल ३/२+सं०
३८	,, ,, देवियाँ		३२ गुणी	
३९	पंचें. तिर्यं. योनिमति		असं० गुणे	,, =(असं ज०श्रे)१/२+
४०	व्यन्तर देव		सं० गुणे	
४१	,, देवियाँ		३२ गुणी	
४२	ज्योतिषी देव		सं० गुणे	
४३	,, देवियाँ		३२ गुणी	
४४	चतुरिन्द्रिय प०		सं० गुणे	
४५	पंचेन्द्रिय प०		विशेषाधिक	उपरोक्त+वह÷ आ०/असं०
४६	द्वीन्द्रिय प०		,,	,,
४७	त्रीन्द्रिय प०		,,	,,
४८	पंचेन्द्रिय अप०		असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
४९	चतुरिन्द्रिय अप०		विशेषाधिक	उपरोक्त+वह+आ०/असं०
५०	त्रीन्द्रिय अप०		,,	,,
५१	द्वीन्द्रिय अप०		,,	,,
५२	वन० अप्रति० प्रत्येक बा० प०		असं० गुणे	गुणकार=पल्य/असं०
५३	वन० प्रति० प्रत्येक बा०प० या निगोद		,,	,, =आ०/असं०
५४	पृथिवी बा० प०		,,	,, =आ०/असं०
५५	अप० काय बा० प०		,,	,,
५६	वायु ,, ,, प०		,,	,, =प्रतरांगुल/असं०
५७	तेज ,, ,, अप०		,,	,, असं० लोक
५८	वन०अप्रति० प्रत्येक बा० अप०		,,	,,
५९	वन० प्रति० प्रत्येक बा०अप० या निगोद		,,	,,
६०	पृथिवी काय बा० अप०		,,	,,
६१	अप् काय बा० अप०		असं० गुणे	गुणकार=असं० गुणे
६२	वायु ,, ,, ,,		,,	,,
६३	तेज काय सू० ,,		,,	,,
६४	पृथिवी ,, ,, ,,		विशेषाधिक	उपरोक्त+वह/असं लोक
६५	अप् ,, ,, ,,		,,	,,
६६	वायु ,, ,, ,,		,,	,,
६७	तेज ,, ,, ,,		सं० गुणा	
६८	पृथिवी ,, ,, ,,		विशेषाधिक	उपरोक्त+असं० लोक
६९	अप काय ,, ,,		,,	,,
७०	वायु ,, ,, ,,		,,	,,
७१	अकायिक (सिद्ध)		अनन्तगुणे	
७२	वन०साधारण बा०पा०		,,	
७३	,, ,, ,, अप०		असं० गुणा	गुणकार=असं० लोक
७४	,, ,, ,, सा०		विशेषाधिक	पर्याप्त+अपर्याप्त
७५	,, ,, सू० अप०		असं० गुणे	गुणकार=असं० लोक
७६	,, ,, ,, प०		सं० गुणे	
७७	,, ,, ,, सा०		विशेषाधिक	पर्याप्त+अपर्याप्त
७८	वन० साधारण सा०		,,	सूक्ष्म सा०+बादर सा०
७९	निगोद		,,	विशेष=वन० प्रति०-प्रत्येक बा० सा०

८. योग मार्गणा—

१. योग मार्गणा सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(ष.खं.७/२,११/सू.१०७-११०)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१०७	मनो योगी सा०		स्तोक	देव सा०/असं०
१०८	वचन " "		सं० गुणे	
१०९	अयोगी (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
११०	काय योगी		"	

२. योग मार्गणा विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(ष.खं./७/२,११/सू.१११-१२९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१११	आहारक मिश्र योग		स्तोक	
११२	आहारक काय योग		दुगुने	
११३	वैक्रियक मिश्र "		असं० गुणे	
११४	सत्य मनो योग		सं० गुणे	
११५	मृषा मनो योग		"	
११६	उभय " "		"	
११७	अनुभय मनो योग		"	
११८	मनो योगी सा०		विशेषाधिक	चारों मनोयोगी
११९	सत्य वचन योग		सं० गुणे	
१२०	मृषा " "		"	
१२१	उभय " "		"	
१२२	वैक्रियक काय योग		"	
१२३	अनुभय वचन योग		"	
१२४	वचन योगी सा०		विशेषाधिक	चारों वचन योगी
१२५	अयोगी (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
१२६	कार्माण काय योग		"	
१२७	औदारिक मिश्र "		असं० गुणे	गुणकार=अन्तर्मुहूर्त
१२८	औदारिक काय "		सं० गुणे	
१२९	काय योगी सा०		विशेषाधिक	चारों काय योगी

३. योग मार्गणाकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा—

१. पाँचों मनो योगी, पाँचों वचन योगी, काय योगी सा०, औदारिक काययोगी

१. इस प्रकार उपरोक्त १२ योग वाले—(ष.ख.५/१,८/सू.१०५–१२१)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१०५	उपशामक	८–१०	स्तोक	परस्पर तुल्य संचय, प्रवेश दोनों अपेक्षा
१०६		११	ऊपर तुल्य	
१०७	क्षपक	८–१०	सं० गुणे	"
१०८		१२	ऊपर तुल्य	"
१०९	सयोग केवली	१३	"	प्रवेश अपेक्षा
११०		"	सं० गुणे	संचय अपेक्षा
१११	अनुपशामक अक्षपक सामान्य	७	"	
११२		६	दुगुने	
११३		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
११४		२	"	" = आ०/असं०
११५		३	सं० गुणे	मनुष्य गतिवत्
११६		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
११७		१	असं० गुणे मन व वचन योगकी अपेक्षा; अनन्तगुणे काय व औ० काय योग की अपेक्षा	
११८	सम्यक्त्व	४–७	मूलोघवत्	
११९		८–१०	"	
१२०	चारित्र	उप०	स्तोक	
१२१		क्षप०	सं० गुणे	

२. औदारिक मिश्र योग—(ष.ख.५/१,८/सू.१२२–१२७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१२२	सयोग केवली	१३	स्तोक	
१२३	असंयत सामान्य	४	सं० गुणे	
१२४	"	२	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
१२५	"	१	अनन्त गुणे	
१२६	सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	दुर्लभता
१२७		वे०	सं० गुणे	

३. वैक्रियिक काय योग—(ष.ख./५/१,८./सू.१२८)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१२८	सर्व भंग	१–४	देवगति-सा० वत्	

४. वैक्रियिक मिश्र योग—(ष.ख.५/१,८/सू.१२९–१३४)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१२९	सामान्य	२	स्तोक	
१३०		४	सं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
१३१		१	असं० गुणे	गुणकार = अंगु/असं+ज.प्र.
१३२	सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	उपशम श्रेणीमें मृत्यु बहुत कम होती है
१३३		क्षा०	सं० गुणे	
१३४		वे०	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०

५. आहारक मिश्र काय योग—(ष.ख.५/१,८/सू.१३५–१३६)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१३५	सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता
१३६		वे०	सं० गुणे	

६. कार्मण काय योग—(ष.ख.५/१,८/सू.१३७–१४२

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१३७		१३	स्तोक	
१३८		२	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
१३९		४	"	" = आ०/असं०
१४०		१	अनन्त गुणे	
१४१	सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	वैक्रियक मिश्रवत्
१४२		क्षा०	सं० गुणे	असं० क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंका मरण नहीं होता। क्योंकि यदि देवोंसे मरण करे तो मनुष्योंमें असं० क्षा० सम्य०का प्रसंग आ जायेगा। परन्तु तिर्य० व मनुष्योंमें असं० क्षा० सम्य० होते नहीं। नरक से मरकर देवोंमें जाते नहीं।
१४३		वे०	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०

९. वेद मार्गणा—

१. वेदमार्गणा सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ष.ख.७/२,११/सूत्र १३०–१३३)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१३०	पुरुष		स्तोक	
१३१	स्त्री		सं० गुणे	
१३२	अपगत		अनन्त गुणे	
१३३	नपुंसक		"	

२. वेदमार्गणा विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ष.ख.७/२,११/सूत्र १३४–१४४)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१३४	नपुंसक संज्ञी गर्भज		स्तोक	
१३५	पुरुष " "		सं० गुणे	
१३६	स्त्री " "		"	
१३७	नपुंसक " सम्मू०प०		"	
१३८	" " " अप०		असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
१३९	स्त्री " गर्भज भोगभूमिज		"	
"	पुरुष " " भोग०		ऊपर तुल्य	
१४०	नपुंसक असंज्ञी गर्भज		सं० गुणे	
१४१	पुरुष " "		"	
१४२	स्त्री " "		"	
१४३	नपुंसक " सम्मू०प०		"	
१४४	" " " अप०		असं० गुणे	गुणकार – आ०/असं०

३. तीनों वेदोंकी पृथक् पृथक् ओघ आदेश प्ररूपणा

१. स्त्री वेद—(ष.ख.५/१-८/सू.१४४–१६१)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१४४	उपशामक	८–९	स्तोक	परस्पर तुल्य केवल १० जीव
१४५	क्षपक	८–९	दुगुने	" २० जीव
१४६	अक्षपक व अनुपशामक	७	सं० गुणे	मूलोघवत्
१४७		६	दुगुने	
१४८		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं० तिर्यंच भी सम्मिलित
१४९		२	"	सुलभता
१५०		३	सं० गुणे	अन्य स्थानोंसे आय
१५१		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं० अन्य स्थानोंसे आय

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१५२		१	असं० गुणे	गुणकार = घनांगुल+ असं०/ज० प्र०
१५३	गुणस्थान ४-५ में सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	अल्प आय
१५४		उप०	सं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
१५५		वे०	"	" = आ०/असं०
१५६	गुणस्थान ६-७ में सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	
१५७		उप०	सं० गुणे	
१५८		वे०	"	
१५९	उपशमकों में सम्य०	क्षा०	स्तोक	
		उप०	दुगुने	
१६०	चारित्र	उप०	स्तोक	
१६१		क्षप०	दुगुने	

२. पुरुष वेद—(ष.ख.५/१,८/सू.१६२–१७४)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१६२	उपशामक	८–९	स्तोक	परस्पर तुल्य कुल ५४ जीव
१६३	क्षपक	८–९	दुगुणे	" " १०८ "
१६४	अक्षपक व अनुपशमक	७	सं० गुणे	मूल ओघ वत्
१६५		६	दुगुने	"
१६६		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं० (तिर्यंच भी)
१६७		२	"	गुणकार = आ०/असं०
१६८		३	सं० गुणे	
१६९		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
१७०		१	"	" = अंगु./असं.+ज०प्र०
१७१	गुणस्थान ४-७ में सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	ओघवत्
"		क्षा०	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
"		वे०	"	" = आ०/असं०
१७२	उपशमकों में सम्य०	क्षा०	स्तोक	
		वे०	सं० गुणे	
१७३	चारित्र	उप०	स्तोक	
१७४	"	क्षप०	सं० गुणे	

३. नपुंसक वेद—(ष.ख.५/१,८/सू.१७५–१९०)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१७५	उपशामक	८–९	स्तोक	तुल्य (कुल ५ जीव)
१७६	क्षपक	"	दुगुणे	" (कुल १० जीव)
१७७	अक्षपक व अनुपशमक	७	सं० गुणे	मूलोघवत्
१७८		६	दुगुने	
१७९		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं० तिर्यंच भी सम्मिलित
१८०		२	"	गुणकार = आ०/असं०
१८१		३	सं० गुणे	" = सं० समय
१८२		४	असं० गुणे	" = आ०/असं०
१८३		१	अनन्त गुणे	सर्व जीव राशि का अनन्त प्रथम वर्गमूल गुणकार है
१८४	असंयतों में सम्य०	उप०	स्तोक	
"		क्षा०	आ./असं.गुणे	प्रथम पृथ्वी नरकमें भी सुलभ
"		वे०	"	
"	संयतासंयतों में सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	पर्याप्त मनुष्य ही होते हैं तिर्यंच नहीं
		उप०	प०/असं०गुणे	
१८४		वे०	आ./असं.गुणे	
१८५	गुणस्थान ६-७ में सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	पृथक् पृथक् परस्पर १:२ अप्रशस्त वेदमें क्षायिक की दुर्लभता
१८६		उप०	सं० गुणे	
१८७		वे०	"	
१८८	उपशमकों में सम्य०	क्षा०	स्तोक	
"		उप०	सं० गुणे	
१८९	चारित्र	उप०	स्तोक	
१९०		क्षा०	सं० गुणे	

४. अपगत वेद—(ष.ख.५/१,८/सू.१९१–१९६)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१९१	उपशामक	९–१०	स्तोक	पृथक् पृथक् तुल्य (कुल ५४ जीव)
१९२		११	ऊपर तुल्य	प्रवेश की अपेक्षा संचय भी प्रवेशाधीन है
१९३	क्षपक	९-१०	दुगुने	" कुल १०८ जीव
१९४		१२	ऊपर तुल्य	"
१९५	अयोगी	१४	"	"
"	सयोगी	१३	"	प्रवेश की अपेक्षा
१९६			सं० गुणे	संचय की अपेक्षा

१०—कषाय मार्गणा

१. कषाय चतुष्ककी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—(ष.ख.७/२.११/सू.१४५–१४९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१४५	अकषायी		स्तोक	
१४६	मान कषायी		अनन्त गुणे	
१४७	क्रोध कषायी		विशेषाधिक	उपरोक्त+बह/आ.+असं०
१४८	माया कषायी		"	"
१४९	लोभ कषायी		"	"

२. कषाय चतुष्ककी अपेक्षा ओघआदेश प्ररूपणा—

१. चारों कषाय—(ष.ख.५/१,८/सू.१९७–२११)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१९७	उपशामक	८–९	स्तोक	परस्पर तुल्य प्रवेशकी अपेक्षा संचय भी प्रवेशाधीन है
१९८	क्षपक	८–९	सं० गुणे	
१९९	उपशामक	१०	विशेषाधिक	
२००	क्षपक	१०	सं० गुणे	
२०१	अक्षपक व अनुपश.	७	सं० गुणे	गु. = क्रोध, मान, माया, लो. २ ३ ४ ७
२०२		६	दुगुने	४ ६ ८ १४
२०३		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
२०४		२	असं० गुणे	" = आ०/असं०
२०५		३	सं० गुणे	" = सं० समय
२०६		४	असं० गुणे	" = आ०/असं०
२०७		१	अनन्त गुणे	
२०८	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	मूलोघवत्
		क्षा०	असं.व सं.गुणे	"
		वे०	"	"

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२०९	उपशमकों में	उप०	स्तोक	,,
	सम्यक्त्व	क्षा०	सं० गुणे	,,
२१०	चारित्र	उप०	स्तोक	
२११		क्षप०	सं० गुणे	

२. अकषायी—(ष.ख.५/१,८/सू.२१२-२१५)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२१२	,,	११	स्तोक	कुल ५४ जीव (प्रवेश व संचय)
	,,			
२१३	,,	१२	दुगुने	,, १०८ ,,
२१४	,,	१४	ऊपर तुल्य	प्रवेश की अपेक्षा
	,,	१३	,,	,,
२१५	,,		सं० गुणे	संचय की अपेक्षा

११. ज्ञान मार्गणा—

१. ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(ष.ख.७/२,११/सू.१५०-१५५)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१५०	मनःपर्यय ज्ञानी		स्तोक	संख्यात मात्र
१५१	अवधि ,,		असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
१५२	मतिश्रुत ,,		विशेषाधिक	उपरोक्त+वह/असं० परस्पर तुल्य
१५३	विभंग ज्ञानी		असं० गुणे	गुणकार = ज०प्र०/असं०
१५४	केवलज्ञानी		अनन्तगुणे	
१५५	मतिश्रुत अज्ञानी		,,	

२. ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा—

१. अज्ञान—(ष.ख.५/१,८/सू.२१६-२१७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२१६	मतिश्रुत अज्ञान	२	स्तोक	गुणकार = पल्य/असं०
२१७		१	अनन्तगुणे	,, = सर्व जीव/असं०
२१६	विभंग ज्ञान	२	सर्वतः स्तोक	पल्य/असं०
२१७		१	असं० गुणे	गुण० = अंगु./असं.+ज.प्र

२. मतिश्रुत अवधिज्ञान—(ष.ख.५/१,८/सू.२१८-२२९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२१८	उपशमक	८-१०	स्तोक	{ प्रवेश अपेक्षा/तुल्य
२१९	,,	११	ऊपर तुल्य	{ संचय भी प्रवेशाधीन
२२०	क्षपक	८-१०	दुगुणे	,,
२२१	,,	१२	ऊपर तुल्य	,,
२२२	अक्षपक व अनुपशमक	७	सं० गुणे	मूलोघवत्
२२३	,,	६	दुगुने	
२२४	,,	५	प०/असं०गुणे	तिर्यंच भी
२२५	,,	४	आ०/असं.गु.	देव भी
२२६	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	मूलोघवत्
,,		क्षा०	असं. व सं.गु.	,,
,,		वे०	,,	,,
२२७	उपशमकोंमें सम्य०	उप०	स्तोक	,,
,,		क्षा०	सं० गुणे	,,
२२८	चारित्र	उप०	स्तोक	,,
२२९		क्षप०	सं० गुणे	,,

३. मनःपर्यय ज्ञान—(ष.ख.५/१,८/सू.२३०-२४१)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२३०	उपशमक	८-१०	स्तोक	तुल्य/प्रवेश व संचय
२३१		११	ऊपरतुल्य	,,
२३२	क्षपक	८-१०	दुगुणे	,,
२३३		१२	ऊपरतुल्य	,,
२३४	अक्षपक व अनुपशमक	७	सं० गुणे	
२३५		६	दुगुणे	
२३६	उपरोक्त में सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
२३७		क्षा०	सं० गुणे	क्षायिक सम्यक्त्वके साथ
२३८		वे०	,,	अधिक मनःपर्यय-ज्ञानी होते हैं
	उपशमकों में सम्य०	उप०	स्तोक	मूलोघवत
		क्षा०	सं० गुणे	,,
२४०	चारित्र	उप०	स्तोक	,,
२४१		क्षप०	सं० गुणे	,,

४. केवल ज्ञान—(ष.ख.५/१,८/सू.२४२-२४३)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२४२	अयोगी	१४	स्तोक	प्रवेश व संचय
२४२	सयोगी	१३	ऊपर तुल्य	प्रवेशापेक्षया
२४३			सं० गुणे	संचयापेक्षया

१२. संयम मार्गणा—

१. संयम मार्गणा सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा

(ष.ख.७/२,११/सू.१५६-१५९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१५६	संयत सामान्य		स्तोक	संख्यात मात्र
१५७	संयतासंयत		असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
१५८	न संयत न असंयत (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
१५९	असंयत		अनन्त गुणे	

२. संयम मार्गणा विशेष की अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा

(ष.ख.७/२,११/सू.१६०-१६७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१६०	सूक्ष्म साम्पराय		स्तोक	
१६१	परिहार विशुद्धि		सं० गुणे	
१६२	यथाख्यात		,,	
१६३	सामायिक		,,	
,,	छेदोपस्थापना		ऊपर तुल्य	
१६४	संयत सामान्य		विशेषाधिक	उपरोक्त सर्व का योग
१६५	संयतासंयत		असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
१६६	न संयत न असंयत (सिद्ध)		अनन्त गुणे	
१६७	असंयत		अनन्त गुणे	

३. संयम मार्गणा की अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा

१. संयम सामान्य—(ष.ख.५/१,८/सू.२४४-२५७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२४४	उपशमक	८-१०	स्तोक	{ प्रवेश व संचय दोनों
२४५		११	ऊपर तुल्य	{ कुल ५४ जीव
२४६	क्षपक	८-१०	दुगुने	,, (कुल १०८ जीव)
२४७		१२	ऊपर तुल्य	
२४८	अयोगी	१४	,,	,,
,,	सयोगी	१३	,,	प्रवेशापेक्षया
२४९			सं० गुणे	संचयापेक्षया
२५०	अक्षपक व अनुपशमक	७	,,	
२५१		६	दुगुने	
२५२	उपरोक्त में सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
२५३		क्षा०	सं० गुणे	

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२५४		वे०	सं० गुणे	
२५५	उपशमकोंमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
२५५		क्षा०	सं० गुणे	
२५६	चारित्र	उप०	स्तोक	
२५७		क्षप०	सं० गुणे	

२. सामायिक छेदोपस्थापना संयम—(ष.ख.५/१०८/सू.२५८-२६७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२५८	उपशमक	८-९	स्तोक	परस्पर तुल्य/प्रवेश की
२५९	क्षपक	,,	दुगुने	अपेक्षा कुल ५४ जीव संचय भी प्रवेशाधान
२६०	अक्षपक व अनुपशामक	७	सं० गुणे	
२६१	,,	६	दुगुने	
२६२	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
२६३		क्षा०	सं० गुणे	
२६४		वे०	,,	
२६५	उपशमकोंमें सम्य०	उप०	स्तोक	
,,		क्षा०	सं० गुणे	
२६६	चारित्र	उप०	स्तोक	
२६७		क्षप०	सं० गुणे	

३ परिहार विशुद्धि संयम—(ष.ख.५/१,८/सू.२६८-२७१)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२६८	अक्षपक व अनुपशामक	७	स्तोक	
२६९		६	दुगुने	
	उपरोक्त में सम्यक्त्व	उप०		अभाव
२७०		क्षा०	स्तोक	
२७१		वे०	सं० गुणे	

४. सूक्ष्म साम्पराय संयम—(ष.ख.५/१०८/सू.२७२-२७३)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२७२	उपशमक	१०	स्तोक	
२७३	क्षपक	१०	सं० गुणे	

५. यथाख्यात संयम—(ष.ख.५/१,८/सू.२७४)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२७४		११	स्तोक	प्रवेश व संचय
		१२	दुगुने	,,
		१४	ऊपर तुल्य	प्रवेश की अपेक्षा
		१३	,,	,,
			सं० गुणे	संचय की अपेक्षा

६. संजदासंजद—(ष.ख.५/१,८/सू.२७५-२७८)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२७५	सामान्य	५		अल्पबहुत्व नहीं है
२७६	सम्यक्त्व	क्षा०	स्तोक	तिर्यंचों में अभाव
२७७		उप०	असं० गुणे	गुणकार=पल्य/असं०
२७८		वे०	,,	,, =आ०/असं०

७. असंयत—(ष.ख.५/१,८/सू.२७९-२८५)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२७९	सामान्य	२	स्तोक	
२८०		३	सं० गुणे	
२८१		४	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
२८२		१	अनन्त गुणे	गुणकार=सिद्ध×अनन्त
२८३	सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	
२८४		क्षा०	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
२८५		वे०	,,	

१३. दर्शन मार्गणा—

१. दर्शन मार्गणा की अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा

(ष.ख.७/२,११/सू.१७५-१७८)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१७५	अवधि		स्तोक	पल्य/असं०
१७६	चक्षु		असं० गुणा	गुणकार=ज०प्र०/असं०
१७७	केवल		अनन्त गुणा	सिद्धों की अपेक्षा
१७८	अचक्षु		,,	

२. दर्शन मार्गणा की अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा

(ष.ख.५/१,८/सू.२८६-२८९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२८६	अचक्षु	२-१२	मूलोघवत्	
२८७	चक्षु	१	४थेसे असं० गुणे	गुणकार=ज०प्र०/असं०
२८६		२-१२	मूलोघवत्	
२८८	अवधि	४-१२	अवधि-ज्ञानवत्	
२८९	केवल	१३-१४	केवलज्ञानवत्	

१४. लेश्या मार्गणा—

१. लेश्या की अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा

(ष.ख.७/२,११/सू.१७९-१८५) (गो.जी./जी.प्र./५५५/९८५/२)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१७९	शुक्ल		स्तोक	पल्य/असं०
१८०	पद्म		असं० गुणे	गुणकार=ज०प्र०/असं०
१८१	तेज		स० गुणे	
१८२	अलेश्या		अनन्त गुणे	
१८३	कापोत		अनन्त गुणे	
१८४	नील		विशेषाधिक	उपरोक्त+बह/आ०+असं०
१८५	कृष्ण		,,	,,

२. लेश्या मार्गणा की ओघ आदेश प्ररूपणा—

१. कृष्ण नील कापोत—(ष.ख.५/१-८/सू.२९०-२९९)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२९०	सामान्य	२	स्तोक	
२९१		३	सं० गुणे	गुणकार=सं० समय
२९२		४	असं० गुणे	,, =आ०/असं०
२९३		१	अनन्त गुणे	
२९४	कृष्ण नील में सम्य०	क्षा०	स्तोक	
२९५		उप०	असं० गुणे	गुणकार=पल्य/असं०
२९६		वे०	असं० गुणे	,, =आ०/असं०
२९७	कापोत में सम्य०	उप०	स्तोक	अल्प संचय काल
२९८		क्षा०	असं० गुणे	प्रथम नरक की अपेक्षा गुणकार=आ०/असं०
२९९		वे०	असं गुणे	,, = ,,

२. तेज, पद्म, लेश्या—(ष.ख. ५/१,८/सू.३००-३०७)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३००	सामान्य	७	स्तोक	संख्यात प्रमाण मनुष्य
३०१		६	दुगुणे	
३०२		५	असं० गुणे	गुणकार=पल्य/असं०
३०३		२	,,	,, =आ०/असं०
३०४		३	सं० गुणे	
३०५		४	असं० गुणे	गुणकार=आ०/असं०
३०६		१	,,	,, ज० प्र०/असं०
३०७	सम्यक्त्व	४-७	मूलोघवत्	

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३. शुक्ल लेश्या—(ष.ख.५/१,८/सू.३०८-३२७)				
३०८	उपशमक	८-१०	स्तोक	प्रवेशापेक्षया/परस्पर तुल्य संचय भी प्रवेशाधीन
३०९		११	ऊपर तुल्य	
३१०	क्षपक	८-१०	दुगुणे	,, (१०८ जीव)
३११		१२	ऊपर तुल्य	,,
३१२		१३	,,	प्रवेशापेक्षया
३१३			सं० गुणे	संचयापेक्षया
३१४	अक्षपक व अनुपशामक	७	,,	गुणकार = सं० समय
३१५		६	दुगुने	
३१६		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
३१७		२	,,	,, = आ०/असं०
३१८		३	सं० गुणे	
३१९		१	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
३२०		४	सं० गुणे	
३२१	गुणस्थान ४ में सम्य०	उप०	स्तोक	
३२२		क्षा०	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
३२३		वे०	सं० गुणे	अनुदिशादिमें वेदक कम होते हैं
३२४	गुणस्थान ५ में सम्य०		मूलोघवत्	
३२५	उपशमकों में सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	मूलोघवत्
		क्षा०	दुगुने	,,
३२६	चारित्र	उप०	स्तोक	
३२७		क्षा०	सं० गुणे	

१५. भव्य मार्गणा—

१. भव्य मार्गणाकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(ष.ख.७/२,११/सू.१८६–१८८)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१८६	अभव्य		स्तोक	जघन्य युक्तानन्त मात्र
१८७	न भव्य न अभव्य		अनन्तगुणे	
१८८	भव्य		,,	

२. भव्य मार्गणाकी ओघ आदेश प्ररूपणा—
(ष.ख.५/१,८/सू.३२८–३२९)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३२८	भव्य	१-१४	मूलोघवत्	
३२९	अभव्य	१	अल्पबहुत्व	नहीं है

१६. सम्यक्त्व मार्गणा—

१. सम्यक्त्व मार्गणाकी सामान्य प्ररूपणा—
(ष.ख.७/२,११/सू.१८९–१९२)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१८९	सम्यग्मिथ्या०		स्तोक	
१९०	सम्यग्दृष्टि		असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
१९१	सिद्ध		अनन्तगुणे	
१९२	मिथ्यादृष्टि		,,	
	सासादन			सम्यग्दृष्टिमें अन्तर्भाव

अन्य प्रकार—(ष.ख.७/२,११/सू.१९३–२००)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१९३	सासादन		स्तोक	
१९४	सम्यग्मिथ्यात्व		सं० गुणे	गुणकार = सं० समय
१९५	सम्यग्दृष्टि	उप०	असं० गुणे	,, = आ०/असं०
१९६		क्षा०	,,	,, = ,,
१९७		वे०	,,	,, = ,,
१९८		सा०	विशेषाधिक	सबका योग
१९९	सिद्ध		अनन्तगुणे	
२००	मिथ्यादृष्टि		,,	

२. सम्यक्त्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा—
(ष.ख.५/१,८/सू.३३०–३५४)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३३०	सम्यक्त्व सा०	४-१२	अवधिज्ञा.वत्	
		१३-१४	मूलोघवत्	
३३१	उपशमकोंमें क्षायिक	८-१०	स्तोक	परस्पर तुल्य/प्रवेश व संचय दोनों
३३२		११	ऊपर तुल्य	प्रवेश व संचय दोनों
३३३	क्षपकोंमें क्षायिक	८-१०	सं० गुणे	
३३४		१२	ऊपर तुल्य	
३३५		१४	,,	प्रवेशापेक्षया
३३५		१३	,,	,,
३३६			सं० गुणे	संचयापेक्षया
३३७	अक्षपक व अनुपशामकोंमें क्षायिक	७	असं० गुणे	
३३८		६	दुगुने	
३३९		५	सं० गुणे	मनुष्यके अतिरिक्त अन्य जातियोंमें अभाव
३४०		४	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
३४२	वेदक सम्यक्त्व	७	स्तोक	
३४३		६	दुगुने	
३४४		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
		४	,,	,, = आ०/असं०
३४७	उपशम सम्यक्त्व	८-१०	स्तोक	परस्पर तुल्य/प्रवेश व संचय दोनों अपेक्षा
३४८		११	ऊपर तुल्य	
३४९		७	सं० गुणा	
३५०		६	दुगुने	
३५१		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं०
३५२		४	,,	,, = आ०/असं०
३५४	सासादन	२	अल्पबहुत्व	नहीं है
,,	मिथ्यादर्शन	१	,,	

१७. संज्ञी मार्गणा—

१. संज्ञी मार्गणाकी सामान्य प्ररूपणा—
(ष.ख.७/२,११/सू.२०१–२०३)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२०१	संज्ञी		स्तोक	ज० प्र०/असं० मात्र
२०२	न संज्ञी न असंज्ञी	सिद्ध	अनन्तगुणे	
२०३	असंज्ञी		,,	

२. संज्ञी मार्गणाकी ओघ आदेश प्ररूपणा—
(ष.ख.५/१,८/सू.३५५–३५७)

सू.	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३५५	संज्ञी	२-१४	मूलोघवत्	
३५६	,,	१	असंयत से	ज०प्र०/असं० गुणे
३५७	असंज्ञी	१	अल्पबहुत्व	नहीं है

१८. आहारक मार्गणा—

१. आहारककी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा

(ष.ख.७/२,११/सू.२०३-२०५)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
२०३	अनाहारक अबन्धक	१४	स्तोक	
२०४	अनाहारक बन्धक		अनन्तगुणे	विग्रह गतिमें
२०५	आहारक		असं० गुणे	गुणकार = अन्तर्मुहूर्त

२. आहारककी ओघ आदेश प्ररूपणा

(ष.ख.५/१,८/सू.३५८-३७४)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३५८	उपशामक	८-१०	स्तोक	परस्पर तुल्य। प्रवेश व संचय दोनों (५४जीव)
३५९		११	ऊपर तुल्य	
३६०	क्षपक	८-१०	दुगुने	प्रवेश व संचय। १०८जीव
३६१		१२	ऊपर तुल्य	
३६२		१३	”	प्रवेशापेक्षया
३६३			सं० गुणे	संचयापेक्षया
३६४	अक्षपक अनुपशमक	७	सं० गुणे	सं० मनुष्यमात्र
३६५		६	दुगुने	
३६६		५	असं० गुणे	गुणकार = पल्य/असं० तिर्यंचोंकी अपेक्षा
३६७		२	”	गुणकार = आ०/असं०
३६८		३	सं० गुणे	
३६९		४	असं० गुणे	गुणकार = आ०/असं०
३७०		१	अनन्तगुणे	
३७१	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप०	—	मूलोघवत्
		क्षा०	—	”
		वे०	—	”
३७२	उपशमकोंमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	”
		क्षा०	सं० गुणे	”
३७३	चारित्र	उप०	स्तोक	कुल जीव ५४
३७४		क्षप०	दुगुणे	” १०८

३. अनाहारककी ओघ आदेश प्ररूपणा

(ष.ख.५/१,८/सू.३७५-३८२)

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
३७५	सयोगी	१३	स्तोक	समुद्घात गत केवली (६० जीव)
३७६	अयोगी	१४	सं० गुणे	संचय (५९८ जीव)
३७७		२	प०/असं०गुणे	तिर्यंचोंकी अपेक्षा
३७८		४	आ०/असं.गु.	विग्रह गति प्राप्त
३७९		१	अनन्तगुणे	विग्रह गति प्राप्त
३८०	असंयतोंमें सम्यक्त्व	उप०	स्तोक	द्वितीयोपशम वाले ही अनाहारक होते हैं
३८१		क्षा०	सं० गुणे	गुणकार = सं० समय
३८२		वे०	असं० गुणे	” = पल्य/असं०

३. प्रकीर्णक प्ररूपणाएँ

१. सिद्धों की अनेक अपेक्षाओं से अल्पबहुत्व प्ररूपणा :

(रा० वा० १०/९/१४/६४७/२७)

क्रम	मार्गणा	अल्पबहुत्व
१.	**संहरण सिद्ध व जन्म सिद्ध अपेक्षा**	
	संहरण सिद्ध	स्तोक
	जन्म सिद्ध	सं० गुणे
२.	**क्षेत्र अपेक्षा—(केवल संहरण सिद्ध)**	
	ऊर्ध्व लोक सिद्ध	स्तोक
	अधो लोक सिद्ध	सं० गुणे
	तिर्यग्लोक सा०	”
	तिर्यग्लोक विशेष :—	
	समुद्र सा० सिद्ध	स्तोक
	द्वीप सा० सिद्ध	सं० गुणे
	लवण समुद्र सिद्ध	स्तोक
	कालोद ” ”	सं० गुणे
	जम्बूद्वीप ”	”
	धातकी ”	”
	पुष्करार्ध ”	”
३.	**काल अपेक्षा**	
	उत्सर्पिणी सिद्ध	स्तोक
	अवसर्पिणी ”	विशेषाधिक
	अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी (विदेहक्षेत्र)	सं० गुणा
	प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया	एक समयमें सिद्धि होती है। अतः अल्पबहुत्वका अभाव है।
४.	**अन्तर अपेक्षा—**	
	निरन्तर होने वालों की अपेक्षा	
	आठ समय अन्तर से	स्तोक
	सात ” ” ”	सं० गुणे
	छः ” ” ”	”
	पाँच ” ” ”	”
	चार ” ” ”	”
	तीन ” ” ”	”
	दो ” ” ”	”

क्रम	मार्गणा	अल्पबहुत्व
	सान्तर अपेक्षा	
	छः मास अन्तर से	स्तोक
	एक समय ,, ,,	सं० गुणे
	यव मध्य ,, ,,	,,
	अधस्तन यव मध्य अन्तर से	,,
	उपरिम यव मध्य अन्तर से	विशेषाधिक
५.	**गति अपेक्षा**	
	प्रत्युत्पन्न नयापेक्षा	सिद्ध गतिमें ही सिद्धि है अतः अल्पबहुत्व नहीं है
	अनन्तर गति अपेक्षा	केवल मनुष्य गतिसे है सिद्धि है अतः अल्पबहुत्व नहीं है
	एकान्तर गति अपेक्षा—	
	तिर्यग्गति से	स्तोक
	मनुष्य गति से	सं० गुणा
	नरक ,, ,,	,,
	देव ,, ,,	,,
	वेदानुयोग की अपेक्षा	
	प्रत्युत्पन्न नयापेक्षा	अवेद भावमें ही सिद्धि है अतः अल्पबहुत्व नहीं
	भूत नयापेक्षया—	
	नपुंसक वेद से	स्तोक
	स्त्री वेद से	सं० गुणे
	पुरुष वेद से	,,
	तीर्थंकर व सामान्य केवलीकी अपेक्षा	
	तीर्थंकर सिद्ध	स्तोक
	सामान्य सिद्ध	सं० गुणे
	चारित्रकी अपेक्षा—	
	प्रत्युत्पन्न नयापेक्ष्या	निर्विकल्प चारित्रसे सिद्धि होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है
	अनन्तर चारित्रापेक्षा	यथाख्यातसे ही होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है
	एकानन्तर चारित्रापेक्षा—	
	पंच चारित्र सिद्ध	स्तोक
	चार ,, ,, (परिहार विशुद्धि रहित)	सं० गुणे

क्रम	मार्गणा	अल्पबहुत्व
	प्रत्येक बुद्ध व बोधित बुद्धकी अपेक्षा	
	प्रत्येक बुद्ध	स्तोक
	बोधित बुद्ध	सं० गुणे
	ज्ञानकी अपेक्षा—	
	प्रत्युत्पन्न नयापेक्षा	केवल ज्ञानसे ही होनेसे अल्पबहुत्व नहीं
	अनन्तर ज्ञानापेक्षा—	
	दो ज्ञान सिद्ध	स्तोक
	चतुःज्ञान सिद्ध	सं० गुणे
	त्रिज्ञान सिद्ध	,,
	विशेषापेक्ष्या—	
	मति श्रुत मनःपर्यय	स्तोक
	मति श्रुत से	सं० गुणे
	मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ज्ञानसे	,,
	मति श्रुत अवधि से	,,
	अवगाहनाकी अपेक्षा	
	जघन्य अवगाहनासे	स्तोक
	उत्कृष्ट ,, ,,	सं० गुणे
	यवमध्य ,, ,,	,,
	अधस्तन यवमध्य	,,
	उपरि यवमध्य	विशेषाधिक
	युगपत् प्राप्त सिद्धिकी संख्याकी अपेक्षा	
	१०८ सिद्ध	स्तोक
	१०८-५० तक के	अनन्त गुणे
	४९-२५ ,,	असं० गुणे
	२४-१ ,,	सं० गुणे
	मनुष्य पर्याय से—(ध९/पृ० ३१८)	
	१-१ की संख्यासे होनेवाले	स्तोक
	२-२ की संख्यासे होनेवाले	विशेषाधिक
	२ से अधिक संख्यासे होनेवाले	सं० गुणे
	मनुष्यणी पर्याय से—(ध९/पृ० ३१८)	
	२ से अधिक संख्यासे होनेवाले	स्तोक
	२-२ की संख्यासे	सं० गुणे
	१-१ ,, ,, ,,	,,

२. १-१, २-२ आदि करके संचय होने वाले जीवोंकी अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

(ध.९/४,१,६६/३१८-३२१)

संकेत—नो० कृ० (नो कृति संचित)=१-१ करके संचित होने वाले,
अव० (अवक्तव्य संचित)=२-२ करके संचित होने वाले,
कृ० (कृति संचित) =३ आदि करके संचित होने वाले,

पृष्ठ	मार्गणा	संकेत	अल्पबहुत्व
	१. गति मार्गणा—		
	(१) स्वस्थान की अपेक्षा—		
३१८	नरक गति सामान्य	नो० कृ०	स्तोक
	,,	अव०	विशेषाधिक
		कृ०	ज०प्र०/असं० गुणे
३१८	७-१ पृथिवी	—	नरक सामान्यवत्
,,	देव गति सामान्य व विशेष	—	नरक गतिवत्
,,	तिर्यंच गति सा० विशेष	—	,,
३१६	मनुष्य गति सा० विशेष		,,
	सिद्धों मे विशेषता—		
३१८	,, सिद्ध (दृष्टि नं० १)	कृ०	स्तोक
		अव०	सं० गुणे
		नो० कृति	,,
,,	(अन्य दृष्टि सं०)		
	मनुष्य प० से प्राप्त सिद्ध	नो० कृ०	स्तोक
		अव०	विशेषाधिक
		कृ०	सं० गुणे
३१६	मनुष्यणी से सिद्ध	कृ०	स्तोक
		अव०	सं० गुणे
		नो० कृ०	,,
	(२) पर स्थान की अपेक्षा—		
३१६	७वीं पृथिवी	नो० कृ०	स्तोक
		अव०	विशेषाधिक
	{ ६-१ ली पृथिवी तक सबमें पृथक्-पृथक् अपने ऊपरकी अपेक्षा	नो० कृ०	सं० गुणे
		अव०	विशेषाधिक
,,	७ वीं पृथिवी	कृ०	असं० गुणे
,,	६ ठी पृथिवी	कृ०	,,
,,	५ वीं ,,	कृ०	,,
,,	४ थी ,,	कृ०	,,
३२०	३ री ,,	कृ०	,,
,,	२ री ,,	कृ०	,,
,,	१ ली ,,	कृ०	,,
	(३) स्व पर स्थान की अपेक्षा—		
३२०	मनुष्यणी	कृ०	स्तोक
		अव०	सं० गुणी
		नो० कृ०	,,
,,	मनुष्य	नो० कृ०	असं० गुणी
		अव०	विशेषाधिक
,,	तिर्यंच योनिमति	नो० कृ०	असं० गुणी
		अव०	विशेषाधिक
,,	नारकी	नो० कृ०	असं० गुणी
		अव०	विशेषाधिक

पृष्ठ	मार्गणा	संकेत	अल्पबहुत्व
३२०	देव	नो० कृ०	असं० गुणी
		अव०	विशेषाधिक
,,	देवियाँ	नो० कृ०	असं० गुणी
		अव०	विशेषाधिक
,,	मनुष्य	कृ०	असं० गुणी
,,	नारकी	,,	,,
,,	तिर्यंच योनिमति	,,	,,
,,	देव	,,	,,
,,	देवियाँ	,,	,,
,,	तिर्यंच सा०	नो० कृ०	अनन्त गुणी
		अव०	विशेषाधिक
		कृ०	असं० गुणी
,,	सिद्ध	कृ०	अनन्त गुणी
		अव०	सं० गुणी
		नो० कृ०	,,
	२. इन्द्रिय मार्गणा—		
	स्व पर स्थान की अपेक्षा—		
३२१	चतुरिन्द्रिय	नो० कृ०	स्तोक
		अव०	विशेषाधिक
,,	त्रीन्द्रिय	नो० कृ०	,,
		अव०	,,
,,	द्वीन्द्रिय	नो० कृ०	,,
		अव०	,,
,,	पंचेन्द्रिय	नो० कृ०	असं० गुणे
		अव०	विशेषाधिक
		कृ०	असं० गुणे०
,,	चतुरिन्द्रिय	कृ०	विशेषाधिक
३२१	त्रीन्द्रिय	कृ०	विशेषाधिक
,,	द्वीन्द्रिय	कृ०	,,
,,	एकेन्द्रिय	नो० कृ०	अनन्त गुणे
		अव०	विशेषाधिक
		कृ०	असं० गुणे०
	नोट—इससे आगे के सर्व स्थान यथायोग्य एकेन्द्रियवत् जानना।		
	३. अन्य मार्गणाएँ—		
	स्व, व पर स्थानों की अपेक्षा—		
३१६	मनःपर्यय ज्ञान		नरक गतिवत्
,,	क्षायिक सम्यग्दृष्टि		,,
,,	संयत सामान्य विशेष		,,
,,	{ अनुत्तरादि विमानोंसे मनुष्य होनेवाले देव		,,
,,	तथा अन्य संख्यात राशियाँ		नरक गतिवत्

३. २३ वर्गणाओं सम्बन्धी अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

२३ वर्गणाओंके नाम—(ष.खं.१४/५,६/सू.७६-९७/५४-११८)

१. एक प्रदेशप्रमाणु वर्गणा; २. संख्याताणु वर्गणा; ३. असंख्याताणु वर्गणा, ४. अनन्ताणु वर्गणा; ५. आहारक वर्गणा; ६. अग्राह्य वर्गणा; ७. तैजस शरीर वर्गणा; ८. अग्राह्य वर्गणा; ९. भाषा वर्गणा; १०. अग्राह्य वर्गणा; ११. मनो वर्गणा; १२. अग्राह्य वर्गणा; १३. कार्मण वर्गणा; १४. ध्रुव स्कन्ध वर्गणा; १५. सान्तरनिरन्तर वर्गणा; १६. ध्रुव शून्य वर्गणा; १७. प्रत्येक शरीर वर्गणा; १८. ध्रुव शून्य वर्गणा; १९. बादर निगोद वर्गणा; २०. ध्रुव शून्य वर्गणा; २१. सूक्ष्म निगोद वर्गणा; २२. ध्रुव शून्य वर्गणा; २३. महा स्कन्ध वर्गणा

१. एक श्रेणी वर्गणाके द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा—
(ध.१४/पृ.१६३-१६९)

वर्ग० सं०	अल्पबहुत्व	गुणकार
१	स्तोक	एक संख्या प्रमाण
२	सं० गुणी	एक कम उत्कृष्ट संख्या
३	असं० गुणी	स्व राशि/असं०
५	अनन्त गुणी	स्व राशि/असं०
७	"	" /अनन्त
९	"	उपरोक्त श्रेणी/स्व राशि
११	"	"
१३	"	"
४	"	अभव्य×अनन्त
६	"	"
८	"	"
१०	"	"
१२	"	"
१४	"	सर्व जीव राशि×अनन्त
१५	"	"
१६	"	"
१७	असं० गुणी	पल्य/असं०
१८	अनन्त गुणी	अनन्तलोक
१९	असं० गुणी	ज०श्रे०/असं०
२०	"	अंगु/असं०
२१	"	पल्य/असं०
२३	"	ज०प्र०/असं०
२२	"	पल्य/असं०

२. नाना श्रेणी वर्गणाके द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा—
(ध.१४/पृ.१६९ १७९ तथा २०८-२१२)

वर्ग० सं०	अल्पबहुत्व	गुणकार
२३	स्तोक	एक संख्या प्रमाण
१९	असं० गुणी	आ०/असं०=असं० लोक
२१	"	"
१७	"	" =असं० लोक
१५	अनन्त गुणे	सर्व जीव राशि×अनन्त
१४	"	सर्व जीव राशि×अनन्त
१३	"	अभव्य×अनन्त
१२	"	"
११	"	स्व गुणहानि शलाकाकी अन्योन्याभ्यस्त राशि
१०	"	"
९	अनन्तगुणे	स्वगुणहानि शलाकाकी अन्योन्याभ्यस्त राशि
८	"	"
७	"	"
६	"	"
५	"	"
४	"	"
१	"	जघन्य परीतानन्त
२	सं० गुणे	२ कम उत्कृष्ट संख्यात
३	असं० गुणी	
१६		ध्रुव शून्य वर्गणाओंका
१८		कथन नहीं किया क्योंकि
२०		वह पुद्गल रूप नहीं है
२२		आकाश रूप है

३. नाना श्रेणी प्रदेश प्रमाणकी अपेक्षा—
(ध.१४/पृ.२१३-२१५)

वर्ग० सं०	अल्पबहुत्व	गुणकार
१७	स्तोक	
२३	अनन्त गुणे	अनन्त लोक
१९	असं० गुणे	असं० लोक
२१	"	"
१५	अनन्त गुणे	सर्व जीव×अनन्त
१४	"	"
१३	"	स्व अन्योन्याभ्यस्त राशि
१२	"	"
११	"	"
१०	"	"
९	"	"
८	"	"
७	"	"
६	"	"
५	"	"
४	"	"
१	"	
२	असं० गुणे	
३	असं० गुणे	
१६		ध्रुव शून्य वर्गणाका कथन
१८		नहीं किया क्योंकि
२०		पुद्गल रूप नहीं है
२२		आकाश रूप है

४. एक श्रेणी द्रव्य और नाना श्रेणी द्रव्य व प्रदेश की अपेक्षा स्व पर स्थान—

प्रमाण—(ध.१४/पृ०२१५-२२३)

क्रम सं०	एक श्रेणी या नाना श्रेणी			अल्पबहुत्व	गुणकार
१	एक	श्रेणी	द्रव्य	स्तोक	एक संख्या ही है
२३	नाना	,,	,,	,,	,,
२	एक	,,	,,	सं० गुणी	एक कम उत्कृष्ट संख्या
१६	नाना	,,	,,	असं० गुणे	असं० लोक
२१	,,	,,	,,	,,	,,
१७	,,	,,	,,	,,	,,
३	एक	श्रेणी	द्रव्य	,,	,,
५	,,	,,	,,	अनन्त	अभव्य×अनन्त
४	,,	,,	,,	,,	,,
७	,,	,,	,,	,,	,,
६	,,	,,	,,	,,	,,
९	,,	,,	,,	,,	,,
८	,,	,,	,,	,,	,,
११	,,	,,	,,	,,	,,
१०	,,	,,	,,	,,	,,
१३	,,	,,	,,	,,	,,
१२	,,	,,	,,	,,	,,
१४	,,	,,	,,	,,	सर्व जीव×अनन्त
१५	,,	,,	,,	,,	,,
१६	,,	,,	,,	,,	,,
१७	,,	,,	,,	असं० गुणी	पल्य/असं०
१७	नाना	,,	,,	,,	असं० लोक
१८	एक	,,	,,	अनन्त गुणी	अनन्त लोक
१९	,,	,,	,,	असं० गुणे	पल्य/असं०
२०	,,	,,	,,	,,	अंगु/असं०
२१	,,	,,	,,	,,	आ०/असं०
२३	,,	,,	,,	,,	ज०प्र०/असं०
२२	,,	,,	,,	,,	पल्य/असं०
	नाना श्रेणियों में				
	कुल द्रव्य	कुल प्रदेश			
२३	×	,,		विशेषाधिक	
१९	×	,,		असं० गुणे	
२१	×	,,		,,	

क्रम सं०	नाना श्रेणी द्रव्य	प्रदेश	अल्पबहुत्व	गुणकार
१५	,,	×	अनन्त गुणे	सर्व जीव×अनन्त
१५	×	,,	,,	,,
१४	,,	×	,,	,,
१४	×	,,	,,	अभव्य×अनन्त
१३	,,	×	,,	नीचला स्थान+स्व अन्योन्याभ्यस्त राशि
१३	×	,,	,,	अभव्य×अनन्त
१२	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
१२	×	,,	,,	एक अधिक अधस्तन-अध्वार
११	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
११	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
१०	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
१०	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
९	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
९	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
८	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
८	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
७	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
७	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
६	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
६	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
५	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
५	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
४	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
४	×	,,	,,	पीछे नं० १२ वत्
१	,,	×	,,	पीछे नं० १३ वत्
१	×	,,	ऊपर समान	
२	,,	×	सं० गुणा	एक कम उत्कृष्ट संख्या
२	×	,,	,,	संख्यात
३	,,	×	असं० गुणे	असं० लोक
३	×	,,	,,	,,
१६				नाना श्रेणीमें इनका
१८				कथन नहीं होता क्यों
२०				कि ये आकाश रूप
२१				हैं। पुद्गल रूप नहीं

७. पंच शरीर बद्ध वर्गणाओं की अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

क्र.सं.	वर्गणा का नाम	गुणा	गुणकार
१.	पंच वर्गणाओं के द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा— (ध.९/४,१,२/३७)		
	आहारक वर्गणा	स्तोक	
	तैजस ,,	अनन्त गुणे	
	भाषा ,,	,, ,,	
	मनो ,,	,, ,,	
	कार्माण ,,	,, ,	
२.	पाँच वर्गणाओं की अवगाहना की अपेक्षा— (ष.खं.१४/५,६/सू.७९०–७९६/५६२)		
	औ० योग्य आहारक वर्गणा	स्तोक	×
	वै० ,, ,, ,,	असं० गुणे	ज० श्रे/असं०
	आ० ,, ,, ,,	,, ,,	,,
	तै० ,, तैजस ,,	अनन्त गुणे	सिद्ध/अनन्त
	भाष योग्य भाषा ,,	,, ,,	,,
	मन ,, मनो ,,	,, ,,	,,
	कर्म ,, कार्मण ,,	,, ,,	,,
३.	पंच शरीर बद्ध वर्गणाओं के विस्रसोपचय की अपेक्षा— (ध.१४/५,६/३२४)		
	औ० योग्य आहारकका ज०विस्र	स्तोक	
	,, ,, ,, उ० ,,	असं० गुणे	पल्य/असं०
	वै० ,, ,, ज० ,,	अनन्त ,,	सर्व जीव×अनन्त
	,, ,, ,, उ० ,,	असं० ,,	पल्य/असं०
	आ० ,, ,, ज० ,,	अनन्त ,,	सर्व जीव×अनन्त
	,, ,, ,, उ० ,,	असं० ,,	पल्य/असं०
	तै० ,, तैजस ज० ,,	अनन्त ,,	जीव×अनन्त
	,, ,, ,, उ० ,,	असं० ,,	पल्य/असं०
	का० ,, ,, ज० ,,	अनन्त ,,	जीव×अनन्त
	,, ,, ,, उ० ,,	असं० ,,	पल्य/असं०
४.	प्रत्येक वर्गणा में समय प्रबद्ध प्रदेशों की अपेक्षा— (ष.खं.१४/५,६/७८५–७८६/५६०)		
	औ० योग्य आहारक वर्गणा	स्तोक	×
	वै० ,, ,, ,,	असं० गुणे	ज०श्रे०/असं०
	आ० ,, ,, ,,	,, ,,	,,
	तै० ,, तैजस ,,	अनन्त ,,	सिद्ध/अनन्त
	भाष ,, भाषा ,,	,, ,,	,,
	मन ,, मनो ,,	,, ,,	,,
	कर्म ,, कार्मण ,,	,, ,,	,,
५.	शरीर बद्ध विस्रसोपचयों की अपेक्षा— स्वस्थान अपेक्षा—(ष.खं.१४/५,६/सू.५४४–५४८/४५३)		
	ज० औ०का ज० पदमें ज० विस्र०	स्तोक	
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	अनन्त गुणे	जीव×अनन्त
	उ० ,, ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	वैक्रियिक के चारों स्थान	—उपरोक्त	वत्—
	आहारक ,, ,, ,,	,,	
	तैजस ,, ,, ,,	,,	
	कार्मण ,, ,, ,,	,,	
	परस्थान अपेक्षा—(ष.खं.१४/५,६/सू.५४४–५५२/४५५)		
	ज० औ०का ज० पदमें ज० विस्र०	स्तोक	
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	अनन्त गुणे	जीव×अनन्त
	उ० ,, ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	ज० वै० ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	उ० ,, ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	ज० आ० ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	उ० ,, ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	ज० तै०का ज० पदमें ज० विस्र०	अनन्त गुणे	जीव×अनन्त
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	उ० ,, ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	ज० का० ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
	उ० ,, ज० ,, ज० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, उ० ,, उ० ,,	,, ,,	,,
६.	पंच शरीर बद्ध प्रदेशों की अपेक्षा— (ष.खं.१४/५–६/सू.४९७–५०१/४२९)		
	औदारिक शरीर प्रदेश	स्तोक	
	वैक्रियिक ,, ,,	असं०	ज०श्रे०/असं०
	आहारक ,, ,,	,,	,,
	तैजस ,, ,,	अनन्त	सिद्ध/अनन्त
	कार्मण ,, ,,	,,	,,
		(स०सि०/२/३८–३९/१०२–१०३) (रा०वा०/२/३८–३९/४/१४८) (गो जी०/जी०प्र०/२४६/५१०/२)	
७.	औदारिक शरीर बद्ध प्रदेशों की अपेक्षा— (ष.खं.१४/५,६/सू.५७५–५८०/४९९)		
	त्रस कायिक के प्रदेश	स्तोक	
	अग्नि ,, ,, ,,	असं० गुणे	
	पृथिवी ,, ,, ,,	विशेषाधिक	
	अप ,, ,, ,,	,,	
	वायु ,, ,, ,,	,,	
	वनस्पति ,, ,, ,,	अनन्त गुणे	
८.	इन्द्रिय-बद्ध प्रदेशों की अपेक्षा— (रा.वा./१/१९/६/२३१)		
	चक्षु	सर्वतः स्तोक	
	श्रोत्र	सं० गुणे	
	घ्राण	विशेषाधिक	
	जिह्वा	असं० गुणे	
	स्पर्शन	अनन्त गुणे	

७. पाँचों शरीरोंकी अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

सूत्र	नाम शरीर या मार्गणा	अल्प बहुत्व	गुणकार
१.	**सूक्ष्मता स्थूलता की अपेक्षा—**		
	(स०सि०/२/३९/१००)		
	औदारिक शरीर	सर्वतः स्थूल	
	वैक्रियक ,,	ततः सूक्ष्म	
	आहारक ,,	,,	
	तैजस ,,	,,	
	कार्मण ,,	,,	
२.	**औदारिक शरीर विशेष की अवगाहना—**		
	(ष.ख.११/४,२,५/सू.३०-९९/५६-७०)		
	(ध.१/१,१,३,४/२५१/७)		
	(ध.४/१,३,२३/९४/७)		
	(ध.९/४,१,२/१९/४)		
९५	एक सूक्ष्म से अन्य सूक्ष्म	= आ०/असं० गुणी	
९६	सूक्ष्म से बादर	= पल्य/असं० गुणी	
९७	बादर से सूक्ष्म	= आ०/असं० गुणी	
९८	बादर से बादर	= पल्य/असं० गुणी	
९९	बादर से दूसरा बादर	= सं० समय गुणी	
	लब्ध्यपर्याप्तक के स्थान		
३१	निगोद या बन० साधारण मू० अप० की ज० अवगाहना	स्तोक	अंगु./पल्य+असं०
३२	वायु मू. अप. की ज०	असं० गुणी	आ०/असं०
३३	तेज ,, ,, ,, ,,	,,	,,
३४	जल ,, ,, ,, ,,	,,	,,
३५	पृथिवी ,, ,, ,, ,,	,,	,,
३६	वायु बा० अप० की ज०	,,	पल्य/असं०
३७	तेज ,, ,, ,, ,,	,,	,,
३८	जल ,, ,, ,, ,,	,,	,,
३९	पृथिवी ,, ,, ,, ,,	,,	,,
४०	निगोद या बन० साधारण बा० अप० की ज०	,,	,,
४१	निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक अप० की ज०	,,	,,
४२	अप्रतिष्ठित प्रत्येक बन० अप० की ज०	,,	,,
४३	द्वीन्द्रिय अप० की ज०	,,	,,
४४	त्रीन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
४५	चतुरिन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
४६	पंचेन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
	निवृत्ति पर्याप्तक व निवृत्त्यपर्याप्तक के स्थान		
४७	बन० साधारण या निगोद मू० प० की ज०	ऊपर से— असं० गुणी	आ०/असं०
४८	उपरोक्त अप० की उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
४९	,, प० ,, ,,	,,	,,
५०	वायु मू० प० की ज०	असं० गुणी	आ०/असं०
५१	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
५२	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
५३	तेज ,, प० ,, ज०	असं० गुणी	आ०/असं०
५४	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
५५	,, ,, प० ,, ,,	,,	आ०/असं०
५६	जल ,, प० ,, ज०	असं० गुणी	आ०/असं०

सूत्र	मार्गणा	अल्प बहुत्व	गुणकार
५७	जल मू० अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
५८	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
५९	पृथ्वी ,, प० ,, ज०	असं० गुणी	आ०/असं०
६०	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
६१	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
६२	वायु बा० प० की ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
६३	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
६४	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
६५	तेज ,, प० ,, ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
६६	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
६७	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
६८	जल ,, प० ,, ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
६९	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
७०	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
७१	पृथ्वी ,, प० ,, ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
७२	,, ,, अप० ,, उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
७३	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
७४	बन० साधारण या निगोद बा० प० की ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
७५	उपरोक्त बा० अप० की उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
७६	,, ,, प० ,, ,,	,,	,,
७७	बन० प्रतिष्ठित प्रत्येक या निगोद प० की ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
७८	उपरोक्त अप० की उ०	विशेषाधिक	अंगु०/असं०
७९	,, प० ,, ,,	,,	,,
८०	बन० अप्रतिष्ठित प्रत्येक प० की ज०	असं० गुणी	पल्य/असं०
८१	द्वीन्द्रिय प० की ज०	,,	,,
८२	त्रीन्द्रिय ,, ,, ,,	सं० गुणी	सं० समय
८३	चतुरिन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
८४	पंचेन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
८५	त्रीन्द्रिय अप० की उ०	,,	,,
८६	चतुरिन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
८७	द्वीन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
८८	बन० अप्रतिष्ठित प्रत्येक अप० की उ०	,,	,,
८९	पंचेन्द्रिय अप० की उ०	,,	,,
९०	त्रीन्द्रिय प० ,, उ०	,,	,,
९१	चतुरिन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
९२	द्वीन्द्रिय ,, ,, ,,	,,	,,
९३	बन० अप्रतिष्ठित प्रत्येक प० की उ०	,,	,,
९४	पंचेन्द्रिय प० की उ०	,,	,,
३.	**पंचेन्द्रियों की अवगाहना—**		
	(ध.१/१,१,५/२३५/४)		
	चक्षु इन्द्रिय अवगाहना	स्तोक	
	श्रोत्र	सं० गुणी	
	घ्राण	विशेषाधिक	
	जिह्वा	असं० गुणी	
	स्पर्शन	सं० गुणी	

६. पाँच शरीरोंके स्वामियोंकी ओघ आदेश प्ररूपणा :—

(ष.खं.१४/५,६/सू.१६६-२३४/३०१-३१८)

सूत्र	मार्गणा	शरीर स्वामित्व	अल्पबहुत्व	गुणकार
	ओघ प्ररूपणा			
१६६	जीव सामान्य	४	स्तोक	
१७०	अशरीरी (सिद्ध)	५	अनन्त गुणे	सिद्ध/असं०
१७१	जीव सामान्य	२	,,	सर्व जीव/अनंत
१७२	,,	३	असं० गुणे	अन्तर्मुहूर्त
	आदेश प्ररूपणा			
(१)	**गति मार्गणा :—**			
	नरक गति :—			
१७३	नारकी सा०	२	स्तोक	नार./आ.÷असं०
१७४		३	असं० गुणे	आ०/असं०
१७५	१-७ पृथिवी	२	स्तोक	
		३	असं० गुणे	आ०/असं०
	तिर्यच गति :—			
१७६	तिर्यंच सामान्य	४	स्तोक	
		२	अनन्त गुणे	
		३	असं० गुणे	सं० आव०
१७७	पंचेन्द्रिय सा०, प०, व योनिमति	४	स्तोक	
१७८		२	असं० गुणे	ज० श्रे०/असं०
१७९		३	,,	आ०/असं०
१८०	पंचेन्द्रिय ति० अप०	२,३	नारकी सामान्य	वत्
	मनुष्य गति :—			
१८१	मनुष्य सामान्य	४	स्तोक	संख्य० मात्र
टी०		२	असं० गुणे	
		३	,,	आ०/असं०
१८२	मनुष्य प० व मनुष्यणी	४	स्तोक	
१८३		२	सं० गुणे	
१८४		३	,,	
१८५	मनुष्य अप०		नारकी सामान्य	वत्
	देव गति :—			
१८६	देव सामान्य	२	स्तोक	
१८७		३	असं० गुणे	आ०/असं०
१८८	भवनवासी से अपराजित तक	२,३	देव सा० वत् पर गुणाकार =	पल्य/असं०
१८९	सर्वार्थसिद्धि	२	स्तोक	
१९०		३	सं० गुणे	सं० समय
(२)	**इन्द्रिय मार्गणा :—**			
१९१	एके० सा०, बा० एके० सा, बा० एके० प०	४ २,३	तिर्यच सामान्य या ओघ	वत् वत्
१९२	बा० एके० अप० सू० एके० सा०,प०,अप० विकलत्रय सा० व प०, अप० पंचेन्द्रिय अप०	२	स्तोक	
१९३		३	असं० गुणे	सं० आ०
१९४	पंचेन्द्रिय सा० व प०		मनुष्य सामान्य	वत्

सूत्र	मार्गणा	शरीर स्वामित्व	अल्पबहुत्व	गुणकार
(३)	**काय मार्गणा :—**			
१९५	पृ०, जल व वन० के बा० सू० प० अप० सर्व विकल्प— अग्नि व वायु के बा० अप० तथा सू० के प० अप० सर्व विकल्प त्रस के केवल अप०	२	स्तोक	
१९६		३	असं० गुणे	आ०/असं०
१९७	तेज व वायु के सा० व बा० केवल प० त्रस सा० व प०		पंचेन्द्रिय प०	वत्
(४)	**योग मार्गणा :—**			
१९८	पाँच मन व पाँच वचन योगी	४	स्तोक	
१९९		३	असं० गुणे	ज० श्रे०/असं०
२००	काय योग सामान्य		ति० या ओघ	वत्
२०१	औदारिक काय योगी	४	स्तोक	
२०२		३	असं० गुणे	सर्व जीव राशि के अनंत प्रथम वर्ग मूल प्रमाण
२०३	औदारिक मिश्र, वैक्रियक व मिश्र, आहारक व मिश्र		×	अल्पबहुत्व नहीं है एक ही पद है
२०४	कार्मण काय योग	३	स्तोक	
२०५		२	अनन्त गुणे	जीवोंके अनंत प्रथम वर्गमूल
(५)	**वेद मार्गणा :—**			
२०६	स्त्री व पुरुष वेदी		पंचेन्द्रिय सा०	वत्
२०७	नपुंसक वेदी		ति० या ओघ	वत्
२०८	अपगत वेदी	×	×	एक ही पद है
(६)	**कषाय मार्गणा :—**			
२०७	चारों कषाय		ति० या ओघ	वत्
२०८	अकषायी	×	×	एक ही पद है
(७)	**ज्ञान मार्गणा :—**			
२०९	मति श्रुत अज्ञानी		ति० या ओघ	वत्
२१०	विभंग ज्ञानी	४	स्तोक	
२११		३	असं० गुणे	ज० श्रे०/असं०
२१२	मति श्रुत अवधि ज्ञानी		पंचेन्द्रिय पर्याप्त	वत्
२१३	मनःपर्यय ज्ञानी	४	स्तोक	
२१४		३	सं० गुणे	सं० समय
२१५	केवल ज्ञानी	×	×	एक ही पद है
(८)	**संयम मार्गणा :—**			
२१६	संयत सा०,	४	स्तोक	
	सामायिक व छेदो०	३	सं० गुणे	सं० समय
२१७	परिहार विशुद्धि सूक्ष्म साम्पराय व यथाख्यात	×	×	एक ही पद है

सूत्र	मार्गणा	गुणस्थान	अल्पबहुत्व	गुणकार
२१८	संयतासंयत	४	स्तोक	
		३	असं० गुणे	आ०/असं०
	असंयत		ति० या ओघ	वत्
(९)	दर्शन मार्गणा :—			
२२१	चक्षु व अवधि द०		पंचेन्द्रिय प०	वत्
२१९	अचक्षु दर्शनी		ति० या ओघ	वत्
(१०)	लेश्या मार्गणा :—			
२२०	कृष्ण नील, कापोत		ति० या ओघ	वत्
२२१	पीत पद्म लेश्या		पंचेन्द्रिय प०	वत्
२२३	शुक्ल लेश्या	२	स्तोक	
२२४		४	असं० गुणे	पल्य/असं०
२२५		३	,,	आ०/असं०
(११)	भव्यत्व मार्गणा :—			
२२०	भव्य व अभव्य		ति० या ओघ	वत्
(१२)	सम्यक्त्व मार्गणा :—			
२२६	सम्यग्दृष्टि सा० वेदक व सासादन		पंचेन्द्रिय प०	वत्

सूत्र	मार्गणा	गुणस्थान	अल्पबहुत्व	गुणकार
२२७	क्षायिक व उशम	२	स्तोक	सं० मात्र
२२८		४	असं० गुणे	पल्य/असं०
२२९		३	,,	आ०/असं०
२३०	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	४	स्तोक	
		३	असं० गुणे	आ०/असं०
२३१	मिथ्या दृष्टि		ति० या ओघ	वत्
(१३)	संज्ञी मार्गणा :—			
२३२	संज्ञी		पंचेन्द्रिय प०	वत्
२३३	असंज्ञी		ति० या ओघ	वत्
(१४)	आहारक मार्गणा :—			
२३४	आहारक	४	स्तोक	औदारिक काय योगवत्
		३	अनन्त गुणे	
२३५	अनाहारक	३	स्तोक	कार्मण काय योगवत्
		२	अनन्त गुणे	

७. जीवभावों के अनुभाग व स्थिति विषयक प्ररूपणा—

क्रम	विषय	अल्प बहुत्व	विशेष या गुणकार
	१. संयम विशुद्धि या लब्धि स्थानोंकी अपेक्षा— (ष० खं० ७/२, ११/सू.१६८-१७४/५६४-५६७) (ध.६/१, ९-८, १४/२८६)		
१६८	सामायिक व छेदो० की जघन्य चारित्र लब्धि	सर्वतः स्तोक	मिथ्यात्वके अभिमुख
१६९	परिहार विशुद्धि की जघन्य चारित्र लब्धि	अनन्त गुणी	सामायिकके अभिमुख
१७०	परिहार विशुद्धि की उत्कृष्ट चारित्र लब्धि	अनन्त गुणी	
१७१	सामायिक छेदो० की उत्कृष्ट चारित्र लब्धि	,,	अनिवृत्ति करण का अन्तसमय
१७२	सूक्ष्म साम्पराय की जघन्य चारित्र लब्धि	,,	श्रेणी से उतरते हुए
१७३	सूक्ष्म साम्पराय की उत्कृष्ट चारित्र लब्धि	,,	स्वस्थानका अन्त समय
१७४	यथाख्यातकी अजघन्य अनुत्कृष्ट चारित्र लब्धि	,,	जघन्य व उत्कृष्ट पनेका अभाव है

क्रम	विषय	अल्प बहुत्व	विशेष या गुणकार
	२. १४ जीव समासों में संक्लेश विशुद्धि स्थानः— (ष० खं० ११/४, २, ६/सू. ५१-६४/२०५-२२४) (म० ब० २/२, ३/३)		
५१	एकेन्द्रिय सू० अप०	स्तोक	
५२	,, बा० ,,	असं० गुणे	पल्य/असं०
५३	,, सू० प०	,,	पल्य/असं०
५४	,, बा० ,,	,,	,,
५५	द्वीन्द्रिय अप०	,,	,,
५६	,, प०	,,	,,
५७	त्रीन्द्रिय अप०	,,	,,
५८	,, प०	,,	,,
५९	चतुरिन्द्रिय अप०	,,	,,
६०	,, प०	,,	,,
६१	पंचेन्द्रिय असंज्ञी अप०	,,	,,
६२	,, ,, प०	,,	,,
६३	,, संज्ञी अप०	,,	,,
६४	,, ,, प०	,,	,,

१. दर्शन ज्ञान चारित्र विषयक भाव सामान्यके अवस्थानोंकी अपेक्षा सर्व परस्थान प्ररूपणा—

(क०पा० १/१, १५-२०/पृ०३३०-३६२)

गाथा पृ०	विषय	काल	अल्प बहुत्व	विशेष
१५/३३०	दर्शनोपयोग सा०	ज०	स्तोक	असं० आ०मात्र
	चक्षु इन्द्रियावग्रह	ज०	विशेषाधिक	नोट:—यदि व्याघात या मरण न हो तब ही यह अल्प बहुत्व लागू होता है। मरण हो जानेपर तो किसी भी स्थान का जघन्य काल, एक समय तक बन जाता है। (क०पा० १/१,१६/३४८)
	श्रोत्र ,,	,,	,,	
	घ्राण ,,	,,	,,	
	जिह्वा ,,	,,	,,	
	मनोयोग सा०	,,	,,	
	वचन योग सा०	,,	,,	
	काय योग सा०	,,	,,	
	स्पर्शन इन्द्रियावग्रह	,,	,,	
	अन्यतम अवाय	,,	,,	
	,, ईहा	,,	,,	
	श्रुत ज्ञान	,,	,,	
	श्वासोच्छ्वास	,,	,,	
१६/३४२	सशरीरकेवलीका केवल ज्ञान	,,	,,	
	उपरोक्तका दर्शन	,,	ऊपर तुल्य	
	शुक्ल लेश्या सा०	,,	,,	
	एकत्व वितर्क-अविचार ध्यान	,,	विशेषाधिक	
	पृथक्त्व वितर्क विचार	,,	,,	
	श्रेणीसे पतित सूक्ष्म साम्पराय	,,	,,	
	श्रेणीपर अवरोहक सूक्ष्म साम्पराय	,,	,,	
	क्षपक श्रेणी गत सूक्ष्म साम्पराय	,,	,,	
१७/३४५	मान कषाय सा०	,,	,,	
	क्रोध ,, ,,	,,	,,	
	माया ,, ,,	,,	,,	
	लोभ ,, ,,	,,	,,	
	क्षुद्र भव ग्रहण	,,	,,	
१८/३४७	कृष्टि करण	,,	,,	
	संक्रामण	,,	,,	
	अपवर्तन	,,	,,	
	उपशान्त कषाय	,,	,,	
	क्षीण मोह	,,	विशेषाधिक	
	उपशमक	,,	,,	
	क्षपक	,,	,,	
२०/३४८	चक्षुदर्शन	उ०	विशेषाधिक	ऊपरवाले की अपेक्षा
	चक्षु इन्द्रियावग्रह	,,	दुगना	
	श्रोत्र ,,	,,	विशेषाधिक	
	घ्राण ,,	,,	,,	
	जिह्वा ,,	,,	,,	
	मनो योग सा०	,,	,,	
	वचन योग सा०	,,	,,	
	काय योग सा०	,,	,,	
	स्पर्शन इन्द्रियावग्रह	,,	,,	
	अन्यतम अवाय	,,	दुगना	
	अन्यतम ईहा	उ०	विशेषाधिक	
	श्रुत ज्ञान	,,	दूना	
	श्वासोच्छ्वास	,,	विशेषाधिक	
	सशरीरकेवली का केवल ज्ञान	,,	,,	सोपसर्ग केवलीकी अपेक्षा
	उपरोक्त का दर्शन	,,	ऊपर तुल्य	
	शुक्ल लेश्या सा०	,,	,,	
	एकत्व वितर्क अविचार ध्यान	,,	विशेषाधिक	
	पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान	,,	दुगना	
	अवरोहक सू० सम्पराय	,,	विशेषाधिक	
	आरोहक ,, ,,	,,	,,	
	क्षपक ,, ,,	,,	,,	
	मान कषाय सा०	,,	दुगना	
	क्रोध ,, ,,	,,	विशेषाधिक	
	माया ,, ,,	,,	,,	
	लोभ ,, ,,	,,	,,	
	क्षुद्र भव	,,	,,	
	कृष्टि करण	,,	,,	
	संक्रामक	,,	,,	
	अपवर्तना	,,	,,	
	उपशान्त कषाय	,,	दूना	
	क्षीण मोह	,,	विशेषाधिक	
	उपशमक	,,	दुगना	
	क्षपक	,,	विशेषाधिक	

४. उपशमन व क्षपण काल की अपेक्षा—

(क० पा० ४/३.२२/§६१६-६२६/३२६-३२८)

विषय	काल	अल्प बहुत्व	विशेष
चारित्र मोह:—			
क्षपक अनिवृत्ति करण	,,	स्तोक	
,, अपूर्व ,,	,,	सं० गुणो	
उपशमक अनिवृत्ति करण	,,	,,	
,, अपूर्व करण	,,	,,	
दर्शन मोह:—			
क्षपक अनिवृत्ति करण	,,	,,	
,, अपूर्व ,,	,,	,,	
अनन्तानुबन्धी विसंयोजक का अनिवृत्ति करण	,,	,,	
उपरोक्त अपूर्व करण	,,	,,	
उपशमक अनिवृत्ति करण	,,	,,	
,, अपूर्व ,,	,,	,,	

५. कषाय काल की अपेक्षा—

(गो० जी०/जी० प्र०/२९६/६४०)

विषय	काल	अल्प बहुत्व	विशेष
नरक गति:—			
लोभ	मा०	स्तोक अंतमु०	
माया	,,	सं० गुणा	
मान	,,	,,	
क्रोध	,,	,,	

गाथा पृ०	विषय	काल	अल्पबहुत्व	विशेष
	देव गति: —			
	क्रोध	,,	स्तोक अंतमु ॅ०	
	मान	,,	सं० गुणा	
	माया	,,	,,	
	लोभ	,,	,,	
	६. नोकषाय बन्ध काल की अपेक्षा— (क० पा०३/३.२२/§३८६-३८७/०२१३)			
	उच्चारणाचार्य की अपेक्षा चारों गति में अन्य आचार्यों की अपेक्षा मनुष्य व तिर्यंच में			
	पुरुष वेद	सा०	स्तोक	२ (संदृष्टि)
	स्त्री वेद	,,	सं० गुणा	४ ,,
	हास्य रति	,,	,,	१६ ,
	अरति शोक	,,	,,	३२ ,,
	नपुंसक वेद	,,	विशेषाधिक	४२ ,,
	अन्य आचार्यों की अपेक्षा शेष नरक व देव में			
	पुरुष वेद	सा०	स्तोक	३ ,,
	स्त्री वेद	,,	सं० गुणा	६ ,,
	हास्यरति	सा०	विशेषाधिक	११(संदृष्टि)
	नपुंसक वेद	,,	सं० गुणा	२२ ,,
	अरति शोक	,,	विशेषाधिक	२३ ,,
	७. मिथ्यात्व काल विशेष की अपेक्षा— (ध० १०/४,२,४,६२/२८४),			
	देवगति में जन्म धारनेवाले के		स्तोक	
	मनुष्य गतिमें उत्पत्ति योग्य		सं० गुणा	
	तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पत्ति योग्य		,,	
	तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पत्ति योग्य		,,	
	चतुरिन्द्रियमें उत्पत्तियोग्य		,,	
	त्रीन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		,,	
	द्वीन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		,,	
	एकेन्द्रिय में उत्पत्ति योग्य		,,	
	एकेन्द्रिय सू० में उत्पत्ति योग्य		,,	

८. जीवके योग स्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

लक्षण—उपपाद योग=जो उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें एक समय मात्रके लिये हो। एकान्तानुवृद्धि योग=जो उत्पन्न होनेके द्वितीय समयसे लेकर शरीर पर्याप्तिसे अपर्याप्त रहनेके अन्तिम समय तक निवृत्त्यपर्याप्तकोंमें रहता है। लब्ध्यपर्याप्तकोंके आयु बन्धके योग्य कालमें अपने जोवितके त्रिभागमें परिणाम योग होता है। उससे नीचे एकान्तानुवृद्धि योग होता है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय है। परिणाम योग=पर्याप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर आगे जोवनपर्यन्त सब जगह परिणाम योग ही होता है। निवृत्त्यपर्याप्तके परिणाम योग नहीं होता।

प्रमाण—(ध.१०/४.२.१७३/४२०-४२१), (अन्य विस्तार दे० अल्पबहुत्व/३/१०/९/३)

नोट—गुणकार सर्वत्र पल्य/असं० जानना (ध.१०/पृ.४२०)

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
	१. योग सामान्य के यव मध्य काल अपेक्षा— (ष.खं.१०/४.२.४/सू.२०६-२१२/५०३-५०४)		
२०६	मध्य स्थान--समय योग्य		सर्वतः स्तोक
२०७	दोनों पार्श्व भागों में— ७ समय योग्य पर		परस्पर तुल्य असं० गुणे
२०७	६ समय योग्य		,,
२०८	५ ,, ,,		,,
२०९	४ ,, ,,		,,
२१०	उपरिम भाग— ३ समय योग्य	३ व २ समय योग्य स्थान	,,
२१२	२ ,, ,,	ऊपर ही होते हैं नीचे नहीं	,,
	२. योग्य स्थानों का स्वामित्व— (ध.१०/४,२,४,१७३/४०३)		
	सात ल० अप० एकेन्द्रिय सू० बा०	३ स्थान ऊप०	स्तोक परस्पर तुल्य
	तीन विकलत्रय पंचेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी	एका० परि०	
	यही सात नि० अप०	२ स्थान उप०, एका०	परस्पर तुल्य असं० गुणे
	यही सात नि० प०	१ स्थान परि०	असं० गुणे
	३. योग स्थान सामान्य में परस्पर अल्पबहुत्व— (ध.१०/४,२,४,१७३/४०४)		
	सातों ल० अप०	उप०	स्तोक
		एका०	असं० गुणे
		परि०	,,
	सातों नि० अप०	उप०	स्तोक
		एका०	असं० गुणे
	सातों नि० प०	परि०	एक ही पद में अल्पबहुत्व नहीं

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व

४. १४ जीव समासों में जघन्योत्कृष्ट योग स्थानोंकी अपेक्षा—
(ष.खं.१०/४,२,४/सू.१४५-१७२/३९६ ४०३)

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
१४५	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	ज० उप०	स्तोक
१४६	,, बा० ,, ,,	,,	असं० गुणे
१७३	,,	गुणका --	पल्य/असं०
१४७	द्वीन्द्रिय ल० अप०	ज० उप०	,,
१४८	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१४९	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१५०	पंचेन्द्रिय असंज्ञी ल० अप०	,,	,,
१५१	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
१५२	एकेन्द्रिय सू० ,, ,,	उ० परि०	,,
१५३	,, बा० ,, ,,	,,	,,
१५४	,, सू० नि० प०	ज० परि०	,,
१५५	,, बा० ,, ,,	,,	,,
१५६	,, सू० ,, ,,	उ० परि०	,,
१५७	,, बा० ,, ,,	,,	,,
१५८	द्वीन्द्रिय नि० अप०	उ० एकां०	,,
१५९	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१६०	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१६१	पंचेन्द्रिय असंज्ञी नि० अप०	,,	,,
१६२	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
१६३	द्वीन्द्रिय नि० प०	ज० परि०	,,
१६४	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१६५	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१६६	पंचेन्द्रिय असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
१६७	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
१६८	द्वीन्द्रिय ,, ,,	उ० परि०	,,
१६९	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१७०	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
१७१	पंचेन्द्रिय असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
१७२	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,

५. प्रत्येक योग के अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा—
(ध.१०/४,२,४,१७३/४०४ ४२०)
(**नोट**—गुणकार सर्वत्र पल्य÷असं० जानना)

स्वस्थान अल्पबहुत्व—

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४०४	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	ज० उप०	स्तोक
		उ० उप०	असं० गुणे
४०५		ज० एकां०	,,
		उ० एकां०	,,
		ज० परि०	,,
		उ० परि०	,,
	एकेन्द्रिय बा० ल० अप०	उपरोक्त छहों स्थान	उपरोक्तवत्
	तीनों विकलत्रय ल० अप०		,,
	पंचें० संज्ञी असंज्ञी ,, ,,		,,
	एकेन्द्रिय सू० नि० अप०	ज० उप०	स्तोक
		उ० ,,	असं० गुणे
४०५	एकेन्द्रिय सू० नि० अप०	ज० एका०	,,
		उ० ,,	,,
	एकेन्द्रिय बा० नि० अप०	उपरोक्त चारों स्थान	उपरोक्तवत्
	विकलत्रय ,, ,,		,,
	पंचें० संज्ञी असंज्ञी ,, ,,		,,
४०५	एकेन्द्रिय सू० नि० प०	ज० परि०	स्तोक
		उ० ,,	असं० गुणे
	एकेन्द्रिय बा० नि० प०	उपरोक्त दोनों स्थान	उपरोक्तवत्
	विकलत्रय ,, ,,		,,
	पंचें० संज्ञी असंज्ञी ,, ,,		,,

परस्थान अल्पबहुत्व—

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४०६	वन० साधारण या निगोद-एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	ज० उप०	स्तोक
	उपरोक्त नि० अप०	,, ,,	असं० गुणे
	,, ल० अप०	उ० ,,	,,
	,, नि० .	,, ,,	,,
	,, ल० ,,	ज० एकां०	,,
	,, नि० ,,	,, ,,	,,
	,, ल० ,,	उ० ,,	,,
	,, नि० ,,	,, ,,	,,
	,, ल० ,,	ज० परि०	,,
	,, नि० ,,	उ० परि०	,,
	,, नि० प०	ज० ,,	,,
	,, ,, ,,	उ० ,,	,,
४०७	एकेन्द्रिय बा० के उपरोक्त सर्व विकल्प		उपरोक्तवत्
४०७	द्वीन्द्रिय ल० अप०	ज० उप०	स्तोक
	,, नि० ,,	,,	असं० गुणे
	,, ल० ,,	उ० उप०	,,
	,, नि० ,,	,,	,,
	,, ल० ,,	ज० एकां०	,,
	,, ,, ,,	उ० ,,	,,
	,, ,, ,,	ज० परि०	,,
	,, ,, ,,	उ० ,,	,,
	,, नि० ,,	ज० एकां०	,,
	,, ,, ,,	उ० ,,	,,
	,, ,, प०	ज० परि०	,,
	,, ,, ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय से संज्ञी पंचें० तक-के उपरोक्त सर्व विकल्प		उपरोक्तवत्

सर्व परस्थान अल्पबहुत्व—

(१) जघन्य स्थानोंकी अपेक्षा सर्व परस्थानालाप

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४०८	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	ज० उप०	स्तोक
	,, ,, नि० ,,	,,	असं० गुणा
	,, बा० ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,

पृ०	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४०८	द्वीन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
	,, नि० ,,	,,	,,
	त्रीन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
४०९	,, नि० ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
	,, नि० ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	एकेन्द्रिय सू० ल० ,,	ज० एका०	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	,, बा० ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
४१०	त्रीन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	ज० परि०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय नि० ,,	ज० एका०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय नि० प०	ज० परि	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
४११	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,

(२) उत्कृष्ट स्थानोंकी अपेक्षा सर्व परस्थानालाप

पृ०	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४११	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	उ० उप०	स्तोक
	,, ,, नि० ,,	,,	असं० गुणा
	,, बा० ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
	,, नि० ,,	,,	,,
	त्रीन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
	,, नि० ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ल० ,,	,,	,,
	,, नि० ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ल० ,,	,,	,,
४१२	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
४१२	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	उ० एका०	असं० गुणा
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	,, बा० ल० ,,	,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	,, ,, ल० ,,	उ० परि०	,,
	,, ,, नि० ,,	,,	,,
	,, सू० नि० प०	,,	,,
	,, बा० ,, ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय ल० अप०	उ० एका०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
४१३	द्वीन्द्रिय ,, ,,	उ० परि०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय नि० अप०	उ० एका०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,
	द्वीन्द्रिय नि० प०	उ० परि०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,,	,,
४१४	,, संज्ञी ,, ,,	,,	,,

(३) जघन्योत्कृष्ट की अपेक्षा ८४ स्थानीय सर्व परस्थानालाप—

पृ०	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४१४	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	ज० उप०	स्तोक
	,, ,, नि० ,,	,,	असं० गुणा
		गुणकार	पल्य/असं०
	,, ,, ल० ,,	उ० उप०	,,
	,, बा० ,, ,,	ज० ,,	,,
	,, सू० नि० अप०	उ० ,,	,,
	,, बा० ल० ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	ज० ,,	,,
	एकेन्द्रिय बा० नि० ,,	उ० ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	ज० ,,	,,
	,, ल० ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	ज० ,,	,,
४१५	द्वीन्द्रिय नि० ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	ज० ,,	,,
	,, ल० ,,	उ० ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	ज० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय नि० ,,	उ० ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	ज० ,,	,,
	,, ल० ,,	उ० ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	ज० ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय नि० ,,	उ० ,,	,,

पृ०	स्वामी	योग स्थान	अल्पबहुत्व
	पंचें० असंज्ञी नि० अप०	ज० उप०	असं० गुणा
	,, ,, ल० ,,	उ० ,,	,,
		गुणकार	पल्य/असं०
	,, संज्ञी ,, ,,	ज० उप०	,,
	,, असंज्ञी नि० ,,	उ० ,,	,,
	,, संज्ञी ल० ,,	,, ,,	,,
४१६	एकेन्द्रिय सू० ,, ,,	ज० एकां०	,,
	पंचें० संज्ञी नि० ,,	उ० उप०	,,
	एकेन्द्रिय सू० ,, ,,	ज० एकां०	,,
	,, बा० ल० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,, ,,	,,
	,, सू० ल० ,,	उ० ,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,, ,,	,,
	,, बा० ल० ,,	,, ,,	,,
	,, ,, नि० ,,	,, ,,	,,

(४) श्रेणी/असं० मात्र योग स्थानों का अन्तर

पृ०	स्वामी	योग स्थान	अल्पबहुत्व
	एकेन्द्रिय सू० ल० अप०	ज० परि०	असं० गुणा
		गुणकार	पल्य/असं०
	,, बा० ,, ,,	ज० परि०	,,
	,, सू० ल० ,,	उ० ,,	,,
	,, बा० ,, ,,	,, ,,	,,
४१७			
	एकेन्द्रिय सू० नि० प०	ज० परि०	असं० गुणा
		गुणकार	पल्य/असं०
	,, बा० ,, ,,	ज० परि०	,,
	,, सू० ,, ,,	उ० ,,	,,
	,, बा० ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ल० अप०	ज० एकां०	असं० गुणा
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,

पृ०	स्वामी	योग स्थान	अल्पबहुत्व
	पंचें० असंज्ञी ल० अप०	उ० एकां०	असं० गुणा
४१८	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ल० अप०	ज० परि०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
४१८	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचे० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय नि० ,,	ज० एकां०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
४१९	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, प०	ज० परि०	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	उ० ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,, ,,	,,
	पंचें० असंज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,
४२०	,, संज्ञी ,, ,,	,, ,,	,,

९. कर्मों के सत्त्व बन्ध स्थानों की अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

नोट—इस प्ररूपणा के विस्तार के लिए दे० अल्पबहुत्व ३/११/७।

१. जीवों के स्थिति बन्ध स्थानों की अपेक्षा—

(ष.खं.११/४.२.६/सू.३९–५०/१४२–१४७)

सूत्र	मार्गणा व समास			अल्पबहुत्व
३७	एकेन्द्रिय	सू०	अप०	स्तोक (पल्य/असं०)
३८	,,	बा०	,,	सं० गुणे
३९	,,	सू०	प०	,,
४०	,,	बा०	,,	,,
४१	द्वीन्द्रिय		अप०	,,
४२	,,		प०	,,
४३	त्रीन्द्रिय		अप०	,,
४४	,,		प०	,,
४५	चतुरिन्द्रिय		अप०	,,
४६	,,		प०	,,
४७	पंचेन्द्रिय असंज्ञी		अप०	,,
४८	,, ,,		प०	,,
४९	,, संज्ञी		अप०	,,
५०	,, ,,		प०	,,

नोट—इसी के स्व स्थान, पर स्थान व सर्व पर स्थान सम्बन्धी विस्तृत प्ररूपणाएँ देखो (ध.११/४.२.६.५०/१४७ २०५)

२. स्थिति बन्ध में जघन्योत्कृष्ट स्थानों की अपेक्षा—

(ष.खं.११/४.२.६/सू.६५–७५/२२५–२३७)

सूत्र	मार्गणा व समास			स्थान	अल्पबहुत्व
६५	सूक्ष्म साम्पराय संयत के अन्तिम समयवर्ती			ज०	सर्वतः स्तोक
६६	एकेन्द्रिय	बा०	प०	,,	असं० गुणा गुणकार = पल्य/असं०
६७	,,	सू०	,,	,,	विशेषाधिक विशेष = पल्य/असं०
६८	,,	बा०	अप०	,,	,,
६९	,,	सू०	,,	,,	,,
७०	,,	,,	,,	उ०	,,
७१	,,	बा०	,,	,,	,,
७२	,,	सू०	प०	,,	,,
७३	,,	बा०	,,	,,	,,
७४	द्वीन्द्रिय		,,	ज०	२५ गुणा
७५	,,		अप०	,,	विशेषाधिक विशेष = पल्य/असं०
७६	,,		,,	उ०	,,
७७	,,		प०	उ०	,,
७८	त्रीन्द्रिय		,,	ज०	,,
७९	,,		अप०	,,	,,
८०	,,		,,	उ०	,,
८१	,,		प०	,,	,,
८२	चतुरिन्द्रिय		,,	ज०	,,
८३	,,		अप०	,,	,,
८४	,,		,,	उ०	,,
८५	,,		प०	,,	,,
					विशेषाधिक
८६	पंचेन्द्रिय असंज्ञी		प०	ज०	विशेष = पल्य/असं०
८७	,, ,,		अप०	,,	,,
८८	,, ,,		,,	उ०	,,
८९	,, ,,		प०	,,	,,
९०	संयत सामान्य			,,	सं० गुणा गुणकार = सं० समय
९१	संयतासंयत			ज०	,,
९२	,,			उ०	,,
९३	असंयत सम्यग्दृष्टि		प०	ज०	,,
९४	,, ,,		अप०	,,	,,
९५	,, ,,		,,	उ०	,,
९६	,, ,,		प०	,,	,,
९७	पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि		प०	ज०	,,
९८	उपरोक्त		अप०	,,	,,
९९	,,		,,	उ०	,,
१००	,,		प०	,,	,,

३. स्थिति बन्ध के निषेकों की अपेक्षा—

(ष.खं.११/४.२–६.१०२ १११/२३८–२५३)

सूत्र	मार्गणा व समास	अल्पबहुत्व
१०३ से १११	सर्व जीव समास मिथ्यादृष्टिसे आठों कर्मों की अपेक्षा	
	प्रथम समय में निक्षिप्त	अधिक
	द्वितीय समय में निक्षिप्त	विशेष हीन
	तृतीय ,, ,, ,,	,,
१०४	पंचें० संज्ञी प० सम्यग्दृष्टि—आयु कर्म की अपेक्षा	उपरोक्तवत्

नोट—विशेष देखो (नं० १४/८,१०,१२)

४. मोहनीय कर्म के स्थिति सत्त्व स्थानों की अपेक्षा—

(क.पा.४/३.२२/६२८ §६३९/३२९)

सूत्र	मार्गणा व समास	अल्पबहुत्व
६२८	प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के सत्कर्म स्थान	सर्वतः स्तोक
६२९	स्त्री वेद के सत्कर्म स्थान	विशेषाधिक
	नपुं० ,, ,, ,, ,,	ऊपरतुल्य
६३०	हास्यादि ६ नोकषायों के स्थिति सत्कर्म स्थान	विशेषाधिक
६३१	पुरुष वेद के सत्कर्म स्थान	,,
६३२	संज्वलन क्रोध ,, ,, ,,	,,
६३३	,, मान ,, ,, ,,	,,
६३४	,, माया ,, ,, ,,	,,
६३५	,, लोभ ,, ,, ,,	,,
६३६	अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ रूप चतुष्क के स्थिति सत्कर्म स्थान	,,
६३७	मिथ्यात्व के सत्कर्म स्थान	,,
६३८	सम्यक्त्व प्रकृतिके सत्कर्म स्थान	,,
६३९	सम्यग्मिथ्यात्व ,, ,, ,,	,,

अर्थ :—बन्ध समुत्पत्तिक स्थान = कर्मका जितना अनुभाग बाँधा गया

हत समुत्पत्तिक स्थान = अपवर्तन द्वारा अनुभाग का घात करके जितना अनुभाग शेष रखा गया

क्रम	स्वामी	अल्पबहुत्व
(५)	**बन्ध समुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्वके जघन्य स्थानोंकी अपेक्षा** (क० पा० ५/४,२२/§५७२/३३८)	
	संयमाभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि सर्व विशुद्ध पंचें० संज्ञी प० का ज० अनुभाग स्थान	स्तोक
	सर्व विशुद्ध पंचे० असंज्ञीका ,, ,,	अनतगुणा
	,, ,, चौइन्द्रिय ,, ,, ,,	,,
	,, ,, तेइन्द्रिय ,, ,, ,,	,,
	,, ,, द्वीन्द्रिय ,, ,, ,,	,,
	,, ,, एकेन्द्रिय बा० ,, ,, ,,	,,
	,, ,, ,, सू० ,, ,, ,,	,,
(६)	**हतसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्वके जघन्य स्थानोंकी अपेक्षा** (क० पा० ५/४,२२/§५७२/३३८-३३९)	
	सर्व विशुद्ध एकेन्द्रिय सू० अप० द्वारा अनुभाग घातसे उत्पन्न किया ज० स्थान	उपरोक्त बन्ध स्थानसे अनन्तगुणा
	,, एकेन्द्रिय बा० के द्वारा घातसे उत्पन्न	,,
	,, द्वीन्द्रिय ,, ,, ,, ,, ,,	,,
	,, तेइन्द्रिय ,, ,, ,, ,, ,,	,,
	,, चतुरेन्द्रिय ,, ,, ,, ,, ,,	,,
	,, पंचे० असंज्ञी ,, ,, ,, ,, ,,	,,
	संयमाभिमुख पंचें० संज्ञी द्वारा ,, ,,	,,

क्रम	कौन कर्मका अनुभाग	अल्पबहुत्व
(७)	**अष्ट कर्म प्रकृतियोंके उ० अनुभागकी ६४ स्थानीय स्वस्थान ओघ आदेश प्ररूपणा** (म० ब० ५/§४१७-४२५/२२०-२२४)	
	१. ज्ञानावरण—ओघ	
	केवल ज्ञानावरणी का	सर्वतः तीव्र
	आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का	अनंतगुणा हीन
	श्रुत ,, ,,	,,
	अवधि ,, ,,	,,
	मनःपर्यय ,, ,,	,,
	२. दर्शनावरण :—	
	केवल दर्शनावरण का	सर्वतः तीव्र
	चक्षु ,, ,,	अनन्त गुणा हीन
	अचक्षु ,, ,,	,,
	अवधि ,, ,,	,,
	स्त्यानगृद्धि ,, ,,	,,
	निद्रा निद्रा ,, ,,	,,
	प्रचला प्रचला ,, ,,	,,
	निद्रा ,, ,,	,,
	प्रचला ,, ,,	,,
	३. वेदनीय :—	
	साता वेदनीय का	सर्वतः तीव्र
	असाता ,, ,,	अनन्तगुणा हीन
	४. मोहनीय :—	
	मिथ्यात्व	सर्वतः तीव्र
	अनन्तानुबन्धी लोभ का	अनन्तगुणा हीन
	,, माया ,,	विशेष हीन
	,, क्रोध ,,	,,
	,, मान ,,	,,
	संज्वलन लोभ ,,	अनन्तगुणा हीन
	,, माया ,,	विशेष हीन
	,, क्रोध ,,	,,
	,, मान ,,	,,
	प्रत्याख्यान लोभ ,,	अनन्तगुणा हीन
	,, माया ,,	विशेष हीन
	,, क्रोध ,,	,,
	,, मान ,,	,,
	अप्रत्याख्यान लोभ ,,	अनन्तगुणा हीन
	,, माया ,,	विशेष हीन
	,, क्रोध ,,	,,
	,, मान ,,	,,
	नपुंसक वेद ,,	अनन्तगुणा हीन
	अरति ,,	,,
	शोक ,,	,,
	भय ,,	,,
	जुगुप्सा ,,	,,
	स्त्री वेद ,,	,,
	पुरुष वेद ,,	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व	क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
	रति का	अनन्त गुणा हीन		(अगुरुलघु आदि) :—	
	हास्य ,,	,,		अगुरुलघु का	सर्वतः तीव्र
	५. आयु :—			उच्छ्वास ,,	अनन्तगुणा हीन
	देवायु ,,	सर्वतः तीव्र		परघात ,,	,,
	नरकायु ,,	अनन्तगुणा हीन		उपघात ,,	,,
	मनुष्यायु ,,	,,		(प्रशस्ताप्रशस्त युगल) :—	
	तिर्यंचायु ,,	,,		सर्व प्रशस्त प्रकृति ,,	सर्वतः तीव्र
	६ नामकर्म (गति) :—			,, अप्रशस्त ,, ,,	अनन्तगुणा हीन
	देवगति ,,	सर्वतः तीव्र		७. गोत्रकर्म :—	
	मनुष्य गति ,,	अनन्तगुणा हीन		उच्च गोत्र ,,	सर्वतः तीव्र
	नरक गति ,,	,,		नीच गोत्र ,,	अनन्तगुणा हीन
	तिर्यंच गति ,,	,,		८. अन्तराय कर्म :—	
	(जाति) :—			वीर्यान्तराय ,,	सर्वतः तीव्र
	पंचेन्द्रिय जाति ,,	सर्वतः तीव्र		उपभोग अन्तराय ,,	अनन्तगुणा हीन
	एकेन्द्रिय ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		भोग ,, ,,	,,
	द्वीन्द्रिय ,, ,,	,,		लाभ ,, ,,	,,
	त्रीन्द्रिय ,, ,,	,,		दान ,, ,,	,,
	चतुरिन्द्रिय ,, ,,	,,		आदेश प्ररूपणा :—	
	(शरीर) :—			१. गति मार्गणा :—	
	कार्माण शरीर ,,	सर्वतः तीव्र		नरक गति सामान्य में	ओघवत्
	तैजस ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		१-७ पृथिवी में	,,
	आहारक ,, ,,	,,		तिर्यंच गति में :—	
	वैक्रियक ,, ,,	,,		नरकायु ,,	तीव्र
	औदारिक ,, ,,	,,		देवायु ,,	अनन्तगुणा हीन
	संस्थान :—			मनुष्यायु ,,	,,
	समचतुरस्र संस्थान ,,	सर्वतः तीव्र		तिर्यचायु ,,	,,
	हुण्डक ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		देव गति ,,	तीव्र
	न्यग्रोध परिमण्डल ,,	,,		नरक गति ,,	अनन्तगुणा हीन
	स्वाति संस्थान ,,	,,		तिर्यच गति ,,	,,
	कुब्जक ,, ,,	,,		मनुष्य गति ,,	,,
	वामन ,, ,,	,,		शेष कर्म ,,	ओघवत्
	(अंगोपांग) :—			तिर्यंचोंके अन्य विकल्पोंमें	उपरोक्त वत्
	आहारक अङ्गोपाङ्ग ,,	सर्वतः तीव्र		पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त	नरक वत्
	वैक्रियक ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		मनुष्य गतिमें :—	
	औदारिक ,, ,,	,,		मनुष्य प० व मनुष्यणीमें चारों गतियोंका	तिर्यंच वत्
	(संहनन) :—			शेष कर्मों का	ओघवत्
	वज्र ऋषभ नाराच संहनन	सर्वतः तीव्र		देवगतिमें :—	
	असम्प्राप्त सृपाटिका ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		सर्व विकल्पोंमें	ओघवत्
	वज्रनाराच ,, ,,	,,		२. इन्द्रिय मार्गणा :—	
	नाराच ,, ,,	,,		सब एकेन्द्रिय तथा सब विकलेन्द्रिय में	पंचे० तिर्यंच अप० वत्
	अर्ध नाराच ,, ,,	,,			
	कीलित ,, ,,	,,		पंचेन्द्रिय प० व अप० में	ओघवत्
	(वर्ण) :—				
	प्रशस्त वर्ण चतुष्क ,,	सर्वतः तीव्र		३. काय मार्गणा :—	
	अप्रशस्त ,, ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		पाँचों स्थावर काय में	पंचें० तिर्यंच अप० वत्
	(आनुपूर्वी) :—			त्रस प० अप० में	ओघवत्
	देवगति आनुपूर्वी ,,	सर्वतः तीव्र		४. योग मार्गणा :—	
	मनुष्य गति ,, ,,	अनन्तगुणा हीन		पाँचों मनोयोगी में	ओघवत्
	नरक ,, ,, ,,	,,		पाँचों वचन योगी में	,,
	तियच ,, ,, ,,	,,		काय योगी सा० में	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
	औदारिक काय योगी में	मनुष्यणीवत्
	,, मिश्र ,, ,, में	तिर्यंच सा० वत्
	वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र में	देव गति वत्
	आहारक ाहारक मिश्र में	सर्वार्थसिद्धि वत
	कार्मण योग में	औदारिक मिश्रवत
	५. वेद मार्गणा :—	
	तीनों वेद व अपगत वेद में	मूलोघवत्
	६. कषाय मार्गणा :—	
	चारों कषाय में	ओघवत्
	७. ज्ञान मार्गणा :—	
	मति श्रुत अवधि व मनःपर्ययमें	ओघवत्
	केवलज्ञान में	×
	मति श्रुत अज्ञान व विभंग में	तिर्यंच वत
	८. संयम मार्गणा :—	
	संयम सा०, सामायिक व छेदा० में	ओघवत्
	परिहार विशुद्धि में	सर्वार्थसिद्धि वत
	सूक्ष्म साम्पराय में	ओघवद्
	यथा ख्यात में	×
	संयतासंयत में	सर्वार्थसिद्धि वद्
	असंयत में	ओघवत्
	९. दर्शन मार्गणा :—	
	चक्षु अचक्षु दर्शनों में	ओघवत्
	अवधि दर्शनों में	,
	१०. लेश्या मार्गणा :—	
	कृष्ण	तियचोंवत्
	नील कापोत में :—	
	देव गतिका अनुभाग	तीव्र
	मनुष्य ,, ,, ,,	अनन्तगुणा हीन
	तिर्यंच ,, ,, ,,	,,
	नरक ,, ,, ,,	,,
	चारों आनुपूर्वीका ,,	उपरोक्तवत्
	शेष प्रकृतियों का	कृष्ण लेश्यावत्
	पीत लेश्या व पद्म लेश्या में	देवगति वत्
	शुक्ल लेश्या में	ओघवत्
	११. सम्यक्त्व मार्गणा :—	
	सम्यग्दर्शन सा० में	ओघवत्
	उपशम व क्षायिक सम्य० में	,,
	वेदक सम्यग्दृष्टि में	सर्वार्थसिद्धिवत्
	मिथ्यादृष्टि	तिर्यंच वत्
	सासादन में	नरकवत्
	सम्यग्मिथ्यादृष्टि में	वेदक सम्य० वत्
	१२. भव्यत्व मार्गणा :—	
	भव्य में	ओघवत्
	अभव्य में	,,
	१३. संज्ञित्व मार्गणा :—	
	संज्ञि में	ओघवत्
	असंज्ञि में	तिर्यंच वत्
	१४. आहारक मार्गणा :—	
	आहारक में	ओघवत्
	अनाहारक में	×

(८) अष्ट कर्म प्रकृतियोंके ज० अनुभाग की ६४ स्थानीय स्वस्थान ओघ प्ररूपणा

(म० ब० ५/§४२६-४३२/२२४-२२६)

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
	१. ज्ञानावरण :—	
	मनःपर्यय ज्ञानावरणका अनुभाग	सर्वतः स्तोक
	अवधि ,, ,,	अनन्तगुणा
	श्रुत ,, ,,	,,
	आभिनिबोधिक ज्ञानावरणका अनुभाग	,,
	केवल ज्ञानावरणका ,,	,,
	२. दर्शनावरण :—	
	अवधि दर्शनावरण का	स्तोक
	अचक्षु ,, ,,	अनन्तगुणा
	चक्षु ,, ,,	,,
	केवल ,, ,,	,,
	प्रचला ,, ,,	,,
	निद्रा ,, ,,	,,
	प्रचला प्रचला ,, ,,	,,
	निद्रा निद्रा ,, ,,	,,
	स्त्यानगृद्धि ,, ,,	,,
	३. वेदनीय :—	
	असाता का	स्तोक
	साता ,,	अनन्तगुणा
	४. मोहनीय :—	
	संज्वलन लोभ का	स्तोक
	,, माया ,,	अनन्तगुणा
	संज्वलन मान का	,,
	,, क्रोध ,,	,,
	पुरुष वेद ,,	,,
	हास्य ,,	,,
	रति ,,	,,
	जुगुप्सा ,,	,,
	भय ,,	,,
	शोक ,,	,,
	अरति ,,	,,
	स्त्री वेद ,,	,,
	नपुंसक वेद ,,	,,
	प्रत्याख्यान मान ,,	,,
	,, क्रोध ,,	विशेषाधिक
	,, माया ,,	,,
	,, लोभ ,,	,,
	अप्रत्याख्यान मान ,,	अनन्तगुणा
	,, क्रोध ,,	विशेषाधिक
	,, माया ,,	,,
	,, लोभ ,,	,,
	अनन्तानुबन्धी मान ,,	अनन्तगुणा
	,, क्रोध ,,	विशेषाधिक
	,, माया ,,	,,
	,, लोभ ,,	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
	५. आयु :—	
	तिर्यंचायु का	स्तोक
	मनुष्यायु ,,	अनन्तगुणा
	नरकायु ,,	,,
	देव आयु ,,	,,
	६. नाम (गति) :—	
	तिर्यंच गति ,,	स्तोक
	नरक ,, ,,	अनन्तगुणा
	मनुष्य ,, ,,	,,
	देव ,, ,,	,,
	(जाति) :—	
	चतुरिन्द्रिय ,,	स्तोक
	त्रीन्द्रिय ,,	अनन्तगुणा
	द्वीन्द्रिय ,,	,,
	एकेन्द्रिय ,,	,,
	पंचेन्द्रिय ,,	,,
	(शरीर) :—	
	औदारिक ,,	स्तोक
	वैक्रियक ,,	अनन्तगुणा
	तैजस ,,	,,
	कार्मण ,,	,,
	आहारक ,,	,,
	(संस्थान) :—	
	न्यग्रोध परिमण्डल ,,	स्तोक
	स्वाति ,,	अनन्तगुणा
	कुब्ज ,,	,,
	वामन ,,	,,
	हुण्डक ,,	,,
	समचतुरस्र ,,	,,
	(अंगोपांग) :—	
	औदारिक ,,	स्तोक
	वैक्रियक ,,	अनन्तगुणा
	आहारक ,,	,,
	(संहनन) :—	
	वज्र नाराच ,,	स्तोक
	नाराच ,,	अनन्तगुणा
	अर्ध नाराच ,,	,,
	कीलित ,,	,,
	असम्प्राप्त सृपाटिका ,,	,,
	वज्र ऋषभ नाराच ,,	,,
	(वर्ण) :—	
	अप्रशस्त वर्ण चतुष्क ,,	स्तोक
	प्रशस्त ,, ,, ,,	अनन्तगुणा
	(अंगोपांग) :—	
	तिर्यंच गत्यानपूर्वी ,,	स्तोक
	नरक ,, ,,	अनन्तगुणा
	मनुष्य ,, ,,	,,
	देव ,, ,,	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
	(उपघातादि) :—	
	उपघात का	स्तोक
	परघात ,,	अनन्तगुणा
	उच्छ्वास ,,	,,
	अगुरुलघु ,,	,,
	७. गोत्र :—	
	नीच गोत्र का	स्तोक
	ऊँच गोत्र ,,	अनन्तगुणा
	८. अन्तराय :—	
	दान अन्तराय का	स्तोक
	लाभ ,, ,,	अनन्तगुणा
	भोग ,, ,,	,,
	उपभोग ,, ,,	,,
	वीर्य ,, ,,	,,

(९) अष्ट कर्म प्रकृतियोंके उ० अनुभाग की ६४ स्थानीय परस्थान ओघ प्ररूपणा

(म० ब० ५/§४३६-४३९/२२८-२२९)

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
साता वेदनीय का	सबसे तीव्र
यशः कीर्ति ,,	अनन्तगुणा हीन
उच्च गोत्र ,,	ऊपर तुल्य
देव गति ,,	अनन्तगुणा हीन
कार्मण शरीर ,,	,,
तैजस ,, ,,	,,
आहारक ,, ,,	,,
वैक्रियक ,, ,,	,,
मनुष्य गति ,,	,,
औदारिक शरीर ,,	,,
मिथ्यात्व ,,	,,
केवल ज्ञानावरण ,,	,,
केवल दर्शनावरण ,,	ऊपर तुल्य
असाता वेदनीय का	अनन्तगुणा हीन
वीर्यान्तराय ,,	,,
अनन्तानुबन्धी लोभ का	,,
,, माया ,,	विशेष हीन
,, क्रोध ,,	,,
,, मान ,,	,,
संज्वलन लोभ ,,	अनन्तगुणा हीन
,, माया ,,	विशेष हीन
,, क्रोध ,,	,,
,, मान ,,	,,
प्रत्याख्यान लोभ ,,	अनन्तगुणा हीन
,, माया ,,	विशेष हीन
,, क्रोध ,,	,,
,, मान ,,	,,
अप्रत्याख्यान लोभ ,,	अनन्तगुणा हीन
माया ,,	विशेष हीन
क्रोध ,,	,,
मान ,,	,,
मति ज्ञानावरण ,,	अनन्तगुणा हीन

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग		अल्पबहुत्व
	उपभोगान्तराय	का	ऊपर तुल्य
	चक्षुर्दर्शनावरण	,,	अनन्तगुण हीन
	अचक्षुर्दर्शनावरण	,,	,,
	श्रुत ज्ञानावरण	,,	ऊपर तुल्य
	भोगान्तराय	,,	,,
	अवधि ज्ञानावरण	,,	अनन्तगुण हीन
	अवधि दर्शनावरण	,,	ऊपर तुल्य
	लाभान्तराय	,,	,,
	मनःपर्यय ज्ञानावरण	,,	अनन्तगुण हीन
	स्त्यानगृद्धि	,,	ऊपर तुल्य
	दानान्तराय	,,	,,
	नपुंसक वेद	,,	अनन्तगुण हीन
	अरति	,,	,,
	शोक	,,	,,
	भय	,,	,,
	जुगुप्सा	,,	,,
	निद्रा निद्रा	,,	,,
	प्रचला प्रचला	,,	,,
	निद्रा	,,	,,
	प्रचला	,,	,,
	अयशःकीर्ति	,,	,,
	नीच गोत्र	,,	ऊपर तुल्य
	नरक गति	,,	अनन्तगुण हीन
	तिर्यंच गति	,,	,,
	स्त्री वेद	,,	,,
	पुरुष वेद	,,	,,
	रति	,,	,,
	हास्य	,,	,,
	देवायु	,,	,,
	नरकायु	,,	,,
	मनुष्यायु	,,	,,
	तिर्यंचायु	,,	,,

नोट :—इसकी आदेश प्ररूपणाके लिए देखो (म० ब०/पु० ५/§४३९-४४२/ पृ० २३१-२३३)।

(१०) अष्ट कर्म प्रकृतियोंके ज० अनुभागकी ६४ स्थानीय परस्थान ओघ प्ररूपणा

(म० ब०/पु०५/§४४३/पृ० २३३-२३४)

कौन कर्म का अनुभाग			अल्पबहुत्व
संज्वलन	लोभ	का	सर्वतः स्तोक
,,	माया	,,	अनन्तगुणा
,,	मान	,,	,,
,,	क्रोध	,,	,,
मनःपर्यय ज्ञानावरण		,,	,,
दानान्तराय		,,	ऊपर तुल्य
अवधि ज्ञानावरण		,,	अनन्तगुणा
,, दर्शनावरण		,,	ऊपर तुल्य
लाभान्तराय		,,	,,
श्रुत ज्ञानावरण		,,	अनन्तगुणा
अचक्षु दर्शनावरण		,,	ऊपर तुल्य
भोगान्तराय		,,	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग			अल्पबहुत्व
	चक्षु दर्शनावरण		का	अनन्तगुणा
	मतिज्ञानावरण		,,	,,
	उपभोगान्तराय		,,	ऊपर तुल्य
	वीर्यान्तराय		,,	अनन्तगुणा
	पुरुष वेद		,,	,,
	हास्य		,,	,,
	रति		,,	,,
	जुगुप्सा		,,	,,
	भय		,,	,,
	शोक		,,	,,
	अरति		,,	,,
	स्त्री वेद		,,	,,
	नपुंसक वेद		,,	,,
	केवलज्ञानावरण		,,	,,
	केवलदर्शनावरण		,,	ऊपर तुल्य
	प्रचला		,,	अनन्तगुणा
	निद्रा		,,	,,
	प्रत्याख्यानावरण	मान	,,	,,
	,,	क्रोध	,,	विशेषाधिक
	,,	माया	,,	,,
	,,	लोभ	,,	,,
	अप्रत्याख्यान	मान	,,	अनन्तगुणा
	,,	क्रोध	,,	विशेषाधिक
	,,	माया	,,	,,
	,,	लोभ	,,	,,
	प्रचला प्रचला		,,	अनन्तगुणा
	निद्रा निद्रा		,,	,,
	स्त्यानगृद्धि		,,	,,
	अनन्तानुबन्धी	मान	,,	अनन्त गुणा
	,,	क्रोध	,,	विशेषाधिक
	,,	माया	,,	,,
	,,	लोभ	,,	,,
	मिथ्यात्व		,,	अनन्त गुणा
	औदारिक	शरीर	,,	,,
	वैक्रियक	,,	,,	,,
	तिर्यगायु		,,	,,
	मनुष्यायु		,,	,,
	तैजस	शरीर	,,	,,
	कार्मण	,,	,,	,,
	तिर्यञ्च	गति	,,	,,
	नरक	,,	,,	,,
	मनुष्य	,,	,,	,,
	देव	,,	,,	,,
	नीच गोत्र		,,	,,
	अयशः कीर्ति		,,	,,
	असाता वेदनीय		,,	,,
	यशः कीर्ति		,,	,,
	उच्च गोत्र		,,	ऊपर तुल्य
	साता वेदनीय		,,	अनन्त गुणा
	नरकायु		,,	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्प बहुत्व
	देवायु का	अनन्तगुणा
	आहारक शरीर ,,	,,

नोट—इस सम्बन्धी आदेश प्ररूपणा के लिए देखो म.ब./पु.५/§४४५–४५०/पृ.२३५–२३६)

११. एक समय प्रबद्ध प्रदेशाग्र में सर्व व देशघाती अनुभाग के विभाग की अपेक्षा—

(गो.क./मू./१९७/पृ. २५६)

कौन कर्म का अनुभाग	अल्प बहुत्व
सर्व घाती भाग	सर्व द्रव्य/अनन्त
देश घाती ,,	शेष बहु भाग

१२. एक समय प्रबद्ध प्रदेशाग्र में निषेक सामान्य के विभाग की अपेक्षा—

(ध./पु.१२/४,२,७,६३/३६–४०)

कौन कर्म का अनुभाग	अल्प बहुत्व
चरम स्थिति में	स्तोक
प्रथम ,, ,,	असं० गुणे
अप्रथम व अचरम स्थितियों में	,,
अप्रथम में	विशेषाधिक
अचरम में	,,
सब स्थितियों में	,,

१३. एक समय प्रबद्ध में अष्ट कर्म प्रकृतियों के प्रदेशाग्र विभाग की अपेक्षा—

१. स्वस्थानप्ररूपणा—

मूल प्रकृति विभाग—(पं.सं./प्रा./४/४९६–४९७) (ध.१५/३५); (गो.क./मू./१९२,१९६/२२५)

कौन कर्म का अनुभाग	अल्प बहुत्व
आयु कर्म का भाग	स्तोक
नाम ,, ,, ,,	विशेषाधिक
गोत्र ,, ,, ,,	ऊपर तुल्य
ज्ञानावरण ,, ,, ,,	विशेषाधिक
दर्शनावरण ,, ,,	ऊपर तुल्य
अन्तराय ,, ,,	,,
मोहनीय ,, ,,	विशेषाधिक
नीय ,, ,,	,,

उत्तर प्रकृति विभाग स्वस्थान अपेक्षा—

१. ज्ञानावरण के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्प बहुत्व
मति ज्ञानावरण का भाग	अधिक
श्रुत ,, ,, ,,	विशेष हीन
अवधि ,, ,, ,,	,,
मनःपर्यय ,, ,,	,,
केवल ,, ,, ,,	,,

२. दर्शनावरण के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्प बहुत्व
चक्षु दर्शनावरण का भाग	अधिक
अचक्षु ,, ,, ,,	विशेष हीन
अवधि ,, ,, ,,	,,
केवल ,, ,, ,,	,,

क्रम	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
	निद्रा ,, ,, ,,	विशेष हीन
	निद्रानिद्रा ,, ,, ,,	,,
	प्रचला ,, ,, ,,	,,
	प्रचलाप्रचला ,, ,, ,,	,,
	स्त्यानगृद्धि ,, ,, ,,	,,

३. वेदनीय के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
साता का भाग असाता ,, ,,	अन्यतमका ही द्रव्य आता है अतः अल्प बहुत्व नहीं होता

४. मोहनीय के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
अनन्तानुबन्धी चतुष्क भाग	अधिक
अप्रत्याख्यान ,, ,,	विशेष हीन
प्रत्याख्यान ,, ,,	,,
संज्वलन ,, ,,	,,
हास्य का ,,	,,
रति ,, ,,	,,
अरति ,, ,,	,,
शोक ,, ,,	,,
भय ,, ,,	,,
जुगुप्सा ,, ,,	,,
स्त्री वेद ,, ,,	,,
पुरुष वेद ,, ,,	,,
नपुंसक वेद ,, ,,	,,

५. आयु के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
चारों आयु में से	अन्यतमका ही द्रव्य आता है अतः अल्पबहुत्व नहीं

६. नाम के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, बादर, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर	इसी क्रम से प्रत्येक में अपने-अपने से पूर्व की अपेक्षा विशेषहीन भाग जानना शुभाशुभ युगलों में अल्पबहुत्व नहीं है क्योंकि अन्यतम का द्रव्य आता है।

७. गोत्र के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
ऊँच गोत्र का भाग नीच ,, ,, ,,	अन्यतमका ही द्रव्य आता है अतः अल्पबहुत्व नहीं

८. अन्तराय के द्रव्य में—

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
दानान्तराय का भाग	स्तोक
लाभ ,, ,, ,,	विशेषाधिक
भोग ,, ,, ,,	,,
उपभोग ,, ,, ,,	,,
वीर्य ,, ,, ,,	,,

क्रम	कर्म का नाम	अल्पबहुत्व
	२. परस्थान प्ररूपणा—(उत्कृष्ट प्रकृति प्रक्रम) (ध.१५/३६-३८)	
१	अप्रत्याख्यान मान में प्रदेश	सर्वतः स्तोक
२	,, क्रोध ,, ,,	विशेषाधिक
३	,, माया ,, ,,	,,
४	,, लोभ ,, ,,	,,
५	प्रत्याख्यान मान ,, ,,	,,
६	,, क्रोध ,, ,,	,,
७	,, माया ,, ,,	,,
८	,, लोभ ,, ,,	,,
९	अनन्तानुबन्धी मान ,, ,,	,,
१०	,, क्रोध ,, ,,	,,
११	,, माया ,, ,,	,,
१२	,, लोभ ,, ,,	,,
१३	मिथ्यात्व ,, ,,	,,
१४	केवल दर्शनावरण ,, ,,	,,
१५	प्रचला ,, ,,	,,
१६	निद्रा ,, ,,	,,
१७	प्रचला प्रचला ,, ,,	,,
१८	निद्रा निद्रा ,, ,,	,,
१९	स्त्यानगृद्धि ,, ,,	,,
२०	केवलज्ञानावरण ,, ,,	,,
२१	आहारक शरीर नामकर्म ,,	अनन्त गुणे
२२	वैक्रियक ,, ,, ,,	विशेषाधिक
२३	औदारिक ,, ,, ,,	,,
२४	तैजस ,, ,, ,,	,,
२५	कार्मण ,, ,, ,,	,,
२६	देवगति ,, ,,	सं० गुणे
२७	नरक गति ,, ,,	,,
२८	मनुष्य गति ,, ,,	,,
२९	तिर्यग्गति ,, ,,	,,
३०	अयशःकीर्ति ,, ,,	,,
३१	जुगुप्सा नो कषाय ,,	,,
३२	भय ,, ,,	विशेषाधिक
३३	हास्य-शोक ,, ,,	,,(दोनों तुल्य)
३४	रति-अरति ,, ,,	,, ,,
३५	स्त्री-नपुंसक वेद ,, ,,	,, ,,
३६	दानान्तराय ,,	सं० गुणे
३७	लाभान्तराय ,,	विशेषाधिक
३८	भोगान्तराय ,,	,,
३९	परिभोगान्तराय ,,	,,
४०	वीर्यान्तराय ,,	,,
४१	संज्वलन क्रोध ,,	,,
४२	मनःपर्यय ज्ञानावरण में	,,
४३	अवधि ,, ,,	,,
४४	श्रुत ,, ,,	,,
४५	मति ,, ,,	,,
४६	संज्वलन मान ,,	,,
४७	अवधि दर्शनावरण ,,	,,
४८	अचक्षु ,, ,,	,,
४९	चक्षु दर्शनावरण में प्रदेश	विशेषाधिक
५०	पुरुष वेद ,,	,,
५१	संज्वलन माया ,,	,,
५२	अन्यतर आयु ,,	,,
५३	नीच गोत्र ,,	,,
५४	संज्वलन लोभ ,,	,,
५५	असाता वेदनीय ,,	,,
५६	उच्च गोत्र ,,	,,
५७	यशःकीर्ति ,,	ऊपर तुल्य
५८	साता वेदनीय	विशेषाधिक
	(जघन्य प्रकृति प्रक्रम)—	
१-२०	नं० १ से २० तक	उत्कृष्ट वत्
२१	औदारिक शरीर नामकर्म में	अनन्त गुणे
२२	तैजस ,, ,, ,,	विशेषाधिक
२३	कार्मण ,, ,, ,,	,,
२४	तिर्यग्गति ,, ,,	सं० गुणा
२५	यशःकीर्ति ,, ,,	विशेषाधिक
२६	अयशःकीर्ति ,, ,,	ऊपर तुल्य
२७	मनुष्य गति ,, ,,	विशेषाधिक
२८	जुगुप्सा नोकषाय ,,	सं० गुणा
२९	भय ,, ,,	विशेषाधिक
३०	हास्य-शोक ,, ,,	,,(दोनों तुल्य)
३१	रति-अरति ,, ,,	,, ,,
३२	अन्यतर वेद ,,	,,
३३	संज्वलन मान ,,	,,
३४	,, क्रोध ,,	,,
३५	,, माया ,,	,,
३६	,, लोभ ,,	,,
३७	दानान्तराय ,	,,
३८	लाभान्तराय ,,	,,
३९	भोगान्तराय ,,	,,
४०	उपभोगान्तराय ,,	,,
४१	वीर्यान्तराय ,,	,,
४२	मनःपर्यय ज्ञानावरण ,,	,,
४३	अवधि ,, ,,	,,
४४	श्रुत ,, ,,	,,
४५	मति ,, ,,	,,
४६	अवधि दर्शनावरण ,,	,,
४७	अचक्षु ,, ,,	,,
४८	चक्षु ,, ,,	,,
४९	उच्च नीच गोत्र ,,	सं० गुणे (दोनों तुल्य)
५०	साता-असाता वेदनीय ,,	विशेषाधिक ,,
५१	वैक्रियक शरीर नामकर्म ,,	असं० गुणे
५२	देव गति ,, ,,	सं० गुणे
५३	मनुष्य गति ,, ,,	असं० गुणे
५४	तिर्यग्गति ,, ,,	ऊपर तुल्य
५५	नरक गति ,, ,,	असं० गुणे
५७	देव व नरक आयु ,,	,,
५८	आहारक शरीर ,, ,,	,,

क्रम	विषय	अल्पबहुत्व

(१४) जीव समास गत जीवोंमें भिन्न-भिन्न प्रदेश बन्धकी अपेक्षा

(ष.खं.१०/४,२,४/सू.१७४/४३१)

पदेस अप्पाबहुए त्ति जहा जोगअप्पाबहुगं णीदं तधा णेदव्वं। णवरि पदेसा अप्पाए त्ति भणिदव्वं ॥१७४॥ =जिस प्रकार योग अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गयी है (देखो नं० ११ प्ररूपणा) उसी प्रकार प्रदेश अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिए। विशेष इतना है कि योगके स्थानोंमें यहाँ प्रदेश ऐसा कहना चाहिए।

नोट :—योगके एक अविभाग प्रतिच्छेदमें भी अनन्त कर्म प्रदेशोंके अपकर्षणकी शक्ति है।

(१५) आठ अपकर्षोंकी अपेक्षा आयुके बन्धक जीवोंकी प्ररूपणा

(गो.जी./जी०प्र०/५१८/९१५/२)

आठ अपकर्षों द्वारा करनेवाले	स्तोक
७ " " " "	सं० गुणे
६ " " " "	"
५ " " " "	"
४ " " " "	"
३ " " " "	"
२ " " " "	"
१ " " " "	"

(१६) आठों अपकर्षोंमें आयु बन्धके कालकी अपेक्षा

(गो.जी./जी.प्र./५१८/९१५/८)

संकेत :—८ वाले का=८ अपकर्षों द्वारा आयु बन्ध करनेवाले जीवका
८ वें का=आठवें अपकर्ष का बन्ध काल
सं०=संख्यात बि० अ०=विशेषाधिक

क्रम	आयु बन्ध काल	ज०/उ०	अल्पबहुत्व
	८ वाले का ८ वें का काल	ज०	स्तोक
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का ७ वें का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का ६ वें का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	६ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का ५ वें का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	६ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	५ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का ४ थे का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ वाले का ४ थे का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	६ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	५ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	४ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का ३ रे का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	६ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	५ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	४ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	३ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का २ रे का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	६ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	५ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	४ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	३ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	२ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	८ वाले का १ ले का काल	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	७ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	६ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	५ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	४ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	३ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	२ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०
	१ " " " " " "	ज०	सं० गुणा
		उ०	वि० अ०

१०. अष्ट कर्म निर्जरा व संक्रमण की अपेक्षा अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

१. भिन्न गुणधारी जीवों में गुण श्रेणी रूप प्रदेश निर्जरा की ११ स्थानीय प्ररूपणा—

(ष. खं.१२/४,२,७/सू.१७५–१९५/८०–८६) (क. पा.१/१,१/गा.५८–५९/१०६) (त.सू./९/४५), (स.सि./९/४५/१५१–१५४) (ध.१०/४,२,४,४०४/२९५–२९६) (गो.जी./मू./६६–६७/१६७)

सूत्र	स्वामी	अल्पबहुत्व
१७५	दर्शन मोह उपशामक सम्मुख (या सातिशय मिथ्यादृष्टि) की	सर्वतः स्तोक
१७६	संयतासंयत की	असं० गुणी
१७७	अधःप्रवृत्त स्वस्थान संयत अर्थात् अप्रमत्त व प्रमत्त संयत की	"
१७८	अनन्तानुबन्धी विसंयोजक की	"
१७९	दर्शन मोह क्षपक की	"
१८०	चारित्र मोह उपशामक—	
	अपूर्व करण की	"
	अनिवृत्ति करण की	"
	सूक्ष्म साम्पराय की	"
१८१	उपशान्त कषाय वीतराग (११) की	"
१८२	चारित्र मोह क्षपक—	
	अपूर्व करण की	"
	अनिवृत्ति करण की	"
	सूक्ष्म साम्पराय की	"
१८३	क्षीण कषाय वीतराग (१२) की	"
१८४	स्व स्थान अधःप्रवृत्त सयोग केवलीकी	"
	समुद्घात केवली की (गो.जी./जी.प्र./६७/१६८/२)	"
१८५	योग निरोध केवली की	"

२. भिन्न गुणधारी जीवों में गुण श्रेणी प्रदेश निर्जरा के काल की ११ स्थानीय प्ररूपणा—

(ष.खं.१२/४,२,७/सू.१८६–१९६/८५–८६)

सूत्र	स्वामी	अल्पबहुत्व
१८६	योग निरोध केवली का	सर्वतः स्तोक
	समुद्घात केवली का (प्ररूपणा नं० १ के आधार पर)	असं० गुणा
१८७	स्व स्थान अधःप्रवृत्त सयोग केवली का	"
१८८	क्षीण कषाय वीतराग का	"
१८९	चारित्र मोह क्षपक—	
	सूक्ष्म साम्पराय का	"
	अनिवृत्ति करण का	"
	अपूर्व करण का	"
१९०	उपशान्त कषाय वीतराग का	"
१९१	चारित्र मोह उपशामक—	
	सूक्ष्म साम्पराय का	"
	अनिवृत्ति करण का	"
	अपूर्व करण का	"
१९२	दर्शन मोह क्षपक का	असं० गुणा
१९३	अनन्तानुबन्धी विसंयोजक का	"
१९४	स्व स्थान अधः प्रवृत्त प्रमत्ताप्रमत्त संयत का	"
१९५	संयतासंयत का	"
१९६	दर्शन मोह उपशामक का (सातिशय मिथ्यादृष्टि का)	"

३. पाँच प्रकार संक्रमणों द्वारा हत, कर्म प्रदेशों के परिमाण में अल्पबहुत्व—

(गो.क./मू./४३०-४३५/५८७)

क्रम	उत्तरोत्तर भागहारों के नाम	अल्पबहुत्व
१	सर्व संक्रमण का भागहार	सर्वतः स्तोक
२	गुण " " "	असं० गुणा गुणकार = पल्य/असं०
	उत्कर्षण भागहार	"
	अपकर्षण "	ऊपर तुल्य
३	अधः प्रवृत्त संक्रमण द्वारा हत	पल्य/असं० गुणा
	ज० सं० उ० योगों का गुणकार	"
	कर्म स्थितिकी नाना गुणहानि शलाका	पल्य के अर्द्धच्छेद रूप असं० गुणा
	पल्य के अर्धच्छेद	विशेषाधिक
	पल्य का प्रथम वर्गमूल	असं० गुणा
	कर्म स्थिति की एक गुणहानि के समयों का परिमाण	"
	कर्म स्थिति की अन्योन्याभ्यस्त राशि	"
	पल्य	"
	कर्म की उत्कृष्ट स्थिति	७००×क्रोड़×क्रोड़×क्रोड़×क्रोड़ गुणा
४	विध्यात संक्रमण का भागहार	असं० गुणा गुणकार = सूच्यंगु/असं०
५	उद्वेलना का भागहार	"
	कर्मों के अनुभाग की नाना गुण हानि शलाका	अनन्त गुणी
	कर्मानुभाग की एक गुण हानि का आयाम	"
	कर्मानुभाग की द्वयर्ध गुण हानि का आयाम	१½ गुणी
	कर्मानुभाग की २ गुण हानि	एक गुणहानि से दुगुनी
	कर्मानुभाग की अन्योन्याभ्यस्त राशि	अनन्त गुणी

११. अष्ट कर्मबन्ध उदय सत्त्वादि १० करणों की अपेक्षा भुजगारादि पदों में ओघ आदेश अल्पबहुत्व प्ररूपणा—

नोट—इस सारणी में केवल शास्त्र के पृष्ठादि ही दर्शाये गये हैं। अतः उस उस प्ररूपणा को देखने के लिए शास्त्रका वह वह स्थान देखिये।

नं० विषय	प्रकृति विषयक		स्थिति विषयक		अनुभाग विषयक		प्रदेश विषयक	
	मूल प्र०	उत्तर प्रकृति	मूल प्र०	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति
१. अष्ट कर्मों की उदीरणा सम्बन्धी अल्पबहुत्व की ओघ आदेश प्ररूपणाः—(ध. १५/पृ०)								
१. स्वामित्व सामान्य	४७	८०-८१	—	१४७-१५७	—	२१६-२३१	—	२६१-२६४व
२. ८, ७ आदि प्रकृतियों की उदीरणा								२७४-२७५
रूप भंगों का स्वामित्व	५०	८५	—	—	—	—	—	—
३. भुजगारादि पदों की अपेक्षा	५३	९७	—	१६२-१६४	—	२३६-२३७	—	२६१-२६४
४. ज० उ० वृद्धि हानि की अपेक्षा	—	—	—	१६४-१७०	—	२४९-२५२	—	२७१-२७३
२. अष्ट कर्मों के उदय सम्बन्धी अल्प बहुत्व की ओघ आदेश प्ररूपणाः—(ध.१५/पृ०)								
१. स्वामित्व सामान्य अपेक्षा	२८५	२८८-२८९	२९४	२९५	२९६	२९६	२९६	३०९-३२४
२. भुजगारादि पदों का स्वामित्व	—	—	"	"	"	"	"	६२९
३. पद निक्षेप सामान्य की अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	३३५
४. पद निक्षेपों के स्वामित्व की	—	—	"	"	"	"	"	—
५. वृद्धि हानि की अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	—
६. " " के स्वामित्व की	—	—	"	"	"	"	"	—
३. अष्ट कर्म उपशमना सम्बन्धी अल्पबहुत्व की ओघ आदेश प्ररूपणाः—(ध. १५/पृ०)								
१. स्वामित्व सामान्य अपेक्षा	२७७	२७९						
२. भुजगारादि की अपेक्षा	"	"						
३. अन्य सर्व विकल्पों की अपेक्षा	२८०	२८०	२८१	२८१	२८२	२८२	२८२	२८२
४. अष्ट कर्म संक्रमण सम्बन्धी अल्प बहुत्व की ओघ आदेश प्ररूपणाः—(ध.१५/पृ०)								
१. सर्व विकल्पों की अपेक्षा	२८३	२८३	२८३	२८३	२८४	२८४	२८४	२८४
५. अष्ट कर्म बन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व की ओघ आदेश प्ररूपणाः—(म० बं०/पु०/पृ०)								
१. बन्ध अबन्धक जीव सा०		१/४१४-५३६		२/२-१८				
२. ज० उ० पदों के बन्धक			२/२२३-२७०	३/५६७-६११	४/२६०-२६६	५/४१७-४५०	६/९९-१००	
३. भुजगारादि पदों के बन्धक			२/३३८-३४२	३/८०८-८३१	४/३०३-३०८	५/५४८-५६२	६/१४३-१४५	
४. ज० उ० वृद्धि हानि के बन्धक			२/३५३-३५६		४/३४२-३५२	५/६०५-६१०	६/१५३	
५. षट्स्थान " " " "			२/४०६-४१४	३/९५७-९७८	४/३६८-३७०	५/६२५-	६/१५७-१६४	
६. बन्ध अध्यवसाय स्थानों में				३/९८२-९९२		५/६२८-६४४		
६. मोहनीय कर्म सत्त्व सम्बन्धी अल्प बहुत्वकी स्व पर स्थानीय ओघ आदेश प्ररूपणाः—(म० बं०/पु० पृ०)								
१. ज० उ० पदों के बन्धक			३/१६४-१६८	३/८७१-९१६	५/१३९-१४०	५/४२९-४७०		
२. भुजगारादि पदोंके बन्धक २/४६१-४७२			३/२२४-२२५	४/१७७-१९५	५/१६१	५/५१०-५१३		
३. ज० उ० वृद्धि हानि रूप पदोंके बन्धक २/४८२-४८४			३/२४१-२४५	४/२०४-२२२		५/५६६-५६९		
४. षट्स्थान वृद्धि हानि रूप पदोंके बन्धक २/५३३-५३९			३/३४३-३५४	४/४६०-६०६	५/१८५			
५. बन्धक सामान्य का प्रमाण १/३३९-३९४								
६. प्रकृति सत्त्व असत्त्वका स्वामित्व २/१८७-२०६								
७. २८-२४ आदि सत्त्व स्थानों के काल की अपेक्षा २/३८४-३९०				४/६१६-६४०				
८. उपरोक्तके स्वामित्वकी अपेक्षा २/३९१-४१६								
९. हतसमुत्पत्तिकादि पदोंके स्वामी					५/१८८			
१०. ज० उ० वृद्धि हानि पदोंकी अपेक्षा					५/१६७-१६८	५/५२६-५३०		

७. अष्टकर्म बन्ध वेदना में स्थिति, अनुभाग, प्रदेश व प्रकृति बन्धों की अपेक्षा ओघ आदेश स्वपर स्थान अल्पबहुत्व प्ररूपणा :—

क्रम	प्रमाण	विषय
१. स्थिति बन्ध वेदना :—		
१	ष. खं. ११/४,२,६/ सू ३५/-३५/१३७-१३९	अष्ट कर्मकी जघन्य उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी स्थिति वेदना की परस्थान प्ररूपणा
२	ष. खं. ११/४,२,६/ सू १२३-१६४/२०७-२७९	,, ,, ,, ,, आबाधा व काण्डकों सम्बन्धी स्व पर स्थान प्ररूपणा सामान्य
३	(ध. ११/४,२,६/सू१६४/२८०-३०८)	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, विशेष
४	ष. खं. ११/४,२,६/सू १८२-२०३/३२१-३३२	साता असाता के द्वि, त्रि, चतु आदि स्थानोंके अनुभाग बन्धक जीव विशेषों में अष्टकर्म की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी पदों का परस्थान अल्पबहुत्व
५	ष. खं. ११/४,२,६/सू २०६-२३८/३३४-३४४	उपरोक्त जीवों में अष्टकर्मों के स्थिति बन्ध स्थानों का परस्थान अल्प बहुत्व
६	ष. खं. ११/४,२,६/सू २४१-२४५/३४६-३४९	अष्टकर्म स्थिति बन्ध के सामान्य अध्यवसाय स्थानों सम्बन्धी परस्थान प्ररूपणा
७	ष. खं. ११/४,२,६/सू २५२-२६९/३५२-३६२	,, ,, ,, के जघन्य उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थानों सम्बन्धी परस्थान प्ररूपणा
८	ष. खं. ११/४,२,६/सू २७२-२७९/३६६-३६८	,, ,, ,, ,, ,, स्थानों के योग्य तीव्र मन्द परिणामों सम्बन्धी प्ररूपणा
९	म. ब. २/सू. २/२	१४ जीव समासों में मूल प्रकृति स्थिति बन्ध स्थानों सम्बन्धी प्ररूपणा
१०	म. ब. २/सू ५-१६/६-१२	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, में प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक के निषेकों सम्बन्धी प्ररूपणा।
११	म. ब. २/सू १८-२२/१३-१६	१४ जीव समासों में मूल प्रकृति के ज० उ० स्थिति बन्ध स्थानों, आबाधा स्थानों, व काण्डकों सम्बन्धी प्ररूपणा।
१२	म. ब. २/सू १९-२१/२२८-२२९	नं० १० वत् ही परन्तु उत्तर प्रकृति की अपेक्षा
१३	म. ब. २/सू २३-२४/२३०	नं० १२ वत् ही ,, ,, ,, ,, ,,
(२) अनुभाग बन्ध वेदना :—		
१	ष. खं. १२/४,२,७/सू ४०-६४/ अन्तर सूत्र १-३/३१-४४	अष्टकर्म मूलोत्तर प्रकृति के ज० उ० अनुभागोदय सम्बन्धी स्वपर स्थान प्ररूपणा।
२	ष. खं. १२/४,२,७/सू ६५-११७/४४-५९	अष्टकर्म उत्तर प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध की पर स्थान प्ररूपणा।
३	ध. १२/४,२,७,११७/६०-६२	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, स्व ,, ,,
४	ष. खं. १२/४,२,७/सू ११८-१७४/६५-७५	,, ,, ,, ,, जघन्य ,, ,, ,, पर ,, ,,
५	ध. १२/४,२,७,१७४/७५-७८	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, स्व ,, ,,
६	ध. १२/४,२,७,२०१/११४-१२७	१४ जीव समासों में ज० उ० अनुभाग बन्ध स्थानों के अन्तर सम्बन्धी प्ररूपणा।
७	ध. १२/४,२,७,२०२/१२८	,, ,, ,, ,, ज०, अनु०, बन्ध व ज० अनु० सत्त्व सम्बन्धी पर स्थान प्ररूपणा।
८	ष. खं. १२/४,२,७/सू. २३६-२४०/२०५-२०७	यव मध्य रचना क्रम में अनुभाग बन्ध अध्यवसाय स्थानों सम्बन्धी प्ररूपणा। (ष. खं. १२/४,२,७/सू. २९०-२९२/२६६-२६७)।
९	ष. ख. १२/४,२,७/सू २७६-२८९/२४७-२६५	ज० उ० बन्ध अध्यवसाय के सामान्य स्थानों में जीवों के प्रमाण सम्बन्धी प्ररूपणा। (ष. खं. १२/४,२,७/सू ३०४-३१४/२७२-२७४)
१०	ष. ख. १२/४,२,७/सू २९३-३०३/२६७-२७२	अनुभाग बन्ध अध्यवसाय स्थानों में जीवों के स्पर्शन काल सम्बन्धी प्ररूपणा।
(३) प्रदेश बन्ध वेदना :—		
१	ध. १०/११७-१२१	अष्टकर्म प्रकृतियों के ज० उ० प्रदेशोंके सत्त्व सम्बन्धी प्ररूपणा।
२	ष. खं. १०/४,२,४/सू. १२४-१४३/३८५-३९४	,, ,, ,, ,, ,, पदों सम्बन्धी प्ररूपणा।
३	ष. खं. १०/४,२,४/सू १७४/४३१	प्रदेश बन्ध का अल्पबहुत्व योग स्थानों के अल्पबहुत्व वत् ही है।
४	ध. १०/४,२,४,१८१/४४८/१६	प्रथमादि योग वर्गणाओं में जीव प्रदेशों सम्बन्धी प्ररूपणा।
५	ध. १०/४,२,४,१८६/४७९	योग वर्गणाओं के अविभाग प्रतिच्छेदों सम्बन्धी प्ररूपणा।
६	ध. १०/४,२,४,२०५/५०२/	योगों में गुण हानि वृद्धि सम्बन्धी प्ररूपणा।
७	ध. १०/४,२,४,२८/९५-९८	ज० उ० योग स्थानों में स्थित जीवों के प्रमाण सम्बन्धी प्ररूपणा।
८	ध. ११/४,२,५,१७/३३/१	उत्कृष्टादि क्षेत्रों में स्थित जीवों सम्बन्धी प्ररूपणा।
९	ध. १२/४,२,७,१९९/१०२-१०४,११०	ज० उ० वर्गणाओं में दिये गये कर्म प्रदेशों सम्बन्धी परस्थान प्ररूपणा।
(४) प्रकृति बन्ध वेदना :—		
१	ष. खं. १२/४,२,१६/सू १-२६/५०१-५१२	अष्ट कर्म मूलोत्तर प्रकृतियों के असंख्याते भेदों सम्बन्धी परस्थान प्ररूपणा।
२	ष. खं. १३/५,५/सू १२४-१३२/३८४-३८७	चारों गति सम्बन्धी आनुपूर्वी नाम कर्म प्रकृति के भेदों की परस्थान प्ररूपणा।

अल्प सावद्य—दे० सावद्य।

अवंति—मालवा नरेश थे। अवन्ती या उज्जैनी राजधानी थी। आप प्रसिद्ध राजा पालकके पिता थे जो वीर निर्वाणके समय राज्य करते थे। तदनुसार आपका समय—वी. नि. पू. १००-६० (ई. पू. ६२६-५८६) आता है—दे० इतिहास/२/१। (ह. पु./६०/४८८); (क. पा. १/प्र. ५१/पं० महेन्द्रकुमार)

अवंति कामा—भरत क्षेत्रमें आर्य खण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

अवंति वर्मा—कशमीर नरेश—समय=ई० ८८४ (ज्ञा०/प्र ६/पं० पन्ना लाल बाकलीवाल)।

अवंती—१. भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४. २. वर्तमान उज्जैनका पार्श्ववर्ती देश। उज्जैनी इसकी राजधानी है। पहिले यह नगर वर्तमान मालवा प्रान्त में ही सम्मिलित था। (म. पु./प्र. ४८/पं० पन्नालाल)।

अवक्तव्य—ध. १/४,१,६६/२७४/२४ दोरूवेसु वग्गिदेसु वड्ढिदंसणादो दोण्णं णणो कदित्तं। तस्सो मूलमवणिय वग्गिदे ण वड्ढदि, पुव्विल्लारासी चेव होदि; तेण दोण्णं ण कदित्तं पि अत्थि। एदं मणेण अवहारिय दुवे अवत्तव्वमिदि वुत्तं। ऐसा विदियगणणजाई। =दो रूपोंका *वर्ग करनेपर चूँकि वृद्धि देखी जाती है, अतः दोको नोकृति* नहीं कहा जा सकता। और चूँकि उसके वर्गमेंसे मूलको कम करके वर्गित करनेपर वह वृद्धिको प्राप्त नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त राशि हो रहती है, अतः 'दो' कृति भी नहीं हो सकता। इस बातको मनसे निश्चित कर 'दो संख्या अवक्तव्य है' ऐसा सूत्रमें निर्दिष्ट किया है।

*** वस्तुकी कथंचित् वक्तव्यता अवक्तव्यता**—दे० सप्तभंगी/६।

अवक्तव्य नय—*४७ नयोंमें-से एक—दे० नय/१।*

अवक्तव्य बंध—दे० प्रकृति बन्ध/१।

अवक्तव्य भंग—दे० सप्तभंगी/६।

अवक्तव्यवाद—**१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा** :—यु. अनु./२८ उपेयतत्त्वाऽनभिलाप्यता वद्द-उपायतत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात्। अशेषतत्त्वाऽनभिलाप्यतायां, द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः। –हे *भगवन् ! आपको युक्तिको अभिलाप्यताके जो दोषी हैं, उन द्वेषियों*-की इस मान्यतापर कि सम्पूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य हैं, उपेयतत्त्वकी अवाच्यताके सामान्य उपायतत्त्व भी सर्वथा अवाच्य हो जाता है।

स्व./स्तो./१०० ये ते स्वघातिनं दोषं शमीकर्त्तुमनीश्वराः। त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥१००॥ =वे एकान्तवादी जन जो उस स्वघाती दोषको दूर करनेके लिये असमर्थ हैं, आपसे द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं, और बालक हैं। उन्होंने तत्त्वकी अवक्त-*व्यताको आश्रित किया है।*

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा :—पं. ध./पू./७४७ तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्। गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिक-नयस्य पक्षोऽयम् ॥७४७॥ –'तत्त्व अनिर्वचनीय है' यह शुद्ध द्रव्या-*र्थिकनयका पक्ष है; तथा 'गुणपर्यायवाला तत्त्व है'* यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है। (और भी दे० अवक्तव्य नय)। ३. वक्तव्य अवक्त-व्यका समन्वय—दे० सप्तभंगी/६।

अवक्रांत—*प्रथम नरकका १२वां पटल—दे० नरक/५।*

अवगाढ रुचि—दे० सम्यग्दर्शन I/१।

अवगाढ सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन I/१।

अवगाह—Depth (गहराई)।

स. सि./५।१८/२८४ जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्योपकारो वेदितव्यः। =अवगाह करनेवाले जीव और *पुद्गलोंको अवकाश देना आकाशका उपकार जानना चाहिये।* (गो. जी./जी. प्र./६०५/१०६०/३)

अवगाह क्षेत्र—दे० क्षेत्र।

अवगाहन—**१. सर्व द्रव्योंमें अवगाहन गुण :**

का. अ./मू./ २१४-२१५. सव्वाणं दव्वाणं अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं। जहभसमपाणियाणं जीव पएसाण बहुयाणं ॥२१४॥ जदि ण हवदि सा सत्ती सहावभूदा हि सव्वदव्वाणं। एक्केक्कास-पएसे *कहं ता सव्वाणि वट्टंति* ॥२१५॥ =वास्तवमें सभी द्रव्योंमें अवकाश देनेकी शक्ति है। जैसे भस्ममें और जलमें अवगाहन शक्ति है, वैसे ही जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें जानो ॥२१४॥ यदि सब द्रव्योंमें स्वभावभूत अवगाहन शक्ति न होती तो एक आकाशके प्रदेशमें सब द्रव्य कैसे रहते ॥२१५॥

पं. ध./पू०/१८६, १८१ यत्तत्त्वविसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव। अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥१८६॥ अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम्। अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥१८१॥ –जो उन परिणामोंमें विसदृशता होती रहती है, वह केवल सत्के अंशोंके तदवस्थ रहते हुए भी, अपनी-अपनी जातिको उल्लंघन न करके, उस देशके अंशोंमें ही क्रम पूर्वक आकारसे आकारान्तर होनेसे होती है, जो कि अवगाहन गुणके निमित्तसे होती है ॥१८६॥ जैसे कि ज्ञान अपने अंशोंसे हीन अधिक न होते हुए भी, ज्ञेयाकार होनेके कारण हीन अधिक होता है ॥१८१॥

२. सिद्धोंका अवगाहन गुण :

प. प्र./टी./६१।१३ एकजीवावगाहप्रदेशे अनन्तजीवावगाहदानसामर्थ्यम-*वगाहनत्वं भण्यते। =एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें अनन्ते जीव समा जायें, ऐसी अवकाश देनेकी सामर्थ्य अवगाहनगुण है।*

द्र. सं/टी./१४/४३/१ एकदीपप्रकाशे नानादीपप्रकाशवदेकसिद्धक्षेत्रे संकरव्यतिकरदोषपरिहारेणानन्तसिद्धावकाशदानसामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते। =एक दीपके प्रकाशमें जैसे अनेक दीपोंका प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक सिद्धके क्षेत्रमें संकर तथा व्यतिकर दोषसे रहित जो अनन्त सिद्धोंको अवकाश देनेकी सामर्थ्य है वह अवगाहन गुण है।

*** अवगाहन गुणकी सिद्धि व लोकाकाशमें इसका महत्त्व**—दे० आकाश/३।

अवगाहना—जीवोंके शरीरकी ऊँचाई लम्बाई आदिको अवगाहना कहते हैं। इस अधिकारमें जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहनावाले जीवोंका *विचार किया गया है।*

१	**अवगाहना निर्देश**
१	अवगाहनाका लक्षण।
२	उत्कृष्ट अवगाहनावाले जीव अन्तिम द्वीप सागरमें ही पाये जाते हैं।
३	विग्रह गतिमें जीवोंकी अवगाहना।
४	जघन्य अवगाहना तृतीय समयवर्ती निगोदमें ही सम्भव है।
*	सूक्ष्म व स्थूल पदार्थोंकी अवगाहना विषयक —दे० सूक्ष्म/३

१. अवगाहना निर्देश

१. अवगाहनाका लक्षण

स. सि./१०/१/४७२/११ आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम्। तद्द्विविधम्—उत्कृष्टजघन्यभेदात्। —आत्मप्रदेशमें व्याप्त करके रहना, उसका नाम अवगाहना है। वह दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट।

२. उत्कृष्ट अवगाहनावाले जीव अन्तिम द्वीप व सागरमें ही पाये जाते हैं।

ध. ४./१,३,२/३३/४ सयंपहपव्वयपरभागट्ठियजीवाणमोगाहणा महल्लेत्ति जाणावणमुत्तमेतत्। सयंपहणगिंदपव्वदस्स परदो जहण्णोगाहणा वि जीवा अत्थि त्ति चे ण मूलग्गसमासं काऊण अद्धं कदे वि संखेज्जघणंगुलदंसणादो। - स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें स्थित जीवोंकी अवगाहना सबसे बड़ी होती है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए यह गाथा सूत्र है। प्रश्न—स्वयंप्रभनगेन्द्र पर्वतके उस ओर जघन्य अवगाहनावाले भी जीव पाये जाते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जघन्य अवगाहनारूपमूल अर्थात् आदि और उत्कृष्ट अवगाहनारूप अन्त, इन दोनोंको जोड़कर आधा करनेपर भी संख्यात घनांगुल देखे जाते हैं।

३. विग्रहगतिमें जीवोंकी अवगाहना

ध.४/१,३,२/३०/२ विग्गहगदीए उप्पण्णाणं उजुगदीए उप्पणपढमसमयओगाहणाए समाणा चेव ओगाहणा भवदि। णवरि दोण्हमोगाहणाणं संठाणे समाणत्तणियमो णत्थि। कुदो। आणुपुव्विसंठाणणामकम्मेहि जणिदसंठाणाणमेगत्तविरोधा। —विग्रहगतिसे उत्पन्न हुए जीवोंके, ऋजुगतिसे उत्पन्न जीवोंके प्रथम समयमें होनेवाली अवगाहनाके समान ही अवगाहना होती है। विशेषता केवल इतनी है कि दोनों अवगाहनाओंके आकारमें समानताका नियम नहीं है, क्योंकि आनुपूर्वी नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले और संस्थान नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले संस्थानोंके एकत्वका विरोध है। (विग्रह गतिमें जीवोंका आकार आनुपूर्वी नाम कर्मके उदयसे पूर्व भववाला ही रहता है। वहाँ संस्थान नाम कर्मका उदय नहीं है। भव धारण कर लेनेपर संस्थान नामकर्मका उदय हो जाता है, जिसके कारण नवीन आकार बन जाता है—दे० उदय/४/६/२)।

४. जघन्य अवगाहना तृतीय समयवर्ती निगोदमें ही सम्भव है

ध. ११/४,२,५,२०/३४/८ पढमसमयआहारयस्स पढमसमयतब्भवत्थस्स जहण्णक्खेत्तसामित्तं किण्ण दिज्जदे। ण, तत्थ आयदचउरस्सक्खेत्तागारेण ट्ठिदम्मि ओगाहणाए त्थोवत्ताणुववत्तीदो।...बिदियसमयआहारयबिदियसमयतब्भवत्थस्स जहण्णसामित्तं किण्ण दिज्जदे। ण तत्थ समचउरससरूवेण जीवपदेसाणमवट्ठाणादो। बिदियसमए विक्खंभसमो आयामो जीवपदेसाणं होदि त्ति कुदो णव्वदे। परमगुरूवदेसादो। तदियसमयआहारयस्स तदियसमयतब्भवत्थस्स चेव जहण्णक्खेत्तसामित्तं किमट्ठं दिज्जदे। ण एस दोसो, चउरंसखेत्तस्स चत्तारि वि कोणे संकोडिय वट्टुलागारेण जीवपदेसाणं तत्थावट्ठाणदंसणादो। =प्रश्न—प्रथमसमयवर्ती आहारक (अर्थात् ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेवाला) और प्रथमसमयवर्ती तद्भवस्थ हुए निगोद जीवके जघन्य क्षेत्रका स्वामीपना क्यों नहीं देते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उस समय आयत चतुरस्र क्षेत्रके आकारसे स्थित उक्त जीवमें अवगाहनाका स्तोकपना बन नहीं सकता। प्रश्न—द्वितीय समयवर्ती आहारक और द्वितीय समयवर्ती तद्भवस्थ होनेवाले जीवके जघन्य (क्षेत्रका) स्वामीपना क्यों नहीं देते? उत्तर—नहीं क्योंकि उस समयमें भी जीवप्रदेश समचतुरस्र स्वरूपसे अवस्थित रहते हैं। प्रश्न—द्वितीय समयमें जीवके प्रदेशोंका आयाम उसके विष्कम्भके समान होता है, यह कैसे जाना? उत्तर—परमगुरुके उपदेशसे जाना। प्रश्न—तृतीय समयवर्ती आहारक और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ निगोद जीवके ही जघन्य क्षेत्रका स्वामीपना किसलिए देते हो? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उस समयमें चतुरस्र क्षेत्रके चारों ही कोनोंका संकुचित करके जीव प्रदेशोंका वर्तुलाकारसे (गोल आकारसे) अवस्थान देखा जाता है।

२. अवगाहना सम्बन्धी प्ररूपणाएँ

१. नरक गति सम्बन्धी प्ररूपणा

संकेत—ध०—धनुष; हा०=हाथ; अंगु०=अंगुल। गणना—१ धनुष=४ हाथ; १ हाथ=२४ अंगुल। प्रमाण—(मू. आ./१०५५-१०६१); (स. सि./३/३/२०७) (ति. प./२/२१७-२७०); (रा. वा./३/३/४/१६४/१५) (ह. पु./४/२९५-३४०); (ध. ४/१,३,५/५८-६२); (त. सा./२/१३६); (त्रि. सा./२०१), (म. पु./१०/९४) (द्र. सं./टी./३५/११६/८)—ध ४ के आधारपर—

पटल सं०	प्रथम पृथिवी			द्वितीय पृथिवी			तृतीय पृथिवी		
	ध०	हा०	अंगु०	ध०	हा०	अंगु०	ध०	हा०	अंगु०
१	०	३	०— ०	८	२	२— २/११	१७	१	१०—२/३
२	१	१	८—/२	९	—	२२— ४/११	१९	—	९—१/३
३	१	३	१७— ०	९	३	१८— ६/११	२०	३	८— ०
४	२	२	१—१/२	१०	२	१४— ८/११	२२	२	६—२/३
५	३	—	१०— ०	११	१	१०—१०/११	२४	१	५—१/३
६	३	२	१८—१/२	१२	—	७— १/११	२६	—	४— ०
७	४	१	३— ०	१२	३	३— ३/११	२७	३	२—२/३
८	४	३	११—१/२	१३	१	२३— ५/११	२९	२	१—१/३
९	५	१	२०— ०	१४	—	१९— ७/११	३१	१	—
१०	६	—	४—१/२	१४	३	१५— ९/११			
११	६	२	१३— ०	१५	२	१२—०			
१२	७	—	२१—१/२						
१३	७	३	६— ०						

पृथिवी नं०	चतुर्थ पृथिवी			पंचम पृथिवी			षष्ठ पृथिवी			सप्तम पृ०
	ध०	हा०	अंगु०	ध०	हा०	अं०	ध०	हा०	अंगु०	ध०
१	३५	२	२०–४/७	७५	—	—	१६६	२	१६–०	५००
२	४०	—	१७–१/७	८७	२	—	२०८	१	८–०	
३	४४	२	१३–५/७	१००	—	—	२५०	—	–	
४	४६	—	१०–२/७	११२	२	—				
५	५३	२	६–६/७	१२५	—	—				
६	५८	—	३–३/७							
७	६२	२	—							

३. पृथिवी आदि कायिकोंकी जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना

संकेत—सू.=सूक्ष्म; बा.=बादर; असं.०=असंख्यात। **प्रमाण**—(मू० आ./१०८७)।

क्रम	काय	समास	जघन्य	उत्कृष्ट
१	पृथिवी	सू० बा०	घनांगुल/असं०	द्रव्यांगुल/असं०
२	अप्, तेज	”	”	”
३	वायु	”	”	”

२. तिर्यंचगति सम्बन्धी प्ररूपणा

१. एकेन्द्रियादि तिर्यंचोंकी जघन्य अवगाहना

संकेत—असं०=असंख्यात; सं०=संख्यात।

प्रमाण—(मू.आ./१०६६) (ति.प./५/३१८/विस्तार) (ध.४/१,३,२४-३३) (त.सा./२/१४५); (गो.जी./मू.६४/२१५)—ति.प.के आधारपर

क्रम	मार्गणा	जघन्य अवगाहना	
		अवगाहना	अपेक्षा
१	एकेन्द्रिय	घनांगुल/असं०	जन्मके तृतीयसमयवर्ती सूक्ष्म लब्ध्यप्ति निगोद
२	द्वीन्द्रिय	घनांगुल/सं०	अनुन्धरी
३	त्रीन्द्रिय	घनांगुल/सं० उपरोक्त×सं०	कुन्थु
४	चतुरिन्द्रिय	उपरोक्त×सं०	काणमक्षिका
५	पंचेन्द्रिय	”	तन्दुलमच्छ

२. एकेन्द्रियादि तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट अवगाहना

संकेत—यो०=योजन (४ कोश); को०=कोश।

प्रमाण—(मू.आ./१०७०-१०७१) (ति.प./५/३१५-३१८) (ध.४/१,३,२/-३३-४५) (त.सा./२/१४२-१४४) (गो.जी./मू./६५-६६/२१६-२२१)—ति.प.के आधार पर

इन्द्रिय	अवगाहना			अपेक्षा	विशेष
	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई		
१	१०००यो	१ यो०	१यो०	कमल	स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यवर्ती भागमें उत्पन्न
२	१२यो०	४ यो०	१ १/४यो.	शंख	” ” समुद्र ” ” ”
३	३को०	३/८को०	३/१६को.	कुम्भी या सहस्रपद	” ” द्वीपके अपरभागमें उत्पन्न
४	१यो०	३/४यो०	१/२यो०	भँवरा	” ” ” ” ” ”
५	१०००यो	५००यो०	२५०यो०	महा-मत्स्य	” ” समुद्रके मध्यवर्ती भागमें उत्पन्न

४. सम्मूर्च्छन व गर्भजकी उत्कृष्ट अवगाहना

(मू.आ./१०८४-१०८६) (ह.पु./५/६३०)।

क्रम	मार्गणा	सम्मूर्च्छन		गर्भज	
		अपर्याप्त	पर्याप्त	अपर्याप्त	पर्याप्त
१	जलचर	१बालिश्त		४-८धनुष	
२	महा-मत्स्य		योजन १०००×५००×२५०		योजन ५००×२५०×१२५
३	थलचर	”	४–८ धनुष	”	३ कोश
४	नभचर	”	”	”	४–८ धनुष

नोट—गर्भजोंकी अवगाहना सर्वत्र सम्मूर्च्छनोंसे आधी जानना

५. जलचर जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना

(ह.पु./५/६३०-६३१)।

स्थान	तीर पर			मध्य में		
	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई
लवण समुद्र	९ यो०	(४ १/२)	(२ १/४)	१८ यो०	(९)	(४ १/२)
कालोद समुद्र	१८ यो०	(९)	(४ १/२)	३६ यो०	(१८)	(९)
स्वयंभू रमण	५००यो०	(२५०)	(१२५)	१०००	५००	२५०

६. १४. जीव समासों की अपेक्षा अवगाहना यंत्र

संकेत :—सू=सूक्ष्म; बा० = बादर; प० = पर्याप्त; अप० = अपर्याप्त; आ०/असं० = आवली का असंख्यातवाँ भाग पल्य/असं० = पल्य+असंख्यात; पृ० = पृथ्वी; ज० = जघन्य;

$\times$ = पूर्व स्थान + $\frac{\text{पूर्व स्थान}}{\text{आ०/असं०}}$

$*$ = पूर्व स्थान + $\frac{\text{पूर्व स्थान}}{\text{पल्य/असं०}}$

प्रमाण :—(मू० आ०/१०८७); (ति० प०/५/३१८ विस्ता० (गो० जी०/जी० प्र०/६७-१०१/२२३-२४३)

कुल स्थान = ६४

स्थान = ५ (सू.अप.ज.)	स्थान = ६ (बा.अप.ज.)	स्थान = ५ (अप.ज.)	स्थान = ५ (सू.प.ज.)	स्थान = ६ (बा.प.ज.)	स्थान = ५ (प.ज.)	स्थान = ५ (अप.उ.)	स्थान = ५ (प.उ.)
सूक्ष्म निगोद १	बादर वात = ६	अप्र.प्रत्येक १२	सूक्ष्म निगोद १७	बादर वात ३२	अप्र.प्रत्येक ५०	तेन्द्रिय = ५५	तेन्द्रिय ६०
// वात २	// तेज = ७	बेइंद्री = १३	// वात = २०	// तेज = ३५	बेन्द्रिय ५१	चौन्द्रिय = ५६	चौन्द्रिय ६१
// तेज ३	// अप् = ८	तेइन्द्रि = १४	// तेज २३	// अप् = ३८	तेन्द्रिय = ५२	बेन्द्रिय = ५७	बेन्द्रिय = ६२
// अप् ४	// पृथ्वी = ९	चतुरेन्द्रि = १५	// अप् = २६	// पृथ्वी = ४१	चौन्द्रिय = ५३	अप्रतिष्ठित = ५८	अप्र.प्रत्येक = ६३
// पृथ्वी ५	// निगोद = १०	पंचेन्द्रिय = १६	// पृथ्वी = २९	// निगोद = ४४	पञ्चेन्द्रिय = ५४	पञ्चेन्द्रिय = ५९	पञ्चेन्द्रिय = ६४
प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः आ./असं.	// प्र.प्रत्येक = ११ प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः पल्य/असं.	प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः पल्य/असं.	प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः ×	प्र.प्रत्येक = ४७ प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः *	प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः पल्य/सं.	प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः पल्य/सं.	प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः पल्य/सं.

स्थान = ५ (सू.अप.उ.)	स्थान = ६ (बा.अप.उ.)
निगोद = १८	वात = ३३
वात = २१	तेज = ३६
तेज = २४	अप् = ३९
अप = २७	पृथ्वी = ४२
पृथ्वी = ३०	निगोद = ४५
प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः ×	प्र.प्रत्येक = ४८ प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः *

स्थान = ५ (सू.प.उ.)	स्थान = ६ (बा.प.उ.)
निगोद = १९	वात = ३४
वात = २२	तेज = ३७
तेज = २५	अप = ४०
अप् = २८	पृथ्वी = ४३
पृथ्वी = ३१	निगोद = ४६
प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः ×	प्र.प्रत्येक = ४९ प्रति स्थान वृद्धि क्रमशः *

६. १४ जीव समासों की अपेक्षा अवगाहना की मत्स्य रचना

नोट व संकेत : १ रचना का क्रम (देखो ऊपर) २ एक स्थानकी दो बिन्दी = उस स्थानमें जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त अवगाहनाके सर्व भेद ३ * दो दो स्थानों में बिन्दी = प्रति अवगाहना जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थान व अवक्तव्य वृद्धि। ४ दो बिन्दीके बीच का अन्तराल = प्रति अवगाहना स्थान अवक्तव्य वृद्धि। ५ दो बिन्दियों के बीच के स्थान = मध्यम स्थान।
(ति० प/५/३१८ विस्तर); (गो० जी०/जी० प्र/११२/२७४)।

२ ४ ६ ८ १० १२ १४ १६ १८ २० २२ २४ २६ २८ ३० ३२ ३४ ३६ ३८ ४० ४२ ४४ ४६ ४८ ५० ५२ ५४ ५६ ५८ ६० ६२ ६४
१ ३ ५ ७ ९ ११ १३ १५ १७ १९ २१ २३ २५ २७ २९ ३१ ३३ ३५ ३७ ३९ ४१ ४३ ४५ ४७ ४९ ५१ ५३ ५५ ५७ ५९ ६१ ६३

सू.अ.नि.ज. xxxxxxxx ३४ उ.
बा.ज. xxxxxxxx ३८ उ.
ते.ज. xxxxxxxx ४२ उ.
अप्.ज. xxxxxxxx ४६ उ.
पृ.ज. xxxxxxxx ५० उ.
बा.अ.वा.ज. xxxxxxxx ५४ उ.
ते.ज. xxxxxxxx ५८ उ.
अप्.ज. xxxxxxxx ६२ उ.
पृ.ज. xxxxxxxx ६६ उ.
नि.ज. xxxxxxxx ७० उ.
प्र.ज. xxxxxxxx ७४ उ.
अ.अप्र.ज. xxxxxxxx ७८ उ.
द्वि.ज. xxxxxxxx ८८ उ.
त्रि.ज. xxxxxxxx ८२ उ.
चतु.ज. xxxxxxxx ८२ उ.
पं.ज. xxxxxxxx ८६ उ.

सू.प.ज. xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxx xxxxxxxx २६ उ.
नि. वात ते. अप्. पृ. | वात ते. अप्. पृ. नि. प्र.प्रत्येक xxxxxxxx २२ उ.
बा.प.ज.
प. अप्र.प्रत्येक xxxxxxxx १६ उ.
प. द्वि.ज. xxxxxxxx १६ उ.
प. त्रि.ज. xxxxxxxx २० उ.
प. च.ज. — पं.प.ज.

३. मनुष्य गति सम्बन्धी प्ररूपणा

१. भरतादि क्षेत्रों तथा कर्म व भोग भूमिकी अपेक्षा अवगाहना

गणना—२००० धनुषका १ कोश

प्रमाण—१. (मू.आ./१०६३,१०८७); २. (स.सि./3/२९-३१); ३.(ति.प./४/गा. नं०); ४. (रा.वा./३/२९-३१/१९२); ५. (ध.४/१,३,२/४५); ६. (ज.प./११/५४); ७. (त.सा./२/१३७)

प्रमाण		अधिकरण		अवगाहना	
ति० प० गा.	अन्य प्रमाण	क्षेत्र निर्देश	भूमि निर्देश	जघन्य	उत्कृष्ट
	२,५,७	भरत-ऐरावत	कर्मभूमि	३½ हाथ	५२५ धनु
४०४	१,२	हैमवत हैरण्यवत	जघन्य भोग	५२५,५०० धनु	२००० धनु
३९६	१,२	हरि-रम्यक	मध्यम भोग	२००० धनु	४००० धनु
२२५६	२,५	विदेह	उ० कर्म भूमि	५०० धनु	५०० धनु
३३५	१,२	देव व उत्तर कुरु	उत्तम भोग	४००० धनु	६००० धनु
२५१३	६	अन्तर्द्वीप	कुभोग	५०० धनु	२००० धनु

२. सुषमा आदि छः कालोंकी अपेक्षा अवगाहना

काल निर्देश	अवसर्पिणी			उत्सर्पिणी			
	प्रमाण ति.प/४	जघन्य अवगाह	उत्कृष्ट अवगाहना	जघन्य ति.प./४	जघन्य अव.	उत्कृष्ट ति.प./४	उत्कृष्ट अव.
सुषमा सुषमा	गा० ३३५	४००० धनु	६००० धनु	गा० १६०२	अवसर्पिणी वत्	गा० १६०४	अवसर्पिणी वत्
सुषमा	३९६	२००० ,,	४००० ,,	१६००		१६०१	
सुषमा दुषमा	४०४	५२५ ,,	२००० ,,	१५९७		१५९८	
दुषमा सुषमा	१२७७	७ हाथ	५२५ ,,	१५७६		१५९५	
दुषमा	१४७५	३ या ३½ ,,	७ हाथ	१५६८			
दुषमा दुषमा	१५३६	१ ,,	३या३½ ,,	१५६४			

४. देवगति सम्बन्धी प्ररूपणा

१. भवनवासी देवोंकी अवगाहना

(मू.आ./१०६२) (ति.प./३/१७६) (ह.पु./४/६८) (ध.४/१,३,२/गा.१८/७९) (ज.प./११/१३६) (त्रि.सा./२४९)

क्रम	नाम	अवगाहना	क्रम	नाम	अवगाहना
१	असुरकुमार	२५ धनुष	६	उदधिकुमार	१० धनुष
२	विद्युत्कुमार	१० ,,	७	द्वीपकुमार	१० ,,
३	सुपर्णकुमार	१० ,,	८	दिक् कुमार	१० ,,
४	अग्निकुमार	१० ,,	९	स्तनितकुमार	१० ,,
५	वातकुमार	१० ,,	१०	नागकुमार	१० ,,

२. व्यन्तर देवोंकी अवगाहना

१. (मू.आ./१०६२); २. (ति.प./४/७६,१९५२,१९७२); ३. (ति.प./६/९८); ४. (ह.पु./४/६८); ५ (ध.४/१,३,२/गा.१८/७९); ६. (ध.७/२.६,१७/गा.१/३१९); (ज.प./११/१३९)

प्रमाण सं० १,३-६ (किन्नर आदि आठ प्रकार व्यन्तरोंकी अवगाहना १० धनुष है।)

प्रमाण सं० २—(मध्य लोकके कूटों व कमलों आदिके स्वामी देव देवियोंकी अवगाहना भी १० धनुष बतायी गयी है)।

३. ज्योतिष देवोंकी अवगाहना

(मू.आ./१०६२) (ति.प./७/६१८) (ह.पु./४/६८) (ध.४/१.३.२(गा.१८/७९) (ज.प./११/१३९) (त्रि.सा./२४९) (सर्व ज्योतिष देवोंकी अवगाहना ७ धनुष है।)

४. कल्पवासी देवोंकी अवगाहना

१. (मू.आ./१०६४-१०६८); २. (स.सि./४/२१/२५२); ३. (ति.प./८/६४०); ४. (रा.वा./४/२१/८/२३६/२६); ५. (ह.पु./४/६९); ६. (ध.७/२,६,१७/२-६/३१९-३२०); ७. (ज.प./११/३४६-३५२); ८. (ज.प./११/२५३); ९. (त्रि.सा./५४३); १०. (त.सा./२/१३९-१४१)

प्रमाण सं०	नाम	अवगाह.	विशेषता
सं. ३ के बिना सर्व	सौधर्म-ईशान	७ हाथ	
,, ३ व ८के बिना सर्व	सनत्कुमार-माहेन्द्र	६ ,,	
,,	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	५ ,,	
केवल सं० ३	लौकान्तिक	५ ,,	
सं. ३ व ८के बिना सर्व	लान्तव कापिष्ठ	५ ,,	
,,	शुक्र-महाशुक्र	४ ,,	
,,	शतार-सहस्रार	४ ,,	प्रमाण नं. ९के अनुसार १/२ हाथ कम
,,	आनत-प्राणत	३½ ,,	,,
,,	आरण-अच्युत	३ ,,	
,,	अधोग्रैवेयक	२½ ,,	
,,	मध्य ग्रैवेयक	२ ,,	
,,	उपरिम ग्रैवेयक	१½ ,,	
केवल सं० १	नव अनुदिश	१½ ,,	प्रमाण नं. ९के अनुसार १/२ हाथ कम
३ व ८ के बिना सर्व	पंच अनुत्तर	१ ,,	*

* अवगाहना प्रकरणमें प्रयुक्त मानोंका अर्थ दे० गणित I/१/६

अवग्रह—इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्तिके क्रममें सर्व प्रथम इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होते ही जो एक झलक मात्र सी प्रतीत होती है, उसे अवग्रह कहते हैं। तत्पश्चात् उपयोगकी स्थिरताके कारण ईहा व अवायके द्वारा उसका निश्चय होता है। ज्ञानके ये तीनों अंग बड़े वेगसे बीत जानेके कारण प्रायः प्रतीति गोचर नहीं होते।

१. भेद व लक्षण

१. अवग्रह सामान्यका लक्षण

ष.ख. १३/५,५/सू.३७/२४२ ओग्गहे योदाणे साणे अवलंबणा मेहा ॥३७॥ = अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना, और मेधा ये अवग्रहके पर्यायवाची नाम हैं। (इन शब्दोंके अर्थ—दे० वह वह नाम)

स.सि./१/१५/१११ विषयविषयिसंनिपातसमनन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति। तदनन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः। = विषय और विषयीके सम्बन्धके बाद होनेवाले प्रथम ग्रहणको अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। (रा.वा./१/१५/१/६०/२); (ध.१/१,१,११५/३५४/२); (ध.६/१,९-१,१४/१६/५); (ध.९/४,१,४५/१४४/५); (क.पा.१/१-१५/§३०२/३३२/३); (ज.प./१३/५७); (गो.जी./मू./३०८/६६३)।

ध.१३/५,५,३७/२४२/२ अवगृह्यते अनेन घटाद्यर्था इत्यवग्रहः। = जिसके द्वारा घटादि पदार्थ जाने जाते हैं वह अवग्रह है।

ध.१३/५,५,२३/२१६/१३ विषयविषयिसंपातसमनन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। रसादयोऽर्थाः विषयः, षडपीन्द्रियाणि विषयिणः, ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वावस्था विषयविषयिसंपातः ज्ञानोत्पादनकारणपरिणामविशेषसंतत्युत्पत्त्युपलक्षितः अन्तर्मुहूर्तकालः दर्शनव्यपदेशभाक्। तदनन्तरमाद्यं वस्तुग्रहणमवग्रहः, यथा चक्षुषा घटोऽयं घटोऽयमिति। यत्र घटादिना विना रूपदिशाकारादिविशिष्टं वस्तुमात्रं परिच्छिद्यते ज्ञानेन अनध्यवसायरूपेण तत्राप्यवग्रह एव, अनवगृहीतेऽर्थे ईहाद्यनुत्पत्तेः। = विषय व विषयीका सम्पात होनेके अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। रस आदिक अर्थ विषय हैं, छहों इन्द्रियाँ विषयी हैं, ज्ञानोत्पत्तिकी पूर्वावस्था विषय व विषयीका सम्पात है, जो दर्शन नाम से कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्तिके कारणभूत परिणाम विशेषकी सन्ततिकी उत्पत्तिसे उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है। इसके बाद जो वस्तुका प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। यथा—चक्षुके द्वारा 'यह घट है, यह घट है' ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। जहाँ घटादिके बिना रूप, दिशा, और आकार आदि विशिष्ट वस्तुमात्र ज्ञानके द्वारा अनध्यवसाय रूपसे जानी जाती है, वहाँ भी अवग्रह ही है, क्योंकि, अनवगृहीत अर्थमें ईहादि ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

ज. प/१३/६१ सोदूण देवदेत्ति य सामण्णेण विचाररहिदेण। जस्सुप्पज्जइ बुद्धी अवग्गहं तस्स णिद्दिट्ठं। ६१। = 'देवता' इस प्रकार सुनकर जिसके विचार रहित सामान्य से बुद्धि उत्पन्न होती है, उसके अवग्रह निर्दिष्ट किया गया है।

न्या. दी./२/§११/३१ तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावो सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः। यथाऽयं पुरुष इति। = इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन). के अनन्तर होने वाले और अवान्तर सत्ताजाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करनेवाले ज्ञानविशेषको अवग्रह कहते हैं, जैसे—'यह पुरुष है'।

२. अवग्रहके भेद

१. विशद अवग्रह व अविशद अवग्रह

ध. ९/४,१,४५/१४५/३ द्विविधोऽवग्रहो विशदाविशदावग्रहभेदेन। = विशदावग्रह और अविशदावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकारका है।

२. अर्थ व व्यंजन अवग्रह

ध. १/१,१,११५/३५४/७ अवग्रहो द्विविधोऽर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति। = अवग्रह दो प्रकार का होता है—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। (ध. ६/१,९-१,१४/ १६/७), (ज. प/११/६५)

गो.जी/ जी. प्र/३०७/६६०/७ मतिज्ञानविषयो द्विविधः व्यञ्जनं अर्थश्चेति।...व्यञ्जनरूपे विषये स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रैः चतुर्भिरिन्द्रियैः अवग्रह एक एवोत्पद्यते नेहादयः। ईहादीनां ज्ञानानां देशसर्वाभिव्यक्तौ सत्यामेव उत्पत्तिसंभवात्।...इति व्यञ्जनावग्रहश्चत्वार एव। = मति ज्ञानका विषय दो भेद रूप है—व्यंजन व अर्थ। तहाँ व्यंजन जो अव्यक्त शब्दादि तिनि विषय स्पर्शन, रसन, घ्राण व श्रोत्र इन्द्रियनिकरि केवल अवग्रह हो है, ईहादिक न हो है, जातै ईहादिक तो एकदेश वा सर्वदेश व्यक्त भए ही हो है।...तातै च्यार इन्द्रियनिकरि व्यंजनावग्रहके च्यार भेद हैं।

३. विशद व अविशद अवग्रहके लक्षण

ध.९/४,१,४५/१४५/३ तत्र विशदो निर्णयरूपः अनियमेनेहावायधारणाप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धनः।...अविशदावग्रहो नाम अगृहीतभाषावयोरूपादिविशेषः गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेषः अनियमेनेहाद्युत्पत्तिहेतुः। = विशद अवग्रह निर्णयरूप होता हुआ अनियमसे ईहा अवाय और धारणा ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।...भाषा, आयु व रूपादि विशेषोंको ग्रहण न करके व्यवहारके कारणभूत पुरुषमात्रके सत्त्वादि विशेषको ग्रहण करनेवाला तथा अनियमसे जो ईहा आदिकी उत्पत्तिमें कारण है वह अविशदावग्रह है।

४. व्यंजनावग्रह व अर्थावग्रहका लक्षण

स.सि./१/१८/११७/६ व्यक्तग्रहणात् प्राग्व्यञ्जनावग्रहः व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। = व्यक्त ग्रहणसे पहिले पहिले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है। (रा. वा./१/१८/२/६७/५).

ध. १/१,१,११५/पृ०/पं० अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः /३५४/७...प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। ३५५-१ ।...योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्। ३५७-२ । = अप्राप्त अर्थके ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं। (और)

प्राप्त अर्थके ग्रहण करने को व्यंजनावग्रह कहते हैं। इन्द्रियोंके ग्रहण करने के योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको प्राप्ति कहते हैं। (ध.६/१-९-१,१४/१६/७) (ध ९/४,१,४५/१५६/८);

ज.प. १३/६६-६७ दूरेण य जं गहणं इंदियणोइंदिएहिं अत्थिक्कं। अत्थावग्गहणाणं णायव्वं तं समासेण। ६६। पासित्ता जं गहणं रसफरसणसद्दगंधविसएहिं। वंजणवग्गहणाणं णिद्दिट्ठं तं वियाणाहि/६७/ = दूरसे ही जो चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मनके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है उसे संक्षेपसे अर्थावग्रहज्ञान जानना चाहिए।६६। छूकर जो रस, स्पर्श, शब्द और गन्ध विषयका ग्रहण होता है, उसे व्यंजनावग्रह निर्दिष्ट किया गया है। ६७।

गो.जी./जी.प्र/३०७/६६०/८ इन्द्रियैः प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहणं अर्थावग्रहः इत्यर्थः। व्यञ्जनं-अव्यक्तं शब्दादिजातं इति तत्त्वार्थविवरणेषु प्रोक्तं, कथमनेन व्याख्यानेन सह संगतिमिति चेदुच्यते विगतं-अञ्जनं-अभिव्यक्तिर्यस्य तद्व्यञ्जनं। व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यञ्जनं अञ्जु गतिव्यक्तिम्रक्षणेष्विति व्यक्तिम्रक्षणार्थयोर्ग्रहणात्। शब्दाद्यर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावन्नाभिव्यक्तस्तावद् व्यञ्जनमित्युच्यते···पुनरभिव्यक्तौ सत्यां स एवार्थो भवति। —जो विषय इन्द्रियनिकरि प्राप्त होइ, स्पर्शित होइ सो व्यंजन कहिए। जो प्राप्त न होइ सो अर्थ कहिए। **प्रश्न**—तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका विषै तो अर्थ ऐसा कीया है, जो व्यंजन नाम अव्यक्त शब्दादिकका है। इहाँ प्राप्त अर्थको व्यंजन कह्या सो कैसे है? **उत्तर**—व्यंजन शब्दके दोऊ अर्थ हो हैं। 'विगतं अञ्जनं व्यञ्जनं' दूर भया है अंजन कहिए व्यक्तभाव जाकै सो व्यंजन कहिए। सो तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका विषै तौ इस अर्थका मुख्य ग्रहण किया है। अर 'व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यञ्जनं' जो प्राप्त होइ ताकौ व्यंजन कहिए, सो इहाँ यहु अर्थ मुख्य ग्रहण कीया है। जातै 'अंजु' धातु गति, व्यक्ति, म्रक्षण अर्थविषै प्रवर्तै है। तातै व्यक्ति अर्थका अर म्रक्षण अर्थका ग्रहण करनेतैं करणादिक इंद्रियनिकरि शब्दादिक अर्थ प्राप्त हूवै भी यावत् व्यक्त न होइ, तावत् व्यंजनावग्रह है, व्यक्त भए अर्थावग्रह हो है। (विशेष देखो आगे अर्थ व व्यंजनावग्रहमें अन्तर)।

२. अवग्रह निर्देश

१. अवग्रह और संशयमें अन्तर

रा.वा./१/१५/७-१०/६०/२१ अवग्रहे ईहाद्यपेक्षत्वात् संशयानतिवृत्तेः। उच्यते—लक्षणभेदादन्यत्वमग्निजलवत्।८। ······कोऽसौ लक्षणभेदः। उच्यते।८। स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसंनिधानादनेकार्थात्मकः संशयः, एकपुरुषाद्यन्यतमात्मकोऽवग्रहः। स्थाणुपुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मकः संशयः, यतो न स्थाणुधर्मान् पुरुषधर्मांश्च निश्चिनोति, अवग्रहस्तु पुरुषाद्यन्यतमैकधर्मनिश्चयात्मकः। स्थाणुपुरुषानेकधर्मापर्युदासात्मकः संशयः, यतो न प्रतिनियतान् स्थाणुपुरुषधर्मान् पर्युदस्यति संशयः, अवग्रहः पुनः पर्युदासात्मकः, स ह्यन्यान् स्थाण्वादीन् पर्यायान् पर्युदस्य 'पुरुषः' इत्येकपर्यायालम्बनः।९। स्यादेतत्—संशयतुल्योऽवग्रहः कुतः। अपर्युदासात्।···तन्न, किं कारणम्। निर्णयविरोधात् संशयस्य। संशयो हि निर्णयविरोधी न त्ववग्रहः निर्णयदर्शनात्।१०। =**प्रश्न**—अवग्रहमें ईहाकी अपेक्षा होनेसे करीब-करीब संशयरूपता ही है? **उत्तर**—अवग्रह और संशयके लक्षण जल और अग्निकी तरह अत्यन्त भिन्न हैं, अतः दोनों जुदे जुदे हैं। इनके लक्षणोंमें क्या भेद है, वही बताते हैं—संशय स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थोंमें दोलित रहता है, अनिश्चयात्मक होता है और स्थाणु पुरुषादिमें-से किसीका निराकरण नहीं करता जब कि अवग्रह एक ही अर्थको विषय करता है, *निश्चयात्मक है और स्व विषयमें* भिन्न पदार्थोंका निराकरण करता है। सारांश यह संशय निर्णयका विरोधी होता है, अवग्रह नहीं। (ध/९/४,१,४५/१४५/९) (न्याय. दी०/२/§११/३१)।

ध.१३/५,५,२३/२१७/८ संशयप्रत्ययः क्वान्तःपतितः। ईहायाम्। कुतः। ईहाहेतुत्वात्। तदपि कुतः। कारणे कार्योपचारात्। वस्तुतः पुनरवग्रह एव। का ईहा नाम। संशयादूर्ध्वमवायादधस्तात् मध्यावस्थायां वर्तमानः विमर्शात्मकः प्रत्ययः हेत्ववष्टम्भबलेन समुत्पद्यमानः ईहेति भण्यते। =**प्रश्न**—संशय प्रत्ययका अन्तर्भाव किस ज्ञानमें होता है? **उत्तर**—ईहामें, क्योंकि वह ईहाका कारण है। **प्रश्न**—यह भी क्यों? उत्तर—क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार किया जाता है। वस्तुतः वह संशय प्रत्यय अवग्रह ही है। **प्रश्न**—ईहाका क्या स्वरूप है? **उत्तर**—संशयके बाद और अवायके पहले बीचकी अवस्थामें विद्यमान तथा हेतुके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए विमर्शरूप प्रत्ययको ईहा कहते हैं।

२. अवग्रह अप्रमाण नहीं है

रा.वा./१/१५/६/६०/१३ यथा चक्षुषि न निर्णयः सत्येव तस्मिन् 'किमयं स्थाणुराहोस्वित् पुरुषः' इति संशयदर्शनात्, तथा अवग्रहेऽपि सति न निर्णय ईहादर्शनात्, ईहायां च न निर्णयः, यतो निर्णयार्थमीहा न त्वीहैव निर्णयः। यश्च निर्णयो न भवति स संशयजातीय इत्यप्रामाण्यमनयोरिति ॥६॥ स्यादेतत् न अवग्रह-संशयः। कुतः। अवग्रहवचनात्। यत उक्तः पुरुषः 'पुरुषोऽयम्' इत्यवग्रहः, तस्य भाषावयोरूपादिविशेषाकांक्षणमीहा' इति। =**प्रश्न**—जैसे चक्षु होते हुए संशय होता है अतः उसे निर्णय नहीं कह सकते उसी तरह अवग्रहके होते हुए ईहा देखी जाती है। ईहा निर्णय रूप नहीं है, क्योंकि निर्णयके लिए ईहा है न कि स्वयं निर्णय रूप, और जो स्वयं निर्णय रूप नहीं है वह स्वयं संशय की ही कोटि में होता है, अतः अवग्रह और ईहाको प्रमाण नहीं कह सकते? **उत्तर**—अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि 'अवग्रह' अर्थात् निश्चय ऐसा कहा गया है। जो कि उक्त पुरुष में 'यह पुरुष है' ऐसा ग्रहण तो अवग्रह है और उसकी भाषा, आयु व रूपादि विशेषोंको जाननेकी इच्छाका नाम ईहा है। (विशेष दे० अवग्रह/२/१)

ध.९/४,१,४५/१४५/२ न प्रमाणमवग्रहः, तस्य संशयविपर्ययानध्यवसायेष्वन्तर्भावादिति। न *अवग्रहस्य द्वैविध्यात्*।···विशदाविशदावग्रहभेदेन। तत्र विशदो निर्णयरूपः।···तत्राविशदावग्रहो नाम अगृहीतभाषावयोरूपादिविशेषः गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेषः।···अप्रामाण्यमविशदावग्रहः अनध्यवसायरूपत्वादिति चेन्न अध्यवसितकतिपयविशेषत्वात्। न विपर्ययरूपत्वादप्रमाणम्, तत्र वैपरीत्यानुपलम्भात्। न विपर्ययज्ञानोत्पादकत्वादप्रमाणम्, तस्मात्तदुत्पत्तेर्नियमाभावात्। न संशयहेतुत्वादप्रमाणम्, कारणानुगुणकार्यनियमानुपलम्भात्, संशयादप्रमाणात्प्रमाणीभूतनिर्णयप्रत्ययोत्पत्तितोऽनेकान्ताच्च।···ततो गृहीतवस्त्वंशं प्रति अविशदावग्रहस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्, व्यवहारयोग्यत्वात्। व्यवहारायोग्योऽपि अविशदावग्रहोऽस्ति, कथं तस्य प्रामाण्यम्। न, किंचिन्मया दृष्टमिति व्यवहारस्य तत्राप्युपलम्भात्। वास्तवव्यवहारायोग्यत्वं प्रति पुनरप्रमाणम्। =**प्रश्न**—(अनिर्णय स्वरूप होनेके कारण) अवग्रह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर उसका संशय, विपर्यय व अनध्यवसायमें अन्तर्भाव होगा? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, अवग्रह दो प्रकारका है—विशदावग्रह और अविशदावग्रह। उनमें विशदावग्रह निर्णय रूप होता है और भाषा, आयु व रूपादि विशेषोंको ग्रहण न करके व्यवहारके कारणभूत पुरुषमात्रके सत्त्वादि विशेषको ग्रहण करनेवाला अविशदावग्रह होता है। **प्रश्न**—अविशदावग्रह अप्रमाण है, क्योंकि वह अनध्यवसाय रूप है? **उत्तर**—१. ऐसा नहीं है क्योंकि वह कुछ विशेषोंके अध्यवसायसे सहित है।—२. उक्त ज्ञान विपर्ययस्वरूप होनेसे भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, उसमें *विपरीतता नहीं पायी जाती। यदि कहा जाय कि वह चूँकि विपर्यय* ज्ञानका उत्पादक है, अतः अप्रमाण है, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उससे विपर्ययज्ञानके उत्पन्न होनेका कोई नियम नहीं है।—३. संशयका हेतु होनेसे भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि, कारणा-

नुसार कार्यके होनेका नियम नहीं पाया जाता, तथा अप्रमाणभूत संशयसे प्रमाणभूत निर्णय प्रत्ययकी उत्पत्ति होनेसे उक्त हेतु व्यभिचारी भी है।—४. संशयरूप होनेसे भी वह अप्रमाण नहीं है—(दे० अवग्रह/२/१)।—इस कारण ग्रहण किये गये वस्त्वंशके प्रति अविशदावग्रहको प्रमाण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वह व्यवहारके योग्य है। प्रश्न—व्यवहारके अयोग्य भी तो अविशदावग्रह है, उसके प्रमाणता कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, 'मैंने कुछ देखा है' इस प्रकारका व्यवहार वहाँ भी पाया जाता है। किन्तु वस्तुतः व्यवहारकी अयोग्यताके प्रति वह अप्रमाण है।

३. अर्थावग्रह व व्यंजनावग्रहमें अन्तर

स.सि./१/१८/११७ ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किं कृतोऽयं विशेषः। अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः। कथम्। अभिनवशरावार्द्रीकरणवत्। यथा जलकणद्वित्रासिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्रादिसमयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। ततोऽव्यक्तावग्रहणादीहादयो न भवन्ति। =प्रश्न—जब कि अवग्रहका ग्रहण दोनों जगह समान है तब फिर इनमें अन्तर किंनिमित्तक है ? उत्तर—इनमें व्यक्त व अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अन्तर है। प्रश्न—कैसे ? उत्तर—जैसे माटीका नया सकोरा जलके दो तीन कणोंसे सींचने पर गीला नहीं होता और पुनः-पुनः सींचनेपर वह धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये गये शब्दादि रूप पुद्गल स्कन्ध दो तीन समयोंमें व्यक्त नहीं होते हैं, किन्तु पुनः पुनः ग्रहण होनेपर वे व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहणसे पहिले-पहिले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम (या व्यक्त ग्रहण हो जाने पर) अर्थावग्रह है। अव्यक्त अवग्रहसे ईहा आदि नहीं होते हैं। (गो.जी./जी.प्र./३०७/६६०/१०)

ध.९/४,१,४५/१४५/३ तत्र विशदो निर्णयरूपः, अनियमेनेहावायधारणाप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धनः।…तत्र अविशदावग्रहो नाम अगृहीतभाषा-वयोरूपादिविशेषः गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेषः अनियमेनेहाद्युत्पत्तिहेतुः। =विशद अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ अनियमसे ईहा, अवाय और धारणा ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।… उनमें भाषा, आयु व रूपादि विशेषोंको ग्रहण न करके व्यवहारके कारणभूत पुरुषमात्रके सत्त्वादि विशेषको ग्रहण करनेवाला तथा अनियमसे जो ईहा आदिकी उत्पत्तिमें कारण है वह अविशदावग्रह है।

ध.९/४,१,४५/१५६/८ अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः, प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। न स्पष्टास्पष्टग्रहणे अर्थव्यञ्जनावग्रहौ, तयोश्चक्षुर्मनसोरपि सत्त्वतस्तत्र व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात्।…न शनैर्ग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः, चक्षुर्मनसोरपि तदस्तित्वतस्तयोर्व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसङ्गात्। न च तत्र शनैर्ग्रहणमसिद्धमक्षिप्रभङ्गाभावे अष्टचत्वारिंशच्चक्षुर्मतिज्ञानभेदस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। =अप्राप्त पदार्थके ग्रहणको अर्थावग्रह और प्राप्त पदार्थके ग्रहणको व्यंजनावग्रह कहते हैं। स्पष्ट ग्रहणको अर्थावग्रह और अस्पष्टग्रहणको व्यंजनावग्रह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, स्पष्टग्रहण और अस्पष्टग्रहण तो चक्षु और मनके भी रहता है, अतः ऐसा माननेपर उन दोनोंके भी व्यंजनावग्रहके अस्तित्वका प्रसंग आवेगा। (परन्तु इसका सूत्र द्वारा निषेध किया गया है।) यदि कहो कि धीरे-धीरे जो ग्रहण होता है वह व्यंजनावग्रह है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके ग्रहणका अस्तित्व चक्षु और मनके भी है, अतः उनके भी व्यंजनावग्रहके रहनेका प्रसंग आवेगा। और उन दोनोंमें शनैर्ग्रहण असिद्ध नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेसे अक्षिप्र भंगका अभाव होनेपर चक्षुनिमित्तक अड़तालीस मतिज्ञानके भेदोंके अभावका प्रसंग आवेगा।" (ध.१३/५,५,२४/२२०/१)

४. अर्थावग्रह व व्यंजनावग्रहका स्वामित्व

त.सू./१/१९ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

स.सि./१/१९/११८ चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति। =चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता।

ध.१/१,१,११५/३५५/१ चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः। =चक्षु और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं। (त.सू./१/१७-१९) (ध.९/४,१,४५/१६०/२) (ध.१३/५,५,२१/२२५) (ज.प./१३/६८-६९)

५. अप्राप्यकारी ३ इन्द्रियोंमें अवग्रह सिद्धि

ध.१/१,१,११५/३५५/१ तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुलम्भात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः। शेषेन्द्रियेष्वप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः…; शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति…। यद्युपलभ्यस्त्रिकालगोचरमशेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत्।…न कार्त्स्न्येनाप्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्यकारित्वमिति। किं तर्हि। कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्।…रूपस्याचक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादिसिद्धेः। =चक्षु और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं। प्रश्न—शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है इसलिए उनसे अर्थावग्रह नहीं होना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधिवाले प्रदेशोंमें ही अंकुरोंका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है। प्रश्न—स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ। फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकाल-गोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता। दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिःसृतपनेको और अनुक्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं, जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे। प्रश्न—तो फिर अप्राप्यकारीपनेसे क्या प्रयोजन है ? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि (जिनका कि सूत्रमें निर्देश किया गया है) कैसे हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आवेगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं।…(जैसा कि) रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करने वाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है। इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं।

ध.९/४,१,४५/१५७/३ न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टये अर्थावग्रहः, तत्र प्राप्तस्यैवार्थस्य ग्रहणोपलम्भादिति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तार्थग्रहणस्योपलम्भात्। तदपि कुतोऽवगम्यते। दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः।

ध.९/४,१,४५/१५९/४ यदि प्राप्तार्थग्राहिण्येवेन्द्रियाणि…नवयोजनान्तरस्थिताग्नि-विषाभ्यां तीव्रस्पर्श-रसक्षयोपशमानां दाह-मरणे स्याताम्,

प्राप्तार्थग्रहणात् । तावन्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षणतद्गन्धजनितदुःखे च तत् एव स्याताम् ।—'पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं । गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ॥५८॥' इत्यस्मात्सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न, अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावतः खरविषाणस्येवाभावप्रसंगात् । कथं पुनरस्या गाथाया अर्थो व्याख्यायते । उच्यते-रूपमस्पृष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति । चशब्दान्मनश्च । गन्धं रसं स्पर्शं च बद्धं स्वकस्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्ठं स्पृष्टं च शब्दादस्पृष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णन्ति । पुट्ठं सुणेइ सद्दं इत्यत्रापि बद्ध च-शब्दौ योज्यौ, अन्यथा दुर्व्याख्यानतापत्तेः । =प्रश्न—श्रोत्रादिक चार इन्द्रियोंमें अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि, उनमें प्राप्त ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, वनस्पतियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण पाया जाता है । प्रश्न—वह भी कहाँसे जाना जाता है ? उत्तर—क्योंकि, दूरस्थ निधि (खाद्य आदि) को लक्ष्य कर प्रारोह (शाखा) का छोड़ना अन्यथा बन नहीं सकता ।…दूसरे यदि इन्द्रियाँ प्राप्त पदार्थको ग्रहण करनेवाली ही होतीं तो…नौ योजनके अन्तरमें स्थित अग्नि और विषसे स्पर्श और रसके तीव्र क्षयोपशमसे युक्त जोवोंके क्रमशः दाह और मरण होना चाहिए ।… और इसी कारण उतने मात्र अध्वानमें स्थित अशुचि पदार्थके भक्षण और उसके गन्धसे उत्पन्न दुःख भी होना चाहिए । (ध. १३/५.५, २४/२२०) (ध. १३/५.५.२७/२२६) प्रश्न—'श्रोत्रसे स्पृष्ट शब्दको सुनता है । परन्तु चक्षुसे रूपको अस्पृष्ट ही देखता है । शेष इन्द्रियोंसे गन्ध रस और स्पर्शको बद्ध व स्पृष्ट जानता है ॥ ५४ ॥' इस (गाथा) सूत्रसे इन्द्रियोंके प्राप्त पदार्थका ग्रहण करना जाना जाता है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, वैसा होनेपर अर्थावग्रहके लक्षणका अभाव होनेसे गधेके सींगके समान उसके अभावका प्रसंग आवेगा ? प्रश्न—तो फिर इस गाथाके अर्थका व्याख्यान कैसे किया जाता है ? उत्तर—चक्षु रूपको अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है, च शब्दसे मन भी अस्पृष्ट ही वस्तुको ग्रहण करता है । शेष इन्द्रियाँ गन्ध रस और स्पर्शको बद्ध व स्पृष्ट ग्रहण करती हैं, च शब्दसे अस्पृष्ट भी ग्रहण करती हैं । 'स्पृष्ट शब्दको सुनता है' यहाँ भी बद्ध और च शब्दोंको जोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करनेसे दूषित व्याख्यानकी आपत्ति आती है ।

६. अवग्रह व अवायमें अन्तर

ध. ६/१.९-१.१४/१८/३ अवग्गहावायाणं णिण्णयत्तं पडिभेदाभावा एयत्तं किण्ण होदि इदि चे, होदु तेण एयत्तं, किंतु अवग्गहो णाम विसयविसइसमणिवायाणंतरभावी पढमो बोधविसेसो, अवाओ पुण ईहाणंतरकालभावी उप्पण्णसंदेहाभावरूवो, तेण ण दोण्हमेयत्तं । = प्रश्न—अवग्रह और अवाय, इन दोनों ज्ञानोंके निर्णयत्वके सम्बन्धमें कोई भेद न होनेसे एकता क्यों नहीं है ? उत्तर—निर्णयत्वके सम्बन्धमें कोई भेद न होनेसे एकता भले ही रही आवे किन्तु विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला प्रथम ज्ञानविशेष अवग्रह है, और ईहाके अनन्तर कालमें उत्पन्न होनेवाले सन्देहके अभावरूप अवायज्ञान होता है, इसलिए अवग्रह और अवाय, इन दोनों ज्ञानोंमें एकता नहीं है । (ध. ९/४,१,४५/१४४/८)

अवच्छिन्न—अन्य धर्मोंसे व्यावृत्तिपूर्वक निज स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मविशेषकी संयुक्तताको अवच्छिन्न कहते हैं । जैसे—घट 'घटत्व' धर्मसे अवच्छिन्न है, क्योंकि, यह धर्म, पटत्व धर्मसे व्यावृत्तिपूर्वक घटके स्वरूपका निश्चय कराता है । इतना विशेष है कि 'त्व' प्रत्यय युक्त सामान्य धर्मकी संयुक्तता ही यहाँ इष्ट है, लाल नीले आदि विशेष धर्मोंकी नहीं ।

अवच्छेदक—अन्य धर्मोंकी व्यावृत्तिपूर्वक धर्मीके स्वरूपका बोध करानेवाला धर्मविशेष उस धर्मीका अवच्छेदक कहलाता है, जैसे घटका व्यवच्छेदक 'घटत्व' धर्म है । 'त्व' प्रत्यययुक्त सामान्य धर्म ही यहाँ इष्ट है ।

अवतंस—भद्रशाल वनमें स्थित 'रुचक' दिग्गजेन्द्र पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/७ ।

अवतारक—ल. सा./भाषा/३१३/३६७ उपशमश्रेणीतैं उतरनेवालेका नाम अवरोहक कहिए अथवा अवतारक कहिए ।

अवदान—ध. १३./५,५,३७/२४२/३ अवदीयते खण्ड्यते परिच्छिद्यते अन्येभ्यः अर्थः अनेनेति अवदानम् । =जिसके द्वारा 'अवदीयते खण्ड्यते' अर्थात् अन्य पदार्थोंसे अलग करके विवक्षित अर्थ जाना जाता है, वह अवग्रहका अन्य नाम अवदान है ।

अवद्य—रा. वा./७/९/२/५३७/२/५—'गर्ह्यमवद्यम्' =अवद्य अर्थात् गर्ह्य निन्द्य ।

अवधा—(ज. प्र./प्र. १०५) Segment.

अवधारणा—वाक्यमें एवकार-द्वारा निश्चित अर्थका द्योतन ।—(विशेष दे० एव)

अवधि—ध. ९/४.१.२/१२/६ तथा १३/१ ओहिसद्दो अप्पाणम्मि वट्टदे,…कत्थ वि मज्जाए वट्टदे…कत्थ वि णाणे वट्टदे…। अथवा अवाग्धानादवधिरिति व्युत्पत्तेर्ज्ञानस्य अवधित्वं घटते । =१. अवधि शब्द आत्माके अर्थमें होता है,…२. कहींपर मर्यादाके अर्थमें भी इस शब्दका प्रयोग होता है,…३. कहींपर ज्ञान अर्थमें भी यह शब्द आता है । ४. अथवा 'अवाग्धानात् अवधिः' अर्थात् जो अधोगत पुद्गलको अधिकतासे ग्रहण करे वह अवधि है, इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानको अवधिपना घटित होता है ।

अवधिज्ञान—सम्यग्दर्शन या चारित्रकी विशुद्धताके प्रभावसे कदाचित् किन्हीं साधकोंको एक विशेष प्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिसे अवधिज्ञान कहते हैं । यद्यपि यह मूर्तीक अथवा संयोगी पदार्थोंको जान सकता है, परन्तु इन्द्रियों आदिकी सहायताके बिना ही जाननेके कारण प्रत्यक्ष है । सकल पदार्थोंको न जाननेके कारण देश प्रत्यक्ष है । भावोंकी वृद्धि हानिके साथ इसमें वृद्धि हानि होनी स्वाभाविक है, अतः यह कई प्रकारका हो जाता है । इसके जाननेकी शक्तियाँ जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त अनेक प्रकारकी होती हैं । परिणामोंमें संक्लेश उत्पन्न हो जानेपर यह छूट भी जाता है । देव नारकियोंमें यह अहेतुक होता है, इसलिए भवप्रत्यय कहलाता है, और मनुष्य तिर्यंचोंमें गुण प्रत्यय । यद्यपि लौकिक दृष्टिसे यह चमत्कारिक है, परन्तु मोक्षमार्गमें इसका कोई मूल्य नहीं । इसकी उत्पत्ति शरीरमें स्थित शंख चक्र आदि किन्हीं विशेष चिह्नोंसे बतायी जाती है ।

१. भेद व लक्षण

१. अवधिज्ञान सामान्यका लक्षण १. व्युत्पत्ति

पं.सं./प्रा./१/१२३ अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समए। —जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमासे युक्त अपने विषयभूत पदार्थको जाने, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। सीमासे युक्त जाननेके कारण परमागममें इसे सीमा ज्ञान कहा गया है। (ध.१/१.१.११५/१८४/३५९) (गो.जी./मू./३७०/७९७)।

स.सि./१/९/९४/३ अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः। —अधिकतर नीचेके विषयको जाननेवाला होनेसे या परिमित विषयवाला होनेसे अवधि कहलाता है।

रा.वा./१/९/३/४४/१४ अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसंनिधाने सति अवाग्धीयते अवाग्दधाति अवाग्धानमात्रं वावधिः। अव-शब्दोऽधःपर्यायवचनः 'यथा अधःक्षेपणम् अवक्षेपणम्' इति। अधो-गतभूयद्रव्यविषयो ह्यवधिः। अथवा, अवधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्। तथाहि—'रूपिष्ववधेः (त.सू./१/२७)' इति। —'अव' पूर्वक 'धा' धातुसे कर्म आदि साधनोंमें अवधि शब्द बनता है। तहाँ नं० १='अव' शब्द 'अधः'-वाची है जैसे अधःक्षेपणको अवक्षेपण कहते हैं; अवधिज्ञान भी नीचेकी ओर बहुत पदार्थोंको विषय करता है। (ध. १३/५.५.२१/२१०/१२) अधो-गौरवधर्मत्वात् पुद्गलः अवाङ् नाम तं दधाति परिच्छिनत्तीति अवधिः—नीचे गौरवधर्मवाला होनेसे पुद्गलकी अवाग् संज्ञा है, उसे जो धारण करता है अर्थात् जानता है वह अवधि है—नं० २: अथवा अवधि शब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्य क्षेत्रकालादिकी मर्यादासे सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है। —(रा.वा./१/२०/१५/७८/२७) (ध. ६/१,९-१,१४/२५/८) (ध. ९/४,१,२/१३/१/४) (ध. १३/५.५. २१/२१०/१२) (क. पा. १/१-§१२/१६/२)

२. मूर्तीक पदार्थका प्रत्यक्ष सीमित ज्ञान

ति. प./४/९७२ अंतिमखंदंताइं परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाइं। जं पच्चक्खइ जाणइ तमोहिणाणं ति णायव्वं ॥ ९७२ ॥ —जो प्रत्यक्षज्ञान अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्योंको जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए। (ज. प./१३/५६) (न. दी./२/§१३/३४)

क. पा. १/१/§२८/४३ परमाणुपज्जंतासेसपोग्गलदव्वाणमसंखेज्जलोगमे-त्तखेत्तकालभावाणं कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगयजाव···[जीव-दव्वा] णं च पच्चक्खेण···[परिच्छित्ति कुणइ ओहिणाणं] —महा-स्कन्धसे लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्योंको, असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र, काल और भावोंको तथा कर्मके सम्बन्धसे पुद्गल भावको प्राप्त हुए जीवोंको जो प्रत्यक्षरूपसे जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

ध. १/१,१,२/९३/७ ओहिणाणं णाम दव्वखेत्तकालभावविवियप्पियं पोग्गल-दव्वं पच्चक्खं जाणदि। —द्रव्य क्षेत्र काल और भावके विकल्पसे अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्यको जो प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। (ध. १/१,१,११५/३५८/२);

द्र. सं./टी./५/१७/१ अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्तं वस्तु यदेकदेश-प्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम्। —अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मूर्तीक पदार्थको जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है।

स. भ. त./४७/१३ प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनःपर्ययलक्षणस्येन्द्रिया-निन्द्रियानपेक्षत्वे सति स्पष्टतया स्वार्थव्यवसायात्मकं स्वरूपम्। —इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थात् मनकी कुछ भी अपेक्षा न रखकर केवल आत्मा मात्रकी अपेक्षासे निर्मलता पूर्वक स्पष्ट रीतिसे अपने विषयभूत पदार्थोंका निश्चय करना—यह विकल प्रत्यक्षरूप अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप है।

२. अवधिज्ञानके भेद

१. सम्यक् व मिथ्या अवधिकी अपेक्षा

त. सू./१/३१ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। —मति, श्रुत और अवधि ये तीन (ज्ञान) विपर्यय भी होते हैं।

स. सि./१/३१/१३८/४ अवधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिः रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्यादृष्टिः विभंगज्ञानेनेति। —सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है और मिथ्यादृष्टि विभंगज्ञान के द्वारा।

रा. वा./१/३१/९२/१२ सम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनोदयविशेषात्तेषां त्रयाणां द्विधा वल्प्तिर्भवति—···अवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति। —सम्य-

ग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके उदयसे उन तीनों (मति श्रुत व अवधि) के दो-दो प्रकार बन जाते हैं। (तहाँ अवधिज्ञानके दो प्रकार हैं) —अवधिज्ञान और विभंग ज्ञान (मिथ्यावधिज्ञान)।

२. गुणप्रत्यय व भवप्रत्ययकी अपेक्षा

ष. ख. १३/५.५.५३/सू. ५३/२९० तं च ओहिणाणं दुविहं भवपच्चइयं गुणपच्चइयं चेव ॥ ५३ ॥ =*भवप्रत्यय व गुणप्रत्ययके भेदसे अवधिज्ञान* दो प्रकार है। (रा. वा./१/२०/१५/७८/२१) (गो. जी./मू./३७०/७९६)

स. सि./१/२०/१२५/३ द्विधोऽवधिर्भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्चेति। =अवधिज्ञान दो प्रकारका है—भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक।

३. अवधिज्ञानके अनेक भेदोंका निर्देश

ष. ख. १३/५.५/सूत्र ५६/२९२ तं च अणेयविहं देसोही परमोही सव्वोही हीयमाणयं वड्ढमाणयं अवट्ठिदं अणवट्ठिदं अणुगामी अणणुगामी सप्पडिवादीअप्पडिवादी एयक्खेत्तमणेयक्खेत्तं ॥५६॥ =वह (अवधिज्ञान) अनेक प्रकार है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती अप्रतिपाती, एक क्षेत्रावधि और अनेक क्षेत्रावधि।

रा. वा./१/२२/४/८१/२७ अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् षड्विधः ॥ ४ ॥ पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः—देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति। तत्र देशावधिस्त्रेधा जघन्य उत्कृष्ट अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा। सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव।…वर्द्धमानो, हीयमान अवस्थितः अनवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती इत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति। हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे षड्भेदा भवन्ति परमावधेः। अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपाती इत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः। =अवधिज्ञानके अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित, ये छह भेद हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके भेदसे भी अवधिज्ञान तीन प्रकारका है। देशावधि और परमावधिके जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट ये तीन प्रकार हैं। सर्वावधि एक ही प्रकारका है। वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती और प्रतिपाती ये आठ भेद देशावधिमें होते हैं। हीयमान प्रतिपाती, इन दोको छोड़कर शेष छः भेद परमावधिमें होते हैं। अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधिमें होते हैं। (पं. का./ता. वृ./४३/उद्धृत प्रक्षेपक गाथा सं. ३—देशावधि आदि तीन भेद), (पं. सं./प्रा./१/१२४—वर्द्धमान आदि छः भेद), (श्लो. वा. ४/१/२२/१०–१७/१६–२१—रा. वा. वाले सर्व विकल्प); (ह. पु./१०/१५२—देशावधि आदि तीन भेद), (क. पा. १/१/§१३/१७/१—देशावधि आदि तीन भेद) (ध. ६/१,९–१,१४/२५/९—देशावधि आदि तीन भेद) (ध. ९/४,१,२/१४/१,५—देशावधि आदि तीन तथा देशावधिके जघन्य उत्कृष्टादि तीन भेद) (ध. ९/४,१,४/४८/५ सर्वावधिका एक ही विकल्प तथा परमावधिके जघन्य उत्कृष्टादि तीन विकल्प) गो. जी./मू./३७२/७९९—वर्द्धमान आदि छः तथा देशावधि आदि तीन भेद), (ज. प./१३/५१—देशावधि आदि तीन भेद), (पं. सं./सं./१/२२२=वर्द्धमान आदि छः भेद)

ध./पु. १३/५.५.५६/२९४/५ तच्च तिविहं खेत्ताणुगामी भवाणुगामी खेत्तभवाणुगामी चेदि। =वह (अनुगामी) तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी। (गो. जी./जी. प्र./३७२/७९९/८)

३. सम्यक् व मिथ्या अवधिके लक्षण

१. सम्यगवधिका लक्षण—दे० अवधिज्ञानसामान्य

२. मिथ्यावधिका लक्षण

पं. सं/प्रा./१/१२० विवरीयओहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च। वेभंगो त्ति व वुच्चइ समत्तणाणीहिं समयम्हि। =जो क्षयोपशम अवधिज्ञान मिथ्यात्वसे संयुक्त होनेके कारण विपरीत स्वरूप है, और नवीन कर्मका बीज है उसे आगममें कुअवधि या विभंग ज्ञान कहा गया है। (ध. १/१,१,११५/ १८१/३५९) (गो. जी./मू./३०५/६५७) (पं. सं./सं/१/२३२) (पं. का./त. प्र./४१/८२)।

४. गुणप्रत्यय व भवप्रत्ययका लक्षण

स. सि. १/२१/१२५/६ भवः प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां वेदितव्यः।

स. सि./१/२२/१२७/३ तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः। =जिस अवधिज्ञानके होनेमें भव निमित्त है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। वह देव और नारकियोंके जानना चाहिए।—इन दोनों अर्थात् सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय और उन्हींके सदवस्थारूप उपशमके निमित्तसे जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है। (रा. वा./१/२१/२/७९/११ व ८१/३)

ध. १३/५,५,५३/२९०/५ भव उत्पत्तिः प्रादुर्भावः, स प्रत्ययः कारणं यस्य अवधिज्ञानस्य तद् भवप्रत्ययकम्।

ध. १३/५,५,५३/२९१/१० अणुव्रतमहाव्रतीनि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद्गुणप्रत्ययकम्। =भव, उत्पत्ति और प्रादुर्भाव ये पर्याय नाम हैं। जिस अवधिज्ञानका निमित्त भव (नरक व देव भव) है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है।—सम्यक्त्वसे अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञानके कारण हैं वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है। (गो. जी./जी. प्र./३७०/७९७/४)

५. देशावधि आदि तीन भेदोंके लक्षण

ध. १३/५.५.५९/३२३/३ परमा ओही मज्जाया जस्स णाणस्स तं परमोहिणाणं। किं परमं। असंखेज्जलोगमेत्तसंजमवियप्पा।……देसं सम्मत्तं, संजमस्स अवयवभावादो; तमोही मज्जाया जस्स णाणस्स तं देसोहिणाणं।…सव्वं केवलणाणं, तस्स विसओ जो जो अत्थो सो विसव्वं उवयारादो। सव्वमोही मज्जाया जस्स णाणस्स तं सव्वोहिणाणं। =परम अर्थात् असंख्यात लोकमात्र संयमभेद ही जिस ज्ञानकी अवधि अर्थात् मर्यादा है वह परमावधि ज्ञान कहा जाता है। …देशका अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयमका अवयव है। वह जिस ज्ञानकी अवधि अर्थात् मर्यादा है वह देशावधिज्ञान है।… सर्वका अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो जो अर्थ होता है, वह भी उपचारसे सर्व कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञानकी होती है वह सर्वावधि ज्ञान है।

ध. ९/४,१,३/४१/६ परमो ज्येष्ठः, परमश्चासौ अवधिश्च परमावधिः।

ध.९/४,१.४/४७/९सर्वं विश्वं कृत्स्नमवधिर्मर्यादा यस्य स बोधः सर्वावधिः। एत्थ सव्वसद्दो सयलदव्ववाचओ ण घेत्तव्वो, परदो अविज्जमाणदव्वस्स ओहित्ताणुववत्तीदो। किंतु सव्वसद्दो सव्वेगदेसम्हि रूवयदे वट्टमाणो घेत्तव्वो। तेण सव्वरूवयदं ओही जिस्से त्ति संबंधो कायव्वो। अथवा सरति गच्छति आकुञ्चनविसर्पणादीनीति पुद्गलद्रव्यं सर्व्वं, तमोही जिस्से सा सव्वोही।

ध. ९/४,१,५/५२/६ अन्तश्च अवधिश्च अन्तावधी, न विद्येते तौ यस्य स अनन्तावधिः। =परम शब्दका अर्थ ज्येष्ठ है। परम ऐसा जो अवधि वह परमावधि है।—विश्व और कृत्स्न ये 'सर्व' शब्दके समानार्थक शब्द हैं। सर्व है मर्यादा जिस ज्ञानकी, वह सर्वावधि है।

यहाँ सर्व शब्द समस्त द्रव्यका वाचक नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिसके परे अन्य द्रव्य न हो उसके अवधिपना नहीं बनता। किंतु 'सर्व' शब्द सर्वके एकदेशरूप रूपी द्रव्यमें वर्तमान ग्रहण करना चाहिए। अथवा जो आकुंचन और विसर्पणादिकोंको प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है, वही जिसकी मर्यादा है वह सर्वावधि है। ...अन्त और अवधि जिसके नहीं हैं वह अनन्तावधि है। (विशेष दे० अवधिज्ञान/६)

६. वर्द्धमान हीयमान आदि भेदों के लक्षण

१. वर्द्धमान आदि छः भेदों के लक्षण

स. सि./१/२२/१२७/१ कश्चिदवधिर्भास्करप्रकाशवद्गच्छन्तमनुगच्छति। कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवानिपतति उन्मुखप्रश्नादेशिपुरुषवचनवत्। अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपर्णोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत्सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धपरिणामसंनिधानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्द्धते आ असंख्येयलोकेभ्यः। अपरोऽवधिपरिच्छिन्नोपादानसन्तत्यग्निशिखावत्सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेशपरिणामवृद्धियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्यासंख्येयभागात्। इतरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते, न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत् आ भवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा। अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्द्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत्। एवं षड्विधोऽवधिर्भवति। =१. कोई अवधिज्ञान, जैसे सूर्यका प्रकाश उसके साथ जाता है, वैसे अपने स्वामीका अनुसरण करता है। उसे अनुगामी कहते हैं। (विशेष देखो नीचे) २ कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता, किन्तु जैसे विमुख हुए पुरुष के प्रश्नके उत्तर स्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता है, वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीं पर छूट जाता है। (उसे अननुगामी कहते हैं। विशेष देखो आगे)। ३ कोई अवधिज्ञान जंगलके निर्मन्थनसे उत्पन्न हुई और सूखे पत्तोंसे उपचीयमान ईंधनके समुदायसे वृद्धिको प्राप्त हुई अग्निके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धिरूप परिणामोंके सन्निधान वश जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है, उससे (आगे) असंख्यातलोक जाननेकी योग्यता होने तक बढ़ता जाता है। (वह वर्द्धमान है)। ४ कोई अवधिज्ञान परिमित उपादान संततिवाली अग्निशिखाके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी हानिसे हुए संक्लेश परिणामोंके बढनेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे (लेकर) मात्र अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जाननेकी योग्यता होने तक घटता चला जाता है। (उसे हीयमान कहते हैं)। ५ कोई अवधिज्ञानसम्यग्दर्शनादि गुणोंके समानरूपसे स्थिर रहनेके कारण जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है। पर्यायके नाश होने तक या केवलज्ञानके उत्पन्न होने तक शरीरमें स्थित मस्सा आदि चिन्होंवत् न घटता है न बढ़ता है। (उसे अवस्थित कहते हैं।) ६ कोई अवधिज्ञान वायुके वेगसे प्रेरित जलकी-तरंगोंके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी कभी वृद्धि और कभी हानि होनेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है, उससे बढ़ता है जहाँ तक उसे बढ़ना चाहिये, और घटता है जहाँ तक उसे घटना चाहिए। (उसे अनवस्थित कहते हैं) इस प्रकार अवधिज्ञान छः प्रकारका है। (रा. वा./१/२२/४/८१/१७) (ध. १३/५,५,५६/२९३/४) (गो. जी./जी. प्र./३७२/७९९/७)

२. अनुगामी अननुगामीकी विशेषताएँ

ध. १३/५,५,५६/२९४/४ जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं जीवेण सह गच्छदि तमणुगामी णाम तं च तिविहं खेत्ताणुगामी भवाणुगामी खेत्तभवाणुगामी चेदि। तत्थ जमोहिणाणं एयम्मि खेत्ते उप्पण्णं संतं सगपरपयोगेहि सगपरखेत्तेसु हिंडंतस्स जीवस्स ण विणस्सदि तं खेत्ताणुगामी णाम। जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं तेण जीवेण सह अण्णभवं गच्छदि तं भवाणुगामी णाम। जं भरहेरावद-विदेहादिखेत्ताणि देव-णेरइय-माणुसतिरिक्खभवं पि गच्छदि त खेत्तभवाणुगामि त्ति भणिदं होदि। जं तमणणुगामी णाम ओहिणाणं त तिविहं खेत्ताणणुगामी भवाणणुगामी खेत्तभवाणणुगामी चेदि। [जं] खेत्तंतरं ण गच्छदि, भवंतरं चेव गच्छदि [तं] खेत्ताणणुगामि त्ति भण्णदि। जं भवंतरं ण गच्छदि खेत्तंतरं चेव गच्छदि तं भवाणणुगामी णाम। जं खेत्तंतरभवांतराणि ण गच्छदि एक्कम्हि चेव खेत्ते भवे च पडिबद्धं तं खेत्तभवाणणुगामि त्ति भण्णदि। =१. जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है। वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी। उनमें-से जो अवधिज्ञान एक क्षेत्रमें उत्पन्न होकर स्वतः या परप्रयोगसे जीवके स्वक्षेत्र या परक्षेत्रमें विहार करनेपर विनष्ट नहीं होता है, वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीवके साथ अन्य भवमें जाता है वह भवानुगामी है। जो भरत, ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रोंमें तथा देव नारक मनुष्य और तिर्यंच भवमें भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान है। २. जो अननुगामी अवधिज्ञान है वह तीन प्रकारका है—क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी, और क्षेत्रभवाननुगामी। जो क्षेत्रान्तरमें साथ नहीं जाता; भवान्तरमें ही साथ जाता है वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। जो भवान्तरमें साथ नहीं जाता, क्षेत्रान्तरमें ही साथ जाता है वह भवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनोंमें साथ नहीं जाता, किन्तु एक ही क्षेत्र और भवके साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्रभवाननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। (गो.जी./जी.प्र./३७२/७९९/८).

३. प्रतिपाती व अप्रतिपाती के लक्षण

ध. १३/५,५,५६/२९५/१ जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं णिम्मूलदो विणस्सदि तं सप्पडिवादी णाम।...जमोहिणाणं संतं केवलणाणेण समुप्पण्णे चेव विणस्सदि, अण्णहा ण विणस्सदि, तमप्पडिवादी णाम। =जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके उत्पन्न होने पर ही विनष्ट होता है, अन्यथा विनष्ट नहीं होता वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

४. एकक्षेत्र व अनेकक्षेत्र अवधिज्ञानके लक्षण

ध. १३/५,५,५६/२९५/६. जस्स ओहिणाणस्स जीवसरीरस्स एगदेसो करणं होदि तमोहिणाणमेगक्खेत्तं णाम। जमोहिणाणं पडिणियदखेत्तं वज्जिय सरीरसव्वावयवेसु वट्टदि तमणेयक्खेत्तं णाम। =जिस अवधिज्ञानका करण जीव शरीरका एक देश होता है वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्रके बिना शरीरके सब अवयवों में रहता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है। (विशेष दे० अवधिज्ञान/५)

२. अवधिज्ञान निर्देश

१. अवधिज्ञानमें 'अवधि' पदका सार्थक्य

क.पा.१/१/§१२/१७/१ किमट्ठं तत्थ ओहिसद्दो परूविदो। ण; एदम्हादो हेट्ठिमसव्वणाणाणि सावहियाणि उवरिमणाणं णिरवहियमिदि जाणावणट्ठं। ण मणपज्जवणाणेण वियहिचारो; तस्य वि अवहिणाणादो अप्पविसयत्तेण हेट्ठिमत्तब्भुवगमादो। पओगस्स पुण ट्ठाण-

त्रिवज्जासो संजमसहगयत्तेण कयविसेसपदुप्पायणफलो त्ति ण कोच्छि (च्चि) दोसो। = **प्रश्न**—अवधिज्ञानमें अवधि शब्दका प्रयोग किस लिए किया गया है? **उत्तर**—इससे नीचेके सभी ज्ञान सावधि हैं, और ऊपरका केवलज्ञान निरवधि है। इस बातका ज्ञान करानेके लिए अवधिज्ञानमें 'अवधि' शब्दका प्रयोग किया है। यदि कहा जाय कि इस प्रकारका कथन करनेपर मनःपर्यय ज्ञानसे व्यभिचार दोष आता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान भी अवधिज्ञानसे अल्पविषयवाला है, इसलिए विषयकी अपेक्षा उसे अवधिज्ञानसे नीचेका स्वीकार किया है। फिर भी संयमके साथ रहनेके कारण मनःपर्ययज्ञानमें जो विशेषता आती है उस विशेषताको दिखलानेके लिए मनःपर्ययको अवधिज्ञानसे नीचे न रखकर ऊपर रखा है, इसलिए कोई दोष नहीं है। (ध.६/४,१/२/१३/४)

२. प्रत्येक समय नया ज्ञान उत्पन्न होता है

ध.१३/५.५.५६/२९८/१३ सो कस्स वि ओहिणाणस्स अवट्ठाणकालो होदि। कुदो। उप्पण्णबिदियसमए चेव विणट्ठस्स ओहिणाणस्स एगसमयकालुवलंभादो। जीवट्ठाणादिसु ओहिणाणस्स जहण्णकालो अंतोमुहुत्तमिदि पढिदो। *तेण सह कधमेदं सुत्तं न विरुज्झदे। ण एस दोसो, ओहिणाण-सामण्ण-विसेसावलंबणादो। जीवट्ठाणे जेण सामण्णोहिणाणस्स कालो* परूविदो तेण तत्थ अंतोमुहुत्तो होदि। एत्थ पुण ओहिणाणविसेसेण अहियारो, तेण एक्कम्हि ओहिणाणविसेसे एगसमयमच्छिदूण बिदियसमए वड्ढीए हाणीए वा णाणंतरमुवगयस्स एगसमओ लब्भदे। एवं दोतिण्णि समए आदिं कादूण जाव समऊणावलिया त्ति ताव एवं चेव परूवणा कायव्वा। कुदो। दो-तिण्णिआदिसमए अच्छिदूण वि ओहिणाणस्स वड्ढिहाणीहि णाणंतरगमणं संभवदि। = वह (एक समय) किसी भी अवधिज्ञानका अवस्थानकाल होता है, क्योंकि, उत्पन्न होनेके दूसरे समयमें ही विनष्ट हुए अवधिज्ञानका एक समय काल उपलब्ध होता है। **प्रश्न**—जीवस्थान आदि (काल प्ररूपणा) में अवधिज्ञानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है। उसके साथ यह सूत्र कैसे विरोधको प्राप्त नहीं होता? **उत्तर**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अवधिज्ञान सामान्य और अवधिज्ञानविशेषका अवलम्बन लिया गया है। यतः जीवस्थानमें सामान्य अवधिज्ञानका काल कहा गया है अतः वहाँ अन्तर्मुहूर्त मात्र काल होता है। किन्तु यहाँपर अवधिज्ञान विशेषका अधिकार है, इसलिए एक अवधिज्ञानविशेषका एक समय काल तक रहकर दूसरे समयमें वृद्धि या हानिके द्वारा ज्ञानान्तरको प्राप्त हो जानेपर एक समय काल उपलब्ध होता है। इसी प्रकार दो या तीन आदि समयसे लेकर एक समय कम आवली काल तक इसी प्रकार कथन करना चाहिए, क्योंकि दो या तीन आदि समय तक रहकर भी अवधिज्ञानकी वृद्धि और हानिके द्वारा ज्ञानान्तर रूपसे प्राप्ति सम्भव है।

३. अवधि व मति, श्रुत ज्ञानमें अन्तर

ध.६/१,९-१,१४/२६/१ मदिसुदणाणेहिंतो एदस्स सावहियत्तेण भेदाभावा पुधपरूवणं णिरत्थयमिदि च, ण एस दोसो, मदिसुदणाणाणि परोक्खाणि, ओहिणाणं पुण पच्चक्खं; तेण तहिंतो तस्स भेदुवलंभा। मदिणाणं पि पच्चक्खं निस्सदीदि चे ण, मदिणाणेण पच्चक्खं वत्थुस्स अणुवलंभा। = **प्रश्न**—अवधि अर्थात् मर्यादा-सहित होनेकी अपेक्षा अवधिज्ञानका मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इन दोनोंसे कोई भेद नहीं है, इसलिए इसका पृथक् निरूपण करना निरर्थक है? **उत्तर**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं। किन्तु अवधिज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञान है। इसलिए उक्त दोनों ज्ञानोंसे अवधिज्ञानके भेद पाया जाता है। **प्रश्न**—मतिज्ञान भी तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानसे वस्तुका प्रत्यक्ष उपलम्भ नहीं होता। (विशेष दे० आगे अवधिज्ञान/३)

४. अवधि व मनःपर्यय ज्ञानमें अन्तर

त.सू./१/२५ विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः। = विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भेद है। (त.सा./१/२६/२६)

रा.वा./६/१०/१२/५१९/३ मनःपर्ययज्ञानं स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते। कथं तर्हि। परकीयमनःप्रणालिकया। ततो यथा मनोऽतीतानागतानर्थांश्चिन्तयति न तु पश्यति। तथा मनःपर्ययज्ञान्यपि भूतभविष्यन्तौ वेत्ति न पश्यति। वर्तमानमपि मनोविषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते। = मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे विषयोंको नहीं जानता, किन्तु परकीय मन प्रणालीसे जानता है। अतः मन जैसे अतीत और अनागत अर्थोंका विचार चिन्तन तो करता है, देखता नहीं है, उसी तरह मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यत्को जानता है देखता नहीं। वह वर्तमान भी मनको विषयविशेषाकारसे जानता है।

ध.६/१,९-१,१४/२९/१ ओहिमणपज्जवणाणाणं को विसेसो। उच्चदे—मणपज्जवणाणं विसिट्ठसंजमपच्चयं, ओहिणाणं पुण भवपच्चयं गुणपच्चयं च। मणपज्जवणाणं मदिपुव्वं चेव, ओहिणाणं पुण ओहिदंसणपुव्वं। एसो तेसिं विसेसो। = **प्रश्न**—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनोंमें क्या भेद है? **उत्तर**—मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयमके निमित्त से उत्पन्न होता है, किन्तु अवधिज्ञान भवके निमित्तसे और गुण अर्थात् क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न होता है। मनःपर्ययज्ञान तो मति-पूर्वक ही होता है, किन्तु अवधिज्ञान अवधिदर्शनपूर्वक होता है। यह उन दोनोंमें भेद है।

५. अवधिज्ञानसे मनःपर्यय विशुद्ध क्यों

रा.वा./१/२५/१/८६/१६ स्यान्मतम्-अवधिज्ञानान्मनःपर्ययोऽविशुद्धतरः। कुतः। अल्पद्रव्यविषयत्वात्। यतः सर्वावधिरूपिद्रव्यानन्तभागो मनःपर्ययद्रव्यमिति; तन्न; किं कारणम्। भूयः पर्यायज्ञानात्। यथा कश्चिद् बहूनि शास्त्राणि व्याचष्टे एकदेशेन, न साकल्येन तद्गतमर्थं शक्नोति वक्तुं, अपरस्त्वेकं शास्त्रं साकल्येन व्याचष्टे यावन्तस्तस्यार्थास्तान् सर्वान् शक्नोति वक्तुम्, अयं पूर्वस्माद्विशुद्धतरविज्ञानो भवति। तथा अवधिज्ञानविषयानन्तभागज्ञोऽपि मनःपर्ययो विशुद्धतरः, यतस्तमनन्तभागं रूपादिभिर्बहुभिः पर्यायैः प्ररूपयति। = **प्रश्न**—अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान अविशुद्धतर है, क्योंकि उसका द्रव्य विषय अल्प है। जैसे कि कहा भी है कि सर्वावधिके रूपीद्रव्यका अनन्तवाँ भाग मनःपर्ययका विषय है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, वह उस अपने विषयभूत द्रव्यकी बहुत पर्यायोंको जानता है। जैसे कोई बहुत-से शास्त्रोंको एक देशरूपसे जानता है परन्तु साकल्यरूपसे उसको कहनेमें समर्थ नहीं है; और दूसरा कोई केवल एक ही शास्त्रको जानता है परन्तु साकल्यरूपसे जितना कुछ भी उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ है उस सर्वको कहनेमें समर्थ है। तब यह पहिलेकी अपेक्षा विशुद्धतर विज्ञान समझा जाता है। इसी प्रकार अवधिज्ञानके विषयका अनन्तवाँ भाग भी मनःपर्यय ज्ञान विशुद्धतर है, क्योंकि उस अनन्तवें भाग द्रव्यकी बहुत अधिक पर्यायोंको प्ररूपित करता है।

६. मोक्षमार्गमें अवधि व मनःपर्यय ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है

रा.वा.२/१/३/२/६२ केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशात्। = केवलज्ञानकी उत्पत्ति पूर्ववर्ती पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानरूप कारणसे होती हुई मानी है। (भाषाकार—केवलज्ञानमें अत्युपयोगी श्रुतज्ञान है, अवधि मनःपर्यय नहीं है।)

पं.ध./पू./७१६ अपि चात्मसंसिद्धयै नियतं हेतू मतिश्रुते ज्ञाने। प्रान्त्य-द्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥७१६॥ =आत्माकी सिद्धिके लिए मतिश्रुतज्ञान निश्चित कारण हैं क्योंकि अन्तके दो (अवधि व मनःपर्यय) ज्ञानोंके बिना मोक्ष हो सकता है, किन्तु मति श्रुतज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। रहस्यपूर्ण चिट्ठी "इस अनुभवमें मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ही है, अन्य कोई ज्ञान नहीं।"

७. पंचम कालमें अवधि मनःपर्यय सम्भव नहीं

म.पु./४१/७६ परिवेषोपरक्तस्य श्वेतभानोर्निशामनात्। नोत्पत्स्यते तपोभृत्सु समनःपर्ययोऽवधिः ॥७६॥ =(भरतके स्वप्नोंका फल बताते हुए भगवान् कहते हैं) परिमण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाके देखने से यह जान पड़ता है कि पंचमकालके मुनियोंमें अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान नहीं होगा।

८. पंचम कालमें भी कदाचित् अवधिज्ञान की सम्भावना

ति.प./४/१५१०-१५१७ दादूणं पिंडग्गं समणा कालो य अंतराणं पि। गच्छंति ओहिणाणं उप्पज्जइ तेसु एक्कम्मि ॥१५१२॥ कक्की पडि एक्केक्कं दुस्समसाहुस्स ओहिणाणं पि। संघाय चादुवण्णा थोवा आयंति तक्काले ॥१५१७॥ =आचारांगधरोंके पश्चात् २७५ वर्ष व्यतीत होनेपर कल्की नरपतिको पट बाँधा गया था ॥१५१०॥ वह कल्की मुनियोंके आहारमें-से भी अग्रपिंडको शुल्क (के रूपमें) माँगने लगा ॥१५११॥ तब श्रमण अग्रपिंडको देकर और 'यह अन्तरायोंका काल है' ऐसा समझकर [निराहार] चले जाते हैं। उस समय उनमें-से किसी एकको अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१५१२॥ इस प्रकार एक हज़ार वर्षोंके पश्चात् पृथक्-पृथक् एक-एक कल्की तथा पाँच सौ वर्षों पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है ॥१५१६॥ प्रत्येक कल्कीके प्रति एक-एक दुषमाकालवर्ती साधुको अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समयमें चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं ॥१५१७॥

९. मिथ्यादृष्टिका अवधिज्ञान विभंग कहलाता है।

पं.सं./प्रा./१/१२० वेभंगो त्ति व वुच्चई सम्मत्तणाणीहिं समयम्हि। =उसे (मिथ्यात्व संयुक्त अवधिज्ञानको) आगममें विभंगज्ञान कहा गया है। (ध.१/१,१,११५/१८१/३५९) (गो.जी./मू./३०५/६५७) (पं.सं./सं/१/२३२)।

ध.१३/५,५,५३/२९०/८ ण च मिच्छाइट्ठीसु ओहिणाणं णत्थि त्ति वोत्तुं जुत्तं, मिच्छत्तसहचरिदओहिणाणस्सेव विहंगणाणववएसादो। = मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्व सहचरित अवधिज्ञानकी ही विभंग ज्ञान संज्ञा है।

३. अवधि व मनःपर्ययज्ञानकी कथंचित् प्रत्यक्षता परोक्षता

१. अवधि व मनःपर्यय कर्मप्रकृतियोंको प्रत्यक्ष जानते हैं।

ध.१/१,१,१/५६/३ कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात्। =प्रश्न—कर्मोंकी असंख्यात गुणश्रेणी रूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे प्रति समय कर्मनिर्जरा होती है, यह बात अवधिज्ञानी और मनःपर्यय ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है।

२. कर्मबद्ध जीवको प्रत्यक्ष जानते हैं

स.सि./८/२६/४०५/३ एवं व्याख्यातो सप्रपञ्चः बन्धपदार्थः। अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेयः। =इस प्रकार (१४८ प्रकृतियोंके निरूपण द्वारा) बन्ध-पदार्थका विस्तारके साथ व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान-रूप प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

ध.१३/५,५,६३/३३३/४ दिट्ठसुदाणुभूदट्ठविसयणाणविसेसिदजीवो सदी णाम। तं पि पच्चक्खं पेच्छदि। अमुत्तो जीवो कधं मणपज्जवणाणेण मुत्तट्ठपरिच्छेदियोहिणाणादो हेट्ठिमेण परिच्छिज्जदे। ण मुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबंधनबद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो। स्मृतिरमूर्त्ता चेत्—न जीवादोपुधभूदसदीए अणुवलंभा। अणागयत्थविसयमदि-णाणेण विसेसिदजीवो मदी णाम। तं पि पच्चक्खं जाणदि। वट्ट-माणत्थविसयमदिणाणेण विसेसिदजीवो चिंता णाम। तं पि पच्चक्खं वेच्छदि। =दृष्ट श्रुत और अनुभूत अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानसे विशेषित जीवका नाम स्मृति है, इसे भी वह (मनःपर्ययज्ञानी) प्रत्यक्षसे देखता है। प्रश्न—यतः जीव अमूर्त है अतः वह मूर्त अर्थको जाननेवाले अवधिज्ञानसे नीचेके मनःपर्ययज्ञानके द्वारा कैसे जाना जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, संसारी जीव मूर्त आठ कर्मोंके द्वारा अनादिकालीन बन्धनसे बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता। प्रश्न—स्मृति तो अमूर्त है? उत्तर—नहीं, क्योंकि स्मृति जीवसे पृथक् नहीं उपलब्ध होती है। अनागत अर्थका विषय करने-वाले मतिज्ञानसे विशेषित जीवकी मति संज्ञा है, इसे भी वह प्रत्यक्ष जानता है। वर्तमान अर्थको विषय करनेवाले मतिज्ञानसे विशेषित जीवकी चिन्ता संज्ञा है, इसे भी वह प्रत्यक्ष देखता है।

३. अवधि मनःपर्ययकी कथंचित् परोक्षता

पं.ध./पू./७०१ छद्मस्थायामावरणेन्द्रियसहाय्यसापेक्षम्। यावज्ज्ञान-चतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिव वाच्यम् ॥७०१॥—छद्मस्थ अवस्थामें आवरण और इन्द्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाले जितने भी चारों ज्ञान हैं वे सब परमार्थ रीतिसे परोक्षवत् कहने चाहिए।

मो.मा.प्र./३/५१/४ सो यहु (अवधि ज्ञान) भी शरीरादिक पुद्गलनिकैं आधीन है।...अवधि दर्शन है सो मतिज्ञान वा अवधिज्ञानवत् पराधीन जानना।

४. अवधि मनःपर्ययकी प्रत्यक्षता परोक्षताका समन्वय

पं.ध./पू./७०२-७०५ अवधिमनःपर्ययवद्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात्। केवल-मिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥७०२॥ तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात्। अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधि-चित्त-पर्ययं ज्ञानम् ॥७०३॥ यस्मादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम्। आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा नैव चान्तिमं द्वैतम् ॥७०४॥ दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्। केवलमेव मनसादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥७०५॥ =अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान एकदेशपनेसे प्रत्यक्ष हैं, यह कथन केवल उपचारसे अथवा विवक्षा वश समझना चाहिए, *किन्तु अन्वर्थसे नहीं ॥७०२॥ उपचारका कारण यह है कि* जैसे नियमसे मतिज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक होता है, वैसे अवधिमनःपर्यय ज्ञान इन्द्रियादिकसे उत्पन्न नहीं होते हैं ॥७०३॥ क्योंकि जैसे यहाँ पर आदिके दोनों ज्ञान अवग्रह ईहा अवाय और धारणाको उल्लंघन नहीं करनेसे पराधीन हैं, वैसे अन्तके दोनों ज्ञान नहीं है ॥७०४॥ क्योंकि यहाँपर अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान केवल मनसे ही दूरवर्ती पदार्थोंको लीलामात्रसे प्रत्यक्षकी तरह जानते हैं ॥७०५॥

५. अवधि व मति ज्ञानकी प्रत्यक्षतामें अन्तर

ध. ६/१,६-१,१४/२६/२ मतिसुदणाणाणि परोक्खाणि, ओहिणाणं पुण पच्चक्खं; तेण तेहिंतो तस्स भेदुवलंभा। मदिणाणं वि पच्चक्खं दिस्सदीदि चे ण, मदिणाणेण पच्चक्खं वत्थुस्स अणुवलंभा। जो पच्चक्खमुवलब्भइ, सो वत्थुस्स एगदेसो त्ति वत्थू ण होदि। जो वि वत्थू, सो वि ण पच्चक्खेण उवलब्भदि; तस्स पच्चक्खापच्चक्खपरोक्ख-मइणाणविसयत्तादो। तदो मदिणाणं पच्चक्खेण ण वत्थु परिच्छेदयं। जदि एवं, तो ओहिणाणस्स वि पच्चक्ख-परोक्खत्तं पसज्जदे, तिकाल-गोयराणंतपज्जाएहि उवचियं वत्थू, ओहिणाणस्स पच्चक्खेण तारिस-वत्थुपरिच्छेदणसत्तीए अभावादो इदि चे ण, ओहिणाणम्मि पच्चक्खेण वट्टमाणासेसपज्जायविसिट्ठवत्थुपरिच्छित्तीए उवलंभा, तीदाणागद-असंखेज्जपज्जायविसिट्ठवत्थुदंसणादो च। एवं पि तदो वत्थुपरिच्छेदो णत्थि त्ति ओहिणाणस्स पच्चक्ख-परोक्खत्तं पसज्जदे। ण, उभयणय-समूहवत्थुम्मि-ववहारजोगम्मि ओहिणाणस्स पच्चक्खत्तुवलंभा। ण चाणंतवंजणपज्जाए ण घेप्पदि त्ति ओहिणाणं वत्थुस्स एगदेसपरिच्छेदयं, ववहारणयवंजणपज्जाएहि एत्थ वत्थुत्तब्भुवगमादो। ण मदिणाणस्स वि एसो कमो, तस्स वट्टमाणासेसपज्जायविसिट्ठ-वत्थु परिच्छेयणसत्तीए अभावादो। =**निर्देश**—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, किन्तु अवधिज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञान है, इसलिए उक्त दोनों ज्ञानोंसे अवधि-ज्ञानके भेद पाया जाता है। **प्रश्न**—मतिज्ञान भी तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि मतिज्ञानसे वस्तुका प्रत्यक्ष उपलम्भ नहीं होता है। मतिज्ञानसे जो प्रत्यक्ष जाना जाता है वह वस्तुका एकदेश है; और वस्तुका एकदेश सम्पूर्ण वस्तु रूप नहीं हो सकता है। जो भी वस्तु है वह मतिज्ञानके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे नहीं जानी जाती है, क्योंकि, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप परोक्ष मतिज्ञानका विषय है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि मतिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे वस्तुका जाननेवाला नहीं है। (जितने अंशको स्पष्ट जाना वह प्रत्यक्ष है शेष अंश अप्रत्यक्ष है। और इन्द्रियावलम्बी होनेसे परोक्ष है। इसलिए यहाँ मतिज्ञानको 'प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष परोक्ष' कहा गया है। **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो अवधिज्ञानके भी प्रत्यक्षपरोक्षात्मकता प्राप्त होती है, क्योंकि, वस्तु त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित है, किन्तु अवधिज्ञानके प्रत्यक्ष द्वारा उस प्रकारकी वस्तुके जाननेको शक्तिका अभाव है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि; अवधिज्ञानमें प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान समस्त पर्यायविशिष्ट वस्तुका ज्ञान पाया जाता है, तथा भूत और भावी असंख्यात पर्यायविशिष्ट वस्तुका ज्ञान देखा जाता है। **प्रश्न**—इस प्रकार माननेपर भी अवधिज्ञानमे पूर्ण वस्तुका ज्ञान नहीं होता है, इसलिए, अवधिज्ञानके प्रत्यक्षपरोक्षात्मकता प्राप्त होती है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, व्यवहारके योग्य, एवं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों नयोंके समूहरूप वस्तुमें अवधिज्ञानके प्रत्यक्षता पायी जाती है। **प्रश्न**—अवधिज्ञान अनन्त व्यंजन पर्यायों-को नहीं ग्रहण करता है, इसलिए वस्तुके एकदेशका जाननेवाला है? **उत्तर**—ऐसा भी नहीं जानना चाहिए, क्योंकि, व्यवहार नयके योग्य व्यंजनपर्यायोंकी अपेक्षा यहाँपर वस्तुत्व माना गया है। यदि कहा जाय कि मतिज्ञानका भी यही क्रम मान लेंगे, सो नहीं माना जा सकता, क्योंकि, मतिज्ञानके वर्तमान अशेष पर्यायविशिष्ट वस्तुके जाननेकी शक्तिका अभाव है, तथा मतिज्ञानके प्रत्यक्षरूपसे अर्थ ग्रहण करनेके नियमका अभाव है।

ध.१३/५,५,२१/२११/३ अवध्याभिनिबोधिकज्ञानयोरेकत्वम्, ज्ञानत्वं प्रत्य-विशेषादिति चेत्—न, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोरनिन्द्रियजेन्द्रियजयोरेकत्ववि-रोधात्। ईहादिमतिज्ञानस्याप्यनिन्द्रियजत्वमुपलभ्यत इति चेत्—न, द्रव्यार्थिकनये अवलम्ब्यमाने ईहाद्यभावतस्तेषामनिन्द्रियजत्वाभावात् नैगमनये अवलम्ब्यमानेऽपि पारम्पर्येणेन्द्रियजत्वोपलम्भाच्च। प्रत्यक्ष-माभिनिबोधिकज्ञानम्, तत्र वैशद्योपलम्भादवधिज्ञानवदिति चेत्—न, ईहादिषु मानसेषु च वैशद्याभावात्। न चेदं प्रत्यक्षलक्षणम्, पञ्चे-न्द्रियविषयावग्रहस्यापि विशदस्यावधिज्ञानस्येव प्रत्यक्षतापत्तेः। अवग्रहे वस्त्वेकदेशो विशदं चेत्—न, अवधिज्ञानेऽपि तदविशेषात्। ततः पराणीन्द्रियाणि आलोकादिश्च, परेषामायत्तज्ञानं परोक्षम्। तदन्यत् प्रत्यक्षमित्यङ्गीकर्तव्यम्। =**प्रश्न**—अवधिज्ञान और आभि-निबोधिक (मति) ज्ञान ये दोनों एक हैं, क्योंकि, ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा इनमें कोई भेद नहीं। **उत्तर**—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है और आभिनिबोधिकज्ञान परोक्ष है, तथा अवधिज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं है और आभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रियजन्य है, इसलिए इन्हें एक माननेमें विरोध आता है। **प्रश्न**—ईहादि मतिज्ञान भी अनिन्द्रियज उपलब्ध होते हैं? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन लेनेपर ईहादि स्वतन्त्र ज्ञान नहीं है इसलिए वे अनिन्द्रियज नहीं ठहरते। तथा नैगम नयका अवलम्बन लेनेपर भी वे परम्परासे इन्द्रियजन्य ही उपलब्ध होते हैं। **प्रश्न**—आभिनिबोधिक ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसमें अवधिज्ञानके समान विशदता उपलब्ध होती है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, ईहादिकोंमें और मानसिकज्ञानोंमें विशदताका अभाव है। दूसरे यह विशदता प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर पंचेन्द्रिय विषयक अवग्रह भी विशद होता है, इसलिए उसे भी अवधिज्ञानकी तरह प्रत्यक्षता प्राप्त हो जायगी। **प्रश्न**—अवग्रहमें वस्तुका एकदेश विशद होता है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानमें भी उक्त विशदतासे कोई विशेषता नहीं है, अर्थात् इसमें भी वस्तुकी एकदेश विशदता पायी जाती है। इसलिए 'पर' का अर्थ इन्द्रियाँ और आलोक आदि हैं, और पर अर्थात् इनके आधीन जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है। तथा इससे अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए।

४. अवधिज्ञानमें इन्द्रियों व मनके निमित्तका सद्भाव व असद्भाव

१. अवधिज्ञानमें कथंचित् मनका सद्भाव

पं. ध./पू./६९९ देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्। देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात्॥ ६९९॥ =अवधि-मनःपर्ययरूप जो ज्ञान है वह देशप्रत्यक्ष है क्योंकि वह केवल अनि-न्द्रियरूप मनसे उत्पन्न होनेके कारण देश तथा अन्य बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेसे प्रत्यक्ष कहलाता है।

२. अवधिज्ञानमें मनके निमित्तका अभाव

अष्टशती/का.३/निर्णयसागर बम्बई—"आत्मनमेवापेक्ष्यैतानि त्रीणि ज्ञानानि उत्पद्यन्ते। न इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा तत्रास्ति। उक्तं च—अतएवाक्षानपेक्षाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो,यथालोकानपेक्षा।" =अवधि, मनःपर्यय व केवल ये तीनों ज्ञान आत्माकी अपेक्षा करके ही उत्पन्न होते हैं। तहाँ इन्द्रिय या अनिन्द्रियकी अपेक्षा नहीं होती। कहा भी है—"जिस प्रकार अंजन आदिसे संस्कृत आँख आलोकादिसे निरपेक्ष ही देखती है, उसी प्रकार ये तीनों ज्ञान भी इन्द्रियोंसे निरपेक्ष ही जानते हैं।

अष्टसहस्री/पृ. ५०/निर्णयसागर बम्बई—"न हि सर्वार्थैव सकृदक्ष-सम्बन्धः सम्भवति साक्षात्परम्परया वा। ननु, चावधिमनःपर्यय-ज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोः असर्वदर्शनः कथमक्षानपेक्षा संलक्ष-णीया। तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुरत्वात् इति ब्रूमः।" =इन ज्ञानोंमें साक्षात् या परम्परा रूपसे किसी भी प्रकार इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। **प्रश्न**—अवधि व मनःपर्यय ज्ञानियोंको जो कि केवल एकदेश रूपसे मोहसे छूटे हैं तथा असर्व-दर्शी हैं, इन्द्रियोंसे निरपेक्षपना कैसे कहा जा सकता है? **उत्तर**—

क्योंकि अपने आवरण कर्मके क्षयोपशमके कारण ही वे अपने-अपने विषयमें परिस्फुरित होते हैं। इसलिए ऐसा कहा है।

गो. जी./मू./४४६/८६३ "इंदियणोइंदियजोगादि पेक्खित्तु उजुमदी होदि। णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ॥ ४४६ ॥" —ऋजुविपुलमति ज्ञान तो स्व व परके इन्द्रिय, मन, व योगोंकी सापेक्षतासे उत्पन्न होता है, परन्तु विपुलमति व अवधि ज्ञान नियमसे इनकी अपेक्षा रहित है।

५. अवधिज्ञानका उत्पत्ति स्थान व करण चिह्न विचार

१. देशावधि गुणप्रत्ययज्ञान करण चिह्नोंसे उत्पन्न होता है और शेष सब सर्वांगसे होते हैं

ध. १३/५,५,५६/२४/२९५ णेरइय-देव-तित्थयरोहिक्खेस्सबाहिरं एदे। जाणंति सव्वदो खलु सेसा देसेण जाणंति। सेसा देसेण जाणंति त्ति एत्थ णियमो ण कायव्वो, परमोहिसव्वोहिणाणगणहराईणं सग-सव्वावयवेहि सगविसईभूदत्थस्स गहणुवलंभादो। तेण सेसा देसेण सव्वदो च जाणंति त्ति घेत्तव्वं। =नारकी, देव और तीर्थंकर इनका जो अवधिक्षेत्र है उसके भीतर ये सर्वांगसे जानते हैं और शेष जीव शरीरके एक देशसे जानते हैं ॥ २४ ॥

शेष जीव शरीरके एक देशसे जानते हैं, इस प्रकारका यहाँ नियम नहीं करना चाहिए, क्योंकि, परमावधिज्ञानी और सर्वावधिज्ञानी गणधरादिक अपने शरीरके सब अवयवोंसे अपने विषयभूत अर्थको ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं। इसलिए शेष जीव शरीरके एकदेशसे और सर्वांगसे जानते हैं, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

पं. सं./सं./१/१५८ तीर्थकृच्छ्वाभ्रदेवानां सर्वांगोत्थोऽवधिर्भवेत्। नृतिरश्चां तु शङ्खाब्जस्वस्तिकाद्यङ्कचिह्नजम् ॥ १५८ ॥ —तीर्थंकर, नारकी व देवोंको अवधिज्ञान सर्वांगसे उत्पन्न होता है। तथा मनुष्यों व तिर्यंचोंको शरीरवर्ती शंख कमल व स्वस्तिक आदि करण चिह्नोंसे उत्पन्न होता है। (गो. जी./मू./३७१/७९८)

२. करणचिह्नोंके आकार

ष. खं. १३/५,५,/सू. ५७-५८/२९६ खेत्तदो ताव अणेयसंठाणसंठिदा ॥५७॥ सिरिवच्छ-कलस-संख-सोत्थिय-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवंति ॥ ५८ ॥ =क्षेत्रकी अपेक्षा शरीरप्रदेश अनेक संस्थान संस्थित होते हैं ॥ ५७ ॥ श्रीवत्स, कलश, शंख, सांथिया, और नन्दावर्त आदि आकार जानने योग्य हैं ॥ ५८ ॥ (आदि शब्दसे अन्य संस्थानोंका ग्रहण होता है) (रा. वा./१/२२/४/८३/२५)

पं. सं./सं./१/१५८ अत्र शङ्खाब्जस्वस्तिकश्रीवत्सध्वजकलशनन्द्यावर्त-हलादीन्यवधेरुत्पत्तिक्षेत्रसंस्थानानि। =शंख, कमल, स्वस्तिक, श्रीवत्स, ध्वज, कलश, नन्द्यावर्त, हल आदिक अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके क्षेत्र संस्थान होते हैं। (गो. जी./जी. प्र./३७१/७९८/६)

३. चिह्नोंके आकार नियत नहीं है

ध. १३/५,५,५७/२९६/१० जहा कायाणमिंदियाणं च पडिणियदं संठाणं तहा ओहिणाणस्स ण होदि, किंतु ओहिणाणावरणीयखओवसमगद-जीवपदेसाणं करणीभूदसरीरपदेसा अणेयसंठाणसंठिदा होंति। —जिस प्रकार शरीरका और इन्द्रियोंका प्रतिनियत आकार होता है उस प्रकार अवधिज्ञानका नहीं होता है। किन्तु अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवप्रदेशोंके करणरूप शरीर प्रदेश अनेक संस्थानोंसे संस्थित होते हैं।

४. शरीरमें शुभ व अशुभ चिह्नोंका प्रमाण व अवस्थान

ध. १३/५,५,५८/२९७/१० ण च एक्कस्स जीवस्स एक्कम्हि चेव पदेसे ओहिणाणकरणं होदि त्ति णियमो अत्थि, एग-दो-तिण्णि-चत्तारि-पंच-छआदिखेत्ताणमेगजीवम्हि संखादिसुहसंठाणाणं कम्हि वि संभवादो। एदाणि संठाणाणि तिरिक्खमणुस्साणं णाहीए उवरिमभागे होंति. णो हेट्ठा; सुहसंठाणाणमधोभागेण सह विरोहादो। तिरिक्खमणुस्स-विहंगणाणीणं णाहीए हेट्ठा सरडादिअसुहसंठाणाणि होंति त्ति गुरूव-देसो, ण सुत्तमत्थि। —एक जीवके एक ही स्थानमें अवधिज्ञानका करण होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, किसी भी जीवके एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह आदि क्षेत्ररूप शंखादि शुभ संस्थान सम्भव हैं। ये संस्थान तिर्यंच और मनुष्योंके नाभिके उपरिम भागमें होते हैं, नीचेके भागमें नहीं होते, क्योंकि, शुभ संस्थानोंका अधोभागके साथ विरोध है। तथा तिर्यंच और मनुष्य विभंगज्ञानियोंके नाभिसे नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। ऐसा गुरुका उपदेश है, इस विषयमें कोई सूत्र वचन नहीं है। (पं. सं./सं./१/१५८ व्याख्या) (गो. जी./जी. प्र./३७१/७९८/६)

५. सम्यक्त्व व मिथ्यात्वके कारण करणचिह्नोंमें परिवर्तन

ध. १३/५,५,५८/२९८/२ विहंगणाणीणं ओहिणाणे सम्मत्तादिफलेण समुप्पण्णे सरडादिअसुहसंठाणाणि फिट्टिदूण णाहीए उवरि संखादि-सुहसंठाणाणि होंति त्ति घेत्तव्वं। एवमोहिणाणपच्छायदविहंगणाणीणं पि सुहसंठाणाणि फिट्टिदूण असुहसंठाणाणि होंति त्ति घेतव्वं। =विभंगज्ञानियोंके सम्यक्त्व आदिके फल स्वरूपसे अवधिज्ञानके उत्पन्न होनेपर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभिके ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते हैं, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार अवधिज्ञानसे लौटकर प्राप्त हुए विभंगज्ञानियोंके भी शुभ संस्थान मिटकर अशुभ संस्थान हो जाते हैं, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

६. सम्यक्त्व व मिथ्यात्व कृत चिह्नभेद संबंधी मतभेद

ध.१३/५,५,५८/२९८/५ के वि आइरिया ओहिणाण-विभंगणाणं खेत्त-संठाणभेदो णाभीए हेट्ठोवरि णियमो च णत्थि त्ति भणंति, दोण्णं पि ओहिणाणत्तं पडिभेदाभावादो। ण च सम्मत्तमिच्छत्तसहचारेण कदणामभेदादो भेदो अत्थि, अइप्पसंगादो। एदमेत्थ पहाणं कायव्वं। =कितने ही आचार्य अवधिज्ञान और विभंगज्ञानका क्षेत्रसंस्थानभेद तथा नाभिके नीचे-ऊपरका नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अवधिज्ञानसामान्यकी अपेक्षा दोनोंमें कोई भेद नहीं है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी संगतिसे किये गये नामभेदके होनेपर भी अवधि-ज्ञानकी अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं हो सकता; क्योंकि, ऐसा मानने-पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसी अर्थको यहाँ प्रधान करना चाहिए।

७. सर्वांग क्षयोपशमके सद्भावमें करण चिह्नोंकी क्या आवश्यकता

ध.१३/५,५,५६/२९६/२ ओहिणाणं अणेयखेत्तं चेव, सव्वजीवपदेसेसु अक्कमेण खओवसमं गदेसु सरीरेगदेसेणेव बज्झट्ठावगमाणुववत्तीदो। ण, अण्णत्थ करणाभावेण करणसरूवेण परिणदसरीरेगदेसेण तदवगमस्स विरहाभावादो। ण च सकरणो खओवसमो तेण विणा जाणदि, विप्पडिसेहादो। =प्रश्न—अवधिज्ञान अनेकक्षेत्र ही होता है, क्योंकि, सब जीव प्रदेशोंके युगपत् क्षयोपशमको प्राप्त होनेपर शरीरके एकदेशसे ही बाह्य अर्थका ज्ञान नहीं बन सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अन्य देशोंमें करणस्वरूपता नहीं है, अतएव करणस्वरूपसे परिणत हुए शरीर के एकदेशसे बाह्य अर्थका ज्ञान माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

प्रश्न—सकरण क्षयोपशम उसके बिना जानता है? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस मान्यताका विरोध है।

८. सर्वांगकी बजाय एक देशमें ही क्षयोपशम मान लें तो

ध.१३/५.५.५६/२९६/५ जीवपदेसाणमेगदेसे चेव ओहिणाणावरणक्खओवसमे संते एयक्खेत्तं जुज्जदि त्ति ण पच्चवट्ठेयं, उदयगदगोवुच्छाए सव्वजीवपदेसविसयाए देसट्ठाइणीए संतीए जीवेगदेसे चेव खओवसमस्स वुत्तिविरोहादो। ण चोहिणाणस्स पच्चक्खत्तं पि फिट्टदि अणेयक्खेत्ते आरायत्ते पच्चक्खलक्खणुवलंभादो। —प्रश्न—जीवप्रदेशोंके एकदेशमें ही अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर एकक्षेत्र अवधिज्ञान बन जाता है? उत्तर—ऐसा निश्चय करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उदयको प्राप्त हुई गोपुच्छा सब जीवप्रदेशोंको विषय करती है, इसलिए उसका देशस्थायिनी होकर जीवके एकदेशमें ही क्षयोपशम माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—इसमे अवधिज्ञानकी प्रत्यक्षता विनष्ट हो जाती है? उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, वह अनेक क्षेत्रमें उसके पराधीन न होनेपर उसमें प्रत्यक्षका लक्षण पाया जाता है। नोट—जीव प्रदेशोंके भ्रमण करनेपर ज्ञानके अभावका प्रसंग आ जायेगा—दे० इन्द्रिय/१।

९. करण चिह्नोंमें भी ज्ञानोत्पत्तिका कारण तो क्षयोपशम ही है

गो.जी./जी.प्र./३७१/७९८/६ कलशादिशुभचिह्नलक्षितात्मप्रदेशस्थावधिज्ञानावरणवीर्यान्तरायकर्मद्वयक्षयोपशमोत्पन्नमित्यर्थः। =कलश इत्यादिक आकाररूप जहाँ शरीरविषैं भले लक्षण होइ तहाँ संबंधी जे आत्माके प्रदेश तिनिविषै तिष्ठता जो अवधिज्ञानावरणकर्म अर वीर्यान्तरायकर्म तिनिकै क्षयोपशमतैं उत्पन्न ही है।

६. अवधिज्ञानके भेदों सम्बन्धी विचार

१. भवप्रत्यय व गुणप्रत्ययमें अन्तर

गो.जी./जी.प्र./३७१/७९८/४ तत्र भवप्रत्ययगवधिज्ञानं सुराणां नारकाणां चरमभवतीर्थंकराणां च संभवति। तच्च तेषां सर्वाङ्गोत्थं भवति।··· गुणप्रत्ययं अवधिज्ञानं नराणां तिरश्चां च संभवति। तच्च तेषां शङ्खादिचिह्नभवं भवति।···भवप्रत्यये अवधिज्ञाने दर्शनविशुद्ध्यादिगुणसद्भावेऽपि तदनपेक्ष्यैव भवप्रत्ययत्वं ज्ञातव्यं। गुणप्रत्ययेऽवधिज्ञाने तिर्यग्मनुष्यसद्भावेऽपि तदनपेक्ष्यैव गुणप्रत्ययत्वं ज्ञातव्यं। =भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवनिकै, नारकीनिकै, अर चरमशरीरी तीर्थंकर देवनिकै पाइये है। सो यहू उनके सर्वांगसे उत्पन्न हो है। बहुरि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है सो मनुष्य और तिर्यंचके संभवै है। सो यहु उनके शंखादि चिह्नोंसे उत्पन्न हो है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान विषैं भी सम्यग्दर्शनादि गुणका सद्भाव है तथापि उन गुणोंकी अपेक्षा नाहीं करनेतैं भवप्रत्यय कह्या। अर गुणप्रत्यय विषैं मनुष्य तिर्यंच (भव) का सद्भाव है, तथापि उन पर्यायनिकी अपेक्षा नाहीं करने तै गुण प्रत्यय कहा है।

२. क्या भवप्रत्ययमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं है

स.सि./१/२१/१२५/७ भवः प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्ययः। —यद्येवं तत्र क्षयोपशमनिमित्तत्वं न प्राप्नोति। नैष दोषः; तदाश्रयात्तत्सिद्धेः। भवं प्रतीत्य क्षयोपशमः संजायत इति कृत्वा भवः प्रधानकारणमित्युपदिश्यते। यथा पतत्त्रिणो गमनमाकाशे भवनिमित्तम्। न शिक्षागुणविशेषः, तथा देवनारकाणां व्रतनियमाद्यभावेऽपि जायत इति 'भवप्रत्ययः' इत्युच्यते। इतरथा हि भवः साधारण इति कृत्वा सर्वेषामविशेषः स्यात्। इष्यते च तत्रावधेः प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिः। —जिस अवधिज्ञानके होनेमें भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो अवधिज्ञानके होनेमें क्षयोपशमकी निमित्तता नहीं बनती? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भवके आश्रयसे क्षयोपशमकी सिद्धि हो जाती है। भवका आलम्बन लेकर क्षयोपशम हो जाता है ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है ऐसा उपदेश दिया जाता है। जैसे पक्षियोंका आकाशमें गमन करना भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुणकी अपेक्षासे नहीं होता वैसे ही देव और नारकियोंके व्रत नियमादिकके अभावमें भी अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भव निमित्तक कहते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सबके साधारण रूप पाया जाता है, अतः सबके एक-सा अवधिज्ञान प्राप्त होगा। परन्तु वहाँपर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा ही जाता है। इससे जाना जाता है कि वहाँपर अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशमसे ही है, पर वह क्षयोपशम भवके निमित्तसे प्राप्त होता है, अतः उसे 'भवप्रत्यय' कहते हैं। (रा.वा./१/२१/३-४/७९/१२)

३. भव प्रत्यय है तो भवके प्रथम समयमें ही उत्पन्न क्यों नहीं होता

ध.१३/५.५.५३/२९०/६ जदि भवमेत्तमोहिणाणस्स कारणं होज्ज तो देवेसु णेरइएसु वा उप्पण्णपढमसमए ओहिणाणं किण्ण उप्पज्जदे। ण एस दोसो, ओहिणाणुप्पत्तीए छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदभवग्गहणादो। =प्रश्न—यदि भवमात्र ही अवधिज्ञानका कारण है, तो देवों और नारकियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही अवधिज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि छह पर्याप्तियोंसे पर्याप्त भवको ही यहाँ अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण माना गया है।

४. देव नारकी सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानको भवप्रत्यय कहें कि गुणप्रत्यय

ध./१३/५.५.५३/२९०/१ देवणेरइयसम्माइट्ठीसु समुप्पण्णोहिणाणं ण भवपच्चइयं, सम्मत्तेण विणा भवादो चेव ओहिणाणस्साविब्भावाणुवलंभादो। ण एस दोसो, सम्मत्तेण विणा वि मिच्छाइट्ठीसु पज्जत्तयदेसु ओहिणाणुप्पत्तिदंसणादो। तम्हा तत्थतणमोहिणाणं भवपच्चइयं चेव। =प्रश्न—देव और नारकी सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान भवप्रत्यय नहीं, क्योंकि, उनके सम्यक्त्वके बिना एकमात्र भवके निमित्तसे ही अवधिज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सम्यक्त्व के बिना भी पर्याप्त मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए वहाँ उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय ही है।

५. सभी सम्यग्दृष्टि आदिकोंको गुणप्रत्यय ज्ञान क्यों नहीं होता

ध. १३/५.५.५३/२९२/१ जदि सम्मत्त-अणुव्वदमहव्वदेहिंतो ओहिणाणमुप्पज्जदि तो सव्वेसु असंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजद-संजदेसु ओहिणाणं किण्ण उवलब्भदे। ण एस दोसो, असंखेज्जलोगमेत्त सम्मत्त-संजमासंजमसंजमपरिणामेसु ओहिणाणावरणक्खओवसमणिमित्ताणं परिणामाणमइथोवत्तादो। ण च ते सव्वेसु संभवंति, तप्पडिवक्खपरिणामं बहुत्तेण तदुवलद्धीए थोवत्तादो। =प्रश्न—यदि सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रतके निमित्तसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो सब असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतोंके अवधिज्ञान क्यों नहीं पाया जाता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सम्यक्त्व संयमासंयम और संयमरूप परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें-से अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तभूत परिणाम अति-

शय स्तोक हैं। वे सबके सम्भव नहीं हैं; क्योंकि, उनके प्रतिपक्षभूत परिणाम बहुत हैं, इसलिए उनकी उपलब्धि क्वचित् ही होती है।

६. भव व गुणप्रत्ययमें देशावधि आदि विकल्प

पं.का/मू/४३ की प्रक्षेपक गा.३/८६ ओहिं तहेव घेप्पदु देसं परमं च ओहि-सव्वं च। तिण्णि वि गुणेण णियमा भवेण देसं तहा णियदं ॥ ३ ॥ = अवधिज्ञान तीन प्रकारका जानना चाहिए—देशावधि, परमावधि व सर्वावधि। ये तीनों ही नियमसे गुणप्रत्यय हैं 'तथा भवप्रत्यय निश्चितरूप से देशावधि ही है।

गो.जी/मू/३७३/८०१ भवपच्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वोही। गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणे होदि ॥ ३७३ ॥ = भवप्रत्यय अवधिज्ञान तो देशावधि ही होता है। परमावधि व सर्वावधि गुण-प्रत्यय ही होते हैं तथा देशावधि गुणप्रत्यय भी होता है।

७. परमावधिमें कथंचित् देशावधिपना

रा.वा/१/२०/१५/७६/१ सर्वशब्दस्य निरवशेषवाचित्वात् सर्वावधि-मपेक्ष्य परमावधेर्देशावधित्वमेवेति वक्ष्यामः। = 'सर्व' शब्द क्योंकि निरवशेषवाची है इसलिए सर्वावधिकी अपेक्षा परमावधिको भी देशा-वधिपना कहा जाता है। (रा.वा/१/२२/४/८३/११)

८. देशावधि आदि भेदोंमें वर्द्धमान आदि अथवा प्रति-पाती आदि विकल्प

रा.वा./१/२२/४/८१/२७ देशावधिस्त्रेधा—जघन्य-उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्ट-श्चेति। तथा परमावधिरपि त्रेधा। सर्वावधिविकल्पत्वादेक एव।

रा.वा/१/२२/४/८२/१ वर्द्धमानो हीयमानः अवस्थितः अनवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती इत्येतेऽष्टौ भेदा देशा-वधेर्भवन्ति। हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे षट्भेदा भवन्ति परमा-वधेः। 'अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपाती' इत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः।

रा.वा/१/२२/४/८३/११ एष त्रिविधोऽपि परमावधिः वर्द्धमानो भवति न हीयमानः। अप्रतिपाती न प्रतिपाती।…अवस्थितो भवति अन-वस्थितश्च वृद्धिं प्रति न हानिम्। ऐहलौकिकदेशान्तरगमनादनुगामी पारलौकिकदेशान्तरगमनाभावादननुगामी।— सर्वावधिरुच्यते… स एष वर्धमानो न हीयमानो नानवस्थितो न प्रतिपाती, प्राक्संयतभव-क्षयात् अवस्थितोऽप्रतिपाती, भवान्तरं प्रत्यननुगामी देशान्तरं प्रत्य-नुगामी।

=देशावधि में आठ भेद हैं—वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती और प्रतिपाती। हीयमान और प्रतिपातीको छोड़कर शेष छह भेद परमावधि में हैं। अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधि में हैं। जघन्य आदि तीनों प्रकारका परमावधि वर्धमान ही होता है हीयमान नहीं। अप्रतिपाती ही होता है प्रतिपाती नहीं। अवस्थित होता है अथवा वृद्धिके प्रति अनवस्थित भी होता है परन्तु हानिके प्रति नहीं। इस लोकमें देशान्तर गमनके कारण अनुगामी है, परन्तु परलोकरूप देशान्तर गमनका अभाव होनेके कारण अननुगामी है। अब सर्वावधि को कहते हैं। वह वर्धमान ही होता है हीयमान नहीं। अनवस्थित व प्रतिपाती भी नहीं होता। वर्तमानके संयत भवके क्षय से पहिले तक अवस्थित और अप्रतिपाती है। भवान्तरके प्रति अननुगामी है और देशान्तरके प्रति अनुगामी है। (गो.जी/मू.व टी/३७५/३०८)

ध.१३/५,५,५६/३१०/१ परमोहि पुण दव्व-खेत्त-कालभावाणमक्कमेण वुड्ढी होदि त्ति वत्तव्वं।

ध १३/५,५,६/३२३/६. तत्थ परमोहिणाणीणं पडिवादाभावेण उप्पादाभा-वादो। = परमावधि ज्ञानमें तो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी युगपत् वृद्धि होती है, ऐसा यहां व्याख्यान करना चाहिए। परमावधि ज्ञानियोंका प्रतिपात नहीं होनेसे वहां (स्वर्गमें) उनका उत्पाद सम्भव नहीं।

९. देशावधि आदि भेदोंमें चारित्रादि सम्बन्धी विशेषताएँ

ध ६/४,१,३/४१/६ कधमेदस्स ओहिणाणस्स जेट्ठदा। देसोहिं पेक्खिदूण-महाविसयत्तादो, मणपज्जवणाणं व संजदेसु चेव समुप्पत्तीदो, सगुप्प-ण्णभवे चेव केवलणाणुप्पत्तिकारणत्तादो, अप्पडिवादित्तादो वा जेट्ठदा। = **प्रश्न**—इस (परमावधि) अवधिज्ञानके ज्येष्ठपना कैसे हैं? **उत्तर**—चूंकि यह परमावधि ज्ञान देशावधिकी अपेक्षा महा विषय-वाला है, मनःपर्ययज्ञानके समान संयत मनुष्योंमें ही उत्पन्न होता है, अपने उत्पन्न होनेके भवमें ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है और अप्रतिपाती है। इसलिए उसके ज्येष्ठपना सम्भव है।

ध १३/५,५,५९/३२३/८ तं मिच्छत्तं पि गच्छेज्ज असंजमं पि गच्छेज्ज अविरोहादो = उस (देशावधि) के होनेपर जीव मिथ्यात्वको भी प्राप्त होता है, और असंयमको भी प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा होनेमें कोई विरोध नहीं है।

गो जी./मू. व टी./३७५/८०३ पडिवादी देसोही अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ। मिच्छत्तं अविरमणं ण य य पडिवज्जदि चरिमदुगे/३७५। सम्यक्त्वचारित्राभ्यां प्रच्युत्य मिथ्यात्वासंयमयोः प्राप्तिः प्रतिपातः, तद्युतः प्रतिपाती, स तु देशावधिरेव भवति। …परमावधि-सर्वावधिद्विके जीवाः नियमेन मिथ्यात्वं अविरमणं च न प्रतिपद्यन्ते ततः कारणात तौ द्वावपि अप्रतिपातिनौ। देशावधिज्ञानं प्रतिपाति अप्रतिपाति च इति निश्चितं। — प्रतिपाती कहिए सम्यक्त्व व चारि-त्रसौं भ्रष्ट होइ मिथ्यात्व व असंयमकौं प्राप्त होना, तीहि संयुक्त जो होइ सो प्रतिपाती कहिए। देशावधिवाला तौ कदाचित् सम्यक्त्व चारित्रसौं भ्रष्ट होइ मिथ्यात्व असंयमकौं प्राप्त हो है। अर परमावधि सर्वावधि दोय ज्ञानविषै वर्तमान जीव सो निश्चयसौं मिथ्यात्व अर अविरतिकौं प्राप्त न हो है। जातैं देशावधि तौ प्रतिपाती भी है, और अप्रतिपाती भी है, परमावधि सर्वावधि अप्रतिपाती ही हैं।

७. अवधिज्ञानका स्वामित्व

१. सामान्य रूपसे अवधि चारों गतियोंमें सम्भव है

स.सि/१/२५/१३२/६ अवधिः पुनश्चातुर्गतिकेष्विति। = अवधिज्ञान चारों गतियोंके जीवोंको होता है। (रा.वा/१/२५/२/८७/१)

२. भवप्रत्यय केवल देव नारकियों व तीर्थंकरोंके होता है

त.सू/१/२१ भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां।२१। = भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है। (प.ख/५,५/सू.५४/२९३) (स.सा/१/२७/२६)।

ध १३/५,५,५३/२९१/२ सामण्णणिद्देसे संते सम्माइट्ठि-मिच्छाइट्ठीणमो-हिणाणं पज्जत्तभवपच्चइयं चेवे त्ति कुदो णव्वदे। अपज्जत्तेव णेरइएसु विहंगणाणपडिसेहण्णहाणुववत्तीदो। = **प्रश्न**—देवों और नारकियोंका अवधिज्ञान भवप्रत्यय होता है, ऐसा सामान्य निर्देश होनेपर सम्य-ग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंका अवधिज्ञान पर्याप्त भवके निमित्तसे ही होता है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? **उत्तर**—क्योंकि अपर्याप्त देवों और नारकियोंके विभंग ज्ञानका जो प्रतिषेध किया है वह अन्यथा बन नहीं सकता।

गो. जी./मू/३७१/७९८ भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।
गो.जी./जी.प्र./३७१/७९९/४ तत्र भवप्रत्ययावधिज्ञानं सुराणां नारकाणां चरमभवतीर्थकराणां च संभवति। =भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवनिकै नारकीनिकै अर चरमशरीरी तीर्थंकर देवनिकै पाइये है।

३. गुणप्रत्यय केवल मनुष्य व तिर्यंचोंमें ही होता है

ष.ख.१३/५.५/सू.५५/२९३ जं तं गुणपच्चइयं तं तिरिक्ख-मणुस्साणं ॥५५॥ =जो गुण प्रत्यय अवधिज्ञान है वह तिर्यंचों और मनुष्योंके होता है। (गो.जी./मू./३७१/७९८) (त.सा./१/२७/२६)।
त.सू./१/२२ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥ =क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छः प्रकार है, जो शेष अर्थात तिर्यंचों और मनुष्योंके होता है।

४. भवप्रत्यय ज्ञान सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंको होता है

ध.१३/५.५.५३/२९०/१० सम्मत्तेण वि मिच्छाइट्ठीसु पज्जत्तएसु ओहिणाणुप्पत्तिदंसणादो। तम्हा तमोहिणाणं भवपच्चइयं चेव। =सम्यक्त्वसे भी पर्याप्त मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए वहाँ उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय ही है।

५. गुणप्रत्यय अवधिज्ञान केवल सम्यग्दृष्टियोंको ही होता है

ष.ख.१/१.१/सू.१२०/३६४ आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीदरागछदुमत्था त्ति ॥१२०॥ =आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान असंयत सम्यग्दृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ॥१२०॥ (गो.जी./जी.प्र./७२४/११६०/७)
स.सि./१/२२/१२७/६ यथोक्तसम्यग्दर्शनादिनिमित्तसंनिधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति। =यथोक्त सम्यग्दर्शनादि निमित्तोंके मिलनेपर जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है (अर्थात् क्षयोपशमको प्राप्त हो गया है) उनके यह उपलब्धि या सामर्थ्य होती है (रा.वा./१/२२/२/८१/१०)।
ध.१३/५.५.५३/२९१/१० अणुव्रत-महाव्रतानि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद् गुणप्रत्ययकम्। =सम्यक्त्वसे अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञानके कारण है वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।
पं.का./ता.वृ./४३/प्रक्षेपक गा.३/८६ त्रयोऽप्यवधयो विशिष्टसम्यक्त्वादिगुणेन निश्चयेन भवन्ति। =देशावधि, परमावधि व सर्वावधि ये तीनों ही गुणप्रत्यय अवधिज्ञान निश्चयसे विशिष्ट सम्यक्त्वादि गुणोंके द्वारा होते हैं। (गो.जी./जी.प्र./३७३/८०१/१३)।

६. उत्कृष्ट देशावधि मनुष्योंमें तथा जघन्य मनुष्य व तिर्यंच दोनोंके सम्भव है—देव नारकीमें नहीं

ष.ख.१३/५.५.५९/सूत्र गाथा १७/३२७ उक्कस्स माणुसेसु य माणुस तेरिच्छए जहण्णोही।
ध.१३/५.५.५९/३२७/५ उक्कस्सओहिणाणं तिरिक्खेसु देवेसु णेरइएसु वा ण होदि किंतु मणुस्सेसु चेव होदि। जहण्णमोहिणाणं देवणेरइएसु ण होदि किंतु मणुस्सतिरिक्खसम्माइट्ठीसु चेव होदि। =उत्कृष्ट अवधिज्ञान मनुष्योंके तथा जघन्य अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंच दोनोंके होता है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान तिर्यंच देव और नारकियोंके नहीं होता किन्तु मनुष्योंके ही होता है। जघन्य अवधिज्ञान देव और नारकियोंके नहीं होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंचोंके ही होता है। (गो.जी./जी.प्र./३७४/८०८/८) (रा.वा./१/२२/४/८२/३४-८३/३)।

७. उत्कृष्ट देशावधि उत्कृष्ट संयतोंको ही होता है पर जघन्य असंयत सम्यग्दृष्टि आदिको भी सम्भव है

रा.वा./१/२२/४/८३/३ एषो देशावधिरुत्कृष्टो मनुष्याणां संयतानां भवति। =यह उत्कृष्ट देशावधि संयत मनुष्योंको ही होता है।
ध.१३/५.५.५९/३२७/६ उक्कस्समोहिणाणं महारिसीणं चेव होदि।... जहण्णमोहिणाणं—मणुस्सतिरिक्खसम्माइट्ठीसु चेव होदि। =उत्कृष्ट अवधिज्ञान महर्षियोंके ही होता है। जघन्य अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंचोंके ही होता है।
गो.जी./जी.प्र./३७४/८०२/८ देशावधेर्ज्ञानस्य जघन्यं नरतिरश्चोरेव संयतासंयतयोः भवति, न देवनारकयोः। देशावधेः सर्वोत्कृष्टं तु नियमेन मनुष्यगतिसकलसंयते एव भवति नेतरगतित्रये तत्र महाव्रताभावात्। =देशावधिका जघन्य भेद संयमी व असंयमी (सम्यग्दृष्टि) मनुष्य तिर्यंच विषै ही हो है, देव नारकी विषै न हो है। बहुरि देशावधिका उत्कृष्ट भेद संयमी महाव्रती मनुष्य विषै ही हो है जातै और तीन गतिविषैं महाव्रत संभवै नाहीं।
गो.जी./जी.प्र./३७३/८०१/१३ देशावधिरपि गुणे दर्शनविशुद्ध्यादिलक्षणे सति भवति। =देशावधि भी दर्शन विशुद्धि आदि लक्षणवाले सम्यग्दर्शनादि गुण होते संतै हो है।

८. मिथ्यादृष्टियोंमें भी अवधिज्ञानकी सम्भावना

ध.१३/५.५.५३/२९०/८ मिच्छाइट्ठीसु ओहिणाणं णत्थि त्ति वोत्तुं ण जुत्तं, मिच्छत्तसहचरिदओहिणाणस्सेव विहंगणाणववएसादो। =मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता, ऐसा कहना युक्त नहीं क्योंकि, मिथ्यात्व सहचरित अवधिज्ञानकी ही विभंग ज्ञान संज्ञा है।
गो.जी./जी.प्र./३०५/६५७/५ मिथ्यादर्शनकलङ्कितस्य जीवस्य अवधिज्ञानावरणीयवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं...विपरीतग्राहकं तिर्यग्मनुष्यगत्योः तीव्रकायक्लेशद्रव्यसंयमरूपगुणप्रत्ययं, चशब्दाद्देवनारकगत्योर्भवप्रत्ययं च...अवधिज्ञानं विभंग इति। =मिथ्यादृष्टि जीवनिकैं अवधिज्ञानावरण वीर्यान्तरायके क्षयोपशमतै उत्पन्न भया ऐसा वि कहिए विशिष्ट जो अवधिज्ञान ताका भंग कहिए विपरीत भाव सो कहिए। सो तिर्यंच मनुष्य गतिविषै तो तीव्र कायक्लेशरूप द्रव्य संयमादिककरि उपजै है सो गुण प्रत्यय हो है। और 'च' शब्द से देव नारक गतियोंमें भव प्रत्यय हो है।

९. परमावधि व सर्वावधि चरमशरीरी संयतोंमें ही होता है

रा.वा./१/२२/४/८३/११ स एष त्रिविधोऽपि परमावधिः उत्कृष्टचारित्रयुक्तस्यैव भवति नान्यस्य।... =यह तीनों प्रकारका (जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट) परमावधि ज्ञान उत्कृष्ट चारित्र युक्तके ही होता है अन्यके नहीं।
ध.१३/५.५.५९/३२३/४ परमोहिणाणं संजदेसु चेव उप्पज्जदि उप्पण्णे हि परमोहिणाणे सो जीवो मिच्छत्तं ण कयावि गच्छदि, असंजमं वि णो गच्छदि त्ति भणिदं होदि।...सव्वमोहिणाणं। एदं पि णिग्गंथाणं चेव होदि। =परमावधि ज्ञानकी उत्पत्ति संयतोंके ही होती है। परमावधिज्ञानके उत्पन्न होनेपर वह जीव न कभी मिथ्यात्वको प्राप्त होता है और न कभी असंयमको भी प्राप्त होता है। यह उक्त कथनका तात्पर्य है।...वह सर्वावधिज्ञान भी निर्ग्रन्थोंके ही होता है। (ध./९/४.१.३/४१/७)।
पं.का./ता.वृ./४३ की प्रक्षेपक गा. ३ की टीका/८६/२४ परमावधि-सर्वावधिद्वयं...चरमदेहतपोधनानां भवति। तथा चोक्तं। "परमोहि सव्वोहि चरमसरीरस्स विरदस्स"। =परमावधि और सर्वावधि ये

दोनों ज्ञान चरमशरीरी तपोधनोंके ही होते हैं। जैसे कि कहा भी है—"परमावधि व सर्वावधि चरम शरीरी विरत अर्थात् संयतके होते हैं"।

गो.जी./जी.प्र./३७३/८०१ देवनारकयोर्गृहस्थतीर्थंकरस्य च परमावधि-सर्वावध्योरसंभवात्। =देव, नारकी अर गृहस्थ तीर्थंकर इनके परमावधि व सर्वावधि होइ नाहीं।

१०. अपर्याप्तावस्थामें अवधिज्ञान सम्भव है पर विभंग नहीं

ष.खं.१/१,१/सू.११८/३६३ पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि। =विभंग ज्ञान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता ॥११८॥

स.सि./१/२२/१२७/५ न ह्यसंज्ञिनामपर्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति। =असंज्ञी और अपर्याप्तकके यह सामर्थ्य नहीं है (क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान असंज्ञी व अपर्याप्तकोंमें उत्पन्न नहीं होता है।)

ध.१३/५,५,५३/२९१/७ तिरिक्खमणुस्सेसु सम्मत्तगुणेणुप्पण्णस्स तत्थावट्ठाणुवलंभादो। =तिर्यंच और मनुष्योंमें सम्यक्त्व गुणके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें भी पाया जाता है। (विशेष दे० सत् प्ररूपणा)।

११. संज्ञी संमूर्छनोंमें अवधिज्ञानकी सम्भावना व असम्भावना

ध.५/१,६,२३४/११५/११ एक्को अट्ठावीससंतकम्मिओ सम्मूच्छिमपज्जत्तएसु उववण्णो। छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो; विस्संतो, विसुद्धो, वेदगसम्मत्तं पडिवण्णो तदो अंतोमुहुत्तेण ओहिणाणी जादो। =मोहकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतिकी सत्तावाला कोई एक जीव संज्ञी सम्मूर्छिम पर्याप्तकोंमें उत्पन्न हुआ। छहों पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हो, विश्राम ले, विशुद्ध हो, वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे अवधिज्ञानी हो गया।

ध. ५/१,६,२३७/११८/११ सण्णिसम्मुच्छिमपज्जत्तएसु संजमासंजमस्सेव ओहिणाणुवसमसम्मत्ताणं संभवाभावादो।...ओहिणाणाभावो कुदो णव्वदे। सम्मुच्छिमेसु ओहिणाणमुप्पाइय अंतरपरूवय आइरियाणमणुवलंभादो।...गब्भोवक्कतिएसु गमिदअट्ठतालीस (–पुव्वकोडि–) वस्सेसु ओहिणाणमुप्पादिय किण्ण अंतराविदो। ण, तत्थ वि ओहिणाणसंभवं परूवयंतवक्खाणाइरियाणमभावादो। =प्रश्न—संज्ञी सम्मूर्छिम पर्याप्तकोंमें संयमासंयमके समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्वकी संभवताका अभाव है। प्रश्न—संज्ञी सम्मूर्च्छिम जीवोंमें अवधिज्ञानका अभाव कैसे जाना जाता है? उत्तर—क्योंकि, अवधिज्ञानको उत्पन्न कराके अन्तरके प्ररूपण करनेवाले आचार्योंका अभाव है। अर्थात् किसी भी आचार्यने इस प्रकार अन्तरको प्ररूपणा नहीं की। प्रश्न—गर्भोत्पन्न जीवोंमें व्यतीत की गयी अड़तालीस पूर्वकोटी वर्षों में अवधिज्ञान उत्पन्न करके अन्तरको प्राप्त क्यों नहीं कराया? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उन में भी अवधिज्ञानकी सम्भवताको प्ररूपण करनेवाले व्याख्यानाचार्योंका अभाव है।

१२. अपर्याप्तावस्थामें अवधिज्ञानके सद्भाव और विभंगके अभाव सम्बन्धी शंका

ध. १/१,१,११८/३६२/१ अथ स्याद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिबन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन भवितव्यं तद्धेतोर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति न्यायात् नापर्याप्तिविशिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनिबन्धनमपि तु पर्याप्तिविशिष्टमिति। ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति सिद्धम्। =प्रश्न—यदि देव और नारकियोंके विभंगज्ञान भव-प्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभंगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पायी जाती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा करते हैं' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण नहीं है। किन्तु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण है, इसलिए अपर्याप्तकालमें विभंग ज्ञान नहीं होता है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

ध.१३/५,५,५३/२९१/३ विहंगणाणस्सेव अपज्जत्तकाले ओहिणाणस्स पडिसेहो किण्ण कीरदे। ण उप्पत्तिं पडि तस्स वि तत्थ विहंगणाणस्सेव पडिसेहदंसणादो।...ण च तत्थ ओहिणाणस्सच्चंताभावो, तिरिक्खमणुस्सेसु सम्मत्तगुणेणुप्पण्णस्स तत्थावट्ठाणुवलंभादो। ण विहंगणाणस्स एस कमो, तक्कारणाणुकंपादीणं तत्थाभावेण तदवट्ठाणाभावादो। =प्रश्न—विभंगज्ञानके समान अपर्याप्तकालमें अवधिज्ञानका निषेध क्यों नहीं करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि, उत्पत्तिकी अपेक्षा उसका भी वहां विभंगज्ञानके समान ही निषेध देखा जाता है।...पर इसका यह अर्थ नहीं कि देवों और नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें अवधिज्ञानका अत्यन्त अभाव है, क्योंकि तिर्यंचों और मनुष्योंमें सम्यक्त्व गुणके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें भी पाया जाता है। प्रश्न—विभंगज्ञानमें भी यह क्रम लागू हो जायेगा? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अवधिज्ञानके कारणभूत अनुकम्पा आदिका अभाव होनेसे अपर्याप्तावस्थामें वहाँ उसका अवस्थान नहीं रहता।

८. अवधिज्ञानकी विषय सीमा

१. द्रव्यकी अपेक्षा रूपीको ही जानता है

त.सू./१/२७ रूपिष्ववधेः ॥२७॥ =अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति रूपी पदार्थोंमें होती है।

स. सि./१/२७/१३४/१० रूपिष्वेवावधेर्विषयनिबन्धनो नारूपिष्विति नियमः क्रियते। ='रूपी' पदार्थोंमें ही अवधिज्ञानका विषय सम्बन्ध है अरूपी पदार्थोंमें नहीं,' यह नियम किया गया है। (ध.१३/५,५,२१/२११/२)

ध.९/४,१,३/४४/६ एसो रूवयदसद्दो मज्झदीवओ त्ति हेट्ठोवरिमोहिणाणेसु सव्वत्थ जोजेयव्वो। एदेण दव्वपरूवणा कदा। =यह रूपगत शब्द चूँकि मध्य दीपक है, अतएव इसे अधस्तन और उपरिम अवधिज्ञानोंमें (अर्थात् देशावधि, परमावधि व सर्वावधि तीनोंमें) जोड़ लेना चाहिए। इस व्याख्यान द्वारा द्रव्य प्ररूपणा की गयी। **नोट**:—यहाँ रूपीका अर्थ पुद्गल ही न समझना बल्कि कर्म व शरीरसे बद्ध जीव द्रव्य व उसके संयोगी भाव भी समझना (दे० आगे अवधिज्ञान/८/६)

२. द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्तको नहीं जानता

ध. ९/४,१,२/२७/८ ण च ओहिणाणमुक्कस्सं पि अणंतसंखावगमक्खं आगमे तहोवदेसाभावादो। दव्वट्ठियाणंतपज्जाए पच्चक्खेण अपरिच्छिंदंतो ओही कधं पच्चक्खेण दव्वं परिछिंदेज्ज। ण, तस्स पज्जायावयवगयाणंतसंखं मोत्तूण असंखेज्जपज्जायावयवविसिट्ठदव्वपरिच्छेदयत्तादो। =उत्कृष्ट भी अवधिज्ञान अनन्त संख्याके जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि, आगममें वैसे उपदेशका अभाव है। प्रश्न—द्रव्यमें स्थित अनन्त पर्यायोंको प्रत्यक्षसे न जानता हुआ अवधिज्ञान प्रत्यक्ष-द्रव्यको कैसे जानेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञान पर्यायोंके अवयवोंमें रहनेवाली अनन्त संख्याको छोड़कर असंख्यात पर्यायावयवोंसे विशिष्ट द्रव्यका ग्राहक है।

३. क्षेत्रप्ररूपणाका स्पष्टीकरण

ध. ९/४,१,२/२३/१ जहण्णोहिणाणी एगोलिए चेव जाणदि तेण ण सुत्तविरोहो त्ति के वि भणंति। णेदं पि घडदे, चक्खिदियणाणादो वि तस्स जहण्णत्तप्पसंगादो। कुदो। चक्खिदियणाणेण संखेज्जसूचिअंगुलवित्थारुस्सेहायामखेत्तब्भंतरट्ठिदवत्थुपरिच्छेददंसणादो, एदस्स जहण्णोहिखेत्तायामस्स असंखेज्जजोयणत्तुवलंभादो च।…ण च सो कुलसेल–मेरुमहीयर–भवणविमाणट्ठपुढवी–देव–विज्जाहर-सरड–सरिसवादीणि वि पेच्छइ, एदेसिमेगागासे अवट्ठाणाभावादो। ण च तेसिमवयवं पि जाणादि, अविण्णादे अवयविम्हि एदस्स एसो अवयवो त्ति णादुमसत्तीदो। जदि अक्कमेण सव्वं घणलोगं जाणदि तो सिद्धो णो पक्खो, णिप्पडिवक्खत्तादो। सुहुमणिगोदोगाहणाए घणपदरागारेण ठइदाए आगासवित्थाराणेगोलिं चेव जाणदि त्ति के वि भणंति। णेदं पि घडदे, जद्दहं सुहुमणिगोदजहण्णोगाहणा तद्दहे जहण्णोहि खेत्तमिदि भणंतेण गाहासुत्तेण सह विरोहादो। ण चाणेगोलीपरिच्छेदो छदुमत्थाणं विरुद्धो, चक्खिदियणाणेगोलिठियपोग्गलक्खंदपरिच्छेदुवलंभादो। = दृष्टि १. जघन्य अवधिज्ञानी एक श्रेणीको ही जानता है, अतएव सूत्र विरोध नहीं होगा, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानकी अपेक्षा भी उसके जघन्यताका प्रसंग आवेगा। कारण कि चक्षु इन्द्रियजन्यज्ञानसे संख्यात सूच्यंगुल विस्तार, उत्सेध और आयामरूप क्षेत्रके भीतर स्थित वस्तुका ग्रहण देखा जाता है। तथा वैसा माननेपर इस <u>जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रका</u> आयाम असंख्यात योजन प्रमाण प्राप्त होगा।

इसके अतिरिक्त वह कुलाचल, मेरुपर्वत, भवनविमान, आठ पृथिवियों, देव, विद्याधर, गिरगिट और सरीसृपादिकोंको भी नहीं जान सकेगा, क्योंकि इनका एक आकाश (श्रेणी)में अवस्थान नहीं है। और वह उनके अवयवको भी नहीं जानेगा, क्योंकि, अवयवीके अज्ञात होनेपर 'यह इसका अवयव है' इस प्रकार जाननेकी शक्ति नहीं हो सकती। यदि वह युगपत् सब घनलोकको जानता है, तो हमारा पक्ष सिद्ध है, क्योंकि वह प्रतिपक्षसे रहित है। दृष्टि २. सूक्ष्म निगोद जीवकी अवगाहनाको घनप्रतराकारसे स्थापित करनेपर एक आकाश विस्ताररूप अनेक श्रेणीको ही जानता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा होनेपर 'जितनी सूक्ष्म निगोदकी जघन्य अवगाहना है उतना ही <u>जघन्य अवधिका क्षेत्र</u> है,' ऐसा कहनेवाले गाथासूत्रके साथ विरोध होगा। और छद्मस्थोंके अनेक श्रेणियोंका ग्रहण विरुद्ध नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रियजन्यज्ञानसे अनेक श्रेणियोंमें स्थित पुद्गलस्कन्धोंका ग्रहण पाया जाता है।

ध. १३/५,५,५९/३०२–३०३/६ ण च एगोली जहण्णोगाहणा होदि, समुदाए वक्कपरिसमत्तिमस्सिदूण तत्थतणसव्वागासपदेसाणं गहणादो।… एदं जहण्णोगाहणक्खेत्तं एगागासपदेसोलीए रचेदूण तदंते ट्ठिदं जहण्णदव्वं जाणदि त्ति किण्ण घेप्पदे। ण, जहण्णोगाहणादो असंखेज्जगुणजहण्णोहिखेत्तप्पसंगादो। जं जहण्णोहिणाणेण अवरुद्धखेत्तं तं जहण्णोहिखेत्तं णाम।…जत्तिया जहण्णोगाहणा तत्तियं चेव जहण्णोहिखेत्तमिदि सुत्तेण सह विरोहादो।…ण च ओहिणाणी एगागाससूचीए जाणदि त्ति वोत्तुं जुत्तं, जहण्णमदिणाणादो वि तस्स जहण्णत्तप्पसंगादो जहण्णदव्वअवगमोवायाभावादो च। तम्हा जहण्णोहिणाणेण अवरुद्धखेत्तं सव्वमुच्चिणिदूण घणपदरागारेण ट्ठइदे सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जहण्णोगाहणप्पमाणं होदि त्ति घेत्तव्वं। जहण्णोहिणिबंधणस्स खेत्तस्स को विक्खंभो को उस्सेहो को वा आयामो त्ति भणिदे णत्थि एत्थ उवदेसो, किंतु ओहिणिबद्धखेत्तस्स पदरघणागारेण ट्ठइदस्स पमाणमुस्सेहघणंगुलस्स असंखेज्जदिभागो त्ति उवएसो। = एक आकाश पंक्ति जघन्य अवगाहना होती है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, समुदाय रूपमें वाक्यकी परिसमाप्ति इष्ट है। इसलिए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी अवगाहनामें स्थित सब आकाश प्रदेशोंका ग्रहण किया है।…प्रश्न—इस जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रको एक आकाशप्रदेशपंक्तिरूपसे स्थापित करके उसके भीतर स्थित जघन्य द्रव्यको जानता है, ऐसा यहाँ क्यों नहीं ग्रहण करते? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा ग्रहण करनेपर जघन्य अवगाहनासे असंख्यातगुणे जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रसंग प्राप्त होता है। जो जघन्य अवधिज्ञानसे अवरुद्ध क्षेत्र है वह जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र कहलाता है। किन्तु यहाँपर वह जघन्य अवगाहनासे असंख्यात गुणा दिखाई देता है।…"जितनी जघन्य अवगाहना है उतना ही <u>जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र</u> है" ऐसा प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके साथ उक्त कथनका विरोध होता है।…अवधिज्ञानी एक आकाशप्रदेशसूचीरूपसे जानता है, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर वह जघन्य मतिज्ञानसे भी जघन्य प्राप्त होता है और जघन्य द्रव्यके जाननेका अन्य उपाय भी नहीं रहता। इसलिए जघन्य अवधिज्ञानके द्वारा अवरुद्ध हुए सब क्षेत्रको उठा कर घनप्रतरके आकाररूपसे स्थापित करनेपर सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना प्रमाण होता है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—जघन्य अवधिज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले क्षेत्रका क्या विष्कम्भ है, क्या उत्सेध है, और क्या आयाम है? उत्तर—इस सम्बन्धमें कोई उपदेश उपलब्ध नहीं होता। किन्तु घनप्रतराकाररूपसे स्थापित अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्रका प्रमाण उत्सेध घनांगुलके असंख्यातवें भाग है, यह उपदेश अवश्य ही उपलब्ध होता है।

ध. ९/४,१,२/२२/८ सुहुमणिगोदजहण्णोगाहणमेत्तमेदं सव्वं हि जहण्णोहिक्खेत्तमोहिणाणिजीवस्स तेण परिच्छिज्जमाणदव्वस्स य अंतरमिदि के वि आइरिया भणंति। णेदं घडदे, सुहुमणिगोदजहण्णोगाहणादो जहण्णोहिक्खेत्तस्स असंखेज्जगुणत्तप्पसंगादो। कधमसंखेज्जगुणत्तं। जहण्णोहिणाणविसयवित्थारुस्सेहेहि आयामे गुणिज्जमाणे तत्तो असंखेज्जगुणत्तसिद्धीदो। ण चासंखेज्जगुणत्तं संभवदि, जद्दहि सुहुमणिगोदस्स जहण्णोगाहणा तद्दहिं चेव जहण्णोहिखेत्तमिदि भणंतेण गाहासुत्तेण सह विरोहादो। = सूक्ष्म निगोद जीवकी जघन्य अवगाहना मात्र यह सब ही <u>जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र</u>, अवधिज्ञानी जीव और उसके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले द्रव्यका अन्तर है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करनेसे सूक्ष्म निगोद जीवकी जघन्य अवगाहनासे जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रके असंख्यातगुणे होनेका प्रसंग आवेगा। प्रश्न—असंख्यातगुणा कैसे होगा? उत्तर—क्योंकि जघन्य अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रके विस्तार और उत्सेधसे आयामको गुणा करनेपर उससे असंख्यात गुणत्व सिद्ध होता है। और असंख्यात गुणत्व सम्भव है नहीं, क्योंकि, 'जितनी सूक्ष्म निगोदकी अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधिका क्षेत्र है;' ऐसा कहनेवाले गाथा सूत्रके साथ विरोध आता है।

ध. ९/४,१,४/४८/७ परमोहिउक्कस्सखेत्तं तप्पाओग्गअसंखेज्जरूवेहि गुणिदे सव्वोहिए उक्कस्सखेत्तं होदि। सव्वोहिउक्कस्सखेत्तुप्पायणट्ठं परमोहिउक्कस्सखेत्तं तिस्से चेव चरिम अणवट्ठिदगुणगारेण आवलियाए असंखेज्जदिभागपदुप्पण्णेण गुणिज्जदि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, परियम्मे वुत्तओहिणिबद्धखेत्ताणुप्पत्तीदो। = <u>परमावधिके उत्कृष्टक्षेत्र</u>को उसके योग्य असंख्यातलोकोंसे गुणित करनेपर <u>सर्वावधिका उत्कृष्टक्षेत्र</u> होता है। सर्वावधिके उत्कृष्टक्षेत्रको उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असंख्यातवें भागसे उत्पन्न उसके ही अन्तिम अनवस्थित गुणकारसे गुणा किया जाता है, ऐसा कोई

आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने-पर परिकर्ममें कहे हुए अवधिसे निबद्ध क्षेत्र नहीं बनते।

४. देवोंके ज्ञानकी क्षेत्रप्ररूपणा परिमाण-नियामक नहीं स्थान नियामक है

गो.जी./जी. प्र./४३२/८६३/७ इदं क्षेत्रपरिमाणनियामकं न किंतु तत्रतन-स्थाननियामकं भवति । कुतः । अच्युतान्तानां विहारमार्गेण अन्यत्रगतानां तत्रैव क्षेत्रे तदवध्युत्पत्त्यभ्युपगमात् । =ऐसा इहाँ क्षेत्रका परिमाण कीया है, सो स्थानका नियमरूप जानना। क्षेत्रका परिमाण लीये नियमरूप न जानना। जातैं अच्युत स्वर्ग पर्यन्तके वासी विहारकरि अन्य क्षेत्रको जाँइ अर तहाँ अवधि होइ तो पूर्वोक्त स्थानकपर्यन्त ही होइ। ऐसा नाहीं जो प्रथम स्वर्गवाला पहिले नारक जाइ और तहाँ सेती डेढ राजू नीचैं और जानै। सौधर्मद्विकके प्रथम नरक पर्यन्त अवधिक्षेत्र है सो तहाँ भी तिष्ठता तहाँ पर्यन्त क्षेत्रको ही जानै ऐसे सर्वत्र जानना।

५. कालकी अपेक्षा अवधि त्रिकालग्राही

ध. ६/१,९-१,१४/२७/३ ओहिणाणम्मि पच्चक्खेण वट्टमाणासेसपज्जाय-विसिट्ठवत्थुपरिच्छित्तीए उपलंभा, तीदाणागद-असंखेज्जपज्जाय-विसिट्ठवत्थु दंसणादो च। =अवधिज्ञानमें प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान समस्त पर्यायविशिष्ट वस्तुका ज्ञान पाया जाता है, तथा भूत और भावी असंख्यातपर्याय-विशिष्ट वस्तुका ज्ञान देखा जाता है। (ध. ९/४,१,४४/१२७/८), (ध. १३/५,५,५९/३०५/३; ३०८/९; ३१०/११) (ध. १५/८/२)

६. भावकी अपेक्षा पुद्गल व संयोगी जीवकी पर्यायों-को जानता है

स. सि./१/२७/१३४/१० रूपिष्वपि भवन्न सर्वपर्यायेषु, स्वयोग्येष्वेवेत्य-वधारणार्थमसर्वपर्यायेष्वित्यभिसम्बन्ध्यते। =रूपी पदार्थोंमें होता हुआ भी उनकी सब पर्यायोंमें नहीं होता किन्तु स्वयोग्य सीमित पर्यायोंमें ही होता है, इस प्रकारका निश्चय करनेके लिए 'असर्व-पर्यायेषु' पदका सम्बन्ध होता है।

रा. वा./१/२७/४/८८/१६ 'असर्वपर्यायेषु' इत्येतद्ग्रहणमनुवर्तते।...ततो रूपिषु पुद्गलेषु प्रागुक्तद्रव्यादिपरमाणुषु, जीवपर्यायेषु औदयिकौप-शमिकक्षायोपशमिकेषूत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसम्बन्धात् न क्षायिकपारिणामिकेषु नापि धर्मास्तिकायादिषु तत्सम्बन्धाभावात्। =इस सूत्रमें 'असर्वपर्याय'की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। अर्थात् पहले कहे गये रूपी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको (देखो आगे विषय प्ररूपक चार्ट) और जीवके औदयिक, औपशमिक और क्षायोप-शमिक भावोंको अवधिज्ञान विषय करता है, क्योंकि इनमें रूपी कर्मका सम्बन्ध है। उसका सम्बन्ध न होनेके कारण वह क्षायिक व पारिणामिक भाव तथा धर्म अधर्म आदि अरूपी द्रव्यों (व उनकी पर्यायों) को नहीं जानता।

ध. ९/४,१,२/२७/५ जमप्पणो जाणिददव्वं तस्स अणंतेसु वट्टमाणपज्जाएसु तत्थ आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तपज्जाया जहण्णोहिणाणेण विसईकया जहण्णभावो। के वि आइरिया जहण्णदव्वस्सुवरिट्ठिदरूव-रस-गंध-फासादिसव्वपज्जाए जाणदि त्ति भणंति। तण्ण घडदे, तेसिमाणंतयादो।...तीदाणागयपज्जायाणं किण्ण भावववएसो। ण, तेसिं कालत्तब्भुवगमादो। एवं जहण्णभावपरूवणा कदा। =अपना जो जाना हुआ द्रव्य है उसकी अनन्त वर्तमान पर्यायोंमें-से जघन्य अवधिज्ञानके द्वारा विषयीकृत आवलीके असंख्यात भागमात्र पर्यायें जघन्य भाव है। कितने ही आचार्य जघन्य द्रव्यके ऊपर स्थित रूप रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि रूप सब पर्यायोंको उक्त अवधिज्ञान जानता है, ऐसा कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, वे अनन्त हैं। और उत्कृष्ट भी अवधिज्ञान अनन्त संख्याके जाननेमें समर्थ नहीं है। प्रश्न—अतीत व अनागत पर्यायोंकी 'भाव' संज्ञा क्यों नहीं है? उत्तर—नहीं है, क्योंकि, उन्हें काल स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जघन्य भावकी प्ररूपणा की गयी।

ध. १५/८/३ भावदो असंखेज्जलोगमेत्तदव्वपज्जाए तीदाणागदवट्टमाण-कालविसए जाणदि। तेण ओहिणाणं सव्वदव्वपज्जयविसयं ण होदि। =भावकी अपेक्षा वह अतीत, अनागत एवं वर्तमान कालको विषय करनेवाली असंख्यात लोक मात्र द्रव्यपर्यायोंको जानता है। इसलिए अवधिज्ञान द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको विषय करनेवाला नहीं है।

७. अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रादिकोंमें वृद्धि-हानिका क्रम

ष.खं.१३/५,५,५९/गाथा सूत्र ८/३०९ कालो चदुण्ण वुड्ढी। कालो भजि-दव्वो खेत्तवुड्ढीए। वुड्ढीए दव्व-पज्जए भजिदव्वो खेत्तकाला दु। (म.ब./पु.१/गा.सू.७/२२)

ध.१३/५,५,५९/३१०/४ एसो गाहत्थो देसोहीए जोजेयव्वो, ण परमोहीए।...परमोहीए पुण दव्व-खेत्त-काल-भावाणमक्कमेण वुड्ढी होदि त्ति वत्तव्वा। =काल चारों ही (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) वृद्धियोंके लिए होता है। क्षेत्रकी वृद्धि होनेपर कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती। तथा द्रव्य और पर्यायकी वृद्धि होनेपर क्षेत्र और कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती ॥८॥ (ग.वा./१/२२/४/८३/२१) (गो.जी./जी.प्र./४१२/८३६/११)। नोट—इस गाथाके अर्थकी देशावधिज्ञानमें योजना करनी चाहिए, परमावधिमें नहीं।...परमा-वधिज्ञानमें तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी युगपत् वृद्धि होती है।

९ अवधिज्ञानके विषयकी प्ररूपणाएँ

१. द्रव्य व भाव सम्बन्धी सामान्य नियम

ध १३/५,५,५९/ गा. सूत्र ३/३०१ ओगाहणा जहण्णा णियमा दु सुहुमणि-गोदजीवस्स। जद्देही तद्देही जहण्णिया खेत्तदोओही।३। =सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जितनी जघन्य अवगाहना होती है उतना अवधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र है।

रा. वा/१/२१/७/८०/२२ कालद्रव्यभावेषु कोऽवधिरिति। अत्रोच्यते—यस्य यावत्क्षेत्रावधिरतस्य तावदाकाशप्रदेशपरिच्छिन्ने काल-द्रव्ये भवतः। तावत्सु समयेष्वतीतेष्वनागतेषु च ज्ञानं वर्तते, तावत्संख्यात-भेदेषु अनन्तप्रदेशेषु पुद्गलस्कन्धेषु जीवेषु च सकर्मसु। भावतः स्व-विषयपुद्गलस्कन्धानां रूपादिविकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौप-शमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते। =प्रश्न—काल द्रव्य व भावोंमें क्या अवधि होती है? उत्तर—जिस अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र है उतने आकाश प्रदेशप्रमाण काल और द्रव्य होते हैं। अर्थात् उतने समय-प्रमाण अतीत और अनागतका ज्ञान होता है और उतने भेदवाले अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्धोंके रूपादिगुणोंमें और (उतने ही कर्म स्कन्ध युक्त) जीवके औदयिक औपशमिक व क्षायिक भावोंमें अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। नोट—(सर्व ही प्ररूपणाओंमें यह सामान्य नियम द्रव्य व भाव व कालके सम्बन्धमें विशेषता जाननेके लिए लागू करते रहना)।

२. नरक गतिमें देशावधिका विषय

(म. ब./१/गा १४/२३) (ति. प/२/१७२); (रा.वा/१/२१/७/८०/२७) (ह. पु/४/३४०-३४१) (ध. १३/५.५.५६/३२५-३२६) (गो.जी/मू/४२४/ ८४८) (त्रि, सा/२०२)

नाम	जघन्य क्षेत्र	उत्कृष्ट क्षेत्र			काल	द्रव्य भाव
		ऊपर	तिर्यक्	नीचे		
रत्नप्रभा		सर्वत्र अपने बिलके शिखर तक	सर्वत्र असं० कोड़ाकोड़ी योजन	४ कोश तक	स्व स्व अन्तर्मुहूर्त (विशेष दे० सामान्य नियम)	सामान्य नियमके अनुसार
शर्कराप्रभा				३½ " "		
बालुकाप्रभा				३ " "		
पंकप्रभा				२½ " "		
धूमप्रभा				२ " "		
तमःप्रभा				१½ " "		
महातमःप्रभा				१ " "		

३. भवनत्रिक देवोंमें देशावधिका विषय

(ध १३/५.५.५६/ सू १०-११/३१४) (म. ब १/गा. ९-१०/-२२) (ध ९/४.१.२/ ८/२५) (ति. प./३/१७७-१८१) (रा. वा/१/२१/७/ ८०/५) (ज. प./११/१४०-१४१); (गो जी/मू/४२६-४२९/८५०)।

नाम	ज०क्षेत्र	उत्कृष्ट क्षेत्र		नीचे	काल	द्रव्यभाव
		ऊपर	तिर्यक्			
असुरकुमार	२५ यो०	ऋजुविमान का शिखर	असं०कोड़ा-कोड़ी योजन	स्वकीय अवस्थान	असं०वर्ष, सर्वत्र असुरकुमारके कालका असंख्या० भाग (विशेष देखो सामान्य नियम)	सामान्य नियमके अनुसार स्व स्व योग्य
नागकुमारादि	"	मेरुशिखर	असं० सहस्र योजन	स्वकीय अवस्थान		
८ प्रकार व्यंतर	"	स्वभवन-शिखर	असं०को.को. योजन	असं० सहस्र योजन		
१ पल्य आयु वाले व्यन्तर		१ लाख योजन (ति.प./६/९९)				
१००० वर्षायुष्क व्यन्तर	५ कोश	सर्वत्र ५० कोश (ति.प./६/९०)				
ज्योतिषी	२५×सं० योजन	स्वविमान शिखर	असं०को.को. योजन	असं० सहस्र योजन		

४. कल्पवासी देवोंमें देशावधिका विषय

(म. ब. १/गा. सू/११-१३/२२) (ध १३/५.५.५६/गा. सूत्र/१२-१४/ ३१६-३२२) (ध. ९/ १०-१२/२५) ४. (ति. प/८/६८५-६९०) (रा. बा/१/२१/७/८०/१३) (ह. पु/६/११३-११७) (त्रि. सा/५२७) (गो.जी/मू/४३० ४३६/८५२-८५६)।

नाम	जघन्य क्षेत्र	उत्कृष्ट क्षेत्र			उत्कृष्ट काल	द्रव्य व भाव
		ऊपर	तिर्यक्	नीचे		
स्वर्ग	कथित स्थान के अन्त तक		त्रस नालीमें कथित प्रमाण	कथितस्थान-के अन्त तक	अतीत व अनागत	
सौधर्म ईशान	ज्योतिषदेव-का उत्कृष्ट	सर्वत्र अपने अपने विमान के शिखर तक	१½ राजू	रत्नप्रभा	असं.को. वर्ष	सामान्य नियम के अनुसार स्व स्व योग्य
सनत्कुमार-माहेन्द्र	रत्नप्रभा		४ राजू	शर्करा-प्रभा	पल्य/असं०	
ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	शर्करा प्र.		५½ राजू	बालुका	"	
लान्तव कापिष्ठ	बालुका		६ राजू	"	किंचि-दून-पल्य	
शुक्र महाशुक्र	"		७½ राजू	पंकप्रभा	"	
शतार सहस्रार	"		८ राजू	"	"	
आनत प्राणत	पंकप्रभा		९½ राजू	धूम्रप्रभा	"	
आरण अच्युत	"		१० राजू	"	"	
नव ग्रैवेयक	धूम्रप्रभा		११ राजू	तमप्रभा	"	
नव अनुदिश	महातमप्र० (ह.पु./६/-११६)		कुछ अधिक १३ राजू	वातवलय रहित लोकनाड़ी	"	
पंच अनुत्तर	वातवलय रहित लोक नाड़ी		कुछ कम १४ राजू	वातवलय सहित लोकनाड़ी	"	

५. तिर्यंच व मनुष्योंमें देशावधिका विषय

(म. ब १/गा. सू १४-१५/२३) (रा. वा/१/२२/४/८२/५) (ध ९/१.१. २/९३) ५./ गो. जी/मू. ४२५/२४९)।

नाम	ज० उ०	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
तिर्यंच	उ०	तैजस शरीर प्रमाण	असं० द्वीप-समुद्र	असं० वर्ष (१ समय कम पल्य)	
मनुष्य	ज०	एक जीवका औदारिक शरीर + लोक प्रदेश (स्वक्षेत्रके प्रदेशोंके असं० भाग प्रमाण विस्रसोपचय सहित स्व शरीर)	उत्सेधांगुल/असं० (लब्ध्यपर्याप्त निगोदिया की अवगाहनाप्रमाण का असं०भाग)	आवली+ असं०	
	उ०	एक परमाणु या कार्माण शरीर प्रमाण	समस्त लोक (असं० लोक)	असं०लोक प्रमाण समय	

६. परमावधि व सर्वावधिका विषय

(म. ब. १/गा. सू ८/२२) (ध. १३/५.५. ५६/ गा. सू १५/३२३).

(ध. ६/४.१.३/१६/४२-५०) (रा. वा/१/२२/४/८३/५) (गो जी/-मू/४१४-४२१/८३७)।

ज० उ०	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
(१)	परमावधि–(ध.६/पृ.)			
ज०	देशावधिका उत्कृष्ट ×सं० (४५)	देशावधिका उत्कृष्ट×असं० (४५)	देशावधि का उत्कृष्ट × असं० (४५)	देशावधि का उत्कृष्ट × असं० (४५)
उ०	परमावधिका जघन्य +(देशावधिका उत्कृष्ट ×अग्निकायद्वारापरि-च्छिन्न अनन्त परमा.)	असं०लोक (४२)	असं० लोक प्रदेश प्रमाण समय (सामान्य नियम)	अन्तिम विक-ल्प तक क्रमेण असं० गुणित (४७)
नोट—परमावधिके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त विषय वृद्धिके विकल्प —देखो (ध.६/४,१,३/४४)				
(२)	सर्वावधि–(ध.६/पृ.)			
नोट—यहाँ जघन्य उत्कृष्टका विकल्प नहीं—				
	परमावधिका उत्कृष्ट +वह/असं० (४८)	परमावधिका उत्कृष्ट×असं. लोक (४८)	परमावधिका उत्कृष्ट×असं० (५०)	परमावधिका उत्कृष्ट×असं० (४८)

७. देशावधिकी क्रमिक वृद्धिके १९ कांडक

(म.ब.१/गा.सू.२-९/२१) (ध.१३/५.५.५६/गा.सू.३-६/३०१-३२८) (ध.६/४.१.२/५-७/२४-२६) (रा.वा./१/२२/४/८२/८) (गो.जो./मू. व टी./४०४-४१३/८३०-८३६)

काण्डक सं०	ध./१३ पृ०	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
१	३०४	प्रथम काण्डकमें विस्रसोपचय सहित निम्न औदारिक शरीर +घन–लोक प्रमाण असं. द्रव्य है। तत्पश्चात् द्वितीयादिमें सर्वत्र– पूर्व पूर्व द्रव्य+(पूर्व द्रव्य+मनोवर्गणा/अनन्त)	घनांगुल+असं०	आवली+असं०	प्रथम काण्डकमें स्व विषय गत द्रव्यकी आव/असं. मात्र वर्तमान पर्यायें। तत्पश्चात् द्वितीयादिमें सर्वत्र पूर्व पूर्व×असं०
२	३०५		घनांगुल+सं०	आवली+सं०	
३	,,		घनांगुल	किंचिदून आवली	
४	,,		घनांगुल पृथक्त्व	आवली	
५	३०६		१ घन हाथ	आवली पृथक्त्व	
६	,,		१ घन कोस	अन्तर्मुहूर्त	
७	,,		१ घन योजन	१ भिन्न मुहूर्त (मुहूर्त–१ समय)	
८	,,		२५ धन योजन	किंचिदून १ दिव.	
९	३०७		भरत क्षेत्र प्रमाण (५२६ $\frac{6}{19}$ घ.योजन)	अर्द्ध मास	
१०	,,		जम्बूद्वीप प्रमाण १००,००० घन योजन	साधिक १ मास	
११	,,		मनुष्यलोक प्रमाण ४५००,००० घ. योजन	१ वर्ष	
१२	,,		रुचकवर द्वीप तक	वर्ष पृथक्त्व	
१३	३०८		असंख्य द्वीप सागर	संख्यात वर्ष	
१४	३१०	तैजस शरीर पिंड		असंख्यात वर्ष	
१५	,,	कार्माण ,, ,,	पूर्व पूर्व असंख्यात गुणा	पूर्व पूर्व असंख्यात गुणा	
१६	३११	विस्रसोपचय रहित एक तैजस-वर्गणा			
१७	३१२	एक भाषा वर्गणा			
१८	३१३	एक मनोवर्गणा			
१९	,,	एक कार्मण वर्गणा			

ध.६/४.१.२/२६-३० का सारार्थ—इसी प्रकार द्रव्य व भावमें करते जायें। क्षेत्र व काल अवस्थित रखें। द्रव्य व भावकी वृद्धिमें अंगुल। असं० प्रमाण विकल्प हो चुकनेपर क्षेत्रमें एक प्रदेशकी वृद्धि करें। काल अवस्थित रखें। उपरोक्त क्रमसे पुनः-पुनः द्रव्य व भावमें वृद्धि करें।

इस प्रकार कालको अवस्थित रखते हैं और क्षेत्रमें एक-एक प्रदेशकी वृद्धि करते हुए अंगुल/असं० प्रमाण प्रदेश वृद्धि हो जानेपर एक समय बढ़ावें। इसी प्रकार पुनः-पुनः कालकी वृद्धि करते कालमें भी आवली/असं० विकल्प उत्पन्न करें।

आगे जाकर क्षेत्रकी वृद्धि प्रतिकाल वृद्धिस्थानमें यथायोग्य घनांगुलके असंख्यात भाग, संख्यात भाग, १ भाग तथा वर्गादिरूप होने लगती है। यहाँ तक कि देशावधिका उत्कृष्टकाल तो एक समय कम पल्य और क्षेत्र समस्त लोक हो जाता है।

अवधि ज्ञानावरण—*दे० ज्ञानावरण।*

अवधि जिन—दे० जिन।

अवधि दर्शन—दे० दर्शन/५

अवधि दर्शनावरण—दे० दर्शनावरण।

अवधि मरण—दे० मरण/१

अवधिस्थान—सप्त नरकका इन्द्रक—दे० नरक/७

अवधृत—अवधृतकाल अनशन—दे० अनशन।

अवनिपाल—जैन हितैषी/पं० नाथू राम—मगधका राजा।

अवनीत—गंगवंशीय राजा था। इसका पुत्र दुर्विनीत आ. पूज्यपादका शिष्य था। तदनुसार इनका समय वि. ५००-५३५ (ई० ४४३-४७८) आता है। (द.पा./प्र.३८/प्रेमी जी); (समाधितंत्र/प्र. १० पं. जुगलकिशोर); (स.सि.प्र.६५/पं. फूलचन्द)।

अवपीड़क—भ.आ./मू./४७४-४७८ आलोचणागुणदोसे कोई सम्म पि पण्णविज्जंतो। तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवए ॥४७४॥ णिद्धं महुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते। कोई त्तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥४७६॥ तो उप्पोलेदव्वा खवयस्सोप्पीलए दोसा से। वोमेइ मंसमुदरमिव गदं सीहो जह सियालं ॥४७७॥ उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ। पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ॥४७१॥ =आलोचना करनेसे गुण और न करनेसे दोषकी प्राप्ति होती है, यह बात अच्छी तरहसे समझानेपर भी कोई क्षपक तीव्र अभिमान या लज्जा आदिके कारण अपने दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है ॥४७४॥ स्निग्ध, कर्णमधुर व हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा भाषण बोलनेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोंकी आलोचना नहीं करता ॥४७६॥ तब अवपीडक गुणधारक आचार्य क्षपकके दोषोंको जबरीसे बाहर निकालते हैं, जैसे सिंह सियालके पेटमें भी चला गया मांस वमन करवाता है ॥४७७॥ उत्पीलक *या अवपीडक गुणधारक आचार्य ओजस्वी, बलवान् और तेजस्वी* प्रतापवान् होते हैं; तथा सब मुनियोंपर अपना रौब जमानेवाले होते हैं। वे वर्चस्वी अर्थात् प्रश्नका उत्तर देनेमें कुशल होते हैं, उनकी कीर्ति चारों दिशाओंमें रहती है। वे सिंह समान अक्षोभ्य रहते हैं। वे किसीसे नहीं डरते।

अवमान—दे० प्रमाण/५

अवमौदर्य—

१. अवमौदर्य तपका लक्षण

मू.आ./मू./३५० बत्तीसा किरकवला पुरिसस्स तु होदि पयदि आहारो। एगकवलादिहिं तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं ॥३५०॥ =पुरुषका स्वाभाविक आहार ३२ ग्रास है। उसमें-से एक ग्रास आदि कम करके

ऐसा अवमौदर्य तप है। (रा.वा./९/१९/३/६१८/२१) (त.सा./७/९) (अन.ध./७/२२/६७२) (भा.पा./टी./७८/२२२/३)।

ध.१३/५,४,२६/५६/१ अद्धाहारणियमो अवमोदरियतवो। जो जस्स पयडिआहारो तत्तो ऊणाहारविसयअभिग्गहो अवमोदरियमिदि भणिदं होदि। =आधे आहारका नियम करना अवमौदर्य तप है। जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार विषयक अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करना अवमौदर्य तप है।

भ.आ./वि./६/३२/१७ *योगत्रयेण तृप्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृतिः अवमदोर्यम्।* =तृप्ति करनेवाला, दर्प उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो आहार उसका मन वचन काय रूप तीनों योगोंसे त्याग करना अवमौदर्य है।

२. अवमौदर्य तपके अतिचार

भ.आ./वि./४८७/७०७/५ रसवदाहारमंतरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा। षड्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिः। प्रचुरनिद्रतया संक्लेशकमनर्थमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं नाचरिष्यामि इति संकल्प अवमौदर्यातिचारः। मनसा बहुभोजनादरः। परं बहुभोजयामीति चिन्ता। भुङ्क्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं, भुक्तं मया बहित्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचनं, हस्तसंज्ञया प्रदर्शनं कण्ठदेशमुपस्पृश्य। =रस युक्त आहारके बिना यह मेरा परिश्रम दूर न होगा, ऐसी चिन्ता करना, षट्काय जीवोंको मन वचन कायमें-से किसी भी एक योगसे बाधा देनेमें प्रवृत्त होना। 'मेरेको बहुत निद्रा आती है, और यह अवमौदर्य नामक तप मैंने व्यर्थ धारण किया है, यह संक्लेशदायक है, संताप उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा यह तप तो मैं फिर कभी भी न करूँगा' ऐसा संकल्प करना—ये अवमौदर्य तपके अतिचार हैं। अथवा बहुत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना; 'दूसरोंको बहुत भोजन करनेमें प्रवृत्त करूँगा', ऐसा विचार रखना; 'तुम तृप्ति होने तक भोजन करो' ऐसा कहना; यदि वह 'मैंने बहुत भोजन किया है' ऐसा कहे तो 'तुमने अच्छा किया' ऐसा बोलना; अपने गलेको हाथसे स्पर्शकर 'यहाँ तक तुमने भोजन किया है ना?' *ऐसा हस्त चिह्नसे अपना अभिप्राय प्रगट करना—ये सब अवमौदर्य* तपके अतिचार हैं।

३. अवमौदर्य तप किसके करने योग्य है

ध.१३/५,४,२६/५६/१२ एसो वि तवो केहि कायव्वो। पित्तप्पकोवेण उववास अक्खमेहि अद्धाहारेण उववासादो अहियपरिस्समेहि सगतवो-*माहप्पेण भव्वजीवुवसमणवावदेहिं वा सगकुक्खिकिमिउप्पत्तिणिरोहकंखुएहिं वा अदिमत्ताहारभोयणेण वाहिवेयणाणिमित्तेण सज्झाय-*भंगभीरुएहिं वा। =प्रश्न—यह तप किन्हें करना चाहिए? उत्तर—जो पित्तके प्रकोपवश उपवास करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें आधे आहार-की अपेक्षा उपवास करनेमें अधिक थकान आती है, जो अपने तपके माहात्म्यसे भव्य जीवोंको उपशान्त करनेमें लगे हैं, जो अपने उदरमें कृमिकी उत्पत्तिका निरोध करना चाहते हैं, और जो व्याधिजन्य वेदनाके निमित्तभूत अतिमात्रामें भोजन कर लेनेसे स्वाध्यायके भंग होनेका भय करते हैं, उन्हें यह अवमौदर्य तप करना चाहिए।

४. अवमौदर्य तपका प्रयोजन

मू.आ./३५१ धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि। ण य इंदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्ती ॥३५१॥ =क्षमादि धर्मोंमें, *सामायिकादि आवश्यकोंमें, वृक्षमूलादि योगोंमें तथा स्वाध्याय आदिमें* यह अवमौदर्य तपकी वृत्ति उपकार करती है और इन्द्रियोंको स्वेच्छाचारी नहीं होने देती।

स. सि/९/१९/४३८/७ *संजमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायादिसुखसि-द्ध्यर्थमवमौदर्यम्।* =संयमको जागृत रखने, दोषोंके प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्यायादिकी सुखपूर्वक सिद्धिके लिए अवमौदर्य तप किया जाता है।

अवयव—रा.वा/५/१६/६/१० अवयूयन्ते इत्यवयवाः। जो वस्तुके हिस्से कर देते हैं वे अवयव हैं।

* **अनुमानके पाँच अवयव**—देखो अनुमान/३।
* **जल्पके चार अवयव**—देखो जल्प।
* **परमाणुका सावयव निरवयवपना**—दे० परमाणु/३।
* **शरीरके अवयव**—दे० *अंगोपांग*।

अवरोहक—दे० अवतारक।

अवर्णवाद—स. सि/६/१३/३३१/१३ गुणवत्सु महत्सु असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः। =गुणवाले बड़े पुरुषोंमें जो दोष नहीं हैं उनका उनमें उद्भावन करना अवर्णवाद है। यथा—

रा. वा/६/१३/८-१२/५२४/१२ पिण्डाभ्यवहारजीविनः कम्बलदशानिर्हरणाः अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः।...मांसमत्स्यभक्षणं मधुसुरापानं वेदार्दितमैथुनोपसेवा रात्रिभोजनमित्येवमाद्यनवद्यमित्यनुज्ञानं श्रुतेऽवर्णवादः ॥९॥...एते श्रमणाः शूद्राः अस्नानमलदिग्धाङ्गाः अशुचयो दिगम्बरा निरपत्रपा इहैवेति दुःखमनुभवन्ति परलोकश्च मुषित इत्यादि वचनं सङ्घेऽवर्णवादः ॥१०॥...जिनोपदिष्टो दशविकल्पो धर्मो निर्गुणः तदुपसेविनो ये च तेऽसुरा भवन्ति इत्येवमाद्यभिधानं धर्मावर्णवादः ॥११॥...सुरा मांसं चोपसेवन्ते देवा आहल्यादिषु चासक्तचेतसः इत्याद्याघोषणं देवावर्णवादः ॥१२॥ ='केवली भोजन करते हैं, कम्बल आदि धारण करते हैं, तुंबड़ीका पात्र रखते हैं, उनके ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं' इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है ॥८॥ मांस-मछलीका भक्षण, मधु और सुराका पीना, कामातुरको रतिदान तथा रात्रि भोजन आदिमें कोई दोष नहीं है, यह सब श्रुतका अवर्णवाद है ॥९॥ ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करनेसे मलिन शरीरवाले हैं, अशुचि हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, इसी लोकमें ये दुःखी हैं, परलोक भी *इनको कष्ट है, इत्यादि संघका अवर्णवाद है ।१०। जिनोपदिष्ट धर्म* निर्गुण है, इसके धारण करनेवाले मर कर असुर होते हैं इत्यादि धर्मका अवर्णवाद है ।११। देव मद्य मांसका सेवन करते हैं, आहल्या आदिमें आसक्त हुए थे, इत्यादि देवोंका अवर्णवाद है।

भ. आ/वि/४७/१६१/२३ सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्येते रागादिभि-*रविद्यया च अनुगताः समस्ता एव प्राणभृतः इत्यादिरर्हतामवर्णवादः। स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यालंकारादिविरहितानां सिद्धानां सुखं न किंचिद-*तीन्द्रियाणाम्। तेषां समधिगतौ न निबन्धनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवादः।...न प्रतिबिम्बादिस्था अर्हदादयः तद्गुणवैकल्यात्प्रतिबिम्बानामर्हदादित्वमिति चैत्यावर्णवादः।...अज्ञातं चोपदिशतो वचः कथं सत्यं। तदुद्गतं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति श्रुतावर्णवादः।...सुखप्रदायी चेद्धर्मः स्वनिष्पत्त्यनन्तरं सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मावर्णवादः।...केशोल्लुंचनादिभिः पीडयतां च कथं *नात्मवधः। अदृष्टमात्मविषयं, धर्मं, पापं, तत्फलं च गदतां कथं सत्यव्रतम्। इति साध्ववर्णवादः। एवमितरयोरपि।* =वीतरागता व सर्वज्ञपना अर्हन्तमें नहीं है, क्योंकि जगत्‌में सम्पूर्ण प्राणी ही रागद्वेष और अज्ञानसे घिरे हुए देखे जाते हैं, ऐसा कहना यह अर्हन्तका अवर्णवाद है। स्त्री, वस्त्र, इतर वगैरह सुगंधी पदार्थ, पुष्पमाला और वस्त्रालंकार ये ही सुखके कारण हैं। इन पदार्थोंका अभाव होनेसे सिद्धोंको सुख नहीं है। सुख इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है परन्तु वे *सिद्धोंको नहीं हैं, अतः वे सुखी नहीं हैं।* ऐसा कहना सिद्धावर्णवाद है। *मूर्तिमें अर्हन्त सिद्ध आदि पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं,* क्योंकि उनके गुण मूर्तिमें दीखते नहीं हैं, ऐसा कहना चैत्यावर्णवाद है। अज्ञात वस्तुका यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेशमें

प्रमाणता कैसे आवेगी ? उसके उपदेशसे लोगोंको जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी प्रमाण कैसे माना जायेगा ? अतः आगमज्ञान प्रमाण नहीं है। ऐसा कहना श्रुतावर्णवाद है। यदि धर्म सुखदायक है तो वह उत्पन्न होनेके अनन्तर ही सुख क्यों उत्पन्न नहीं करता है। ऐसा कहना यह धर्मावर्णवाद है। ये साधु केशलोंच उपवासादिके द्वारा अपने आत्माको दुःख देते हैं, इसलिए इनको आत्मवधका दोष क्यों न लगेगा। पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं हैं, तो भी ये मुनि उनका और उनके नरक स्वर्गादि फलोंका वर्णन करते हैं। उनका यह विवेचन झूठा होनेसे उन्हें सत्यव्रत कैसे हो सकता है। इत्यादि कहना यह साधु अवर्णवाद है। ऐसे ही अन्यमें भी जानना।

अवर्ण्यसमा—न्यायविषयक एक जाति—दे० वर्ण्यसमा।

अवलंब—अर्थात् कारण—दे० कारण I/१।

अवलंबन करण—ध. १०/४,२,४,११२/३३०/११ किमवलंबणाकरणं णाम। परभविआउअवरिमट्ठिदिदव्वस्स ओकड्डणाए हेट्ठा णिवदणमवलंबणाकरणं णाम। एदस्स ओकड्डणसण्णा किण्ण कदा। ण उदयाभावेण उदयावलियबाहिरे अणिवदमाणस्स ओकड्डणा ववएसविरोहादो। =प्रश्न—अवलम्बनाकरण किसे कहते हैं ? उत्तर—परभव सम्बन्धी आयुकी उपरिम स्थितिमें स्थित द्रव्यका अपकर्षण द्वारा नीचे पतन करना अवलंबनाकरण कहा जाता है। प्रश्न—इसकी अपकर्षण संज्ञा क्यों नहीं की ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, परभविक आयुका उदय नहीं होनेसे इसका उदयावलिके बाहर पतन नहीं होता, इसलिए इसकी अपकर्षण संज्ञा करनेका विरोध आता है। [आशय यह है कि परभव सम्बन्धी आयुका अपकर्षण होनेपर भी उसका पतन आबाधा कालके भीतर न होकर आबाधासे ऊपर स्थित स्थितिनिषेकोंमें होता है। इसीसे इसे अपकर्षणसे जुदा बताया गया है।]

अवलंबना—ध १३/५,५,३७/२४२/४ अवलम्बते इन्द्रियादीनि स्वोत्पत्तये इत्यवग्रहः अवलम्बना। =जो अपनी उत्पत्तिके लिए इन्द्रियादिकका अवलम्बन लेता है, वह अवलम्बना अवग्रहका चौथा नाम है।

अवलंब ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

अवश—नि. सा/मू/१४२ ण वसो अवसो—जो अन्यके वश नहीं है वह अवश है।

नि. सा/ता. वृ/१४२ यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः। अतएव अवश इत्युक्तः। =जो योगी निजात्माके परिग्रहके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता है, और इसीलिए जिसे अवश कहा जाता है।

स. श/टी/३७/२३६ अवशं विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः। =विषय व इन्द्रियोंके आधीन अनात्म पदार्थोंका निमित्तपना अवश है अर्थात् अपने वश में नहीं है।

अवसन्न—भ.आ/मू/१२६४-१२६५/१२७२ ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असंजदो होइ। सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो।१२६४। इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो। करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ।१२६५। =जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होकर सिद्धमार्गकी अनुयायी क्रियाएँ करता है तथा असंयत जनोंकी सेवा करता है, वह अवसन्न साधु है। तीव्र कषाय युक्त होकर वे इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं, जिसके कारण सुखशील होकर आचरणमें प्रवृत्ति करते हैं।

भ.आ./वि./२५/८८/१४ पर उद्धृत गाथा "पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा। जं सिद्धि पच्छिदादो ओहीणा साधुसत्थादो।"=पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पाँच प्रकारके मुनि रत्नत्रय मार्गमें विहार करनेवाले मुनियोंका त्याग करते हैं अर्थात् स्वच्छन्दसे चलते हैं।

भ. आ/वि/१६५०/१७२१/२१ यथा कर्दमे क्षुण्णः मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः। भावावसन्नः अशुद्धचारित्रः। =जैसे कीचड़में फँसे हुए और मार्गभ्रष्ट पथिकको अवसन्न कहते हैं, उसको द्रव्यावसन्न भी कहते हैं, वैसे ही जिसका चारित्र अशुद्ध बन गया है ऐसे मुनिको भावावसन्न कहते हैं। (विशेष विस्तार दे० साधु/५)

चा. सा/१४४/१ जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानाचारणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्नः। =जो जिनवचनोंको जानते तक नहीं, जिन्होंने चारित्रका भार सब छोड़ दिया है, जो ज्ञान और चारित्र दोनोंसे भ्रष्ट हैं और चारित्रके पालन करनेमें आलस करते हैं, उन्हें अवसन्न कहते हैं। (भा. पा/टी/१४/१३७/२१)

★ **अवसन्न साधुका निराकरण आदि**— दे० साधु/५।

अवसन्नासन्न—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद। अपर नाम उत्संज्ञासंज्ञ—दे० गणित I/१।

अवसर्पिणी—ध. १३/५,५,५६/३१/३०१ कोटिकोट्यो दशैतेषां पल्यानां सागरोपमम्। सागरोपमकोटीनां दश कोट्योऽवसर्पिणी ॥३१॥ =दस कोड़ाकोड़ी पल्योंका एक सागरोपम होता है और दस कोड़ाकोड़ी सागरोपमोंका एक अवसर्पिणी काल होता है। विशेष दे० काल/४।

अवसाय—न. वि./वृ/१/७/१४०/१६ अवसायोऽधिगमः =पदार्थके ज्ञान या निश्चयका नाम अवसाय है।

अवस्था—पं. ध/पू/११७ अपि नित्याः प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः। स च परिणामोऽवस्था तेषामेव ॥११७॥ =गुण (या द्रव्य) नित्य है तो भी वे स्वभाव से ही प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। वह परिणमन ही उन गुणों (या द्रव्यों) की अवस्था है।

अवस्थान—स्वस्थान स्वस्थान, विहारवत् स्वस्थान उपपाद, आदि जीवोंके विभिन्न अवस्थान। — दे० क्षेत्र।

अवस्थित—स.सि/५/४/१७१/१ धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते। ततोऽवस्थितानीत्युच्यते। =धर्मादिक छहों द्रव्य कभी भी छह, इस संख्याका उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वे अवस्थित कहे जाते हैं।

अवस्थित अवधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान।

अवस्थित गुणश्रेणी—दे० संक्रमण/८।

अवस्थित बंध—दे० प्रकृति बंध/१।

अवांतर सत्ता—दे० अस्तित्व।

अवाक्—दक्षि. दिशा।

अवाय—१. **अवायका लक्षण**

ष. ख. १३/५,५/सू. ३९/२४३ अवायो ववसायो बुद्धी विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी ॥ ३९ ॥ =अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा ये पर्याय नाम हैं।

स. सि./१/१५/१११/६ विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः। उत्पतननिपतनपक्षविक्षेपादिभिर्बलाकैवेयं न पताकेति। =विशेषके निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं। जैसे उत्पतन, निपतन, पक्ष-विक्षेप आदिके द्वारा 'यह बक पंक्ति ही है, ध्वजा नहीं' ऐसा निश्चय होना अवाय है। (ध. १३/५,५,२३/२१८/१)

रा. वा./१/१५/३/६०/६ भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येनावगमनमवायः। 'दाक्षिणात्योऽयम्, युवा, गौरः' इति वा। =भाषा आदि विशेषोंके द्वारा उस (ईहा द्वारा गृहीत पुरुष) की उस विशेषताका यथार्थ ज्ञान कर लेना अवाय है, जैसे यह दक्षिणी है, युवा है या गौर है इत्यादि। (न्या. दी./२/§११/३२/६)

ध. १३/५,५,३६/२४३/३ अवेयते निश्चीयते मीमांसितोऽर्थोऽनेनेत्यवायः। =जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ 'अवेयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है वह अवाय है।

ध. ६/१,६-१,१४/१७/७ ईहितस्यार्थस्य संदेहापोहनमवायः। =ईहा ज्ञानसे जाने गये पदार्थ विषयक सन्देहका दूर हो जाना (या निश्चय हो जाना) अवाय है। (ध. १/१,१,११५/३५४/३) (ध. ६/४,१,४/१४४/७)

ज. प./१३/५६,६३ ईहिदत्थस्स पुणो थाणु पुरिसो त्ति बहुवियप्पस्स। जो णिच्छियावबोधो सो दु अवाओ वियाणाहि ॥ ५६ ॥ जो कम्मकलुसरहिओ सो देवो णत्थि एत्थ संदेहो। जस्स दु एवं बुद्धी अवायणाणं हवे तस्स ॥ ६३ ॥ =यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार बहुत विकल्परूप ईहित पदार्थके विषयमें जो निश्चित ज्ञान होता है उसे अवाय जानना चाहिए ॥ ५६ ॥ जो कर्ममलसे रहित होता है वह देव है, इसमें कोई सन्देह नहीं है; इस प्रकार जिसके निश्चयरूप बुद्धि होती है उसके अवायज्ञान होता है ॥ ६३ ॥

२. इस ज्ञानको अवाय कहें या अपाय

रा. वा./१/१५/१३/६१/१ आह-किमयम् अपाय उत अवाय इति। उभयथा न दोषः। अन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात्। यथा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायं त्यागं करोति तदा 'औदीच्यः' इत्यवायोऽधिगमोऽर्थगृहीतः। यदा च 'औदीच्यः; इत्यवायं करोति तदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायोऽर्थगृहीतः। =प्रश्न—अवाय नाम ठीक है या अपाय ? उत्तर—दोनों ही ठीक हैं, क्योंकि एकके वचनमें दूसरेका ग्रहण स्वतः हो जाता है। जैसे अब 'यह दक्षिणी नहीं है' ऐसा अपाय त्याग करता है तब 'उत्तरी है' यह अवाय-निश्चय हो ही जाता है। इसी तरह 'उत्तरी है' इस प्रकार अवाय या निश्चय होनेपर 'दक्षिणी नहीं है' यह अपाय या त्याग हो हो जाता है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अवायज्ञानको 'मति' व्यपदेश कैसे ? — दे० मतिज्ञान/३

२. अवग्रहसे अवाय पर्यन्त मतिज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम — दे० मतिज्ञान/३

३. अवग्रह व अवायमें अन्तर — दे० अवग्रह/२

४. अवाय व श्रुतज्ञानमें अन्तर — दे० श्रुतज्ञान/I

५. अवाय व धारणामें अन्तर — दे० धारणा/२

अविकल्प—दे० विकल्प।

अविकृतिकरण—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

अविज्ञातार्थ—न्या. सू./मू./५-२/९ परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ४ ॥

न्या. सू./भा./५-२/९ यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायन्ते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति। =जिस अर्थको वादी ऐसे शब्दोंसे कहे जो प्रसिद्ध न हों, इस कारणसे, या अति शीघ्र उच्चारणके कारणसे, या उच्चारित शब्दके बहुअर्थवाचक होनेसे अथवा प्रयोग प्रतीत न होनेसे, तीन बार कहनेपर भी वादीका वाक्य किसी सभासद, विद्वान् और प्रतिवादीसे न समझा जाये तो ऐसे अर्थ कहनेसे वादी 'अविज्ञातार्थ नामा निग्रहस्थानमें आकर हार जाता है। (श्लो.वा. ४/न्या. २०१/३८४/१)

अविचार—दे० विचार।

अवितथ—दे० विदथ।

अविद्धकर्ण—१. एक प्रसिद्ध नैयायिक-समय ई० ७६२ (सि. वि./प्र. ४/पं. महेन्द्रकुमार); २. एक प्रसिद्ध चार्वाक आचार्य—समय ई.श. ८ (स.बि./प्र. ७४/पं. महेन्द्रकुमार)

अविनाभाव—प. मु./३/१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥ =सहभाव नियम तथा क्रमभाव नियमको अविनाभाव कहते हैं। (न्या. दी./३/§४६/६३/५)

पं. ध./५/५६१ अविनाभावोऽपि यथा येन बिना जायते न तत्सिद्धिः। =जिसके बिना जिसकी सिद्धि न होय उसको अविनाभावी सम्बन्ध कहते हैं।

२. अविनाभावके भेद

प. मु./३/१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः। =अविनाभाव सम्बन्ध दो प्रकारका है—एक सहभाव, सरा क्रमभाव।

३. सहभाव व क्रमभाव अविनाभावके लक्षण

प. मु./३/१७-१८ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकभावयोश्च सहभावः ॥ १७ ॥ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥ १८ ॥ =साथ रहनेवालेमें तथा व्याप्य और व्यापक पदार्थोंमें सहभाव नियम नामका अविनाभाव होता है, जैसे द्रव्य व गुणमें ॥ १७ ॥ पूर्वचर व उत्तरचरोंमें तथा कार्यकारणोंमें क्रमभावी नियम होता है। जैसे—मेघ व वर्षामें।

४. अविनाभावका निर्णय तर्क द्वारा होता है

प. मु./३/१९ तर्कात्तन्निर्णयः ॥ १९ ॥ =तर्कसे इसका निर्णय होता है।

अविनेय—(स. सि./७/११/३४९/१०) तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणा अविनेयाः। =जिनमें जीवादि पदार्थोंको सुनने व ग्रहण करनेका गुण नहीं है वे अविनेय कहलाते हैं। (रा. वा./७/११/८/५३८/२९)

अविपाक—दे० विपाक।

अविभाग प्रतिच्छेद—शक्ति अंशको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। वह जड़ व चेतन सभी पदार्थोंके गुणोंमें देखे जाते हैं। यथा—

१. द्रव्य व गुणों सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद

ध. १२/४,२,७,१९९/९२/१० सव्वमंदाणुभागपरमाणुं घेत्तूण वण्णगंधरसे मोत्तूण पासं चेव बुद्धीए घेत्तूण तस्स पण्णाच्छेदो कायव्वो जाव विभागवज्जिदपरिच्छेदो त्ति। तस्स अंतिमस्स खंडस्स अछेज्जस्स अविभागपडिच्छेद इदि सण्णा। =सर्वमन्द अनुभागसे युक्त परमाणुको ग्रहण करके, वर्ण गन्ध रसको छोड़कर, केवल स्पर्शका (एक गुणका) ही बुद्धिसे ग्रहण कर उसका विभाग रहित छेद होने तक प्रज्ञाके द्वारा छेद करना चाहिए। उस नहीं छेदने योग्य अन्तिम खण्डकी अविभाग प्रतिच्छेद संज्ञा है। (रा. वा./२/५/४/१०९/६) (गो. जी./भाषा/५९/१५४/१८)

ध. १४/५,६,५०४/४०१/४ एगपरमाणुम्हि जा जहण्णिया वड्ढी सो अविभागपडिच्छेदो णाम। =एक परमाणुमें जो जघन्य वृद्धि होती है उसे अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

२. अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद

ध. १२/४,२,७,१९९/९२/३ तत्थ एक्कम्हि परमाणुम्हि जो जहण्णेण वड्ढिदो अणुभागो तस्स अविभागपडिच्छेदो त्ति सण्णा। =एक परमाणुमें जो

जघन्यरूपसे अवस्थित अनुभाग है उसको अविभाग प्रतिच्छेद संज्ञा है।

१. योग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद

ध. १०/४,२,४,१७८/४४०/५ जोगाविभागपडिच्छेदो णाम किं। एक्केम्हि जोवपदेसे जोगस्स जा जहण्णिया वड्ढो सो जोगाविभागपडिच्छेदो।... एकजोवपदेसट्ठियजहण्णजोगे असंखेज्जलोगेहि खंडिदे तत्थ एगखण्डमविभागपडिच्छेदो णाम। =प्रश्न—योगविभागप्रतिच्छेद किसे कहते हैं? उत्तर—एक जीवप्रदेशमें योगकी जो जघन्य वृद्धि है, उसे योगविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।...एक जीवप्रदेशमें स्थित जघन्य योगको असंख्यात लोकोंसे खण्डित करनेपर उनमें-से एक खण्ड अविभागप्रतिच्छेद कहलाता है।

*** गुणोंमें अविभागप्रतिच्छेदों रूप अंशकल्पना**—

—दे० गुण/२।

अविरत सम्यग्दृष्टि—दे० सम्यग्दृष्टि/५।

अविरति—द्र. सं./टी./३०/८८/३ अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः। =अन्तरंगमें निज परमात्मस्वरूपकी भावनासे उत्पन्न परमसुखामृतमें जो प्रीति, उससे विलक्षण तथा बाह्यविषयमें व्रत आदिको धारण न करना सो अविरति है।

स. सा./ता. वृ./८८ निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः। =निर्विकार स्वसंवेदनसे विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणामका नाम अविरति है।

२. अविरतिके भेद

बा. अणु./४८ अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण। =अविरति नियमसे हिंसा आदि पाँच प्रकारकी है—अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह रूप है। (न. च. वृ./३०७); (द्र. सं./मू./३०/८८)

स.सि./८/१/३७५/१२ अविरतिर्द्वादशविधा; षट्कायषट्करणविषयभेदात्। =छह कायके जोवोंकी दया न करनेसे और छह इन्द्रियोंके विषयभेदसे अविरति बारह प्रकारकी होती है। (रा. वा./८/१/२१/५६४/२४); (द्र. सं./टी./३७/८९/३)

नोट :—और भी दे० असंयम—

*** कर्मबन्धके प्रत्ययके रूपमें अविरति**—दे० बंध/६।

*** अविरति व कषायमें अन्तर**—दे० प्रत्यय।

अविरुद्ध—न. च. वृ./२४८ सामण्ण अह विसेसं दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो। साहइ तं सम्मत्तं णहु पुण तं तस्स विवरीयं ॥२४८॥ =द्रव्यमें सामान्य तथा विशेषका ज्ञान होना ही अविरुद्ध है। वह ही सम्यक्त्वको साधता है, क्योंकि वह उससे विपरीत नहीं है।

अविरुद्धोपलब्धि हेतु—दे० हेतु।

अविशद—दे० विशद।

अविशेषसमा—न्या. सू./मू. व. भा./५-१/२३ एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥२३॥ एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते। =विवक्षित पक्ष और दृष्टान्तव्यक्तियोंमें एक धर्मकी उपपत्ति हो जानेसे अविशेष हो जानेपर पुनः सद्भावकी उपपत्ति होनेसे सम्पूर्ण वस्तुओंके अविशेषका प्रसंग देनेसे प्रतिवादी द्वारा अविशेषसम प्रतिषेध उठाया जाता है ॥२३॥ जैसे कि प्रयत्नान्तरीयकत्वरूप एक धर्म शब्द व घट दोनोंमें घटित हो जानेसे दोनोंका विशेषरहितपना स्वीकार कर चुकनेपर, पुनः प्रतिवादी द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओंके समान हो रहे 'सत्त्व'की घटनासे सबको अन्तररहित या नित्यपनेका प्रसंग देना अविशेषसमा जाति है। (श्लो. वा. ४/न्या. ४०७/५१८/४)

अविष्वग्भाव—स. म./१६/२१७/२४ अविष्वग्भावेनावयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात्। =प्रत्येक अवयवी अनेक अवयवोंमें अविष्वग्भाव रूपसे अर्थात् अभेद रूपसे स्वीकार किया गया है।

अव्यक्त—आलोचनाका एक दोष। —दे० आलोचना/२।

अव्यवस्था—दे० व्यवस्था।

अव्याघात—ल. सा./भाषा./५६/८८/१ जहाँ स्थिति काण्डकघात न पाइए सो अव्याघात (अपकर्षण) है।—विशेष दे० अपकर्षण।

अव्याप्त—लक्षणका एक दोष।—दे० लक्षण।

अव्याबाध—लौकान्तिक देवोंका एक भेद। —दे० लौकान्तिक। उनका लोकमें अवस्थान। दे० लोक/७।

अव्याबाध सुख—दे० सुख।

अशन—मू. आ./मू./६४४ असणं खुहप्पसमणं। =जिससे भूख मिट जाय वह अशन है।

अन. ध./७/१३/६६७ ओदनाद्यशनं। =भात दाल आदि भोज्य सामग्रीको अशन कहते हैं।

अशनिघोष—१. मानुषोत्तर पर्वतस्थ अञ्जनकूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव। दे० लोक/७। २. (म. पु./५९/२१२-२१८)—पूर्व पापके कारण हाथी हुआ, मुनिद्वारा सम्बोधे जानेपर अणुव्रत धारण कर लिया। पूर्व वैरी सर्पके डस लेनेसे मरकर स्वर्गमें श्रीधर देव हुआ। यह संजयन्त मुनिका पूर्वका सातवाँ भव है।

अशनिजव—महोरग जातिके व्यन्तरदेवका एक भेद—देखो महोरग।

अशय्याराधिनी—यह एक मन्त्र विद्या है—दे० विद्या।

अशरण—अशरणानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

अशुचि—अशुचित्वानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

अशुचिनामक—पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच।

अशुद्ध—आ. प./६ शुद्धं केवलभावमशुद्धं तस्यापि विपरीतम्। =केवल अर्थात् असंयोगी भावको शुद्ध कहते हैं और अशुद्ध उससे विपरीत है।

स. सा./ता. वृ./१०२ औपाधिकमुपादानमशुद्धं, तप्तायःपिण्डवत्। =औपाधिक पदार्थको अशुद्ध कहते हैं जैसे अग्निसे तपाया हुआ लोहेका गोला।

पं. का./ता. वृ./१६/३६/३ परद्रव्यसम्बन्धेनाशुद्धपर्यायो। =पर द्रव्यके सम्बन्धसे अशुद्ध पर्याय होती है।

पं. ध./उ./२२१ शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः। वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥२२१॥ =वस्तु सम्यग्ज्ञानियोंको सामान्य रूपसे अनुभवमें आती है इसलिए वह वस्तु केवल सामान्य रूपसे शुद्ध कहलाती है और विशेष भेदोंकी अपेक्षा अशुद्ध कहलाती है। (विशेष—दे० नय V/४/१)।

अशुद्ध चेतना—दे० चेतना।

अशुद्धता—पं० ध./उ./१३० तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥१३०॥ =उस बन्धनरूप परगुणाकार क्रियाके होनेपर जो उन दोनों जीव कर्मोंका अपने-अपने गुणोंसे च्युत होना है वह अशुद्धता कहलाती है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय—दे० नय IV/२।

अशुद्ध निश्चय नय—दे० नय V/१।

अशुद्धोपयोग—दे० उपयोग II/४,१।

अशुभ नाम कर्म—दे० शुभ।

अशुभ योग—दे० योग/१।

अशुभोपयोग—दे० उपयोग II/४।

अशून्य नय—दे० नय I/५।

अशोक—१. एक ग्रह—दे० ग्रह; २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; ३. वर्तमान भारतीय इतिहासका एक प्रसिद्ध राजा। यह चन्द्रगुप्त मौर्यका पोता और बिम्बसारका पुत्र था। मगध देशके राज्यको बढ़ाकर इसने समस्त भारतमें एक छत्र राज्यकी स्थापना की थी। यह बड़ा धर्मात्मा था। पहले जैन था परन्तु पीछेसे बौद्ध हो गया था। ई० पू० २६१ में इसने कलिंग देशपर विजय प्राप्त की और वहाँके महारक्तप्रवाहको देखकर इसका चित्त संसारसे विरक्त हो गया। **समय**—जैन मान्यतानुसार ई० पू० २८४-२३२ है, और इतिहासकारोंके अनुसार ई० पू० २७३-२३२ है (विशेष दे० इतिहास/३/१)

अशोक रोहिणी व्रत—दे० रोहिणी व्रत।

अशोक वृक्ष—दे० वृक्ष/२।

अशोक संस्थान—एक ग्रह—दे० ग्रह।

अशोका—१. अपर विदेहके कुमुदक्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/७; २. नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

अश्मक—भरत क्षेत्रके दक्षिणी आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

अश्व—१. चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमें-से एक—दे० शलाकापुरुष/२; २. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र; ३. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक; ४. इस लौकान्तिकदेवका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/७।

अश्वकर्ण करण—क्ष. सा./भाषा/४६२ चारित्रमोहकी क्षपणा विधिमें, संज्वलन चतुष्कका अनुभाग, प्रथम काण्डकका घात भए पीछे, क्रोधसे लोभ पर्यन्त क्रमसे उसी प्रकार घटता हो है, जिस प्रकार कि घोड़ेका कान मध्य प्रदेशतै आदि प्रदेश पर्यन्त घटता हो है। इसलिए क्षपककी इस स्थितिको अश्वकर्ण कहते हैं। ऐसी स्थिति लानेकी जो विधि विशेष उसे अश्वकर्णकरण कहते हैं। इसीका अपर नाम अपवर्तनोद्वर्तन व आन्दोलनकरण भी है (ध. ६/१,९-८,१६/३६४/६)

२. अश्वकर्णकरण विधान

(क्ष. सा./गा. ४६३-४६५/भावार्थ) संज्वलन चतुष्कका अनुभागबन्ध व सत्त्व क्रम, प्रथम काण्डकका घात होनेसे पहले निम्न प्रकार था—मानका स्तोक (५११), क्रोधका विशेष अधिक (५१५), मायाका विशेष अधिक (५१८), लोभका विशेष अधिक (५२१)। यहाँ तक जो काण्डक घात होता था उसमें ग्रहण किये गये स्पर्धकोंका भी यही क्रम रहता था, परन्तु अब इस क्रममें परिवर्तन हो जाता है। प्रथम समयके अनुभाग काण्डका क्रम इस प्रकार हो गया—क्रोधके स्पर्धक स्तोक (३८७); मानके विशेष अधिक (४८०); मायाके विशेष अधिक (५१०); लोभके विशेष अधिक (५१६)। इस प्रकार काण्डकका घात भए पीछे शेष स्पर्धकोंका प्रमाण—क्रोधमें १२८, मान में ३२, मायामें ८ और लोभमें २ मात्र रहे। इसी प्रकार इनके स्थिति-बन्ध व स्थिति-सत्त्वका भी यही क्रम हो गया। यह अश्वकर्णकरण यहाँ ही समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि आगे 'अपूर्वस्पर्धक करण' तथा 'कृष्टिकरण' में भी बराबर चलता रहता है। दे० स्पर्धक तथा कृष्टि। (क्रमशः)

नोट—ऊपर जो गणनाओंका निर्देश किया है उन्हें सहनानी समझना।

(क्ष.सा./४८७-४८९/भावार्थ/क्रमशः) अश्वकर्णकरणका कुल काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस कालमें हजारों अनुभागकाण्डक और हजारों स्थितिकाण्डकघात होते हैं। जिससे कि अनुभागमें, अनन्तगुणी हीनशक्तियुक्त अपूर्व स्पर्धकोंकी रचना हो जाती है। उसके अन्त समय तक स्थिति घटकर संज्वलनकी तो ८ वर्ष मात्र और शेष घातिया कर्मोंकी संख्यात वर्ष प्रमाण रह जाती है। अघातिया कर्मोंकी स्थिति असंख्यात वर्ष मात्र रहती है। (क्रमशः)

(क्ष. सा./५१०/भावार्थ। (क्रमशः) अश्वकर्ण कालमें क्षपक पूर्व व अपूर्व स्पर्धकोंका यथायोग्य वेदन भी करता है, अर्थात् उन नवीन रचे गये स्पर्धकोंका उदय भी उसी कालमें प्राप्त होता रहता है।

अश्वग्रीव—(म.पु./५७/श्लो० नं०) दूरवर्ती पूर्व भवमें राजगृहीके राजा विश्वभूतिके छोटे भाई विशाखभूतिका पुत्र विशाखनन्दी था ॥७३॥ चिरकाल पर्यन्त अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके पश्चात् पुण्यके प्रतापसे उत्तर विजयार्धके राजा मयूरग्रीवके यहाँ अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ ॥ ८७-८८ ॥ यह वर्तमान युगका प्रथम प्रतिनारायण था—दे० शलाकापुरुष/५।

अश्वत्थ—पीपलका वृक्ष।

अश्वत्थामा—(पा.पु./सर्ग/श्लो०) गुरु द्रोणाचार्यका पुत्र था (१०/१५०-५२)। कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके साथ लड़ा (१६/५३)। अन्तमें अर्जुन द्वारा युद्धमें मारा गया (२०/१८४)।

अश्वपति—कैकेय देशका राजा—ई० पू० १४५०। दे० इतिहास/३।

अश्वपुरी—अपर विदेहस्थ पद्मक्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/७।

अश्वमेध वत्त—अर्जुनका दूसरा नाम—दे० अर्जुन।

अश्विनी—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

अश्विनी व्रत—(वसु. श्रा./३६६-३६७/भावार्थ—) **कुल समय**=१ वर्ष; **कुल उपवास**=२८. **विधि**=अश्विनी नक्षत्रमें व्रतविधिको प्रारम्भ करके आगे २७ नक्षत्रोंमें प्रत्येक अश्विनी नक्षत्रपर एक उपवास करे।

अष्ट आयतन—दे० आयतन।

अष्टदिगवलोकन—कायोत्सर्गका एक अतिचार।—दे० व्युत्सर्ग/१।

अष्ट द्रव्य पूजा—दे० पूजा।

अष्ट पाहुड—दे० पाहुड़।

अष्ट पुत्र—भगवान् वीरके तीर्थमें हुए एक अन्तकृत्केवली—दे० अन्तकृत्केवली।

अष्ट प्रवचन माता—दे० प्रवचन।

अष्ट मंगल द्रव्य—दे० चैत्य चैत्यालय/१/११।

अष्ट मध्यप्रदेश—१. जीवके आठ मध्यप्रदेश। दे०—जीव/५; २. लोकके आठ मध्य प्रदेश—दे० लोक/२।

अष्टम पृथिवी—दे० मोक्ष/१।

अष्टम भक्त—तीन उपवास—दे० प्रोषधोपवास/१।

अष्टमी व्रत—(व्रत-विधान संग्रह/पृ. १२३)—**कुल समय** ८ वर्ष; **कुल उपवास**=१९६; **विधि**—प्रतिमासकी प्रत्येक अष्टमीको उपवास

करे। इस प्रकार आठ वर्षको १९२ अष्टमी तथा दो अधिक मासोंकी ४ अष्टमी। कुल १९६ अष्टमियोंके १९६ उपवास करे। जाप्यमन्त्र — ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धाधिपतये नमः। इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

२. गन्ध अष्टमी व्रत; निःशल्य अष्टमी व्रत; मनचिन्तीअष्टमी व्रत— दे० वह वह नाम।

अष्ट मूलगुण—दे० श्रावक/४।

अष्टशती—आचार्य समन्तभद्र (ई. श./२) कृत आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्रपर ८०० श्लोक प्रमाण आ. अकलंक भट्ट (ई. श. ७) द्वारा रचित न्यायपूर्ण व्याख्या।

अष्टशुद्धि—दे० शुद्धि।

अष्टसहस्री—आ. समन्तभद्र (ई. श. २) द्वारा रचित आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्रकी एक वृत्ति अष्टशती नामकी आ० अकलंक भट्टने रची थी। उसपर ही आ० विद्यानन्दने (ई० ७७५-८४०) ८००० श्लोक प्रमाण वृत्ति रची। यह कृति इतनी गम्भीर व कठिन है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी इसे अष्टसहस्रीकी बजाय कष्टसहस्री कहते हैं।

अष्टांक—क.पा.५/§५७१/३३२/८ किं अट्ठंकं णाम। अणंतगुणवड्ढी। कथमेदिस्से अट्ठंकसण्णा। अट्ठण्हमंकाणमणंतगुणवड्ढी त्ति-ट्ठवणादो। =प्रश्न—अष्टांक किसे कहते हैं? उत्तर—अनन्तगुणवृद्धि-को। शंका—अनन्तगुण वृद्धिको अष्टांक संज्ञा कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि आठके अंककी अनन्तगुणवृद्धिरूपसे स्थापना की गयी है। (अर्थात् आठका अंक अनन्तगुणवृद्धिकी सहनानी है।) (ध. १२/ ४,२,७,२१४/१७०/७) (ल. सा./जी. प्र./४६/७६) गो.क./भाषा/५४६/ २) (गो. जी./जी.प्र./३२५/६८४)।

ध. १२/४,२,७,२०२/१३१/६ किं अट्ठंकं णाम। हेट्ठिमुव्वंकं सव्वजीव-रासिणा गुणिदे जं लद्धं तेत्तियमेत्तेण हेट्ठिमुव्वंकादो जमहियं ट्ठाणं तमट्ठंकं णाम। हेट्ठिमुव्वंकरूवाहियसव्वजीवरासिणा गुणिदे अट्ठंक-मुप्पज्जदि त्ति भणिदं होदि। =प्रश्न—अष्टांक किसे कहते हैं? उत्तर—अधस्तन उर्वंकको सब जीवराशिसे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उतने मात्रसे, जो अधस्तन उर्वंकसे अधिक स्थान है उसे अष्टांक कहते हैं। अधस्तन उर्वंकको एक अधिक सब जीवराशिसे गुणित करनेपर अष्टांक उत्पन्न होता है, यह उसका अभिप्राय है।

अष्टांग निमित्तज्ञान—दे० निमित्त/२। इस ज्ञानके पृथक्-पृथक् अंग—दे० वह वह नाम।

अष्टांग हृदयोद्योत—पं० आशाधर जी (ई ११७३-१२४३) द्वारा विरचित एक संस्कृत काव्य ग्रन्थ।

अष्टाह्निक पूजा—दे० पूजा/१।

अष्टाह्निक व्रत—(व्रतविधान संग्रह/पृ० ३६ व क्रियाकोश)। गणना—इस व्रतकी पाँच मर्यादाएँ हैं—५१,२४,१५,६,३ अष्टाह्निकाएँ अर्थात् १७ वर्ष, ८ वर्ष, ५ वर्ष, ३ वर्ष व १ वर्ष पर्यन्त किया जाता है। प्रतिवर्ष आषाढ़, कार्तिक व फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें ८-१५ तक ८ दिन अष्टाह्निका पर्वके हैं। विधि—भी तीन प्रकार है— उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य। उत्कृष्ट—सप्तमीके पूर्वार्ध भागमें एकाशन; ८-१५ तक ८ दिन उपवास; पड़वाकी दोपहर पश्चात् पारणा। मध्यम—सप्तमीको एकाशन; ८ को उपवास; ६ को पारणा; १० को भात व जल; ११ को एक बार अल्प आहार; १२ को पूरा भोजन; १३ को जलसहित नीरस एक अन्नका भोजन; १४को भात मिर्च व जल; १५ को उपवास और पड़िमाको पारणा। जघन्य—सप्तमीको दोपहर पश्चात्‌से पड़िमाको दोपहर तक पूर्ण शीलका पालन, धर्मध्यान सहित मन्दिरमें निवास और मौन सहित प्रतिदिन अन्तराय टालकर भोजन। जाप्य मन्त्र—प्रत्येक दिन अपने-अपने दिन वाले मन्त्रको त्रिकाल जाप्य करनी/८ को—"ओं ह्रीं नन्दीश्वरसंज्ञाय नमः।" ९ मी को—"ओं ह्रीं अष्टमहाविभूतिसंज्ञाय नमः।" १० मी को— "ओं ह्रीं त्रिलोकसारसंज्ञाय नमः।" ११ दशी को—"ओं ह्रीं चतुर्मुखसंज्ञाय नम।" १२ दशीको—"ओं ह्रीं महालक्षणसंज्ञाय नमः।" १३ दशीको—"ओं ह्रीं स्वर्गसोपानसंज्ञाय नमः।" १४ दशीको—"ओं ह्रीं सर्वसम्पत्तिसंज्ञाय नमः।" पूर्णिमाको—"ओं ह्रीं इन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः।"

अष्टापद—म.पु./२७/७० शरभः स्वं समुत्पत्य पतन्नुत्तापितोऽपि सन्। नैव दुःखासिका वेद चरणैः पृष्ठवर्तिभिः।७०। =यह अष्टापद आकाश-में उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है, तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोंसे यह दुःखका अनुभव नहीं करता। भावार्थ—अष्टापद एक जंगली जानवर होता है। उसकी पीठपर चार पाँव होते हैं। जब कभी वह आकाशमें छलांग मारनेके पश्चात् पीठके बल गिरता है तो अपने पीठपर-के पैरोंमें सँभल कर खड़ा हो जाता है।

असंकुचित विकासत्व शक्ति—स.सा./आ./परि०/शक्ति सं० क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकासत्वशक्तिः॥१३॥ =क्षेत्र और कालसे अमर्यादित ऐसी चिद्विलास असंकुचितविका-सत्वशक्ति॥१३॥

असंक्षेपाद्धा—दे० अद्धा।

असंख्यात—स.सि./२/३८/१९२/६ संख्यातीतोऽसंख्येयः। =संख्या-तीतको असंख्येय कहते हैं। (रा.वा./२/३८/२/१४८/३१)

★ **संख्यात असंख्यात व अनन्तमें अन्तर**—दे० अनन्त/२।

१. असंख्यातके भेद

ध.३/१,२,१५/१२३-१२६ संक्षेपार्थ।" नाम, स्थापना, द्रव्य, शाश्वत, गणना, अप्रादेशिक, एक, उभय, विस्तार, सर्व और भाव इस प्रकार असंख्यात ग्यारह प्रकारका है। (नाम स्थापना द्रव्य व भाव असंख्यातोंके उत्तर भेद निक्षेपों वत् जानना) गणना संख्यात तीन प्रकार है परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और संख्यातासंख्यात। ये तीनों भी प्रत्येक उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन तीन प्रकारके हैं। (ति.प./४/३१० की व्याख्या) (रा.वा./३/३८/५/२०६/३०)

★ **नाम स्थापना द्रव्य व भाव**—दे० निक्षेप।

२. शाश्वतासंख्यात

ध.३/१,२,१५/१२४ धम्मत्थियं अधम्मत्थियं दव्वपदेसगणणं पडुच्च एग-सरूवेण अवट्ठिदमिदि कट्टु सस्सदासंखेज्जं। =धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यरूप प्रदेशोंकी गणनाके प्रति सर्वदा एक रूपसे अवस्थित हैं, इसलिए वे दोनों द्रव्य शाश्वतासंख्यात हैं।

४. अप्रदेशासंख्यात

ध.३/१,२,१५/१२४/१ जं तं अपदेसासंखेज्जयं तं जोगविभागे पलिच्छेदे पडुच्च एगो जीवपदेसो। अधवा सुण्णेयं भंगो, असंखेज्जपज्जायाण-माहारभूद-अप्पएसएगदव्वाभावादो। =योगविभागमें जो अविभाग प्रतिच्छेद बतलाये हैं, उनकी अपेक्षा जीवका एक प्रदेश प्रदेशासंख्यात है। अथवा असंख्यातमें उसका यह भेद शून्य रूप है, क्योंकि, असंख्यात पर्यायोंके आधारभूत अप्रदेशी एक द्रव्यका अभाव है। कुछ आत्माका एक प्रदेश द्रव्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि, एक प्रदेश जीव द्रव्यका अवयव है। पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करनेपर जीवका एक प्रदेश भी द्रव्य है, क्योंकि, अवयवोंसे भिन्न समुदाय नहीं पाया जाता है।

५. एकासंख्यात

ध.३/१,२,१५/१२५/३ जं तं एयासंखेज्जयं तं लोयायासस्स एगदिसा। कुदो। सेढिआगारेण लोयस्स एगदिसं पेक्खमाणे पदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। =लोकाकाशकी एक दिशा अर्थात् एक दिशास्थित प्रदेशपंक्ति एकासंख्यात है, क्योंकि, आकाश प्रदेशोंकी श्रेणी रूपसे लोकाकाशकी एक दिशा देखनेपर प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा उसकी *गणना नहीं हो सकती।*

६. उभयासंख्यात

ध.३/१,२,१५/१२५/४ जं तं उभयासंखेज्जयं तं लोयायासस्स उभयदिसाओ, ताओ पेक्खमाणे पदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। =लोकाकाशकी उभय दिशाएँ अर्थात् दो दिशाओंमें स्थित प्रदेश-पंक्ति उभयासंख्यात है, क्योंकि, लोकाकाशके दो ओर देखनेपर प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा वे संख्यातीत हैं।

७. विस्तारासंख्यात

ध.३/१,२,१५/१२५/७ जं तं वित्थारासंखेज्जं तं लोगागासपदरं, लोगपदरागारपदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। =प्रतर रूप लोकाकाश *विस्तारासंख्यात है*, क्योंकि, प्रतररूप लोकाकाशके प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा वे संख्यातीत हैं।

८. सर्वासंख्यात

ध.३/१,२,१५/१२५/६ घणागारेण लोगं पेक्खमोण पदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। जं तं सव्वासंखेज्जयं तं घणलोगो। =घनलोक सर्वासंख्यात है, क्योंकि, घनरूपसे लोकके देखनेपर प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा वे संख्यातीत हैं।

९. गणनासंख्यात

१. जघन्य परीतासंख्यात

रा.वा./३/३८/५/२०६/१७ संख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीपतुल्यायामविष्कम्भः योजनसहस्रावगाहः बुद्ध्या कुशूलाश्चत्वारः कर्तव्याः— शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाकाख्यास्त्रयोऽवस्थिताः चतुर्थोऽनवस्थितः। अत्र द्वौ सर्षपौ निक्षिप्तौ जघन्यमेतत्संख्येयप्रमाणम्, तमनवस्थितं सर्षपैः पूर्णं गृहीत्वा कश्चिद्द देवः एकैकं सर्षपमेकैकस्मिन् द्वीपे समुद्रे च प्रक्षिपेत्। तेन विधिना स रिक्तः। रिक्त इति शलाकाकुशूले एकं सर्षपं प्रक्षिपेत्। यत्र अन्त्यसर्षपो निक्षिप्तस्तमवधिं कृत्वा अनवस्थितं कुशूलं परिकल्प्य सर्षपैः पूर्णं कृत्वा ततः परेषु द्वीपसमुद्रेष्वेकैकसर्षपप्रदानेन स रिक्तः कर्त्तव्यः। रिक्त इति शलाकाकुशूले पुनरेकं प्रक्षिपेत्। अनेन विधिना अनवस्थितकुशूलपरिवर्धनेन शलाकाकुशूले परिपूर्णे पूर्ण इति प्रतिशलाकाकुशूले एकः सर्षपो प्रक्षेप्तव्यः। एवं तावत्कर्तव्यो यावत्प्रतिशलाकाकुशूलः परिपूर्णो भवति। परिपूर्णे इति महाशलाकाकुशूले एकः सर्षपः प्रक्षेप्तव्यः। सोऽपि तथैव परिपूर्णः। एवमेतत् चतुर्ष्वपि पूर्णेषु उत्कृष्टसंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतासंख्येयं गत्वैकं रूपं पतितम्। =संख्येय प्रमाणके ज्ञानके लिए जम्बू द्वीपके समान १ लाख योजन लम्बे-चौड़े और एक योजन गहरे शलाका प्रतिशलाका महाशलाका और अनवस्थित नामके चार कुण्ड बुद्धिसे कल्पित करने चाहिए। अनवस्थित कुण्डमें दो सरसों डालने चाहिए। यह जघन्य संख्याका प्रमाण है। उस अनवस्थित कुण्डको सरसोंसे भर देना चाहिए। फिर कोई देव उसमे एक-एक सरसोंको क्रमशः एक एक द्वीप सागरमें डालता जाय। जब वह कुण्ड खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें एक दाना डाला जाय। जहाँ अनवस्थित कुण्डका अन्तिम सरसों गिरा था उतना बड़ा अनवस्थित कुण्ड कल्पना किया जाय। उसे सरसोंसे भरकर फिर उससे आगेके द्वीपोंमें एक-एक सरसों डालकर उसे खाली किया जाय। जब खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें दूसरा सरसों डाले। इस प्रकार अनवस्थित कुण्डको तब तक बढ़ाता जाय जब तक शलाका कुण्ड सरसोंसे न भर जाय। जब शलाकाकुण्ड भर जाय तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डाले इस तरह उसे भी भरे। जब प्रतिशलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों महाशलाका कुण्डमें डाले। उक्त विधिसे जब वह भी परिपूर्ण हो जाय तब जो प्रमाण आता है, वह उत्कृष्ट संख्यातसे एक अधिक जघन्य परीतासंख्यात है।

रा.वा.हिं./फुट नोट—कुल सरसोंका प्रमाण आठ सरसों = १ यव; आठ यव = १ अंगुल; २४अंगुल = १ हाथ; ४ हाथ = १धनुष; २००० धनुष = १ कोस; ४ कोस = १ व्यवहार योजन; ५०० व्यवहार योजन = १ बड़ा योजन। अब १००,००० योजन विष्कम्भके १००० योजन गहरे कुण्डका घन प्रमाण = $(५०,०००)^{२} \times २२/७ \times १००० = ७५ \times १०^{१३}$ यो०। १ घन योजनमें सरसोंका प्रमाण = $(८\times८\times२४\times४\times२०००\times४\times५००)^{३} \times ७५ \times १०^{१३} = १९७९१२०९२९९९६८ \times १०^{३१}$। कुण्डके ऊपर शिखामें सरसों = १९९१२००८४४५५१६३६ – ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६४। प्रथम कुण्डमें कुल सरसों = ११९७११२९३८४ ५१३१६ – ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६ ३६३ ६४ (४५ अक्षर)। अन्तिम कुण्डमें सरसोंका प्रमाण ४५ अक्षर×असंख्यात।

२. उत्कृष्ट परीतासंख्यात

रा.वा./३/३८/५/२०७/२ जघन्ययुक्तासंख्येयं गत्वा पतितम्। अत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतासंख्येयं भवति। =जघन्य युक्तसंख्यात होता है।

३. मध्यम परीतासंख्यात

रा.वा./३/३८/५/२०७/३ मध्यमजघन्योत्कृष्टपरीतासंख्येयम्। =बीचके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतासंख्येय है। (तीनों भेदोंका कथन *ति.प./४/३०९/पृ.१७९ व्याख्या*) (त्रि.सा./१४-३६)

४. जघन्य युक्तासंख्यात

रा.वा./३/३८/५/२०६/३३ यज्जघन्यपरीतासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावलीकृता अत्रैकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयं देयम्। एवमेतद्वर्गितम्। प्राथमिकीं मुक्तावलीमपनीय यान्येकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयानि दत्तानि तानि संपिण्ड्य मुक्तावली कार्या। ततो यो जघन्यपरीतासंख्येयसंपिण्डान्निष्पन्नो राशिः स देयः एकैकस्यां मुक्तायाम्। एवमेतत्संवर्गितम् उत्कृष्टपरीतासंख्येयमतीत्य जघन्ययुक्तासंख्येयं गत्वा पतितम्। =जघन्य परीतासंख्येयको फैलाकर मोतीके समान जुदे-जुदे रखना चाहिए। प्रत्येकपर एक एक जघन्य परीतासंख्येयको फैलाना चाहिए। इनका परस्पर वर्ग करे। जो जघन्य परीतासंख्येय मुक्तावलीपर दिये गये थे उनका गुणाकार रूप एक राशि बनावे। उसे विरलन कर उसपर उस वर्गित राशि को दे। उसका परस्पर वर्ग कर जो राशि आती है वह उत्कृष्ट परीतासंख्येयसे एक अधिक जघन्य युक्तासंख्यात होती है। (यदि क = $(\text{ज. परी. असं.})^{\text{ज. परी. असं०}}$ तो $\text{क}^{\text{क}}$ = ज. यु. असं०)।

५. उत्कृष्टयुक्तासंख्येय

रा.वा./३/३८/५/२०७/६ तत् एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं युक्तासंख्येयं भवति। =उस (जघन्य असंख्येयासंख्येय) में से एक एक कम कर लेनेपर उत्कृष्ट युक्तासंख्येय होती है।

६. मध्यमयुक्तासंख्येय

रा.वा./३/३८/५/२०७/६ मध्यमजघन्योत्कृष्टयुक्तासंख्येयं भवति। =बीचके विकल्प मध्यम युक्तासंख्येय होते हैं। (तीनों भेदोंका कथन ति.प./४/३१०/पृ. १८० व्याख्या) (त्रि.सा. ३६-३७)।

७. जघन्य असंख्येयासंख्येय

रा. वा./३/३८/५/२०७/४ यज्जघन्ययुक्तासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावली रचिता। तत्रैकैकयुक्तायां जघन्ययुक्तासंख्येयानि देयानि। एवमेतत् सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तासंख्येयमतीत्य जघन्यासंख्येयासंख्येयं गत्वा पतितम्। =जघन्य युक्तासंख्येयको विरलन कर प्रत्येकपर जघन्य-युक्तासंख्येयको स्थापित करे। उनका वर्ग करने पर जो राशि आती है वह जघन्य असंख्यासंख्य है। (ज.यु. असं.)$^{ज. यु. असं.}$।

८. उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय

रा. वा./३/३८/५/२०७/७ यज्जघन्यासंख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान् वर्गितसंवर्गितं उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं न प्राप्नोति। ततो धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशप्रत्येकशरीरजीवबादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगाविभागपरिच्छेदरूपाणि चासंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयांश्च कृत्वा उत्कृष्टसंख्येयासंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्तं गत्वा पतितम्। तद् एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतानन्तं तद्भवति। =जघन्य असंख्येयासंख्येयका विरलनकर पूर्वोक्त विधिसे तीन बार वर्गित करनेपर भी उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय नहीं होता (यदि क=ज. असं. असं.) ज. असं. असं. तो 'ख'=क^{क} और ग=ख^{ख} =उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येयसे कुछ कम। इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येकशरीर जीव, बादर निगोत शरीर ये छहों असंख्येय; स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान, योगके अविभागप्रतिच्छेद, उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालके समय; इन सबोंको जोड़ने पर फिर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्ट संख्येयासंख्येयसे एक अधिक जघन्य परीतानन्त होता है। इसमें-से एक कम करनेपर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय होता है। अर्थात् =(ग+६राशि+४ राशि)$^{(ग+६ राशि+४राशि)}$ ='प' फ=प^{प}; ब=फ^{फ} =ज. परी. अन./ (दे० अनन्त) उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय-ब-१।

९. मध्यम असंख्येयासंख्येय

रा. वा./३/३८/५/२०७/१२ मध्यममजघन्योत्कृष्टा संख्येयासंख्येयं भवति। =मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय हैं। (तीनों भेदोंके लक्षण ति. प./४/३१०/१८१-१८२); (त्रि. सा./३७-४५)।

*** आगममें 'असंख्यात' की यथा स्थान प्रयोग विधि—** दे० गणित I/१/६।

असंख्येय—दे० असंख्यात।

असंख्येयासंख्येय—दे० असंख्यात/१/७।

असंज्ञी—दे० संज्ञी।

असंचार—दे० संचार।

असंदिग्ध—रा. वा./१/५/५/५१४/१८ स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं चासंदिग्धम्। =जामें अर्थ स्पष्ट होय और अक्षर व्यक्त होय सो असंदिग्ध कहिये। (चा. सा./६७/१)।

असंप्राप्तसृपाटिका—दे० संहनन।

असंबद्ध प्रलाप—दे० वचन।

असंभव—१. लक्षणका एक दोष=दे० लक्षण; २. आकाशपुष्प आदि असंभव वस्तुएँ—दे० असत्।

असंभ्रात—प्रथम नरकका सातवाँ पटल—दे० नरक/५।

असंमोह—(यो. सा./अ/८/८२,८६) बुद्धिमक्षाश्रियां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकं। तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः।८२। सम्यसंमोहहेतूनि कर्मण्यत्यन्तशुद्धितः। निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनाम् ॥८६॥—इन्द्रियाधीन बुद्धिको जो ज्ञान आगमपूर्वक व सदनुष्ठान (आचरण) पूर्वक होता है, वह ज्ञान ही असंमोह है।८२। असंमोहके हेतु अत्यन्त शुद्ध वे कर्म हैं जो कि भवसे अतीत निर्वाण सुखको देनेवाले हैं।

असंयतसम्यग्दृष्टि—दे० सम्यग्दृष्टि/५।

असंयम—पं. सं./प्रा./१/१३७ जीवा चउदसभेया इंदियविसया य अट्ठवीसं तु। जे तेसु णेय विरया असंजया ते मुणेयव्वा।१३७। =जीव चौदह भेद रूप हैं और इन्द्रियोंके विषय अट्ठाईस हैं। जीवघातसे और इन्द्रिय विषयोंसे विरत नहीं होनेको असंयम कहते हैं। जो इनसे विरत नहीं हैं उन्हें असंयत जानना चाहिए। (ध.१/१,१, १२३/ १९४/३७३) (गो. जी./मू./ ४७८) (पं. सं./सं./२४७-२४८)।

रा. वा./२/६/६/१०९ चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् प्राण्युपघातेन्द्रियविषये द्वेषाभिलाषनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयत औदयिकः। =चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली हिंसादि और इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति असंयम है। (स. सि/२/६/१५९/८)।

प्र. सा./त.प्र./२२१ शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य। =शुद्धात्मस्वरूपकी हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है, ऐसा असंयम…।

पं. ध./उ./११३५ व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो यतः। =व्रतके अभावरूप जो भाव है वह असंयम माना गया है।

२. इन्द्रिय व प्राण असंयम

ध. ८/३,६/२१/२ असंजमपच्चओ दुविहो इंदियासंजमपाणासंजमभेएण। तत्थ इंदियासंजमो छव्विहो परिस-रस-रूव-गंध-सद्द-णोइंदियासंजमभेएण। पाणासंजमो वि छव्विहो पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणप्फदि-तसासंजमभेएण। =असंयम प्रत्यय इन्द्रियासंयम और प्राणासंयमके भेदसे दो प्रकारका है। इन्द्रियासंयम स्पर्श रस रूप गन्ध शब्द और नोइन्द्रिय जनित असंयमके भेदसे छह प्रकारका है। प्राण असंयम भी पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोंकी विराधनासे उत्पन्न असंयमके भेदसे छह प्रकारका है।

असंसार—दे० संसार।

असग—(भ. आ./प्र. २ प्रेमीजी)। शक सं० ९१० (वि. १०४५) के कवि थे। आप नागनन्दि आचार्यके शिष्य थे। आपने वर्द्धमान चारित्र व शान्तिनाथ पुराण लिखे हैं।

असत्—स. सि./१/३२/१३८/७ असदविद्यमानमित्यर्थः। =असत्का अर्थ अविद्यमान है।

न. वि./वृ./१/४/१२१/७ न सदिति विजातीयविशेषव्यापकत्वेन न गच्छतीत्यसत्। =जो विशेष व्यापकरूपसे प्राप्त न होता हो सो असत् है।

२. आकाशपुष्पादि असंभव वस्तुओंका कथंचित् सत्त्व

रा. वा./२/८/१८/१२१/२२ कर्मविशवशात् नानाजातिसंबन्धमापन्नवतो जीवतो जीवस्य मण्डूकभावावाप्तौ तद्व्यपदेशभाजः पुनर्युवतिजन्मन्यवाप्ते 'यः शिखण्डकः स एवायम्' इत्येकजीवसंबन्धित्वात् मण्डूकशिखण्ड इत्यस्ति।…एवं वन्ध्यापुत्र-शशविषाणादिष्वपि योज्यम्। आकाशकुसुमे कथम्। तत्रापि यथा वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य जीवपुद्गलसमुदायस्य पुष्पमिति व्यपदिश्यते, अन्यदपि पुद्गलद्रव्यं पुष्पभावेन परिणतं तेन व्याप्तत्वात्। एवमाकाशेनापि व्याप्तत्वं समानमिति तत्तस्यापीति व्यपदेशो युक्तः। अथ तत्कृतोपकारापेक्षया तस्येत्युच्यते; आकाशकृतावगाहनोपकारापेक्षया कथं तस्य न स्यात्। वृक्षात् प्रच्युतमप्याकाशान्न प्रच्यवते इति नित्यं

तत्सम्भविष्ठ। अथ अर्थान्तरभावात्तस्य न स्यादिति मतम्; वृक्षस्यापि न स्यात्।—वह सत् भी सिद्ध हो जाता है। यथा—कोई जीव मेंढक था और वही जीव जब युवतीकी पर्यायको धारण करता है तो भूत-पूर्व नयकी अपेक्षा उस युवतीको भी हम मेंढक कह ही सकते हैं। और उसके युवतीपर्यायापन्न मण्डूककी शिखा होनेसे मण्डूकशिखण्ड व्यवहार हो सकता है। इसी प्रकार बन्ध्यापुत्र व शशविषाणादिमें भी लागू करना चाहिए। प्रश्न—आकाशपुष्पमें कैसे लागू होता है? उत्तर—वनस्पति नामकर्मका जिस जीवके उदय है वह जीव और पुद्गलका समुदाय पुष्प कहा जाता है। जिस प्रकार वृक्षके द्वारा व्याप्त होनेसे वह पुष्प पुद्गल वृक्षका कहा जाता है, उसी तरह आकाशके द्वारा व्याप्त होनेके कारण आकाशका क्यों न कहा जाय? वृक्षके द्वारा उपकृत होनेके कारण यदि वह वृक्षका कहा जाता है तो आकाशकृत अवगाहनरूप उपकारकी अपेक्षा उसे आकाशका भी कहना चाहिए। वृक्षसे टूटकर फूल गिर भी जाय पर आकाशसे तो कभी भी दूर नहीं हो सकता, सदा आकाशमें ही रहता है। अथवा मण्डूकशिखण्डविषयक ज्ञानका विषय होनेसे भी (ज्ञान नयकी अपेक्षा) मण्डूक शिखण्डका सद्भाव सिद्ध मानना चाहिए।

रा. वा./५/१९/१०/४६७/३२ खरो मृतः गौर्जातः स एव जीव इत्येकजीव-विवक्षायां खरव्यपदेशभाजो जीवस्य गोजातिसंक्रमे विषाणोपलब्धेः अर्थखरविषाणस्यापि जात्यस्तित्वसद्भावात् उभयधर्मासिद्धता। —कोई जीव जो पहिले खर था, मरकर गौ उत्पन्न हुआ और उसके सींग निकल आये। ऐसी दशामें एक जीवकी अपेक्षा अर्थरूपसे भी 'खरविषाण' प्रयोग हो ही जाता है। (स० भं० त./५४/१)

★ **असत्‌का उत्पाद असम्भव है**—दे० सत्।

असती घोष कर्म—देखो सावद्य/२।

असत्य—

१. प्राणिपीडाकारी वचन

भ.आ./मू./८३२-८३३ परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च भयं कुणइ। उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८३२॥ हासभयलोहकोहप्प-दोसादीहिं तु मे पयत्तेण। एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥८३३॥ —मर्मच्छेदी परुष वचन, उद्वेगकारी कटु वचन, वैरोत्पादक, कलहकारी, भयोत्पादक, तथा अवज्ञाकारी वचन इस प्रकारके अप्रिय वचन हैं। तथा हास्य भीति लोभ क्रोध द्वेष इत्यादि कारणोंसे बोले जानेवाले वचन, सब असत्य भाषण है। हे क्षपक! उसका तूं प्रयत्नसे विशेष त्याग कर।

स.सि./७/१४/३५२/६ न सदप्रशस्तमिति यावत्। ऋतं सत्यं, न ऋतमनृतम्। किं पुनरप्रशस्तम्। प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थ-विषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा। उक्तं च प्रागेवाहिंसाव्रतपरिपाल-नार्थमितरद्व्रतम् इति। तस्माद्धिंसाकरं वचोऽनृतमिति निश्चेयम्। —सत् शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् नहीं वह असत् है। असत्‌का अर्थ अप्रशस्त है। ऋतका अर्थ सत्य और जो ऋत नहीं है वह अनृत है। प्रश्न—अप्रशस्त किसे कहते हैं? उत्तर—जिससे प्राणियोंको पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं। भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थको विषय करता हो या चाहे अविद्यमान पदार्थको विषय करता हो। यह पहिले ही कहा है कि शेष व्रत अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए हैं। इसलिए जिससे हिंसा हो वह वचन अनृत है ऐसा निश्चय करना चाहिए। (रा.वा./७/१४/३-४/५४२/१) (चा.सा./६२/२)

रा.वा./७/१४/५/५४२/११ असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थं यत् तत्सर्व-मनृतमुक्तं भवति। तेन विपरीतार्थस्य प्राणिपीडाकरस्य चानृतत्व-मुपपन्नं भवति। —'असत्' कहनेसे जितने अप्रशस्त अर्थवाची शब्द हैं वे सब अनृत कहे जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणिपीडा-कारी हैं वे भी अनृत हैं। (पु.सि.उ./९५)।

श्लो.वा./पु./७/१४ स्वपरसंतापकरणं यद्वचोऽङ्गिनां। यथा दृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते। —जो वचन अपनेको तथा दूसरेको कष्ट पहुँचानेवाला हो, वह वचन 'जैसा देखा तैसा बतानेवाला' होनेपर भी असत्य है।

ध.१२/४,२,८,३/२७९/४ किमसंतवयणं। मिच्छत्तासंजमकसाय-पमा-दुट्ठावियो वयणकलापो।—प्रश्न—असत् वचन किसे कहते हैं? उत्तर—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादसे उत्पन्न वचन समूहको असत् वचन कहते हैं।

२. असत्यका अर्थ अलीक वचन

त.सू./७/१४ असदभिधानमनृतम्। —असत् वचनको अनृत कहते हैं।

स.सि./७/१४/३५२/२ असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम्। —जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना अनृत असत्य कहलाता है।

रा.वा./७/१४/५/५४२/१ भूतनिह्नवेऽभूतोद्भावने च यदभिधानं तदेवानृतं स्यात्, भूतनिह्नवे नास्त्यात्मा नास्ति परलोक इति। अभूतोद्भावने च श्यामाकतन्दुलमात्रमात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रः सर्वगतो निष्क्रिय इति च।—विद्यमानका लोप तथा अविद्यमानके उद्भावन करनेवाले 'आत्मा नहीं है,' 'परलोक नहीं है', 'श्यामतंदुलके बराबर आत्मा है' 'अंगूठेके पोर बराबर आत्मा है', 'आत्मा सर्वगत है', 'आत्मा निष्क्रिय है' इत्यादि वचन मिथ्या होनेसे असत्य हैं। (चा.सा./६२/१)

सा.ध./४/३९ कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्। — कन्या अलीक, गौ अलीक, कूटसाक्षी, न्यासापलाप करना असत्य है।

२. असत्यके भेद

भ.आ./मू./८२३ परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण। —असत्य वचनके चार भेद हैं, जिनका त्याग हे क्षपक! तू प्रयत्न पूर्वक कर।

ध.१/१,१,२/११७/६ द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम्। —द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है।

पु.सि.उ./९१ तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥ —उस अनृतके चार भेद हैं।

३. सत्प्रतिषेध रूप असत्य

भ.आ./मू./८२४ पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो। णत्थि णरस्स अकाले मुच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥८२४॥ —अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना, यह प्रथम असत्य वचनका भेद है—जैसे 'मनुष्योंको अकालमें मृत्यु नहीं है' ऐसा कहना।

पु.सि.उ./९२ स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु। तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥ —जिस वचनमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करके विद्यमान भी वस्तु निषेधित की जाती है, वह प्रथम असत्य होता है, जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है।

४. अभूतोद्भावन रूप असत्य

भ.आ./मू./८२६ जं असब्भुदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु। अत्थि सुराणमकाले मुच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥८२६॥ जो नहीं है उसको है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है, जैसे देवोंको अकाल मृत्यु नहीं है, ऐसा कहता है, फिर भी देवोंको अकाल मृत्यु बताना इत्यादि।

पु.सि.उ./९३ असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः। उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः। —जिस वचनविषै पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों करके अविद्यमान भी वस्तुका स्वरूप प्रगट किया जाता है, वह दूसरा असत्य होता है। जैसे—यहाँ पर घड़ा है।

५. अनाकोच्य रूप असत्य

भ.आ./मू./८२५ तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं। अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं। —एक जातिके सत्पदार्थ

को अन्य जातिका सत्पदार्थ कहना यह असत्यका तीसरा भेद है। जैसे—बैल है इसका विचार न कर यहाँ घोड़ा है ऐसा कहना। यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है।

पु.सि.उ./९४ वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्। अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः॥ =स्व द्रव्यादि चतुष्टयसे वस्तु सत् होनेपर भी परचतुष्टय रूप बताना तीसरा अनृत है। जैसे—बैलको 'घोड़ा है' ऐसा कहना।

६. असूनृत रूप असत्य

भ.आ./मू./८२१ जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं। जं वा अप्पियवयणं असत्तवयणं चउत्थं च। =जो निंद्य वचन बोलना, जो अप्रियवचन बोलना, और जो पाप युक्त वचन बोलना वह सब चौथे प्रकारका असत्य वचन है।

पु.सि.उ./९५ गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्। सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु। =यह चौथा झूठका भेद तीन प्रकारका है—गर्हित अर्थात् निंद्य, सावद्य अर्थात् हिंसा युक्त, और अप्रिय।

★ गर्हित व अप्रिय आदि वचन—दे० वचन।

★ असत्यका हिंसामें अन्तर्भाव—दे० अहिंसा/3

असत्यवचनयोग—दे० वचन।

असत्योपचार—दे० उपचार।

असद्भाव स्थापना—दे० निक्षेप/४।

असद्भूत नय—दे० नय V/५।

असमवायी—दे० समवाय।

असमीक्ष्याधिकरण—दे० अधिकरण।

असम्यक् वचनोदाहरण—दे० उदाहरण।

असर्वगतत्व—दे० सर्वगतत्व।

असही—भ. आ./वि./१५०/३४५/११ जिनायतनं यतिनिवासं वा प्रविशन् प्रदक्षिणीकुर्यान्निसीधिकाशब्दप्रयोगं च। निर्गंतुकाम आसीधिकेति। आदिशब्देन परिगृहीतस्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया। =जिनमन्दिर अथवा यतिका निवास अर्थात् मठमें प्रवेश कर प्रदक्षिणा करें। उस समय निसीधिका शब्दका उच्चारण करें, और वहाँसे लौटते समय आसीधिका शब्दका उच्चारण करें। इसी तरह स्थान, भोजन, शयन, गमनादि क्रिया करते समय भी मुनियोंको प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

अन. ध./८/१३२-१३३ वसत्यादौ विशेत् तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा। आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा॥ १३२॥ आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्ता वाशास्य भावतः। निसह्यसह्यौ स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम्॥ १३३॥ = साधुओंको जब मठ चैत्यालय या बसति आदिमें प्रवेश करना हो तब उन मठादिकोंमें रहनेवाले भूत यक्ष नाग आदिकोंसे 'निसही' इस शब्दको बोलकर पूछकर प्रवेश करना चाहिए। इसी तरह जब वहाँसे निकलना हो तब 'असही' इसी शब्दके द्वारा उनसे पूछकर निकलना चाहिए॥ १३२॥ निसही और असही शब्दका निश्चयनयकी अपेक्षा अर्थ बताते हैं। जिस साधुने अपनी आत्माको अपनी आत्मामें ही स्थापित कर रखा है उसके निश्चयनयसे 'निसही' समझना चाहिए। और जिसने इस लोक परलोक आदि सम्पूर्ण विषयोंकी आशाका परित्याग कर दिया है उसके निश्चय नयसे 'असही' समझना चाहिए। किन्तु उनके प्रतिकूल जो बहिरात्मा हैं अथवा आशावान हैं उनके ये निसही और असही केवल शब्दोच्चारणमात्र ही समझना चाहिए।

असातावेदनीय—दे० वेदनीय।

असाधारण—दे० साधारण।

असाम्यता—(ध. ५/प्र. २७) गणित inequality।

असावद्य कर्म—दे० सावद्य/२।

असिकर्म—दे० सावद्य/२।

असिक्थ—भ. आ./वि./७००/८८२/७ असित्थगं सिक्थरहितं। =भातके सिक्थ जिसमें नहीं हैं ऐसा मांड असिक्थग है।

असितपर्वत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विजयार्ध।

असिद्धत्व—दे० पक्ष।

रा. वा./२/६/७/१०९/१८ अनादिकर्मबन्धसंतानपरतन्त्रस्यात्मनः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिकः। स पुनर्मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु कर्माष्टकोदयापेक्षः, शान्तक्षीणकषाययोः सप्तकर्मोदयापेक्षः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्षः। =अनादि कर्मबद्ध आत्माके सामान्यतः सभी कर्मोंके उदयसे असिद्ध पर्याय होती है। दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मोंके उदयसे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके सिवाय सात कर्मोंके उदयसे, और सयोगी और अयोगीमें चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है। (स. सि./२/६/१५९/१) (ध./पु. ५/१,७,१/१८९/६);

पं. ध./उ./११४३ नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः। =संसार अवस्थामें उक्त सिद्ध भाव (अष्ट कर्मरहित अष्टगुण सहित) नहीं होता, इस कारणसे यह असिद्धत्व कहलाता है।

२. असिद्धत्व भावको औदयिक कहनेका कारण

ध. १४/५,६,१६/१३/१० अघाइकम्मचउक्कोदयजणिदमसिद्धत्तं णाम। =चार अघाति कर्मोंके उदयसे हुआ असिद्धत्व भाव है।

पं. ध./उ./११४१ असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको मतः। व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात्॥ ११४१॥ =असिद्धत्वभाव निश्चय करके औदयिकभाव होता है क्योंकि असमस्तरूपसे अथवा समस्तरूपसे आठों कर्मोंके उदयसे होता है।

असिद्ध पक्षाभास—दे० पक्ष।

असिद्ध हेत्वाभास—प, मु./६/२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः॥२२॥ =जिसकी सत्ताका पक्षमें अभाव हो और निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं।

न्या./वि./वृ./२/१९७/२२६/४ तथा साध्ये सत्यसति च यस्यासिद्धिरसौ असिद्धो नाम। =साध्यके होनेपर अथवा न होनेपर जिसकी सिद्धि नहीं होती, वह हेतु असिद्ध कहलाता है।

न्या. दी. ३/§४०/८६ 'अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः, यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्' अत्र हि चाक्षुषत्वं हेतुः पक्षीकृते शब्दे न वर्तते श्रावणत्वाच्छब्दस्य। तथा च पक्षधर्मविरहादसिद्धत्वं चाक्षुषत्वस्य। =पक्षमें जिसका रहना अनिश्चित हो वह असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि चक्षु इन्द्रियसे जाना जाता है'। यहाँ 'चक्षु इन्द्रियसे जाना जाता है' यह हेतु पक्षभूत शब्दमें नहीं रहता है। कारण, शब्द श्रोत्रेन्द्रियसे जाना जाता है। इसलिए पक्षधर्मत्वके न होनेसे 'चक्षु इन्द्रियसे जाना जाना' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। (न्या. दी./३/§६०/१००/२)

२. असिद्ध हेत्वाभासके भेद

प. मु./६/२४,२६ स्वरूपेणासत्त्वात् ॥ २४ ॥ संदेहात् ॥ २६ ॥ =असिद्ध हेत्वाभास दो प्रकारका है—स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध। (न्या. दी./३/§६०/१००)

न्या. वि./वृ./२/१९७/२२६/५ स तु अनेकधा चायम्—अज्ञात-संदिग्ध-स्वरूपाश्रयप्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धविकल्पात्। =वह असिद्ध हेत्वाभास अनेक प्रकारका है—अज्ञात, सन्दिग्ध, स्वरूप, आश्रय, प्रतिज्ञार्थ, एकदेश असिद्ध।

३. स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास

प. मु./६/२३–२४ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ २३ ॥ स्वरूपेणासत्त्वात् ॥ २४ ॥ —'शब्द परिणामी है, क्योंकि यह आँखसे देखा जाता है।' यह अविद्यमानसत्ताक अर्थात् स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। (न्या. दी./३/§४०/८६) (न्या. दी./३/§६०/१००)

न्या. वि./वृ./२/१९७/२२६/११ स्वरूपासिद्धो यथा "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" इत्यत्र यदि युगपदुपलम्भनियमो हेत्वर्थः; सोऽसिद्ध एव दर्शनेऽपि सन्तानान्तरगतस्य तज्ज्ञानस्य कुतश्चित्त्प्रतिपत्तावपि तद्विषयविशेषस्य अनवगतेः। —स्वरूपासिद्ध इस प्रकार है—'नील और नीलवान्‌में अभेद है, सहोपलम्भ नियम होनेसे।' यहाँ यदि युगपत् प्राप्तिको हेतु माना जाये तो वह असिद्ध ही है। विषयदर्शन होनेपर भी सन्तानान्तरगत उस ज्ञानकी कहीं प्राप्ति होनेपर भी उस विषय विशेषकी जानकारी नहीं होती।

४. संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास

प. मु./६/२५–२६ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रति अग्निरत्र धूमात् ॥ २५ ॥ तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात् ॥ २६ ॥ =अनुमानके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ किसी मूर्ख मनुष्यके सामने कहना कि 'यहाँ अग्नि है क्योंकि धुआँ है' यह अविद्यमान निश्चय अर्थात् संदिग्धासिद्ध है, क्योंकि, मूर्ख मनुष्य किसी समय पृथिवी जल आदि भूतसंघात (बटलोई आदि) में भाप आदिको देखकर, यहाँ अग्नि है या नहीं ऐसा सन्देह कर बैठता है। (न्या.दी./३/§६०/१००)

न्या. वि./वृ./२/१९७/२२६/७ संदिग्धासिद्धो यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति। तत्र हि यदा स्वरूप एव संदेहः किमयं मयूरस्यैव स्वरः आहोस्वित् मनुष्यस्येति तदाश्रये वा किमस्मान्निकुञ्जात् केकायितापात आहोस्विदन्यत इति। —सन्दिग्धासिद्ध ऐसा है जैसे कि—'इस निकुंजमें मोर कूकता है' ऐसा कहना। क्योंकि वहाँ ऐसा सन्देह है कि क्या यह स्वर मोरका है अथवा मनुष्यका है? इसी प्रकार आश्रयमें भी क्या इस कुंजसे बोलता है अथवा किसी अन्यसे ऐसा सन्देह है। इसलिए इसके सन्दिग्धासिद्धपना है ही।

५. आश्रयासिद्ध हेत्वाभास

न्या. वि./वृ./२/१९७/२२८/३ आश्रयासिद्धो यथा भावमात्रानुषङ्गी विनाशो भावानां निर्हेतुकत्वादिति। निरन्वयो ह्यत्र भावप्रध्वंसो धर्मी निर्दिष्टः स चासिद्ध एव। अन्यथा किमनेन हेतुना तस्यैवातोऽपि साधनात्। —आश्रयासिद्ध इस प्रकार है—भावोंका विनाश भावमात्रानुषंगी होता है, हेतु रहित होनेसे। यहाँ निरन्वय भावप्रध्वंसको धर्मी कहा गया है, वह असिद्ध ही है। अन्यथा इस हेतुकी क्या आवश्यकता थी, इसी हेतुसे उसकी भी सिद्धि हो जाती।

६. अज्ञात हेत्वाभास

प.मु./६/२७–२८ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२७॥ तेनाज्ञातत्वात् ॥२८॥ —'शब्द परिणामी है क्योंकि यह किया हुआ है' यहाँ सांख्यके प्रति कृतकत्व हेतु अज्ञात है। क्योंकि सांख्य मतमें पदार्थोंका आविर्भाव तिरोभाव माना गया है, उत्पाद और व्यय नहीं। इसलिए वे कृतकताको नहीं जानते।

७. व्याप्यासिद्ध या एकदेशासिद्ध हेत्वाभास

रा.वा./१/१९/२/६७/२३ केचिदाहुः—प्राप्यकारि चक्षुः आवृतानवग्रहात् त्वगिन्द्रियवदिति; अत्रोच्यते–काचाभ्रपटलस्फटिकावृतार्थावग्रहे सति अव्यापकत्वादसिद्धो हेतुः वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्। —'चक्षु प्राप्यकारी है, क्योंकि, वह ढँके हुए पदार्थको नहीं देखती, जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय' यह पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षु, काँच, अभ्रक, स्फटिक आदिसे आवृत पदार्थोंको बराबर देखता है, अतः पक्षमें ही अव्यापक होनेसे उक्त हेतु असिद्ध है; जैसे कि वनस्पतिमें चैतन्य सिद्ध करनेके लिए दिया जाने वाला 'स्वाप (सोना)' हेतु। क्योंकि किन्हीं वनस्पतियोंमें संकोच आदि चिह्नोंसे चैतन्य स्पष्ट जाना जाता है, किन्हींमें नहीं।

असिपत्र—१. असुरकुमार जातीय भवनवासी देवोंका एक भेद। दे० असुर। २. नरकमें पाये जाने वाले वृक्ष विशेष—(दे० नरक/२। परस्परके दुःख)।

असुरवनीपाल—काबुल या ईरान देशका राजा। समय—(ई०पू०/-६६९–६२६)।

असुर—ध.१३/५,५,१४०/३९१/७ अहिंसाद्यनुष्ठानरतयः सुरा नाम। तद्विपरीताः असुराः। —जिनकी अहिंसादिके अनुष्ठानोंमें रति है वे सुर हैं। इनसे विपरीत असुर होते हैं।

२. असुरकुमार देवोंके भेद

ति.प./२/३४८–३४९ सिकदाणणासिपत्ता महबलकाला य सामसबला हि। रुद्दंबरिसा विलसिदणामो महरुद्दखरणामा ॥३४८॥ कालग्गिरुद्दणामा कुंभो वेतरणिपहुदिअसुरसुरा। गंतूण बालुकंतं णारइयाणं पकोपंति ॥३४९॥ —सिकतानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल, श्याम और शबल, रुद्र, अंबरीष, विलसित, महारुद्र, महाखर, काल तथा अग्निरुद्र, कुम्भ और वैतरणि आदिक असुरकुमार जातिके देव तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवी तक जाकर नारकियोंको क्रोधित करते हैं।

३. असुर देव नरकोंमें जाकर नारकियोंको दुख देते हैं परन्तु सब नहीं

स.सि./३/५/२०९/३ पूर्वजन्मनि भावितेनातितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात्सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः—इति विशेषणान्न सर्वे असुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। किं तर्हि। अम्बाम्बरीषादय एव केचनेति। —पूर्व जन्ममें किये गये अतितीव्र संक्लेशरूप परिणामोंसे इन्होंने जो पाप कर्म उपार्जित किया उसके उदयसे ये निरन्तर क्लिष्ट रहते हैं, इसलिए संक्लिष्ट असुर कहलाते हैं। सूत्रमें यद्यपि असुरोंको संक्लिष्ट विशेषण दिया है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि सब असुर नारकियोंको दुःख उत्पन्न कराते हैं। किन्तु अम्बरीष आदि कुछ असुर ही दुःख उत्पन्न कराते हैं।

दे० ऊपर शीर्षक सं० २—(सिकतानन आदि अनेक प्रकारके असुरदेव तीसरी पृथिवी तक जाकर नारकियोंको क्रोध उत्पन्न कराते हैं।)

४. सुरोंके साथ युद्ध करनेके कारण असुर कहना मिथ्या है

रा.वा./४/१०/४/२१६/७ स्यान्मतं युद्धे देवैः सहास्यन्ति प्रहरणादीनित्यसुरा इति; तन्न, किं कारणम्। अवर्णवादात्। अवर्णवाद एष देवानामुपरि मिथ्याज्ञाननिमित्तः। कुतः। ते हि सौधर्मादयो देवा महाप्रभावाः, न तेषामुपरि इतरेषां निकृष्टबलानां मनागपि प्रातिलोम्येन

वृत्तिरस्ति। अपि च, वैरकारणाभावात् ॥६॥ ततो नासुराः सुरैरुध्यन्ते। —'देवोंके साथ असुरका युद्ध होता है, अतः ये असुर कहलाते हैं' यह देवोंका अवर्णवाद मिथ्यात्वके कारण किया जाता है, क्योंकि, सौधर्मादिक स्वर्गोंके देव महाप्रभावशाली हैं। शुभाशुभानोंमें रहनेवाले उनके साथ वैरकी कोई सम्भावना नहीं है। निकृष्ट बलवाले असुर उनका किंचित भी बिगाड़ नहीं कर सकते। इसलिए अल्पप्रभाववाले असुरोंसे युद्धकी कल्पना ही व्यर्थ है।

★ असुरकुमार देवोंके इन्द्रादि व उनका अवस्थान

—दे० भवन/४

असूत्र—दे० सूत्र।

असूनृत—दे० असत्य।

अस्तिकाय—जैनागममें पंचास्तिकाय बहुत प्रसिद्ध है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छः द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। इनमें काल द्रव्य तो परमाणु मात्र प्रमाणवाला होनेसे कायवान् नहीं है। शेष पाँच द्रव्य अधिक प्रमाणवाले होनेके कारण कायवान् हैं। वे पाँच ही अस्तिकाय कहे जाते हैं।

१. अस्तिकायका लक्षण

पं.का./मू./५ जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं। ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं ॥५॥ ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा। गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ॥६॥ —जिन्हें विविध गुणों और पर्यायोंके साथ अपनत्व है, वे अस्तित्वकाय हैं, कि जिनसे तीन लोक निष्पन्न हैं ॥५॥ जो तीनों कालके भावोंरूप परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं ऐसे वे ही अस्तिकाय परिवर्तन लिंग सहित द्रव्यत्वको प्राप्त होते हैं ॥६॥

नि.सा./मू./३४ एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति। णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुपदेसत्तं ॥३४॥ —काल छोड़कर इन छह द्रव्योंको जिनसमयमें 'अस्तिकाय' कहा गया है। क्योंकि उनमें जो बहुप्रदेशीपना है वही कायत्व है। (द्र.सं./मू.२३)

पं.का./त.प्र./५ ततः कालाणुभ्योऽन्यसर्वेषां कायत्वाख्यं सावयवत्वमवसेयम्। —कालाणुओंके अतिरिक्त अन्य सर्व द्रव्योंमें कायत्वनामा सावयवपना निश्चित करना चाहिए।

नि.सा./ता.वृ./३४ बहुप्रदेशप्रचयत्वात् कायः। काया इव कायाः। पञ्चास्तिकायाः। अस्तित्वं नाम सत्ता।···अस्तित्वेन सनाथाः पञ्चास्तिकायाः। —बहुप्रदेशोंके समूह वाला हो वह काय है। 'काय' काय (शरीर) जैसे होते हैं। अस्तित्व सत्ताको कहते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं। अस्तित्व और कायत्वसे सहित पाँच अस्तिकाय हैं।

२. पंचास्तिकायोंके नाम निर्देश

पं.का./मू./४,१०२ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं। अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥४॥ एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा। लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥ —जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म तथा आकाश, अस्तित्वमें नियत, अनन्यमय और बहुप्रदेशी हैं ॥४॥ ये काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल, और जीव द्रव्य संज्ञाको प्राप्त करते हैं; परन्तु कालको कायपना नहीं है ॥१०२॥ (पं.का./मू./२२) (नि.सा./मू./२२), (नि.सा./मू./३४), (प्र.सा./ता.वृ/१३५/में प्रक्षेपक गाथा १), (द्र.सं./मू./२३), (गो.जी./मू./६२०/१०७४) (नि.सा./ता.वृ./३४), (पं.का./ता.वृ./२२/४७/११)।

३. पाँचोंकी अस्तिकाय संज्ञाकी अन्वर्थकता

द्र.सं./मू./२५ होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंतआयासे। मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥ —जीव धर्म तथा अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं और आकाशमें अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गलमें संख्यात असंख्यात व अनन्त प्रदेश हैं और कालके एक ही प्रदेश है, इसलिए काल काय नहीं है। (प.प्र./मू./२/२४); (गो.जी./मू./६२०/१०७४)।

पं.का./ता.वृ./४/१२/१५ जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानीति पञ्चास्तिकायानां विशेषसंज्ञा अन्वर्था ज्ञातव्या। अस्तित्वे सामान्यविशेषसत्तायां नियताः स्थिताः।···अणुभिः प्रदेशैर्महान्तः द्व्यणुकस्कन्धापेक्षया द्वाभ्यामणुभ्यां महान्तोऽणुमहान्तः इति कायत्वमुक्तं।···इति पञ्चास्तिकायानां विशेषसंज्ञा अस्तित्वं कायत्वं चोक्तम्। —जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश इन पंचास्तिकायोंकी विशेष संज्ञा अन्वर्थक जाननी चाहिए। सामान्य विशेष सत्तामें नियत या स्थित होनेके कारण तो ये अस्तित्वमें स्थित हैं। अणु या प्रदेशोंसे महान् है अर्थात् द्वि अणुक स्कन्धकी अपेक्षा दो अणुओंसे बड़े हैं इसलिए अणु महान् हैं। इस प्रकार इनका कायत्व कहा गया। इस प्रकार इन पंचास्तिकायोंको अस्तित्व व कायत्व संज्ञा प्राप्त है। (और भी दे० काय/१/१)

४. पुद्गलको अस्तिकाय कहनेका कारण

स.सि./५/३९/३१२/१० अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेशप्रचय उक्तः। —एक प्रदेशवाले अणुका भी पूर्वोत्तरभाव-प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपचार कल्पनासे प्रदेश प्रचय कहा है। (पं.का./त.प्र./४/१३)

प्र.सा./त.प्र./१३७ पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥१३७॥ —पुद्गल तो द्रव्यतः एकप्रदेशमात्र होनेसे यथोक्त प्रकारसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादिके उद्भवके हेतुभूत तथाविध स्निग्ध-रूक्ष-गुणरूप परिणमित होनेकी शक्तिरूप स्वभावके कारण उसके प्रदेशोंका उद्भव है। इसलिए पर्यायतः अनेकप्रदेशित्व भी सम्भव होनेसे पुद्गलको द्विप्रदेशित्वसे लेकर संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशित्व भी न्याय युक्त है। (पं.का./ता.वृ./४/१२/१३)

५. कालद्रव्य अस्ति है पर अस्तिकाय नहीं

पं.का./मू./१०२ एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा। लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥ —काल और आकाशद्रव्य और धर्म व अधर्मद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य व जीवद्रव्य, ये छहों 'द्रव्य' नामको पाते हैं। परन्तु कालद्रव्यमें कायत्व नहीं है। (द्र.सं/मू./२५)

स.सि./५/३९/३१२/६ ननु किमर्थमयं कालः पृथगुच्यते। यत्रैव धर्मादय उक्तास्तत्रैवायमपि वक्तव्यः 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः' इति। नैवं शक्यम्; तत्रोद्देशे सति कायत्वमस्य स्यात्। नेष्यते च मुख्योपचारप्रदेशप्रचयकल्पनाभावात्। —प्रश्न—काल द्रव्यको अलग से क्यों कहा? जहाँ धर्मादि द्रव्योंका कथन किया है, वहींपर इसका कथन करना था, जिससे कि प्रथम सूत्रका रूप ऐसा हो जाता 'अजीव काया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः।' उत्तर—इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँपर यदि इसका कथन करते तो इसे कायपना प्राप्त होता। परन्तु कालद्रव्यको कायवान नहीं कहा है, क्योंकि इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पनाका अभाव है। (रा.वा./५/२२/२४/४८२/४) (प.प्र./टी./२/२४) (गो.जी./जी.प्र./६२०) (नि.सा./ता.वृ./३४) (पं.का./ता.वृ./१०२/१६३/१०)

ध.१/४,१,४५/१६८/४ कोऽनस्तिकायः। कालः, तस्य, प्रदेशप्रचयाभावात्। कुतस्तस्यास्तित्वम्। प्रचयस्य सप्रतिपक्षत्वान्यथानुपपत्तेः। —प्रश्न—अनस्तिकाय कौन है? उत्तर—काल अनस्तिकाय है, क्योंकि, उसके

प्रदेशप्रचय नहीं है। प्रश्न—तो फिर कालका अस्तित्व कैसे है? उत्तर—चूँकि अस्तित्वके बिना प्रचयके सप्रतिपक्षता बन नहीं सकती अतः उसका अस्तित्व सिद्ध है।

द्र.सं./टी./२६/७३/७ अथ मतं—यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्वयणुकादिस्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा—कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवतीति। तत्र परिहारः—स्निग्धरूक्षहेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति कायः। तदपि कस्मात्। स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति।

पं.का./ता.वृ./४/१३/१२ स्निग्धरूक्षत्वशक्तेरभावादुपचारेणापि कायत्वं नास्ति कालाणूनां। —प्रश्न—जैसे द्रव्यरूपसे एक भी पुद्गल परमाणु-द्विअणुक आदि स्कन्ध पर्याय द्वारा बहुप्रदेशरूप कायत्व (उपचारसे) सिद्ध हुआ है, ऐसे ही द्रव्यरूपसे एक होनेपर भी कालाणुके समय घड़ी आदि पर्यायों द्वारा कायत्व सिद्ध होता है? उत्तर—इसका परिहार करते हैं—कि स्निग्धरूप गुणके कारण होनेवाले बन्धका काल द्रव्यमें अभाव है, इसलिए वह काय नहीं हो सकता। प्रश्न—ऐसा भी क्यों है? उत्तर—क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गलका ही धर्म है, कालमें स्निग्ध रूक्ष नहीं है। स्निग्धरूक्षत्व शक्तिका अभाव होनेके कारण उपचारसे भी कालाणुओंके कायत्व नहीं है।

६. काल द्रव्यको एकप्रदेशी या अकाय माननेकी क्या आवश्यकता

प्र.सा./त.प्र./१४४ सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्यते। पर्यायसमयाप्रसिद्धेः। प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्ध्यति।···लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं। एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात्। सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य। तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसङ्गाच्च। तथाहि—प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्यतरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति। ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम्। —प्रश्न—जब कि इस प्रकार काल (कथंचित) सप्रदेश है तो उसके एकद्रव्यके कारणभूत लोकाकाशतुल्य असंख्येयप्रदेश क्यों न मानने चाहिए? उत्तर—ऐसा हो तो पर्याय समय सिद्ध नहीं होता। इसलिए असंख्यप्रदेश मानना योग्य नहीं है। परमाणुके द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्यसमयका उल्लंघन करनेपर पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है। यदि द्रव्य समय लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशी हो तो पर्याय समयकी सिद्धि कहाँसे होगी? प्रश्न—यदि कालद्रव्य लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला हो तो भी परमाणुके द्वारा उसका एकप्रदेश उल्लंघित होनेपर पर्यायसमयकी सिद्धि हो जायेगी? उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि १. एक प्रदेशकी वृत्तिको सम्पूर्ण द्रव्यकी वृत्ति माननेमें विरोध है। सम्पूर्ण काल पदार्थका जो सूक्ष्म वृत्त्यंश है वह समय है, परन्तु उसके एकदेशका वृत्त्यंश समय नहीं। २. (दूसरे) तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्व प्रचयत्वका प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है—प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेशसे वर्ते, फिर दूसरे प्रदेशसे वर्ते और फिर अन्य प्रदेशसे वर्ते। इस प्रकार तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्यको एक प्रदेशमात्र स्थापित करता है (अर्थात् तिर्यक् प्रचय ही ऊर्ध्व प्रचय है, ऐसा माननेका प्रसंग आता है, इसलिए द्रव्य प्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिए तिर्यक् प्रचयको ऊर्ध्वप्रचय न माननेवालेको प्रथम ही कालद्रव्यको प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिए।

७. पंचास्तिकायको जाननेका प्रयोजन

द्र.सं./टी./१६/२२०/६ पञ्चास्तिकाय···मध्ये···स्वशुद्धजीवास्तिकायं··· एवोपादेयं शेषं च हेयं। —पाँचों अस्तिकायोंमें स्वशुद्धजीवास्तिकाय ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं। (पं.का./ता.वृ./४/१३/१४)

पं.का./ता.वृ./५/१६/१५ तत्र शुद्धजीवास्तिकायस्य यानन्तज्ञानादिगुणसत्ता सिद्धपर्यायसत्ता च शुद्धासंख्यातप्रदेशरूपं कायत्वमुपादेयमिति भावार्थः। —तहाँ शुद्ध जीवास्तिकायकी जो अनन्तज्ञानादिरूप गुणसत्ता, सिद्धपर्याय रूप द्रव्यसत्ता और शुद्ध असंख्यातप्रदेश रूप कायत्व उपादेय है, ऐसा भावार्थ है। (प्र.सा./ता.वृ./१३६/१९२/१०)

पं.का./ता.वृ./१०३/१६३-१६५/१५ अथ पञ्चास्तिकायाध्ययनस्य मुख्यवृत्त्या तदन्तर्गतशुद्धजीवास्तिकायपरिज्ञानस्य वा फलं दर्शयति।··· द्वादशाङ्गरूपेण विस्तीर्णस्यापि प्रवचनस्य सारभूतं एवं विज्ञाय···यः कर्ता मुञ्चति···रागद्वेषौ द्वौ···सः···प्राप्नोति···परिमोक्षम्। —इस पंचास्तिकाय नाम ग्रन्थके अध्ययनका तथा मुख्यवृत्तिसे उसके अन्तर्गत बताये गये शुद्धजीवास्तिकायके परिज्ञानका फल दर्शाता हूँ। द्वादशांगरूपसे अतिविस्तीर्ण भी इस प्रवचनके सारभूतको जानकर जो राग व द्वेष दोनोंको छोड़ता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

अस्तित्व—१. 'अस्तित्व' शब्दके अनेक अर्थ

१. सामान्य सत्ताके अर्थमें अस्तित्व

रा.वा./२/७/१३/१११/३२ अस्तित्वं तावत् साधारणं षड्द्रव्यविषयत्वात्। तद् कर्मोदयक्षयक्षयोपशमोपशमानपेक्षत्वात् पारिणामिकम्। —अस्तित्व छहों द्रव्योंमें पाया जाता है अतः साधारण है। कर्मोदय क्षय क्षयोपशम व उपशमसे निरपेक्ष होनेके कारण यह पारिणामिक है।

न.च.वृ./६१ अत्थिसहावे सत्ता। —अस्तित्व स्वभावको ही सत्ता कहते हैं।

आ.प./६ अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वम्। —अस्ति अर्थात् 'है पने'के भावको अस्तित्व कहते हैं। अस्तित्व अर्थात् सद्रूपत्व। (द्र.सं./मू./२४) (नि.सा./ता.वृ./३४)

स.भ.त./४५/६ अस्धात्वर्थोऽस्तित्वं सत्त्वपर्यवसन्नम्। —'अस्' धातुका अर्थ अस्तित्व है और उसका सत्तारूप अर्थसे तात्पर्य है।

अवस्थान अर्थमें अस्तित्व

रा.वा./४/४२/४/२५०/१७ आयुरादिनिमित्तवशादवस्थानमस्तित्वम्। —आयु आदि निमित्तोंके अनुसार उस पर्यायमें बने रहना सद्भाव या स्थिति है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वभाव अर्थमें अस्तित्व

त.सू./५/३० उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ —जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है।

प्र.सा.मू./९६ सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं। दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥९६॥ —सर्वकालमें गुणों तथा अनेक प्रकारकी अपनी पर्यायोंसे और उत्पादव्ययध्रौव्यसे द्रव्यका जो अस्तित्व है वह वास्तवमें स्वभाव है।

पं.का./त.प्र./५/१४ एकेण पर्यायेण प्रलीयमानस्यान्येनोपजायमानस्यान्वयिना गुणेन ध्रौव्यं बिभ्राणस्यैकस्यापि वस्तुनः समुच्छेदोत्पादध्रौव्यलक्षणमस्तित्वमुपपद्यत एव। —जिसमें एक पर्यायका विनाश होता है, अन्य पर्यायकी उत्पत्ति होती है तथा उसी समय अन्वयी गुणके द्वारा जो ध्रुव है ऐसी एक वस्तुका उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप लक्षण ही अस्तित्व है।

२. अस्तित्वके भेद

प्र. सा./त. प्र./९५ अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं—स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति। —अस्तित्व दो प्रकारका कहेंगे—स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

नि. सा./ता. वृ./३४ अस्तित्वं नाम सत्ता। सा किंविशिष्टा। सप्रतिपक्षा अवान्तरसत्ता महासत्तेति। =अस्तित्व अर्थात् सत्ता। वह कैसी है? महासत्ता और अवान्तर सत्ता।

३. स्वरूपास्तित्व या अवान्तर सत्ता

प्र. सा./मू./९६ इदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम् (प्र.सा./त.प्र./उत्थानिका) सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं। दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्ययधुवत्तेहिं ॥ ९६॥ =सर्वकालमें गुण तथा अनेक प्रकारकी अपनी पर्यायोंसे और उत्पादव्ययध्रौव्यसे द्रव्यका जो अस्तित्व है वह वास्तवमें स्वभाव है।

प्र. सा./त. प्र./९७ प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि। =प्रत्येक द्रव्यकी सीमाको बाँधते हुए ऐसे विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे लक्षित होते हैं।

पं. का./त. प्र./८ प्रतिनियतवस्तुवर्तिनो स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। =प्रतिनियतवस्तुवर्ती तथा स्वरूपास्तित्वकी सूचना देनेवाली (अर्थात् पृथक्-पृथक् पदार्थका पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व बतानेवाली) अवान्तरसत्ता है।

नि. सा./ता. वृ./३४ प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता, ...प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता, ...प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। =प्रतिनियत वस्तु (द्रव्य) में व्यापनेवाली या प्रतिनियत एक रूप (गुण) में व्यापनेवाली या प्रतिनियत एक पर्यायमें व्यापनेवाली अवान्तर सत्ता है।

प्र. सा./ता. वृ./९६/१२६/१७ मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सहस्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं। =मुक्तात्मद्रव्यके स्वकीय गुणपर्यायोंका उत्पादव्ययध्रौव्यताके जो स्वरूपास्तित्वका अभिधान या निर्देश है वही अभिन्न रूपसे अवान्तर सत्ता स्थापित की गयी है।

पं. ध./२/२६६ अपि चावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सद्गुणश्च पर्यायः। सच्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥ २६६॥ =तथा सत् द्रव्य है, सत् गुण है और सत् पर्याय है। तथा सत् ही उत्पाद व्यय है, सत् ही ध्रौव्य है, इस प्रकारके विस्तारका नाम ही निश्चयसे अवान्तर सत्ता है।

४. सादृश्य अस्तित्व या महासत्ता

प्र. सा./मू./९७ इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति–(उत्थानिका)। इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं। उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं। =यह सादृश्यास्तित्वका कथन है—धर्मका वास्तवमें उपदेश करते हुए जिनवरवृषभने इस विश्वमें विविध लक्षणवाले (भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्ववाले) सर्वद्रव्योंका 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।

प्र. सा./त. प्र./९७ स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्त्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोधव्यम्। =(यद्यपि सर्व द्रव्य) स्वरूपास्तित्वसे लक्षित होते हैं, फिर भी सर्वद्रव्योंका विचित्रताके विस्तारको अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्योंमें प्रवृत्त होकर रहनेवाला, और प्रत्येक द्रव्यकी बन्धी हुई सीमाकी अवगणना करतो हुई, 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्यलक्षणभूत सादृश्य अस्तित्व है वह वास्तवमें एक ही जानना चाहिए।

पं. का./त. प्र./८ सर्वपदार्थसार्थव्यापिनो सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव। =सर्वपदार्थ समूहमें व्याप्त होनेवाली सादृश्य अस्तित्वको सूचित करनेवाली महासत्ता कही जा चुकी है।

नि. सा./ता. वृ./३४ समस्तवस्तुविस्तारव्यापिनी महासत्ता, ...समस्तव्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता, ...अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता। =समस्तवस्तुविस्तारमें व्यापनेवाली, अर्थात् छहों द्रव्यों व उनके समस्त भेद प्रभेदोंमें व्यापनेवाली तथा समस्त व्यापक रूपों (गुणों) में व्यापनेवाली तथा अनन्त पर्यायोंमें व्यापनेवाली महासत्ता है। (प्र. सा./ता. वृ./९७/१३०/१४)

अस्तित्व नय—दे० नय I/५।

अस्ति नास्ति भंग—दे० सप्तभंगी/४।

अस्ति नास्ति प्रवाद—दे० श्रुतज्ञान III।

अस्तेय—१. भेद व लक्षण

१. स्तेयका लक्षण

त. सू./७/१५/३५२/१२ अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५॥

स. सि./७/१५/३५३/६ यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति बाह्यवस्तुनो ग्रहणे चाग्रहणे च। =बिना दी हुई वस्तुका लेना स्तेय है ॥ १५॥ इस कथनका यह अभिप्राय है कि बाह्यवस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणामके साथ प्रवृत्ति होती है, वहाँ स्तेय है।

२. अस्तेय अणुव्रतका लक्षण

र. क. श्रा./५७ निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं। न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्य्यादुपारमणं। =जो रखे हुए तथा गिरे हुए अथवा भूले हुए अथवा धरोहर रखे हुए परद्रव्यको नहीं हरता है, न दूसरोंको देता है, सो स्थूलचोरीसे विरक्त होना अर्थात् अचौर्याणुव्रत है। (वसु. श्रा./२११) (गुणभद्र श्रा./१३५)

स. सि./७/२०/३५८/१ अन्यपीडाकरं पार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्। =श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेना यद्यपि छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तुके लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है इसलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। (रा. वा./७/२०/३/५४७/१०)

का. अ./३३५-३३६ जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि। वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ॥ ३३५॥ जो परदव्वं ण हरदि मायालोहेण कोहमाणेण। दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥ ३३६॥ =जो बहुमूल्य वस्तुको अल्पमूल्यमें नहीं लेता, दूसरेकी भूली हुई वस्तुको भी नहीं उठाता, थोड़े लाभसे ही सन्तुष्ट रहता है ॥ ३३५॥ तथा कपट लोभ माया व क्रोधसे पराये द्रव्यका हरण नहीं करता वह शुद्धमति दृढ़निश्चयी श्रावक अचौर्याणुव्रती है ॥ ३३६॥

सा. ध./४/४६ चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात्। परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्दद्यात्‌ न परस्वं ॥ ४६॥ ='चोरी' ऐसे नामको करनेवाली स्थूल चोरीका है व्रत जिसके ऐसा पुरुष या श्रावक मृत्युको प्राप्त हो चुके पुत्रादिकसे रहित अपने कुटुम्बी भाई वगैरहके धनसे तथा सम्पूर्ण लोगोंके द्वारा भोगने योग्य जल, घास आदि पदार्थोंसे भिन्न अर्थात् इनके अतिरिक्त दूसरेके धनको न तो स्वयं ग्रहण करे और न दूसरोंके लिये देवे।

३. अस्तेय महाव्रतका लक्षण

नि. सा./मू./५८ गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं। जो मुंचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥ ५८॥ =ग्राममें, नगर में या वनमें परायी वस्तुको देखकर जो उसे ग्रहण करनेके भावको छोड़ता है उसको तीसरा (अचौर्य) महाव्रत है।

मू. आ./७,२९१ गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं। णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥ ७॥ गामे णगरे रण्णे थूलं सचित्तं

बहुसपडिबकखं । तिविहेण बजिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं ॥ २९१ ॥ =ग्राम आदिकमें पड़ा हुआ, भूला हुआ, रखा हुआ इत्यादि रूपसे अल्प भी स्थूल सूक्ष्म वस्तुका दूसरेकर इकट्ठा किया हुआ ऐसे परद्रव्यको ग्रहण नहीं करना वह अदत्तत्याग अर्थात् अचौर्य महाव्रत है ॥ ७ ॥ ग्राम नगर वन आदिमें स्थूल अथवा सूक्ष्म, सचित्त अथवा अचित्त, बहुत अथवा थोड़ा, भी स्वर्णादि, धन धान्य, द्विपद चतुष्पद आदि परिग्रह बिना दिया मिल जाये तो उसे मन वचन कायसे सदा त्याग करना चाहिए । वह अचौर्य व्रत है ॥ २९१ ॥

२. अस्तेय निर्देश

१. अस्तेय अणुव्रतके पाँच अतिचार

त. सू./७/२७ स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥ =१. चोरी करनेके उपाय बताना, २. चोरीका माल लेना, ३. राज्य नियमोंके विरुद्ध ब्लैक मार्केट करना या टैक्स चुंगी बचाना, ४. मापने व तोलनेके गज़ बाट कमती बढ़ती रखना, ५. अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तु मिलाना—ये पाँच अस्तेयके अतिचार हैं। (र. क. श्रा./५८) (अन्य भी श्रावकाचार)

सा. ध./४/५० में उद्धृत—यशस्तिलक चम्पू—मानवन्न्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः । विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेनस्यैते निवर्तकाः । =जो वस्तु तोलने या मापने योग्य है, उसे देते समय कम तौलकर, लेते समय अधिक तौलकर या अधिक माप कर लेना, चोरी कराना, चोरीके माल लेना, और युद्धके समय पदार्थोंका संग्रह करना—ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

सा. ध./३/२१ दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद्गृह्णतो धनं । दायं वापह्नुवानस्य का चौर्यव्यसनं शुचिः ।२१। =राजाके तेज या प्रतापसे जीवित वगैरहसे धनको ग्रहण करनेवालेके अथवा कुलकी साधारण सम्पत्तिको भाई वगैरहसे छिपाने वालेके अर्थात् कानूनी दावपेंचसे भाईबन्दका या किसी अन्यका हक़ हड़प करनेवालेके अचौर्य व्रत कहाँ पर निरतिचार हो सकता है?

२. महाव्रतीके लिए अस्तेयकी भावनाएँ

भ. आ./मू./१२०८-१२०९ अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि । एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ।१२०८। वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु । उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ।१२०९। =१. उपकरणोंको उसके स्वामीकी परवानगीके बिना ग्रहण न करना; २. उनको अनुज्ञासे भी यदि ग्रहण करे तो उनमें आसक्ति न करना; ३. अपने प्रयोजनको बताते हुए कोई वस्तु माँगना; ४. या अपनी मर्ज़ीसे भी यदि दातार देगा तो 'वह सबकी सब ग्रहण कर लूँगा'—ऐसी भावना न करना; ५. ज्ञान व चारित्रमें उपयोगी ही वस्तुएँ या उपकरण ग्रहण करना, अन्य नहीं, तथा अनुपयोगी वस्तुकी याचना न करना ।१२०८।; ६. घरके स्वामी द्वारा घरमें प्रवेशकी मनाई होनेपर उसके घरमें प्रवेश न करना; ७. आगमसे अविरुद्ध ही संयमोपकरणकी याचना करना—ऐसी ये अचौर्य व्रतकी भावनाएँ हैं। १२०९। (मू. आ /३३९) (अन.ध./४/५७/३४५)।

त. सू./७/६ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥ =शून्यागारावास, विमोचित या त्यक्तावास, परोपरोधाकरण अर्थात् दूसरेके आनेमें रुकावट न डालना, भैक्षशुद्धि अर्थात् भिक्षाचर्याकी शुद्धि, सधर्माविसंवाद अर्थात् साधर्मीजनोंसे वाद न विवाद करना ये अचौर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं। (चा.पा./मू./३३)।

अन. ध./४/५७ में आचार आदि शास्त्रोंसे उद्धृत/पृ. ३४६ उपादानं मतस्यैव मते चासक्तबुद्धिता । गार्ह्यस्यार्थकृतो लानमितरस्य तु वर्जनम् । अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु । तृतीये भावना योग्ययाच्या सूत्रानुसारतः ॥ देहणं भावणं चावि उग्गहं च परिग्गहे । संतुट्ठो भत्तपाणेसु तदियं वदमिस्सदो ॥ =यहाँ दो प्रकारसे पाँच-पाँच भावनाएँ बतायी हैं—एक आचार शास्त्रके अनुसार और दूसरी प्रतिक्रमणशास्त्रके अनुसार। —१. तहाँ आचार शास्त्रके अनुसार तो—१. स्वामीके द्वारा अनुज्ञात तथा योग्य ही वस्तुका ग्रहण करना; २. और अनुमत वस्तुमें भी आसक्त बुद्धि न रखना; ३. तथा जितनेसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाता हो उतना ही उसको ग्रहण करना बाकीको छोड़ देना; ४. गोचरादिक करते समय जिस गृहमें प्रवेश करनेकी उसके स्वामीकी अनुमति नहीं है, उसमें प्रवेश न करना; ५. और सूत्रके अनुसार योग्य विषयकी ही याचना करना। २. प्रतिक्रमण शास्त्रके अनुसार—१. शरीरकी अशुचिता या अनित्यता आदिका विचार करना; २. आत्मा और शरीरको भिन्न-भिन्न समझना; ३. परिग्रह निग्रह अर्थात् 'जितने भी चेतन या अचेतन पर पदार्थ हैं, उनके सम्पर्कसे आत्मा अपने हितसे मूर्च्छित हो जाता है'—ऐसा विचार करना; ४. भक्त सन्तोष अर्थात् विधि पूर्वक जैसा भी भोजन प्राप्त हो जाये उसमें ही सन्तोष धारण करना; ५. पान सन्तोष अर्थात् यथा लब्ध पेय वस्तुके लाभालाभमें सन्तोष रखना; उन दोनोंकी प्राप्तिके लिए गृद्ध न होना।

म. पु./२०/१६३ मितोचिताभ्यनुज्ञातग्रहणान्यग्रहोऽन्यथा । संतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः ।१६३। =१. परिमित आहार लेना; २. तपश्चरणके योग्य आहार लेना; ३. श्रावकके प्रार्थना करने पर आहार लेना; ४. योग्य विधिके विरुद्ध आहार न लेना; ५. तथा प्राप्त हुए भोजनमें सन्तोष रखना—ये पाँच तृतीय अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं /१६३/।

३. अणुव्रतीके लिए अस्तेयकी भावनाएँ

स. सि./७/९/३४७/८ तथास्तेनः परद्रव्यहरणासक्तः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति । इहैव चाभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयाद्व्युपरतिः श्रेयसी । एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम् । =पर द्रव्यका अपहरण करनेवाले चोरका सब तिरस्कार करते हैं। इस लोकमें वह ताड़ना मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान, नाक, ऊपरके ओष्ठका छेदना, भेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है, और गर्हित भी होता है, इसलिए चोरीका त्याग श्रेयस्कर है।...इस प्रकार हिंसा आदि दोषोंमें अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

★ व्रतोंकी भावनाओं सम्बन्धी विशेष विचार—दे० व्रत/२।

४. अन्याय पूर्वक ग्रहण करनेका निषेध

कुरल/१२/३,६ अन्यायप्रभवं वित्तं मा गृहाण कदाचन । वरमस्तु तदादाने लाभेनास्तु दूषणम् ॥३॥ नीतिं मनः परित्यज्य कुमार्गं यदि धावते । सर्वनाशं विजानीहि तदा निकटसंस्थितम् ॥६॥ =अन्यायसे उत्पन्न धनको कभी भी ग्रहण न करो। भले ही उससे लाभके अतिरिक्त अन्य वस्तुकी सम्भावना न हो अर्थात् उससे केवल लाभ होना निश्चित हो ॥३॥ जब तुम्हारा मन नीतिको त्याग कुमार्गमें प्रवृत्ति करने लगता है तो समझ लो कि तुम्हारा सर्वनाश निकट ही है ॥६॥

५. चोरीकी निन्दा

भ. आ./मू./८६५/९८४ परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु वेंति पावस्स । सोगरियवाहपरदारयेहिं चोरो हु पापदरो । =परद्रव्य हरण करना पाप आनेका द्वार है। सूअरका घात करनेवाला, मृगादिकोंको पकड़ने-

वाला और परस्त्रीगमन करनेवाला, इनसे भी चोर अधिक पापी गिना जाता है।

६. अस्तेयका माहात्म्य

भ.आ./मू./८७५-८७६ एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरण-विरदस्स। तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स ॥८७५॥ देविंदरायगहवइ-देवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा। उग्गहविहीणा दिण्णं गेण्हसु सामण्ण-साहण्यं ॥८७६॥ =उपर्युक्त चोरीका दोष जिसने त्याग किया है, ऐसे महापुरुषमें दोष नहीं रहते हैं, परन्तु गुण ही उत्पन्न होते हैं। दिये हुए पदार्थका उपभोग लेनेवाले उस महापुरुषमें अच्छे-अच्छे गुण प्रगट होते हैं।८७५॥ देवेन्द्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी, देवता और साधर्मिक साधु—इन्होंसे योग्य विधिसे दिया हुआ, मुनिपनाको सिद्धि करनेवाला, जिससे ज्ञानकी सिद्धि व संयमकी वृद्धि होगी, ऐसा पदार्थ हे क्षपक ! तू ग्रहण कर ॥८७६॥

७. चोरीके निषेधका कारण

ला. सं./२/१६८-१७० ततोऽवश्यं हि पापः स्यात्परस्वहरणे नृणाम्। यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणक्षितौ ॥१६८॥ एवमेतत्परिज्ञाय दर्शनश्राव-कोत्तमैः। कर्त्तव्या न मतिः क्वापि परदारधनादिषु ॥१६९॥ आस्तां परस्वस्वीकाराद्यद् दुःखं नारकादिषु। यदत्रैव भवेद् दुःखं तद्वक्तुं कः क्षमो नरः ॥१७०॥ =चोरी करनेवाले पुरुषको अवश्य महापाप उत्पन्न होता है, क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसा मरनेमें दुःख होता है, वैसा ही दुःख धनके नाश हो जानेपर होता है॥१६८॥ उपरोक्त प्रकार चोरोके महादोषोंको समझकर दर्शनप्रतिमा धारण करनेवाले उत्तम श्रावकको दूसरेकी स्त्री वा दूसरेका धन हरण करनेके लिए कभी भी अपनी बुद्धि नहीं करनी चाहिए॥१६९॥ दूसरेका धन हरण करनेसे वा चोरी करनेसे जो नरक आदि दुर्गतियोंमें महा-दुःख होता है वह तो होता ही है किन्तु ऐसे लोगोंको इस जन्ममें ही जो दुःख होते हैं उनको भी कोई मनुष्य कह नहीं सकता।

★ **चोरीका हिंसामें अन्तर्भाव**—दे० अहिंसा /३।

८. मार्गमें पड़ी वस्तु मिलनेपर कर्तव्य

मू. आ./१५७ जं तेणंतल्लद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं। तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि ॥१५७॥ =चलते समय मार्गमें शिष्यादि चेतन, पुस्तकादि अचेतन और पुस्तकसहित शिष्यादि मिश्र ये पदार्थ मिल जाँय तो आगे जानेवाले गुणवान् आचार्य ही उन पदार्थोंके योग्य हैं अर्थात् उनको उठाकर आचार्यके समीप ले जावे।

कुरल/१२/१ इदं हि न्यायनिष्ठत्वं यन्निष्पक्षतया सदा। न्याय्यो भागो ह्रदावेयो मित्राय रिपवेऽथवा ॥१॥ =न्यायनिष्ठाका सार केवल इसमें है कि मनुष्य निष्पक्ष होकर धर्मशीलताके साथ दूसरेके देय अंशको दे देवे, फिर चाहे लेनेवाला शत्रु हो या मित्र।

३. शंका समाधान

१. कर्मादि पुद्गलोंके ग्रहणमें भी दोष लगेगा

स. सि./७/१५/३५२/१२ यद्येवं कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेयं प्राप्नोति; अन्येनादत्तत्वात्। नैष दोषः; दानादाने यत्र संभवतस्तत्रैव स्तेयव्यव-हार.। कुतः, अदत्तग्रहणसामर्थ्यात्। =प्रश्न—यदि स्तेयका पूर्वोक्त (अदत्तादान) अर्थ किया जाता है तो कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना भी स्तेय ठहरता है, क्योंकि ये किसीके द्वारा दिये नहीं जाते? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जहाँ देना और लेना सम्भव है वहीं स्तेयका व्यवहार होता है। प्रश्न—यह अर्थ किस शब्दसे फलित होता है? उत्तर—सूत्रमें दिये गये 'अदत्त' शब्दसे। (रा.वा./७/१५/१-३/५४२/१५)।

२. पुण्योपार्जन प्रशस्त चोरी कहलायेगा

रा.वा./७/१५/८/५४३/१ स्यान्मतम् वन्दनाक्रियासंबन्धेन धर्मोपचये सति प्रशस्तं स्तेयं प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम्। उक्तत्वात्। उक्तमेतत्—दानादानसंभवो यत्र तत्र स्तेयप्रसंग इति। =प्रश्न—वन्दना सामायिक आदि क्रियाओंके द्वारा पुण्यका संचय साधु बिना दिया हुआ ही करता है; अतः उसको प्रशस्त चोर कहना चाहिए? उत्तर—यह आशंका निर्मूल है, क्योंकि, पहिले ही कह दिया गया है कि जहाँ देने लेनेका व्यवहार होता है वहीं चोरी है।

३. शब्द ग्रहण व नगरद्वार प्रवेशसे साधुको दोष लगेगा

रा.वा./७/१५/७/५४३ स्यादेतत्—शब्दादिविषयरथ्याद्वारादीन्यदत्तानि आददानस्य भिक्षोः स्तेयं प्राप्नोतीति। तन्न; किं कारणम्। अप्रमत्त-त्वात्।···दत्तमेव वा तत्सर्वम्। तथा हि अयं पिहितद्वारादीन् न प्रवि-शति। =प्रश्न—इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेसे तथा नगरके दरवाजे आदिको बिना दिये हुए प्राप्त करनेसे साधुको चोरीका दोष लगना चाहिए? उत्तर—यत्नवान अप्रमत्त और ज्ञानी साधुको शास्त्र दृष्टिसे आचरण करनेपर शब्दादि सुननेमें चोरीका दोष नहीं है, क्योंकि वे सब वस्तुएँ तो सबके लिए दी ही गयी हैं; अदत्त नहीं हैं। इसोलिए उन दरवाजोंमें प्रवेश नहीं करता जो सार्वजनिक नहीं हैं या बन्द हैं। (स.सि./७/१५/३५३/२)

अस्थि—१. औदारिक शरीरोंमें अस्थियोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१; २. इनमें षट्काल कृत वृद्धि ह्रास—दे० काल/४।

अस्थिर—दे० स्थिर।

अस्नान—साधुका एक मूलगुण—दे० स्नान।

अहंकार—त.अनु./१५ ये कर्मकृता भावा परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः। तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥१५॥ =कर्मोंके द्वारा निर्मित जो पर्यायें हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं, उनमें आत्माका जो मिथ्या आरोप है, उसका नाम अहं-कार है; जैसे मैं राजा हूँ।

प्र.सा./ता.वृ./९४/१४ मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहंकारो भण्यते। ='मनुष्यादि पर्यायरूप ही मैं हूँ' ऐसा कहना अहंकार है।

द्र.सं./टी./४१/१६६/१ कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्त-त्रैवाभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाऽहमित्यहंकारलक्षणमिति। =कर्मोंसे उत्पन्न जो देह, पुत्र, स्त्री आदिमें 'यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है,' इस प्रकारकी जो बुद्धि है वह ममकार है, और उन शरीरादिमें अपनी आत्मासे अभेद मानकर जो 'मैं गौर वर्णका हूँ, मोटे शरीर वाला हूँ, राजा हूँ' इस प्रकार मानना सो अहंकारका लक्षण है।

अहंक्रिया—स.स्तो./टी./१२/२६ *अहमस्य सर्वस्य स्त्र्यादिविषयस्य स्वामीति क्रिया अहंक्रिया।* ='मैं इस स्त्री आदि समस्त विषयोंका स्वामी हूँ' इस प्रकारकी क्रियाको अहंक्रिया कहते हैं।

अहमिन्द्र—दे० इन्द्र।

अहिंसा—जैन धर्म अहिंसा प्रधान है, पर अहिंसाका क्षेत्र इतना संकुचित नहीं है जितना कि लोकमें समझा जाता है: इसका व्यापार बाहर व भीतर दोनों ओर होता है। बाहरमें तो किसी भी छोटे या बड़े जीवको अपने मनसे या वचनसे या कायसे, किसी प्रकारको भी हीन या अधिक पीड़ा न पहुँचाना तथा उसका

दिल न दुखाना अहिंसा है, और अन्तरंगमें राग-द्वेष परिणामोंसे निवृत्त होकर साम्यभावमें स्थित होना अहिंसा है। बाह्य अहिंसाको व्यवहार और अन्तरंगको निश्चय कहते हैं। वास्तवमें अन्तरंगमें आंशिक साम्यता आये बिना अहिंसा सम्भव नहीं, और इस प्रकार इसके अतिव्यापक रूपमें सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य आदि सभी सद्गुण समा जाते हैं। इसीलिए अहिंसाको परम धर्म कहा जाता है। जल थल आदिमें सर्वत्र ही क्षुद्र जीवोंका सद्भाव होनेके कारण यद्यपि बाह्य में पूर्ण अहिंसा पलनी असम्भव है, पर यदि अन्तरंगमें साम्यता और बाहरमें पूरा-पूरा यत्नाचार रखनेमें प्रमाद न किया जाय तो बाह्य जीवोंके मरने पर भी साधक अहिंसक ही रहता है।

१. अहिंसा निर्देश

★ निश्चय अहिंसाका लक्षण—दे० अहिंसा/२/१।

१. अहिंसा अणुव्रतका लक्षण

र. क. श्रा./५३ संकल्पात् कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्। न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणः ॥५३॥ =मन, वचन, कायके संकल्पसे और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्रस जीवोंको जो नहीं हनता, उस क्रियाको *गणधरादिक* निपुण पुरुष स्थूल हिंसासे विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं। (स.सि./७/२०/३५८/७); (रा.वा./७/२०/१/५४७/६); (सा.ध./४/७)।

वसु.श्रा./२०९ जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा ते। एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥२०९॥ =जो त्रस जीव पहिले बताये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए। यह पहिला स्थूल अहिंसा व्रत है। (सा.ध./४/१०)

का.अ./मू./३३१-३३२ जो बावरेइ सदओ अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो। *णिंदण-गरहण-जुत्तो* परिहरमाणो महारंभे ॥३३१॥ तसघादं जो *ण* करदि *मणवयकाएहि* णेव कारयदि। कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥३३२॥ =जो श्रावक दयापूर्ण व्यापार करता है, अपने ही समान दूसरोंको मानता है, अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ महा आरम्भको नहीं करता ॥३३१॥ तथा जो मन, वचन व कायसे त्रस जीवोंका घात न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और न दूसरा करता हो उसे अच्छा मानता है, उस श्रावकके प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है।

२. अहिंसा महाव्रतका लक्षण

मू.आ./५,२८९ कायेंदियगुणमग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं। णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥५॥ एइंदियादिपाणा पंचविधावज्जभीरुणा सम्मं। ते खलु ण हिंसितव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥२८९॥ =काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि—इनमें सब जीवोंको जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओंमें हिंसा आदिका त्याग करना अहिंसा महाव्रत है ॥५॥ सब देश और सब कालमें मन वचन कायसे एकेंद्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय प्राणियोंके प्राण पाँच प्रकारके पापोंसे डरनेवालेको नहीं घातने चाहिए, अर्थात् जीवोंकी रक्षा करना अहिंसाव्रत है ॥२८९॥ (नि.सा./मू./५६)

३. अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार

त.सू./७/२५ बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः। =बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण, अन्नपानका निरोध, ये अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

सा.ध./४/१६ मंत्रादिनापि बंधादिः कृतो रज्ज्वादिवन्मलः। तत्तथा *यत्नोयं स्यान्न यथा मलिनं व्रतं ॥१६॥ =मन्त्रादिके द्वारा भी किया गया बन्धनादिक रस्सी वगैरहसे किये गये बन्धकी तरह अतिचार* होता है। इसलिए उस प्रकारसे यत्न पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिस प्रकारसे कि व्रत मलिन न होवे।

४. अहिंसा महाव्रतकी भावनाएँ

त.सू./७/४ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥ =वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पान भोजन (अर्थात् देख शोधकर भोजन पान ग्रहण करना) ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं। (मू.आ./३३७); (चा.पा./मू./३१)

५. अहिंसा अणुव्रतकी भावनाएँ

स.सि./७/९/३४७/३ हिंसायां तावत्, हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च इह च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्।···एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्। =हिंसामें यथा—हिंसक निरन्तर उद्वेजनीय है' वह सदा वैरको बाँधे रहता है, इस लोकमें वध, बन्ध और क्लेश आदिको प्राप्त होता है, तथा परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है, और गर्हित भी होता है, इसलिए हिंसाका त्याग श्रेयस्कर है।···इस प्रकार हिंसादि दोषोंमें अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

★ व्रतोंकी भावना व अतिचार —दे० व्रत/२।

★ साधुजन पशु पक्षियोंका मार्ग छोड़कर गमन करते हैं —दे० भिक्षा/२।

२. निश्चय अहिंसाकी कथंचित् प्रधानता

१. प्रमाद व रागादिका अभाव ही अहिंसा है

भ.आ./मू./८०३,८०६ अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये। जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥८०३॥ जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरंगवत्थुजोगेण। णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायवदिवधहेदु ॥८०६॥ —आत्मा ही हिंसा है और वह ही अहिंसा है, ऐसा जिनागममें निश्चय किया है। अप्रमत्तको अहिंसक और प्रमत्तको हिंसक कहते हैं ॥८०३॥ यदि रागद्वेष रहित आत्माको भी बाह्य वस्तुमात्रके सम्बन्धसे बन्ध होगा, तो 'जगतमें कोई भी अहिंसक नहीं है', ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि, मुनि जन भी वायुकायिकादि जीवोंके वधके हेतु हैं ॥८०६॥

स.सि./७/२२/३६३/१० पर उद्धृत—रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये। तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि *णिद्दिट्ठा*। —शास्त्रमें यह उपदेश है कि रागादिकका नहीं उत्पन्न होना अहिंसा है। तथा जिनदेवने उनकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है। (क.पा./पु.१/१,१/४२/१०२) (पु.सि.उ./४४) (अन.ध./४/२६)

ध./पु.१४/५,६,९३/५/९० स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्। प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव *हिंसकः* ॥५॥ —अहिंसा स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं ही होती है। यहाँ ये दोनों पराधीन नहीं हैं। जो प्रमाद रहित है वह अहिंसक है और जो प्रमाद युक्त है वह सदा हिंसक है।

प्र.सा./त.प्र./२१७-२१८ अशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरङ्गः ॥२१७॥···यदशुद्धोपयोगासद्भावः···निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात् ॥२१८॥ —अशुद्धोपयोगका सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके

हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है; और इस प्रकार जो अशुद्धोपयोगके बिना होता है ऐसे प्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव जिसके पाया जाता है उसके परप्राणोंके व्यपरोपके सद्भावमें भी बन्धकी अप्रसिद्धि होनेसे हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है। अतः अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है बहिरंग नहीं ॥२१७॥ अशुद्धोपयोगका असद्भाव अहिंसक ही है, क्योंकि उसे निर्लेपत्वकी प्रसिद्धि है ॥२१८॥ (नि.सा./ता.वृ./५६) (अन.ध./४/२३)

पु.सि.उ./५१ अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः। कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्। =निश्चय कर कोई जीव हिंसाको न करके भी हिंसा फलके भोगनेका पात्र होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसाके फलको भोगनेका पात्र नहीं होता है, अर्थात् फलप्राप्ति परिणामोंके आधीन है, बाह्य हिंसाके आधीन नहीं।

२. निश्चय अहिंसाके बिना अहिंसा सम्भव नहीं

नि.सा./ता.वृ./५६ तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति। =उन (बाह्य प्राणियों) का मरण हो या न हो, प्रयत्नरूप परिणामके बिना सावद्यपरिहार नहीं होता।

प.प्र./टी./२/६८ अहिंसालक्षणो धर्मः, सोऽपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति। =धर्म अहिंसा लक्षणवाला है, और वह अहिंसा जीवके शुद्ध भावोंके बिना सम्भव नहीं।

३. परकी रक्षा आदि करनेका अहंकार अज्ञान है

स.सा./मू./२५३ जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो। =जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं (पर) जीवोंको दुखी सुखी करता हूँ, वह मूढ (मोही) है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है। (यो.सा./अ./४/१२)

४. अहिंसा सिद्धान्त स्वरक्षार्थ है न कि पररक्षार्थ

पं.ध./उ./७५६ आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ। तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्र तत् ॥१५६॥ =इसलिए जो आगममें स्व और अन्य प्राणियोंकी अहिंसाका सिद्धान्त माना गया है, वह केवल स्वात्म रक्षाके लिए ही है, परके लिए नहीं।

३. अहिंसा व्रतकी कथंचित् प्रधानता

१. अहिंसा व्रतका माहात्म्य

भ.आ./मू./८२२ पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूडो वि संसुमारहदे। एगेण एक्कदिवसक्कदेण हिंसावदगुणेण। =स्वल्प काल तक पाला जानेपर भी यह अहिंसा व्रत प्राणीपर महान् उपकार करता है। जैसे कि शिशुमार ह्रदमें फेंके चाण्डालने अल्पकाल तक ही अहिंसाव्रत पालन किया था। वह इस व्रतके माहात्म्यसे देवोंके द्वारा पूजा गया।

ज्ञा./८/३२ अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः। अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥३२॥ =अहिंसा ही तो जगत्की माता है क्योंकि समस्त जीवोंका परिपालन करनेवाली है; अहिंसा ही आनन्दकी सन्तति है; अहिंसा ही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है। जगत्में जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसा ही में हैं।

अ.ग.श्रा./११/५ चामीकरमयीमुर्वी ददानः पर्वतैः सह। एकजीवाभयं नूनं ददानस्य समः कुतः ॥५॥ =पर्वतोंसहित स्वर्णमयी पृथिवीका दान करनेवाला भी पुरुष, एक जीवको रक्षा करनेवाले पुरुषके समान कहाँसे हो सकता है।

भा.पा./टी./१३४/२८३ पर उद्धृत "एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः। परं फलं तु सर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥१॥ आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान्नरः। अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥२॥ =एक जीवदयाके द्वारा ही चिन्तामणिकी भाँति अन्य सकल धार्मिक क्रियाओंके फलकी प्राप्ति हो जाती है ॥१॥ आयुष्मान् होना, सुभगपना, धनवानपना, सुन्दर रूप, कीर्ति आदि ये सब कुछ मनुष्यको एक अहिंसा व्रतके माहात्म्यसे ही प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

२. सर्व व्रतोंमें अहिंसाव्रत ही प्रधान है

भ.आ./मू./७८४-७९० णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि। जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥७८४॥ सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं। सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥७९०॥ =इस जगत्में अणुसे छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी बड़ी कोई चीज नहीं है। इसी प्रकार अहिंसा व्रतसे दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है ॥७८४॥ यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्व शास्त्रोंका गर्भ है और सर्व व्रतोंका निचोड़ा हुआ सार है ॥७९०॥

कुरल/३३/३ अहिंसा प्रथमो धर्मः सर्वेषामिति सन्मतिः। ऋषिभिर्बहुधा गीतं सूनृतं तदनन्तरम् ॥३॥ =अहिंसा सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। ऋषियोंने प्रायः उसकी महिमाके गीत गाये हैं। सच्चाईकी श्रेणी उसके पश्चात् आती है।

स.सि./७/१/३४३/४ तत्र अहिंसा व्रतमादौ क्रियते प्रधानत्वात्। सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थादीनि सस्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत्। =इन पाँचों व्रतोंमें अहिंसा व्रतको (सूत्रकारने) प्रारम्भमें रखा है, क्योंकि वह सबमें मुख्य है। धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर काँटोंका घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षाके लिए हैं। (रा.वा./७/१/६/५३४/१)

पु.सि.उ./४२ आत्मपरिणामहिंसनं हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥ =आत्म परिणामोंका हनन करनेसे असत्यादि सब हिंसा ही हैं। असत्य वचन आदि ग्रहण तो केवल शिष्य जनोंको उस हिंसाका बोध कराने मात्रके लिए है।

ज्ञा./८/७,३०,३१,४२ सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम्। शीलैश्चर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥ ७ ॥ एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम्। यज्जन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्ध्या दृढं व्रतम् ॥ ३० ॥ श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च। अहिंसालक्षणो धर्मः तद्विपक्षश्च पातकम् ॥ ३१ ॥ तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां। सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥ ४२ ॥ =अहिंसा महाव्रत सत्यादिक अगले ४ महाव्रतोंका तो कारण है, क्योंकि वे बिना अहिंसाके नहीं हो सकते। और शीलादि उत्तर गुणोंकी चर्याका स्थान भी अहिंसा ही है ॥ ७ ॥ वही तो समय अर्थात् उपदेशका सर्वस्व है, और वही सिद्धान्तका रहस्य है, जो जीवोंके समूहकी रक्षाके लिए हो। एवं वही भाव शुद्धिपूर्वक दृढव्रत है ॥ ३० ॥ समस्त मतोंके शास्त्रोंमें यही सुना जाता है, कि अहिंसा लक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करना ही पाप है ॥ ३१ ॥ तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान और दान करना तथा सत्य, शील व्रतादिक जितने भी उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसा ही है ॥ ४२ ॥ (ज्ञा./९/२)

३. व्रतके बिना अहिंसक भी हिंसक है

पु. सि. उ./ ४८ हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा। तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥ =हिंसामें विरक्त न होना हिंसा है और हिंसारूप परिणमना भी हिंसा होती है। इसलिए प्रमादके योगमें निरन्तर प्राण घातका सद्भाव है।

प्र.सा./त.प्र./२१७ प्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविना-प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभाव-प्रसिद्धेः। =प्राणके व्यपरोपका सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला

अशुद्धोपयोग जिसके पाया जाता है उसके हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है।

४. निश्चय व्यवहार अहिंसा समन्वय

१. सर्वत्र जीवोंके सद्भावमें अहिंसा कैसे पले

भ.आ./मू./१०१२-१०१३ कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये। कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण वज्झदि ॥१०१२॥ जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये। जदं भुंजेज्ज भासेज एवं पावं ण वज्झई ॥१०१३॥ =प्रश्न—इस प्रकार कहे गये क्रमकर जीवोंसे भरे इस जगत्में साधु किस तरह गमन करे, कैसे तिष्ठै, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे भोजन करे, कैसे बोले, कैसे पापसे न बन्धे? उत्तर—यत्नाचारसे गमन करे, यत्नसे तिष्ठे, पीछीसे शोधकर यत्नसे बैठे, शोधकर रात्रिमें यत्नसे सोवे, यत्नसे दोष रहित आहार करे, भाषा समितिपूर्वक यत्नसे बोले। इस प्रकार पापसे नहीं बन्ध सकता।

रा.वा./७/१३/१२/५४१/५ में उद्धृत—"जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च। जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः। सोऽत्राव-काशो न लभते। भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात्। किंच सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात्। सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः। ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः। =प्रश्न—जलमें, स्थलमें और आकाशमें सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं। इस जन्तुमय जगत्में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है?" उत्तर—इस शंकाको यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि, ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त भिक्षुको मात्र प्राणवियोगसे हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जीव भी सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकारके हैं। उनमें जो सूक्ष्म हैं वे तो न किसीसे रुकते हैं, और न किसीको रोकते हैं, अतः उनकी तो हिंसा होती नहीं है। जो स्थूल जीव हैं उनकी यथा शक्ति रक्षा की जाती है। जिनकी हिंसाका रोकना शक्य है उसे प्रयत्न पूर्वक रोकनेवाले संयतके हिंसा कैसे हो सकती है?

सा.ध./४/२२-२३ कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्। नित्योदयां दयां कुर्यात्पापध्वान्तरविप्रभां ॥२२॥ विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत। भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यतां ॥२३॥ =अहिंसाणुव्रतको निर्मल करनेकी इच्छा रखनेवाला श्रावक कषाय, विकथा, निद्रा, मोह, और इन्द्रियोंके विधिपूर्वक निग्रह करनेसे पापरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यकी प्रभाके समान, तथा नित्य है उदय जिसका, ऐसी दयाको करो ॥२२॥ यदि परिणाम ही है एक प्रधान कारण जिनका ऐसे बन्ध और मोक्ष न होते, अर्थात् यदि बन्ध और मोक्षके प्रधान कारण परिणाम या भाव न होते तो चारों तरफसे जीवोंके द्वारा भरे हुए संसारमें कहींपर भी चेष्टा करनेवाला कोई भी मुमुक्षु पुरुष मोक्षको प्राप्त न कर सकता।

२. निश्चय अहिंसाको अहिंसा कहनेका कारण

प.प्र./टी./२/१२५ रागाद्यभावो निश्चयेनाहिंसा भण्यते। कस्मात्। निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणात्। =रागादिके अभावको निश्चयसे अहिंसा कहते हैं; क्योंकि, यह निश्चय शुद्ध चैतन्यप्राणकी रक्षाका कारण है।

*** अन्तरंग व बाह्य हिंसाका समन्वय** —दे० हिंसा।

अहित—अहित सम्भाषणकी इष्टता अनिष्टता। दे० सत्य/२

अहींद्र—मध्य लोकमें अन्तिम द्वितीय सागर व द्वीप। —दे० लोक/५

अहेतुमत्—सू.पा./पं. जयचन्द/६ जो सर्वज्ञकी आज्ञा ही करि केवल प्रमाणता मानिए सो अहेतुमत है।

अहेतु समा—न्या.सू./मू. व भा./५/१/१८ त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतु-समः ॥१८॥ हेतुः साधनं तत्साध्यात् पश्चात्सह वा भवेत्। यदि पूर्वं साधनमस्ति असति साध्ये कस्य साधनम्। अथ पश्चात्, असति साधने कस्येदं साध्यम्। अथ युगपत्साध्यसाधने। द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति हेतुरहेतुना न विशिष्यते। अहेतुना साधर्म्यात् प्रत्यवस्थानमहेतुसमः। =तीनों कालमें वृत्तिताके असिद्ध हो जानेसे अहेतुसमा जाति होती है। अर्थात् साध्यस्वरूप अर्थके साधन करनेमें हेतुका तीनों कालोंमें वर्तना नहीं बननेसे प्रत्यवस्थान देनेपर अहेतुसमा जाति होती है। जैसे—हेतु क्या साध्यसे पूर्वकालमें वर्तता है, अथवा क्या साध्यसे पश्चात् उत्तरकालमें वर्तता है अथवा क्या दोनों साथ-साथ वर्तते हैं? प्रथम पक्षके अनुसार साधनपना नहीं बनता क्योंकि साध्य अर्थके बिना यह किसका साधन करेगा। द्वितीय पक्षमें साध्यपना नहीं बनता, क्योंकि साधनके अभावमें वह किसका साध्य कहलायेगा। तृतीय पक्षमें किसी एक विवक्षितमें ही साधन या साध्यपना युक्त नहीं होता, क्योंकि, ऐसी अवस्थामें किसको किसका साधन कहें और किसको किसका साध्य। (श्लो.वा ४/न्या. ३६५/५१४/१६)

अहोरात्रि—काल प्रमाणका एक भेद। —दे० गणित I/१।

[आ]

आंत—दे० अंतड़ी।

आंतरा—न्या.वि./वृ./१/१३/२०१/२६ अन्तश्चेतसि भवा आन्तराः।

आंदोलन करण—दे० अश्वकर्णकरण।

आंध्र—१. मध्य आर्यखण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४। २. (म.पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)—गोदावरी व कृष्णा नदीके बीचका क्षेत्र। इसकी राजधानी अन्ध्र नगर (वेंगी) थी। इसका अधिकांश भाग भाग्यपुर (हैदराबाद) में अन्तर्भूत है। इसीको त्रैलिंग (तैलंगा) देश भी कहते हैं। ३. (ध.१/प्र.३२/ H.L. Jain) सितारा जिलेका वह भाग भी आन्ध्र देशमें ही था जिसमें आज वेण्या नदी बहती है, तथा जिसमें महिमानगढ़ नामका ग्राम है।

आंध्र वंश—(ध.१/प्र.३२/ H.L. Jain) इस वंशका राज्यकाल ई० पू० २३२-२२५ (वी.नि. २६४-३०१) अनुमान किया जाता है।

आंवली—व्रत विधान संग्रह। पृ. २६ रसोंके बिना नीरस केवल एक अन्न जलके साथ लेना 'आँवली' आहार है।

आंसिक—भरत क्षेत्रके दक्षिण आर्यखण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४।

आ—(स.सि./५/६/२७२/२) 'आङ्' अयमभिविध्यर्थः। ='आङ्' यह अभिविधि अर्थमें आया है। (अर्थात् 'आ' पद 'तक' अर्थमें सीमाका प्रयोजक है।)

आकंपित—आलोचनाका एक दोष। —दे० आलोचना/२।

आकर—म.पु./भाषाकार/१६/१७६ जहाँपर सोने चाँदी आदिकी खान हुआ करती है उस स्थानको 'आकर' कहते हैं।

आकस्मिक भय—दे० भय।

आकांक्षा—१. इच्छाके अर्थमें आकांक्षा—दे० अभिलाषा; २. साकांक्ष व निराकांक्ष अनशन—दे० अनशन; ३. निःकांक्षित अंग—दे० निःकांक्षित।

आकार—इस शब्दका साधारण अर्थ यद्यपि वस्तुओंका संस्थान होता है, परन्तु यहाँ ज्ञान प्रकरणमें इसका अर्थ चेतन प्रकाशमें प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंकी विशेष आकृतिमें लिया गया है और अध्यात्म प्रकरणमें देशकालावच्छिन्न सभी पदार्थ साकार कहे जाते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. आकारका लक्षण—(ज्ञानज्ञेय विकल्प व भेद)

रा.वा/१/१२/१/५३/६ आकारो विकल्पः। =आकार अर्थात् विकल्प (ज्ञानमें भेद रूप प्रतिभास)।

क.पा.१/१,१५/§३०१/३३१/१ पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो। =प्रमाणसे पृथग्भूत कर्मको आकार कहते हैं। अर्थात् प्रमाणमें (या ज्ञानमें) अपनेसे भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है उसे आकार कहते हैं।

क.पा.१/१,१५/§३०७/३३८/३ आयारो कम्मकारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं। =सकल पदार्थोंके समुदायसे अलग होकर बुद्धिके विषय भावको प्राप्त हुआ कर्मकारण आकार कहलाता है। (ध.१३/५,५,१९/२०७/७)

म.पु./२४/१०२ भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्था···॥१०२॥ =घट पट आदिकी व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तुके भेद ग्रहण करनेको आकार कहते हैं।

द्र.सं./टी./४३/१८६/६ आकारं विकल्पं;···केन रूपेण। शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादि। =विकल्पको आकार कहते हैं। वह भी किस रूपसे? 'यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बड़ा है, यह छोटा है, यह घट है, यह पट है' इत्यादि। —दे० आकार/२/१,२,३ (ज्ञेयरूपेण ग्राह्य)।

२. उपयोगके साकार अनाकार दो भेद

त.सू./२/९ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥ =वह उपयोग क्रमसे दो प्रकार, आठ प्रकार व चार प्रकार है।

स.सि./२/९/१६३/७ स उपयोगो द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः···दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः। =वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है। (नि.सा./मू./१०), (पं.का/मू./४०), (न.च.वृ./११६); (त.सा./२/४६); (द्र.सं./-मू./४)।

पं.सं./प्रा./१/१७८···। उवओगो सो दुविहो सागारो चेव अणागारो। —उपयोग दो प्रकारका है—साकार और अनाकार। (स.सि./२/९/-१६३/१०), (रा.वा/२/९/१/१२२/३०), (ध.२/१,१/४२०/१), (ध.१३/५,५,-१९/२०७/४), (गो.जी./मू.६७२), (पं.सं./सं./१/३३२)।

३. साकारोपयोगका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/१७९ मइसुइओहिमणेहि य जं सयविसयं विसेसविण्णाणं। अंतोमुहुत्तकालो उवओगो सो हु सागारो॥१७९॥ =मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानके द्वारा जो अपने-अपने विषयका विशेष विज्ञान होता है, उसे साकार उपयोग कहते हैं। यह अन्तर्मुहूर्तकाल तक होता है॥१७९॥

क.पा.१/१,१५/§३०७/३३८/४ तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं। =उस आकारके साथ जो पाया जाता है वह साकार उपयोग कहलाता है। (ध.१३/५,५,१९/२०७/७)

४. अनाकार उपयोगका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/१८० इंदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसिऊण जं गहणं। अंतोमुहुत्तकालो उवओगो सो अणागारो॥१८०॥ =इन्द्रिय, मन और अवधिके द्वारा पदार्थोंकी विशेषताको ग्रहण न करके जो सामान्य अंशका ग्रहण होता है, उसे अनाकार उपयोग कहते हैं। यह भी अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है॥१८०॥

क.पा./१/१,१५/§३०७/४ तव्विवरीयं अणायारं। =उस साकारसे विपरीत अनाकार है। अर्थात् जो आकारके साथ नहीं वर्तता वह अनाकार है। (ध.१३/५,५,१९/२०७/६)।

पं.ध./उ./३९४ यत्सामान्यमनाकारं साकारं तद्विशेषभाक्। =जो सामान्य धर्मसे युक्त होता है वह अनाकार है और जो विशेष धर्मसे युक्त होता है वह साकार है।

५. ज्ञान साकारोपयोगी है

स.सि./२/९/१६३/१० साकारं ज्ञानम्। =ज्ञान साकार है। (रा.वा./२/९/१/१२३/३१), (ध.१३/५,५,१९/२०७/५) (म.पु./२४/१०१)

ध.१/१,१,११५/३५३/१० जानातीति ज्ञानं साकारोपयोगः। =जो जानता है उसको ज्ञान कहते हैं, अर्थात् साकारोपयोगको ज्ञान कहते हैं।

स.सा./आ.परि/शक्ति नं० ४ साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः। =साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्तिः।

६. दर्शन अनाकारोपयोगी है

पं.सं./प्रा./१/१३८ जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं। अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदिभण्णदे समए॥१३८॥-सामान्य विशेषात्मक पदार्थोंके आकार विशेषको ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूपसे अंशका या स्वरूपमात्रका सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमागममें दर्शन कहा गया है। (द्र.सं./मू./४३) (गो.जी./मू./४८२/८८८) (पं.सं./सं./१/२४९) (ध.१/१,१,४/९३/१४९)

स.सि./२/९/१६३/१० अनाकारं दर्शनमिति। =अनाकार दर्शनोपयोग है। (रा.वा./२/९/१/१२३/३१); (ध.१३/५,५,१९/२०७/६) (म.पु./२४/१०१)

२. शंका समाधान

१. ज्ञानको साकार कहनेका कारण

त.सा./२/११ कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्ततः। साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः॥११॥ =ज्ञानपदार्थोंको विशेष विशेष करके जानता है, इसलिए उसे साकार कहते हैं। यथार्थरूपसे ज्ञानका स्वरूप जाननेवालोंने ऐसा कहा है।

२. दर्शनको निराकार कहनेका कारण

त.सा./२/१२ यद्विशेषमकृत्वैव गृह्णीते वस्तुमात्रकम्। निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः॥१२॥ =पदार्थोंकी विशेषता न समझकर जो केवल सामान्यका अथवा सत्ता-स्वभावका ग्रहण करता है, उसे दर्शन कहते हैं। उसे निराकार कहनेका भी यही प्रयोजन है कि वह ज्ञेय वस्तुओंकी आकृति विशेषको ग्रहण नहीं कर पाता।

गो.जी./जी.प्र./४८२/८८८/१२ भावानां सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थानां आकारं-भेदग्रहणं अकृत्वा यत्सामान्यग्रहणं-स्वरूपमात्रावभासनं तत् दर्शनमिति परमागमे भण्यते। =भाव जे सामान्य विशेषात्मक बाह्यपदार्थ तिनिका आकार कहिये भेदग्रहण ताहि न करके जो सत्तामात्र स्वरूपका प्रतिभासना सोई दर्शन परमागम विषै कहा है।

पं. ध./उ./३९२-३९५ नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता। शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२ ॥ ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः। सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकार-मात्रकाः ॥ ३९५ ॥ —जो आकार न हो सो अनाकार है, इसलिए वास्तवमें ज्ञानके बिना शेष अनन्तों गुणोंमें निर्विकल्पता होती है। अतः ज्ञानके बिना शेष सब गुणोंका लक्षण अनाकार होता है ॥ ३९२ ॥ ज्ञानके बिना शेष सब गुण केवल सत् रूप लक्षणसे ही लक्षित होते हैं इसलिए सामान्य अथवा विशेष दोनों ही अपेक्षाओंसे वास्तवमें वे अनाकाररूप ही होते हैं ॥ ३९५ ॥

३. निराकार उपयोग क्या वस्तु है

ध. १३/५,५,१९/२०७/८ विसयाभावादो अणागारुवजोगो णत्थि त्ति सणिच्छयं णाणं सायारो, अणिच्छयमणागारो त्ति ण वोत्तुं सक्किज्जदे, संसय-विवज्जय-अणज्झवसायणमणायारत्तप्पसंगादो। एदं पि णत्थि, केवलिहि दंसणाभावप्पसंगादो। ण एस दोसो अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स आणायारत्तब्भुगमादो। ण अंतरंग उवजोगो वि सायारो, कत्तारादो दव्वादो पुह कम्माणुवलंभादो। ण च दोण्णं पि उवजोगाणमेयत्तं, बहिरंगंतरंगत्थविसयाणमेयत्तविरोहादो। ण च एदम्हि अत्थे अवलंबिज्जमाणे सायार अणायार उवजोगाणमसमाणत्तं, अण्णोण्णभेदेहिं पुहाणमसमाणत्तविरोहादो। —प्रश्न—साकार उपयोगके द्वारा सब पदार्थ विषय कर लिये जाते हैं, (दर्शनोपयोगके लिए कोई विषय शेष नहीं रह जाता), अतः विषयका अभाव होनेके कारण अनाकार उपयोग नहीं बनता; इसलिए निश्चय सहित ज्ञानका नाम साकार और निश्चयरहित ज्ञानका नाम अनाकार उपयोग है। यदि ऐसा कोई कहे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर संशय विपर्यय और अनध्यवसायको अनाकारता प्राप्त होती है। यदि कोई कहे कि ऐसा ही हो जाओ, सो भी बात नहीं है; क्योंकि, ऐसा माननेपर केवली जिनके दर्शनका अभाव प्राप्त होता है। (क. पा. १/१,१५/§३०६/३३७/४); (क. पा. १/१-२२/§३२७/३५८/३) उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अन्तरंगको विषय करनेवाले उपयोगको अनाकार उपयोगरूपसे स्वीकार किया है। अन्तरंग उपयोग विषयाकार होता है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, इसमें कर्ता द्रव्यसे पृथग्भूत कर्म नहीं पाया जाता। यदि कहा जाय कि दोनों उपयोग एक हैं; सो भी बात नहीं है, क्योंकि, एक (ज्ञान) बहिरंग अर्थको विषय करता है, और दूसरा (दर्शन) अन्तरंग अर्थको विषय करता है, इसलिए, इन दोनोंको एक माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि इस अर्थके स्वीकार करनेपर साकार और अनाकार उपयोगमें समानता न रहेगी, सो भी बात नहीं है; क्योंकि परस्परके भेदसे ये अलग हैं इसलिए इनमें असमानता माननेमें विरोध आता है। (क. पा. १/१-२०/§३२७/३५८/७)

★ देशकालावच्छिन्न सभी पदार्थ या भाव साकार हैं

—दे० मूर्तीक

आकाश—खाली जगह (Space) को आकाश कहते हैं। इसे एक सर्व व्यापक अखण्ड अमूर्त द्रव्य स्वीकार किया गया है। जो अपने अन्दर सर्व द्रव्योंका समानेकी शक्ति रखता है। यद्यपि यह अखण्ड है पर इसका अनुमान करानेके लिए इसमें प्रदेशों रूप खण्डोंकी कल्पना कर ली जाती है। यह स्वयं तो अनन्त है परन्तु इसके मध्य-वर्ती कुछ मात्र भागमें ही अन्य द्रव्य अवस्थित हैं। उसके इस भाग-का नाम लोक है और उससे बाहर शेष सर्व आकाशका नाम अलोक है। अवगाहना शक्तिकी विचित्रताके कारण छोटे-से लोकमें अथवा इसके एक प्रदेश पर अनन्तानन्त द्रव्य स्थित हैं।

१. भेद व लक्षण

१. आकाश सामान्य का लक्षण

त.सू./५/४,६,७,१८ नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥ निष्क्रियाणि च ॥७॥ आकाशस्यावगाहः ॥१८॥ =आकाश द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी है ॥५॥ तथा एक अखण्ड द्रव्य है ॥६॥ व निष्क्रिय है ॥७॥ और अवगाह देना इसका उपकार है ॥१८॥

पं.का./मू./९० सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च। जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं ॥९०॥ =लोकमें जीवोंको और पुद्गलोंको वैसे ही शेष समस्त द्रव्योंका जो सम्पूर्ण अवकाश देता है वह आकाश द्रव्य है।

स.सि./५/१८/२८४ जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्योपकारो वेदितव्यः॥ =अवगाहन करनेवाले जीव और पुद्गलोंको अवकाश देना आकाशका उपकार जानना चाहिए। (गो.जी./जी.प्र./६०५/१०६०/४)

रा.वा./५/१/२१-२२/४३४ आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशत इत्याकाशम् ॥२१॥ अवकाशदानाद्वा ॥२२॥ =जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायोंके साथ प्रकाशमान हों तथा जो स्वयं अपने को प्रकाशित भी करे वह आकाश है ॥२१॥ अथवा जो अन्य सर्व द्रव्योंको अवकाश दे वह आकाश है।

ध.४/१,३,१/४/७ आगासं सपदेसं तु उड्ढाधो तिरिओ वि य। खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिण-देसिदं ॥४॥ =आकाश सप्रदेशी है, और वह ऊपर, नीचे और तिरछे सर्वत्र फैला हुआ है। उसे ही क्षेत्र लोक जानना चाहिए। उसे जिन भगवान्‌ने अनन्त कहा है।

न.च.वृ./९८ चेयणरहियममुत्तं अवगाहणलक्खणं च सव्वगयं···। तं णहदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥९८॥ =जो चेतन रहित अमूर्त, सर्व द्रव्योंको अवगाह देनेवाला सर्व व्यापी है···उसको जिनेन्द्र भगवान्‌ने आकाश द्रव्य कहा है।

द्र.सं./मू./१९/५७ अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासम्··· ॥१९॥ =जो जीवादि द्रव्योंको अवकाश देनेवाला है उसको जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो। (नि.सा./ता.वृ./९/२४)

२. आकाश द्रव्योंके भेद

स.सि/५/१२/२७८ आकाशं, द्विधाविभक्तं लोकाकाशमलोकाकाशं चेति। =आकाश द्रव्य दो प्रकारका है—लोकाकाश और अलोकाकाश। (रा.वा./५/१२/१८/४५६/१०), (न.च.वृ./९८), (द्र.सं./मू./१९)

३. लोकाकाश व अलोकाकाशके लक्षण

पं.का./मू./९१ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्ण। तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥९१॥ =जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) लोकसे अनन्य हैं। अन्तरहित ऐसा आकाश उससे (लोकसे) अनन्य तथा अन्य है।

का.अ./३१ जीवादि पयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो। तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेयेण ॥३१॥ =जीवादि छः पदार्थोंका जो समूह है उसे लोक कहते हैं। और वह अधोलोक, ऊर्ध्वलोक व मध्यलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। (क.अ./मू./११६)

मू.आ./५४० लोयदि आलोयदि पल्लोयदिसल्लोयदित्ति एगत्थो। तह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ॥५४०॥ =जिस कारणसे जिनेन्द्र भगवान् कर मतिश्रुतज्ञानकी अपेक्षा साधारण रूप देखा गया है, मनःपर्यय ज्ञानकी अपेक्षा कुछ उससे भी विशेष और केवलज्ञानकी अपेक्षा सम्पूर्णरूपसे देखा गया है इसलिए वह लोक कहा जाता है।

स.सि./५/१२/२७८ धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति। ···स यत्र तल्लोकाकाशम्। ततो बहिः सर्वतोऽनन्तलोकाकाशम्। =जहाँ धर्मादि द्रव्य विलोके जाते हैं उसे लोक कहते हैं। उससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है। (ति.प./४/१३४-१३५), (रा.वा./५/१२/१८/४५६/७), (ध.४/१,३,१/१), (पं.का./त.प्र./८७/१३८), (प्र.सा./त.प्र./१२८/१८०), (न.च.वृ./९९), (द्र.सं./मू./२०), (पं.का./ता.वृ./२२/४८), (पं.ध./उ./२२), (त्रि.सा./५)

ध.१३/५,५,५०/२८८/३ को लोकः। लोक्यन्त उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः। =प्रश्न—लोक किसे कहते हैं? उत्तर—जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं। (म.प्र./४/१३), (न.च.वृ./१४२-१४३)

४. प्राणायाम सम्बन्धी आकाश मण्डल

ज्ञा.सा./५७ अग्निः त्रिकोणः रक्तः कृष्णश्च प्रभंजनः तथावृत्तः। चतुष्कोणं अपि पृथ्वी श्वेतं जलं शुद्धचन्द्राभम् ॥५७॥ =अग्नि *त्रिकोण लाल रंग, पवन गोलाकार श्याम वर्ण*, पृथ्वी चौकोण पीत वर्ण, तथा जल अर्ध चन्द्राकार शीतल चन्द्र समान होता है।

२. आकाश निर्देश

१. आकाशका आकार

आचारसार/३/२४ व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनम्। अवगाहनाहेतवश्चानन्तानन्त प्रदेशकम् ॥२४॥ =आकाश द्रव्य अमूर्त है, नित्य अवस्थित है, घनाकार चौकोर है, अवगाहनाका हेतु है अनन्तानन्त प्रदेशी है।

२. आकाशके प्रदेश

त. सू./५/९ आकाशस्यानन्ताः॥ ९॥ =आकाश द्रव्यके अनन्त प्रदेश हैं (द्र.सं./मू./२५) (नि.सा./मू./३६) (गो.जी./मू./५८७/१०२५)

प्र. सा./त. प्र./१३५/१९१ सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम्। =सर्वव्यापी अनन्तप्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे आकाश प्रदेशवान् है।

३. आकाश द्रव्यके विशेष गुण

त. सू./५/१८ आकाशस्यावगाहः॥ १८॥ =अवगाहन देना आकाशद्रव्यका उपकार है।

ध. १५/३३/७ ओगाहणलक्खणमायासदव्वं।=आकाश द्रव्यका असाधारण लक्षण अवगाहन देना है।

आ. प./२/१/१३४ आकाशद्रव्ये अवगाहनाहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति। =आकाश द्रव्यके अवगाहना हेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्वमें (विशेष) गुण हैं।

प्र. सा./त. प्र./१३३ विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य। =युगपत् सर्व द्रव्योंके साधारण अवगाहका हेतुत्व आकाशका विशेष गुण है।

४. आकाशके १६ सामान्य विशेषस्वभाव

न. च. वृ./७० इगवीसं तु सहावा दोण्हं (१) तिण्हं (२) तु सोडसा भणिया। पंचदसा पुण काले दव्वसहावा (३) य णयव्वा ॥ ७०॥ =जीव व पुद्गलके २१ स्वभाव, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यके १६ स्वभाव, तथा काल द्रव्यके १५ स्वभाव कहे गये हैं। (आ. प./अधि० ४)

न. च. वृ./टी./९० (सद्रूप, असद्रूप, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य, स्वभाव, विभाव, चैतन्य, अचैतन्य, मूर्त, अमूर्त, एक प्रदेशी, अनेक प्रदेशी, शुद्ध, अशुद्ध, उपचरित, अनुपचरित, एकान्त, अनेकान्त। इन चौबीसमें-से अनेक, भव्य, अभव्य,

विभाव, चैतन्य, मूर्त एक प्रदेशत्व, अशुद्ध। इन आठ रहित १६ सामान्य विशेष स्वभाव आकाश द्रव्यमें हैं) (आ.प./अधि० ४)

५. आकाशका आधार

स. सि./३/१/२०४ आकाशमात्मप्रतिष्ठम् । =आकाश द्रव्य स्वयं अपने आधारसे स्थित है। (स. सि./५/१२/२७७) (रा. वा./३/१/८/१६०/१६)

रा. वा./५/१२/२-४/४५४ आकाशस्यापि अन्याधारकल्पनेति चेद्, न; स्वप्रतिष्ठत्वात् ॥ २ ॥ ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराधाराभावात् ॥ ३ ॥ तथा चानवस्थानिवृत्तिः ॥ ४ ॥ =प्रश्न—आकाशका भी कोई अन्य आधार होना चाहिए? उत्तर—नहीं, वह स्वयं अपने आधारपर ठहरा हुआ है ॥ २ ॥ उससे अधिक प्रमाणवाले दूसरे द्रव्यका अभाव होनेके कारण भी उसका आधारभूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता ॥ ३ ॥ यदि किसी दूसरे आधारकी कल्पना की जाये तो उससे अनवस्था दोषका प्रसंग आयेगा, परन्तु स्वयं अपना आधारभूत होनेसे वह नहीं आ सकता है।

६. अखण्ड आकाशमें खण्ड कल्पना

रा. वा./५/८/५-६/४५०/३ एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पना उपचारतः स्यात् । उपचारश्च मिथ्योक्तिर्न तत्त्वपरीक्षायामधिक्रियते प्रयोजनाभावात् । न हि मृगतृष्णिकया मृषार्थात्मिकया जलकृत्यं क्रियते इति; तन्न; किं कारणम् । मुख्यक्षेत्रविभागात् । मुख्य एव क्षेत्रविभागः, अन्यो हि घटावगाह्यः आकाशप्रदेशः इतरावगाह्यश्चान्य इति । यदि अन्यत्वं न स्यात् व्यापित्वं व्याहन्यते ॥ ५ ॥ निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेद्;न; द्रव्यविभागाभावात् ॥ ६ ॥ =एक द्रव्य यद्यपि अविभागी है, वह घटकी तरह संयुक्त द्रव्य नहीं है। फिर भी उसमें प्रदेश वास्तविक हैं उपचारसे नहीं। घरके द्वारा जो आकाशका क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वह पटादिके द्वारा नहीं। दोनों जुदे-जुदे हैं। यदि प्रदेश भिन्नता न होती तो वह सर्व व्यापी नहीं हो सकता था। अतः द्रव्य अविभागी होकर भी प्रदेश शून्य नहीं हैं। अनेक प्रदेशी होते हुए भी द्रव्यरूपसे उन प्रदेशोंके विभाग न होनेके कारण निरवयव और अखण्ड द्रव्य माननेमें कोई बाधा नहीं है।

प्र. सा./त. प्र./१४०/१९८ अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः। यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम् । =आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है। फिर भी उसमें (प्रदेश रूप) खण्ड कल्पना हो सकती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सब परमाणुओंको अवकाश देना नहीं बनेगा। ऐसा होनेपर भी, यदि आकाशके अंश नहीं होते (अर्थात् अंश कल्पना नहीं की जाती) ऐसी मान्यता हो तो आकाशमें दो अँगुलियाँ फैलाकर बताइए कि (दो अँगुलियोंका एक क्षेत्र है या अनेक? (अर्थात् यह दो अंगुल आकाश है यह व्यवहार तभी बनेगा जबकि अखण्ड द्रव्यमें खण्ड कल्पना स्वीकार की जाये।)

द्र.सं./टी./२७/७५ निर्विभागद्रव्यस्यापि विभागकल्पनमायातं घटाकाशपटाकाशमित्यादिवदिति। =घटाकाश व पटाकाशकी तरह विभाग रहित आकाश द्रव्यकी भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई। (पं.का./त.प्र./५/१५)

७. लोक व अलोकाकाशकी सिद्धि

रा.वा./५/१८/१०-१३/४६७/२४ अजातत्वादभाव इति चेद् न; असिद्धेः ॥१०॥···द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययागुरुलघुगुणवृद्धिहानिविकल्पापेक्षया अवगाहकजीवपुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेदविवक्षया च आकाशस्य जातत्वोपपत्तेः हेतोरसिद्धिः। अथवा, व्ययोत्पादौ आकाशस्य दृश्येते। यथा चरमसमयस्यासर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वेनोत्पादस्तथोपलब्धेः असर्वज्ञत्वेन व्ययस्तथानुपलब्धेः; एवं चरमसमयस्यासर्वज्ञस्य साक्षादनुपलभ्यमाकाशं सर्वज्ञत्वोपपत्तौ उपलभ्यत इति उपलभ्यत्वेनोत्पन्नमनुपलभ्यत्वेन च विनष्टम् । अनावृत्तिराकाशमिति चेद; न; नामवद् तत्सिद्धेः ॥११॥···यथा नाम वेदनादि अमूर्तत्वाद् अनावृत्यपि सदस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथा आकाशमपि वस्तुभूतमित्यवसेयम् । शब्दलिङ्गत्वादिति चेद; नः पौद्गलिकत्वात् ॥१२॥ प्रधान विकार आकाशमिति चेद; नः तत्परिणामाभावाद् आत्मवद् ॥१३॥ =प्रश्न—आकाश उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उसका अभाव है? उत्तर—आकाशको अनुत्पन्न कहना असिद्ध है। क्योंकि द्रव्यार्थिककी गौणता और पर्यायार्थिककी मुख्यता होनेपर अगुरुलघु गुणोंकी वृद्धि और हानिके निमित्तसे स्वप्रत्यय उत्पाद व्यय और अवगाहक जीव पुद्गलोंके परिणमनके अनुसार परप्रत्यय उत्पाद व्यय आकाशमें होते ही रहते हैं। जैसे—कि अन्तिम समयमें असर्वज्ञताका विनाश होकर किसी मनुष्यको सर्वज्ञता उत्पन्न हुई हो तो आकाश पहले अनुपलभ्य था वही पीछे सर्वज्ञको उपलभ्य हो गया। अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट होकर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ ॥१०॥ =प्रश्न—आकाश आवरणाभाव मात्र है? उत्तर—नहीं किन्तु वस्तुभूत है। जैसे कि नाम और वेदनादि अमूर्त होनेसे अनावरण रूप होकर भी सत् हैं, उसी तरह आकाश भी / ॥११॥ प्रश्न—अवकाश देना यह आकाशका लक्षण नहीं है? क्योंकि उसका लक्षण शब्द है। उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि शब्द पौद्गलिक है और आकाश अमूर्तिक। प्रश्न—आकाश तो प्रधानका विकार है? उत्तर—नहीं क्योंकि नित्य तथा निष्क्रिय व अनन्त रूप प्रधानके आत्माकी भान्ति विकार ही नहीं हो सकता। (विशेष दे० त. सा./१/परि०/पृ. १६६/शोलापुर वाले पं० वंशीधर)।

पं. ध./उ./२३ सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः। व्योममात्रावशेषत्वाद् व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥२३॥ =वह अलोक भी सम्पूर्ण छहों द्रव्योंसे शून्य नहीं है किन्तु आकाश मात्र शेष रहनेसे वह अन्य पाँच द्रव्योंसे रहित केवल आकाशमय है।

३. अवगाहना सम्बन्धी विषय

१. अवगाहना गुण आकाशमें ही है अन्य द्रव्यमें नहीं तथा हेतु

प्र.सा./त.प्र./१३३ विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य···एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम् । तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसम्भवदाकाशमधिगमयति। =युगपत् सर्व द्रव्योंके साधारण अवगाहका हेतुत्व आकाशका विशेषगुण है।···इस प्रकार अमूर्त द्रव्योंके विशेष गुणोंका ज्ञान होनेपर अमूर्त द्रव्योंको जाननेके लिए लिंग प्राप्त होते हैं। (अर्थात् विशेष गुणोंके द्वारा अमूर्त द्रव्योंका ज्ञान होता है)···वहाँ एक ही कालमें समस्त द्रव्योंके साधारण अवगाहका संपादन (अवगाह हेतुत्व रूप लिंग) आकाशको बतलाता है, क्योंकि शेष द्रव्योंके सर्वगत न होनेसे उनके यह सम्भव नहीं है।

२. लोकाकाश में अवगाहना गुणका माहात्म्य

ध. ४/१,३,२/२४/२ तम्हा ओगाहणलक्खणेण सिद्धलोगागासस्स ओगाहणमाहप्पमाइरियपरंपरागदोवदेसेण भणिस्सामो। तं जहा-उस्सेहघणंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्ते खेत्ते सुहुमणिगोदजीवस्स जहण्णोगाहणा भवदि। तम्हि ट्ठिदघणलोगमेत्तजीवपदेसेसु पडिपदेसमभवसिद्धिएहि अणंतगुणा सिद्धाणमणंतभागमेत्ता होदूण ट्ठिदओरालियसरीरपरमाणूणं तं चेव खेत्तभोगासं जादि। पुणो ओरालियसरीरपरमाणूहितो

अणंतगुणाणं तेजइयसरीरपरमाणूणं पि तम्हि चेव खेत्ते ओगाहणा भवदि।···तेजइयपरमाणूहिंतो अणंतगुणा कम्मइयपरमाणू तेणेव जीवेण मिच्छत्तादिकारणेहिं संचिदापडिपदेसमभवसिद्धिएहि अणंतगुणा सिद्धाणमणंतभागमेत्ता तत्थ भवंति, तेसिं पि तम्हि चेव खेत्ते ओगाहणा भवदि। पुणो ओरालिय-तेजा-कम्मइय-विस्ससोवचयाणं पडिवक्कं सव्वजीवेहि अणंतगुणाणं पडिपरमाणुम्हि तत्तियमेत्ताणं तम्हि चेव खेत्ते ओगाहणा भवदि। एवमेगजीवेणच्छिददअंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्ते जहण्णखेत्तम्हि समाणोगाहणा होदूण विदिओ जीवो तत्थेव अच्छदि। एवमणंताणंताणं समाणोगाहणाणं जीवाणं तम्हि चेव खेत्ते ओगाहणा भवदि। तदो अवरो जीवो तम्हि चेव मज्झिमपदेसमंतिमं काऊण उववण्णो। एदस्स वि ओगाहणाए अणंताणंता जीवा समाणोगाहणा अच्छंति त्ति पुव्वं व परूवेदव्वं। एवमेगेगपदेसा सव्वदिसासु वड्ढावेदव्वा जाव लोगो आवुण्णो त्ति। —अब हम अवगाहन लक्षणसे प्रसिद्ध लोकाकाशके अवगाहन माहात्म्यको आचार्य परम्परागत उपदेशके अनुसार कहते हैं। वह इस प्रकार है—उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्रमें सूक्ष्म निगोदिया जीवकी जघन्य अवगाहना है। उस क्षेत्रमें स्थित घनलोक मात्र जीवके प्रदेशोंमें-से प्रत्येक प्रदेशपर अभव्यसिद्धोंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भाग मात्र होकरके स्थित औदारिक शरीरके परमाणुओंका वही क्षेत्र अवकाशपनेको प्राप्त होता है। पुनः औदारिक शरीरके परमाणुओंसे अनन्तगुणे तैजस्कशरीरके परमाणुओंकी भी उसी क्षेत्रमें अवगाहना होती है। तैजस परमाणुओंसे अनन्तगुणे उस ही जीवके द्वारा मिथ्यात्व, अविरति आदि कारणोंसे संचित और प्रत्येक प्रदेशपर अभव्य सिद्धोंसे अनंतगुणे तथा सिद्धोंके अनन्तवें भाग मात्र कर्म परमाणु उस क्षेत्रमें रहते हैं। इसलिए उन कर्म परमाणुओंकी भी उस ही क्षेत्रमें अवगाहना होती है। पुनः औदारिक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीरके विस्रसोपचयोंका जो कि प्रत्येक सर्व जीवोंसे अनन्तगुणे हैं और प्रत्येक परमाणुपर उतने ही प्रमाण हैं। उनकी भी उसी ही क्षेत्रमें अवगाहना होती है। इस प्रकार एक जीवसे व्याप्त अंगुलके असंख्यातवें भागमात्र उसी जघन्य क्षेत्रमें समान अवगाहना वाला होकरके दूसरा जीव भी रहता है। इसी प्रकार समान अवगाहना वाले अनन्तानन्त जीवोंकी उसी ही क्षेत्रमें अवगाहना होती है। तत्पश्चात् दूसरा कोई जीव उसी क्षेत्रमें उसके मध्यवर्ती प्रदेशको अपनी अवगाहनाका अन्तिम प्रदेश करके उत्पन्न हुआ। इस जीवको भी अवगाहनामें समान अवगाहनावाले अनन्तानन्त जीव रहते हैं। इस प्रकार यहाँ भी पूर्व के समान प्ररूपणा करनी चाहिए। इस प्रकार लोकके परिपूर्ण होने तक सभी दिशाओंमें लोकका एक एक प्रदेश बढ़ाते जाना चाहिए।

३. लोक/असं० प्रदेशोंपर एकानेक जीवोंके अवस्थान सम्बन्धी

त.सू./५/१५ (लोकाकाशस्य) असंख्येयभागादिषु जीवानाम् (अवगाहः)। जीवोंका अवगाह लोकाकाशके असंख्यातवें भागको आदि लेकर सर्वलोक पर्यन्त होता है।

रा.वा./५/१५/३-४/४५७/३१ लोकस्य प्रदेशाः असंख्येया भागाः कृताः, तत्रैकस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते। तथाद्वित्रिचतुरादिष्वपि असंख्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाहः प्रत्येतव्यः। नानाजीवानाम् तु सर्वलोक एव।···असंख्येयस्याऽसंख्येयविकल्पत्वात्। अजघन्योत्कृष्टासंख्येयस्या हि असंख्येय विकल्पाः। अतोऽवगाहविकल्पो जीवानां सिद्धः।

रा.वा./५/८/४/४४९/३३ जीवः तावत्प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महद्वा अधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते। यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशाः व्यवतिष्ठन्ते, इतरे प्रदेशाः ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्यश्नुवते। —लोकके असंख्यात प्रदेश हैं, उनके असंख्यात भाग किये जायें। एक असंख्येय भागमें भी जीव रहता है तथा दो तीन चार आदि असंख्येय भागोंमें और सम्पूर्ण लोकमें जीवों का अवगाह समझना चाहिए। नाना जीवोंकी अवगाह तो सर्व लोक है। असंख्यातके भी असंख्यात विकल्प हैं। और अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयके असंख्येय विकल्प हैं अतः जीवोंके अवगाहमें भेद भी हो जाता है। तथा जीवके असंख्यातप्रदेशी होनेपर भी संकोच-विस्तार शील होनेसे कर्मके अनुसार प्राप्त छोटे या बड़े शरीरमें तत्प्रमाण होकर रहता है। जब इसकी समुद्घात कालमें लोकपूरण अवस्था होती है तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वतके नीचे चित्र और वज्रपटलके मध्यके आठ प्रदेशोंपर स्थित हो जाते हैं, बाकी प्रदेश ऊपर नीचे चारों ओर फैल जाते हैं।

४. अवगाहना गुणकी सिद्धि

स.सि./५/१८/२८४ यद्यवकाशदानमस्य स्वभावो वज्रादिभिर्लोष्टादीनां भित्त्यादिभिर्गवादीनां च व्याघातो न प्राप्नोति। दृश्यते च व्याघातः। तस्मादस्यावकाशदानं हीयते इति। नैष दोषः, वज्रलोष्टादीनां स्थूलानांपरस्पर व्याघात इति नास्यावकाशदानसामर्थ्यं हीयते तत्रावगाहिनामेव व्याघातात्। वज्रादयः पुनः स्थूलत्वात्परस्परं प्रत्यवकाशदानं न कुर्वन्तीति नासावाकाशदोषः। ये खलु पुद्गलाः सूक्ष्मास्ते परस्परं प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्ति। यद्येवं नेदमाकाशस्यासाधारणं लक्षणम्; इतरेषामपि तत्सद्भावादिति। तन्न; सर्वपदार्थानां साधारणावगाहनहेतुत्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोषः। अलोकाकाशे तद्भावादभाव इति चेत्; न; स्वभावापरित्यागात्। —प्रश्न—यदि अवकाश देना अवकाशका स्वभाव है तो वज्रादिकसे लोढा आदिका और भीत आदिसे गाय आदिका व्याघात नहीं प्राप्त होता, किन्तु व्याघात तो देखा जाता है इससे मालूम होता है कि अवकाश देना आकाश का स्वभाव नहीं ठहरता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वज्र और लोढा आदिक स्थूल पदार्थ हैं इसलिए इनका आपसमें व्याघात है, अतः आकाशकी अवगाह देने रूप सामर्थ्य नहीं नष्ट होती। यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करनेवाले पदार्थोंका ही है। तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्परमें अवकाश नहीं देते हैं यह कुछ आकाशका दोष नहीं है। हाँ जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं। प्रश्न—यदि ऐसा है तो यह आकाशका असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे पदार्थोंमें भी इसका सद्भाव पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि आकाश द्रव्य सब पदार्थोंको अवकाश देनेमें साधारण कारण है यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है। प्रश्न—अलोकाकाशमें अवकाश देने रूप स्वभाव नहीं पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाशका स्वभाव नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभावका त्याग नहीं करता।

रा.वा./५/१/२३/४३४/६ अलोकाकाशस्यावकाशदानाभावात्तदभाव इति चेत्; न; तत्सामर्थ्याविरहात्।२३।···क्रियानिमित्तत्वेऽपि रूढिविशेषबललाभात् गोशब्दवत् तदभावेऽपि प्रवर्तते। —प्रश्न—अलोकाकाशमें द्रव्योंका अवगाहन न होनेसे यह उसका स्वभाव घटित नहीं होता? उत्तर—शक्तिकी दृष्टिसे उसमें भी आकाशका व्यवहार होता है। क्रियाका निमित्तपना होनेपर भी रूढि विशेषके बलसे भी अलोकाकाशको आकाश संज्ञा प्राप्त हो जाती है, जिस प्रकार बैठी हुई गऊमें चलन क्रियाका अभाव होनेपर भी चलन शक्तिके कारण गौ शब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

गो.जी./जी.प्र./६०५/१०६०/५ ननु क्रियावतोरवगाहिजीवपुद्गलयोरेवावकाशदानं युक्तं धर्मादीनां तु निष्क्रियाणां नित्यसंबद्धानां तत् कथम्?

इति तत्र उपचारेण तत्सिद्धेः। यथा गमनाभावेऽपि सर्वगतमाकाशमित्युच्यते सर्वत्र सद्भावात् तथा धर्मादीनां अवगाहनक्रियाया अभावेऽपि सर्वत्र दर्शनात् अवगाह इत्युपचर्यते। =प्रश्न—जो अवगाह क्रियावान तौ जीव पुद्गल हैं तिनिको अवकाश देना युक्त कहा। बहुरि धर्मादिक द्रव्य तो निष्क्रिय हैं, नित्य सम्बन्धको धरैं हैं नवीन नाहीं आये जिनको अवकाश देना सम्भवै। ऐसे इहाँ कैसे कहिये सो कहौ? उत्तर—जो उपचार करि कहिये हैं जैसे गमनका अभाव होते संतै भी सर्वत्र सद्भावकी अपेक्षा आकाशको सर्वगत कहिये तैसे धर्मादि द्रव्यनिकैं अवगाह क्रियाका अभाव होतै संतै भी लोक विषै सर्वत्र सद्भावकी अपेक्षा अवगाहका उपचार कीजिये है। (स. सि/५/१८/२८४/३) (रा. वा/५/१८/२/४६६/१८)।

५. असं० प्रदेशी लोकमें अनन्त द्रव्योंके अवगाहकी सिद्धि

स. सि./५/१०/२७५ स्यादेतदसंख्यातप्रदेशो लोकः अनन्तप्रदेशस्यानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधः......नैष दोषः; सूक्ष्मपरिणामावगाहशक्तियोगात्। परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते; अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहतास्ति। तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते। [नायमेकान्तः—अल्पेऽधिकरणे महद्द्रव्यं नावतिष्ठते इति···प्रचयविशेषः संघातविशेषः इत्यर्थः।···संहतविसर्पितचम्पकादिगन्धादिवत्। ६/रा.वा.] =प्रश्न—लोक असंख्यात प्रदेशवाला है इसलिए वह अनन्त प्रदेशवाले और अनन्तानन्त प्रदेशवाले स्कन्धका आधार है इस बातके माननेमें विरोध आता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अवगाहन शक्तिके निमित्तसे अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्धोंका आकाश आधार हो जाता है। सूक्ष्म रूपसे परिणत हुए परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशमें अनन्तानन्त ठहर जाते हैं। इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है। इसलिए आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त पुद्गलोंका अवस्थान विरोधको प्राप्त नहीं होता। फिर यह कोई एकान्तिक नियम नहीं है कि छोटे आधारमें बड़ा द्रव्य ठहर ही नहीं सकता हो। पुद्गलोंमें विशेष प्रकार सघन संघात होनेसे अल्प क्षेत्रमें बहुतोंका अवस्थान हो जाता है जैसे कि छोटी-सी चम्पाकी कलीमें सूक्ष्म रूपसे बहुत-से गन्धावयव रहते हैं, पर वे ही जब फैलते हैं तो समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लेते हैं। (रा. वा./५/१०/३–६/४५३/१४)

स. सि./५/१४/२७६ अवगाहनस्वभावत्वात्सूक्ष्मपरिणामाच्च मूर्तिमतामप्यवगाहो न विरुध्यते एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाशावस्थानवत्। आगमप्रामाण्याच्च तथाऽध्यवसेयम्। =(पुद्गलोंका) अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूपसे परिणमन हो जाता है इसलिए एक मकानमें जिस प्रकार अनेक दीपकोंका प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार मूर्तमान पुद्गलोंका एक जगह अवगाह विरोधको प्राप्त नहीं होता तथा आगम प्रमाणसे यह बात जानी जाती है। (रा. वा./५/१४/४–६/४२७)

रा. वा./५/१५/५/४५८/७ प्रमाणविरोधादवगाहायुरिति चेत्।···तन्न; किं कारणम्। जीवद्वैविध्यात्। द्विविधा जीवाः बादराः सूक्ष्माश्चेति। तत्र बादराः सप्रतिघातशरीराः। सूक्ष्मा जीवाः सूक्ष्मपरिणामादेव सशरीरत्वेऽपि परस्परेण बादरैश्च न प्रतिहन्यन्त इत्यप्रतिघातशरीराः। ततो यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रानन्तानन्ताः साधारणशरीराः वसन्ति। बादराणां च मनुष्यादीनां शरीरेषु संस्वेदजसंमूर्च्छनजादीनां जीवानां प्रतिशरीरं बहूनामवस्थानमिति नास्त्यवगाहविरोधः। यदि बादरा एव जीवा अभविष्यन्नपि तर्हि अवगाहविरोधोऽजनिष्यत। कथं सशरीरस्यात्मनोऽप्रतिघातत्वमिति चेत्। दृष्टत्वात्। दृश्यते हि बालाग्रकोटिमात्रछिद्ररहिते घनमहलायसभित्तितले वज्रमयकपाटे बहिः समन्ताद् वज्रलेपलिप्ते अपवरके देवदत्तस्य मृतस्य मूर्तिमज्ज्ञानावरणादिकर्मतैजसकार्मणशरीरसंबन्धित्वेऽपि गृहमभित्त्वैव निर्गमनम्, तथा सूक्ष्मनिगोतानामप्यप्रतिघातित्वं वेदितव्यम्। =प्रश्न—द्रव्य प्रमाणसे जीवराशि अनन्तानन्त है तो वह असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोकाकाशमें कैसे रह सकती है? उत्तर—जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं। बादर जीव सप्रतिघात शरीरी होते हैं पर सूक्ष्म जीवोंका सूक्ष्म परिणमन होनेके कारण सशरीरी होनेपर भी न तो बादरोंसे प्रतिघात होता है और न परस्पर ही। वे अप्रतिघातशरीरी होते हैं। इसलिए जहाँ एक सूक्ष्म निगोद जीव रहता है वहीं अनन्तानन्त साधारण सूक्ष्म शरीरी रहते हैं। बादर मनुष्यादिके शरीरोंमें भी संस्वेदज आदि अनेक सम्मूर्छन जीव रहते हैं। यदि सभी जीव बादर ही होते तो अवगाहमें गड़बड़ पड़ सकती थी। सशरीरी आत्मा भी अप्रतिघाती है यह बात तो अनुभव सिद्ध है। निश्छिद्र लोहेके मकानसे, जिसमें वज्रके किवाड़ लगे हों, और वज्रलेप भी जिसमें किया गया हो, मरकर जीव कार्माण शरीरके साथ निकल जाता है। यह कार्माण शरीर मूर्तिमान ज्ञानावरणादि कर्मोंका पिण्ड है। तैजस शरीर भी इसके साथ सदा रहता है। मरण कालमें इन दोनों शरीरोंके साथ जीव वज्रमय कमरेसे निकल जाता है और उस कमरेमें कहीं भी छेद या दरार नहीं पड़ती। इसी तरह सूक्ष्म निगोदिया जीवोंका शरीर भी अप्रतिघाती ही समझना चाहिए।

ध. ४/१,३,२/२२/४ कधमणंता जीवा असंखेज्जपदेसिए लोए अच्छंति।···लोग मज्झम्हि जदि होंति, तो लोगस्स असंखेज्जदिभागमेत्तेहि चेव जीवेहि होदव्वमिदि?···णेदं घडदे, पोग्गलाणं पि असंखेज्जत्तप्पसंगादो···लोगमेत्ता परमाणू भवंति,···लोगमेत्तपरमाणूहि कम्म-सरीर-घड-पड-त्थंभादिसु एगो वि ण णिप्पज्जदे, अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमेण विणा एक्किस्से ओसण्णासण्णियाए वि संभवाभावा। होदु चे ण, सयलपोग्गलदव्वस्स अणुवलद्धिप्पसंगादो, सव्वजीवाणमक्कमेण केवलणाणुप्पत्तिप्पसंगादो च। एवमइप्पसंगो मा होदि त्ति अवगेज्झमाणजीवाजीवसत्तण्णहाणुववत्तीदो अवगाहणधम्मिओ लोगागासो त्ति इच्छिदव्वो खीरकुम्भस्स मधुकंभो व्व। =प्रश्न—असंख्यात प्रदेशवाले लोकमें अनन्त संख्यावाले जीव कैसे रह सकते हैं?···यदि लोकके मध्यमें जीव रहते हैं (अलोकमें नहीं) तो वे लोकके असंख्यातवें भाग मात्रमें हो होने चाहिए? उत्तर—शंकाकारका उक्त कथन घटित नहीं होता, क्योंकि उक्त कथनके मान लेनेपर पुद्गलोंके भी असंख्यातपनेका प्रसंग आता है।···अर्थात् लोकाकाशके प्रदेश प्रमाण हो परमाणु होंगे···तथा उन लोक प्रमाण परमाणुओंके द्वारा कर्म, शरीर, घट, पट और स्तम्भ आदिकोंमें-से एक भी वस्तु निष्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायका समागम हुए बिना एक अवसन्नासन्न संज्ञक भी स्कन्ध होना सम्भव नहीं है। प्रश्न—एक भी वस्तु निष्पन्न नहीं होवे, तो भी क्या हानि है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर समस्त पुद्गल द्रव्यकी अनुपलब्धिका प्रसंग आता है, तथा सर्व जीवोंके एक साथ ही केवलज्ञानको उत्पत्तिका भी प्रसंग प्राप्त होता है। (क्योंकि इतने मात्र परमाणुओंसे यदि किसी प्रकार सम्भव भी हो तो भी एक हो जीवका कार्माण शरीर बन पायेगा अन्य सर्व जीव कर्मरहित हो जायेंगे)···इस प्रकार अतिप्रसंग दोष न आवे, इसलिए अवगाह्यमान जीव और अजीव द्रव्योंकी सत्ता अन्यथा न बननेसे क्षीर कुम्भका मधुकुम्भके समान अवगाहन धर्मवाला लोकाकाश है, ऐसा मान लेना चाहिए।

ध.३/१,२,४५/२५८/१ ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ एत्तियमेत्तमणुसपज्जत्तरासिम्हि संखेज्जपदरंगुलेहिं गुणिदे माणुसखेत्तादो संखेज्जगुणत्तप्पसंगा।···संखेज्जुसेहंगुलमेत्तोगाहणो मणुसपज्जत्तरासी सम्मादि त्ति णासंकणिज्जं, सव्वुक्कस्सोगाहणमणुसपज्जत्तरासिम्हि

संखेज्जपमाणपदरंगुलमेत्तोगाहणगुणगारमुहविरथारुवलंभादो । —प्रश्न—७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ इतनी मनुष्य पर्याप्त राशिको संख्यात प्रतरांगुलों (मनुष्योंका निवास क्षेत्र) से गुणा किया जाये तो उस प्रमाणको मनुष्य क्षेत्रसे (४५ लाख योजन व्यास—१६००१०३०६५४६० १$\frac{1}{2}$$\frac{8}{६८}$ वर्ग योजन—९४४२५१०४९९८१९४३४—००००००००० प्रतरांगुल। इसमें-से दो समुद्रोंका क्षेत्रफल घटानेपर शेष—६११९७०८४६६६८१६४१६२०००००००० प्रतरांगुल। अन्तर्दीप तो हैं पर उनमें मनुष्य अत्यल्प होनेसे विवक्षामें नहीं लिये) संख्यात गुणाका प्रसंग आ जावेगा।...उसमें संख्यात उत्सेधांगुलमात्र अवगाहनासे युक्त मनुष्य पर्याप्त राशि समा जायेगी (अधिक नहीं)। उत्तर—सो ठीक नहीं, क्योंकि सबसे उत्कृष्ट अवगाहनासे युक्त मनुष्य पर्याप्त राशिमें संख्यात प्रमाण प्रतरांगुल मात्र अवगाहनाके गुणकारका मुख विस्तार पाया जाता है। (न कि सर्व मनुष्योंका)।

पं. का./ता. वृ./९०/१५० अनन्तानन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गला लोकाकाशप्रमितप्रदेशप्रमाणाः कालाणवो धर्माधर्मौ चेति सर्वे कथमवकाशं लभन्त इति। भगवानाह। एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाशवदेकगूढनागरसगद्याणके बहुसुवर्णवदेकस्मिन्नुष्ट्रीक्षीरघटे मधुघटवदेकस्मिन् भूमिगृहे जयघण्टादिवद्विशिष्टावगाहगुणेनासंख्येयप्रदेशेऽपि लोके अनन्तसंख्या अपि जीवादयोऽवकाशं लभन्त इत्यभिप्रायः। —प्रश्न—जीव अनन्तानन्त हैं, उससे भी अनन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं, लोकाकाश प्रदेश प्रमाण काल द्रव्य है, तथा एक धर्म द्रव्य व एक अधर्म द्रव्य है। असंख्यात प्रदेशी लोकमें ये सब कैसे अवकाश पाते हैं? उत्तर—एक घरमें जिस प्रकार अनेक दीपकोंका प्रकाश समा रहा है, जिस प्रकार एक छोटे-से गुटकेमें बहुत-सी सुवर्णकी राशि रहती है, उष्ट्रीके एक घट दूधमें एक शहदका घड़ा समा जाता है, तथा एक भूमिगृहमें जय-जय व घण्टादिके शब्द समा जाते हैं, उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी लोकमें विशिष्ट अवगाहन शक्तिके कारण जीवादि अनन्त पदार्थ सहज अवकाश पा लेते हैं। (द्र. स./मू./२०/५९)

६. एक प्रदेशपर अनन्त द्रव्योंके अवगाहकी सिद्धि

स. सि./५/१०/२७५ परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ताः अवतिष्ठन्ते। —सूक्ष्म रूपसे परिणत हुए पुद्गल परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशपर अनन्तानन्त ठहर सकते हैं। (रा. वा./५/१०/३-४/४५३) (विशेष दे० आकाश ३/५)

ध.१४/५,६,५३१/४४५/१ एगपदेसियस्स पोग्गलस्स होदु णाम एगागासपदेसे अवट्ठाणं, कथं दुपदेसिय-तिपदेसियसंखेज्जासंखेज्ज-अणंतपदेसियक्खंधाणं तत्थावट्ठाणं ण, तत्थ अणंतोगाहणगुणस्स संभवादो। तं पि कुदो णव्वदे जीव-पोग्गलाणमाणंतियण्णहाणुववत्तीदो। —प्रश्न—एक प्रदेशी पुद्गलका एक आकाश प्रदेशमें अवस्थान होवो परन्तु द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंका वहाँ अवस्थान कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं। क्योंकि वहाँ अनन्तको अवगाहन करनेका गुण सम्भव है। प्रश्न—सो भी कैसे? उत्तर—जीव व पुद्गलोंकी अनन्तपनेकी अन्यथा उपपत्ति सम्भव नहीं।

प्र. सा./त. प्र./१४०/१९८ स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां सौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः। —वह आकाशका एक प्रदेश भी बाकीके पाँच द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा परम सूक्ष्मता रूपसे परिणमे हुए अनन्त परमाणुओंके स्कन्धोंको अवकाश देनेके लिए समर्थ है।

द्र. सं./मू./२७ जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्ठद्धं। तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥ —जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणुसे रोका जाता है, उसको सर्व परमाणुओंको स्थान देनेमें समर्थ प्रदेश जानो।

आकाशगता चूलिका—दे० श्रुतज्ञान III।

आकाशगामी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

आकाश पुष्प—दे० असत्।

आकाश भूत—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

आकिंचन्य धर्म—बा. अ./७९ होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं। णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥७९॥ —जो मुनि सर्व प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होकर और सुख-दुःखके देनेवाले कर्म जनित निज भावोंको रोक कर निर्द्वन्द्वतासे अर्थात् निश्चिन्ततासे आचरण करता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है। (पं. वि./१/१०१-१०२)

स. सि./९/६/४१३ उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम्। नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः। तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्। —जो शरीरादि उपात्त हैं उनमें भी संस्कारका त्याग करनेके लिए 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग करना आकिञ्चन्य है। जिसका कुछ नहीं है वह अकिञ्चन है, और उसका भाव या कर्म आकिञ्चन्य है। (रा. वा./९/६/२१/५९८/१४) (त. सा./६/२०) (अन. ध./६/५४/६०७)

भ. आ./वि./४६/१५४/१६ अकिंचनतासकलग्रन्थत्यागः। —सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करना यह आकिंचन्य धर्म है। (का. अ./४०२)

२. आकिंचन्यधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

रा. वा./९/६/२७/५९९/२६ परिग्रहाशा बलवती सर्वदोषप्रसवयोनिः। न तस्या उपधिभिः तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह वडवायाः। अपि च, कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तम्। दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते। शरीरादिषु निर्ममत्वः परमनिर्वृत्तिमवाप्नोति। शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे। —परिग्रहकी आशा बड़ी बलवती है वह समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका स्थान है जैसे पानीसे समुद्रका बड़वानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशा-समुद्रकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशाका गड्ढा दुष्पूर है। इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समा कर मुँह बाने लगता है। शरीरादिसे ममत्व शून्य व्यक्ति परम सन्तोषको प्राप्त होता है। शरीरादिमें राग करनेवालेके सदा संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है। (पं. वि./१/८२-१०५)

रा. वा./हिं./९/६/६६६ का सारार्थ (जाकै शरीरादि विषै ममत्व नाहीं होय सो परम सुख कूं पावै है।)

* दश धर्मोंकी विशेषताएँ —दे० धर्म/८
* आकिंचन्य व शौच धर्ममें अन्तर —दे० शौच

आकृति—न्या. सू./मू. व. भा./२/२/६५/१४३ आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥६५॥ [सा च नान्यसत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियताद् व्यूहादिति।] नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गं। शिरसा पादेन गामनुमिन्वन्ति। नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति गोत्वं प्रख्यायत इति। —जिससे जाति और उसके लिंग प्रसिद्ध किये जायें उसे आकृति कहते हैं। और उसके अंगोंकी नियत रचना जातिका चिह्न है। शिर और पादोंसे गायको पहिचानते हैं। अवयवोंके प्रसिद्ध होनेसे गोत्व प्रसिद्ध होता है कि 'यह गौ है' इत्यादि।

पं. ध./पू./४८ शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च। प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥४८॥ —शक्ति लक्ष्म-लक्षण विशेषधर्मरूप गुण तथा स्वभाव प्रकृति-शील और आकृति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।

आक्रंदन—स. सि./६/११/३२६ परितापजाताश्रुपातप्रचुरविप्रलापादिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम्। —परितापके कारण जो आँसू गिरनेके साथ विलाप आदि होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन कहलाता है। (रा. वा./६/११/४/५१६/२६)

आक्रोश परिषह—स. सि./९/९/४२४ मिथ्यादर्शनोद्रिक्तामर्षपरुषावज्ञानिन्दासभ्यवचनानि क्रोधाग्निशिखाप्रवर्धनानि निशृण्वतोऽपि तदर्थेष्वसमाहितचेतसः सहसा तत्प्रतिकारं कर्तुमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाकमभिचिन्तयतस्तान्याकर्ण्य तपश्चरणभावनापरस्य कषायविषलवमात्रस्याप्यनवकाशमात्महृदयं कुर्वत आक्रोशपरिषहसहनमवधार्यते। —मिथ्यादर्शनके उद्रेकसे कहे गये जो क्रोधाग्निकी शिखाको बढ़ाते हैं ऐसे क्रोधरूप, कठोर, अवज्ञा कर, निन्दारूप और असभ्य वचनोंको सुनते हुए भी जिसका उनके विषयोंमें चित्त नहीं जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतिकार करनेमें समर्थ हैं फिर भी यह सब पाप कर्मका विपाक है इस तरह जो चिन्तवन करता है, जो उन शब्दोंको सुनकर तपश्चरणकी भावनामें तत्पर होता है और जो कषायविषके लेश मात्रको भी अपने हृदयमें अवकाश नहीं देता उसके आक्रोश परिषह सहन निश्चित होता है। (रा. वा./९/९/१७/६१०/३५) (चा. सा./१२०/४)

आक्षेपिणी कथा—दे० कथा।

आखेट—१ आखेटका निषेध

ला. सं./२/१३९ अन्तर्भावोऽस्ति तस्यापि गुणव्रतसंज्ञिके। अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥१३९॥ —शिकार खेलना बाह्य अनर्थ *क्रियाओंके समान है, इसलिए उसका त्याग अनर्थदण्ड त्याग नामके* गुणव्रतमें अन्तर्भूत हो जाता है।

२. सुखप्रदायी आखेटका निषेध क्यों ?

ला. सं./२/१४१-१४८ ननु चानर्थदण्डोऽस्ति भोगादन्यत्र याः क्रियाः। *आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं स्यात्तथाविधं।* १४१। *यथा स्रक्चन्दनं योषिद्वस्त्राभरणभोजनम्। सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियापि च*।१४२। नैवं तीव्रानुभावस्य बन्धः प्रमादगौरवात्। प्रमादस्य निवृत्त्यर्थं स्मृतं व्रतकदम्बकम् ।१४३। स्रक्चन्दनवनितादौ क्रियायां वा सुखाप्तये। भोगभावो सुखं तत्र हिंसा स्यादानुषङ्गिकी।१४४। आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद् भूरिजन्मिनः। पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा न वा क्वचित् ॥१४५॥ हिंसानन्देन तेनोच्चै रौद्रध्यानेन प्राणिनाम्। नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो जिनागमे ॥१४६॥ ततोऽवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः। त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥१४७॥ तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः। त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽसातबन्धनम् ॥१४८॥ —प्रश्न—भोगोपभोगके सिवाय जो क्रियाएँ की जाती हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं। परन्तु शिकार खेलनेसे आत्माको आनन्द प्राप्त होता है इसलिए शिकार खेलना अनर्थदण्ड नहीं है ॥१४१॥ परन्तु जिस प्रकार पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रियाँ, वस्त्राभरण भोजनादि समस्त पदार्थ आत्माको सुख देने वाले हैं उसी प्रकार शिकार खेलनेसे भी आत्माको सुख प्राप्त होता है ॥१४२॥ उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं। क्योंकि प्रमादकी अधिकताके कारण अनुभाग बन्धकी अधिक तीव्रता हो जाती है और प्रमादको दूर करनेके लिए ही सर्व व्रत पाले जाते हैं। इसलिए शिकार खेलना भोगोपभोगकी सामग्री नहीं है। बल्कि प्रमादका रूप है ॥१४३॥ माला, चन्दन, स्त्री आदिका सेवन करनेमें सुखकी प्राप्तिके लिए ही केवल भोगोपभोग करनेके भाव किये जाते हैं तथा उनका सेवन करनेसे सुख मिलता भी है और उसमें जो हिंसा होती है वह केवल प्रसंगानुसार होती है संकल्पपूर्वक नहीं ॥१४४॥ परन्तु शिकार खेलनेमें अनेक प्राणियोंकी हिंसा करनेके ही परिणाम होते हैं, तदनन्तर उसके कर्मोंके अनुसार भोगोपभोगकी प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती है ॥१४५॥ शिकार खेलनेका अभ्यास करना, शिकार खेलनेकी मनोकामना रख कर निशाना मारनेका अभ्यास करना तथा और भी ऐसी *ही शिकार खेलनेके साधन रूप क्रियाओंका करना शिकार खेलनेमें* ही अन्तर्भूत है। इसलिए ऐसे सर्व प्रयोगोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा त्याग कल्याणकारी है। इसका त्याग न करनेसे असाता वेदनीयका पाप कर्म बन्ध ही होता है जो भावी दुःखोंका कारण है ॥१४६-१४८॥

३. आखेट त्यागके अतिचार

सा. ध./२/२२ वस्त्रनाणकपुस्तादिन्यस्तजीवच्छिदादिकम्। न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम् ॥२२॥ —शिकार व्यसनका त्यागी वस्त्र, सिक्का, काष्ठ और पाषाणादि शिल्पमें बनाये गये जीवोंके छेदनादिकको नहीं करे क्योंकि वह वस्त्रादिकमें बनाये गये जीवोंका छेदन-भेदन लोकमें निन्दित है।

ला. सं. २/१५०-१५३ कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च। कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥१५०॥ पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च। सरित्तडागक्रीडादिसरःशून्यगृहादिषु ॥१५१॥ शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु। कारागारगृहेषूच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥१५२॥ एवमित्यादि स्थानेषु विना कार्यं न जातुचित्। कौतुकादिविनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥१५३॥ —बिना किसी अन्य प्रयोजनके केवल क्रीड़ा करनेके लिए अथवा केवल तमाशा देखनेके लिए इधर उधर नहीं घूमना चाहिए। किसी बावड़ी वा कूआँके मार्गमें वा और भी ऐसे ही स्थानोंमें बिना प्रयोजनके कभी नहीं घूमना चाहिए ॥१५०॥ जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है उसको बिना किसी अन्य कार्यके केवल तमाशा देखनेके लिए वा केवल मन बहलानेके लिए पौधे-फूल, वृक्ष आदिके बगीचोंमें, बड़े-बड़े वनोंमें, उपवनोंमें, नदियोंमें, सरोवरोंमें, क्रीड़ा करनेके छोटे-छोटे पर्वतों पर, क्रीड़ा करनेके लिए बनाये हुए तालाबोंमें, सूने मकानोंमें, गेहूँ, जौ, *मटर आदि अन्न उत्पन्न होने वाले खेतोंमें, पशुओंके बाँधनेके स्थानों*में, दूसरेके घरोंमें, जेलखानोंमें, बड़े-बड़े मठोंमें, राजमहलोंमें वा और भी ऐसे ही स्थानोंमें कभी नहीं जाना चाहिए ॥१५१-१५३॥

आगम—आचार्य परम्परासे आगत मूल सिद्धान्तको आगम कहते हैं। जैनागम यद्यपि मूलमें अत्यन्त विस्तृत है पर काल दोषसे इसका अधिकांश भाग नष्ट हो गया है। उस आगमकी सार्थकता उसकी शब्द रचनाके कारण नहीं बल्कि उसके भाव प्रतिपादनके कारण है। इसलिए शब्द रचनाको उपचार मात्रसे आगम कहा गया है। इसके भावको ठीक-ठीक ग्रहण करनेके लिए पाँच प्रकारसे इसका अर्थ करनेकी विधि है—शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, व भावार्थ, शब्दका अर्थ यद्यपि क्षेत्र कालादिके अनुसार बदल जाता है पर भावार्थ वही रहता है, इसीसे शब्द बदल जानेपर भी आगम अनादि कहा जाता है। आगम भी प्रमाण स्वीकार किया गया है क्योंकि पक्षपात रहित वीतरागी गुरुओं द्वारा प्रतिपादित होनेसे पूर्वापर विरोधसे रहित है। शब्द रचनाकी अपेक्षा यद्यपि वह पौरुषेय है पर अनादिगत भावकी अपेक्षा अपौरुषेय है। आगमकी अधिकतर रचना सूत्रोंमें होती है क्योंकि सूत्रों द्वारा बहुत अधिक अर्थ थोड़े शब्दोंमें ही किया जाना सम्भव है। पीछे से अल्पबुद्धियोंके लिए आचार्योंने उन सूत्रोंकी टीकाएँ रची हैं। वे ही टीकाएँ भी उन्हीं मूल सूत्रोंके भावका प्रतिपादन करनेके कारण प्रामाणिक हैं।

१. आगम सामान्य निर्देश

१. आगम सामान्यका लक्षण

नि. सा./मू./८ तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं । आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ।।८।। —उनके मुखसे निकली हुई वाणी जो कि पूर्वापर दोष (विरोध) रहित और शुद्ध है, उसे आगम कहा है और उसे तत्त्वार्थ कहते हैं ।

र.क.श्रा./९ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।९।। —जो आप्तका कहा हुआ है, वादी प्रतिवादी द्वारा खण्डन करनेमें न आवे, प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंसे विरोध रहित हो, वस्तु स्वरूपका उपदेश करनेवाला हो, सब जीवोंका हित करनेवाला और मिथ्यामार्गका खण्डन करनेवाला हो, वह सत्यार्थ शास्त्र है ।

ध./३/१.२.२/९.११/१२ पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः । द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः ।।९।। आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः । त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ।।१०।। रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ।।११।। —पूर्वापरविरुद्धादि दोषोंके समूहसे रहित और सम्पूर्ण पदार्थोंके द्योतक आप्त वचनको आगम कहते हैं ।।९।। आप्तके वचनको आगम जानना चाहिए और जिसने जन्म जरा आदि १८ दोषोंका नाश कर दिया है उसे आप्त जानना चाहिए । इस प्रकार जो त्यक्तदोष होता है वह असत्य वचन नहीं बोलता, क्योंकि उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण ही सम्भव नहीं है ।।१०।। रागसे, द्वेषसे अथवा मोहसे असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं हैं उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण नहीं पाया जाता है ।।११।।

रा. वा./१/१२/७/५४/८ आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति न सर्वः। यदि सर्वः स्यात्, अविशेषः स्यात् ।—जिसके सर्व दोष क्षीण हो गये हैं ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके द्वारा प्रणीत आगम ही आगम है, सर्व नहीं। क्योंकि यदि ऐसा हो तो आगम और अनागममें कोई भेद नहीं रह जायेगा ।

ध./१/१.१.१./२०/७ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो । —आगम, सिद्धान्त और प्रवचन ये शब्द एकार्थवाची हैं ।

प. मु./३/९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः । —आप्तके वचनादिसे होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको आगम कहते हैं ।

नि.सा./ता. वृ./८ में उद्धृत/२१ अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् । निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः—जो न्यूनता बिना, अधिकता बिना, विपरीतता बिना यथातथ्य वस्तुस्वरूपको निःसन्देह रूपसे जानता है उसे आगमवन्तोंका ज्ञान कहते हैं ।

पं.का./ता.वृ./१७३/२५५ वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादि सम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते ।—वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये षड्द्रव्य व सप्त तत्त्व आदिका सम्यक्श्रद्धान व ज्ञान तथा व्रतादिके अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार भेदरत्नत्रयका स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है उसको आगम या शास्त्र कहते हैं ।

स. म./२१/२६२/७ आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं ।—जिसके द्वारा समस्त अनन्त धर्मोंसे विशिष्ट जीव अजीवादि पदार्थ जाने जाते हैं ऐसी आप्त आज्ञा आगम है, शासन है । (स.म./२८/३२२/३)

न्या. दी./३/७३/११२ आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः । —आप्तके वाक्यके अनुरूप आगमके ज्ञानको आगम कहते हैं ।

२. आगमाभासका लक्षण

प. मु./६/५१-५४/६९ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् । यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः । अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमस्ति इति च विसंवादात् ।५१-५४। —रागी, द्वेषी और अज्ञानी मनुष्योंके वचनोंसे उत्पन्न हुए आगमको आगमाभास कहते हैं । जैसे कि बालको दौड़ो नदीके किनारे बहुत-से लड्डू पड़े हुए हैं । ये वचन हैं । और जिस प्रकार यह है कि अंगुलीके आगेके हिस्सेपर हाथियोंके सौ समुदाय हैं । विवाद होनेके कारण ये सब आगमाभास हैं । अर्थात् लोग इनमें विवाद करते हैं इसलिए ये आगम झूठे हैं ।

३. नोआगमका लक्षण

ध./१/१,१,१/२०/७ आगमादो अण्णो णो-आगमो । —आगमसे भिन्न पदार्थको नोआगम कहते हैं ।

४. शब्द या आगम प्रमाणका लक्षण

न्या. सू./मू./१/१/७/१४ आप्तोपदेशः शब्दः ।७। —आप्तके उपदेशको शब्द प्रमाण कहते हैं ।

५. शब्द प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव

रा.वा./१/२०/१५/७८/१८ शाब्दप्रमाणं श्रुतमेव ।–शब्द प्रमाण तो श्रुत है ही।

गो. जी. भा/३१३ आगम नाम परोक्ष प्रमाण श्रुतज्ञानका भेद है।

६. आगम अनादि है

ज. प./१३/८०-८३ देवासुरिंदमहियं अणंतसुहपिंडमोक्खफलपउरं । कम्ममलपडलदलणं पुण्णं पवित्तं सिवं भद्दं ॥८०॥ पुव्वंगभेदभिण्णं अणंतअत्थेहि संजुदं दिव्वं । णिच्चं कलिकलुसहरं णिकाचिदमणुत्तरं विमलं ॥८१॥ संदेहतिमिरदलणं बहुविहगुणजुत्तं सग्गसोवाणं । मोक्खग्गदारभूदं णिम्मलबुद्धिसंदोहं॥८२॥ सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं । अक्खयमणादिणिहणं सुदणाणपमाणं णिद्दिट्ठं ॥८३॥ –पूर्व व अंग रूप भेदोंमें विभक्त, यह श्रुतज्ञान-प्रमाण देवेन्द्रों व असुरेन्द्रोंसे पूजित, अनन्त सुखके पिण्ड रूप मोक्ष फलसे संयुक्त, कर्म रूप पटलके मलको नष्ट करनेवाला, पुण्य, पवित्र, शिव, भद्र, अनन्त अर्थोंसे संयुक्त, दिव्य नित्य, कलि रूप कलुषको दूर करनेवाला, निकाचित, अनुत्तर, विमल, सन्देहरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाला, बहुत प्रकारके गुणोंसे युक्त, स्वर्गकी सीढ़ी, मोक्षके मुख्य द्वारभूत, निर्मल एवं उत्तम बुद्धिके समुदाय रूप, सर्वज्ञके मुखसे निकला हुआ, पूर्वापर विरोध रूप दोषसे रहित विशुद्ध अक्षय और अनादि निधन कहा गया है ॥८०-८३॥

७. आगम गणधरादि गुरु परम्परासे आगत है

रा.वा./६/१३/२/५२३/२९ तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम् ॥२॥ –केवली भगवान्के द्वारा कहा गया तथा अतिशय बुद्धि ऋद्धिके धारक गणधर देवोंके द्वारा जो धारण किया है उसको श्रुत कहते हैं।

८. आगमज्ञानके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/१५ अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, अतिवृद्धिकरणं, विपरीतपौर्वापर्यरचना विपरीतार्थनिरूपणा ग्रन्थार्थयोर्वैपरीत्यं अमी ज्ञानातिचाराः ।–अक्षर, शब्द, वाक्य, चरण, इत्यादिकोंको कम करना, बढ़ाना, पीछेका सन्दर्भ आगे लाना, आगेका पीछे करना, विपरीत अर्थका निरूपण करना, ग्रन्थ व अर्थमें विपरीतता करना ये सब ज्ञानातिचार हैं। (भ. आ./वि./४८७/७०७)

९. श्रुतके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/१५ द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । –द्रव्यशुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, कालशुद्धि, भावशुद्धिके बिना शास्त्रका पढ़ना यह श्रुतातिचार है।

१०. द्रव्यश्रुतके अपुनरुक्त अक्षर

३० अक्षर–३३ व्यञ्जन, २७ स्वर और चार अयोगवाह, इस प्रकार सब अक्षर ६४ होते हैं। उन अक्षरोंके संयोगोंकी गणना २^{६४}– १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ होती है।

ध. १३/५,५/१४/१८-२०/२६६/४ सोलससदचोत्तीसं कोडी तेसीद चेव लक्खाइं । सत्तसहस्सट्ठसदा अट्ठासीदा य पदवण्णा ॥१८॥ एदं पि संजोगक्खरसंखाए अवट्ठिदं, वुत्तपमाणादो अक्खरेहि वड्ढि-हाणीणभावादो ।···बारससदकोडीओ तेसीदिं हवंति तह य लक्खाइं । अट्ठावण्णसहस्सं पंचेव पदाणि सुदणाणे ॥२०॥ एत्तियाणि पदाणि घेत्तूण सगलसुदणाणं होदि । एदेसु पदेसु संजोगक्खराणि चेव सरिसाणि, ण संजोगक्खरावयवक्खराणि; तत्थ संखाणियमाभावादो । –···१६३४-८३०७८८८ इतने मध्यम पदके वर्ण होते हैं ॥१८॥ यह भी संयोगी अक्षरोंकी अपेक्षा (उपरोक्तवत) अवस्थित हैं। क्योंकि उसमें उक्त प्रमाणसे अक्षरोंकी अपेक्षा वृद्धि और हानि नहीं होती।···श्रुतज्ञानके एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार और पाँच (११२८३५८००५) ही (कुल मध्यम) पद होते हैं ॥१९॥ इतने पदोंका आश्रय कर सकल श्रुतज्ञान होता है, इन पदोंमें संयोगी अक्षर ही समान हैं, संयोगी अक्षरोंके अवयव अक्षर नहीं, क्योंकि, उनकी संख्याका कोई नियम नहीं है। (स. सि./१/२०/४१०-४१५; १/२०/४२४ की टिप्पणी जगरूप सहाय कृत) (ह. पु./१०/१४३) (क. पा. १/§ ७०/८९-९६)।

क. पा. १/१-१/§७२/९२/२ मज्झिमपदं···एदेणपुव्वंगाणं पदसंखा परूविज्जदे ।–मध्यम पदके द्वारा पूर्व और अंगों पदोंकी संख्याका प्ररूपण किया जाता है।

ध. ९/पृ.	नाम पद	अक्षर प्रमाण	प्रमाण लानेका उपाय
१९४	कुल अक्षर	६४	उपरोक्तवत
,,	अपुनरुक्त संयोगी अक्षर	१८४४६७४४०७३-७०९५५१६१५	एक द्वि आदि संयोगी भंगों का जोड़ $\frac{६४×६३}{१×२}$ इत्यादि
१९५	अंग श्रुतके सर्व पदोंमें अक्षर	११२८३५८००५	अपुनरुक्त अक्षर÷मध्यम पद
,,	मध्यम पदोंमें अक्षर	१६३४८३०७-८८८	नियत (इनसे पूर्व और अंगोंके विभागका निरूपण होता है)
१९६	शेष अक्षर	८०१०८१७५	शेष अक्षर÷३२
,,	१४ प्रकीर्णकों के प्रमाण या खण्ड पदमें	२५०३३८० $\frac{१२}{३२}$	

(गो. जी./जी.प्र./३३६/७३३/१) (ध. १३/५,५,४५/२४७-२६६)

११. श्रुतका बहुत कम भाग लिखनेमें आया है

ध. ३/१,२,१०२/३६३/३ अत्थदो पुणो तेसिं विसेसो गणहरेहि वि ण वारिज्जदे । –अर्थकी अपेक्षा जो उन दोनोंकी त्रय कायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीव तथा पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी संख्या प्ररूपणामें विशेष है, उसका गणधर भी निवारण नहीं कर सकते हैं।

गो. जी./मू./३३४/७३१ पण्णवणिज्जाभावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं । पण्णवणिज्जाणं पण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥३३४॥–अनभिलप्यानां कहिए वचनगोचर नाहीं, केवलज्ञानके गोचर जे भाव कहिए जीवादिक पदार्थ तिनके अनन्तवें भागमात्र जीवादिक अर्थ ते प्रज्ञापनीया कहिये तीर्थंकरकी सातिशय दिव्य ध्वनिकरि कहनेमें आवै ऐसे हैं। बहुरि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि करि पदार्थ कहनेमें आवैं हैं तिनके अनंतवें भाग मात्र द्वादशांग श्रुत विषैं व्याख्यान कीजिये है। जो श्रुतकेवलीको भी गोचर नाहीं ऐसा पदार्थ कहनेकी शक्ति केवलज्ञान विषैं पाइये है। ऐसा जानंना। (सन्मति तर्क/२/१६) (रा. वा./१/२६/४/८७) (ध./९/४,२,७,२१४/३/१७९), (ध.१२/४,१,७/१७/५७)।

पं. ध./उ./६१६ वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् । द्वादशाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् । –इसलिए पूर्वाचार्योंने सूत्रमें कहा है कि जो तत्त्व है वह वचनातीत है और द्वादशाङ्ग तथा अङ्ग बाह्यरूप शास्त्र-श्रुतज्ञान स्थूल पदार्थको विषय करनेवाला है।

१२. आगमकी बहुत सी बातें नष्ट हो चुकी हैं

ध. १/४,१-४४/१२६/५ दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समंजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलंभादो। किंतु दोसु एक्केण होदव्वं । तं जाणिय वत्तव्वं । –उक्त (एक ही विषयमें) दो (पृथक्-पृथक्) उपदेशोंमें कौन सा

उपदेश यथार्थ है, इस विषयमें एलाचार्यका शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता अर्थात् कुछ नहीं कहता, क्योंकि इस विषयका कोई न तो उपदेश प्राप्त है और न दोनोंमें-से एकमें कोई बाधा उत्पन्न होती है। किन्तु दोनोंमें-से एक ही सत्य होना चाहिए। उसे जानकर कहना उचित है।

ति.प./अधिकार/श्लो. [यहाँ निम्न विषयोंके उपदेश नष्ट होनेका निर्देश किया गया है।] नरक लोकके प्रकरणमें श्रेणी बद्ध बिलोंके नाम (२/५४); समवशरणमें नाट्यशालाओंकी लम्बाई चौड़ाई (४/७५७); प्रथम और द्वितीय मानस्तम्भ पीठोंका विस्तार (४/७७२); समवशरणमें स्तूपोंकी लम्बाई और विस्तार (४/८४७); नारदोंकी ऊँचाई, आयु और तीर्थंकर देवोंके प्रत्यक्ष भावादिक (४/१४७१); उत्सर्पिणी कालके शेष कुलकरोंकी ऊँचाई (४/१५७२); श्री देवीके प्रकीर्णक आदि चारोंके प्रमाण (४/१६८८); हैमवतके क्षेत्रमें शब्दवान पर्वत पर स्थित जिन भवनकी ऊँचाई आदिके (४/१७१०); पाण्डुक वनपर स्थित जिन भवनमें सभापुरके आगे वाले पीठके विस्तारका प्रमाण (४/१८६७); उपरोक्त जिन भवनमें स्थित पीठकी ऊँचाईके प्रमाण (४/१९०२), उपरोक्त जिन भवनमें चैत्य वृक्षोंके आगे स्थित पीठके विस्तारादि (४/१९१०); सौमनस वनवर्ती वापिकामें स्थित सौधर्म इन्द्रके विहार प्रासादकी लम्बाईका प्रमाण (४/१९५०); सौमनस गजदन्तके कूटोंके विस्तार और लम्बाई (४/२०३२); विद्युत्प्रभगजदन्तके कूटोंके विस्तार और लम्बाई (४/२०४७); विदेह देवकुरुमें यमक पर्वतोंपर और भी दिव्य प्रासाद हैं, उनकी ऊँचाई व विस्तारादि (४/२०८२); विदेहस्थ शाल्मली व जम्बू स्थलोंकी प्रथम भूमिमें स्थित ४ वापिकाओंपर प्रतिदिशामें आठ-आठ कूट हैं, उनके विस्तार (४/२१८३); ऐरावत क्षेत्रके शलाका पुरुषोंके नामादिक (४/२२६६); लवण समुद्रमें पातालोंके पार्श्व भागोंमें स्थित कौस्तुभ और कौस्तुभाभास पर्वतोंका विस्तार (४/२४६२); धातकी खण्डमें मन्दर पर्वतोंके उत्तर-दक्षिण भागोंमें भद्रशालोंका विस्तार (४/२५८६); मानुषोत्तर पर्वतपर १४ गुफाएँ हैं, उनके विस्तारादि (४/२७५३); पुष्करार्धमें सुमेरु पर्वतके उत्तर दक्षिण भागोंमें भद्रशाल वनोंका विस्तार (४/२८२२); जम्बूद्वीपसे लेकर अरुणाभास तक बीस द्वीप समुद्रोंके अतिरिक्त शेष द्वीप समुद्रोंके अधिपति देवोंके नाम (५/४८); स्वयम्भूरमण समुद्रमें स्थित पर्वतकी ऊँचाई आदि (५/२४०); अंजनक, हिंगुलक आदि द्वीपोंमें स्थित व्यन्तरोंके प्रासादोंकी ऊँचाई आदि (६/६६); व्यन्तर इन्द्रोंके जो प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक देव होते हैं उनके प्रमाण (६/७६); तारोंके नाम (७/३२,४६६); गृहोंका सुमेरुसे अन्तराल व वापियों आदिका कथन (७/४५८); सौधर्मादिकके सोमादिक के लोकपालोंके आभियोग्य प्रकीर्णक और किल्विषक देव होते हैं; उनका प्रमाण (८/२९६); उत्तरेन्द्रोंके लोकपालोंके विमानोंकी संख्या (८/३०२); सौधर्मादिकके प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषकोंकी देवियोंका प्रमाण (८/३२६); सौधर्मादिकके प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषकोंकी देवियोंकी आयु (८/५२३); सौधर्मादिकके आत्मरक्षक व परिषद्की देवियोंकी आयु (८/५४०)।

१३. आगमके विस्तारका कारण

स.सि./१/८/३० सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयास इति, अधिगमाभ्युपायभेदोद्देशः कृतः। =सज्जनोंका प्रयास सब जीवोंका उपकार करना है, इसलिए यहाँ अलग-अलगसे ज्ञानके उपायके भेदोंका निर्देश किया है।

ध. १/१,१,५/१५३/८ नैष दोषः। मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्।

ध. १/१,१,७०/३११/२ द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। संक्षेपरुचयो नानुगृहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात्। =प्रश्न—(छोटा सूत्र बनाना ही पर्याप्त था, क्योंकि सूत्रका शेष भाग उसका अविनाभावी है।) उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मन्दबुद्धि प्राणियोंके अनुग्रहके लिए शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है। प्रश्न—सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण निरर्थक है। उत्तर—नहीं, क्योंकि विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिए सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण किया गया है। प्रश्न—इस सूत्रमें संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुगृहीत नहीं किये गये हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका अनुग्रह विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंका अविनाभावी है। अर्थात् विस्तारसे कथन कर देने पर संक्षेप रुचिवाले शिष्योंका काम चल जाता है। (प्र.सा./ता.वृ./१५)।

१४. द्रव्य आगमके विच्छेद सम्बन्धी भविष्य वाणी

ति. प./४/१४९३ वीस सहस्स तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेण। =जो श्रुत तीर्थ धर्म प्रवर्तनका कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्तरह (२०३१७) वर्षोंमें काल दोषसे व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा।

२. द्रव्य भाव आगम ज्ञान निर्देश व समन्वय

१. वास्तवमें भावश्रुत ही ज्ञान है द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं

ध./१३/५,५,२६/६४/१२ ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोवलिंगभूदस्स सुदत्तविरोहादो। =(ज्ञानके प्रकरणमें) द्रव्यश्रुतका यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि ज्ञानके उपलिंगभूत पुद्गलके विकार-स्वरूप जड़ वस्तु को श्रुत माननेमें विरोध आता है।

२. भाव ग्रहण ही आगम है

न्या. दी./३/§७३ आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽपि, आप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात्। =आप्तके वचनोंसे होनेवाले ज्ञानको आगमका लक्षण कहनेमें भी आप्तके वाक्योंको सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षणकी अतिव्याप्ति है, अतः 'अर्थ' यह पद दिया है। 'अर्थ' पद तात्पर्यमें रूढ है। अर्थात् प्रयोजनार्थक है क्योंकि 'अर्थ ही तात्पर्य ही वचनोंमें है' ऐसा आचार्य वचन है।

३. द्रव्य श्रुतको ज्ञान कहनेका कारण

ध. ९/४,१,४५/१६२/३ कथं शब्दस्य तत्स्थापनायाश्च श्रुतव्यपदेशः। नैष दोषः, कारणे कार्योपचारात्। =प्रश्न—शब्द और उसकी स्थापना को श्रुत संज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, कारणमें कार्यका उपचार करनेसे शब्द या उसकी स्थापनाकी श्रुत संज्ञा बन जाती है। (ध./१३/५,५,२१/२१०/८)

प्र. सा./ता. वृ./३४/४५ शब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते स्फुटं। पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति। =शब्द श्रुतके आश्रयसे ज्ञप्तिरूप अर्थके निश्चयको निश्चय नयसे ज्ञान कहा है। पूर्वोक्त शब्द श्रुतकी अर्थात् द्रव्यश्रुतकी ज्ञानसंज्ञा (कारणमें कार्यके उपचारसे) व्यवहार नयसे है निश्चय नयसे नहीं।

४. द्रव्य श्रुत के भेदादि जानने का प्रयोजन

पं.का./ता.वृ./१७३/२५४/१६ श्रुतभावनायाः फलं जीवादितत्त्वविषये संक्षेपेण हेयोपादेयतत्त्वविषये वा संशयविमोहविभ्रमरहितो निश्चलपरिणामो भवति। =श्रुतकी भावना अर्थात् आगमाभ्यास करनेसे, जीवादि तत्त्वोंके विषयमें वा संक्षेपसे हेय उपादेय तत्त्वके विषयमें संशय, विमोह व विभ्रमसे रहित निश्चल परिणाम होता है।

५. आगमको श्रुतज्ञान कहना उपचार है

श्लो०. वा./१/१/२०/२-३/६६८···/ श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् ।२। तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशब्दप्रयोगतः ।३। –'श्रुत' पदसे तात्पर्य किसी विशेष ज्ञानसे है। हां वाक्योंके प्रतिपादक शब्द भी श्रुतपदसे पकड़े जाते हैं। किन्तु केवल शब्दोंमें ही श्रुत शब्दको परिपूर्ण नहीं कर देना चाहिए ।२। उपचारसे यह शब्दात्मक श्रुत (आगम) भी श्रुत शब्द करके ग्रहण करने योग्य है···क्योंकि गुरुके शब्दोंसे शिष्योंको श्रुतज्ञान (यह विशेष ज्ञान) उत्पन्न होता है। इस कारण यह कारणमें कार्यका उपचार है।

३. आगमका अर्थ करनेकी विधि

१. पाँच प्रकार अर्थ करनेका विधान

स. सा./ता. वृ./१२०/१७७ शब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः। व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः। सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थस्तु प्रसिद्धः। हेयोपादेयव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः। इति शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः। –शब्दार्थके व्याख्यान रूपसे शब्दार्थ जानना चाहिए। व्यवहार निश्चय नय रूपसे नयार्थ जानना चाहिए। सांख्योंके प्रतिमतार्थ जानना चाहिए। आगमार्थ प्रसिद्ध है। हेय उपादेयके व्याख्यान रूपसे भावार्थ जानना चाहिए। इस प्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ तथा भावार्थको व्याख्यानके समय यथासम्भव सर्वत्र जानना चाहिए। (पं. का./ता. वृ./१/४; २७/६०) (द्र. सं./टी./२/१)

२. मतार्थ करनेका कारण·

ध. १/१,१,३०/२२६/१ तदभिप्रायकदनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः। –इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायके खण्डन करनेके लिए ही···प्रकृत सूत्रका अवतार हुआ है।

स. भं. त./७७/१ ननु···सर्वं वस्तु स्यादेकं स्यादनेकमिति कथं संगच्छते। सर्वस्य वस्तुनः केनापि रूपेणैकाभावात्।···तदुक्तम् 'उपयोगो लक्षणम्' इति सूत्रे, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—न हि वयं सदृशपरिणाममनेकव्यक्तिव्यापिनं युगपदुपगच्छामोऽन्यत्रोपचारात् इति···पूर्वोदाहृतपूर्वाचार्यवचनानां च सर्वथैकत्वनिराकरणपरत्वात् अन्यथा सत्ता सामान्यस्य सर्वथानेकत्वे पृथक्त्वैकान्तपक्ष एवाहृतस्स्यात्। –प्रश्न—सर्व वस्तु कथंचित एक हैं कथंचित अनेक हैं यह कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि किसी प्रकारसे सर्व वस्तुओंकी एकता नहीं हो सकती? तत्त्वार्थसूत्रमें कहा भी है 'उपयोगो लक्षणं' अर्थात् ज्ञान दर्शन रूप उपयोग ही जीवका लक्षण है। इस सूत्रके अन्तर्गत तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमें–'अन्य व्यक्तिमें उपचारसे एक कालमें ही सदृश परिणाम रूप अनेक व्यक्ति व्यापी एक सत्त्व हम नहीं मानते' ऐसा कहा है—उत्तर—पूर्व उदाहरणोंमें आचार्योंके वचनोंसे जो सर्वथा एकत्व ही माना है उसीके निराकरणमें तात्पर्य है न कि कथंचित एकत्वके निराकरणमें। और ऐसा न माननेसे सर्वथा सत्ता सामान्यके अनेकत्व माननेसे पृथक्त्व एकान्त पक्षका ही आदर होगा।

३. नय निक्षेपार्थ करनेकी विधि

स. सि./१/६/२० नामादिनिक्षेपविधिनोपक्षिप्तानां जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधिगम्यते। –जिन जीवादि पदार्थोंका नाम आदि निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे कथन किया है उनका स्वरूप प्रमाण और नयोंके द्वारा जाना जाता है।

ध. १/१,१,१/१०/१६ प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् ।१०। –जिस पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा, नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता है, वह पदार्थ कभी युक्त (संगत) होते हुए भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह-सा प्रतीत होता है ।१०।

ध. १/१,१,१/३/१० विशेषार्थ –आगमके किसी श्लोक गाथा, वाक्य, व पदके ऊपरसे अर्थका निर्णय करनेके लिए निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिए, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिए, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिए, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलम्बन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिए। तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है। पदार्थ निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाने अर्थ पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्त्व निर्णयका उपदेश दिया है।

मो. मा./प्र./७/३६८/७ प्रश्न—तो कहा करिये? उत्तर—निश्चय नय करि जो निरूपण किया होय, ताकौं तो सत्यार्थ मानि ताका तो श्रद्धान अंगीकार करना, अर व्यवहार नय करि जो निरूपण किया होय ताकौं असत्यार्थ मानि ताका श्रद्धान छोड़ना···तातैं व्यवहार नयका श्रद्धान छोड़ि निश्चय नयका श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहार नय करि स्वद्रव्य परद्रव्यकौं वा तिनकैं भावनिकौं वा कारण कार्यादिकौं काहूको काहूँविषै मिलाय निरूपण करै है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है तातैं याका त्याग करना। बहुरि निश्चय नय तिनकौं यथावत निरूपै है, काहूको काहू विषै न मिलावै हैं। ऐसे ही श्रद्धान तैं सम्यक्त्व हो है। तातै ताका श्रद्धान करना। प्रश्न—जो ऐसैं हैं, तो जिनमार्ग विषैं दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या, सो कैसे? उत्तर—जिनमार्ग विषै कहीं तौ निश्चय नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है ताकौं तो 'सत्यार्थ ऐसै ही हैं' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है ताकौं 'ऐसे है नाहिं निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोऊ नयनिका ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनिके व्याख्यान कूँ समान सत्यार्थ जानि ऐसे भी है ऐसे भी है, ऐसा भ्रम रूप प्रवर्तने करि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण कहा नाहीं। प्रश्न—जो व्यवहार नय असत्यार्थ है, तौ ताका उपदेश जिनमार्ग विषैं काहेँ को दिया। एक निश्चय नय ही का निरूपण करना था? उत्तर—निश्चय नयको अंगीकार करावनै कूँ व्यवहार करि उपदेश दीजिये हैं। बहुरि व्यवहार नय है, सो अंगीकार करने योग्य नाहीं। (और भी दे० आगम/३/८)

४. आगमार्थ करनेकी विधि

१. पूर्वापर मिलान पूर्वक

द्र. सं./टी./२२/६६ अन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीयं···किन्तु विवादो न कर्तव्यः। –परमागमके अविरोध पूर्वक विचारना चाहिए, किन्तु कथनमें विवाद नहीं करना चाहिए।

पं ध./पू०/३३५ शेषविशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया। सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ।३३५। –सूत्रमें पदोंकी अनुवृत्ति दूसरे सूत्रोंसे ग्रहण करनी चाहिए, इस न्यायसे यहाँपर भी शेष-विशेष कथन उक्त और वक्ष्यमाण पूर्वापर सम्बन्धसे जानना चाहिए।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडरमलजी कृत/५१२ कथन तो अनेक प्रकार होय परन्तु यह सर्व आगम अध्यात्म शास्त्रन सौं विरोध न होय वैसे विवक्षा भेद करि जानना।

२. परम्पराका ध्यान रख कर

ध. ३/१,२,१८४/४८१/१ एदीए गाहाए एदस्स वक्खाणस्स किण्ण विरोहो। होउ णाम।···ण, जुत्तिसिद्धस्स आइरियपरंपरागयस्स एदीए गाहाए णाभद्दत्तं काउण सक्किज्जदि, अइप्पसंगादो। –प्रश्न—यदि ऐसा है तो (देश संयतमें तेरह करोड़ मनुष्य हैं) इस गाथाके

साथ इस पूर्वोक्त व्याख्यानका विरोध क्यों नहीं आ जायेगा? उत्तर—यदि उक्त गाथाके साथ पूर्वोक्त व्याख्यानका विरोध प्राप्त होता है तो होओ...जो युक्ति सिद्ध है और आचार्य परम्परासे आया हुआ है उसमें इस गाथासे असमीचीनता नहीं लायी जा सकती, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायेगा। (ध. ४/१,४,४/१५६/२)

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडरमल/पृ. ५१२ दे० आगम/३/४/१

३. शब्दका नहीं भावका ग्रहण करना चाहिए

स.सि./१/३३/१४४ अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। लोकसमय विरोध इति चेत। विरुध्यताम्। तत्त्वमिह मीमांस्यते, न भैषज्य-मातुरेच्छानुवर्ति। =अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्धका अभाव है। प्रश्न—इससे लोक समयका (व्याकरण शास्त्र) का विरोध होता है? उत्तर—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ पीड़ित मनुष्यकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती।

रा.वा./२/६/३,८/१०९ द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं तदिह नाधिकृतम्, आत्मपरिणामप्रकरणात्।...द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मोदयापादितेति सा नेह परिगृह्यत आत्मनो भावप्रकरणात्। =चूँकि आत्मभावोंका प्रकरण है, अतः नामकर्मके उदयसे होनेवाले द्रव्यलिंगकी यहाँ विवक्षा नहीं है।...द्रव्य लेश्या पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे होती है अतः आत्मभावोंके प्रकरणमें उसका ग्रहण नहीं किया है।

ध.१/१,१,६०/३०२/६ अन्यैराचार्यैरव्याख्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः। न, सूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात्। =प्रश्न—अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये इस अर्थका इस प्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं ऐसा क्यों नहीं माना जाये? उत्तर—नहीं...सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त (मेरे) कथनसे विरोध आता है। (*अर्थात् मैं ग़लत नहीं अपितु वही ग़लत है।*)

ध.३/१,२,१२३/४०८/५ आइरियवयणमणेयंतमिदि चे, होदु णाम, णत्थि मज्झेत्थ अग्गहो। =आचार्योंके वचन अनेक प्रकारके होते हैं तो होओ, इसमें हमारा आग्रह नहीं है।

ध. ५/१,७,३/१९७/६ सव्वभावाणं पारिणामियत्तं पसज्जदीदि चे होदु, ण कोइ दोसो। =सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसंग आता है तो आने दो।

ध.७/२,१,५६/१०१/२ चक्षुषा दृश्यते वा तं तत् चक्खुदंसणं चक्षुर्दर्शन-मिति वेति ब्रुवते। चक्खिंदियणाणादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए सामण्णाए अणुहओ चक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं चक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि।...बालजणबोहणट्ठं चक्खूणं जं दिस्सदि तं चक्खूदंसण-मिदि परूवणादो। गाहएगलभंजणकाऊण अज्जुवत्थो किण्ण घेप्पदि। ण, तत्थ पुव्वुत्तासेसदोसप्पसंगादो। =जो चक्षुओंको प्रकाशित होता है अथवा आँख द्वारा देखा जाता है वह चक्षुदर्शन है इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञानसे पूर्व ही सामान्य स्वशक्तिका अनुभव होता है जो कि चक्षु ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत है वह चक्षु दर्शन है।...बालक जनोंको ज्ञान करानेके लिए अन्तरंगमें बाह्य पदार्थोंके उपचारसे 'चक्षुओंको जो दीखता है वही चक्षु दर्शन है' ऐसा प्ररूपण किया गया है। प्रश्न—गाथाका गला न घोट कर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं करते, क्योंकि वैसा करनेमें पूर्वोक्त समस्त दोषोंका प्रसंग आता है।

प्र.सा./त.प्र./८६ शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम्। =(मोह क्षय करनेमें) परम शब्द ब्रह्मकी उपासनाका, भावज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है।

स.सा./आ./२७७ नाचारादिशब्दश्रुतं, एकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः तत्सद्भावेऽपि...शुद्धाभावेन ज्ञानस्याभावात्। =आचारादि शब्दश्रुत एकान्तसे ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि आचारांगादिकका सद्भाव होनेपर भी शुद्धात्माका अभाव होनेसे ज्ञानका अभाव है।

स.सा./ता.वृ./३/१ स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं न पुनः परसमय...इति पातनिका लक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। =स्व समय ही शुद्धात्माका स्वरूप है पर समय नहीं।...इस प्रकार पातनिकाका लक्षण सर्वत्र जानना चाहिए।

५. भावार्थ करनेकी विधि

पं.का./ता.वृ./२७/६१ कर्मोपाधिजनितमिथ्यात्वरागादिरूपसमस्तविभाव-परिणामांस्त्यक्त्वा निरुपाधिकेवलज्ञानादिगुणयुक्तशुद्धजीवास्तिकाय एव निश्चयनयेनोपादेयत्वेन भावयितव्यं इति भावार्थः।

पं.का./ता.वृ./५२/१०१ अस्मिन्नधिकारे यद्यप्यष्टविधज्ञानोपयोगचतुर्विध-दर्शनोपयोगव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धविवक्षा न कृता तथापि निश्चय-नयेनादिमध्यान्तवर्जिते परमानन्दमालिनि परमचैतन्यशालिनि भग-वत्यात्मनि यदनाकुलत्वलक्षणं पारमार्थिकसुखं तस्योपादेयभूतस्योपा-दानकारणभूतं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तदेवोपादेयमिति श्रद्धेयं ज्ञेयं तथैवार्तरौद्रादिसमस्तविकल्पजालत्यागेन ध्येयमिति भावार्थः। =कर्मोपाधि जनित मिथ्यात्व रागादि रूप समस्त विभाव परिणामोंको छोड़कर, निरुपाधि केवलज्ञानादि गुणोंसे युक्त जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसीको निश्चय नयसे उपादेय रूपसे मानना चाहिए यह भावार्थ है। वा यद्यपि इस अधिकारमें आठ प्रकारके ज्ञानोपयोग तथा चार प्रकारके दर्शनोपयोगका व्याख्यान करते समय शुद्धाशुद्धकी विवक्षा नहीं की गयी है। फिर भी निश्चय नयसे आदि मध्य अन्तसे रहित ऐसी परमानन्दमालिनी परमचैतन्यशालिनी भगवान् आत्मामें जो अनाकुलत्व लक्षणवाला पारमार्थिक सुख है, उस उपादेय भूतका उपादान कारणका जो केवलज्ञान व केवलदर्शन हैं, ये दोनों ही उपादेय हैं। यही श्रद्धेय है, यही ज्ञेय है, तथा इस ही को आर्त रौद्र आदि समस्त विकल्प जालको त्याग कर ध्येय बनाना चाहिए। ऐसा भावार्थ है। (पं.का./ता.वृ./६१/११३)

द्र.सं.टी./२/१० शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयम्, शेषं च हेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः।...एवं...यथासंभव व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः। =शुद्ध नयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है वह तो उपादेय यानी—ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है। इस प्रकार हेयोपादेय रूपसे भावार्थ भी समझना चाहिए। तथा व्याख्यानके समयमें सब जगह जानना चाहिए।

६. आगममें व्याकरणकी प्रधानता

ध.१/१,१,१/२/९-१०/३ धाउपरूवणा किमट्ठं कीरदे। ण, अणवय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तादो। उक्तं च 'शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति। अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥२॥ इति। =प्रश्न—धातुका निरूपण किस लिए किया जा रहा है (यह तो सिद्धान्त ग्रन्थ है)? उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जो शिष्य धातुसे अपरिचित है, उसे धातुके परिज्ञानके बिना अर्थका परिज्ञान नहीं हो सकता और अर्थबोधके लिए विवक्षित शब्दका अर्थज्ञान कराना आवश्यक है, इसलिए यहाँ धातुका निरूपण किया गया है। कहा भी है—शब्दसे पदकी सिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे अर्थका निर्णय होता है, अर्थके निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण होता है।

म.पु./३८/११९ शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति। सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥११९॥ =उत्तम संस्कारोंको जागृत करनेके लिए और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए इस व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना

चाहिए क्योंकि आचार विषयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नहीं है।

मो.मा.प्र./८/४३२/१७ बहुरि व्याकरण न्यायादिक शास्त्र है, तिनका भी थोरा बहुत अभ्यास करना। जातैं इनिका ज्ञान बिना बड़े शास्त्रनि का अर्थ भासै नाहीं। बहुरि वस्तुका भी स्वरूप इनकी पद्धति जानें जैसा भासै तैसा भाषादिक करि भासै नाहीं। तातें परम्परा कार्यकारी जानि इनका भी अभ्यास करना।

७. आगममें व्याकरणकी गौणता

पं.का./ता.वृ./१/३ प्राथमिकशिष्यप्रतिसुखबोधार्थमत्र ग्रन्थे संधेर्नियमो नास्तीति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। =प्राथमिक शिष्योंको सरलतासे ज्ञान हो जावे इसलिए ग्रन्थमें सन्धिका नियम नहीं रखा गया है ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।

८. अर्थ समझने सम्बन्धी कुछ विशेष नियम

ध.१/१,१,१११/३४१/४ सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा।

ध.१/१,१,११७/३६२/१० सामान्यबोधनाश्च विशेषेष्वतिष्ठन्ते। =कथन परम्पराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं। सामान्य विषयका बोध कराने वाले वाक्य विशेषोंमें रहा करते हैं।

ध.२/१,१/४४१/१७ विशेषविधिना सामान्यविधिर्बाध्यते।

ध.२/१,१/४४२/२० परा विधिर्बाधको भवति। =विशेष विधिसे सामान्य विधि बाधित हो जाती है।...पर विधि बाधक होती है।

ध.३/१,२,२/१८/१० व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति।

ध.३/१,२,८२/३१५/१ जहा उद्देसो तहा णिद्देसो। =व्याख्यासे विशेषकी प्रतिपत्ति होती है। उद्देशके अनुसार निर्देश होता है।

ध.४/१,५,१४५/४०३/४ =गौण-मुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः। =गौण और मुख्यमें विवाद होनेपर मुख्यमें ही संप्रत्यय होता है।

प.मु./३/१६ तर्कात्तन्निर्णयः। =तर्कसे इसका (क्रमभावका) निर्णय होता है।

पं.ध./पू./७० भावार्थ—साधन व्याप्त साध्यरूप धर्मके मिल जानेपर पक्षकी सिद्धि हुआ करती है।...दृष्टान्तको हो साधन व्याप्त साध्य रूप धर्म कहते हैं।

पं.ध./७२ नामैकदेशेन नामग्रहणम्। =नामके एकदेशसे ही पूरे नामका ग्रहण हो जाता है, जैसे रा. ल. कहने से रामलाल।

पं.ध./४६४ ...। व्यतिरेकेण बिना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम्। =व्यतिरेकके बिना केवल अन्वय पक्ष अपने पक्षकी रक्षाके लिए समर्थ नहीं होता है।

९. विरोधी बातें आने पर दोनोंका संग्रह कर लेना चाहिए

ध.१/१,१,२७/२२२/२ उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कथं वज्जभीरुणो। इदि चे ण एस दोसो, दोण्हं मज्झे एकस्सेव संगहे कीरमाणे वज्जभीरुत्तं णिवट्टति। दोण्हं पि संगहकरेंताणमाइरियाणं वज्ज-भीरुत्ताविणासाभावादो।

ध.१/१,१,३७/२६२/२ उवदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करेंतो संसयमिच्छाइट्ठी होदि त्ति तण्ण, सुत्तुद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। =प्रश्न—उत्सूत्र लिखने वाले आचार्य पापभीरु कैसे माने जा सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकारके वचनोंमें-से किसी एक ही वचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है अर्थात् उच्छृङ्खलता आ जाती है। अतएव दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् बनी रहती है। उपदेशके बिना दोनोंमें-से कौन वचन सूत्र रूप है यह नहीं जाना जा सकता, इसलिए दोनों वचनोंका संग्रह कर लेना चाहिए। प्रश्न—दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संशय मिथ्यादृष्टि हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्र कथित ही है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके सन्देह नहीं हो सकता है।

ध.१/१,१,१३/११०/१७३ सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरु णियोगा॥११०॥ =सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किन्तु किसी तत्त्वको नहीं जानता हुआ गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है॥११०॥ (गो.जी./मू./२७), (ल.सा./मू. १०५)।

१०. व्याख्यानकी अपेक्षा सूत्र वचन प्रमाण होते हैं

क.पा.२/१,१५/§४६३/४१७/७ सुत्तेण वक्खाणं बाहिज्जदि ण वक्खाणेण वक्खाणं। एत्थ पुणो दो वि परूवेयव्वा दोण्हमेक्कदरस्स सुत्ताणुसारित्तगमाभावादो।...एत्थ पुण विसंयोजणापक्खो चेव पहाणभावेणावलंबियव्वो पवाइज्जमाणत्तादो। =सूत्रके द्वारा व्याख्यान बाधित हो जाता है, परन्तु एक व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान बाधित नहीं होता। इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं होती यह वचन अप्रमाण नहीं है। फिर भी यहाँ दोनों ही उपदेशोंका ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि दोनोंमें-से अमुक उपदेश सूत्रानुसारी है, इस प्रकारके ज्ञान करनेका कोई साधन नहीं पाया जाता।...फिर भी यहाँ उपशम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होती है, यह पक्ष ही प्रधान रूपसे स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकारका उपदेश परम्परासे चला आ रहा है।

११. यथार्थका निर्णय हो जाने पर भूल सुधार लेनी चाहिए

ध.१/१,१,३७/१४३/२६२ सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि। सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो। =सूत्रसे भले प्रकार आचार्यादिकके द्वारा समझाये जाने पर भी यदि जो जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता तो उसी समयसे वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (गो.जी./मू./२८), (ल.सा./मू./१०६)

ध.१३/५,५,१२०/३८१/५ एत्थ उवदेसं लद्धूण एदं चेव वक्खाणं सच्चमण्णं असच्चमिदि णिच्छओ कायव्वो। एदे च दो वि उवएसा सुत्तसिद्धा। =यहाँ पर उपदेशको प्राप्त करके यही व्याख्यान सत्य है, अन्य व्याख्यान असत्य है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। ये दोनों ही उपदेश सूत्र सिद्ध हैं। (ध.१४/५,६,८६/४), (ध.१४/५,६,११६/१५१/६), (ध.१४/५,६,६५२/५०८/६), (ध.१५/३१७/१)

४. शब्दार्थ सम्बन्धी विषय

१. शब्दमें अर्थ प्रतिपादनकी योग्यता

प.मु./३/१००,१०१ सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तु प्रतिपत्तिहेतवः॥१००॥ यथा मेर्वादयः सन्ति॥१०१॥ =शब्द और अर्थमें वाचक वाच्य शक्ति है। उसमें संकेत होनेसे अर्थात् इस शब्दका वाच्य यह अर्थ है ऐसा ज्ञान हो जानेसे शब्द आदिसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। जिस प्रकार मेरु आदि पदार्थ हैं अर्थात् मेरु शब्दके उच्चारण करनेसे ही जम्बू द्वीपके मध्यमें स्थित मेरुका ज्ञान हो जाता है। (इसी प्रकार अन्य पदार्थोंको भी समझ लेना चाहिए।)

२. भिन्न-भिन्न शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं

स. सि./१/३३/१४४ शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यम्। =यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थोंमें भेद अवश्य होना चाहिए। (रा. वा./१/३३/१०/९८/३१)

रा. वा./१/६/५/३४/१८ शब्दभेदे ध्रुवोऽर्थभेद इति। =शब्दका भेद होनेपर अर्थ अर्थात् वाच्य पदार्थका भेद ध्रुव है।

३. जितने शब्द हैं उतने ही वाच्य पदार्थ भी अवश्य हैं

आप्त. मी./मू./२७ संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥ =जो संज्ञावान पदार्थ प्रतिषेध्य कहिए निषेध करने योग्य वस्तु तिस बिना प्रतिषेध कहूँ नाहीं होय है।

रा. वा./१/६/५/३४/१८ में उद्धृत (यावन्मात्राः शब्दाः तावन्मात्राः परमार्थाः भवन्ति) जित्तियमित्ता सद्दा तित्तियमित्ता होंति परमत्था। =जितने शब्द होते हैं उतने ही परम अर्थ हैं।

का. अ./मू./२५२ किं बहुणा उत्तेण य जेत्तिय-मेत्ताणि संति णामाणि, तेत्तिय-मेत्ता अत्था संति य णियमेण परमत्था। =अधिक कहनेसे क्या? जितने नाम हैं उतने ही नियमसे परमार्थ रूप पदार्थ हैं।

४. अर्थ व शब्दमें वाच्यवाचक सम्बन्ध कैसे

क. पा. १/१३-१४/§१९८-२००/२३८/१ शब्दोऽर्थस्य निस्संबन्धस्य कथं वाचक इति चेत्। प्रमाणमर्थस्य निस्संबन्धस्य कथं ग्राहकमिति समानमेतत्। प्रमाणार्थयोर्जन्यजनकलक्षणः प्रतिबन्धोऽस्तीति चेत्; न; वस्तुसामर्थ्यस्यान्यतःसमुत्पत्तिविरोधात् ॥§१९८॥ प्रमाणार्थयोः स्वभावत एव ग्राह्यग्राहकभावश्चेत्; तर्हि शब्दार्थयोः स्वभावत एव वाच्यवाचकभावः किमिति नेष्यते अविशेषात्। प्रमाणेन स्वभावतोऽर्थसंबद्धेन किमितीन्द्रियमालोको वा अपेक्ष्यत इति समानमेतत्। शब्दार्थसंबन्धः कृत्रिमत्वाद्वा पुरुषव्यापारमपेक्षते ॥§१९९॥...

अथ स्यात्, न शब्दो वस्तु धर्मः; तस्य ततो भेदात्। नाभेदः भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् भिन्नार्थक्रियाकारित्वात् भिन्नसाधनत्वात् उपायोपेयभावोपलम्भाच्च। न विशेष्याद्भिन्नं विशेषणम्; अव्यवस्थापत्तेः। ततो न वाचकभेदाद्वाच्यभेद इति; न; प्रकाश्याद्भिन्नानामेव प्रमाण-प्रदीप-सूर्य-मणीन्द्वादीनां प्रकाशकत्वोपलम्भात्, सर्वथैकत्वे तदनुपलम्भात् ततो भिन्नोऽपि शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् ॥§२००॥

ध. ९/४,१,४५/१७९/३ अथ स्यान्न, नशब्दो...अव्यवस्थापत्ते; (के ऊपर क. पा. में भी यही शंका की गयी है) नैष दोषः, भिन्नानामपि वस्त्राभरणादीनां विशेषणत्वोपलम्भात्।...कुतो योग्यता शब्दार्थानाम्। स्वपराभ्याम्। न चैकान्तेनान्यत एव तदुत्पत्तिः, स्वतो विवर्तमानानामर्थानां सहायकत्वेन वर्तमानबाह्यार्थोपलम्भात्। =प्रश्न—शब्द व अर्थमें कोई सम्बन्ध न होते हुए भी वह अर्थका वाचक कैसे हो सकता है? उत्तर—प्रमाणका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध न होते हुए भी वह अर्थका ग्राहक कैसे हो सकता है? प्रश्न—प्रमाण व अर्थमें जन्यजनक लक्षण पाया जाता है। उत्तर—नहीं, वस्तुकी सामर्थ्यकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—प्रमाण व अर्थमें तो स्वभावसे ही ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध है। उत्तर—तो शब्द व अर्थमें भी स्वभावसे ही वाच्य-वाचक सम्बन्ध क्यों नहीं मान लेते? प्रश्न—यदि इनमें स्वभावसे ही वाच्यवाचक भाव है तो वह पुरुषव्यापारकी अपेक्षा क्यों करता है? उत्तर—प्रमाण यदि स्वभावसे ही अर्थके साथ सम्बद्ध है तो फिर वह इन्द्रियव्यापार व आलोक (प्रकाश) की अपेक्षा क्यों करता है? इस प्रकार प्रमाण व शब्द दोनोंमें शंका व समाधान समान हैं। अतः प्रमाणकी भाँति ही शब्दमें भी अर्थप्रतिपादनकी शक्ति माननी चाहिए। अथवा, शब्द और पदार्थका सम्बन्ध कृत्रिम है। अर्थात् पुरुषके द्वारा किया हुआ है, इसलिए वह पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखता है। प्रश्न—शब्द वस्तुका धर्म नहीं है, क्योंकि उसका वस्तुसे भेद है। उन दोनोंमें अभेद नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों भिन्न इन्द्रियोंके विषय हैं, दोनोंकी अर्थ क्रिया भिन्न है दोनोंके कारण भिन्न हैं, शब्द उपाय है और वस्तु उपेय है। इन दोनोंमें विशेष्य विशेषण भावकी अपेक्षा भी एकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि विशेष्यसे भिन्न विशेषण नहीं होता है, कारण कि ऐसा माननेसे अव्यवस्थाकी आपत्ति आती है।

[ध. ९/४,१,४५/१७९/३ पर यही शंका करते हुए शंकाकारने उपरोक्त हेतुओंके अतिरिक्त ये हेतु और भी उपस्थित किये हैं—दोनों भिन्न इन्द्रियोंके विषय हैं। वस्तु स्वगिन्द्रियसे ग्राह्य है और शब्द स्वगिन्द्रियसे ग्राह्य नहीं है। दूसरे, उन दोनोंमें अभेद माननेसे 'छुरा' और 'मोदक' शब्दोंका उच्चारण करनेपर क्रमसे मुख कटने तथा पूर्ण होनेका प्रसंग आता है; अतः दोनोंमें सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता।] (और भी दे० नय IV/३/४/५) अतः शब्द वस्तुका धर्म न होनेसे उसके भेदसे अर्थभेद नहीं हो सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि पदार्थ घट पट आदि प्रकाश्यभूत पदार्थोंसे भिन्न रहकर ही उनके प्रकाशक देखे जाते हैं, *तथा यदि उन्हें सर्वथा अभिन्न माना जाय तो उनके* प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं बन सकता है; उसी प्रकार शब्द अर्थसे भिन्न होकर भी अर्थका वाचक होता है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरे, विशेष्यसे अभिन्न ही विशेषण हो यह कोई नियम नहीं, क्योंकि विशेष्यसे भिन्न भी वस्त्राभरणादिकोंको विशेषणता पायी जाती है। (जैसे-घड़ीवाला या लाल पगड़ीवाला।), प्रश्न—शब्द व अर्थमें यह योग्यता कहाँसे आती है कि नियत शब्द नियत ही अर्थका प्रतिपादक हो? उत्तर—स्व व परसे उनके यह योग्यता आती है। सर्वथा अन्यसे ही उसकी उत्पत्ति हो, ऐसा नहीं है; क्योंकि, स्वयं वर्तनेवाले पदार्थोंकी सहायतासे वर्तते हुए बाह्य पदार्थ पाये जाते हैं।

क. पा. १/१३-१४/§२१५-२१६/२६५-२६८ *अथ स्यात् न पदवाक्यान्यर्थ*-प्रतिपादिकानि; तेषामसत्त्वात्। कुतस्तदसत्त्वम्। [अनुपलम्भात्। सोऽपि कुतः।] वर्णानां क्रमोत्पन्नानामनित्यानामेतेषां नामधेयाति (पाठ छूटा हुआ है) समुदायाभावात्। न च तत्समुदय (पाठ छूटा हुआ है) अनुपलम्भात्। न च वर्णादर्थप्रतिपत्तिः; प्रतिवर्णमर्थप्रतिपत्तिप्रसंगात्। नित्यानित्योभयपक्षेषु संकेतग्रहणानुपपत्तेश्च न पदवाक्येभ्योऽर्थप्रतिपत्तिः। नासंकेतितः शब्दोऽर्थप्रतिपादकः अनुपलम्भात्। ततो न शब्दादर्थप्रतिपत्तिरिति सिद्धम् ॥§२१५॥ न च वर्ण-पद-वाक्यव्यतिरिक्तः नित्योऽक्रमः अमूर्तो निरवयवः सर्वगतः अर्थप्रतिपत्तिनिमित्तं स्फोट इति; अनुपलम्भात् ॥§२१६॥...न; बहिरङ्गशब्दात्मकनिमित्तं च (तेभ्यः) क्रमेणोत्पन्नवर्णप्रत्ययेभ्यः अक्रमस्थितिभ्यः समुत्पन्नपदवाक्याभ्यामर्थविषयप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्। न च वर्णप्रत्ययानां क्रमोत्पन्नानां पदवाक्यप्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तानामक्रमेण स्थितिर्विरुद्धा; उपलभ्यमानत्वात्।...न चानेकान्ते एकान्तवाद इव संकेतग्रहणमनुपपन्नम्; सर्वव्यवहाराणा [मनेकान्त एवं सुघटत्वात्। ततः] वाच्यवाचकभावो घटत इति स्थितम्। =प्रश्न—*क्रमसे उत्पन्न होनेवाले अनित्य वर्णोंका समुदाय* असत् होनेसे पद और वाक्योंका ही जब अभाव है, तो वे अर्थप्रतिपादक कैसे हो सकते हैं? और केवल वर्णोंसे ही अर्थका ज्ञान हो जाय ऐसा है नहीं, क्योंकि 'घ' 'ट' आदि प्रत्येक वर्णसे अर्थके ज्ञानका प्रसंग आता है? सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य और सर्वथा उभय इन तीनों पक्षोंमें ही संकेतका ग्रहण नहीं बन सकता इसलिए पद और वाक्योंसे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि संकेत रहित शब्द पदार्थका प्रतिपादक होता हुआ नहीं देखा जाता? वर्ण, पद और वाक्यसे भिन्न, नित्य, क्रमरहित, अमूर्त, निरवयव, सर्वगत 'स्फोट' नामके तत्त्वको पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका कारण मानना भी

ठीक नहीं; क्योंकि, उस प्रकारकी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हो रही है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाह्य शब्दात्मक निमित्तोंसे क्रमपूर्वक जो 'घ' 'ट' आदि वर्णज्ञान उत्पन्न होते हैं, और जो ज्ञानमें अक्रमसे स्थित रहते हैं, उनसे उत्पन्न होनेवाले पद और वाक्योंसे अर्थ विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है। पद और वाक्योंके ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत तथा क्रमसे उत्पन्न वर्ण विषयक ज्ञानोंकी अक्रमसे स्थिति माननेमें भी विरोध नहीं आता; क्योंकि, वह उपलब्ध होती है। तथा जिस प्रकार एकान्तवादमें संकेतका ग्रहण नहीं बनता है, उसी प्रकार अनेकान्तमें भी न बनता हो, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त व्यवहार अनेकान्तवादमें ही सुघटित होते हैं। (अर्थात् वर्ण व वर्णज्ञान कथंचित भिन्न भी है और कथंचित अभिन्न भी) अतः वाच्यवाचक भाव बनता है, यह सिद्ध होता है।

५. शब्द अल्प हैं और अर्थ अनन्त हैं

रा. वा./१/२६/४/८७/२३ शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव, द्रव्यपर्यायाः पुनः संख्येयाऽसंख्येयानन्तभेदाः। —सर्व शब्द तो संख्यात ही होते हैं। परन्तु द्रव्योंकी पर्यायोंके संख्यात असंख्यात व अनन्त भेद होते हैं।

६. अर्थ प्रतिपादनकी अपेक्षा शब्दमें प्रमाण व नयपना

रा. वा./४/४२/१३/२५२/२२ यदा वक्ष्यमाणैः कालादिभिरस्तित्वादीनां धर्माणां भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्त्याभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकत्वापन्नस्य अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसंभवात् यौगपद्यम्। तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः, स एव प्रमाणमित्युच्यते।···यदा तु क्रमः तदा विकलादेशः स एव नय इति व्यपदिश्यते। —जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं, उस समय एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिककी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है, तब एक भी शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्य रूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्ड भावसे युगपत कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नय रूप है और सकलादेश प्रमाण रूप है।

७. शब्दका अर्थ देशकालानुसार करना चाहिए

स. म./१४/१७१/२१ में उद्धृत "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।" —स्वाभाविक शक्ति तथा संकेतसे अर्थका ज्ञान करानेवालेको शब्द कहते हैं।

८. भिन्न क्षेत्र व कालादिमें शब्दका अर्थ भिन्न भी होता है

१. कालकी अपेक्षा

स. म./१४/१७८/३० कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ··· प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव संकेत्यते जीतकल्पव्यवहारानुसारात्। —जीतकल्प व्यवहारके अनुसार प्रायश्चित्त विधिमें प्राचीन समयमें 'षड्गुरु' शब्दका अर्थ एक सौ अस्सी उपवास किया जाता था, परन्तु आजकल उसी 'षड्गुरु' का अर्थ केवल तीन उपवास किया जाता है।

२. शास्त्रोंकी अपेक्षा

स. म./१४/१७९/४ शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी। त्रिपुरार्णवे च अलिशब्देन मदिराभिधिक्तं च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् इत्यादि। —पुराणोंमें उपवासके नियमोंका वर्णन करते समय 'द्वादशी' का अर्थ एकादशी किया जाता है; शाक्त लोगोंके ग्रन्थोंमें 'अलि' शब्द मदिरा और 'मैथुन' मधु शब्द शहद और घीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

३. देशकी अपेक्षा

स. म./१४/१७८/२८ चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। —'चौर' शब्दका साधारण अर्थ तस्कर होता है, परन्तु दक्षिण देशमें इस शब्दका अर्थ चावल होता है। 'कुमार' शब्दका सामान्य अर्थ युवराज होनेपर भी पूर्व देशमें इसका अर्थ आश्विन मास किया जाता है। 'कर्कटी' शब्दका अर्थ ककड़ी होनेपर भी कहीं-कहीं इसका अर्थ योनि किया जाता है।

९. शब्दार्थकी गौणता सम्बन्धी उदाहरण

स.भ.त./७०/४ उक्तिश्चावाच्यतैकान्तेनावाच्यमिति युज्यते। इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यवचनं कथं संघटते।···न तदर्थपरिज्ञानात्। अयं खलु तदर्थः, सत्त्वाद्यैकैकधर्ममुखेन वाच्यमेव वस्तु युगपत्प्रधानभूतसत्त्वासत्त्वोभयधर्मावच्छिन्नत्वेनावाच्यम्। —प्रश्न—अवाच्यताका जो कथन है वह एकान्त रूपसे अकथनीय है, ऐसा माननेसे 'अवाच्यता युक्त न होगी', यह श्री समन्तभद्राचार्यका कथन कैसे संगत होगा ? उत्तर—ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि तुमने स्वामी समन्तभद्राचार्यजीके वचनोंको नहीं समझा। उस वचनका निश्चय रूपसे अर्थ यह है कि सत्त्व आदि धर्मोंमें-से एक-एक धर्मके द्वारा जो पदार्थ वाच्य है अर्थात् कहने योग्य है, वही पदार्थ प्रधान भूत सत्त्व असत्त्व इस उभय धर्म सहित रूपसे अवाच्य है।

रा.वा./२/७/५/११/२ रूढिशब्देषु हि क्रियोपात्तकाला व्युत्पत्त्यर्थैव न तन्त्रम्। यथा गच्छतीति गौरिति।···

रा. वा./२/१२/२/१२६/३० कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' इति। व्युत्पत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दप्रवृत्तिवत्।···एवं रूढिविशेषबललाभात् क्वचिदेव वर्तते। —जितने रूढि शब्द हैं उनकी भूत भविष्यत वर्तमान कालके आधीन जो भी क्रिया हैं वे केवल उन्हें सिद्ध करनेके लिए हैं। उनसे जो अर्थ द्योतित होता है वह नहीं लिया जाता है। प्रश्न—जो भयभीत होकर गति करे सो त्रस यह व्युत्पत्ति अर्थ ठीक नहीं है। (क्योंकि गर्भस्थ अण्डस्थ आदि जीव त्रस होते हुए भी भयभीत होकर गमन नहीं करते। उत्तर—'त्रस्यन्तीति त्रसाः' यह केवल "गच्छतीति गौः" की तरह व्युत्पत्ति मात्र है। (रा. वा./२/१३/१/१२७) (रा. वा./२/३६/३/१४५)

५. आगमकी प्रामाणिकतामें हेतु

१. आगमकी प्रामाणिकताका निर्देश

ध. १/१,१,७५/३१४/५ चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव। —जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है।

२. वक्ताकी प्रामाणिकतासे वचनकी प्रामाणिकता

ध. १/१,१,२२/१९६/४ वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्। —वक्ताकी प्रमाणतासे वचनमें प्रमाणता आती है। (ज. प./१३/८४)

पं.वि./४/१० सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः सूनृततां व्रजेत्। प्रामाण्यतो यतः पुंसो वाचः प्रामाण्यमिष्यते ॥१०॥ —जो धर्म सर्वज्ञ और वीतरागके द्वारा कहा गया है वही यथार्थताको प्राप्त हो सकता है, क्योंकि पुरुषकी प्रमाणतासे ही वचनमें प्रमाणता मानी जाती है।

३. आगमकी प्रामाणिकताके उदाहरण

ध. ४/१,५,३२०/३८२/११ तं कधं णव्वदे। आइरियपरंपरागदोवदेसादो। —यह कैसे जाना जाता है कि उपशम सम्यक्त्वकी शलाकाएँ

पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र होती है ? उत्तर—आचार्य परम्परागत उपदेशसे यह जाना जाता है'। (ध. ५/१,६,३६/३१/५) (ध. १४/१६४/१; १६१/२; १७०/१३; १७३/१६; २०८/११; २०६/११; ३७०/१०; ५१०/२)

ध. ६/१,६-१,२८/६५/२ एइंदियादिसु अव्वत्तचेट्ठेसु कधं सुहवदुहवभावा णज्जंते। ण तत्थ तेसिमव्वत्ताणमागमेण अत्थित्तसिद्धीदो।—प्रश्न—अव्यक्त चेष्टावाले एकेन्द्रिय आदि जीवोंमें सुभग और दुर्भग भाव कैसे जाने जाते हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय आदिमें अव्यक्त रूपसे विद्यमान उन भावोंका अस्तित्व आगमसे सिद्ध है।

ध. ७/२,१,५६/६६/८ ण दंसणमत्थि विसयाभावादो।

ध. ७/२,१,५६/६८/१ अत्थि दंसणं, सुत्तम्मि अट्ठकम्मणिद्देसादो।…इच्चादि-उवसंहारसुत्तदंसणादो च। —प्रश्न—दर्शन है नहीं, क्योंकि उसका कोई विषय ही नहीं है ? उत्तर—दर्शन है क्योंकि, सूत्रमें आठ कर्मोंका निर्देश किया गया है।…इस प्रकारके अनेक उपसंहार सूत्र देखनेसे भी, यही सिद्ध होता है कि दर्शन है।

४. अर्हंत् व अतिशयज्ञानवालोंके द्वारा प्रणीत होनेके कारण

रा. वा./८/१६/५६२ तदसिद्धिरिति चेत्; न; अतिशयज्ञानाकरत्वात् ॥१६॥ अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेत्; न; अतएव तेषां संभवात् ॥१७॥…आर्हतमेव प्रवचनं तेषां प्रभवः। उक्तं च—सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः। तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः (द्वात्रि०/१/३) श्रद्धामात्रमिति चेत्; न; भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत् ॥१८॥ तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेत्, न; निःसारत्वात् काचादिवत् ॥१९॥ —प्रश्न—अर्हतका आगम पुरुषकृत होनेसे अप्रमाण है ? उत्तर—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह अतिशय ज्ञानोंका आकार है। प्रश्न—अतिशय ज्ञान अन्यत्र भी देखे जाते हैं ? अतएव अर्हत आगमको ही ज्ञानका आकार कहना उपयुक्त नहीं है ? उत्तर—अन्यत्र देखे जानेवाले अतिशय ज्ञानोंका मूल उद्भवस्थान आर्हत प्रवचन ही है। कहा भी है कि 'यह अच्छी तरह निश्चित है कि अन्य मतोंमें जो युक्तिवाद और अच्छी बातें चमकती हैं वे तुम्हारी ही हैं। वे चतुर्दश पूर्व रूपी महासागरसे निकली हुई जिनवाक्य रूपी बिन्दुएँ हैं।' प्रश्न—यह सब बातें केवल श्रद्धामात्र गम्य हैं ? उत्तर—श्रद्धामात्र गम्य नहीं अपितु युक्तिसिद्ध हैं जैसे गाँव, नगर, या बाजारोंमें कुछ रत्न देखे जाते हैं फिर भी उनकी उत्पत्तिका स्थान रत्नाकर समुद्र ही माना जाता है। प्रश्न—यदि वे व्याकरण आदि अर्हत्प्रवचनसे निकले हैं तो उनकी तरह प्रमाण भी होने चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि वे निस्सार हैं। जैसे नकली रत्न क्षार और सीप आदि भी रत्नाकरसे उत्पन्न होते हैं परन्तु निःसार होनेसे त्याज्य हैं। उसी तरह जिनशासन समुद्रसे निकले वेदादि निःसार होनेसे प्रमाण नहीं हैं।

रा.वा./६/२७/५/५३२ अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्, भगवतामर्हतामतिशयवज्ज्ञानं युगपत्सर्वार्थविभासनसमर्थं प्रत्यक्षम्, तेन दृष्टं तद्दृष्टं यच्छास्त्रं तद् यथार्थोपदेशकम्, अतस्तत्प्रामाण्याद् ज्ञानावरणाद्यास्रवनियमप्रसिद्धिः। —शास्त्र अतिशय ज्ञानवाले युगपत् सर्वावभासनसमर्थ प्रत्यक्षज्ञानी केवलीके द्वारा प्रणीत है, अतः प्रमाण है। इसलिए शास्त्रमें वर्णित ज्ञानावरणादिकके आस्रवके कारण आगमानुगृहीत है।

गो.जी./जी.प्र./१९६/४३८/१ किं बहुना सर्वतत्त्वानां प्रवक्तरि पुरुषे आप्ते सिद्धे सति तद्वाक्यस्यागमस्य सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रामाण्यसुप्रसिद्धेः। —बहुत कहने करि कहा ? सर्व तत्त्वनिका वक्ता पुरुष जो है आप्त-ताकी सिद्धि होते तिस आप्तके वचन रूप जो आगम ताकी सूक्ष्म अंतरित दूरी पदार्थनिविषै प्रमाणताकी सिद्धि हो है।

रा.वा./हिं./६/२७/५२७ अर्हंत सर्वज्ञ…के वचन प्रमाणभूत हैं…स्वभाव विषै तर्क नाहीं।

५. वीतराग द्वारा प्रणीत होनेके कारण

ध.१/१,१,२२/१९६/५ विगताशेषदोषावरणत्वात् प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोधस्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम् अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात्। —जिसने सम्पूर्ण भावकर्म व द्रव्यकर्मको दूर कर देनेसे सम्पूर्ण वस्तु विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है वही आगमका व्याख्याता हो सकता है। ऐसा समझना चाहिए। अन्यथा पौरुषेयत्व रहित इस आगमको भी पौरुषेय आगमके समान अप्रमाणताका प्रसंग आ जायेगा।

ध.३/१,२,२/१०-११/१२ आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः। त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥१०॥ रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति।—आप्तके वचनको आगम जानना चाहिए और जिसने जन्म जरादि अठारह दोषोंका नाश कर दिया है उसे आप्त जानना चाहिए। इस प्रकार जो त्यक्त दोष होता है, वह असत्य वचन नहीं बोलता है, क्योंकि उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण ही सम्भव नहीं है ॥१०॥ रागसे, द्वेषसे, अथवा मोहसे असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं हैं उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण भी नहीं पाया जाता ॥१०॥ (ध.१०/४,२,४६०/२८०/२)

ध.१०/५,५,१२१/३८२/१ पमाणत्तं कुदो णव्वदे। रागदोषमोहभावेण पमाणीभूदपुरिसपरंपराए आगमत्तादो। —प्रश्न—सूत्रकी प्रमाणता कैसे जानी जाती है ? उत्तर—राग, द्वेष और मोहका अभाव हो जानेसे प्रमाणीभूत पुरुष परम्परासे प्राप्त होनेके कारण उसकी प्रमाणता जानी जाती है।

स.म./१७/२३७/१ तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव। तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम्। —सर्वज्ञ आप्त-द्वारा बनाया आगम ही प्रमाण है। जिस आगमका बनानेवाला सदोष होता है वही आगम अप्रमाण होता है।

अन.ध./२/२० जिनोक्ते वा कुतो हेतुबाधगन्धोऽपि शङ्क्यते। रागादिना विना को हि करोति वितथं वचः ॥२०॥ —कौन पुरुष होगा जो कि रागद्वेषके बिना वितथ मिथ्या वचन बोले। अतएव वीतरागके वचनोंमें अंश मात्र भी बाधाकी सम्भावना किस तरह हो सकती है।

६. गणधरादि आचार्यों-द्वारा कथित होनेसे प्रमाण है

क.पा.१/१,१५/§११६/१५३ णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहरपत्तेयबुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारयस्स अभावादो; ण; णिद्दोसपक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सरिसत्तमत्थि त्ति गुणहराइरियगाहाणं पि सुत्तत्तुवलंभादो…एदं सव्वं पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाणं चेव संभवइ ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, ण सच्च (सुत्त) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्तं पडि विरोहाभावादो। —प्रश्न—(कषाय प्राभृत सम्बन्धी) एक सौ अस्सी गाथाएँ सूत्र नहीं हो सकती हैं, क्योंकि गुणधर भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं, और न अभिन्न दशपूर्वी ही हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि गुणधर भट्टारककी गाथाएँ निर्दोष हैं, अल्प अक्षरवाली हैं, सहेतुक हैं, अतः वे सूत्रके समान हैं, इसलिए गुणधर आचार्यकी गाथाओंमें सूत्रत्व पाया जाता है। प्रश्न—यह सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो जिनदेवके मुखकमलसे निकले हुए अर्थ पदोंमें ही सम्भव हैं, गणधरके मुखसे निकली ग्रन्थ रचनामें नहीं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि गणधरके वचन भी सूत्रके समान होते हैं। इसलिए उनके वचनोंमें सूत्रत्व होनेके प्रति विरोधका अभाव है।

७. प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके द्वारा प्रणीत होनेसे प्रमाण है

स.सि./८/२६/४०५ व्याख्यातो सप्रपञ्चः बन्धपदार्थः। अवधिमनःपर्यय-केवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेयः। =इस प्रकार विस्तारके साथ बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष-प्रमाण-गम्य है, और इन ज्ञानवाले जीवोंके द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

८. आचार्य परम्परासे आगत होनेके कारण प्रमाण है

ध.१३/५,५,१२१/३८२/१ पमाणत्तं कुदो णव्वदे।...पमाणीभूदपुरिसपरं-पराए आगदत्तादो। =प्रश्न—सूत्रमें प्रमाणता कैसे जानी जाती है? उत्तर—प्रमाणीभूत पुरुष परम्परासे प्राप्त होनेके कारण उसकी प्रमाणता जानी जाती है।

९. आचार्य कोई बात अपनी तरफ़से नहीं लिखते इस-लिए प्रमाण है

क.पा.१/१,१५/§६३/८२/२ तं च उवदेसं लहिय वत्तव्वं। =उपदेश ग्रहण करके अर्थ कहना चाहिए।

ध.१/१,१,२७/२२२/४ दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे सुद-केवली केवली वा जाणादि। =प्रश्न—दोनों प्रकारके वचनोंमें-से किसको सत्य माना जाये? उत्तर—इस बातको केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं। (ध.१/१,१,३७/२६२/१), (ध.७/२,११,७५/५४०/४)

ध.६/४,१,७१/३३३/३ दोण्हं सुत्ताणं विरोहे संतेत्थप्पावलंबणस्स णाइय-त्तादो। =दो सूत्रोंके मध्य विरोध होनेपर चुप्पीका अवलम्बन करना ही न्याय है। (ध.६/४,१,४४/१२६/४), (ध.१४/५,६,११६/-१५१/५)

ध.१४/५,६,११६/२१६/११ सच्चमेदमेक्केणेव होदव्वमिदि, किंतु अणेणेव होदव्वमिदि ण वट्टमाणकाले णिच्छओ कादुं सक्किज्जदे, जिण-गणहर-पत्तेयबुद्ध-पण्णसमण-सुदकेवलिआदीणमभावादो। =यह सत्य है कि इन दोनोंमें-से कोई एक अल्पबहुत्व होना चाहिए किन्तु यही अल्पबहुत्व होना चाहिये इसका वर्तमान कालमें निश्चय करना शक्य नहीं है, क्योंकि इस समय जिन, गणधर, प्रत्येकबुद्ध, प्रज्ञाश्रमण, और श्रुतकेवली आदिका अभाव है। (गो.जी./जी.प्र./२८८/६१६/२-४) (और भी दे० आगम/१/१३)

१०. विचित्र द्रव्यों आदिका प्ररूपक होनेके कारण प्रमाण है

प्र.सा./त.प्र./२३५ आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते...विचित्र-गुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकाने-कान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। =आगम-द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं। आगमसे वे द्रव्य विचित्र गुण पर्यायवाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगमको सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमें व्यापक अनेकान्तमय होनेसे प्रमाणताकी उपपत्ति है।

११. पूर्वापर अविरोधी होनेके कारण प्रमाण है

अष्टसहस्री/पृ० ६२ (निर्णय सागर बम्बई) "अविरोधश्च यस्मादिष्टं (प्रयोजनभूतं) मोक्षादिकं तत्त्वं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्ति-शास्त्राविरोधी वाक्...।" =इष्ट अर्थात् प्रयोजनभूत मोक्ष आदितत्त्व किसी भी प्रसिद्ध प्रमाणसे बाधित न होनेके कारण अविरोधी हैं। जहाँपर जिसका अभिमत प्रमाणसे बाधित नहीं होता, वह वहाँ युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी वचनवाला होता है।

अन. ध./२/१८/१३३ दृष्टेऽर्थेऽध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः। पूर्वापरा-विरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम् ॥१८॥ =आगममें तीन प्रकारके पदार्थ बताये हैं—दृष्ट, अनुमेय और परोक्ष। इनमें-से जिस तरहके पदार्थको बतानेके लिए आगममें जो वाक्य आया हो उसको उसी तरहसे प्रमाण करना चाहिए। यदि दृष्ट विषयमें आया हो तो प्रत्यक्षसे और अनुमेय विषयमें आया हो तो अनुमानसे तथा परोक्ष विषयमें आया हो तो पूर्वापरका अविरोध देखकर प्रमाणित करना चाहिए।

क. पा. १/१,१५/§३०/४४/४ कथं णामसण्णिदाण पदवक्काणं पमाणत्तं। ण, तेसु विसंवादाणुवलंभादो। =प्रश्न—नाम शब्दसे बोधित होने वाले पद और वाक्योंको प्रमाणता कैसे? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन पदोंमें विसंवाद नहीं पाया जाता, इसलिए वे प्रमाण हैं।

१२. युक्तिसे बाधित नहीं होनेके कारण

अष्टसहस्री/पृ. ६२ (नि. सा. बम्बई) "यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।" =जहाँ जिसका अभिमत तत्त्व प्रमाणसे बाधित नहीं होता, वहाँ वह युक्ति और शास्त्रसे अवि-रोधी वचनवाला है।

ति. प./७/६१३/७६६/३ तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेत्ति एयंतपरिग्गहेण असग्गाहो कायव्वो, परमगुरुपरंपरागउवएसस्स जुत्तिबलेण विहडावे-दुमसक्कियत्तादो। ='यह ऐसा ही है' इस प्रकार एकान्त कदाग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुरु परम्परासे आये उपदेशको युक्तिके बलसे विघटित नहीं किया जा सकता।

ध. ७/२,१,५६/८८/१० आगमपमाणेण होदु णाम दंसणस्स अत्थित्तं ण जुत्तीए चे। ण, जुत्तीहि आगमस्स बाहाभावादो आगमेण वि जच्चा जुत्ती ण बाहिज्जदि ति चे। सच्चं ण बाहिज्जदि जच्चा जुत्ती, किंतु इमा बाहिज्जदि जच्चत्ताभावादो। =प्रश्न—आगम प्रमाणसे भले दर्शनका अस्तित्व हो, किन्तु युक्तिसे तो दर्शनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता? उत्तर—होता है, क्योंकि युक्तियोंसे आगमकी बाधा नहीं होती। प्रश्न—आगमसे भी तो जात्य अर्थात् उत्तम युक्तिकी बाधा नहीं होनी चाहिए? उत्तर—सचमुच ही आगमसे युक्तिकी बाधा नहीं होती, किन्तु प्रस्तुत युक्तिकी बाधा अवश्य होती है, क्योंकि वह उत्तम युक्ति नहीं है।

ध. १२/४,२,१३,५५/३९९/१३ ण च जुत्तिविरुद्धत्तादो ण सुत्तमेदमिदि बोत्तुं सक्किज्जदे, सुत्तविरुद्धाए जुत्तित्ताभावादो। ण च अप्पमाणेण पमाणं बाहिज्जदे, विरोहादो। =प्रश्न—युक्ति विरुद्ध होनेसे यह सूत्र ही नहीं है? उत्तर—ऐसा कहना शक्य नहीं है। क्योंकि जो युक्ति सूत्रके विरुद्ध हो वह वास्तवमें युक्ति ही सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त अप्रमाणके द्वारा प्रमाणको बाधा नहीं पहुँचायी जा सकती क्योंकि वैसा होनेमें विरोध है। (गो. जी./जी. प्र./१९६/४३६/१५)

ध. १२/४,२,१४,३८/४९४/१५ ण च सुत्तपडिकूलं वक्खाणं होदि, वक्खा-णाभासत्तादो। ण च जुत्तीए सुत्तस्स बाहा संभवदि, सयलबाहादी-दस्स सुत्तववएसादो। =सूत्रके प्रतिकूल व्याख्यान होता नहीं है। क्योंकि वह व्याख्यानाभास कहा जाता है। प्रश्न—यदि कहा जाय कि युक्तिसे सूत्रको बाधा पहुँचायी जा सकती है? उत्तर—सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त बाधाओंसे रहित है उसकी सूत्र संज्ञा है। (ध. १४/५,६,५५२/४५९/१०)

१३. प्रथमानुयोगकी प्रामाणिकता

नोट—भ. आ./मूलमें स्थल-स्थलपर अनेकों कथानक दृष्टान्त रूपमें दिये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि प्रथमानुयोग जो बहुत पीछेसे लिपिबद्ध हुआ वह पहलेसे आचार्योंको ज्ञात था।

६. आगमकी प्रामाणिकताके हेतुओं सम्बन्धी शंका समाधान

१. अर्वाचीन पुरुषों-द्वारा लिखित आगम प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं

ध. १/१,१,२२/१९७/१ अप्रमाणमिदानीतनः आगमः आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसंपन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात् । कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातॄणां तदविरोधात् । प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, दृष्टविषये सर्वत्राविसंवादात् । अदृष्टविषयेऽप्यविसंवादिनागमभावेनैकत्वे सति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणकत्वात् । ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसंपन्नभूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः । =प्रश्न—आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि अर्वाचीन पुरुषोंने इसके व्याख्यानका अर्थ किया है ? उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस काल सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त आचार्योंके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिए आधुनिक आगम भी प्रमाण है। प्रश्न—छद्मस्थोंके सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्योंके प्रमाणता माननेमें विरोध नहीं है। प्रश्न—आगमका विवक्षित अर्थ प्रामाणिक गुरुपरम्परासे प्राप्त हुआ है यह कैसे निश्चित किया जाये ? उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है। और परोक्ष विषयमें भी, जिसमें परोक्ष विषयका वर्णन किया गया है वह भाग अविसंवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको प्राप्त होनेपर अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है। अथवा आधुनिक ज्ञान विज्ञानसे युक्त आचार्योंके उपदेशसे उसकी प्रामाणिकता जाननी चाहिए।

क. पा. १/१,१५/§६४/८२ जिणउवदिट्ठत्तादो होदु दव्वागमो पमाणं, किंतु अप्पमाणीभूदपुरिसपव्वोलीकमेण आगयत्तादो अप्पमाणं वट्टमाणकालदव्वागमो, त्ति ण पच्चवट्ठादुं जुत्तं; राग-दोष-भयादीदआयरियपव्वोलीकमेण आगयस्स अपमाणत्तविरोहादो। =प्रश्न—जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट होनेसे द्रव्यागम प्रमाण होओ, किन्तु वह अप्रमाणीभूत पुरुष परम्परासे आया हुआ है…अतएव वर्तमान कालीन द्रव्यागम अप्रमाण है ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यागम राग, द्वेष और भयसे रहित आचार्यसे आया हुआ है, इसलिए उसे अप्रमाण माननेमें विरोध आता है।

२. पूर्वापर विरोध होते हुए भी प्रामाणिक कैसे है

ध. १/१,१,२७/२२१/४ दोण्हं वयणाणं मज्झे एक्कमेवसुत्तं होदि, तदो जिणा ण अण्णहा वाइयो, तदो तव्वयणाणं विप्पडिसेहो इदि चे सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि एयाइं आइल्लु आइरिय-वयणाइं, तदो एयाणं विरोहस्सत्थि संभवो इदि। =प्रश्न—दोनों प्रकारके वचनोंमें-से कोई एक ही सूत्र रूप हो सकता है ? क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते, अतः इनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिए ? उत्तर—यह कहना सत्य है कि वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिए। परन्तु ये जिनेन्द्र देवके वचन न होकर उनके पश्चात आचार्योंके वचन हैं, इसलिए उनमें विरोध होना सम्भव है।

ध. ८/२,२८/५६/१० कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झई…कधं सुत्ताणं विरोहो। ण, सुत्तोवसंहारणमसयलसुदधारयाइरियपरतंताणं विरोहसंभवदंसणादो । =प्रश्न—कषायप्राभृतके सूत्रसे तो यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता है ? उत्तर—…सचमुचमें यह सूत्र कषायप्राभृतके सूत्रसे विरुद्ध है। प्रश्न—…सूत्रमें विरोध कैसे आ सकता है ? उत्तर—अल्प श्रुतज्ञानके धारक आचार्योंके परतन्त्र सूत्र व उपसंहारोंके विरोधकी सम्भावना देखी जाती है।

ध. १/१,१,२७/२२१/७ कथं सुत्तत्तणमिदि। आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं…बुद्धिसु ओहट्टंतीसु…वज्जभीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तण-विरोहादो। जदि एवं, तो एयाणं पि वयणाणं तदवयवत्तादो सुत्तत्तणं पावदि त्ति चे भवदु दोण्हं मज्झे एक्कस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि परोप्पर-विरोहादो। =प्रश्न—तो फिर (उन विरोधी वचनोंको)…सूत्रपना कैसे प्राप्त होता है ? उत्तर—आचार्य परम्परासे निरन्तर चले आ रहे (सूत्रोंको)…बुद्धि क्षीण होनेपर…पाप भीरु (तथा) जिन्होंने गुरु परम्परासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था, उन आचार्योंने तीर्थ व्युच्छेदके भयसे उस समय अवशिष्ट रहे हुए…अर्थको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता। (ध. १३/५.५.१२०/३८१/५) प्रश्न—यदि ऐसा है तो दोनों ही वचनोंको द्वादशांगका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जायेगा ? उत्तर—दोनोंमें-से किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किन्तु दोनोंको सूत्रपना प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है। (ध. १/१,१,३६/२६१/१)

ध० १३/५, ५, १२०/३८१/७ विरुद्धाणं दोण्णमत्थाणं कधं सुत्तं होदि त्ति वुत्ते—सच्चं, जं सुत्तं तमविरुद्धत्थपरूपयं चेव। किंतु णेदं सुत्तं, सुत्तमिव सुत्तमिदि एदस्स उवयारेण सुत्तत्तब्भुवगमादो। किं पुण सुत्तं। गणहर…पत्तेयबुद्ध—सुदकेवलि…अभिण्णदसपुव्विकहियं…॥३४॥ ण च भूदबलिभडारओ गणहरो पत्तेयबुद्धो सुदकेवली अभिण्णदसपुव्वी वा जेणेदं सुत्तं होज्ज। =प्रश्न—विरुद्ध दो अर्थोंका कथन करनेवाला सूत्र कैसे हो सकता है ? उत्तर—यह कहना सत्य है, क्योंकि जो सूत्र है वह अविरुद्ध अर्थका ही प्ररूपण करनेवाला होता है। किन्तु यह सूत्र नहीं है, क्योंकि सूत्रके समान जो होता है वह सूत्र कहलाता है, इस प्रकार इसमें उपचारसे सूत्रपना स्वीकार किया गया है। प्रश्न—तो फिर सूत्र क्या है ? उत्तर—जिसका गणधर देवोंने, प्रत्येक बुद्धोंने…श्रुतकेवलियोंने…तथा अभिन्न दश पूर्वियोंने कथन किया वह सूत्र है। परन्तु भूतबली भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं, न अभिन्नदशपूर्वी ही हैं; जिससे कि यह सूत्र हो सके।

क. पा. ३/३-२२/§ ५१३/२९२/१ पुव्विल्लवक्खाणं ण भद्दयं, सुत्तविरुद्धत्तादो। ण, वक्खाणभेदसंदरिसणट्ठं तप्पवुत्तीदो पडिवक्खणयणिरायरणमुहेण पउत्तणओ ण भद्दओ। ण च एत्थ पडिवक्खणिरायरणमत्थि तम्हा वे वि णिरवज्जे त्ति घेत्तव्वं। =प्रश्न—पूर्वोक्त व्याख्यान समीचीन नहीं हैं ?, क्योंकि वे सूत्र विरुद्ध हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि व्याख्यान भेदके दिखलानेके लिए पूर्वोक्त व्याख्यानकी प्रवृत्ति हुई है। जो नय प्रतिपक्ष नयके निराकरणमें प्रवृत्ति करता है, वह समीचीन नहीं होता है। परन्तु यहाँपर प्रतिपक्ष नयका निराकरण नहीं किया गया है, अतः दोनों उपदेश निर्दोष हैं ऐसा प्रकृतमें ग्रहण करना चाहिए।

३. आगम व स्वभाव तर्कके विषय ही नहीं हैं

ध० १/१, १, २५/२०६/६ आगमस्यातर्कगोचरत्वात् =आगम तर्क का विषय नहीं है। (ध./४.१४/५, ६, ११६/१५१/८)

ध. १/१, १, २४/ २०४/३ प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्धेतुप्रयोगः कर्तव्यः प्रतिज्ञामात्रतः साध्यसिद्धयनुपपत्तिरिति चेन्नेदं प्रतिज्ञावाक्यं प्रमाणत्वात्, ण हि प्रमाणान्तरमपेक्षतेऽनवस्थापत्तेः। =प्रश्न—('नरक गति है') इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए हेतुका प्रयोग करना चाहिए, 'क्योंकि केवल प्रतिज्ञा वाक्यसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ('नरकगति हैं' इत्यादि)

वचन प्रतिज्ञा वाक्य न होकर प्रमाण वाक्य हैं। जो स्वयं प्रमाण स्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं। यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्था दोष आता है।

ध. १/१,१,४१/२७१/३ ते तादृक्षाः सन्तीति कथमवगम्यत इति, चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्। न हि प्रमाणप्रकाशितार्थावगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते। –प्रश्न–साधारण जीव उक्त लक्षण (अभी तक जिन्होंने त्रस पर्याय नहीं प्राप्त की) होते हैं यह कैसे जाना जाता है? उत्तर–ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आगम तर्कका विषय नहीं है। एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है।

ध०१/१,१-१,६/११९/१ आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिंदियत्थविसओ अचिंतियसहाओ जुत्तिगोयरादीदो। –जो केवलज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय करनेवाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्तिके विषयसे परे है, उसका नाम आगम है।

४. छद्मस्थोंका ज्ञान प्रामाणिकताका माप नहीं है

ति. प./७/६१३/पृ ७६६/ पं. ४ अदिंदिएसु पदत्थेसु छदुमत्थवियप्पाणमविसंवादणियमाभावादो। तम्हा पुव्वाइरियवक्खाणापरिच्चाएण एसा वि दिसा हेदुवादाणुसारिविउप्पण्णसिस्साणुग्गहण-अवुप्पण्णजणउप्पायणट्ठं चदरिसेदव्वा। तदो ण एत्थ संपदायविरोधो कायव्वो त्ति। –अतिन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें अल्पज्ञोंके द्वारा किये गये विकल्पोंके विरोध न होनेका कोई नियम भी नहीं है। इसलिए पूर्वाचार्योंके व्याख्यानका परित्याग न कर हेतुवादका अनुसरण करनेवाले अव्युत्पन्न शिष्योंके अनुग्रहण और अव्युत्पन्न जनोंके व्युत्पादनके लिए इस दिशाका दिखलाना योग्य ही है, अतएव यहाँ सम्प्रदाय विरोधकी भी आशंका नहीं करनी चाहिए।

ध. १३/५,५,१३७/३८६/२ न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत। –केवलज्ञानके द्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसलिए यदि छद्मस्थोंको कोई अर्थ नहीं उपलब्ध होते हैं तो जिनवचनोंको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

ध. १५/३१७/६ सयलसुदविसयावगमे पयडिजीवभेदेण णाणाभेदभिण्णे असंते एदं ण होदि त्ति वोत्तुमसक्कियत्तादो। तम्हा सुत्ताणुसारिणा सुत्ताविरुद्धवक्खाणम वलंबेयव्वं। –समस्त श्रुतविषयक ज्ञान होनेपर तथा प्रकृति एवं जीवके भेदसे नाना रूप भेदके न होनेपर यह नहीं हो सकता 'ऐसा कहना शक्य नहीं है। इस कारण सूत्रका अनुसरण करनेवाले प्राणीको सूत्रसे अविरुद्ध व्याख्यानका अवलम्बन करना चाहिए।

पं. वि./१/१२५ यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्धया। खे पत्रिणां विचरतां सदृशेक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्धः॥१२५॥ –जो सर्वज्ञके भी वचनोंमें सन्दिग्ध होकर अपनी बुद्धिसे तत्त्वके विषयमें भी कुछ कल्पना करता है, वह अज्ञानी पुरुष निर्मल नेत्रोंवाले व्यक्तिके द्वारा देखे गये आकाशमें विचरते हुए पक्षियोंकी संख्याके विषयमें विवाद करनेवाले अन्धेके समान आचरण करता है ॥१२॥ (पं. वि./१३/३४)

५. आगममें भूल सुधार व्याकरण व सूक्ष्म विषयोंमें करनेको कहा है प्रयोजनभूत तत्त्वोंमें नहीं।

नि.सा./मू./१८७ णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणाम सुदं। णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोष णिम्मुक्कं ॥१८७॥ –पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेशको जानकर मैंने निज भावनाके निमित्तसे नियमसार नामका शास्त्र किया है।

नि.सा./ता. १८७/क. ३१० अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत्। लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥ –इसमें यदि कोई पद लक्षण शास्त्रसे विरुद्ध हो तो भद्र कवि उसका लोप करके उत्तम पद करना।

ध. ३/१,२,५/३८/२ अइंदियत्थविसए छदुमत्थवियप्पिदजुत्तीणं णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो। तम्हा उवएसं लद्धूण विसेसणिण्णयो एत्थ कायव्वो त्ति। –अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा कल्पित युक्तियोंके विकल्प रहित निर्णयके लिए हेतुता नहीं पायी जाती है। इसलिए उपदेशको प्राप्त करके इस विषयमें निर्णय करना चाहिए।

प. प्र./२/२१४/३१६/२ लिङ्गवचनक्रियाकारकसंधिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति। –लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सन्धि, समास, विशेष्य विशेषणके दोष विद्वज्जन ग्रहण न करें।

वसु. श्रा./५४५ जं किं पि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं। खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु ॥५४५॥ –अजानकार होनेसे जो कुछ भी इसमें प्रवचन विरुद्ध कहा गया हो, सो प्रवचनके धारक (जानकार) आचार्य मुझे क्षमा करें और शोधकर प्रकाशित करें।

६. पौरुषेय होनेके कारण अप्रमाण नहीं कहा जा सकता

रा. वा./१/२०/७/७१/३२ ततश्च पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यं स्यात्।......न चापुरुषकृतित्वं प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः। –प्रश्न–पुरुषकृत होनेके कारण श्रुत अप्रमाण होगा? उत्तर–अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नहीं है। अन्यथा चोरी आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जायेंगे क्योंकि इनका कोई आदि प्रणेता ज्ञात नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अनित्य हैं पर इससे उनकी प्रमाणतामें कोई कसर नहीं आती है।

७. आगम कथंचित् अपौरुषेय तथा नित्य है

ध.१३/५,५,५०/२८६/२ अभूत इति भूतम्, भवतीति भव्यम्, भविष्यतीति भविष्यत्, अतीतानागत-वर्तमानकालेष्वस्तीत्यर्थः। एवं सत्यागमस्य नित्यत्वम्। सत्येवमागमस्यापौरुषेयत्वं प्रसजतीति चेद्-न, वाच्य-वाचकभावेन वर्ण-पद-पंक्तिभिश्च प्रवाहरूपेण चापौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। –आगम अतीत कालमें था इसलिए उसकी भूत संज्ञा है, वर्तमान कालमें है इसलिए उसकी भव्य संज्ञा है और भविष्यत् कालमें रहेगा इसलिए उसकी भविष्य संज्ञा है और आगम अतीत, अनागत, और वर्तमान कालमें है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इस प्रकार वह आगम नित्य है। –प्रश्न–ऐसा होनेपर आगमको अपौरुषेयताका प्रसंग आता है? उत्तर–नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक भावसे तथा वर्ण, पद व पंक्तियोंके द्वारा प्रवाह रूपसे आनेके कारण आगमको अपौरुषेय स्वीकार किया गया है।

पं.ध./पू./७३६ वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम्। आगमगोचरतया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥७३६॥ –वेद प्रमाण है यहाँपर केवल अपौरुषेयपना हेतु है, किन्तु अपौरुषेय रूप हेतुको आगम गोचर होनेसे अन्याश्रित है इसलिए वह समीचीन हेतु नहीं है।

८. आगमको प्रमाण माननेका प्रयोजन

आप्त.मी./२/पृ.६ प्रयोजन विशेष होय तहाँ प्रमाण संप्लव इष्ट है। पहले प्रमाण सिद्ध प्रामाण्य आगम तैं सिद्ध भया तौऊ तथा हेतु कूं प्रत्यक्ष देखि अनुमान तैं सिद्ध करै पीछैं ताकूं प्रत्यक्ष जाणैं तहाँ प्रयोजन

विशेष होय है, ऐसें प्रमाण सम्भव होय है। केवल आगम ही तैं तथा आगमाश्रित हेतुजनित अनुमान तैं प्रमाण कहि काहै कूं प्रमाण संम्भव कहना।

७. सूत्र निर्देश

१. सूत्रका अर्थ द्रव्य व भाव श्रुत—१. द्रव्य श्रुत

प्र.सा./त.प्र./३४ श्रुतं हि, तावत्सूत्रं। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। =**श्रुत ही सूत्र है, और वह सूत्र भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट, स्यात्कार-चिह्नयुक्त पौद्गलिक शब्द ब्रह्म है।**

स.म./८/७४/६ सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः। =**सूत्र शब्द ग्रन्थ, तन्तु और व्यवस्था इन तीन अर्थोंको सूचित करता है।**

२. भाव श्रुत

स.सा./ता.वृ./१५/पृ.४० सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुत ज्ञानसमय इति। =परिच्छित्ति रूप भावश्रुत ज्ञान समयको सूत्र कहते हैं।

२. सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली

ध.१४/५,६,१२/८/६ सुत्तं सुदकेवली। =सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली है।

३. सूत्रका अर्थ अल्पाक्षर व महानार्थक

ध.९/४,१,५४/११७/२५९ अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्। निर्दोषहेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ॥११७॥ =जो थोड़े अक्षरोंसे संयुक्त हो, सन्देहसे रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ पदार्थोंका निर्णय करनेवाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो, उसे पण्डित जन सूत्र कहते हैं ॥११७॥ (क.पा.१/१,१५/६८/१५४) (आवश्यक नियुक्ति सू./८८६)

क.पा.१/१,१५/७३/१७१ अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा। सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः ॥७३॥ =जो भले प्रकार अर्थका सूचन करे, अथवा अर्थको जन्म दे उस बहुअर्थ गर्भित रचनाको सूत्रकार आचार्यने निश्चयसे सूत्र कहा है। (वृ. कल्पभाष्य गा. ३१४), (पाराशरोपपुराण अ० १८), (मध्व भाष्य१/११), (मुग्धबोध व्याकरण टीका), (न्यायवार्तिक तात्पर्य टी० १/१/१२), (प्रमाणमीमांसा पृ.३५) (कल्पभाष्य गा.२८५)

आवश्यकनिर्युक्ति सू./८८० अल्पग्रन्थमहत्त्वं द्वात्रिंशद्दोषविरहितं यं च। लक्षणयुक्तं सूत्रं अष्टेन च गुणेन उपमेयं। =अल्प परिमाण हो, महत्त्वपूर्ण हो, बत्तीस दोषोंसे रहित हो, आठ गुणोंसे युक्त हो, वह सूत्र है।(अनुयोगद्वारसूत्र गा.सू.१२७),(बृहत्कल्पभाष्य/गा.२७७,२८२), (व्यवहारभाष्य/१९०)

४. वृत्तिसूत्रका लक्षण

क.पा.२/२/§२९/१४/६ सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्त सद्दरयणाए संगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो। =**जो सूत्रका ही व्याख्यान करता है, किन्तु जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त है, और जिसमें सूत्रके समस्त अर्थको संगृहीत कर लिया गया है, उसे वृत्ति सूत्र कहते हैं।**

५. जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हों वह सूत्र नहीं असूत्र है

क.पा./१/१,१५/§१३३/१६८/५ सूचिदाणेगत्था। अवरा असुत्तगाहा।=**जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित हों वह सूत्र गाथा है, और जिससे विपरीत अर्थ अर्थात् जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हों वह असूत्र गाथा है।**

६. सूत्र वही है जो गणधरादिके द्वारा कथित हो

भ.आ./मू./३४ सुत्तं गणधरगधिद तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च। सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगधिदं च ॥३४॥ =**गणधर रचित आगमको सूत्र कहते हैं। प्रत्येक बुद्ध ऋषियोंके द्वारा कहे गये आगमको भी सूत्र कहते हैं, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्व धारक आचार्योंके रचे हुए आगम ग्रन्थको भी सूत्र कहते हैं।** (मू.आ./२७७), (ध.१३/५,५,१२०/३४/३८१), (क.पा.१/६७/१५३)

७. सूत्र तो जिनदेव कथित ही है परन्तु गणधर कथित भी सूत्रके समान है

क.पा.१/१,१५/§१२०/१५४ एदं सव्वं पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाणं चेव संभवइ ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, तत्थ महापरिमाणत्तुवलंभादो; ण; सच्च (सुत्त-)सारिच्छमस्सिदूण। =प्रश्न—यह सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो जिनदेवके मुख कमलसे निकले हुए अर्थ पदोंमें सम्भव है, गणधरके मुखकमलसे निकली ग्रन्थ रचनामें नहीं, क्योंकि उनमें महापरिमाण पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि गणधरके वचन भी सूत्रके समान होते हैं। इसलिए उनकी रचनामें भी सूत्रत्वके प्रति कोई विरोध नहीं है।

८. प्रत्येक बुद्ध कथितमें भी कथंचित् सूत्रत्व पाया जाता है

क.पा.१/१,१५/§११९/१५३/६ णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहर-पत्तेय-बुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारस्स अभावादो; ण; णिद्दोसपक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सरिसत्तमत्थित्ति गुणहराइरियगाहाणं पि सुत्तत्तुवलंभादो। =प्रश्न—यह (कषाय पाहुडकी १८०) गाथाएँ सूत्र नहीं हो सकतीं, क्योंकि (इनके कर्ता) गुणधर भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं, और न अभिन्नदश पूर्वी ही हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व, और महेतुकत्व रूप प्रमाणोंके द्वारा गुणधर भट्टारककी गाथाओंकी सूत्र संज्ञाके साथ समानता है।

आगमन—(जीवोंके आगमन निगमन सम्बन्धी ब्योरा।

—दे० जन्म/६।

आगम नय—दे० नय I/१।

आगम पद्धति—दे० पद्धति।

आगम बाधित—दे० बाधित।

आगमाभास—दे० आगम I/२।

आगाल—स.सा./मो.प्र./८८/१२३/१ द्वितीयस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशात्प्रथमस्थितावागमनमागालः। =द्वितीय स्थितिके निषेकनिकौ अपकर्षण करि प्रथम स्थितिके निषेकनि विषै प्राप्त करना ताका नाम आगाल है।

२. प्रत्यागालका लक्षण

ल. सा./जी. प्र./८८/१२३/१ प्रथमस्थितिद्रव्यस्योत्कर्षणवशाद् द्वितीयस्थितौ गमनं प्रत्यागाल इत्युच्यते। =प्रथम स्थितिके निषेकनिके द्रव्य कौं उत्कर्षण करि द्वितीय स्थितिके निषेकनि विषैं प्राप्त करना ताका नाम प्रत्यागाल है।

जैन सन्देश १३,१,५५ में श्री रत्नचन्द मुख्त्यार। **नोट**—अन्तरकरण हो जानेके पश्चात् पुरातन मिथ्यात्व कर्म तो प्रथम व द्वितीय स्थितिमें विभाजित हो जाता है, परन्तु नया बन्धा कर्म द्वितीय स्थितिमें पड़ता है। उसमें-से कुछ द्रव्य अपकर्षण द्वारा प्रथम स्थितिके निषेकोंको प्राप्त होता है उसको आगाल कहते हैं। फिर इस प्रथम स्थिति-

को प्राप्त हुए द्रव्यमें-से कुछ द्रव्य उत्कर्षण द्वारा पुनः द्वितीय स्थिति-के निषेकोंको प्राप्त होता है उसको प्रत्यागाल कहते हैं।

आग्नेय—पूर्व दक्षिणवाली विदिशा।

आग्नेयीधारणा— दे० अग्नि।

आज्ञा—स.म./२१/२६३/७ आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्थाः यया सा आज्ञा आगमः शासनम्। =समस्त अनन्त धर्मोंसे विशिष्ट जीव अजीवादिक पदार्थ जिसके द्वारा जाने जाते हैं वह आप्तकी आज्ञा आगम या जिनशासन कहलाती है।

आज्ञापिनी भाषा—दे० भाषा।

आज्ञाविचयधर्मध्यान—दे० धर्मध्यान/१।

आज्ञाव्यापादनी क्रिया—दे० क्रिया/३।

आज्ञासम्यक्दर्शन—दे० सम्यक्दर्शन I/१।

आचरित—वसतिका एक दोष—दे० वसति।

आचाम्ल—भ. आ./मू./२५१/४७३ छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं अदिविकट्ठेहिं। मिदलहुगं आहारं करेदि आयंबिलं बहुसो ॥२५१॥ =दो दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पाँच दिनका उपवास, ऐसे उत्कृष्ट उपवास होनेके अनन्तर मित और हलका ऐसा (आचाम्ल) काँजी-भोजन ही क्षपक बहुशः करता है।

वहीं भा./२५५ की टिप्पणीमें अभिधान राजेन्द्रकोश "आयंबिलं-अम्लं चतुर्थो रसः, स एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदन-कुल्माषसक्तु-प्रभृतिके तदाचाम्लम्। आयंबिलमपि तिविहं उक्किट्ठजहण्ण-मज्झिमदएहिं। तिविहं जं विउलघुवाइ पकप्पए तत्थ ॥१०२॥ मिय-सिंधव-सुंठि मिरीमेही सोवच्चलं च विउलवणे। हिंगुसुगंधिसु पाए पकप्पए साइयं वत्थु ॥१०३॥

सा. ध./टी./५/३५ काँजी सहित केवल भातके आहारको आचाम्लाहार कहते हैं।

* **आचाम्लाहारकी महत्ता**—दे० सल्लेखना ४/१०।

आचाम्ल वर्धन—दे० सौवीर भुक्ति व्रत।

आचार—१. आचार सामान्यके भेद व लक्षण

सा. ध./७/३५···/···वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥३५॥ =अपनी शक्तिके अनुसार निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादिमें जो यत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं।

मू. आ./१६६ दंसणणाणचरित्ते तवे विरियाचरह्मि पंचविहे। वोच्छं अदिचारेऽहं कारिदं अणुमोदिदे अ कदो ॥१६६॥ =सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—इस तरह पाँच आचारोंमें कृत कारित अनुमोदनासे होनेवाले अतिचारोंको मैं कहता हूँ। (न. च./३३६), (प्र. सा./त. प्र./२०२) (नि. सा./ता. वृ./७३)

२. दर्शनाचारके भेद व लक्षण

मू. आ./२००-२०१ दंसणचरणविसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा··· ॥२००॥ णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदगिंच्छा अमूढदिट्ठी य। उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ ॥२०१॥ =दर्शनाचारकी निर्मलता जिनेन्द्र भगवान्ने अष्ट प्रकारकी कही है—। निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्वके गुण जानना ॥२०१॥

प्र. सा./त. प्र./२०२/२५० अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचारः। =अहो! निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना स्वरूप दर्शनाचार है। (प. प्र./टी./७/१३)

प. प्र./टी./७/१३/३ चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव···सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्धेयमिति। चलमलिनावगाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारः। =जो चिदानन्दरूप शुद्धात्म तत्त्व है वही सब प्रकार आराधने योग्य है, उससे भिन्न जो पर वस्तु हैं वह सब त्याज्य हैं। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ परम श्रद्धा है, उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है।

द्र. सं./टी./५२/२१८ परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः। =(समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न) और परम चैतन्यका विलासरूप लक्षणवाली, यह निज शुद्धात्मा ही उपादेय है; ऐसी रुचि रूप सम्यग्दर्शन है, उस सम्यग्दर्शनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन सो निश्चय दर्शनाचार है।

३. ज्ञानाचारके भेद व लक्षण

मू. आ./२६६ काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभयं णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥२६६॥ =स्वाध्यायका काल, मन वच कायसे शास्त्रका विनय यत्नसे करना, पूजा-सत्कारादिसे पाठ करना, अपने पढ़ानेवाले गुरुका तथा पढ़े हुए शास्त्रका नाम प्रगट करना छिपाना नहीं, वर्ण पद वाक्यकी शुद्धिसे पढ़ना, अनेकान्त-स्वरूप अर्थकी शुद्धि अर्थ सहित पाठादिककी शुद्धि होना, इस तरह ज्ञानाचारके आठ भेद हैं।

प्र. सा./त. प्र./२०२/२४६ कालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचारः। =काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभय सम्पन्न ज्ञानाचार है।

प. प्र./७/१३ तत्रैव संशयविपर्यासानध्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः। =और उसी निज स्वरूपमें संशय-विमोह विभ्रम रहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूपग्राहक बुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह (निश्चय) ज्ञानाचार है।

द्र. सं./टी./५२/२१८ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं, सम्यग्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः। =उसी शुद्धात्माको उपाधि रहित स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान-द्वारा मिथ्यात्व रागादि पर-भावोंसे भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है, उस सम्यग्ज्ञानमें आचरण अर्थात् परिणमन वह निश्चयज्ञानाचार है।

४. चारित्राचारके भेद व लक्षण

मू. आ./२८८,२९७ पाणिवहमुसावाद अदत्तमेहुणपरिग्गहाविरदी। एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥२८८॥ पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु। एस चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो ॥२९७॥ =प्राणियोंकी हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, मैथुन, सेवा, परिग्रह—इनका त्याग करना वह अहिंसा आदि पाँच प्रकारका चारित्राचार जानना ॥२८८॥ परिणामके संयोगसे; पाँच समिति

तीन गुप्तियोंमें कषाय रूप प्रवृत्ति वह आठ भेदवाला चारित्राचार है।

प्र. सा./त. प्र./२०२/२५० मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचारः। —मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत पंचमहाव्रत सहित काय-वचन-गुप्ति और ईर्या, भाषा, ऐषणा आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति स्वरूप चारित्राचार है।

प. प्र./टी./७/११ तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यग्चारित्रं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः। —उसी शुद्ध स्वरूपमें शुभ अशुभ समस्त संकल्प रहित जो नित्यानन्दमें निजरसका स्वाद, निश्चय अनुभव, वह सम्यग्चारित्र है। उसका जो आचरण, उस रूप परिणमन वह चारित्राचार है।

द्र. सं./टी./५२/२१८ तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचारः। —उसी शुद्ध आत्मामें रागादि विकल्प रूप उपाधिसे रहित स्वाभाविक सुखास्वादसे निश्चल चित्त होना, वीतराग चारित्र है, उसमें आचरण अर्थात् परिणमन निश्चय चारित्राचार है।

५. तपाचारके भेद व लक्षण

मू. आ./३४५,३४६,३६० दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो। एक्केक्को विय छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥३४५॥ अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा। कायस्स च परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥३४६॥ पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं। झाणं च विउसग्गो अब्भंतरओ तवो ऐसो ॥३६०॥ —तपाचारके दो भेद हैं—बाह्य, अभ्यन्तर। उनमें-से भी एक एकके छह-छह भेद जानना। उनको मैं क्रमसे कहता हूँ ॥३४५॥ अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्ति-परिसंख्यान, काय, शोषण, और छट्ठा विविक्तशय्यासन इस तरह बाह्य तपके छः भेद हैं ॥३४६॥ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग—ये छह भेद अन्तरंग तपके हैं।

प्र. सा./त. प्र./२०२/२५० अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गलक्षणतपाचारः। —अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग स्वरूप तपाचार है।

प. प्र./टी./७/१३ तत्रैव परद्रव्येच्छाविरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः।...अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः। —उसी परमानन्द स्वरूपमें परद्रव्यकी इच्छाका निरोध कर सहज आनन्द रूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन तपश्चरणाचार है।...अनशनादि बाह्यतप रूप बाह्य तपाचार है।

द्र. सं. टी./५२/२१६ समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशन आदि द्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं तत्राचरणं, परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः। —समस्त परद्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे तथा अनशन आदि बारह तप रूप बहिरंग सहकारि कारणसे जो निज स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चय तपश्चरण है। उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन निश्चयतपश्चरणाचार है।

६. वीर्याचारका लक्षण

मू. आ./४१३ अणिगूहियबलविरिओ परकामादि जो जहुत्तमाउत्तो। जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारो त्ति णादव्वो ॥४१३॥ —नहीं छिपाया है आहार आदिसे उत्पन्न बल तथा शक्ति जिसने ऐसा साधु यथोक्त चारित्रमें तीन प्रकार अनुमति रहित सतरह प्रकार संयम विधान करनेके लिए आत्माको युक्त करता है वह वीर्याचार जानना ॥४१३॥

प्र. सा./त. प्र./२०२/२५१ समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्या निगूहनलक्षणं वीर्याचारः। —समस्त इतर आचारमें प्रवृत्ति करानेवाली स्वशक्तिके अगोपन स्वरूप वीर्याचार है।

प. प्र./टी./७/१४ तत्रैव शुद्ध त्मस्वरूपे स्वशक्त्यानवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचारः।...बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचारः। —उसी शुद्धात्म स्वरूपमें अपनी शक्तिको प्रगट कर आचारण या परिणमन करना वह निश्चय वीर्याचार है।...अपनी शक्ति प्रगट कर मुनिव्रतका आचरण यह व्यवहार वीर्याचार है।

द्र. सं./टी./५२/२१६ तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यानवगूहनं निश्चयवीर्याचारः। —इन चार प्रकारके निश्चय आचारकी रक्षाके लिए अपनी शक्तिका नहीं छिपाना, निश्चयवीर्याचार है।

***निश्चय पंचाचारके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

***दर्शनादि आचार व विनयमें अन्तर**—दे० विनय/२।

आचारवत्त्व—भ. आ./वि./४१६/६०८ आयारं पंचविहं पंचप्रकारं आचारं। चरदि विनातिचारं चरति। परं वा निरतिचारे पंचविधे आचारे प्रवर्तयति। उवदिसदि य आयारं उपदिशति च आचारं। एसो णाम एष आचारवान्नाम।

भ. आ./मू./४२० दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ। आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥४२०॥ —जो मुनि पाँच प्रकारका आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है, और इन पाँच आचारोंमें दूसरोंको भी प्रवृत्त करता है, जो आचारका शिष्योंको भी उपदेश करता है, वह आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिए। जो दस प्रकारके स्थिति कल्पमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्त्व गुण का धारक समझना चाहिए। यह आचार्य तीन गुप्ति और समितियोंका जिनको प्रवचनमाता कहते हैं धारक होता है।

आचार वर्द्धनव्रत—व्रतविधान संग्रह/पृ.१०७।

गणना—कुलसमय = ११६ दिन; उपवास = १००; पारणा १६।

सुदृष्टितरंगिणी /यन्त्र—१,२,३,४,५,६,७,८,६,१०; ६,८,७,६,५,४, ३,२,१; विधि—निर्भंग रूपेण एक उपवास एक पारणा, फिर दो उपवास एक पारणा, इस प्रकार ऊपर दर्शाये रूपसे बढ़ाता हुआ १० उपवास एक पारणा, फिर घटाता हुआ अन्तमें १ उपवास एक पारणा करे। उपरोक्त अंकमें सर्व अंकोंसे तो उतने-उतने उपवास जानना और बीचके (७) ऐसे स्थानोंमें सर्वत्र एक-एक पारणा जानना।

आचारसार—१ – आ० वीरनन्दि (ई. श./१०-११) की रचना है।

आचारांग—द्रव्य श्रुतज्ञानका एक भेद – दे०-श्रुतज्ञान/III।

आचार्य—साधुओंको दीक्षा शिक्षा दायक, उनके दोष निवारक, तथा अन्य अनेक गुण विशिष्ट, संघ नायक साधुको आचार्य कहते हैं। वीतराग होनेके कारण पंचपरमेष्ठीमें उनका स्थान है। इनके अतिरिक्त गृहस्थियोंको धर्म-कर्मका विधि-विधान करानेवाला गृहस्थाचार्य है। पूजा-प्रतिष्ठा आदि करानेवाला प्रतिष्ठाचार्य है। सल्लेखनागत क्षपक साधुको चर्या करानेवाला निर्यापकाचार्य है। इनमें से साधु-रूपधारी आचार्य ही पूज्य हैं अन्य नहीं।

१. साधु आचार्य निर्देश

१. आचार्य सामान्यका लक्षण

भ. आ./मू./४१६ आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं। उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम। —जो मुनि पाँच प्रकार

के आचार निरतिचार स्वयं पालता है, और इन पाँच आचारोंमें दूसरोंको भी प्रवृत्त करता है, तथा आचारका शिष्योंको भी उपदेश देता है, उसे आचार्य कहते हैं। (चा.सा./१५०/४)।

मू.आ./५०९,५१० सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे। आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥५०९॥ जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि। आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥५१०॥ –जो सर्वकाल सम्बन्धी आचारको जाने, आचरण योग्यको आचरण करता हो और अन्य साधुओंको आचरण कराता हो इसलिए वह आचार्य कहा जाता है ॥५०९॥ जिस कारण पाँच प्रकारके आचरणोंको पालता हुआ शोभता है, और आप कर किये आचरण दूसरोंको भी दिखाता है, उपदेश करता है, इसलिए वह आचार्य कहा जाता है।

नि. सा./मू./७३ पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा। धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥ –पंचाचारोंसे परिपूर्ण, पंचेन्द्रिय रूपी हाथीके मदका दलन करने वाले, धीर और गुण-गम्भीर, ऐसे आचार्य होते हैं।

स. सि./९/२४/४४२ आचरन्ति तस्माद्व्रतानीत्याचार्यः। –जिसके निमित्तसे व्रतोंका आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है। (रा. वा./९/२४/३/६२३/११)।

ध./१।१,१,/२९-३१/४९ पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धिसुद्ध-छावासो। मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वण्णो ॥२९॥ देसकुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग उम्मुक्को। गयण व्व णिरुवलेवो आयरिओ एरिसो होई ॥३०॥ संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती। सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ ॥३१॥

ध. १/१,१,१/४८/८ पञ्चविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः। चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः। आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिर्क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः। –प्रवचन रूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमात्माके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरुके समान निष्कंप हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्य-मूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं। ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। (२९-३०) जो संघके संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और साधन अर्थात् व्रतोंकी रक्षा करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए। (मू. आ./१५८) जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंका स्वयं पालन करते हैं, और दूसरे साधुओंसे पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानोंके पारंगत हों, ग्यारह अंगोंके धारी हों, अथवा आचारांगमात्रके धारी हों, अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारंगत हों, मेरुके समान निश्चल हों, पृथ्वीके समान सहनशील हों, जिन्होंने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया हो, जो सात प्रकारके भयसे रहित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।

भ.आ./वि./४६/१५४/१२ पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च वर्तयन्ति ते आचार्याः। –पाँच आचारोंमें जो मुनि स्वयं उद्युक्त होते हैं तथा दूसरे साधुओंको उद्युक्त करते हैं वे साधु आचार्य कहलाते हैं। (द्र. सं./मू./५२), (प.प्र./टी./७/१३), (द.पा./टी. पं. जयचन्द/२/पृ.१३), (क्रि.क./१/१)

पं.ध./उ./६४५-६४६ आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते। पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥६४५॥ अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः। तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥६४६॥ –अनादि रूढिसे और योगसे भी निरुक्त्यर्थसे भी आचार्य शब्दकी व्युत्पत्ति की जाती है कि जो संयमी अन्य संयमियोंसे पाँच प्रकारके आचारोंका आचरण कराता है वह आचार्य कहलाता है ॥६४५॥ अथवा जो व्रतके खण्डित होनेपर फिरसे प्रायश्चित्त लेकर उस व्रतमें स्थिर होनेकी इच्छा करनेवाले साधुको अखण्डित व्रतके समान व्रतोंके आदेश दानके द्वारा प्रायश्चित्तको देता है वह आचार्य कहलाता है।

२. आचार्यके ३६ गुणोंका निर्देश

भ. आ./मू./४१७–४१८ आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय। आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥४१७॥ अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती। णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥४१८॥ – आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, आयापायदर्शनोद्योत, और उत्पीलक होता है ॥४१७॥ आचार्य अपरिस्रावी, निर्वापक, प्रसिद्ध, कीर्तिमान और निर्यापकके गुणोंसे परिपूर्ण होते हैं। इतने गुण आचार्यमें होते हैं।

बो. पा./.टी. में उद्धृत/१/७२ आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः। आयापायकथी दोषाभाषकोऽश्रावकोऽपि च ॥१॥ सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च। दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्टभोजी शय्याशनीति च ॥२॥ आरोगभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः। प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी च तद्द्विनिषद्यकः ॥३॥ द्विः षट्तपास्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरोः ॥ –आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्त, आसनादिदः, आयापायकथी, दोषभाषक, अश्रावक, सन्तोषकारी, निर्यापक, ये आठ गुण तथा अनुद्दिष्ट भोजी, शय्याशन और आरोगभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठ सद्गुण, प्रतिक्रमी, षण्मासयोगी, दो निषद्यक, १२, तथा ६ आवश्यक यह ३६ गुण आचार्योंके हैं।

अन. ध./९/७६ अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थितेः। कल्पा दशाऽवश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः ॥७६॥ –आचार्य-गणी-गुरुके छत्तीस विशेषगुण हैं। यथा—आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, आदि आठ गुण और छह अन्तरंग तथा छह बहिरंग मिला कर बारह प्रकारका तप, तथा संयमके अन्दर निष्ठाके सौष्ठव—उत्तमताकी विशिष्टताको प्रगट करनेवाले आचेलक्य आदि दश प्रकारके गुण-जिनको कि स्थितिकल्प कहते हैं और सामायिकादि पूर्वोक्त छह प्रकारके आवश्यक।

र. क. श्रा./५/ पं. सदासुख कृत षोडशकारण भावनामें आचार्य भक्ति— –"१२ तप, ६ आवश्यक, ५ आचार, १० धर्म, ३ गुप्ति। इस प्रकार ये ३६ गुण आचार्यके हैं।"

३. आचार्योंके भेद

(गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, बालाचार्य, निर्यापकाचार्य, एलाचार्य, इतने प्रकारके आचार्योंका कथन आगममें पाया जाता है।)

४. अन्य सम्बन्धित विषय

★आचार्यके ३६ गुणोंके लक्षण। —दे० वह वह नाम।

★आचार्योंका सामान्य आचरणादि। —दे० साधु।

★आचार्य आगममें कोई बात अपनी तरफसे नहीं कहते। —दे० आगम/५/९।

★आचार्यमें कथंचित् देवत्व। —दे० देव I/१।

★आचार्य भक्ति। —दे० भक्ति/१।

★आचार्य उपाध्याय, साधुमें परस्पर भेदाभेद। —दे० साधु/६।

★ श्रेणी आरोहणके समय स्वतः आचार्य पदका त्याग हो जाता है। —दे० साधु/६

★ सल्लेखनाके समय आचार्य पदका त्याग कर दिया जाता है। —दे० सल्लेखना/४

★ गुरु शिष्य सम्बन्ध। —दे० गुरु/२

★ आचार्य परम्परा। —दे० इतिहास/४

२. गृहस्थाचार्य निर्देश

१. गृहस्थाचार्यका निर्देश

पं. ध./उ./६४८ न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्···। =व्रती गृहस्थोंको भी आचार्योंके समान आदेश करना निषिद्ध नहीं है।

२. गृहस्थाचार्यको आचार्यकी भाँति दीक्षा दी जाती है

पं. ध./उ./६४८···/ दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया। =दीक्षाचार्यके द्वारा दी हुई दीक्षाके समान ही गृहस्थाचार्योंकी क्रिया होती है।

३. अव्रती गृहस्थाचार्य नहीं हो सकता

पं. ध./उ./६४९, ६५२ न निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि। हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयोज्योऽत्र कारणात् ॥६४९॥ नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम्। रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः ॥६५२॥ =आदेश और उपदेशके विषयमें अव्रती गृहस्थोंको जिस प्रकार दूसरोंके लिए आम्नायके अनुसार थोड़ा-सा भी उपदेश करना निषिद्ध नहीं है, उसी प्रकार किसी भी कारणसे दूसरोंके लिए हिंसाका उपदेश देना उचित नहीं है ॥६४९॥ निश्चय करके वीतरागियोंका पूर्वोक्त उपदेश देना भी रागके लिए नहीं होता है किन्तु सरागियोंका ही पूर्वोक्त उपदेश रागके लिए होता है। इसलिए रागियोंको उपदेश देनेके लिए अवश्य निषेध किया है ॥६५२॥

३. अन्य आचार्य निर्देश

१. एलाचार्यका लक्षण

भ. आ./मू./१७७/३९५ अनुगुरोः पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना। =गुरुके पश्चात् जो मुनि चारित्रका क्रम मुनि और आर्यिकादिकोंको कहता है उसको अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं।

२. प्रतिष्ठाचार्यका लक्षण

वसु. श्रा./३८८, ३८९ देस-कुल-जाइ-सुद्धो णिरुवम-अंगो विसुद्धसम्मत्तो। पढमाणिओयकुसलो पइट्ठालक्खणविहिविदण्णू ॥३८८॥ सावयगुणोववेदो उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धी। एवं गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ ॥३८९॥ =जो देश कुल और जातिसे शुद्ध हो, निरुपम अंगका धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोगमें कुशल हो, प्रतिष्ठाकी लक्षण-विधिका जानकार हो, श्रावकके गुणोंसे युक्त हो, उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्रमें स्थिर बुद्धि हो, इस प्रकारके गुणवाला जिन शासनमें प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है।

३. बालाचार्यका लक्षण

भ. आ./मू./२७३-२७४ कालं संभाविता सव्वगणमणुदिसं च बाहरियं। सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे मंगलागासे ॥२७३॥ गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू। तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥२७४॥ =अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनन्तर अपने शिष्य समुदायको अपने स्थानमें जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्यको बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र, और लग्नके समय शुभ प्रदेशमें, अपने गुणके समान जिसके गुण हैं, ऐसे वे बालाचार्य अपने गच्छका पालन करनेके योग्य हैं ऐसा विचार कर उसपर अपने गणको विसर्जित करते हैं अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गणको बालाचार्यके लिए छोड़ देते हैं। अर्थात बालाचार्य ही यहाँसे उस गणका आचार्य समझा जाता है, उस समय पूर्व आचार्य उस बालाचार्यको थोड़ा-सा उपदेश भी देते हैं।

★ निर्यापकाचार्यका लक्षण —दे० निर्यापक।

★ निर्यापकाचार्य कर्तव्य विशेष —दे० सल्लेखना/५।

आचेलक्य—दे० अचेलकत्व।

आछेद्य—आहारका एक दोष।—दे० आहार II/२।

आजीव—१. आहारका एक दोष। दे० आहार II/२। २. वस्तिकाका एक दोष। दे० वसतिका।

आजीवक मत—दे० 'पूरन कश्यप' व त्रैराशिवाद।

आजीविका—साधुको आजीविका करनेका सर्वथा निषेध। दे० मंत्र।

आठ—दे० अष्ट।

आढक—तोलका प्रमाण विशेष। दे० गणित I/१।

आतप—स. सि./५/२४/२९६ आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः। =जो सूर्यके निमित्तसे उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं। (रा. वा /५/२४/१८/२०/४८९) (ध./६/१,९-१,२८/६०/४)

रा. वा./५/२४/१/४८५/१६ असद्वेद्योदयाद् आतपत्यात्मानम्, आतप्यतेऽनेन, आतपनमात्रं वा आतपः। =असाता वेदनीयके उदयसे अपने स्वरूपको जो तपाता है, या जिसके द्वारा तपाया जाता है, या आतपन मात्रको आतप कहते हैं।

त. सा./3/७१ आतपनोऽपि प्रकाशः स्यादुष्णश्चादित्यकारण ।·· ।=सूर्यसे जो उष्णता युक्त प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं।

गो. क./मू./३३ मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोत्तो ॥३३॥ =अग्नि है सो मूल ही उष्ण प्रभा सहित है, तातैं वाकै स्पर्शका भेद उष्णताका उदय जानना बहुरि जाकी प्रभा ही उष्ण होइ ताकैं आतप प्रकृतिका उदय जानना, सो सूर्यका बिंब विषैं ऊपजैं ऐसे बादर पर्याप्त पृथ्वीकायके तिर्यंच जीव तिन हीकैं आतप प्रकृतिका उदय है।

द्र.सं./टी./१६/५३ आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकान्तमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः। =सूर्यके बिम्ब आदिमें तथा सूर्यकांत विशेष मणि आदि पृथ्वीकायमें आतप जानना चाहिए।

२. आतप नामकर्मका लक्षण

स.सि./८/११/३९१ यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम। =जिसके उदयसे शरीरमें आतपकी प्राप्ति होती है, वह आतप नामकर्म है। (रा.वा./८/११/१५/५७८), (गो.क./जी.प्र./३३/२९/२१), (ध.६/१,९-१,२८/६०/४), (ध./१३/५,५,१०१/३६५/१)

३. आतप तेज व उद्योतमें अन्तर

—दे० उदय/४।

आतपन—तीसरे नरकका चौथा पटल—दे० नरक/५।

आतपन योग—दे० कायक्लेश।

आत्म—१. आत्म-ग्रहण दर्शन है। —दे० दर्शन; २. आत्म रूपकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद। —दे० सप्तभंगी/५।

आत्मख्याति—आ. अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित समयसारकी टीका। यह टीका इतनी गम्भीर है कि मानो आ० कुन्दकुन्दका हृदय ही हो। इस टीकामें आये हुए कलश रूप श्लोकोंका संग्रह स्वयं 'परमाध्यात्म तरंगिनी' नामके एक स्वतन्त्र ग्रन्थ रूपसे प्रसिद्ध हो गया है।

आत्मद्रव्य—दे० जीव।

आत्मप्रवाद—द्रव्य श्रुतज्ञानका १३वाँ अंग। —दे० श्रुतज्ञान/III।

आत्मभूत कारण—दे० कारण।

आत्मभूत लक्षण—दे० लक्षण।

आत्ममुखहेत्वाभास—दे० बाधित/स्ववचन।

आत्मरक्ष देव—स.सि./४/४/२३९ आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमानाः। =जो अंग रक्षकके समान हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। (रा.वा./४/४/५/२१३), (म.पु./१/२२/२७)

ति.प./३/६६ चत्तारि लोयपाला सावण्णा होंति तंतवालाणं। तणुरक्खाण समाणा सरीररक्खा सुरा सव्वे ॥६६॥ =चारों लोकपाल तन्त्रपालोंके सदृश और सब तनु रक्षक देव राजाके अंग रक्षकके समान होते हैं।

रा.वा./४/४/५/२१२/१ आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः। आवृतावरणाः प्रहरणोद्यता रौद्राः पृष्ठतोऽवस्थायिनः। =जो अंगरक्षकके समान हैं, वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। अंगरक्षकके समान कवच पहिने हुए सशस्त्र पीछे खड़े रहनेवाले आत्मरक्ष हैं।

त्रि.सा./२२४ =बहुरि जैसे राजाके अंगरक्षक तैसे तनुरक्षक हैं।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके आत्मरक्षकोंकी देवियोंका प्रमाण

ति.प./८/३१९-३२० पडिइंदादितियस्स य णियणियइंदेहिं सरिसदेवीओ …॥३१९॥ तप्परिवारा कमसो चउएक्कसहस्सयाणि पंचसया। अड्ढाइज्जसयाणि तद्दलतेसट्ठिबत्तीसं ॥३२०॥ =प्रतीन्द्रादिक तीनकी देवियोंकी संख्या अपने-अपने इन्द्रके सदृश होती है ॥३१९॥ उनके परिवारका प्रमाण क्रमसे चार हजार, एक हजार, पाँच सौ, अढाई सौ, इसका आधा अर्थात् एक सौ पच्चीस, तिरेसठ और बत्तीस है ॥ अर्थात् सौधर्मेन्द्रके आत्मरक्षोंकी ४०००; ईशानेन्द्र०की ४००; सनत्कुमारेन्द्र०की २०००; माहेन्द्र०की १०००; ब्रह्मेन्द्र०की ५००; लान्तवेन्द्र०की २५०; महाशुक्रेन्द्र०की १२५; सहस्रारेन्द्र०की ६३; आनतादि ४ इन्द्रोंके आत्मरक्षकोंकी देवियोंका प्रमाण कुल ३२ है।

३. इन्द्रों व अन्य देवोंके परिवारमें आत्मरक्षकोंका प्रमाण

—दे० भवनवासी आदि भेद

आत्मवाद—१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा—

गो.क./मू./८८१/१०६५ एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य। सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गु[illegible] परमो। =एक ही महात्मा है। सोई पुरुष है, देव है। सर्व विषै व्यापक [illegible] सर्वांगपनै निगूढ कहिये अगम्य है। चेतना सहित है। निर्गुण [illegible]म उत्कृष्ट है। ऐसे एक आत्मा करि सबकौ मानना सो आत्मवादका [illegible] है। (स, सि./८/१/५की टिप्पणी) जगरूप सहाय कृत।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

स.सा./आ./१४/क.१२ व १४ भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधीर्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्। आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं, नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥ अखण्डितमन[illegible]कुलमनन्तमन्तर्बहिर्महः, परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा। चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥ १४ ॥ =यदि कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालमें कर्मोंके बन्धको अपने आत्मासे तत्काल—शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बलसे (पुरुषार्थसे) रोककर अथवा नाश करके अन्तरंगमें अभ्यास करे—देखे तो यह आत्मा अपने अनुभवसे ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) निश्चल, शाश्वत नित्य कर्मकलंककर्दमसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान हैं ॥१२॥ आचार्य कहते हैं कि हमें वह उत्कृष्ट तेज प्राप्त हो कि जो तेज सदा काल चैतन्यके परिणमनसे परिपूर्ण है, जैसे नमककी डली एक क्षार रसकी लीलाका आलम्बन करती है, उसी प्रकार जो एक ज्ञानस्वरूपका आलम्बन करता है; जो तेज अखण्डित है – जो ज्ञेयोंके आकार रूपसे खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है—जिसमें कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है। जो अविनाशी रूपसे अन्तरंगमें तो चैतन्य भावसे देदीप्यमान अनुभवमें आता है और बाहरमें वचन-कायकी क्रियासे प्रगट देदीप्यमान होता है—जाननेमें आता है, जो स्वभावसे हुआ है—जिसे किसीने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदय रूप है– जो एक रूप प्रतिभासमान है।

प.प्र./टी./१८/२५ परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु। =शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सदा शिव अर्थात् सदा मुक्त उस शक्तिरूप परमात्माको नमस्कार हो।

आत्मव्यवहार—प्र. सा./त.प्र./९४/१११ अचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात्। ='मात्र अविचलित चेतना ही मैं हूँ' ऐसा मानना परिणमना सो आत्म व्यवहार है।

आत्मसंस्कार काल—दे० काल/१।

आत्महत्या—दे० मरण/४।

आत्मांगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद। —दे० गणित I/१।

आत्मांजन—१. पूर्व विदेहका एक वक्षार, उसका एक कूट व उसका रक्षक देव। —दे० लोक/७; २. पूर्व विदेहस्थ त्रिकूट वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव। —दे० लोक/७।

आत्मा—ध.१३/५,५,५०/२८२/९ आत्मा द्वादशाङ्गम्, आत्मपरिणामत्वात्। न च परिणामः परिणामिनो भिन्नः, मृद्द्रव्यात् पृथग्भूतघटादिपर्यायानुपलम्भात्। आगमत्वं प्रत्यविशेषतो द्रव्यश्रुतस्याप्यात्मत्वं प्राप्नोतीति चेत्, न, तस्यानात्मधर्मस्योपचारेण प्राप्तागमसंज्ञस्य परमार्थतः आगमत्वाभावात्। =द्वादशांगका नाम आत्मा है, क्योंकि वह आत्माका परिणाम है। और परिणाम परिणामीसे भिन्न होता नहीं, क्योंकि मिट्टी द्रव्यसे पृथक् भूत कोई घट आदि पर्याय पायी जाती नहीं। प्रश्न—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दोनों ही आगम सामान्यकी अपेक्षा समान हैं। अतएव जिस प्रकार भावस्वरूप द्वादशांगको 'आत्मा' माना है उसी प्रकार द्रव्य श्रुतके भी आत्म स्वरूपताका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्यश्रुत आत्माका धर्म नहीं है। उसे जो आगम संज्ञा प्राप्त है, वह उपचारसे है। वास्तवमें वह आगम नहीं है।

स. सा./आ./८ दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं। =दर्शन, ज्ञान, चारित्रको जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है।

द्र.स./टी./१४/४६ शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा।

द्र.सं./टी./५७/२६७ अथात्मशब्दार्थः कथ्यते। 'अत' धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इति वचनात्। तेन कारणेन यथा संभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभमनो-

वचनकायव्यापारैर्यथासंभवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादततति वर्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा। —शुद्ध चैतन्य लक्षणका धारक आत्मा है। अब आत्मा शब्दका अर्थ कहते हैं। 'अत' धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थमें है। और सब 'गमनार्थक धातु ज्ञानात्मक अर्थमें होती हैं' इस वचनसे यहाँपर 'गमन' शब्दसे ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान, सुखादि गुणोंमें सर्व प्रकार वर्तता है वह आत्मा है। अथवा शुभ अशुभ मन-वचन-कायकी क्रियाके द्वारा यथासंभव तीव्र मन्द आदि रूपसे जो पूर्ण रूपेण वर्तता है, वह आत्मा है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मोंके द्वारा जो पूर्ण रूपसे वर्तता है वह आत्मा है।

२. आत्माके बहिरात्मादि ३ भेद

मो. पा./मू./४ तिपयारो सो अप्पा परमिंतरबाहरो दु हेऊणं। तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥ —सो आत्मा प्राणीनिके तीन प्रकार हैं—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। तहाँ अन्तरात्माके उपाय करि बहिरात्माको छोड़कर परमात्माको ध्याओ। (स.श./४) (ज्ञा./३२/५/३१७) (ज्ञा.सा./मू./२९) (प.प्र./मू./१/११) (द्र. सं./टी./१४/४६)।

का. आ./मू./१९२ जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य। परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ॥१९२॥ —जीव तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। परमात्माके भी दो भेद हैं—अरहंत और सिद्ध।

३. गुण स्थानोंकी अपेक्षा बहिरात्मा आदि भेद

द्र. सं./टी/१४/४६/१ अथ त्रिधात्मानं गुणस्थानेषु योजयति। मिथ्यासासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः, अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः, सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा। सिद्धस्तु साक्षात्परमात्मेति। —अब तीनों तरहके आत्माओंको गुणस्थानोंमें योजित करते हैं—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्य न्यूनाधिक भावसे बहिरात्मा जानना चाहिए, अविरत गुणस्थानमें उसके योग्य अशुभ लेश्यासे परिणत जघन्य अन्तरात्मा है और क्षीणकषाय गुणस्थानमें उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अविरत और क्षीणगुणस्थानोंके बीचमें जो सात गुणस्थान हैं उनमें मध्यम अन्तरात्मा है। सयोगी और अयोगी इन दो गुणस्थानोंमें विवक्षित एकदेश शुद्धकी अपेक्षा सिद्धके समान परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा है ही।

★ **बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा**—दे०—वह वह नाम।

४. एक आत्माके तीन भेद करनेका कारण

स. श./४ बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु। उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥ —सर्व प्राणियोंमें बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकारका आत्मा है। आत्माके उन तीन भेदोंमें-से अन्तरात्माके उपाय-द्वारा परमात्माको अंगीकार करें—अपनावें और बहिरात्माको छोड़ें।

प. प्र./मू./१/१२/१९ अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ। मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥१२॥ —हे प्रभाकर भट्ट, तू आत्माको तीन प्रकारका जानकर बहिरात्म स्वरूप भावको शीघ्र ही छोड़, और जो परमात्मा का स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञानसे अन्तरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव केवलज्ञान करि परिपूर्ण है।

द्र. सं./टी./१४/४६ अत्र बहिरात्मा हेयः, उपादेयभूतस्यानन्तसुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेयः, परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः। —यहाँ बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत (परमात्माके) अनन्त सुखका साधक होनेसे अन्तरात्मा उपादेय है, और परमात्मा साक्षात् उपादेय है।

★ **जीवको आत्मा कहनेकी विवक्षा**— दे० जीव/१/२,३।

★ **आत्मा ही कथंचित् प्रमाण है**— दे० प्रमाण/३।

★ **स्वात्मनि क्रिया विरोध** —दे० विरोध।

★ **शुद्धात्माके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

आत्माधीनता—दे० कृतिकर्म/३।

आत्मानुभव—दे० अनुभव।

आत्मानुभूति——दे० अनुभव।

आत्मानुशासन—आ० गुणभद्र (ई ८०३-८९५) द्वारा रचित संस्कृत श्लोक बद्ध आध्यात्मिक शास्त्र है। इसमें २७० श्लोक हैं। इसपर पं० टोडरमलजी (ई० १७३६) ने भाषामें टीका लिखी है।

आत्माश्रय दोष—श्लो० वा० ४/न्या. ४५९/पृ०५५५/५ स्वस्मिन् स्वापेक्षत्वमात्माश्रयत्वं। =स्वयं अपने लिए अपनी अपेक्षा बने रहना आत्माश्रय दोष है।

आत्रेय—भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश/ दे० मनुष्य/४।

आदर—दक्षिण जम्बूद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव/ दे० व्यन्तर/४।

आदान निक्षेपन—दे० समिति/१।

आदि—रा. वा./१/२१/१/५२ अयमादिशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः। क्वचित्प्राथम्ये वर्तते 'अकारादयो वर्णाः, ऋषभादयस्तीर्थकराः' इति। क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादयः परिहर्तव्याः' इति। क्वचिद्व्यवस्थायाम् 'सर्वादि सर्वनाम' इति। क्वचित्सामीप्ये 'नद्यादीनि क्षेत्राणि' इति। क्वचिदवयवे 'टिदादिः' इति, अथवा 'ब्राह्मणादिचत्वारो वर्णाः' इति। (रा.वा./१/३०/२/९०)। ='आदि' शब्दका अनेक अर्थोंमें प्रयोग होता है। १. कहीं तो 'प्रथम' के अर्थमें प्रयुक्त होता है जैसे अकारादि वर्ण या ऋषभादि तीर्थंकर। २. कहीं 'प्रकार' के अर्थमें प्रयुक्त होता है जैसे भुजङ्गादि त्याज्य हैं। ३. कहीं व्यवस्थाके अर्थमें प्रयुक्त होता है जैसे—'सर्वादि सर्वनाम' इस व्याकरण सूत्रसे विदित है। ४. कहीं सामीप्यके अर्थमें आता है जैसे—नदी आदिक क्षेत्र। ५. कहीं अवयवके अर्थमें आता है जैसे 'टिदादि' यह व्याकरण सूत्र (अथवा ब्राह्मणादि चार वर्ण।) रा. वा./१/३०/२/९०)।

६. मुख अर्थात् First term; Head of quadrant or first digit in numerical series—(विशेष दे० गणित II/५)

★ **सादि अनादि विषयक**—दे० अनादि।

आदित्य—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक; २. उनका अवस्थान—दे० लोक/७। ३. अनुदिश स्वर्गका पटल व इन्द्रक विमान—दे० [illegible]/५।

आदित्यनगर—विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

आदित्यप्रभ—(म. पु./५९/श्लोक) लान्तवस्वर्गका देव था (२८०) पूर्व भवके भाई मुनिका उपसर्ग दूर किया (१३१-१३२) तदनन्तर स्वर्गसे च्युत हो विमलनाथ भगवान्‌का मेरु नामक गणधर हुआ (३०२-३०६)।

आदिधन—[illegible]त II/५।

आदिनाथ—दे० ऋषभ।

आदिनाथ जयंती व्रत—व्रत विधान सं./पृ० १०५। **विधि**—भगवान् आदिनाथकी जन्म तिथि चैत्र कृ० ६ को उपवास व पूजन; मन्त्र—'ओं ह्रीं श्रीवृषभनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

आदिनाथ निर्वाणोत्सव व्रत—व्रत. विधान सं./१०५ **विधि**—भगवान् आदिनाथकी निर्वाण तिथि माघ कृ० १४ को उपवास। मन्त्र—'ओं ह्रो वृषभाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

आदिनाथ शासन जयन्ती व्रत—व्रत विधान सं./१०५ **विधि**—भगवान्‌को दिव्य ध्वनिके प्रथम दिवस फाल्गुन कृ० ११ को उपवास करे। मन्त्र—'ओं ह्रीं श्री वृषभाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करें।

आदिपुराण—१. आ० जिनसेन (ई. ८०१-८४३) द्वारा विरचित मूल आदि पुराण—दे० महापुराण; २. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा रचित। ३. आ० सकलकीर्ति (ई. १४३३-१४७३) द्वारा रचित। ४. आ० चन्द्रकीर्ति (ई०१५६७) द्वारा रचित।

आदि पुरुष—दे० ऋषभ।

आदि ब्रह्मा—दे० ऋषभ।

आदेय—स. सि./८/११/३९२/५ प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम। निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम। = प्रभायुक्त शरीरका कारण आदेय नाम कर्म है। और निष्प्रभ शरीरका कारण अनादेय कर्म है। (रा. वा./८/११/३६-३७/५७९) (गो.क./जी. प्र/३३/३०/१६)।

ध. ६/१,९-१,२८/६५/५ आदेयता ग्रहणीयता बहुमान्यता इत्यर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स आदेयत्तमुप्पज्जदि तं कम्ममादेयं णाम। तव्विवरीयभावणिव्वत्तयकम्ममणादेयं णाम। =आदेयता, ग्रहणीयता और बहुमान्यता, ये तीनों शब्द एक अर्थवाले हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवके बहुमान्यता उत्पन्न होती है, वह आदेय नामकर्म कहलाता है। उससे अर्थात् बहुमान्यतासे विपरीत भाव (अनादरणीयता) को उत्पन्न करनेवाला अनादेय नामकर्म है।

ध. १३/५,५,१०१/३६६/३ जस्स कम्मस्सुदएण जीवो आदेज्जो होदि तमादेज्जणामं। जस्स कम्मस्सुदएण सोभणाणुट्ठाणो वि ण गउरवि-ज्जादि तमणादेज्जं णाम। =जिस कर्मके उदयसे आदेय होता है वह आदेय नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे अच्छा कार्य करनेपर भी जीव गौरवको प्राप्त नहीं होता वह अनादेय नामकर्म है।

★ **आदेय प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा**— दे० वह वह नाम।

२. विशेष प्ररूपणाके अर्थमें

आदेश—१. उद्दिष्ट आहारका एक भेद। —दे० उद्दिष्ट।

ध. १/१,१,८/१६०/३ अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। =आदेश, भेद या विशेष रूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश प्ररूपणा है।

ध. ३/१,२,२/१०/१ आदेशः पृथग्भावः पृथक्करणं विभजनं विभक्ती-करणमित्यादयः पर्यायशब्दाः। गत्यादिविभिन्नचतुर्दशजीव-समासप्ररूपणमादेश। =आदेश, पृथग्भाव, पृथक्करण, विभजन, विभक्तिकरण इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं। आदेश निर्देशका प्रकृतमें स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि गति आदि मार्गणाओंके भेदोंसे भेदको प्राप्त हुए चौदह गुणस्थानोंका प्ररूपण करना आदेश निर्देश है।

गो. जी./मू./३/२२ संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। वित्थारादेसो त्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा॥३॥ =संक्षेप या ओघ ऐसी गुणस्थानकी संज्ञा रूढ है। यह संज्ञा दर्शन चारित्र मोह तथा मन वचन कायके योगों करि उपजै हैं। 'च' अर्थात् इसको सामान्य भी कहते हैं। बहुरि तैसे ही विस्तार या आदेश ऐसी मार्गणा स्थान-की संज्ञा है। यह संज्ञा अपनी-अपनी मार्गणाके नामकर्मकी प्रतीतिके व्यवहारको कारण जो कर्म ताके उदयसे हो है। अर्थात् ओघ प्ररूपणाका आधार मोहनीय कर्म है आदेश प्ररूपणाका आधार स्व स्व कर्म है।

२. उपदेशके अर्थमें

पं. ध./उ./६४७ आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक्। आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः॥६४७॥ =आदेशमें उपदेशोंसे यह भेद रखनेवाला विशेष होता है कि मैं गुरुके दिये हुए व्रतको ग्रहण करता हूँ, परन्तु यह विधि उपदेशोंमें नहीं होती है। (अर्थात् आदेश अधिकार पूर्वक आज्ञाके रूपमें होता है और उपदेश साधारण सम्भाषणका नाम है।

आद्धा—दे० अद्धा।

आद्यंतमरण—दे० मरण/१।

आधार—१. (ध. ५/प्र. २७) Base (og Legarthim)

२. आधार सामान्यका लक्षण

स. सि./५/१२/२७७/६ धर्मादीनां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते व्यव-हारनयवशात्। एवंभूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठा-न्येव। =धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहार नयकी अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूत नयकी अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही है।

२. आधार सामान्यके भेद व लक्षण

गो. जी./जी. प्र./५८३ में उद्धृत "औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापक इत्यपि। आधारस्त्रिविध प्रोक्तः घटाकाशतिलेषु च।"—आधार तीन प्रकार है—औपश्लेषिक, वैषयिक, और अभिव्यापक। १. तहाँ चटाई विषै कुमार सोवै है ऐसा कहिए तहाँ औपश्लेषिक आधार जानना। २. बहुरि आकाश विषै घटादिक द्रव्य तिष्ठै हैं ऐसा कहिए तहाँ वैषयिक आधार जानना। ३. बहुरि तिल विषै तैल है ऐसा कहिए तहाँ अभिव्यापक आधार जानना।

★ **आधार आधेय भाव** —दे संबंध।

आधारवत्त्व—भ. आ./मू./४२८ चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी साय-रोव्व गंभीरो। कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम। =जो चौदहपूर्व, दसपूर्व, और नव पूर्वका ज्ञाता है, जिसमें समुद्र तुल्य गम्भीरता गुण है, जो कल्प व्यवहारका ज्ञाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता है उसमें बताये हुए प्रयोगोंका जिसने अनुसरण किया है अर्थात् अपराधी मुनियोंको जिसने अनेक बार प्रायश्चित्त देकर इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे आचार्य आधारवत्त्व गुणके धारक माने जाते हैं।

आध्यान—१. म. पु./२१/२२८ आध्यानं स्यादनुध्यानम् अनित्य-त्वादिचिन्तनं। ध्येयं स्यात् परमं तत्त्वम् अवाङ्मनसगोचरम्। =अनित्यत्वादि १२ भावनाओंका बार-बार चिन्तवन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचनके अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है। २. अपध्यानके अर्थमें —दे० अपध्यान/१।

आनंद—१. भगवान् वीरके तीर्थमें अनुत्तरोपपादक हुए—दे० अनुत्त-रोपपादक; २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर;

३. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; ४. गन्धमादन विजयार्धपर स्थित एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७; ५. म. प्र./७३/श्लोक अयोध्या नगरके राजा वज्रबाहुका पुत्र था (४१–४२) दीक्षा धारण कर ११ अंगोंके अध्ययनपूर्वक तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। संन्यासके समय पूर्वके आठवें भवके बैरी भाई कमठने सिंह बनकर इनको भख लिया। इन्होंने फिर प्राणतेन्द्र पद पाया (६१–६८) यह पार्श्वनाथ भगवान्‌का पूर्वका तीसरा भव है—दे० पार्श्वनाथ; ६. परमानन्दके अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

आनंदवर्धन—ह./प्र. ६ पं. पन्नालाल बाकलीवाल "काश्मीर नरेश अवन्तिवमकि समकालीन थे। समय ई. ८८४।

आनंदा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

आनंदिता—नन्दन वनके वज्रकूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

आनत—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/५; २. तथा उनका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५; ३. कल्प स्वर्गोंका १३वाँ कल्प—दे० स्वर्ग/५; ४. आनतस्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

आनपान—दे० उच्छ्‌वास।

आनयन—स. सि./७/३१/३६१/६ आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यत्किंचिदानयेत्याज्ञापनमानयनम्। =अपने द्वारा संकल्पित देशमें ठहरे हुए पुरुषको प्रयोजन वश किसी भी वस्तुके लानेकी आज्ञा करना आनयन है। (रा.वा/७/३१/१/५५६)

आनर्त—म.पु./प्र./४६ पं. पन्नालाल "वर्तमान गुजरात का उत्तर भाग। द्वारावती (द्वारिका) इसकी प्रधान नगरी थी।

आनर्थक्य—स.सि./७/३२/३७०/२ यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थस्ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम्। =उपभोग परिभोगके लिए जितनी वस्तुकी आवश्यकता है सो अर्थ है उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना उपभोग परिभोगानर्थक्य है।

आनुपूर्वी—१. आनुपूर्वीके भेद

ध. १/१,१,१/७३/१ पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। =पूर्वानुपूर्वी, पश्चातानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी इस प्रकार आनुपूर्वीके तीन भेद हैं। (ध. ६/४,१,४५/१३५/१) (क. पा. १/१,१/§२२/२८/१) (म. प्र./२/ ०४)

२. पूर्वानुपूर्वी आदिके लक्षण

ध. १/१,१,१/७२/१ जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं—उसहमजियं च वन्दे इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं—एस करेमि य पणमं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिव-सुह-कंखा विलोमेण ॥६५॥ इदि। जमणुलोम-विलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं—गय-गवल-सजल-जलहर-परहुव-सिहि-गलय-भमर-संकासो। हरिउल-वंसपईवो सिव-माउव-वच्छओ-जयऊ ॥६६॥ इच्चेवमादि। =जो वस्तुका विवेचन मूलसे परिपाटी-द्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। उसका उदाहरण इस प्रकार है, ऋषभनाथकी वन्दना करता हूँ, अजितनाथकी वन्दना करता हूँ इत्यादि। क्रमसे ऋषभनाथको आदि लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है। जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक परिपाटी क्रमसे (प्रतिलोम पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चातानुपूर्वी उपक्रम कहते हैं। जैसे-मोक्ष सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे महावीर स्वामीको नमस्कार करता हूँ। और विलोम क्रमसे अर्थात् वर्द्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जिनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥६५॥ जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके बिना जहाँ कहींसे भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं। जैसे—हाथी, अरण्य भैंसा, जलपरिपूर्ण, और सघनमेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमरके समान वर्णवाले हरिवंशके प्रदीप और शिवादेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जयवन्त हों। इत्यादि।

क. पा. १/१,१/§२२/२८/२ जं जेण कमेण सुत्तकारेहि ठइदमुप्पण्णं वा तस्स तेण कमेण गणणा पुव्वाणुपुव्वी णाम। तस्स विलोमेण गणणा पच्छाणुपुव्वी। जत्थ व तत्थ वा अप्पणो इच्छिदमादिं कादूण गणणा जत्थतत्थाणुपुव्वी होदि। =जो पदार्थ जिस क्रमसे सूत्रकारके द्वारा स्थापित किया गया हो, अथवा, जो पदार्थ जिस क्रमसे उत्पन्न हुआ हो उसकी उसी क्रमसे गणना करना पूर्वानुपूर्वी है। उस पदार्थकी विलोम क्रमसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक गणना करना पश्चातानुपूर्वी है। और जहाँ कहींसे अपने इच्छित पदार्थको आदि करके गणना करना यत्रतत्रानुपूर्वी है। (ध. ६/४,१,४५/१३५/१)

आनुपूर्वी नामकर्म—सं. सि./८/११/३९०/१३ पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्यनाम। =जिसके उदयसे पूर्व शरीरका आकार विनाश नहीं होता वह आनुपूर्वी नामकर्म है। (रा. वा./८/११/११/५७७) (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१९)

ध. ६/१,९-१,२८/५६/२ पुव्वुत्तरसरीराणमंतरे एग दो तिण्णि समए वट्टमाणजीवस्स जस्स कम्मस्स उदएण जीवपदेसाणं विसिट्ठो संठाणविसेसो होदि, तस्स आणुपुव्वि त्ति सण्णा।…इच्छिदगदिगमणं…आणुपुव्वीदो। =पूर्व और उत्तर शरीरोंके अन्तरालवर्ती एक, दो और तीन समयमें वर्तमान जीवके जिस कर्मके उदय से जीव प्रदेशोंका विशिष्ट आकार-विशेष होता है, उस कर्मकी 'आनुपूर्वी' यह संज्ञा है।…आनुपूर्वी नामकर्मसे इच्छित गतिमें गमन होता है।

२. आनुपूर्वी नामकर्मके भेद

ष.खं./६/१,९-१/सू.४१/७६ जं आणुपुव्वीणामकम्मं तं चउविहं, णिरयगदिपाओग्गाणुपुव्वीणामं तिरिक्खगदिपाओग्गाणुपुव्वीणामं मणुसगदिपाओग्गाणुपुव्वीणामं देवगदिपाओग्गाणुपुव्वीणामं चेदि। =जो आनुपूर्वी नामकर्म है वह चार प्रकारका है—नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म और देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म ॥४१॥ (स.सि./८/११/३९१/१), (पं.सं./प्रा./२/४), (ध.१३/५,५,११४/३७१), (रा.वा./८/११/११/५/५७७/२२), (गो.क./जी.प्र./३२/२६/२) —दे० नामकर्म (आनुपूर्वी कर्मके असंख्याते भेद संभव हैं)।

३. विग्रहगति-गत जीवके संस्थानमें आनुपूर्वीका स्थान

रा.वा./८/११/११/५७७/२५ ननु च तन्निर्माणनामकर्मसाध्यं फलं नानुपूर्व्यनामोदयकृतम्। नैष दोषः; पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्तौ निर्माणनामोदयो निवर्तते, तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्म तैजसकार्मणशरीरसम्बन्धित आत्मनः पूर्वशरीरसंस्थानाविनाशकारणमानुपूर्व्यनामोदयमुपैति। तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैकसमयः, उत्कर्षेण त्रयः समयाः। ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तरशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणान्निर्माणनामकर्मोदयव्यापारः। =प्रश्न—(विग्रहगतिमें आकार बनाना) यह निर्माण नामकर्मका कार्य है आनुपूर्वी नामकर्मका नहीं? उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व शरीरके नष्ट होते ही निर्माण नामकर्मका उदय समाप्त हो जाता है। उसके नष्ट होनेपर भी आठ कर्मोंका पिण्ड कार्माण शरीर और तैजस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले आत्म प्रदेशोंका आकार विग्रहगतिमें पूर्व शरीरके आकार बना रहता है। विग्रहगतिमें इसका काल कमसे कम

एक समय और अधिकसे अधिक तीन समय है। हाँ, ऋजुगतिमें पूर्व शरीरके आकारका विनाश होनेपर तुरन्त उत्तर शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण हो जाता है, अतः वहाँ निर्माण नामकर्मका कार्य ही है।

ध.६/१,९-१,२८/५६/४ संठाणणामकम्मादो संठाणं होदि त्ति आणुपुव्वि-परियप्पणा णिरत्थिया चे ण, तस्स सरीरगहिदपढमसमयादो उवरि उदयमागच्छमाणस्स विग्गहकाले उदयाभावा। जदि आणुपुव्विकम्मं ण होज्ज तो विग्गहकाले अणियदसंठाणो जीवो होज्ज। =प्रश्न—संस्थान नामकर्मसे आकार-विशेष उत्पन्न होता है, इसलिए आनुपूर्वीकी परिकल्पना निरर्थक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, शरीर ग्रहण करनेके प्रथम समयसे ऊपर उदयमें आनेवाले उस संस्थान नामकर्मका विग्रहगतिके कालमें उदयका अभाव पाया जाता है। यदि आनुपूर्वी नामकर्म न हो, तो विग्रहगतिके कालमें जीव अनियत संस्थान वाला हो जायेगा। (ध.१३/५,५,११६/३७२/२)

४. विग्रहगति-गत जीवके गमनमें आनुपूर्वीका स्थान

ध.६/१,९-१,२८/५६/७ पुव्वसरीरं छड्डिय सरीरंतरमघेत्तूण ट्ठिदजीवस्स इच्छिदगतिगमणं कुदो होदि। आणुपुव्वीदो। विहायगदीदो किण्ण होदि। ण, तस्स तिण्हं सरीराणमुदएण विणा उदयाभावा। आणुपुव्वी संठाणम्हि वावदा कधं गमणहेऊ होदि त्ति चे ण, तिस्से दोसु वि कज्जेसु वावारे विरोहाभावा। अचत्तसरीरस्स जीवस्स विग्गहगईए उज्जुगईए वा जं गमणं तं कस्स फलं। ण, तस्स पुव्वखेत्तपरिच्चायाभावेण गमणाभावा। जीवपदेसाणं जो पसरो सो ण णिक्कारणो, तस्स आउअसंतफलत्तादो। =प्रश्न—पूर्व शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको नहीं ग्रहण करके स्थित जीवका इच्छित गतिमें गमन किस कर्मसे होता है। उत्तर—आनुपूर्वी नामकर्मसे इच्छित गतिमें गमन होता है। प्रश्न—विहायोगति नामकर्मसे इच्छित गतिमें गमन क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि विहायोगति नामकर्मका औदारिकादि तीनों शरीरोंके उदयके बिना उदय नहीं होता है। प्रश्न—आकार विशेषको बनाये रखनेमें व्यापार करनेवाली आनुपूर्वी इच्छित गतिमें गमनका कारण कैसे होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, आनुपूर्वीका दोनों भी कार्योंके व्यापारमें विरोधका अभाव है। अर्थात् विग्रहगतिमें आकार विशेषको बनाये रखना और इच्छितगतिमें गमन कराना, ये दोनों आनुपूर्वी नामकर्मके कार्य हैं। प्रश्न—पूर्व शरीरको न छोड़ते हुए जीवके विग्रहगतिमें अथवा ऋजुगतिमें (मरण-समुद्घातके समय) जो गमन होता है वह किस कर्मका फल है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको नहीं छोड़ने वाले उस जीवके पूर्व क्षेत्रके परित्यागके अभावसे गमनका अभाव है। पूर्व शरीरको नहीं छोड़ने पर भी जीव प्रदेशोंका जो प्रसार होता है वह निष्कारण नहीं है, क्योंकि वह आगामी भव सम्बन्धी आयुकर्मके सत्त्वका फल है।

★ आनुपूर्वी प्रकृतिका बंध उदय व सत्त्व प्ररूपणा —दे० वह वह नाम।

आनुपूर्वी संक्रमण—दे० संक्रमण/१०।

आपातातिचार—दे० अतिचार/१।

आपृच्छना—दे० समाचार।

आपेक्षिक गुण—दे० स्वभाव।

आप्त—नि.सा./मू./७ णिस्सेस दोसरहिओ केवलणाणाइ परमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

नि.सा./ता.वृ./५/११ आप्तः शंकारहितः। शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः। =निःशेष दोषोंसे जो रहित है और केवलज्ञान आदि परम वैभवसे जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है; उससे विपरीत वह परमात्मा नहीं है। आप्त अर्थात् शंका रहित। शंका अर्थात् सकल मोह राग-द्वेषादिक (दोष)।

र.क.श्रा./मू./५-७ आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः। न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥ परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती। सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥ =नियमसे वीतराग और सर्वज्ञ, तथा आगमका ईश ही (सच्चा देव) होता है, निश्चय करके अन्य किसी प्रकार आप्तपना नहीं हो सकता ॥५॥ जिस देवके क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, विषाद, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नहीं हैं, वही वीतराग देव कहा जाता है ॥६॥ जो परमपदमें रहनेवाला हो, उत्कृष्ट ज्योति वाला हो, राग-द्वेष रहित वीतराग हो, कर्मफल रहित हो, कृतकृत्य हो, सर्वज्ञ हो अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमानकी समस्त पर्यायों सहित समस्त पदार्थोंको जानने वाला हो, आदि मध्य अन्त कर रहित हो और समस्त जीवोंका हित करने वाला हो, वही हितोपदेशी कहा जाता है। (अन.ध./२/१४)

द्र.सं./टी./५०/२१०में उद्धृत "क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः ॥१॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः। एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ॥२॥ =क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रुजा, मरण, स्वेद, खेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद इन अठारह दोषोंसे रहित निरंजन आप्त श्री जिनेन्द्र हैं।

स.म./१/८/२१ आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः। =जिसके राग, द्वेष और मोहका सर्वथा क्षय हो गया है उसे आप्त कहते हैं। (स.म./१७/२३६/११)

न्या.दी./३/§७४/११३ आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परम...हितोपदेशकः...ततोऽनेन विशेषेण तत्र नातिव्याप्तिः। =जो प्रत्यक्ष ज्ञानसे समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है वह आप्त है।... इस परम हितोपदेशी विशेषणसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती। अर्थात् अर्हन्त भगवान् ही उपदेशक होनेके कारण आप्त कहे जा सकते हैं सिद्ध नहीं।

★ आप्तमें सर्वदोषोंका अभाव संभव है—दे० मोक्ष/६/४।

★ सर्वज्ञताकी सिद्धि—दे० केवलज्ञान/३,४।

★ देव, भगवान्, परमात्मा, अर्हंत आदि—दे० वह वह नाम।

आप्त परीक्षा—आ० विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) द्वारा रचित संस्कृत श्लोकबद्ध न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसमें १२४ श्लोक हैं।

आप्त मीमांसा—तत्त्वार्थ सूत्रके मंगलाचरणपर आ० समन्तभद्र (ई० श० २) द्वारा रचित ११५ संस्कृत श्लोकबद्ध न्यायपूर्ण ग्रन्थ है। इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्र भी है। इसमें न्याय पूर्वक भाववाद अभाववाद आदि एकान्त मतोंका निराकरण करते हुए भगवान् महावीरमें आप्तत्वकी सिद्धि की है। इस ग्रन्थ पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं:—

१. आचार्य अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) कृत ८०० श्लोक प्रमाण 'अष्टशती'। २. आ० विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) कृत ८००० श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री। ३. आ० वादीभसिंह (ई. ८७८-८९२) कृत वृत्ति। ४. आ० वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) कृत वृत्ति। ५. पं० जयचन्द छाबड़ा (ई. १८२९) द्वारा लिखी गयी संक्षिप्त भाषा टीका।

आबाधा—कर्मका बन्ध हो जानेके पश्चात् वह तुरत ही उदय नहीं आता, बल्कि कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशाको प्राप्त होकर ही

उदय आता है। इस कालको आबाधाकाल कहते हैं। इसी विषयकी अनेकों विशेषताओंका परिचय यहाँ दिया गया है।

१. आबाधा निर्देश

१. आबाधा कालका लक्षण

ध. ६/१,९-६,५/१४८/४ ण बाधा अबाधा, अबाधा चेव आबाधा। =बाधाके अभावको अबाधा कहते हैं। और अबाधा ही आबाधा कहलाती है।

गो.क./मू. १५५ कम्मसरूवेणागयदव्वं ण य एदि उदयरूवेण। रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे। =कार्माण शरीर नामा नामकर्मके उदय तैं अर जीवके प्रदेशनिका जो चंचलपना सोई योग तिसके निमित्तकरि कार्माण वर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध मूल प्रकृति वा उत्तर प्रकृति रूप होई आत्माके प्रदेशनिविषै परस्पर प्रवेश है। लक्षण जाका ऐसे बन्ध रूपकरि जे तिष्ठै हैं ते यावत् उदय रूप वा उदीरणा रूप न प्रवर्तें तिसकालको आबाधा कहिये। (गो. क./मू./९१४)

गो. जी./जी. प्र./२५३/५२३/४ तत्र विवक्षितसमये बद्धस्य उत्कृष्टस्थितिबंधस्य सप्ततिकोटाकोटिसागरोपममात्रस्य प्रथमसमयादारभ्य सप्तसहस्रवर्षकालपर्यन्तमाबाधेति। =तहाँ विवक्षित कोई एक समय विषै बन्ध्या कार्माणका समय प्रबद्ध ताकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तरि कोड़ाकोड़ि सागरकी बंधी तिस स्थितिके पहले समय ते लगाय सात हज़ार वर्ष पर्यन्त तौ आबाधा काल है तहाँ कोई निर्जरा न होई तातै कोई निषेक रचना नाहीं।

२. आबाधा स्थानका लक्षण

ध. ११/४,२,६,५०/१६२/९ जहण्णाबाहमुक्कस्साबाहादो सोहिय सुद्धसेसम्मि एगरूवे पक्खित्ते आबाहाट्ठाणं। एसत्थो सव्वत्थपरूवेदव्वो। =उत्कृष्ट आबाधामें-से जघन्य आबाधाको घटाकर जो शेष रहे उसमें एक अंक मिला देनेपर आबाधा स्थान होता है। इस अर्थकी प्ररूपणा सभी जगह करनी चाहिए।

३. आबाधा काण्डक का लक्षण

ध. ६/१,९-६,५/१४९/१ कधमाबाधाकंडयस्सुप्पत्ती। उक्कस्साबाधं विरलिय उक्कस्सट्ठिदिं समखंडं करिय दिण्णे रूवं पडि आबाधा कंडयपमाणं पावेदि। =प्रश्न—आबाधा काण्डककी उत्पत्ति कैसे होती है? उत्तर—उत्कृष्ट आबाधाको विरलन करके उसके ऊपर उत्कृष्ट स्थितिके समान खंड करके एक-एक रूपके प्रति देनेपर आबाधा काण्डकका प्रमाण प्राप्त होता है। उदाहरण—मान लो उत्कृष्ट स्थिति ३० समय; आबाधा ३ समय। तो $\frac{१०}{१}\ \frac{१०}{१}\ \frac{१०}{१}$ अर्थात् $\frac{३०}{३}$ = १० यह आबाधा काण्डकका प्रमाण हुआ। और उक्त स्थितिबन्धके भीतर ३ आबाधा के भेद हुए।

विशेषार्थ—कर्म स्थिति के जितने भेदों में एक प्रमाण वाली आबाधा है, उतने स्थितिके भेदोंको आबाधा काण्डक कहते हैं।

ध.११/४,२,६,१७/१४३/४ अप्पण्णो जहण्णाबाहाए समऊणाए अप्पप्पणो समऊणजहण्णट्ठिदीए ओवट्टिदाए एगमाबाधाकंदयमागच्छदि।... सगसगउक्कस्साबाहाए सग-सगउक्कस्सट्ठिदीए ओवट्टिदाए एगमाबाहकंदयमागच्छदि।

ध.११/४,२,६,१२२/२६८/२ आबाहचरिमसमयं णिरुंभिदूण उक्कस्सियं ट्ठिदिं बंधदि। तत्तो समऊणं पि बंधदि। एवं दुसमऊणादिकमेण णेदव्वं जाव पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेणूणट्ठिदि त्ति। एवमेदेण आबाहाचरिमसमएण बंधपाओग्गट्ठिदिविसेसाणमेगमाबाहाकंदयमिदि सण्णा त्ति वुत्तं होदि। आबाधाए दुचरिमसमयस्स णिरुंभणं कादूण एवं चेव बिदियमाबाहाकंदयं परूवेदव्वं। आबाहाए तिचरिमसमयणिरुंभणं कादूण पुव्वं व तदिओ आबाहाकंदओ परूवेदव्वो। एवं णेदव्वं जाव जहण्णिया ट्ठिदि त्ति। एदेण सुत्तेण एगाबाहाकंदयस्स पमाणपरूवणा कदा।

ध.११/४,२,६,१२८/२७१/३ एगेगाबाहट्ठाणस्स पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तट्ठिदिबंधट्ठाणाणमाबाहाकंदयसण्णिदाणं। =१. एक समय कम अपनी-अपनी आबाधाका अपनी-अपनी एक समय कम जघन्य स्थितिमें भाग देने पर एक आबाधा काण्डकका प्रमाण आता है। २. ...अपनी-अपनी उत्कृष्ट आबाधाका अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें भाग देने पर एक आबाधा काण्डक आता है। ३. आबाधाके अन्तिम समयको विवक्षित करके उत्कृष्ट स्थितिको बाँधता है। उससे एक समय कम भी स्थितिको बाँधता है इस प्रकार दो समय कम इत्यादि क्रमसे पल्योपमके असंख्यातवें भागसे रहित स्थिति तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार आबाधाके इस अन्तिम समयमें बन्धके योग्य स्थिति विशेषोंकी एक आबाधा काण्डक संज्ञा है। यह अभिप्राय है। आबाधाके द्विचरम समयकी विवक्षा करके इसी प्रकारसे द्वितीय आबाधा काण्डककी प्ररूपणा करना चाहिए। आबाधाके त्रिचरम समयकी विवक्षा करके पहिलेके समान तृतीय आबाधाकाण्डककी प्ररूपणा करना चाहिए। इस प्रकार जघन्य स्थिति तक यही क्रम जानना चाहिए। इस सूत्रके द्वारा एक आबाधा काण्डकके प्रमाणकी प्ररूपणा की गयी है। ४. एक-एक आबाधा स्थान सम्बन्धी जो पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिबन्ध स्थान हैं उनकी आबाधा काण्डक संज्ञा है।

२. आबाधा सम्बन्धी कुछ नियम—

१. आबाधा सम्बन्धी सारणी

प्रमाण	विषय	आबाधा काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट
	१. उदय अपेक्षा—		
गो.क./भा./१५०/१८५	संज्ञी पंचे०का मिथ्यात्व कर्म	समयोन मुहूर्त	७००० वर्ष
मू./१५६/-१८९ मू./९१५/-११००	आयुके बिना ७ कर्मोंकी सामान्य आबाधा	प्रति सागर स्थितिपर साधिक सं० उच्छ्वास	प्रति को.को.सागर पर १०० वर्ष (ध./-६/१७२)
ध.६/१६६/-१३	आयुकर्म (बद्ध्यमान)	असंक्षेपाद्धा अन्तर्मुहूर्त आ/असं.	कोडि पूर्व वर्ष/३
गो.क./मू./-९१७	आयुकर्मका सामान्य नियम	आयु बन्ध भये	पीछे शेष भुज्यमानायु
गो.क.मू./९१६	९२५९२५९२$\frac{२}{३}$ कोड सा० वाला कर्म	अन्तर्मुहूर्त/सं.	अन्तर्मुहूर्त
	२. उदीरणा अपेक्षा—		
गो.मू./१५९	आयु बिना ७ कर्मोंकी	आवली	×
गो.मू./९१८	बध्यमानायु	×	×
	भुज्यमानायु (केवल कर्मभूमिया) कदली घात द्वारा उदीरणा होवे, इसलिए उसकी आबाधा भी नहीं है। देव, नारकी व भोग भूमियामें आयुकी उदीरणा सम्भव नहीं।		

★ **कर्मोंकी जघन्य उत्कृष्ट स्थिति व तत्सम्बन्धित आबाधा काल**—दे० स्थिति/६।

२. आबाधा निकालनेका सामान्य उपाय

प्रत्येक एक कोड़ाकोड़ि स्थितिकी उत्कृष्ट आबाधा = १०० वर्ष
७० या ३० कोड़ाकोड़ी स्थितिकी उत्कृष्ट आबाधा = १००×७० या १००×३० या १००×१० = ७००० या ३००० या १००० वर्ष
१ लाख कोड़ सागर स्थितिकी उत्कृष्ट आबाधा = १०० +(१०×१०) = १ वर्ष
१०० कोड़ सागरकी उत्कृष्ट आबाधा = १ वर्ष+(१०×१०×१०) = १/१००० वर्ष
१० कोड़ सागरकी उत्कृष्ट आबाधा = $\frac{३६५×२४×६०}{१०,०००}$ = ५२$\frac{१४}{२५}$ मिनिट
६२५६२$\frac{१}{२}$ कोड़ सागरकी उत्कृष्ट आबाधा = उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त

नोट— उदीरणाकी अपेक्षा जघन्य आबाधा, सर्वत्र आवली मात्र जानना, क्योंकि बन्ध हुए पीछे इतने काल पर्यन्त उदीरणा नहीं हो सकती।

३. एक कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिकी आबाधा १०० वर्ष होती है

ध.६/१,९-७,३१/१७२/८ सागरोवमकोडाकोडीए वाससदमाबाधा होदि। —एक कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी आबाधा सौ वर्ष होती है।

४. इससे कम स्थितियोंकी आबाधा निकालनेकी विशेष प्रक्रिया

ध.६/१,९-७,४/१८३/६ सग-सगजादि पडिबद्धाबाधाकंडएहि सगसगट्ठिदीसु ओवट्टिदासु सग सग आबाधासमुप्पत्तीदो। ण च सव्वजादीसु आबाधाकंडयाणं सरिसत्तं, संखेज्जवस्सट्ठिदिबंधेसु अंतोमुहुत्तमेत्तआबाधोवट्टिदेसु संखेज्जसमयमेत्तआबाधाकंडयदंसणादो। तदो संखेज्जरूवेहि जहण्णट्ठिदिम्हि भागे हिदे संखेज्जावलियमेत्ता णिसेगट्ठिदीदो संखेज्जगुणहीणा जहण्णाबाधा होदि। —अपनी-अपनी जातियोंमें प्रतिबद्ध आबाधा काण्डकोंके द्वारा अपनी-अपनी स्थितियोंके अपवर्तित करनेपर अपनी-अपनी अर्थात् विवक्षित प्रकृतियोंकी, आबाधा उत्पन्न होती है। तथा, सर्व जातिवाली प्रकृतियोंमें आबाधाकाण्डकोंके सदृशता नहीं है, क्योंकि संख्यात वर्षवाले स्थिति बन्धोंमें अन्तर्मुहूर्तमात्र आबाधासे अपवर्तन करनेपर संख्यात समयमात्र आबाधा काण्डक उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। इसलिए संख्यात रूपोंसे जघन्य स्थितिमें भाग देनेपर निषेक स्थितिसे संख्यातगुणित हीन संख्यात आवलिमात्र जघन्य आबाधा होती है।

५. एक आबाधाकाण्डक घटनेपर एक समय स्थिति घटती है

ध. ६/१,९,६,५/१४९/४ एगाबाधाकंडएणूणउक्कस्सट्ठिदिं बंधमाणस्स समऊणतिण्णिवाससहस्साणि आबाधा होदि। एवेण सरूवेण सव्वट्ठिदीणं पि आबाधापरूवणं जाणिय कादव्वं। णवरि दोहिं आबाधाकंडएहिं ऊणियमुक्कस्सट्ठिदिं बंधमाणस्स आबाधा उक्कस्सिया दुसमऊणा होदि। तीहि आबाधाकंडएहि ऊणियमुक्कस्सट्ठिदिं बंधमाणस्स आबाधा उक्कसिया तिसमऊणा। चउहि ... चदुसमऊणा। एवं णेदव्वं जाव जहण्णट्ठिदि त्ति। सव्वाबाधाकंडएसु बीचारट्ठाणत्तं पत्तेसु समऊणाबाधाकंडयमेत्तट्ठिदीणमवट्ठिदा आबाधा होदि त्ति घेत्तव्वं। —एक आबाधा काण्डकसे हीन उत्कृष्ट स्थितिको बाँधनेवाले समयप्रबद्धके एक समय कम तीन हजार वर्षकी आबाधा होती है। इसी प्रकार सर्व कर्म स्थितियोंकी भी प्ररूपणा जानकर करना चाहिए। विशेषता केवल यह है कि दो आबाधा काण्डकोंसे हीन उत्कृष्ट स्थितिको बाँधनेवाले जीवके समय प्रबद्धकी उत्कृष्ट आबाधा दो समय कम होती है। तीन आबाधाकाण्डकोंसे हीन उत्कृष्ट स्थितिको बाँधनेवाले जीवके समयप्रबद्धकी उत्कृष्ट आबाधा तीन समय कम होती है। चार आबाधा काण्डकोंसे हीनवालेके उत्कृष्ट आबाधा चार समय कम होती है। इस प्रकार यह क्रम विवक्षित कर्मकी जघन्य स्थिति तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार सर्वआबाधा काण्डकोंके विचारस्थानत्व अर्थात् स्थिति भेदोंको, प्राप्त होनेपर एक समय कम आबाधा काण्डकमात्र स्थितियोंकी आबाधा अवस्थित अर्थात् एक-सी होती है, यह अर्थ जानना चाहिए।

उदाहरण—मान लो उत्कृष्ट स्थिति ६४ समय और उत्कृष्ट आबाधा १६ समय है। अतएव आबाधाकाण्डका प्रमाण $\frac{६४}{१६}$ = ४ होगा।

मान लो जघन्य स्थिति ४५ समय है। अतएव स्थितियोंके भेद ६४ से ४५ तक होंगे जिनकी रचना आबाधाकाण्डकोंके अनुसार इस प्रकार होगी—

१. प्रथमकाण्डक— ६४,६३,६२,६१ समय स्थितिकी उ० आबाधा = १६ समय
२. द्वितीयकाण्डक—६०,५९,५८,५७ समय स्थिति की उ० आबाधा = १५ समय
३. तृतीयकाण्डक—५६,५५,५४,५३ समय स्थिति की उ० आबाधा = १४ समय
४. चतुर्थकाण्डक—५२,५१,५०,४९ समय स्थिति की उ० आबाधा = १३ समय
५. पंचमकाण्डक—४८,४७,४६,४५ समय स्थिति की उ० आबाधा = १२ समय

यह उपरोक्त पाँच तो आबाधाके भेद हुए।

स्थिति भेद—आबाधा काण्डक ५×हानि ४ समय = २० बीचारस्थान अतः स्थिति भेद २०—१ = १९

इन्हीं विचार स्थानोंको उत्कृष्ट स्थितिमें-से घटानेपर जघन्य स्थिति प्राप्त होती है। स्थितिकी क्रम हानि भी इतने ही स्थानोंमें होती है।

६. क्षपक श्रेणीमें आबाधा सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त होती है

क. पा. ३/३,२२/§३८०/२१०/३ सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीणं जदि सत्तावाससहस्समेत्ताबाहा लब्भदि तो अट्ठण्हं वस्साणं किं लभामो त्ति पमाणेणिच्छागुफिदफले ओवट्टिदे जेण एगसमयस्स असंखेज्जदिभागो आगच्छदि तेण अट्ठण्णं वस्साणमाबाहा अंतोमुहुत्तमेत्ता त्ति ण घडदे। ण एस दोसो, संसारावत्थं मोत्तूण खवगसेढीए एवंविहणियमाभावादो। —प्रश्न—सत्तरि कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थितिकी यदि सात हजार वर्ष प्रमाण आबाधा पायी जाती है तो आठ वर्ष प्रमाण स्थितिकी कितनी आबाधा प्राप्त होगी, इस प्रकार त्रैराशिक विधिके अनुसार इच्छाराशिसे फलराशिको गुणित करके प्रमाण राशिका भाग देनेपर चूँकि एक समयका असंख्यातवाँ भाग आता है, इसलिए आठ वर्षकी आबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है, यह कथन नहीं बनता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संसार अवस्थाको छोड़कर क्षपक श्रेणीमें इस प्रकारका नियम नहीं पाया जाता है।

७. उदीरणाकी आबाधा आवली मात्र ही होती है

गो. क./मू./९१८/११०३ आवलियं आबाहा उदीरणमासिज्ज सत्तकम्माणं। ...।९१८। —उदीरणाका आश्रय करि आयु बिना सात कर्मकी आबाधा आवली मात्र है बंधे पीछे उदीरणा होई तो आवली काल भए ही हो जाइ।

८. भुज्यमान आयुका शेष भाग ही बद्धयमान आयुकी आबाधा है

ध. ६/१,९–६,२२/१६६/१ एवमाउस्स आबाधा णिसेयट्ठिदी अण्णोण्णायत्तादो ण होंति त्ति जाणावणट्ठं णिसेयट्ठिदी चेव परूविदा। पुव्वकोडितिभागमादिं कादूण जाव असंखेपाद्धा त्ति एदेसु आबाधावियप्पेसु देव णिरयाणं आउअस्स उक्कस्स णिसेयट्ठिदी संभवदि त्ति उत्तं होदि। =उस प्रकार आयुकर्मकी आबाधा और निषेक स्थिति परस्पर एक दूसरेके आधीन नहीं है (जिस प्रकार कि अन्य कर्मोंकी होती है)।…इसका यह अर्थ होता है कि पूर्वकोटी वर्षके त्रिभाग अर्थात् तीसरे भागको आदि करके असंक्षेपाद्धा अर्थात् जिससे छोटा (संक्षिप्त) कोई काल न हो, ऐसे आवलीके असंख्यातवें भागमात्र-काल तक जितने आबाधा कालके विकल्प होते हैं, उनमें देव और नारकियोंके आयुकी उत्कृष्ट निषेक स्थिति सम्भव है। (अर्थात् देव और नरकायुकी आबाधा मनुष्य व तिर्यंचोंके बद्धयमान भवमें ही पूरी हो जाती है। तथा इसी प्रकार अन्य सर्व आयु कर्मोंकी आबाधाके सम्बन्धमें भी यथायोग्य जानना।

गो. क./भा.षा./१६०/१९५/१२ आयु कर्मकी आबाधा तौ पहला भवमें होय गई पीछे जो पर्याय धरया तहाँ आयु कर्मकी स्थित्तिके जेते निषेक हैं तिन सर्व समयनि विषें प्रथम समयस्यों लगाय अन्त समय पर्यन्त समय-समय प्रति परमाणू क्रमतैं खिरै हैं।

९. आयुकर्मकी आबाधा सम्बन्धी शंका समाधान

ध. ६/१.९–६,२९/६/१६१/१० पुव्वकोडितिभागादो आबाधा अहिया किण्ण होदि। उच्चदे—ण तावदेव-णेरइएसु बहुसागरोवमाउट्ठिदिएसु पुव्वकोडितिभागादो अधिया आबाधा अत्थि, तेसिं छम्मासावसेसे भुंजमाणाउए असंखेपाद्धापज्जवसाणे संते परभवियमाउअबंधमाणाणं तदसंभवा। ण तिरिक्ख-मणुसेसु वि तदो अहिया आबाधा अत्थि, तत्थ पुव्वकोडीदो अहियमवट्ठिदीए अभावा। असंखेज्जवसाऊ तिरिक्ख–मणुसा अत्थि त्ति चे ण, तेसिं देव-णेरइयाणं व भुंजमाणाउए छम्मासादो अहिए संते परभवियआउअस्स बंधाभावा।

ध. ६/१,९–७,३१/१९३/५ पुव्वकोडितिभागे वि भुज्जमाणाउए संते देवणेरइयदसवाससहस्सआउट्ठिदिबंधसंभवादो पुव्वकोडितिभागो आबाधा त्ति किण्ण परूविदो। ण एवं संते जहण्णट्ठिदिए अभावप्पसंगादो। =प्रश्न—आयु कर्मकी आबाधा पूर्वकोटीके त्रिभागसे अधिक क्यों नहीं होती? उत्तर—(मनुष्यों और तिर्यंचोंमें बन्ध होने योग्य आयुमें तो उपरोक्त शंका उठती ही नहीं) और न ही अनेक सागरोपमकी आयु स्थितिवाले देव और नारकियोंमें पूर्व कोटिके त्रिभागसे अधिक आबाधा होती है, क्योंकि उनकी भुज्यमान आयुके (अधिकसे अधिक) छह मास अवशेष रहनेपर (तथा कमसे कम) असंक्षेपाद्धा कालके अवशेप रहनेपर आगामीभव सम्बन्धी आयुको बाँधनेवाले उन देव और नारकियोंके पूर्व कोटिको त्रिभागसे अधिक आबाधाका होना असम्भव है। न तिर्यंच और मनुष्योंमें भी इससे अधिक आबाधा सम्भव है, क्योंकि उनमें पूर्व कोटीसे अधिक भवस्थितिका अभाव है। प्रश्न—(भोग भूमियोंमें) असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंच और मनुष्य होते हैं, (फिर उनके पूर्व कोटीके त्रिभागसे अधिक आबाधाका होना सम्भव क्यों नहीं है?) उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके देव और नारकियोंके समान भुज्यमान आयुके छह माससे अधिक होनेपर भवसम्बन्धी आयुके बन्धका अभाव है, (अतएव पूर्वकोटीके त्रिभागसे अधिक आबाधाका होना सम्भव नहीं है। (क्रमशः) प्रश्न—भुज्यमान आयुमें पूर्वकोटीका त्रिभाग अवशिष्ट रहनेपर भी देव और नारक सम्बन्धी दश हजार वर्षकी जघन्य आयु स्थितिका बन्ध सम्भव है, फिर 'पूर्वकोटीका त्रिभाग आबाधा है' ऐसा सूत्रमें क्यों नहीं प्ररूपण किया? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर जघन्य स्थितिके अभावका प्रसंग आता है। अर्थात् पूर्वकोटिका त्रिभाग मात्र आबाधा काल जघन्य आयु स्थितिबन्धके साथ सम्भव तो है, पर जघन्य कर्म स्थितिका प्रमाण लानेके लिए तो जघन्य आबाधाकाल ही ग्रहण करना चाहिए उत्कृष्ट नहीं।

१०. नोकर्मोंकी आबाधा सम्बन्धी

ध. १४/५,६,२४६/३३२/११ णोकम्मस्स आबाधाभावेण…किमट्ठमेत्थ णत्थि आबाधा। साभावियादो। =नोकर्मकी आबाधा नहीं होनेके कारण…। प्रश्न—यहाँ आबाधा किस कारणसे नहीं है? उत्तर—क्योंकि ऐसा स्वभाव है।

* मूलोत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य उत्कृष्ट आबाधा व उनका स्वामित्व —दे० स्थिति/६।

आमंत्रिणी भाषा—दे० भाषा।

आमर्षौषध ऋद्धि—दे० ऋद्धि /७।

आमुंडा—ष. खं. १३/५,५/सू. ३९/२४३ आवायो ववसायो बुद्धि विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी ॥३९॥…आमुंड्यते संकोच्यते वितर्कितोऽर्थः अनयेति आमुंडा। =अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमंडा, प्रत्यामुंडा ये पर्याय नाम हैं ॥३९॥…जिसके द्वारा वितर्कित अर्थ 'आमुंड्यते' अर्थात् संकोचित किया जाता है वह आमुंडा है।

आम्नाय—स. सि./९/२५/४४३/५ घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। =उच्चारणकी शुद्धि पूर्वक पाठको पुनः-पुनः दोहराना आम्नाय है। (त. सा./७/१९), (अन. ध./७/८७/७१६)

रा. वा./९/२५/४/६२४/१९ व्रतिनो वेदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदिश्यते। =आचारपारगामी व्रतीका लौकिक फलकी अपेक्षा किये बिना द्रुतविलम्बितादि पाठ दोषोंसे रहित होकर पाठका फेरना, घोखना आम्नाय है। (चा. सा./१५३/३)

आय—१. आयका वर्गीकरण —दे० दान।

२. सब गुणस्थानों व मार्गणा स्थानोंमें आयके अनुसार व्यय —दे० मार्गणा।

आयत—१. आयत चतुरस्राकार—(ज.प./प्र. १०५) Rectangulae।

२. तिर्यक् आयत चतुरस्र—(ज. प./प्र. १०५) Culaid

३. आयत सामान्य—ऊर्ध्वता सामान्य अर्थात् एक द्रव्यकी सर्व पर्यायोंमें रहनेवाला एक अन्वय सामान्य। दे० क्रम/१/ऊर्ध्वप्रचय।

आयतन—**१. आयतन व अनायतनका लक्षण**

बो. पा./मू./५–७ मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इंदिया विसया। आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥५॥ मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता। पंचमहव्वयधरा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥ सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स। सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥ =जिन मार्ग विषै संयम सहित मुनिरूप है सो आयतन कहा है। कैसा है मुनिरूप—जाकै मन, वचन, काय तथा पंचेन्द्रियोंके विषय आधीन हैं अर्थात् जो इनके वश नहीं है परन्तु यह ही जिनके वशीभूत हैं ॥५॥ जाकै मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध और माया ये सर्व निग्रह कूँ प्राप्त भये हैं, बहुरि पाँच महाव्रतोंको धारण करनेवाले हैं ॥६॥ जाकै सदर्थ अर्थात् शुद्धात्मा सिद्ध भया है, जो विशुद्ध शुक्लध्यान कर युक्त हैं। जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त भया है, जो मुनिवरवृषभ अर्थात् मुनियोंमें प्रधान हैं ऐसे भगवान् भी सिद्धायतन हैं ॥७॥

द्र. सं./टी./४१/६६ सम्यक्त्वादिगुणानामायतन गृहमावास आश्रय-आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति। —सम्यक्त्वादि गुणोंका आयतन घर·आवास-आश्रय (आधार) करनेका निमित्त, उसको 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत अनायतन है।

२. बौद्धके द्वादश आयतन निर्देश

बो.पा./टी./६/पृ.७५ पर उद्धृत "पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च-मानसं। धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च। =बौद्ध मतमें आयतनका ऐसा लक्षण है—पाँच इन्द्रिय, शब्दादि पाँच विषय, मन व धर्म इस प्रकार १२ आयतन होते हैं।

३. षट् अनायतन निर्देश

द्र.सं./टी./४१/१६६/२ अथानायतनषट्कं कथयति। मिथ्यादेवो, मिथ्यादेवाराधको, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो, मिथ्यागमधराः पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्कं। =अब छह अनायतनोंका कथन करते हैं—मिथ्यादेव, मिथ्यादेवोंके सेवक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मिथ्याशास्त्र, और मिथ्याशास्त्रोंके धारक, इस प्रकारके छह अनायतन सरागसम्यग्दृष्टियोंको त्याग करने चाहिए।

भा.पा./टी./६/१४ पर उद्धृत "कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भक्तानां गृहे गतिः। षडनायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः ॥१॥ प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति-मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयं च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतनानि। अथवा असर्वज्ञः १ असर्वज्ञायतनं, २ असर्वज्ञज्ञानं, ३ असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषः, ४ असर्वज्ञानुष्ठानं, ५ असर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति। —कुदेव, कुगुरु व कुशास्त्रके तथा इन तीनोंके उपासकोंके घरोंमें आना-जाना, इनको आगमकारोंने षडनायतन ऐसा नाम दिया है ॥१॥ प्रभाचन्द्र आचार्य ऐसा कहते हैं कि—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इन तीनोंके धारक अर्थात् मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी व मिथ्या आचारवान् पुरुष, यह छह आयतन हैं। अथवा १ असर्वज्ञ, २ असर्वज्ञदेवका मन्दिर, ३ असर्वज्ञ ज्ञान, ४ असर्वज्ञ ज्ञानका धारक पुरुष, ५ असर्वज्ञ ज्ञानके अनुकूल आचारके धारक पुरुष यह छह अनायतन हैं।

आयाम—१. Lcnght (ज.प./प्र.१०५)।

२. गुणश्रेणी आयाम—दे० संक्रमण/८।

आयु—जीवकी किसी विवक्षित शरीरमें टिके रहनेकी अवधिका नाम ही आयु है। इस आयुका निमित्तकर्म आयुकर्म कहलाता है। यद्यपि गतिकी भाँति वह भी नरकादि चार प्रकारका है, पर गतिमें और आयुमें अन्तर है। गति जीवको हर समय बाँधती है, पर आयु बन्धके योग्य सारे जीवनमें केवल आठ अवसर आते हैं, जिन्हें अपकर्ष कहते हैं। जिस आयुका उदय आता है उसी गतिका उदय आता है अन्य गति नामक कर्म भी उसी रूपसे संक्रमण द्वारा अपना फल देते हैं। आयुकर्म दो प्रकारसे जाना जाता है—भुज्यमान व बध्यमान। वर्तमान भवमें जिसका उदय आ रहा है वह भुज्यमान है और इसी में जो अगले भवकी आयु बँधी है, सो बध्यमान है। भुज्यमान आयुका तो कदलीघात आदिके निमित्तसे केवल अपकर्षण हो सकता है उत्कर्षण नहीं, पर बध्यमान आयुका परिणामोंके निमित्तसे उत्कर्षण व अपकर्षण दोनों सम्भव है। किन्तु विवक्षित आयुकर्मका अन्य आयु रूपसे संक्रमण होना कभी भी सम्भव नहीं है। अर्थात् जिस जातिकी आयु बँधी है उसे अवश्य भोगना पड़ेगा।

४	**आठ अपकर्ष काल निर्देश**
१	कर्म भूमिजोंकी अपेक्षा आठ अपकर्ष।
२	भोग भूमिजों तथा देव नारकियोंकी अपेक्षा आठ अपकर्ष।
३	आठ अपकर्ष कालोंमें न बँधे तो अन्त समयमें बँधती है।
४	आयुके त्रिभाग शेष रहनेपर ही अपकर्ष काल आने सम्बन्धी दृष्टि भेद।
५	अन्तिम समयमें केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही आयु बँधती है।
६	आठ अपकर्ष कालोंमें बँधी आयुका समीकरण।
७	अन्य अपकर्षमें आयु बन्धके प्रमाणमें चार वृद्धि व हानि सम्भव है।
८	उसी अपकर्ष कालके सर्व समयोंमें उत्तरोत्तर हीन बन्ध होता है।
*	आठ सात आदि अपकर्षोंमें आयु बाँधने वालोंका अल्प बहुत्व। —दे० अल्पबहुत्व/३।
५	**आयुके उत्कर्षण व अपवर्तन सम्बन्धी नियम**
१	बद्धयमान व भुज्यमान दोनों आयुओंका अपवर्तन सम्भव है।
*	भुज्यमान आयुके अपवर्तन सम्बन्धी नियम —दे० मरण/४।
२	परन्तु बद्ध्यमान आयुकी उदीरणा नहीं होती।
३	उत्कृष्ट आयुके अनुभागका अपवर्तन सम्भव है।
४	असंख्यात वर्षायुष्कों तथा चरम शरीरियोंकी आयुका अपवर्तन नहीं होता।
*	आयुका स्थिति काण्डक घात नहीं होता। —दे० अपकर्षण/४।
५	भुज्यमान आयु पर्यन्त बद्धयमान आयुमें बाधा सम्भव है।
६	चारों आयुओंका परस्परमें संक्रमण नहीं होता।
७	संयमकी विराधनासे आयुका अपवर्तन हो जाता है।
*	अकाल मृत्युमें आयुका अपवर्तन। —दे० मरण/४।
८	आयुका अनुभाग व स्थिति घात साथ-साथ होते हैं।
६	**आयुबन्ध सम्बन्धी नियम**
१	तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु भोगभूमि, स्वयम्भूरमण द्वीप व कर्मभूमिके चार कालोंमें ही सम्भव है।
२	भोगभूमिजोंमें भी आयु हीनाधिक हो सकती है।
३	बद्धायुष्क व घातायुष्क देवोंकी आयु सम्बन्धी स्पष्टीकरण।
४	चारों गतियोंमें परस्पर आयुबन्ध सम्बन्धी।
५	आयुके साथ वही गति प्रकृति बँधती है।
६	एक भवमें एक ही आयुका बन्ध सम्भव है।
७	बद्धायुष्कोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थान प्राप्ति सम्बन्धी।
८	बद्धयमान देवायुष्कका सम्यक्त्व विराधित नहीं होता।
९	बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी संयोगी भंग।
१०	मिश्रयोगोंमें आयुका बन्ध सम्भव नहीं।
*	आयुकी आबाधा सम्बन्धी। —दे० आबाधा।
७	**आयुविषयक प्ररूपणाएँ**
१	नरक गति सम्बन्धी।
२	तिर्यंच गति सम्बन्धी।
३	एक अन्तर्मुहूर्तमें ल० अप० के सम्भव निरन्तर क्षुद्रभव।
४	मनुष्य गति सम्बन्धी।
५	भोग भूमिजों व कर्म भूमिजों सम्बन्धी।
*	तीर्थंकरों व शलाका पुरुषोंकी आयु। —दे० वह वह नाम।
६	देवगतिमें भवनवासियों सम्बन्धी।
७	देवगतिमें व्यन्तर देवों सम्बन्धी।
८	देवगतिमें ज्योतिष देवों सम्बन्धी।
९	देवगतिमें वैमानिक देव सामान्य सम्बन्धी।
१०	वैमानिक देवोंमें इन्द्रों व उनके परिवार देवों सम्बन्धी।
११	वैमानिक इन्द्रों अथवा देवोंकी देवियों सम्बन्धी।
१२	देवों द्वारा बन्ध योग्य जघन्य आयु।
*	काय सम्बन्धी स्थिति। —दे० काल/५,६।
*	भव स्थिति व काल स्थितिमें अन्तर। —दे० स्थिति/२।
*	गति अगति विषयक ओघ आदेश प्ररूपणा। —दे० जन्म/६।
*	आयु प्रकृतियोंकी बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणा तथा तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान। — दे० 'वह वह नाम'।
*	आयु प्रकरणमें ग्रहण किये गये पल्य सागर आदिका अर्थ। —दे० गणित I/१/६।

१. भेद व लक्षण

१. आयु सामान्यका लक्षण

रा.वा./२/२७/३/१६१/२४ आयुर्जीवितपरिणामम्।

रा.वा./८/१०/२/५७५/१२ यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते। =जीवनके परिणामका नाम आयु है। अथवा जिसके सद्भावसे आत्माका जीवितव्य होता है तथा जिसके अभावसे मृत्यु कही जाती है उसी प्रकार भवधारणको ही आयु कहते हैं।

प्र.सा./त.प्र./१४६ भवधारणनिमित्तमायुः प्राणः। =भवधारणका निमित्त आयु प्राण है।

२. आयुष्यका लक्षण

गो.जी./भाषा/२५८/५६६/१५ आयुका प्रमाण सो आयुष्य है।

३. आयु सामान्यके दो भेद (भवायु व अद्धायु)

भ.आ./वि./२५/८५/१६ तत्रायुर्द्विभेदं अद्धायुर्भवायुरिति च।...अर्थापेक्षया द्रव्याणामनाद्यनिधनं भवत्यद्धायुः ! पर्यायार्थापेक्षया चतुर्विधं भवत्यनाद्यनिधनं, साद्यनिधनं, सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति। =आयुके दो भेद हैं—भवायु और अद्धायु। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्योंका अद्धायु अनाद्यनिधन है अर्थात् द्रव्य अनादि कालसे चला आया है और वह अनन्त काल तक अपने स्वरूपसे च्युत न होगा, इसीलिए उसके अनादि अनिधन भी कहते हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जब विचार करते हैं तो अद्धायुके चार भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—अनाद्यनिधन, साद्यनिधन, सनिधन अनादि, सादि सनिधनता।

४. आयु सत्त्वके दो भेद (भुज्यमान व बद्ध्यमान)

गो.क./भाषा/३३६/४८७/१० विद्यमान जिस आयुको भोगवै सो भुज्यमान अर अगामी जाका बन्ध किया सो बद्ध्यमान ऐसे दोऊ प्रकार अपेक्षा करि...आयुका सत्त्व है।

५. भवायु व अद्धायुके लक्षण

भ.आ./वि./२८/८५/१६ भवधारणं भवायुर्भवः शरीरं तत्र ध्रियते आत्मनः आयुष्कोदयेन ततो भवधारणमायुष्काख्यं कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते। तथा चोक्तम्—देहो भवोत्ति उच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो। तो उच्चदि भवधारणमाउगकम्मं भवाउत्ति। इति आयुर्वशेनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन। अन्यस्यायुष उदये सति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे। तथा चोक्तम्—आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये। अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा॥इति॥ अद्धा शब्देन काल इत्युच्यते। आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थितिः, तेन द्रव्याणां स्थितिकालः अद्धायुरित्युच्यते इति। =१. भव धारण करना वह भवायु है। शरीरको भव कहते हैं। इस शरीरको आत्मा आयुका साहाय्य प्राप्त करके धारण करता है, अतः शरीर धारण करानेमें समर्थ ऐसे आयु कर्मको भवायु कहते हैं। इस विषयमें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं—देहको भव कहते हैं। वह भव आयु कर्मसे धारण किया जाता है, अतः भव धारण करानेवाले आयु कर्मको भवायु ऐसा कहा है, आयुकर्मके उदयसे ही उसका जीवन स्थिर है, और जब प्रस्तुत आयु कर्मसे भिन्न अन्य आयु कर्मका उदय होता है, तब यह जीव मरणावस्थाको प्राप्त होता है। मरण समयमें पूर्वायुका विनाश होता है। इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—कि आयु कर्मके उदयसे जीव उत्पन्न होता है, और आयुकर्मके उदयसे जीता है। अन्य आयुके उदयमें मर जाता है। उस समय पूर्व आयुका विनाश हो जाता है। २.अद्धा शब्दका 'काल' ऐसा अर्थ है, और आयु शब्दसे द्रव्यकी स्थिति ऐसा अर्थ समझना चाहिए। द्रव्यका जो स्थितिकाल उसको अद्धायु कहते हैं।

६. भुज्यमान व बद्ध्यमान आयुके लक्षण

गो.क./भाषा/३३६/४८७/१० विद्यमान जिस आयुको भोगवै सो भुज्यमान अर अगामी जाका बन्ध किया सो बद्ध्यमान (आयु कहलाती है।)

७. आयुकर्म सामान्यका लक्षण

स.सि./८/३/३७८/१ प्रकृतिः स्वभावः।...आयुषो भवधारणम्।...तदेवलक्षणं कार्यं। =प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। भवधारण आयु कर्मकी प्रकृति है। इस प्रकारका लक्षण किया जाता है।

स.सि./८/४/३८०/५ इत्यनेन नारकादि भवमेत्तीत्यायुः=जिसके द्वारा नारकादि भवोंको जाता है वह आयुकर्म है। (रा.वा./८/४/२/५६८/२), (गो.क./जी.प्र./३३/२८/११)

ध.६/१,९-१,९/१२/१० एति भवधारणं प्रति इत्यायुः। =जो भव धारणके प्रति जाता है वह आयुकर्म है। (ध.१३/५,५,९८/३६२/६)।

गो.क./मू./११/८ कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि। जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं ॥११॥=आयु कर्मका उदय है सो कर्मकरि किया अर अज्ञान असंयम मिथ्यात्व करि वृद्धिको प्राप्त भया ऐसा अनादि संसार ताविषै च्यारि गतिनिमैं जीव अवस्थानको करै है। जैसे काष्ठका खोड़ा अपने छिद्रमें जाका पग आया होय ताकी तहाँ ही स्थिति करावै तैसे आयुकर्म जिस गति सम्बन्धी उदयरूप होइ तिस ही गति विषै जीवकी स्थिति करावै है। (द्र.सं./टी./३३/९२), (गो.क./जी.प्र./२०/१३)

८. आयुकर्मके चार भेद (नरकायु आदि)

त. सू./८/१० नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥=नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयुकर्मके भेद हैं। (पं. सं./प्रा./२/४) (ष. ख./६,९-१/सू. २५/४८) (ष. ख./पु. १२/४२,१४/सू. १३/४८३) (ष. खं./१३/५,५/सू. ९९/३६२) (म. बं./पु. १/§५/२८) (गो.क./जी. प्र./२६/१९/६) (गो. क./जी. प्र./३३/२८/११) (पं.सं./सं./२/२०)

९. आयु कर्मके असंख्यात भेद

ध. १२/४,२,१४,१६/४८३/३ पज्जवट्ठियणए पुण अवलंबिज्जमाणे आउअपयडी वि असंखेज्जलोगमेत्ता भवदि, कम्मोदयवियप्पाणमसंखेज्जलोगमेत्ताणमुवलंभादो। =पर्यायार्थिक नयका आवलम्बन करनेपर तो आयुकी प्रकृतियाँ भी असंख्यात लोकमात्र हैं। क्योंकि कर्मके उदय रूप विकल्प असंख्यात लोकमात्र पाये जाते हैं।

१०. आयुकर्म विशेषके लक्षण

स. सि./८/१०/८ नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकम्। एवं शेषेष्वपि। =तीव्र शीत उष्ण वेदनावाले नरकोंमें जिसके निमित्तसे दीर्घ जीवन होता है वह नारक आयु है। इसी प्रकार शेष आयुओंमें भी जानना चाहिए।

२. आयु निर्देश

१. आयुके लक्षण सम्बन्धी शंका

रा. वा./८/१०/३/५७५/१४ स्यादेतत्—अन्नादि तन्निमित्तं तल्लाभालाभयोर्जीवितमरणदर्शनादिति; तन्न; किं कारणम्। तस्यानुग्राहकत्वात्... अतश्चैतदेवं यत क्षीणायुषोऽन्नादिसंनिधानेऽपि मरणं दृश्यते।... देवेषु नारकेषु चान्नाद्यभावाद् भवधारणमायुरधीनमेवेत्यवसेयम्। =प्रश्न—जीवनका निमित्त तो अन्नादिक हैं, क्योंकि, उसके लाभसे जीवन और अलाभसे मरण देखा जाता है। उत्तर—

ऐसा नहीं है क्योंकि अन्नादि तो आयुके अनुग्राहकमात्र हैं, मूल कारण नहीं है। क्योंकि आयुके क्षीण हो जानेपर अन्नादिकी प्राप्तिमें भी मरण देखा जाता है। फिर सर्वत्र अन्नादिक अनुग्राहक भी तो नहीं होते, क्योंकि देवों और नारकियोंके अन्नादिकका आहार नहीं होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि भवधारण आयुके ही आधीन है।

२. गतिबन्ध जन्मका कारण नहीं आयुबन्ध है

ध. १/१,१,८३/३२४/५ नापि नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्ति-प्रसङ्गात्। *नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्ति-*प्रसङ्गात्। =नरकगतिका सत्त्व भी (सम्यग्दृष्टिके) नरकमें उत्पत्ति-का कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पंचेन्द्रियोंको नरकगतिका प्रसंग आ जायेगा। तथा नित्य निगोदिया जीवोंके भी त्रसकर्मकी सत्ता विद्य-मान रहती है, इसलिए उनकी भी त्रसोंमें उत्पत्ति होने लगेगी।

३. जिस भवकी आयु बँधी नियमसे वहाँ ही उत्पन्न होता है

रा. वा./८/२१/१/५८३/१८ *न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा* विपच्यते। ='नराकायु' नरकायु रूपसे ही फल देगी तिर्यंचायु वा मनुष्यायु रूपसे नहीं।

ध. १०/४,२,४,४०/२३१/३ जिस्से गईए आउअं बद्धं तत्थेव णिच्छएण उपज्जत्ति त्ति। =जिस गतिकी आयु बाँधी गयी है। निश्चयसे वहाँ ही उत्पन्न होता है।

४. देव व नारकियोंको बहुलताकी अपेक्षा असंख्यात वर्षायुष्क कहा गया है

ध. ११/४,२,६,८/९०/१ देवणेरइएसु संखेज्जवासाउसत्तमिदि भणिदे सच्चं ण ते असंखेज्जवासाउआ, किंतु संखेज्ज वासाउआ चेव; समयाहिय-पुव्वकोडिप्पहुडि उवरिमआउअवियप्पाणं असंखेज्जवासाउअत्तब्भुव-गमादो। कधं समयाहियपुव्वकोडीए संखेज्जवासाए असंखेज्जवासत्तं। ण, रायरुक्खो व्व रूढिबलेण परिचत्तसगट्ठस्स असंखेज्जवस्ससद्दस्स आउअविसेसम्मि वट्टमाणस्स गहणादो। =प्रश्न—देव व नारकी तो संख्यात वर्षायुष्क ही होते हैं, फिर यहाँ उनका ग्रहण असंख्यात वर्षा-युष्क पदसे कैसे सम्भव है? उत्तर—इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सचमुचमें वे असंख्यात वर्षायुष्क नहीं हैं, किन्तु संख्यात वर्षायुष्क हो हैं। परन्तु यहाँ एक समय अधिक पूर्व कोटिको आदि लेकर आगेके आयु विकल्पोंको असंख्यातवर्षायुके भीतर स्वीकार किया गया है। प्रश्न—एक समय अधिक पूर्व कोटिके असंख्यातवर्षरूपता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, राजवृक्ष (वृक्षविशेष) के समान 'असंख्यात वर्ष' शब्द रूढिवश अपने अर्थको छोड़कर आयु-विशेषमें रहनेवाला यहाँ ग्रहण किया गया है।

३. आयुकर्मके बन्धयोग्य परिणाम

१. मध्यम परिणामोंमें ही आयु बँधती है

ध. १२/४,२,७,३२/२७/१२ अइजहण्णा आउबंधस्स अप्पाओग्गं। अइम-हल्ला पि अप्पाओग्गं चेव, सभावियादो। तत्थ दोण्णं विच्चाले ट्ठिया परियत्तमाणमज्झिमपरिणामा बुच्चंति। =अति जघन्य *परिणाम आयु बन्धके अयोग्य हैं। अत्यन्त महान् परिणाम भी आयु* बन्धके अयोग्य ही हैं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। किन्तु उन दोनोंके मध्यमें अवस्थित परिणाम परिवर्तमान मध्यम परिणाम कहलाते हैं। (*उनमें यथायोग्य परिणामोंसे आयु बन्ध होता है।*)

गो. क./मू./५१८/९१३ लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा होंति तत्थ म-ज्झिमया। आउगबंधणजोग्गा अट्ठट्ठवगरिसकालभवा। =लेश्यानिके छव्वीस अंश हैं तहाँ छहौ लेश्यानिके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदकरि अठारह अंश हैं, बहुरि कापोत लेश्याके उत्कृष्ट अंश तैं आगैं अर तैजो लेश्याके उत्कृष्ट अंश तैं पहिलैं कषायनिका उदय स्थानकनि-विषैं आठ मध्यम अंश है ऐसैं छव्वीस अंश भए। तहाँ आयु कर्मके बन्ध योग्य आठ मध्यम अंश जानने। (रा. वा./४/२२/१०/२४०/१)

गो. क./जी. प्र./५४९/७२६/२१ अशेषक्रोधकषायानुभागोदयस्थानान्य-संख्यातलोकमात्रषड्ढानिवृद्धिपतितासंख्यातलोकमात्राणि तेष्वसं-*ख्यातलोकभक्तबहुभागमात्राणि संक्लेशस्थानानि तदेकमात्रभाग-*मात्राणि विशुद्धस्थानानि। तेषु लेश्यापदानि चतुर्दशलेश्यांशाः षड्-विंशतिः। तत्र मध्यमा अष्टौ आयुर्बन्धनिबन्धनाः। =समस्त क्रोध कषायके अनुभाग रूप उदयस्थान असंख्यात लोकमात्र षट्स्थान-पतित हानि कौं लिये असंख्यात लोकप्रमाण है। तिनकौं यथायोग्य असंख्यात लोकका भाग दिए तहाँ एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण तौ संक्लेश स्थान हैं। एक भाग प्रमाण विशुद्धिस्थान है। तिन विषैं लेश्यापद चौदह हैं। लेश्यानिके अंश छब्बीस हैं। तिन विषैं मध्यके आठ अंश आयुके बन्धको कारण हैं।

२. *अल्पायुके बन्ध योग्य परिणाम*

भ. आ./वि./४४६/६५४/४ सदा परप्राणिघातोद्यतस्तदीयप्रियतमजीवित-विनाशनात् प्रायेणाल्पायुरेव भवति। =जो प्राणी हमेशा पर जीवोंका घात करके उनके प्रिय जीवितका नाश करता है वह प्रायः अल्पायुषी ही होता है।

३. नरकायु सामान्यके बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/१५,१६ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥ निश्शील-व्रतित्वं च सर्वेषाम् ॥१६॥ =बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहवाले-का भाव नरकायुका आस्रव है ॥१५॥ शीलरहित और व्रतरहित होना सब आयुओंका आस्रव है ॥१६॥

स. सि./६/१५/३३३/६ हिंसादिक्रूरकर्मजस्रप्रवर्तनपरस्वहरणविषयाति-*गृद्धिकृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो नारकस्यायुष* आस्रवो भवति। =हिंसादि क्रूर कार्योंमें निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरेके धनका हरण, इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति, तथा मरनेके समय कृष्णलेश्या और रौद्रध्यान आदिका होना नरकायुके आस्रव हैं।

ति. प./२/२९३-२९४ आउस्स बंधसमए सिलोव्व सेलो वेणूमूले य। किमिरायकसायाणं उदयम्मि बंधेदि णिरयाउ ॥२९३॥ किण्हाय णीलकाऊणुदयादो बंधिऊण णिरयाऊ। मरिऊण ताहिं जुत्तो पावइ णिरयं महाघोरं ॥२९४॥ =आयु बन्धके समय सिलकी रेखाके समान क्रोध, शलके समान मान, बाँसकी जड़के समान माया, और कृमिरागके समान लोभ कषायका उदय होनेपर नरक आयुका बन्ध होता है ॥२९३॥ कृष्ण नील अथवा कापोत इन तीन लेश्याओंका उदय होनेसे नरकायुको बाँधकर और मरकर उन्हीं लेश्याओंसे युक्त होकर महाभयानक नरकको प्राप्त करता है ॥२९४॥

त. सा./४/३०-३४ उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता। मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ॥३०॥ अजस्रं जीवघातित्वं सतता-नृतवादिता। परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥३१॥ कामभोगा-भिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता। जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥३२॥ मार्जारताम्रचूडादिपापीयः प्राणिपोषणम्। नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥३३॥ कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं *चतुर्विधम्। आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३४॥* =कठोर पत्थरके समान तीव्रमान, पर्वतमालाओंके समान अभेद्य क्रोध रखना, मिथ्यादृष्टि होना, तीव्र लोभ होना, सदा निर्दयी बने रहना, सदा जीवघात करना, सदा ही झूठ बोलनेमें प्रेम मानना, सदा परधन

हरनेमें लगे रहना, नित्य मैथुन सेवन करना, काम भोगोंकी अभिलाषा सदा ही जाज्वल्यमान रखना, जिन भगवान्‌की आसादना करना, साधु धर्मका उच्छेद करना, बिल्ली, कुत्ते, मुर्गे इत्यादि पापी प्राणियोंको पालना, शीलव्रत रहित बने रहना और आरम्भ परिग्रहको अति बढ़ाना, कृष्ण लेश्या रहना, चारों रौद्रध्यानमें लगे रहना, इतने अशुभ कर्म नरकायुके आस्रव हेतु हैं। अर्थात् जिन कर्मोंको क्रूरकर्म कहते हैं और जिन्हें व्यसन कहते हैं, वे सभी नरकायुके कारण हैं। (रा. वा./६/१५/३/५२५/३१) (म. पु./१०/२२-२७)

गो.क./मू./८०४/९८२ मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो। णिरयाउगं णिबंधइ पावमई रुद्दपरिणामी ॥ ८०४ ॥ =जो जीव मिथ्यात्वरूप मिथ्यादृष्टि होइ, बहुत आरंभी होइ, शील रहित होइ, तीव्र लोभ संयुक्त होइ, रौद्र परिणामी होइ, पाप कार्य विषै जाकी बुद्धि होइ सो जीव नरकायुको बाँधै है।

४. नरकायु विशेषके बन्धयोग्य परिणाम

ति.प./२/२९६,२९८,३०१ धम्मदयापरिचत्तो अमुक्करो पयंडकलहयरो। बहुकोहो किण्हाए जम्मदि धूमादि चरिमंते ॥२९६॥...। बहुसण्णा णीलाए जम्मदि तं चेव धूमंतं ॥२९८॥...। काऊए संजुत्तो जम्मदि घम्मादिमेघंतं ॥३०१॥ –दया, धर्मसे रहित, वैरको न छोड़ने वाला, प्रचंड कलह करने वाला और बहुत क्रोधी जीव कृष्ण लेश्याके साथ धूमप्रभासे लेकर अन्तिम पृथ्वी तक जन्म लेता है ॥२९६॥...आहारादि चारों संज्ञाओंमें आसक्त ऐसा जीव नील लेश्याके साथ धूमप्रभा पृथ्वी तकमें जन्म लेता है ॥२९८॥...। कापोत लेश्यासे संयुक्त होकर घर्मासे लेकर मेघा पृथ्वी तकमें जन्म लेता है।

५. कर्मभूमिज तिर्यंच आयुके बन्धयोग्य परिणाम

त.सू./६/१६ माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥ =माया तिर्यंचायुका आस्रव है।

स.सि./६/१६/३३४/३ तत्प्रपञ्चो मिथ्यात्वोपेतधर्मदेशना निःशीलतातिसन्धानप्रियता नीलकापोतलेश्यार्तध्यानमरणकालतादिः। =धर्मोपदेशमें मिथ्या बातोंको मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, अति संधानप्रियता, तथा मरणके समय नील व कापोत लेश्या और आर्त ध्यानका होना आदि तिर्यंचायुके आस्रव हैं।

रा.वा./६/१६/१/५२६/८ प्रपञ्चस्तु — मिथ्यात्वोपष्टम्भा-धर्मदेशना-नल्पारम्भपरिग्रहा-तिनिकृति-कूटकर्मा-वनिभेदसदृशरो षनिःशीलता-शब्दलिङ्गवञ्चना-तिसन्धानप्रियता-भेदकरणा-नर्थोद्भावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यत्वापादन - जातिकुलशीलसंदूषण-विसंवादनाभिसन्धिमिथ्याजीवित्व-सद्गुणव्यपलोपा - सद्गुणख्यापन-नीलकापोतलेश्यापरिणाम-आर्तध्यानमरणकालतादिलक्षणः प्रत्येतव्यः। =मिथ्यात्वयुक्त अधर्मका उपदेश, बहु आरम्भ, बहुपरिग्रह, अतिवंचना, कूटकर्म, पृथ्वीकी रेखाके समान रोषादि, निःशीलता, शब्द और संकेतादिसे परिवंचनाका षड्यन्त्र, छल-प्रपञ्चकी रुचि, भेद उत्पन्न करना, अनर्थोद्भावन, वर्ण, रस, गन्ध आदिको विकृत करनेकी अभिरुचि, जातिकुलशीलसंदूषण, विसंवाद रुचि, मिथ्याजीवित्व, सद्गुण लोप, असद्गुणख्यापन, नीलकापोतलेश्या रूप परिणाम, आर्तध्यान, मरण समयमें आर्त रौद्र परिणाम इत्यादि तिर्यंचायुके आस्रवके कारण हैं। (त.सा./४/३५-३६) (और भी देखो आगे आयु/३/१२)

गो.क./मू./८०५/९८२ उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहिययमाइल्लो। सठसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो ॥८०५॥ =जो जीव विपरीत मार्गका उपदेशक होइ, भलामार्गका नाशक होइ, गूढ और जाननेमें न आवै ऐसा जाका हृदय परिणाम होइ, मायावी कपटी होइ अर शठ मूर्खता संयुक्त जाका सहज स्वभाव होइ, शल्यकरि संयुक्त होइ सो जीव तिर्यंच आयुको बाँधै है।

६. भोग भूमिज तिर्यंच आयुके बन्धयोग्य परिणाम

ति.प./४/३७२-३७४ दादूण केइ दाणं पत्तविसेसेसु के वि दाणाणं अणुमोदणेण तिरिया भोगखिदीए वि जायंति ॥३७२॥ गहिदूण जिणलिंगं संजमसम्मत्तभावपरिचत्ता। मायाचारपयट्टा चारित्तं णासयंति जे पावा ॥३७३॥ दादूण कुलिंगीणं णाणादाणाणि जे णरा मुद्धा। तव्वेसधरा केई भोगमहीए हुवंति ते तिरिया ॥३७४॥ =कोई पात्र विशेषोंको दान देकर और कोई दानोंकी अनुमोदना करके तिर्यंच भी भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥ जो पापी जिनलिंगको (मुनिव्रत) को ग्रहण करके संयम एवं सम्यक्त्व भावको छोड़ देते हैं और पश्चात् मायाचारमें प्रवृत्त होकर चारित्रको नष्ट कर देते हैं; तथा जो कोई मूर्ख मनुष्य कुलिंगियोंको नाना प्रकारके दान देते हैं या उनके भेषको धारण करते हैं वे भोग-भूमिमें तिर्यंच होते हैं।

७. कर्मभूमिज मनुष्यायुके बन्धयोग्य परिणाम

त.सू./६/१७-१८ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥ स्वभावमार्दवं च ॥१८॥ = *अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह वालेका भाव मनुष्यायुका आस्रव है ॥१७॥* स्वभावकी मृदुता भी मनुष्यायुका आस्रव है।

स.सि./६/१७-१८/३३४/८ नारकायुरास्रवो व्याख्यातः। तद्विपरीतो मानुषस्यायुष इति संक्षेपः। तद्व्यासः—विनीतस्वभावः प्रकृतिभद्रता प्रगुणव्यवहारता तनुकषायत्वं मरणकालासंक्लेशतादिः ॥१७॥... स्वभावेन मार्दवम्। उपदेशानपेक्षमित्यर्थः। एतदपि मानुषस्यायुष आस्रवः। =नरकायुका आस्रव पहले कह आये हैं। उससे विपरीत भाव मनुष्यायुका आस्रव है। संक्षेपमें यह सूत्रका अभिप्राय है। उसका विस्तारसे खुलासा इस प्रकार है—स्वभावका विनम्र होना, भद्र प्रकृतिका होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषायका होना तथा मरणके समय संक्लेश रूप परिणतिका नहीं होना आदि मनुष्यायुके आस्रव हैं।...स्वभावसे मार्दव स्वभाव मार्दव है। आशय यह है कि बिना किसीके समझाये बुझाये मृदुता अपने जीवनमें उतरी हुई हो इसमें किसीके उपदेशकी आवश्यकता न पड़े। यह भी मनुष्यायुका आस्रव है। (रा.वा./६/१८/१/५२६/२३)

रा. वा./६/१७/१/५२६/१५ मिथ्यादर्शनालिङ्गितामति-विनीतस्वभावता-प्रकृतिभद्रता-मार्दवार्जवसमाचारसुखप्रज्ञापनीयता-वालुकाराजिसदृशरोष - प्रगुणव्यवहारप्रायताऽल्पारम्भपरिग्रह— संतोषाभिरति-प्राण्युपघातविरमणप्रदोषविकर्मनिवृत्ति - स्वागताभिभाषणामौखर्यप्रकृतिमधुरता - लोकयात्रानुग्रह - औदासीन्यानुसूयाल्पसंक्लेशता - गुरुदेवतातिथिपूजासंविभागशीलता - कपोतपीतलेश्योपश्लेष-धर्मध्यानमरणकालतादिलक्षणः। =भद्रमिथ्यात्व, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव आर्जव परिणाम, सुख समाचार कहनेकी रुचि, रेतकी रेखाके समान क्रोधादि, सरल व्यवहार, अल्पपरिग्रह, सन्तोष सुख, हिंसाविरक्ति, दुष्ट कार्योंसे निवृत्ति, स्वागततत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुरता, लोकयात्रानुग्रह, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षारहित परिणाम, अल्पसंक्लेश, देव-देवता तथा अतिथि पूजामें रुचि, दानशीलता, कपोतपीत लेश्यारूप परिणाम, मरण कालमें धर्मध्यान परिणति आदि मनुष्यायुके आस्रव कारण हैं।

रा. वा./६/२०/१/५२७/१५ अव्यक्तसामायिक-विराधितसम्यग्दर्शनता भवनाद्यायुषः महर्द्धिकमानुषस्य वा। =अव्यक्त सामायिक, और सम्यग्दर्शनकी विराधना आदि...महर्द्धिक मनुष्यकी आयुके आस्रवके कारण हैं। (और भी दे० आयु/३/१२)

भ. आ./वि./४४६/६५२/१३ तत्र ये हिंसादयः परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तकाः बालिकाराज्या, दारुणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समानाः यथासंख्येन क्रोधमानमायालोभाः परिणामाः। जीवघातं कृत्वा हा दुष्टं कृतं, यथा दुःखं मरणं वास्माकं अप्रियं तथा सर्वजीवानां। अहिंसा शोभना वयं तु असमर्था हिंसादिकं परिहर्तुमिति

च परिणामः। मृषापरदोषसूचकं, परगुणानामसहनं वचनं वासज्जनाचारः। साधुनामयोग्यवचने दुर्व्यापारे च प्रवृत्तानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः। तथा शस्त्रप्रहारादप्यर्थः परद्रव्यापहरणं, द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो, नेतरत् तस्माद्दुष्टकृतं परधनहरणमिति परिणामः। परदारादिलङ्घनमस्माभिः कृतं तदतीवाशोभनं। यथास्मद्दाराणां परैर्ग्रहणे दुःखमात्मसाक्षिकं तद्वत्तेषामिति परिणामः। यथा गङ्गादिमहानदीनां अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्तिः सागरस्यैवं द्रविणेनापि जीवस्य संतोषो नास्तीति परिणामः। एवमादि परिणामानां दुर्लभता अनुभवसिद्धैव। =इन (तीव्र, मध्यम व मन्द) परिणामोंमें जो मध्यम हिंसादि परिणाम हैं वे मनुष्यपनाके उत्पादक हैं। (तहाँ उनका विस्तार निम्न प्रकार जानना) **१. चारों कषायोंकी अपेक्षा**—बालुकामें खिंची हुई रेखाके समान क्रोध परिणाम, लकड़ीके समान मान परिणाम, गोमूत्राकारके समान माया परिणाम, और कीचड़के रंगके समान लोभ परिणाम ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है। **२. हिंसाकी अपेक्षा**—जीव घात करनेपर, हा! मैंने दुष्ट कार्य किया है, जैसे दुःख व मरण हमको अप्रिय हैं, सम्पूर्ण प्राणियोंको भी उसी प्रकार वह अप्रिय हैं, जगत्में अहिंसा ही श्रेष्ठ व कल्याणकारिणी है। परन्तु हम हिंसादिकोंका त्याग करनेमें असमर्थ हैं। ऐसे परिणाम··· **३. असत्यकी अपेक्षा**—झूठे पर दोषोंको कहना, दूसरोंके सद्गुण देखकर मनमें द्वेष करना, असत्य भाषण करना यह दुर्जनोंका आचार है। साधुओंके अयोग्य ऐसे निंद्य भाषण और खोटे कामोंमें हम हमेशा प्रवृत्त हैं, इसलिए हममें सज्जनपना कैसा रहेगा? ऐसा पश्चात्ताप करना रूप परिणाम। **४. चोरीकी अपेक्षा**-दूसरोंका धन हरण करना, यह शस्त्रप्रहारसे भी अधिक दुःखदायक है, द्रव्यका विनाश होनेसे सर्व कुटुम्बका ही विनाश होता है, इसलिए मैंने दूसरोंका धन हरण किया है सो अयोग्य कार्य हमसे हुआ है, ऐसे परिणाम। **५. ब्रह्मचर्यकी अपेक्षा**—हमारी स्त्रीका किसीने हरण करनेपर जैसा हमको अतिशय कष्ट दिया है वैसा उनको भी होता है यह अनुभवसे प्रसिद्ध है। ऐसे परिणाम होना। **६. परिग्रहकी अपेक्षा**—गंगादि नदियाँ हमेशा अपना अनन्त जल लेकर समुद्रमें प्रवेश करती हैं तथापि समुद्रकी तृप्ति होती ही नहीं। यह मनुष्य प्राणी भी धन मिलनेसे तृप्त नहीं होता है। इस तरहके परिणाम दुर्लभ हैं। ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है।

गो. क./मू./८०६/९८३ पयडीए तणुकसाओ दाणरदीसीलसंजमविहीणो। मज्झिमगुणेहिं जुत्तो मणुवाउं बंधदे जीवो ॥ ८०६ ॥ =जो जीव विचार बिना प्रकृति स्वभावही करि मंद कषायी होइ, दानविषै प्रीतिसंयुक्त होइ, शील संयम कर रहित होइ, न उत्कृष्ट गुण न दोष ऐसे मध्यम गुणनिकरि संयुक्त होइ सो जीव मनुष्यायु कौं बाँधै है।

८. शलाकापुरुषोंकी आयुके बन्धयोग्य परिणाम

ति. प./४/५०४-५०६ एदे चउदस मणुओ पदिसुदिपहुदि हु णाहिरायंता। पुव्वभवम्मि विदेहे राजकुमारमहाकुले जादा ॥५०४॥ कुसला दाणादोसुं संजमतवणाणवंतपत्ताणं। णियजोग्गअणुट्ठाणा मद्दवअज्जवगुणेहिं संजुत्ता ॥५०५॥ मिच्छत्तभावणाए भोगाउं बंधिऊण ते सव्वे। पच्छा खाइयकम्मं गेण्हंति जिणिंदचरणमूलम्हि ॥५०६॥ =प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिराय पर्यन्तमें चौदह मनु पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रके भीतर महाकुलमें राजकुमार थे ॥५०४॥ वे सब संयम तप और ज्ञानसे युक्त पात्रोंके लिए दानादिकके देनेमें कुशल, अपने योग्य अनुष्ठानसे संयुक्त, और मार्दव आर्जव गुणोंसे सहित होते हुए पूर्वमें मिथ्यात्व भावनासे भोगभूमिकी आयुको बाँधकर पश्चात् जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके समीप क्षायिक सम्यक्त्वको ग्रहण करते हैं ॥५०५-५०६॥

९. सुभोग भूमिज मनुष्यायुके बन्धयोग्य परिणाम

ति. प./४/३६५-३७१ भोगमहीए सव्वे जायंते मिच्छभावसंजुत्ता। मंदकसायामाणुवा पेसुण्णासूयदव्वपरिहीणा ॥३६५॥ वज्जिद मंसाहारा मधुमज्जोदुंबरेहिं परिचत्ता। सच्चजुदा मदरहिदा वारियपरदारपरिहीणा ॥३६६॥ गुणधरगुणेसु रत्ता जिणपूजं जे कुणंति परवसतो। उववासतणुसरीरा अज्जवपहुदीहिं संपण्णा ॥३६७॥ आहारदाणणिरदा जदीसु वरविविहजोगजुत्तेसुं। विमलतरसंजमेसु य विमुक्कगंथेसु भत्तीए ॥३६८॥ पुव्वं बद्धणराऊ पच्छा तित्थयरपादमूलम्मि। पाविदखाइयसम्मा जायंते केइ भोगभूमीए ॥३६९॥ एवं मिच्छाइट्ठी णिग्गंथाणं जदीण दाणाइं। दादूण पुण्णपाके भोगमही केइ जायंति ॥३७०॥ आहाराभयदाणं विविहोसहपोत्थयादिदाणं। सेसे णाणीयणं दादूणं भोगभूमि जायंते ॥३७१॥ =भोग भूमिमें वे सब जीव उत्पन्न होते हैं जो मिथ्यात्व भावसे युक्त होते हुए भी, मन्दकषायी हैं, पैशुन्य एवं असूयादि द्रव्योंसे रहित हैं, मांसाहारके त्यागी हैं, मधु मद्य और उदुम्बर फलोंके भी त्यागी हैं, सत्यवादी हैं, अभिमानसे रहित हैं, वेश्या और परस्त्रीके त्यागी हैं, गुणियोंके गुणोंमें अनुरक्त हैं, पराधीन होकर जिनपूजा करते हैं, उपवाससे शरीरको कृश करनेवाले हैं, आर्जव आदिसे सम्पन्न हैं, तथा उत्तम एवं विविध प्रकारके योगोंसे युक्त, अत्यन्त निर्मल सम्यक्त्वके धारक, और परिग्रहसे रहित, ऐसे यतियोंको भक्तिसे आहार देनेमें तत्पर हैं ॥३६५-३६८॥ जिन्होंने पूर्व भवमें मनुष्यायुको बाँध लिया है, पश्चात् तीर्थंकरके पाद मूलमें क्षायिक सम्यक्दर्शन प्राप्त किया है, ऐसे कितने ही सम्यक्दृष्टि पुरुष भी भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं ॥३६९॥ इस प्रकार कितने ही मिथ्यादृष्टि मनुष्य निर्ग्रन्थ यतियोंको दानादि देकर पुण्यका उदय आनेपर भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं ॥३७०॥ शेष कितने ही मनुष्य आहार दान, अभयदान, विविध प्रकारकी औषध तथा ज्ञानके उपकरण पुस्तकादिके दानको देकर भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं।

१०. कुभोग भूमिज मनुष्यायुके बन्धयोग्य परिणाम

ति. प./४/२५००-२५११ मिच्छत्तम्मि रत्ताणं मंदकसाया पियंवदा कुडिला धम्मफलं मग्गंता मिच्छादेवेसु भत्तिपरा ॥२५००॥ सुद्धोदणसलिलोदणकंजिय असणादिकट्ठसुकिलिट्ठा। पंचग्गितवं विसमं कायकिलेसं च कुव्वंता ॥२५०१॥ सम्मत्तरयणहीणा कुमाणुसा लवणजलधिदीवेसुं। उपज्जंति अधण्णा अण्णाणजलम्मिमज्जंता ॥२५०२॥ अदिमाणगव्विदा जे साहूणकुणंति किंचि अवमाणं। सम्मत्ततवजुदाणं जे णिग्गंथाणं दूसणा देंति ॥२५०३॥ जे मायाचाररदा संजमतवजोगवज्जिदा पावा। इड्ढिरससादगारवगरुवा जे मोहमावण्णा ॥२५०४॥ थूलसुहुमादिचारं जे णालोचंति गुरुजणसमीवे। सज्झाय बंदणाओ जे गुरुसहिदा ण कुव्वंति ॥२५०५॥ जे छंडिय मुणिसंघं वसंति एकाकिणो दुराचारा। जे कोहेण य कलहं सव्वेसिंतो पकुव्वंति ॥२५०६॥ आहारसण्णसत्तालोहकसाएण जणिदमोहा जे। धरिऊणं जिणलिंगं पावं कुव्वंति जे घोरं। ॥२५०७॥ जे कुव्वंति ण भत्तिं अरहंताणं तहेव साहूणं। जे वच्छलविहीणा चाउव्वण्णम्मि संघम्मि ॥२५०८॥ जे गेण्हंति सुवण्णप्पहुदिं जिणलिंगधारिणो हिट्ठा। कण्णाविवाहपहुदिं संजदरूवेण जे पकुव्वंति ॥२५०९॥ जे भुंजंति विहीणा मोणेणं घोरपावसंलग्गा। अणअण्णदरुदयादो सम्मत्तं जे विणासंति ॥२५१०॥ ते कालवसं पत्ता फलेण पावाण विसमपाकाणं। उप्पज्जंति कुरूवा कुमाणुसा जलहिदीवेसुं ॥२५११॥ =मिथ्यात्वमें रत, मन्द कषायी, प्रिय बोलनेवाले, कुटिल, धर्म फलको खोजनेवाले, मिथ्यादेवोंकी भक्तिमें तत्पर, शुद्ध ओदन, सलिलोदन व कांजी खानेके कष्टसे संक्लेशको प्राप्त, विषम पंचाग्नि तप, व कायक्लेशको करनेवाले, और सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित अधन्य जीव अज्ञानरूपी जलमें डूबते हुए लवणसमुद्रके द्वीपोंमें कुमानुष उत्पन्न होते हैं॥२५००-२५०२॥ इसके

अतिरिक्त जो लोग तीव्र अभिमानसे गर्वित होकर सम्यक्त्व व तपसे युक्त साधुओंका किंचित् भी अपमान करते हैं, जो दिगम्बर साधुओं-की निन्दा करते हैं, जो पापी संयम तप व प्रतिमायोगसे रहित होकर मायाचारमें रत रहते हैं, जो ऋद्धि रस और सात इन तीन गारवोंसे महान् होते हुए मोहको प्राप्त हैं, जो स्थूल व सूक्ष्म दोषोंकी गुरु-जनोंके समीपमें आलोचना नहीं करते हैं, जो गुरुके साथ स्वाध्याय व वन्दना कर्मको नहीं करते हैं, जो दुराचारी मुनि संघको छोड़कर एकाकी रहते हैं, जो क्रोधसे सबसे कलह करते हैं, जो आहार संज्ञामें आसक्त व लोभ कषायसे मोहको प्राप्त होते हैं, जो जिनलिंगको धारण कर घोर पापको करते हैं, जो अरहन्त तथा साधुओंकी भक्ति नहीं करते हैं, जो चातुर्वर्ण्य संघके विषयमें वात्सल्य भावसे विहीन होते हैं, जो जिनलिंगके धारी होकर स्वर्णादिकको हर्षसे ग्रहण करते हैं, जो संयमीके वेषसे कन्याविवाहादिक करते हैं, जो मौनके बिना भोजन करते हैं, जो घोर पापमें संलग्न रहते हैं, जो अनन्तानुबन्धी चतुष्टयमें-से किसी एकके उदित होनेसे सम्यक्त्वको नष्ट करते हैं, वे मृत्युको प्राप्त होकर विषम परिपाकवाले पापकर्मोंके फलसे समुद्रके इन द्वीपोंमें कुत्सित रूपसे कुमानुष उत्पन्न होते हैं ॥२५०३-२५११॥ (ज. प./१०/५६-७६) (त्रि. सा./६२२-६२४)

११. देवायु सामान्यके बन्धयोग्य परिणाम

त. सू./६/२०-२१ सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥ सम्यक्त्वं च ॥२१॥ —सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतप ये देवायुके आस्रव हैं ॥२०॥ सम्यक्त्व भी देवायुका आस्रव है ॥२१॥

स. सि./६/१८/३३४/१२ स्वभावमार्दवं च ॥१८॥...एतदपि मानुषस्यायुष आस्रवः। पृथग्योगकरणं किमर्थम्। उत्तरार्थम्, देवायुष आस्रवोऽयमपि यथा स्यात्। —स्वभावकी मृदुता भी मनुष्यायुका आस्रव है। —प्रश्न—इस सूत्रको पृथक् क्यों बनाया ? उत्तर—स्वभावकी मृदुता देवायुका भी आस्रव है इस बातके बतलानेके लिए इस सूत्रको अलग बनाया है। (रा. वा./६/१८/१-२/५२६/२४)

त. सा./४/४२-४३ आकामनिर्जराबालतपो मन्दकषायता। सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम् ॥४२॥ सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः। इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ —बालतप व अकामनिर्जराके होनेसे, कषाय मन्द रखनेसे, श्रेष्ठ धर्मको सुननेसे, दान देनेसे, आयतन सेवी बननेसे, सराग साधुओंका संयम धारण करनेसे, देशसंयम धारण करनेसे, सम्यग्दृष्टि होनेसे, देवायुका आस्रव होता है।

गो. क./मू./८०७/९८३ अणुव्वदमहव्वदेहिं य बालतवाकामणिज्जराए य। देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥ —जो जीव सम्यग्दृष्टि है, सो केवल सम्यक्त्व करि साक्षात् अणुव्रत महाव्रतनिकरि देवायुकौं बाँधै है बहुरि जो मिथ्यादृष्टि जीव है सो उपचाररूप अणुव्रत महाव्रतनिकरि वा अज्ञानरूप बाल तपश्चरण करि वा बिना इच्छा बन्धादिकतै भई ऐसी आकाम निर्जराकरि देवायुकौं बाँधै है।

१२. भवनत्रिकायु सामान्यके बन्धयोग्य परिणाम

स. सि./६/२१/३३६/६ तेन सरागसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्राप्नुतः। नैष दोषः, सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति। —प्रश्न—सरागसंयम और संयमासंयम ये भवनवासी आदिकी आयुके आस्रव हैं यह प्राप्त होता है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्वके अभावमें सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते, इसलिए उन दोनोंका यहीं अन्तर्भाव होता है। अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायुके आस्रव हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्वके होनेपर ही होते हैं।

रा. वा./६/२०/१/५२७/१५ अव्यक्तसामायिक-विराधितसम्यग्दर्शनता भवनाद्यायुषः महर्द्धिकमानुषस्य वा। पञ्चाणुव्रतधारिणोऽविराधित-सम्यग्दर्शनाः तिर्यङ्मनुष्याः सौधर्मादिषु अच्युतावसानेषूत्पद्यन्ते, विनिपतितसम्यक्त्वा भवनादिषु। अनधिगतजीवाजीवा बालतपसः अनुपलब्धतत्त्वस्वभावा अज्ञानकृतसंयमाः संक्लेशाभावविशेषात् केचिद्भवनव्यन्तरादिषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्यतिर्यक्ष्वपि च। आकामनिर्जरा-क्षुत्तृष्णानिरोध-ब्रह्मचर्य-भूशय्या - मलधारण-परितापादिभिः परिखेदितमूर्तयः चाटकनिरोधबन्धनबद्धाः दीर्घकाल-रोगिणः असंक्लिष्टाः तरुगिरिशिखरपातिनः अनशनज्वलनजलप्रवेशन-विषभक्षण धर्मबुद्धयः व्यन्तरमानुषतिर्यक्षु। निःशीलव्रताः सानुकम्प-हृदयाः जलराजितुल्यरोषभोगभूमिसमुत्पन्नाश्च व्यन्तरादिषु जन्म प्रतिपद्यन्ते इति। —अव्यक्त सामायिक, और सम्यग्दर्शनकी विराधना आदि भवनवासी आदिकी आयुके अथवा महर्द्धिक मनुष्यकी आयुके आस्रव कारण हैं। पंच अणुव्रतोंके धारक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच या मनुष्य सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं। यदि सम्यग्दर्शन विराधना हो जाये तो भवनवासी आदिमें उत्पन्न होते हैं। तत्त्वज्ञानसे रहित बालतप तपनेवाले अज्ञानी मन्द कषायके कारण कोई भवनवासी व्यन्तर आदि सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं, कोई मर कर मनुष्य भी होते हैं तथा तिर्यंच भी। आकाम निर्जरा, भूख प्यासका सहना, ब्रह्मचर्य, पृथ्वीपर सोना, मल धारण आदि परिषहोंसे खेदखिन्न न होना, गूढ़ पुरुषोंके बन्धनमें पड़नेपर भी नहीं घबड़ाना, दीर्घ कालीन रोग होनेपर भी असंक्लिष्ट रहना, या पर्वतके शिखरसे झंपापात करना, अनशन, अग्नि प्रवेश, विष-भक्षण आदिको धर्म माननेवाले कुतापस व्यन्तर और मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। जिनने व्रत या शीलोंको धारण नहीं किया किन्तु जो सदय हृदय हैं, जल रेखाके समान मन्द कषायी हैं, तथा भोग भूमिमें उत्पन्न होनेवाले व्यन्तर आदिमें उत्पन्न होते हैं।

त्रि. सा./४५० उम्मग्गचारि सणिदाणाणलादिमुदा अकामणिज्जरिणो। कुदवा सबलचरित्ता भवणतियं जंति ते जीवा ॥ ४५० ॥ —उन्मार्गचारी, निदान करनेवाले, अग्नि, जल आदिसे झंपापात् करनेवाले, बिना अभिलाष बन्धादिक कै निमित्त तैं परिषह सहनादि करि जिनकै निर्जरा भई, पंचाग्नि आदि खोटे तपके करनेवाले, बहुरि सदोष चारित्रके धरन हारे जे जीव हैं ते भवनत्रिक विषै जाय ऊपजै हैं।

१३. भवनवासी देवायुके बन्धयोग्य परिणाम

ति. प./३/१९८, १९९, २०६ अवमिदसंका केई णाणचरित्ते किलिट्ठ-भावजुदा। भवणामरेसु आउं बंधंति हु मिच्छभाव जुदा ॥ १९८ ॥ अविणयसत्ता केई कामिणिविरहज्जरेण जज्जरिदा कलहपिया पाविट्ठा जायंते भवणदेवेसु ॥ १९९ ॥ जे कोहमाणमायालोहासत्ताकिविट्ठ चारित्ता। वइराणुबद्धरुचिरा ते उपज्जंति असुरेसु ॥ २०६ ॥ —ज्ञान और चारित्रके विषयमें जिन्होंने शंकाको अभी दूर नहीं किया है, तथा जो क्लिष्ट भावसे युक्त हैं, ऐसे जीव मिथ्यात्व भावसे सहित होते हुए भवनवासी सम्बन्धी देवोंकी आयुको बाँधते हैं ॥ १९८ ॥ कामिनीके विरहरूपी ज्वरसे जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १९९ ॥ जो जीव क्रोध, मान, मायामें आसक्त हैं, अकृपिष्ठ चारित्र अर्थात् क्रूराचारी हैं, तथा बैर भावमें रुचि रखते हैं, वे असुरोंमें उत्पन्न होते हैं।

१४. व्यन्तर तथा नीच देवोंकी आयुके बन्धयोग्य परिणाम

भ. आ./मू./१८१-१८२/३९८ णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं। माइय अवण्णवादी खिब्भिसिय भावणं कुणइ ॥ १८१ ॥ मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु। इड्ढिरससादहेदुं अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १८२ ॥ —श्रुतज्ञान, केवली व धर्म, इन तीनोंके प्रति मायावी अर्थात् ऊपरसे इनके प्रति प्रेम व भक्ति दिखाते हुए, परन्तु अन्दरसे इनके प्रतिका बहुमान या आचरणसे रहित जीव,

आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठीमें दोषोंका आरोपण करनेवाले, और अवर्णवादी जन ऐसे अशुभ विचारोंसे मुनि किल्विष जातिके देवोंमें जन्म लेते हैं ॥ १८१ ॥ मन्त्राभियोग्य अर्थात् कुमारी वगैरहमें भूतका प्रवेश उत्पन्न करना, कौतुहलोपदर्शन क्रिया अर्थात् अकालमें जलवृष्टि आदि करके दिखाना, आदि चमत्कार, भूतिकर्म अर्थात् बालकादिकोंकी रक्षाके अर्थ मन्त्र प्रयोगके द्वारा भूतोंकी क्रीड़ा दिखाना—ये सब क्रियाएँ ऋद्धि गौरव या रस गौरव, या सात गौरव दिखानेके लिये जो करता है सो आभियोग्य जातिके वाहन देवोंमें उत्पन्न होता है।

ति. प./३/२०१-२०५ मरणे विराधिदम्मि य केई कंदप्पकिब्बिसा देवा। अभियोगा संमोहप्पहुदीसुरदुग्गदीसु जायंते ॥ २०१ ॥ जे सच्चवयण-होणा हस्सं कुव्वंति बहुजणे णियमा। कंदप्परत्तहिदया ते कंदप्पेसु जायंति ॥ २०२ ॥ जे भूदिकम्ममंताभियोगकोदूहलाइसंजुत्ता। जणवण्णे य पअट्टा वाहणदेवेसु ते होंति ॥ २०३ ॥ तित्थयरसंघमहिमाआगम-गंथादिएसु पडिकूला। दुव्विणया णिगदिल्ला जायंते किब्बिससुरेसु ॥ २०४ ॥ उप्पहउवएसयरा विप्पडिवण्णा जिणिंदमग्गम्मि। मोहेणं संमोधा संमोहसुरेसु जायंते ॥ २०५ ॥

ति. प./८/५५६,५६६ सबल चरित्ता कूरा उम्मग्गट्ठा णिदाणकदभावा। मंदकसायाणुरदा बंधंते अप्पइद्धिअसुराउं ॥ ५५६ ॥ ईसाणलंतवच्चुदकप्पंतं जाव होंति कंदप्पा। किब्बिसिया अभियोगा णियकप्पजहण्णठिदिसहिया ॥ ५६६ ॥ =मरणके विराधित करनेपर अर्थात् समाधि मरणके बिना, कितने ही जीव दुर्गतियोंमें कन्दर्प, किल्विष, आभियोग्य और सम्मोह इत्यादि देव उत्पन्न होते हैं। जो प्राणी सत्य वचनसे रहित हैं, नित्य ही बहुजनमें हास्य करते हैं, और जिनका हृदय कामासक्त रहता है, वे कन्दर्प देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २०२ ॥ जो भूतिकर्म, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि आदिसे संयुक्त हैं तथा लोगोंके गुणगान (खुशामद) में प्रवृत्त रहते हैं, वे वाहन देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २०३ ॥ जो लोग तीर्थंकर व संघकी महिमा एवं आगमग्रन्थादिके विषयमें प्रतिकूल हैं, दुर्विनयी, और मायाचारी हैं, वे किल्विष देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २०४ ॥ उत्पथ अर्थात् कुमार्गका उपदेश करनेवाले, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्गमें विरोधी और मोहसे संमुग्ध जीव सम्मोह जातिके देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २०५ ॥ दूषित चारित्र-वाले, क्रूर, उन्मार्गमें स्थित, निदान भावसे सहित और मन्द कषायों-में अनुरक्त जीव अल्पर्द्धिक देवोंकी आयुको बाँधते हैं ॥५५६॥ कन्दर्प, किल्विषिक और आभियोग्य देव अपने-अपने कल्पकी जघन्य स्थिति सहित क्रमशः ईशान, लान्तव और अच्युत कल्पपर्यन्त होते हैं ॥ ५६६ ॥

१५. ज्योतिषदेवायुके बाँधने योग्य परिणाम

ति. प./७/६१७ आयुबंधणभावं दंसणगहणस्स कारणं विविहं। गुणठाणादि पवण्णण भावण लोए व्व त्तवत्तव्वं ॥ ६१७ ॥ =आयुके बन्धक भाव, सम्यग्दर्शन ग्रहणके विविध कारण और गुणस्थानादिका वर्णन, भावनलोकके समान कहना चाहिए ॥ ६१७ ॥

१६. कल्पवासी देवायु सामान्यके बन्धयोग्य परिणाम

स. सि./६/२१/३३६/५ *सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ किम्। देवस्यायुष आस्रव- इत्यनुवर्तते। अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः।* =सम्यक्त्व भी देवायु का आस्रव है। प्रश्न—सम्यक्त्व क्या है? उत्तर—'देवायु का आस्रव है', इस पदकी पूर्व सूत्रसे अनुवृत्ति होती है। यद्यपि सम्यक्त्वको सामान्यसे देवायुका आस्रव कहा है, तो भी इससे सौधर्मादि विशेषका ज्ञान होता है। (रा. वा./६/२१/१/५२७/२७)।

रा. वा./६/२०/१/५२७/१३ *कल्याणमित्रसम्बन्ध-आयतनोपसेवासद्धर्म-श्रवणगौरवदर्शना-ऽनवद्यप्रोषधोपवास - तपोभावना-बहुश्रुतागमपरत्व-कषायनिग्रह-पात्रदान-पीतपद्मलेश्यापरिणाम-धर्मध्यानमरणादिलक्षणः* सौधर्माद्यायुषः आस्रवः। =कल्याणमित्र संसर्ग, आयतन सेवा, सद्धर्मश्रवण, स्वगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तपकी भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायनिग्रह, पात्रदान, पीत, पद्म लेश्या परिणाम, मरण कालमें धर्मध्यान रूप परिणति आदि सौधर्म आदि आयुके आस्रव हैं। (और भी दे० आयु/३/१२) बन्धयोग्य परिणाम।"

१७. कल्पवासी देवायु विशेषके बन्धयोग्य परिणाम

ति. प./८/५५६-५६६ सबलचरित्ता कूरा उम्मग्गट्ठा णिदाणकदभावा। मंदकसायाणुरदा बंधंते अप्पइद्धि असुराउं ॥५५६॥ दसपुव्वधरा सोहम्मप्पहुदि सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं। चोद्दसपुव्वधरा तह लंतवकप्पादि वच्चंते ॥५५७॥ सोहम्मादि अच्चुदपरियंतं जंति देसवदजुत्ता। चउविहदाणपणट्ठा अकसाया पंचगुरुभत्ता ॥५५८॥ सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहि परिपुण्णा। जायंते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियंतं ॥ ५५९ ॥ जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण संपुण्णा। ते जायंति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियंतं ॥५६०॥ परदोअच्चणवदतवदंसणणाणचरणसंपण्णा। णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धि परियंतं ॥५६१॥ चरयापरिवज्जधरा मंदकसाया पियंवदा केई। कमसो भावणपहुदि जम्मंते बम्हकप्पंतं ॥५६२॥ जे पंचेंदियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरेण जुदा। मंदकसाया केई जंति सहस्सारपरियंतं ॥५६३॥ तणदंडणादिसहिया जीवा जे अमंदकोहजुदा। कमसो भावणपहुदो केई जम्मंति अच्चुदं जाव ॥५६४॥ आ ईसाणं कप्पं उप्पत्ती हादि देवदेवीणं। तप्परदो उब्भूदी देवाणं केवलाणं पि ॥५६५॥ ईसाणलंतवच्चुदकप्पंतं जाव होंति कंदप्पा। किब्बिसिया अभियोगा णियकप्पजहण्णट्ठिदिसहिया ॥५६६॥ =दूषित चरित्रवाले, क्रूर, उन्मार्गमें स्थित, निदान भावसे सहित, कषायोंमें अनुरक्त जीव अल्पर्द्धिक देवोंकी आयु बाँधते हैं ॥५५६॥ दशपूर्वके धारी जीव सौधर्मादि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त तथा चौदहपूर्वधारी लांतव कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं ॥५५७॥ चार प्रकारके दानमें प्रवृत्त, कषायोंसे रहित व पंचगुरुओंकी भक्तिसे युक्त, ऐसे देशव्रत संयुक्त जीव सौधर्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जाते हैं ॥५५८॥ सम्यक्त्व, ज्ञान, आर्जव, लज्जा एवं शीलादिसे परिपूर्ण स्त्रियाँ अच्युत कल्प पर्यन्त जाती हैं ॥५५९॥ जो जघन्य जिनलिंगको धारण करनेवाले और उत्कृष्ट तपके श्रमसे परिपूर्ण वे उपरिमग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ॥५६०॥ पूजा, व्रत, तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे सम्पन्न निर्ग्रन्थ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ॥५६१॥ मंद कषायी व प्रिय बोलनेवाले कितने ही चरक (साधु विशेष) और परिव्राजक क्रमसे भवनवासियोंको आदि लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं ॥५६२॥ जो कोई पंचेन्द्रियतिर्यंच संज्ञी आकाम निर्जरासे युक्त हैं, और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं ॥५६३॥ जो तनुदंडन अर्थात् कायक्लेश आदिसे सहित और तीव्र क्रोधसे युक्त हैं ऐसे कितने ही आजीवक साधु क्रमशः भवनवासियोंसे लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं ॥५६४॥ देव और देवियोंकी उत्पत्ति ईशान कल्प तक होती है। इससे आगे केवल देवोंकी उत्पत्ति ही है ॥५६५॥ कन्दर्प, किल्विषिक और अभियोग्य देव अपने-अपने कल्पकी जघन्य स्थिति सहित क्रमशः ईशान, लान्तव और अच्युत कल्प पर्यन्त होते हैं।

१८. लौकान्तिक देवायुके बन्धयोग्य परिणाम

ति. प./८/६४६-६५१ *इह खेत्ते वेरग्गं बहुभेयं भाविदूण बहुकालं। संजमभावेहि मुणी देवा लोयंतिया होंति ॥६४६॥ थुइणिदासु समाणो सुहदुक्खेसुं सबंधुरिउवग्गे। जो समणो सम्मत्तो सो च्चिय लोयंतियो*

होदि ॥६४७॥ जे णिरवेक्खा देवे णिद्धंदा णिम्ममा णिरारंभा। णिरवज्जा समणवरा ते च्चिय लोयंतिया होंति ॥६४८॥ संजोगविप्पयोगे लाहालाहम्मि जीविदे मरणे। जो समदिट्ठी समणो सो च्चिय लोयंतिओ होदि ॥६४९॥ अणवरदसमं पत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसुं तिव्वतवचरणजुत्ता समणा लोयंतिया होंति ॥६५०॥ पंचमहव्वय सहिया पंचसु समिदीसु चिरम्मि चेट्ठंति। पंचक्खविसयविरदा रिसिणो लोयंतिया होंति ॥६५१॥ =इस क्षेत्रमें बहुत काल तक बहुत प्रकारके वैराग्यको भाकर संयमसे युक्त मुनि लौकान्तिक देव होते हैं ॥६४६॥ जो सम्यग्दृष्टि श्रमण (मुनि) स्तुति और निन्दामें, सुख और दुःखमें तथा बन्धु और रिपुमें समान है वही लौकान्तिक होता है ॥६४७॥ जो देहके विषयमें निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारम्भ और निरवद्य हैं वे ही श्रेष्ठ श्रमण लौकान्तिक देव होते हैं ॥६४८॥ जो श्रमण संयोग और वियोगमें, लाभ और अलाभमें, तथा जीवित और मरणमें समदृष्टि होते हैं वे लौकान्तिक होते हैं ॥६४९॥ संयम, समिति, ध्यान एवं समाधिके विषयमें जो निरन्तर श्रमको प्राप्त हैं अर्थात् सावधान हैं, तथा तीव्र तपश्चरणसे संयुक्त हैं वे श्रमण लौकान्तिक होते हैं ॥६५०॥ पाँच महाव्रतोंसे सहित, पाँच समितियोंका चिरकाल तक आचरण करनेवाले, और पाँचों इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त ऋषि लौकान्तिक होते हैं ॥६५१॥

१९. कषाय व लेश्याकी अपेक्षा आयुबन्धके २० स्थान

गो. जी./मू./२९५-६३६ (विशेष दे० जन्म/६/७)

शक्ति स्थान ४		लेश्या स्थान १४		आयुबन्ध स्थान २०	
१	शिला भेद समान	१	कृष्ण उ०	०	अबन्ध
				१	नरकायु
२	पृथ्वी भेद समान	१	कृष्ण म०	१	नरकायु
		२	कृष्णादि म० उ०	१	नरकायु
		३	कृष्णादि २ म० +१ उ०	१	नरकायु
				२	नरक तिर्यंचायु
				३	नरक तिर्यंच, मनुष्यायु
		४	कृष्णादि ३ म० +१ ज०	४	सर्व
		५	कृष्णादि ४ म० +१ ज०	४	सर्व
		६	कृष्णादि ५ म० +१ ज०	४	सर्व
३	धूलिरेखा समान	६	कृष्णादि १ ज० +५ म०	४	सर्व सर्व
				३	मनुष्यदेव व तिर्यंचायु
				२	मनुष्य देवायु
		५	कृष्ण बिना १ ज०+४ म०	१	देवायु
		४	कृष्ण, नील बिना १ ज०+३ म०	१	देवायु
		३	पीतादि १ उ० +२ म०	१	देवायु
				०	अबन्ध
		२	पद्म, शुक्ल १ ज० +१ म०	०	अबन्ध
४	जलरेखा समान	१	शुक्ल १ म०	०	अबन्ध
		१	शुक्ल १ उ०	०	अबन्ध

४. आठ अपकर्ष काल निर्देश

१. कर्मभूमिजोंकी अपेक्षा ८ अपकर्ष

ध. १०/४,२,४,३६/२३३/४ जे सोवक्कमाउआ ते सग-सग भुंजमाणाउट्ठिदीए बे तिभागे अदिक्कंते परभवियाउअबंधपाओग्गा होंति जाव असंखेयद्धा त्ति। तत्थ बन्धपाओग्गकालब्भंतरे आउबन्धपाओग्गपरिणामेहिं के वि जीवा अट्ठवारं के वि सत्तवारं के वि छव्वारं के वि पंचवारं के वि चत्तारिवारं, के वि तिण्णिवारं के वि दोवारं के वि एक्कवारं परिणमंति। कुदो। साभावियादो। तत्थ तदियत्तिभागपढमसमए जेहि परभवियाउअबंधो पारद्धो ते अंतोमुहुत्तेण बंधं समाणिय पुणो सयलाउट्ठिदीए णवमभागे सेसे पुणो वि बन्धपाओग्गा होंति। सयलाउट्ठिदीए सत्तावीसभागावसेसे पुणो वि बंधपाओग्गा होंति। एवं सेसतिभाग तिभागावसेसे बंधपाओग्गा होंति त्ति णेदव्वं जा अट्ठमी आगरिसा त्ति। ण च तिभागावसेसे आउअं णियमेण बज्झदि त्ति एयंतो। किंतु तत्थ आउअबंधपाओग्गा होंति त्ति उत्तं होदि। =जो जीव सोपक्रम आयुष्क हैं वे अपनी-अपनी भुज्यमान आयु स्थितिके दो त्रिभाग बीत जानेपर वहाँसे लेकर असंखेयाद्धा काल तक परभवसम्बन्धी आयुको बाँधनेके योग्य होते हैं। उनमें आयु बन्धके योग्य कालके भीतर कितने ही जीव आठ बार; कितने ही सात बार; कितने ही छह बार; कितने ही पाँच बार; कितने ही चार बार; कितने ही तीन बार; कितने ही दो बार; कितने ही एक बार आयु बन्धके योग्य परिणामोंमें-से परिणत होते हैं। क्योंकि; ऐसा स्वभाव है। उसमें जिन जीवोंने तृतीय त्रिभागके प्रथम समयमें परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध आरम्भ किया है वे अन्तर्मुहूर्तमें आयु बन्धको समाप्त कर फिर समस्त आयु स्थितिके नौवें भागके शेष रहनेपर फिरसे भी आयु बन्धके योग्य होते हैं। तथा समस्त आयु स्थितिका सत्ताईसवाँ भाग शेष रहनेपर पुनरपि बन्धके योग्य होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर जो त्रिभाग शेष रहता जाता है उसका त्रिभाग शेष रहनेपर यहाँ आठवें अपकर्षके प्राप्त होने तक आयु बन्धके योग्य होते हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। परन्तु त्रिभाग शेष रहनेपर आयु नियमसे बँधती है ऐसा एकान्त नहीं है। किन्तु उस समय जीव आयुबन्धके योग्य होते हैं। यह उक्त कथनका तात्पर्य है। (गो. क./जी. प्र./६२९-६४३/८३६)

गो. जी./जी. प्र./५१८/९१३/१७ कर्मभूमितिर्यग्मनुष्याणां भुज्यमानायुर्जघन्यमध्यमोत्कृष्टं विवक्षितमिदं ६५६१। अत्र भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागस्य २१८७ प्रथमान्तर्मुहुर्तः परभवायुर्बंधयोग्यः, तत्र न बद्धं तदा तदेकभागतृतीयभागस्य ७२९ प्रथमान्तर्मुहूर्तः। तत्रापि न बद्ध तदा तदेकभागतृतीयभागस्य २४३ प्रथमांतर्मुहूर्तः। एवमग्रेऽग्रे नेतव्यमष्टवारं यावत्। इत्यष्टैवापकर्षाः।...स्वभावादेव तद्बन्धप्रायोग्यपरिणमनं जीवानां कारणान्तरनिरपेक्षमित्यर्थः। =किसी कर्म भूमि या मनुष्य वा तिर्यंचकी आयु ६५६१ वर्ष है। तहाँ तिस आयुका दोय भाग गये २१८७ वर्ष रहै तहाँ तीसरा भागकौ लागते ही प्रथम समयतैं लगाइ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त काल मात्र प्रथम अपकर्ष है तहाँ परभव संबन्धी आयुका बन्ध होइ। बहुरि जो तहाँ न बन्धे तौ तिस तीसरा भागका दोय भाग गयें ७२९ वर्ष आयुके अवशेष रहै तहाँ अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त दूसरा अपकर्ष है तहाँपर भवका आयु बाँधै। बहुरि तहाँ भी न बंधै तो तिसका भी दोय भाग गये २४३ वर्ष आयुके अवशेष रहैं अन्तर्मुहूर्त काल मात्र तीसरा अपकर्ष विषैं परभवका आयु बाँधै। बहुरि तहाँ भी न बंधै तौ जिसका भी दोय भाग गयें ८१ वर्ष रहैं अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चौथा अपकर्ष विषैं परभवका आयु बाँधै। ऐसे ही दोय दोय भाग गयें २७ वर्ष वा ९ वर्ष रहैं या ३ वर्ष रहैं अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त पाँचवाँ, छठा, सातवाँ वा आठवाँ अपकर्ष विषैं परभवका आयुकौं बन्धने कौ योग्य जानना। ऐसें ही जो भुज्यमान आयुका प्रमाण होइ ताके त्रिभाग-त्रिभाग विषैं

आयुके बन्ध योग्य परिणाम अपकर्षनिविषै ही होई सो ऐसा कोई स्वभाव सहज ही है अन्य कोई कारण नहीं।

२. भोगभूमिजों तथा देव नारकियोंकी अपेक्षा आठ अपकर्ष

ध. ६/१,९-६,२६/१७०/१ देव-णेरइएसु…छम्मासावसेसे भुंजमाणाउए असंखेपाद्धापज्जवसाणे संते परभवियमाउअं बंधमाणाणं तदसंभवा। …असंखेज्ज तिरिक्खमणुसा…देव णेरइयाणं व भुंजमाणाउए छम्मासादो अहिए संते परभविआउअस्स बंधाभावा।=भुज्यमान आयुके (अधिकसे अधिक) छह मास अवशेष रहने पर और (कमसे कम) असंखेयाद्धा कालके अवशेष रहने पर आगामी भव सम्बन्धी आयुको बाँधनेवाले देव और नारकियोंके पूर्व कोटिके त्रिभागसे अधिक आबाधा होना असम्भव है। (यहाँ तो अधिकसे अधिक छह मास ही आबाधा होती है) असंख्यात वर्षकी आयु वाले भोग-भूमिज तिर्यंच व मनुष्योंके भी देव और नारकियोंके समान भुज्यमान आयुके छह माससे अधिक होनेपर परभव सम्बन्धी आयुके बन्धका अभाव है।

ध.१०/४,२,४,३६/२३४/२ णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंधपाओग्गा होंति। तत्थ वि एवं चेव अट्ठगरिसाओ वत्तव्वाओ। =जो निरुपक्रमायुष्क हैं वे भुज्यमान आयुमें छह मास शेष रहने पर आयु बन्धके योग्य होते हैं। यहाँ भी इसी प्रकार आठ अपकर्षको कहना चाहिए।

गो.क/जी.प्र./१५८/१९२/१ देवनारकाणां स्वस्थितौ षण्मासेषु भोगभूमिजानां नवमासेषु च अवशिष्टेषु त्रिभागेन आयुर्बन्धसंभवात्।—देव नारकी तिनिकैं तो छह महीना आयुका अवशेष रहै अर भोगभूमियां के नव महीना आयुका अवशेष रहै तब त्रिभाग करि आयु बंधै है।

गो.जी./जी.प्र./५१८/९१४/२४ निरुपक्रमायुष्काः अनपवर्तितायुष्का देवनारका भुज्यमानायुषि षड्मासावशेषे परभवायुर्बन्धप्रायोग्या भवन्ति। अत्राप्यष्टापकर्षाः स्युः। समयाधिकपूर्वकोटिप्रभृतित्रिपलितोपम पर्यंतं संख्यातासंख्यातवर्षायुष्कभोगभूमितिर्यग्मनुष्याऽपि निरुपक्रमायुष्का इति ग्राह्यं।=निरुपक्रमायुष्क अर्थात् अनपवर्तित आयुष्क देव-नारकी अपनी भुज्यमान आयुमें (अधिकसे अधिक) छह मास अवशेष रहने पर परभव सम्बन्धी आयुके बन्ध योग्य होते हैं। यहाँ भी (कर्म भूमिजों वत्) आठ अपकर्ष होते हैं। समयाधिक पूर्व कोटिसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक संख्यात व असंख्यात वर्षायुष्क जो भोगभूमिज तिर्यंच या मनुष्य हैं वे भी निरुपक्रमायुष्क ही हैं, ऐसा जानना चाहिए। (गो.क./जी.प्र./६३९-६४३/८३६-८३७)

३. आठ अपकर्ष कालोंमें न बँधे तो अन्त समयमें बँधने सम्बन्धी दृष्टियाँ

गो.जी./जी.प्र./५१८/९१३/२० नाष्टमापकर्षेऽप्यायुर्बन्धनियमः, नाप्यन्योऽपकर्षस्तर्हि आयुर्बन्धः कथं। असंखेयाद्धा भुज्यमानायुषोऽन्त्यावल्यसंख्येयभागः तस्मिन्नवशिष्टे प्रागेव अन्तर्मुहूर्तमात्रसमयप्रबद्धान् परभवायुर्नियमेन बद्ध्वा समाप्नोतीति नियमो ज्ञातव्यः।=प्रश्न—आठ अपकर्षोंमें भी आयु न बंधै है, तो आयुका बन्ध कैसे होई? उत्तर—सौ कहैं है—'असंखेयाद्धा' जो आवलीका असंख्यातवाँ भाग भुज्यमान आयुका अवशेष रहै ताकै पहिले (पर-भविक आयुका बन्ध करै है)।

गो.क./जो.प्र./१५८/१९२/२ यद्यष्टापकर्षेषु क्वचिन्नायुर्बद्धं तदावश्यसंख्येयभागमात्रायाः समयोनमुहूर्तमात्राया वा असंक्षेपाद्धायाः प्रागेवोत्तरभवायुरन्तर्मुहूर्तमात्रसमयप्रबद्धान् बद्ध्वा निष्ठापयति। एतौ द्वावपि पक्षौ प्रवाह्योपदेशत्वात् अङ्गीकृतौ। =यदि कदाचित् किसी ही अपकर्षमें आयु न बंधै तो कोइ आचार्यके मतसे तौ आवलीका असंख्यातवाँ भागप्रमाण और कोई आचार्यके मतसे एक समय घाटि मुहूर्तप्रमाण आयुका अवशेष रहै तींहिके पहले उत्तर भवकी आयुकर्मको …बाँधै है। ए दोऊ पक्ष आचार्यनिका परम्परा उपदेश करि अंगीकार किये हैं।

४. आयुके त्रिभाग शेष रहनेपर ही अपकर्ष काल आने सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध.१०/४,२,४,३९/२३७/१० गोदम! जीवा दुविहा पण्णत्ता संखेज्जवस्साउआ चेव असंखेज्जवस्साउआ चेव। तत्थ जे ते असंखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आयुगं णिबंधंता बंधंति। तत्थ जे ते संखेज्जवस्साउआ ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउआ णिरुवक्कमाउआ ते त्रिभागावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आयुगं कम्मं णिबंधंता बंधंति। तत्थ जे ते सोवक्कमाउआ ते सिआ तिभागतिभागावसेसयंत्ति याउगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधंता बंधंति। एदेण विहायपण्णत्तिसुत्तेण सह कधं ण विरोहो। ण एदम्हादो तस्स पुधसुदस्स आइरियमेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो। =प्रश्न—"हे गौतम! जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—संख्यात वर्षायुष्क और असंख्यात वर्षायुष्क। उनमें जो असंख्यात वर्षायुष्क हैं वे आयुके छह मास शेष रहने पर पर-भविक आयुको बाँधते हुए बाँधते हैं। और जो संख्यात वर्षायुष्क जीव हैं वे दो प्रकारके कहे गये हैं।—सोपक्रमायुष्क और निरुपक्रमायुष्क। उनमें जो निरुपक्रमायुष्क हैं वे आयुमें त्रिभाग शेष रहने पर पर-भविक आयुकर्मको बाँधते हुए बाँधते हैं। और जो सोपक्रमायुष्क जीव हैं वे कथंचित् त्रिभाग [कथंचित् त्रिभागका त्रिभाग और कथंचित् त्रिभाग-त्रिभागका त्रिभाग] शेष रहने पर पर-भव सम्बन्धी आयुकर्मको बाँधते हैं।" इस व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्रके साथ कैसे विरोध न होगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि. इस सूत्रसे उक्त सूत्र भिन्न आचार्यके द्वारा बनाया हुआ होनेके कारण पृथक् है। अतः उससे इसका मिलान नहीं हो सकता।

५. अन्तिम समयमें केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही आयु बँधती है

गो.क./जी.प्र./५१८/९१३/२० असंक्षेपाद्धा भज्यमानायुषोन्त्यावल्येसंख्येयभागः तस्मिन्नवशिष्टे प्रागेव अन्तर्मुहूर्तमात्रसमयप्रबद्धान् परभवायुर्नियमेन बद्ध्वा समाप्नोतीति नियमो ज्ञातव्यः।…भुज्यमान आयुके कालमें अन्तिम आवलीका असंख्यातवाँ भाग शेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त कालमात्र समय प्रबद्धोंके द्वारा परभवकी आयुको बाँधकर पूरो करै है ऐसा नियम है अर्थात् अन्तिम समय केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितिवाली परभव सम्बन्धी आयुको बाँध कर निष्ठापन करै है।

६. आठ अपकर्ष कालोंमें बँधी आयुका समीकरण

गो.क./जी.प्र./६४३/८३७/१६ अपकर्षेषु मध्ये प्रथमवारं वर्जित्वा द्वितीयादिवारे बध्यमानस्यायुषो वृद्धिर्हानिरवस्थितिर्वा भवति। यदि वृद्धिस्तदा द्वितीयादिवारे बद्धाधिकस्थितेरेव प्राधान्यं। अथ हानिस्तदा पूर्वबद्धाधिकस्थितेरेव प्राधान्यं।=आठ अपकर्षनि विषैं पहली बार बिना द्वितीयादिक बारविषैं पूर्वैं जो आयु बाँध्या था, तिसकी स्थितिकी वृद्धि वा हानि वा अवस्थिति हो है। तहाँ जो वृद्धि होय तौ पीछैं जो अधिक स्थिति बन्धी तिसकी प्रधानता जाननी। बहुरि जो हानि होय तौ पहिली अधिक स्थिति बँधी थी ताकी प्रधानता जाननी। (अर्थात् आठ अपकर्षोंमें बँधी हीनाधिक सर्व स्थितियोंमें-से जो अधिक है वह ही उस आयुकी बँधी हुई स्थिति समझनी चाहिए)।

७. अन्य अपकर्षोंमें आयु बन्धके प्रमाणमें चार वृद्धि व हानि सम्भव है

ध. १६/पृ.३७०/११ चदुण्णमाउआणमवट्ठिद-भुजगारसंकमाणं कालो जहण्णमुक्कस्सेण एगसमओ। पुव्वबंधादो समउत्तरं पबद्धस्स जट्ठिदिं पडुच्च जट्ठिदिसंकमो त्ति एत्थ घेसव्वं। देव-णिरयाउ-आणं अप्पदरसंकमस्स जह० अंतोमुहुत्तं, उक्क० तेत्तीसं सागरोवमाणि सादिरेयाणि। तिरिक्खमणुसाउआणं जह० अंतोमुहुत्तं, उक्क० तिण्णि-पलिदोवमाणि सादिरेयाणि। =चार आयु कर्मोंके अवस्थित और भुजाकार संक्रमोंका काल जघन्य व उत्कर्षसे एक समय मात्र है। पूर्व बन्धसे एक समय अधिक बाँधे गये आयुकर्मका ज० स्थितिकी अपेक्षा यहाँ ज० स्थिति संक्रम ग्रहण करना चाहिए। देवायु और नरकायुके अल्पतर संक्रमका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे साधिक तेतीस सागरोपम मात्र है। तिर्यंचायु और मनुष्यायुके अल्पतर संक्रमका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे साधिक तीन-तीन पल्योपम मात्र है।

गो.क./मू./४४१/५९३ संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊणं।...॥ =च्यारि आयु तिनकै संक्रमणकरण बिना नवकरण पाइए है।

८. उसी अपकर्ष कालके सर्व समयोंमें उत्तरोत्तर हीन बन्ध होता

म.ब.२/§२७१/१४५/१२ आयुगस्स अत्थि अव्वत्तबंधगा अप्पतरबंधगा य।

म. ब. २/§ ३५१/१८२/६ आयु० अत्थि अवत्तव्वबंधगा य असंखेज्जभाग-हाणिबंधगा य। =१. आयु कर्मका अवक्तव्य बन्ध करनेवाले जीव हैं, और अल्पतर बन्ध करनेवाले जीव हैं। **विशेषार्थ**—आयु कर्मका प्रथम समयमें जो स्थितिबन्ध होता है उससे द्वितीयादि समयोंमें उत्तरोत्तर वह हीन हीनतर ही होता है ऐसा नियम है।

२. आयु कर्मके अवक्तव्यपद का बन्ध करनेवाले और असंख्यात भागहानि पदका बन्ध करने वाले जीव हैं। **विशेषार्थ**—...आयु कर्मका अवक्तव्य बन्ध होनेके बाद अल्पतर ही बन्ध होता है।... आयुकर्म...का जब बन्ध प्रारम्भ होता है तब प्रथम समयमें एक मात्र अवक्तव्य पद ही होता है और अनन्तर अल्पतरपद होता है। फिर भी उस अल्पतर पदमें कौन-सी हानि होती है, यही बतलानेके लिये यहाँ वह असंख्यात भागहानि हा होती है यह स्पष्ट निर्देश किया है।

५. आयुके उत्कर्षण अपवर्तन सम्बन्धी नियम

१. बद्ध्यमान व भुज्यमान दोनों आयुओंका अपवर्तन सम्भव है

गो. क./जी. प्र./६४३/८३७/१६ आयुर्बन्धं कुर्वतां जीवानां परिणामवशेन बद्ध्यमानस्यायुषोऽपवर्तनमपि भवति। तदेवापवर्तनघात इत्युच्यते *उदीयमानायुरपवर्तनस्यैव कदलीघाताभिधानात्। =बहुरि आयुके बन्धको करते जीव तिनके परिणामनिके वशतैं (बद्ध्यमान आयुका) अपवर्तन भी हो है। अपवर्तन नाम घटनेका है। सौ या कौं अपवर्तन घात कहिए जातैं उदय आया आयुके (अर्थात भुज्यमान आयुके) अपवर्तनका नाम कदलीघात है।*

२. परन्तु बद्ध्यमान आयुकी उदीरणा नहीं होती

गो. क./मू./९१८/११०३...। परभविय आउगस्सय उदीरणा णत्थि णियमेण ॥ ९१८ ॥ बहुरि परभवका बद्ध्यमान आयु ताकी उदीरणा नियम करि नाहीं है।

३. उत्कृष्ट आयुके अनुभागका अपवर्तन सम्भव है

ध. १२/४,२,७,२०/२१/३ उक्कस्साणुभागे बंधे ओवट्टणाघादो णत्थि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, उक्कस्साउअं बंधिय पुणो तं घादिय मिच्छत्तं गंतूणअग्गिदेवेसु उप्पण्णदीवायणेण वियहिचारादो महाबंधे आउअउक्कस्साणुभागंतरस्स उवड्ढपोग्गलमेत्तकालपरूवणण्णहाणुववत्तीदो वा। प्रश्न—(उत्कृष्ट आयुको बाँधकर उसे अपवर्तनघातके द्वारा घातकर पश्चात् अधस्तन गुणस्थानोंको प्राप्त होनेपर उत्कृष्ट अनुभागका स्वामी क्यों नहीं होता)? उत्तर—(नहीं, क्योंकि घातित अनुभागके उत्कृष्ट होनेका विरोध है)। उत्कृष्ट अनुभागको बाँधनेपर उसका अपवर्तन घात नहीं होता, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेपर एक तो उत्कृष्ट आयुको बाँधकर पश्चात् उसका घात करके मिथ्यात्वको प्राप्त हो अग्निकुमार देवोंमें उत्पन्न हुए द्विपायन मुनिके साथ व्यभिचार आता है, दूसरे इसका घात माने बिना महाबन्धमें प्ररूपित उत्कृष्ट अनुभागका उपार्ध पुद्गल प्रमाण अन्तर भी नहीं बन सकता।

४. असंख्यात वर्षायुष्कों तथा चरम शरीरियोंकी आयुका अपवर्तन असम्भव है।

त. सू./२/५३ औपपादिकाचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥ =औपपादिक देहवाले देव व नारकी, चरमोत्तम देहवाले अर्थात् वर्तमान भवसे मोक्ष जानेवाले, भोग भूमियाँ तिर्यंच व मनुष्य अनपवर्ती आयुवाले होते हैं। अर्थात् उनकी अपमृत्यु नहीं होती। (स. सि./२/५३/२०१/४) (रा. वा./२/५३/१-१०/१५७) (ध. ९/४,१,६६/३०६/६) (त. सा./२/१३५)।

५. भुज्यमान आयु पर्यन्त बद्ध्यमान आयुमें बाधा असम्भव है

ध. ६/१,९-६,२४/१६८/५ जधा णाणावरणादिसमयपबद्धाणं बंधावलियवदिक्कंताणं ओकड्डुण-परपयडि-संकमेहि बाधा अत्थि, तधा आउअस्स ओकड्डुण-परपयडिसंकमादीहि बाधाभाव परूवणट्ठं विदियवारमाबाधाणिद्देसादो। =(जैसे) ज्ञानावरणादि कर्मोंके समयप्रबद्धोंके अपकर्षण और पर-प्रकृति संक्रमणके द्वारा बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्मके आबाधाकालके पूर्ण होने तक अपकर्षण और पर प्रकृति संक्रमणके द्वारा बाधाका अभाव है। अर्थात् आगामी भव सम्बन्धी आयुकर्मकी निषेक स्थितिमें कोई व्याघात नहीं होता है, इस बातके प्ररूपणके लिए दूसरी बार 'आबाधा' इस सूत्रका निर्देश किया है।

६. चारों आयुओंका परस्परमें संक्रमण नहीं होता

गो. क./मू./४१०/५७३ बंधे...।...आउचउक्के ण संकमणं ॥ ४१० ॥ =बहुरि च्यारि आयु तिनकैं परस्पर संक्रमण नाहीं, देवायु मनुष्यायु आदि रूप होइ न परिणमैं इत्यादि ऐसा जानना।

७. *संयमकी विराधनासे आयुका अपवर्तन हो जाता है*

ध. ४/१,५,६६/३८३/३ एक्को विराहियसंजदो वेमाणियदेवेसु आउअं बंधिदूण तमोवट्टणाघादेण घादिय भवणवासियदेवेसु उववण्णो। =विराधना की है संयमकी जिसने ऐसा कोई संयत मनुष्य वैमानिक देवोंमें आयुको बाँध करके अपवर्तनाघातसे घात करके भवनवासी देवोंमें उत्पन्न हुआ। (ध.४/१,५,६७/२८५/८ विशेषार्थ)

ध. १२/४,२,७,२०/२१/३ उक्किस्साउअं बंधिय पुणो तं घादियमिच्छत्तं *गंतूण अग्गिदेवेसु उप्पण्णदीवायण*...। =उत्कृष्ट आयुको बाँध करके मिथ्यात्वको प्राप्त हो, द्विपायन मुनि अग्निकुमार देवोंमें उत्पन्न हुए।

८. आयुके अनुभाग व स्थितिघात साथ-साथ होते हैं

ध. १२/४,२,१३,४१/१-२/३९५ पर उद्धृत "ट्ठिदिघादे हंमंते अणुभागा आऊआण सव्वेसिं। अणुभागेण विणा वि हु आउववज्जाण ट्ठिदिघादो ॥ १॥ अणुभागे हंमंते ट्ठिदिघादो आउआण सव्वेसिं। ठिदिघादेण विणा वि हु आउववज्जाणमणुभागो ॥२॥ –स्थितिघात के अनुभागोंका नाश होता है। आयुको छोड़कर शेष कर्मोंका अनुभागके बिना भी स्थितिघात होता है ॥ १॥ अनुभागका घात होनेपर सब आयुओंका स्थितिघात होता है। स्थिति घातके बिना भी आयुको छोड़कर शेष कर्मोंके अनुभागका घात होता है।

ध. १२/४,२,७,२०/२१/८ उक्कस्साणुभागेण सह तेत्तीसाउअं बंधिय अणुभागं मोत्तूण ट्ठिदीए चेव ओवट्टणाघादं काढूण सोधम्मादिसु उप्पण्णाणं उक्कस्सभावसामित्तं किण्ण लब्भदे। ण विणा आउअस्स उक्कस्सट्ठिदिघादाभावादो। =प्रश्न—उत्कृष्ट अनुभागके साथ तैंतीस सागरोपम प्रमाण आयुको बाँधकर अनुभागको छोड़ केवल स्थितिके अपवर्तन घातको करके सौधर्मादि देवोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके उत्कृष्ट अनुभागका स्वामित्व क्यों नहीं पाया जाता। उत्तर—नहीं, क्योंकि, [अनुभाग घातके] बिना आयुकी उत्कृष्ट स्थितिका घात सम्भव नहीं।

६. आयु बन्ध सम्बन्धी नियम

१. तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु भोगभूमि, स्वयम्भूरमण द्वीप, व कर्मभूमिके प्रथम चार कालोंमें ही सम्भव है

ति. प./५/२८५-२८६ एदे उक्कस्साऊ पुव्वावरविदेहजादतिरियाणं। कम्मावणिपडिबद्धे बाहिरभागे सयंपहगिरीदो ॥ २८४ ॥ तत्थेव सव्वकालं केई जीवाण भरहे एरवदे। तुरियस्स पढमभागे एदेणं होदि उक्कस्सं ॥ २८५ ॥ =उपर्युक्त उत्कृष्ट आयु पूर्वापर विदेहोंमें उत्पन्न हुए तिर्यंचोंके तथा स्वयंप्रभ पर्वतके बाह्य कर्मभूमि-भागमें उत्पन्न हुए तिर्यंचोंके ही सर्वकाल पायी जाती है। भरत और ऐरावत क्षेत्रके भीतर चतुर्थ कालके प्रथम भागमें भी किन्हीं तिर्यंचोंके उक्त उत्कृष्ट आयु पायी जाती है।

२. भोग भूमिजोंमें भी आयु हीनाधिक हो सकती है

ध. १४/४,२,६,८/८९/१३ असंखेज्जवासाउअस्स वा त्ति उत्ते देवणेरइयाणं गहणं, ण समयाहियपुव्वकोडिप्पहुडिउवरिमआउअतिरिक्खमणुस्साणं गहणं। ='असंख्यातवर्षायुष्क' से देव नारकियोंका ग्रहण किया गया है, इस पदसे एक समय अधिक पूर्व कोटि आदि उपरिम आयु विकल्पोंसे संयुक्त तिर्यंचों व मनुष्योंका ग्रहण नहीं करना चाहिए।

३. बद्धायुष्क व घातायुष्क देवोंकी आयु सम्बन्धी स्पष्टीकरण

ध./४/१,५,६७/३८५ पर विशेषार्थ "यहाँ पर जो बद्धायुघातकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देवोंके दो प्रकारके कालकी प्ररूपणा की है, उसका अभिप्राय यह है कि, किसी मनुष्यने अपनी संयम अवस्थामें देवायु बन्ध किया। पीछे उसने संक्लेश परिणामों के निमित्तसे संयमकी विराधना कर दी और इसलिए अपवर्तन घात के द्वारा आयुका घात भी कर दिया। संयमकी विराधना कर देनेपर भी यदि वह सम्यग्दृष्टि है, तो मर कर जिस कल्पमें उत्पन्न होगा, वहाँकी साधारणतः निश्चित आयुसे अन्तर्मुहूर्त कम अर्ध सागरोपम प्रमाण अधिक आयुका धारक होगा। कल्पना कीजिए किसी मनुष्यने संयम अवस्थामें अच्युत कल्पमें संभव बाईस सागर प्रमाण आयुका बंध किया। पीछे संयमकी विराधना और बाँधी हुई आयुकी अपवर्तना कर असंयत सम्यग्दृष्टि हो गया। पीछे मर कर यदि सहस्रार कल्पमें उत्पन्न हुआ, तो वहाँकी साधारण आयु जो अठारह सागरकी है, उससे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि देवकी आयु अन्तर्मुहूर्त कम आधा सागर अधिक होगी। यदि वही पुरुष संयमकी विराधनाके साथ ही सम्यक्त्वकी विराधना कर मिथ्यादृष्टि हो जाता है, और पीछे मरण कर उसी सहस्रार कल्पमें उत्पन्न होता है, तो उसकी वहाँकी निश्चित अठारह सागरकी आयुसे पल्योपमके असंख्यातवें भागसे अधिक होगी। ऐसे जीवको घातायुष्क मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

४. चारों गतियोंमें परस्पर आयु बन्ध सम्बन्धी

१. नरक व देवगतिके जीवोंमें

ध.१२/४,२,७,३२/२७/५ अपज्जत्ततिरिक्खाउअं देव-णेरइया ण बंधंति। –अपर्याप्त तिर्यंच सम्बन्धी आयुको देव व नारकी जीव नहीं बाँधते।

गो.क./जी.प्र/४३९-४४०/८३६/६ परभवायुः स्वभुज्यमानायुष्युत्कृष्टेन षण्मासेऽवशिष्टे देवनारका नारं तैरश्चं च बध्नन्ति तद्बन्धे योग्याः स्युरित्यर्थः।...सप्तमपृथ्वीजाश्च तैरश्चमेव। –भुज्यमान आयुके उत्कृष्ट छह मास अवशेष रहैं देव नारकी हैं ते मनुष्यायु वा तिर्यंचायुको बाँधै हैं अर्थात् तिस कालमें बन्ध योग्य हों हैं।...सप्तम पृथ्वीके नारकी तिर्यंचायु ही को बाँधै हैं।

२. कर्मभूमिज तिर्यंच मनुष्य गतिके जीवोंमें

नोट—सम्यग्दृष्टि मनुष्य व तिर्यंच केवल देवायु व मनुष्यायुका ही बन्ध करते हैं—दे० बन्धव्युच्छित्ति चार्ट।

रा.वा./२/४९/८/१५५/१ देवेषूत्पद्य च्युतः मनुष्येषु तिर्यक्षु चोत्पद्य अपर्याप्तकालमनुभूय पुनर्देवायुर्बद्ध्वा उत्पद्यते लब्धमन्तरम्। –देवोंमें उत्पन्न होकर वहाँसे च्युत हो मनुष्य वा तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुआ। अपर्याप्त काल मात्रका अनुभव कर पुनः देवायुको बाँधकर वहाँ ही उत्पन्न हो गया। इस प्रकार देव गतिका अन्तर अन्तर्मुहूर्त मात्र ही प्राप्त होता है। अर्थात् अपर्याप्त मनुष्य वा तिर्यंच भी देवायुका बन्ध कर सकते हैं।

गो.क./जी.प्र./४३९-४४०/८३६/७ नरतिर्यञ्चस्त्रिभागेऽवशिष्टे चत्वारि।...एक विकलेन्द्रिया नारं तैरश्चं च। तेजो वायवः...तैरश्चमेव। –बहुरि मनुष्य तिर्यंच भुज्यमान आयुका तीसरा भाग अवशेष रहैं च्यारों

आयु को बाँधै है···एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय नारक और तिर्यंच आयुको बाँधै है। तेजकायिक वा वातकायिक···तिर्यंचायु ही बान्धै हैं।

गो. क./जी. प्र./७४५/९००/१ उद्वेलितमनुष्यद्विकतेजोवायूनां मनुष्यायुर्बन्धाभावात्तत्रानुत्पत्तेः। —मनुष्य-द्विककी उद्वेलना भयै वा न भयै तेज वातकायिकनिकै मनुष्यायुके बन्धका अभावतैं मनुष्यनिविषैं उपजना नाहीं।

३. भोगभूमि मनुष्य व तिर्यंचगतिके जीवोंमें

गो.क./जी.प्र./६३९-६४०/८३६/८ भोगभूमिजाः षण्मासेऽवशिष्टे देवं। —बहुरि भोग भूमिया छह मास अवशेष रहैं देवायु ही को बाँधै।

५. आयुके साथ वही गति प्रकृति बँधती है

नोट—आयुके साथ गतिका जो बन्ध होता है वह नियमसे आयुके समान ही होता है। क्योंकि गति नामकर्म व आयुकर्मकी व्युच्छित्ति एक साथ ही होती है—दे० बन्ध व्युच्छित्ति चार्ट।

६. एक भवमें एक ही आयुका बन्ध सम्भव है

गो.क./मू./६४२/८३७ एक्के एक्कं आऊ एक्कभवे बंधमेदि जोग्गपदे। अडवारं वा तत्थवि तिभागसेसे व सव्वत्थ ॥६४२॥ —एक जीव एक समय विषैं एक ही आयु कौ बाँधै सो भी योग्यकाल विषै आठ बार ही बाँधै, तहाँ सर्वत्र तीसरा तीसरा भाग अवशेष रहे बाँधै है।

७. बद्धायुष्कोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थान प्राप्ति सम्बन्धी

पं.सं./प्रा./१/२०१ चत्तारि वि खेत्ताइं आउयबंधेण होइ सम्मत्तं। अणुवय-महव्वाइं ण लहइ देवाउअं मोत्तुं ॥२०१॥ —जीव चारों ही क्षेत्रोंकी (गतियोंकी) आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। किन्तु अणुव्रत और महाव्रत देवायुको छोड़कर शेष आयुका बन्ध होने पर प्राप्त नहीं कर सकता। (ध.१/१,१,८५/१६६/३२६), (गो.क./मू./३३४), (गो.जी./मू./६५३/११०१)

ध.१/१,१,२६/२०८/१ बद्धायुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले संभवः समस्ति तत्र तेन तयोर्विरोधात्। —जिस प्रकार बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्यंच गतिके अपर्याप्त कालमें सम्भव है, उस प्रकार सम्यग् मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतोंका तिर्यंचगतिके अपर्याप्त कालमें सम्भव नहीं है, क्योंकि, तिर्यंचगतिमें अपर्याप्तकालके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतोंका विरोध है।

ध.१२/४,२,७,११/२०/१३ उक्कस्साणुभागेण सह आउबंधे संजदासंजदादिहेट्ठिमगुणट्ठाणाणं गमणाभावादो। —उत्कृष्ट अनुभागके साथ आयुको बाँधने पर संयतासंयतादि अधस्तन गुणस्थानोंमें गमन नहीं होता।

गो. जी./जी. प्र./७३१/१३२५/१४ बद्धदेवायुष्कादन्यस्य उपशमश्रेण्यां मरणाभावात्। शेषत्रिकबद्धायुष्काणां च देशसकलसंयमयोरेवासंभवात्। —देवायुका जाकै बन्ध भया होइ तिहिं बिना अन्य जीवका उपशम श्रेणी विषैं मरण नाहीं। अन्य आयु जाकै बंधा होइ ताकै देशसंयम सकलसंयम भी न होइ।

गो.क./जी.प्र./३३५/४८६/१३ नरकतिर्यग्देवायुस्तु भुज्यमानबद्ध्यमानोभयप्रकारेण सत्त्वेषु सत्सु यथासंख्यं देशव्रताः सकलव्रताः क्षपका नैव स्युः।

गो.क./जी.प्र./३४६/४९८/११ असंयते नारकमनुष्यायुषी व्युच्छित्तिः, तत्सत्त्वेऽणुव्रताघटनात्। —१. बद्ध्यमान और भुज्यमान दोउ प्रकार अपेक्षा करि नरकायुका सत्त्व होतैं देशव्रत न होई, तिर्यंचायुका सत्त्व होतैं सकलव्रत न होई, नरक तिर्यंच व देवायुका सत्त्व होतैं क्षपक श्रेणी न होई। २.असंयत सम्यग्दृष्टियोंके नारक व मनुष्यायुकी व्युच्छित्ति हो जाती है क्योंकि उनके सत्त्वमें अणुव्रत नहीं होते।

८. बद्ध्यमान देवायुष्कका सम्यक्त्व विराधित नहीं होता

गो.क./भाषा/३६६/५२६/३ बहुरि बद्ध्यमान देवायु अर भुज्यमान मनुष्यायु युक्त असंयतादि च्यारि गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक्त्व तैं भ्रष्ट होइ मिथ्यादृष्टि विषैं होते नाहीं।

९. बंध उदय सत्त्व सम्बन्धी संयोगी भंग

गो.क./मू./६४१/८३६ सगसगगदीणमाउं उदेदि बंधे उदिण्णगेण समं। दो सत्ता हु अबंधे एक्कं उदयागदं सत्तं ॥६४॥ —नारकादिकनिकैं अपनी-अपनी गति सम्बन्धी ही एक आयु उदय हो हैं। बहुरि सत्त्व पर-भवकी आयुका बन्ध भयें उदयागत आयु सहित दोय आयुका है—एक बद्ध्यमान और एक भुज्यमान। बहुरि अबद्धायुकै एक उदय आया भुज्यमान आयु ही का सत्त्व है।

गो.क./मू./६४४/८३८ एवमबंधे बंधे उवरदबंधे वि होंति भंगा हु। एक्कस्सेक्कम्मि भवे एक्काउं पडि तये णियमा। —ऐसे पूर्वोक्त रीति करि बन्ध वा अबन्ध वा उपरत बन्धकरि एक जीवके एक पर्याय विषै एक आयु प्रति तीन भंग नियम तैं होय है।

बन्धादि विषै	बन्ध वर्तमान बन्धक	अबन्ध (अबद्धायुष्क)	उपरत बन्ध (बद्धायुष्क)
बन्ध	१	×	×
उदय	१	१	१
सत्त्व	२	१	२

१०. मिश्र योगोंमें आयुका बन्ध सम्भव नहीं

गो.क./भाषा/१०५/१०/६ जातैं मिश्र योग विषैं आयुबन्ध होय नाहीं।

७. आयु विषयक प्ररूपणाएँ

१. नरक गति सम्बन्धी

सामान्य प्ररूपणा : (मू०आ०/१११४-१११६), (स०सि०/३/६/२२-२३); (स०सि०/४/३५/११३); [(जं०प०/११/१७८); (म०पु०/१०/६३); (द्र० सं०/टी०/३५/११७)

विशेष प्ररूपणा : (ति० प०/२/२०४-२१४); (रा०वा० ३/६/७/१६७/१८); (हरि० पु०/४/२५०-२६४), (ध. ७/२,२,६/११६-१२०) (त्रि० सा०/१६८-२००)

संकेत : असं०=असंख्यात; को०=क्रोड़; पू०=पूर्व (७०५६०००००००००० वर्ष)

पटल सं०	प्रथम पृथिवी		द्वितीय पृथिवी		तृतीय पृथिवी		चतुर्थ पृथिवी		पंचम पृथिवी		षष्ठ पृथिवी		सप्तम पृथिवी	
	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
			सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर
नरकसा.	१०००० वर्ष	१ सागर	१	३	३	७	७	१०	१०	१७	१७	२२	२२	३३
पटलनं १	१०००० वर्ष	९०,००० वर्ष	१	१-२/११	३	३-४/९	७	७-३/७	१०	११-२/५	१७	१८-२/३	२२	३३
,, २	९०,००० ,,	९०,०००,०० ,,	१-२/११	१-४/११	३-४/९	३-८/९	७-३/७	७-६/७	११-२/५	१२-४/५	१८-२/३	२०-१/३		
,, ३	९०,०००,०० ,,	असं०को०पू०	१-४/११	१-६/११	३-८/९	४-३/९	७-६/७	८-२/७	१२-४/५	१४-१/५	२०-१/३	२२		
,, ४	असं०को०पू०	१/१० सागर	१-६/११	१-८/११	४-३/९	४-७/९	८-२/७	८-५/७	१४-१/५	१५-३/५				
,, ५	१/१० सागर	१/५ ,,	१-८/११	१-१०/११	४-७/९	५-२/९	८-५/७	९-१/७	१५-३/५	१७				
,, ६	१/५ ,,	३/१० ,,	१-१०/११	२-१/११	५-२/९	५-६/९	९-१/७	९-४/७						
,, ७	३/१० ,,	२/५ ,,	२-१/११	२-३/११	५-६/९	६-१/९	९-४/७	१०						
,, ८	२/५ ,,	१/२ ,,	२-३/११	२-५/११	६-१/९	६-५/९								
,, ९	१/२ ,,	३/५ ,,	२-५/११	२-७/११	६-५/९	७								
,, १०	३/५ ,,	७/१० ,,	२-७/११	२-९/११										
,, ११	७/१० ,,	४/५ ,,	२-९/११	३-०										
,, १२	४/५ ,,	९/१० ,,												
,, १३	९/१० ,,	१ सा०												

२. तिर्यंच गति सम्बन्धी

प्रमाण : (मू० आ०/११०५-११११); (ति० प०/५/२८१-२९०); (रा० वा०/३/३९/३-५/२०९); (त्रि० सा०/३२८-३३०); (गो.जी./जी०प्र०/२०८/४५८)

संकेत—१ पूर्वांग=८४००,००० वर्ष; १ पूर्व=७०५६०००००००००० वर्ष।

क्रम	मार्गणा	विशेष	आयु जघन्य	आयु उत्कृष्ट
	एकेन्द्रिय		सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त	
१	पृथिवी कायिक	शुद्ध		१२००० वर्ष
२	,, ,,	खर		२२००० ,,
३	अप्० ,,			७००० ,,
४	तेज ,,			३ दिन रात
५	वायु ,,			३००० वर्ष
६	वनस्पति साधारण			१०००० ,,
	विकलेन्द्रिय			
७	द्वीन्द्रिय			१२ वर्ष
८	त्रीन्द्रिय			४९ दिनरात
९	चतुरिन्द्रिय			६ महीने
	पंचेन्द्रिय			
१०	जलचर	मत्स्यादि		१ कोड़ पूर्व
११	परिसर्ग	गोह, नेवला, सरीसृपादि	सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त	९ पूर्वांग
१२	उरग	सर्प		४२००० वर्ष
१३	पक्षी	कर्म भूमिज भरुंड आदि		७२००० वर्ष
१४	चौपाये	कर्म भूमिज		१ पल्य
१५	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	कर्म भूमिज		१ कोड़ पूर्व
	भोग भूमिज			
१६	उत्तम भोगभूमिज	देव कुरु—उत्तर कुरु		३ पल्य
१७	मध्यम ,,	हरि व रम्यक क्षेत्र		२ ,,
१८	जघन्य ,,	हैमवत-हैरण्यवत		१ ,,
१९	कुभोग भूमिज	(अन्तर्द्वीप)		१ ,,
२०	कर्म भूमिज			१ ,,

३. एक अन्तर्मुहूर्तमें लब्ध्यपर्याप्तकके सम्भव निरन्तर क्षुद्रभव

(गो.जी./मू. १२३-१२५/३३२-३३५) (का० अ०/टी/१३७/७५)

क्रम	मार्गणा — नाम	मार्गणा — सूक्ष्म या बादर	एक अन्तर्मुहूर्तके भव — प्रत्येक में	एक अन्तर्मुहूर्तके भव — योग (जोड़)
	एकेन्द्रिय (ल०अप०)			
१	पृथिवी कायिक	सूक्ष्म	६०१२	
२	,, ,,	बादर	,,	
३	अप् ,,	सूक्ष्म	,,	
४	,, ,,	बादर	,,	
५	तेज ,,	सूक्ष्म	,,	
६	,, ,,	बादर	,,	
७	वायु ,,	सूक्ष्म	,,	
८	,, ,,	बादर	,,	
९	वनस्पति साधारण	सूक्ष्म	,,	
१०	,, ,,	बादर	,,	
११	,, अप्रति० प्रत्येक	,,	,,	६६१३२
	विकलेन्द्रिय (ल.अप.)			
१२	द्वीन्द्रिय		८०	
१३	त्रीन्द्रिय		६०	
१४	चतुरेन्द्रिय		४०	१८०
	पंचेन्द्रिय (ल०अप०)			
१५	असंज्ञी		८	
१६	संज्ञी		८	
१७	मनुष्य		८	२४
	कुल योग			६६३३६

४. मनुष्य गति :— १ पूर्व ७०५६०००००००००० वर्ष

विषय	प्रमाण ति.प. गा.	जघन्य आयु	प्रमाण ति.प./४ गा.	अन्य प्रमाण	उत्कृष्ट आयु
१, क्षेत्रकी अपेक्षा					
प्रमाण—(मू० आ०/११११-१११३); (ति.प०/४/गा०) (स० सि०/३/२७-३१,३७/५८-६६); (रा० वा०/३/२७-३१,३७/१९१-१९२,१९८)					
भरत-ऐरावत क्षेत्र :-					
सुषमा सुषमा काल		देव कुरु उत्तर कुरुवत्			
सुषमा काल		हरि-रम्यकवत्			
सुषमा दुषमा काल		हैमवत हैरण्यवतवत्			
दुषमा सुषमा काल		विदेह क्षेत्रवत्			
दुषमा काल		२० वर्ष			१२० वर्ष
दुषमा दुषमा काल		१२ वर्ष			२० वर्ष
विदेह क्षेत्र	२२५५	अन्तर्मुहूर्त	२२५५		१ कोड़ पूर्व
हैमवत हैरण्यवत		१ कोड़ पूर्व			१ पल्य
हरि-रम्यक	४०४	१ पल्य	३९६		२ ,,
देव-उत्तर कुरु		२ ,,	३३५		३ ,,
अन्तर्द्वीपजम्लेच्छ		(१कोड़पूर्व1)	२५१३		१ पल्य
२. कालकी अपेक्षा—(ति.प./४/गा.)					
अवसर्पिणी :					
सुषमा सुषमा काल		२ पल्य	३३५		३ पल्य
सुषमा ,,		१ पल्य	३९६		२ ,,
सुषमा दुषमा ,,		१ कोड़पूर्व	४०४		१ ,,
दुषमा सुषमा ,,		१२० वर्ष	१२७७		१ कोड़पूर्व
दुषमा ,,		२० वर्ष	१४७५		१२० वर्ष
दुषमा दुषमा ,,	१५५४	१५या१६वर्ष	१५३६		२० वर्ष
उत्सर्पिणी ;					
दुषमा दुषमा काल	१५६४	१५-१६ वर्ष			२० वर्ष
दुषमा ,,	१५६८	२० वर्ष			१२० वर्ष
दुषमा सुषमा ,,	१५७६	१२० वर्ष	१५९५		१ कोड़पूर्व
सुषमा दुषमा ,,	१५९६	१ कोड़ पूर्व	१५९८		१ पल्य
सुषमा ,,	१६००	१ पल्य			२ पल्य
सुषमा सुषमा ,,	१६०२	२ पल्य	१६०४		३ पल्य

५. भोगभूमिओं व कर्म भूमिजों सम्बन्धी

(ति.प./५/गा०)

विषय	प्रमाण ति.प. गा.	जघन्य आयु	प्रमाण ति.प./४ गा.	अन्य प्रमाण	उत्कृष्ट आयु
उत्तम भोगभू०	२९०	२ पल्य	२९०		३ पल्य
मध्यम ,, ,,	२८९	१ पल्य	२८९		२ पल्य
जघन्य ,, ,,	२८८	१ पूर्व कोड़	२८८		१ पल्य
कर्म भूमि		देखो ऊपर भरत-ऐरावत क्षेत्र			

१. देव गतिमें भवनवासियों सम्बन्धी

सपरिवार आयु सम्बन्धी–(ति.प./३/१४४-१७५); (त्रि.सा./२४०-२४७)

केवल इन्द्रों सम्बन्धी–(मू.आ./१११७-११२३); (त.सू./४/२८); (ज.प./११/१३७); (द्र.सं./टी./३५/१४२)

संकेत : साधिक–अपनेसे ऊपरकी अपेक्षा यथायोग्य कुछ अधिक।

क्रम	नाम		आयु सामान्य		मूल भेद		१ प्रतीन्द्र २ त्रायस्त्रिंश ३ लोकपाल ४ सामानिक	आत्मरक्ष		पारिषद			सेनापति	आरोहक वाहन या अनीक
	देव सामान्य	इन्द्र	ज०	उ०	इन्द्र	इन्द्राणि		देव	देवी	अभ्यन्तर	मध्यम	बाह्य		
१	असुर कुमार	चमरेन्द्र	सर्वत्र १०,००० वर्ष	इन्द्रवत्	१ सागर	२½ पल्य	स्व स्व इन्द्रवत्	१ पल्य	कथन नष्ट हो गया है (ति.प./३/१६९, १७४)	२½ पल्य	२ पल्य	१½ पल्य	१ पल्य	१/२ पल्य
		वैरोचन			साधिक ,,	३ ,,		साधिक ,,		३ ,,	२½ ,,	२ ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
२	नाग कुमार	भूतानन्द			३ पल्य	१/८ ,,		१ कोड़ पूर्व		१/८ ,,	१/१६ ,,	१/३२ ,,	१ कोड़ पूर्व	१ कोड़ वर्ष
		धरणानन्द			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
३	सुपर्ण कुमार	वेणु			२½ पल्य	३ कोड़ पूर्व		१ कोड़ वर्ष		३ कोड़ पूर्व	२ कोड़ पूर्व	१ कोड़ पूर्व	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष
		वेणुधारी			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
४	द्वीप कुमार	पूर्ण			२ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		विशिष्ट			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
५	उदधि कुमार	जलप्रभ			१½ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		जलकान्त			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
६	स्तनित कुमार	घोष			१½ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		महाघोष			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
७	विद्युत कुमार	हरिषेण			१½ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		हरिकान्त			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
८	दिक्कुमार	अमित गति			१½ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		अमित वाहन			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
९	अग्निकुमार	अग्नि शिखा			१½ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		अग्नि वाहन			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,
१०	वायु कुमार	वेलम्ब			१½ पल्य	३ कोड़ वर्ष		१००,००० वर्ष		३ कोड़ वर्ष	२ कोड़ वर्ष	१ कोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	५०,००० वर्ष
		प्रभञ्जन			साधिक ,,	साधिक ,,		साधिक ,,		साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,	साधिक ,,

२. घातायुष्कको अपेक्षा : (ध.७/२,२,३०/१२६); (त्रि.सा./५४१)

सम्यग्दृष्टि इन्द्र	स्व स्व उत्कृष्ट + १/२ सागर
मिथ्यादृष्टि ,,	,, ,, ,, + पल्य/असं.

७. देवगतिमें व्यन्तर देवों सम्बन्धी

१. (मू.आ./१११६-१११७); २. (त.सू./४/३८-३९); ३. (ति.प./४,५,६/गा.); ४. (त्रि.सा./२४०,२९३); ५. (द्र.सं/टी०/३५/१४२)

संकेत—साधिक—अपनेसे ऊपरकी अपेक्षा यथायोग्य कुछ अधिक

प्रमाण		नाम	आयु		विशेष
ति.प/६ गा.	अन्य प्रमाण		जघन्य	उत्कृष्ट	
(१) देवोंकी अपेक्षा					
८३	१,२	व्यन्तर सामान्य		१ पल्य	
८४	४,५	किन्नर आदि आठों इन्द्र		,,	
,,	,,	प्रतीन्द्र		,,	
,,	,,	सामानिक		,,	
,,	,,	महत्तर देवी		१/२ पल्य	
,,	,,	शेष देव		यथायोग्य	
८५	नं० ४	नीचोपपाद		१०,००० वर्ष	वाहनादि-
,,	,,	दिग्वासी	सर्वत्र १०,००० वर्ष	२०,००० ,,	वाले
,,	,,	अन्तर निवासी		३०,००० ,,	दिशाओंमें
,,	,,	कूष्माण्ड		४०,००० ,,	स्थित
,,	,,	उत्पन्न		५०,००० ,,	
,,	,,	अनुत्पन्न		६०,००० ,,	
,,	,,	प्रमाणक		७०,००० ,,	
,,	,,	गन्ध		८०,००० ,,	
,,	,,	महा गन्ध		८४,००० ,,	
,,	,,	भुजंग (जुगल)		१/८ पल्य	
,,	,,	प्रातिक		१/४ पल्य	
,,	,,	आकाशोत्पन्न		१/२ पल्य	

प्रमाण		नाम	आयु		विशेष
ति.प./४ गा.	ति.प./५ गा.		जघन्य	उत्कृष्ट	
		जम्बू द्वीपके रक्षक			
७६		महोरग		१ पल्य	
२७६		वृषभदेव		,,	
१७१२		शाली देव		,,	
	५१	अन्य सर्व द्वीप समुद्रों के अधिपति देव	सर्वत्र १०,००० वर्ष	१ पल्य	
(२) देवियोंकी अपेक्षा					
१६७२		श्री देवी		१ पल्य	
१७२८		ह्री देवी		,,	
१७६२		धृति ,,		,,	
२०१		बला देवी		,,	
२५८		लवणा ,,		,,	

नोट :—इसी प्रकार अन्य सर्व देवियोंकी जानना

(३) घातायुष्ककी अपेक्षा

(ध.७/२,२,३०/१२१); (त्रि.सा./५४१)

सम्यग्दृष्टि=स्वस्व उत्कृष्ट+१/२ पल्य

मिथ्यादृष्टि=,, ,, +पल्य/असं.

८. देवगतिमें ज्योतिष देवों सम्बन्धी

१. (मू.आ./११२२-११२३); २. (त. सू./४/४०-४१); ३. (ति.प./७/६१७-६२५); ४. (रा.वा./४/४०-४१/२४६); ५. (हरि. पु./६/८-९); ६. (ज.प./१२/९५-९६); ७. (त्रि.सा./४४६)

प्रमाण सं	नाम	आयु	
		जघन्य	उत्कृष्ट
(१) ज्योतिष देव सामान्यकी अपेक्षा			
१-७	चन्द्र	१/८ पल्य	१ पल्य+१ लाख वर्ष
,,	सूर्य	,,	१ पल्य+१००० वर्ष
,,	शुक्र	,,	१ पल्य+१०० वर्ष
२,३,४,६,७	बृहस्पति	,,	१ पल्य
नं० १	,,	,,	१ पल्य–१०० वर्ष
नं० ५	,,	,,	३/४ पल्य
१-७	बुध, मंगल	,,	१/२ पल्य
,,	शनि,	,,	,,
,,	नक्षत्र	,,	,,
,,	तारे	,,	१/४ पल्य

प्रमाण सं.	नाम	आयु	
		जघन्य	उत्कृष्ट

(२) ज्योतिष देवियोंकी अपेक्षा

(त्रि. सा./४४९)

सर्व देवियाँ	स्व स्व देवोंसे आधी

(३) घातायुष्ककी अपेक्षा

(ध.७/२,२,३०/१२१), (त्रि. सा./५४१)

सम्यग्दृष्टि =स्व स्व उत्कृष्ट+१/२ पल्य

मिथ्यादृष्टि =,, ,, ,, +पल्य/असं०

९. देवगतिमें वैमानिक देव सामान्य सम्बन्धी

प्रमाण :—स्वर्ग सामान्यको उत्कृष्ट व जघन्य आयु सम्बन्धी—(मू. आ./११११); (त. सू./४/२९-३४); (ति. प./८/४५८-४५९); (रा.वा./४/२९-३४/२४६-२४८); (ज.प./११/६५३); (त्रि.सा./५३२);

प्रत्येक पटल विशेषमें आयु सम्बन्धी —(टीका सहित ष.ख.७/२,२/सू.३२-३८/१२९-१३५)

महायुष्कको अपेक्षा प्रत्येक पटलमें आयु सम्बन्धी—(ति.प./८/४५८-५१२)

घातायुष्क सामान्यको अपेक्षा ,, ,, ,, ,, —(ति.प./८/५४१)

घातायुष्क सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा—(त्रि.सा./५३३.५४१)

क्रम	नाम	आयु सामान्य		महायुष्कको अपेक्षा उत्कृष्ट	घातायुष्क सामान्य उत्कृष्ट
		जघन्य	उत्कृष्ट		
(१) सौधर्म ईशान स्वर्ग सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	साधिक १ पल्य	साधिक २ सागर		
	घातायुष्क	(ध.४/पृ०४६३/११)			
	सम्यग्दृष्टि	१ पल्य+१/२पल्य	२ सागर+१/२सागर		
	मिथ्यादृष्टि	१पल्य+पल्य/असं.	२सागर+पल्य/असं.		
	प्रत्येक पटल				
१	ऋजु	१ १/२ पल्य	१/२ सागर	९९९,९९९,९९९,९९९,९९ २/३ पल्य	सर्वत्र उत्कृष्ट आयुवत्
२	विमल	१/२ सागर	१७/३० ,,	१,३३३,३३३,३३३,३३३,३३ १/३ ,,	
३	चन्द्र	१७/३० ,,	१९/३० ,,	२०,०००,०००,०००,०००,०० ,,	
४	वल्गु	१९/३० ,,	२१/३० ,,	२९९,९९९,९९९,९९९, ९९ २/३ ,,	
५	वीर	२१/३० ,,	२३/३० ,,	३३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
६	अरुण	२३/३० ,,	२५/३० ,,	४००,०००,०००,०००,००० ,,	
७	नन्दन	२५/३० ,,	२७/३० ,,	४९९,९९९,९९९,९९९, ९९९ २/३ ,,	
८	नलिन	२७/३० ,,	२९/३० ,,	५३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
९	कांचन	२९/३० ,,	१-१/३० ,,	६००,०००,०००,०००,००० ,,	
१०	रुधिर	१-१/३० ,,	१-३/३० ,,	६९९,९९९,९९९,९९९,९९९ २/३ ,,	
११	चंचु	१-३/३० ,,	१-५/३० ,,	७३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
१२	मरुत	१-५/३० ,,	१-७/३० ,,	८००,०००,०००,००८,००० ,,	
१३	ऋद्धीश	१-७/३० ,,	१-९/३० ,,	८९९,९९९,९९९,९९९, ९९९ २/३ ,,	
१४	वैडूर्य	१-९/३० ,,	१-११/३० ,,	९३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
१५	रुचक	१-११/३० ,,	१-१३/३० ,,	१,०००,०००,०००,०००,००० ,,	
१६	रुचिर	१-१३/३० ,,	१-१५/३० ,,	१,०९९,९९९,९९९,९९९,९९९ २/३ ,,	
१७	अङ्क	१-१५/३० ,,	१-१७/३० ,,	१,१३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
१८	स्फटिक	१-१७/३० ,,	१-१९/३० ,,	१,२००,०००,०००,०००,००० ,,	
१९	तपनीय	१-१९/३० ,,	१-२१/३० ,,	१,२९९,९९९,९९९,९९९,९९९ ,,	
२०	मेघ	१-२१/३० ,,	१-२३/३० ,,	१,३३३,३३३,३३३,३३३,३३३ ,,	
२१	अभ्र	१-२३/३० ,,	१-२५/३० ,,	१,४००,०००,०००,०००,००० ,,	
२२	हरित	१-२५/३० ,,	१-२७/३० ,,	१,४९९,९९९,९९९,९९९,९९९ २/३ ,,	
२३	पद्म	१-२७/३० ,,	१-२९/३० ,,	१,५३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
२४	लोहिताङ्क	१-२९/३० ,,	२-१/३० ,,	१,६००,०००,०००,०००,००० ,,	
२५	वरिष्ट	२-१/३० ,,	२-३/३० ,,	१,६९९,९९९,९९९,९९९,९९९ २/३ ,,	
२६	नन्द्यावर्त	२-३/३० ,,	२-५/३० ,,	१,७३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
२७	प्रभंकर	२-५/३० ,,	२-७/३० ,,	१,८००,०००,०००,०००,००० ,,	
२८	पिष्टाक (पृष्ठक)	२-७/३०	२-९/३० ,,	१,८९९,९९९,९९९,९९९,९९९ २/३ ,,	
२९	गज	२-९/३० ,,	२-११/३० ,,	१,९३३,३३३,३३३,३३३,३३३ १/३ ,,	
३०	मित्र	२-११/३० ,,	२-१३/३० ,,	२०,०००,०००,०००,०००,००० ,,	
३१	प्रभा	२-१३/३० ,,	२-१/२ ,,	साधिक २ सागर	

क्रम	नाम	आयु सामान्य जघन्य	आयु सामान्य उत्कृष्ट	बद्धायुष्ककी अपेक्षा उत्कृष्ट	घातायुष्क सामान्य उत्कृष्ट
(२) सनत्कुमार माहेन्द्र युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	साधिक २ सागर	साधिक ७ सागर		
	घातायुष्क:—				
	सम्यग्दृष्टि	२-१/२ सागर	७-१/२ सागर		
	मिथ्यादृष्टि	२ सागर+ $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$	७ सागर+ $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$		
	प्रत्येक पटल —				
१	अंजन	२-१/२ सागर	३-३/१४ सागर	२-५/७ सागर	
२	वनमाला	३-२/१४ ,,	३-१३/१४ ,,	३-३/७ ,,	
३	नाग	३-१३/१४ ,,	४-६/१४	४-१/७ ,,	
४	गरुड़	४-६/१४ ,,	५-५/१४ ,,	४-६/७ ,,	
५	लांगल	५-५/१४ ,,	६-१/१४ ,,	५-४/७ ,,	
६	बलभद्र	६-१/१४ ,,	६-११/१४ ,,	६-३/७ ,,	
७	चक्र	६-११/१४ ,,	७½ ,,	साधिक ७ ,,	
(३) ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	साधिक ७ सागर	साधिक १० सागर		उत्कृष्ट आयु सामान्य वत्
	घातायुष्क:—				
	सम्यग्दृष्टि	७+१/२ सागर	१०+१/२ सागर		
	मिथ्यादृष्टि	७ सागर+ $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$	१०सागर+ $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$		
	प्रत्येक पटल:—				
१	अरिष्ट	७-१/२ सागर	८-१/४ सागर	७-३/४ सागर	
२	देवसमित	८-१/४ ,,	९ ,,	८-२/४ ,,	
३	ब्रह्म	९ ,,	९-३/४ ,,	९-१/४ ,,	
४	ब्रह्मोत्तर	९-३/४ ,,	१०-१/२ ,,	साधिक १० ,,	
	लौकान्तिक देव	८ सागर	८ सागर	८ सागर	
(४) लांतव कापिष्ठ युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	साधिक १० सागर	साधिक १४ सागर		
	घातायुष्क :—				
	सम्यग्दृष्टि	१०+१/२ सागर	१४+१/२ सागर		
	मिथ्यादृष्टि	१० सागर + $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$	१४ सागर+ $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$		
	प्रत्येक पटल:—				
१	ब्रह्म निलय	१०-१/२ सागर	१२-१/२ सागर	साधिक १२ सागर	
२	लान्तव	१२-१/२ सागर	१४-१/२ सागर	,, १४ सागर	
(५) शुक्र महाशुक्र युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	साधिक १४ सागर	साधिक १ सागर		
	घातायुष्क :—				
	सम्यग्दृष्टि	१४-१/२ सागर	१६-१/२ सागर		
	मिथ्यादृष्टि	१४ सागर + $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$	१६ सागर+ $\frac{\text{पल्य}}{\text{असं.}}$		
	प्रत्येक पटल :—				
१	महा शुक्र	१४-१/२ सागर	१६-१/२ सागर	साधिक १६ सागर	

क्रम	नाम	आयु सामान्य जघन्य	आयु सामान्य उत्कृष्ट	बद्धायुष्कको अपेक्षा उत्कृष्ट	घातायुष्क सामान्य उत्कृष्ट
(६) शतार-सहस्रार युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	साधिक १६ सागर	साधिक १८ सागर		
	घातायुष्क :—				
	सम्यग्दृष्टि	१६-१/२ सागर	१८-१/२ सागर		
	मिथ्यादृष्टि	१६ सागर+ पल्य/असं.	१८ सागर+ पल्य/असं.		
	प्रत्येक पटल :—				
१	सहस्रार	१६-१/२ सागर	१८-१/२ सागर	साधिक १८ सागर	{उत्कृष्ट आयु सामान्य
(७) आनत-प्राणत युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	१८ सागर	२० सागर		
	घातायुष्क :—	उत्पत्ति	का अभाव है (त्रि. सा./	५३३)	
	प्रत्येक पटल :—				
१	आनत	१८-१/२ सागर	१९ सागर	१८-४/६ सागर	
२	प्राणत	१९ सागर	१९-१/२ ,,	१९-२/३ ,,	
३	पुष्पक	१९-१/२ ,,	२० ,,	२० ,,	
(८) आरण अच्युत युगल सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	२० सागर	२२ सागर		
	घातायुष्क— :	उत्पत्तिका अभाव है	(त्रि. सा./५३३)		
	प्रत्येक पटल :—				
१	सातंकर	२० सागर	२०-२/३ सागर	२०-४/६ सागर	
२	आरण	२०-२/३ ,,	२१-१/३ ,,	२१-२/६ ,,	
३	अच्युत	२१-१/३ ,,	२२ ,,	२२ ,,	
(९) नव ग्रैवेयक सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	२२ सागर	३१ सागर		— उत्पत्तिका अभाव —
	घातायुष्क :—	उत्पत्तिका अभाव (त्रि.	सा./५३३)		
	प्रत्येक पटल				
१	सुदर्शन } अधो	२२ सागर	२३ सागर		
२	अमोघ	२३ सागर	२४ ,,		
३	सुप्रबुद्ध	२४ ,,	२५ ,,		
४	यशोधर } मध्य	२५ ,,	२६ ,,		
५	सुभद्र	२६ ,,	२७ ,,		
६	सुविशाल	२७ ,,	२८ ,,		
७	सुमनस } ऊर्ध्व	२८ ,,	२९ ,,		
८	सौमनस	२९ ,,	३० ,,		
९	प्रीतिंकर	३० ,,	३१ ,,		
(१०) नव अनुदिश सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	३१ सागर	३२ सागर		
	घातायुष्क :—	उत्पत्तिका अभाव (त्रि.	सा./५३३)		
	प्रत्येक पटल :—				
१	आदित्य				
	{ ९ के ९ सर्व विमान	३१ सागर	३२ सागर		

क्रम	नाम	आयु सामान्य		आयुष्ककी अपेक्षा उत्कृष्ट	घातायुष्क सामान्य उत्कृष्ट
		जघन्य	उत्कृष्ट		
(११) पंच अनुत्तर सम्बन्धी					
	स्वर्ग सामान्य	३२ सागर	३३ सागर		उत्पत्तिका अभाव
	घातायुष्क :—	उत्पत्तिका अभाव (त्रि. सा./५३३)			
	प्रत्येक विमान: —				
१	विजय	३२ सागर	३३ सागर		
२	वैजयन्त	,, ,,	,, ,,		
३	जयन्त	,, ,,	,, ,,		
४	अपराजित	,, ,,	,, ,,		
५	सर्वार्थ सिद्धि	३३ ,,	,, ,,		

१०. वैमानिक देवोंमें इन्द्रों व उनके परिवार देवों सम्बन्धी

नोट—उत्कृष्ट आयु दी गयी है। पहले-पहले स्वर्गकी उत्कृष्ट अगले-अगले स्वर्गमें जघन्य आयु है।

संकेत—ऊन = किंचिदून।

इन्द्र त्रिक = इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक व त्रायस्त्रिंश यह तीन सामन्त

लो० चतु० = लोकपालों सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद तथा अन्य सामन्त

प्रकी० त्रिक = इन्द्र सम्बन्धी प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषक यह तीन प्रकार देव (ति.प./८/५१३-५२६)

नं०	नाम स्वर्ग	इन्द्रादिक		लोकपालादिक				आत्मरक्ष	पारिषद			अनीक	प्रकी० त्रिक०
		इन्द्र	इन्द्र त्रिक	यम-सोम	कुबेर	वरुण	लो०/चतु		अभ्यन्तर	मध्यम	बाह्य		
				पल्य	पल्य	पल्य		पल्य	पल्य	पल्य	पल्य	पल्य	
१	सौधर्म	स्व स्व स्वर्गकी उत्कृष्ट आयु	स्व स्व इन्द्रवत्	२-१/२	३	ऊन ३	स्व स्व स्वामिवत्	२-१/२	३	४	५	१	कथन नहीं किया गया
२	ईशान			३	ऊन ३	साधिक ३		,,	,,	,,	,,	,,	
३	सनत्कुमार			३-१/२	४	ऊन ४		३-१/२	४	५	६	२	
४	माहेन्द्र			४	ऊन ४	साधिक ४		,,	,,	,,	,,	,,	
५	ब्रह्म			४-१/२	५	ऊन ५		४-१/२	५	६	७	३	
६	ब्रह्मोत्तर			५	ऊन ५	साधिक ५		,,	,,	,,	,,	,,	
७	लान्तव			५-१/२	६	ऊन ६		५-१/२	६	७	८	४	
८	कापिष्ठ			६	ऊन ६	साधिक ६		,,	,,	,,	,,	,,	
९	शुक्र			६-१/२	७	ऊन ७		६-१/२	७	८	९	५	
१०	महाशुक्र			७	ऊन ७	साधिक ७		,,	,,	,,	,,	,,	
११	शतार			७-१/२	८	ऊन ८		७-१/२	८	९	१०	६	
१२	सहस्रार			८	ऊन ८	साधिक ८		,,	,,	,,	,,	,,	
१३	आनत			८-१/२	९	ऊन ९		८-१/२	९	१०	११	७	
१४	प्राणत			९	ऊन ९	साधिक ९		,,	,,	,,	,,	,,	
१५	रण			९-१/२	१०	ऊन १०		९-१/२	१०	११	१२	८	
१६	अच्युत			१०	ऊन १०	साधिक १०		,,	,,	,,	,,	,,	

११. वैमानिक इन्द्रों अथवा देवोंकी देवियों सम्बन्धी

नोट—उत्कृष्ट आयु दी गयी है। जघन्य आयु सर्वत्र १ पल्य है।

संकेत—; ऊन—किंचिदून

इन्द्रत्रिक—इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश यह तीन सामन्त

लो० चतु०—लोकपालों सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद व अन्य सामन्त

प्रकी० त्रिक—प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषक देव

प्रमाण—सारे चार्टका आधार मूल—(ति. प./८/५२७-५४०)

केवल इन्द्रोंकी देवियों सम्बन्धी—(मू० आ०/११२०-११२१); (ति० प०/८/५२७-५३२); (ध. ७/४,१,६६/-गा० १३१/३००); (त्रि० सा०/५४२)

क्रम	नाम स्वर्ग	इन्द्रकी देवियाँ			इन्द्र त्रिक की देवियाँ	लोकपाल परिवारकी देवियाँ				आत्म रक्षोंकी	पारिषद त्रयकी देवियाँ	अनीकों की देवियाँ	प्रकी० त्रिक की देवियाँ
		दृष्टि नं० १	दृष्टि नं० २	दृष्टि नं० ३		सोम-यम	कुबेर	वरुण	लो० त्रिक				
		पल्य	पल्य	पल्य		पल्ल	पल्य	पल्य					
१	सौधर्म	५	५	५		१-१/४	१-१/२	ऊन १-१/२					
२	ईशान	७	७	५		१-१/२	१-१/२	साधिक १-१/२					
३	सनत्कुमार	९	९	१७		२-१/४	२-१/२	ऊन २-१/२					
४	माहेन्द्र	११	११	,,		२-१/२	,,	साधिक २-१/२					
५	ब्रह्म	१३	१३	२५		३-१/४	३/१/२	ऊन ३-१/२					
६	ब्रह्मोत्तर	१५	१५	,,		३-१/२	,,	साधिक ३-१/२					
७	लान्तव	१७	१७	३५		४-१/४	४-१/२	ऊन ४-१/२					
८	कापिष्ठ	१९	१९	,,		४-१/२	,,	साधिक ४-१/२					
९	शुक्र	२१	२१	४०	स्व स्व इन्द्रोंकी देवियोंवत्	५-१/४	५-१/२	ऊन ५-१/२	स्व स्व स्वामिवत्	कथन नष्ट हो गया है	कथन नष्ट हो गया है	कथन नष्ट हो गया है	कथन नष्ट हो गया है
१०	महाशुक्र	२३	२३	,,		५-१/२	,,	साधिक ५-१/२					
११	शतार	२५	२५	४५		६-१/४	६-१/२	ऊन ६-१/२					
१२	सहस्रार	२७	२७	,,		६-१/२	,,	साधिक ६-१/२					
१३	आनत	३४	२९	५०		७-१/४	७-१/२	ऊन ७-१/२					
१४	प्राणत	४१	३१	,,		७-१/२	,,	साधिक ७-१/२					
१५	आरण	४८	३३	५५		८-१/४	८-१/२	ऊन ८-१/२					
१६	अच्युत	५५	३५	,,		८-१/२	,,	साधिक ८-१/२					

१२. देवों-द्वारा बन्ध योग्य जघन्य आयु

ध. ६/४,१,६६/३०६-३०८

क्रम	स्वर्ग	जघन्य आयु	
		तिर्यंचों की	मनुष्यों की
१	सानत्कुमार-माहेन्द्र	मुहूर्त पृथक्त्व	मुहूर्त पृथक्त्व
२	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	दिवस ,,	दिवस ,,
३	लान्तव-कापिष्ठ	,, ,,	,, ,,
४	शुक्र-महाशुक्र	पक्ष ,,	पक्ष ,,
५	शतार-सहस्रार	,, ,,	,, ,,
६	आनत-प्राणत	मास ,,	मास ,,
७	आरण-अच्युत	,, ,,	,, ,,
८	नव ग्रैवेयक	वर्ष ,,	वर्ष ,,
९	अनुदिश-अपराजित	×	,, ,,
१०	सम्यग्दृष्टि कोई भी देव	×	,, ,,

आयोपाय—भ. आ./मू./४६२ तस्स आयोपायविदंसी खवयस्स ओघपण्णवओ। आलोचेंतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥४६२॥ =जो क्षपक उपर्युक्त कारणोंसे दोषोंकी आलोचना करनेमें भययुक्त होता है उसको आयोपाय दर्शन गुणके धारक आचार्य आलोचना करनेमें गुण और न करनेमें हानि कैसी होती है इसका निरूपण कहते हैं।

आरंभ—स. सि./६/८/३२५/४ प्रक्रम आरम्भः।

स. सि./६/१५/३३३/९ आरम्भः प्राणिपीड़ाहेतुर्व्यापारः। =कार्य करने लगना सो आरम्भ है। (रा. वा./६/८/४/५१४); (चा. सा./८७/५) प्राणियोंको दुःख पहुँचानेवाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है।

रा. वा./६/१५/२/५२५/२५ हिंसनशीलाः हिंस्राः, तेषां कर्म हैंस्रम् आरम्भ इत्युच्यते। =हिंसनशील अर्थात् हिंसा करना है स्वभाव जिनका वे हिंस्र कहलाते हैं। उनके ही कार्य हैंस्र कहलाते हैं। उनको ही आरम्भ कहते हैं।

ध. १३/५,४,२२/४६/१२ प्राणि-प्राणवियोजनं आरम्भो णाम। =प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करना आरम्भ कहलाता है।

प्र. सा./त. प्र./२२१ उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणायाः मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य···। =उपधिके सद्भावमें ममत्व परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्च्छा और उपधि सम्बन्धी कर्म प्रक्रमके परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ···।

आरम्भ क्रिया—...दे० क्रिया/३

आरम्भ त्याग प्रतिमा—र.क.श्रा./१४४ सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति। प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः॥१४४॥ =जो जीव हिंसाके कारण नौकरी खेती व्यापारादिके आरम्भसे विरक्त है वह आरम्भ त्याग प्रतिमाका धारी है। (गुण श्रा./१८०) (का. आ./३८५); (सा. ध./७/२१)

वसु. श्रा./२९८ जं किं चि गिहारंभं बहु थोगं वा सया विवज्जेइ। आरंभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ ॥२९८॥ =जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ होता है उसे जो सदाके लिए त्याग करता है, वह आरम्भसे निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भ त्यागी आठवाँ श्रावक कहा गया है।

द्र. सं./टी./४५/१९५ आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तोऽष्टमः। =आरम्भादि सम्पूर्ण व्यापारके त्यागसे अष्टम प्रतिमा (होती है।)

२. आरम्भ त्याग व सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर

ला. सं./७/३२-३३ इतः पूर्वमतीचारो विद्यते वधकर्मणः। सचित्तस्पर्शनत्वाद्वा स्वहस्तेनाम्भसां यथा ॥३२॥ =इतः प्रभृति यद्द्रव्यं सचित्तं सलिलादिवत्। न स्पर्शति स्वहस्तेन बह्वारम्भस्य का कथा ॥३३॥ =इस आठवीं प्रतिमा स्वीकार करनेसे पहले वह सचित्त पदार्थोंका स्पर्श करता था, जैसे-अपने हाथसे जल भरता था, छानता था और फिर उसे प्रासुक करता था, इस प्रकार करनेसे उसे अहिंसा व्रतका अतिचार लगता था, परन्तु इस आठवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेके अनन्तर वह जलादि सचित्त द्रव्योंको अपने हाथसे छूता भी नहीं है। फिर भला अधिक आरम्भ करनेकी तो बात ही क्या है।

आर—चतुर्थ नरकका प्रथम पटल—दे० नरक/५

आरट्ट—१. (म. प्र./प्र. ५०/पं. पन्नालाल) पंजाबके एक प्रदेशका नाम; २. भरत क्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४

आरण—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद व उनका अवस्थान—दे० स्वर्ग/१,५; २. कल्पवासी स्वर्गोंका पन्द्रहवाँ कल्प—दे० स्वर्ग/१,५; ३. आरण स्वर्गका द्वितीय पटल व इन्द्रक विमान —दे० स्वर्ग/१,५।

आरातीय—स. सि./१/२०/१२४/१ आरातीयैः पुनराचार्यैः। =आराख्योंके द्वारा अर्थात् आचार्योंके द्वारा।

आराधना—भ.आ./मू./२ उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहणं साहणं च णिच्छरणं। दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया। =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप इन चारोंका यथायोग्य रीतिसे उद्योतन करना, उनमें परिणति करना, इनको दृढतापूर्वक धारण करना, उनके मन्द पड़ जानेपर पुनः-पुनः जागृत करना, उनका आमरण पालन करना सो (निश्चय) आराधना कहलाती है। (द्र.सं./५४/२२१ पर उद्धृत); (अन. ध./१/९२/१०१)

स. सा./मू./३०४-३०५ संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं। अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥ जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ। आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं ति आणंतो ॥३०५॥ =संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये शब्द एकार्थ हैं। इसलिए जो आत्मा राधसे रहित हो वह अपराध है ॥३०४॥ और जो चेतयिता आत्मा अपराधी नहीं है, वह शंका रहित है और अपनेको 'मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ आराधना कर हमेशा वर्तता है।

न. च. वृ./३५६ समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं। तह चारित्तं धम्मो सहावआराहणा भणिया ॥३५६॥ =समता तथा माध्यस्थ, शुद्ध भाव तथा वीतरागता, चारित्र तथा धर्म यह सब ही स्वभावकी आराधना कहलाते हैं।

द्र. सं./टी./५४/२२२ में उद्धृत "सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव। चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।" =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारों आत्मा में निवास करते हैं इसलिए आत्मा ही मेरे शरणभूत है।

अन. ध./१/९८/१०५ वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेस्तद्गतातिशयेषु या। उद्द्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते ॥९८॥ =जिसके सम्यग्दर्शनादिक परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं, ऐसे पुरुषकी उन सम्यग्दर्शनादिकमें रहनेवाले अतिशयों अथवा उद्योतादिक विशेषोंमें जो वृत्ति उसीको दर्शनादिककी भक्ति कहते हैं। और इसी भक्तिका नाम ही आराधना है।

२. आराधनाके भेद

भ. आ./मू./२,३ दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥२॥ दुविहा पुण जिणवयणे आराहणासमासेण। सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य

हवे चरित्तम्मि ॥३॥ =दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारको आराधना कहा गया है ॥२॥ अथवा जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं—एक सम्यक्त्वाराधना, दूसरा चारित्राराधना।

नि. सा./ता. वृ./७५ दर्शनज्ञानचारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासदानुरक्तः। =ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परम तप नामकी चतुर्विध आराधनामें सदा अनुरक्त।

गो. जी./जी. प्र./३६८/७९०/१२ दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थस्थानगतोत्कृष्टाराधनाविशेषं च वर्णयति। =दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, अर्थात् यथायोग्य शरीरका समाधान, सल्लेखना, उत्तम अर्थ स्थानको प्राप्त उत्तम आराधना इनिका विशेष प्ररूपिये है।

★ **निश्चय आराधनाके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५

३. उत्तम मध्यम जघन्य आराधनाके स्वामित्व

भ. आ./मू./११९८–११२१ सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमित्ता। जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥११९८॥ खाइयदंसणणाणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो। तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥११९९॥ जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए। तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥११२०॥ तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमित्ता। कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणदि ॥११२१॥ =शुक्ल लेश्याके उत्कृष्ट अंशोंसे परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है, उस महात्माको नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिए ॥११९८॥ क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञान इनकी आराधना करके आत्मा क्षीणमोही बनता है और तदनन्तर अरहन्त होता है ॥११९९॥ (क्षेपक गाथा) शुक्ल लेश्याके मध्यम अंश, और जघन्य अंशोंसे तथा पद्म लेश्याके अंशोंसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते हैं, वे मध्यम आराधक माने जाते हैं ॥११२०॥ पीत लेश्याके जो अंश हैं, उनसे परिणत होकर जो मरण वश होते हैं, वे जघन्य आराधक माने जाते हैं।

४. सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टादि आराधनाओंका स्वामित्व

भ.आ./मू./५१ उक्कस्साकेवलिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणं। अविरतसम्मादिट्ठिस्स संकिलिट्ठस्स हु जहण्णा ॥५१॥ =उत्कृष्ट सम्यक्त्वकी आराधना अयोग केवलीको होती है। मध्यम सम्यग्दर्शनकी आराधना बाकीके सम्यग्दृष्टि जीवोंको होती है। परन्तु परिषहोंसे जिसका मन उद्विग्न हुआ है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य आराधना होती है। (भ.आ./वि./५१/१७५)

आराधना कथा कोश—दे० कथाकोश।

आराधना पंजिका—भगवती आराधनाकी टीका है—दे० भगवती आराधना।

आराधना संग्रह—आ० पद्मनन्दि ८ (ई० १२८०–१३३०) की एक रचना।

आराधना सार—*१. आ० देवसेन (ई० ८९३–९४३) द्वारा विरचित प्राकृत गाथा बद्ध एक आध्यात्मिक ग्रन्थ। इसमें कुल ११५ गाथाएँ हैं।* २. आ० रविभद्र (ई० ९५०–९९०) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित ग्रन्थ।

आरोहक—ल.सा./भाषा/३१३/३९७/१ उपशम (तथा क्षपक) श्रेणी पर चढ़नेवालेका नाम आरोहक कहिये है।

आर्जव धर्म—बा.अ./७३ मोत्तूण कुडिल भावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो। अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥७३॥ —जो मनस्वी प्राणी (शुभ विचार वाला) कुटिल भाव वा मायाचारी परिणामोंको छोड़ कर शुद्ध हृदयसे चारित्रका पालन करता है, उसके नियमसे तीसरा आर्जव नामका धर्म होता है।

स.सि./९/६/४१२/६ योगस्यावक्रता आर्जवम्। =योगोंका वक्र न होना आर्जव है। (रा.वा./९/६/४/५९६)

भ.आ./वि./४६/१५४ आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वक्रताभावः आर्जवमित्युच्यते। =डोरीके दो छोर पकड़ कर खींचनेसे वह सरल होती है। उसी तरह मनमें-से कपट दूर करने पर वह सरल होता है अर्थात् मनकी सरलताका नाम आर्जव है।

पं.वि./१/८९ हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्। धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ॥८९॥ =जो विचार हृदयमें स्थित है, वही वचनमें रहता है तथा वही बाहर फलता है अर्थात् शरीरसे भी तदनुसार ही कार्य किया जाता है, यह आर्जवधर्म है, इससे विपरीत दूसरोंको धोखा देना, यह अधर्म है। ये दोनों यहाँ क्रमसे देवगति और नरकगतिके कारण हैं।

का.अ./मू./३९६ जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं। ण य गोवदि णिय दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥३९६॥ =जो मुनि कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता और कुटिल बात नहीं बोलता तथा अपना दोष नहीं छिपाता वह आर्जव धर्मका धारी होता है क्योंकि मन, वचन, कायकी सरलताका नाम आर्जव धर्म है। (त.सा./६/१५)

२. आर्जवधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ.आ./मू./१४३१–१४३५ अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति। मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४३१॥ पडिभोगम्मि असंते णियडि सहस्सेहिं गूहमाणस्स। चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४३२॥ जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स। जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥१४३३॥ इभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स। हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४३४॥ इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया। इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३५॥ =दोषोंको अतिशय छिपाने पर भी कालान्तरसे कुछ काल व्यतीत होनेके बाद वे दोष लोगोंको मालूम पड़ते ही हैं, इसलिए मायाका प्रयोग करनेपर भी क्या फायदा होता है? ध्यानमें नहीं आता ॥१४३१॥ उत्कृष्ट भाग्य यदि न होगा तो हज़ारों कपट करके दोषोंको छिपाने पर भी वे प्रगट होते ही हैं। जैसे—चन्द्रको राहु ग्रस लेता है यह बात छिपती नहीं सर्व जन प्रसिद्ध होती है वैसे ही दोष छिपानेका कितना भी प्रयत्न करो, परन्तु यदि तुम पुण्यवान् न होगे तो तुम्हारे दोष लोगोंको मालूम होंगे ही ॥१४३२॥ जो पुण्यवान् पुरुष है उसका दोष लोगोंको प्रत्यक्ष होने पर भी लोग उसको दोष मानते नहीं हैं, जैसे तालाबका पानी मलिन होने पर भी उसके मलिनपनाकी तरफ जन लक्ष्य नहीं देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि—पुण्यवान्को कपट करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोष प्रगट होने पर भी श्रीमान् मान्य होते ही हैं ॥१४३३॥ सैकड़ों कपट प्रयोग करने पर भी और वे मालूम कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान् मनुष्यसे भिन्न अर्थात् पापी मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता, तात्पर्य कपट करनेसे धन प्राप्त नहीं होता पुण्यसे ही मिलता है ॥१४३४॥ इस प्रकार इस भव व परभवमें मायासे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिए ॥१४३५॥ (रा.वा./९/६/२७/५९९/१५), (चा.सा./-६२/२), (पं.वि./१/९०), (ज्ञा./१९/५८–६७)

अन.ध./६/१७-२३/५७७ भावार्थ—'यह कपटी है' इस तरहकी अपकीर्ति को जो सहन कर नहीं सकता उसकी तो बात क्या, जो सहन भी कर सकता है वह भी इस संसार मार्गको बढ़ाने वाली अनन्तानुबन्धी इस मायाको दूरसे छोड़ दे। क्योंकि नहीं तो तुझे पुंस्त्व पर्याय प्राप्त न होगी। इस लोकमें तेरा कोई भी विश्वास न करेगा। जिन्होंने आर्जव धर्म रूपी नौकाके द्वारा माया रूपी नदीको लाँघ लिया है वे लोकोत्तर पुरुष जयवन्त रहो। परन्तु मायापूर्ण वाक्योंसे अर्थात् 'कुंजरो न नरः' ऐसे मायापूर्ण वाक्योंसे गुरु द्रोणाचार्यको धोखा देनेके कारण युधिष्ठिरको इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने अपनेको सत्पुरुषोंसे छिपा लिया। इस प्रकार मायासे बड़े-बड़े पुरुषोंको क्लेश हुआ है ऐसा जानकर मायाका त्याग कर देना चाहिए।

३. दश धर्म सम्बन्धी विशेषताएँ—दे० धर्म/८।

आर्त्त—स.सि./९/२८/४४५/१० ऋतं दुःखं, अथवा अर्दनमार्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। —ऋत, दुःख अथवा अर्दन—आर्ति इनमें होना सो आर्त्त है। (रा.वा./९/२८/१/६२७/२६), (भा.पा./टी./७८/२२६)

आर्त्त अतिचार—दे० अतिचार।

आर्त्तध्यान—वैसे तो ध्यान शब्द पारमार्थिक योग व समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु वास्तवमें किन्हीं भी शुभ वा अशुभ परिणामोंकी एकाग्रताका हो जाना ही ध्यान है। संसारी जीवको चौबीस घण्टे ही कलुषित परिणाम वर्तते हैं। कुछ इष्ट वियोग जनित होते हैं, कुछ अनिष्ट संयोग जनित, कुछ वेदना जनित और कुछ आगामी भोगोंकी तृष्णा जनित; इत्यादि सभी प्रकारके परिणाम आर्त्तध्यान कहलाते हैं। जो जीवको पारमार्थिक अधःपतनके कारण हैं और व्यवहारसे अधोगतिके कारण हैं। यद्यपि मोक्षमार्गके साधकोंको भी पूर्व अभ्यासके कारण वे कदाचित् होते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों वह ऊपर चढ़ता है त्यों-त्यों ये दबते चले जाते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. आर्त्तध्यानका सामान्य लक्षण

स.सि./९/२८/४४५/१० ऋतं दुःखं, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। —आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें-से किसी एकसे बना है। इनमें-से 'ऋत' का अर्थ दुःख है और 'अर्ति'का 'अर्दनं अर्तिः' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें (ऋतमें या अर्तिमें) जो होता है वह आर्त (वा आर्तध्यान) है। (रा.वा./९/२८/१/६२७/२६), (भा.पा./टी./७८/२२६)

म.पु./२१/४०-४१ मूर्च्छाकौशील्यकैनाश्यकौसीद्यान्यतिगृध्नुता। भयोद्वेगानुशोकाश्च लिङ्गान्यार्ते स्मृतानि वै ॥४०॥ बाह्यं च लिङ्गमार्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता। हस्तान्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम् ॥४१॥ —परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्त ध्यानके बाह्य चिह्न हैं ॥४०॥ इसी प्रकार शरीरका क्षीण हो जाना, शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाना, हाथोंपर कपोल रखकर पश्चात्ताप करना, आँसू डालना, तथा इसी प्रकार और भी अनेक कार्य आर्त्तध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं। (चा.सा./१६७/४)

ज्ञा./२५/२३/२५७ ऋते भवमथार्त्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्। दिग्मोहान्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥२३॥ —ऋत कहिये पीड़ा—दुःख उपजै सो आर्त्तध्यान है। सो यह ध्यान अप्रशस्त है। जैसे किसी प्राणीके दिशाओंके भूल जानेसे उन्मत्तता होती है उसके समान है। यह ध्यान अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञानकी वासनाके वशसे उत्पन्न होती है।

२. आर्त्तध्यानका आध्यात्मिक लक्षण

चा.सा./१६७/५ स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकार्त्तध्यानं। —(अन्य लोग जिसका अनुमान कर सकें वह बाह्य आर्तध्यान है) जिसे केवल अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक आर्तध्यान कहते हैं।

३. आर्त्तध्यानके भेद

ज्ञा./२५/२४ अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम्। रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥२४॥ —पहिला आर्तध्यान तो जीवोंके अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है। दूसरा आर्तध्यान इष्ट पदार्थके वियोगसे होता है। तीसरा आर्तध्यान रोगके प्रकोपकी पीड़ासे होता है और चौथा आर्तध्यान निदान कहिये आगामी कालमें भोगोंकी वांछाके होनेसे होता है। इस प्रकार चार भेद आर्त्तध्यानके हैं। (म.पु./२१/३१-३६), (चा.सा./१६७/४)

चा.सा./१६७/४ तत्रार्त्तं बाह्याध्यात्मिकभेदाद् द्विविकल्पं। —बाह्य और अध्यात्मके भेदसे आर्त्तध्यान दो प्रकारका है।...और वह आध्यात्मिक ध्यान चार प्रकारका होता है।

द्र.सं./टी./४८/२०१ इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतिकारभोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विधमार्त्तध्यानम्। —इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और रोग इन तीनोंको दूर करनेमें तथा भोगों वा भोगोंके कारणोंमें वांछा रूप चार प्रकारका आर्त्तध्यान होता है।
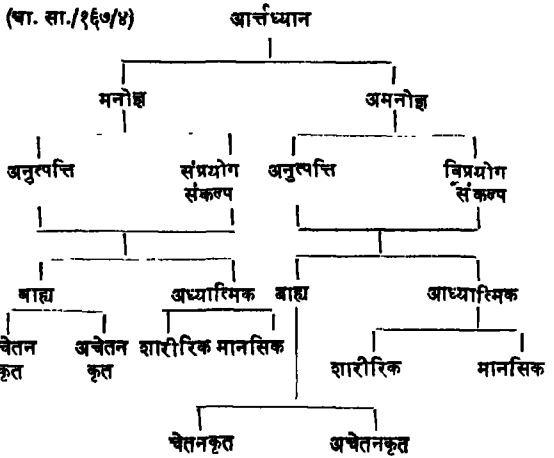
४. अनिष्ट योगज आर्त्तध्यानका लक्षण

त. सू./९/३० आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥ —अमनोज्ञ पदार्थके प्राप्त होने पर उसके वियोगके लिए चिन्ता सातत्यका होना प्रथम आर्त्त ध्यान है।

स.सि./९/३०/६ अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि, तद्बाधाकारणत्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते। तस्य संप्रयोगे, स कथं नाम न मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्त्तमित्याख्यायते। —विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे बाधाके कारण होनेसे अमनोज्ञ कहे जाते हैं। उनका संयोग होनेपर वे मेरे कैसे न हों इस प्रकारका संकल्प चिन्ता प्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्त्त ध्यान कहलाता है। (रा.वा./९/३०/१-२/६२८), (म.पु./२१/३२,३५)।

नि.सा./ता.वृ./८९ अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्त्तध्यानम्। —अनिष्टके संयोगसे उत्पन्न होने वाला जो आर्त्त ध्यान...।

चा.सा./१६८/५ एतद्दुःखसाधनसद्भावे तस्य विनाशकाङ्क्षोत्पन्नविनाशसंकल्पाध्यवसानं द्वितीयार्त्तं। —(शारीरिक, व मानसिक) दुःखोंके

कारण उत्पन्न होनेपर उनके विनाशकी इच्छा उत्पन्न होनेसे उनके विनाशके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना दूसरा आर्तध्यान है।

का.अ./मू./४७३ दुक्खयर-विसय-जोए-केम इमं चयदि इदि विचिंतंतो। चेट्ठदि जो विक्खित्तो अट्ट-ज्झाणं हवे तस्स ॥४७३॥ =दुखकारी विषयोंका संयोग होने पर 'यह कैसे दूर हो' इस प्रकार विचारता हुआ जो विक्षिप्त चित्त हो चेष्टा करता है उसके आर्त्त ध्यान होता है।

ज्ञा./२५/२५-२८ ज्वलनजलविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः। स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टैर्भवति यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत् ॥२५॥ तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः। अनिष्टैर्यन्मनःक्लिष्टं स्यादार्त्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥२६॥ श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संसृतैः। योऽनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमार्त्तं तदिष्यते ॥२७॥ अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम्। यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्तितम् ॥२८॥ =इस जगत्में अपना स्वजन धन शरीर इनके नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, सर्प, शस्त्र, सिंह, दैत्य तथा स्थलके जीव, जलके जीव, बिलके जीव तथा दुष्ट जन, वैरी राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे जो हो सो पहिला आर्त्तध्यान है ॥२५॥ तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके संयोग होने पर जो मन क्लेश रूप हो उसको भी आर्त्त ध्यान कहा है ॥२६॥ जो सुने, देखे, स्मरणमें आये, जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंसे मनको क्लेश होता है उसे पहिला आर्तध्यान कहते हैं ॥२७॥ जो समस्त प्रकारके पदार्थोंके संयोग होने पर उनके वियोग होनेका बार-बार चिन्तन हो सो उसे भी तत्त्वके जानने वालोंने पहिला अनिष्ट संयोगज नामा आर्त्त ध्यान कहा है ॥२८॥

५. इष्ट वियोगज आर्तध्यानका लक्षण

त.सू./९/३१ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥ =मनोज्ञ वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिकी सतत चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान है। (भ.आ./मू./१७०२)

स.सि./९/३१/४४७/१ मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदारधनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्त्तमवगन्तव्यम्। =मनोज्ञ अर्थात् अपने इष्ट पुत्र, स्त्री और धनादिकके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान जानना चाहिए। (रा.वा./९/३१/१/६२८) (म.पु./२१/३२,३४)

चा. सा./१६६/१ मनोज्ञं नाम धनधान्यहिरण्यसुवर्णवस्तुवाहनशयनासनस्रक्चन्दनवनितादिसुखसाधनं मे स्यादिति गर्द्धनं। मनोज्ञस्य विप्रयोगस्य उत्पत्तिसंकल्पाध्यवसानं तृतीयार्त्तं। =धन, धान्य, चाँदी, सुवर्ण, सवारी, शय्या, आसन, माला, चन्दन और स्त्री आदि सुखोंके साधनको मनोज्ञ कहते हैं। ये मनोज्ञ पदार्थ मेरे हों इस प्रकार चिंतवन करना, मनोज्ञ पदार्थके वियोग होनेपर उनके उत्पन्न होनेका बार-बार चिन्तन करना आर्त्तध्यान है।

का.अ./मू./४७४ मणहर-विसय-विओगे-कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो। संतावेण पयट्टो सोच्चिय अट्टं हवे झाणं ॥४७४॥ =मनोहर विषयका वियोग होनेपर 'कैसे इसे प्राप्त करूँ' इस प्रकार विचारता हुआ जो दुःखसे प्रवृत्ति करता है यह भी आर्त्तध्यान है।

ज्ञा./२५/२९-३१ राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये - चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा। संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशं तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥२९॥ दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः। वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्त्तं तद्द्वितीयकम् ॥३०॥ मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्संगमार्थिभिः। क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम् ॥३१॥ =जो राज्य ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य भोगादिके नाश होनेपर, तथा चित्तको प्रीति उत्पन्न करनेवाले सुन्दर स्त्रियोंके विषयोंका प्रध्वंस होते हुए, सन्त्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक, मोहके कारण निरन्तर खेद रूप होना सो जीवोंके इष्ट वियोग जनित आर्त्तध्यान है, और यह ध्यान पापका स्थान है ॥२९॥ देखे, सुने, अनुभव किये, मनको रंजायमान करनेवाले पूर्वोक्त पदार्थोंका वियोग होनेसे जो मनको खेद हो वह भी दूसरा आर्तध्यान है ॥३०॥ अपने मनकी प्यारी वस्तुके विध्वंस होनेपर पुनः उसकी प्राप्तिके लिए जो क्लेश रूप होना सो दूसरे आर्तध्यानका लक्षण है।

नि.सा./ता.वृ./८९ स्वदेशत्यागाद् द्रव्यनाशाद् मित्रजनविदेशगमनाद् कमनीयकामिनीवियोगात्—समुपजातमार्तध्यानम्। =स्वदेशके त्यागसे, द्रव्यके नाशसे, मित्रजनके विदेश गमनसे, कमनीय कामिनीके वियोगसे उत्पन्न होनेवाला आर्त्तध्यान है।

६. वेदना सम्बन्धी आर्तध्यानका लक्षण

त./सू./९/३२ वेदनायाश्च ॥३२॥ वेदनाके होनेपर (अर्थात् वातादि विकार जनित शारीरिक वेदनाके होनेपर) उसे दूर करनेको सतत चिन्ता करना तीसरा आर्त्तध्यान है।

ज्ञा./२५/३२-३३ कासश्वासभगन्दरजलोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः, पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः। स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्याकुलत्वं नृणाम्, तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥३२॥ स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः। ममेति या नृणां चिन्ता स्यादार्त्तं तत्तृतीयकम् ॥३३॥ =वात पित्त कफके प्रकोपसे उत्पन्न हुए शरीरको नाश करनेवाले वीर्यसे प्रबल और क्षण-क्षणमें उत्पन्न होनेवाले कास, श्वास, भगन्दर, जलोदर, जरा, कोढ़, अतिसार, ज्वरादिक रोगोंसे मनुष्योंके जो व्याकुलता होती है, उसे अनिन्दित पुरुषोंने रोग पीड़ाचिन्तवन नामा आर्तध्यान कहा है, यह ध्यान दुर्निवार और दुखोंका आकार है जो कि आगामी कालमें पाप बन्धका कारण है ॥३२॥ जीवोंके ऐसी चिन्ता हो कि मेरे किंचित् रोगकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी न हो सो ऐसा चिन्तवन तीसरा आर्तध्यान है ॥३३॥

★ **निदान व अपध्यानके लक्षण**—दे० वह वह नाम।

२. आर्त्तध्यान निर्देश

१. आर्तध्यानमें सम्भव भाव व लेश्या

म. पु./२१/३८ अप्रशस्ततमं लेश्या त्रयमाश्रित्य जृम्भितम्। अन्तर्मुहूर्तकालं तद् अप्रशस्तावलम्बनम् ॥३८॥ =यह चारों प्रकारका आर्त्तध्यान अत्यन्त अशुभ कृष्ण नील और कापोत लेश्याका आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है और आलम्बन अशुभ है। (ज्ञा./२५/४०) (चा. सा./१६६/३)

२. आर्तध्यानका फल

स. सि./९/२९ यह संसारका कारण है।

रा. वा./९/३३/१/६२९ तिर्यग्भवगमनपर्यवसानम्। =इस आर्त ध्यानका फल तिर्यंच गति है। (ह. पु./५६/१८), (चा. सा./१६६/४)

ज्ञा./२५/४२ अनन्तदुःखसंकीर्णस्य तिर्यग्गतेः, फलं…॥४२॥ =आर्तध्यानका फल अनन्त दुखोंसे व्याप्त तिर्यंच गति है।

३. मनोज्ञ व निदान आर्त्तध्यानमें अन्तर

रा. वा./९/३३/१/३३ विपरीतं मनोज्ञस्येत्यनेनैव निदानं संगृहीतमिति; तन्न; किं कारणम्। अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य। सुखमात्रया प्रलम्भितस्याप्राप्तपूर्वप्रार्थनाभिमुख्यादनागतार्थप्राप्तिनिबन्धनं निदानमित्यस्ति विशेषः। =प्रश्न—'विपरीतं मनोज्ञस्य' इस सूत्रसे निदानका संग्रह हो जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि निदान अप्राप्त-

की प्राप्तिके लिए होता है, इसमें पारलौकिक विषय-सुखकी गृद्धिसे अनागत अर्थको प्राप्तिके लिए सतत चिन्ता रहती है। इस प्रकार इन दोनोंमें अन्तर है।

३. आर्त्तध्यानका स्वामित्व

१. १–६ गुणस्थान तक होता है

त. सू./६/३४ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥ =यह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत, और प्रमत्त संयत जीवोंके होता है।

स. सि./६/३४/४४७/१४ अविरताः सम्यग्दृष्ट्यन्ताः देशविरताः संयतासंयताः प्रमत्तसंयताः…तत्र विरतदेशविरतानां चतुर्विधमप्यार्त्तं भवति, …प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्स्यात्। =असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव देशविरत कहलाते हैं, प्रमाद से युक्त क्रिया करनेवाले जीव प्रमत्त संयत कहलाते हैं। इनमें-से अविरत और देशविरत जीवोंके चारों ही प्रकारका आर्त्तध्यान होता है। प्रमत्त संयतोंके तो निदानके सिवा बाकीके तीन प्रमादकी तीव्रता वश कदाचित् होते हैं। (रा. वा./६/३४/१/६२६) (ह. पु./५६/१८) (म. पु./२१/३७) (चा. सा./१६६/३) (ज्ञा./२५/३८–३६) (द्र. सं./टी./४८/४८/२०१)

★ **साधु योग्य आर्तध्यानकी सीमा**—दे० संयम/३।

२. आर्त्तध्यानके बाह्य चिह्न

ज्ञा./२५/४३ शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः। उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः। मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यलमार्त्ता–धिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥४३॥ =इस आर्तध्यानके आश्रितचित्तवाले पुरुषोंके बाह्य चिह्न शास्त्रोंके पारगामी विद्वानोंने इस प्रकार कहे हैं कि–प्रथम तो शंका होती है अर्थात् हर बातमें सन्देह होता है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है,–सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति होती है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता, विषय सेवनमें उत्कण्ठा होती है, निरन्तर निद्रा गमन होता है, अंगमें जड़ता होती है, खेद होता है, मूर्च्छा होती है, इत्यादि चिह्न आर्त्तध्यानीके प्रगट होते हैं।

आर्त्त परिणाम—दे० आर्त्तध्यान।

आर्द्रा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

आर्य—ह. पु./१५/श्लोक "विजयार्धपर हरिपुर निवासी पवनवेग विद्याधर का पुत्र था (२३-२४) पूर्व जन्म के वैरी ने इसकी समस्त विद्याएँ हर लीं। परन्तु दया से चम्पापुर का राजा बना दिया (४६-५३) इसी के हरि नामक पुत्र से हरिवंश की उत्पत्ति हुई (५७-५८)

आर्य—१. आर्य सामान्यका लक्षण

स. सि./३/३५/२२६/६ गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः। =जो गुणों या गुणवालोंके द्वारा माने जाते हों—वे आर्य कहलाते हैं। (रा. वा./३/३६/१/२००)

२. आर्यके भेद-प्रभेद

स.सि./३/३६/२२६/६ ते द्विविधा—ऋद्धिप्राप्तार्या अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति। =उसके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य। (रा. वा./३/३६/१/२००)

३. ऋद्धिप्राप्त आर्य—दे० ऋद्धि।

४. अनृद्धि प्राप्तार्यके भेद

स. सि./३/३६/२३०/१ अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः—क्षेत्रार्याः जात्यार्याः कर्मार्याश्चारित्रार्या दर्शनार्याश्चेति। =ऋद्धि रहित आर्य पाँच प्रकारके हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। (रा. वा./३/३६/२/२००)

रा. वा./३/३६/२/२०० तत्र…कर्मार्यास्त्रेधा-सावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्याश्चेति। सावद्यकर्मार्याः षोढा–असि-मषी–कृषि–विद्या–शिल्प–वणिक्कर्म–भेदात्।…चारित्रार्या द्वेधा–अधिगत चारित्रार्याः अनधिगमचारित्रार्याश्चेति।…दर्शनार्या दशधा–आज्ञा-मार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचिभेदात्। =*उपरोक्त अनृद्धि प्राप्त आर्योंमें भी कर्मार्य तीन प्रकारके हैं*—सावद्य कर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य, असावद्य कर्मार्य। अल्प सावद्य कर्मार्य छः प्रकारके होते हैं—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या व शिल्पके भेदसे। (इन सबके लक्षणोंके लिए—दे० सावद्य) चारित्रार्य दो प्रकारके हैं—अधिगत चारित्रार्य और अनधिगम चारित्रार्य। दर्शनार्य दश प्रकारके हैं—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ, परमावगाढ रुचिके भेदसे। (लक्षणोंके लिए—दे० सम्यग्दर्शन I/१। दस प्रकारके सम्यग्दर्शनके भेद)

५. क्षेत्रार्यका लक्षण

रा. वा./३/३६/२/२००/३० तत्र क्षेत्रार्याः काशीकौशलादिषु जाताः। =काशी, कौशल आदि उत्तम देशोंमें उत्पन्न हुओंको क्षेत्रार्य कहते हैं।

६. जात्यार्यका लक्षण

रा.वा./३/३६/२/२००/३१ इक्ष्वाकुज्ञातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्याः। =इक्ष्वाकु, ज्ञाति, भोज आदिक उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुओंको जात्यार्य कहते हैं।

७. चारित्रार्यका लक्षण

रा. वा./३/३६/२/२०१/६ तद्भेदः अनुपदेशोपदेशापेक्षभेदकृतः। चारित्र-मोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिनः उपशान्तकषायाःक्षीणकषायाश्चाधिगतचारित्रार्याः। अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरति-परिणामा अनधिगमचारित्रार्याः। =उपरोक्त चारित्रार्यके दो भेद—उपदेश व अनुपदेशकी अपेक्षा किये गये हैं। जो बाह्योपदेशके बिना आत्म प्रसाद मात्रसे चारित्र मोहके उपशम अथवा क्षय होनेसे चारित्र परिणामको प्राप्त होते हैं, ऐसे उपशान्त कषाय व क्षीण कषाय जीव अधिगत चारित्रार्य हैं। और अन्तरंग चारित्र मोहके क्षयोपशमका सद्भाव होनेपर बाह्योपदेशके निमित्तसे विरति परिणामको प्राप्त अनधिगम चारित्रार्य हैं।

आर्य कूष्मांड देवी—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

आर्यखण्ड—१. आर्यखण्ड निर्देश

ति. प./४/२६६–२६७ गंगासिंधुणईहिं वेयड्ढणगेण भरहखेत्तम्मि। छक्खंडं संजादं…॥२६६॥ उत्तरदक्खिणभरहे खंडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्कं। दक्खिण तियखंडेसु मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे। =गंगा व सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वतसे भरत क्षेत्रके छः खण्ड हो गये हैं ॥२६६॥ उत्तर और दक्षिण भरत क्षेत्रमें-से प्रत्येकके तीन तीन खण्ड हैं। इनमें-से दक्षिण भरतके तीन खण्डोंमें मध्यका आर्य खण्ड है।

२. आर्य खण्डमें काल परिवर्तन तथा जीवों व गुणस्थानों सम्बन्धी विशेषताएँ

ति.प./४/३१३-३१४,३१६ भरहक्खेत्तम्मि इमे अज्जखंडम्मि कालपरिभागा। अवसप्पिणि उस्सप्पिणिपज्जाया दोण्णि होंति पुढ॥ ३१३॥ णरतिरियाणं आऊ उच्छेह विभूदिपहुदियं सव्वं। अवसप्पिणिए हायदि उस्सप्पिणियासु वड्ढेदि॥ ३१४॥ दोण्णि वि मिलिदे कप्पं छब्भेदा होंति तत्थ एक्केक्कं। सुसमसुसमं च सुसमं तइज्जयं सुसमदुस्समयं॥ ३१६॥ दुस्समसुसमं दुस्सममदिदुस्समयं च तेसु पढमम्मि। = भरत क्षेत्रके आर्य खण्डमें ये कालके विभाग हैं। यहाँ पृथक् पृथक् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप दोनों ही कालोंकी पर्यायें होती हैं॥३१३॥ अवसर्पिणी कालमें मनुष्य एवं तिर्यंचोंकी आयु, शरीरकी ऊँचाई और विभूति इत्यादिक सब ही घटते तथा उत्सर्पिणी कालमें बढ़ते रहते हैं।३१४॥ दोनोंको मिलाने पर एक कल्प काल होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीमें-से प्रत्येकके छह भेद हैं—सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा-दुष्षमा, दुष्षमसुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा।

ति.प./४/२९३४-२९३६,२९३८ पज्जत्ता णिव्वत्तिअपज्जत्ता लद्धियायपज्जत्ता। सत्तरिजुत्तसदज्जाखंडे पुणिदरलद्धि णरा ॥२९३४॥ पणपण अज्जाखंडे भरहेरावदम्मि मिच्छगुणट्ठाणं। अवरे वरम्मि चोद्दसपेरंत कआइ दीसंति ॥२९३५॥ पंच विदेहे सट्ठिसमण्णिदसद अज्जखंडए अवरे। छग्गुणट्ठाणे तत्तो चोद्दसपेरंत दीसंति।२९३६। विज्जाहरसेढीए तिगुणट्ठाणाणि सव्वकालम्मि। पणगुणठाणा दीसइ छंडिदविज्जाण चोद्दसट्ठाणं।२९३८।

ति. प./५/३००-३०२ पणपणअज्जखंडे भरहेरावदखिदिम्मि मिच्छत्तं। अवरे वरम्मि पण गुणठाणाणि कयाइ दीसंति॥ ३००॥ पंचविदेहेसट्ठिण्णिदसदअज्जवखंडए तत्तो। विज्जाहरसेढीए बाहिरभागे सयंपहगिरीदो॥ ३०१॥ सासणमिस्सविहीणा तिगुणट्ठाणाणि थोवकालम्मि। अवरेवरम्मि पण गुणठाणाइ कयाइ दीसंति॥ ३०२॥ = १. मनुष्यकी अपेक्षा—पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्तके भेदसे मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं। एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंमें पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त तीनों प्रकारके ही मनुष्य होते हैं॥२९३४॥ भरत व ऐरावत क्षेत्रके भीतर पाँच-पाँच आर्य खण्डोंमें जघन्य रूपसे मिथ्यात्व गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे कदाचित् चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं॥२९३५॥ पाँच विदेह क्षेत्रोंके भीतर एकसौ साठ आर्य खण्डोंमें जघन्य रूपसे छः गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे चौदह गुणस्थान तक पाये जाते हैं॥ २९३६॥ विद्याधर श्रेणियोंमें सदा तीन गुणस्थान (मिथ्यात्व, असंयत और देशसंयत) और उत्कृष्ट रूपसे पाँच गुणस्थान होते हैं। विद्याओंको छोड़ देनेपर वहाँ चौदह भी गुणस्थान होते हैं॥ २९३८॥ २. तिर्यंचों को अपेक्षा—भरत और ऐरावत क्षेत्रके भीतर पाँच पाँच आर्य खण्डोंमें जघन्य रूपसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे कदाचित् पाँच गुणस्थान भी देखे जाते हैं॥ ३००॥ पाँच विदेहोंके भीतर एक सौ साठ आर्य खण्डोंमें, विद्याधर श्रेणियोंमें और स्वयंप्रभ पर्वतके बाह्य भागमें सासादन एवं मिश्र गुणस्थानको छोड़कर तीन गुणस्थान जघन्य रूपसे स्तोक कालके लिए होते हैं। उत्कृष्ट रूपसे पाँच गुणस्थान भी कदाचित् देखे जाते हैं॥ ३०१-३०२॥

★ **आर्यखण्डमें सुषमा दुषमा आदि काल**—दे०—काल/४।

★ **आर्यखण्डमें नगर पर्वत व नगरियाँ**—दे०—मनुष्य/४।

आर्यनन्दि—पञ्चस्तूप संघकी पट्टावलीके अनुसार (दे०—इतिहास/५/१७) चन्द्रसेनके शिष्य तथा वीरसेन (धवलाकार) के गुरु थे। तदनुसार इनका समय—ई० ७६७-७९८ आता है। (आ. अनु./प्र ८/ A. N. Up; H. L. Jain); (ह. पु./पं. पन्नालाल)।

आर्यमंक्षु—दिगम्बर आम्नायमें इनका स्थान पुष्पदन्त व भूतबली जैसा ही है। क्योंकि इनको भी भगवान्‌की मूल [illegible] आगम ज्ञानकी आचार्य गुणधरसे प्राप्ति हुई थी, जो पीछे इन्होंने आचार्य यतिवृषभको दिया था। समय—ई० ४५५-५४५; वि. ५१२-६०२। विशेष—दे० इतिहास/४/४/२)।

आर्यवती—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

आर्यिका—१. आर्यिका योग्य लिंग—दे० लिंग/१।

२. आर्यिकाको महाव्रत कहना उपचार है—दे० वेद/७।

३. आर्यिकाको करने योग्य कार्य सामान्य

मू.आ./१८८-१८९—अण्णोण्णाणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ। गयरोसवेरमाया सलज्जमज्जादकिरियाओ॥ १८८॥ अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणेतहाणुपेहाए। तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजुत्ताओ॥ १८९॥ अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ। धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ॥ १९०॥ = आर्यिका परस्परमें अनुकूल रहती हैं, ईर्ष्या भाव नहीं करतीं, आपसमें प्रतिपालनमें तत्पर रहती हैं, क्रोध, वैर, मायाचारी इन तीनोंसे रहित होती हैं। लोकापवादसे भय रूप लज्जा, परिणाम, न्याय मार्गमें प्रवर्तने रूप मर्यादा दोनों कुलके योग्य आचरण-इन गुणोंकर सहित होती हैं॥ १८८॥ शास्त्र पढ़नेमें, पढ़े शास्त्रके पाठ करनेमें, शास्त्र सुननेमें, श्रुतके चिंतवनमें अथवा अनित्यादि भावनाओंमें और तप, विनय और संयम इन सबमें तत्पर रहती हैं तथा ज्ञानाभ्यास शुभ योगमें युक्त रहती हैं॥ १८९॥ जिनके वस्त्र विकार रहित होते हैं, शरीरका आकार भी विकार रहित होता है, शरीर पसेव व मलकर लिप्त है तथा संस्कार (सजावट) रहित है। क्षमादि धर्म, गुरु आदिकी सन्तान रूप कुल, यश, व्रत इनके समान जिसका शुद्ध आचरण है ऐसी आर्यिकाएँ होती हैं।

४. आर्यिका को न करने योग्य कार्य

मू. आ./१९३ रोदणण्हाण भोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे। विरदाण पादमक्खण धोवण गेयं च ण य कुज्जा॥१९३॥ = आर्यिकाओंको अपनी वसतिकामें तथा अन्यके घरमें रोना नहीं चाहिए, बालकादिकोंको स्नान नहीं कराना। बालकादिकोंको जिमाना, रसोई करना, सूत कातना, सीना, असि, मसि आदि छः कर्म करना, संयमी जनोंके पैर धोना, साफ करना, राग पूर्वक गीत, इत्यादि क्रियाएँ नहीं करना चाहिए॥ १९३॥

५. आर्यिकाके विहार सम्बन्धी

मू.आ./१९२ ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे। गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज।१९२। = आर्यिकाओंको बिना प्रयोजन पराये स्थान पर नहीं जाना चाहिए। यदि अवश्य जाना हो तो भिक्षा आदि कालमें बड़ी आर्यिकाओंको पूछ कर अन्य आर्यिकाओंको साथ लेकर जाना चाहिए।

६. आर्यिकाके अन्य पुरुष व साधुके संग रहने सम्बन्धी—दे० संगति।

★ **आर्यिकाको नमस्कार करने सम्बन्धी**—दे० विनय/३।

आलक्ष्य—कायोत्सर्ग का अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

आलय—स. सि./४/२४/२५५/२ एत्य तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवासः। = आकर जिसमें लयको प्राप्त होते हैं वह आलय या आवास कहलाता है। (रा. वा. ४/२४/१/२४२)

आम्रमांस—कल्प वृक्षोंका एक भेद—दे० वृक्ष/१।

आलाप—गो. जी./जी. प्र./७०७/११४६/१४ गुणस्थाने चतुर्दशमार्गणास्थाने च प्रसिद्धे विंशतिविधानां गुणजीवेत्यादीनां सामान्यपर्याप्तापर्याप्तास्त्रयः आलापा भवन्ति। तथा वेदकषायविभिन्नेषु अनिवृत्तिकरणपञ्चभागेषु अपि पृथक् पृथक् भवन्ति।

गो. जी./जी. प्र. ७०६/११...अत्रापर्याप्तालापः लब्ध्यपर्याप्तः निर्वृत्त्यपर्याप्तश्चेति द्विविधो भवति। —ओघ जो गुणस्थान और चौदह मार्गणा स्थान ये परमागम विषैं प्रसिद्ध हैं। सो इनिविषैं 'गुण जीवा पज्जत्ती' (पं. सं./प्रा/१/२) इत्यादिक बीस प्ररूपणानिका सामान्य पर्याप्त, अपर्याप्त ए तीन आलाप हो हैं। बहुरि वेद अर कषाय करि भेद हैं जिन विषैं ऐसे अनिवृत्तिकरणके पाँच भाग तिनि विषैं पाँच आलाप जुदे जुदे जानना। (वे पाँच इस प्रकार हैं—सवेद भाग, सक्रोध भाग, समान भाग, समाया भाग बादर कृष्टि लोभ भाग।) तहाँ पर्याप्त आलाप दो प्रकारका है—लब्ध्यपर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त।

आलाप पद्धति—आचार्य देवसेन (ई० ८९३-९४३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित प्रमाण व नयोंके भेद प्रभेदोंका प्ररूपक ग्रन्थ।

आलापन बन्ध—दे० बन्ध/१।

आलुंछन—दे० आलोचना/१।

आलेपन—दे० बन्ध/१।

आलोक—न्या. वि/वृ/१/१२/२००/१५ आलोको दर्शनम्=आलोकका नाम दर्शन है।

आलोचना—प्रतिक्षण उदित होनेवाली कषायों जनित जो अन्तरंग व बाह्य दोष साधककी प्रतीतिमें आते हैं, जीवन शोधनके लिए उनका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए आलोचना सबसे उत्तम मार्ग है। गुरुके समक्ष निष्कपट भावसे अपने सर्व छोटे या बड़े दोषोंको कह देना आलोचना कहलाता है। यह वीतरागी गुरुके समक्ष ही की जाती है, रागी व्यक्तिके समक्ष नहीं।

१. भेद व लक्षण

१. आलोचना सामान्यके लक्षण

स.सा./मू. व आ./३८५ जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं। तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया॥३८५॥ —जो वर्तमान कालमें शुभ अशुभ कर्म रूप अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि विस्तार रूप विशेषोंको लिये हुए उदय आया है उस दोषको जो ज्ञानी अनुभव करता है, वह आत्मा निश्चयसे आलोचन स्वरूप है। (स. सा./-आ./३८५)

नि.सा./मू./१०९ जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं। आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं॥१०९॥ —जो (जीव) परिणामको समभावमें स्थाप कर (निज) आत्माको देखता है, वह आलोचन है ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश जानना।

स.सि./९/२२/४४०/६ तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम्। —गुरुके समक्ष दश दोषोंको टाल कर अपने प्रमादका निवेदन करना (व्यवहार) आलोचना है। (रा.वा./९/२२/२/६२०), (त.सा./-७/२२), (अन.ध./७/३८)

ध./१३/५,४,२६/६०/७ गुरूणमपरिस्सवाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरु व्व थिराणं सगदोसणिवेयणमालोयणा णाम पायच्छित्तं। —अपरिस्रव अर्थात् आस्रवसे रहित, श्रुतके रहस्यको जानने वाले, वीतराग और रत्नत्रयमें मेरुके समान स्थिर ऐसे गुरुओंके सामने अपने दोषोंका निवेदन करना (व्यवहार) आलोचना नामका प्रायश्चित्त है।

भ.आ./वि./६/३२/२ स्वकृतापराधगूहनत्यजनम् आलोचना।

भ. आ/वि./१०/४९/९ कृतातिचारजुगुप्सापुरःसरं वचनमालोचनेति। —अपने द्वारा किये गये अपराधों या दोषोंको छिपानेका प्रयत्न न करके अर्थात् छिपानेका प्रयत्न न करके उसका त्याग करना निश्चय आलोचना है। तथा चारित्राचरण करते समय जो अतिचार होते हैं। उसकी पश्चात्ताप पूर्वक निन्दा करना व्यवहार आलोचना है।

२. आलोचनाके भेद

भ.आ./मू./५३३ आलोयणा हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागीय। ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स॥५३३॥ —आलोचनाके दो ही प्रकार हैं—एक ओघालोचना दूसरी पदविभागी आलोचना अर्थात् सामान्य आलोचना और विशेष आलोचना ऐसे इनके और भी दो नाम हैं। वचन सामान्य और विशेष, इन धर्मोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, अतः आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं।

मू.आ./६१९ आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियावधं च बोधव्वं। पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च॥६१९॥ =गुरुके समीप अपराधका कहना आलोचना है। वह दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, उत्तमार्थ—इस तरह सात प्रकारकी है।

नि.सा./मू./२०८ आलोयणमालुंछणवियडीकरणं च भावसुद्धी य। चउविहमिह परिकहियं आलोयण लक्खणं समए॥१०८॥ —आलोचनाका स्वरूप आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि ऐसे चार प्रकार शास्त्रमें कहा है।

३. आलोचनाके भेदोंके लक्षण

भ.आ./मू./५३४-५३५ ओघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधसव्वघादी वा। अज्जोपाए इत्थं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति॥५३४॥ पव्वजादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण। पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी॥५३५॥ —जिसने अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रयका—सर्व व्रतोंका नाश हुआ है, वह मुनि सामान्य रीतिसे अपराधका निवेदन करता है। आजसे मैं पुनः मुनि होनेकी इच्छा करता हूँ, मैं तुच्छ हूँ अर्थात् मैं रत्नत्रयसे आप लोगोंसे छोटा हूँ ऐसा कहना सामान्य आलोचना है॥५३५॥ तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूँ। ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे क्षपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है॥५३६॥

नि.सा./मू./११०-११२ कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो। साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं॥११०॥ कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं। मज्झत्थ भावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं॥१११॥ मदमाणमायालोहविवज्जिय भावो दु भावसुद्धि त्ति। परिकहिदं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं॥११२॥ =कर्म रूपी वृक्षका मूल छेदनेमें समर्थ ऐसा जो समभाव रूप स्वाधीन निज परिणाम उसे आलुंच्छन कहा है॥११०॥ जो मध्यस्थ भावनामें कर्मसे भिन्न आत्माको—कि जो विमल गुणोंका निवास है उसे भाता है उस जीवको अविकृति करण जानना॥१११॥ मद, मान, माया और लोभरहित भाव वह भावशुद्धि है। ऐसा भव्योंको लोकके द्रष्टाओंने कहा है॥११२॥

२. आलोचनाके अतिचार व लक्षण

१. आलोचनाके १० अतिचार

भ.आ/मू./५६२ आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी। —आलोचनाके दश दोष हैं—आकंपित, अनुमानित, यद्दृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी। (मू.आ./१०३०), (स.सि./९/२२/४४०/४), (चा.सा./१३८/२)

२. आलोचनाके अतिचारोंके लक्षण

भ.आ./मू./५६३–६०३ भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण। अणकंपेऊण गणिं करेइ आलोयणं कोई ॥५६३॥ जाणइ य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं। णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्ठं पि कादुंजे ॥५७०॥ आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणइ। तुज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥५७१॥ अणुमाणेदूण गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा। कुणइ ससल्लो सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७२॥ जो होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि। अदिट्ठं गूहंतो मायिल्लो होदि णायव्वो ॥५७४॥ दिट्ठं वा अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण। आयरियपायमूले तदिओ आलोयणा दोसो ॥५७५॥ बादरमालोचंतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो। सुहुमं पच्छादेंतो जिणवयणपरंमुहो होइ ॥५७७॥ इह जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं। भयमयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८१॥ जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८४॥ को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो। इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सदि ॥५८५॥ इय पच्छण्णं पुच्छिय साधु जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं। तो सो जणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८६॥ पक्खियचउमासिय संवच्छरिएसु सोधिकालेसु। बहु जण सद्दाउलए कहेदि दोसो जहिच्छाए ॥५९०॥ इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसो कहेइ सगुरुणं। आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥५९१॥ तेसिं असद्दहंतो आइरियाणं पुणोवि अण्णाणं। जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो दु अट्ठमओ ॥५९६॥ आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि। बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचणाए दोसो ॥५९९॥ पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कडं परिकहेइ। एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्थवि दोस संचइओ ॥६०१॥ जाणादि मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य। तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लित्ति ॥६०२॥ आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि। सोपवयणपडिकुट्ठो दसमो आलोचणा दोसो ॥६०३॥— १. आकंपित—स्वतः भिक्षालब्धिसे युक्त होनेसे आचार्यकी प्रासुक और उद्गमादि दोषोंसे रहित आहार-पानीके द्वारा वैयावृत्य करना, पिछी, कमण्डलु वगैरह उपकरण देना, कृतिकर्म वन्दना करना इत्यादि प्रकारसे गुरुके मनमें दया उत्पन्न करके दोष कहता है सो आकंपित दोषसे दूषित है ॥५६३॥ २. अनुमानित—हे प्रभो! आप मेरा सामर्थ्य कितना है यह तो जानते ही हैं, मेरी उदराग्नि अतिशय दुर्बल है, मेरे अंगके अवयव कृश हैं, इसलिए मैं उत्कृष्ट तप करनेमें असमर्थ हूँ, मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है। यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे, अर्थात् मेरेको आप यदि थोड़ा-सा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने सम्पूर्ण अतिचारोंका कथन करूँगा और आपकी कृपासे शुद्धि युक्त होकर मैं अपराधोंसे मुक्त होऊँगा ॥५७०–५७१॥ इस प्रकार गुरु मेरेको थोड़ा-सा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमान करके माया भावसे जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है, वह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है। ३. यद्दृष्ट—जो अपराध अन्य जनोंने देखे हैं, उतने ही गुरुके पास जाकर कोई मुनि कहता है और अन्यसे न देखे गये अपराधोंको छिपाता है, वह मायावी है ऐसा समझना चाहिए। दूसरोंके द्वारा देखे गये हों अथवा न देखे गये हों सम्पूर्ण अपराधोंका कथन गुरुके पास जाकर अतिशय विनयसे कहना चाहिए, परन्तु जो मुनि ऐसा नहीं करता है वह आलोचनाके तीसरे दोषसे लिप्त होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥५७४–५७५॥ ४. बादर—जिन-जिन व्रतोंमें अतिचार लगे होंगे उन-उन व्रतोंमें स्थूल अतिचारोंकी तो आलोचना करके सूक्ष्म अतिचारोंको छिपाने वाला मुनि जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंसे पराङ्मुख हुआ है ऐसा समझना चाहिए ॥५७७॥ ५. सूक्ष्म—जो छोटे-छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है, वह मुनि भय, मद और कपट इन दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे पराङ्मुख होता है। बड़े दोष यदि मैं कहूँगा तो आचार्य मुझे महा प्रायश्चित्त देंगे, अथवा मेरा त्याग कर देंगे, ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है। मैं निरतिचार चारित्र हूँ ऐसा समझ कर स्थूल दोषोंको कोई मुनि कहता नहीं, कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता नहीं, वास्तवमें ये मुनि जिनवचनसे पराङ्मुख हैं ॥५८१॥ ६. प्रच्छन्न—यदि किसी मुनिको मूलगुणोंमें अर्थात् पाँच महाव्रतोंमें और उत्तर गुणोंमें तपश्चरणमें अनशनादि बारह तपोंमें अतिचार लगेगा तो उसको कौन-सा तप दिया जाता है, अथवा किस उपायसे उसकी शुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है, अर्थात् मैंने ऐसा-ऐसा अपराध किया है उसका क्या प्रायश्चित्त है? ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है, प्रच्छन्न पूछकर तदनन्तर मैं उस प्रायश्चित्तका आचरण करूँगा, ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है। ऐसा गुप्त रीतिसे पूछ कर जो साधु अपनी शुद्धि कर लेता है वह आलोचनाका छठा दोष है ॥५८४–५८६॥ ७. शब्दाकुलित अथवा बहुजन—पाक्षिक दोषोंकी आलोचना, चातुर्मासिक दोषोंकी आलोचना, और वार्षिक दोषोंकी आलोचना, सब यति समुदाय मिलकर जब करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे कहना यह बहुजन नामका दोष है। यदि अस्पष्ट रीतिसे गुरुको सुनाता हुआ अपने दोष मुनि कहेगा तो गुरुके चरण सान्निध्यमें उसने सातवाँ शब्दाकुलित दोष किया है। ऐसा समझना ॥५९०–५९१॥ ८. बहुजन पृच्छा—परन्तु उनके द्वारा (आचार्यके द्वारा) दिये हुए प्रायश्चित्तमें अश्रद्धान करके यह आलोचक मुनि यदि अन्यको पूछेगा अर्थात् आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य है ऐसा पूछेगा तो यह आलोचनाका बहुजन पृच्छा नामक आठवाँ दोष होगा ॥५९६॥ ९. अव्यक्त—और मैंने इसके (आगम बाल वा चारित्र बाल मुनिके) पास सम्पूर्ण अपराधोंकी आलोचना की है मन, वचन, कायसे और कृत, कारित, अनुमोदनासे किये हुए अपराधोंकी मैंने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसकी यह आलोचना करना नौवें दोषसे दुष्ट है ॥५९९॥ १०. तत्सेवी—पार्श्वस्थ मुनि, पार्श्वस्थ मुनिके पास जाकर उसको अपने दोष कहता है, क्योंकि यह मुनि भी सर्व व्रतोंमें मेरे समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है। यह मेरे सुखिया स्वभावको और व्रतोंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिए यह मेरेको बड़ा प्रायश्चित्त न देगा ऐसा विचार कर वह पार्श्वस्थ मुनि गुरुको अपने अतिचार कहता नहीं और समान शीलको अपने दोष बताता है। यह पार्श्वस्थ मुनि कहे हुए सम्पूर्ण अतिचारोंके स्वरूपको जानता है, ऐसा समझ कर व्रत भ्रष्टोंसे प्रायश्चित्त लेना यह आगम निषिद्ध तत्सेवी नामका दसवाँ दोष है ॥६०१–६०३॥ (रा.वा./९/२२/२/६२१/१), (चा.सा./१३८/३), (द.पा./टी./९/में उद्धृत), अन.ध./७/४०–४४)

३. आलोचना निर्देश

१. आलोचना वीतरागी गुरुके ही समक्ष की जानी चाहिए

भ.आ./मू.व.वि./५८६···। आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥५८६॥···आलोचनागोचाराद्यतिचारविषया। तथा क्षपकसमीपे। पसत्थमेव कादव्वा यथासौ न शृणोति तथा कार्या। बहुसु सुत्तधारेसु सूरिसु सत्सु।—योग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पास ही सूक्ष्म अतिचार विषयक आलोचना करना हो तो वह भी प्रशस्त ही करनी चाहिए अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिए।

२. आलोचना सुननेकी विधि

भ.आ./मू.व.वि./५६० पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु।···॥५६०॥ निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवणं तदालोचयितुः सम्माननं। यथा कथंचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साहः परस्य स्यात्। —पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जिनमन्दिराभिमुख होकर सुखसे बैठकर आचार्य आलोचना सुनते हैं। अथवा निर्व्याकुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं, इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवाले का सम्मान होता है। इधर-उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका मेरे सम्बन्धमें अनादर भाव है ऐसी आलोचककी समझ होगी, जिससे दोष कहनेमें आलोचना करनेवालेका उत्साह नष्ट होगा।

३. एक आचार्यको एक ही शिष्यकी आलोचना सुननी चाहिए

भ.आ./मू.व.वि./५६०··· आलोयण पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि। एक एव शृणुयात्सूरिर्लज्जापरो बहूनां मध्ये नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते। चित्तखेदश्चास्य भवति। तथा कथयतः एकस्यैवालोचनां शृणुयात्। दुःखधारत्वाद्युगपदनेकवचनसंदर्भस्य। तद्दोषनिग्रहं नायं बराकः प्रतीच्छति। —आचार्य एक क्षपककी ही आलोचना सुनता है। एक ही आचार्य एकके दोष सुने, यदि बहुत गुरु सुनने बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला क्षपक लज्जित होकर अपने दोष कहनेके लिए तैयार होनेपर भी उसके मनमें खेद उत्पन्न होगा। अतः एक ही आचार्य एक ही के दोष सुने, एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपकोंकी आलोचना सुननेकी इच्छा न करें, क्योंकि अनेकोंका वचन ध्यानमें रखना बड़ा कठिन कार्य है। इसलिए उनके दोष सुनकर योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकेगा।

४. आलोचना एकान्तमें सुननी चाहिए

भ.आ./मू.व.वि./५६०··· आलोयणं पडिच्छदि···विरहम्मि ॥५६०॥ इत्यनेनैव गतत्वाद्विरहम्मि इति वचनं निरर्थकं। यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकैकेन श्रुतं स्यात्। न लज्जतयमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति। एतत्सूच्यते विरहम्मि एकान्ते आचार्यशिक्षेति। —एकान्तमें ही आचार्य आलोचना सुनता है ॥५६०॥ प्रश्न—(एक समयमें एक ही शिष्यकी तथा एक ही आचार्य आलोचना सुने उपरोक्त) इतने विवेचनसे ही 'एकान्तमें गुरुके बिना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिए तथा करनी चाहिए' ऐसा सिद्ध होता है अतः 'विरहम्मि' यह पद व्यर्थ है। उत्तर—यदि वहाँ अन्य भी होंगे तो आलोचकके दोष बाहर फूटने सम्भव हैं, एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें प्रच्छन्न रीतिसे दूसरेका प्रवेश होना योग्य नहीं है, यह सूचित करनेके लिए आचार्यने 'विरहम्मि' ऐसा पद दिया है।

५. आलोचनाका माहात्म्य

रा.वा./९/२२/२/६२१/१२ लज्जापरपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं यदि न शोधयेद् अपरीक्षितायव्ययाधमर्णवदवसीदति। महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम् आविरिक्तकायगतौषधवत् कृतानालोचनस्यापि गुरुमतप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवत् महाफलं न स्यात्। कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते। —लज्जा और पर तिरस्कार आदिके कारण दोषोंका निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और खर्चका हिसाब न रखनेवाले कर्जदारकी तरह दुःखका पात्र होना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्याएँ भी आलोचनाके बिना उसी तरह इष्ट फल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचनसे शरीर मलकी शुद्धि किये बिना खायी गयी औषधि। आलोचना करके भी यदि गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना सँवारे धान्यकी तरह महा फलदायक नहीं हो सकता। आलोचना युक्त चित्तसे किया गया प्रायश्चित्त माँजे हुए दर्पणके रूपकी तरह निखरकर चमक जाता है।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

* निश्चय व्यवहार आलोचनाकी मुख्यता गौणता— —दे० चारित्र

* सातिचार आलोचना मायाचारी है—दे० माया/२

* किस अपराधमें आलोचना प्रायश्चित्त किया जाता है —दे० प्रायश्चित्त

* तदुभय प्रायश्चित्त—दे० प्रायश्चित्त

आवरक व आवरण—

स. सि./८/४/३८०/३ आवृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा आवरणम्। —जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। (गो. जी./जी. प्र./३३/२७/१०)।

ध. ६/१,९-१,५/८/५ अप्पणो विरोहिदव्वसण्णिहाणे संते वि जं णिम्मूलदो ण विणस्सदि, तमावरिज्जमाणं, इदरं चावरयं। —अपने विरोधी द्रव्यके सन्निधान अर्थात् सामीप्य होनेपर जो निर्मूलतः नहीं विनष्ट होता, उसे आव्रियमाण कहते हैं, और दूसरे अर्थात् आवरण करनेवाले विरोधी द्रव्यको **आवरक** कहते हैं।

आवर्जित करण—क्ष.सा./मू./६२१-६२३ हेट्ठा दंडस्संतो मुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं। तं च समुग्घादस्स य अहिमुहभावो जिणिंदस्स ॥ सट्ठाणे आवज्जिद करणे वि य णत्थि ठिदिरसाण हदी। उदयादि अवट्ठिदया गुणसेढी तस्स दव्वं च ॥ जोगिस्स सेसकालो गय जोगी तस्स संखभागो य। जावदियं तावदिया आवज्जिदकरणगुणसेढी ॥ सयोगकेवली जिनको केवली समुद्घात करनेके अन्तर्मुहूर्त पहिले आवर्जित नामा करण हो है। समुद्घात क्रियाको सम्मुखपना, सो ही आवर्जित करण कहिए। आवर्जित यहाँ स्थिति व अनुभागका काण्डक घात नहीं होता। अवस्थित गुणश्रेणी आयामद्वारा घात होता है। विशेष इतना कि स्वस्थान केवलीकी अपेक्षा यहाँ गुणश्रेणी आयाम तो असंख्यात गुणाघात है। और अपकर्षण किया गया द्रव्य असंख्यात गुणा है।

आवर्त—१. एक यक्ष—दे० 'यक्ष'; २. भरतक्षेत्र विन्ध्याचलस्थ एक देश—दे० मनुष्य/४; ३. भरत क्षेत्रके उत्तरमें मध्य म्लेच्छ खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४; ४. विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; ५. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७।

आवर्त—अन. ध./८/८८-८९ शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते। साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोऽङ्गगीः संयतं परावर्त्यम् ॥८८॥ —मन, वचन और शरीरकी चेष्टाको अथवा उसके द्वारा होनेवाले आत्म प्रदेशोंके परिस्पन्दनको योग कहते हैं। हिंसादिक अशुभ प्रवृत्तियोंसे रहित योग प्रशस्त समझा जाता है। इसी प्रशस्त योगको एक अवस्थासे हटाकर दूसरी अवस्थामें ले जानेका नाम परावर्तन है और इसका दूसरा नाम आवर्त भी है। इसके मन वचन कायकी अपेक्षा तीन भेद हैं और यह सामायिक तथा स्तवकी आदिमें तथा अन्तमें किया जाता है। अतएव इसके बारह भेद होते हैं। जो मुमुक्षु साधु वन्दना करनेके लिए उद्यत हैं उन्हें यह बारह प्रकारका आवर्त करना चाहिए अर्थात् उन्हें, अपने मन वचन व काय सामायिक तथा स्तवकी आदि एवं अन्तमें पाप व्यापारसे हटाकर अवस्थान्तरको प्राप्त कराने चाहिए ॥८८॥

क्रि. क./१/१३ कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम्। स्तवसामायिका-

यन्त्रपरावर्तनलक्षणाः। =मन, वचन, कायके पलटनेको आवर्त कहते हैं। ये आवर्त बारह होते हैं। जो सामायिक दण्डकके प्रारम्भ और समाप्तिमें तथा चतुर्विंशतिस्तव दण्डकके प्रारम्भ और समाप्तिके समय किये जाते हैं। (ध. १३/५,४,२८/९०/३)

भाष्यकार—जैसे "णमो अरहन्ताणं" इत्यादि सामायिक दण्डकके पहले क्रिया विज्ञापन रूप मनोविकल्प होता है, उस मनोविकल्पको छोड़कर सामायिक दण्डकके उच्चारणके प्रति मनको लगाना सो मनःपरावर्तन है। उसी सामायिक दण्डकके पहले भूमि स्पर्श रूप नमस्कार किया जाता है उस वक्त वन्दना मुद्रा की जाती है, उस वन्दना मुद्राको त्याग कर पुनः खड़ा होकर मुक्ताशुक्ति मुद्रा रूप दोनों हाथोंको करके तीन बार घुमाना कायपरावर्तन है। "चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि" इत्यादि उच्चारणको छोड़कर "णमो अरहन्ताणं" इत्यादि पाठका उच्चारण करना सो वाक्परावर्तन है। इस तरह सामायिक दण्डकके पहले मन, वचन और काय परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं। इसी तरह सामायिक दण्डकके अन्तमें तीन-तीन आवर्त यथायोग्य होते हैं। एवं सब मिलकर एक कायोत्सर्गमें १२ आवर्त होते हैं।

★ कृतिकर्ममें आवर्त करनेका विधान

—दे० कृतिकर्म/२/८,४/२।

आवली—१. क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित I/१। २. कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित I/१। ३. जघन्य युक्तासंख्यात समयोंको एक आवली होती है। इसका छः भेद रूपसे उल्लेख मिलता है यथा **अचलावली**—गो.क. अर्थ. सं./पृ. २४ प्रकृति बन्ध भये पीछे आवली काल मात्र उदय उदीरणादि रूप होने योग्य नाहीं सो अचलावली है। (इसे बन्धावली भी कहते हैं।) (गो. क./भाषा.१५६/१६४/४); **अतिस्थावली**—ल. सा./भाषा./५८/९०/१३ स्थितिका अन्त निषेकका द्रव्य कौं अपकर्षण करि नीचले निषेकनिविषैं निक्षेपण करतैं तिस अन्त निषेकके नीचैं आवलि मात्र निषेक तौ अति स्थापनरूप हैं अर समय अधिक दोय आवली करि हीन उत्कृष्ट स्थिति मात्र निक्षेप हो हैं सो यहु उत्कृष्ट निक्षेप जानना। इहाँ बंध भएँ पीछैं आवली कालपर्यन्त तो उदीरणा होइ नाहीं तातैं एक आवली तौ आबाधा विषैं गई अर एक आवली अतिस्थापन रूप रही अन्तका द्रव्य ग्रह्या ही है तातैं उत्कृष्ट स्थिति विषैं दोय आवली एक समय घटाया है। अंक संदृष्टि करि जैसे उत्कृष्ट स्थिति हजार समय तहाँ सोलह समय तौ समयविषैं गये अर नवसैं चौरासी निषेक हैं तहाँ अन्त निषेकका द्रव्य अपकर्षण करि प्रथमादि नवसैसतसठि निषेकनि विषैं दीया सो यहु उत्कृष्ट निक्षेप है। अर ताकै ऊपरि सोलह निषेकनिविषैं न दीया सो यहु अतिस्थापनावली है। (विशेष—दे० अपकर्षण); **उच्छिष्टावली**—गो. क./भाषा/३४२/४९४/८ "उदयकौ प्राप्त नाहीं जे नपुंसक वेद आदि तिनिकी क्षय भये पीछै अवशेष उच्छिष्ट रही सर्व स्थिति, समय अधिक आवली प्रमाण है। गो. क./जी. प्र./७४४/५ एतावत्स्थितावशिष्टायां विसंयोजनोपशमनक्षपणा क्रिया नेतीदमुच्छिष्टावलिनाम्। =इतनी स्थिति अवशेष रहे विसंयोजनका उपशमन वा क्षपणा क्रिया न होइ सके तातै याकौ उच्छिष्टावली कहिए। गो. क. अर्थ सं./पृ. २४ (सम्पूर्ण कर्म स्थितिकी अन्तिम आवली) अन्तके आवली प्रमाण निषेक अवशेष रहें सो उच्छिष्टावली है। **उदयावली**=गो. अर्थ सं./पृ. २४ बहुरि (आबाधा काल भये पीछे) आवली विषै आवने योग्य समूह तो उदयावली है। **द्वितीयावली**—उदयावलीसे ऊपरके आवली प्रमाण कालको द्वितीयावली या प्रत्यावली कहते हैं। **प्रत्यावली**—दे० अपर द्वितीयावली; **बंधावली**—दे० अचलावली; **वृन्दावली**—(आवलीके समय)३।

आवश्यक—श्रावक व साधुको अपने उपयोगकी रक्षाके लिए नित्य ही छह क्रिया करनी आवश्यक होती है। उन्हींको श्रावक या साधुके षट् आवश्यक कहते हैं। जिसका विशेष परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. आवश्यक सामान्यका लक्षण

मू. आ./५१५ ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं त्ति बोधव्वा। जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिजुत्ती ॥५१५॥ =जो कषाय राग-द्वेष आदिके वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवशका जो आचरण वह आवश्यक है। तथा युक्ति उपायको कहते हैं जो अखण्डित युक्ति वह निर्युक्ति है, आवश्यककी जो निर्युक्ति वह आवश्यक निर्युक्ति है। (नि. सा./मू./१४२)

नि. सा./मू./१४७ आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिर भावं। तेण दु सामण्णगुणं होदि जीवस्स ॥१४७॥ =यदि तू आवश्यकको चाहता है तो तू आत्म स्वभावोंमें थिरभाव कर उससे जीवका सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।

भ. आ./वि./११६/२७४/१२ आवासयाणं आवश्यकानां। ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावसगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते। व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत्। तेनापि कर्त्तव्यं कर्मेति। यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव। एवमिहापि अवश्यं यत्किंचन कर्म इतस्ततः परावृत्तिराक्रन्दनं, पूत्करणं वा न तद्भण्यते। अथवा आवासकानां इत्ययमर्थः आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति। ='ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावसं बोधव्वा' ऐसी आवश्यक शब्दकी निरुक्ति है। व्याधि-रोग अशक्तपना इत्यादि विकार जिसमें हैं ऐसे व्यक्तिको अवश कहते हैं, ऐसे व्यक्तिको जो क्रियाएँ करना योग्य है उनको आवश्यक कहते हैं। जैसे—'आशु गच्छतीत्यश्वः' अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है उसको अश्व कहते हैं, अर्थात् व्याघ्र आदि कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड़ सकते हैं वे सभी अश्व शब्दसे संगृहीत होते हैं। परन्तु अश्व शब्द प्रसिद्धिके वश होकर घोड़ा इस अर्थमें ही रूढ है। वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य वह आवश्यक शब्दसे कहा जाना चाहिए जैसे—लोटना, करवट बदलना, किसीको बुलाना वगैरह कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं परन्तु आवश्यक शब्द यहाँ सामायिकादि क्रियाओंमें ही प्रसिद्ध है। अथवा आवासक ऐसा शब्द मानकर 'आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकाः' ऐसी भी निरुक्ति करते हैं, अर्थात् जो आत्मामें रत्नत्रयका निवास कराते हैं उनको आवासक कहते हैं।

अन. ध./८/१६ यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन च। आवश्यकमवशस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः ॥१६॥ =जो इन्द्रियोंके वश्य—आधीन नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे संयमीके आहोरात्रिक—दिन और रातमें करने योग्य कामोंका नाम ही आवश्यक है। अतएव व्याधि आदिसे ग्रस्त हो जानेपर भी इन्द्रियोंके वश न पड़कर जो दिन और रातके काम मुनियोंको करने ही चाहिए उन्हींको आवश्यक कहते हैं।

२. साधुके षट् आवश्यकोंका नाम निर्देश

मू. आ./२२० समदा थओ य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं। पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥ =सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग—ये छह आवश्यक सदा करने चाहिए। (मू. आ./५१६) (रा. वा./६/२२/११/५३०/११) (भ. आ./वि./११६/२७४/१६) (ध. ८/३,४१/८३/१०) (पु. सि. उ./२०१) (चा. सा./५५/३) (अन. ध./८/१७); (भा. पा/टी/७७)

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. साधुके षडावश्यक विशेष—दे० वह वह नाम
२. श्रावकके षडावश्यक—दे० श्रावक
३. त्रिकरणोंके चार-चार आवश्यक—दे० करण/४/६
४. निश्चय व्यवहार आवश्यकोंकी मुख्यता गौणता—दे० चारित्र

आवश्यकापरिहाणि—स. सि./६/२४/३३६/४ षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकापरिहाणि। =छह आवश्यक क्रियाओंका (बिना नागा) यथा काल करना आवश्यकापरिहाणि है। (रा. वा./६/२४/११/५३०/१५) (ध. ८/३,४१/८५/३) (चा.सा./५६/३); (भा. पा/टी/७७)

२. एक आवश्यकापरिहाणिमें शेष १५ भावोंका समावेश

ध.८/३,४१/८५/४ तीए आवासयापरिहीणदाए एक्काए वि तित्थयरणामकम्मस्स बंधो होदि। ण च एत्थ सेसकारणाणामभावो, ण च, दंसणविसुद्धि (आदि)···विणा छावासएसु णिरदिचारदा णाम संभवदि। तम्हा एदं तित्थयरणामकम्मबंधस्स चउत्थकारणं। =उस एक ही आवश्यकापरिहीनतासे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध होता है। इसमें शेष कारणोंका अभाव भी नहीं है, क्योंकि दर्शनविशुद्धि (आदि) ···के बिना छह आवश्यकोंमें निरतिचारता संभव ही नहीं है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

* एक आवश्यकापरिहाणिसे ही तीर्थंकरत्वका बन्ध सम्भव है —दे० भावना/२
* साधुको आवश्यक कर्म नित्य करनेका उपदेश —दे० कृतिकर्म/२
* श्रावकको आवश्यक कर्म नित्य करनेका उपदेश—दे० श्रावक/२
* साधु दैनिक कार्यक्रम—दे० कृतिकर्म

आवास—ति. प./३/२३ दहसेलदुमादीणं रम्माणं उवरि होंति आवासा। णागादीणं केसिं तियणिलया भावणेक्कमसुराणं॥२३॥ =रमणीय तालाब, पर्वत और वृक्षादिकके ऊपर स्थित व्यन्तर आदिक देवोंके निवास स्थानोंको आवास कहते हैं।

ति. प./६/७ रयणप्पहपुढवीए भवणाणि दीवउवहि उवरिम्मि। भवणपुराणि दहगिरिपहुदीणं उवरि आवासा॥७॥ =रत्नप्रभा पृथिवीमें भवन, द्वीप समुद्रोंके ऊपर भवनपुर और द्रह एवं पर्वतादिकोंके ऊपर (व्यन्तरोंके) आवास होते हैं।

ध. १४/५,६,९३/८६/६ अंडरस्स अंतोट्ठियो कच्छउडभंडरंतोट्ठियवक्खारसमाणो आवासो णाम।···एक्केक्कम्हि आवासे ताओ असंखेज्जलोगमेत्ताओ होंति। एक्केक्कम्हि पुलवियाए असंखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि। =जो अण्डरके भीतर स्थित हैं तथा कच्छउडअण्डरके भीतर स्थित वक्खारके समान हैं उन्हें आवास कहते हैं।··· एक एक आवासमें वे (पुलवियाँ—दे० पुलवि) असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक-एक आवासकी अलग-अलग एक-एक पुलविमें असंख्यात लोक प्रमाण शरीर होते हैं—(विशेष दे० वनस्पति/३/७)

त्रि. सा./२९४ भंतरणिलयतियाणि य भवणपुराकासभवणणामाणि। दीव समुद्दे दहगिरितरुम्हि चित्तावणिम्हि कमे॥२९४॥ =भवनपुर, आवास अर भवन ए व्यंतरनिके तीन ही नाम हैं। तहाँ क्रम करि द्वीप समुद्रनिविषै भवनपुर पाईए है। बहुरि द्रह पर्वत वृक्ष इनविषै आवास पाइए हैं बहुरि चित्रापृथिवी विषैं नीचे भवन पाइए है।

आवासक—दे० आवश्यक

आविद्ध करण—पद्मनन्दि नं. २ का अपरनाम—दे० पद्मनन्दि नं. २

आविष्कार—(ध./५/प्र. २७) Discovery; Invention

आवीचिका मरण—दे० मरण/१

आवृतकरण—क्ष. सा./४६७ अन्य प्रकृति रूप करके कर्मका नाश करना सो आवृत करण है।

आवृष्ट—भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४

आशंसा—रा. वा./७/३७/१/५५८/३३ आकांक्षणमभिलाषः आशंसेत्युच्यते। =आकांक्षा अर्थात् अभिलाषाको आशंसा कहते हैं।

आशय—औदारिक शरीरमें आशयोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१

आशा—१.—दे० 'राग'; २. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७

आशाधर—१. पं० लालाराम कृत सागारधर्मामृतका प्राक्कथन। जैन हितैषी पत्रमें प्रकाशित पं० जीके परिचयके आधार पर "आपका जन्म नागौरके पास सपादलक्ष (सवा लाख) देशमें माण्डलगढ़ नगरमें वि० १२३० में हुआ। बादशाह शहाबुद्दीन कृत अत्याचारके भयसे आप देश छोड़कर वि० १२४९ में मालवा देशकी धारा नगरीमें जा बसे। उस समय वहाँके राजा विन्ध्यवर्माके मन्त्री विल्हण थे। उन्होंने उनका बहुत सत्कार किया। पीछे उनके पुत्र सुभट वर्माका राज्य होनेपर आप वहाँसे छोड़कर १० मील दूर नलकच्छ ग्राममें चले गये। आपके पिताका नाम सल्लक्षण (सलखण) और माताका नाम श्री रत्नी था। आपकी जाति बघेरवाल थी। धारा नगरीमें पं० महावीरसे आपने व्याकरणका ज्ञान प्राप्त किया और उच्च कोटिके विद्वान् हो गये, तथा पं० आशाधर नामसे प्रसिद्ध हुए। आपके अनेकों शिष्य हुए—१. पं० देवचन्द्र; २. मुनि वादीन्द्र; ३ विशालकीर्ति; ४ भट्टारक देवभद्र; ५ विनयभद्र; ६ मदनकीर्ति, (उपाध्याय); ७. उदयसेन मुनि। आप अनेकों विद्वानों व साधुओंके प्रशंसा-पात्र हुए हैं—१. धारा नगरीके राजा विन्ध्य वर्माके मन्त्री विल्हण; २. दिगम्बर मुनि उदयसेनने तो आपका बहुत-बहुत अभिनन्दन किया है। और इनके शास्त्रोंको प्रमाण बताया है; ३ उपाध्याय मदनकीर्ति आदि इनके सभी शिष्योंने इनकी स्तुति की है। (अन. ध./प्रशस्ति) समय—वि. १२३०-१३०० (ई० ११७३-१२४३) (पं. वि./प्र. ३४/ A.N.up.) कृतियाँ—१. क्रिया कलाप (अमर कोश टीका (व्याकरण) सं०, २. व्याख्यालंकार टीका (रुद्रट कृत काव्यालंकार टीका सं०। ३. प्रमेय रत्नाकर (न्याय) संस्कृत, ४. वाग्भट्ट संहिता (न्याय) संस्कृत, ५. भव्य कुमुद चन्द्रिका (न्याय) संस्कृत, ६. अध्यात्म रहस्य (अध्यात्म), ७. इष्टोपदेश टीका (अध्यात्म) संस्कृत, ८. ज्ञान दीपिका संस्कृत, ९. अष्टांग हृदयोद्योत संस्कृत; १०. अनगार धर्मामृत (यत्याचार) संस्कृत, ११. मूलाराधना (भगवती आराधनाकी टीका) संस्कृत, १२. सागार धर्मामृत (श्रावकाचार) संस्कृत, १३. भरतेश्वराभ्युदय काव्य संस्कृत, १४. त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र संस्कृत। १५. राजमति विप्रलम्भ सटीक संस्कृत, १६. भूपाल चतुर्विंशतिका टीका संस्कृत, १७. जिनयज्ञ काव्य संस्कृत, १८. प्रतिष्ठा पाठ संस्कृत, १९. सहस्रनाम स्तव संस्कृत, २०. रत्नत्रय विधान टीका संस्कृत।

आशिष—ध. ९/४,१,२०/८५/५ अविद्यमानस्यार्थस्य आशंसनमाशीः। =अविद्यमान अर्थकी इच्छा का नाम आशीष है।

आशीर्वाद—दे० ऋद्धि/१

आशीर्विषरस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८

आशीविष—अपर विदेहस्थ वक्षार, कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७

आश्चर्य—पद्महदमें स्थित एक कूट—दे० लोक/७

आश्रम—प्र. सा./ता. वृ./५५ विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानाश्रमम्। =विशुद्ध ज्ञान व दर्शनकी प्रधानता रूप आश्रम···अर्थात् ज्ञान दर्शनकी प्रधानता ही आश्रमका लक्षण है।

२. चतुः आश्रम निर्देश

म. पु./३९/१५२ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥ १५२ ॥ =ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके चार आश्रम हैं जो कि उत्तरोत्तर विशुद्धिको प्राप्त होते हैं। (चा. सा./४१/५ में उपासकाध्ययनसे उद्धृत) (सा. ध./७/२०)

आश्रय—१. आश्रय आश्रयी भाव—दे० सम्बन्ध; २. आत्माश्रय दोष—दे० आत्माश्रय; ३. अन्योन्याश्रय दोष—दे० अन्योन्याश्रय; ४. आश्रयासिद्धत्व हेत्वाभास—दे० असिद्ध।

आश्लेषा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

आषाढ—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

आसन—१. आसनके भेद

ज्ञा./२८/१० पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा। सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥ =पर्यंकासन, अर्द्ध पर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं।

२. आसन विशेषके लक्षण

अन.ध./८/८३ में उद्धृत "जङ्घाया जङ्घाया श्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्तितम्। पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः। बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि। समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥२॥ उर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति। वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥३॥ जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया। पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः। स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति। पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः। वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरुपरि दक्षिणः। क्रियते यत्र तद्धीरो चितं वीरासनं स्मृतम्।" =जंघाका दूसरी जंघाके मध्य भागसे मिल जानेपर <u>पद्मासन</u> हुआ करता है। इस आसनमें बहुत सुख होता है, और समस्त लोक इसे बड़ी सुगमतासे धारण कर सकते हैं। दोनों जंघाओंको आपसमें मिलाकर ऊपर नीचे रखनेसे <u>पर्यङ्कासन</u> कहते हैं। दोनों पैरोंको ऊपर नीचे रखनेसे <u>वीरासन</u> कहते हैं। इस आसनको जो कातर पुरुष हैं वे अधिक देर तक नहीं कर सकते, धीर वीर ही कर सकते हैं। (क्रि. क./१/६) किसी-किसीने इन आसनोंका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि—जब एक जंघाका मध्य भाग दूसरी जंघासे मिल जाये तब उस आसनको <u>पद्मासन</u> कहते हैं। दोनों पैरोंके ऊपर जंघाओंके नीचेके भागको रखकर नाभिके नीचे ऊपरको हथेली करके ऊपर नीचे दोनों हाथोंको रखनेसे <u>पर्यंकासन</u> होता है। दक्षिण जंघाके ऊपर बाम पैर और बाम जंघाके ऊपर दक्षिण पैर रखनेसे <u>वीरासन</u> बताया है जो कि धीर पुरुषोंके योग्य है।

बो. पा./टी./५१ में उद्धृत "गुल्फोत्तानकरांगुष्ठरेखारोमालिनासिकाः। समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः।" =दोनों पाँवके टखने ऊपरकी ओर करके अर्थात् दोनों पाँवको जंघाओंपर रखकर उनके ऊपर दोनों हाथोंको ऊपर नीचे रखें ताकि हाथके दोनों अँगूठे दोनों टखनोंके ऊपर आ जायें। पेट व छातीकी रोमावली व नासिका एक सीधमें रहें। दोनों नेत्रोंकी दृष्टि भी नासिकापर पड़ती रहे। इस प्रकार सबको समान सीधमें करके सीधे बैठें। न अधिक अकड़ कर और न झुककर। (इसको <u>सुखासन</u> कहते हैं।)

★ **आसनोंकी प्रयोग विधि**—दे० कृतिकर्म/३

आसन्न भव्य—दे० भव्य।

आसन्न मरण—दे० मरण/१

आसादन—मू. आ./५४ पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच। पवयणमादु पदत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥५४॥ =जीव आदि पाँच अस्तिकाय, पृथ्वीकायादि स्थावर व दो इन्द्रियसे पाँच इन्द्रिय तक त्रसकाय—इस तरह छह जीवनिकाय, अहिंसा आदि पाँच महाव्रत, ईर्या आदि पाँच समिति, व काय गुप्ति आदि तीन गुप्ति—ऐसे आठ प्रवचन माता, और जीवादि नव पदार्थ—इस प्रकार ये तेंतीस पदार्थ हैं। इनकी आसादनाके भी ये ही नाम हैं। इन पदार्थोंका स्वरूप अन्यथा कहना, शंका आदि उत्पन्न करना उसे आसादना कहते हैं। ऐसा करनेसे दोष लगता है इसलिए उसका त्याग कराया गया है।

स. सि./६/१०/३२७/१३ कायेन वाचा च परप्रकाशस्य ज्ञानस्य वर्जनमासादनम्। =(कोई ज्ञानका प्रकाश कर रहा है) तब शरीर या वचनसे उसका निषेध करना आसादना है।

★ **उपघात और आसादनमें अन्तर**—दे० उपघात।

आसिका—दे० समाचार।

आसुरी—भ. आ./मू./१८३ अणुबंधरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी। णिक्किवणिराणुतावी आसुरियं भावणं होदि। =जिसका कोप अन्य भवमें भी गमन करनेवाला है, और कलह करना जिसका स्वभाव बन गया है, वह मुनि रोष और कलहके साथ ही तप करता है ऐसे तपसे उसको असुरगतिकी प्राप्ति होती है।

मू. आ./६८ खुद्दो कोही माणी मायी तह संकिलिट्ठतव चरित्ते। अणुबंधबद्धवेररोई असुरेसुव वज्जदे जीवो ॥६८॥ =दुष्ट, क्रोधी, मानी, मायाचारी, तप तथा चारित्र पालनेमें क्लेशित परिणामोंसे सहित और जिसने वैर करनेमें बहुत प्रीति की है ऐसा जीव आसुरी भावनासे असुरजातिके अंबरीष नामा भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होता है ॥६८॥

आस्तिक्य—गो. जी./जी. प्र./५६१ में उद्धृत "आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतं। आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं सम्यक्त्वेन युते नरे ॥२॥ =जो सम्यग्दृष्टि जीव, सर्वज्ञ देवविषैं, व्रतविषैं, शास्त्रविषैं तत्त्वविषैं 'ऐसैं ही है' ऐसा अस्तित्व भाव करि संयुक्त चित्त हो है सो सम्यक्त्व सहित जीव विषैं आस्तिक्य गुण है।

न्या. दी./3/§५६/९८/७ आस्तिक्यं हि सर्वज्ञवीतरागप्रणीत जीवादितत्त्वरुचिरुपलक्षणम्। =सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा प्रणीत जीवादिक तत्त्वोंमें रुचि होनेको आस्तिक्य कहते हैं।

पं. ध./उ./४५२,४६३ आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः। धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽत्मादि धर्मवित् ॥४५२॥ स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः। भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं (त्रे) परत्वतः ॥४६३॥ —स्वतः सिद्ध नव तत्त्वोंके सद्भावमें तथा धर्ममें धर्मके हेतुमें और धर्मके फलमें जो निश्चय रखना है वह जीवादि पदार्थोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेवाला आस्तिक्य गुण है ॥४५२॥ केवल स्वात्मानुभूति रूप आस्तिक्य परम गुण है, परद्रव्यमें पररूपपनेसे ज्ञानमात्र जो स्वात्मानुभूति है वह हो व न हो ॥४६३॥

आस्याविष ऋद्धि—दे० ऋद्धि/७

आस्रव—जीवके द्वारा प्रतिक्षण मनसे, वचनसे या कायसे जो कुछ भी शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे जीवका भावास्रव कहते हैं। उसके निमित्तसे कोई विशेष प्रकारकी जड़पुद्गल वर्गणाएँ आकर्षित होकर उसके प्रदेशोंमें प्रवेश करती हैं सो द्रव्यास्रव है। सर्व साधारण-जनोंको तो कषायवश होनेके कारण यह आस्रव आगामी बन्धका कारण पड़ता है, इसलिए साम्परायिक कहलाता है, परन्तु वीतरागी जनोंको वह इच्छासे निरपेक्ष कर्मवश होती है इसलिए आगामी बन्धका कारण नहीं होता। और आनेके अनन्तर क्षणमें ही झड़ जानेसे ईर्यापथ नाम पाता है।

१. आस्रवके भेद व लक्षण

१. आस्रव सामान्यका लक्षण

त.सू./६/१-२ कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥ स आस्रवः ॥२॥ =काय, वचन, व मनकी क्रिया योग है ॥१॥ वही आस्रव है ॥२॥

रा.वा./१/४/६,१६/२६ आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः ॥६॥ पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ॥१६॥ ···आस्रव इवास्रवः। क उपमार्थः। यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति। =जिससे कर्म आवे सो आस्रव है, यह करण साधनसे लक्षण है। आस्रवण मात्र अर्थात् कर्मोंका आना मात्र आस्रव है, यह भावसाधन द्वारा लक्षण है। ॥६॥ पुण्यपाप रूप कर्मोंके आगमनके द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे नदियोंके द्वारा समुद्र प्रतिदिन जलसे भर जाता है, वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतोंसे आत्मामें कर्म आते हैं (रा.वा./६/२/४,५/५०६)

२. आस्रवके भेद प्रभेद
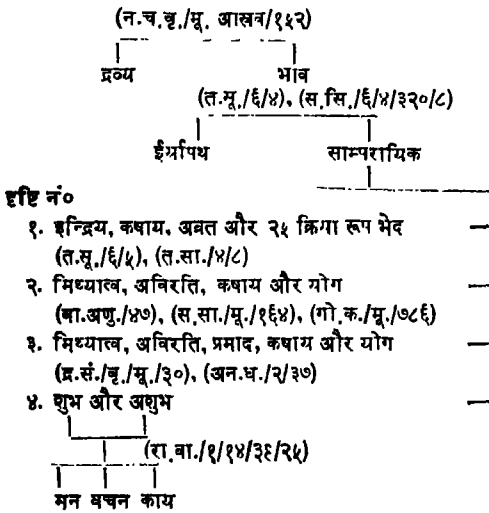
३. द्रव्यास्रवका लक्षण

न.च.वृ./१५३ लद्धूण तं णिमित्तं जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं। परिणमदि कम्मभावं तं पि हु दव्वासवं बीजं ॥१५३॥ =अपने-अपने निमित्त रूप योगको प्राप्त करके आत्म प्रदेशोंमें स्थित पुद्गल कर्म भाव रूपसे परिणमित हो जाते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं ॥१५३॥

द्र.सं./मू./३१ णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि। दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥ =ज्ञानावरणादि कर्मोंके योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेदों वाला है, ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥१५३॥

४. भावास्रवका लक्षण

भ.आ./वि./३८/१३४/१० आस्रवत्यनेनेत्यास्रवः। आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायपुद्गलानां कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रवः। =आत्माके जिस परिणामसे पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आता है उस परिणामको (भावास्रव) आस्रव कहते हैं। (द्र.सं./-मू./२६)

द्र.सं./टी./२८ निरास्रवस्वसंवित्तिलक्षणशुभाशुभपरिणामेन [शुभाशुभ-कर्मागमनमास्रवः। =आस्रव रहित निजात्मानुभवसे विलक्षण जो शुभ अशुभ परिणाम है, उससे जो शुभ अशुभ कर्मका आगमन है सो आस्रव है।

५. साम्परायिक आस्रवका लक्षण

त.सू./६/४ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥ =कषाय सहित व कषाय रहित आत्माका योग क्रमसे साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मके आस्रव रूप हैं।

स.सि./६/४/३२१/१ सम्परायः संसारः। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम्। =सम्पराय संसारका पर्यायवाची है। जो कर्म संसारका प्रयोजक है वह साम्परायिक है।

रा.वा./६/४/४-७/५०८ कर्मभिः समन्तादात्मनः पराभवोऽभिभवः सम्परायः इत्युच्यते ॥४॥ तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते यथा ऐन्द्रमहिकमिति ॥५॥ ···मिथ्यादृष्ट्यादीनां सूक्ष्मसाम्परायान्तानां कषायोदयपिच्छिलपरिणामानां योगवशादानीतं कर्म भावेनोपश्लिष्यमाणं आर्द्रचर्माश्रित रेणुवत् स्थितिमापद्यमानं साम्परायिकमित्युच्यते। =कर्मोंके द्वारा चारों ओरसे स्वरूपका अभिभव होना साम्पराय है ॥४॥ ···इस साम्परायके लिए जो आस्रव होता है वह साम्परायिक आस्रव है ॥५॥ ···मिथ्यादृष्टिसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय दशवें गुणस्थान तक कषायका चेप रहनेसे योगके द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़ेपर धूलकी तरह चिपक जाते हैं। अर्थात् उनमें स्थिति बन्ध हो जाता है। यही साम्परायिकास्रव है।

★ **ईर्यापथ आस्रवका लक्षण** —दे० ईर्यापथ कर्म।

६. शुभ अशुभ मानसिक वाचनिक व कायिक आस्रवों के लक्षण

रा.वा./१/७/१४/३६/२५ तत्र कायिको हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मादिषु प्रवृत्ति-निवृत्तिसंज्ञः। वाचिकः परुषाक्रोशपिशुनपरोपघातादिषु वचस्सु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः। मानसो मिथ्याश्रुत्यभिघातेर्ष्यासूयादिषु मनसः प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः। =हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदिमें प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है। तथा निवृत्ति शुभ कायास्रव है। कठोर गाली चुगली आदि रूपसे परबाधक वचनोंकी प्रवृत्ति वाचनिक अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभास्रव है। मिथ्याश्रुति ईर्षा मात्सर्य षड्यन्त्र आदि रूपसे मनकी प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव है और निवृत्ति मानस शुभास्रव है।

२. आस्रव निर्देश

१. अगृहीत पुद्गलोंका आस्रव कम होता है और गृहीत का अधिक

ध.४/१,५,४।३३१/४ जे णोकम्मपज्जएण परिणमिय अकम्मभावं गंतूण तेण अकम्मभावेण जे थोवकालमच्छिया ते बहुवारमागच्छंति, अवि-

णट्ठ चउव्विहपाओग्गादो। जे पुण अप्पिदपोग्गलपरियट्टब्भंतरे ण गहिदा ते चिरेण आगच्छंति, अकम्मभावं गंतूण तत्थ चिरकालव-ट्ठाणेण विणट्ठचउव्विहपाओग्गत्तादो। =जो पुद्गल नोकर्म पर्याय से परिणमित होकर पुनः अकर्म भावको प्राप्त हो, उस अकर्म भावसे अल्पकाल तक रहते हैं, वे पुद्गल तो बहुत बार आते हैं, क्योंकि उनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चार प्रकारकी योग्यता नष्ट नहीं होती है। किन्तु जो पुद्गल विवक्षित पुद्गल परिवर्तनके भीतर नहीं ग्रहण किये गये हैं, वे चिरकालके बाद आते हैं। क्योंकि, अकर्म भावको प्राप्त होकर उस अवस्थामें चिरकाल तक रहनेसे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप संस्कारका विनाश हो जाता है।

२. आस्रवमें तरतमताका कारण

त. सू./६/६ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः। = तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य विशेषके भेदसे उसकी अर्थात् आस्रवकी विशेषता होती है।

३. योगद्वारको आस्रव कहनेका कारण

स. सि./६/२/३१६/५ यथा सरस्सलिलावाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति। =जिस प्रकार तालाबमें जल लाने का दरवाज़ा जलके आनेका कारण होनेसे आस्रव कहलाता है उसी प्रकार आत्मासे बँधनेके लिए कर्म योगरूपी नालीके द्वारा आते हैं इसलिए योग आस्रव संज्ञाको प्राप्त होता है।

४. विस्रसोपचय ही कर्म रूपसे परिणत होते हैं, फिर भी कर्मोंका आना क्यों कहते हो

भ.आ./वि./३८/१३४/११ ननु कर्मपुद्गलानां नान्यतः आगमनमस्ति यमाकाशप्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिताः पुद्गलाः अनन्तप्रदेशिनः कर्मपर्यायं भजन्ते।...तत् किमुच्यते आगच्छतीति। न दोषः। आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायामित्येवं ग्रहीतव्यं। =प्रश्न—कर्मोंका अन्य स्थानसे आगमन नहीं होता है, जिस आकाश प्रदेशमें आत्मा है उसी आकाश प्रदेशमें अनन्तप्रदेशी पुद्गल द्रव्य भी है, और वह कर्म स्वरूप बन जाता है। इसलिए "पुद्गल द्रव्य आत्मामें आते हैं" आप ऐसा क्यों कहते हो। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। यहाँ "पुद्गल द्रव्य आता है" इसका अभिप्राय "ज्ञानावरणादि पर्याय को प्राप्त होता है" ऐसा समझना। देशान्तरसे आकर पुद्गल कर्मावस्थाको धारण करते हों ऐसा अभिप्राय नहीं है।

५. आस्रवसे निवृत्त होनेका उपाय

मू.आ./२४१ मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि। दंसणविरमणणिग्गह णिरोधेहिं दु णासवदि ॥२४१॥ =मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगोंसे जो कर्म आते हैं वे कर्म सम्यग्दर्शन विरति, क्षमादिभाव और योग निरोधसे नहीं आने पाते—रुक जाते हैं।

स.सा./मू./७३-७४ अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो। तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥ जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य। दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

स.सा./आ./७४ यथा यथा विज्ञानस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्त्तते। ...इति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वं। =प्रश्न—आस्रवोंसे किस प्रकार निवृत्ति होती है। उत्तर—ज्ञानी विचारता है कि मैं निश्चयसे पृथक् हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूँ, ऐसे स्वभावमें स्थित उसी चैतन्य अनुभवमें लीन हुआ मैं इन क्रोधादि समस्त आस्रवोंको क्षय कर देता हूँ ॥७३॥ ये आस्रव जीवके साथ निबद्ध हैं; अध्रुव हैं, और अनित्य हैं, तथा अशरण हैं, दुःखरूप हैं, और जिनका फल दुःख ही है ऐसा जान कर ज्ञानी पुरुष उनसे निवृत्ति करता है ॥७४॥ जैसा-जैसा आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है, वैसा-वैसा विज्ञान घनस्वभाव होता जाता है। उतना विज्ञान घनस्वभाव होता है, जितना आस्रवोंसे सम्यक् निवृत्त हुआ है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवकी निवृत्तिके समकालता है।

भाषाकार—प्रश्न—'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' अर्थात् क्या? उत्तर—आत्मा ज्ञानमें स्थिर होता जाता है।

६. आस्रव व बन्धमें अन्तर

द्र. सं./टी/३३/९४ आस्रवे बन्धे च मिथ्यात्वाविरत्यादि कारणानि समानानि को विशेषः। इति चेत्; नैवं; प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रवः, आगमनान्तरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेदः। =प्रश्न—आस्रव बन्ध होनेके मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान है इसलिए आस्रव व बन्धमें क्या भेद है। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम क्षणमें जो कर्म स्कन्धोंका आगमन है, वह तो आस्रव है और कर्मस्कन्धोंके आगमनके पीछे द्वितीय क्षणमें जो उन कर्म स्कन्धोंका जीव प्रदेशोंमें स्थित होना सो बन्ध है। यह भेद आस्रव और बन्धमें है।

७. आस्रव व बन्ध दोनों युगपत् होते हैं

त. सू./८/२ "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।" =कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य जो पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह आस्रव है। (और भी दे० साम्परायिक आस्रवका लक्षण)।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

* आठ कर्मोंके आस्रव योग्य परिणाम—दे० वह वह नाम
* पुण्यपापका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव—दे० तत्त्व/२
* कषाय अव्रत व क्रिया रूप आस्रवोंमें अन्तर—दे० क्रिया
* व्यवहार व निश्चय धर्ममें आस्रव व संवर सम्बन्धी चर्चा —दे० संवर/२
* ज्ञानी-अज्ञानीके आस्रव तत्त्वके कर्तृत्वमें अन्तर —दे० मिथ्यादृष्टि/४

आस्रवानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा

आह्वनीय अग्नि—दे० अग्नि

आहार—आहार अनेकों प्रकारका होता है। एक तो सर्व जगत् प्रसिद्ध मुख द्वारा किया जानेवाला खाने-पीने वा चाटनेकी वस्तुओंका है। उसे कवलाहार कहते हैं। जीवके परिणामों द्वारा प्रतिक्षण कर्म वर्गणाओंका ग्रहण कर्माहार है। वायुमण्डलसे प्रतिक्षण स्वतः प्राप्त वर्गणाओंका ग्रहण नोकर्माहार है। गर्भस्थ बालक द्वारा ग्रहण किया गया माताका रजांश भी उसका आहार है। पक्षी अपने अण्डोको सेते हैं वह ऊष्माहार है—इत्यादि। साधुजन इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिए दिनमें एक बार, खड़े होकर, यथालब्ध, गृद्धि व रस निरपेक्ष, तथा पुष्टिहीन आहार लेते हैं।

I आहार सामान्य

१ भेद व लक्षण

- १ आहार सामान्यका लक्षण।
- २ आहार के भेद-प्रभेद।
- ३ नोकर्माहार व कवलाहारके लक्षण।
- * खाद्यस्वाद्यादि आहार —दे० वह वह नाम
- * पानक व कांजी आदिके लक्षण —दे० वह वह नाम
- * निर्विकृति आहारका लक्षण —दे० निर्विकृति

२ भोजन शुद्धि

- १ भोजन शुद्धि सामान्य
- * भक्ष्याभक्ष्य विचार, जलगालन, रात्रि भोजन त्याग अन्तराय दे० वह वह नाम
- २ अन्न शोधन विधि।
- ३ आहार शुद्धिका लक्षण।
- * चौकेके बाहरसे लाये गये आहारकी ग्राह्यता —दे० आहार II/१
- * मन, वचन, काय आदि शुद्धियाँ —दे० शुद्धि

३ आहार व आहार कालका प्रमाण

- १ कर्म भूमिया स्त्री. पुरुषका उत्कृष्ट आहार।
- २ आहारके प्रमाण सम्बन्धी सामान्य नियम।
- * भोग भूमियाके आहारका प्रमाण —दे० भूमि।
- ३ भोजन मौनपूर्वक करना चाहिए।

II आहार (साधुचर्या)

१ साधुकी भोजन ग्रहण विधि

- * भिक्षा विधि —दे० भिक्षा
- १ दिनमें एक बार खड़े होकर भिक्षावृत्ति से व पाणि पात्रमें लेते हैं।
- २ भोजन करते समय खड़े होने की विधि व विवेक।
- ३ खड़े होकर भोजन करनेका तात्पर्य।
- ४ नवधा भक्ति पूर्वक लेते हैं।
- * नवधा भक्ति —दे० भक्ति/२
- * योग्यायोग्य घर व कुलादि —दे० भिक्षा/३
- ५ एक चौकेमें एक साथ अनेक साधु भोजन कर सकते हैं।
- ६ चौकेसे बाहरका लाया आहार भी कर लेते हैं।
- ७ पंक्तिबद्ध सात घरोंसे लाया आहार ले लेते हैं पर अन्यथका नहीं।
- * क्षपकको मांग कर लाया गया आहार ग्राह्य है। —दे० सल्लेखना/४/६; ५/११

२ साधुके योग्य आहार शुद्धि

- १ ४६ दोषोंसे रहित लेते हैं।
- २ अधःकर्मादि दोषोंसे रहित लेते हैं।
- ३ अधःकर्मादि दोषोंका नियम केवल प्रथम व अन्तिम तीनमें ही है।
- * परिस्थिति वश नौकोटि शुद्धकी बजाय पाँच कोटि शुद्धका भी ग्रहण दे० अपवाद/३
- * दातार योग्य आहार शुद्धि। —दे० शुद्धि
- ४ योग मात्रा व प्रासुकमें लेते हैं।
- ५ यथालब्ध व रस निरपेक्ष लेते हैं।
- ६ पौष्टिक भोजन नहीं लेते हैं।
- * भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी विचार —दे० भक्ष्याभक्ष्य
- ७ गृद्धता या स्वच्छन्दता सहित नहीं लेते।
- ८ दातार पर भार न पड़े इस प्रकार लेते हैं।
- ९ भाव सहित दिया व लिया गया आहार ही वास्तवमें शुद्ध है।

३ आहार व आहार कालका प्रमाण

- १ स्वस्थ साधुके आहारका प्रमाण।
- २ साधुके आहार ग्रहण करनेके कालकी मर्यादा।
- * साधुके आहार ग्रहणका काल —दे० भिक्षा/१ व रात्रि भोजन/१

४ आहारके ४६ दोष

- १ ४६ दोषों का नाम निर्देश।
- २ १४ मल दोष।
- ३ ७ विशेष दोष।
- * उद्देशिक व अधःकर्म दोष —दे० वह वह नाम
- ४ ४६ दोषों के लक्षण।
- * आहारके अतिचार। दे० अतिचार/१
- * आहार सम्बन्धी अन्तराय —दे० अन्तराय/२
- * आहार छोड़ने योग्य व अन्यत्र उठ कर चले जाने योग्य अवसर —दे० अन्तराय/२

५ दातार सम्बन्धी विचार

- १ दातारके गुण व दोष।
- २ दान देने योग्य अवस्थाएँ विशेष।

६ भोजन ग्रहण करनेके कारण व प्रयोजन

- १ संयम रक्षार्थ करते हैं शरीर रक्षार्थ नहीं।
- २ शरीरके रक्षणार्थ भी कथंचित् ग्रहण।
- ३ शरीरके रक्षणार्थ औषध आदिकी भी इच्छा नहीं।
- ४ शरीर व संयमार्थ ग्रहणका समन्वय।
- * केवलीको कवलाहारका निषेध —दे० केवली/४

I आहार सामान्य

१. भेद व लक्षण

१. आहार सामान्यका लक्षण

स. सि./२/३०/१८६/६ त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः । —तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । (रा. वा./२/३०/४/१४०) (ध. १/१,१,४/१५२/७)

रा. वा./६/७/११/६०४/११ उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारः··· तत्राहारः शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदयाभावाच भवति । —उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण आहार है । वह आहार शरीर नामकर्मके उदय तथा विग्रह गति नामके उदयके अभावसे होता है ।

२. आहारके भेद-प्रभेद

नोट—आगममें चार प्रकारसे आहारके भेदोंका उल्लेख मिलता है। उन्हींकी अपेक्षासे नीचे सूची दी जाती है ।

उपरोक्त सूचीके प्रमाण

१. (ध. १/१,१,१७६/४०६/१०); (नि. सा./ता. वृ./६३ में उद्धृत) (प्र. सा./ता. वृ./२० में उद्धृत प्रक्षेपक गाथा सं. २) (स. सा./ता. वृ./४०५)

२. (मू.आ./६७६); (रा. वा./७/२१/८/५४८/८); (अन.ध./७/१३/६६७); (ला. सं./२/१६–१७)

३. (व्रत विधान संग्रह पृ. २६)

४. (भ. आ./मू./७००); (सा. ध./८/५६)

३. नोकर्माहार व कवलाहारका लक्षण

बो. पा./टी./३४ समयं समयं प्रत्यनन्ताः परमाणवोऽनन्यजनसाधारणाः शरीरस्थितिहेतवः पुण्यरूपाः शरीरे संबन्धं यान्ति नोकर्मरूपा अर्हत आहार उच्यते न त्वितरमनुष्यवद्भगवति कवलाहारो भवति । —अन्य जनोंको असाधारण ऐसे शरीरकी स्थितिके हेतु भूत तथा पुण्यरूप अनन्ते परमाणु समय-समय प्रति अर्हन्त भगवान्‌के शरीरसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं । ऐसा नोकर्म रूप आहार ही भगवान्‌का कहा गया है । इतर मनुष्योंकी भाँति कवलाहार भगवान्‌को नहीं होता ।

२. भोजन शुद्धि

१. भोजन शुद्धि सामान्य

भोजन शुद्धिके चार प्रमुख अंग हैं—मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि व आहार शुद्धि । इनमें-से आहार शुद्धिके भी चार अंग हैं—द्रव्य शुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि व भाव शुद्धि । इनमें-से भाव शुद्धि मन शुद्धिमें गर्भित हो जाती है । इस प्रकार भोजन शुद्धिके प्रकरणमें ६ बातें व्याख्यात हैं—मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि व कालशुद्धि ।

२. अन्न शोधन विधि

ला. सं./२/१९–३२ मिश्रं त्रसाश्रितं यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत् । शतशः शोधितं चापि सावधानैर्दृगादिभिः ॥१९॥ संदिग्धं च यदन्नादि श्रितं वा नाश्रितं त्रसैः । मनःशुद्धिप्रसिद्ध्यर्थं श्रावकः क्वापि नाहरेत् ॥२०॥ अविद्धमपि निर्दोषं योग्यं चानाश्रितं त्रसैः । आचरेच्छ्रावकः सम्यग्दृष्टं नादृष्टमीक्षणैः ॥२१॥ ननु शुद्धं यदन्नादि कृतशोधनयानया । मैवं प्रमाददोषत्वात्कश्मलस्यास्रवो भवेत् ॥२२॥ गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम् । तोयं जिनागमाम्नायादाहरेत्स न चान्यथा ॥२३॥ अन्यथा दोष एव स्यान्मांसातीचारसंज्ञकः । अस्ति तत्र त्रसादीनां मृतस्याङ्गस्य सेवना ॥२४॥ दुरवधानता मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दुःशोधितं तदेव स्याज्ज्ञेयं चाशोधितं यथा ॥२५॥ तस्माच्छ्रावकव्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आत्मदृग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥२६॥ यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रियार्थी सम्यगीक्षयेत । व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥२७॥ सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि नाहरेद्व्रतरक्षकः ॥२८॥ ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा । शोधितं पाचितं भोज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषः ॥२९॥ मैवं यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहानये । अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य संयमे नाधिकारता ॥३०॥ चलितस्यात्सीम्नश्चैव नूनं भाविव्रतक्षतिः । शैथिल्याद्दीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥३१॥ शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्यात् ग्रहणं कृती । कालस्यातिक्रमाद् भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥३२॥ —(केवल भावार्थ) घुने हुए या बीधे अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते हैं, सैकड़ों बार शोधा जाये तो भी उसमें-से जीव निकलने असम्भव हैं । इसलिए वह अभक्ष्य है । जिसमें त्रस जीवका सन्देह हो 'कि इसमें जीव हैं या नहीं' ऐसे अन्नका भी त्याग कर देना चाहिए । जो अन्नादि पदार्थ घुने हुए नहीं हैं, जिनमें त्रस जीव नहीं हैं, ऐसे पदार्थ अच्छी तरह देख शोधकर काममें लाने चाहिए । शोधा हुआ अन्न, यदि मनकी असावधानीसे शोधा गया है, होशहवाश रहित अवस्थामें शोधा गया है, प्रमाद पूर्वक शोधा गया है तो वह अन्न दुःशोधित कहलाता है । ऐसे अन्नको पुनः अपने हाथसे अच्छी तरह शोध लेना चाहिए । शोधनकी विधिका अजानकार साधर्मी, अथवा शोधन विधिके जानकार विधर्मीके द्वारा शोधा गया अन्न कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो पुरुष अनार्य है अथवा निर्दय है, उसको संयमके काममें संयमकी रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है । जिस अन्नको शोधे हुए बहुत काल व्यतीत हो गया है, अथवा उनकी मर्यादासे अधिक काल हो गया है, ऐसे अन्नादिकको पुनः अच्छी तरह शोधकर काममें लेना चाहिए । ताकि हिंसाका अतिचार न लगे ।

३. आहार शुद्धिका लक्षण

वसु. श्रा./२३१ चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए । संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी ॥२३१॥ —चौदह मल दोषोंसे रहित, यतनसे शोधकर संयमी जनको आहार दान दिया जाता है, वह एषणा शुद्धि जानना चाहिए ।

३. आहार व आहार कालका प्रमाण

१. कर्म भूमिया स्त्री पुरुषका उत्कृष्ट आहार

भ. आ./मू./२११ बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ । पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥२११॥ —पुरुषके आहारका

प्रमाण बत्तीस ग्रास है, इतने ग्रासोंसे पुरुषका पेट पूर्ण भरता है। स्त्रियोंके आहारका प्रमाण अट्ठाईस ग्रास है। (ध. १३/५,४,२६/ ७/५६)

ह. पु./११/१२५ सहस्रसिक्थः कवलो द्वात्रिंशत् तेऽपि चक्रिणः। एकश्चासौ सुभद्रायाः एकोऽन्येषां तु तृप्तये ॥१२५॥ —एक हज़ार चावलोंका एक कवल होता है ऐसे बत्तीस कवल प्रमाण चक्रवर्तीका आहार था, सुभद्राका आहार एक कवल था और वह एक कवल समस्त लोगोंकी तृप्तिके लिए पर्याप्त था।

ध. १३/५,४,२६/५६/६ सालितंदुलसहस्से ट्ठिदे जं कूरपमाणं तं सव्वमेगो कवलो होदि। एसो पयडिपुरिसस्स कवलो परूविदो। एदे हि बत्तीस-कवलेहि पयडिपुरिसस्स आहारो होदि, अट्ठावीसकवलेहि महि-लियाए। इमं कवलमेदमाहारं च मोत्तूण जो जस्स पयडिकवलो पयडि आहारो सो च घेत्तव्वो। ण च सव्वेसिं कवलो आहारो वा अवट्ठिदो अत्थि, एककुडवतंडुलकूरभुंजमाणपरिसाणं एगगलत्थ कूराहार पुरिसाणं च उवलंभादो।" —शाली धान्यके एक हज़ार धान्योंका जो भात बनता है वह सब एक ग्रास होता है। यह प्रकृतिस्थ पुरुषका ग्रास कहा गया है। ऐसे बत्तीस ग्रासों द्वारा प्रकृतिस्थ पुरुषका आहार होता है और अट्ठाईस ग्रासों द्वारा महिलाका आहार होता है। प्रकृतमें (अवमौदर्य नामक तपके प्रकरणमें) इस ग्रास और इस आहारका ग्रहण न कर जो जिसका प्रकृतिस्थ ग्रास और प्रकृतिस्थ आहार है वह लेना चाहिए। कारण कि सबका ग्रास व आहार समान नहीं होता, क्योंकि कितने ही पुरुष एक कुडव प्रमाण चावलोंके भात-का और कितने ही पुरुष एक गलस्थ प्रमाण चावलोंके भातका आहार करते हुए पाये जाते हैं।

२. आहारके प्रमाण सम्बन्धी सामान्य नियम

सा. ध./६/२४ में उद्धृत "सायं प्रातर्वा वह्निमनवसादयन् भुञ्जीत। गुरुणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता। मात्रप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद्विजीर्यति।" —सुबह और शामको उतना ही खावे जिसको जठराग्नि सुगमतासे पचा सके। गरिष्ठ पदार्थोंको भूखसे आधा और हल्के पदार्थोंको तृप्ति होने पर्यन्त ही खावे। पेट भर जानेके पश्चात् भूखसे अधिक न खावे। इस प्रकार खाया हुआ अन्न सुखसे पचता है। यह मात्राका प्रमाण है।

३. भोजन मौन पूर्वक करना चाहिए

मू. आ./८१७ ...। मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता। —वे मौन व्रत सहित नहीं कुछ कहते हुए भिक्षाके निमित्त विचरते हैं ॥८१७॥

प. पु./४/९७ भिक्षां परगृहे लब्धां निर्दोषां मौनमास्थिताः ॥९७॥ —श्रावकोंके घर ही भोजनके लिए जाते हैं, और वहाँ प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षाको मौनसे खड़े रहकर ग्रहण करते हैं।...॥९७॥

सा. ध./४/३४-३५ गृद्ध्यै हुङ्कारादिसंज्ञां, संक्लेशं च पुरोऽनु च। मुञ्चन्मौनमदन्कुर्यात्, तपः संयमबृंहणम् ॥३४॥ अभिमानावनेगृद्धि-रोधाद्वर्धयते तपः। मौनं तनोति श्रेयश्च, श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥ —खाने योग्य पदार्थकी प्राप्तिके लिए अथवा भोजन विषयक इच्छा-को प्रगट करनेके लिए हुंकारना और ललकारना आदि इशारोंको तथा भोजनके पीछे संक्लेशको छोड़ता हुआ, भोजन करनेवाला व्रती श्रावक तप और संयमको बढ़ानेवाले मौनको करे ॥३४॥ मौन स्वाभि-मानकी अयाचकत्वरूप व्रतकी रक्षा होनेपर तथा भोजन विषयक लोलुपताके निरोधसे तपको बढ़ाता है और श्रुतज्ञानकी विनयके सम्बन्धसे पुण्यको बढ़ाता है।

II आहार (साधुचर्या)

१. साधुकी भोजन ग्रहण विधि

१. दिनमें एक बार खड़े होकर भिक्षावृत्तिसे व पाणि-पात्रमें लेते हैं

मू. आ./३५,८११,९३७ उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि-मज्झम्हि। एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥ ३५ ॥...। भुंजंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि ॥ ८११ ॥ जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते। अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया ॥ ९३७ ॥—सूर्यके उदय और अस्तकालकी तीन घड़ी छोड़कर वा, मध्यकालमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त, तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करना वह एक भक्त मूलगुण है ॥ ३५ ॥...पर घरमें परकर दिये हुए ऐसे आहारको हाथरूप पात्र पर रख कर वे मुनि खाते हैं ॥ ८११ ॥ आगममें सब मूल उत्तरगुणोंके मध्यमें भिक्षाचर्या ही प्रधान व्रत कहा गया है, और अन्य जे योग हैं वे सब अज्ञानी चारित्र हीन साधुओंके किये हुए जानना ॥ ९३७ ॥

प्र. सा./मू./२२९ एकं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं। चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ २२९ ॥—भूखसे कम, यथा लब्ध तथा भिक्षा वृत्तिसे, रस निरपेक्ष तथा मधुमांसादि रहित, ऐसा शुद्ध अल्प आहार दिनके समय केवल एक बार ग्रहण करते हैं ॥ २२९ ॥

प. पु./४/९७ भिक्षां परगृहे लब्ध्वा निर्दोषं मौनमास्थिताः। भुञ्जते... ॥ ९७ ॥ —श्रावकोंके घर ही भोजनके लिए जाते हैं। वहाँ प्राप्त हुई भिक्षाको मौनसे खड़े होकर ग्रहण करते हैं।

आचार सार/१/४९...एकद्वित्रिमुहूर्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः ॥४९ ॥ —एक, दो व तीन मुहूर्त तक एक बार दिनके समय मुनिजन आहार लेते हैं।

२. भोजन करते समय खड़े होने की विधि व विवेक

मू. आ./३४ अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादि विवज्जणेण समपायं। पडि-सुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥ ३४ ॥—अपने हाथ रूप भाजन कर भीत आदिके आश्रय रहित चार अंगुलके अन्तरसे समपाद खड़े रह कर अपने चरणकी भूमि, जूठन पड़नेकी भूमि, जिमाने वाले-के प्रदेशकी भूमि—ऐसी तीन भूमियोंकी शुद्धतासे आहार ग्रहण करना वह स्थिति भोजन नाम मूल गुण है।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१५ समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत्। —समान व छिद्र रहित ऐसी जमीन पर अपने दोनों पाँवमें चार अंगुल अन्तर रहे इस तरह निश्चल खड़े रहना चाहिए। भीत (दीवार) खम्बा वगैरहका आश्रय न लेकर स्थिर खड़े रहना चाहिए।

अन. ध./९/९४ ...। चतुरङ्गुलान्तरसमक्रमः ... ॥ ९४ ॥ जिस समय ऋषि अनगार भोजन करे उसी समय उनको अपने दोनों पैर उनमें चार अंगुलका अन्तर रखकर समरूप से स्थापित करने चाहिए।

३. खड़े होकर भोजन करनेका तात्पर्य

अन. ध./९/९३ यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भः क्षमेऽद्म्यहम्। तावन्नै-वान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम् ॥ ९३ ॥ —जब तक खड़े होकर और अपने हाथको जोड़कर या उनको ही पात्र बनाकर उन्हींके द्वारा भोजन करनेकी सामर्थ्य रखता हूँ, तभी तक भोजन करनेमें प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रतिज्ञाका निर्वाह और इन्द्रिय-संयम तथा प्राणि-संयम साधन करनेके लिए मुनियोंको खड़े होकर भोजन-का विधान किया है।

४. नवधा भक्ति पूर्वक लेते हैं

मू. आ./४८२...।...विहिसु दिण्णं ॥ ४८२ ॥–विधिसे अर्थात् नवधा भक्ति दाताके सात गुण सहित क्रियासे दिया गया हो। (ऐसा भोजन साधु ग्रहण करें।)

५. एक चौकेमें एकसाथ अनेक साधु भोजन कर सकते हैं

यो.सा.अ./८/६४ पिण्डः पाणिगतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते। दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेच्छेदभाग्यतिः ॥ ६४ ॥–आहार देते समय गृहस्थको चाहिए कि वह जिस मुनिको देनेके लिए हाथमें आहार ले उसे उसी मुनिको दे अन्य मुनिको देना योग्य नहीं यदि कदाचित् अन्यको भी दे दिया जाये तो मुनिको खाना न चाहिए क्योंकि यदि मुनि उसे खा लेगा तो वह छेद प्रायश्चित्तका भागी गिना जायेगा ॥ ६४ ॥

६. चौकेसे बाहरका लाया आहार भी कर लेते हैं

अनेक गृह भोजी क्षुल्लक अनेक घरोंमें से अपने पात्रमें भोजन लाकर, अन्य किसी श्रावकके घर जहाँ पानी मिल जाये, वहाँ पर गृहस्थकी भाँति मुनिको आहार देकर पीछे स्वयं करता है।—दे० क्षुल्लक/१ तथा सल्लेखना गत साधुको कदाचित् क्षुधाकी वेदना बढ़ जानेपर गृहस्थोंके घरसे मंगाकर आहार जिमा दिया जाता है। दे०—सल्लेखना/१० उपरोक्त विषय परसे सिद्ध होता है कि साधु कदाचित् चौकेसे बाहरका भी आहार ग्रहण कर लेते हैं।

जम्बू स्वामी चरित्र/१६३ प्रासुकं शुद्धमाहारं कृतकारितवर्जितं। आदत्तं भिक्षयानीतं मित्रेण दृढधर्मणा ॥ १६३ ॥–दृढधर्म नामके मित्र द्वारा भिक्षासे लाया हुआ, कृत, कारित, दोषोंसे वर्जित शुद्ध प्रासुक आहार विरक्त शिवकुमार (श्रावक) घर बैठकर कर लेता था।

७. पंक्तिबद्ध सात घरोंसे लाया हुआ आहार ले लेते हैं पर अन्यत्रका नहीं

मू. आ./४३८-४४० देसत्तिय सव्वत्तियदुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि। *आचिण्णमणाचिण्णं देसाविहडं हवे दुविहं ॥ ४३८ ॥* उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं। परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ॥ ४३९ ॥ सव्वाभिघडं चदुधा सयपरगामे *सदेसपरदेसे। पुव्वपरपाडणयडं पढमं संसंपि णादव्वं ॥ ४४० ॥*–अभिघट दोषके दो भेद हैं—एक देश व सर्व। देशाभिघटके दो भेद हैं—आचिन्न व अनाचिन्न ॥ ४३८ ॥ पंक्ति बद्ध सीधे तीन अथवा सात घरोंसे लाया भात आदि अन्न आचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। और इससे उलटे-सीधे घर न हों ऐसे सात घरोंसे भी लाया अन्न अथवा आठवाँ आदि घरसे आया ओदनादि भोजन अनाचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है। सर्वाभिघट दोषके चार भेद हैं—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश, परदेश। पूर्वदिशाके मोहल्लेसे पश्चिम दिशाके मोहल्लेमें भोजन ले जाना स्वग्रामाभिघट दोष है।

२. साधुके योग्य आहार शुद्धि

१. ४६ दोषों रहित लेते हैं

मू. आ./४२१, ४८२, ४८३, ८१२ उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च। गालधूमकारण अट्ठविहा पिंडसुद्धीहु ॥४२१॥ णवकोडी-परिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं। संजोजणायहीणं पमाणसहियं विहिसु दिण्णं।४८२। विगदिंगाल विधूमं छक्कारणसंजुदं कमविसुद्धं। जत्तासाधणमत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥ ४८३ ॥ उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च। सुत्तप्पडिकुट्ठाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जेंति ॥ ८१२ ॥ –उद्गम, उत्पादन, अशन, संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम कारण—इन आठ दोषों कर रहित जो भोजन लेना वह आठ प्रकारकी पिण्डशुद्धि कही है ॥४२१॥ ऐसे आहारको लेना चाहिए—जो नवकोटि अर्थात् मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदनासे शुद्ध हो, ब्यालीस दोषों कर रहित हो, मात्रा प्रमाण हो, संयोजना दोषसे रहित हो, विधिसे अर्थात् नवधा भक्ति दाताके सात गुणसहित क्रियासे दिया गया हो। अंगार दोष, धूमदोष, इन दोनोंसे रहित हो, छह कारणोंसे सहित हो, क्रम विशुद्ध हो, प्राणोंके धारणके लिए हो, अथवा मोक्ष यात्राके साधनेके लिए हो, चौदह मलोंसे रहित हो, ऐसा भोजन साधु ग्रहण करें ॥४८२-४८३॥ (मू. आ./८११) औद्देशिक क्रीततर, अज्ञात, शंकित, अन्यस्थानसे आया सूत्रसे विरुद्ध और सूत्र-से निषिद्ध ऐसे आहारको मुनि त्याग देते हैं।

भा. पा./मू./१०१ छायालसदोसदूसियमसणं गसिउ असुद्धभावेण। पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥ –हे मुने! तैं अशुद्ध भाव-करि छियालीस दोष करि दूषित अशुद्ध अशन कहिए आहार ग्रस्या खाया ताकारण करि तिर्यञ्च गति विषैं पराधीन भया संता महान् बड़ा व्यसन कहिए कष्ट ताकूं प्राप्त भया ॥१०१॥

मो. पा./प्र./६/२७०/६ बहुरि जहाँ मुनिकै धात्रीदूत आदि छयालीस दोष आहारादिविषैं कहै हैं तहाँ गृहस्थनिकैं बालकनिकौं प्रसन्न करना ...इत्यादि क्रियाका निषेध किया है। और भी —दे० आहार/I/२।

२. अधःकर्मादि दोषोंसे रहित लेते हैं

मू. आ./९२२-९३४ जो ठाणमोणवीरासणेहिं अत्थदि चउत्थछट्ठेहिं। *भुंजदि आधाकम्मं सव्वेवि णिरत्था जोगा ।९२२। जो भुंजदि आधा-*कम्मं छज्जीवाण घायणं किच्चा। अबुद्धो लोल सजिब्भो णवि समणो सावओ होज्ज ।९२७। आधाकम्म परिणदो पासुगदव्वेदि बंधगो-भणिदो। सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ।९३४।–जो साधु-स्थान मौन और वीरासनसे उपवास वेला तेला आदि कर तिष्ठता है और अधःकर्म सहित भोजन करता है उसके सभी योग निरर्थक हैं ।९२२। जो मूढ़ मुनि छह कायके जीवोंका घात करके अधःकर्म सहित भोजन करता है वह लोलुपी जिह्वाके वश हुआ मुनि नहीं है श्रावक है ।९२७। प्रासुक द्रव्य होनेपर भी जो साधु अधःकर्म कर परिणत है वह आगममें बन्धका कर्ता है, और जो शुद्ध भोजन देखकर ग्रहण करता है वह अधःकर्म दोषके परिणाम शुद्धिमे शुद्ध है ।९३४।

मो.पा./मू./७९...। आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि। –अधःकर्म जे पापकर्म ताविषैं रत हैं, सदोष आहार करैं हैं ते मोक्ष मार्ग तैं च्युत हैं।

रा. वा./९/६/१६/५९७/११ भिक्षा शुद्धिः...प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना। –प्रासुक आहार ढूंढना ही मुख्य लक्ष्य है ऐसी भिक्षा-शुद्धि है।

भ. आ./वि./४२१/६१३/९ श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं उद्देसिगमित्यु-च्यते। तच्च षोडशविधं आधाकर्मादि विकल्पेन। तत्परिहारो द्वितीयः स्थितिकल्पः। –मुनिके उद्देश्यसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं। उसके आधाकर्मादि विकल्पसे सोलह प्रकार हैं। उसका त्याग करना यही द्वितीय स्थिति कल्प है।

स.सा./आ./२८६-२८७ अधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। –अधःकर्मसे तथा उद्देशसे उत्पन्न निमित्त भूत पुद्गल द्रव्य न त्यागता हुआ नैमित्तिक भूत बन्ध साधक भावोंको भी वास्तवमें नहीं त्यागता है, ऐसा ही द्रव्य व भावका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्र.सा./त.प्र./२२९ समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः। –समस्त हिंसाके निमित्तोंसे रहित आहार ही योग्य है।

चा. सा./६८/२ उपद्रवणविद्रावणपरितापनारम्भक्रियया निष्पन्नमन्नं स्वेन कृतं परेण कारितं वानुमानितं वाधःकर्म (जनितं) तत्सेविनो-ऽनशनादितपस्यभ्रावकाशादियोगविशेषाश्च भिन्नभाजनभरितामृत-वत्क्षरन्ति, ततश्च तदभक्ष्यमिव परिहरतो भिक्षोः। —उपद्रवण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ रूप क्रियाओंके द्वारा जो आहार तैयार किया गया है—वह चाहे अपने हाथसे किया है अथवा दूसरेसे कराया है अथवा करते हुएकी अनुमोदना की है अथवा जो नीच कर्मसे बनाया गया है ऐसे अधःकर्मयुक्त आहारको ग्रहण करनेवाले मुनियोंके उपवासादि तपश्चरण, अभ्रावकाशादि योग और वीरासनादि विशेष योग सब फूटे बर्तनमें भरे हुए अमृतके समान नष्ट हो जाते हैं।

३. अधःकर्मादिका नियम केवल प्रथम व अन्तिम तीर्थमें ही है

भ.आ./वि./४२१/६१३/१ तथा चोक्तं कल्पे—सोलसविधमुद्देसं वज्जेदव्वंति पुरिमचरिमाणं। तित्थगराणं तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ दु। —कल्प नामक ग्रन्थ (कल्प सूत्र) में ऐसा वर्णन है—श्री आदिनाथ तीर्थंकर और श्री महावीर स्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देशका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए, यह दूसरा स्थिति कल्प है।

४. योग्य मात्रा व प्रमाणमें लेते हैं

मू.आ./४८२···।···पमाण सहियं···॥४८२॥ —जो मात्रा प्रमाण हो ऐसा आहार साधु ग्रहण करते हैं।

५. यथा लब्ध व रस निरपेक्ष लेते हैं

प्र.सा./मू./२२६···जधा लद्धं।···ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥२२६॥ —वह शुद्ध आहार यथालब्ध तथा रससे निरपेक्ष तथा मधु मांसादि अभक्ष्योंसे रहित किया जाता है।

लि./पा./मू./१२ कंदप्प (प्पा) इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं। माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१२॥ —जो लिंग धार कर भी भोजनमें रसकी गृद्धि करता है, सो कन्दर्पादि विषै वर्तै है। उसको काम सेवनकी इच्छा तथा प्रमाद निद्रादि प्रचुर रूपसे बढ़ते हैं तब वह लिंग व्यापादी अर्थात् व्यभिचारी कहलाता है। मायाचारी होता है, इसलिए वह तिर्यञ्च योनि है मनुष्य नाहीं। इसलिए वह श्रवण नहीं।

र.सा./११३ भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं। झाणज्झयण-णिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरओ ॥११३॥ —जो मुनि केवल संयम ज्ञानकी वृद्धिके लिए तथा ध्यान अध्ययन करनेके लिए जो मिल गया भक्ति पूर्वक, जिसने जो शुद्ध आहार दे दिया उसीको ग्रहण कर लेते हैं। वे मुनि अवश्य ही मोक्ष मार्गमें लीन रहते हैं।

मू.आ./४८१,८१४,६२८···साउ अट्ठं ण···।···भुंजेज्जो ॥४८१॥ सीयलमसीयलं वा सुक्कं लुक्खं सुणिद्ध सुद्धं वा। लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं ॥८१४॥ पयणं व पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि। जेमंतोवि सघादी णवि समणो दिट्ठिसंपण्णो ॥६२८॥—साधु स्वादके लिए भोजन नहीं करते हैं ॥४८१॥ शीतल गरम अथवा सूखा, रूखा चिकना विकार रहित लोन सहित अथवा लोन रहित ऐसे भोजनको वे मुनि स्वाद रहित जीमते हैं ॥८१४॥ पाक करनेमें अथवा पाक करानेमें पाँच उपकरणोंसे अधःकर्ममें प्रवृत्त हुआ और अनुमोदनामें प्रसन्न जो मुनि उस पचनादिसे नहीं डरता वह मुनि भोजन करता हुआ भी आत्मघाती है। न तो मुनि है और न सम्यग्दृष्टि है।

प्र.प./मू./१११/२,४ प्रक्षेपक गाथा "काऊणं णग्गरूवं बीभस्सं दड्ढमडय-सारिच्छं। अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥१११*२॥ जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति। ते मुणि भोयण-धार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥१११*४॥ —भयानक देहके मैलसे युक्त जले हुए मुरदेके समान रूप रहित ऐसे वस्त्र रहित नग्न रूपको धारण करके हे साधु, तू परके घर भिक्षाको भ्रमता हुआ उस भिक्षामें स्वाद युक्त आहारकी इच्छा करता है, तो तू क्यों नहीं शरमाता ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥१११*२॥ जो योगी स्वादिष्ट आहारसे हर्षित होते हैं और नीरस आहारमें क्रोधादि कषाय करते हैं वे मुनि भोजनके विषयमें गृद्ध पक्षीके समान हैं, ऐसा तू समझ। वे परम तत्त्वको नहीं समझते हैं ॥१११*४॥

आचारसार/४/६४ रोगोंका कारण होनेसे लाडू, पेड़ा, चावलके बने पदार्थ वा चिकने द्रव्यका त्याग द्रव्य शुद्धि है।

अन. ध./७/१० इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरुद्भटीकृताः। यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयंति बहिर्मनः ॥१०॥ —इन इन्द्रियरूपी सुभटोंको यदि अभीष्ट तथा स्वादु और उत्कट रससे परिपूर्ण—ताजी बने हुए भोजनोंके द्वारा उद्भट—दुर्दम बना दिया जाये तो ये अपनी इच्छानुसार—जो-जो इन्हें इष्ट हों उन सभी बाह्य पदार्थोंमें मनको भ्रमाने लगते हैं। अर्थात् इष्ट सरस और स्वादु भोजनके निमित्तसे इन्द्रियाँ स्वाधीन नहीं रह सकतीं।

६. पौष्टिक भोजन नहीं लेते हैं

त. सू./७/७,३५···वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥ सचित्त-सम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥३५॥

द्रवो वृष्योऽभिषवः (स. सि.)—गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीरके संस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए ब्रह्मचर्य व्रतको पाँच भावनाएँ हैं ॥७॥ सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार अर्थात् सचित्त या सचित्तसे सम्बन्धको प्राप्त अथवा सचित्त से मिला हुआ आहार, अभिषवाहार और ठीक न पका हुआ आहार, इनका ग्रहण उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं ॥७॥ यहाँ द्रव, वृष्य और अभिषव इनका एक अर्थ है अर्थात् पौष्टिक आहार इसका अर्थ है। (स. सि./७/३५/३७१/६)।

अन. ध./४/१०२ को न वाजीकृतां दृप्तः कन्दर्पं कन्दलयेदतः। ऊर्ध्वमूल-मधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः ॥१०२॥ —मनुष्योंको घोड़ेके समान बना देनेवाले दुग्ध प्रभृति वीर्य प्रवर्धक पदार्थोंको वाजीकरण कहते हैं। इसमें ऐसा कौन सा पदार्थ है जो कि उद्दृप्त—उत्तेजित होकर कामदेवको उद्भूत नहीं कर देता अर्थात् सभी सगर्व पदार्थ ऐसे ही हैं। क्योंकि ऋषियोंने पुरुषका स्वरूप ऊर्ध्वमूल और अधःशाख माना है। जिह्वा और कण्ठ प्रभृति अवयव मनुष्यके मूल हैं और हस्तादि अवयव शाखाएँ हैं। जिस प्रकार वृक्षके मूलमें सिञ्चन किये गये सिञ्चनका प्रभाव उसकी शाखाओंपर पड़ता है उसी प्रकार जिह्वादिकके द्वारा उपयुक्त आहारादिकका प्रभाव हस्तादिक अंगों पर पड़ता है।

क्रि. को./६८२ अतिदुर्जर आहार जे वस्तु गरिष्ट सु होय। नहीं जोग जिनवर कहें तजे धन्न हैं सोय ॥६८२॥—जो अत्यन्त गरिष्ठ आहार है उसको ग्रहण करना योग्य नहीं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। जो नर उसका त्याग करते हैं वे धन्य हैं।

७. गृद्धता या स्वच्छन्दता सहित नहीं लेते

भ. आ./मू./२९०, २९२ एसा गणधरमेरा आयारत्थाण वण्णियासुत्ते। लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ।२९०। पिंडं उवधिं सेज्जा-मविसोधिय जो खु भुंजमाणो हु। मूलट्ठाणं पत्तो बालो त्ति य णो समणबालो ।२९२। —यह अच्छा संयत मुनि है, ऐसा मेरा जगतमें यश फैले अथवा अपने मतका प्रकाशन करनेसे मेरेको लाभ होगा

ऐसे भाव मनमें धारण करके केवल चारित्र रक्षार्थ ही निर्दोष आहारादिकको जो ग्रहण करता है वही सचारित्र मुनि समझना चाहिए।२६०। उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसतिका इनको जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणि संयम व इन्द्रिय संयम है ही नहीं वह साधु मूल स्थान प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है, वह अज्ञानी है, वह केवल नग्न है, वह यति भी नहीं है, और न गणधर ही है।

मू. आ./६३१ जो जट्ठा जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधियादीयं। समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होदि ।६३१। –जो साधु जिस शुद्ध अशुद्ध देशमें जैसा शुद्ध अशुद्ध मिला आहार व उपकरण ग्रहण करता है वह श्रमण गुणसे रहित योगी संसारका बढ़ानेवाला ही होता है।

सू. पा./मू./९ उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य। जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ।९।

लिं. पा./मू./१३ धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं। अवरुपरूई संतो जिणमग्गिण होइ सो समणो ।१३। –जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिंहवत् निर्भय हुआ आचरण करता है और बहुत परिकर्म कहिए तपश्चरणादि क्रिया कर युक्त है, तथा गुरुके भारवाला है अर्थात् बड़े पदवाला है, संघ नायक कहलाता है, और जिन सूत्रसे च्युत हुआ स्वच्छन्द प्रवर्तता है तो वह पाप ही को प्राप्त होय है, मिथ्यात्वको प्राप्त होय है ।९। जो लिंगधारी पिण्ड अर्थात् आहारके लिए दौड़े है, आहारके लिए कलह करके उसे खाता है तथा उसके निमित्त परस्पर अन्यसे ईर्ष्या करता है वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है ।१३। (और भी दे० साधु/५)

८. दातारपर भार न पड़े इस प्रकार लेते हैं

रा.वा./९/६/१६/५९७/२९ दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहारमिति भ्रमाहार इत्यपि परिभाष्यते। –दातृ जनोंको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलसे भ्रमरकी तरह आहार लेते हैं। अतः उनकी भिक्षा वृत्तिको भ्रामरीवृत्ति और आहारको भ्रमराहार कहते हैं।

मो. मा. प्र./६/२७० मुनिनिकै भ्रमरी आदि आहार लेनेकी विधि कही है। ए आसक्त होय दातारके प्राण पीड़ि आहारादिक ग्रहैं हैं।··· इत्यादि अनेक विपरीतता प्रत्यक्ष प्रति भासै अर आपकौ मुनि मानै, मूल गुणादिकके धारक कहावै।

९. भाव सहित दिया व लिया गया आहार ही वास्तवमें शुद्ध है

मू. आ./४८५ पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्व दोत्ति तं दव्वं। फासुगमिदि सिद्धे वि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु ।४८५। –साधु द्रव्य व भाव दोनोंसे प्रासुक द्रव्यका भोजन करे। जिसमें-से एकेन्द्री जीव निकल गये वह द्रव्य प्रासुक है और जो प्रासुक आहार होनेपर भी "मेरे लिए किया गया है" ऐसा चिन्तन करे वह भावसे अशुद्ध जानना, तथा चिन्तन नहीं करना वह भाव शुद्ध आहार है।

अन. ध./५/६७ द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते। भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ।६७। –यदि अन्न–भोज्य सामग्री द्रव्यतः शुद्ध भी हो किन्तु भावतः–'मेरे लिए इसने यह बहुत अच्छा किया' इत्यादि परिणामोंकी दृष्टिसे अशुद्ध है तो उसको अशुद्ध–सर्वथा दूषित ही समझना चाहिए। क्योंकि बन्ध मोक्षके कारण परिणाम ही माने हैं। आगममें अशुद्ध परिणामोंको कर्मबन्धका और विशुद्ध परिणामोंको संसारका कारण बताया है। अतएव जो अन्न द्रव्यसे शुद्ध रहते हुए भी भावसे भी शुद्ध हो वही ग्रहण करना चाहिए।

३. आहार व आहारकालका प्रमाण

१. स्वस्थ साधुके आहारका प्रमाण

मू. आ./४९१ अद्धमसणस्स सव्विजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण। वाऊ संचरणट्ठं चउथमवसेसये भिक्खु ।४९१। –साधु उदरके चार भागोंमें-से दो भाग तो व्यंजन सहित भोजनसे भरे, तीसरा भाग जलसे परिपूर्ण करे और चौथा भाग पवनके विचरणके लिए खाली छोड़े ।४९१।

प्र. सा./मू./२२९···अपरिपूर्णोदरो यथालब्धः।···।२२९। –यथालब्ध तथा पेट न भरे इतना भोजन दिनमें एक बार करते हैं।

२. साधुके आहार ग्रहण करनेके कालकी मर्यादा

मू. आ./४९२···/ तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिमुक्कस्से। –भोजन कालमें तीन मुहूर्त लगना व जघन्य आचरण है, दो मुहूर्त लगना व मध्यम आचरण है, और एक मुहूर्त लगना व उत्कृष्ट आचरण है। (मू. आ./३५) (अन. ध./९/९२)

४. आहारके दोष

१. ४६ दोषोंका नाम निर्देश

मू. आ./४२१-४७७ उग्गम उप्पादन एसणं संजोजणं पमाणं च। इंगालधूमकारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ।४२१। आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवसोय पूदि मिस्से य। पामिच्छे बलि पाहुडिदे पादुकारे य कीदे य ।४२२। पामिच्छे परियट्टे अभिहडमच्छिण्ण मालआरोहे। आच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गदोसादु सोलसिमे ।४२२। धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिंछे। कोधी माणी मायी लोभी य हवंति दस एदे ।४४५। पुव्वीपच्छा संथुदि विज्जमंते य चुण्णजोगे य। उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ।४४६। संकिदमक्खिदपिहिदसंववहरणदायगुम्मिस्से। अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसाइं दस एदे ।६२। –१. सामान्य दोष–उद्गम, उत्पादन, अशन, संयोजन प्रमाण, अंगार या आगर और धूम कारण–इन आठ दोषों कर रहित, जो भोजन लेना वह आठ प्रकारकी पिण्ड शुद्धि कही है। २. उद्गम दोष–गृहस्थके आश्रित जो चक्की आदि आरम्भ रूप कर्म वह अधःकर्म है उसका तो सामान्य रीतिसे साधुको त्याग ही होता है। तथा उपरोक्त मूल आठ दोषोंमें-से उद्गम दोषके सोलह भेद कहते हैं–औद्देशिक दोष, अध्यधि दोष, पूतिदोष, मिश्र दोष, स्थापित दोष, बलि दोष, प्रावर्तित दोष, प्राविष्करण दोष, क्रीत दोष, प्रामृश्य दोष, परिवर्तक दोष, अभिघट दोष, अच्छिन्न दोष, मालारोह दोष, अच्छेद्य दोष, अनिसृष्ट दोष। ३. उत्पादन दोष–सोलह दोष उत्पादनके हैं–धात्री दोष, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सक, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, ये दस दोष। तथा पूर्व संस्तुति, पश्चात् संस्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग, मूल कर्म छह दोष ये हैं। ४. अशन दोष–शंकित, मृक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त ये दश दोष अशनके हैं। (चा. सा./६८–७२/४) (अन. ध./५/५–३७) (भा. पा./टी./९९)

२. १४ मल दोष

मू. आ./४८४ णहरोमजंतुअट्ठीकणकुंडयपुयिचम्मरुहिरमंसाणि। बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउदसा होंति ।४८४। –नख रोम (बाल) प्राण रहित शरीर, हाड़, गेहूँ आदिका कण, चावलका कण, खराबलोही (राधि) चाम, लोही, मांस, अंकुर होने योग्य गेहूँ आदि, आम्र आदि फल, कंद मूल–ये चौदह मल हैं। इनको देखकर आहार त्याग देना चाहिए। (वसु. श्रा./२३१ का विशेषार्थ)

अन. ध./५/३१ पूयास्रपलमस्थ्यजिनं नखः कचमृतविकलत्रके कन्दः। बीजं मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतुर्दशान्नगताः ।३१। =जिनसे कि संसक्त—स्पृष्ट होनेपर अन्नादिक आहार्य सामग्री साधुओंको ग्रहण न करनी चाहिए उनको मल कहते हैं। उनके चौदह भेद हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं। —पीब-फोड़े आदिमें हो जानेवाला कच्चा रुधिर, तथा साधारण रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म, नख, केश, मरा हुआ विकलत्रय, कन्द सूरण आदि, जो उत्पन्न हो सकता है ऐसा गेहूँ आदि बीज, मूली अदरख आदि मूल, बेर आदि फल, तथा कण—गेहूँ आदिका बाह्य खण्ड, और कुण्ड—शाली आदिके सूक्ष्म अभ्यन्तर अवयव अथवा बाहरसे पक्व और भीतरसे अपक्वको कुण्ड कहते हैं।

३. ७ विशेष दोष

मू. आ./८१२ उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च। सत्तुप्पडिकुट्ठाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जेंति ।८१२। —औद्देशिक, क्रीततर, अज्ञात, शंकित, अन्य स्थानसे आया सूत्रके विरुद्ध और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको वे मुनि त्याग देते हैं ।८१२।

४. ४६ दोषोंके लक्षण

मू. आ./४२७-४४४—उद्गम दोष : जलतंदुल पक्खेवो दाणट्ठं संजदाण सयपयणे। अज्झोवोज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ।४२७। अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तु। चुल्ली उक्खलिदव्वी भायणमंधत्ति पंचविहं ।४२८। पासंडेहिं य सद्धं सागरेहिं य जदण्णमुद्दिसिगं। दावुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ।४२९। पागादु भायणाओ अण्णह्मि य भायणह्मिपक्खविय। सघरे वा परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि ।४३०। जक्खयणागदीणं बलिसेसं स बलित्ति पण्णत्तं। संजदआगमणट्ठं बलियम्मं वा बलिं जाणे ।४३१। पाहुडिहं दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केकं। ओकस्सणमुक्कस्सणमह कालोवट्टणावड्ढी ।४३२। दिवसे पक्खे मासे वासे परत्तीय बादरं दुविहं। पुव्वपरमज्झवेलं परियत्तं दुविहं सुहुमं च ।४३३। पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो। भायण भोयणदीणं मंडवविरलादियं कमसो ।४३४। कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपरं दुविहं। सच्चितादी दव्वं विज्जामंतादि भावं च ।४३५। लहरिय रिणं तु भणियं पामिच्छे ओदणादि अण्णदरं। तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढियं चावि ।४३६। बीहीकूरादीहिं य सालीकूरादियं तु जं गहिदं। दातुमिति संजदाणं परियट्ट होदि णायव्वं ।४३७। देसत्ति य सव्वत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि। आचिण्णमणाचिण्णं देसाविहडं हवे दुविहं ।४३८। उज्जुत्तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं। परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ।४३९। सव्वाभिघडं चदुधा सयपरगामे सदेसपरदेसे। पुव्वपरपाडणयडं पढमं सेसं पि णादव्वं ।४४०। पिहिदं लंछिदयं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं। उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं ।४४१। णिस्सेणीकट्ठादीहि णिहिदं पूवादियं तु घित्तूणं। मालारोहिं किच्चा देयं मालारोहणं णाम ।४४२। रायाचोरादीहिं य संजदभिक्खसमं तु दट्ठूणं। बीहेदूण णिजुज्जं अच्छिज्जं होदि णादव्वं ।४४३। अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरसह णिस्सरं चदुवियप्पं। पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ।४४४।

मू. आ./४४७-४६१ १६ उत्पादन दोष—मज्जणमंडणधादी खेल्लावखीरअंबधादी य। पंचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु ।४४७। जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे। संबंधिवयणणयणं दूदीदोसो भवदि एसो ।४४८। वंजणमंगं च सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च। लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होह णेमित्तं ।४४९। जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं। तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ।४५०। साणकिविणतिधिमाहणपासंडियसवणकागदाणादी। पुण्णं णवेति पुट्ठे पुण्णोत्ति वणीवत्तं वयणं ।४५१। कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूदखारतंतं च। सालंकियं च सल्लं तिगिंछदोसो दु अट्ठविहो ।४५२। कोधेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो। उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ।४५३। दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति। पुव्वीसंथुदि दोसो विस्सरिदं बोधणं चावि ।४५५। पच्छासंथुदिदोसो दाणंगहिदूण तं पुणो कित्तिं। विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति ।४५६। विज्जासाधित सिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं। तस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ।४५७। सिद्धे पढिदे मंते तस्स य आसापदाणकरणेण। तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ।४५८। आहारदायगाणं विज्जामंतेहिं देवदाणं तु। आहुय साधिदव्वा विज्जामंतो हवे दोसो ।४५९। णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं। चुण्णं तेणुप्पदो चुण्णयदोसो हवदि एसो ।४६०। अवसाणं वसियसणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं। भणिदं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ।४६१।

मू.आ./४६३-४७५ '१० अशन दोष'—असणं च पाणयं वा खादियमध सादियं च अज्झप्पे। कप्पियमकप्पियत्ति य संदिद्धं संकियं जाणे ।४६३। ससिणिद्धेण य देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए। एसो मक्खिददोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा ।४६४। सच्चित्तपुढविआऊतेऊहरिदं च बीयतसजीवा। जं तेसिमुवरि हठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं ।४६५। सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं च। जं छंडिय जं देयं पिहिदं तं होदि बोधव्वं ।४६६। संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल भायणादीणं। असमिक्खय जं देयं संववहरणो हवदि दोसो ।४६७। सूदी सुंडी रोगीमदयणपुंसय पिसायणग्गो य। उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणी अंगमक्खिया ।४६८। अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिय। अंतरिदाव विसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ।४६९। पूयणं पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च विज्झवणं। किच्चा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ।४७०। लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खिविय। एवं विहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ।४७१। पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा। पंचेहिं तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ।४७२। तिलतंडुलउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविधुत्थं। अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो ।४७३। गेरुय हरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण। सपवालोदणलेवे ण व देयं करभायणे लित्तं ।४७४। बहुपरिसाडणमुज्झिअ आहारो परिगलंत दिज्जंतं। छंडिय भुंजणमहवा छंडियदोसो हवेणेओ ।४७५।

मू. आ./४७६-४७७ संयोजना आदि ४ दोष—संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्तपाणं तु। अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ।४७६। तं होदि सयंगालं जं आहारेदि मुच्छिदो संतो। तं पुण होदि सधूमं जं आहारेदि णिंदिदो ।४७७।

१. अधःकर्मादि १६ उद्गम दोष—

१. अधःकर्मदोष—दे० अधः कर्म। २. अध्यधि दोष—संयमी साधु को आता देख उनको देनेके लिए अपने निमित्त चूल्हेपर रखे हुए जल और चावलोंमें और अधिक जल और चावल मिलाकर फिर पकावे। अथवा जब तक भोजन तैंय्यार न हो, तब तक धर्म प्रश्न के बहाने साधु को रोक रखे, वह अध्यधि दोष है। ३. पूतिदोष—प्रासुक आहारादिक वस्तु सचित्तादि वस्तुसे मिश्रित हो वह पूति दोष है। प्रासुक द्रव्य भी पूतिकर्मसे मिला पूतिकर्म कहलाता है। उसके पाँच भेद हैं—चूल्ही (चूल्हा), ओखली, कड़छी, पकानेके बासन तथा गन्ध युक्त द्रव्य। इन पाँचो में संकल्प करना कि इन चूलि आदि से पका भोजन जब तक साधुको न दे दें तब तक अन्य किसीको

नहीं देंगे। ये ही पाँच आरम्भ दोष हैं जो पूति दोष में गर्भित हैं ।४२८। ४. मिश्र दोष—प्रासुक तैयार हुआ भोजन अन्य भेषधारियों के साथ तथा गृहस्थोंके साथ संयमी साधुओंको देनेका उद्देश्य करे तो मिश्र दोष जानना ।४२९। ५. स्थापित दोष—जिस भाजनमें पकाया था उससे दूसरे भाजनमें पके भोजनको रखकर अपने घरमें तथा दूसरेके घरमें जाकर उस अन्नको रख दे उसे स्थापित दोष जानना ।४३०। ६. बलिदोष—यक्ष नागादि देवताओंके लिए जो बलि (पूजन) किया हो उससे शेष रहा भोजन बलिदोष सहित है। अथवा संयमियोंके आगमन के लिए जो बलि कर्म (सावद्य पूजन) करे वहाँ भी बलि दोष जानना ।४३१। ७. प्राभृतदोष—प्राभृत दोष-के दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म। इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं—अपकर्षण और उत्कर्षण। कालकी हानिका नाम अपकर्षण है, और कालकी वृद्धिको उत्कर्षण कहते हैं ।४३२। दिन, पक्ष महीना, वर्ष इनको बदल कर जो आहार दान देना वह बादर प्राभृत दोष है। वह बादर दोष उत्कर्षण व अपकर्षण करने से दो प्रकार का है। सूक्ष्म प्रावर्तित दोष भी दो प्रकार का है। पूर्वाह्न समय व अपराह्न समय को पलटनेसे कालको बढ़ाना घटाना रूप है ।४३३। ८. प्रादुष्कार दोष—प्रादुष्कार दोषके दो भेद हैं—संक्रमण और प्रकाशन। साधुके आ जानेपर भोजन भाजन आदिको एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाना संक्रमण है और भाजन-को मांजना वा दीपकका प्रकाश करना अथवा मण्डपका उद्योतन करना आदि प्रकाशन दोष हैं ।४३४। ९. क्रीत दोष—क्रीततर दोषके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। हर एक के पुनः दो भेद हैं—स्व व पर। संयमीके भिक्षार्थ प्रवेश करनेपर गाय आदि देकर बदलेमें भोजन लेकर साधुको देना द्रव्य क्रीत है। प्रज्ञप्ति आदि विद्या या चेटकादि मन्त्रोंके बदलेमें आहार लेके साधुको देना भावक्रीत दोष है ।४३५। १०. प्रामृष्य दोष—साधुओंको आहार करानेके लिए दूसरेसे उधार भात आदिक भोजन सामग्री लाकर देना प्रामृष्य दोष है। उसके दो भेद हैं—सवृद्धिक और अवृद्धिक। कर्जसे अधिक देना सवृद्धिक है। जितना कर्ज लिया उतना ही देना अवृद्धिक है ।४३६। ११. परिवर्त दोष—साधुओंको आहार देनेके लिए अपने साठी के चावल आदिक देकर दूसरेसे बढ़िया चावलादिक लेकर साधुको आहार दे वह परिवर्त दोष जानना ।४३७। १२. अभिघट दोष—अभिघट दोषके दो भेद हैं—एक देश और सर्वदेश। उसमें भी देशाभिघटके दो भेद हैं—आचिन्न और अनाचिन्न। पंक्तिबद्ध सीधे तीन अथवा सात घरोंसे आया योग्य भोजन आचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। और तितर-बितर किन्हीं सात घरोंसे आया अथवा पंक्तिबद्ध आठवाँ आदि घरोंसे आया हुआ भोजन अनाचिन्न है अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है ।४३९। सर्वाभिघट दोषके चार भेद हैं—स्वग्राम, पर-ग्राम, स्वदेश और परदेश। पूर्वादि दिशाके मोहल्लेसे पश्चिमादि दिशाके मोहल्लेमें भोजन ले जाना स्वग्रामाभिघट दोष है। इसी तरह शेष तीन भी जान लेने। इसमें ईर्यापथका दोष आता है ।४४०। १३. उद्भिन्न दोष—मिट्टी लाख आदिसे ढका हुआ अथवा नामकी मोहर कर चिह्नित जो औषध घी वा शक्कर आदि द्रव्य हैं अर्थात् सील बन्द पदार्थोंको उघाड़ कर या खोलकर देना उद्भिन्न दोष है। इसमें चींटी आदिके प्रवेशका दोष लगता है ।४४१। १४. मालारोहण दोष—काष्ठ आदिकी बनी हुई सीढ़ी अथवा पैड़ीसे घरके ऊपरके खन पर चढ़कर वहाँ रखे हुए पूवा लड्डू आदि अन्नको लाकर साधु-को देना मालारोहण दोष है। इसमें दाताको विघ्न होता है ।४४२। १५. आछेद्य दोष—संयमी साधुओंके भिक्षाके परिश्रमको देख राजा, चोर आदि गृहस्थियोंको ऐसा डर दिखाकर ऐसा कहें कि यदि तुम इन साधुओंको भिक्षा नहीं दोगे तो हम तुम्हारा द्रव्य छीन लेंगे, ऐसा डर दिखाकर दिया गया आहार वह आछेद्य दोष है ।४४३। १६. अनिसृष्ट दोष—अनीशार्थके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। दोनोंके भी मिलाकर चार भेद हैं। पहला भेद ईश्वर सारक्ष तथा ईश्वरके तीन भेद—व्यक्त, अव्यक्त व संघाट। दानका स्वामी देने-की इच्छा करे और मन्त्री आदि मना करें तो दिया हुआ भोजन भी अनीशार्थ है। स्वामीसे अन्य जनोंका निषेध किया अनीश्वर कहलाता है। वह व्यक्त अर्थात् वृद्ध, अव्यक्त अर्थात् बाल और संघाट अर्थात् दोनोंके भेदसे तीन प्रकारका है ।४४४। (चा. सा./६९/२) (अन. ध. ५/५-६)

२. धात्री आदि १६ उत्पादन दोष

१. धात्री दोष—पोषण करे वह धाय कहलाती है। वह पाँच प्रकारकी होती है—स्नान करानेवाली, आभूषण पहनानेवाली, बच्चोंको रमाने-वाली, दूध पिलानेवाली तथा मातावत अपने पास सुलानेवाली। इनका उपदेश करके जो साधु भोजन ले तो धात्री दोष युक्त होता है। इससे स्वाध्यायका नाश होता है तथा साधु मार्गमें दूषण लगता है ।४४७। २. दूत दोष—कोई साधु अपने ग्रामसे व अपने देशसे दूसरे ग्राममें व दूसरे देशमें जलके मार्ग नावमें बैठकर व स्थलमार्ग व आकाशमार्गसे होकर जाय। वहाँ पहुँच कर किसीके सन्देशको उसके सम्बन्धीसे कह दे, फिर भोजन ले तो वह दूत दोषयुक्त होता है ।४४८। ३. निमित्त दोष—निमित्त ज्ञानके आठ भेद हैं—मसा, तिल आदि व्यञ्जन, मस्तक आदि अंग, शब्द रूप स्वर, वस्त्रादिकका छेद वा तल-वारादिका प्रहार, भूमिविभाग, सूर्यादि ग्रहोंका उदय अस्त होना, पद्म चक्रादि लक्षण और स्वप्न। इन अष्टांग निमित्तोंसे शुभाशुभ न कहकर भोजन लेनेसे साधु निमित्त दोष युक्त होता है ।४४९। ४. आजीव दोष—जाति, कुल, चित्रादि, शिल्प तपश्चरणकी क्रिया आदि द्वारा अपनेको महान् प्रगट करने रूप वचन गृहस्थोंको कहकर आहार लेना आजीव दोष है। इसमें बलहीनपना व दीनपनाका दोष आता है ।४५०। ५. वनीपक दोष—कोई दाता ऐसे पूछे कि कुत्ता, कृपण, भिखारी, असदाचारी, ब्राह्मण, भेषी साधु, तथा त्रिदण्डी आदि साधु और कौआ इनको आहारादि देनेमें पुण्य होता है या नहीं? तो उसकी रुचिके अनुकूल ऐसा कहा कि पुण्य ही होता है। फिर भोजन करे तो वनीपक दोष युक्त होता है। इसमें दीनता प्रगट होती है ।४५१। ६. चिकित्सा दोष—चिकित्सा शास्त्रके आठ भेद हैं—बालचिकित्सा, शरीरचिकित्सा, रसायन, विषतंत्र, भूततंत्र, क्षारतंत्र, शलाकाक्रिया, शल्यचिकित्सा। इनका उपदेश देकर आहार लेनेसे चिकित्सा दोष होता है ।४५२। ७-१०. क्रोधी, मानी, मायी लोभी दोष—क्रोधसे भिक्षा लेना, मानसे आहार लेना, मायासे आहार लेना, लोभसे आहार लेना, इस प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ रूप उत्पादन दोष होता है ।४५३। ११. पूर्वस्तुति दोष—दातारके आगे 'तुम दानपति हो, यशोधर हो, तुम्हारी कीर्ति लोक प्रसिद्ध है' इस प्रकारके वचनों द्वारा उसकी प्रशंसा करके आहार लेना, अथवा दातार यदि भूल गया हो तो उसे याद दिलाया कि पहले तो तुम बड़े दानी थे, अब कैसे भूल गये, इस प्रकार प्रशंसा करके आहार लेना पूर्व स्तुति दोष है ।४५५। १२. पश्चात् स्तुति दोष—आहार लेकर पीछे जो साधु दाताकी प्रशंसा करे कि तुम प्रसिद्ध दानपति हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध है, ऐसा कहनेसे पश्चात् स्तुति दोष लगता है ।४५६। १३. विद्या दोष—जो साधने से सिद्ध हो वह विद्या है, उस विद्याकी आशा देनेसे कि हम तुमको विद्या देंगे तथा उस विद्याकी महिमा वर्णन करनेसे जो आहार ले उस साधुके विद्या दोष आता है ।४५७। १४. मंत्र दोष—पढ़ने मात्रसे जो मन्त्र सिद्ध हो वह पठित सिद्ध मन्त्र होता है, उस मन्त्रकी आशा देकर और उसकी महिमा कहकर जो साधु आहार ग्रहण करता है उसके मन्त्र दोष होता है ।४५८। आहारके देने वाले व्यन्तरादि देवोंको विद्या तथा मन्त्रसे बुलाकर साधन करे वह विद्या मन्त्र दोष है। अथवा आहार देने वाले गृहस्थोंके देवताको बुलाकर साधना वह भी विद्या मन्त्र दोष है ।४५९। १५. चूर्ण दोष—नेत्रोंका अंजन, भूषण साफ करनेका चूर्ण, शरीरकी शोभा बढ़ाने वाला चूर्ण—इन चूर्णोंकी विधि बतलाकर आहार ले

यहाँ चूर्ण दोष होता है ।४६०। १६. मूल कर्म दोष—जो वशमें नहीं है उनको वशमें करना, जो स्त्री पुरुष वियुक्त हैं उनका संयोग कराना—ऐसे मन्त्र-तन्त्र आदि उपाय बतलाकर गृहस्थोंसे आहार लेना मूलकर्म दोष है । (चा.सा./७१/१), (अन.ध./५/२०–२५)

३. शंकितादि १० अशन दोष

१. शंकित दोष—अशन, पान, खाद्य व स्वाद्य यह चार प्रकार भोजन आगमानुसार मेरे लेने योग्य है अथवा नहीं ऐसे सन्देह सहित आहार को लेना शंकित दोष है ।४६३। २. मृक्षित दोष—चिकने हाथ व पात्र तथा कड़छीसे भात आदि भोजन देना मृक्षित दोष है । उसका सदा त्याग करे ।४६४। ३. निक्षिप्त दोष—अप्रासुक सचित्त पृथिवी, जल, तेज, हरितकाय, बीजकाय. त्रसकाय, जीवोंके ऊपर रखा हुआ आहार इस प्रकार छह भेद वाला निक्षिप्त दोष है ।४६५। ४. पिहित दोष—जो आहार अप्रासुक वस्तुसे ढँका हो, उसे उघाड़ कर दिये गये आहार को लेना पिहित दोष है ।४६६। ५. संव्यवहरण दोष—भोजनादिका देन-लेन शीघ्रतासे करते हुए. बिना देखे भोजन-पान दे तो उसको लेनेमें संव्यवहरण दोष होता है ।४६७। ६. दायक दोष—जो स्त्री-बालकका शृंगार कर रही हो, मदिरा पीनेमें लम्पट हो, रोगी हो, मुरदेको जलाकर आया हो, नपुंसक हो, वायु आदिसे पीड़ित हो, वस्त्रादि ओढ़े हुए न हो, मूत्रादि करके आया हो, मूर्छासे गिर पड़ा हो, वमन करके आया हो, लोहू सहित हो, दास या दासी हो, अर्जिका रक्तपटिका आदि हो, अंगको मर्दन करने वाली हो,—इन सबोंके हाथसे मुनि आहार न लें ।४६८। अति बालक हो, अधिक बूढ़ी हो, भोजन करती जूठे मुँह हो, पाँच महीना आदिके गर्भसे युक्त हो, अन्धी हो, भीत आदिके आँतरेसे या सहारेसे बैठी हो, ऊँची जगह पर बैठी हो, नीची जगह बैठी हो ।४६९। मुँहसे फूँककर अग्नि जलाना, काठ आदि डालकर आग जलाना, काठको जलानेके लिए सरकाना, राखसे अग्निको ढँकना, जलादिकसे अग्निका बुझाना, तथा अन्य भी अग्निको निर्वातन व घट्टन आदि करने रूप कार्य करते हुए भोजन देना ।४७०। गोबर आदिसे भीतिका लीपना, स्नानादि क्रिया करना, दूध पीते बालकको छोड़कर आहार देना, इत्यादि क्रियाओंसे युक्त होते हुए आहार दे तो दायक दोष जानना ।४७१। ७. उन्मिश्र दोष—मिट्टी, अप्रासुक जल, पान—फूल, फल आदि हरी, जौ गेहूँ आदि बीज, द्वीन्द्रियादिक त्रस जीव—इन पाँचोंसे मिला हुआ आहार लेनेसे उन्मिश्र दोष होता है ।४७२। ८. अपरिणत दोष—तिलके धोनेका जल, चावलका जल, गरम होके ठण्डा हुआ जल, तुषका जल, हरड़ चूरण आदि कर भी परिणत न हुआ जल हो, वह नहीं ग्रहण करना । ग्रहण करनेसे अपरिणत दोष आता है ।४७३। ९. लिप्त दोष—गेरू, हरताल, खड़िया, मैनशिल, चावल आदिका चून, कच्चा शाक—इनसे लिप्त हाथ तथा पात्र अथवा अप्रासुक जलसे भींगा हाथ तथा पात्र इन दोनोंसे भोजन दे तो लिप्त दोष आता है ।४७४। १०. त्यक्तदोष—बहुत भोजनको थोड़ा भोजन करे अर्थात् जूठ छोड़ना या बहुत-सा भोजन कर पात्रमें-से नीचे गिराता भोजन करे छाछ आदिसे झरते हुए हाथसे भोजन करे अथवा किसी एक आहारको (अशन, पान, खाद्य स्वाद्यादिमें-से किसी एकको) छोड़कर भोजन करे तो उसके त्यक्त दोष आता है ।४७५। (चा. सा./७२/१), (अन. ध./५/२९–३९)

४. संयोजनादि ४ दोष

१. संयोजना दोष—जो ठण्डा भोजन गर्म जलसे मिलाना अथवा ठण्डा जल गर्म भोजनसे मिलाना, सो संयोजना दोष है ।४७६। २. प्रमाण दोष—मात्रासे अधिक भोजन करना प्रमाण दोष है ।४७६। ३. अङ्गार दोष—जो मूर्च्छित हुआ अति तृष्णासे आहार ग्रहण करता है उसके अङ्गार दोष होता है । ४. धूम दोष—जो निन्दा अर्थात् ग्लानि करता हुआ भोजन करता है उसके धूम दोष होता है ।४७७। (चा.सा./७२/४) (अन.ध./५/३७)

५. दातार सम्बन्धी विचार

१. दातारके गुण व दोष

रा. वा./७/३९/४/५५९/२९ प्रतिग्रहीतरि अनसूया त्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः । —पात्रमें ईर्षा न होना, त्यागमें विषाद न होना, देनेकी इच्छा करने वालेमें तथा देने वालोंमें या जिसने दान दिया है सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फलकी आकांक्षा न करना, निदान नहीं करना, किसीसे विसंवाद नहीं करना आदि दाताकी विशेषताएँ हैं । (स.सि. ७/३९/६७३/६)

म.पु./२०/८२–८५ श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलुब्धता । क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ।८२। श्रद्धास्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः । भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादरः ।८३। विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं देयासक्तिरलुब्धता । क्षमातितिक्षा ददतस्त्यागः सद्व्ययशीलता ।८४। इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्रसंपदि । व्यपेतश्च निदानादेः दोषान्निश्रेयसोद्यतः ।८५। —श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग ये दानपति अर्थात् दान देने वालेके सात गुण कहलाते हैं ।८२। श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धिको कहते हैं; आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धाके न होने पर दान देनेमें अनादर हो सकता है । दान देनेमें आलस्य नहीं करना सो शक्ति नामका गुण है, पात्रके गुणोंमें आदर करना सो भक्ति नामका गुण है ।८३। दान देने आदिके क्रमका ज्ञान होना सो विज्ञान नामका गुण है, दान देनेकी आसक्ति को अलुब्धता कहते हैं, सहनशीलता होना क्षमा गुण है और उत्तम द्रव्य दानमें देना सो त्याग है ।।८४।। इस प्रकार जो दाता ऊपर कहे सात गुणों सहित है और निदानादि दोषोंसे रहित होकर पात्ररूपी सम्पदामें दान देता है वह मोक्ष प्राप्त करनेके लिए तत्पर होता है ।८५।

गुण.श्रा./१५१ श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं पुष्टिः शक्तिरलुब्धता । क्षमा च यत्र सप्तैते गुणाः दाता प्रशस्यते ।१५१। —श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, सन्तोष, शक्ति, अलुब्धता और क्षमा ये सात गुण जिसमें पाये जायें वह दातार प्रशंसनीय है ।

पु.सि.उ./१६९ ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् । अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ।१६९। —इस लोक सम्बन्धी फलकी अपेक्षारहित, क्षमा, निष्कपटता, ईर्षारहितता, अखिन्नभाव, हर्षभाव और निरभिमानता, इस प्रकार ये सात निश्चय करके दाताके गुण हैं ।

चा.सा./२९/६ में उद्धृत "श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा । इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ।" —श्रद्धा, भक्ति, निर्लोभता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा आदि सात दान देने वाले गृहस्थों के गुण हैं । (वसु.श्रा./१५१)

सा. ध./५/४७ भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टि-ज्ञानालौल्यक्षमागुणः । नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः ।४७। —भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा इनके साथ असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना इन नौ कोटियों के द्वारा विशुद्ध दानका अर्थात देने योग्य द्रव्यका स्वामी होता है वह दाता कहलाता है ।

२. दान देने योग्य अवस्थाएँ विशेष

भ.आ./वि./१२०६/१२०४/१७ स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन,

मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृह्णीयात्। खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं वा। —जो अपने बालकको स्तन पान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिए। रोगी अतिशय वृद्ध, बालक, उन्मत्त, अंधा, गूंगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिए। लज्जासे जिसने अपना मुँह फेर लिया है, जिसने जूता अथवा चप्पल पर पाँव रखा है, जो ऊँची जगह पर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए। टूटी हुई अथवा खण्डयुक्त हुई ऐसी पलीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिए। (अन० ध०/५/३४ में उद्धृत), (और भी विशेष— दे० आहार II/४/४ में दायक दोष)

६. भोजन ग्रहणके कारण व प्रयोजन

१. संयम रक्षार्थ करते हैं शरीर रक्षार्थ नहीं

मू.आ./४८१,४८३ ण बलाउसाउअट्ठं ण शरीरस्सुवचयट्ठं तेजट्ठं। णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ।४८१।···। जत्तासाधणमत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ।४८३। —साधु बलके लिए, आयु बढ़ानेके लिए, स्वादके लिए, शरीरके पुष्ट होनेके लिए, शरीरके तेज बढ़नेके लिए भोजन नहीं करते। किन्तु वे ज्ञान (स्वाध्याय) के लिए, संयम पालनेके लिए, ध्यान होनेके लिए भोजन करते हैं ।४८१।···प्राणोंके धारणके लिए हो अथवा मोक्ष यात्राके साधनेके लिए हो, और चौदह मलोंसे रहित हो ऐसा भोजन साधु करे ।४८३।

र.सा./११३ भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं। झाणज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरओ ।११३। —जो मुनि केवल संयम और ज्ञानकी वृद्धिके लिए तथा ध्यान और अध्ययन करनेके लिए जो मिल गया शुद्ध भोजन, उसीको ग्रहण करते हैं वे मुनि अवश्य ही मोक्ष मार्गमें लीन रहते हैं।

अन.ध./५/६१ क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्त्यमसुस्थितिम्। वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः ।६१। —क्षुधा बाधाका उपशमन, संयमकी सिद्धि, और स्व परकी वैयावृत्य,—आपत्तियोंका प्रतिकार करनेके लिए तथा प्राणोंकी स्थिति बनाये रखनेके लिए एवं आवश्यकों और ध्यानाध्ययनादिकोंको निर्विघ्न चलते रहनेके लिए मुनियोंको आहार ग्रहण करना चाहिए। और भी—दे० नीचे मू० आ०/४७६।

२. शरीरके रक्षणार्थ भी कथंचित् ग्रहण

मू.आ./४७६ वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संयमट्ठाए। तध पाण धम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।४७६। —क्षुधाकी वेदनाके उपशमार्थ, वैयावृत्य करनेके लिए, छह आवश्यक क्रियाके अर्थ, तेरह प्रकार चारित्रके लिए, प्राण रक्षाके लिए, उत्तम क्षमादि धर्मके पालनके लिए भोजन करना चाहिए। और भी दे० ऊपर—(अन० ध०/५/६१)

र.सा./११६ बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो। तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू ।११६। —यह शरीर दुःखोंका पात्र है, कर्म आनेका कारण है और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसे शरीरको मुनिराज कभी पोषण नहीं करते हैं, किन्तु यही शरीर धर्मानुष्ठानका कारण है, यही समझकर इस शरीरसे धर्म सेवन करनेके लिए और मोक्षमें पहुँचनेके लिए मुनिराज इसको थोड़ा सा आहार देते हैं।

प.पु./४/९७···। भुञ्जते प्राणधृत्यर्थं प्राणा धर्मस्य हेतवः ।७६। —(मुनि) भोजन प्राणोंकी रक्षाके लिए ही करते हैं, क्योंकि प्राण धर्मके कारण हैं।

३. शरीरके उपचारार्थ औषध आदिकी भी इच्छा नहीं

मू.आ./८३९-८४० उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव। अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति ।८३९। ण य दुम्मणा ण विहला अणाउला होंति चेव सप्पुरिसा। णिप्पडियम्मसरीरा देंति उरं वाहिरोगाणं ।८४०। —ज्वररोगादिक उत्पन्न होने पर भी तथा मस्तकमें पीड़ा होने पर भी चारित्रमें दृढ़ परिणाम वाले वे मुनि पीड़ाको सहन कर लेते हैं परन्तु शरीरका इलाज करनेकी इच्छा नहीं रखते ।८३९। वे सत्पुरुष रोगादिकके आने पर भी मनमें खेद खिन्न नहीं होते, न विचारशून्य होते हैं, न आकुल होते हैं किन्तु शरीरमें प्रतिकार रहित हुए व्याधि रोगोंके लिए हृदय दे देते हैं। अर्थात् सबको सहते हैं।

४. शरीर व संयमार्थ ग्रहणका समन्वय

मू आ./८१५ अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं। पाणं धम्मणिमित्तं धम्मंपि चरंति मोक्खट्ठं ।८१५। —गाड़ीके धुरा चुपरनेके समान, प्राणोंके धारणके निमित्त वे मुनि आहार लेते हैं, प्राणोंको धारण करना धर्मके निमित्त है और धर्मको मोक्षके निमित्त पालते हैं ।८१५।

प्र.सा./त.प्र./२३० बालवृद्धश्रान्तग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः। —बाल, वृद्ध-श्रान्त-ग्लानके संयमका जो कि शुद्धात्म तत्त्व का साधनभूत होनेसे मूलभूत है उसका छेद जैसे न हो उस प्रकारका संयत ऐसा अपने योग्य अतिकठोर आचरण आचरते हुए (उसके) शरीरका—जो कि शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत है उसका (भी) छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानके (अपने) योग्य मृदु आचरण भी आचरना। इस प्रकार अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग है।

आ.अनु./११६-११७ अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत्। तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ।११६। क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः। यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ।११७। —जिनके हृदयमें विरक्ति उत्पन्न हुई है, वे शरीरकी रक्षा करके जो चिरकाल तक तपश्चरण करते हैं, वह निश्चयसे ज्ञानका ही प्रभाव है ऐसा प्रतीत होता है ।११६। यदि ज्ञान पौंचे (हथेलीके ऊपरका भाग) को ग्रहण करके रोकने वाला न होता तो कौन-सा विवेकी जीव उस शरीरके साथ आधे क्षणके लिए भी रहना सहन करता ! अर्थात् नहीं करता।

अन.ध./४/१४० शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः। इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति ।१४०।

अन.ध./७/९ शरीरमाद्यं किल धर्मसाधनं तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना। तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं, न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ।९। —जिससे धर्मका साधन हो सकता है, उस शरीरकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, इस शिक्षाको आप्त भगवान्के उपदिष्ट प्रवचनका तुष—छिलका समझना चाहिए, क्योंकि आत्म-सिद्धि के लिए शरीर रक्षाका प्रयत्न निरुपयोगी है ।१४०। शरीरके बिना तप तथा और भी ऐसे ही धर्मोंका साधन नहीं हो सकता। अतएव आगममें ऐसा कहा है कि रत्नत्रय रूप धर्मका आद्य साधन शरीर है। इसीलिए साधुओंको भी भोजन पान शयन आदिके द्वारा इसके स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु इस बातको लक्ष्यमें रखना चाहिए कि भोजनादिमें प्रवृत्ति ऐसी व उतनी ही हो जिससे कि इन्द्रियाँ अपने अधीन बनी रहें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि

आहारिकायकी भावनाके वशवर्ती होकर वे उन्मार्गकी तरफ भी दौड़ने लगें।६।

आहारक—जीव हर अवस्थामें निरन्तर नोकर्माहार ग्रहण करता रहता है, इसलिए भले ही कवलाहार करे अथवा न करे वह आहारक कहलाता है। जन्म धारणके प्रथम क्षणसे ही वह आहारक हो जाता है। परन्तु विग्रहगति व केवली समुद्घातमें वह उस आहारको ग्रहण न करनेके कारण अनाहारक कहलाता है। इसके अतिरिक्त किन्हीं बड़े ऋषियोंको एक ऋद्धि प्रगट हो जाती है, जिसके प्रताप से वह इन्द्रियागोचर एक विशेष प्रकारका शरीर धारण करके इस पंच भौतिक शरीरसे बाहर निकल जाते हैं, और जहाँ कहीं भी अर्हन्त भगवान् स्थित हों वहाँ तक शीघ्रतासे जाकर उनका स्पर्श कर शीघ्र लौट आते हैं, और पुनः पूर्ववत् शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, ऐसे शरीरको आहारक शरीर कहते हैं। यद्यपि इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जाता पर विशेष योगियोंको ज्ञान द्वारा इसका वर्ण धवल दिखाई देता है। इस प्रकार आहारक शरीर धारकका शरीरसे बाहर निकलना आहारक समुद्घात कहलाता है। नोकर्माहारके ग्रहण करते रहनेके कारण इसकी आहारक संज्ञा है।

१. आहारक मार्गणा निर्देश

१. आहारक मार्गणाके भेद

ष.खं.१/१,१/सू.१७५/४०१ आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा।१७५। —आहारक मार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं।१७५।

द्र. सं. वृ./टी./१३/४० आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा।—आहारक अनाहारक जीवके भेदसे आहारक मार्गणा भी दो प्रकारकी है।

२. आहारक जीवका लक्षण

प्र.सं./प्रा./१/१७६ आहारइ जीवाणं तिण्हं एक्कदरवग्गणाओ य। भासा मणस्स णियमं तम्हा आहारओ भणिओ।१७६।—जो जीव औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंमें-से उदयको प्राप्त हुए किसी एक शरीरके योग्य शरीर वर्गणाको तथा भाषा वर्गणा और मनोवर्गणाको नियमसे ग्रहण करता है, वह आहारक कहा गया है।१७६। (पं.सं./प्रा./१/१७७), (ध.१/१,१,५/९७—९८/१५३), (पं.सं./सं./१/२४०), (गो.जी./मू./६६४–६६६)।

स.सि./२/३०/१८६/६ त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः। —तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। (रा.वा./२/३०/४/१४०), (त.सा./२/९४)

रा.वा./९/७/११/६०४/१९ उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारः, तद्विपरीतोऽनाहारः। तत्राहारः शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदयाभावाच्च भवति। अनाहारः शरीरनामत्रयोदयाभावात् विग्रहगतिनामोदयाच्च भवति। —उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका आहार है। उससे विपरीत अनाहार है। शरीर नामकर्मके उदय और विग्रहगति नामकर्मके उदयाभावसे आहार होता है।

३. अनाहारक जीवका लक्षण

सं.सि./२/३०/१८६/१० तदभावादनाहारकः।३०। —तीन शरीरों और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलों रूप आहार जिनके नहीं होता, वह अनाहारक कहलाते हैं। (रा.वा./२/३०/४/१४०), (रा.वा./९/७/११/६०४/१९), (त.सा./२/९४)

४. आहारक जीव निर्देश

पं.सं./प्रा./१/१७७ विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य। सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा।१७७। —विग्रहगत जीव, प्रतर व लोक पूरण प्राप्त सयोग केवली और अयोग केवली, तथा सिद्ध भगवान्‌के अतिरिक्त शेष जीव आहारक होते हैं। (ध.१/१,१,४/९९/१५३), (गो.जी./मू./६६६)

स.सि./२/३०/१८६/११ उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारकः।—जब यह जीव उपपाद क्षेत्रके प्रति ऋजुगतिमें रहता है तब आहारक होता है। (क्योंकि शरीर छोड़ने व शरीर ग्रहणके बीच एक समयका अन्तर पड़ने नहीं पाता।)

५. अनाहारक जीव निर्देश

ष.खं.१/१,१/सू.१७७/४१० अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।१७७। —विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके मिथ्यात्व सासादन और अविरति सम्यग्दृष्टि तथा समुद्घातगत केवलियोंके सयोगि केवली, इन चार गुणस्थानोंमें रहने वाले जीव और अयोगी केवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं। (स.सि./१/८/३३/९), (त.सा./२/९५)

त.सू./२/३० एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः। —विग्रहगतिमें एक, दो, तथा तीन समयके लिए जीव अनाहारक होता है।

पं.सं./प्रा./१/१७७ विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य। सिद्धाय अणाहारा···जीवा।१७७। —विग्रहगतिको प्राप्त हुए चारों गतिके जीव, प्रतर और लोक समुद्घातको प्राप्त सयोगि केवली और अयोगि केवली तथा सिद्ध ये सब अनाहारक होते हैं। (ध.१/१,१,४/९९/१५३), (गो.जी./मू./६६६)

रा.वा./२/३०/६/१४०/१२ विग्रहगतौ शेषस्याहारस्याभावः। —विग्रहगति में नोकर्मसे अतिरिक्त बाकीके कवलाहार, लेपाहार आदि कोई भी आहार नहीं होते।

गो.जी./मू./६९८···। कम्मइय अणाहारी अजोगिसिद्धेऽवि णायव्वो। —मिथ्यादृष्टि, सासादन और असंयत व सयोगी इनके कार्मण अवस्था विषै और अयोगी जिन व सिद्ध भगवान् इन विषै अनाहार है।

क्ष.सा./मू./६१९/७३० णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे। णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ।६१९। —इतना विशेष जो केवली समुद्घातको प्राप्त केवली विषै दो तो प्रतर समुद्घातके समय (आरोहण व अवरोहण) और एक लोकपूर्णका समय इन तीन समयनिविषै नोकर्मका आहार नियमसे नहीं होता।

६. आहारक मार्गणामें नोकर्माहारका ग्रहण है कवलाहारका नहीं

ध. १/१,१,१७६/४०९/१० अत्र कवललेपोष्ममनःकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात्। —यहाँ पर आहार शब्दसे कवलाहार, लेपाहार, उष्माहार, मानसिकाहार, कर्माहारको छोड़ कर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है।

७. पर्याप्त मनुष्य भी अनाहारक कैसे हो सकते हैं

ध. १/१,१/५०३/१ अजोगिभगवंतस्स सरीर-णिमित्तमागच्छमाणपरमाणूणमभावं पेक्खिऊण पज्जत्ताणमणाहारित्तं लब्भदि। —प्रश्न—मनुष्योंमें पर्याप्त अवस्थामें भी अनाहारक होनेका कारण क्या है? उत्तर—मनुष्योंमें पर्याप्त अवस्थामें अनाहारक होनेका कारण यह है कि अयोगिकेवली भगवान्‌के शरीरके निमित्तभूत आने वाले परमाणुओंका अभाव देख कर पर्याप्तक मनुष्यको भी अनाहारकपना बन जाता है।

८. कार्माण काययोगीको अनाहारक कैसे कहते हो

ध. १/१,१/६६९/५ कम्मग्गहणमत्थित्तं पडुच्च आहारित्तं किण्ण उच्चदि त्ति भणिदे ण उच्चदि; आहारस्स तिण्णि-समय-विरहकालोवलद्धादो। —प्रश्न—कार्माण काययोगकी अवस्थामें भी कर्म वर्गणाओंके ग्रहणका अस्तित्व पाया जाता है। इस अपेक्षासे कार्माण योगी जीवोंको आहारक क्यों नहीं कहा जाता? उत्तर—उन्हें आहारक नहीं कहा जाता है, क्योंकि कार्माण काययोगके समय नोकर्म वर्गणाओंके आहारका अधिकसे अधिक तीन समय तक विरहकाल पाया जाता है। [आहारक मार्गणामें नोकर्माहार ग्रहण किया गया है कवलाहार नहीं।—दे० आहार/१/६]

२. आहारक शरीर निर्देश

१. आहारक शरीरका लक्षण

स. सि./२/३६/१९१/७ सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम्। =सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान करनेके लिए या असंयमको दूर करनेकी इच्छासे प्रमत्त संयत जिस शरीरकी रचना करता है वह आहारक शरीर है। (रा.वा./-२/३६/७/१४६/१)

रा.वा./२/४९/३/१५२/२९ न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातो नाप्यन्येनाहारकस्येत्युभयतो व्याघाताभावादव्याघातीति व्यपदिश्यते।
रा. वा./२/४९/८/१५३/१४ दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थनिर्णयलक्षणमाहारकम्। =न तो आहारक शरीर किसीका व्याघात करता है, न किसीसे व्याघातित ही होता है, इसलिए अव्याघाती है। सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिए आहारक शरीर होता है।

ध. १/१,१,५६/१६४/२९४ आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स संदेहे। गत्ता केवलि-पासं···।१६४।=छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको सन्देह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

ध. १/१,१,५६/२९२/३ आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः। =जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंका ग्रहण करता है, उसको आहारक शरीर कहते हैं।

ष. खं. १४/५,६/सू. २३१/३२६ णिवुणाणं वा णिण्णाणं वा सुहुमाणं वा आहारदव्वाणं सुहुमदरमिदि आहारयं।२३१।

ध. १४/५,६,२४०/३२७/४ णिउणा, अण्हा, मउआ···णिण्हा धवला सुअंधा सुट्ठु सुंदरा त्ति···अप्पडिहया सुहुमा णाम। आहारदव्वाणं मज्झे णिउणदरं णिण्णदरं खंधं आहारसरीरणिप्पायणट्ठं आहारदि गेण्हदि त्ति आहारयं। =निपुण, स्निग्ध और सूक्ष्म आहारक द्रव्योंमें सूक्ष्मतर है, इसलिए आहारक है।२३१। निपुण अर्थात् अण्हा और मृदु, स्निग्ध अर्थात् धवल, सुगन्ध, सुष्ठु और सुन्दर···अप्रतिहतका नाम सूक्ष्म है। आहार द्रव्योंमें-से आहारक शरीरको उत्पन्न करनेके लिए निपुणतर और स्निग्धतर स्कन्धको आहरण करता है अर्थात् ग्रहण करता है, इसलिए आहारक कहलाता है।

गो.जी./मू./२३७ उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं। सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं।२३७। =सो आहारक शरीर कैसा हो है। रसादिक सप्तधातु करि रहित हो है। बहुरि शुभ नामकर्मके उदय तै प्रशस्त अवयवका धारी प्रशस्त हो है, बहुरि संहनन करि रहित हो है। बहुरि शुभ जो समचतुरस्र संस्थान वा अंगोपांगका आकार ताका धारक हो है। बहुरि चन्द्रमणि समान श्वेत वर्ण, हस्त प्रमाण हो है। प्रशस्त आहारक शरीर बन्धनादिक पुण्यरूप प्रकृति तिनिका उदय जाका ऐसा हो है। ऐसा आहारक शरीर उत्तमांग जो है मुनिका मस्तक तहाँ उत्पन्न हो है।

२. आहारक शरीरका वर्ण धवल ही होता है

ध. ४/१,३,२/२८/६ तं च हत्थुस्सेधं हंसधवलं सव्वंगसुंदरं। =एक हाथ ऊँचा, व हंसके समान धवल वर्ण वाला तथा सर्वांग सुन्दर होता है। (गो.जी./मू./२३७)

३. मस्तकसे उत्पन्न होता है

ध. ४/१,३,२/२८/७ उत्तमंगसंभवं। =उत्तमांग अर्थात् मस्तकसे उत्पन्न होने वाला है। (गो.जी./मू./२३७)

४. कई लाख योजन तक अप्रतिहत गमन करनेमें समर्थ

ध.४/१,३,२/२८/६ अणेयजोजणलक्खगमणक्खमं अपडिहयगमणं। =क्षणमात्रमें कई लाख योजन गमन करनेमें समर्थ, ऐसा अप्रतिहत गमन वाला है। (गो.जी./मू./२३८)

५. आहारक शरीरमें निगोद राशि नहीं होती

ध.१४/५,६,९१/८१/८···आहारसरीरा पमत्तसंजदा···पत्तेयसरीरा वुच्चंति, एदेसिं णिगोदजीवेहिं सह संबंधाभावादो। =आहारक शरीरी, प्रमत्तसंयत···ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं। क्योंकि इनका निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता।

६. आहारक शरीरकी स्थिति

गो.जी./मू./२३८ अंतोमुहुत्तकालट्ठदी जहण्णिदरे···।२३८। =बहुरि जाकी (आहारक शरीरकी) जघन्य वा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण है।

७. आहारक शरीरका स्वामित्व

रा.वा./२/४९/६/१५३/६ यदा आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसंयतस्येत्युच्यते। =जिस समय मुनि आहारक शरीरकी रचना करता है, उस समय प्रमत्तसंयत ही होता है। (विशेष दे० आहारक/३/३)

८. आहारक शरीरका कारण व प्रयोजन

रा.वा./२/४९/४/१५३/१कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञानार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च भरतैरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुरौदारिकेण मे महानसंयमो भवतीति विद्वानाहारकं निर्वर्तयति। =कदाचित् ऋद्धिका सद्भाव जाननेके लिए, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थोंका निर्णय करनेके लिए, संयमके परिपालनके अर्थ, भरत ऐरावत क्षेत्रमें केवली का अभाव होनेसे, तत्त्वोंमें संशयको दूर करनेके लिए महा विदेह क्षेत्रमें और शरीरसे जाना तो शक्य नहीं है, और इससे मुझे असंयम भी बहुत होगा, इसलिए विद्वान् मुनि आहारक शरीरकी रचना करता है। (गो.जी./मू./२३५-२३६,२३९)

ध.४/१,३,२/२८/७ आणाकणिट्ठदाए असंजमबहुलदाए च लद्धप्पसरूवं। =जो आज्ञाकी अर्थात् श्रुतज्ञानकी कनिष्ठता अर्थात् हीनताके होनेपर और असंयमकी बहुलताके होने पर जिसने अपना स्वरूप प्राप्त किया है ऐसा है।

ध.१४/५,६,२३९/३२६/३ असंजमबहुलदा आणाकणिट्ठदा सगखेत्ते केवलिविरहो त्ति एदेहि तीहि कारणेहिं साहू आहारशरीरं पडिवज्जंति। जल-थल-आगासेसु अक्कमेण सुहुमजीवेहि दुप्परिहरणिज्जेहि आऊरिदेसु असंजमबहुलदा होदि। तप्परिणट्ठं···आहारशरीरं साहू पडिवज्जंति। तेणेदमाहारपडिवज्जणमसंजदबहुलदाणिमित्तमिदि भण्णदि।···तिस्से कणिट्ठदा सगखेत्ते थोवत्तं आणाकणिट्ठदा णाम। एदं विदियं कारणं। आगमं मोत्तूण अण्णपमाणं गोयरमइक्कमिदूण ट्ठिदेसुदव्वपज्जाएसु संदेहे समुप्पण्णो सगसंदेहे विणासणट्ठं परखेत्तट्ठिय सुदकेवलि-केवलीणं वा पादमूलं गच्छामि त्ति चिंतविदूण आहारसरीरेण परिणमिय गिरि-सरि-सायर-मेरु-कुलसेलपायालाणं गंतूण विणएण पुच्छिय विणट्ठसंदेहा होदूण पडिणियत्तिदूण आगच्छंति त्ति भणिदं होइ। परखेत्तम्हि महामुणीणं केवलणाणुप्पत्ती। परिणिव्वाणगमणं परिणिक्खमणं वा तित्थयराणं तदियं कारणं। विउव्वणरिद्धिविरहिदा आहारलद्धिसंपण्णा साहू ओहिणाणेण सुद-

णाणेण वा देवागमपरिचितेण वा केवलणाणुप्पत्तिमवगंतूण वंदणाभत्तीए गच्छामि त्ति चिंतिदूण आहारसरीरेण परिणमिय तप्पदेसं गंतूण तेसिं केवलीणमण्णेसिं च जिण-जिणहराणं वंदणं काऊण आगच्छंति। —असंयम बहुलता, आज्ञा कनिष्ठता और अपने क्षेत्रमें केवली विरह इस प्रकार इन तीन कारणोंसे साधु आहारक शरीरको प्राप्त होते हैं। जल, स्थल और आकाशके एक साथ दुष्परिहार्य सूक्ष्म जीवोंसे आपूरित होनेपर असंयम बहुलता होती है। उसका परिहार करनेके लिए साधु···आहारक शरीरको प्राप्त होते हैं। इसलिए आहारक शरीरका प्राप्त करना असंयम बहुलता निमित्तक कहा जाता है। आज्ञा··· उसकी कनिष्ठता अर्थात् उसका अपने क्षेत्रमें थोड़ा होना आज्ञा-कनिष्ठता कहलाती है। यह द्वितीय कारण है। आगमको छोड़कर द्रव्य और पर्यायोंके अन्य प्रमाणोंके विषय न होने पर अपने सन्देह को दूर करनेके लिए परक्षेत्रमें स्थित श्रुतकेवली और केवलीके पादमूलमें जाता हूँ ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूपसे परिणमन करके गिरि, नदी, सागर, मेरुपर्वत, कुलाचल और पातालमें केवली और श्रुतकेवलीके पास जाकर तथा विनयसे पूछकर सन्देहसे रहित होकर लौट आते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। परक्षेत्रमें महामुनियोंके केवलज्ञानकी उत्पत्ति और परिनिर्माणगमन तथा तीर्थंकरोंके परिनिष्क्रमण कल्याणक यह तीसरा कारण है। विक्रिया ऋद्धिसे रहित और आहारक लब्धिसे युक्त साधु अवधिज्ञानसे या श्रुतज्ञानसे देवोंके आगमनके विचारसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति जानकर वन्दना भक्तिसे जाता हूँ ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूपसे परिणमन कर उस प्रदेशमें जाकर उन केवलियोंकी और दूसरे जिनोंकी व जिनालयोंकी वन्दना करके वापिस आते हैं।

३. आहारक समुद्घात निर्देश

१. आहारक ऋद्धिका लक्षण

ध. १/१,१,६०/२९८/४ संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादनशक्तिराहारद्धिरिति। —संयम विशेषसे उत्पन्न हुई आहारक शरीरके उत्पादन रूप शक्तिको आहारक ऋद्धि कहते हैं।

२. आहारक समुद्घातका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१८ अल्पसावद्यसूक्ष्मार्थग्रहणप्रयोजनाहारकशरीरनिर्वृत्त्यर्थं आहारकसमुद्घातः। ···आहारकशरीरमात्मा निर्वर्तयन् श्रेणिगतित्वात्···आत्मदेशानसंख्यातान्निर्गमय्य आहारकशरीरम्··· निर्वर्तयति। —अल्प हिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनोंके लिए आहारक शरीरकी रचनाके निमित्त आहारक समुद्घात होता है।···आहारक शरीरकी रचनाके समय श्रेणी गति होनेके कारण··· असंख्य आत्मप्रदेश निकल कर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीरको बनाते हैं।

ध. ७/२,६,१/३००/६ आहारसमुग्घादो णाम हत्थपमाणेण सव्वंगसुंदरेण समचउरससंठाणेण हंसधवलेण रसरुधिर-मांस-मेदट्ठि-मज्ज-सुक्कसत्तधाउवज्जिएण विसग्गि-सत्थादिसयलबाहामुक्केण वज्ज-सिला-थंभ-जल-पव्वयगमणदच्छेण सीसादो उग्गएण देहेण तित्थयरपादमूलगमणं। —हस्त प्रमाण सर्वांग सुन्दर, समचतुरस्र-संस्थानसे युक्त, हंसके समान धवल, रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओंसे रहित, विष अग्नि एवं शस्त्रादि समस्त बाधाओंसे मुक्त, वज्र, शिला, स्तम्भ, जल व पर्वतोंमें-से गमन करनेमें दक्ष, तथा मस्तकसे उत्पन्न हुए शरीरसे तीर्थंकरके पादमूलमें जानेका नाम आहारक समुद्घात है।

द्र. सं./टी./१०/२६ समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसंपन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरं परित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गम्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारकसमुद्घातः। —पद और पदार्थमें जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋद्धिके धारक ऋषिके मस्तकमें-से मूल शरीरको न छोड़कर, निर्मल स्फटिकके रंगका एक हाथका पुतला निकल कर अन्तर्मुहूर्तमें जहाँ कहीं भी केवलीको देखता है तब उन केवलीके दर्शनसे अपने आश्रय मुनिको पद और पदार्थका निश्चय उत्पन्न कराकर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जावे सो आहारक समुद्घात है।

३. आहारक समुद्घातका स्वामित्व

त. सू./२/४९ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।४९। —आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयतके ही होता है।

स. सि./८/१/३७६/२ आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्तसंयते संभवात्। —प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें आहारक ऋद्धिधारी मुनिके आहारक काय योग और आहारक मिश्र योग भी सम्भव है।

रा. वा./२/४९/७/१५३/८ प्रमत्तसंयतस्यैवाहारकं नान्यस्य। —प्रमत्त संयतके ही आहारक शरीर होता है।

ध. ४/१,३,२/२८/५ आहारसमुग्घादो णाम पत्तिड्ढीणं महारिसीणं होदि।

ध. ४/१,३,२/३८/६ मिच्छाइट्ठिस्स सेस-तिण्णि विसेसणाणि ण संभवंति, तक्कारणसंजमादिगुणाणमभावादो।

ध./४/१,३,६१/१२२/७ णवरि पमत्तसंजदे तेजाहारं णत्थि।

ध. ४/१,३,८२/१३५/६ णवरि पमत्तसंजदस्स उवसमसम्मत्तेण तेजाहारं णत्थि। —१. जिनको ऋद्धि प्राप्त न हुई है ऐसे महर्षियोंके होता है। २. मिथ्यादृष्टि जीव राशिके···(आहारक समुद्घात) सम्भव नहीं, क्योंकि इसके कारणभूत गुणोंका मिथ्यादृष्टि और असंयत व संयतासंयतोंके अभाव हैं। ३. (प्रमत्त संयतमें भी) परिहार विशुद्धि संयतके आहारक व तैजस समुद्घात नहीं होता। ४. प्रमत्तसंयतके उपशम सम्यक्त्वके साथ···आहारक समुद्घात नहीं होता है। (ध./-४/१,४,१३५/२८६/११)

४. इष्टस्थान पर्यन्त संख्यात योजन लम्बे सूच्यंगुल/सं० चौड़े ऊँचे क्षेत्र प्रमाण विस्तार है

गो. जी./भाषा/५४३/९४१/६ आहारक समुद्घात विषै एक जीवकैं शरीर तैं बाह्य निकसै प्रदेश तै संख्यात योजन प्रमाण लम्बा अर सूच्यंगुलका संख्यातवाँ भाग प्रमाण चौड़ा ऊँचा क्षेत्रकौं रोकैं। याका घनरूप क्षेत्रफल संख्यात घनांगुल प्रमाण भया। इसकरि आहारक समुद्घात वाले जीवनिका संख्यात प्रमाण है ताकौं गुणैं जो प्रमाण होइ तितना आहारक समुद्घातविषैं क्षेत्र जानना। मूल शरीर तैं निकसि आहारकशरीर जहाँ जाइ तहाँ पर्यन्त लम्बी आत्माके प्रदेशनिकी श्रेणी सूच्यंगुलका संख्यातवाँ भाग प्रमाण चौड़ी अर ऊँची आकाश विषै है।

५. समुद्घात गत आत्म प्रदेशोंका पुनः औदारिक शरीरमें संघटन कैसे हो

ध. १/१,१,५६/२९२/८ न च गलितायुषस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिर्विरोधात्। ततो न तस्यौदारिकशरीरेण पुनः संघटनमिति।

ध. १/१,१,५६/२९३/१ सर्वात्मना तयोर्वियोगो मरणं नैकदेशेन आगलादप्युपसंहृतजीवावयवानां मरणानुपलम्भात् जीवितान्छिन्नहस्तेन व्यभिचाराच्च। न पुनरस्यार्थः सर्वावयवैः पूर्वशरीरपरित्यागः समस्ति येनास्य मरणं जायेत। —प्रश्न—जिसकी आयु नष्ट हो गयी है ऐसे

जीवको पुनः उस शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है। अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुनः संघटन नहीं बन सकता अर्थात् एक बार जीव प्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ सम्बन्ध हो जानेपर पुनः उन प्रदेशोंका पूर्व औदारिक शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता? उत्तर—ऐसा नहीं है, तो भी जीव और शरीरका सम्पूर्ण रूपसे वियोग ही मरण हो सकता है। उनका एकदेश रूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता, क्योंकि जिनके कण्ठ पर्यन्त जीव प्रदेश संकुचित हो गये हैं, ऐसे जीवोंका मरण भी नहीं पाया जाता है। यदि एकदेश वियोगको भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर जिसका हाथ अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार आयेगा। इसी प्रकार आहारक शरीरको धारण करना इसका अर्थ सम्पूर्ण रूपसे पूर्व (औदारिक) शरीरका त्याग करना नहीं है, जिससे कि आहारक शरीरके धारण करने वालेका मरण माना जावे।

४. आहारक व मिश्र काययोग निर्देश

१. आहारक व आहारक मिश्र काययोगका लक्षण

पं./सं./प्रा./१/९७-९८ आहरइ अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स संदेहे। गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारकाय जोगो सो।९७। अंतोमुहुत्तमज्झं वियाणमिस्सं च अपरिपुण्णो त्ति। जो तेण संपओगो आहारय-मिस्सकायजोगो सो।९८। —स्वयं सूक्ष्म अर्थमें सन्देह उत्पन्न होनेपर मुनि जिसके द्वारा केवली भगवान्‌के पास जाकर अपने सन्देह को दूर करता है, उसे आहारक काय कहते हैं। उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले योगको आहारक काययोग कहते हैं।९७। आहारक शरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्तके मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीरको आहारक मिश्र काय कहते हैं। उसके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है वह आहारक मिश्र काययोग कहलाता है। (गो.जी./मू./२३९)

ध. १/१,१/१६४-१६५/२९४··· । तम्हा आहारको जोगो ।१६४। आहारयमुत्तत्थं वियाणमिस्सं च अपरिपुण्णं त्ति। जो तेण संपयोगो आहारयमिस्सको जोगो ।१६५। —आहारक शरीरके द्वारा होने वाले योगको आहारक काययोग कहते हैं।१६४। आहारकका अर्थ कह आये हैं। वह आहारक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक उसको आहारक मिश्र कहते हैं। और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारक मिश्र काययोग कहते हैं।१६५। (गो. जी./-मू./२४०)

ध. १/१,१,५६/२९३/६ आहारकार्मणस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिश्रकाययोगः। —आहारक और कार्माणकी वर्गणाओंसे उत्पन्न हुए वीर्यके द्वारा जो योग होता है वह आहारक मिश्र काययोग है।

२. आहारक काययोगका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१,५९/सू.५९,६३/२९७,३०६ आहारकायजोगो आहारमिस्स-कायजोगो संजदाणमिड्ढि पत्ताणं ।५९। आहारकायजोगो आहार-मिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्तसंजद-ट्ठाणे ।६३। —आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग ऋद्धि प्राप्त छठें गुणस्थानवर्ती संयतोंके होता है।५९। आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं।६३। (सि.सि./८/२/३०६/३)

३. आहारक योगका स्त्री व नपुंसक वेदके साथ विरोध तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान

ध. २/१,१/५१३/१ मणुसिणीणं भण्णमाणे···आहारआहारमिस्सकाय-जोगा णत्थि। किं कारणं। जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिस-वेदो, ते जीवा संजमं पडिवज्जंति। दव्वित्थिवेदा संजमं ण पडि-वज्जंति, सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहाररिद्धीसमुप्पज्जदि दव्व-भावेहि पुरिसवेदाणमेव समुप्पज्जदि तेणित्थिवेदे पि णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि। —मनुष्यनी स्त्रियोंके आलाप कहने पर···आहारक मिश्रकाययोग नहीं होता। प्रश्न—मनुष्य-स्त्रियोंके आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग नहीं होनेका कारण क्या है? उत्तर—यद्यपि जिनके भावकी अपेक्षा स्त्री-वेद और द्रव्यकी अपेक्षा पुरुषवेद होता है वे (भाव स्त्री) जीव भी संयमको प्राप्त होते हैं। किन्तु द्रव्यकी अपेक्षा स्त्री वेद वाले जीव संयम को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, वे सचेल अर्थात् वस्त्र सहित होते हैं। फिर भी भावकी अपेक्षा स्त्री वेदी और द्रव्यकी अपेक्षा पुरुष वेदी संयमधारी जीवोंके आहारक ऋद्धि नहीं होती। किन्तु द्रव्य और भाव इन दोनों ही वेदोंकी अपेक्षासे पुरुष वेद वालेके आहारक ऋद्धि होती है। (और भी दे० वेद/६/३)

ध. २/१,१/६६७/३ अप्पसत्थवेदेहि साहारिद्धी ण उप्पज्जदि त्ति। —अप्रशस्त वेदोंके साथ आहारक ऋद्धि नहीं उत्पन्न होते हैं (क.पा./-पु.३/२२/§४२६/२४१/१३)

ध. २/१,१/६८१/६ आहारदुगं···वेददुगोदयस्स विरोहादो। —आहारक-द्विक···के साथ स्त्रीवेद और नपुंसक वेदके उदय होनेका अभाव है। (गो.जी./मू./७१५)

४. आहारक काययोगीको अपर्याप्तपना कैसे

ध. २/१,१/४४१/४ संजदा-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।···आहारमिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं त्ति···अणवगासत्तादो।···अणेयंतियादो··· किमेदेण जाणाविज्जदि।···एदं सुत्तमणिच्चमिदि। —प्रश्न—(ऐसा माननेसे) संयतासंयत और संयतोंके स्थानमें जीव नियमसे पर्याप्त होते हैं। (यह सूत्र कि) "आहारक मिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है" बाधा जाता है। उत्तर—इस सूत्रमें अनेकान्त दोष आ जाता है (क्योंकि अन्य सूत्रोंसे यह भी बाधित हो जाता है।) प्रश्न—(सूत्रमें पड़े) इस नियम शब्दसे क्या ज्ञापित होता है। उत्तर—इससे ज्ञापित होता है कि···यह सूत्र अनित्य है।···कहीं प्रवृत्ति हो और कहीं प्रवृत्ति न हो इसका नाम अनित्यता है।

५. आहारक काययोगमें कथंचित् पर्याप्त अपर्याप्तपना

ध.१/१,१,६०/३३०/६ पूर्वाभ्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा दुःखमन्तरेण पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां पर्याप्त इत्युप-चर्यते। निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः। —पहले अभ्यास की हुई वस्तुके विस्मरणके बिना ही आहारक शरीरका ग्रहण होता है, या दुःखके बिना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है, अतएव प्रमत्त संयत अपर्याप्त अवस्थामें भी पर्याप्त है, इस प्रकारका उपचार किया जाता है। निश्चय नयका आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है।

६. आहारक मिश्र योगमें अपर्याप्तपना कैसे सम्भव है

ध. १/१,१,७८/३१७/१० आहारकशरीरोत्थापकः पर्याप्तः संयतत्वान्यथा-नुपपत्तेः। तथा चाहारमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसूत्राभिप्रायत्वात्। तद्यथा, भवत्वसौ पर्याप्तकः औदा-रिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्तिनिष्पत्त्य-

भावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ। पर्याप्तापर्याप्तत्वयोर्नैकत्राक्रमेण संभवो विरोधादिति चेन्न···इतीष्टत्वात्। कथं न पूर्वोऽभ्युपगम इति विरोध इति, चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षया विरोधासिद्धेः। =प्रश्न—आहारक शरीरको उत्पन्न करने वाला साधु पर्याप्तक ही होता है। अन्यथा उसके संयतपना नहीं बन सकता। ऐसी हालतमें आहारक मिश्रकाययोग अपर्याप्तके होता है, यह कथन नहीं बन सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहने वाला आगमके अभिप्रायको नहीं समझा है। आगमका अभिप्राय तो इस प्रकार है कि आहारक शरीरको उत्पन्न करने वाला साधु औदारिकशरीरगत छह पर्याप्तियों-की अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तिके पूर्ण नहीं होनेकी अपेक्षा वह अपर्याप्तक है। प्रश्न—पर्याप्त और अपर्याप्तपना एक साथ एक जीवमें संभव नहीं, क्योंकि एक साथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध है? उत्तर—नहीं, क्योंकि···यह तो हमें इष्ट ही है? प्रश्न—तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाये, अतः आपके कथनमें विरोध आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा विरोध असिद्ध है। अर्थात् औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारक मिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार किया जा सकता है।

७. यदि है तो वहाँ अपर्याप्तावस्थामें भी संयम कैसे सम्भव है

ध. १।१,१,७८ / ३१८ / ५ विनष्टौदारिकशरीरसंबन्धषट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तस्य कथं संयम इति चेन्न, संयमस्यास्रवनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः। विरोधे वा न केवलिनोऽपि समुद्घातगतस्य संयमः तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं प्रत्यविशेषात्। 'संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' इत्यनेनार्षेण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्याभिप्रायेणाहारशरीरानिष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तीनां सत्त्वाविरोधात्। =प्रश्न—जिसके औदारिक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं, और आहारक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके संयम कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिसका लक्षण आस्रवका निरोध करना है, ऐसे संयमका मन्द योग (आहारक मिश्र) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। यदि इस मन्द योगके साथ संयम के होनेमें कोई विरोध आता ही है ऐसा माना जावे, तो समुद्घात-को प्राप्त हुए केवलीके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँपर भी अपर्याप्त सम्बन्धी योगका सद्भाव पाया जाता है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। प्रश्न—'संयतासंयतसे लेकर सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं' इस आर्ष वचनके साथ उपर्युक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। (ध./१/१,१,६०/३२६/६)।

आहार पर्याप्ति—दे० पर्याप्ति।

आहार वर्गणा—दे० वर्गणा।

आहार संज्ञा—दे० संज्ञा।

आहार्य विपर्यय—दे० विपर्यय।

आहुति मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

[इ]

इंगाल—वसतिका एक दोष दे०—वसति।

इंगिनी—दे० सल्लेखना/३।

इंद्र—१. प. पु./७/ श्लोक। रथनूपुरके राजा सहस्रारका पुत्र था। रावण-के दादा मालीको मारकर स्वयं इन्द्रके सदृश राज्य किया (८८) फिर आगे रावणके द्वारा युद्धमें हराया गया (३४६-३४७) अन्तमें दीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त किया (१०६) २. मगध देशकी राज्यवंशा-वलीके अनुसार यह राजा शिशुपालका पिता और कल्की राजा चतुर्मुखका दादा था। यद्यपि इसे कल्की नहीं कहा गया है, परन्तु जैसा कि वंशावलीमें बताया है, यह भी अत्याचारी व कल्की था। समय वी. नि. ६५८-१००० (ई० ४३२-४७४)। ३. लोकपालका एक भेद—दे० लोकपाल।

१. इंद्र सामान्यका लक्षण

ति. प./३/६५ इंदा रायसरिच्छा। =देवोंमें इन्द्र राजाके सदृश होता है।

स.सि./१/१४/१०८/३ इन्दतीति इन्द्र आत्मा। ···अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते।

स. सि./४/४/२३९/१ अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणयोगादिन्दन्तीति इन्द्राः। =इन्द्र शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'इन्दतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है। अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका वाची है (रा. वा./१/१/१४/५९/१५); (ध./१/१,१,३३/२३३/१)। जो अन्य देवोंमें असाधारण अणिमादि गुणोंके सम्बन्धसे शोभते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं। (रा. वा./४/४/१/२१२/१६)।

२. अहमिंद्रका लक्षण

त्रि. सा./२२५···। भवणे कप्पे सव्वे हवंति अहमिंदया तत्तो ।२२५। =स्वर्गनिके उपरि अहमिंद्र हैं ते सर्व ही समान हैं। हीनाधिकपना तहाँ नाहीं है।

अन. ध./१/४६/६६ पर उद्धृत "अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्तकत्थनाः। अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः। नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः। केवलं सुखसाद्भूता दीव्यन्त्येते दिवौकसः। =मेरे सिवाय और इन्द्र कौन है? मैं ही तो इन्द्र हूँ। इस प्रकार अपनेको इन्द्र उद्घोषित करनेवाले कल्पातीत देव अहमिन्द्र नामसे प्रख्यात हैं। न तो उनमें असूया है और न मत्सरता ही है, एवं न ये परकी निन्दा करते और न अपनी प्रशंसा ही करते हैं। केवल परम विभूतिके साथ सुखका अनुभव करते हैं।

३. दिगिन्द्रका लक्षण

त्रि. सा./२२३-२२४···दिगिंदा···।···।२२३।···तंतराए···।···२२४। =बहुरि जैसे तंत्रादि राजा कहिए सेनापति तैसे लोकपाल हैं।

४. प्रतीन्द्रका लक्षण

ति. प./३/६५,६६ जुवरायसमा हुवंति पडिइंदा ।६५। इंदसमा पडिइंदा।...।६६। =प्रतीन्द्र युवराजके समान होते हैं (त्रि. सा./२२४) प्रतीन्द्र इन्द्रके बराबर हैं।६६।

ज. प./११/३०५, ३०६...। पडिइंदा इंदस्स दु चदुसु वि दिसासु णायव्वा ।३०५। तुल्लबलरूवविक्कमपयावजुत्ता हवंति ते सव्वे ।३०६। =इंद्रके

प्रतीन्द्र चारों ही दिशाओंमें जानने चाहिए।३०५। वे सब तुल्य बल, रूप, विक्रम एवं प्रतापसे युक्त होते हैं।

★ **इन्द्रकी सुधर्मा सभाका वर्णन**—दे० सौधर्म।

★ **भवनवासी आदि देवोंमें इन्द्रोंका नाम निर्देश**

दे० वह वह नाम।

५. शत इन्द्र निर्देश

द्र. सं. /टी०/१/५/ पर उद्धृत "भवणालयचालीसा वितरदेवाणहोंति बत्तीसा। कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ। =भवनवासी देवोंके ४० इन्द्र, व्यन्तर देवोंके ३२ इन्द्र; कल्पवासी देवोंके २४ इन्द्र, ज्योतिष देवोंके चन्द्र और सूर्य ये दो, मनुष्योंका एक इन्द्र चक्रवर्ती, तथा तिर्यञ्चोंका इन्द्र सिंह ऐसे मिल कर १०० इन्द्र हैं। (विशेष दे० वह वह नामकी देवगति)।

इन्द्रक—ध. १४/५,६,६४१/४९५/६ उडु आदोणि त्रिमाणाणिदियाणि णाम। =उडु आदिक विमान इन्द्रक कहलाते हैं।

द्र.सं./टी./३५/११५ इन्द्रका अन्तर्भूमयः। =इन्द्रकका अर्थ अन्तर्भूमि है।

ति. प./२/३६ का विशेषार्थ "जो अपने पटलके सब बिलोंके बीचमें हो वह इन्द्रक बिल कहलाता है।" (ध./१४।५।६।६४१।४९५।८)।

ति. सा./४७६/ भाषा "अपने-अपने पटलके बीचमें जो एक एक विमान पाइए तिनका नाम इन्द्रक विमान है।

★ **स्वर्गके इन्द्रक विमानोंका प्रमाणादि**—दे० विमान।

★ **नरकके इन्द्रक बिलोंका प्रमाणादि**—दे० नरक/५।

इन्द्रजीत—(प. पु./सर्ग/श्लोक) "रावणका पुत्र था (८।१५४) रावणकी मृत्यु पर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। (७८/८१-८२) तथा मुक्तिको प्राप्त किया (८०।१२८)।

इन्द्रत्याग—गर्भान्वयादि क्रियाओंमें-से एक—दे० संस्कार/२।

इन्द्रध्वज—पूजाओंका एक भेद—दे०-पूजा/१।

इन्द्रनन्दि—(जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २७०/प्रेमीजी; द्र. सं./-प्र.८/ पं. जवाहर लाल; गो. क./मू/?)—आप अभयनन्दि आचार्यके शिष्य थे। और सिद्धान्त चक्रवर्तीकी उपाधिसे विभूषित थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आपको बड़े गुरुभाई होनेके कारण गुरुवत् मानते थे। आपके द्वारा लिखित निम्न कृतियाँ हैं:—१. नीतिसार; २. समय भूषण; ३. इन्द्रनंदि संहिता; ४. मुनि प्रायश्चित्त (प्रा०); ५. प्रतिष्ठापाठ; ६. पूजा कल्प; ७. शान्तिचक्र पूजा; ८. अंकुरारोपण; ९. प्रतिभा संस्कारारोपण पूजा; १०. मातृका यन्त्र पूजा; ११. औषधि कल्प; १२. भूमिकल्प; १३. श्रुतावतार / समय—आचार्य अभयनन्दि क्योंकि चामुण्डरायके समकालीन थे इसलिए आपका भी समय तदनुसार ई० श० १०-११ समझा जाता है।

इन्द्रनन्दि संहिता—आचार्य इन्द्रनन्दिकी ई० श० १०-११ की अपभ्रंश भाषाबद्ध रचना।

इन्द्रपथ—पा. पु./१६/श्लोक "प्रवाससे लौटनेपर युधिष्ठिर इन्द्रपथ नगर बसा कर रहने लगे थे (४) क्योंकि यह कुरुक्षेत्रके पास है इसलिए वर्तमान देहली ही इन्द्रपथ है। यह सर्व प्रसिद्ध भी है।"

इन्द्रपुर—१. (म.पु./प्र.४९ पं० पन्नालाल) वर्तमान इन्दौर; २. रेवा-नदी पर स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

इन्द्रभूति—पूर्व भवमें आदित्य विमानमें देव थे। (म. पु./७४/३५७) यह गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। वेदपाठी थे। भगवान् वीरके समवशरणमें मानस्तम्भ देखकर मानभंग हो गया और ५०० शिष्योंके साथ दीक्षा धारण कर ली। तभी सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं (म. पु./७४/३६६-३७०)। भगवान् महावीरके प्रथम गणधर थे। (म. पु./७४। ३५९-३७२)। आपको श्रावण कृ० १ के पूर्वाह्न कालमें श्रुतज्ञान जागृत हुआ था। उसी तिथिकी पूर्व रात्रिमें आपने अंगोंकी रचना करके सारे श्रुतको आगम निबद्ध कर दिया। (म. पु./७४/३६९-३७२)। कार्तिक कृ० १५ को आपको केवलज्ञान प्रगट हुआ और विपुलाचल पर आपने निर्वाण प्राप्त किया। (म. पु./६६।५१५-५१६)।

इन्द्रराज—(क. पा. १/प्र.७३ पं० महेन्द्र) गुर्जर नरेन्द्र जगत्तुंगका छोटा भाई था। इसने लाट देशके राजा श्रीवल्लभको जीतकर जगत्तुंगको वहाँका राजा बना दिया था। जगत्तुंगका ही पुत्र अमोघवर्ष प्रथम हुआ। इन्द्रराज राजाका पुत्र कर्क राजा था। इसने अमोघवर्षके लिए राष्ट्रकूटोंको जीतकर उसे राष्ट्रकूटका राज्य दिलाया था। राजा जगत्तुंगके अनुसार आपका समय—ई० ७९४-८१४, (विशेष दे० इतिहास/३/४)।

इन्द्रसेन—१. (वरांग चरित्र / सर्ग/श्लोक) मथुराका राजा (१६/५) ललितपुरके राजासे युद्ध होनेपर वरांग द्वारा युद्धमें भगाया गया (१८/१११); २. (प. पु./प्र. १२३/१६७ 'मूल'), (प.पु./प्र. १ पं० पन्नालाल) सेनसंघकी गुर्वावलीके अनुसार यह दिवाकरसेनके गुरु थे। समय—वि० ६२०-६६० (ई० ५६३-६०३)—दे० इतिहास/५/१८।

इन्द्राभिषेक—गर्भान्वयादि क्रियाओंमें-से एक—दे० संस्कार/२।

इन्द्रायुध—(ह. पु./६६/५२-५३) उत्तर भारतका राजा था। इसके समयमें ही जिनषेणाचार्यने हरिवंशकी रचना प्रारम्भ की थी। तदनुसार इनका समय—श० सं ७०५ (वि. ८४०) ई० ७५०-७८३।

(ह. पु./प्र. ५ पं० पन्नालाल) स्व० ओझाके अनुसार इन्द्रायुध और चक्रायुध राठौर वंशमें से थे। स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यके अनुसार यह भण्डिकुल (वर्मवंश) के थे। इनका पुत्र चक्रायुध था। इसका राज्य कन्नौजसे लेकर मारवाड़ तक फैला हुआ था।

इन्द्रावतार—गर्भान्वयादि क्रियाओंमें से एक—दे० संस्कार/२।

इन्द्रिय—शरीरधारी जीवको जाननेके साधन रूप स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। मनको ईषत् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है। ऊपर दिखाई देनेवाली तो बाह्य इन्द्रियाँ हैं। इन्हें द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इनमें भी चक्षुपटलादि तो उस उस इन्द्रियके उपकरण होनेके कारण उपकरण कहलाते हैं; और अन्दरमें रहने वाला आँखका व आत्म प्रदेशोंकी रचना विशेष निर्वृत्ति इन्द्रिय कहलाती है। क्योंकि वास्तवमें जाननेका काम इन्हीं इन्द्रियोंसे होता है उपकरणोंसे नहीं। परन्तु इनके पीछे रहनेवाले जीवके ज्ञानका क्षयोपशम व उपयोग भावेन्द्रिय है, जो साक्षात् जाननेका साधन है। उपरोक्त छहों इन्द्रियोंमें चक्षु और मन अपने विषयको स्पर्श किये बिना ही जानती हैं, इसलिए अप्राप्यकारी हैं। शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। संयमकी अपेक्षा जिह्वा व उपस्थ ये दो इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल हैं और इसलिए योगीजन इनका पूर्णतया निरोध करते हैं।

१. भेद व लक्षण तथा तत्सम्बन्धी शंका-समाधान

१. इन्द्रिय सामान्यका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/६५ अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं त्ति मण्णंता। ईसंतिं एक्कमेक्कं इंदा इव इंदियं जाणे।६५। —जिस प्रकार अहमिन्द्र-देव बिना किसी विशेषताके 'मैं इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार मानते हुए ऐश्वर्यका स्वतन्त्र रूपसे अनुभव करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों-को जानना चाहिए। अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको सेवन करनेमें स्वतन्त्र हैं। (ध./१/१,१,४/८५/१३७), (गो.जी./मू./१६४), (पं.सं./सं./१/७८)

स.सि./१/१४/१०८/३ इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम्। यथा इह धूमोऽग्नेः।···अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते। तेन सृष्टमिन्द्रियमिति। —१. इन्द्र शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, 'इन्दतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है। यहाँ इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमके रहते हुए स्वयं पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ है। अतः उसको जो जाननेमें लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्रका लिंग इन्द्रिय कही जाती है। २. अथवा जो लीन अर्थात् गूढ पदार्थका ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार इन्द्रिय शब्दका अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्माके अस्तित्वका ज्ञान करानेमें लिंग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे लोकमें धूम अग्निका ज्ञान करानेमें कारण होता है। ३. अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि जिससे रची गयी इन्द्रिय है। (रा.वा./१/१४/१/५६), (रा.वा./२/१५/१-२/१२६), (रा.वा./६/७/११/६०३/२८), (ध.१/१,१,३३/२३२/१), (ध./७/२,१,२/६/७)

ध.१/१,१,४/१३५–१३७/६ प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि। अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षविषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि।···स्वेषां विषयः स्वविषयस्तत्र निश्चयेन निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि। ···अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि। —१. जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। जिसका खुलासा इस प्रकार है, अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है। उस इन्द्रिय विषय अथवा इन्द्रिय ज्ञान रूप जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। २. इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें रत हैं। अर्थात व्यापार करती हैं। (ध./७/२,१,२/६/७)। ३. अथवा अपने अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

गो.जी./जी.प्र./१६५/में उद्धृत "यदिन्द्रस्यात्मनो लिङ्गं यदि वा इन्द्रेण कर्मणा। सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं वेति तदिन्द्रियः। —इन्द्र जो आत्मा ताका चिह्न सो इन्द्रिय है। अथवा इन्द्र जो कर्म ताकरि निपज्या वा सेया वा तैसे देख्या वा दीया सो इन्द्रिय है।

२. इन्द्रिय सामान्यके भेद

त.सू./२/१५,१६,१९ पञ्चेन्द्रियाणि।१५। द्विविधानि।१६। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि।१९। —इन्द्रियाँ पाँच हैं।१५। वे प्रत्येक दो-दो प्रकारकी हैं।१६। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ हैं।१९। (रा.वा./६/१९/११/६०३/२६)

स.सि./२/१६/१७६/१ कौ पुनस्तौ द्वौ प्रकारौ। द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमिति। —प्रश्न—वे दो प्रकार कौन-से हैं? उत्तर—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय (रा.वा./२/१६/१/१३०/२), (ध.१/१,१,३३/२३२/२), (गो.जी./मू./१६५)

३. द्रव्येन्द्रियके उत्तर भेद

त.सू./२/१७ निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।१७। सा द्विविधा, बाह्याभ्यन्तरभेदात् (स.सि.)। —निर्वृत्ति और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय है।१७। निर्वृत्ति दो प्रकारकी है—बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यन्तर-निर्वृत्ति। (स.सि./२/१७/१७५/४), (रा.वा./२/१७/२/१३०), (ध.१/१,१,३३/२३२/२

स.सि./२/१७/१७५/८ पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। —निर्वृत्तिके समान यह भी दो प्रकार की है—बाह्य और अभ्यन्तर। (रा.वा./२/१७/६/१३०/१६) (ध.१/१,१,३३/२३६/३)

४. भावेन्द्रियके उत्तर-भेद

त.सू./२/१८ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।१८। —लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय हैं। (ध.१/१,१,३३/२३६/५)

५. निर्वृत्ति व उपकरण भावेन्द्रियोंके लक्षण

स. सि./२/१७/१७५/३ निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। केन निर्वर्त्यते। कर्मणा। सा द्विविधा; बाह्याभ्यन्तरभेदात्। उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थाननामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। तत्राभ्यन्तरकृष्णशुक्लमण्डलं बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम्। —रचनाका नाम निर्वृत्ति है। प्रश्न—यह रचना कौन करता है? उत्तर—कर्म। निर्वृत्ति दो प्रकारकी है—बाह्य और आभ्यन्तर। उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों-के आकार रूपसे अवस्थित शुद्ध आत्म प्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा इन्द्रिय नामवाले उन्हीं आत्मप्रदेशोंमें प्रतिनियत आकार रूप और नामकर्मके उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त जो पुद्गल प्रचय होता है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। यह भी दो प्रकारका है।···नेत्र इन्द्रियमें कृष्ण और शुक्लमण्डल आभ्यन्तर उपकरण हैं तथा पलक और दोनों बरौनी आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंमें भी जानना चाहिए। (रा.वा./२/१७/२–७/१३०), (ध.१/१,१,३३/२३२/२), (ध.१/१,१,३३/२३४/६), (ध.१/१,१,३३/२३६/३), (त.सा /२/४३)

त.सा./२/४१–४२ नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम्। विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरान्तरा।४१। तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशिषु। नामकर्मकृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा।४२। —बाह्य व आंतर निर्वृत्तियोंमें-से आन्तर निर्वृत्ति वह है कि जो कुछ आत्मप्रदेशोंकी रचना नेत्रादि इन्द्रियोंके आकारको धारण करके उत्पन्न होती है। वे आत्म प्रदेश इतर प्रदेशोंसे अधिक विशुद्ध होते हैं। ज्ञानके व ज्ञान साधनके प्रकरणमें ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्य निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं।४१। इन्द्रियाकार धारण करनेवाले अन्तरंग इन्द्रिय नामक आत्मप्रदेशोंके साथ उन आत्मप्रदेशोंको अवलम्बन देने वाले जो शरीराकार अवयव इकट्ठे होते हैं उसे बाह्य-निर्वृत्ति कहते हैं। इन शरीरावयवोंकी इकट्ठे होकर इन्द्रियावस्था बननेके लिए अंगोपांग आदि नामकर्मके कुछ भेद सहायक होते हैं।

गो.जी./टी./१६५/३९१/१८ पुनस्तेष्विन्द्रियेषु तत्तदावरणक्षयोपशमविशि-

त्मकप्रदेशसंस्थानमभ्यन्तरनिर्वृत्तिः। तदवष्टब्धशरीरप्रदेशसंस्थानं बाह्यनिर्वृत्तिः। इन्द्रियपर्याप्त्यागतनोकर्मवर्गणास्कन्धरूपस्पर्शाद्यर्थ-ज्ञानसहकारि यत्तदभ्यन्तरमुपकरणम्। तदाश्रयभूतत्वगादिकम्बाह्य-मुपकरणमिति ज्ञातव्यम् ।१६५। —शरीर नामकर्मसे रचे गये शरीरके चिह्न विशेष सो द्रव्येन्द्रिय है। तहाँ जो निज-निज इन्द्रियावरण-की क्षयोपशमताकी विशेषता लिये आत्माके प्रदेशनिका संस्थान सो आभ्यन्तर निर्वृत्ति है। बहुरि तिस ही क्षेत्रविषै जो शरीरके प्रदेश-निका संस्थान सो बाह्य निर्वृत्ति है। बहुरि उपकरण भी…तहाँ इन्द्रिय पर्याप्तिकरि आयी जो नोकर्मवर्गणा तिनिका स्कन्धरूप जो स्पर्शादिविषय ज्ञानका सहकारी होइ सो तौ आभ्यन्तर उपकरण है अर ताके आश्रयभूत जो चामड़ी आदि सो बाह्य उपकरण है। ऐसा विशेष जानना।

६. भावेन्द्रिय सामान्यका लक्षण

रा. वा.१/१५/१३/६२/७ इन्द्रियभावपरिणतो हि जीवो भावेन्द्रिय-मिष्यते। —इन्द्रिय भावसे परिणत जीव ही भावेन्द्रिय शब्दसे कहना इष्ट है।

गो. जी./मू. १६५ मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो। भावेंदियम्…। १६५। —मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न जो आत्माकी (ज्ञानके क्षयोपशम रूप) विशुद्धि उससे उत्पन्न जो ज्ञान वह तो भावेन्द्रिय है।

७. पाँचों इन्द्रियोंके लक्षण

स. सि./२/१९/१७७/२ लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते। अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततः पार-तन्त्र्यात्स्पर्शनादीनां करणत्वम्। वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोप-शमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्। रस्यतेऽनेनेति रसनम्। घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम्। चक्षेरनेकार्थत्वाद्दर्शनार्थ-विवक्षायां चष्टे अर्थान्पश्यत्यनेनेति चक्षुः। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते। इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। ततः स्पर्शनादीनां कर्तरि निष्पत्तिः। स्पृश-तीति स्पर्शनम्। रसतीति रसनम्। जिघ्रतीति घ्राणम्। चष्टे इति चक्षुः। शृणोति इति श्रोत्रम्। —लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है। जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ, इस कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ अतः पारतन्त्र्य विवक्षामें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका करणपना बन जाता है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञाना-वरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है वह रसन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूंघता है वह घ्राण इन्द्रिय है। चक्षि धातुके अनेक अर्थ हैं। उनमेंसे यहाँ दर्शन रूप अर्थ लिया गया है, इसलिए जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है। इसी प्रकार इन इन्द्रियोंको स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है। जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। और इसलिए इन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी कर्ता कारकमें सिद्धि होती है। यथा—जो स्पर्श करती है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो स्वाद लेती है वह रसन इन्द्रिय है, जो सूंघती है वह घ्राण इन्द्रिय है, जो देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है, जो सुनती है वह कर्ण इन्द्रिय है। (रा. वा./२/१९/१/१३१/४) (ध. १/१,१,३३/२३७/६; २४१/५; २४३/४; २४५/५; २४७/२)।

८. उपयोगको इन्द्रिय कैसे कह सकते हो

ध. १/१,१,३३/२३६/८ उपयोगस्य तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्ति-रिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। कार्यं हि लोके कारणमनुवर्त-मानं दृष्टं यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। तथेन्द्रियनिर्वृत्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा य इन्द्रियशब्दार्थः स क्षयोपशमे प्राधान्येन विद्यत इति तस्येन्द्रिय-व्यपदेशो न्याय्य इति। —प्रश्न—उपयोग इन्द्रियोंका फल है, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे होती है, इसलिए उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, कारणमें रहनेवाले धर्म-की कार्यमें अनुवृत्ति होती है अर्थात् कार्य लोकमें कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है। जैसे, घटके आकारसे परिणत हुए ज्ञान-को घट कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय संज्ञा दी गयी है। (रा. वा./२/१८/३-४/१३०)।

९. चल रूप आत्म प्रदेशोंमें इन्द्रियपना कैसे घटित होता है

ध. १/१,१,३३/२३२/७ आह, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्येव किमु स्वात्मप्रदेशेषूपजायते, उत प्रतिनिय-तेष्विति। किं चातः, न सर्वात्मप्रदेशेषु स्वसर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धि-प्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात्। न प्रतिनियतात्मावयवेषु-वृत्तेः 'सिया ट्ठिया, सिया अट्ठिया, सिया ट्ठियाट्ठिया' (ष. खं./प्र०१२/४,२,११,५/-सू.-५ ७/३६७) इति वेदनासूत्रतोऽवगतभ्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु सर्वजीवानामान्ध्यप्रसङ्गादिति। नैष दोषः, सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि तत्सहकारिकारणबाह्यनिर्वृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात्।

ध. १/१,१,३३/२३४/४ द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न भ्रमणमिति किन्नेष्यत इति चेन्न, तद्भ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादि-दर्शनानुपपत्तेः इति। —प्रश्न—जिस प्रकार स्पर्शन-इन्द्रियका क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों-का क्षयोपशम क्या सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, या प्रति-नियत आत्मप्रदेशोंमें। १. आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम होता है यह तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा-के सम्पूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धिका प्रसंग आ जायेगा? २. यदि कहा जाय, कि सम्पूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धि होती ही है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांग-से रूपादिका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता। इसलिए सर्वांगमें तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है। ३. और यदि आत्माके अतिरिक्त अवयवोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम माना जाय, सो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर 'आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं, और चलाचल भी हैं,' इस प्रकार वेदना प्राभृतके सूत्रसे आत्मप्रदेशोंका भ्रमण अवगत हो जानेपर, जीव प्रदेशों-की भ्रमणरूप अवस्थामें सम्पूर्ण जीवोंको अन्धपनेका प्रसंग आ जायेगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादिको ग्रहण नहीं कर सकेंगी। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है। परन्तु ऐसा मान लेने-पर भी, जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिककी उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमें सहकारी कारण रूप बाह्य निर्वृत्ति जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पायी जाती है। प्रश्न—द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता है।

२–इन्द्रियमें प्राप्यकारो व अप्राप्यकारोपना :

१. इन्द्रियोंमें प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीपनेका निर्देश

पं. सं./प्रा./१/६८ पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं। फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणेइ ।६८। –श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्दको सुनती है। चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूपको देखती है। स्पर्शनेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय क्रमशः बद्ध और स्पृष्ट, स्पर्श, रस और गन्धको जानती हैं। ६८।

स. सि./१/१६/११८ पर उद्धृत "पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूअं। गंधं रसं च फासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि। –श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है और अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती हैं।

ध. १३/५,५,२७/२२५/१३ सव्वेसु इंदिएसु अपत्तत्थग्गहणसत्तिसंभवादो। –सभी इन्द्रियोंमें अप्राप्त ग्रहणकी शक्तिका पाया जाना सम्भव है।

२. चक्षुको अप्राप्यकारी कैसे कहते हो

स. सि./१/१६/११८/६ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं कथमध्यवसीयते। आगमतो युक्तितश्च। आगमतः (दे० २/१/२)। युक्तितश्च अप्राप्यकारि चक्षुः, स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात् न तु गृह्णात्यतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम्। –प्रश्न– चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह कैसे जाना जाता है? उत्तर– आगम और युक्तिसे जाना जाता है। आगमसे (दे० २/१/१) युक्तिसे यथा–चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थको नहीं ग्रहण करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रियके समान स्पृष्ट हुए अंजनको ग्रहण करती। किन्तु वह स्पृष्ट अंजनको नहीं ग्रहण करती है इससे मालूम होता है कि मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। (रा. वा./१/१६/२/६७/१२)।

रा. वा.१/१६/२/६७/२३ अत्र केचिदाहुः–प्राप्यकारि चक्षुः आवृतानवग्रहात् त्वगिन्द्रियवदिति; अत्रोच्यते–काचाभ्रपटलस्फटिकावृतार्थावग्रहे सति अव्यापकत्वादसिद्धो हेतुः...भौतिकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुरग्निवदिति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात्।...अयस्कान्तोपलम् अप्राप्यलोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टमिति संशयावस्थमेतदिति। अप्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययभाव इति चेत्; न; प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात्। कश्चिदाह–रश्मिवच्चक्षुः, तैजसत्वात्, तस्मात्प्राप्यकारीति, अग्निवदिति; एतच्चायुक्तम्; अनभ्युपगमात्। 'तेजोलक्षणमौष्ण्यमिति कृत्वा चक्षुरिन्द्रियस्थानमुष्णं स्यात्। न च तद्देशं स्पर्शनेन्द्रियम् उष्णस्पर्शोपलम्भि दृष्टमिति। इतश्च, अतैजसं चक्षुः भासुरत्वानुपलब्धेः।...नक्तंचररश्मिदर्शनाद् रश्मिवच्चक्षुरिति चेत्; न, अतैजसोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य भासुरत्वपरिणामोपपत्तेरिति। किंच, गतिमद्वैधर्म्यात्। इह यद् गतिमद्भवति न तत् संनिकृष्टविप्रकृष्टावर्थावभिन्नकालं प्राप्नोति, न च तथा चक्षुः। चक्षुर्हि शाखाचन्द्रमसावभिन्नकालमुपलभते,... तस्मान्न गतिमच्चक्षुरिति। यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात्, तमिस्रायां रात्रौ दूरेऽग्नौ प्रज्वलति तत्समीपगतद्रव्योपलम्भनं भवति कुतो नान्तरालगतद्रव्यालोचनम्।...किंच, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् सान्तराधिकग्रहणं न प्राप्नोति। नहीन्द्रियान्तरविषये गन्धादौ सान्तरग्रहणं दृष्टं नाप्यधिकग्रहणम्। – प्रश्न–चक्षु प्राप्यकारी है क्योंकि वह ढके हुए पदार्थको नहीं देखती? जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय? उत्तर–काँच, अभ्रक, स्फटिक आदिसे आवृत पदार्थोंको चक्षु बराबर देखता है। अतः पक्षमें भी अव्यापक होनेसे उक्त हेतु असिद्ध है। प्रश्न–भौतिक होनेसे अग्निवत् चक्षुप्राप्यकारी है? उत्तर–चुम्बक भौतिक होकर भी अप्राप्यकारी है।...जिस प्रकार चुम्बक अप्राप्त लोहेको खींचता है परन्तु अति दूरवर्ती अतीत अनागत या व्यवहित लोहेको नहीं खींचता। उसी प्रकार चक्षु भी न व्यवहितको देखता है न अति दूरवर्तीको ही, क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियाँ मर्यादित हैं। प्रश्न– चक्षुके अप्राप्यकारी हो जानेपर चाक्षुष ज्ञान संशय व विपर्यय मुक्त हो जायेगा? उत्तर–नहीं, क्योंकि प्राप्यकारीमें वह पाये ही जाते हैं। प्रश्न–चक्षु चूँकि तेजो द्रव्य है। अतः इसके किरणें होती हैं, और यह किरणोंके द्वारा पदार्थसे सम्बन्ध करके ही ज्ञान करता है जैसे कि अग्नि? उत्तर–चक्षुको तेजो द्रव्य मानना अयुक्त है। क्योंकि अग्नि तो गरम होती है, अतः चक्षु इन्द्रियका स्थान उष्ण होना चाहिए। अग्निकी तरह चक्षु में (प्रकाश) रूप भी होना चाहिए पर न तो चक्षु उष्ण है, और न भासुररूपवाली है। प्रश्न–बिल्ली आदि निशाचर जानवरोंकी आँखें रातको चमकती हैं अतः आँखें तेजो द्रव्य हैं। उत्तर–यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पार्थिव आदि पुद्गल द्रव्योंमें भी कारणवश चमक उत्पन्न हो जाती है–जैसे पार्थिव मणि व जलीय बर्फ। प्रश्न–चक्षु गतिमान है, अतः पदार्थोंके पास जाकर उसे ग्रहण करती हैं। उत्तर–जो गतिमान होता है, वह समीपवर्ती व दूरवर्ती पदार्थोंसे एक साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता जैसे कि– स्पर्शनेन्द्रिय। किन्तु चक्षु समीपवर्ती शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमाको एक साथ जानता है। अतः गतिमानसे विलक्षण प्रकारका होनेसे चक्षु अप्राप्यकारी है। यदि गतिमान होकर चक्षु प्राप्यकारी होता तो अँधियारी रातमें दूर देशवर्ती प्रकाशको देखते समय उसे प्रकाशके पासमें रखे पदार्थोंका तथा मध्यके अन्तरालमें स्थित पदार्थोंका ज्ञान भी होना चाहिए। यदि चक्षु प्राप्यकारी होता तो जैसे शब्द कानके भीतर सुनाई देता है उसी तरह रूप भी आँखके भीतर ही दिखाई देना चाहिए था। आँखके द्वारा जो अन्तरालका ग्रहण और अपनेसे बड़े पदार्थोंका अधिक रूपमें ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिए।

३. श्रोत्र को भी प्राप्यकारी क्यों नहीं मानते

रा.वा./१/१६/२/६८/२४ कश्चिदाह–श्रोत्रमप्राप्यकारि विप्रकृष्टविषयग्रहणादिति; एतच्चायुक्तम्; असिद्धत्वात्। साध्यं तावदेतत्–विप्रकृष्टं शब्दं गृह्णाति श्रोत्रम् उत घ्राणेन्द्रियवत्तदवगाढं स्वविषयभावपरिणतं पुद्गलद्रव्यं गृह्णाति इति। विप्रकृष्ट-शब्द-ग्रहणे च स्वकर्णान्तर्बिलगतमशकशब्दो नोपलभ्येत। नहीन्द्रियं किंचिदेकं दूरस्पृष्टविषयग्राहि दृष्टमिति।...प्राप्तावग्रहे श्रोत्रस्य दिग्देशभेदविशिष्टविषयग्रहणाभाव इति चेत्; न; शब्दपरिणतविसर्पत्पुद्गलवेगशक्तिविशेषस्य तथा भावोपपत्तेः, सूक्ष्मत्वात् अप्रतिघातात् समन्ततः प्रवेशाच्च। –प्रश्न– (बौद्ध कहते हैं) श्रोत्र भी चक्षुकी तरह अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह दूरवर्ती शब्दको सुन लेता है? उत्तर–यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि श्रोत्रका दूरसे शब्द सुनना असिद्ध है। वह तो नाककी तरह अपने देशमें आये हुए शब्द पुद्गलोंको सुनता है। शब्द वर्गणाएँ कानके भीतर ही पहुँचकर सुनायी देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्दको सुनता है तो उसे कानके भीतर घुसे हुए मच्छरका भिनभिनाना नहीं सुनाई देना चाहिए, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती व दूरवर्ती दोनों प्रकारके पदार्थोंको नहीं जान सकती। प्रश्न–श्रोत्रको प्राप्यकारी माननेपर भी 'अमुक देशकी अमुक दिशामें शब्द हैं' इस प्रकार दिग्देशविशिष्टताके साथ विरोध आता है? उत्तर–नहीं, क्योंकि वेगवान् शब्द परिणत पुद्गलोंके त्वरित और नियत देशादिसे आनेके कारण उस प्रकारका ज्ञान हो जाता है। शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे चारों ओर फैलकर श्रोताओंके कानोंमें प्रविष्ट होते हैं। कहीं प्रतिघात भी प्रतिकूल वायु और दीवार आदि से हो जाता है।

४. स्पर्शनादि सभी इन्द्रियोंमें भी कथंचित् अप्राप्य-कारीपने सम्बन्धी

ध. १/१,१,११५/३५५/२ शेषेन्द्रियेष्वप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः। शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति। चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव। यद्युपलम्भास्त्रिकालगोचरमशेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत्। न चैवमनुपलम्भात्। = प्रश्न—शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्तका ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिए उनसे अर्थावग्रह नहीं होना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधिवाले प्रदेशमें ही अंकुरोंका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिए स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण, अर्थात् अर्थावग्रह, बन जाता है। प्रश्न—इस प्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ। फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे। तो भी वह है ही, क्योंकि यदि हमारा ज्ञान त्रिकाल गोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिए अनुपलब्ध न होता। किन्तु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थों को जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्वपदार्थोंकी जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है।

ध. १३/५,५,२७/२२५/१३ होदु णाम अपत्थगहण चक्खिदियणोइंदियाणं, ण सेसिंदियाणं; तहोवलंभाभावादो त्ति। ण, इंदिएसु फासिंदियस्स अपत्तणिहिग्गहणुवलंभादो। तदुवलंभो च तत्थ पारोहमोच्छणादुवलब्भदे। सेसिंदियाणपत्तत्थगहणं कुदोवगम्मदे। जुत्तीदो। तं जहा—घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाणमुक्कस्सविसओ णवजोयणाणि। जदि एदेसिमिंदियाणमुक्कस्सखओवसमगदजीवो णवसु जोयणेसु ट्ठिददव्वेहिंतो विप्पडिय आगदपोग्गलाणं जिब्भा-घाण-फासिंदिएसु लग्गाणं रस-गंध-फासे जाणदि तो समंतदो णवजोयणब्भंतरट्ठिदगूहभक्खणं तग्गंधजणिदअसादं च तस्स पसज्जेज्ज। ण च एवं, तिव्विंदियक्खओवसमगचक्कवट्टीणं पि असायसायरंतोपवेसप्पसंगादो। किं च-तिव्वखओवसमगदजीवाणं मरणं पि होज्ज, णवजोयणब्भंतरट्ठियविसेण जिब्भाए संबंधेण घादियाणं णवजोयणब्भंतरट्ठिदअग्गिणा दज्झमाणाणं च जीवणाणुववत्तीदो। किं च—ण तेसिं महुरभोयणं वि संभवदि, सगक्खेत्तंतोट्ठियतियदुअ-पिचुमंदकडुइरसेण मिलिददुद्धस्स महुरत्ताभावादो। तम्हा सेसिंदियाणं पि अपत्तग्गहणमत्थि त्ति इच्छिदव्वं। = प्रश्न—चक्षुइन्द्रिय और नोइन्द्रियके अप्राप्त अर्थ करना रहा आवे, किन्तु शेष इन्द्रियोंके वह नहीं बन सकता; क्योंकि, वे अप्राप्त अर्थको ग्रहण करती हुई नहीं उपलब्ध होतीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रियोंमें स्पर्शन इन्द्रिय अप्राप्त निधिको ग्रहण करती हुई उपलब्ध होती है, और यह बात उस ओर प्रारोह छोड़नेसे जानी जाती है। प्रश्न—शेष इन्द्रियाँ अप्राप्त अर्थको ग्रहण करती हैं, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—१. युक्तिसे जाना जाता है। यथा - घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषय नौ योजन है। यदि इन इन्द्रियोंके उत्कृष्ट क्षयोपशमको प्राप्त हुआ जीव नौ योजनके भीतर स्थित द्रव्योंमें से निकलकर आये हुए तथा जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियोंसे लगे हुए पुद्गलोंके रस, गन्ध और स्पर्शको जानता है तो उसके चारों ओरसे नौ योजनके भीतर स्थित विष्ठाके भक्षण करनेका और उसकी गन्धके सूँघनेसे उत्पन्न हुए दुःखका प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर इन्द्रियोंके तीव्र क्षयोपशमको प्राप्त हुए चक्रवर्तियोंके भी असाता रूपी सागरके भीतर प्रवेश करनेका प्रसंग आता है। २. दूसरे, तीव्र क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवोंका मरण भी हो जायेगा क्योंकि नौ योजनके भीतर स्थित अग्निसे जलते हुए जीवोंका जीना नहीं बन सकता है। ३. तीसरे, ऐसे जीवोंके मधुर भोजनका करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, अपने क्षेत्रके भीतर स्थित तीखे रसवाले वृक्ष और नीमके कटुक रससे मिले हुए दूधमें मधुर रसका अभाव हो जायेगा। इसीलिए शेष इन्द्रियाँ भी अप्राप्त अर्थको ग्रहण करती हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

५. फिर प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीसे क्या प्रयोजन

ध. १/१,१,११५/३५६/३ न कार्त्स्न्येनाप्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्यकारित्वमिति। किं तर्हि। कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादि तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसंगादिति चेन्न। योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्। तथा च रसगन्धस्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्टं स्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च। रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादिसिद्धेः। = पदार्थके पूरी तरहसे अनिसृतपनेको और अनुक्तपनेको हम प्राप्त नहीं कहते हैं। जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे। प्रश्न—तो फिर अप्राप्यकारीपनेसे क्या प्रयोजन है? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं। ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने-अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है। शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है। उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुख रूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना है। तथा अनिःसृत व अनुक्तका अवग्रह आदि नहीं बनता है।

३. इन्द्रिय-निर्देश

१. भावेन्द्रिय ही वास्तविक इन्द्रिय है

ध. १/१,१,२७/२६३/४ केवलिभिर्व्यभिचारादिति नैष दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। प्रश्न—केवलीमें पंचेन्द्रिय होते हुए भी भावेन्द्रियाँ नहीं पायी जाती हैं, इसीलिए व्यभिचार दोष आता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँपर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पंचेन्द्रियपना स्वीकार किया है।

ध. २/१,१/४४४/४ दव्वेंदियाणं णिप्पत्तिं पडुच्च के वि दस पाणे भणंति। तण्ण घडदे। कुदो। भाविंदियाभावादो। भाविंदियं णाम पंचण्हमिंदियाणं खओवसमो। ण सो खीणावरणे अत्थि। अध दव्विंदियस्स जदि गहणं कीरदि तो सण्णीणमपज्जत्तकाले सत्त पाणा पिंडिदूण दो चेव पाणा भवंति, पंचण्हं दव्वेंदियाणमभावादो। = कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोंकी पूर्णताकी अपेक्षा केवलीके दश प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि, सयोगी जिनके भावेन्द्रियाँ नहीं पायी जाती हैं? पाँचों इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको भावेन्द्रियाँ कहते हैं। परन्तु जिनका आवरण कर्म समूल

नष्ट हो गया है उनके वह क्षयोपशम नहीं होता है। और यदि प्राणोंमें द्रव्येन्द्रियोंका ही ग्रहण किया जावे तो संज्ञी जीवोंके अपर्याप्तकालमें सात प्राणोंके स्थानपर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे, क्योंकि, उनके पाँच द्रव्येन्द्रियोंका अभाव होता है।

ध. ६/२,१,१५/६१/६ पस्सिदियावरणस्स सव्वघादिफद्दयाणं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण चक्खु-सोद-घाण-जिब्भिदियावरणाणं देसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण तेसिं सव्वघादिफद्दयाणमुदएण जो उप्पण्णो जीवपरिणामो सो खओवसमिओ वुच्चदे। कुदो। पुव्वुत्ताणं फद्दयाणं खओवसमे हि उप्पण्णत्तादो। तस्स जीवपरिणामस्स एइंदियमिदि सण्णा।

ध. ६/२,१,१५/६६/५ फासिंदियावरणादीणं मदिआवरणे अंतब्भावादो। —स्पर्शेन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके सत्त्वोपशमसे, उसीके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रियावरण कर्मोंके देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे जो जीव परिणाम उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशम कहते हैं, क्योंकि, वह भाव पूर्वोक्त स्पर्धकोंके क्षय और उपशम भावोंसे ही उत्पन्न होता है। इसी जीव परिणामकी एकेन्द्रिय संज्ञा है। स्पर्शनेन्द्रियादिक आवरणोंका मति आवरणमें ही अन्तर्भाव हो जानेसे उनके पृथक् उपदेशकी आवश्यकता नहीं समझी गयी।

२. यदि भावेन्द्रियको ही इन्द्रिय मानते हो तो उपयोग शून्य दशामें या संशयादि दशामें जीव अनिन्द्रिय हो जायेगा

ध. १/१,१,४/१३६/१ इन्द्रियवैकल्यमनोऽनवस्थानानध्यवसायालोकाद्यभावावस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितस्य गोशब्दस्यागच्छद्गोपदार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात्। भवतु तत्र रूढिबललाभादिति चेदत्रापि तल्लाभादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः। विशेषभावतस्तेषां सङ्करव्यतिकररूपेण व्यापृतिः व्याप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे नीतिनियमिते रतानीति प्रतिपादनात्।...संशयविपर्ययावस्थायां निर्णयात्मकरतेरभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रूढिबललाभादुभयत्र प्रवृत्त्यविरोधात्। अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि। संशयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः तस्यां स्ववृत्तौ रतानीन्द्रियाणि। निर्व्यापारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्। —प्रश्न—इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चंचलता और अनध्यवसायके सद्भावमें तथा प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामें क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमें व्यापार नहीं हो सकता है, इसलिए उस अवस्थामें आत्माके अनिन्द्रियपना प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जो गमन करती है उसे गौ कहते हैं। इस तरह 'गौ' शब्दकी व्युत्पत्ति हो जानेपर भी नहीं गमन करनेवाले गौ पदार्थमें भी उस शब्दकी प्रवृत्ति पायी जाती है। प्रश्न—भले ही गौ पदार्थमें रूढिके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामें भी 'गौ' शब्दकी प्रवृत्ति होओ। किन्तु इन्द्रिय वैकल्यादि रूप अवस्थामें आत्माके इन्द्रियपना प्राप्त नहीं हो सकता है? उत्तर—यदि ऐसा है तो आत्मामें भी इन्द्रियोंकी विकलतादि कारणोंके रहनेपर रूढिके बलसे इन्द्रिय शब्दका व्यवहार मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेनेमें कोई दोष नहीं आता है। प्रश्न—इन्द्रियोंके नियामक विशेष कारणोंका अभाव होनेसे उनका संकर और व्यतिकर रूपसे व्यापार होने लगेगा। अर्थात् या तो वे इन्द्रियाँ एक दूसरी इन्द्रियके विषयके विषयको ग्रहण करेंगी या समस्त इन्द्रियोंका एक ही साथ व्यापार होगा? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने नियमित विषयमें ही रत हैं, अर्थात् व्यापार करती हैं, ऐसा पहले ही कथन कर आये हैं। इसलिए संकर और व्यतिकर दोष नहीं आता है। प्रश्न—संशय और विपर्यय रूप ज्ञानकी अवस्थामें निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका अभाव होनेसे उस अवस्थामें आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जावेगी? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि रूढिके बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। २. अथवा अपनी-अपनी प्रवृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं इसका खुलासा इस प्रकार है। संशय और विपर्यय ज्ञानके निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है, उसे वृत्ति कहते हैं। उस अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। प्रश्न—जब इन्द्रियाँ अपने विषयमें व्यापार नहीं करती हैं, तब उन्हें व्यापार रहित अवस्थामें इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी? उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इसका उत्तर पहले दे आये हैं कि रूढिके बलसे ऐसी अवस्थामें भी इन्द्रिय व्यवहार होता है।

३. भावेन्द्रिय होनेपर ही द्रव्येन्द्रिय होती है

ध. १/१,१,४/१३५/७ शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद्द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्। भावेन्द्रियकार्यत्वाद्द्रव्येन्द्रियस्य व्यपदेशः। नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात्। —(वे इन्द्रियाँ) शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामके ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होनेपर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिए भावेन्द्रियाँ कारण हैं, और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं, और इसलिए द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है। अथवा, उपयोग रूप भावेन्द्रियोंकी उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे होती है, इसलिए भावेन्द्रिय कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कारण हैं, इसलिए भी द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में निमित्त रूपसे पाया जाता है।

४. द्रव्येन्द्रियोंका आकार

मू.आ./१०९१ जवणालिया मसूरिअ अतिमुत्तयचंदए खुरप्पे य। इंदियसंठाणा खलु फासस्स अणेयसंठाणं।१०९१। —श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा इन चार इन्द्रियोंका आकार क्रमसे जौकी नली, मसूर, अतिमुक्तक पुष्प, अर्धचन्द्र अथवा खुरपा इनके समान है और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकार रूप है। (पं.सं./प्रा./१/६६), (रा.वा./१/१६/६/६१/२६), (ध.१/१,१,३३/१३४/२३६), (ध.१/१,१,३३/२३४/७), (गो.जी./मू./१७१-१७२); (पं.सं./सं./१/१४३)

५. इन्द्रियोंकी अवगाहना

ध.१/१,१,३३/२३४/७ मसूरिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्यनिर्वृत्तिः। यवनालिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्यनिर्वृत्तिः। अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः। अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा वाङ्गुलस्य संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः। स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियतसंस्थाना। सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता सूक्ष्मशरीरेषु, उत्कर्षेण संख्येयघनाङ्गुलप्रमिता महामत्स्यादित्रसजीवेषु। सर्वतः स्तोकाश्चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येयगुणाः। —मसूरके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण चक्षु इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। यवकी नालीके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण श्रोत्र

इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। कदम्बके फूलके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण घ्राण इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। अर्धचन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली और घनांगुलके समान प्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। स्पर्शन इन्द्रियकी बाह्यनिर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है। वह जघन्य प्रमाणकी अपेक्षा घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके (ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पायी जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवोंके शरीरमें पायी जाती है। चक्षु इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम हैं, उनसे संख्यातगुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश हैं। उनसे अधिक घ्राण इन्द्रियके प्रदेश हैं। उनसे असंख्यात गुणे जिह्वा-इन्द्रियके प्रदेश हैं। और उनसे संख्यात गुणे स्पर्शन इन्द्रियके प्रदेश हैं।

६. इन्द्रियों का द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा विषय ग्रहण

१. द्रव्य की अपेक्षा

त.सू./२/१९-२१ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ।१९। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ।२०। श्रुतमनिन्द्रियस्य ।२१। =स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ हैं ।१९। इनके क्रमसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये विषय हैं ।२०। श्रुत (ज्ञान) मनका विषय है। (पं. सं./प्रा./१/६८), (पं.सं./सं./१/८१)

रा. वा./५/१९/३१/४७२/३० मनोलब्धिमता आत्मना मनस्त्वेन परिणामिता पुद्गलाः तिमिरान्धकारादिबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियप्रतिघातहेतुसंनिधानेऽपि गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यमनुभवन्ति, अतोऽस्त्यन्तःकरणं मनः। =मनोलब्धि वाले आत्माके जो पुद्गल मनरूपसे परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिरादि बाह्येन्द्रियोंके उपघातक कारणोंके रहते हुए भी गुणदोष विचार और स्मरण आदि व्यापारमें सहायक होते ही हैं। इसलिए मनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

ध.१३/५,५,२८/२२८/१३ णोइंदियादो दिट्ठ-सुदाणुभूदेसु अत्थेसु णोइंदियादो पुधभूदेसु जं णाणमुप्पज्जदि सो णोइंदिय अत्थोग्गहो णाम। ...सुदाणुभूदेसु दव्वेसु लोगंतरट्ठिदेसु वि अत्थोग्गहो त्ति कारणेण-अद्धाणणियमाभावादो। =नोइन्द्रियके द्वारा उससे पृथक्भूत दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थोंका जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नोइन्द्रिय अर्थावग्रह है।...क्योंकि लोकके भीतर स्थित हुए श्रुत और अनुभूत विषयका भी नोइन्द्रियके द्वारा अर्थावग्रह होता है, इस कारणसे यहाँ क्षेत्रका नियम नहीं है।

प.ध./पू./७१५ स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पंचकं यावत्। मूर्तग्राहकमेकं मूर्तामूर्तस्य वेदकं च मनः ।५१७। =स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ एक मूर्तीक पदार्थको जाननेवाली हैं। मन मूर्तीक तथा अमूर्तीक दोनों पदार्थोंको जानने वाला है।

२. क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट विषय

(मू.आ./१०९२-१०९८), (रा.वा./१/१९/९/७०/३), (ध.९/४,१,४५/५२-५७/१५८), (ध.१३/५,५,२८/२२७/५)

इंद्रियनं.	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिंद्रिय	असंज्ञी पं०	संज्ञी पं०
स्पर्शन	४०० ध.	८०० ध.	१६०० ध.	३२०० ध.	६४०० ध.	९ यो.
रसना		६४ ध.	१२८ ध.	२५६ ध.	५१२ ध.	९ यो.
घ्राण			१०० ध.	२०० ध.	४०० ध.	९ यो.
चक्षु				२९५४ यो.	५९०८ यो.	४७२६३ ७/२०
श्रोत्र					८००० ध.	१२ यो.
मन						सर्वलोकवर्ती

संकेत—ध.=धनुष; य.=योजन; सर्वलोकवर्ती=सर्वलोकवर्ती दृष्ट व व अनुभूत विषय—दे० ध. १३।

७. इन्द्रियोंके विषयका काम व भोगरूप विभाजन

मू.आ./११३८ कामा दुवे तऊ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता। कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया ।११३८। =दो इन्द्रियोंके विषय काम हैं, तीन इन्द्रियोंके विषय भोग हैं, ऐसा विद्वानोंने कहा है। रस और स्पर्श तो काम हैं और गन्ध, रूप, शब्द भोग हैं, ऐसा कहा है।११३८। (स.सा./ता.वृ./४/११)

८. इन्द्रियोंके विषयों सम्बन्धी दृष्टि-भेद

ध.९/४,१,४५/१५९/१ नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कन्धैकदेशमागम्येन्द्रियसंबद्धं जानन्तीति केचिदाचक्षते। तन्न घटते, अध्वानप्ररूपणा वैफल्यप्रसंगात्। =नौ योजनके अन्तरसे स्थित पुद्गल द्रव्य स्कन्ध के एक देशको प्राप्त कर इन्द्रिय सम्बद्ध अर्थको जानते हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर अध्वान प्ररूपणाके निष्फल होनेका प्रसंग आता है।

९. ज्ञानके अर्थमें चक्षुका निर्देश

प्र.सा./मू./२३४ आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि। देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु ।२३४। =साधु आगम चक्षु हैं, सर्व प्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधि चक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु (सर्व ओरसे चक्षु वाले अर्थात् सर्वात्मप्रदेशोंसे चक्षुवान्) हैं।

४. इन्द्रिय मार्गणा व गुणस्थान निर्देश

१. इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा जीवोंके भेद

ष. खं. १/१,१/सू.३३/२३१ इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया, बीइंदिया, तीइंदिया, चदुरिंदिया, पंचिंदिया, अणिंदिया चेदि। =इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव होते हैं। (द्र.सं./टी./१३/३७)

२. एकेन्द्रियादि जीवोंके लक्षण

पं.का./मू./११२-११७ एदे जीवणिकाया पंचविधा पुढविकाइयादीया। मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ।११२। संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी। जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ।११४। जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा। जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।११५। उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पतंगमादीया। रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति ।११६। सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू। जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ।११७। =इन पृथ्वीकायिक आदि पाँच प्रकारके जीवनिकायोंको मनपरिणाम रहित एकेन्द्रिय-जीव (सर्वज्ञने) कहा है ।११२। शंबूक, मातृवाह, शंख, सीप और पग रहित कृमि—जो कि रस और स्पर्शको जानते हैं, वे द्वीन्द्रिय

जीव हैं ।११४। जूँ, कुन्थी, खटमल, चींटी और बिच्छू आदि जन्तु रस, स्पर्श और गन्धको जानते हैं, वे त्रीन्द्रिय जीव हैं ।११५। डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा और पतंगे आदि जीव रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको जानते हैं। (वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं) ।११६। वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको जानने वाले देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंच जो थलचर, खेचर, जलचर होते हैं वे बलवान् पंचेन्द्रिय जीव हैं। ११७। (पं.सं./प्रा./१/६६-७१), (ध.१/१,१,३३/१३६-१३८/२४१-२४५), (पं.सं./सं./१/१४३-१५०)।

३. एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यन्त इन्द्रियोंका स्वामित्व

त.सू./२/२२,२३ वनस्पत्यन्तानामेकम् ।२२। कृमिपिपीलकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।२३। =वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज, वायु व वनस्पति इन पाँच स्थावरोंमें एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय (स्पर्शन) होती है ।२२। कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदिके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ।२३। (पं. सं./प्रा./१/६७), (ध.१/१,१,३५/१४२/२५८), (पं.सं./सं./१/८२-८६), (गो.जी./मू./१६६)।

स.सि./२/२२-२३/१८०/४ एकं प्रथममित्यर्थः। किं तत्। स्पर्शनम्। तत्केषाम्। पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां वेदितव्यम् ॥२२॥ कृम्यादीनां स्पर्शनं रसनाधिकम्, पिपीलिकादीनां स्पर्शनरसने घ्राणाधिके, भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुरधिकानि, मनुष्यादीनां तान्येव श्रोत्राधिकानीति। =सूत्रमें आये हुए 'एक' शब्दका अर्थ प्रथम है। प्रश्न—वह कौन है? उत्तर—स्पर्शन। प्रश्न—वह किन जीवोंके होती है। उत्तर—पृथिवीकायिक जीवोंसे लेकर वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके जानना चाहिए ।२२। कृमि आदि जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। पिपीलिका आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्यादिके श्रोत्र इन्द्रियके मिला देनेपर पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। (रा.वा./२/२२/४/१३५); (ध.१/१,१,३३/२३७,२४१,२४३,२४५;२४७)

४. एकेन्द्रिय आदिकोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष.खं. १/१,१/सू.३६-३७/२६१ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णि पंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ।३६। पंचिंदिया असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव अयोगिकेवलि त्ति ।३७। =एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक गुणस्थानमें ही होते हैं ।३६। असंज्ञी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं ।३७। (रा.वा./१/७/११/६०५/२४); (ति.प./५/२९९); (गो.जी./मू. व. जी. प्र./६७८/११२१); गो.क./जी.प्र./३०१/४३८/८ पृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिषु सासादनस्योत्पत्तेः। =पृथ्वी, अप, और प्रत्येक वनस्पतिकायिकोंमें सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मरकर उत्पन्न हो जाता है। अन्य एकेन्द्रियोंमें नहीं। विशेष दे० जन्म/४/सासादन सम्बन्धी दृष्टिभेद।

५. जीव अनिन्द्रिय कैसे हो सकता है

ष.खं. ७/२,१/सू.१६-१७/६८ अणिंदिओ णाम कधं भवदि ।१६। खइयाए लद्धीए ।१७। =प्रश्न—जीव अनिन्द्रिय किस प्रकार होता है? उत्तर—क्षायिक लब्धिसे जीव अनिन्द्रिय होता है।

ध. ७/२,१,१७/६८/८ इंदिएसु विणट्ठेसु णाणस्स विणासो···णाणाभावे जीवविणासो,··· जीवाभावे ण खइयालद्धी वि, ··· णेदं जुज्जदे। कुदो। जीवो णाम णाणसहावो,···तदो इंदियविणासे ण णाणस्स विणासो। णाणसहकारिकारणइंदियाणमभावे कधं णाणस्स अत्थित्तमिदि चे ण···ण च छदुमत्थावत्थाए णाणकारणत्तेण पडिवण्णिदियाणि खीणावरणे भिण्णजादीए णाणुप्पत्तिम्हि सहकारिकारणं होंति त्ति णियमो, अइप्पसंगादो, अण्णहा मोक्खाभावप्पसंगा। = प्रश्न—इन्द्रियोंके विनष्ट हो जानेपर ज्ञानका भी विनाश हो जायेगा, और ज्ञानके अभावमें जीवका भी अभाव हो जायेगा।···जीवका अभाव हो जानेपर क्षायिक लब्धि न हो सकेगी? उत्तर—यह शंका उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जीव ज्ञान स्वभावी है।···इसलिए इन्द्रियोंका विनाश हो जानेपर ज्ञानका विनाश नहीं होता। प्रश्न—ज्ञानके सहकारी कारणभूत इन्द्रियोंके अभावमें ज्ञानका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है? उत्तर—छद्मस्थ अवस्थामें कारण रूपसे ग्रहण की गयी इन्द्रियाँ क्षीणावरण जीवोंके भिन्न जातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हों ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आ जायेगा, अन्यथा मोक्षके अभावका ही प्रसंग आ जायेगा।

५. एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय निर्देश

१. एकेन्द्रिय असंज्ञी होते हैं

पं.का./मू./१११ मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥१११॥ = मन परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव जानना।

इंद्रिय जय—दे० संयम/२।

इंद्रिय ज्ञान—दे० मतिज्ञान।

इंद्रिय पर्याप्ति—दे० पर्याप्ति।

इंद्रिय प्रमाण—दे० प्रमाण।

इंद्रोपपाद—गर्भान्वयादि क्रियाओंमें-से एक —दे० संस्कार/२।

इकट्ठी—बादाल² = १८४४६७,४४०७३७०९५५१६१६।

इक्षुमती—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

इक्षुरस—दे० रस।

इक्षुवर—मध्यलोकका सप्तम द्वीप व सागर —दे० लोक/५।

इक्ष्वाकुवंश—दे० इतिहास/७/२।

इच्छाकार—

मू.आ./१२६,१३१ इट्ठे इच्छाकारो तहेव अवराधे।···॥१२६॥ संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे। जोगग्गहणादिसु अ इच्छाकारो दु कादव्वो ॥१३१॥ =सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणाम वा व्रतादिक शुभ-परिणामोंमें हर्ष होना अपनी इच्छासे प्रवर्तना वह इच्छाकार है।··· ॥१२६॥ संयमके पीछी आदि उपकरणोंमें तथा श्रुतज्ञानके पुस्तकादि उपकरणोंमें और अन्य भी तप आदिके कमण्डलु आहारादि उपकरणोंमें, ओषधिमें, उष्णकालादिमें, आतापनादि योगोंमें इच्छाकार करना अर्थात् मनको प्रवर्ताना ॥१३१॥

सू.पा./मू./१४-१५ इच्छायार महत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं। ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होइ ॥१४॥ अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेदि निरवसेसाइं। तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥१५॥ =जो पुरुष जिन सूत्र विषैं तिष्ठता संता इच्छाकार शब्दका महान् अर्थ ताहि जानैं है, बहुरि स्थान जो श्रावकके

भेद रूप प्रतिमा तिनिमैं तिष्ठया सम्यक्त्व सहित वर्तता आरम्भ आदि कर्मनिकूं छोड़ै है सो परलोकविषैं सुख करनेवाला होय है॥१४॥ इच्छाकारका प्रधान अर्थ आत्माका चाहना है अपने स्वरूप विषैं रुचि करना है सो याकूं जो नाहीं इष्ट करै है अन्य धर्मके सर्व आचरण करै है तौउ सिद्धि कहिये मोक्ष कूं नहीं पावै है ताकूं संसारविषै ही तिष्ठनेवाला कह्या।

★ श्रावक श्राविका व आर्यिका तीनोंकी विनयके लिए 'इच्छाकार' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

—दे० विनय/३।

इच्छादेवी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी।

—दे० लोक/७।

इच्छानिरोध—दे० तप।

इच्छा निषेध—दे० राग।

इच्छानुलोमा भाषा—दे० भाषा।

इच्छा राशि—गो.जी./संदृष्टि 'गणित' सम्बन्धी त्रैराशिक विधिमें अपना इच्छित प्रमाण (विशेष—दे० गणित II/४)।

इच्छा विभाग—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

इज्या—म.पु./६७/१९३ यागो यज्ञः क्रतुः सपर्येज्याध्वरो मखः। मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः॥१९३॥ =याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, और मह ये सब पूजा विधिके पर्यायवाचक शब्द हैं॥१९३॥

चा.सा./४३/१ तत्रार्हत्पूजेज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुखं कल्पवृक्षोऽष्टाह्निक ऐन्द्रध्वज इति। =अर्हन्त भगवान्की पूजा करना इज्या कहलाती है। उसके नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, अष्टाह्निक और इन्द्रध्वज यह पाँच भेद हैं।

इतरनिगोद—दे० वनस्पति/२।

इतरेतराभाव—दे० अभाव।

इति—रा.वा./१/१३/१/५८/११ इतिशब्दोऽनेकार्थः संभवति। क्वचिद्धेतौ वर्तते—'हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति'। क्वचिदेवमित्यस्यार्थे वर्तते—'इति स्म उपाध्यायः कथयति' एवं स्म इति गम्यते। क्वचित्प्रकारे वर्तते—यथा 'गौरश्वः' शुक्लो नीलः, चरति प्लवते, जिनदत्तो देवदत्तः' 'इति, एवं प्रकाराः इत्यर्थः। क्वचिद्व्यवस्थायां वर्तते—यथा 'ज्वलितिकसंताण्णः' [जैने० २/१/११२] इति। क्वचिदर्थविपर्यासे वर्तते—यथा 'गौरित्ययमाह—गौरिति जानीते' इति। क्वचित्समाप्तौ वर्तते—'इति प्रथममाह्निकम्, इति द्वितीयमाह्निकम्' इति। क्वचिच्छब्दप्रादुर्भावे वर्तते—'इति श्रीदत्तम्, इति सिद्धसेनमिति।' —इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं—यथा—१. हन्तीति पलायते—'मारा इसलिए भागा' यहाँ इति शब्दका अर्थ हेतु है। २. इति स्म उपाध्यायः कथयति—उपाध्याय इस प्रकार कहता है। यहाँ 'इस प्रकार' अर्थ है। ३. 'गौः अश्वः इति'—गाय, घोड़ा आदि प्रकार। यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है। ४. 'प्रथममाह्निकमिति' यहाँ इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। ५. इसी तरह व्यवस्था अर्थविपर्यास शब्द प्रादुर्भाव आदि अनेक अर्थ हैं।

इतिवृत्त—इतिहासका एकार्थवाची है—दे० इतिहास।

इतिहास—किसी भी जाति या संस्कृतिका विशेष परिचय पानेके लिए तत्सम्बन्धी साहित्य ही एकमात्र आधार है और उसकी प्रामाणिकता उसके रचयिता व प्राचीनतापर निर्भर है। अतः जैन संस्कृति का परिचय पानेके लिए हमें जैन साहित्य व उनके रचयिताओंके काल आदिका अनुशीलन करना चाहिए। परन्तु यह कार्य आसान नहीं है, क्योंकि ख्यातिलाभकी भावनाओंसे अतीत वीतरागीजन प्रायः अपने नाम, गाँव व कालका परिचय नहीं दिया करते। फिर भी उनकी कथन शैलीपर से अथवा अन्यत्र पाये जानेवाले उन सम्बन्धी उल्लेखों परसे, अथवा उनकी रचनामें ग्रहण किये गये अन्य शास्त्रोंके उद्धरणों परसे, अथवा उनके द्वारा गुरुजनोंके स्मरण रूप अभिप्रायसे लिखी गयी प्रशस्तियों परसे, अथवा आगममें ही उपलब्ध दो-चार पट्टावलियों परसे, अथवा भूगर्भसे प्राप्त किन्हीं शिलालेखों या आयागपट्टोंमें उल्लिखित उनके नामोंपरसे इस विषय सम्बन्धी कुछ अनुमान होता है। अनेकों विद्वानोंने इस दिशामें खोज की है, जो ग्रन्थोंमें दी गयी उनकी प्रस्तावनाओंसे विदित है। उन प्रस्तावनाओंमें से लेकर ही मैंने भी यहाँ कुछ विशेष-विशेष आचार्यों व तत्कालीन प्रसिद्ध राजाओं आदिका परिचय संकलित किया है। यह विषय बड़ा विस्तृत है। यदि इसकी गहराइयोंमें घुसकर देखा जाये तो एकके पश्चात् एक करके अनेकों शाखाएँ तथा प्रतिशाखाएँ मिलती रहनेके कारण इसका अन्त पाना कठिन प्रतीत होता है, अथवा इस विषय सम्बन्धी एक पृथक् ही कोष बनाया जा सकता है। परन्तु फिर भी कुछ प्रसिद्ध व नित्य परिचय में आनेवाले ग्रन्थों व आचार्योंका उल्लेख किया जाना आवश्यक समझकर यहाँ कुछ मात्रका संकलन किया है। विशेष जानकारीके लिए अन्य उपयोगी साहित्य देखनेकी आवश्यकता है।

५. दिगम्बर संघ

१. दिगम्बर संघ सामान्य व उसके भेद; २. मूलसंघ निर्देश; ३. मूलसंघ विभाजन; ४. अनन्तवीर्य संघ; ५. अपराजित संघ; ६. काष्ठा संघ; ७. गुणधर संघ; ८. गुप्त संघ; ९. गोपुच्छ संघ; १०. गोप्य संघ; ११. चन्द्र संघ; १२. द्राविड संघ; १३. नन्दि-संघ (बलात्कार गण); १४. नन्दिसंघ (देशीय गण); १५. नन्दितट संघ; १६. निष्पिच्छ संघ; १७. पंचस्तूप संघ; १८. पुन्नाट संघ; १९. बागडगच्छ; २०. भद्र संघ; २१. भिल्लक संघ; २२. माघनन्दि संघ; २३. माथुर संघ; २४. यापनीय संघ; २५. लाड बागड संघ; २६. वीर संघ; २७. सिंह संघ; २८. सेनसंघ।

६. आगम परम्परा

१. समयानुक्रमसे आगमकी सूची।

७. पौराणिक राज्यवंश

१. सामान्य वंश; २. इक्ष्वाकु वंश; ३. उग्रवंश; ४. ऋषिवंश; ५. कुरुवंश; ६ चन्द्रवंश; ७. नाथवंश; ८. भोजवंश; ९. मातङ्ग-वंश; १०. यादव वंश; ११. रघुवंश; १२. राक्षसवंश; १३. वानरवंश; १४. विद्याधर वंश; १५. श्रीवंश; १६. सूर्यवंश; १७. सोमवंश; १८. हरिवंश।

१. इतिहास निर्देश व लक्षण

१. इतिहासका लक्षण

म. पु./१/२५ इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुतेः। इतिवृत्तमथै-तिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत् ।२५। ='इति इह आसीत्' (यहाँ ऐसा हुआ) ऐसी अनेक कथाओंका इसमें निरूपण होनेसे ऋषिगण इसे (महापुराणको) 'इतिहास,' 'इतिवृत्त' 'ऐतिह्य' भी कहते हैं ।२५।

२. ऐतिह्य प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव

रा. वा./१/२०/१५/७८/११ ऐतिह्यस्य च 'इत्याह स भगवान् ऋषभः' इति परंपरीणपुरुषागमाद् गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः। ='भगवान् ऋषभने यह कहा' इत्यादि प्राचीन परम्परागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है। इसका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

२. संवत्सर निर्देश

१. संवत्सर सामान्य व उसके भेद

इतिहास विषयक इस प्रकरणमें क्योंकि जैनागमके रचयिता आचार्योंका, साधुसंघकी परम्पराका, तात्कालिक राजाओंका, तथा शास्त्रोंका ठीक-ठीक कालनिर्णय करनेकी आवश्यकता पड़ेगी, अतः संवत्सरका परिचय सर्वप्रथम पाना आवश्यक है। जैनागममें मुख्यतः चार संवत्सरोंका प्रयोग पाया जाता है—१. वीर निर्वाण संवत्; २. विक्रम संवत्; ३. ईसवी संवत्; ४. शक संवत्; परन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य संवतोंका व्यवहार होता है—जैसे १. गुप्त संवत्; २. हिजरी संवत्; ३. मघा संवत्; आदि।

२. वीर निर्वाण संवत् निर्देश

क. पा. १/§ ५६/७५/२ एदाणि [पण्णरसदिवसेहि अट्ठमासेहि य अहिय-] पंचहत्तरिवासेसु सोहिदे वड्ढमाणजिणिंदे णिव्वुदे संते जो सेसो चउत्थकालो तस्स पमाणं होदि। —इस बहत्तर वर्ष प्रमाण कालको [महावीरका जन्मकाल—दे० महावीर] पन्द्रह दिन और आठ महीना अधिक पचहत्तरवर्षमेंसे घटा देनेपर, वर्द्धमान जिनेन्द्रके मोक्ष जानेपर जितना चतुर्थ कालका प्रमाण [या पंचम कालका प्रारम्भ] शेष रहता है, उसका प्रमाण होता है। अर्थात् ३ वर्ष ८ महीना और पन्द्रह दिन। (ति. प./४/१४७४)।

प. (ध.१/प्र.३२/ H,L, Jain) साधारणतः वीर निर्वाण संवत् व विक्रम संवत्में ४७० वर्षका अन्तर रहता है। परन्तु विक्रम संवत्के प्रारम्भ-के सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है, जिसके कारण भगवान् महावीरके निर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ—१. नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् राजा विक्रमका जन्म हुआ है, ऐसा कहा हुआ है, और क्योंकि वीर निर्वाण व विक्रम संवत्में ४७० वर्ष-का अन्तर पाया जाता है, इसलिए प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् उनके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था। २. श्री बैरिस्टर काशीप्रसाद जायसवालने उपरोक्त मतको ही मानकर निश्चित किया है कि भग-वान् वीरका निर्वाण प्रचलित विक्रम संवत्से ४८८ वर्ष पूर्व होना चाहिए। क्योंकि विक्रम संवत् उनके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ हुआ माना जाता है, और वह उनकी १८ वर्षकी आयुमें हुआ था। ३. एक और तीसरा मत हेमचन्द्राचार्यका है, जिसके अनुसार महा-वीरकी मुक्तिसे १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ, उससे २५५ वर्ष पश्चात् राजा विक्रमका राज्याभिषेक हुआ। इस हिसाबसे भग-वान्‌का निर्वाण राज्यसे १५५+२५५=४१० वर्षपूर्व सिद्ध होता है। ४. दिगम्बर सम्प्रदायमें जो उल्लेख मिलते हैं उनके अनुसार प्रचलित विक्रम संवत् विक्रमके राज्यसे नहीं बल्कि उसकी मृत्युसे प्रारम्भ होता हैं। (द.सा. ग्रन्थमें यत्र-तत्र) वी०नि० ४१० में उसका राज्य प्रारम्भ हुआ। समन्वय—पूर्वोक्त उलझन इस प्रकार सुलझायी जा सकती है कि—१. शक संवत् वी० नि०के ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम और शक संवत्में १३५ वर्षका अन्तर है अतः इस मतसे विक्रम संवत्का प्रारम्भ वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् हुआ। २. इसी प्रकार विक्रम संवत्की अपेक्षा भी विक्रमका राज्य क्योंकि ऊपर वी० नि० ४१० में प्रारम्भ होना बताया गया है, और यह सर्व सम्मत है कि उसका राज्य ६० वर्ष पर्यन्त रहा। इसलिए ४१०+६०=४७० वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु हुई और तभीसे विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। अर्थात् विक्रमकी मृत्युसे ४७० वर्ष पूर्व और उसके राज्याभिषेकसे ४१० वर्ष पूर्व भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ।

३. विक्रम संवत् निर्देश

१. भारतका यह सर्व प्रधान संवत् है। इस सम्बन्धी दो मान्यताएँ हैं—पहलीके अनुसार वीर निर्वाणके १५५ वर्ष बीत जाने पर मौर्य राज्य प्रारम्भ हुआ जो २५५ वर्ष पर्यन्त रहा। तत्पश्चात् विक्रमादित्यका राज्य प्रारम्भ हुआ जो ६० वर्ष रहा। उसके स्वर्ग-वास (वी० नि० १५५+२५५+६०=४७० वर्ष) पश्चात् विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। २. दूसरी मान्यताके अनुसार भगवान्‌के निर्वाणसे ६० वर्ष पश्चात् नन्दका राज्य प्रारम्भ हुआ जो १५५ वर्ष रहा। तत्पश्चात् मौर्य वंशका राज्य २५५ वर्ष रहा। और तत्पश्चात् विक्रमादित्यका राज्य प्रारम्भ हुआ। उस समय ही अर्थात् वीर निर्वाणके ६०+१५५+२५५=४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। यद्यपि दोनों ही प्रकारसे वीर निर्वाण व विक्रम संवत्में ४७० वर्षके अन्तरकी संगति बैठा दी गयी, परन्तु प्रथम मान्यता ही अधिक ग्राह्य है, क्योंकि उसे स्वीकार करने पर चन्द्रगुप्त मौर्यका काल वी० नि० १५५–१६२ आता है और उसका आचार्य भद्रबाहु प्रथम (वी० नि० १६२) के साथ दक्षिणकी ओर प्रयाण करना सम्भव है।

(ष.खं.१/प्र.३३/H. L. Jain), (भद्रबाहु चरित्र/३/८)—दे० इतिहास/२/२। कहीं-कहीं शक संवत्‌को भी विक्रम संवत्‌के रूपमें स्वीकार किया गया है, जैसा कि आगे शक संवत्‌के अन्तर्गत बताया गया है।

४. ईसवी संवत् निर्देश

विक्रम संवत्‌के पश्चात् ईसवी संवत्‌का नम्बर आता है। इसका प्रचार समस्त युरॅपमें है। यह संवत् ईसा मसीहके अवसानके पश्चात् प्रारम्भ हुआ था। भारतमें अँगरेजी साम्राज्यके दिनोंसे भारतमें भी इसी संवत्‌का प्रयोग प्रधान हो गया है। इसका वीर निर्वाणसे ५२६ वर्ष पश्चात् और विक्रम संवत्‌से ५६ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ होना सर्व सम्मत है।

५. शक संवत् निर्देश

यद्यपि वर्तमानमें इसका व्यवहार प्रायः लुप्त हो चुका है, परन्तु प्रारम्भमें दक्षिण देशोंमें अधिकतर इसीका प्रचार था। और प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें तो विशेषतः प्रायः इसीका प्रयोग किया गया है। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र/प्र.४/प्रेमी जी) यद्यपि संवत् सामान्यके अर्थमें भी 'शक' शब्दके प्रयोगका व्यवहार रहा है यथा—

ज्योतिर्मुख/११ युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनौ ततो नृपः स्याद्विजयाभिनन्दनः। ततस्तु नागार्जुनभूपतिः कलौ कल्की षडेते शककारकाः स्मृताः। =कलियुगमें युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन, विजयाभिनन्दन, नागार्जुन और कल्की यह राजा शक कारक अर्थात् संवत् चलाने वाले कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त भी दक्षिण देशोंमें प्रत्येक संवत्‌को 'शक' नामसे कहा जाना प्रसिद्ध है जैसे—विक्रम शक, शालिवाहन शक, श्री महावीर शक, खिरस्ती शक इत्यादि। वे लोग ऐसा ही लिखते भी हैं जैसे—

त्रि.सा./मू. तथा आ. माधवचन्द्रकृत टीका/८५० श्री वीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पञ्चोत्तरषट्छतवर्षाणि पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते। =वीर निर्वाणके ६०५ वर्ष और ५ मास बीत जाने पर विक्रमांक शक राजा उत्पन्न होगा। और भी—अकलंक चारित्र="विक्रमार्क शकाब्दीय शतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्।" =विक्रमार्क शकाब्द ७०० में अकलंक यतिका बौद्धोंके साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ था। परन्तु शक नामवाला प्रसिद्ध संवत् तो उपरोक्त त्रि.सा./८५० के अनुसार वीर निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ था। ऐतिहासिक मान्यताके अनुसार भृत्यवंशी गोतमी पुत्र सातकर्णी शालिवाहनने ई० ७९ (वी० नि० ६०५) में शक राजा नरवाहन (नहपान) को परास्त करके शकोंको जीतनेके उपलक्ष्यमें शक संवत् प्रचलित किया था। (क. पा.१/प्र. ५३ पं. महेन्द्र)। आगममें विशेष प्रकारसे शक संवत्‌का प्रयोग किया जानेपर इसीसे तात्पर्य होता है। (ध.ख./९/४,१,४४/गा.४१ या ४५/१३२), (ति.प./४/१४९९)।

६. निर्वाण व शक संवत् सम्बन्धी दृष्टि-भेद

ति प./४/१४९६–१४९९ वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठिपरिमाणे। कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सकराओ ॥१४९६॥ अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्भहिए। पणसीदिम्मि यतीदे पणमासे सकणिओ जादो ॥१४९७॥ चोद्दससहस्ससगसयतेणउदीवासकालविच्छेदे। वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अहवा ॥१४९८॥ णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥ =१. वीर जिनेन्द्रके मुक्त होनेके पश्चात् ४६१ वर्ष प्रमाण कालके व्यतीत होनेपर यहाँ शक राजा उत्पन्न हुआ ॥१४९६॥ (त्रि.सा./८५०) अथवा—२. वीर भगवान्‌के सिद्ध होनेके पश्चात् ९७८५ वर्ष ५ मासके बीत जाने पर शक नृप उत्पन्न हुआ ॥१४९७॥ अथवा—३. वीर भगवान्‌की मुक्तिके पश्चात् १४७९३ वर्ष व्यतीत होनेपर शक नृप उत्पन्न हुआ ॥१४९७॥ (ध./पृ.९/गा.४२ या ४६/१३२)। अथवा—४. वीर भगवान्‌के निर्वाणके पश्चात् ६०५ वर्ष ५ मासके चले जाने पर शक नृप उत्पन्न हुआ ॥१४९९॥

ध./९/४,१,४४/गा,४३/१३२ सत्तसहस्सा णवसद पंचाणउदी सपंचमासा य। अइकंता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती। =५. ७९९५ वर्ष व ५ मास व्यतीत हो जानेपर शक नरेन्द्रकी उत्पत्ति हुई ॥४३॥

त्रि.सा./८५० पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥८५०॥ =श्री वर्धमान भगवान्‌के ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद (विक्रम) शक राजा हुआ। तथानन्तर ३९४ वर्ष ७ महीने पश्चात् कल्की हुआ। =१००० वर्ष।

७. उपरोक्त दृष्टियोंका समन्वय

कल्की राजाका समयान्तर देखनेसे यही ज्ञात होता है कि भगवान्‌के निर्वाणके एक हजार (१०००) वर्ष पश्चात् कल्कीका राज्य समाप्त हुआ। अतः उपरोक्त ६०५ वर्ष ५ महीने वाली मान्यता उपादेय है।

मेरुतुंगस्थविरावली "विक्कमरज्जारंभापुरओसिरिवीरणिव्वुई भणिया। सुण्ण-मुणि-वेय जुत्तो विक्कम कालाउ जिणकालो। =श्रीवीर निर्वाणके पश्चात् ४७० वर्षके बाद विक्रम राजाका राज्य अर्थात् विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। ऐसे ही तपागच्छ पट्टावली, पावापुरि कल्प, प्रभावक चरित, तित्थोगालीपइन्नय इत्यादि श्वेताम्बर ग्रन्थोंकी भी यही मान्यता है। अतः ६०५ वर्ष ५ मास मान्यता ही दिगम्बरोंको मान्य है।

नोट—वीर निर्वाणके ७४० वर्ष पश्चात् शालिवाहन (शक) संवत् प्रारम्भ हुआ।

पं० कमलकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी सुखबोधनी टीका—"श्रीपतौ श्री महावीरे सन्मतौ तीर्थनायके। मुक्तिलक्ष्म्याश्रितेऽब्दानामेकोनत्रिंशता सह। शतैः पञ्चभिराश्लिष्टे सहस्रद्वितीयसंगते (२५२९)। शालिवाहन संज्ञ श्रीशकराज शब्दगणे। वसुदिग्गजशैलेन्दुप्रमितेऽक्षयवत्सरे (१७८८)। चैत्रमासे शुभे कृष्णे पक्षेऽष्टम्यां तिथौ रवेः। वासरे वासराधीशे पूर्वं दिग्वनिताधरम्। शनैश्चुम्बति भे पूर्वाषाढे च शिवयोगके। =यहाँ श्री महावीर निर्वाण काल २५२९ और शालिवाहन संवत्सर १७८८ दोनों लिखा है। इससे सिद्ध है कि २५२९–१७८८ = ७४१ वर्ष वी० नि० पश्चात् शकाब्द प्रारम्भ हुआ।

मैसूरराज मुम्मडि कृष्ण राज द्वारा ई० सं० १८३० में श्रवणबेलगोलके जैन मठको दिया गया शिलालेख—"नानादेशनृपालमौलिविलसन्माणिक्यरत्नप्रभा। भास्वत्पादसरोजयुग्मरुचिरः श्रीकृष्णराजप्रभुः। श्रीकर्णाटकदेशभासुरमहीशूरस्थसिंहासनः। श्री चामक्षितिपालसूनुरवनौ जीयात्सहस्रं समाः। स्वस्ति श्री वर्धमानाख्ये जिने मुक्तिं गते सति। वह्निरन्ध्राब्धिनेत्रैश्च वत्सरेषु मितेषु वै ।२४९३। विक्रमांकसमास्विन्दुगजसामजहस्तिभिः (१८८८)। सतीषु गणनीयासु गणितज्ञैर्बुधैस्तथा। शालिवाहनवर्षेषु नेत्रबाणनगेन्दुभिः (१७५२)। प्रमितेषु विकृत्यब्दे श्रावणे मासि मङ्गले। =यहाँ २४९३ महावीर शक, १८८८ विक्रमशक, १७५२ शालिवाहन शक इन तीनोंका उल्लेख

है। अर्थात् ६०५ वर्ष वी० नि० पश्चात् शालिवाहन शक संवत प्रारम्भ हुआ।

मैसूर डिस्ट्रिक्ट शासन पुस्तक भाग २/पृ० ५७/ शिलालेख नं० १५४– "श्री शक १७६० स्वस्ति श्री वर्द्धमानाब्दाः २५०१......।

शिलालेखसंग्रह हिन्दी प्रथम भाग। शिलालेख नं० ३५५, ४८१, ४८२ "इन सभीमें १७७८ शालिवाहन सं० तथा २५११ वी० नि० संवत्का एक साथ उल्लेख किया गया है। तथा नं० ३५६, २६१, ४८० में शालिवाहन शक १७८०, तथा वी० नि० २५२१ का उल्लेख है। इन दोनोंसे ७४१ वर्षका अन्तर प्राप्त होता है।

८. गुप्त संवत् निर्देश

इसकी स्थापना गुप्त साम्राज्यके प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्तने अपने राज्याभिषेकके समय ईसवी ३२० अर्थात् वी० नि० के ८४६ वर्ष पश्चात् की थी। इसका प्रचार गुप्त साम्राज्य पर्यन्त ही रहा, उसके पश्चात् नहीं।

९. हिजरी संवत् निर्देश

इस संवत्का प्रचार मुसलमानोंमें है, क्योंकि यह उनके पैगम्बर मुहम्मद साहबके मक्कासे मदीना जानेके समयसे उनकी हिजरतमें विक्रम संवत् ६५० में अर्थात् वीर निर्वाणके ११२० वर्ष पश्चात् स्थापित हुआ था। इसीको मुहर्रम या शाबान सन् भी कहते हैं।

१०. मघा संवत् निर्देश

म. पु./७६/३९९ कल्की राजाकी उत्पत्ति बताते हुए कहा है कि दुखमा काल प्रारम्भ होनेके १००० वर्ष बीतने पर मघा नामके संवत्में कल्की नामक राजा होगा। आगमके अनुसार दुखमा कालका प्रादुर्भाव वी० नि० के ३ वर्ष व ८ मास पश्चात् हुआ है। अतः मघा संवत्सर वीर नि० के १००३ वर्ष पश्चात् प्राप्त होता है। इस संवत्सरका प्रयोग कहीं भी देखनेमें नहीं आता।

११. सर्व संवत्सरोंका परस्पर सम्बन्ध

इतना कुछ कह चुकनेपर इन सर्व संवत्सरोंका परस्परमें एक दूसरेसे कितना अन्तर है, यह जानना आवश्यक है, ताकि किसी भी एक संवत्के प्राप्त होनेपर उसे इच्छानुसार दूसरे संवत्में परिवर्तित किया जा सके।

नं.	नाम	संकेत	१ वी. नि.	२ विक्रम	३ ईसवी	४ शक	५ गुप्त	६ हिजरी
१	वीर निर्वाण	वी० नि०	१.	–४७०	–५२७	–६०५	–८४६	–११२०
२	विक्रम	वि०	४७०	१	–५७	–१३५	–३७६	–६५०
३	ईसवी	ई०	५२७	५७	१	–७८	–३१९	–५९३
४	शक	श०	६०५	१३५	७८	१	–२४१	–५१५
५	गुप्त	गु०	८४६	३७६	३१९	२४१	१	–२७४
६	हिजरी	हि०	११२०	६५०	५९४	५३५	२७४	१

३. ऐतिहासिक राज्यवंश

१. भोज वंश

द. सा./ प्र./३६-३७ (बंगाल एशियेटिक सोसाइटी वाल्यूम ५/ पृ० ३७८ पर छपा हुआ अर्जुनदेवका दानपत्र); (ज्ञा./प्र./पं० पन्नालाल) —यह वंश मालवा देशपर राज्य करता था। उज्जैनी इनकी राजधानी थी। अपने समयका बड़ा प्रसिद्ध व प्रतापी वंश रहा है। इस वंशमें धर्म व विद्याका बड़ा प्रचार था। इस वंशके सम्बन्धमें एक कथा प्रसिद्ध है। राजा सिंहलको कोई सन्तान न थी। उसको एक बार वनविहारके समय किसी मुञ्जकी झाड़ीके नीचे पड़ा एक शिशु दिखाई दिया। उसने उसे ही अपना पुत्र बना लिया और उसका नाम मुञ्ज रख दिया। वृद्ध हो जानेपर मुञ्जको राज्य दे दिया, परन्तु कुछ दिनके पश्चात् ही एकके पीछे एक दो पुत्र शुभचन्द्र व भर्तृहरि पैदा हो गये जिनको मुञ्जने राज्यके भयसे बाहर निकलवा दिया। यह दोनों साधु बन गये—शुभचन्द्र दिगम्बर और भर्तृहरि तापस। पीछे शुभचन्द्राचार्यने भर्तृहरिको वैराग्यपूर्ण उपदेश दिया। जिसको सुनकर उसने दिगम्बर दीक्षा ले ली, शुभचन्द्राचार्यने भर्तृहरिके निमित्त ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ रचा था। राजा मुञ्जके पश्चात् उसका पुत्र भोज हुआ और उसके पश्चात् सन्तान क्रमसे इस वंशमें अनेकों राजा हुए जिनकी वंशावली (बंगाल एशियेटिक सोसाइटी वाल्यूम ५/पृ० ३७८ पर छपे हुए अर्जुनदेवके अनुसार) निम्न प्रकार है।

नं०	नाम	समय		विशेष
		वि० सं०	ईसवी सं०	
१	सिंहल	९५७–१०३६	९००–९७९	दान पत्रसे बाहर
२	मुञ्ज	१०३६–१०७८	९७९–१०२१	"
३	भोज	१०७८–१११२	१०२१–१०५५	
४	जयसिंह राज	१११२–१११५	१०५५–१०५८	" "
५	उदयादित्य	१११५–११५०	१०५८–१०९३	इसका समय निश्चित है
६	नरधर्मा	११५०–१२००	१०९३–११४३	
७	यशोधर्मा	१२००–१२१०	११४३–११५३	दान पत्रसे बाहर
८	अजयवर्मा	१२१०–१२४९	११५३–११९२	
९	विन्ध्य वर्मा विजय वर्मा	१२४९–१२५७	११९२–१२००	इसका समय निश्चित है।
१०	सुभटवर्मा	१२५७–१२६४	१२००–१२०७	
११	अर्जुन वर्मा	१२६४–१२७५	१२०७–१२१८	
१२	देवपाल	१२७५–१२८५	१२१८–१२२८	
१३	जैनुगिदेव (जयसिंह)	१२८५ १२९६	१२२८–१२३९	

नोट—इस वंशावलीमें दर्शाये गये समय, उदयादित्य व विन्ध्यवर्माके समयके आधारपर अनुमानसे भरे गये हैं। क्योंकि उन दोनोंके समय निश्चित हैं, इसलिए यह समय भी ठीक ही समझने चाहिए।

२. कुरु वंश

इस वंशके राजा पाञ्चाल देशपर राज्य करते थे। कुरुदेश इनकी राजधानी थी। इस वंशमें कुल चार राजाओंका उल्लेख पाया जाता है। १. प्रवाहण जैबलि (ई० पू० १४००); २. शतानीक (ई० पू० १४००-१४२०); ३. जन्मेजय (ई० पू० १४२०-१४५०); ४. परीक्षित (ई० पू० १४५०-१४७०)।

३. मगध देशके राज्य-वंश

भारतीय इतिहासमें और जैनागममें मगध देश बहुत प्रसिद्ध रह चुका है। यद्यपि मगध तो स्वयं बिहार प्रान्तमें गंगाके दक्षिण भागका नाम है, जिसकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) रही है। परन्तु यहाँ मगध देशसे तात्पर्य वह अखण्ड देश है, जिसपर कि कभी मौर्य व गुप्त साम्राज्यकी सत्ता रही है। उत्तरमें पंजाब, पश्चिममें सौराष्ट्र, पूर्वमें बंगाल व बिहार तथा मध्यमें मालवाके सभी प्रदेश इस राज्यमें सम्मिलित थे। भगवान् महावीरके समयसे लेकर इस देशपर किन-किन प्रधान राजाओं व राज्यवंशोंकी सत्ता रही है, यही बात निम्न सारणीमें दिखायी जाती है। नोट—जैन आगममें दर्शाये गये कुछ नाम व समय वर्तमानके इतिहाससे मेल नहीं खाते हैं। उनकी यथाशक्ति संगति बैठानेका यहाँ प्रयास किया गया है, जिसमें मेरा व्यक्तिगत अनुमान ही प्रमाण है, अन्य कुछ नहीं। छद्मस्थ होनेके कारण बहुत सम्भव है कि वह अनुमान गलत हो अतः विद्वज्जन कृपया उसे सुधार लें और मुझे क्षमा करें। स्वय आगमके विभिन्न स्थलोंमें भी इस विषय सम्बन्धी मतभेद पाया जाता है, पर उसका कथन स्थानाभावके कारण यहाँ नहीं किया गया है।

१. ति. प /४/१५०६–१५०६; २. ह.पु /६०/४८९–४९२;

(ति. प.२/प्र.७,१४/A.N. up तथा H. L. Jain; ध.ख,ध.१/प्र.३३/H. L. Jain; क.पा.१/प्र.५२-५४ (६४–६५) पं. महेन्द्र; द. सा./प्र. २८/प्रेमीजी)

१. संकेत—१ ई. पू.—ईसवी पूर्व; २. वी. नि.—वीर निर्वाण संवत्; ३. ई.—ईसवी संवत्; ४. श.—शताब्दी।

वंशका नाम सामान्य व विशेष	आगमानुसार समय ति. प./४/१५०५–१५०६ वी. नि.	ईसवी पूर्व	इतिहासज्ञों के अनुसार समय ईसवी पूर्व	विशेष घटनाएँ
१. अवन्ती वंश—				यद्यपि ति. प. में नन्द वंशका काल ६०–२१५ और मौर्य वंशका काल २१५–२५५ बताया गया है, परन्तु विक्रम संवत् व भद्रबाहु स्वामीसे मेल बैठानेके लिए उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया। इस सम्बन्धमें दो मत हैं। नं. १ के अनुसार वी. नि. १५५ में चन्द्रगुप्त मौर्य राज्यारूढ़ हुए। उनके वंशका राज्य २५५ वर्ष रहा। तत्पश्चात् राजा विक्रमादित्य आये जिनका राज्य ६० वर्ष रहा। इनकी मृत्युके पश्चात् अर्थात् वी. नि. १५५+२५५+६०=४७० में विक्रम संवत् प्रचलित हुआ। दूसरी नं. २ मान्यताके अनुसार वी. नि, ६० में नन्द राज्य प्रारम्भ हुआ जो १५५ वर्ष रहा। तत्पश्चात् मौर्य वंशका राज्य २५५ वर्ष और तत्पश्चात् राजा विक्रमका राज्याभिषेक वी. नि. ६०+१५५+२५५=४७० में हुआ और तभी विक्रम संवत् प्रचलित हुआ। इन दोनोंमें-से प्रथम मान्यता ही अधिक स्वीकरणीय है, क्योंकि दूसरी मान्यताको माननेपर न तो चन्द्रगुप्त मौर्यका आ. भद्रबाहु स्वामी प्रथमका (वी.नि. १६२) का शिष्यत्व सिद्ध होता है, और राज्याभिषेक की बजाय मृत्युके पश्चात् संवत्का चलना अधिक उचित जँचता है। चन्द्रगुप्त मौर्य वी. नि. १६२ में भद्रबाहु स्वामी प्रथमके साथ ही १२० वर्ष के दुष्कालके अवसरपर दक्षिणकी ओर चले गये थे। (भद्रबाहु चारित्र/३/८), (H. L. Jain), (प्रेमीजी) विक्रमादित्यका नाम इस वंशावलीमें वास्तवमें नहीं है। अतः यह क्रम बाह्य है। केवल उपरोक्त समयोंकी संगति विक्रम संवत्के साथ बैठानेके लिए इसका उल्लेख कर दिया है। यह वास्तवमें कोई एक अखण्ड वंश न था, बल्कि छोटे-छोटे सरदार थे, जिनका राजा मगध देशकी सीमाओं पर बिखरा हुआ था। यद्यपि विक्रम राज्य वी.नि. ४७०में समाप्त हुआ है, परन्तु क्योंकि मौर्य-कालमें ही इन्होंने छोटी-छोटी रियासतों पर अधिकार कर लिया था, इसलिए इनका काल वी.नि. २५५ से प्रारम्भ करनेमें कोई विरोध नहीं आता। आगममें इसका प्रारम्भ २७१ में तथा इतिहासमें १८५ में बतानेका प्रयोजन यही है, कि २७१ से १८५ तक इसने विशेष शक्ति नहीं पकड़ी थी। बसुमित्र और अग्निमित्र समकालीन थे, तथा पृथक्-पृथक् प्रान्तों में राज्य करते थे। यद्यपि गर्दभिल्ल व नरवाहनका काल यहाँ ई. पू. १८१–४१ दिया है, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि आगे राजा शालिवाहन द्वारा वी.नि. ६०५ (ई. ७९) में नरवाहनका परास्त किया जाना सिद्ध है। अतः मानना होगा कि अवश्य ही इन दोनोंके बीचमें कोई अन्य सरदार रहे होंगे
राजा अवन्ती	पू. १००–पू. ६०	६२६–५८६	×	
,, पालक	पू ६०–०	५८६–५२६		
२. नन्द वंश—				
सामान्य	०–१५५	५२६–३७१	५२६–३२२	
कुछ राजा	०–१३०	५२६–३९६		
धनानन्द	१३०–१५५	३९६–३७१		
३. मौर्य वंश (पुरुड वंश) (पुरूढ वंश)—				
सामान्य	१५५–४१०	३७१–११६	३२२–१८५	
चन्द्रगुप्त	१५५–१६२	३७१–३६४	३२२–२९८	
सम्प्रति	१६२–२०२	३६४–३२४	२९८–२८८	
बिम्बसार	२०२–२४२	३२४–२८४	२८८–२७३	
अशोक	२४२–२९४	२८४–२३२	२७३–२३२	
अन्य राजा	२९४–३४१	२३२–१८५	२३२–१८५	
कुछ क्षीण—अवस्थायें	३४१–४१०	१८५–११६		
× क्रम बाह्य—विक्रमादित्य	४१०–४७०	११६–५६	×	
४. शक वंश—				
सामान्य	२५५–४८५	२७१–४१	१८५–१२० ई.	
प्रारम्भिक अवस्थाएँ—	२५५–३४५	२७१–१८१		
१. पुष्य मित्र	२५५–२८५	२७१–२४६		
२. चक्षु मित्र (बलमित्र)	२८५–३४५	२४६–१८१		
अग्निमित्र (भानुमित्र)	२८५–३४५	२४६–१८१		
प्रबल अवस्थामें गर्दभिल्ल (गन्धर्व)	३४५–४४५	१८१–४१	अनुमानतः १८१–१४१	
अन्य सरदार			१४१–ई.८०	

वंशका नाम सामान्य व विशेष	आगमानुसार समय ति. प/४१५०५-१५०६ वी. नि.	ईसवी.	इतिहासज्ञोंके अनुसार समय ईसवी	विशेष घटनाएँ
नरवाहन (नभ सेन)	४४५-४८५	८१-४१	ई.८०-ई.१२०	जिनका उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इनके मध्यमें ५ या ६ सरदार और भी मान लिये जायें तो नरवाहनकी अन्तिम अवधि ई. १२० को स्पर्श कर जायेगी। और इस प्रकार इतिहासकारोंके समयके साथ भी इसका मेल खा जायेगा और शालिवाहनके समयके साथ भी।
५. भृत्य वंश (कुशान वंश)				
सामान्य	४८५-७२७	ई.पू.४१-ई.२०१	ई.४०-३२०	
प्रारम्भिक-अवस्थामें	४८५-५६६	ई.पू.४१-ई.४०		इतिहासकारोंकी कुशान जाति ही आगमकारोंका भृत्य वंश है क्योंकि दोनोंका कथन लगभग मिलता है। दोनों ही शकों पर विजय पानेवाले थे। उधर शालिवाहन और इधर कनिष्क दोनोंने समान समय में ही शकोंका नाश किया है। उधर शालिवाहन और इधर कनिष्क दोनों ही समान पराक्रमी शासक थे। दोनोंका ही साम्राज्य विस्तृत था। कुशान जाति एक बहिष्कृत चीनी जाति थी जिसे ई. पू. दूसरी शताब्दी में देशसे निकाल दिया गया था। वहाँसे चल कर बख्तियार व काबुलके मार्गसे ई. पू. ४१ के लगभग भारतमें प्रवेश कर गये। यद्यपि कुछ छोटे-मोटे प्रदेशों पर इन्होंने अधिकार कर लिया था परन्तु ई. ४० में उत्तरी पंजाब पर अधिकार कर लेनेके पश्चात् ही इनकी सत्ता प्रगट हुई। यही कारण है कि आगम व इतिहासकी मान्यताओंमें इस वंशको पूर्वावधिके सम्बन्धमें ८० वर्षका अन्तर है।
प्रबल स्थितिमें		ईसवी	ईसवी	
नं० १	५६३-६००	४०-१२४		ई. ४० में ही इसकी स्थिति मज़बूत हुई और यह जाति शकोंके साथ टक्कर लेने लगी। इस वंशके दूसरे राजा गौतमी पुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने शकोंके अन्तिम राजा नरवाहनको वी. नि. ६०५ (ई० ७९) में परास्त करके शक संवत्की स्थापना की थी। (क.पा./-१/प्र./५३/६४/पं. महेन्द्र।
शालिवाहन	६००-६४६	७४-१२०		
कनिष्क	६४६-६९८	१२०-१६२	१२०-१६२	राजा कनिष्क इस वंशका तीसरा राजा था, जिसने शकोंका मूलोच्छेद करके भारतमें एकछत्र विशाल राज्यकी स्थापना की।
अन्य राजा क्षीण अवस्थामें	६९८-७२७	१६२-२०१	२०१-३२०	कनिष्कके पश्चात् भी इस जातिका एक छत्र शासन ई. २०१ तक चलता रहा इसी कारण आगमकारोंने यहाँतक ही इसकी अन्तिम अवधि स्वीकार की है। परन्तु उसके पश्चात् भी इस वंशका मूलोच्छेद नहीं हुआ। गुप्त वंशके साथ टक्कर हो जानेके कारण इसकी शक्ति क्षीण होती चली गयी। इस स्थितिमें इसकी सत्ता ई. २०१-३२० तक बनी रही। यह कारण है कि इतिहासकार इसकी अन्तिम अवधि ई.२०१ की बजाये ३२० स्वीकार करते हैं। आगमकारों व इतिहासकारोंकी अपेक्षा इस वंशकी पूर्वावधिके सम्बन्धमें ऊपर समाधान कर दिया गया है कि ई. २०१-३२० तक यह कुछ प्रारम्भिक अवस्थामें रहा है।
६. गुप्त वंश				
सामान्य	७२७-९५८	२०१-४३२	३२०-४६०	इसने एकछत्र गुप्त साम्राज्यकी स्थापना करनेके उपलक्ष्यमें गुप्त संवत् चलाया। इसका विवाह लिच्छवि जातिकी एक कन्याके साथ हुआ था।
प्रारम्भिक अवस्थामें	७२७-८४६	३०१-३२०	३२०-३३०	
चन्द्रगुप्त	८४६-८५६			यह विद्वानोंका बड़ा सत्कार करता था। प्रसिद्ध कवि कालिदास (शकुन्तला नाटककार) इसके दरबारका ही रत्न था।
समुद्रगुप्त	८५६-९०१		३३०-३७५	
चन्द्रगुप्त—(विक्रमादित्य)	९०१-९३९	इनका उल्लेख आगममें नहीं है	३७५-४१३	
स्कन्द गुप्त	९३९-९६१		४१३-४३५	इसके समयमें हूनवंशी (कल्की) सरदार काफ़ी ज़ोर पकड़ चुके थे। उन्होंने आक्रमण भी किया, परन्तु स्कन्दगुप्तके द्वारा परास्त कर दिये गये। ई० ४३७ में जब कि गुप्त संवत् ११७ था यही राजा राज्य करता था। (क. पा/१/प्र/५४/६५/पं. महेन्द्र)
कुमार गुप्त	९६१-९८६		४३५-४६०	
भानु गुप्त	९८६-१०३३		४६०-५०७	इस वंशकी अखण्ड स्थिति वास्तवमें स्कन्दगुप्त तक ही रही।

वंश का नाम सामान्य व विशेष	आगमानुसार समय ति. प./४ १५०५-१५०६ वि. नि.	ईसवी	इतिहास के अनुसार समय ईसवी	विशेष घटनाएँ
				इसके पश्चात्, हूनोंके आक्रमणोंके द्वारा इसकी शक्ति जर्जरित हो गयी। यही कारण है कि आगमकारोंने इस वंशको अन्तिम अवधि स्कन्द-गुप्त (वी० नि० ९५८) तक ही स्वीकार की है। कुमारगुप्तके कालमें भी हूनोंके अनेकों आक्रमण हुए जिसके कारण इस राज्यका बहुभाग उनके हाथमें चला गया और भानुगुप्तके समयमें तो यह वंश इतना कमजोर हो गया कि ई० ५०० में हूनराज तोरमाण ने सारे पंजाब व मालवा पर अधिकार जमा लिया। तथा तोरमाण के पुत्र मिहिरपालने उसे परास्त करके इस वंशको नष्ट ही कर दिया।
७. कल्की				
सामान्य	९५८-१०७३	४३२-५४७	४३२-५४०	आगमकारोंका कल्की वंश ही इतिहासकारोंका हून वंश है, क्यों-कि यह एक बर्बर जंगली जाति थी, जिसके समस्त राजा अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कल्की कहलाते थे। आगम व इतिहास दोनोंकी अपेक्षा समय लगभग मिलता है। इस जातिने गुप्त राजाओंपर स्कन्द-गुप्तके समयसे ई० ४३२ से ही आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये थे। इधर आगमकारोंने भी प्रथम वी० नि० ९५८ (ई० ४३२) में कल्की राजाका उल्लेख किया है। इसका नाम इन्द्र था। (ति. प/४/१५०६).
इन्द्र	९५८-१०००	४३२-४७४		
शिशुपाल	१०००-१०३३	४७४-५०७		
चतुर्मुख	१०३३-१०७३	५०७-५४७		
				इसके सम्बन्धमें आगमकारोंकी ३ मान्यताएँ प्राप्त हैं। नं० १—ति. प./४/१५०३, व १५०६ तथा ह. पु./६०/४९२ की है। जिसके अनुसार उसकी उत्पत्ति वी० नि० ९५८ में हुई और ४२ वर्ष राज्य किया। नं० २—त्रि. सा/८५० की है। तिसके अनुसार वह वी० नि० १००० में उत्पन्न हुआ और ४० वर्ष राज्य किया। नं० ३—उ० पु/७६/३९७ की है। तिसके अनुसार वह दुःषम काल (वी० नि० ३) के १००० वर्ष पश्चात् अर्थात् वी० नि० १००३ में उत्पन्न हुआ। तीनों ही मान्यताओंमें उसकी आयु वर्ष बतायी गयी। और राज्य काल ४० या ४२ वर्ष बताया गया। तीनों ही मान्यताओंमें उसका नाम चतुर्मुख बताया गया। ति० प० में उसे राजा इन्द्रका और उ० पु० में शिशुपालका पुत्र बताया है। इस पर से स्पष्टतया यह जाना जाता है कि यह कोई एक राजा नहीं था बल्कि तीन थे—इन्द्र, शिशुपाल व चतुर्मुख। इन्द्रका पुत्र शिशुपाल और शिशुपालका पुत्र चतुर्मुख था जो कल्किके नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उ० पु० की अपेक्षा उसका काल निश्चित रूपसे वी० नि० १०३३-१०७१ आता है तदनुसार शिशुपाल व इन्द्रके काल भी वी० नि० ९५८-१०३३ के बीचमें प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि आगममें केवल चतुर्मुखको ही कल्की बताया गया है परन्तु वास्तवमें ये तीनों ही अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कल्की थे।
				यद्यपि आगममें हून वंशका उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु उपरोक्त तीनों राजाओंका सामंजस्य हून वंशके साथ बैठानेके लिए यहाँ उसका भी कथन कर देना योग्य है। हून वंशी भी अत्यन्त अत्याचारी थे यह पहले बता दिया गया है, इसलिए वही कल्की वंश कहलाये तो आश्चर्य नहीं। इन्द्रराज भी गुप्त वंशके पश्चात् हुआ है और हून वंश भी। हून वंश में प्रसिद्ध तोरमाण व मिहिरकुलका भी वही समय है जो शिशुपाल व चतुर्मुख का। मिहिरकुल भी तोरमाणका पुत्र था और चतुर्मुख भी शिशुपालका पुत्र था। मिहिरकुल भी अत्यन्त अत्याचारी था और चतुर्मुख भी।

वंशका नाम सामान्य व विशेष	आगमानुसार समय ति. प./४ १५०५-१५०६ वी. नि.	ईसवी	इतिहासके अनुसार समय ईसवी	विशेष घटनाएँ
८. हून वंश				
सामान्य	६५८-१०७३	आगममें इस वंशके नामका उल्लेख नहीं है	४३२-५४७	इस अत्याचारी कुलके सरदारों ने ई० ४३२ से ही गुप्तों पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये थे। यद्यपि स्कन्दगुप्तने इन्हें पछाड़ दिया था, पर इनका बल बढ़ता गया। यहाँ तक कि तोरमाण ने ई० ५०० में पूरे पंजाब व मालवापर अधिकार जमा लिया। यह बड़ा अत्याचारी था। इसके पुत्र मिहिरकुल ने ई० ५०७ में भानुगुप्तको परास्त करके गुप्तवंशका नाश कर दिया। यह भी अपने पितावत् बड़ा अत्याचारी था। इसके अत्याचारोंसे तंग होकर एक हिन्दू सरदार विष्णु यशोधर्मने बिखरी हुई शक्तिको संगठित करके ई. ५२८ या ५३३ में मिहिरकुलको मार भगाया। उसने कश्मीरमें जाकर शरण ली और ई. ५४० में वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। यह कट्टर वैष्णवधर्मी था, इसलिए यद्यपि इसने हिन्दू धर्मकी बहुत वृद्धि की परन्तु साम्प्रदायिक विद्वेषके कारण जैन संस्कृति पर व श्रमणों पर बहुत अत्याचार किये, जिसके कारण यह कल्की नामसे प्रसिद्ध हो गया। परन्तु हिन्दुओंने इसे अन्तिम अवतार (कल्कि अवतार) स्वीकार किया और जैनियोंने धर्म विनाशक। उपरोक्त कल्की राजाओंका मेल इन हून राजाओंके साथ करने पर कहा जा सकता है कि वह चतुर्मुख कल्कीका पिता शिशुपाल तो मिहिर का पिता तोरमाण है और वह चतुर्मुख यह मिहिरकुल है। (क. पा./१/प्र./५४/६५/पं. महेन्द्र), (न्यायावतार/प्र./२ सतीश चन्द विद्याभूषण।)
नं० १	६५८-१०००		४३५-४७४	
तोरमाण	१०००-१०३३		४७४-५०७	
मिहिरकुल	१०३३-१०५६		५०७-५३३	
विष्णुयशोधर्म	१०५६-१०७३		५३३-५४७	

नोट—जैनागममें प्रायः सभी मूल शास्त्रोंमें इस राज्य वंशका उल्लेख किया है। इसके कारण भी दो हैं—एक तो राजा 'कल्की' का परिचय देना और दूसरे वीर प्रभुके पश्चात् आचार्योंकी मूल परम्पराका ठीक प्रकारसे समय निर्णय करना। यद्यपि अन्य राज्य वंशोंका कोई उल्लेख आगममें नहीं है, परन्तु मूल परम्पराके पश्चात्के आचार्यों व शास्त्र रचयिताओंका विशद परिचय पानेके लिए तात्कालिक राजाओंका परिचय भी होना आवश्यक है। इसलिये कुछ अन्य भी प्रसिद्ध राज्य वंशोंका, जिनका कि सम्बन्ध किन्हीं प्रसिद्ध आचार्योंके साथ रहा है, परिचय यहाँ दिया जाता है।

७. राष्ट्रकूट वंश (प्रमाणोंके लिए —दे० वह वह नाम)

सामान्य—जैनागमके रचयिता आचार्योंका सम्बन्ध उनमें-से सर्व प्रथम राष्ट्रकूट राज्य वंश है, भारतके इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस वंशमें चार ही राजाओंका नाम विशेष उल्लेखनीय है—जगतुङ्ग, अमोघवर्ष, अकालवर्ष और कृष्ण तृतीय। उत्तर वाला राजा अपनेसे पूर्व पूर्वका पुत्र था। इस वंशका राज्य मालवा प्रान्तमें था। इसकी राजधानी मान्यखेट थी। पीछेसे बढ़ाते-बढ़ाते इन्होंने लाट देश व अवन्ती देशको भी अपने राज्यमें मिला लिया था। १. जगतुङ्ग—राष्ट्रकूट वंशका सर्व प्रथम राजा था। यह अमोघवर्षका पिता और इन्द्रराजका बड़ा भाई था अतः राज्यका अधिकारी यह ही हुआ था। बड़ा प्रतापी था। इसीके समयसे पहले लाट देशमें 'शत्रु भयंकर कृष्णराज प्रथम नामका अत्यन्त पराक्रमी व प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। इसका पुत्र श्रीवल्लभ गोविन्द द्वितीय कहलाता था। राजा जगतुङ्गने अपने छोटे भाई इन्द्रराजकी सहायता से लाट नरेश 'श्रीवल्लभ' को जीतकर उसके देशपर अपना अधिकार कर लिया था, और इसलिए वह गोविन्द तृतीयकी उपाधिको प्राप्त हो गया था। इसका काल श. ७१६-७३५ (ई. ७६४-८१३) निश्चित किया गया है। २. अमोघवर्ष—इस वंशका द्वितीय प्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष हुआ है। यह जगतुङ्ग अर्थात् गोविन्द तृतीयका पुत्र होनेके कारण गोविन्द चतुर्थकी उपाधिको प्राप्त हुआ। कृष्णराज प्रथम (देखो ऊपर) का छोटा पुत्र ध्रुवराज अमोघवर्षका समकालीन था। और ध्रुव राजा बड़ा पराक्रमी था। उसने अवन्ती नरेश वत्सराजको युद्धमें परास्त करके उसके देशपर अधिकार कर लिया था। इससे उसे अभिमान हो गया और उसने अमोघवर्ष पर भी चढ़ाई कर दी। तब अमोघवर्षने अपने चचेरे भाई कर्कराज (जगतुङ्गके छोटे भाई इन्द्रराजका पुत्र) की सहायतासे उसे जीत लिया। इसका काल वि. ८७१-९३५ (ई. ८१४-८७८) निश्चित है। ३. अकालवर्ष—वत्सराजसे अवन्ति देश जीतकर अमोघवर्षको दे दिया। कृष्णराज प्रथमके पुत्रके राज्य पर अधिकार करनेके कारण यह कृष्णराज द्वितीयकी उपाधिको प्राप्त हुआ। अमोघवर्षका पुत्र होनेके कारण यह अमोघवर्ष द्वितीय भी कहलाने लगा था। इसका समय ई. ८७८-९१२ निश्चित है। ४. कृष्णराज तृतीय—अकालवर्षका पुत्र था और कृष्ण तृतीयकी उपाधिको प्राप्त हुआ था।

४. आचार्य परम्परा

१. श्रुतावतार (दृष्टि नं० १ व २)

दृष्टि नं० १=(ति.प./४/१४७५-१४९६), (ह.पु./६०/४७६-४८१); (ध. ९/४,१,४४/२३०); (क.पा. १/§६४/८४); (म.पु./२/१३४-१५०)

दृष्टि नं० २—(ध.१/प्र.२४/नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली)

भगवान् वीरके निर्वाण जानेके पश्चात मूलसंघकी आचार्य परम्परा तथा उनके द्वारा धारण किये गये ज्ञानका क्रमिक ह्रास दर्शानेके लिए जैनागममें यत्र-तत्र जो गुर्वावली मिलती हैं उसे ही दिया जाता है, ताकि उससे आगेके जैनसंघका इतिहास भी जाना जा सके। इस मूल परम्पराको ही यहाँ 'श्रुतावतार' नाम दिया गया है। इसका कथन दो प्रकार मिलता है—

क्रम	नाम	अपर नाम	दृष्टि नं० १		दृष्टि नं० २				विशेष
			ज्ञान	काल सामान्य	ज्ञान	काल विशेष	वी. नि. सं.	काल सामान्य	
१	भगवान् वीरके निर्वाणके पश्चात					वर्ष	०		
१	गौतम	इन्द्रभूति गणधर	केवली	६२ वर्ष	केवली	१२	०-१२	६२ वर्ष	
२	सुधर्मा	लोहार्य	”		”	१२	१२-२४		
३	जम्बू		”		”	३८	२४-६२		
४	विष्णु	नन्दि	पूर्ण श्रुतकेवली ११ अंग १४ पूर्व	१०० वर्ष	श्रुतकेवली या ११ अंग १४ पूर्वधारी	१४	६२-७६	१०० वर्ष	
५	नन्दि मित्र	नन्दि				१६	७६-९२		
६	अपराजित					२२	९२-११४		
७	गोवर्धन					१९	११४-१३३		
८	भद्रबाहु प्र०					२९	१३३ १६२		
९	विशाखाचार्य	विशाखदत्त	११ अंग व १० पूर्वधारी	१८३ वर्ष	१० पूर्वधारी	१०	१६२-१७२	१८३ वर्ष	
१०	प्रोष्ठिल					१९	१७२-१९१		
११	क्षत्रिय					१७	१९१-२०८		
१२	जयसेन	जय				२१	२०८-२२९		
१३	नागसेन	नाग				१८	२२९-२४७		
१४	सिद्धार्थ					१७	२४७-२६४		
१५	धृतिषेण					१८	२६४-२८२		
१६	विजय	विजयसेन				१३	२८२-२९५		
१७	बुद्धिलिंग	बुद्धिल				२०	२९५-३१५		१४ की बजाय १६ वर्ष ग्रहण करनेसे संगति बैठती है।
१८	देव	गंगदेव, गंग				१४	३१५-३२९		
१९	धर्मसेन	धर्म, सुधर्म				१४ (१६)	३२९-३४५		दृष्टि नं. २ में पहले पाँच आचार्योंका काल २२० वर्ष और अगले ४ आचार्योंका काल ११८ वर्ष दिया है, जब कि दृष्टि नं. २ में इन ९ ही आचार्योंका समुदित काल २२० वर्ष दिया है और शेष ११८ वर्षके कालमें विनयदत्त आदि अन्य ६ आचार्योंका उल्लेख किया है। परन्तु दोनों ही मान्यताओंमें वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष की परम्परा ही पूरी की गयी है।
२०	नक्षत्र		११ अंगधारी	२२० वर्ष	११ अंगधारी	१८	३४५-३६३	२२० वर्ष	
२१	जयपाल	यशपाल				२०	३६३-३८३		
२२	पाण्डु					३९	३८३-४२२		
२३	ध्रुवसेन	द्रुमसेन				१४	४२२-४३६		
२४	कंस					३२	४३६-४६८		
२५	सुभद्र		आचारांग धारी	११८ वर्ष	१० अंगधारी	६	४६८-४७४		
२६	यशोभद्र	अभय			९ अंगधारी	१८	४७४-४९२		
२७	भद्रबाहु द्वि०	यशोबाहु जयबाहु			८ अंगधारी	२३	४९२-५१५		
२८	लोहाचार्य	लोहार्य			”	५२ (५०)	५१५-५६५		यहाँ ५२ की बजाय ५० वर्ष ग्रहण होना युक्त है।
				६८३				५६५	

नोट—पहली दृष्टिमें लोहाचार्य तक ही ६८३ वर्ष पूरे कर दिये, परन्तु दूसरी दृष्टिमें लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही हुए हैं। शेष ११८ वर्षोंमें अन्य ६ आचार्योंका उल्लेख किया है, जो आगे बताया जाता है। इन दोनोंमें प्रथम दृष्टि ही युक्त है। इसके दो कारण हैं, एक २२० वर्षमें ५ आचार्योंका होना दुःशक्य है और दूसरे ६८३ वर्ष पश्चात् षट्खण्डागमकी रचना प्रसिद्ध है उसकी संगति भी इसी मान्यतासे बैठती है।

नं०	नाम	अपर नाम	ज्ञान	काल विशेष	वी.नि.सं.	काल सामान्य	विशेष
२८	लोहाचार्य	लोहार्य	८ अंगधारी	५२ (५०)	५१५-५६५	५६५	
२९	विनयदत्त		१ अंगधारी	समकालीन २०	५६५-५८५	२० वर्ष	पं० जुगलकिशोरजी की अपेक्षा इन ४ आचार्योंका समुदित काल २० वर्ष अनुमान किया गया है। और क्योंकि पट्टावलीमें इनका नाम एक साथ आया है, इन्हें समकालीन बताया है।
३०	श्रीदत्त नं. १		"	"	"		(ध.१/प्र.२४/H. L. Jain) इनका समय मूल पट्टावलीमें नहीं दिया गया है।
३१	शिवदत्त		"	"	"		
३२	अर्हदत्त		"	"	"		
३३	अर्हद्बलि		१ अंग के अंशधारी	२८	५६५-५९३	११८ वर्ष	साधु संघके संस्थापक अनुमान किये जाते हैं। आप पूर्व-देशीय पुण्ड्रवर्धन पुर निवासी थे। पंचवर्षीय प्रतिक्रमणके समय आपने दक्षिणकी महिमा नगरीमें एक भारी यति सम्मेलन किया था, और उसी समय उन्होंने मूल आचार्य परम्पराको कुछ पक्षपातकी प्रतीति करके अनेक संघोंमें विभाजित कर दिया था। इन्होंने ही धरसेन आचार्य का पत्र पाकर उस साधु सम्मेलनमें-से उनके पास पुष्पदन्त व भूतबलि नामके २ योग्य व युवा साधुओंको उनके पास भेजा था। (ध. १/प्र. १४ H. L. Jain)
३४	माघनन्दि		१ अंग के अंशधारी	२१	५९३-६१४		नन्दि संघके अग्रणी थे। धरसेनके समकालीन थे।
३५	धरसेन		"	१९	६१४-६३३		वास्तवमें यह अर्हद्बलि व माघनन्दिके समकालीन थे, परन्तु पट्टावलीमें ११८ वर्षकी पूर्ति करनेके लिए इनका काल पृथक्-पृथक् गिना गया है। (ध.१/२१/H. L. Jain) व जुगल किशोर।
३६	पुष्पदन्त		"	३०	६३३-६६३		इन दोनों साधुओंको धरसेनाचार्यने षट् खण्ड पढ़ाया था। पीछे इन्होंने षट्खण्डागमकी रचना की।
३७	भूतबलि		"	२०	६६३-६८३		
						६८३	

२. श्रुतावतारकी दोनों दृष्टियोंका समन्वय

(ध. १/प्र./H. L. Jain) प्रकृत श्रुतावतार ही क्योंकि आगेकी आचार्य परम्पराका मूलाधार है, इसलिए इसकी विशेष छानबीन की जानी आवश्यक है, तथा श्रुतके मूल आधारभूत धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, गुणधर, आर्यमंक्षु व नागहस्ति तथा यतिवृषभके समयका ठीक-ठीक निर्धारण करनेका भी एकमात्र साधन श्रुतावतार ही है, इसलिए इसकी छानबीन आवश्यक है। दोनों श्रुतावतारोंमें विद्वानोंको दूसरा ही अधिक स्वीकरणीय है। इसके भी कई कारण हैं, जिनका विचार ष.खं./प्र./-१४-३१ तक श्री H.L. Jain ने किया है। १. नक्षत्राचार्यसे कंसाचार्य पर्यन्तके ५ ग्यारह अंगधारीका समुदित काल (जैसा कि प्रथम दृष्टिसे इष्ट है) २२० वर्ष होना कुछ खटकता है। (ध. १/प्र.२१/H. L. Jain) २. दृष्टि नं. १ को माननेसे श्री धरसेनाचार्यका काल वि. नि. ८८३ से बहुत पीछे पड़ जाता है, क्योंकि दृष्टि नं. २ के अनुसार लोहाचार्यके पश्चात् जो ९ आचार्य हुए हैं, उनमें श्री धरसेनाचार्यका नम्बर सातवाँ है। पं० जुगलकिशोरजीके अनुसार यदि विनयदत्तादि चार आचार्योंको समकालीन मानकर उनका समय २० वर्ष और अर्हद्बलि और माघनन्दिमें-से प्रत्येकका समय १०, १० वर्ष माना जाये तो धरसेनाचार्यका समय वी.नि. ७१३ प्राप्त होता, जो कि युक्त नहीं है। क्योंकि उनके द्वारा धरसेनाचार्यका समय वी. नि. ६१४ निश्चित किया गया है, जैसा कि आगे बताया जायेगा। (ध. १/प्र. २४/H. L, Jain) ३. उपरोक्त बातकी सिद्धि इससे भी होती है कि पट्टावलिकारको अर्हद्बलि आदि आचार्योंमें गुरु शिष्य सम्बन्ध इष्ट है और श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं. १०५ द्वारा भी इस बातका समर्थन होता है, क्योंकि उसमें आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलिको अर्हद्बलि आचार्यका शिष्य कहा है। (ध. १/प्र. १८ H. L. Jain) ४. आचार्य धरसेनका समय जैसा कि आगे बताया जायेगा पं० जुगलकिशोरजीने वी. नि. ६१४ सिद्ध किया और वह समय श्रुतावतार नं. २ के साथ ही मेल खाता है। ५. नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य माघनन्दिका समय वि. ९६-१००; वी. नि. ५६६-५७० बताया है जो श्रुतावतार नं. २ के साथ लगभग मिलता है। देखो आगे 'माघनन्दिकी गुर्वावलि'। ६. प्रत्येक आचार्यका समय पृथक्-पृथक् दिया जानेके कारण श्रुतावतार नं. १ की अपेक्षा यह अधिक स्पष्ट है। ७. प्रथम श्रुतावतारमें आ० अर्हद्बलिका नामोल्लेख न करनेके कारण यह हो सकता है कि उनके समयसे मूल आचार्य परम्पराका विच्छेद होकर वह अनेक संघोंमें विभाजित हो गया। (ध. १/प्र. २८/H. L. Jain)

३. आचार्योंका काल-निर्णय

१. अर्हद्बलि—पट्टावलिमें लोहाचार्यके पश्चात् अर्हद्बलिका नाम इस बातका सूचक है कि यह लोहाचार्यके पश्चात् आचार्य पदपर आसीन हुए थे और विनयदत्तादिके समकालीन थे। श्रुतावतार नं. १ में इनका नाम न ग्रहण करनेका कारण यह हो सकता है कि इनके कालसे आचार्योंकी मूल परम्पराका विच्छेद होकर वह अनेक पृथक्-पृथक् संघोंमें विभक्त हो गया था। (ध. १./प्र. २८ H. L. Jain) इसलिए ऐसा कथन भी पाया जाता है कि इन्होंने पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमणके समय दक्षिण देशकी महिमा नगरी (जिला सतारा) में एक महान् यति सम्मेलन किया था, और साधुओंमें कुछ विशेष

पक्षपातकी गन्ध आनेके कारण उसी समय मूलसंघ अनेक पृथक्-पृथक् संघोंमें विभाजित कर दिया था। (ध.१/प्र. ४ H. L. Jain)

२. आर्यमंक्षु—आप क्योंकि यतिवृषभाचार्यके शिक्षा-गुरु थे और नागहस्ति आचार्यके ज्येष्ठ गुरु भाई थे। (क.पा. १/§६८/८८) इसलिए आपका समय यतिवृषभाचार्य व नागहस्तिकी अपेक्षा अनुमान किया जानेपर ई० ४५५–५४५, वि. ५२२–६०२ आता है। पं० महेन्द्रकुमारने भी इनको विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके अन्तका विद्वान् निश्चय किया है। (क.प. १/प्र. ६५/पं० महेन्द्र) और भी —दे० 'यतिवृषभ'।

३. उमास्वामी—दिगम्बर आम्नायमें उमास्वामीका स्थान कुन्दकुन्दके समान ही है। आप भी नन्दिसंघके बलात्कारगणके आचार्य थे। नन्दिसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप कुन्दकुन्दके शिष्य थे तथा आपका समय (शक सं. १०१–१४२ ई. १७९–२२०) है। आपका ही दूसरा नाम गृद्धपिच्छ भी है। आपका नाम तो नन्दिसंघकी परम्परा का उल्लेख क्रमसे मिलता है, परन्तु आपके पश्चात् अनेकों समकालीन प्रधान आचार्य हुए हैं। जैसे कि शिलालेखसे प्रतीत होता है—(श्रवणबेलगोलका शिलालेख नं. ६४ देखो ध. २/प्र. ४/ H. L. Jain)

४. कुन्दकुन्द—१. आपके कालके सम्बन्धमें विद्वानोंका मतभेद है। एक "श्री के. बी. पाठकके अतिरिक्त सर्व ही विद्वान्, नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार उनका समय शालिवाहन विक्रम या शक संवत् ४१–१०१ (ई.स. १२७–१७९) है। इस विषयमें सर्व विद्वान् सम्मत हैं, और यही समय युक्त जँचता भी है। १. ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने षट्खण्डागमके तीन खण्डोंपर परिकर्म नामकी टीका लिखी है। परन्तु इस बातको स्वीकार करके भी उपरोक्त समयमें बाधा नहीं आती, क्योंकि षट्खण्डागमके रचयिता पुष्पदन्त व भूतबलिका काल वी. नि. ५९३-६८३ (ई० ६६-१५६) सिद्ध किया गया है (दे०—आगे पुष्पदन्त व भूतबलि इस प्रकार यदि पूरा षट्खण्डागम नहीं तो इसका पूर्व भाग इनको अवश्य प्राप्त हो सकता है, तथा उन्होंने टीका लिखी भी पूर्वके तीन खण्डोंपर ही है। २. आचार्य इन्द्रनन्दिका कहना है कि कुन्दकुन्द आचार्यको यतिवृषभाचार्य कृत कषाय प्राभृतके चूर्णसूत्र प्राप्त थे। यदि इस बातको सत्य माना जाये तो अवश्य इनका समय काफी पीछे लाना पड़ता है, क्योंकि यतिवृषभाचार्यका काल ई० ४७३-६०९ स्वीकार किया गया है। (दे०–आगे यतिवृषभ) परन्तु (ध. १/प्र. ३१) H. L, Jain इन्द्रनन्दि आचार्यकी इस बातको प्रामाणिक नहीं मानते। ३. कुछ विद्वानोंका कहना है कि पट्टावलीमें इनका काल वि० सं० ४९-१०१ दिया गया है और इस प्रकार इन्हें षट्खण्डागमकी प्राप्ति होना असम्भव है, परन्तु, उनकी इस शंकाका समाधान भी इस प्रकार कर दिया गया समझ लेना चाहिए कि पट्टावलीमें विक्रम संवत्की अपेक्षा काल नहीं दिया गया है। जैसा कि पहले 'संवत्सर'में बताया जा चुका है। उसका अर्थ शालिवाहन विक्रम अर्थात् शक संवत् है न कि प्रचलित विक्रम संवत्। ४. डॉ० के० बी० पाठक राष्ट्रकूट वंशी गोविन्द तृतीयके समयमें श० सं० ७२४ व ७१९ के दो ताम्रपत्रों की प्राप्तिके आधारपर इनका समय वि० सं० ५८५ के लगभग सिद्ध करते हैं। उन दोनों ताम्रपत्रोंका अभिप्राय यह है कि कोण्डकुन्दान्वयके तोरणाचार्य नामके मुनि इस (राष्ट्रकूट) देशमें शाल्मली नामक ग्राममें आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनन्दि और पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए। पाठक महोदयका कथन है कि पिछला ताम्रपत्र शक ७१९ का है तो प्रभाचन्द्रके दादा गुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० के लगभग रहे होंगे और क्योंकि वे कुन्दकुन्दान्वयमें हुए हैं अतएव कुन्दकुन्दका समय उनसे १५० वर्ष अर्थात् शक संवत् ४५० आता है। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि कुन्दकुन्द आचार्यने जिस राजा शिवकुमारके लिए पंचास्तिकाय शास्त्र रचा था वे राजा शिवकुमार कादुम्ब वंशी शिव मृगेश वर्मा ही हैं। जिनका काल श० सं० ४५० है। अतः उनकी दोनों युक्तियोंसे कुन्दकुन्दका काल शक सं० ४५०; वि० सं० ५८५ ठहरता है। ५. परन्तु प्रेमीजी इसको स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टिसे कुन्दकुन्द इतने पीछेके आचार्य नहीं हो सकते। शिवकुमार शिवमृगेश वर्मा ही थे, इसका भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। और तोरणाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें उनसे १५० ही वर्ष पश्चात् हुए होंगे यह भी कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ३००, या ४०० वर्ष पश्चात् तो क्या १००० वर्ष पश्चात्के आचार्य भी अपनेको कुन्दकुन्दके अन्वय बता सकते हैं। क्योंकि उनके अन्वयमें अपनेको बताना उनके लिए गर्वका कारण है। (षट् प्राभृत/प्र० ४-५/प्रेमीजी)।

५. गुणधर—यहाँ यह नाम आया है जो श्रुतावतारमें नहीं था। आप भी धरसेनाचार्यवत् अंगज्ञानके एक देशधारी थे। आचार्य परम्परासे आकर, 'ज्ञान प्रवाद' नामक पाँचवें पूर्वकी दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषाय प्राभृतको प्राप्त करके ग्रन्थ विच्छेदके भयसे आपने उसे १८० गाथाओंमें निबद्ध किया। (क. पा. १/§ ६८/८७) अतः आपका धरसेनाचार्यके समकालीन होना सिद्ध होता है। यद्यपि कहीं-कहीं इनको आर्यमंक्षु व नागहस्ति आचार्यको गुरु माना जाता है, परन्तु यह बात परम्परागुरुकी अपेक्षा ही स्वीकार की जा सकती है, साक्षात् गुरुकी अपेक्षा नहीं। क्योंकि क. पा. १/§६८/८८ में आचार्य वीरसेन स्वामीने वे सूत्रगाथाएँ आचार्य परम्परासे आती हुई ही आर्यमंक्षु व नागहस्तिको प्राप्त हुई बतायी हैं। (क. पा. १/प्र. ६५/पं० महेन्द्र) इस बातकी पुष्टि आचार्य इन्द्रनन्दिके निम्न उल्लेखसे सिद्ध होती है—"गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः। न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥" आचार्य इन्द्रनन्दिकी नन्दिसंघ सम्बन्धी प्राकृत पट्टावलीकी इस १५१वीं गाथानुसार आचार्य गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परका उन्हें ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसका वृत्तान्त उन्हें न तो किसी आगममें मिला है और न किसी मुनिने बताया है। (ध.१/प्र.१५ H.L. Jain) अतः आप का समय वी. नि. ६१४-६८३ (धरसेनके समकालीन) ई० ८७-१५६ अनुमान किया जाता है। (द्र.सं./प्र. ष/पं० अजितप्रसाद)

६. धरसेन—धरसेनाचार्य दिगम्बर जैन आम्नायमें सूर्यकी भाँति प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कण्ठगत चले आये श्रुतज्ञानको सर्वप्रथम लिपिबद्ध करनेका उपदेश दिया था। आप गिरनार पर्वतपर रहते थे। एकदेश अंगका जो ज्ञान इनको गुरुपरम्परासे प्राप्त हुआ था, बुद्धिके क्रमिक ह्रासका प्रत्यक्ष करते हुए उसके लोपके भयसे इन्होंने उसे लिपिबद्ध करनेका निर्णय किया, इसलिए वर्तमान जैनागमकी प्राप्तिका सर्व श्रेय इन्हींको है। अति वृद्ध होनेके कारण स्वयं अपनेको इस कार्यमें असमर्थ जानते हुए आपने महिमा नगरमें एकत्रित महान् यतिसंघको कोई योग्य साधु उनके पास भेजनेके लिए पत्र लिखा, जिसे पढ़कर संघ नायकने दो युवक व योग्य साधु उनकी सेवामें भेज दिये, जिनको उस ज्ञानका उपदेश देकर, उसे लिपिबद्ध करनेका आदेश दिया तथा उनको अपने पाससे विदा कर दिया। कुछ समय पश्चात् ही इनकी समाधि हो गयी। ऐसी कथा सर्वमान्य व आगम प्रसिद्ध है। (ध.१/प्र. १८ H. L. Jain), (ध.९/४,१,४४/१३३), (ब्र. नेमिदत्तकृत आराधना कथाकोषमें आ. धरसेनकी कथा)। १. यद्यपि ब्र० नेमिदत्तने अपनी कथामें उस महान् संघके नायकका नाम महासेन कल्पित किया है, परन्तु वह उचित नहीं है। वास्तवमें वह संघनायक हमारे मूलभूत अर्हद्बलिके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं थे, और वह संघ भी उनके द्वारा एकत्रित किये गये साधु सम्मेलनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। अर्हद्बलि आचार्यके पास ही धरसेनाचार्यने पत्र भेजा था। यद्यपि इनके दादा गुरु अर्हद्बलि और माघनन्दि बताये गये हैं (ष.खं./१/-

प्र./१८,१९) परन्तु यह कथन केवल श्रुतावतारकी पट्टावलीकी अपेक्षा ही समझना चाहिए, वास्तवमें नहीं। इस सर्व कथन करनेका तात्पर्य यह है कि धरसेनाचार्य, अर्हद्बलि व माघनन्दिके समयमें भी वह मौजूद थे, परन्तु उस समय वे अतिवृद्ध थे। नन्दिसंघके आचार्यपनेका पद उनको भी दिया जा सकता था, परन्तु एक तो वे वृद्धत्वके कारण और दूसरे अधिक ज्ञानाभ्यासी होनेके कारण न तो सम्मेलनमें सम्मिलित हुए थे और न ही किसी संघके गणी बननेका भार उठाने को तैयार थे। (ष.खं.ध. १/प्र. १५-१६/H.L. Jain) २. यद्यपि पट्टावलीमें उनका नाम माघनन्दिके पश्चात् आनेके कारण उनका समय वी. नि. ६१४-६३३ बताया गया है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे माघनन्दि आचार्यके उत्तराधिकारी हों, क्योंकि नन्दिसंघ की पट्टावलीमें माघनन्दिके पश्चात् धरसेनकी बजाय श्री जिनचन्द्रका नाम है। अतः इनका काल वास्तवमें अर्हद्बलिके साथसे ही प्रारम्भ करके वी. नि. ५६५-६३३ समझना चाहिए। ऐसा माननेके भी दो कारण कहे जा सकते हैं एक तो यह कि इनका समय ५६५ माननेपर ही उनके द्वारा अर्हद्बलि आचार्यको पत्र लिखनेकी संगति बैठती है, और दूसरा यह है कि इनके द्वारा रचे गये एक 'जोनि पाहुड़' नामक तन्त्र-मन्त्र विषयक ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है, जिसका समय वी. नि. ६०० बताया गया है। (ध. १/प्र. २९/ H. L. Jain व. पं० जुगलकिशोर) जिस किस प्रकार भी वी. नि. ६१४ में इनकी सत्ता पं० जुगलकिशोरजीने स्वीकार की है। (ध.१/प्र. २९ H. L. Jain) ३. अतः इनका समय वी. नि. ५६५-६३३ व ई० ३८-१०६ प्राप्त होता है।

७. **नागहस्ति**—आप भी आर्यमंक्षुकी भाँति ही क्योंकि यतिवृषभाचार्यके शिक्षा गुरु थे और आचार्य आर्यमंक्षुके लघु गुरुभ्राता थे (क. पा. १/§६८/८८) इसलिए आपका समय भी यतिवृषभ व आर्यमंक्षुकी अपेक्षा अनुमान किया जानेपर वि० ५२७-६१७ ई० ४७०-५६० प्राप्त होता है। पं० महेन्द्रकुमारने भी इनको विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके अन्तका और छठी शताब्दीके प्रारम्भका विद्वान् निश्चय किया है। (क. पा. १/§६८/८८) और भी विशेष दे०—आगे 'यतिवृषभ'।

८. **पुष्पदन्त**—पट्टावलीमें धरसेन आचार्यके पश्चात् पुष्पदन्त व भूतबली-का नाम आनेमें तो कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि इन दोनोंका धरसेन आचार्य द्वारा षट्खण्डागमके सूत्रोंका ज्ञान प्राप्त करना सर्व-सम्मत है। परन्तु इसपरसे धरसेन आचार्य उनके दीक्षा गुरु सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि साधु रूपमें ही अर्हद्बलि स्वामीने उन्हें उनकी सेवामें भेजा था। उनके दीक्षा गुरु वास्तवमें अर्हद्बलि आचार्य ही थे। ये बनवास निवासी तथा वहाँके राजा जिनपालितके भानजे थे। वहाँसे महिमा नगरमें आकर अर्हद्बलि आचार्यकी शरणको प्राप्त हुए थे। उस समय उनकी आयु लगभग ४० वर्षकी होगी। तत्पश्चात् कुछ वर्ष धरसेनाचार्यके पास रहकर इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। फिर उनके पाससे विदा होकर अंकलेश्वर (गिरनारके पास) में चातुर्मास किया। वहाँसे चलकर बनवासमें अपने मामाको दीक्षा दी। (ध. १/१९/ H. L. Jain) पुष्पदन्त आचार्यकी आयु अब क्योंकि थोड़ी ही शेष रह गयी थी, इसलिए वे केवल १ खण्डकी ही रचना कर सके, शेष पाँच खण्डोंकी रचना भूतबलि आचार्यने की। (ष. खं./१/प्र./२० H. L. Jain) इस सर्व कथनपरसे उनके साधु जीवनका काल यद्यपि वी. नि. ५९३-६६३ (ई० ६६-१०६) आता है परन्तु ज्येष्ठ होनेके कारण उनका उल्लेख भूतबलिसे पहले किया गया है। गुरु धरसेनके समय (६१४) के पश्चात्से लेकर स्वर्गारोहण तकके काल (६३३) तक इनका आचार्य पदका काल समझना चाहिए जोकि पट्टावलीमें दर्शाया गया है।

९. **बलाकपिच्छ**—नन्दिसंघके उपरोक्त देशीय गणकी उत्पत्तिकी अपेक्षा आप उमास्वामीके शिष्य हैं, अतः लोहाचार्य नं० ३ के सधर्मा हैं। इस कारण उनके अनुसार इनका समय लगभग (श० सं० १४२-१५३) ई० २२०-२३१ आता है। इनका नाम नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीमें ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि या तो यह आचार्यके पटपर आसीन नहीं हुए और या आप किसी अन्य संघके नायक बन गये।

१०. **भूतबलि**—आचार्य पुष्पदन्तके उपरोक्त कथनपरसे ही इनके सम्बन्धमें भी यह जाना जा सकता है कि इनके दीक्षा गुरु अर्हद्बलि थे। छोटी ही आयुमें आपने दीक्षा ग्रहण की थी अन्यथा वी. नि. ६८३ तक आपका जीवित रहना घटित नहीं होता। आपके साधु जीवनका काल भी आचार्य पुष्पदन्तके साथ वी. नि. ५९३ से प्रारम्भ हुआ जानना चाहिए अन्यथा आचार्य अर्हद्बलि द्वारा पुष्पदन्तके साथ धरसेनाचार्यकी सेवामें भेजा जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि आप आचार्य पुष्पदन्तके शिष्य न थे, परन्तु उनसे छोटे होनेके कारण तथा उनके स्वर्गारोहण पश्चात् उनके पटपर आसीन होनेके कारण इनका उनसे पीछे आना युक्त है। इस प्रकार आपका काल साधु जीवनकी अपेक्षा वी. नि. ५९३-६८३ (ई० ६६-१५६) और आचार्य पदकी अपेक्षा वी. नि. ६६३-६८३ और ई० १३६-१५६ आता है।

११. **माघनन्दि**—आचार्य अर्हद्बलिने जिन अनेक साधु संघोंकी स्थापना की थी, उनमें-से एक व सर्व प्रधान संघ नन्दिसंघ था, जिसमें दिगम्बर आम्नायके स्तम्भभूत आचार्य कुन्दकुन्द व उमास्वामी हुए हैं। नन्दिसंघ बलात्कारगणकी पट्टावलीके अनुसार माघनन्दि आचार्य ही उसके अग्रणी थे। सम्भवतः उनके नामके साथ रहनेवाला 'नन्दि' पद ही उस संघके संज्ञाकरणमें आचार्य अर्हद्बलिको मुख्य निमित्त पड़ा हो। (ध.१/प्र.१५ H.L. Jain) आपका नाम श्रुतावतार व नन्दिसंघ दोनोंमें आता है। पहलेकी अपेक्षा आपका समय वी. नि. ५९३-६१४ (६६-८७) है तथा दूसरेकी अपेक्षा ई० ११४-११८ है। यहाँ यद्यपि समयमें अन्तर है, परन्तु इसकी संगति जिस किस प्रकार बैठा लेनी चाहिए।

१२. **यतिवृषभ**—आर्यमंक्षु व नागहस्ति आचार्योंको गुरु परम्परासे प्राप्त आचार्य गुणधरकृत १८० गाथाओंका ज्ञान यतिवृषभाचार्यने उनसे प्राप्त किया और उसके आधारपर चूर्णसूत्रोंकी रचना की। (क. पा. १/§६८/८८) आप आर्यमंक्षुके शिष्य तथा नागहस्ति आचार्य-के अन्तेवासी थे। (क. पा. १/गा. ८/४) शिष्य और अन्तेवासी इन दो शब्दोंके प्रयोगका अवश्य कोई न कोई प्रयोजन है और वह यही हो सकता है कि आर्यमंक्षु बड़े थे और नागहस्ति छोटे, इसी कारण यतिवृषभका ज्ञान देनेके कुछ वर्ष पश्चात् ही उनका तो स्वर्गवास हो गया होगा और नागहस्ति उनके पीछे भी काफी समय तक इनके साथ रहे थे। (क. पा. १/प्र. ६५/पं० महेन्द्र) बस उपरोक्त बातको ध्यानमें रखते हुए ही कालका निर्णय किया गया है। १. यतिवृषभ-का काल डॉ० हीरालाल जैनने शक ४७३-६०९ निर्धारित किया है। (ति.प./२/प्र. १५ A. N. up) और पण्डित महेन्द्रकुमारने भी उनको वी. नि. १००० वर्ष पश्चात्का अनुमान किया है। (क.पा.१/प्र.४/ पं० महेन्द्र) परन्तु आर्यमंक्षु व नागहस्तिका काल उन्होंने ही वि. श. ५-६ बताया है। (क.पा. १/प्र. ६५) यतिवृषभके कालकी संगति वि. श. ५-६ के बैठानेके लिए ही उपरोक्त निर्धारित कालको मैंने अपनी ओरसे संकुचित करके ई० ५४० ६०९ (वि. ५९७-६६६) रख दिया है और उसीको वंशावलीमें निर्देश किया है। यदि कोई गलती हो तो विद्वद्जन सुधार लें। २. इन्द्रनन्दि आचार्यके अनुसार आपके कषाय प्राभृतके चूर्णसूत्र कुन्दकुन्द व समन्तभद्रको प्राप्त थे, यह बात प्रमाण नहीं मानी जा सकती। एक तो इस कारणसे कि कुन्दकुन्दका समय ई० १२७ निर्धारित किया गया है और दूसरे इस कारणसे कि स्वयं यतिवृषभने ति.प./९ के अन्तमें जो मंगलाचरण

रूप गाथा दी है वह कुन्दकुन्दकी बनायी हुई है यह बात सिद्ध है। (क.पा.१/प्र.५७/पं० महेन्द्र) (पं० जुगलकिशोरका 'कुन्दकुन्द और यतिवृषभ' नामका लेख अनेकान्त/२/पृ० १-१२) (जैन सिद्धान्त भास्कर ११ में प्रकाशित पं० फूलचन्दजीका 'वर्तमान तिल्लोय पण्णत्ति और उसके रचना काल आदिका विस्तार' नामका लेख पृ० ६५-८३) (पं० जुगलकिशोरका तिलोय पण्णत्ति और यतिवृषभ" नामका लेख) (जैन साहित्य और इतिहास पृ० १-२२ प्रेमी जी)।

१३. **लोहार्य**—१. लोहाचार्य नामके तीन आचार्योंका नामोल्लेख मिलता है, एक तो श्रुतावतारके द्वितीय केवली सुधर्माचार्यका अपरनाम था। २. द्वितीय लोहाचार्य श्रुतावतारमें भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् आते हैं। आप ८ अंग के धारी थे। आपका नाम श्रुतावतार की दोनों पट्टावलियोंमें है। श्रुतावतार नं० १ के अनुसार आपका काल वी. नि. ६८३ है। और श्रुतावतार नं० २ के अनुसार वी. नि. ५१५-५६५ है। इसमें दूसरी अपेक्षा ही जँचती है, क्योंकि उसे मानने पर ही इनके उत्तरवर्ती धरसेनाचार्य आदिके समयकी तथा आचार्य अर्हद्बलि द्वारा संघों की स्थापना की संगति बैठती है। दूसरे पहली अपेक्षासे नक्षत्रादि ५ आचार्यों का काल २२० वर्ष बताकर ६८३ वर्ष पूरे किये गये हैं, जो बहुत अधिक है। (प्र.१/प्र. २१ H. L. Jain) ३. तृतीय लोहाचार्य नन्दिसंघ बलात्कार गणमें आचार्य उमास्वामीके शिष्य थे। तदनुसार उनका काल विक्रम सं० १४२-१५३ (ई० २२०-२३१) होता है।

१४. **विनयदत्तादि ४ आचार्य**—आचार्य इन्द्रनन्दिने अपनी पट्टावलीमें यद्यपि इनका नाम नहीं दिया, परन्तु पृथक्से लोहाचार्य व अर्हद्बलि-के मध्यमें इनका होना बताया है, जिससे पता चलता है कि इनका गुरु परम्परासे कोई सम्बन्ध नहीं है, तथा ये चारों समकालीन हैं। अतः इन चारोंका काल लोहाचार्यके उत्तरवर्ती होनेके कारण लगभग वी. नि. ५६५-५८५ (ई० ३८-५८) आता है। अंगधारी होनेके कारण ही इनका ग्रहण यहाँ किया गया प्रतीत होता है।

४. समयानुक्रमसे आचार्योंकी सूची

(प्रमाणके लिए दे० वह वह नाम)

क्रम	समय ई०सं०	नाम	गुरु या संघ	विशेष
१. ईसवी पूर्व				
१	५२७-५१५	गौतमगणधर	श्रुतावतार	केवली
२	५१५-५०३	सुधर्माचार्य (लोहार्य नं० १)	"	"
३	५०३-४६५	जम्बू स्वामी	"	"
४	४६५	श्रीधर	क्रम बाह्य	"
५	४६५-४५१	विष्णुनन्दि (नन्दि)	श्रुतावतार	श्रुतकेवली
६	४५१-४३५	नन्दिमित्र	"	"
७	४३५-४१३	अपराजित	"	"
८	४१३-३६४	गोवर्धन	"	"
९	३६४-३६५	भद्रबाहु नं० १	"	"
१०	३६४-२९८	स्थूलभद्र (रामल्य व स्थूलाचार्य)	भद्रबाहु नं० १	श्वेताम्बर संघ प्रवर्तक
११	३६५-३५५	विशाखाचार्य	श्रुतावतार	११ अंग व दश पूर्वधारी
१२	३५५-३३६	प्रोष्ठिल	"	
१३	३३६-३१९	क्षत्रिय	"	
१४	३१९-२९८	जयसेन नं० १	"	
१५	२९८-२८०	नागसेन नं०	"	
१६	२८०-२६३	सिद्धार्थ	"	
१७	२६३-२४५	धृतिसेण	"	
१८	२४५-२३२	विजयसेन	"	
१९	२३२-२१२	बुद्धिलिंग (बुद्धिल)	"	
२०	२१२-१९८	गंग देव (देव)	"	
२१	१९८-१८२	धर्म सेन	"	

क्रम	समय ई० सं०	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
२२	१८२-१६४	नक्षत्र	"	११ अंगधारी
२३	१६४-१४४	जयपाल (यशपाल, जस फल)	"	
२४	१४४-१०५	पाण्डव	"	
२५	१०५-९१	ध्रुवसेन (ध्रुवसेन, द्रुमसेन)	"	
२६	९१-५९	कंसाचार्य	"	
२७	५९-५३	सुभद्र	"	१० अंगधारी
२८	५३-३५	यशोभद्र नं० १ (भद्र, अभय)	"	९ " ८ "
२९	३५-१२	भद्र बाहु नं० २ (यशोबाहु)	"	"
३०	ई.पू१२-ई.३८	लोहाचार्य	श्रतावतार	८ अंगधारी
३१	पू.२०-ई.२०	कुमार		
२. ईसवी शताब्दी १				
३२	शता. १ का प्रारम्भ	चन्द्र नन्दि		
३३	श. १ का पूर्व	बलदेव सूरि	चन्द्रनन्दि	
३४	"	जिन नन्दि		
३५	"	मित्र नन्दि		
३६	"	सर्व गुप्त		
३७	श.१ का मध्य	शिव कोटि (शिवार्य)	जिननन्दि, मित्रनन्दि व सर्वमित्र	भगवती आराधना सार
३८	"	कार्तिकेय		
३९	ई. सं. ३	विनयंधर	पुन्नाट संघ	
४०	" १३	गुप्ति श्रुति	"	
४१	" २३	गुप्ति ऋद्धि	"	

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
४२	„ ३३	शिवगुप्ति	„	
४३	३८-५८	विनयदत्त	श्रुतावतार	लोहाचार्य [illegible] चार आचार्य
४४	„	श्रीदत्त नं० १	„	
४५	„	शिवदत्त	„	
४६	„	अर्हद्दत्त	„	
४७	३८-६६	अर्हद्बलि	„	अंगधारी
४८	३८-७३	माघनन्दि	„	„
४९	३८-६६	धरसेन नं० १	„	„
५०	६६-१०१	पुष्पदन्त	„	„
५१	६६-१५६	भूतबलि	„	षट्खण्डागम
५२	ई. सं. ५३	मन्दरार्य	पुन्नाट संघ	
५३	„ ६३	मित्रवीर्य	„	
५४	५७-१५६	गुणधर		कषाय पाहुड

३. ईसवी शताब्दी २

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
५५	१०४-११४	गुप्तिगुप्ति	नन्दि संघ बला०	
५६	११४-११८	माघनन्दि	„	
	३८-७३	(इनका ग्रहण ऊपर श्रुतावतारमें कर लिया गया है यहाँ समयमें कुछ अन्तर पड़ता है, जिसका समाधान समझमें नहीं आता)		
५७	११८-१२७	जिनचन्द्र	नन्दि संघ बला०	
५८	१२७-१७९	पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द)	„	समयसार
५९	१७९-२२०	उमास्वामी	„	तत्त्वार्थ सूत्र
६०	ई.श. २ का अन्त	समन्तभद्र	मूल संघ विभाजन उमास्वामीअन्वय	गन्ध हस्ती-महाभाष्य

४. ईसवी शताब्दी ३

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
६१	ई. श. ३	शामकुन्द		षट खण्ड टीका
६२	२२०-२३१	लोहाचार्य नं० ३	नन्दि संघ बला०	
६३	,,	बलाक पिच्छ	उमास्वामी	
६४	२३१-२९९	यशःकीर्ति	नन्दि संघ बला०	
६५	२९९-३३६	यशोनन्दि	„	
६६	ई.श. ३-५	वादि राज	समन्त भद्रान्वय	
६७	„ ३-४	तुम्बुलूर		

५. ईसवी शताब्दी ४

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
६८	३३६-३८६	देवनन्दि	नन्दि संघ बला०	
६९	३५७	मल्लवादी नं० १		नय चक्र प्रथम
७०	३६६	धर्मसेन नं० २		
७१	३८२	सुमति		
७२	३८६-४३६	जयनन्दि	नन्दि संघ बला०	

६. ईसवी शताब्दी ५

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
७३	ई. श. ५	श्री दत्त नं० २	पूज्यपादसे पूर्वव०	
७४	,,	यशोभद्र	„	
७५	,,	पूज्यपाद (जिनेन्द्रबुद्धि देव नन्दि)	मूल संघ विभाजन	सर्वार्थसिद्धि
७६	४३७	अपराजित नं० २		
७७	४३९-४४२	गुणनन्दि नं० १	नन्दि संघ बला०	
७८	४४२-४६४	वज्रनन्दि नं० १	„	
७९	४६४-५०५	कुमारनन्दि	„	
८०	४५५-५४५	आर्यमंक्षु		
८१	४७०-५६०	नाग हस्ती	आर्यमंक्षु	
८२	४५३	देवर्धि (क्षमाश्रमण)	श्वेताम्बराचार्य	आचारांगादि
८३	४५८	सर्वनन्दि		लोक विभाग
८४	४६९	वज्रनन्दि नं० २	पूज्यपाद	द्रविड़ संघ प्रवर्तक
८५	४७८-५१३	पूज्यपाद नं० २		
८६	४८०-५८०	हरिभद्र सूरि	श्वेताम्बराचार्य	षट्दर्शन समुच्चय

७. ईसवी शताब्दी ६

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
८७	ई. श. ६	योगेन्दु देव (जोइन्दु)		परमात्म प्रकाश
८८	,,	प्रभाकर भट्ट	योगेन्द्रदेव	
८९	५०५-५३१	लोकचन्द्र	नन्दि संघ बला०	
९०	५३१-५५६	प्रभाचन्द्र नं० १	„	
९१	५५६-५६५	नेमिचन्द्र नं० १	„	
९२	५६५-५८६	भानुनन्दि	„	
९३	५८६-६०३	सिंहनन्दि	„	
९४	५४०-६०९	यतिवृषभ	नागहस्ती	कषाय पाहुड़
९५	५५०	सिद्धसेन दिवाकर	श्वेताम्बराचार्य	सन्मति सूत्र
९६	५६३-६०३	इन्द्रसेन	सेन संघ	
९७	५८३-६२३	दिवाकर सेन	„	
९८	६००	कीर्तिधर		राम कथा
९९	ई.श. ६-७	पात्र केसरी नं० १		त्रिलक्षण कदर्थन
१००	„ ६-११	अपराजित (विजयाचार्य)		भ० आराधनाकी विजयोदया टी०

८. ईसवी शताब्दी ७

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
१०१	ई. श. ७	जटासिंह नन्दि		
१०२	६०३-६४३	अर्हत्सेन	सेन संघ	
१०३	६२३-६६२	लक्ष्मण सेन	„	
१०४	६०९	जिनभद्र गणी	श्वेताम्बराचार्य	विशेषावश्यकभा०
१०५	६२५	कनकसेन		
१०६	६०३-६०९	वसुनन्दि नं० १	नन्दि संघ बला०	
१०७	६०९-६३९	वीरनन्दि नं० १		
१०८	६३९-६६३	रत्ननन्दि	„	
१०९	६६३-६७९	माणिक्यनन्दि नं० १	„	
११०	६७९-७०५	मेघचन्द्र	„	
१११	६५०	बलदेव नं० २	कनक सेन	
११२	६३८-६८८	मेघचन्द्र नं० २ (त्रैविद्य देव)		
११३	६६०-६८०	अकलंक भट्ट		राजवार्तिक
११४	६४३-६८३	रविषेण	सेन संघ	पद्म पुराण
११५	६४४-७७८	विमल सूरि	राहू	पउम चरिय
११६	६६५-७०५	महीदेव भट्ट	अकलंक भट्ट	
११७	६७८	तोरणाचार्य	कुन्दकुन्द (1)	
११८	७००-७८०	हरिभद्र सूरि	श्वेताम्बराचार्य	
११९	६७५	धर्मसेन नं० २		
१२०	७००	बलदेव नं० ३	धर्मसेन नं० २	
१२१	,,	बल चन्द्र	,,	

क्रम	समय ई०-सं०	नाम	गुरु व संघ	प्रधान रचना
६. ईसवी शताब्दी ८				
१२२	७०५-७२०	शान्तिकीर्ति	नन्दिसंघ बला.	
१२३	७२०-७५८	मेरुकीर्ति	"	
१२४	७०३-७५३	शान्तिसेन नं० १	पुन्नाट संघ	
१२५	७२८	पुष्पनन्दि	तोरणाचार्य	
१२६	७६७	प्रभाचन्द्र नं० २	पुष्पनन्दि	
१२७	७२३-७७३	जयसेन नं० २	पुन्नाट संघ	
१२८	७३८	कुमारसेन गुरु नं.३		
१२९	७४२-७७३	चन्द्रसेन	पंचस्तूप संघ	
१३०	७४३-७६३	अमितसेन	पुन्नाट संघ	
१३१	७६३-८१३	कीर्तिषेण	"	
१३२	७६३ से पहिले	प्रभाचन्द्र नं० ३	कुमारसेन नं.३	चन्द्रोदय
१३३	"	चारित्र भूषण	इनसे देवागमस्तोत्र सुनकर विद्यानन्द जैन हुए थे।	
१३४	७६७-७९८	बप्पदेव	शुभनन्दि	षट खण्ड-टीका
१३५	७७५-८४०	विद्यानन्द नं० १	मूलसंघ विभाजन	श्लोकवार्तिक
१३६	७६७-७९८	आर्य नन्दि	पंचस्तूप संघ	
१३७	७७६	कुमारनन्दि ४		वादन्याय
१३८	७७८-८२८	जिनषेण नं० २	पुन्नाट संघ	हरिवंशपुराण
१३९	७७८	उद्योतन सूरि		कुवलयमाला
१४०	७९२-८२३	वीरसेन नं० १	पंच स्तूप संघ	धवला
१४१	"	जयसेन नं० ३	"	
१४२	ई श८का अन्त	मल्लवादी नं० २		नयचक्र
१४३	८००-८४३	दशरथ	पंचस्तूप संघ	
१४४	"	जिनसेन नं० ३	"	जयधवला
१४५	"	विनयसेन	"	
१४६	"	श्रीपाल	"	
१४७	"	पद्मसेन	"	
१४८	७५०-८१५	देवसेन नं० १	"	
१०. ईसवी शताब्दी ९				
१४९	८०३-८०५	गुणभद्र	पञ्चस्तूप संघ	उत्तरपुराण
१५०	८०३-८५३	रामसेन	माथुर संघ	
१५१	८१४-८७८	महावीराचार्य		गणितसारसंग्रह
१५२	८३१	हरिषेण		बृहत्कथाकोष
१५३	८४३-८७३	गुणनन्दि	नन्दिसंघ देशी	
१५४	८४७-८९८	लोकसेन	पंचस्तूप संघ	उत्तरपुराण
१५५	८५३-८८७	पुष्पसेन	मूल संघ में विद्यानन्दि	
१५६	८५८-८९८	देवेन्द्र	नन्दि संघ देशी	
१५७	८९८	कुमारसेन	काष्ठा संघ	
१५८	८९८-९१८	वीरसेन	माथुर संघ	
१५९	८७५-९७३	गोलाचार्य	नन्दि संघ देशी	
१६०	८७८-८९२	वादीभ सिंह	मूल संघ वि०में पुष्पसेन	स्याद्वादसिद्धि
१६१	८९३-९४३	देवसेन नं० २	माथुर संघ	दर्शनसार
१६२	८९३-९२३	वसुनन्दि	नन्दि संघ देशी	
१६३	८९८	धर्मसेन नं० ३	लाड़ बागड़ संघ	
१६४	९००-९४०	सिद्धान्तसेन	अनन्तवीर्यकी गुर्वावली	
११. ईसवी शताब्दी १०				
१६५	ई. श. १०	अनन्तकीर्ति नं० १		बृहत्सर्वज्ञसिद्धि
१६६	"	अभयदेव सूरि	श्वेताम्बराचार्य	वादमहार्णव
१६७	९०६	विमलदेव		
१६८	९००-९९८	त्रैकाल्य योगी	नन्दिसंघ देशी	
१६९	९१८-९४८	सर्वचन्द्र	"	
१७०	९१८-९७३	माघनन्दि नं० २	माघनन्दि संघ	
१७१	९१८-९६८	अमितगति नं० १	माथुर संघ	योगसार
१७२	९१८-९४३	यशोदेव	सोमदेवके गुरु	
१७३	"	नेमिदेव	"	
१७४	९२३	शान्तिसेन	लाड़बागड़ संघ	
१७५	९२५-९६५	गौणसेन नं० ६	अनन्तवीर्यकी गुर्वावली	
१७६	९२५-१०२३	पद्मनन्दि (आविद्धकरण कौमारदेव)	नन्दि संघ देशी	
१७७	"	माणिक्यनन्दि २	"	परीक्षामुख
१७८	९२५-१०२३	प्रभाचन्द्र	"	प्रमेयकमलमार्त.
१७९	९३७	कुलभद्र		सारसमुच्चय
१८०	९४२	पद्मकीर्ति भ०		पार्श्व पुराण अप०
१८१	९४३-९९८	सकलचन्द्र	माघनन्दि संघ	
१८२	"	वीरनन्दि नं० २	"	चन्द्रप्रभचरित
१८३	९४३-९७३	दामनन्दि	नन्दिसंघ देशी	
१८४	९४३-९९३	नेमिषेण	माथुर संघ	
१८५	९४३-९६८	सोमदेव नं० १	नेमिदेव	यशस्तिलक
१८६	९४८	गोपसेन	लाड़बागड़ संघ	
१८७	९५०-९९०	रविभद्र		आराधनासार
१८८	९५०-९९०	श्रीपाल द्वितीय	गोणसेन	
१८९	९५०-१०४८	नयनन्दि	माणिक्य नन्दि	
१९०	९५०-९९०	अनन्तवीर्य नं० १	गोणसेन	सिद्धि विनि.वृत्ति
१९१	९६२-१०१५	अमृतचन्द्र		पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय
	९५३	सिंहनन्दि नं० ३		
१९२	९६८-९९८	वीरनन्दि नं० ४	नन्दिसंघ देशीग०	
१९३	९६८-१०१८	माधवसेन	माथुर संघ	
१९४	९६८-१०२३	श्रीनन्दि (रामनन्दि)	सकलचन्द्र	
१९५	९६८-१०१८	बालनन्दि	वीरनन्दि नं.३	
१९६	९७३	यशःकीर्ति नं० २	काष्ठा संघ	
१९७	९७३	भावसेन	लाड़बागड़संघ	
१९८	९७५-१०१५	देवकीर्ति पं०	श्रीपाल द्वि०	
१९९	९७५-१०१५	गुणकीर्ति (सिद्धान्त भट्टारक)	अनन्तवीर्य	
२००	९२३	हेमचन्द्र नं० १	काष्ठा संघ	
२०१	९९३-१०४३	पद्मनन्दि नं० ४	बालनन्दि	जम्बूदीव प०
२०२	९९३-१०२३	श्रीधर	नन्दिसंघ देशी.	
२०३	९९३-१११८	शान्त्याचार्य		जैनतर्कवार्तिक
२०४	९९३-१०२१	अमितगति नं० २	माथुर संघ	सामायिकपाठ
२०५	९९८	जयसेन नं० ४	लाड़बागड़ संघ	धर्म रत्नाकर-श्रावकाचार

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
२०६	९९८	क्षेमकीर्ति	काष्ठा संघ	
२०७	१०००	लघु समन्तभद्र		अष्टसहस्री-पर वृत्ति
२०८	१०००–१०४०	वादिराज नं० २	देवकीर्ति	न्यायविनि॰श्चयवृत्ति
२०९	१०००	क्षेमन्धर		बृहत्कथामंजरी

१२. ईसवी शताब्दी ११

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
२१०	ई. श. १०–११	अजितसेन	सिंहनन्दि नं.३	
२११	,,	मेघचन्द्र		
२१२	,,	अभयनन्दि		
२१३	,,	वीरनन्दि नं० ३	अभयनन्दि	चन्द्रप्रभ चरित्र
२१४	,,	इन्द्रनन्दि	,,	श्रुतावतार
२१५	ई. श. ११ पूर्व	नेमिचन्द्र नं० २ (सिद्धान्त चक्रवर्ती)	,,	गोमट्टसार
२१६	,,	कनकनन्दि नं० १	इन्द्रनन्दि	,,
२१७	,,	माधवचन्द्र (त्रैविद्य देव)		त्रिलोकसारवृत्ति
२१८	ई. श. ११	विनयसेन नं० २		
२१९	,,	शक्ति कुमार (गुहिलके राजा)		जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
२२०	,,	नागनन्दि		
२२१	,,	धवलाचार्य		
२२२	,,	शिवकोटि नं० २		रत्नमाला
२२३	ई. सं. १००८	सिंहनन्दि नं० २		
२२४	१००८	कुमार कार्तिकेय		कार्तिकेयानुप्रेक्षा
२२५	१०१३	ब्रह्मसेन	जयसेन	
२२६	१००३–११६८	शुभचन्द्र प्रथम		ज्ञानार्णव
२२७	१०१५–१०५०	उदयदेव		
२२८	१०१५–११५०	वादीभसिंह नं० २		गद्यचिन्तामणि
२२९	१०१५–१०४५	सिद्धान्तिक देव	शुभचन्द्र	
२३०	१०१६–११३६	पद्मनन्दि नं० ५	वीरनन्दि	पद्मनन्दि-पंचविंशतिका
२३१	१०१८–१०६८	नेमिचन्द्र नं० ३	नयनन्दि	
२३२	१०१८–१०४८	मलधारीदेव नं० १	नन्दिसंघ देशी	
२३३	१०१८–१०७८	कुलभूषण	,,	
२३४	१०२१–१०२५	नृपनन्दि		
२३५	१०४३-१०८३	नेमिचन्द्र नं० ४ (सिद्धान्तिक देव)		द्रव्यसंग्रह
२३६	१०४३–१०५३	वसुनन्दि नं० ३	नेमिचन्द्र नं.३	प्रतिष्ठापाठ
२३७	१०४३–११०३	कुलचन्द्र	नन्दिसंघ देशी	
२३८	१०४३–१०७३	चन्द्रकीर्ति नं० १	,,	
२३९	१०४७	मल्लिषेण नं० १		सज्जनचित्तवल्लभ
२४०	१०४८	वीरसेन नं० २	लाड़बागड़ संघ	
२४१	१०२१–१०५५	मानतुंग		भक्तामरस्तोत्र
२४२	१०६१–१०८१	सोमदेव नं० २		बृहत्कथा-सरितसागर
२४३	१०६८–१०९८	दिवाकरनन्दि	नन्दिसंघ देशी	
२४४	१०७३	गुणसेन नं० १	लाड़बागड़ संघ	
२४५	१०८८–११७३	हेमचन्द्र नं० २	श्वेताम्बराचार्य	प्रा० व्याकरण
२४६	१०९३–११२३	शुभचन्द्र नं० २		
२४७	१०९८	उदयसेन नं० १	लाड़बागड़संघ	
२४८	१०९८	नरेन्द्रसेन	,,	सिद्धान्तसार-संग्रह

१३. ईसवी शताब्दी १२

क्रम	समय ई० सं०	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
२४९	ई. श. १२	योगचन्द्र		योगसार
२५०	,,	महेन्द्रदेव		
२५१	,,	वीरचन्द्र नं० १		
२५२	,,	शुभचन्द्र नं० ३		
२५३	,,	नागसेन नं० २	महेन्द्रदेव, वीरचन्द्र, शुभचन्द्र	तत्त्वानुशासन
२५४	११०२	चन्द्रप्रभ सूरि	जयसिंह सूरि	प्रमेयरत्नकोष
२५५	११०८–११३६	माघनन्दि नं० ३	नन्दिसंघ देशी	
२५६	११११२	नयसेन		धर्मामृत
२५७	१११७–११६९	वादिदेवसूरि	श्वेताम्बराचा.	स्याद्वादरत्नाकर
२५८	११२३	गुणसेन द्वितीय	लाड़बागड़ संघ	
२५९	,,	जयसेन नं० ५	,,	
२६०	,,	उदयसेन नं० २	,,	
२६१	११२८	मल्लधारी नं० २ (मल्लिषेण नं० २)		
२६२	११२८	मल्लिषेण नं० २		वज्रपंजर विधान
२६३	११३३–११६३	माघनन्दि नं० ४	नन्दिसंघ देशी.	
२६४	,,	देवकीर्ति नं० २	,,	
२६५	,,	देवचन्द्र नं० १	,,	
२६६	,,	श्रुतकीर्ति (त्रैविद्य मुनि)	,,	
२६७	,,	कनकनन्दि नं० २	,,	
२६८	,,	गंड विमुक्त देव	,,	
२६९	११४०–११८५	पद्मप्रभ (मलधारिदेव नं०३)		नियमसार टीका
२७०	११५८–११८८	देवकीर्ति नं० ३	नन्दिसंघ देशी.	
२७१	११५८–११८२	रामचन्द्र	,,	
२७२	,,	गंडविमुक्त देव २	,,	
२७३	११५८–११८८	भानुकीर्ति	,,	
२७४	११५८–११८५	शुभचन्द्र नं० ४	,,	
२७५	११५८–११८२	अकलंक नं० २ (त्रैविद्य देव)	,,	
२७६	११६३	वीरनन्दि नं० ५		आचारसार
२७७	११६८–११९३	नयकीर्ति		
२७८	११६८–१२४३	पद्मनन्दि नं० ६		चरणसार
२७९	११८५–१२४३	प्रभाचन्द्र नं० ५		समाधितंत्रटीका
२८०	११८९	अनन्तकीर्ति नं० २		
२८१	ई. श. १२-१३	रामसेन नं० ३		तत्त्वानुशासन

१४. ईसवी शताब्दी १३

क्रम	समय ई० सं०	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
२८२	ई. श. १३	यशःकीर्ति नं० ४		जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला
२८३	,,	भास्करनन्दि		तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति,
२८४	,,	अभयचन्द्र नं० १		स्याद्वादभूषण

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
२८५	ई. श. १३	विनयचन्द्र		उवएसमाला
२८६	१२०५	पार्श्व पण्डित		पार्श्वनाथपुराण
२८७	१२०६	धर्मसूरि		जम्बूस्वामी सरना
२८८	,,	जन्नाचार्य		अनन्तनाथ पु०
२८९	१२१४	धर्मचन्द्र भ०		
२९०	,,	ललितकीर्ति		
२९१	१२३०	गुणवर्म		पुष्पदन्तपुराण
२९२	१२३६	कुमार पण्डित ८		
२९३	,,	यशःकीर्ति ३		
२९४	,,	रत्नकीर्ति नं० २		
२९५	१२४३-१२९८	त्रैविद्यदेव नं० २		
२९६	१२५८-१३१६	पद्मनन्दि नं० ७	त्रैविद्यदेव	
२९७	१२५६	प्रभाचन्द्र नं० ६		पंचास्तिकाय टी०
२९८	१२८०-१३३०	पद्मनन्दि नं० ८		यत्याचार
२९९	१२८३-१३१३	शुभचन्द्र नं० ५		
३००	१२९२-१३२३	जयसेन नं० ६		समयसार टीका
३०१	,,	ब्रह्मदेव		द्रव्यसंग्रह टीका
३०२	१२९२	मल्लिषेण नं० ३	श्वेताम्बराचार्य	स्याद्वाद मंजरी
३०३	१२९३-१३२३	पद्मनन्दि नं० ९	शुभचन्द्र नं. ५	

१५. ईसवी शताब्दी १४

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
३०४	ई. श. १४	धर्मभूषण नं० २		न्यायदीपिका
३०५	,,	श्रीधर नं० ३		भविष्यदत्त-कथा
३०६	१३०५-१३०३	प्रभाचन्द्र नं० ७	नन्दिसंघ बला०	
३०७	१३२८-१३९८	पद्मनन्दि नं० १०	,,	भावना पद्धति
३०८	१३३३-१३४३	अभयचन्द्र नं० २		गोमट्टसार टी.
३०९	१३७४	रामसेन नं० ३	काष्ठासंघ	
३१०	१३५०-१३६०	मुनिभद्र		परमात्म प्रकाश टीका
३११	१३५०	बालचन्द्र (मल्लधारीदेव नं.४)		पंचास्तिकाय-टीका
३१२	१३५९	धर्मभूषण नं० १		
३१३	१३९९	रत्नकीर्ति नं० ३	काष्ठासंघ	

१६. ईसवी शताब्दी १५

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
३१४	१४१४	लक्ष्मणसेन नं० २		
३१५	१४२९	दयासागर सूरि		धर्मदत्त च.
३१६	१४३३-१४७३	देवेन्द्रकीर्ति नं० १	पद्मनन्दि नं. १०	
३१७	१४३३-१४४२	सकलकीर्ति	नन्दिसंघ बला०	सुकुमाल च.
३१८	१४४८-१४९८	विद्यानन्दि नं० २	,,	सुदर्शन च.
३१९	,,	मल्लिभूषण	,,	
३२०	१४४९	भीमसेन	काष्ठासंघ	
३२१	१४५१-१४७०	भुवनकीर्ति	नन्दिसंघ बला०	
३२२	१४७३-१५३३	श्रुतसागर	,,	तत्त्वार्थ वृत्ति
३२३	१४७०	रत्नकीर्ति नं० ४	अनन्तकीर्ति भ.	भद्रबाहु च.
३२४	१४७४	सोमकीर्ति	काष्ठासंघ	प्रद्युम्न चा.
३२५	१४४०-१४५०	यशःकीर्ति नं० ५		पाण्डवपु. (अप.)
३२६	१४९८-१५५८	श्रीचन्द्र	नन्दिसंघ बला०	वैराग्यमणि-माला
३२७	१५००-१५११	विजयकीर्ति	,,	जीवन्धर
३२८	१५००	कोटीश्वर		सप्तपदी (क.)

१७. ईसवी शताब्दी १६

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
३२९	ई.श. १६ पूर्व	नेमिचन्द्र नं० ४		गोमट्टसारटीका
३३०	१५१६-१५५६	शुभचन्द्र नं० ६	नन्दिसंघ बला०	सम्यक्त्व कौ.
३३१	१५१८	सिद्धान्त सागर	,,	यशस्तिलक चम्पूकी टीका
३३२	,,	सिंहनन्दि नं० ५	,,	
३३३	ई.श. १६	सिंहनन्दि नं० ६		पंच नमस्कार-मंत्र माहात्म्य
३३४	१५१८	लक्ष्मीचन्द्र नं० १	नन्दिसंघ बला०	
३३५	१५२८	वीरचन्द्र नं० २	,,	
३३६	१५३८	ज्ञानसागर	,,	
३३७	१५४१-१५५१	लक्ष्मीचन्द्र नं० २	,,	
३३८	१५४३	प्रभाचन्द्र नं० ८	,,	
३३९	,,	ज्ञानभूषण नं० २	,,	
३४०	१५५४	श्रीपाल वर्णी		
३४१	१५५६-१६०१	क्षेमचन्द्र		
३४२	१५५९	यशःकीर्ति नं० ६		
३४३	१५६३-१५६८	सुमतिकीर्ति		पंचसंग्रहटीका
३४४	१५८३-१६०५	देवेन्द्रकीर्ति नं. २		कथा कोष
३४५	१५८४	क्षेमकीर्ति नं. २	यशःकीर्ति भ.	
३४६	१५९०-१६४०	विद्यानन्दि नं. ३		
३४७	१५९७	चन्द्रकीर्ति भ.		पद्मपुराण
३४८	१५९९-१६१४	धर्मकीर्ति भ.		
३४९	१६००	श्रीभूषण भ.		पाण्डवपुराण

१८. ईसवी शताब्दी १७

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
३५०	१६०४	भट्टाकलंक		शब्दानुशासन
३५१	१५६६-१५६८	सन्मतिकीर्ति		
३५२	१६३८-१६८८	यशोविजय		जैनतर्क (भाषा)
३५३	१६०१	वादिचन्द्र भ.		पाण्डव पुराण
३५४	१६७०	विनय विजय-उपाध्याय	श्वेताम्बर	न्यायकर्णिका

१९ ईसवी शताब्दी १८-२०

क्रम	समय ई. सं.	नाम	गुरु या संघ	प्रधान रचना
३५५	ई. श. १८	जिनसागर		जीवन्धर पु०
३५६	१७१८	ज्ञानचन्द्र भ.		पंचास्तिकायटी.
३५७	१८३९	देवचन्द्र नं. २		राजवलि कथे
३५८	१९१९-१९५५	शान्तिसागर		
३५९	१९२४-१९५७	वीर सागर		
३६०	१९४९	शिवसागर		

५. दिगम्बर संघ

१. दिगम्बर संघ सामान्य व इसके भेद

१. दिगम्बर आचार्योंका मूलसंघ भगवान् वीरके निर्वाण पश्चात आचार्य अर्हद्बलि पर्यन्त अविच्छिन्न रूपसे चला आ रहा था। परन्तु वी० नि० ५९३ में जब अर्हद्बलि आचार्यने पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमणके अवसरपर महिमा नगरमें एकत्रित किये गये महान् यति सम्मेलनमें आचार्यों व साधुओंमें अपने-अपने शिष्योंके प्रति कुछ पक्षपात देखा तो उस मूलसंघको अनेक विभागोंमें विभाजित कर दिया। तत्पश्चात मूलसंघके वे सब भाग स्वतन्त्र रूपसे अपना-अपना अस्तित्व रखने लगे। उन्होंने उस अवसरपर जिन संघोंका निर्माण किया था, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं :—१. नन्दिसंघ; २. वीर-संघ; ३, अपराजितसंघ; ४, पंचस्तूपसंघ; ५, सेनसंघ; ६. भद्रसंघ; ७, गुणधरसंघ; ८, गुप्तसंघ; ९. सिंहसंघ; १०. चन्द्रसंघ इत्यादि। (ध, /१प्र. १४/H L. Jain) २, इनके अतिरिक्त भी अनेक संघ भिन्न-भिन्न समयोंपर यथास्थिति पैदा होते रहे। धीरे-धीरे उनमेंसे कुछ संघोंमें कुछ शिथिलाचार भी आ गया जिसके कारण वे संघ जैनाभासी कहलाने लगे जैसे कि (द. सा./२४–२५ तक) आचार्य देव-सेनने पाँच संघोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया है :—१. द्राविड़संघ; २. यापनीयसंघ; ३, काष्ठासंघ; ४. माथुरसंघ; और ५वाँ भिल्लक-संघ। इनके अतिरिक्त भी श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रकृत षड्दर्शन समुच्चयकी आचार्य 'गुणरत्न' कृत टीकामें दिगम्बर सम्प्रदायमें चार संघोंका परिचय दिया है।

दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा–काष्ठासंघ-मूलसंघ-माथुरसंघ-गोप्यसंघभेदात। —१. काष्ठासंघ; २. मूलसंघ; ३ माथुर-संघ और ४. गोप्यसंघ। इसी प्रकार आचार्य नन्दिने अपने नीति-सारमें कहा है :—

द. पा./टी./११ से उद्धृत नीतिसार / ९. गोपुच्छकश्वेतवासा द्राविड़ो यापनीयः निष्पिच्छश्चेति चैते पञ्च जैनाभासाः प्रकीर्तिताः। —१. गोपुच्छक; २. श्वेताम्बर; ३. द्राविड़; ४. यापनीय; ५, निष्पिच्छक ऐसे पाँच प्रकार जैनाभास कहे गये हैं। इसमेंसे गोपुच्छक तो काष्ठा-संघ का ही नाम है, जैसा कि आगे बताया जायेगा, और निष्पिच्छक माथुरसंघका नाम है। १. यद्यपि ये संघ दर्शनसारकार श्री देवसेना-चार्यने जैनाभासी और भ्रष्टाचारी के कहे हैं, और जैसा कि आगे उनके लक्षणों परसे जाना जाता है कि उनमें कुछ शिथिलाचारिता भी आ गयी थी। परन्तु प्रेमीजीके अनुसार इनका मूलसंघसे इतना पार्थक्य नहीं है कि उन्हें जैनाभासी कहा जा सके, और उनके प्रव-र्तकोंको महामोही व दुष्ट कहा जा सके, जैसा कि देवसेनाचार्यने उनके लिए प्रयुक्त किये हैं। (द. सा./प. ४५ / प्रेमीजी) २. यह सबके सब वर्तमानमें उपलब्ध नहीं हैं। समय-समय पर पुराने संघ लुप्त होते गये और नये संघ बनते गये। उपरोक्त संघोंमेंसे लगभग सभी लुप्त हो चुके हैं, केवल काष्ठासंघका कोई एक अन्तिम अवशेष दिखाई देता है, क्योंकि कुछ भट्टारक जन अब भी गोपुच्छकी पीछी रखते देखे जाते हैं, जो कि काष्ठासंघका प्रधान चिह्न है। (द. सा./प्र. ४०/प्रेमीजी) ३. सभी संघोंका तो परिचय दिया जाना कठिन है, हाँ कुछका, जिनकी कि खोज शास्त्रोंमेंसे लग सकती है, परिचय यहाँ दिया जाता है। वर्णानुक्रमसे उनके नाम ये हैं :—१. अनन्तकीर्ति संघ; २. अपराजितसंघ; ३. काष्ठासंघ; ४. गुणधरसंघ; ५. गुप्तसंघ; ६. गोपुच्छसंघ; ७, गोप्यसंघ; ८. चन्द्रसंघ; ९. द्राविड़संघ; १०. नन्दिसंघ; ११. नन्दितटसंघ; १२. निष्पिच्छकसंघ; १३. पंचस्तूप-संघ; १४. पुन्नाटसंघ; १५ बागड़संघ; १६. भद्रसंघ; १७. भिल्लक-संघ; १८. माघनन्दिसंघ; १९. माथुरसंघ; २०, यापनीयसंघ; २१. लाड़बागड़संघ; २२. वीरसंघ; २३. सिंहसंघ; २४. सेनसंघ।

२. मूलसंघ निर्देश

क्रमको भंग करके प्रारम्भमें सर्वप्रथम मूलसंघका परिचय दिया जाना आवश्यक है, क्योंकि अन्य सर्वसंघोंका यही मूल है। इसीमेंसे उत्तरोत्तर विभाग द्वारा अन्य संघोंकी उत्पत्ति हुई है। वैसे तो कौन नहीं जानता कि दिगम्बर सम्प्रदायके साधु नग्न रहते हैं, पाणिपात्रमें भिक्षावृत्तिसे आहार करते हैं; मयूर पंखकी पीछी रखते हैं, स्त्री मुक्ति आदिको स्वीकार नहीं करते, फिर भी एक श्वेताम्बर इस सम्बन्ध-में क्या कहता है सो ही बताता हूँ।

हरिभद्र सूरि कृत षड्दर्शन समुच्चयकी 'गुणरत्न' आचार्य कृत टीका। ''दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गा पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा, काष्ठासंघ-मूल-संघमाथुरसंघगोप्यसंघभेदात।···आद्यास्त्रयोऽपि संघा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति। स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते।···सर्वेषां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तराया मलाश्च चतुर्दश वर्जनीयाः। शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम्। नास्ति तेषां मिथः शास्त्रेषु तर्केषु परो भेदः। —मान्यता : दिगम्बर नग्न रहते हैं, और हाथमें भोजन करते हैं। इनके चार भेद हैं :—काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुरसंघ व गोप्यसंघ। पहलेके तीन (काष्ठा, मूल व माथुर) वन्दना करनेवाले-को धर्मवृद्धि देते हैं, और स्त्री मुक्ति, केवली भुक्ति, तथा सवस्त्र मुक्ति नहीं मानते हैं। चारों ही संघके साधु भिक्षाटनमें और भोजनमें ३२ अन्तराय और १४ मलोंको टालते हैं। इसके सिवाय शेष आचार (अनुद्दिष्टाहार, शून्यवासादि) तथा देव गुरुके विषयमें (मन्दिर व मूर्त्तिपूजा आदिके विषयमें) सब श्वेताम्बरोंके ही तुल्य है। उन दोनोंके शास्त्रों व तर्कोंमें (सचेलता, स्त्रीमुक्ति व केवली मुक्तिको छोड़कर) और कोई भेद नहीं है। (वास्तवमें यह मूलसंघ किसी संघ विशेषका नाम नहीं है, बल्कि दिगम्बरसंघके उपरोक्त (दे०— दिगम्बरसंघ सामान्य) सभी भेद-प्रभेद इसकी शाखाएँ-प्रति शाखाएँ हैं। अतः मूलसंघ दिगम्बर सामान्य संघका ही नाम है। अब इसके भेद-प्रभेदोंका स्वरूप तथा अन्य यथालब्ध संघोंका परिचय दिया जाता है।)

३. मूलसंघ विभाजन

भगवान् वीरके पश्चात् ६८३ वर्षकी आगम प्रसिद्ध आचार्य परम्परा दे दी गयी। अब इसके पश्चात् उसमें संघ विभाजन किस प्रकार हुआ और आगेकी आचार्य परम्परा किस रूपमें चली इस बातको बतानेके लिए, निम्नमें एक काल्पनिक वृक्ष बनाकर दिखाया है।
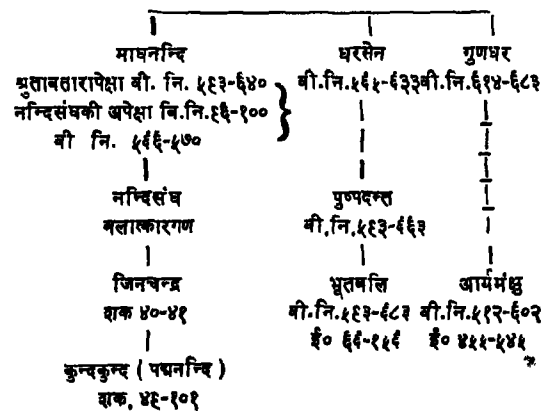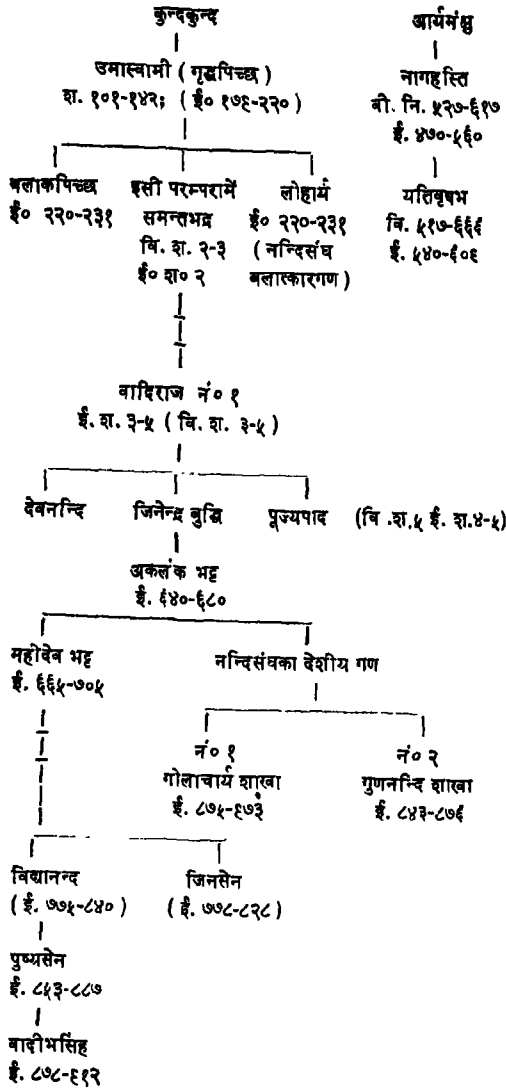
४. अनन्तवीर्य संघ

इस संघका असली नाम क्या है, अर्थात् आचार्य अनन्तवीर्य किस संघके आचार्य थे यह बात ज्ञात नहीं है। यह मूलसंघी दिगम्बराचार्योंकी परम्परामें थे। निम्न गुर्वावलिमें केवल अनन्तवीर्यका काल ही पं० महेन्द्रकुमार द्वारा निर्धारित किया गया है, अन्यके समय उसीके आधार पर केवल अनुमानसे भरे गये हैं। यदि गलती हो तो विद्वद्गण सुधार लें। (सि. वि./प्र. ७५/पं. महेन्द्र)

५. अपराजित संघ
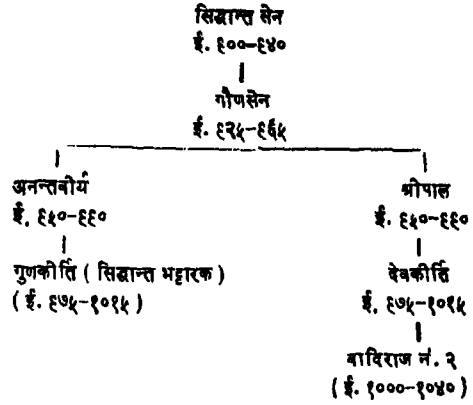
आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं हुआ। (दे. इतिहास ५/२)

६. काष्ठा संघ

दर्शनसार ग्रन्थमें देवसेनाचार्यके अनुसार यह संघ नन्दितट ग्राममें आचार्य कुमारसेन द्वारा वि. सं. ७५३ में चलाया गया था।

द.सा./मू./३३,३८,३९ आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खयओ। सण्णासभंजणेण य अगहिय पुणदिक्खओ जादो।३३। सत्तसए तेवण्णे बिक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो।३८। णंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थ विण्णाणी। कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले।३९। –आचार्य विनयसेनके द्वारा दीक्षित आचार्य कुमारसेन जिन्होंने संन्याससे भ्रष्ट होकर पुनः गुरुसे दीक्षा न ली; और सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट होकर नन्दितट ग्राममें (वि. सं. ७५३ में) काष्ठासंघी हो गये।

द.सा./मू./३७ सो समणसंघवज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो। चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघ परूवेदि।३७। –मुनि संघसे बहिष्कृत, समय मिथ्यादृष्टि, उपशमको छोड़ देने वाले और रौद्र परिणामी कुमारसेनने काष्ठा संघका प्ररूपण किया।

द.सा./प्र./पृ.३९ यद्यपि इसकी उत्पत्तिका समय आचार्यने वि. सं. ७५३ बताया है, परन्तु प्रेमी जी इसकी उत्पत्तिका काल वि. सं. ९५५ अनुमान करते हैं। (द. स./प्र./३९ प्रेमीजी)

आचार्य सुरेन्द्रकीर्तिः "काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः। तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ। श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः। लाडबागड इत्येते विख्याता क्षितिमण्डले।– आचार्य सुरेन्द्रकीर्तिके अनुसार यह संघ चार गच्छोंमें विभाजित हो गया था। १ नन्दितट गच्छ; २ माथुर गच्छ; ३ बागड़ गच्छ, और ४ लाड़बागड़गच्छ, इनमेंसे माथुर गच्छ ही माथुर संघ है, जिसको आचार्य देवसेनने काष्ठा संघसे २०० वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुआ बताया है, जिसका परिचय आगे दिया जावेगा। लाड़बागड़ संघ के भी कुछ आचार्यों का परिचय लाड़बागड़ संघके नामसे आगे दिया जायेगा। नन्दितट ग्राम इस संघकी जन्मभूमि है अतः उस स्थान की शाखा का नाम नन्दितटगच्छ था। और जैसा कि अभी आगे बताया जाने वाला है, उन्होंने बागड़प्रान्तमें अपने सिद्धान्तका प्रचार किया था, अतः वहाँ की शाखाका नाम ही बागड़गच्छ जानना चाहिए। गोपुंछ

की पीछी रखने के कारण काष्ठासंघको गोपिच्छक संघ भी कहा गया है। (दे. इतिहास ५/१/द. पा. टी.)

द.सा./मू./ ३४-३६ परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं चित्तूण मोहकलिएण। उम्मग्गं संकलियं बागडविसएसु सव्वेसु ।३४। इत्थीणं पुणदिक्खा खुल्लयलोयस्स वीर-चरियत्तं। कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं नाम ।३५। आयमसत्थपुराणं पायच्छित्तं च अण्णहा किंपि। विरइत्ता मिच्छत्तं पवट्टियं मूढलोएसु ।३६। =मयूर पिच्छीको त्याग कर तथा चंवरी गायकी पूंछको ग्रहण करके उस अज्ञानीने सारे बागड़ प्रान्तमें उन्मार्गका प्रचार किया ।३४। उसने स्त्रियों को दीक्षा देनेका, क्षुल्लकों को वीर्यचर्याका, मुनियोंको कड़े बालोंकी पिच्छी रखनेका, और रात्रि भोजन त्याग नामक छठे गुणव्रत (अणुव्रत) का विधान किया ।३५। इसके सिवाय इसने अपने आगम, शास्त्र, पुराण और प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको कुछ और ही प्रकार रचकर मूर्ख लोगोंमें मिथ्यात्वका प्रचार किया। यद्यपि देवसेनाचार्यने इस संघको जैनाभास कहकर इसकी बहुत निन्दा की है, परन्तु वास्तवमें इतने निन्दनीय नहीं है। ठीक है कि मूलसंघके साथ इसका पार्थक्य है, परन्तु इतना नहीं कि इसको जैनाभास कहकर इस प्रकार निन्दा की जाये। (द.सा प्र./४५ प्रेमीजी) और इस बातकी पुष्टि श्वेताम्बराचार्य श्रीहरिभद्र सूरि कृत षड्दर्शनसमुच्चयके टीकाकार श्रीगुणरत्न द्वारा भी हो रही है यथा—

काष्ठासंघे चमरीबालैः पिच्छिका···आद्यास्त्रयोऽपि संघा वन्द्यमाना धर्मवृद्धि भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं, केवलिनां भुक्तिं, सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते ।···सर्वेषां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तरायमलाश्च चतुर्दश वर्जनीयाः। =काष्ठासंघमें चमरी गायके बालोंकी पिच्छिका रखते हैं। आदि के तीन (काष्ठा, मूल व माथुर) संघ वन्दना करने वालेको धर्मवृद्धि कहते हैं। स्त्रीमुक्ति, केवली भुक्ति तथा व्रतधारी मुनिको भी सवस्त्र मुक्ति नहीं मानते हैं।

सारांश—प्रवर्तक=कुमारसेन; समय=वि. सं. ९५५; गच्छ=नन्दितटः माथुर व बागड़बाड़। अपरनाम=गोपुच्छकसंघ; स्थान=नन्दितट ग्राम व बागड़ प्रान्त। मान्यताएँ=गौकी पूंछकी पीछी रखना; स्त्रियोंको दीक्षा देना; क्षुल्लकोंको वीरचर्याः रात्रि भोजनत्याग नामा छठा अणुव्रत; स्त्रीमुक्ति, केवली भुक्ति; सवस्त्र मुक्तिका निषेध। यद्यपि अन्य संघ अब लुप्त हो चुके हैं, परन्तु इसका कुछ शेष अब भी दिखाई देता है, क्योंकि अब भी कुछ भट्टारक चमर गोपुच्छ की पीछी रखते हैं (द.स./प्र.४० प्रेमी जी) अब इस संघकी यथालब्ध कुछ गुर्वावली दी जाती है। इसमें केवल कुमारसेन व रामसेन आचार्योंका काल निर्धारित है। शेष काल उनके आधार पर ही अनुमान किया गया है। (ला. सं./१/६४-७०); (प्रद्युम्न चारित्रकी अन्तिम प्रशस्ति; (प्रद्युम्न चारित्र/प्र./प्रेमीजी)

नं.	नाम	वि.सं.	ई.सं.	विशेष	नं.	नाम	वि.सं.	ई.सं.	विशेष
					...	...	...	...	...
१	कुमार-सेन	९५५	८९८	संघ प्रवर्तक	१०	राम-सेन	१४३१	१३७४	कुछ आचार्योंके बाद
२	हेम-चन्द्र	९८०	९२३		११	रत्न-कीर्ति	१४५६	१३९९	
३	पद्म-नन्दि	१००५	९४८		१२	लक्ष्मण-सेन	१४८१	१४२४	
४	यशः कीर्ति	१०३०	९७३		१३	भीम-सेन	१५०६	१४४९	
५	क्षेम-कीर्ति	१०५५	९९८		१४	सोम-कीर्ति	१५३१	१४७४	
...	...	...	...	...					

७. गुणधर संघ

आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है। दे० इतिहास/५/२।

८. गुप्त संघ

आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं। दे० इतिहास ५/२।

९. गोपुच्छ संघ

गोकी पूंछकी पीछी रखनेके कारण काष्ठासंघका ही दूसरा नाम गोपुच्छक है (द. पा./टी./११ में उद्धृत) विशेष दे० 'काष्ठा संघ'।

१०. गोप्य संघ

श्वेताम्बराचार्य श्रीहरिचद्र सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकामें 'आचार्य गुणरत्न' इसे यापनीय संघका ही अपरनाम बताते हैं। यथा—"गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते" (विशेष दे० यापनीय संघ)।

११. चन्द्र संघ

आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है—दे० इतिहास/५/२।

१२. द्राविड संघ

द.सा./मू./२४-२८ सिरिपुज्जपादसीसो दाविड़संघस्य कारगो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुडबेदी महासत्तो ।२४। अप्पासुयचणयाणं भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहिं। परिरइयं विवरीयं विसेसियं वग्गणं चोज्जं ।२५। बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि। सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ।२६। कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो। ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं स संजेदि ।२७। पंचसए छब्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिण-महुराजादो दाविडसंघो महामोहो ।२८। =श्रीपूज्यपाद या देवनन्दि आचार्यका शिष्य वज्रनन्दि द्राविड़ संघका उत्पन्न करने वाला हुआ। यह प्राभृत ग्रन्थों (समयसार, प्रवचनसार आदि) का ज्ञाता और महान् पराक्रमी था। मुनिराजोंने उसे अप्रासुक या सचित्त चनोंके खानेसे रोका, क्योंकि इसमें दोष आता है—परन्तु उसने न माना और बिगड़कर विपरीत रूप प्रायश्चित्तादि शास्त्रों की रचना की ।२४-२५। उसके विचारानुसार बीजोंमें जीव नहीं हैं, मुनियोंका खड़े-खड़े भोजन करने की विधि नहीं है, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। वह सावद्य भी नहीं मानता और गृहकल्पित अर्थको नहीं गिनता। ।२६। कछार, खेत, वसतिका, और वाणिज्य आदि कराके जीवन निर्वाह करते हुए और शीतल जलमें स्नान करते हुए उसने प्रचुर पापका संग्रह किया, अर्थात् उसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनिजन यदि खेती करावें, रोजगार करावें, वसतिका बनवावें, और अप्रासुक जलमें स्नान करें तो कोई दोष नहीं है। ।२७। विक्रमराजाकी मृत्युके ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा नगरमें यह महामोह रूप द्राविड़ संघ उत्पन्न हुआ ।२८।

द.सा./टी./११ द्राविड़ाः—सावद्यं प्रासुकं च न मन्यते, उद्भोजनं निरा-कुर्वन्ति। =द्राविड़ मुनिजन सावद्य तथा प्रासुकको नहीं मानते और भोजनमें इन वस्तुओंका प्रयोग न करनेका निषेध करते हैं, अर्थात् इन वस्तुओंको ग्रहण करनेकी आज्ञा देते हैं।

द.सा./प्र./५४ प्रेमीजी "द्रविड़ संघके विषयमें दर्शनसारकी वचनिकाके कर्ता एक जगह जिनसंहिताका प्रमाण देकर कहते हैं कि 'सभूषणं सवस्त्रं स्याद् बिम्बं द्राविड़संघजम्' अर्थात् द्राविड़ संघकी प्रतिमाएँ वस्त्र और आभूषण सहित होती हैं।···न मालूम यह जिनसंहिता

किसकी बनायी हुई है और कहाँ तक प्रामाणिक है। अभी तक हमें इस विषयमें बहुत सन्देह है कि द्राविड़ संघ सग्रंथ प्रतिमाओंका पूजक होगा।

प्रमाणता:—यद्यपि देवसेनाचार्यने 'दर्शनसार' की उपरोक्त गाथाओंमें इनको जैनाभास कहकर इनके लिए अपशब्दोंका प्रयोग किया है, और मूलसंघको मान्यताओंकी अपेक्षा इनका शिथिलाचार भी स्पष्ट है, परन्तु मूलसंघके साथ यह पार्थक्य इतना प्रधान नहीं है (अर्थात् केवल भोजन सम्बन्धी ही है) कि इसे जैनाभासी कहकर इसकी निन्दा की जा सके। (द. सा./प्र. ४५/प्रेमी जी) इसी बातकी पुष्टि इसपर-से भी होती है कि (ह. पु./१/३१-३२ में) आचार्य जिनसेनने पूज्यपादके पश्चात् उनके शिष्य वज्रनन्दिकी भी इस प्रकार स्तुति की है—

ह. पु./१/३२ वज्रसूरेर्विचारण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः। प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तॄणामिवोक्तयः।३२॥ =जो हेतुसहित विचार करती हैं, ऐसी वज्रनन्दिकी उक्तियाँ धर्मशास्त्रोंका व्याख्यान करनेवाले गणधरोंकी उक्तियोंके समान प्रमाण हैं॥३२॥ १. इसपर-से यह भी अनुमान होता है कि हरिवंशपुराणके कर्ता श्री जिनसेनाचार्य स्वयं द्राविड़संघी हों, परन्तु वे अपनेको पुन्नाट संघके आचार्य बताते हैं; अतः सम्भवतः द्राविड़ संघका ही दूसरा नाम पुन्नाट संघ हो। 'नाट' शब्दका अर्थ कर्णाट देश है, इसलिए पुन्नाटका अर्थ द्राविड़ देश होगा। द्रमिल संघ भी इसीका अपरनाम है। (द. सा./प्र. ४२/प्रेमी जी.) २. इतना ही नहीं त्रैविद्यविश्वेश्वर, श्रीपालदेव, वैय्याकरण दयापाल, मतिसागर, स्याद्वाद विद्यापति श्री वादिराजसूरि आदि बड़े-बड़े विद्वान् इस संघमें हुए हैं। (द. सा./प्र. ४२/प्रेमी जी.) ३. तथा और भी बात यह है कि आचार्य देवसेनने जितनी बातें इस संघके लिए कही हैं, उनमें-से बीजोंको प्रासुक माननेके अतिरिक्त अन्य बातोंका अर्थ स्पष्ट नहीं है जैसे 'गृहकल्पित' 'सावद्य' नहीं मानता, 'इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हैं, क्योंकि सावद्य अर्थात् पापको न माननेवाला कोई भी जैन संघ नहीं है। सम्भवतः सावद्यका अर्थ भी कुछ और ही हो। (द. सा./प्र. ४३ प्रेमी जी) ४. तात्पर्य यह है कि यह संघ मूल दिगम्बर संघसे विपरीत नहीं है। जैनाभास कहना तो दूर यह आचार्योंको अत्यन्त प्रामाणिक रूपमें सम्मत है। ५. इस संघमें अनेकों गच्छ हैं जैसे—१. 'नन्दि' नामक अन्वय; २. उरुकुल गण; ३. एरेगित्तर गण; मूलितल गच्छ। (द. सा./प्र. ४२/प्रेमी जी) **सारांश**—प्रवर्तक=वज्रनन्दि, स्थान=मथुरा; समय=वि. सं. ५२६; अपरनाम=द्रमिल, पुन्नाट, मान्यताएँ=१ बीज निर्जीव है; २. मुनिजनोंके लिए खड़े होकर भोजन करना आवश्यक नहीं; ३. कोई वस्तु प्राप्तुक नहीं; ४. सावद्य नहीं मानता; ५. गृहकल्पित अर्थको नहीं गिनता; ६. वाणिज्य आदि कराना तथा; ७. अप्रासुक जलसे स्नान मुनियोंके लिए वर्जनीय नहीं है। ६. गुर्वावलिके लिए—दे० 'पुन्नाट संघ'

११. नन्दि संघ (बलात्कार गण)

जैसा कि पहले दिगम्बर संघ सामान्यमें बताया जा चुका है, यह संघ आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित हुआ था। आचार्य माघनन्दि, कुन्दकुन्द व उमास्वामी जैसी विभूतियोंसे विभूषित होनेके कारण यह सबसे अधिक प्राचीन व प्रामाणिक माना जाता है। श्री नन्दि आचार्यके अनुसार—

श्री मूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः। तत्राभवदपूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः। पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः। ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनंदीमुनिचक्रवर्ती। —श्री मूलसंघमें नन्दिसंघ है। उसमें अतिरम्य बलात्कार गण है। उसमें अपूर्व पदांशवेदी तथा नरसुर वंद्य श्री माघनन्दि आचार्य हुए हैं। उनके शिष्य मुनिमान्य जिनचन्द्र तथा उनसे पंच नामधारी श्री पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) मुनिचक्रवर्ती हुए हैं। भद्रबाहु व गुप्तिगुप्तका भी यद्यपि पट्टावलीमें उल्लेख है, परन्तु वह केवल उनकी विनयके लिए है, वास्तवमें संघके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। १. इस संघकी श्रुतावतारके आचार्य इन्द्रनन्दि कृत एक पट्टावली उपलब्ध है, जिसमें प्रत्येक आचार्यका पृथक्-पृथक् काल भी दिया गया है, तथा यह विद्वानों-द्वारा प्रमाण भी समझी जाती है। उसमें जो समय दिये गये हैं वे विक्रम-राजके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ हुए बताये गये हैं। परन्तु ये विक्रमराज कौन-से थे, इस बातका पता नहीं चलता। फिर भी अनुमान कहता है कि यह विक्रमराज वास्तवमें शक वंशीय शालिवाहन विक्रमादित्य ही होने चाहिए, एक तो इसलिए कि उन्हींका संवत् राज्याभिषेकसे प्रारम्भ हुआ था और दूसरे इसलिए कि प्रचलित विक्रमराज माननेसे इस पट्टावलीमें दिये माघनन्दि आचार्यके समय तथा कुन्दकुन्दका समय इतना पहले चला जाता है कि माघनन्दि, पुष्पदन्त व भूतबलिके साथ उसका मेल नहीं बैठता। यह बात प्रसिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द अवश्य ही आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलिके निकट उत्तरवर्ती या समकालीन होने चाहिए, अन्यथा उन्हें उनके द्वारा रचित षट्खण्डागमकी प्राप्ति होना असम्भव था, जिसके आद्य तीन खण्डोंपर उन्होंने परिकर्म नामकी टीका लिखी है। २. यह बात स्वीकार कर लेनेपर पट्टावलीके काल शालिवाहन विक्रम संवत् जिसका अपरनाम शकसंवत् है, की अपेक्षा समझना चाहिए, प्रचलित विक्रम संवत्को अपेक्षा नहीं, क्योंकि प्रचलित विक्रम संवत् विक्रमादित्यसे प्रारम्भ हुआ था, उसके राज्याभिषेकसे नहीं। विक्रम राज्यवाले संवत्को शकसंवत् समझना अयुक्त भी नहीं है, क्योंकि दक्षिण देशोंमें उसका विक्रम संवत्के नामसे तथा प्रधानतासे प्रयोग किया जाना प्रसिद्ध है। (दे० पहले—संवत्सर) अतः यहाँ दी गयी गुर्वावलीमें वे काल शकसंवत्के रूपमें ग्रहण किये गये हैं, प्रचलित विक्रमके रूपमें नहीं।

नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावली

(स. सि./प्र. ७८/पं. फूलचन्द)

क्रम	नाम	शक सं.	ई. सं.	विशेष
१	भद्रबाहु	४-२६	८२-१०४	ये दोनों संघके आचार्यों-की गणनामें नहीं हैं।
२	गुप्तिगुप्त	२६-३६	१०४-११४	
३	माघनन्दि १	३६-४०	११४-११८	
४	जिनचन्द्र	४०-४९	११८-१२७	
५	पद्मनन्दि १ (कुन्दकुन्द)	४९-१०१	१२७-१७९	आपके पाँच नाम थे तहाँ पद्मनन्दि व कुन्दकुन्द भी हैं।
६	उमास्वामी	१०१-१४२	१७९-२२०	
७	लोहाचार्य ३	१४२-१५३	२२०-२३१	
८	यशकीर्ति १	१५३-२११	२३१-२८९	
९	यशोनन्दि १	२११-२५८	२८९-३३६	
१०	देवनन्दि	२५८-३०८	३३६-३८६	
११	जयनन्दि	३०८-३५८	३८६-४३६	
१२	गुणनन्दि	३५८-३६४	४३६-४४२	
१३	वज्रनन्दि नं. १	३६४-३८६	४४२-४६४	
१४	कुमारनन्दि	३८६-४२७	४६४-५०५	
१५	लोकचन्द्र	४२७-४५३	५०५-५३१	
१६	प्रभाचन्द्र नं. १	४५३-४७८	५३१-५५६	
१७	नेमीचन्द्र नं. १	४७८-४८७	५५६-५६५	
१८	भानुनन्दि	४८७-५०८	५६५-५८६	

क्रम	नाम	शक सं०	ई० सं०	विशेष
१९	सिंहनन्दि १	५०८–५२५	५८६–६०३	
२०	वसुनन्दि १	५२५–५३१	६०३–६०९	
२१	वीरनन्दि १	५३१–५६१	६०९–६३९	
२२	रत्ननन्दि	५६१–५८५	६३९–६६३	
२३	माणिक्यनन्दि १	५८५–६०१	६३६–६७९	
२४	मेघचन्द्र नं. १	६०१–६२७	६७९–७०५	
२५	शान्तिकीर्ति	६२७–६४२	७०५–७२०	
२६	मेरुकीर्ति	६४२–६८०	७२०–७५८	

नोट—उपरोक्त आचार्योंके कुछ काल पश्चात्—

प्रभाचन्द्र नं. ७
वि. १३६२–१४३० (ई. १३०५–१३७३)
|
पद्मनन्दि नं. १०
शाखा नं. १ वि. १३८५–१४५५ (ई. १३२८–१३९८) शाखा न. २

- सकलकीर्ति — वि. १५१० (ई. १४५३) या वि. १४९०–१५०९ (ई. १४३३–१४४२)
  - भुवनकीर्ति — वि. १५३५ (ई. १४७८) या वि. १५०८–१५२७ (ई. १४५१–१४७०)
    - ज्ञानभूषण — वि. १५६० (ई. १५०३) या वि. १५०४–१५२२ (ई. १४४७–१४६५)
      - विजयकीर्ति — वि. १५८५ (ई. १५२८) या वि. १५५७–१५६८ (ई. १५००–१५११)
        - शुभचन्द्र — वि. १६१० (ई. १५५३) या वि. १५७३–१६१३ (ई. १५१६–१५५६)
          - लक्ष्मीचन्द — वि. १५९८–१६३८ ई. १५४१–१५८१
- देवेन्द्रकीर्ति — वि. १४४७–१५०७ (ई. १३९०–१४५०)
  - विद्यानन्दि — वि. १५०५–१५५५ (ई. १४४८–१४९८)
    - श्रुतसागर — {वि. १५३०–१५९० ई. १४७३–१५३३}
      - श्रीचन्द — {वि. १५५५–१६१५ ई. १४९८–१५५८}
    - मल्लिभूषण — {वि. १५३०–१५९० ई. १४७३–१५३३}
      - लक्ष्मीचन्द — (वि. १५७५) ई. १५१८
        - वीरचन्द्र — {वि. १५८५ ई. १५२८}
        - ज्ञानसागर — वि. १६०० ई. १५४३
          - प्रभाचन्द्र नं. ८ — वि १६०० ई. १५४३
            - सुमतिकीर्ति — {वि. १६२०–१६२५ ई. १५६३–१५६८}
          - ज्ञानभूषण — {वि. १६०० ई. १५४३}
      - ब्र. नेमिदत्त — {वि. १५७५ ई. १५१८}

शाखा नं. तत्त्वज्ञान तरंगिनी प्रशस्ति/१८/२;
का. अ./प्र./७९ A.N. up
पं. वि./प्र./२८ A.N up
तत्त्वज्ञानतरंगिनी/प्र./२ पं. गजाधरमल।
शाखा नं. २. जिनसहस्रनाम टीकाकी प्रशस्ति; यशस्तिलक चन्द्रिका टीकाके तीसरे आश्वासकी प्रशस्ति. षट् प्राभृत/प्र./६ प्रेमी जी; तत्त्वार्थ वृत्ति/प्र./९८/पं. महेन्द्र।

नोट—उपरोक्त गुर्वावलीमें ज्ञानभूषण, श्रुतसागर और सुमतिकीर्ति इन तीनों आचार्योंका काल निर्णय विद्वानों-द्वारा किया जा चुका है। शेष आचार्योंका काल अनुमानसे भरा हुआ है जो लगभग ठीक है। फिर भी यदि कोई गलती हो तो विद्वद्जन सुधार लें।

१४. नन्दि संघ (देशीय गण)

इसी नन्दिसंघमें दूसरा देशीय गण है, जिसका कथन पहले मूल संघ विभाजनमें किया जा चुका है। उसीकी गुर्वावली यहाँ दी जाती है।

शाखा नं. १—ष. खं. (ध.२/प्र.४/H.L. Jain), (पं. वि./प्र.२८/- H. L. Jain)

शाखा नं. २—ष.खं. (ध.२/प्र.११/H.L. Jain द्वारा उद्धृत श्रवण-बेलगोलाका शिलालेख नं. ६४)

अकलंक भट्ट (दे०—पहले मूलसंघ विभाजन)

शाखा नं. २

	वि. सं.	ई. सं
१ गुणनन्दि	९००–९३०	८४३–८७३
२ देवेन्द्र	९१५–९५५	८५८–८९८
३ वसुनन्दि	९५०–९८०	८९३–९२३
४ सर्वचन्द्र	९७२–१००५	९२८–९४८
५ दामनन्दि	१०००–१०३०	९४३–९७३
६ वीरनन्दि	१०२५–१०५५	९६८–९९८
७ श्रीधर	१०५०–१०८०	९९३–१०२३
८ मल्लधारी देव	१०७५–११०५	१०१८–१०४८
९ चन्द्रकीर्ति	११००–११३०	१०४३–१०७३
१० दिवाकरनन्दि	११२५–११५५	१०६८–१०९८
११ शुभचन्द्र	११५०–११८०	१०९३–११२३
१२ सिद्धान्तिकदेव	१०७२–११०२	१०१५–१०४५

शाखा नं. १

गोलाचार्य
अकलंकदेवके परम्परागत शिष्योंमें-से थे साक्षात् शिष्योंमें-से नहीं
वि. ९३२–१०३०
ई. ८७५–९७३
|
त्रैकालयोगी
वि. ९५७–१०३०
ई. ९००–९९८

- आविद्धकरण पद्मनन्दि कौमारदेव सिद्धान्तिक — वि. ९८२-१०८० ई. ९२५–१०२३
  - कुलभूषण — वि. १०७५–११५५ ई. १०१५–१०७८
    - कुलचन्द्र — वि. ११००–११५५; ई. १०४३–११०३
      - माघनन्दि मुनि (कोल्लापुरिय) — श. १०३०–१०५८; वि. ११६५–११९३ ई. ११०८–११३६
        - गण्डमुक्त देव
          - भानुकीर्ति — वि. १२१५–१२४५ ई. ११५८–११८२
          - देवकीर्ति
          - गण्डविमुक्त वादिचतुर्मुख
            - अनेक श्रावक शिष्य — वि. १२१५–१२३९ ई. ११५८–११८२
              - ← १ दण्डनायकमिरियाने, २ मरतिमय्य, १ बुचिमय्यंगुल
              - → १ लक्खनन्दि, २ माधवचन्द्र, ३ त्रिभुवन-मल, ४ हल्लराज
          - शुभचन्द्र
          - अकलंक (त्रैविद्यदेव)
          - रामचन्द्र (त्रैविद्य-देव)
          - अनेकश्रावक
        - श्रुतकीर्ति (त्रैविद्यमुनि)
        - कनकनन्दि
        - देवचन्द्र मन्त्रवादी
        - माघनन्दि त्रैविद्यदेव
        - देवकीर्ति पण्डितदेव (वि. ११९०–१२२०), ई. ११३३–११६३; श. १०५५–१०८८
- माणिक्यनन्दि नं० २ (परीक्षा-मुखके कर्ता) — वि. ९८२–१०८० ई. ९२५–१०२३
  - प्रभाचन्द्र — वि. ९८२–१०८० ई. ९२५–१०२३

नोट—केवल 'शुभचन्द्र', प्रभाचन्द्र (कोल्लापुरीय) के काल निर्धारित हैं शेषके कालका २५ वर्षके अन्तरका अनुमान किया गया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

१५. नन्दितटसंघ

काष्ठा संघकी एक शाखा थी। काष्ठा संघकी उत्पत्ति क्योंकि बागड़ प्रान्तके नन्दि ग्राममें हुई थी, इसलिए उसकी इस प्रथम शाखा का नाम ही नन्दितट गच्छ रहा होगा। (विशेष दे०—'काष्ठासंघ)।

१६. निष्पिच्छसंघ

माथुर संघके साधु क्योंकि अपने पास पीच्छी नहीं रखते थे, इसीलिए उसीका दूसरा नाम निष्पिच्छ संघ है। (विशेष दे०—माथुर संघ)।

१७. पंचस्तूपसंघ

यह संघ हमारे प्रसिद्ध धवलाकार श्री वीरसेन स्वामीका था। इसकी यथालब्ध गुर्वावली निम्न प्रकार है—
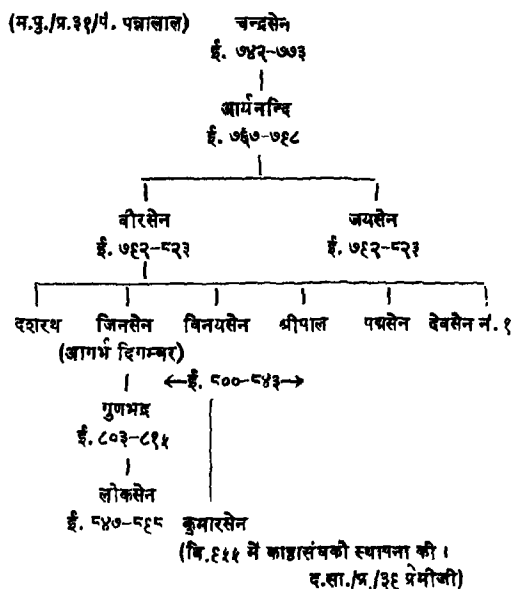
नोट—उपरोक्त आचार्योंमें केवल वीरसेन, गुणभद्र और कुमारसेनके काल निर्धारित हैं। शेषके समयोंका उनके आधारपर अनुमान किया गया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

१८. पुन्नाटसंघ

ह.पु.६६/२५-३२ के अनुसार यह संघ साक्षात अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि गुर्वावलीमें इसका सम्बन्ध लोहाचार्य व अर्हद्बलिसे मिलाया गया है। लोहाचार्य व अर्हद्बलिके समयका निर्णय श्रुतावतारमें हो चुका है। उनके आधार पर इनके निकटवर्ती ६ आचार्योंके समयका अनुमान किया गया है। इसी प्रकार अन्तमें जयसेन व जयसेनाचार्यका समय निर्धारित है, उनके आधार पर उनके निकटवर्ती ४ आचार्योंके समयोंका भी अनुमान किया गया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

(ह.पु./६०/२५-६२), (म.पु./प्र.४८/पं. पन्नालाल)

नं०	नाम	वी. नि.	नं०	नाम	वि. सं०	ई० सं०
१	लोहाचार्य	५१५-५६५	२०	सुधर्मसेन		
२	विनयंधर	५३०	२१	सिंहसेन		
३	गुप्तिश्रुति	५४०	२२	सुनन्दिसेन		
४	गुप्तऋद्धि	५५०	२३	ईश्वरसेन		
५	शिवगुप्त	५६०	२४	सुनन्दिषेण		
६	अर्हद्बलि	५६५-५९३	२५	अभयसेन		
	दे० श्रुतावतार		२६	सिद्धसेन		
७	मन्दरार्य	५८०	२७	अभयसेन		
८	मित्रवीर	५९०	२८	भीमसेन		
९	बलदेव		२९	जिनसेन		
१०	मित्रक	इनके समय भी अनुमानसे लगा लिये हैं	३०	शान्तिसेन नं. १	७६०-८१०	७०३-७५३
११	सिंहबल		३१	जयसेन बि. ७६०	७८०-८३०	७२३-७७३
१२	वीरवित					
१३	पद्मसेन		३२	अमितसेन	८००-८५०	७४३-७९३
१४	व्याघ्रहस्त		३३	कीर्तिषेण	८२०-८७०	७६१-८१३
१५	नागहस्ती		३४	जिनसेन श. सं० ७०५ में हरिवंश पुराणकी रचना ह.पु./६६/५२	८३५-८८५	७७८-८२८
१६	जितदण्ड					
१७	नन्दिषेण					
१८	दीपसेन					
१९	धरसेन	श्रुतावतारसे भिन्न				

१९. बागड़गच्छसंघ

बागड़ देशमें प्रचार होनेके कारण काष्ठा संघकी उस देशस्थ शाखाका नाम बागड़ गच्छ पड़ गया था। विशेष—दे० 'काष्ठासंघ'।

२०. भद्रसंघ

आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है।

२१. भिल्लकसंघ

द.सा./मू./४५-४६ दक्खिणदेसे विंझे पुक्कलए वीरचंदमुणिणाहो। अट्ठारसएतीदे भिल्लयसंघं परूवेदि ।४५। सोणियगच्छं किच्चा पडिकमणं तह य भिण्णकिरियाओ। वण्णाचारविवाई जिणमग्गं सुट्ठु णिहणेदि ।४६। =दक्षिण देशमें विन्ध्यपर्वतके समीप पुष्कर नामके ग्राममें वीरचन्द्र नामका मुनिपति विक्रम राजाकी मृत्युके १८०० वर्ष बीतने के पश्चात् भिल्लक संघको चलायेगा। वह अपना एक अलग गच्छ बना कर जुदा ही प्रतिक्रमण विधि बनायेगा। भिन्न क्रियाओंका उपदेश देगा और वर्णाचारका विवाद खड़ा करेगा। इस तरह वह सच्चे जैन धर्मका नाश करेगा। (उपरोक्त गाथाओंमें ग्रन्थकर्ताने भविष्यवाणी की जो ठीक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वि. सं. १८०० को हुए अब २०० वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु इस नामके कोई संघकी उत्पत्ति हुई सुननेमें नहीं आयी है। अतः भिल्लक नामका कोई भी संघ आज तक नहीं हुआ है। द.सा./प्र.४५/प्रेमीजी)

२२. माघनन्दिसंघ

इस संघका नाम मूल संघोंमें नहीं है, और न ही यह किसी संघका नाम है। परन्तु शास्त्रोंमें क्योंकि इस नामकी एक गुर्वावली

दी है अत: यहाँ उनके व्यक्तिगत नामसे ही संघका नाम कल्पित कर लिया है। इन आचार्योंमें श्रीनन्दि और वसुनन्दि, इन तीनका समय तो निर्धारित है, शेषके समयका उनके आधार पर अनुमान किया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

(पं.सं./प्रा.प्र.३६/A.N.up); (ज.प /प्र.१३/A.N,up) (पं.वि./प्र.२७/A.N.up.); (वसु.श्रा./प्र.१८/पं. गजाधरलाल)
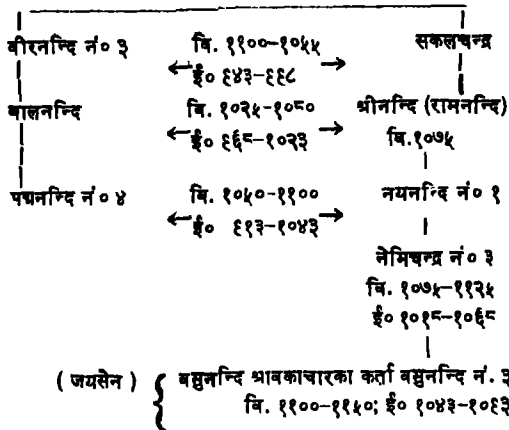
२१. माथुरसंघ

द.पा./मू./४०,४२ तत्तो दुसएतीदे म राए माहुराण गुरुणाहो। णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ।४०। सम्मतपयडिमिच्छंतं कहियं जं जिणिदबिंबेसु। अप्पपरणिट्ठिएसु य ममत्तबुद्धीए परिवसणं ।४१। एसो मम होउ गुरू अवरो णत्थि त्ति चित्तपरियरणं। सगगुरुकुलाहिमाणो इयरेसु वि भंगकरणं च ।४२। =इस (काष्ठा संघ) के २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि. ९५३ में मथुरा नगरीमें माथुरसंघका प्रधान गुरु रामसेन हुआ। उसने निःपिच्छक रहनेका उपदेश दिया, उसने पीछीका सर्वथा निषेध कर दिया ।४०। उसने अपने और पराये प्रतिष्ठित किये हुए जिनबिम्बोंकी ममत्व बुद्धि द्वारा न्यूनाधिक भावसे पूजा वन्दना करने; मेरा यह गुरु है दूसरा नहीं है; इस प्रकारके भाव रखने, अपने गुरुकुल (संघ) का अभिमान करने और दूसरे गुरुकुलोंका मान भंग करने रूप सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्वका उपदेश दिया।

द. पा./टी./११/११/१८ निष्पिच्छिका मयूरपिच्छादिकं न मन्यन्ते। उक्तं च ढाढसीगाथासु—पिच्छे ण हु सम्मत्तं करगहिए मोरचमरडंबरए। अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्वो ।१। सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य। समभावभावियप्पा लहेय मोक्खं ण संदेहो ।२। =निष्पिच्छिक मयूर आदिकी पिच्छीको नहीं मानते। ढाढसी गाथामें कहा भी है—मोर पंख या चमरगायके बालोंकी पीछी हाथमें लेनेसे सम्यक्त्व नहीं है। आत्माको आत्मा ही तारता है, इसलिए आत्मा ध्याने योग्य है ।१। श्वेत वस्त्र पहने हो या दिगम्बर हो, बुद्ध हो या कोई अन्य हो, समभावसे भायी गयी आत्मा ही मोक्ष प्राप्त करती है, इसमें सन्देह नहीं है ।२।

द. सा./प्र./४४ प्रेमी जी "माथुरसंघे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृताः। आचार्योऽपि संघा वन्दमाना धर्मलाभं भणंति। स्त्रीणां मुक्तिं, केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्यते…सर्वेषां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तराया मलाश्च चतुर्दश वर्जनीयाः।" =माथुर संघके साधु पीछीको बिलकुल भी नहीं रखते हैं। पहले तीन (काष्ठा, माथुर व मूल) संघ वन्दना करनेवालेको 'धर्मवृद्धि' कहते हैं। स्त्रीमुक्ति, केवली भुक्ति, व्रतधारी मुनिको भी सवस्त्र मुक्ति नहीं मानते हैं। सर्व ही दिगम्बर संघके साधु भिक्षाटनमें और भोजनमें ३२ अन्तराय और १४ मलोंको टालते हैं। १. काष्ठा संघके चार गच्छोंमें एक माथुर गच्छका भी नाम है। वह माथुर गच्छ यही माथुर संघ है, जो काष्ठा संघके आचार्य रामसेन द्वारा कुमारसेन आचार्यके २०० वर्ष पश्चात् चलाया गया बताया है। मथुरा नगरीमें उदय होनेके कारण इसका नाम माथुर गच्छ या माथुर संघ पड़ा, तथा पीछी न रखनेके कारण निष्पिच्छिक संघ कहलाया। २. काष्ठा संघकी गुर्वावलीमें कुमारसेनके २०० वर्ष पश्चात् कोई भी रामसेन नामके आचार्य प्राप्त नहीं होते। सम्भवतः कोई हुए हों। परन्तु इस प्रकार इस संघका काल वि. ११५५ आना चाहिए, क्योंकि कुमारसेनका काल वि. ९५५ निर्धारित किया जा चुका है। और यह समय होना असम्भव है, क्योंकि दर्शनसार ग्रन्थ स्वयं वि. ९९० का लिखा हुआ है। प्रेमीजोने सुभाषित रत्न सन्दोहके कर्ता अमितगति आचार्यको माथुर संघका निर्धारित करके इस संघका काल वि. श. ९ होना अनुमान किया है। (द. सा./प्र./४५ प्रेमीजी) **सारांश**—प्रवर्तक—आचार्य रामसेन; स्थान=मथुरा; समय=वि. श. ९; अपरनाम=निष्पिच्छिक; मान्यता=१ पीछी रखनेका सर्वथा निषेध; २. अपने द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाकी दूसरेके द्वारा प्रतिष्ठितकी अपेक्षा अधिक मान्यता करना; ३. अपने गुरुकी विनय और संघके गुरुका मान भंग; शेष सर्व मान्यताएँ मूलसंघवत्।

इस संघकी जो एक छोटी-सी गुर्वावली प्राप्त है, उसे ही यहाँ देता हूँ। इसके आचार्योंमें-से केवल अमितगति द्वि०का काल निर्धारित है। शेषके समयोंका उसीके आधारपर अनुमान किया गया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

सुभाषित रत्नसंदोह व अमितगति श्रावकाचारकी अन्तिम प्रशस्ति; (द. सा./प्र. ४०/प्रेमी जी)

नं.	नाम	वि. सं.	ई. सं.	विशेष
१	रामसेन	८६०-९१०	८०३-८५३	माथुर संघ प्रवर्तक प्रेमी जीके अनुसार ३ पीढ़ी पहले
२	वीरसेन	९२५-९७५	८६८-९१८	
३	देवसेन	९५०-१०००	८९३-९४३	
४	अमितगति प्र.	९७५-१०२५	९१८-९६८	
५	नेमिषेण	१०००-१०५०	९४३-९९३	
६	माधवसेन	१०२५-१०७५	९६८-१०१८	
७	अमितगति द्वि.	१०५०-१०७८	९९३-१०२१	वि. १०५० में सुभाषित रत्न संदोह

२४. यापनीयसंघ

द. सा./मू./२९ कल्लाणे वरणयरे सत्तसए पंच उत्तरे जादे। जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ।२९। =कल्याणनामा नगरमें विक्रमकी मृत्युके ७०५ वर्ष बीतनेपर (दूसरी प्रतिके अनुसार २०५ वर्ष बीतनेपर), श्री कलशनामा श्वेताम्बर साधुसे यापनीय संघका सद्भाव हुआ ।२९।

द. पा./टी./११/११/१५ यापनीयास्तु वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां

कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति। –यापनीय संघ (दिगम्बर व श्वेताम्बर) दोनोंको मानते हैं। रत्नत्रयको पूजते हैं; कल्पसूत्रको बाँचते हैं; स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष; केवलियोंको कवलाहार, दूसरे मतवालों और परिग्रह धारियोंको भी मोक्ष बताते हैं। (श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शन समुच्चयकी टीकामें आचार्य गुणरत्नके अनुसार)

द. सा./प्र. ४४/प्रेमी जी "दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा– काष्ठासंघ-मूलसंघ-माथुरसंघ-गोप्यसंघभेदात्।...... गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति। स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते। सर्वेषां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तरायामलाश्च चतुर्दश वर्जनीयाः। शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम्। नास्ति तेषां मिथः शास्त्रेषु तर्केषु परं भेदः।" = दिगम्बर नग्न रहते हैं। वे चार प्रकारके हैं— काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुरसंघ, गोप्यसंघ। गोप्यसंघवाले साधु वन्दना करनेवालेको 'धर्मलाभ' कहते हैं। स्त्री मुक्ति व केवली भुक्ति भी मानते हैं। गोप्यसंघको यापनीय भी कहते हैं। सभी (अर्थात् यापनीय संघ भी) भिक्षाटनमें और भोजनमें ३२ अन्तराय और १४ मलोंको टालते हैं। इसके सिवाय शेष आचारमें (महाव्रतादिमें) तथा देव गुरुके विषयमें (मूर्तिपूजादिके विषयमें, सब (यापनीय भी) श्वेताम्बरके तुल्य हैं। उनके शास्त्रोंमें और तर्कोंमें कोई भेद नहीं है।

भद्रबाहु चारित्र/४/१५४ "ततो यापनसंघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम्"। –उन श्वेताम्बरियोंमें-से हां कापथवर्ती यापनीय संघ उत्पन्न हुआ।

उपरोक्त सर्व कथनसे यह जाना जा सकता है, कि यह संघ दिगम्बर व श्वेताम्बरका मिश्रण है। और इसीलिए इसे जैनाभास कहना युक्त है। वास्तवमें श्वेताम्बर मतमें-से उत्पन्न हुआ था। इसके समयके सम्बन्धमें कुछ विवाद है, क्योंकि दर्शनसार ग्रन्थकी दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एकमें वि. ७०५ लिखा है और दूसरेमें २०५। प्रेमी जीके अनुसार वि. २०५ ही युक्त है, क्योंकि आचार्य शाकटायन व पाल्यकीर्ति ये दोनों इसी संघके आचार्य हुए हैं, जिन्होंने 'स्त्री-मुक्ति व केवलिमुक्ति' नामक एक ग्रन्थ भी बनाया था, और उनका समय वि. ७०५ से बहुत पहले है। सारांश – प्रवर्तक – श्री कलश; स्थान – कल्याण नगर; समय – वि. सं. २०५; मान्यता – दिगम्बर व श्वेताम्बरका मिश्रण; नग्न रहना; वन्द्यमानको धर्मलाभ कहना; भोजनमें ३२ अन्तराय व १४ मलोंको टालना, रत्नत्रयको पूजना, श्वेताम्बर शास्त्रोंको बांचना, मूर्तिपूजा, स्त्री मुक्ति, केवली भुक्ति, सर्व मतोंमें तथा सग्रन्थको भी मुक्ति मानना। इस संघकी कोई गुर्वावली प्राप्त नहीं।

२५. लाड़बागड़संघ

यह काष्ठा संघका ही गच्छ था (दे० काष्ठा संघ) इसकी यथालब्ध गुर्वावली नीचे दी जाती है। इसमें केवल आचार्य नरेन्द्रसेनका काल निर्धारित है। अन्यका काल उसीके आधारपर निर्धारित किया गया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

प्रमाण. (आचार्य जयसेनकृत धर्म रत्नाकर रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी अन्तिम प्रशस्ति); (सिद्धान्तसारसंग्रह/१२/८८-९५ प्रशस्ति). सिद्धान्तसारसंग्रह/प्र. ८/A. N. up)

	वि.सं.	ई. सं.
१. धर्मसेन	९५५	८९८
२. शान्तिसेन	९८०	९२३
३. गोपसेन	१००५	९४८
४. भावसेन	१०३०	९७३
५. जयसेन प्र०	१०५५	९९८
६. ब्रह्मसेन	१०८०	१०१३
७. वीरसेन	११०५	१०४८
८. गुणसेन प्र०	११३०	१०७३
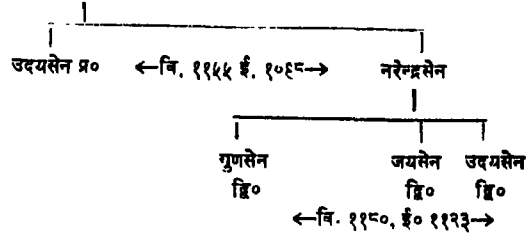
२६. वीरसंघ

आचार्य अर्हद्बलि-द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है।

२७. सिंहसंघ

आचार्य अर्हद्बलि-द्वारा स्थापित वि. नि. ५९३ में इसका नाम है, पर अब इसका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं।

२८. सेनसंघ

आचार्य अर्हद्बलि-द्वारा वी. नि. ५९३ में स्थापित संघोंमें इसका नाम है। इस संघकी यथालब्ध छोटी-सी गुर्वावली नीचे दी जाती है। इसमें केवल रविषेणाचार्यका काल निर्धारित है शेषके कालों-का इसीके आधारपर अनुमान किया गया है। गलती हो तो विद्वज्जन सुधार लें।

प.पु./१२३/१६७प्रशस्ति; प. पु./प्र. ११/पं. पन्नालाल

नं०	नाम	वि० सं०	ई० सं०
१	इन्द्रसेन	६४४ अथवा ६२०-६६०	५६३-६०३
२	दिवाकर सेन	६६६ अथवा ६४०-६८०	५८३-६२३
३	अर्हत्सेन	६९४ अथवा ६६०-७००	६०३-६४३
४	लक्ष्मणसेन	७१६ अथवा ६८०-७२०	६२३-६६२
५	रविषेण	७३४ अथवा ७००-७४०	६४३-६८३

६. आगम परम्परा

१. समयानुक्रमसे आगमकी सूची

नोट—प्रमाणके लिए दे० उस–उसके कर्ता आचार्यका नाम।

संकेत—१. सं० – संस्कृत; २. प्रा० – प्राकृत; ३. अप० – अपभ्रंश; ४. टी० – टीका; ५. वृ० – वृत्ति; ६. व – वचनिका; ७. प्र० – प्रथम; ८. सि० – सिद्धान्त; ९. श्वे० – श्वेताम्बराचार्य; १०. क – कन्नड़; ११. भ० – भट्टारक; १२. भा० – भाषा।

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
१. ईसवी शताब्दी १					
१	ई० श० १	शिव कोटि	भगवती आराधना	यत्याचार	प्रा०
२	५७-१५६	गुणधर	कषाय पाहुड	मूल १८० गाथा	,,
३	६६-१५६	भूतबलि	षट्खण्डागम	मूलसूत्र	,,
२. ईसवी शताब्दी २					
४	१२७-१७९	कुन्दकुन्द	परिकर्म	षट्खण्डागमके प्रथम ३ खण्डोंकी टीका	प्रा०
५			समयसार	अध्यात्म	,,
६			प्रवचनसार	,,	,,
७			नियमसार	,,	,,
८			अष्ट पाहुड	,,	,,
९			पंचास्तिकाय	तत्त्वार्थ	,,
१०			रयणसार	वैराग्य	,,
११			बारस अणुवेक्खा	,,	,,
१२		(वट्टकेर)	मूलाचार	यत्याचार	,,
१३			दश भक्ति	पूजा पाठ	,,
१४		(एलाचार्य)	कुरल काव्य	अध्यात्म नीति	,,
			और भी ७२ पाहुड़		,,
१५	१७९-२२०	उमास्वामी	तत्त्वार्थसूत्र	तत्त्वार्थ	सं०
१६			सभाष्य तत्त्वार्थाधि०	,,	,,
१७			जम्बूद्वीप समास	लोक	,,
१८	ई० श० २	समन्तभद्र	षट्खण्ड टीका	प्र० ५ खण्डों पर	,,
१९			कर्म प्राभृत टीका	कर्म सिद्धान्त	,,
२०			गन्ध हस्ती महाभाष्य	तत्त्वार्थ सूत्र पर विस्तृत टीका	,,
२१			आप्त मीमांसा (देवागम स्तोत्र)	तत्त्वार्थ सूत्रके मंगलाचरणका विस्तार	,,
२२			युक्त्यनुशासन	युक्ति पूर्वक जिन शासन स्थापना	,,
२३			जीव सिद्धि	न्याय	सं०
२४			तत्त्वानुशासन	,,	,,
२५			स्वयम्भू स्तोत्र	न्याय व भक्ति	,,
२६			जिनस्तुति शतक	,,	,,
२७			रत्नकरण्ड श्रावकाचार	उपासकाध्ययन	,,
३. ईसवी शताब्दी ३					
२८	ई० श० ३	शाम कुण्ड	षट्खण्ड टीका	प्र० ५ खण्डोंपर	
४. ईसवी शताब्दी ४					
२९	३५७	मल्लवादी नं० १	नय चक्र नं० १	न्याय	सं०
५. ईसवी शताब्दी ५					
३०	ई० श० ५	पूज्यपाद	जैनेन्द्र व्याकरण	व्याकरण	सं०
३१			मुग्धबोध ,,	,,	,,
३२			शब्दावतार	,,	,,
३३			छन्दशास्त्र	,,	,,
३४			वैद्यसार	आयुर्वेद	,,
३५			सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थ	,,
३६			इष्टोपदेश	वैराग्य	,,
३७			समाधितन्त्र	,,	,,
३८			सारसंग्रह		
३९			जैनाभिषेक	पूजा पाठ	सं०
४०			सिद्धभक्ति	,,	,,
४१			शान्त्यष्टक	,,	,,
४२	४५८	सर्वनन्दि	लोक विभाग	लोक	प्रा०
४३	४८०-५२८	हरिभद्र सूरि (श्वेताम्बराचार्य)	षड्दर्शन समुच्चय	दर्शन शास्त्र	सं०
४४			जम्बूद्वीप संग्रायणी	लोक	
४५			लीला विस्तार टी.		
४६	ई० श० ५-८	?	पंचसंग्रह	जीव व कर्म सि०	प्रा०
६. ईसवी शताब्दी ६					
४७	ई० श० ६	योगेन्दु देव	परमात्मप्रकाश	अध्यात्म	अप०
४८			योग सार	,,	,,
४९			दोहा पाहुड	,,	,,
५०			अध्यात्म सन्दोह	,,	,,
५१			सुभाषित रत्न-सन्दोह	,,	,,
५२			तत्त्वप्रकाशिका	तत्त्वार्थ सूत्र टीका	,,
५३			अमृताशीति	अध्यात्म	,,
५४			निजाष्टक	,,	प्रा०
५५			नौकार श्रावकाचार	उपासकाध्ययन	,,
५६	ई० श० ६ का अन्त	बप्पदेव	व्याख्या प्रज्ञप्ति	षट्खण्डागमके प्रथम ५ खण्डोंपर टीका	
५७			कषाय पाहुड़ टी०		
५८	५४०-६०९	यतिवृषभ	कषाय पाहुड़	गुणधर कृत मूल गाथाओंपर चूर्ण सूत्र	प्रा०
५९			तिल्लोय पण्णत्ति		
६०	५५०	सिद्धसेन दिवाकर (श्वेता०)	सम्मति सूत्र	तत्त्वार्थ	सं०
६१			द्वात्रिंशतिका		,,
६२			एकविंशति-गुणस्थान प्रकरण	जीव व कर्म सि०	,,
६३			शाश्वत जिन-स्तुति	पूजा पाठ	,,

क्रम	समय ई०–सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
६४			कल्याण मन्दिर स्तोत्र	पूजा पाठ	सं.
६५	६००	कीर्तिधर	रामकथा	इसीके आधारपर रविषेणाचार्यने पद्मपुराण व स्वयंभू कविने पउम चरिउ रचा	
६६	ई० श० ६-७	पात्रकेसरी नं० १	त्रिलक्षणकदर्थन	न्याय	सं०
६७			जिनेन्द्र स्तुति (पात्रकेसरीस्तोत्र)	पूजा पाठ	,,
७. ईसवी शताब्दी ७					
६८	ई० श० ६-११	अपराजित	विजयोदया टी०	भगवती आराधना की टीका	सं०
६९	६०९	जिनभद्र गणी श्वे० क्षमाश्रमण	विशेषावश्यक-भाष्य	तत्त्वार्थ	सं०
७०			बृहत्क्षेत्र समास		
७१			बृहत्संग्रहिणी सूत्र (संघायणी)		अप.
७२	६४०-६८०	अकलंक भट्ट नं० १	राजवार्तिक-सविवृति	तत्त्वार्थसूत्र टीका	सं०
७३			अष्ट शती	आप्तमीमांसा टी०	,,
७४			लघीयस्त्रय-सविवृति	न्याय	सं०
७५			न्यायविनिश्चय सविवृति	,,	,,
७६			सिद्धिविनिश्चय	,,	,,
७७			प्रमाण संग्रह	,,	,,
७८			न्याय चूलिका	,,	,,
७९			स्वरूप सम्बोधन	अध्यात्म	,,
८०			बृहत्त्रयम्		,,
८१			अकलंक स्तोत्र	पूजा पाठ	,,
८२	६४३-६८३	रविषेण	पद्मपुराण	जैन रामायण	,,
८३	६४४-७७८	विमल सूरि श्वेता०	पउमचरित	,,	अप.
८४	६७७-७८३	कवि स्वयंभू	पउम चरिउ	,,	अप.
८५			रिट्ठ नेमि चरिउ	नेमिनाथ पुराण	,,
८६			स्वयंभू छन्द		
८. ईसवी शताब्दी ८					
८७	७६३ से पहिले	प्रभाचन्द्र३	चन्द्रोदय		
८८	७७५-८४०	विद्यानन्द १ (पात्रकेसरी)	प्रमाणपरीक्षा	न्याय	सं.
८९			प्रमाणमीमांसा	,,	,,
९०			प्रमाणनिर्णय	,,	,,
९१			पत्रपरीक्षा	,,	,,
९२			आप्तपरीक्षा	,,	,,
९३			सत्यशासन	,,	,,
९४			जल्प निर्णय	,,	,,
९५			नय विवरण	,,	,,

क्रम	समय ई०–सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
९६			युक्त्यनुशासनालंकार	न्याय	सं.
९७			अष्टसहस्री	अकलंक कृत अष्टशती की टीका न्याय	,,
९८			श्लोकवार्तिक	तत्त्वार्थसूत्र टीका	,,
९९			विद्यानन्द-महोदय	न्याय	,,
१००			बुद्धेशभवन-व्याख्यान		,,
१०१			श्रीसुपार्श्वनाथ-स्तोत्र	पूजा-पाठ	,,
१०२	७७६	कुमारनन्दि	वादन्याय	न्याय	,,
१०३	७७८-८२८	जिनसेन २	हरिवंशपुराण	पुराण	,,
१०४	७७८	उद्योतन सूरि	कुवलयमाला		
१०५	७९२-८२३	वीरसेन १	धवला	षट् खण्डागम टी०	अप.
१०६			जयधवला	कषाय पाहुड़की अधूरी टीका	,,
१०७	८००-८४८	जिनसेन ३	जयधवला	वीरसेनाचार्यसे शेष बची टीका	अप.
१०८			महापुराण	ऋषभ व भरत चरित्र	सं.
१०९			वर्धमानपुराण	,,	,,
११०			पार्श्वाभ्युदय	प्रथमानुयोग	,,
९. ईसवी शताब्दी ९					
१११	८०३-८९५	गुणभद्र	आत्मानुशासन	अध्यात्म	सं.
११२			उत्तरपुराण	अजितसे महावीर तक २३ तीर्थंकरों का चरित्र	,,
११३			जिनदत्त चरित्र	प्रथमानुयोग	,,
११४	८१४-८७८	महावीराचा.	गणितसार संग्रह	गणित	,,
११५	८३१	हरिषेण	बृहत्कथाकोष	कथानुयोग	,,
११६	८७८-८९२	वादीभसिंह	स्याद्वादसिद्धि	न्याय	,,
११७			आप्तमीमांसा	,,	,,
११८	८९३-९४३	देवसेन २	दर्शनसार	मिथ्या मतों व जैनाभासों की उत्पत्ति	अप.
११९			भावसंग्रह	,,	,,
१२०			आराधनासार	चरणानुयोग	,,
१२१			तत्त्वसार	तत्त्वार्थ	,,
१२२			ज्ञानसार	,,	,,
१२३			नय चक्र	न्याय	,,
१२४			आलाप पद्धति	,,	सं.
१२५			धर्म संग्रह	सं. व प्रा०	दो०
१०. ईसवी शताब्दी १०					
१२६	ई. श. १०	अनन्तकी० १	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	न्याय	सं.
१२७			लघुसर्वज्ञसिद्धि	,,	,,
१२८	,,	अभयदेव श्वेताम्बर०	वादमहार्णव	,,	,,
			सम्मतिसूत्र टी०	तत्त्वार्थ	,,
१२९	९१८-९६८	अमितगति १	योगसार	अध्यात्म	,,

क्रम	समय ई. सं.	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
१३०	९२५–१०२३	माणिक्यनंदि	परीक्षामुख	न्याय	सं.
१३१	९२५–१०२३	प्रभाचन्द्र ४	प्रमेयकमल-मार्तण्ड	परीक्षामुख पर टी०	"
१३२			लघीयस्त्रयालंकार (न्याय कुमुद-चन्द्रिका)	अकलंक कृत लघीयस्त्रयकी टी० न्याय	"
१३३			शाकटायन न्यास	न्याय	"
१३४			सर्वार्थसिद्धि वृ०	पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धिकी टी०	"
१३५			गद्यकथा कोष	कथानुयोग	"
१३६	९४२	पद्मकीर्ति	पार्श्वपुराण	पुराण	अप.
१३७	९४३–९९८	वीरनन्दि ३	चन्द्रप्रभचरित	प्रथमानुयोग	"
१३८	९४३–९६८	सोमदेव	नीतिवाक्यामृत	राजनीति	सं.
१३९			यशस्तिलकचम्पू	काव्य (यशोधर चरित्र	"
१४०			स्याद्वादोपनिषद	न्याय	"
१४१			षण्णवति प्रकरण	शिथिलाचार पोषक होनेसे इसके शास्त्र-प्रमाण नहीं माने जाते	
१४२			त्रिवर्ग महेन्द्र-मातलि जल्प		"
१४३			युक्तिचिन्ता-मणिस्तव		"
१४४	९५०–९९०	रविभद्र	आराधनासार	चरणानुयोग	"
१४५	"	अनन्तवीर्य	सिद्धिविनिश्चय-वृत्ति	अकलंक कृत दोनों ग्रन्थोंकी टीका	"
१४६			प्रमाणसंग्रहा-लंकार	न्याय	"
१४७	९६२–१०५५	अमृतचन्द्र	आत्मख्याति	समयसार टीका	"
१४८			तत्त्वप्रदीपिका	प्रवचनसार ,,	"
१४९			,,	पंचास्तिकाय,,	"
१५०			परमाध्यात्म-तरंगिनी	समयसारके कलश	"
१५१			पुरुषार्थसिद्धि उपाय	वैराग्योपदेश (चरणानुयोग)	"
१५२			तत्त्वार्थसार	तत्त्वार्थ	,,
१५३	९८८	कविअसग	वर्द्धमानचारित्र	प्रथमानुयोग	भा०
१५४			शान्तिनाथपु०	,,	"
१५५	९९३–१०४३	नयनन्दि२	सकल विधि-विधान	पूजा-पाठ	अप.
१५६			सुदर्शनचरित्र	प्रथमानुयोग	"
१५७	९९३–१११८	शान्त्याचार्य	जैनतर्कवार्तिक	न्याय	सं.
१५८	९९३–१०४३	पद्मनन्दि४	जम्बूद्वीपपण्णत्ति	लोक	अप.
१५९			पंचसंग्रह वृ०	पंचसंग्रह टीका	सं०
१६०	९९३–१०२१	अमितगति	पंचसंग्रह	मूलके आधार पर	,,
१६१			जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	मूलकी टीका	,,
१६२			चन्द्रप्रज्ञप्ति	लोक	,,
१६३			सार्धद्वयप्रज्ञप्ति	,,	,,
१६४			व्याख्याप्रज्ञप्ति		
१६५			धर्मपरीक्षा	कथाके रूपमें पर समय निराकरण	,,
१६६			सुभाषितरत्न-सन्दोह	वैराग्योपदेश (चरणानुयोग)	,,

क्रम	समय ई०-सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
१६७			द्वात्रिंशतिका (सामायिक पाठ)	वैराग्य	सं.
१६८			भगवती आराधना अमितगति श्रा०	मूलके संस्कृत श्लोक छायारूप नहीं हैं। स्वतन्त्र हैं।	"
१६९	९९८	जयसेन ४	धर्मरत्नाकर	श्रावकाचार	"
१७०	१०००	लघुसमन्त-भद्र	तात्पर्य वृत्ति	विद्यानन्द १ कृत अष्टसहस्री टीका (न्याय)	"
१७१	१०००–१०४०	वादिराज २	न्यायविनिश्चय-वृत्ति	अकलंक कृत ग्रन्थकी टीका (न्याय)	"
१७२			एकीभावस्तोत्र	पूजा-पाठ	"
ख			पार्श्वनाथ च०	प्रथमानुयोग	"
ग			यशोधरचरित्र	,,	"
घ			काकुत्स्थचरित्र	,,	"
ङ	१०००	क्षेमन्धर	बृहत्कथामंजरी	,,	"

११. ईसवी शताब्दी ११

क्रम	समय ई०-सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
१७३	ई.श.१०–११	वीरनन्दि ३	चन्द्रप्रभचरित्र	कथानुयोग	
१७४			शिल्पिसंहिता		
१७५			आचारसार	चरणानुयोग	
१७६	ई. श. ११	नेमिचन्द्र २ (सिद्धान्त-चक्रवर्ती)	गोमट्टसार	जीव व कर्म सि०	
१७७			लब्धिसार	मोहकर्मका उपशम	
१७८			क्षपणसार	,, क्षय	
१७९			त्रिलोकसार	लोक व भूगोल	
१८०			द्रव्यसंग्रह	तत्त्वार्थ	
१८१	"	अभयनन्दि	गोमट्टसारवृत्ति	बिना संदृष्टिकी	
१८२			कर्मप्रकृतिरहस्य		
१८३			तत्त्वार्थवृत्ति	तत्त्वार्थसूत्रटीका	
१८४			पूजाकल्प	पूजा-पाठ	
१८५	"	इन्द्रनन्दि	नीतिसार	नीति	
१८६			समयभूषण		
१८७			इन्द्रनन्दि संहिता		
१८८			मुनिप्रायश्चित्त	यत्याचार	
१८९			प्रतिष्ठापाठ	पूजा-पाठ	
१९०			पूजाकल्प	,,	
१९१			शान्तिचक्रपूजा	,,	
१९२			अंकुरारोपण	,,	
१९३			प्रतिमासंस्कारा-रोपण पूजा	,,	
१९४					
१९५			मातृकायंत्र पूजा	पूजा-पाठ	
१९६			औषधिकल्प		
१९७			भूमिकल्प		
१९८	ई. श. ११	चामुण्डराय	वीरमार्तंडी	गोमट्टसारवृत्ति	
१९९			चारित्रसार	चरणानुयोग	
२००			त्रिषष्टिशलाका-पुरुष चरित्र	प्रथमानुयोग	

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
२०१	ई० श० ११	कनकनन्दि १	त्रिभंगी		सं.
२०२	,,	शक्तिकुमार	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	लोक	,,
२०३	,,	शिवकोटि२	रत्नमाला	तत्त्वार्थ सूत्र टीका	
२०४	१००८	कुमार-कार्तिकेय	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	वैराग्य	अप. सं०
२०५	१००३-११६८	शुभचन्द्र १	ज्ञानार्णव	अध्यात्म	,,
२०६	१०१५-११५०	वादीभसिंह नं० २	गद्यचिन्तामणि		,,
२०७			क्षत्रचूडामणि	यशोधर चारित्र	,,
२०८	१०१६-११३६	पद्मनन्दि ५	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	चरणानुयोग	अप.
२०९	१०१८-१०६८	नेमिचन्द्र २			,,
२१०			गोम्मटसार		सं०
२११	१०४३-१०५३	वसुनन्दि	आप्तमीमांसा वृ०	समन्तभद्र कृत ग्रन्थकी टीका	
२१२			वस्तुविद्या:		
२१३			मूलाचारवृत्ति	मूलाचार ग्रन्थकी टीका	
२१४			जिनशतक	पूजा-पाठ	
२१५			प्रतिष्ठापाठ	,,	
२१६			श्रावकाचार	वसुनन्दि श्रावकाचार	अप.
२१७	१०४७	मल्लिषेण १	महापुराण	प्रथमानुयोग	
२१८			नागकुमार महाकाव्य	प्रथमानुयोग काव्य	सं०
२१९			सज्जनचित्तवल्लभ	अध्यात्म	,,
२२०	१०२१-१०२५	मानतुंग	भक्तामर स्तोत्र	भक्ति	,,
२२१	१०६१-१०८१	सोमदेव २	बृहत्कथा-सरितसागर	प्रथमानुयोग	
२२२	१०७५-११७५	कवि हरिचंद	धर्मशर्माभ्युदय जीवन्धरचम्पू	प्रथमानुयोग काव्य	
२२३	१०८८-११७३	हेमचन्द्र २ श्वेताम्बर०	गुजरातीव्याकरण	व्याकरण	
२२४			सिद्ध हेम-शब्दानुशासन	,,	
२२५			प्राकृतव्याकरण	,,	
२२६			अभिधानचिन्तामणि कोष (हैमीनाममाला)	,,	
२२७			अनेकार्थ संग्रह	,,	
२२८			देशीनाममाला	,,	
२२९			काव्यानुशासन	,,	
२३०			प्रमाणमीमांसा	न्याय	
२३१			अन्ययोग-व्यवच्छेद	,,	
२३२			अयोगव्यवच्छेद (द्वात्रिंशतिका)	न्याय	
२३३			योगशास्त्र (अध्यात्मोपनिषद्)	अध्यात्म	
२३४			द्वयाश्रय महाकाव्य		
२३५			निघंटु शेष		
२३६			वीतरागस्तोत्र	पूजा पाठ	
२३७			अन्तरलोक	द्वादशानुप्रेक्षा	
२३८	१०९८	नरेन्द्र सेन	सिद्धान्तसार-संग्रह		

१२. ईसवी शताब्दी १२

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
२३९	ई० श० १२	योगचन्द्र	योगसार (दोहा सार)	अध्यात्म	
२४०	,,	नागसेन २	तत्त्वानुशासन	ध्यान विषयक	
२४१	,, पूर्व	कवि वृत्ति-विलास	धर्मपरीक्षे	कथाके रूपमें अन्य मत निराकरण	क०
२४२	११०२	चन्द्रप्रभ सूरि	प्रमेय रत्न कोष	न्याय	
२४३			दर्शन शुद्धि	सम्यक्त्व प्रकरण	
२४४	१११२	नयसेन	धर्मामृत		
२४५	१११७-११६९	वादि देवसूरि (श्वेताम्बर०)	प्रमाणनयतत्त्वालंकार (स्याद्वादरत्नाकर)	परीक्षामुखकी टीका	सं०
२४६	११२८	मल्लिषेण २	प्रवचनसार टी०	अध्यात्म	
२४७			पंचास्तिकाय टी०	तत्त्वार्थ	
२४८			ज्वालिनी कल्प		
२४९			पद्मावती कल्प		
२५०			वज्रपंजरविधान		
२५१			ब्रह्मविद्या		
२५२			आदिपुराण	प्रथमानुयोग	
२५३	११४०-११८५	पद्मप्रभ-मलधारीदेव	नियमसार टी०	अध्यात्म	सं०
२५४	११६३	वीरनन्दि ५	आचारसार	चरणानुयोग	सं०
२५५	११६८-१२४३	पद्मनन्दि ६	चरणसार	,,	
२५६			धम्मरसायण		प्रा०
२५७	११८५-१२४३	प्रभाचन्द्र ५	समाधितंत्र टी०	अध्यात्म	
२५८			रत्नकरण्डश्रा० टी.	चरणानुयोग	
२५९	११७३-१२४३	पं० आशाधर	क्रियाकलाप	अमर कोष टीका (व्याकरण)	सं०
२६०			काव्यालंकार टी०	रुद्रट कृत ग्रन्थकी टी० (व्याकरण)	सं०
२६१			प्रमेयरत्नाकार	न्याय	,,
२६२			वाग्भट्ट संहिता	,,	,,
२६३			भव्य कुमुदचन्द्रिका		सं०
२६४			अध्यात्म रहस्य	अध्यात्म	
२६५			इष्टोपदेश टी०	,,	सं०
२६६			ज्ञानदीपिका		,,
२६७			अष्टांग हृदयोद्योत		,,
२६८			अनगार धर्मामृत	यत्याचार	,,

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
२६९			मूलाराधना दर्पण	भगवती अराधना टीका (यत्याचार)	सं.
२७०			सागारधर्मामृत	श्रावकाचार	,,
२७१			भरतेश्वराभ्युदय काव्य	प्रथमानुयोग	,,
२७२			त्रिषष्टि स्मृति-शास्त्र	,,	,,
२७३			राजमति विप्र-लम्भ सटीक	,,	,,
२७४			भूपाल चतुर्विं-शतिका टीका	,,	,,
२७५			जिनयज्ञकल्प	पूजापाठ	,,
२७६			प्रतिष्ठा पाठ	,,	,,
२७७			सहस्रनामस्तव	,,	,,
२७८			रत्नत्रयविधान टीका	,,	,,
२७९	ई. श. १२-१३	रामसेन ३	तत्त्वानुशासन		सं०

१३. ईसवी शताब्दी १३

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
२८०	ई० श० १३	यशःकीर्ति नं० ४	जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला		
२८१	,,	भास्करनन्दि	सुखबोध	तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति	सं०
२८२	,,	अभयचन्द्र १	स्याद्वादभूषण	अकलंक कृत लघीयस्त्रय वृत्ति	,,
२८३	,,	विनयचन्द	उवएसमाला कहारयण छप्पय	वैराग्योपदेश	अप. ,,
२८४	,, पूर्व	कवि लक्खण	अणुवय रयण-पईव (अणुव्रत रत्न-प्रदीप)	श्रावकाचार	,,
२८५	१२०५	पार्श्वपण्डित आचार्य	पार्श्वनाथ पु०	पुराण	
२८६	१२०९	धर्म सूरि	जम्बूस्वामी-सरना	प्रथमानुयोग	भा०
२८७	,,	जन्नाचार्य	अनन्तनाथ पु०	पुराण	
२८८	१२३०	गुणवर्म	पुष्पदन्त पु०	,,	
२८९	१२५९	प्रभाचन्द्र ६	पंचास्तिकाय टी.	तत्त्वार्थ	सं०
२९०	१२८०-१३३०	पद्मनन्दि ८	निघंटु वैद्यक	आयुर्वेद	
२९१			परमात्मप्रकाश टी.	अध्यात्म	
२९२			आराधना संग्रह	चरणानुयोग	
२९३			यत्याचार	,,	
२९४			श्रावकाचार	,,	
२९५			कुलकुण्ड पार्श्व नाथ विधान	पूजा पाठ	
२९६			रत्नत्रय पूजा	,,	
२९७			देव पूजा आदि	,,	
२९८			अनन्त कथा	प्रथमानुपयोग	
२९९			रत्नत्रय कथा	,,	
३००	१२९२-१३२३	जयसेन	समयसार टी०	अध्यात्म	सं०
३०१			प्रवचनसार टी०	अध्यात्म	सं.
३०२			पंचास्तिकाय टी.	तत्त्वार्थ	,,
३०३	१२९२-१३२३	ब्रह्मदेव	द्रव्य संग्रह टी०	तत्त्वार्थ	,,
३०४			परमात्म प्रकाश टी०	अध्यात्म	,,
३०५			तत्त्वदीपक		,,
३०६			ज्ञानदीपक		,,
३०७			त्रिवर्णाचार दीपक		,,
३०८			प्रतिष्ठातिलक		,,
३०९			विवाहपटल		,,
३१०			कथाकोष	प्रथमानुयोग	,,
३११	१२९२	मल्लिभूषण ३ (श्वेताम्बर०)	स्याद्वाद मंजरी	न्याय	,,
३१२			महापुराण	प्रथमानुयोग	,,

१४. ईसवी शताब्दी १४

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
३१३	ई० श० १४	धर्मभूषण २	न्याय दीपिका	न्याय	सं०
			प्रमाण विस्तार	,,	,,
३१४	१३२८-१३९८	पद्मनन्दि १०	भावना पद्धति		,,
३१५			जरापल्ली पार्श्व-नाथ स्तुति	पूजा पाठ	सं०
३१६	ई० श० १४	श्रीधर	वद्धमाण चरिउ	प्रथमानुयोग	अप.
३१७			भविष्यदत्त कथा	,,	,,
३१८			चन्द्रप्रभ चरित	,,	,,
३१९			शान्ति जिन चरित	,,	,,
३२०			श्रुतावतार	,,	,,
३२१	१३३३-१३४३	अभयचन्द्र २	मन्द प्रबोधनी	गोमट्टसार टीका	सं०
३२२	१३५०-१३९०	मुनिभद्र	परमात्म प्रकाश टी०	अध्यात्म	क०
३२३	१३५०	बालचन्द्र	पंचास्तिकाय टी.	तत्त्वार्थ	,,
			परमात्म प्रकाश टी०	अध्यात्म	,,
			तत्त्वार्थ सूत्र टी.	तत्त्वार्थ	,,
३२४	१३५९	ब्र० केशव वर्णी	जीव तत्व-प्रबोधिनी	गोमट्टसार टी०	सं०
३२५	१३६६	कवि विद्धणु	ज्ञान पंचमी	श्रुत पंचमी व्रत माहात्म्य	भा०

१५. ईसवी शताब्दी १५

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
३२६	(प्लवंग सं. 1)	विमलदास (श्रावक)	सप्तभंग तरंगनी	न्याय	सं०
३२७	१४२९	दयासागर सूरि	धर्मदत्त चारित्र	प्रथमानुयोग	
३२८	१४३३-१४७३	सकल कीर्ति	तत्त्वसार दीपक	तत्त्वार्थ	
३२९			मूलाचार प्रदीपिका	यत्याचार	
३३०			प्रश्नोत्तरोपास-काचार (प्रश्नोत्तर श्राव-काचार)	श्रावकाचार	

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
३३१			पार्श्वपुराण	प्रथमानुयोग	
३३२			सुकुमाल चरित्र	,,	
३३३			श्रीपाल ,,	,,	
३३४			यशोधर ,,	,,	
३३५			आदिपुराण	,,	
३३६			उत्तरपुराण	,,	
३३७			महावीरपुराण	,,	
३३८			मल्लिनाथ पुराण	,,	
३३९	१४३९	कवि रइधू	पद्मपुराण	,,	अप.
३४०			पार्श्व पुराण	,,	,,
३४१			हरिवंशपुराण	,,	,,
३४२			जीवन्धरचरित्र	,,	,,
३४३	१४४८–१४६८	विद्यानन्दि २	सुदर्शनचरित्र	,,	
३४४	१४७३	श्रुतसागर	प्राकृतव्याकरण	व्याकरण	
३४५	१५३३		तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुत सागरी)	तत्त्वार्थ सूत्र टीका	सं०
३४६			तत्त्वत्रय प्रकाशिका	ज्ञानार्णवके गद्य भागकी टीका	,,
३४७			यशस्तिलक-चन्द्रिका	सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू-की टीका	,,
३४८			विक्रम प्रबन्ध टी०		,,
३४९			औदार्य चिन्तामणि		,, ,,
३५०			सहस्रनाम टी०	पं० आशाधर कृत जिनसहस्रनाम टी०	,,
३५१			व्रत कथाकोष	प्रथमानुयोग	
३५२			बृहत्कथा कोष	,,	,,
३५३			श्रीपाल चरित्र	,,	,,
३५४			यशोधर चरित्र	,,	,,
३५५			महाभिषेक टी०	पं० आशाधर कृत नित्य महोद्योत टी०	,, ,,
३५६			पल्यविधान व्रत कथा		सं०
३५७			श्रुतस्कन्ध पूजा	पूजा-पाठ	,,
३५८			सिद्धचक्राष्टकपू.	”	,
३५९			सिद्धभक्ति	”	,,
३६०	१४७०	रत्नकीर्ति४	भद्रबाहु चरित्र	प्रथमानुयोग	
३६१	१४७४	सोमकीर्ति	प्रद्युम्न चरित्र	”	
३६२			चारुदत्त चरित्र	”	अप.
३६३	१४४०–१४५०	यशःकीर्ति ५	पाण्डवपुराण	”	
३६४			हरिवंशपुराण	”	,,
३६५	१४९८–१५१८	श्रीचन्द्र	वैराग्यमणि माला	वैराग्योपदेश	
३६६			पुराणसार	प्रथमानुयोग	
३६७	१५००	कोटीश्वर	जीवन्धर शतपदी	”	क०

१६. ईसवी शताब्दी १६

क्रम	समय ई० सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
३६८	ई.श. १६ पूर्व	नेमिचन्द्र ५	जीवतत्त्व प्रबोध.	गोमट्टसार टीका	
३६९	१५१६–१५५६	शुभचन्द्र ७	प्राकृतव्याकरण	व्याकरण	
३७०			अङ्गपण्णत्ति	”	
३७१			शब्दचिन्तामणि	कोष	
३७२			समस्यावदन-विदारण	न्याय	
३७३			अपशब्दखण्डन	”	
३७४			तत्त्वनिर्णय	”	
३७५			स्याद्वाद	”	
३७६			स्वरूप सम्बोधन	अध्यात्म	सं०
३७७			अध्यात्मपद्यटी.	”	,,
३७८			सम्यक्त्वकौमुदी	”	,,
३७९			सुभाषितार्णव	”	,,
३८०			सुभाषितरत्नावली	”	,,
३८१			परमाध्यात्म-तरंगनी टीका	”	,,
३८२			कार्तिकेयानु-प्रेक्षा टीका	”	,,
३८३	१५५१		पाण्डवपुराण	प्रथमानुयोग	,,
३८४	१५५४		करकण्डचरित्र	”	,,
३८५			चन्द्रप्रभचरित्र	”	,,
३८६			पद्मनाभचरित्र	”	,,
३८७			प्रद्युम्नचरित्र	”	,,
३८८	१५५१		जीवन्धरचरित्र	”	,,
३८९			चन्दनकथा	”	,,
३९०			नन्दीश्वर कथा	”	,,
३९१			पार्श्वनाथ-काव्यपंजिका	”	,,
३९२	१५१८	सिद्धान्त-सागर	यशस्तिलक-चन्द्रिका	सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू टी०	,,
३९३	१५१८	ब्र०नेमिदत्त	आराधना-कथाकोष	प्रभाचन्द्र कृत कथाकोषका भावानुवाद	भा० ,,
३९४	ई.श. १६	सिंहनन्दि ६	पंचनमस्कार-मंत्रमाहात्म्य	भक्ति व कथा	
३९५	१५४६–१६०५	पं.राजमल्ल	पंचाध्यायी	न्याय व अध्यात्म	सं०
३९६			लाटी संहिता (ई. १५८४)	श्रावकाचार	,,
३९७			जम्बूस्वामीच०	प्रथमानुयोग	
३९८			अध्यात्मकमल-मार्तण्ड	अध्यात्म	
३९९			पिंगल	व्याकरण	
४००	१५५९–१६०६	रायमल्ल	हनुमन्तचरित	प्रथमानुयोग	भा०
४०१			भविष्यदत्तच०	”	,,
४०२	१६१०		भक्तामरकथा	”	
४०३	१५६३–१५६८	सुमतिकीर्ति	पंचसंग्रहटीका	मूलग्रन्थटीका	सं०
४०४	१५८३–१६०५	देवेन्द्रकीर्ति	कथाकोष	प्रथमानुयोग	
४०५	१५९७	चन्द्रकीर्तिभ.	आदिपुराण	”	
४०६			पद्मपुराण	”	
४०७			पार्श्वपुराण	”	

क्रम	समय ई. सं.	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
१७. ईसवी शताब्दी १७					
४०८	१६०४	भट्टाकलंक	शब्दानुशासन	व्याकरण	क०
४०९	१६३८–१६८८	यशोविजय (श्वेताम्बर)	जैनतर्क	न्याय	सं०
४१०			शास्त्रवार्ता-समुच्चयटीका	"	,,
४११			गुरुतत्त्व-विनिश्चय	"	,,
४१२			अष्टसहस्री विवरण	विद्यानन्द १ कृत ग्रन्थकी टीका न्याय	,,
४१३			स्याद्वादमंजूषा	स्याद्वादमंजरी की वृत्ति	,,
४१४			जयविलास	पद संग्रह	भा०
४१५			दिग्पटचौरासी बोल	दिगम्बर मत पर आक्षेप	,,
४१६	१६०१	वादिचन्द्र भ०	पाण्डवपुराण	प्रथमानुयोग	
४१७	१६३६	पं. बनारसी दास	समयसारनाटक	अध्यात्म पद्य	,,
४१८			नवरस पद्यावली		,,
४१९	१६४४		बनारसीविलास	पद संग्रह	,,
४२०			नाममाला	कोष	,,
४२१			कर्मप्रकृति विधान	कर्म सि०	,,
४२२			अर्धकथानक	प्रथमानुयोग	,,
४२३	१६४३–१६७०	प. हेमचन्द	पंचास्तिकायव०	तत्त्वार्थ	,,
४२४	१६५२		प्रवचनसारटी.	अध्यात्म	,,
४२५	१६६७		नयचक्र व०	न्याय	,,
४२६			गोमट्टसार व०	कर्म सिद्धान्त	,,
४२७			सितपट चौरासी-बोल	श्वेताम्बरोंके प्रति आक्षेप	,,
४२८	१६५९	कवि अरुण-मणि	अजितपुराण	प्रथमानुयोग	,,
४२९	१६७७	विनय विजय उपाध्यायश्वे०	न्यायकर्णिका	न्याय	सं०
१८. ईसवी शताब्दी १८					
१०	ई. श. १८	जिनसागर	जीवन्धरपुराण	प्रथमानुयोग	
४३१	१७१८	ज्ञानचन्द्र भ०	पंचास्तिकायटी.	तत्त्वार्थ	भा०
४३२	१७२२	पं. दीपचंद-शाह	चिद्विलास	अध्यात्म	
४३३			अनुभवप्रकाश	"	,,
४३४	१७२३	पं. द्यानतराय	धर्मविलास	पदसंग्रह	,,
४३५	१७५५–१७६७	कविदेवी-दास	चिद्विलास व०		,,
४३६			परमानन्द विलास	पदसंग्रह	,,
४३७			प्रवचनसारछन्द		,,
४३८			चौबीसी पाठ	पूजापाठ	,,
४३९	१७३६	पं. टोडरमल	गोमट्टसारटीका	कर्मसिद्धान्त	,,
४४०			लब्धिसारटी०	"	,,
४४१			क्षपणसारटी०	"	,,
४४२			तीनोंकी अर्थ-संदृष्टि	गणित	,,
४४३			त्रिलोकसार टी०	लोक	,,
४४४			आत्मानुशा० टी०	अध्यात्म	,,
४४५			पुरुषार्थ सिद्ध्यु-पाय टीका	वैराग्योपदेश	,,
४४६			गोमट्टसार पूजा	पूजापाठ	,,
४४७			रहस्यपूर्ण चिट्ठी	अध्यात्म	,,
४४८			मोक्षमार्ग प्रकाशक	"	,,
४४९	१७७०	पं. दौलतराम	पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय	पं० टोडरमलकी अधूरी रचनाकी पूर्ति	,,
४५०			परमात्मप्रकाश टी		,,
४५१	१७६६		पद्मपुराण		,,
४५२	१७६७		आदिपुराण		,,
४५३			हरिवंशपुराण		,,
४५४			श्रीपालचरित्र		,,
४५५	१७३८		क्रियाकोष	श्रावकाचार (पद्य रूपमें)	,,
४५६	१७५६	कविभारामल	चारुदत्तच०	सोमकीर्ति कृत ग्रन्थके आधारपर	,,
४५७			शीलकथा		,,
४५८			दर्शनकथा		,,
४५९			दान कथा		,,
४६०			निशिभोजन कथा		
४६१	१७९१–१८४८	कविवृन्दावन	वृन्दावन विलास	पदसंग्रह	,,
४६२			प्रवचनसार	टीका	,,
४६३			चतुर्विंशति-जिन पूजापाठ	पूजापाठ	,,
४६४			तीसचौबीसी-पूजा	"	,,
४६५			छन्दशतक	पदसंग्रह	,,
४६६			अर्हत्पासाकेवली	भाग्यनिर्णय	,,
४६७			समवसरन-पूजापाठ	पूजापाठ	,,
४६८	ई.श.१७–१८	पं. संतलाल	सिद्ध चक्रपाठ	जिनसेन कृत महापुराणमें दिये जिनसहस्र नामके आधार पर	,,
४६९			दश लाक्षणिक अंग	पूजापाठ	,,
४७०	१७९३–१८३	सदासुखदास		तत्त्वार्थसूत्र टी०	,,
४७१			अर्थ प्रकाशिका		,,
४७२			भगवतीआराधना	टीका	,,
४७३			रत्नकरण्ड श्रा.	"	,,
४७४			नाटकसमयसार	"	,,
४७५			अकलंक स्तोत्र	"	,,
४७६			नित्यनियमपूजा	संस्कृतपूजाकी टी.	,,
४७७	१७९३–१८६३	पं. पन्नालाल	राजवार्तिक व.		,,
४७८			विद्वज्जन बोधक	अध्यात्म	,,
४७९			सरस्वतीपूजा	पूजापाठ	,,
४८०	१७९३–१८४३	पं. मनरंग-लाल	चौबीस तीर्थंकर पूजा (ई.१८००)	पूजापाठ	,,

क्रम.	समय ई०सं०	रचयिता	ग्रन्थका नाम	विषय	भाषा
४८१			नेमिचन्द्रिका	प्रथमानुयोग	भा.
४८२			सप्तव्यसनचरित्र	"	"
४८३			सप्तर्षि पूजा	पूजापाठ	"
४८४			शिखरसम्मेदाचल माहात्म्य	"	"
४८५	ई०श०	पं० भूधरदास	पार्श्वपुराण	छन्दबद्ध	भा०
४८६	१७-१८		जैन शतक	पद संग्रह	
११. ईसवी शताब्दी १९					
४८७	१८०६	पं० जयचन्द छावड़ा	परीक्षा मुख टी०	न्याय	भा०
४८८	१८२६		देवागम स्तोत्र टी०	"	"
४८९			न्याय भाग मत समुच्चय	चन्द्रप्रभ काव्यके द्वि० सर्गकी टी०	
४९०			पत्रपरीक्षा टी०	न्याय	
४९१	१८०९		सर्वार्थसिद्धि वचनिका	टीका	"
४९२	१८०६		द्रव्यसंग्रह वचनिका		"
४९३	१८०७		समयसार आत्मख्याति-वचनिका		"
४९४	१८०९		कार्तिकेयानुप्रेक्षा	वचनिका	"
४९५	१८१०		अष्ट पाहुड़ व०		"
४९६	१८१२		ज्ञानार्णव व०		"
४९७			सामायिक पाठ	छन्द	"
४९८	१८१३		भक्तामर चरित्र		"
४९९	"		छन्द बद्ध चिट्ठी		"
५००	१८१४	पं० बुधजन	तत्त्वार्थ बोध		"
५०१	१८३५		बुधजन विलास	पदसंग्रह	"
५०२	१८२४		बुधजन सतसई	"	"
५०३	१८३४		पंचास्तिकाय	टीका	"
५०४	१८३९	देवचन्द्र	राजवलि कथे	प्रथमानुयोग	क०

७. पौराणिक राज्यवंश

१. सामान्य वंश

म. प्र./१६/२५८-२६४ भ० ऋषभदेवने हरि, अकम्पन, कश्यप और सोमप्रभ नामक महाक्षत्रियोंको बुलाकर उनको महामण्डलेश्वर बनाया। तदनन्तर सोमप्रभ राजा भगवान्से कुरुराज नाम पाकर कुरुवंशका शिरोमणि हुआ, हरि भगवान्से हरिकान्त नाम पाकर हरिवंशको अलंकृत करने लगा, क्योंकि वह हरि पराक्रममें इन्द्र अथवा सिंहके समान पराक्रमी था। अकम्पन भी भगवान्से श्रीधर नाम प्राप्तकर नाथवंशका नायक हुआ। कश्यप भगवान्से मघवा नाम प्राप्त कर उग्रवंशका मुख्य हुआ। उस समय भगवान्ने मनुष्यों-को इक्षुका रससंग्रह करनेका उपदेश दिया था, इसलिए जगत्के लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे।

२. इक्ष्वाकुवंश

सर्व प्रथम भगवान् आदिनाथसे यह वंश प्रारम्भ हुआ। पीछे इसकी दो शाखाएँ हो गयीं—एक सूर्यवंश दूसरी चन्द्रवंश। (ह० पु०/१३/३३) सूर्यवंशकी शाखा भरतचक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिसे प्रारम्भ हुई, क्योंकि अर्क नाम सूर्यका है। (प० पु०/५/४) इस सूर्यवंशका नाम ही सर्वत्र इक्ष्वाकु वंश प्रसिद्ध है। (प० प्र०/५/२६१) चन्द्रवंशकी शाखा बाहुबलीके पुत्र सोमयशसे प्रारम्भ हुई (ह० पु०/१३/१६)। इसीका नाम सोमवंश भी है, क्योंकि सोम और चन्द्र एकार्थवाची हैं (प० पु०/५/१२) और भी देखें सामान्य राज्य वंश।

इसकी वंशावली निम्न प्रकार है—
(ह० पु०/१३/१-१५) (प० पु०/५/४-९)
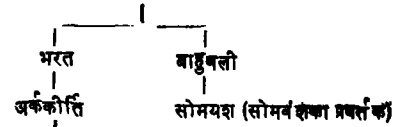
स्मितयश, बल, सुबल, महाबल, अतिबल, अमृतबल, सुभद्रसागर, भद्र, रवितेज, शशि, प्रभूततेज, तेजस्वी, तपत्, प्रतापवान, अतिवीर्य, सुवीर्य, उदितपराक्रम, महेन्द्रविक्रम, सूर्य, इन्द्रद्युम्न, महेन्द्रजित, प्रभु, विभु, अविध्वंस—वीतभी, वृषभध्वज, गुरुडाङ्क, मृगाङ्क, आदि अनेक राजा अपने-अपने पुत्रोंको राज्य देकर मुक्ति गये। इस प्रकार (१४०००००) चौदह लाख राजा बराबर इस वंशसे मोक्ष गये, तत्पश्चात् एक अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुआ, फिर अस्सी राजा मोक्षको गये, परन्तु इनके बीचमें एक-एक राजा इन्द्र पदको प्राप्त होता रहा।

प. पु./५ श्लोक नं० भगवान् आदिनाथका युग समाप्त होनेपर जब धार्मिक क्रियाओंमें शिथिलता आने लगी, तब अनेकों राजाओंके व्यतीत होनेपर अयोध्या नगरीमें एक धरणीधर नामक राजा हुआ (५७-५९)
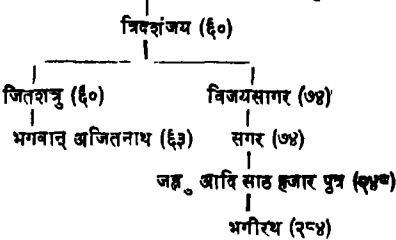
प. पु /सर्ग/श्लोक मुनिसुव्रतनाथ भगवान्का अन्तराल शुरू होनेपर अयोध्या नामक विशाल नगरीमें विजय नामक बड़ा राजा हुआ। (२१/७३-७४) इसके भी महागुणवान् 'सुरेन्द्रमन्यु' नामका पुत्र हुआ। (२१-७५)
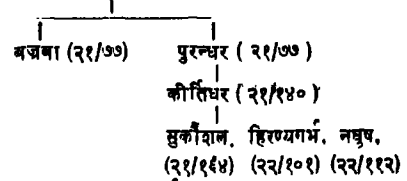
सौदास, सिंहरथ, ब्रह्मरथ, चतुर्मुख, हेमरथ, शतरथ, मान्धाता, (२२/१३१) (२२/१४५)
वीरसेन, प्रतिमन्यु, दीप्ति, कमलबन्धु, प्रताप, रविमन्यु, वसन्ततिलक, कुबेरदत्त, कीर्तिमान्, कुन्थुभक्ति, शरभरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरण्यकशिपु, पुंजस्थल, ककुरथ, रघु। (अनुमानतः ये ही रघुवंशके प्रवर्तक हों अतः दे०—रघुवंश। २२/१५३-१५८)।

३. उग्रवंश

ह. पु./१३/३३ सर्वप्रथम इक्ष्वाकुवंश उत्पन्न हुआ। उससे सूर्यवंश व चन्द्रवंशकी उत्पत्ति हुई। उसी समय कुरुवंश और उग्रवंशकी उत्पत्ति हुई।

ह. पु./२२/५१-५३ जिस समय भगवान् आदिनाथ भरतको राज्य देकर दीक्षित हुए, उसी समय चार हजार भोजवंशीय तथा उग्रवंशीय आदि राजा भी तपमें स्थित हुए। पीछे चलकर तप भ्रष्ट हो गये। उन भ्रष्ट राजाओंमेंसे नमि विनमि हैं। और भी दे०—'सामान्य राज्यवंश'। नोट—इस प्रकार इस वंशका केवल नामोल्लेख मात्र मिलता है।

४. ऋषिवंश

प. पु./५/२ "चन्द्रवंश (सोमवंश) को ही ऋषिवंश कहा है। विशेष दे०—'सोमवंश'

५. कुरुवंश

म. पु./२०/१११ "ऋषभ भगवान्‌को हस्तिनापुरमें सर्वप्रथम आहारदान करके दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाला राजा श्रेयान् कुरुवंशी थे। अतः उनकी सर्व सन्तति भी कुरुवंशीय है। और भी दे०—'सामान्य राज्यवंश'

नोट—हरिवंश पुराण व महापुराण दोनोंमें ही इसकी वंशावली दी गयी है। पर दोनोंमें कुछ अन्तर है। इसलिए दोनोंकी वंशावली दी जाती है।

१. प्रथम वंशावली—(ह. पु./४५/६-३८)

श्रेयान् व सोमप्रभ, जयकुमार, कुरु, कुरुचन्द्र, शुभंकर, धृतिकर, करोड़ों राजाओं पश्चात्..., तथा अनेक सागर काल व्यतीत होनेपर, धृतिदेव, धृतिकर, गङ्गदेव, धृतिमित्र, धृतिक्षेम, सुव्रत, व्रात, मन्दर, श्रीचन्द्र, सुप्रतिष्ठ आदि करोड़ों राजा......धृतपद्म, धृतेन्द्र, धृतवीर्य, प्रतिष्ठित आदि सैंकड़ों राजा...धृतिदृष्टि, धृतिकर, प्रीतिकर आदि हुए...भ्रमरघोष, हरिघोष, हरिध्वज, सूर्यघोष, सुतेजस, पृथु, इभवाहन, आदि राजा हुए...विजय महाराज, जयराज...इनके पश्चात् इसी वंशमें चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार, सुकुमार, वरकुमार, विश्व, वैश्वानर, विश्वकेतु, बृहध्वज...तदनन्तर विश्वसेन, १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ, इनके पश्चात् नारायण, नरहरि, प्रशान्ति, शान्तिवर्धन, शान्तिचन्द्र, शशाङ्काङ्क, कुरु,...इसी वंशमें सूर्य भगवान्-कुन्थनाथ (ये तीर्थंकर व चक्रवर्ती थे)...तदनन्तर अनेक राजाओंके पश्चात् सुदर्शन, अरहनाथ (सप्तम चक्रवर्ती व १८ वें (तीर्थंकर) सुचारु, चारु, चारुरूप, चारुपद्म,...अनेक राजाओंके पश्चात् पद्ममाल, सुभौम, पद्मरथ, महापद्म (चक्रवर्ती), विष्णु व पद्म, सुपद्म, पद्मदेव, कुलकीर्ति, कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्रीवसु, वसुन्धर, वसुरथ, इन्द्रवीर्य, चित्रविचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृषानन्त, वृषध्वज, श्रीव्रत, व्रतधर्मा, धृत, धारण, महासर, प्रतिसर, शर, पराशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिप्रभ, शान्तिषेण, शान्तनु, धृतव्यास, धृतधर्मा, धृतोदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान, धृत,
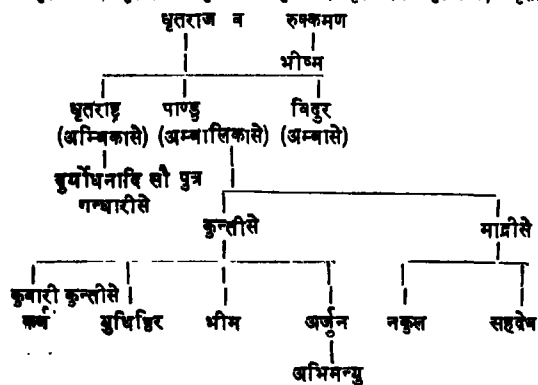
द्वितीय वंशावली—(पा. पु./सर्ग/श्लोक) जयकुमार-अनन्तवीर्य, कुरु, कुरुचन्द्र, शुभङ्कर, धृतिङ्कर,...धृतिदेव, गङ्गदेव, धृतिदेव, धृतिमित्र, ...धृतिक्षेम, अक्षयी, सुव्रत, व्रातमन्दर, श्रीचन्द्र, कुलचन्द्र, सुप्रतिष्ठ,... भ्रमघोष, हरिघोष, हरिध्वज, रविघोष, महावीर्य, पृथ्वीनाथ, पृथु गजवाहन,...विजय, सनत्कुमार (चक्रवर्ती), सुकुमार, वरकुमार, विश्व, वैश्वानर, विश्वध्वज, बृहत्केतु...विश्वसेन, शान्तिनाथ (तीर्थंकर), (पा. पु./४/२-६)। शान्तिवर्धन, शान्तिचन्द्र, चन्द्रचिह्न, कुरु...सूरसेन, कुन्थुनाथ भगवान् (६/२-३,२७)...अनेकों राजा हो चुकनेपर सुदर्शन (७/७), अरहनाथ भगवान अरविन्द, सुचार, शूर, पद्मरथ, मेघरथ, विष्णु व पद्मरथ (७/३६-३७) (इन्हीं विष्णुकुमारने अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियोंका उपसर्ग दूर किया था] पद्मनाभ, महापद्म, सुपद्म, कीर्ति, सुकीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, ...अनकों राजाओंके पश्चात शान्तनु (शक्ति) राजा हुआ।

और भी देखो (म.पु./७०/७०-१०१ में भी)
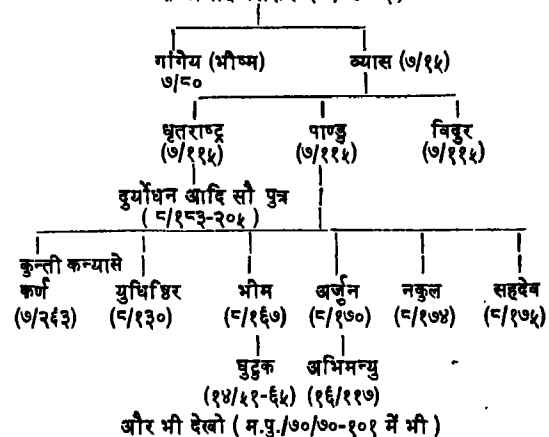
६. चन्द्रवंश

प. पु./५/१२ "सोम नाम चन्द्रमाका है सो सोमवंशको ही चन्द्रवंश कहते हैं। (ह. पु./१३/१६) विशेष दे०—'सोमवंश'

७. नाथवंश

पा. पु./२/१६३-१६५ "इसका केवल नाम निर्देश मात्र ही उपलब्ध है। दे०—'सामान्य राज्य वंश'

८. भोजवंश

ह. पु./२२/५१-५३ जब आदिनाथ भगवान् भरतेश्वरको राज्य देकर दीक्षित हुए थे, तब उनके साथ उग्रवंशीय, भोजवंशीय आदि चार हजार राजा भी तपमें स्थित हुए थे। परन्तु पीछे तप भ्रष्ट हो गये। उसमेंसे नमि व विनमि दो भाई भी थे।

ह. पु./५५/७२,१११ "कृष्णने नेमिनाथके लिए जिस कुमारी राजीमतीकी याचना की थी वह भोजवंशियों की थी। नोट—इस वंशका विस्तार उपलब्ध नहीं है।

९. मातङ्गवंश

ह. पु./२२/११०-११३ "राजा विनमिके पुत्रोंमें जो मातङ्ग नामका पुत्र था, उसीसे मातङ्गवंशकी उत्पत्ति हुई। सर्व प्रथम राजा विनमिका पुत्र मातङ्ग हुआ। उसके बहुत पुत्र-पौत्र थे, जो अपनी-अपनी क्रियाओंके अनुसार स्वर्ग व मोक्षको प्राप्त हुए। इसके बहुत दिन पश्चात इसी वंशमें एक प्रहसित राजा हुआ, उसका पुत्र सिंहदंष्ट्र था।" नोट—इस वंशका अधिक विस्तार उपलब्ध नहीं है।

१. मातङ्ग विद्याधरोंके चिह्न—

ह. पु./२६/१५-२२ मातङ्ग जाति विद्याधरोंके भी सात उत्तर भेद है, जिनके चिह्न व नाम निम्नहैं—मातङ्ग=नीले वस्त्र व नीली मालाओं सहित। श्मशान निलय=धूलि धूसरित तथा श्मशानकी हड्डियोंसे निर्मित आभूषणोंसे युक्त। पाण्डुक=नील वैडूर्य मणिके सदृश नीले वस्त्रोंसे युक्त। कालश्वपाकी=काले मृग चर्म व चमड़ेसे निर्मित वस्त्र व मालाओंसे युक्त। पार्वतेय=हरे रंगके वस्त्रोंसे तथा नाना प्रकारकी माला व मुकुटोंसे युक्त। वंशालय=बाँसके पत्रोंकी मालाओं-से युक्त। वार्क्षमूलिक=सर्प चिह्नके आभूषणसे युक्त।

१०. यादववंश

ह. पु./१८/५-६ हरिवंशमें उत्पन्न यदु राजासे यादववंशकी उत्पत्ति हुई। देखो 'हरिवंश'।

वसुदेवकी २३ स्त्रियाँ व उनकी सन्तान (ह० पु०/४८/५४-६५)

1. विजयसेना — अक्रूर, क्रूर
2. श्यामा — ज्वलन, अग्निवेग
3. गन्धर्वसेना — वायुवेग, अमितगति, महेन्द्रगिरि
4. पद्मावती — दारु, वृद्धार्थ, दारुक
5. नीलयशा — सिंह, मतंगज
6. सोमश्री — नारद, मरुदेव
7. मित्रश्री — सुमित्र
8. कपिला — कपिल
9. पद्मावती — पद्म, पद्मक
10. अश्वसेना — अश्वसेन
11. पौण्ड्रा — पौण्ड्र
12. रत्नवती — रत्नगर्भ, सुगर्भ
13. सोमदत्तकी पुत्री — चन्द्रकान्त, शशिप्रभ
14. वेगवती — वेगवान, वायुवेग
15. मदनवेगा — दृढमुष्टि, अनावृष्टि, हिममुष्टि
16. बन्धुमति — बन्धुषेण, सिंहसेन
17. प्रियंगुसुन्दरी — शिलायुध
18. प्रभावती — गान्धार, पिंगल
19. जरा — जरत्कुमार, वाह्लीक
20. अवन्ती — सुमुख, दुर्मुख, महारथ
21. रोहिणी ४८/६४ — बलदेव, सारण, विदूरथ
22. बालचन्द्रा — वज्रदंष्ट्र, अमितप्रभ
23. देवकी (ह.पु./३३/१७०,३५/३) — नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, पाद्य, शत्रुघ्न, जितशत्रु, कृष्ण

जरत्कुमार (ह० पु०/६६/२-५) — वसुध्वज, सुवसु, भीमवर्मा ...... कपिष्ठ, अजातशत्रु, शत्रुसेन, जितारि, जितशत्रु इत्यादि

बलदेव (ह० पु०/४८/६६/६८ — उन्मुण्ड, निषध, प्रकृतिद्युति, चारुदत्त, ध्रुव, पीठ, शक्रन्दमन, श्रीध्वज, नन्दन, धीमान, दशरथ, देवनन्द, विद्रुम, शान्तनु, पृथु, शतधनु, नरदेव, महाधनु, रोमशैलय

कृष्ण (ह०पु०/४८/६७-७२) — भानु, सुभानु, भीम, महाभानु, सुभानुक, बृहद्रथ, अग्निशिख, विष्णुसंजय, अकम्पन, महासेन, धीर, गम्भीर, उदधि, गौतम, वसुधर्मा, प्रसेनजित, सूर्य, चन्द्रवर्मा, चारुकृष्ण, सुचारु, देवदत्त, भरत, शंख, प्रद्युम्न, शम्ब, इत्यादि

११. रघुवंश

इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न रघु राजासे ही सम्भवतः इस वंशको उत्पत्ति है—
दे० इक्ष्वाकुवंश

१२. राक्षसवंश

प. पु./सर्ग/श्लोक मेघवाहन नामक विद्याधरको राक्षसोंके इन्द्र भीम व सुभीमने भगवान् अजितनाथके समवशरणमें प्रसन्न होकर रक्षार्थ राक्षस द्वीपमें लंकाका राज्य दिया था (५/१५९–१६०) तथा पाताल लंका व राक्षसी विद्या भी प्रदान की थी। (५/१६१–१६७) इसी मेघवाहनकी सन्तान परम्परामें एक राक्षस नामा राजा हुआ है, उसीके नामपर इस वंशका नाम 'राक्षसवंश' प्रसिद्ध हुआ। (५/३७८)

इसकी वंशावली निम्न प्रकार है—

इस प्रकार मेघवाहनकी सन्तान परम्परा क्रमपूर्वक चलती रही (५/३७७)। उसी सन्तान परम्परामें एक

मनोवेग राजा हुआ (५/३७८)
|
राक्षस (५/३७८)
५/३७६
आदित्यगति — बृहत्कीर्ति

भीमप्रभ, पूजार्ह आदि १०८ पुत्र, जितभास्कर, संपरिकीर्ति, सुग्रीव, हरिग्रीव, श्रीग्रीव, सुमुख, सुव्यक्त, अमृतवेग, भानुगति, चिन्तागति, इन्द्र, इन्द्रप्रभ, मेघ, मृगारिदमन, पवन, इन्द्रजित्, भानुवर्मा, भानु, भानुप्रभ, सुरारि, त्रिजट, भीम, मोहन, उद्धारक, रवि, चकार, वज्रमध्य, प्रमोद, सिंहविक्रम, चामुण्ड, मारण, भीष्म, द्वीपवाह, अरिमर्दन, निर्वाणभक्ति, उग्रश्री, अर्हद्भक्ति, अनुत्तर, गतभ्रम, अनिल, चण्ड, लंकाशोक, मयूरवान, महाबाहु, मनोरम्य, भास्कराभ, बृहद्गति, बृहत्कान्त, अरिसन्त्रास, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वान, गृहक्षोभ, नक्षत्रदम, आदि करोड़ों विद्याधर इस वंशमें हुए...धनप्रभ, कीर्तिधवल। (५/३८२-३८८)

भगवान् मुनिसुव्रतके तीर्थमें विद्युत्केश नामक राजा हुआ। (६/२२२-२२३) इसका पुत्र सुकेश हुआ। (६/३४१)

सुकेश
→(६/५३१) ←
माली — सुमाली — माल्यवान
|
रत्नश्रवा (७/१३३)
→(७/२२२-२२५) ←
दशानन (रावण) — भानुकर्ण (कुम्भकर्ण) — विभीषण — चन्द्रनखा पुत्री
८/१५५, १५८
इन्द्रजीत — मेघवाहन

१३. वानरवंश

प.पु./सर्ग/श्लोक नं. राक्षस वंशीय राजा कीर्तिधवलने राजा श्रीकण्ठको (जब वह पद्मोत्तर विद्याधरसे द्वारा गया) सुरक्षित रूपसे रहनेके लिए वानर द्वीप प्रदान किया था (६/८३-८४)। वहाँपर उसने किष्कु पर्वतपर किष्कुपुर नगरकी रचना की। वहाँपर वानर अधिक रहते थे जिनसे राजा श्रीकण्ठको बहुत अधिक प्रेम हो गया था। (६/१०७-१२२)। तदनन्तर इसी श्रीकण्ठकी पुत्र परम्परामें अमरप्रभ नामक राजा हुआ। उसके विवाहके समय मण्डपमें वानरोंकी पंक्तियाँ चित्रित की गयी थीं, तब अमरप्रभने वृद्ध मन्त्रियोंसे यह जाना कि "हमारे पूर्वजोंने वानरोंसे प्रेम किया था तथा इन्हें मंगल रूप मानकर इनका पोषण किया था।" यह जानकर राजाने अपने मुकुटोंमें वानरोंके चिह्न कराये। उसी समयसे इस वंशका नाम वानरवंश पड़ गया। (६/१७५-२१७) (इसकी वंशावली निम्नप्रकार है):—

(३)

प. पु./६/श्लोक विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका राजा अतीन्द्र था। तदनन्तर श्रीकण्ठ, वज्रकण्ठ, वज्रप्रभ, इन्द्रमत, मेरु, मन्दर, समीरणगति, रविप्रभ, अमरप्रभ, कपिकेतु, प्रतिबल, गगनानन्द, खेचरानन्द, गिरिनन्दन, इस प्रकार सैकड़ों राजा इस वंशमें हुए, उनमें-से कितनोंने स्वर्ग व कितनों ने मोक्ष प्राप्त किया। (२०६)। जिस समय भगवान् मुनिसुव्रतका तीर्थ चल रहा था (२२२) तब इसी वंशमें एक महोदधि राजा हुआ (२१८)। उसका भी पुत्र प्रतिचन्द्र हुआ (३४६)।

(श्लोक संख्याएँ: (५) (११२) (१६०) (१६१) (१६१) (१६१) (१६१) (१६१) (१६२) (१६८) (२००) (२०५) (२०५) (२०५))
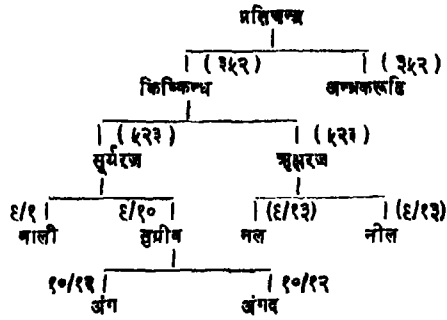
१४. विद्याधरवंश

जिस समय भगवान् ऋषभदेव भरतेश्वरको राज्य देकर दीक्षित हुए, उस समय उनके साथ चार हजार भोजवंशीय व उग्रवंशीय आदि राजा भी तपमें स्थित हुए थे। पीछे चलकर वे सब भ्रष्ट हो गये। उनमें-से नमि और विनमि आकर भगवान्‌के चरणोंमें राज्यकी इच्छासे बैठ गये। उसी समय रक्षामें निपुण धरणेन्द्रने अनेकों देवों तथा अपनी दीति और अदीति नामक देवियोंके साथ आकर इन दोनोंको अनेकों विद्याएँ तथा औषधियाँ दीं। (ह. पु./२२/५१-५३) इन दोनोंके वंशमें उत्पन्न हुए पुरुष विद्याएँ धारण करनेके कारण विद्याधर कहलाये। (प. पु./६/१०)

१. विद्याधर जातियाँ

ह. पु./२२/७६-८३ "नमि तथा विनमिने सब लोगोंको अनेक औषधियाँ तथा विद्याएँ दीं। इसलिए वे वे विद्याधर उस उस विद्यानिकायके नामसे प्रसिद्ध हो गये। जैसे—गौरी विद्यासे गौरिक, कौशिकीसे कौशिक, भूमितुण्डसे भूमितुण्ड, मूलवीर्यसे मूलवीर्यक, शंकुकसे शंकुक, पाण्डुकीसे पाण्डुकेय, कालकसे काल, श्वपाकसे श्वपाकज, मातंगीसे मातंग, पर्वतसे पार्वतेय, वंशालयसे वंशालयगण, पांसुमूलिकसे पांसुमूलिक, वृक्षमूलसे, वार्क्षमूल, इस प्रकार विद्यानिकायोंसे सिद्ध होनेवाले विद्याधरोंका वर्णन हुआ।

नोट—इसपरसे अनुमान होता है कि विद्याधर जातियाँ दो भागोंमें विभक्त हो गयीं—आर्य व मातंग।

२. आर्य विद्याधरोंके चिह्न

ह. पु./२६/६–१४ आर्य विद्याधरोंकी भी आठ उत्तर जातियाँ हैं, जिनके चिह्न व नाम निम्न हैं—गौरिक—हाथमें कमल तथा कमलोंकी माला सहित। गान्धार—लाल मालाएँ तथा लाल कम्बलके वस्त्रोंसे युक्त। मानवपुत्रक—नाना वर्णोंसे युक्त पीले वस्त्रोंसहित। मनुपुत्रक—कुछ-कुछ लाल वस्त्रोंसे युक्त एवं मणियोंके आभूषणोंसे सहित। मूलवीर्य—हाथोंमें औषधि तथा शरीरपर नाना प्रकारके आभूषणों और मालाओं सहित। भूमितुण्ड—सर्व ऋतुओंकी सुगन्धिसे युक्त स्वर्णमय आभरण व मालाओं सहित। शंकुक—चित्रविचित्र कुण्डल तथा सर्पाकार बाजूबन्दसे युक्त। कौशिक—मुकुटोंपर सेहरे व मणिमय कुण्डलोंसे युक्त।

३. मातंग विद्याधरोंके चिह्न—दे० मातंगवंश सं० १।

४. विद्याधरवंशकी वंशावली

१. **विनमिके पुत्र**—ह. पु./२२।१०३–१०६ "राजा विनमिके संजय, अरिंजय, शत्रुंजय, धनंजय, मणिचूल, हरिश्मश्रु, मेघानीक, प्रभंजन, चूडामणि, शतानीक, सहस्रानीक, सर्वंजय, वज्रबाहु, और अरिंदम आदि अनेक पुत्र हुए।…पुत्रोंके सिवाय भद्रा और सुभद्रा नामकी दो कन्याएँ हुईं। इनमें-से सुभद्रा भरत चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें-से एक स्त्री-रत्न थी।

२. **नमिके पुत्र**—ह. पु./२२/१०७–१०८ नमिके भी रवि, सोम, पुरुहूत, अंशुमान, हरिजय, पुलस्त्य, विजय, मातंग, वासव, रत्नमाली (ह. पु./१३/२०) आदि अत्यधिक कान्तिके धारक अनेक पुत्र हुए और कनकपुंजश्री तथा कनकमंजरी नामकी दो कन्याएँ भी हुईं।

ह. पु./१३/२०–२५ नमिके पुत्र रत्नमालीके आगे उत्तरोत्तर रत्नवज्र, रत्नरथ, रत्नचित्र, चन्द्ररथ, वज्रजंघ, वज्रसेन, वज्रदंष्ट्र, वज्रध्वज, वज्रायुध, वज्र, सुवज्र, वज्रभृत्, वज्राभ, वज्रबाहु, वज्रसंज्ञ, वज्रास्य, वज्रपाणि, वज्रजानु, वज्रवान, विद्युन्मुख, सुवक्त्र, विद्युद्दंष्ट्र, विद्युत्वान्, विद्युदाभ, विद्युद्वेग, वैद्युत इस प्रकार अनेक राजा हुए। (प. पु./५/१६–२१)

प. पु./५/२५–२६…तदनन्तर इसी वंशमें विद्युद्दृढ राजा हुआ (इसने संजयन्त मुनिपर उपसर्ग किया था)। तदनन्तर—

प. पु./५/४८–५४ दृढरथ, अश्वधर्मा, अश्वायु, अश्वध्वज, पद्मनिभ, पद्ममाली, पद्मरथ, सिंहयान, मृगोद्धर्मा, सिंहसप्रभु, सिंहकेतु, शशांकमुख, चन्द्र, चन्द्रशेखर, इन्द्र, चन्द्ररथ, चक्रधर्मा, चक्रायुध, चक्रध्वज, मणिग्रीव, मण्यंक, मणिभासुर, मणिस्यन्दन, मण्यास्य, बिम्बोष्ठ, लम्बिताधर, रक्तोष्ठ, हरिचन्द्र, पुण्यचन्द्र, पूर्णचन्द्र, बालेन्दु, चन्द्रचूड, व्योमेन्दु, उडुपालन, एकचूड, द्विचूड, त्रिचूड, वज्रचूड, भरिचूड, अर्कचूड, वह्निजटी, वह्नितेज, इस प्रकार बहुत राजा हुए। अजितनाथ भगवान्‌के समयमें इस वंशमें एक पूर्णघन नामक राजा हुआ (प. पु./५/७८) जिसके मेघवाहनने धरणेन्द्रसे लंकाका राज्य प्राप्त किया (प. पु./५/१४९–१६०)। उससे राक्षसवंशकी उत्पत्ति हुई।—दे० राक्षस वंश

१५. श्रीवंश

ह. पु./१३/३३ भगवान् ऋषभदेवसे दीक्षा लेकर अनेक ऋषि उत्पन्न हुए उनका उत्कृष्ट वंश श्री वंश प्रचलित हुआ। नोट—इस वंशका नामोल्लेखके अतिरिक्त अधिक विस्तार उपलब्ध नहीं।

१६. सूर्यवंश

ह. पु./१३/३३ ऋषभनाथ भगवान्‌के पश्चात् इक्ष्वाकु वंशकी दो शाखाएँ हो गयीं—एक सूर्यवंश व दूसरी चन्द्रवंश।

प. पु./५/४ "सूर्यवंशकी शाखा भरतके पुत्र अर्ककीर्तिसे प्रारम्भ हुई। क्योंकि अर्क नाम सूर्यका है।

प. पु./५/५६१ इस सूर्यवंशका नाम ही सर्वत्र इक्ष्वाकुवंश प्रसिद्ध है।—दे० इक्ष्वाकुवंश।

१७. सोमवंश

ह. पु./१३/१६ भगवान् ऋषभदेवकी दूसरी रानीसे बाहुबली नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, उसके भी सोमयश नामका सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। 'सोम' नाम चन्द्रमाका है। सो उसी सोमयशसे सोमवंश अथवा चन्द्रवंशकी परम्परा चली। (प. पु./१०/१३)

प. पु./५/२ चन्द्रवंशका दूसरा नाम ऋषिवंश भी है।

ह. पु./१३/१६–१७; प. पु./५/११–१४।
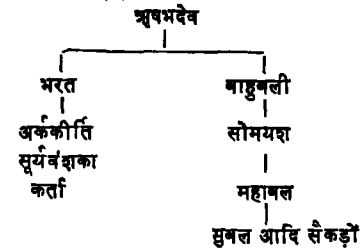
राजा इस वंशमें उत्पन्न हुए।

१८. हरिवंश

ह. पु./१५/५७–५८ हरि राजाके नामपर इस वंशकी उत्पत्ति हुई। (और भी दे० सामान्य राज्य वंश सं. १) इस वंशकी वंशावली आगममें तीन प्रकारसे वर्णन की गयी। जिसमें कुछ भेद हैं। तीनों ही नीचे दी जाती हैं।

१. हरिवंश पुराणकी अपेक्षा

ह. पु./सर्ग/श्लोक सर्व प्रथम आर्य नामक राजाका पुत्र हरि हुआ। इसीसे इस वंशकी उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् उत्तरोत्तर क्रमसे महागिरी, वसुगिरी, गिरि, आदि सैकड़ों राजा इस वंशमें हुए (१५/५७–६१)। फिर भगवान् मुनिसुव्रत (१६/१२), सुव्रत (१६/५५) दक्ष, ऐलेय (१७/२,३), कुणिम (१७/२२) पुलोम, (१७/२४)

तदनन्तर मूल, शाल, सूर्य, अमर, देवदत्त, हरिषेण, नभसेन, शंख, भद्र, अभिचन्द्र, वसु (असत्यसे नरक गया) (१७/३१–३७)।

→ | १७/३१–३७ ←

वृहद्वसु चित्रवसु वासव अर्क महावसु विश्वावसु रवि सूर्य सुवसु वृहद्ध्वज

| (दे.आगे)
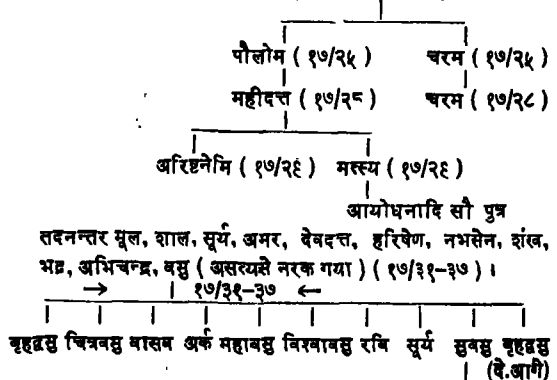
कुंजरावर्त,

तदनन्तर बृहद्रथ, दृढरथ, सुखरथ, दीपन, सागरसेन, सुमित्र, प्रथु, वप्रथु, बिन्दुसार, देवगर्भ, शतधनु,… लाखों राजाओंके पश्चात् निहतशत्रु, सतपति, बृहद्रथ, जरासन्ध व अपराजित, तथा जरासन्धके कालयवनादि सैकड़ों पुत्र हुए थे। (१८/१७–२५) बृहद्वसुका पुत्र सुबाहु तदनन्तर, दीर्घबाहु, वज्रबाहु, लब्धाभिमान, भानु, यवु, सुभानु, कुभानु, भीम आदि सैकड़ों राजा हुए। (१८/१–५) भगवान् नमिनाथके तीर्थमें राजा यदु (१८/५) हुआ जिससे यादववंशकी उत्पत्ति हुई। दे० यादववंश।

२. पद्मपुराणकी अपेक्षा

प. पु./२१/श्लोक सं. हरि, महागिरि, वसुगिरि, इन्द्रगिरि, रत्नमाला, सम्भूत, भूतदेव, आदि सैकड़ों राजा हुए (८-९)। तदनन्तर इसी वंशमें सुमित्र (१०), मुनिसुव्रतनाथ (२२), सुव्रत, दक्ष, इलावर्धन, श्रीवर्धन, श्रीवृक्ष, संजयन्त, कुणिम, महारथ, पुलोमादि, हजारों राजा बीतनेपर वासवकेतु राजा जनक मिथिलाका राजा हुआ। (४९-५५)।

३. महापुराण व पाण्डवपुराणकी अपेक्षा

म. पु./७०/९०-१०१ मार्कण्डेय, हरिगिरि, हिमगिरि, वसुगिरि, आदि सैकड़ों राजा हुए। तदनन्तर इसी वंशमें

पा. पु./७/१२७-१४५
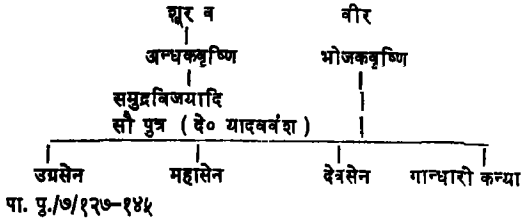
इत्थं—...दे० संस्थान।

इत्वरिका—स. सि./७/२८/३६७/१३ परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी। कुत्सिता इत्वरी कुत्सायां क इत्वरिका। =जिसका स्वभाव अन्य पुरुषोंके पास जाना आना है वह (स्त्री) इत्वरी कहलाती है। इत्वरी अर्थात् अभिसारिका। इसमें भी जो अत्यन्त अचरट होती है वह इत्वरिका कहलाती है, यहाँ कुत्सित अर्थमें 'क' प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द बना है। (रा. वा./७/२८/२/२५/५५४)

इत्सिंग—सि. वि./प्र./२१ पं० महेन्द्रकुमार "चीनी यात्री था। ई. ६७१-६९५ तक भारतकी यात्रा की।" समय-ई. श. ७।

इला—१. हिमवान् पर्वतका एक कूट व उसकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७; २. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

इलावर्धन—वृर्ग देशका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

इलावृत वर्ष—(ज. प./प्र. १४१/A. N. Up; H. L. Jain) पुराणोंके अनुसार इलावृत चतुरस्र है। इधर वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेशका मान १५०×१५० मील है। अतः चतुरस्र होनेके कारण यह 'पामीर' ही इलावृत है।

इषुगति—दे० विग्रह गति/२।

इष्ट—पदार्थकी इष्टतानिष्टता रागके कारणसे है वास्तवमें कोई भी पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं—दे० राग/२।

इष्टवियोगज आर्तध्यान—दे० आर्तध्यान/१।

इष्टोपदेश—आचार्य पूज्यपाद (ई. श. ५) द्वारा रचित यह ग्रन्थ ५१ श्लोकोंमें आध्यात्मिक उपदेश देता है। इसपर पं० आशाधर (ई. ११७३-१२४३) ने एक संस्कृत टीका लिखी है।

इष्वाकार—१. (ज. प./प्र. १०५ Arc.); २. धातकीखण्ड व पुष्करार्ध इन दोनों द्वीपोंकी उत्तर व दक्षिण दिशाओंमें एक-एक पर्वत स्थित है इस प्रकार चार इष्वाकार पर्वत हैं जो उन-उन द्वीपोंको आधे-आधे भागोंमें विभाजित करते हैं। (विशेष—दे० लोक/४/२)

[ई]

ईर्या—स. सि./६/४/३२१/१ ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। =ईर्याकी व्युत्पत्ति ईरणं होगी। इसका अर्थ गति है। (रा. वा./६/४/६/५०८/१७)

ध. १३/५,४,२४/४७/१० ईर्या योगः। =ईर्याका अर्थ योग है।

ईर्यापथकर्म—जिन कर्मोंका आस्रव होता है पर बन्ध नहीं होता उन्हें ईर्यापथकर्म कहते हैं। आनेके अगले क्षणमें ही बिना फल दिये वे झड़ जाते हैं। अतः इनमें एक समय मात्रकी स्थिति होती है अधिक नहीं। मोहका सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जानेपर ही ऐसे कर्म आया करते हैं। १०वें गुणस्थान तक जब तक मोहका किंचित् भी सद्भाव है तब तक ईर्यापथकर्म सम्भव नहीं, क्योंकि कषायके सद्भावमें स्थिति बन्धनेका नियम है।

१. ईर्यापथकर्मका लक्षण

ष. ख. १३/५,४/सू. २४/४७ तं छदुमत्थवीयरायाणं सजोगिकेवलीणं वा तं सव्वमीरियावहकम्मं णाम।२४। =वह छद्मस्थ वीतरागोंके और सयोगिकेवलियोंके होता है, वह सब ईर्यापथकर्म है।

त. सू./६/४ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।४। =कषायसहित और कषायरहित आत्माका योग क्रमसे साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मके आस्रव रूप है।

स. सि./६/४/३२१/१ ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। =ईर्याकी व्युत्पत्ति 'ईरणं' होगी। इसका अर्थ गति है। जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथकर्म है।

रा. वा./६/४/७/५०८/१८ ईरणमीर्या योगगतिः।६।...उपशान्तक्षीणकषाययोः योगिनश्च योगवशादुपात्तं कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुड्यपतितलोष्टवद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते। =ईर्याकी व्युत्पत्ति ईरणं होती है, उसका अर्थ गति है।६। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, और सयोगकेवलीके योगसे आये हुए कर्म कषायोंका चेप न होनेसे सूखी दीवारपर पड़े हुए पत्थरकी तरह द्वितीय क्षणमें ही झड़ जाते हैं, बन्धते नहीं हैं। यह ईर्यापथ आस्रव कहलाता है। (त. सा./४/७)

ध. १३/५,४,२४/४७/१० ईर्या योगः, सः पन्था मार्गः हेतुः यस्य कर्मणः तदीर्यापथकर्म। जोगणिमित्तेणेव जं बज्झइ तमीरियावहकम्मं त्ति भणिदं होदि।

ध. १३/५,४,२४/५१/१ बंधमागयपरमाणू बिदियसमए चेव णिस्सेसं णिज्जरं ति त्ति महव्वयं। =ईर्याका अर्थ योग है। वह जिस कार्माण शरीर का पथ, मार्ग, हेतु है वह ईर्यापथकर्म कहलाता है। योगमात्रके कारण जो कर्म बन्धता है वह ईर्यापथकर्म है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। बन्धको प्राप्त हुए कर्म परमाणु दूसरे समयमें ही सामस्त्यभावसे निर्जराको प्राप्त होते हैं, इसलिए ईर्यापथ कर्मस्कन्ध महान् व्ययवाले कहे गये हैं।

२. नारकियोंके तथा सूक्ष्म गुणस्थान पर्यन्त ईर्यापथकर्म नहीं होता

ध. १३/५,४,३१/९१-९२/५ आधाकम्म-इरियावथकम्म-तवोकम्माणि णत्थि; णेरइएसु ओरालियसरीरस्स उदयाभावादो पंचमहव्वयाभावादो।...सुहुमसांपराइएसु इरियावथकम्मं पि णत्थि, सकसाएसु तदसंभवादो। =अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, और तपकर्म नहीं होते, क्योंकि नारकियोंके औदारिक शरीरका उदय और पाँच महाव्रत नहीं होते।...सूक्ष्मसाम्पराय संयत जीवोंके ईर्यापथकर्म नहीं होता, क्योंकि कषाय सहित जीवोंका ईर्यापथकर्म नहीं हो सकता।

३. ईर्यापथ कर्ममें वर्ण रसादिकी अपेक्षा विशेषताएँ

ध. १३/५,४,२४/ २-४/४८ अप्प बादरं मडुअं बहुअं ल्हुक्खं च सुक्किलं चेव । मंदं महव्वयं पि य सादब्भहियं च तं कम्मं ।२। गहिदमगहिदं च तहा बद्धमबद्धं च पुट्ठमपुट्ठं च । उदिदाणुदिदं वेदिदमवेदिदं चेव तं जाणे ।३। णिज्जरिदाणिज्जरिदं उदीरिदं चेव होदि णायव्वं । अणुदीरिदं त्ति य पुणो इरियावहलक्खणं एदं ।४। ध. १३/५,४,२४/४६-५०/१२ इरियावहकम्मक्खंधा कक्खडादिगुणेण अवोहा मउअफासगुणेण सहिया चेव बंधमागच्छंति त्ति इरियावह-कम्मं मउअं त्ति भण्णदे । सकसायजीववेयणीयसमयपबद्धादो पदेसेहि संखेज्जगुणत्तं दट्ठूण बहुअमिदि भण्णदे ।...पोग्गलपदेसेसु चिरकाला-बट्ठाणणिबंधणणिद्धगुणपडिवक्खगुणेण पडिग्गहियत्तादो ल्हुक्खं ।... इरियावहकम्मस्स कम्मक्खंधा सुअंधा सच्छाया त्ति जाणावणफलो । इरियावहकम्मक्खंधा पंचवण्णा ण होंति, हंसधवला चेव होंति त्ति जाणावणट्ठं सुक्किलणिद्देसो कदो ।...इरियावहकम्मक्खंधा रसेण सक्करादो अहियमहुररसजुत्ता त्ति जाणावणट्ठं मंदणिद्देसो कदो । —वह ईर्यापथकर्म अल्प है, बादर है, मृदु है, बहुत है, रूक्ष है, शुक्ल है, मन्द है, अर्थात् मधुर, महान् व्ययवाला है और अत्यधिक सात रूप है ।२। उसे गृहीत होकर भी अगृहीत, बद्ध होकर भी अबद्ध, स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट, उदित होकर भी अनुदित, और वेदित होकर भी अवेदित जानना ।३। वह निर्जरित होकर भी निर्जरित नहीं है, और उदीरित होकर भी अनुदीरित है । इस प्रकार यह ईर्यापथकर्मका लक्षण है ।४। (इसे अल्प व बादर कहनेका कारण—दे० अगला शीर्षक) ईर्यापथकर्म स्कन्ध कर्कशादि गुणोंसे रहित है, वह मृदु स्पर्शगुणसे संयुक्त होकर ही बन्धको प्राप्त होता है । इसलिए इसे 'मृदु' कहा गया है । कषाय सहित जीवके वेदनीय कर्मके समयप्रबद्धसे यहाँ बँधनेवाला समय प्रबद्ध प्रदेशोंकी अपेक्षा संख्यात गुणा होता है इस-लिए ऐसा देखकर ईर्यापथकर्मको बहुत कहा ।...ईर्यापथकर्म स्कन्ध रूक्ष है, क्योंकि पुद्गल प्रदेशोंमें चिरकाल तक अवस्थानका कारण स्निग्ध गुणका प्रतिपक्षीभूत गुण उसमें स्वीकार किया गया है । ईर्यापथकर्मके स्कन्ध अच्छी गन्धवाले और अच्छी कान्तिवाले होते हैं, यह जताना च शब्दका फल है । ईर्यापथकर्म स्कन्ध पाँचवर्णवाले नहीं होते, किन्तु हंसके समान धवल वर्णवाले ही होते हैं, इस बात-का ज्ञान करानेके लिए गाथामें शुक्ल पदका निर्देश किया है । ईर्या-पथकर्म रसकी अपेक्षा शक्करसे भी अधिक माधुर्ययुक्त होते हैं । इस बातका ज्ञान करानेके लिए गाथामें मन्द पदका निर्देश किया है । (गृहीत अगृहीत, बन्ध अबन्ध, स्पृष्ट अस्पृष्ट कहनेका कारण—दे० शीर्षक सं ४, १२; निर्जरित कहनेका कारण—दे० शीर्षक सं. ५; उदीरित कहनेका कारण—दे० शीर्षक सं. ६)

४. ईर्यापथकर्ममें बन्धकी अपेक्षा विशेषता

ध. १३/५,४,२४/४८/१० कसायाभावेण ट्ठिदिबंधाजोग्गस्स कम्मभावेण परिणयबिदियसमए चेव अकम्मभावं गच्छंतस्स जोगेणागदपोग्गल-क्खंधस्स ट्ठिदिविरहिदएगसमए वट्टमाणस्स कालणिबंधणअप्पत्त-दंसणादो इरियावहकम्ममप्पमिदि भणिदं ।...उप्पण्णबिदियादि-समयाणमवट्ठाणववएसुवलंभादो । ण उप्पत्तिसमओ अवट्ठाणं होदि, उप्पत्तीए अभावप्पसंगादो ।...अट्ठण्णं कम्माणं समयबद्धपदेसेहिंतो इरियावहसमयपबद्धस्स पदेसा संखेज्जगुणा होंति, सादं मोत्तूण अण्णेसिं बंधाभावादो । तेण ढुक्कमाणकम्मक्खंधेहि थूलमिदि बादरं भणिदं ।...कसायाभावेण अणुभागबंधाभावादो । सकसायजीववेय-णीयसमयपबद्दो पदेसेहि संखेज्जगुणत्तं दट्ठूण बहुअमिदि भण्णदे । ध. १३/५,४,२४/५१-५२/१० इरियावहकम्मं गहिदं पि तण्ण गहिदं । कुदो । सरागकम्मगहणमेव अणंतरसंसारफलणिव्वत्तणसत्तिविरहादो ।... बद्धं पि तण्ण बद्धं चेव; बिदियसमए चेव णिज्जरुवलंभादो...पुट्ठं पि तण्ण पुट्ठं चेव; इरियावहबंधस्स संतसहावेण जिणिंदम्मि अव-ट्ठाणाभावादो । —कषायका अभाव होनेसे स्थिति बन्धके अयोग्य है । कर्म रूपसे परिणत होनेके दूसरे समयमें ही अकर्म भावको प्राप्त हो जाता है, और स्थिति बन्ध न होनेसे मात्र एक समय तक विद्य-मान रहता है; ऐसे योगके निमित्तसे आये हुए पुद्गल स्कन्धमें काल निमित्तक अल्पत्व देखा जाता है । इसलिए ईर्यापथकर्म अल्प है ।... क्योंकि उत्पन्न होनेके पश्चात् द्वितीयादि समयोंकी अवस्थान संज्ञा पायी जाती है । उत्पत्तिके समयको ही अवस्थान नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि ऐसा माननेसे उत्पत्तिके अभावका प्रसंग आ जायेगा ।.. आठों कर्मोंके समयप्रबद्ध प्रदेशोंसे ईर्यापथकर्मके समय-प्रबद्ध प्रदेश संख्यात गुणे होते हैं; क्योंकि यहाँ साता वेदनीयके सिवाय अन्य कर्मोंका बन्ध नहीं होता । इसलिए ईर्यापथ रूपसे जो कर्म आते हैं, वे स्थूल हैं, अतः उन्हें 'बादर' कहा है ।...कषायका अभाव होनेसे अनुभाग बन्ध नहीं पाया जाता है । कषाय सहित जीवके वेदनीय कर्मके समयप्रबद्धसे यहाँ बन्धनेवाला समयप्रबद्ध प्रदेशोंकी अपेक्षा संख्यात गुणा होता है । ऐसा देखकर ईर्यापथकर्मको बहुत कहा है । गृहीत होकर भी वह गृहीत नहीं है, क्योंकि वह सरागीके द्वारा ग्रहण किये गये कर्मके समान संसारको उत्पन्न करने-वाली शक्तिसे रहित है । बद्ध होकर भी बद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे समयमें ही उनकी निर्जरा देखी जाती है...स्पृष्ट होकर भी स्पृष्ट नहीं है, कारण कि ईर्यापथ बन्धका सत्त्व रूपसे जिनेन्द्र भगवान्‌के अवस्थान नहीं पाया जाता है । (और भी—दे० ईर्यापथ/३/१)

५. ईर्यापथकर्ममें निर्जराकी अपेक्षा विशेषता

ध. १३/५,४,२४/४१,५४/१ बंधमागयपरमाणू बिदियसमए च णिस्सेसं णिज्जरंति त्ति महव्वयं ॥...णिज्जरिदमपि तण्ण णिज्जरिदं, सकषाय-कम्मणिज्जरा इव अण्णेसिमणंताणं कम्मक्खंधाणं बंधमकाऊण णिज्जि-ण्णत्तादो । —बन्धको प्राप्त हुए परमाणु दूसरे समयमें ही सामस्त्य भावसे निर्जराको प्राप्त होते हैं, इसलिए ईर्यापथकर्म स्कन्ध महान् व्ययवाले कहे गये हैं ।...निर्जरित होकर भी वह ईर्यापथकर्म निर्ज-रित नहीं है, क्योंकि कषायके सद्भावमें जैसी कर्मोंकी निर्जरा होती है वैसी अन्य अनन्त कर्म स्कन्धोंकी, बन्धके बिना ही निर्जरा होती है । (और भी—दे० ईर्यापथ/४/२)

६. ईर्यापथकर्ममें उदय उदीरणाकी अपेक्षा विशेषता

ध. १३/५,४,२४/५२-५४/क्रमशः ७,२,६ उदिण्णमपि तण्ण उदिण्णं दड्ढगोहूमरासि व्व पत्तणिव्वीयावत्तादो । (५२/७) वेदिदं पि असाद-वेदणीयं ण वेदिदं; सगसहकारिकारणघादिकम्माभावेण दुक्खजणण-सत्तिरोहादो (५३/२) । उदीरिदं पि ण उदीरिदं, बंधाभावेण जम्मंतरुप्पायणसत्तीए अभावेण च णिज्जराए फलाभावादो (५४/६) । —उदीरणा होकर भी उदीर्ण नहीं हैं, क्योंकि वे दग्ध गेहूँके समान निर्बीज भावको प्राप्त हो गये हैं । (१०) । असाता वेदित होकर भी वेदित नहीं है, क्योंकि अपने सहकारी कारण रूप घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे उसमें दुःखको उत्पन्न करनेकी शक्ति माननेमें विरोध आता है । (११) । उदीरित होकर भी वे उदीरित नहीं हैं क्योंकि बन्धका अभाव होनेसे और जन्मान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिका अभाव होनेसे निर्जराका कोई फल नहीं देखा जाता ।

७. ईर्यापथकर्ममें सुखकी विशेषता

ध. १३/५,४,२४/५१/३ देव-माणुससुहेहिंतो बहुयरसुहुप्पायणत्तादो इरियावहकम्मं सादब्भहियं । —देव और मनुष्योंके सुखसे अधिक सुखका उत्पादक है, इसलिए ईर्यापथकर्मको अत्यधिक साता रूप कहा है ।

८. ईर्यापथके रूक्ष परमाणुओंका बन्ध कैसे सम्भव है

ध.१३/५,४,२४/५०/६ जइ एवं तो इरियावहकम्मम्मि ण क्खंधो, लुक्खेग-गुणाणं परोप्परबंधाभावादो। ण, तत्थ दुरहियाणं बंधुवलंभादो। —प्रश्न—यहाँपर रूक्षगुण यदि इस प्रकार है तो (ईर्यापथ कर्म-बन्धके नियममें कथित रूपसे) ईर्यापथ कर्मका स्कन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि एक मात्र रूक्ष गुणवालोंका परस्पर बन्ध नहीं हो सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि वहाँ भी द्विअधिक गुणवालोंका बन्ध पाया जाता है।

९. ईर्यापथकर्ममें स्थितिका अभाव कैसे कहते हो

ध.१३/५,४,२४/४८/१३ कम्मभावेण एगसमयवट्ठिदस्स कधमवट्ठाणाभावो भण्णदे। ण, उप्पणविदियादिसमयाणवट्ठाणववएसुवलंभादो। ण, उप्पत्तिसमओ अवट्ठाणं होदि, उप्पत्तीए अभावप्पसंगादो। ण च अणुप्पण्णस्स अवट्ठाणमत्थि, अण्णत्थ तहाणुवलंभादो। ण च उप्पत्तिअवट्ठाणाणमेयत्तं, पुव्वुत्तरकालभावियाण-मेयत्तविरोहादो। —प्रश्न—जबकि ईर्यापथ कर्म कर्मरूपसे एक समय तक अवस्थित रहता है, तब उसके अवस्थानका अभाव क्यों बताया? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्पन्न होनेके पश्चात् द्वितीयादि समयोंकी अवस्थान संज्ञा पायी जाती है। उत्पत्तिके समयको ही अवस्थान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे उत्पत्तिके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाये कि अनुत्पन्न वस्तुका अवस्थान बन जायेगा, सो भी बात नहीं है; क्योंकि अन्यत्र ऐसा देखा नहीं जाता। यदि उत्पत्ति और अवस्थानको एक कहा जाये सो भी बात नहीं क्योंकि ये दोनों पूर्वोत्तर कालभावी हैं, इसलिए इन्हें एक माननेमें विरोध आता है। यही कारण है कि यहाँ ईर्यापथ कर्मके अवस्थानका अभाव है।

१०. ईर्यापथकर्ममें अनुभागका अभाव कैसे है

ध.१३/५,४,२४/४६/६ ण कसायाभावेण अणुभागबंधाभावादो। कम्मइयक्खंधाण कम्मभावेण परिणमणकाले सव्वजीवेहि अणंतगुणेण अणुभागेण होदव्वं, अण्णहा कम्मभावपरिणामाणुववत्तीदो त्ति। ण एस दोसो जहण्णाणुभागट्ठाणस्स जहण्णफद्दयादो अणंतगुणहीणाणुभागेण कम्म-क्खंधो बंधमागच्छदि त्ति कादूण अणुभागबंधो णत्थि त्ति भण्णदे। तेण बंधो एगसमयट्ठिदिणिवत्तयअणुभागसहियो अत्थि चेवे त्ति घेत्तव्वो। —प्रश्न—कार्माण स्कन्धोंका कर्मरूपसे परिणमन करनेके एक समयमें ही सब जीवोंसे अनन्तगुणा अनुभाग होना चाहिए, क्योंकि अन्यथा उनका कर्मरूपसे परिणमन करना नहीं बन सकता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर जघन्य अनुभाग स्थानके जघन्य स्पर्धकसे अनन्तगुणे हीन अनुभागसे युक्त कर्मस्कन्ध बन्धको प्राप्त होते हैं; ऐसा समझकर अनुभाग बन्ध नहीं है, ऐसा कहा है। इसलिए एक समयकी स्थितिका निवर्तक ईर्यापथ कर्मबन्ध अनुभाग सहित है ही, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

११. ईर्यापथकर्मके साथ गोत्रादिका भी बन्ध नहीं होता

ध.१३/५,४,२४/५२/८ इरियावहकम्मस्स लक्खणे भण्णमाणे सेसकम्माणं वावारो किमिदि परूविज्जदे। ण, इरियावहकम्मसहचरिदसेसकम्माणं पि इरियावहत्तसिद्धीए तल्लक्खणस्स वि इरियावहलक्खणत्तुववत्तीदो। —प्रश्न—ईर्यापथ कर्मका लक्षण कहते समय शेष कर्मोंके (गोत्र आदिके) व्यापारका कथन क्यों किया जा रहा है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ईर्यापथके साथ रहनेवाले शेष कर्मोंमें भी ईर्यापथत्व सिद्ध है। इसलिए उनके लक्षणमें भी ईर्यापथका लक्षण घटित हो जाता है।

१२. ईर्यापथकर्मोंमें स्थित जीवोंके देवत्व कैसे है

ध.१३/५,४,२४/५१/८ जलमज्झणिवदियतत्तलोहुंडओ व्व इरियावह-कम्मजलं समसव्वजीवपदेसेहि गेण्हमाणो केवली कधं परमप्पण समाणत्तं पडिवज्जदि त्ति भणिदे तण्णिण्णयत्थमिदं वुच्चदे—इरियावह-कम्मं गहिदं पि तण्ण गहिदं। कुदो। सरागकम्मगहणस्सेव अणंत-संसारफलणिव्वत्तणसत्तिविरहादो। —प्रश्न—जलके बीच पड़े हुए तप्तलोह पिण्डके समान ईर्यापथकर्मरूपी जलको अपने सर्वप्रदेशोंसे ग्रहण करते हुए 'केवली जिन' परमात्माके समान कैसे हो सकते हैं? उत्तर—ऐसा पूछनेपर उसका निर्णय करनेके लिए यह कहा गया है कि ईर्यापथकर्म गृहीत होकर वह गृहीत नहीं है, क्योंकि सरागीके द्वारा ग्रहण किये कर्मके समान पुनर्जन्म रूप संसार फलको उत्पन्न करनेवाली शक्तिसे रहित है।

★ **ईर्यापथकर्म विषयक सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ** —दे० वह वह नाम।

ईर्यापथ क्रिया—दे० क्रिया/३।

ईर्यापथ शुद्धि—दे० समिति/१।

ईर्यापथ शुद्धि पाठ व विधि—दे० कृतिकर्म/४।

ईर्यासमिति—दे० समिति/१।

ईशान—१. कल्पवासी स्वर्गोंका दूसरा कल्प—दे० स्वर्ग/५। २. पूर्वोत्तर कोणवाली विदिशा।

ईशित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

ईश्वर—दे० परमात्मा/३।

ईश्वरवाद—दे० परमात्मा/३।

ईश्वर अनीश्वर नय—दे० नय I/५।

ईश्वरसेन—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नन्दिषेण प्रथमके शिष्य तथा नन्दिषेण द्वि०के गुरु थे। —दे० इतिहास/७/१८।

ईषत्प्राग्भार—दे० मोक्ष/१।

ईसवी संवत्—दे० इतिहास/२।

ईहा—यद्यपि साधारणतः प्रतीतिमें नहीं आता परन्तु इन्द्रियों द्वारा पदार्थको जाननेमें क्रम पड़ता है। पहले अवग्रह होता है, तत्पश्चात ईहा आदि। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये अत्यन्त अस्पष्ट ग्रहण को स्पष्ट करनेके प्रति उपयोगकी उन्मुखता विशेषको ईहा कहते हैं। इसलिए इसे मतिज्ञानका भेद माना है।

★ **मतिज्ञान सम्बन्धी भेद**—दे० मतिज्ञान/१।

१. ईहाके लक्षण सम्बन्धी शंका

ध.१३/५,५,२३/२३०/२ अणवगहिदे अत्थे ईहा किण्ण उप्पज्जदे। ण अव-गहिदत्थविसेसाकंखणमीहे त्ति वयणेण सह विरोहावत्तीदो। —प्रश्न—अनवगृहीत अर्थमें ईहाज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थमें उसके विशेषकी जाननेकी इच्छा होना ईहा है' इस वचनके साथ विरोध होता है।

★ **अवग्रह ईहादिका क्रम**—दे० मतिज्ञान/३।

ईहाके प्रमाणपनेकी सिद्धि

रा.वा./१/१५/११/६१/२ ननु ईहाया निर्णयविरोधिनीत्वात् संशयत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्। अर्थादानात्। अवगृह्यार्थं तद्विशेषोपलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा। संशयः पुनर्नार्थविशेषालम्बनः।...एवं-संशयितस्योत्तरकालं विशेषोपलिप्सां प्रति यतनमीहेति संशयादर्थान्तरत्वम्। –प्रश्न—निर्णयात्मक न होनेके कारण ईहाज्ञान संशय रूप है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ईहामें पदार्थ विशेषके निर्णयकी ओर झुकाव होता है जबकि संशयमें किसी एक कोटिकी ओर कोई झुकाव नहीं होता।...संशयका उच्छेद करनेके लिए 'दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकारके एक कोटिके निर्णयके लिए ईहा होती है।

ध.६/१,९–१,१४/१७/३ णेहा संदेहरूवा, विचारबुद्धीदो संदेहविणासुवलंभा। –ईहाज्ञान सन्देह रूप नहीं है, क्योंकि ईहात्मक विचार बुद्धिसे सन्देहका विनाश पाया जाता है।

ध.९/४,१,४५/१४६/७ पुरुषमवगृह्य किमयं दाक्षिणात्य उत उदीच्य इत्येवमादिविशेषाप्रतिपत्तौ संशयानस्योत्तरकालं विशेषोपलिप्सां प्रति यतनमीहा। ततोऽवग्रहगृहीतग्रहणात् संशयात्मकत्वाच्च न प्रमाणमीहाप्रत्यय इति चेदुच्यते—न तावद् गृहीतग्रहणमप्रामाण्यनिबन्धनम्, तस्य संशय-विपर्ययानध्यवसायनिबन्धनत्वात्। न चैकान्तेन ईहा गृहीतग्राहिणी, अवग्रहेण गृहीतवस्त्वंशनिर्णयोत्पत्तिनिमित्तलिङ्गमवग्रहागृहीतमध्यवस्यन्त्या गृहीतग्राहित्वाभावात्। न चैकान्तेन अगृहीतमेव प्रमाणैर्गृह्यते, अगृहीतत्वात् खरविषाणवदसतो ग्रहणविरोधात्। न चेहाप्रत्ययसंशयः, विमर्शप्रत्ययस्य निर्णयप्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तलिङ्गपरिच्छेदनद्वारेण संशयमुदस्यतस्संशयत्वविरोधात्। न च संशयाधारजीवसमवेतत्वादप्रमाणम्, संशयविरोधिनः स्वरूपेण संशयतो व्यावृत्तस्य अप्रमाणत्वविरोधात्। नानध्यायरूपत्वादप्रमाणमीहा, अध्यवसितकतिपयविशेषस्य निराकृतसंशयस्य प्रत्ययस्य अनध्यवसायत्वविरोधात्। तस्मात्प्रमाणं परीक्षाप्रत्यय इति सिद्धः। –प्रश्न—अवग्रहसे पुरुषको ग्रहण करके, क्या यह दक्षिणका रहनेवाला है या उत्तरका, इत्यादि, विशेष ज्ञानके बिना संशयको प्राप्त हुए व्यक्तिके उत्तरकालमें विशेष जिज्ञासाके प्रति जो प्रयत्न होता है वह ईहा है। इस कारण अवग्रहसे गृहीत विषयको ग्रहण करने तथा संशयात्मक होनेसे ईहा प्रत्यय प्रमाण नहीं है। उत्तर—इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि गृहीत ग्रहण अप्रामाण्यका कारण नहीं है, क्योंकि उसका कारण संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय है। दूसरे ईहा प्रत्यय सर्वथा गृहीतग्राही भी नहीं है, क्योंकि अवग्रहसे गृहीत वस्तुके उस अंशके निर्णयकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत लिंगको, जो कि अवग्रहसे नहीं ग्रहण किया है, ग्रहण करनेवाला ईहाज्ञान गृहीतग्राही भी नहीं हो सकता। और एकान्ततः अगृहीतको ही प्रमाण ग्रहण करते हों सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अगृहीत होनेके कारण खरविषाणके समान असत् होनेसे वस्तुके ग्रहणका विरोध होगा। (ध./१३/५.५,२४/२१९/२) ईहा प्रत्यय संशय भी नहीं हो सकता, क्योंकि निर्णयकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत लिंगके ग्रहण द्वारा संशयको दूर करनेवाला विमर्श प्रत्ययके संशयरूप होनेमें विरोध है। संशयके आधारभूत जीवमें समवेत होनेसे भी वह ईहा-प्रत्यय अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि, संशयके विरोधी और स्वरूपतः संशयसे भिन्न उक्त प्रत्ययके अप्रमाण होनेका विरोध है। अनध्यवसाय रूप होनेसे भी ईहा अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि, कुछ विशेषोंका अध्यवसाय करते हुए संशयको दूर करने वाले उक्त प्रत्ययके अध्यवसाय रूप होनेका विरोध है, अतएव परीक्षा प्रत्यय प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। (ध./१३/५,५,२३/२१८/५)

ध. १३/५,५,२३/२१८/३ न चाविशदावग्रहपृष्ठभाविनी ईहा अप्रमाणम्, वस्तुविशेषपरिच्छित्तिनिमित्तभूतायाः परिच्छिन्नतदेकदेशायाः संशय-विपर्ययज्ञानाभ्यां व्यतिरिक्तायाः अप्रमाणत्वविरोधात्। –अविशद अवग्रहके बाद होनेवाली ईहा अप्रमाण है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह वस्तु विशेषकी परिच्छित्तिका कारण है और वह वस्तुके एकदेशको जान चुकी है तथा वह संशय और विपर्यय ज्ञानसे भिन्न है। अतः उसे अप्रमाण माननेमें विरोध आता है।

२. ईहा व धारणामें ज्ञानपनेकी सिद्धि

लघीयस्त्रय/स्वोपज्ञवृत्ति/६ ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात्। –ईहा और धारणाका भी उनके उपयोग विशेषसे ज्ञानात्मकत्व लगा लेना चाहिए।

प्रमाणमीमांसा/१/१/२७ अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह तस्य वा। ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च। ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य 'सति' 'ज्ञानरूपैवेति' युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्याः।

प्रमाणमीमांसा/१/१/३९ ईहाधारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया। –ईहा और धारणा ज्ञानके जनक होनेसे ज्ञानरूप मानना चाहिए।

श्लो. वा. ३/१/१५/२०–२१/४४७/१८ ज्ञानं नेहाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा।२०।...तच्च न व्यवतिष्ठते। विशेषवेदनस्येह दृष्टस्येहात्वसूचनात्।२१। –प्रश्न—अभिलाषारूप माना गया ईहाज्ञान और संस्कार स्वरूप धारणा ज्ञान नहीं सिद्ध हो पाते। क्योंकि अभिलाषा तो इच्छा है, वह आत्माका ज्ञानसे भिन्न स्वतन्त्र गुण है। तथा भावना रूप संस्कार भी ज्ञानसे न्यारा स्वतन्त्र गुण है। अतः इच्छा और संस्कार ज्ञान रूप नहीं हो सकते? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, इस प्रकरणमें वस्तुके अंशोंकी आकांक्षारूप दृढविशेष ज्ञानको ईहापना सूचित किया है।

४. ईहाज्ञान अविशद अवग्रहका ही नहीं अपितु सर्व अवग्रहोंका होता है

ध. १३/५,५,२३/२१७/६ न चाविशदावग्रहपृष्ठभाविन्येव ईहेति नियमः, विशदावग्रहेण पुरुषोऽयमिति अवगृहीतेऽपि वस्तुनि किमयं दाक्षिणात्यः किमुदीच्य इति संशयानस्य ईहाप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्। –अविशद अवग्रहके पीछे होनेवाली ही ईहा है, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है; क्योंकि, विशद अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार ग्रहण किये गये पदार्थमें भी 'क्या यह दाक्षिणात्य है या उदीच्य है', इस प्रकारके संशयको प्राप्त हुए मनुष्यके भी ईहाज्ञानकी उत्पत्ति उपलब्ध होती है।

★ **ईहा व संशयमें अन्तर**—दे० ईहा/२।

★ **ईहा कथंचित् संशय रूप है**—दे० अवग्रह/२/१/२।

५. ईहा व अनुमानमें अन्तर

ध. १३/५,५,२३/२१७/११ नानुमानमीहा, तस्य अनवगृहीतार्थविषयत्वात्। न च अवगृहीतानवगृहीतार्थविषययोः ईहानुमानयोरेकत्वम्, भिन्नाधिकरणयोस्तद्विरोधात्। किं च—नानयोरेकत्वम्, स्वविषयादभिन्न-भिन्नलिङ्गजनितयोरेकत्वविरोधात्। –ईहा अनुमान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अनुमान ज्ञान अनवगृहीत अर्थको विषय करता है, और अवगृहीत अर्थको विषय करनेवाले ईहाज्ञान तथा अनवगृहीत अर्थको विषय करनेवाले अनुमान ज्ञानको एक मानना ठीक नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न अधिकरणवाले होनेसे उन्हें एक माननेमें विरोध

आता है। एक कारण यह भी है कि ईहा ज्ञान अपने विषयसे अभिन्न रूप लिंगसे उत्पन्न होता है, और अनुमान ज्ञान अपने विषयसे भिन्न रूप लिंगसे उत्पन्न होता है, इसलिए इन्हें एक माननेमें विरोध आता है।

★ ईहा व श्रुतज्ञानमें अन्तर—दे० श्रुतज्ञान I/३।

★ ईहा व अवग्रहमें अन्तर—दे० अवग्रह/३/१/२।

★ ईहादि तीन ज्ञानोंको मतिज्ञान व्यपदेश सम्बन्धी शंका समाधान—दे० मतिज्ञान/३।

★ ईहा व धारणामें अन्तर—(दे० धारणा/२)

[उ]

उक्त—मतिज्ञानका एक विकल्प—दे० मतिज्ञान/४।

उग्रतप—एक ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

उग्रवंश—एक पौराणिक वंश—दे० इतिहास/७/३।

उग्रसेन—(भारतीय इतिहास १/२९९)—अपर नाम जनक था—अतः दे० जनक।

म. पु./सर्ग/श्लो "मथुराका राजा व कंसका पिता था।३३-२३। पूर्वभवके बैरसे कंसने इनको जेलमें डाल दिया था।२५-२९। कृष्ण-द्वारा कंसके मारे जानेपर पुनः इनको राज्यकी प्राप्ति हो गयी।३९-५१।"

उग्रादित्याचार्य—(यु. अनु/प्र ४६/पं. जुगलकिशोर) यह ई. श. ९ के एक ब्राह्मण आचार्य थे। आपने 'कल्याणकारण' नामक एक वैद्यक ग्रन्थ लिखा है।

उच्चकुल—दे० वर्णव्यवस्था/१।

उच्चगोत्र—दे० वर्णव्यवस्था/१।

उच्चार—विष्टाको उच्चार कहते हैं। औदारिक शरीरमें उसका प्रमाण—दे० औदारिक/१।

उच्चारणाचार्य—(क. पा. १/प्र. १०/पं. महेन्द्रकुमार) आपने यतिवृषभाचार्य कृत कषाय प्राभृतके चूर्ण सूत्रोंपर विस्तृत उच्चारण-वृत्ति लिखी थी। अतः यतिवृषभाचार्यके अनुसार आपका समय लगभग ई० ६०० होना चाहिए।

उच्छ्वास—स. सि./५/१९/२८८/१ वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षिणात्मना उदस्यमानः कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते। =वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा कोष्ठगत जिस वायुको बाहर निकालता है, उच्छ्वासलक्षण उस वायुको प्राण कहते हैं। (रा. वा./५।१९/३५/४७३/२०) (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/११)

(ध. ६/१,९-१, २८/६०/१) "उच्छ्वसनमुच्छ्वासः।" साँस लेनेको उच्छ्वास कहते हैं।

१. श्वासोच्छ्वास या आनप्राणका लक्षण

प्र. सा./त. प्र./६४६ उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणः। =नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु श्वासोच्छ्वास या आनप्राण है।

गो. जी./जी. प्र./५७४/१०१८/११ में उद्धृत अड्ढस्स अणलस्स य णिरुवहदस्स य हवेज जीवस्स। उस्सासाणिस्सासो एगो पाणोत्ति आहीदो। =जो कोई मनुष्य 'आढ्य' अर्थात् सुखी होइ, आलस्य रोगादिकरि रहित होइ, स्वाधीनताका श्वासोच्छ्वास नामा एक प्राण कहा है। इसीसे अन्तर्मुहूर्तकी गणना होती है।

३. उच्छ्वास नाम कर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९१/६ यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनामा। =जिसके निमित्तसे उच्छ्वास होता है वह उच्छ्वास नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१७/५७८/९); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२१)

ध. ६/१, ९-१, २८/६०/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो उस्सासकज्जुप्पायणक्खमो होदि तस्स कम्मस्स उस्सासो त्ति सण्णा; कारणे कज्जुवयारादो। =जिस कर्मके उदयसे जीव उच्छ्वास और निःश्वासरूप कार्यके उत्पादनमें समर्थ होता है, उस कर्मकी 'उच्छ्वास' यह संज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे है।

४. उच्छ्वास पर्याप्ति व नामकर्ममें अन्तर

रा. वा./८/११/३२/५७९/१५ अत्राह-प्राणापानकर्मोदये वायोर्निष्क्रमणप्रवेशात्मकं फलम्, उच्छ्वासकर्मोदयेऽपि तदेवेति नास्त्यनयोर्विशेष इति। उच्यते···शीतोष्णसंबन्धजनितदुःखस्य पञ्चेन्द्रियस्य यावुच्छ्वासनिःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावुच्छ्वासनामोदयजौ, यौ तु प्राणापानपर्याप्तिनामोदयकृतौ [तौ] सर्वसंसारिणां श्रोत्रस्पर्शानुपलभ्यत्वादतीन्द्रियौ। =प्रश्न—प्राणापानपर्याप्ति नाम कर्मके उदयका भी वायुका निकलना और प्रवेश करना फल है, और उच्छ्वास नामकर्मके उदयका भी वही फल है। इन दोनोंमें कोई भी विशेषता नहीं है? उत्तर—पंचेन्द्रिय जीवोंके जो शीत उष्ण आदिसे लम्बे उच्छ्वास-निःश्वास होते हैं वे श्रोत्र और स्पर्शन इन्द्रियके प्रत्यक्ष होते हैं और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्व संसारी जीवोंके होती है पर वह श्रोत्र व स्पर्शन इन्द्रियसे ग्रहण नहीं की जा सकती।

५. नाड़ी व श्वासोच्छ्वासके गमनागमनका नियम

ज्ञा./२९/९०-९१ षोडशप्रमितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः। अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथाक्रमम्।९०। षट्शतान्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिम्। अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमौ।९१। =यह पवन है सो एक नाड़ीमें नालीद्वयसार्द्ध कहिए अढ़ाई घड़ी तक रहता है, तत्पश्चात् उसे छोड़ अन्य नाड़ीमें रहता है। यह पवनके ठहरनेके कालका परिमाण है।८९। किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने दोनों नाड़ियोंमें एक अहोरात्र परिमाण कालमें पवनका संक्रम क्रमसे १६ बार होना निर्णय किया है।९०। स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें प्राणवायु श्वासोच्छ्वासका गमनागमन एक दिन और रात्रिमें २१६०० बार होता है।९१।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

* प्राणापान सम्बन्धी विषय—दे० प्राण।
* उच्छ्वास प्रकृतिके बंध उदय सत्त्व—दे० वह वह नाम।
* उच्छ्वास निःश्वास नामक काल प्रमाणका एक भेद —
—दे० गणित I/१

उच्छादन—स. सि./६/२५/३३९/१३ प्रतिबन्धकहेतुसंनिधाने सति अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम्। =रोकनेवाले कारणोंके रहनेपर प्रकट नहीं करने की वृत्ति होना उच्छादन है।

उच्छिष्टावली—दे० आवली।

उज्जिह्व—दूसरे नरकका आठवाँ पटल—दे० नरक/५।

उञ्छमनशुद्धि—दे० शुद्धि।

उज्ज्वल—सौमनसस्थ गजदन्त पर्वतपर स्थित एक कूट तथा उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

उज्ज्वलित—तीसरे नरकका सातवाँ पटल—दे० नरक/५।

उटुंबरी—आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

उडंडवशमीव्रत—(व्रत-विधान संग्रह/पृ. १३१), (नवलसाहकृत वर्द्धमान पुराण), विधि—दशमी उडंड उडंड आहार। पाँच घरनि मिलि जो अविकार।

नोट—यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।

उत्कर्षण—ध./ १०/४,२,४,२१/५२/४ कम्मपदेसट्ठिदिवड्ढावणमुक्कड्डणा। =कर्मप्रदेशोंकी स्थिति (व अनुभाग) को बढ़ाना उत्कर्षण कहलाता है।

गो. क./जी.प्र./४३८/५९१/१४ स्थित्यनुभागयोर्वृद्धिः उत्कर्षणं। =स्थित और अनुभागकी वृद्धिको उत्कर्षण कहते हैं।

गो. जी./भाषा/२५८/५६६/१७ नीचले निषेकनिका परमाणू ऊपरिके निषेकनिविषै मिलावना सो उत्कर्षण है। (ल.सा./भाषा/५५/८७/४)

२. उत्कर्षण योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./४४४/५९५ बंधुक्कट्टकरणं सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण। =बन्धकरण और उत्कर्षणकरणमें दोनों, जिस-जिस प्रकृतिकी जहाँ बन्ध व्युच्छित्ति भई, तिस-तिस प्रकृतिकका (बन्ध व उत्कर्षण भी) तहाँ ही पर्यंत नियमकरि जानने।

३. उत्कर्षण सम्बन्धी कुछ नियम

क्ष. सा./मू./४०२ संकामेदुक्कट्टदि जे अंसेते अवट्ठिदा होंति। आवलियं से काले तेण परं होंति भजियव्वं।४०२। नियम नं. १—संक्रमणविषै जे प्रकृतिके परमाणू उत्कर्षण रूप करिए है, ते अपने कालविषै आवलिकाल पर्यंत तौ अवस्थित ही रहैं। तातै परै भजनीय हो है, अवस्थित भी रहैं और स्थिति आदिकी वृद्धि हानि आदि रूप भी होंइ।

क.पा./५/४-२२/§५७२,३३६/३३९ उक्कड्डिदे अणुभागट्ठाणाविभागपडिच्छेदाणं वुड्ढीए अभावादो···बंधेण विणा तदुक्कड्डणाणुववत्तीदो।३३६-१। परमाणूणं बहुत्तमप्पत्तं वा अणुभागवड्ढिहाणीणं ण कारणमिदि बहुसो परूविदत्तादो।३३९-१२। नियम नं. २—उत्कर्षणके होनेपर अनुभागस्थानके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि बन्धके बिना उसका उत्कर्षण नहीं बन सकता। नियम नं. ३—परमाणुओंका बहुतपना या अल्पपना, अनुभागकी वृद्धि और हानिका कारण नहीं है, अर्थात् यदि परमाणु बहुत हों तो अनुभाग भी बहुत हो और यदि परमाणु कम हों तो अनुभाग भी कम हो, ऐसा नहीं है, यह अनेक बार कहा जा चुका है।

ध./ १०/४,२,४,११/४३/५ बंधाणुसारिणीए उक्कड्डणाएगुणपदेसविण्णासाणुववत्तीदो।

ध./ १०/४,२,४,१४/४१/६ जस्स समयपबद्धस्स सत्तिट्ठिदी वट्टमाणबंधट्ठिदिसमाणा सो समयपबद्धो वट्टमाणबंधचरियट्ठिदि त्ति उक्कड्डिज्जदि।

ध./ १०/४,२,४,२१/५२/१ उदयावलियट्ठिदिपदेसा ण उक्कड्डिज्जंति। ···उदयावलियबाहिरट्ठिदीओ सव्वाओ [ण] उक्कड्डिज्जंति। किंतु चरिमट्ठिदी आवलियाए असंखेज्जदिभागमेइच्छिदूण आवलियाए असंखेज्जदिभागे उक्कड्डिज्जदि, उवरि ट्ठिदिबंधाभावादो।·· अइच्छावणाणिक्खेवाभावा णत्थि उक्कड्डणा हेट्ठा। =नियम नं. ४—उत्कर्षण बन्धका अनुसरण करनेवाला होता है, इसलिए उसमें दूसरे प्रकारसे प्रदेशोंकी रचना नहीं बन सकती। नियम नं. ५—जिस समयप्रबद्धकी शक्तिस्थिति वर्तमानमें बाँधे हुए कर्मकी अन्तिम स्थितिके समान है उस समयप्रबद्धका वर्तमानमें बँधे हुए कर्मकी अन्तिम स्थिति तक उत्कर्षण किया जाता है। नियम नं. ६—उदयावलीकी स्थितिके प्रदेशोंका उत्कर्षण नहीं किया जाता है। नियम नं. ७—उदयावलीके बाहरकी सभी स्थितियोंका (भी) उत्कर्षण (नहीं) किया जाता है। किन्तु चरम स्थितिके आवलीके असंख्यातवें भागको अतिस्थापना रूपसे स्थापित करके आवलिके असंख्यात बहुभागका उत्कर्षण होता है। क्योंकि इससे ऊपर स्थितिबन्धका अभाव है। अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव होनेसे नीचे उत्कर्षण नहीं होता है।

क. पा. ७/५-२२/§४३१/२४४ विशेषार्थ "यह पहले बतला आये हैं कि उत्कर्षण सब कर्मपरमाणुओंका न होकर कुछका होता है और कुछका नहीं। जिनका नहीं होता उनका संक्षेपसे ब्योरा इस प्रकार है—१. उदयावलीके भीतर स्थित कर्मपरमाणुओंका उत्कर्षण नहीं होता। २. उदयावलिके बाहर भी सत्तामें स्थित जिन कर्मपरमाणुओंकी कर्मस्थिति (स्थिति) उत्कर्षणके समय बँधनेवाले कर्मोंकी आबाधाके बराबर या उससे कम शेष रही है, उनका भी उत्कर्षण नहीं होता। ३. निर्व्याघात दशामें उत्कर्षणको प्राप्त होनेवाले कर्मपरमाणुओंकी अतिस्थापना कमसे कम एक आवली प्रमाण बतलायी है, इसलिए अतिस्थापनारूप द्रव्यमें उत्कर्षित द्रव्यका निक्षेप नहीं होता। ४. व्याघात दशामें कमसे कम आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण अतिस्थापना और इतना ही निक्षेप प्राप्त होनेपर उत्कर्षण होता है। अन्यथा नहीं होता। नोट—(इस विषयका विस्तार—दे० (क. पा. सुत्त/६-२२/सूत्र ४-४७/पृ० २१४-२१९); (क. पा. ७/५-२२/§४२६-४७४/पृ. २४२-२७३)

४. व्याघात व अव्याघात उत्कर्षण निर्देश

क.पा.७/५-२२/§४३१/२४५/१ विशेषार्थ—"जहाँ अति स्थापना एक आवली और निक्षेप आवलीका—असंख्यातवाँ भाग आदि बन जाता है वहाँ निर्व्याघात दशा होती है। और जहाँ अतिस्थापनाके एक आवली प्रमाण होनेमें बाधा आती है वहाँ व्याघात दशा होती है। जब प्राचीन सत्तामें स्थित कर्म परमाणुओंकी स्थितिसे नूतनबन्ध अधिक हो, पर इस अधिकका प्रमाण एक आवलि और एक आवलिके असंख्यातवें भागके भीतर ही प्राप्त हो, तब यह व्याघात दशा होती है। इसके सिवा उत्कर्षणमें सर्वत्र निर्व्याघात दशा ही जानना।"

५. स्थिति बन्धोत्सरण निर्देश

ल.सा./भाषा/३१४/३९९/३ जैसे स्थिति बन्धापसरणकरि (दे० अपकर्षण/३) घटतै स्थितिबन्ध घटाइ एक-एक अन्तर्मुहूर्तविषै समान बन्ध करै था, तैसै इहाँ स्थितिबन्धोत्सरणकरि स्थिति बन्ध बधाइ एक एक अन्तर्मुहूर्तविषै समान बन्ध करै है।

६. उत्कर्षण विधान तथा जघन्य उत्कृष्ट अतिस्थापना व निक्षेप

१. दृष्टि नं० १

ल.सा./मू./६१-६४ सत्तग्गट्ठिदिबंधो अदिठिदुक्कट्टणे जहण्णेण। आवलिअसंखभागं तेत्तियमेत्तेव णिक्खिवदि।६१। तत्तोदित्थावणगं बड्ढदि

आबाधाह्री तद्रुक्कस्सं । उवरीदो णिक्खेओ वरं तु बंधिय ठिदि जेट्ठं ।६२। बोलिय बंधावलियं उक्कड्डिय उदयदो दु णिक्खिविय। उवरिमसमये विदियावलिपढमुक्कट्टणे जादो ।६३। तक्कालवज्जमाणे वारट्ठिदीए अदिरिथयाबाहं । समयजुदावलियाबाहूणो उक्कस्सठिदिबंधो ।६४। =मूल भाषाकार कृत विस्तार—अव्याघात विषै स्थितिका उत्कर्षण होतै विधान कहिए है । पूर्वै जे सत्ता रूप निषेक थे तिनिविषै जो अन्तका निषेक था ताका द्रव्यको उत्कर्षण करनेका समय विषै बन्ध्या जो समयप्रबद्ध, तीहिं विषै जो पूर्व सत्ताका अन्तनिषेक जिस समय उदय आवने योग्य है तिसविषै उदय आवनेयोग्य बन्ध्या समयप्रबद्धका निषेक, तिस निषेकके उपरिवर्ती आवलीका असंख्यात भागमात्र निषेकको अतिस्थापना रूप राखि तिनिके उपरिवर्ती जे तितने ही आवलीके असंख्यातभागमात्र निषेक तिनि विषै तिस सत्ताका अन्त निषेकका द्रव्यको निक्षेपण करिए है । यहु उत्कर्षण विषै जघन्य अतिस्थापना और जघन्य निक्षेप जानना। **संदृष्टि**—कल्पना करो कि पूर्व सत्ताका अन्तिम निषेक जिस समय उदय होगा उस समयमें वर्तमान समयप्रबद्धका ५०वाँ निषेक उदय होना है । तहाँ तिस ५०वेंसे ऊपर ५१ आदि आ./असं. निषेक अर्थात् १६/४=४ निषेक अर्थात् ५१—५४ निषेकोंको अतिस्थापना रूप रखकर तिनके ऊपरवाले आवलीके असंख्यातभागमात्र (५४–५८) निषेकोंमें निक्षेपण करता है । तहाँ ५१–५४ तो आ./असं. मात्र निषेक अतिस्थापना रूप है और (५४–५८) आ./असं. मात्र निषेक ही निक्षेप रूप हैं। यह जघन्य अतिस्थापना व जघन्य निक्षेप है।—दे० आगे यंत्र। तिस पूर्व सत्त्वके अन्त निषेकते लगाय ते नीचेके (सत्ताके उपात्तादि) निषेक तिनिका (पूर्वोक्त ही विधानके अनुसार) उत्कर्षण होते, निक्षेप तौ पूर्वोक्त प्रमाण ही रहै अर अतिस्थापना क्रमतै एक-एक समय बँधता होइ सो यावत् आवली मात्र उत्कृष्ट अतिस्थापना होइ तावत् यहू क्रम जानना। (यहाँ अतिस्थापना तो ३६–५४ और निक्षेप ५५–५८ हो जाती है। यथा—**संदृष्टि**—अंक संदृष्टि करि सत्ताके अन्त निषेकको उपांत निषेक जिस समय विषै उदय होगा तिस समय हाल बन्ध्या समयप्रबद्धका ४९वाँ निषेक उदय होगा। सो तिस उपान्त निषेकका द्रव्य उत्कर्षण करि ताको ५०वाँ आदि (५०–५४) पाँच निषेकनिको अतिस्थापना रूप राखि ऊपरि ५५वाँ आदि (५५–५८) चार निषेकनिविषै निक्षेपण करिए। बहुरि ऐसे ही उपांत निषेकतैं निचले निषेकनिका द्रव्य उत्कर्षण करते, बन्ध्या समयप्रबद्धका क्रमतै ४६वाँ, ४८वाँ आदितै लगाइ छः, सात, आठ आदि एक एक बँधते निषेक अतिस्थापना रूप राखि ५५वाँ आदि (पूर्वोक्त हो ५५–५८) निषेकनिविषै निक्षेपण करिए है। तहाँ हाल बन्ध्या समय प्रबद्धका ३८वाँ निषेक जिस समयविषै उदय होगा तिस समय विषै उदय आवने योग्य जो पूर्व सत्ताका निषेक सत्ताका द्रव्यको उत्कर्षण करतै हालबन्ध्या समयप्रबद्धका ३९वाँ आदि १६ निषेकनिकौ (अर्थात् आवली प्रमाण निषेकनिकौ) अतिस्थापनारूप राखै है। सो यहू उत्कृष्ट अतिस्थापना है। इहाँ पर्यन्त (पूर्वोक्त ही) ५५ आदि (५५–५८) चार निषेकनिविषै निक्षेपण जानना।

बहुरि आवलीमात्र अतिस्थापना भये पीछे, ताके नीचे-नीचेके निषेकनिका उत्कर्षण करते अतिस्थापना तौ आवलीमात्र ही रहै अर निक्षेप क्रमतै एक-एक निषेककरि बँधता हो है। अंक संदृष्टि करि जैसे हाल बन्ध्या समयप्रबद्धका ३७वाँ निषेक जिस समय उदय होगा तिस समय विषै उदय आवने योग्य सत्ताके निषेकको उत्कर्षण होतै (पश्चादानुपूर्वीसे) ३८वाँ आदि १६ निषेक (३८–५३) अतिस्थापना रूप हो हैं, ५४वाँ आदि पाँच निषेक (५४–५८) निक्षेप रूप हो हैं। बहुरि ताके नीचेके निषेकका उत्कर्षण होतै ३७वाँ आदि (३७–५२) १६ निषेक अतिस्थापना रूप हो हैं। ५३वाँ आदि (५३–५८) छः निषेक निक्षेप रूप हो हैं। ऐसै अतिस्थापना तौ तितना ही अर निक्षेप क्रमतै बँधता जानना। उत्कृष्ट निक्षेप कहाँ होइ सो कहिए है। कोई जीव पहिले उत्कृष्ट स्थिति बान्ध पीछे ताकी आबाधा विषै एक आवली गमाइ ताके अनन्तर तिस समयप्रबद्धका जो अन्तका निषेक था ताका अपकर्षण कीया। तहाँ ताके द्रव्यको (सत्ताके) अन्तके एक समयाधिक आवलीमात्र निषेकनिविषै तौ न दीया, अवशेष वर्तमान समय विषै उदय योग्य निषेक तैं लगाइ सर्व निषेकनि विषै दीया। ऐसे पहिले अपकर्षण कीया करी। बहुरि ताकै ऊपरिवर्ती अनन्तर समय विषै, पूर्वै अपकर्षण किया करतै जो द्रव्य उदयावली (द्वितीयावली) का प्रथम निषेक विषै दीया था ताका उत्कर्षण किया। तब ताके द्रव्यको तिस उत्कर्षण करनेका समय विषै बन्ध्या जो उत्कृष्ट स्थिति लिये समयप्रबद्ध, ताके आबाधाको उल्लंघ्य पाइये है जे प्रथमादि निषेक, तिनिविषै, अन्तकै समय अधिक आवलीमात्र निषेक छोड़ि अन्य सर्व निषेकनि विषै निक्षेपण करिए है। इहाँ एक समय अधिक आवली करि युक्त जो आबाधा काल तीहिं प्रमाण तौ अतिस्थापना जानना। काहेतै सो कहिए है—जिस द्वितीयावलीका प्रथम निषेकका उत्कर्षण किया सो तो वर्तमान समयतै लगाइ एक-एक समय अधिक आवलीकाल भए उदय आवने योग्य है। अर जिन निषेकनिविषै निक्षेपण किया है, तै वर्तमान समयतै लगाइ बन्धी स्थितिका आबाधाकाल भये उदय आवने योग्य है। सो इनि दोऊनिके बीच एक समय—अधिक आवलीकरि हीन आबाधाकाल मात्र अन्तराल भया द्वितीयावलीके प्रथम निषेकका द्रव्यकौ, बीचमें इतने निषेक उल्लंघ ऊपरिके निषेकनि विषै दीया सोइ इहाँ अतिस्थापनाका प्रमाण जानना। बहुरि इहाँ एक समय अधिक आवली करि युक्त जो आबाधा काल तीहिं करि हीन जो उत्कृष्ट कर्म स्थिति तीहिं प्रमाण <u>उत्कृष्ट निक्षेप</u> जानना। काहे तै सो कहिए है—

एक समय—अधिक आवली मात्र तो अन्तके निषेकनिविषै न दीया अर आबाधाकाल विषै निषेक रचना ही नहीं, तातैं उत्कृष्ट स्थितिविषै इतना घटाया। इहाँ इतना जानना—अपकर्षण द्रव्यका नीचले निषेकनिविषै निक्षेपण कीया ताका जो उत्कर्षण होइ तौ जेती बाकी शक्तिस्थिति होइ तहाँ पर्यंत ही उत्कर्षण होइ, ऊपरि न होइ। शक्तिस्थिति कहा सो कहिये है—विवक्षित समय प्रबद्धका जो अन्तका निषेक ताकौ तो सर्व ही स्थिति व्यक्तिस्थिति है, बहुरि ताके नीचे नीचेके निषेकनिके क्रमतै एक समय घाटि, दोय समय घाटि, आदि स्थिति व्यक्तिस्थिति है। बहुरि प्रथमादि निषेकनिकै सर्व ही स्थिति शक्तिस्थिति है। सो उत्कर्षण कीया द्रव्यको, जेती शक्तिस्थिति होइ तहाँ पर्यंत ही दीजिये है, बहुरि पूर्वै निक्षेप अतिस्थापना कहा ताका अंक संदृष्टिकरि स्वरूप दर्शाइये है—**संदृष्टि**—जैसे पूर्वै समयप्रबद्ध हज़ार समयकी स्थिति लिये बन्ध्या। तामें सोलह समय व्यतीत भये अन्त निषेकका द्रव्यको अपकर्षणकरि आबाधाके ऊपरि तिस स्थितिके निषेक थे, तिनविषै १७ निषेक (समय अधिक आवली) को छोड़ि अन्य सर्व निषेकनिविषै द्रव्य दीया। बहुरि ताकै अनन्तर समय विषै जो तिस अन्त निषेकका द्रव्य, जो उत्कर्षण करनेका समय तै लगाय १७ समय विषै उदय आवने योग्य ऐसा द्वितीयावलीका प्रथम निषेक तिसविषै दीया था ताका उत्कर्षण किया, तब तीहिं समय विषै १००० समय प्रबद्ध प्रमाण स्थितिबन्ध भया। ताकी ५० समय प्रमाण तो आबाधा है और ९५० निषेक हैं। तिनि निषेकनि विषै अन्तके १७ निषेक छोड़ अन्य सर्व निषेकनि विषै तिस उत्कर्षण कीया द्रव्यको निक्षेपण करिए है। ऐसे, इहां वर्तमान समय तै लगाय जाका उत्कर्षण कीया सो तो सतरहवें (१७वें) समय विषै उदय आवने योग्य था, जिस बन्ध्या समयप्रबद्धका प्रथम निषेकविषै दीया, सो ५१वाँ समय विषै उदय आवने योग्य भया। सो इनिके बीचि अन्तराल ३३ समय भया। सोई अतिस्थापना जानना। बहुरि १००० समयकी स्थितिविषै ५० समय आबाधाके और १७ निषेक अन्तके घटाय अवशेष ९३३ निषेकनिविषै

द्रव्य दीया सो यह उत्कृष्ट निक्षेप जानना।—(इसी बातको नीचे यन्त्रों-द्वारा स्पष्ट किया गया है)—

१- जघन्य अतिस्थापना जघन्य निक्षेप

२- उत्कृष्ट अतिस्थापना जघन्य निक्षेप

३ - उत्कृष्ट अतिस्थापना मध्यम निक्षेप

४ - उत्कृष्ट निक्षेप विधान में अपकर्षण विभाग
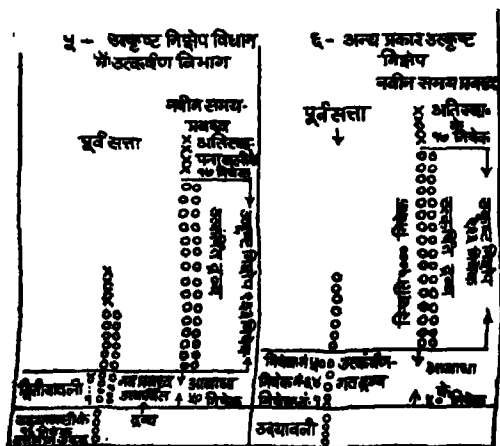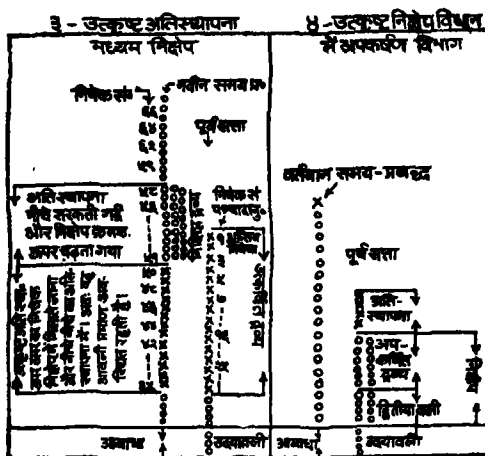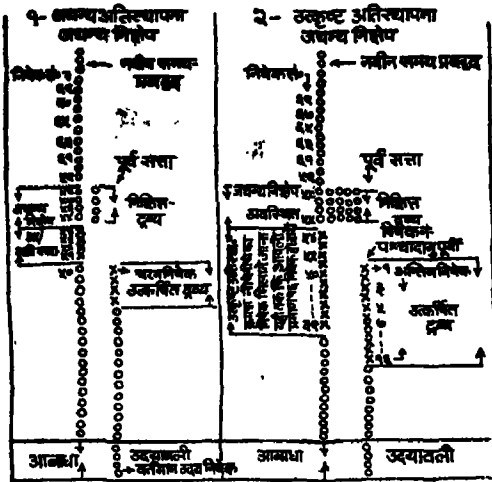
२. दृष्टि नं० २

ल. सा./भाषा/६५-६७ अथवा कोई आचार्यनिके मतकरि निक्षेपणविषै ऐसे निरूपण है—उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बान्धा था, ताकी बन्धावली-को गमाय पीछे ताका प्रथम निषेकका उत्कर्षणकरि ताके द्रव्यकौ तिस उत्कर्षण करनेके समयविषै बान्ध्या जो उत्कृष्ट स्थिति लिये समय प्रबद्ध ताका द्वितीय निषेकका आदि दैकरि अन्त विषै अति-स्थापनावली मात्र निषेक छोड़ि सर्व निषेकनिविषै निक्षेपण किया तहाँ एक समय अर एक आवली अर बन्धी स्थितिका आबाधाकाल इनिकरि हीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप हो है। इहाँ बन्धी जो उत्कृष्ट अस्थिति ताविषै आबाधाकालविषै तौ निषेक रचना नाहीं, अर प्रथम निषेकविषै द्रव्य दीया नाहीं, अर अन्तविषै अतिस्थापनावली विषै द्रव्य न दीया, तातैं पूर्वोक्त प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप जानना। इहाँ पूर्वोक्त प्रकार अंक संदृष्टिकरि कथन जानना।६५। उत्कृष्ट स्थिति लीए जो उत्कर्षण करनेके समय विषय बन्ध्या समयप्रबद्ध ताकी आबाधाकालका जो अग्र कहिए अन्त समय तीहिं सेती लगाय एक समय अधिक आवलीमात्र समय पहिलै उदय आवने योग्य ऐसा जो पूर्व सत्ताका निषेक ताका उत्कर्षण करतैं आवली-मात्र जघन्य अतिस्थापना हो है, जातैं तिस द्रव्यकौ आबाधा विषै जो एक आवलीमात्र काल रह्या, ताको उल्लंघ करि तिस बन्ध्या समयप्रबद्धके प्रथमादि निषेकनिविषै, अन्तविषै अतिस्थापनावली छोड़ि निक्षेपण करिए है।

अंक संदृष्टिकरि—जैसे १००० समयकी स्थिति लीएं समय प्रबद्ध बान्ध्या ताका ५० समय आबाधाकाल ताकै अन्त समयतैं लगाइ १७ समय पहिले उदय आवने योग्य ऐसा वर्तमान समयतैं ३४ वां समय विषै उदय आवने योग्य पूर्व सत्ताका निषेक ताका उत्कर्षण करि तत्काल बन्ध्या समय प्रबद्धका आबाधा काल व्यतीत भये पीछै प्रथमादि समय विषै उदय आवने योग्य १५० निषेक तिनिविषै अन्तकै १७ निषेक छोड़ि प्रथमादि १३३ निषेक विषै निक्षेपण करिए है। इहाँ उत्कर्षण कीया निषेकनिकै और दीये गये प्रथमादि निषेकनिके बीच अन्तराल १६ समयका भया; सोई जघन्य अति-स्थापना जानना।६६। तहाँतै उत्तरि तिसतैं पहिलैं उदय आवने योग्य ऐसा अन्य कोई सत्तास्वरूप समय प्रबद्ध सम्बन्धी द्वितीया-वलीका प्रथम निषेक जो वर्तमान समयतैं आवलीकाल भए पीछे उदय आवने योग्य है, ताका उत्कर्षण होतै, नीचै एक समय अधिक आवलीकरि हीन आबाधा काल प्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना हो है। समय-अधिक-आवलीकरि हीन जो आबाधा ताकौ उल्लंघ ऊपरिके जे निषेक तिनिविषैं अन्तके अतिस्थापनावली मात्र निषेक छोड़ि अन्य निषेकनिविषै तिस द्रव्यकौ दीजिए है। इहाँ पूर्वोक्त प्रकार अंक संदृष्टि आदिकरि कथन जानि लेना।

उत्कर्ष समा—न्याय सू/५-१/४ साध्यदृष्टान्तयोर्द्धर्मविकल्पा-दुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षसमा।४।

न्या. सू./भाष्य/ ५-१/४ दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासजन् उत्कर्षसमः। यदि क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् क्रियावानात्मा लोष्टवदेव स्पर्श-वानपि प्राप्नोति। अथ न स्पर्शवान् लोष्टवत् क्रियावानपि न प्राप्नोति विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। =दृष्टान्तधर्मको साध्यके साथ मिलानेवालेको 'उत्कर्षसमा' कहते हैं। जैसे—आत्मा यदि डेलके समान क्रियावान है तो डेलके समान ही स्पर्शवान् भी हो जाओ। अब वादी यदि आत्माको डेलके समान स्पर्शवान् नहीं मानना चाहेगा तब तो वह आत्मा उसी प्रकार क्रियावान् भी नहीं हो सकेगा। (श्लो. वा. ४/न्या ३४०/४७४-४७५/१)

उत्कल—(म. पु./प्र ४९/पं० पन्नालाल) उड़ीसादेश।

उत्कीरण काल—दे० काल/१।

उत्कलिका—(ध. १/प्र. ९२/H.L. Jane) भीमरथ और कृष्णमेरव (कृष्णा) नदीके बीचका प्रदेश जो अब बेलगाँव व धारवाड़ कह-लाता है।

उत्तमवर्ण—भरतक्षेत्रमें विन्ध्याचल पर स्थित एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

उत्तमार्थ काल—दे० काल/१ ।

उत्तर—१. चय अर्थात Comman difference (विशेष दे० गणित II/५); २. दक्षिण घृतवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यंतर/४ ।

उत्तर कुमार—(पा. पु./सर्ग/ श्लो.) राजा विराटका पुत्र था (१५/४२) इसके पिताके कौरवों द्वारा बाँध लिये जानेपर अर्जुनने इसका सारथी बनकर कौरवोंसे युद्ध किया (१८/६१) फिर कृष्ण जरासन्ध युद्धमें राजा शल्य द्वारा मारा गया (१९/१८३)।

उत्तरकुरु—१. विदेह क्षेत्रमें स्थित उत्तम भोगभूमि है। इसके उत्तरमें नील पर्वत, दक्षिणमें सुमेरु, पूर्वमें माल्यवान गजदन्त और पश्चिममें गन्धमादन गजदन्ता पर्वत स्थित है—दे० श्लोक /३। २. उत्तरकुरु सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ —दे० भूमि/१ ।

(ज.प./प्र.१४०/A. N. Up. & H.L. Jain) दूसरी सदीके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ 'टालमी' के अनुसार 'उत्तर कुरु' पामीर देशमें अवस्थित है। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार यह हिमवानके परे है। इण्डियन ऐंटिक्वेरी १९१९ पृ. ६५ के अनुसार यह शकों और हूणोंके सीमान्त थियानसान पर्वतके तले था। वायुपुराण/४५–५८ के अनुसार "उत्तराणां कुरूणां तु पार्श्वे ज्ञेयं तु दक्षिणे। समुद्रमूर्मिमालाढ्यं नानास्वरविभूषितम्।" इस श्लोकके अनुसार उत्तरकुरु पश्चिम तुर्किस्तान ठहरता है, क्योंकि, उसका समुद्र 'अरलसागर' जो प्राचीनकालमें कैस्पियनसे मिला हुआ था, वस्तुतः प्रकृत प्रदेशके दाहिने पार्श्वमें पड़ता है। श्री राय कृष्णदासके अनुसार यह देश थियासानके अंचलमें बसा हुआ है।

उत्तरकुरु कूट—गन्धमादन पर्वतपर स्थित एक कूट। माल्यवान गजदन्तपर स्थित एक कूट व उसका स्वामी देव—दे० श्लोक/७।

उत्तरकुरुद्रह—उत्तरकुरुमें स्थित १० द्रहोंमें-से दोका नाम उत्तरकुरु है—दे० लेक/७।

उत्तरगुण—भ. आ./वि./११६/२७७/८ प्रगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च। =जिसने संयम धारण किया है, उसको सामायिकादिक, और अनशनादिक भी रहते हैं। अतः सामायिकादिकोंको और तपको उत्तरगुणपना है।

* साधु व श्रावकके उत्तर गुण—दे० साधु/२ तथा श्रावक/५ ।

उत्तरचरहेतु—दे० हेतु ।

उत्तरचूलिका—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

उत्तरदिशा—उत्तर दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा।

उत्तरधन—चयधन—दे० गणित II/५।

उत्तरपुराण—१. आचार्य जिनसेन (ई० ८००–८४८) के 'महापुराण'की पूर्तिके अर्थ उनके शिष्य आचार्य गुणभद्र (ई० ८०३–८९५) ने इसे लिखा था। इसमें भगवान् ऋषभदेवके अतिरिक्त शेष २३ तीर्थंकरोंका वर्णन है। वास्तवमें आचार्य गुणभद्र भी स्वयं इसे पूरा न कर पाये थे। अतः इस ग्रन्थका अन्तिम भाग उनके भी शिष्य लोकचन्द्रने ई० ८९७ में पूरा किया था। इस ग्रन्थमें २९ पर्व हैं तथा ८००० श्लोक प्रमाण है। २. आचार्य सकलकीर्ति (ई० १४३३–१४७३) द्वारा रचित दूसरा उत्तर पुराण है।

उत्तरप्रतिपत्ति—ध. ५/१,६,३७/३२/६ उत्तरमणुज्जुवं आइरियपरंपराएणागदमिदि एयट्ठो। =उत्तर, अनृजु और आचार्य परम्परासे अनागत ये तीनों एकार्थवाची हैं।

ध. १/प्र. ५७/(H.L. Jain) आगममें आचार्य परम्परागत उपदेशोंसे बाहरकी जिन श्रुतियोंका उल्लेख मिलता है वह अनृजु होनेके कारणसे उत्तर प्रतिपत्ति कही गयी है। धवलाकार श्री वीरसेन स्वामी इसको प्रधानता नहीं देते थे। (ध. ३/प्र. १५/H. L. Jain)

उत्तरमीमांसा—दे० 'दर्शन'।

उत्तराध्ययन—द्वादशांग श्रुतज्ञानका ८वाँ अंगबाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III।

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

उत्तराभाद्रपद नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

उत्तराषाढ़ नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

उत्तरित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

उत्तरोत्तर—(ध. ५/प्र. २७) गणित प्रकरणमें successive.

उत्पत्ति—जीवोंकी उत्पत्ति—दे० जन्म।

उत्पन्नस्थानसत्त्व—दे० सत्त्व/१।

उत्पल—पद्म ह्रदमें स्थित एक कूट—दे० लोक/७।

उत्पला—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि तीन वनोंमें स्थित वापियाँ—दे० लोक/७।

उत्पलोज्ज्वला—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि तीनों वनोंमें स्थित वापियाँ—दे० लोक/७।

उत्पात—एक ग्रह—दे० ग्रह।

उत्पातिनी—एक औषधी विद्या—दे० विद्या।

उत्पाद—१. आहारका एक दोष—दे० आहार II/४; २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

उत्पादनोच्छेद—दे० व्युच्छित्ति।

उत्पादपूर्व—श्रुतज्ञानका प्रथम पूर्व—दे० श्रुतज्ञान III.

उत्पादलब्धिस्थान—दे० लब्धि/५।

उत्पादव्ययध्रौव्य—*सत् यद्यपि त्रिकाल नित्य है, परन्तु उसमें बराबर परिणमन होते रहनेके कारण उसमें नित्य ही किसी एक अवस्थाका उत्पाद तथा किसी पूर्ववाली अन्य अवस्थाका व्यय होता रहता है। इसलिए पदार्थ नित्य होते हुए भी कथंचित् अनित्य है और अनित्य होते हुए भी कथंचित् नित्य है। वस्तुमें ही नहीं उसके प्रत्येक गुणमें भी यह स्वाभाविक व्यवस्था निराबाध सिद्ध है।*

१. भेद व लक्षण

१. उत्पाद सामान्यका लक्षण

स. सि./५/३०/१ चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत् उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। —चेतन व अचेतन दोनों ही द्रव्य अपनी जातिको कभी नहीं छोड़ते। फिर भी अन्तरंग और बहिरंग निमित्तके वशसे प्रति समय जो नवीन अवस्थाकी प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। (रा. वा./५/३०/१/४९४/१२)

प्र. सा./त. प्र./९५ उत्पादः प्रादुर्भावः।···यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसंनिधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। —जैसे मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र, धोनेपर निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूप भेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है, उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी, जो कि उचित बहिरंग साधनोंके सान्निध्यके सद्भावमें अनेक प्रकारकी बहुत-सी अवस्थाएँ करता है वह—अन्तरंगसाधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत होनेपर, उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, वह उत्पादसे लक्षित होता है।

पं. ध./पू./२०१ तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः। सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात्। —सत्-तद्भाव और अतद्भावको विषय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सद्भाव तथा असद्भावसे युक्त है। इसलिए उत्पादादिकमें नवीनरूपसे परिणत उस सत्की अवस्थाका नाम उत्पाद है। (और भी—दे० परिणाम)

२. उत्पादके भेद

स. सि./५/७/२७३/५ द्विविध उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। —उत्पाद दो प्रकारका है—स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। (रा. वा./५/७/३/४४६/१४)

प्र. सा./मू./१११ एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं। सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि। —ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य स्वभावमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा सद्भावसम्बद्ध और असद्भावसम्बद्ध उत्पादको सदा प्राप्त करता है। (पं. ध./पू./२०१)

३. स्वनिमित्तक उत्पाद

स. सि./५/७/२७३/५ स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। —स्वनिमित्तक उत्पाद यथा—प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघुगुण स्वीकार किये गये हैं। जिनका छह स्थान पतित हानि और वृद्धिके द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे होता है। (रा. वा./५/७/३/४४६/१४)

४. परनिमित्तक उत्पाद

स. सि./५/७/२७३/७ परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते। —परप्रत्यय भी उत्पाद और व्यय होता है। यथा—ये धर्मादिक द्रव्य क्रमसे अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें कारण हैं। चूँकि इन गति आदिकमें क्षण-क्षणमें अन्तर पड़ता है, इसलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। इस प्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें परप्रत्ययकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। (रा. वा./५/७/३/४४६/१६)

५. सदुत्पाद

प्र. सा./त. प्र./११२ द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव, ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः। —द्रव्यके जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति-

का अच्युतत्व होनेसे द्रव्य अनन्य ही है। इसलिए अनन्यत्वके द्वारा द्रव्यका सदुत्पाद निश्चित होता है। (पं. ध./पू./२०१)

६. असदुत्पाद

प्र. सा./त. प्र./११३ पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते···द्रव्यस्यासदुत्पादः। =पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिके कालमें ही सत् होनेसे उससे अन्य कालोंमें असत् ही हैं। और पर्यायोंका द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुँथा हुआ जो क्रमानुपाती स्वकालमें उत्पाद होता है, उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिका पहले असत्त्व होनेसे पर्यायें अन्य हैं। इसलिए पर्यायोंकी अन्यताके द्वारा द्रव्यका असदुत्पाद निश्चित होता है।

७. व्ययका लक्षण

स. सि./५/३००/५ पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतिर्व्ययः। =पूर्व अवस्थाके त्यागको व्यय कहते हैं। जैसे घटकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकारका त्याग हो जाता है। (रा. वा./५/३०/२/४९५/१)

प्र. सा./त. प्र./९५ व्ययः प्रच्यवनं। =व्यय प्रच्युति है। (अर्थात् पूर्व अवस्थाका नष्ट होना)

८. ध्रौव्यका लक्षण

स. सि./५/३०/३००/७ अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद्ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः। ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। =जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है। इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। तथा इस ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टीके पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमें मिट्टीका अन्वय बना रहता है। (रा. वा./५/३०/३/४९५/३)

प्र. सा./त. प्र./९५ ध्रौव्यमवस्थितिः। =ध्रौव्य अवस्थिति है।

पं. ध./पू./२०४ तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः। यः पूर्वपरिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः। =तद्भावसे वस्तुका नाश न होना, यह जो ध्रौव्यका लक्षण बताया गया है, उसका भी ठीक अर्थ यह है कि जो जो परिणाम (स्वभाव) पहिले था वह वह परिणाम ही पीछे होता रहता है।

२. उत्पादादिक तीनोंका समन्वय

१. उत्पादादिक तीनोंसे युक्त ही वस्तु सत् है

त. सू./५/३० उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।३०। =जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त है वह सत् है। (पं. का./मू./१०) (स. सा./आ./२) (प्र. सा./त. प्र./९९) (का. अ./मू./२३७)

पं. ध./पू./८६ वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामी। तस्मादुत्पादस्थितभङ्गमयं तत् सदेतदिह नियमात्। =जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील भी है, इसलिए यहाँपर यह सत् नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। (पं. ध./पू./८६)

२. तीनों एक सत्के ही अंश हैं

प्र. सा./त. प्र./१०१ पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वाद् बीजाङ्कुरपादपवत्।···द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोऽशाः प्रतिभान्ति। =पर्यायें उत्पाद-व्ययध्रौव्यके द्वारा अवलम्बित हैं, क्योंकि, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अंशोंके धर्म हैं—बीज, अंकुर व वृक्षत्वकी भाँति। द्रव्यके नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहनेवाला भाव, ये तीनों अंश भासित होते हैं।

पं. ध./पू./२०३-२२८ ध्रौव्यं सतः कथंचिद् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः। उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात्।२०३। तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य। नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात्।२०६। ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि। ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत्।२१८। न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण। संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात्।२२५। =पर्यायार्थिकनयसे 'ध्रौव्य' भी कथंचित् सत्का होता है, केवल सत्का नहीं। इसलिए उत्पादव्ययकी तरह यह ध्रौव्य भी सत्का एक अंश है सर्वदेश नहीं है।२०३। उस सत्की अनित्यताका मूलकारण व्यय और उत्पाद हैं, तथा नित्यताका मूलकारण ध्रौव्य है। इस प्रकार वे तीनों ही सत्के अंशात्मक भेद हैं।२०६। प्रश्न—निश्चयसे उत्पाद और व्यय ये दोनों भले अंशस्वरूप होवें, किन्तु त्रिकालगोचर जो ध्रौव्य है, वह कैसे अंशात्मक होगा? ।२१८। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये तीनों अंश अर्थान्तरोंकी तरह अनेक नहीं हैं।२१९। बल्कि ये तीनों एक सत्के ही अंश हैं।२२४। वृक्षमें फल फूल तथा पत्तेकी तरह किसी अंशरूप एक भागसे सत्का उत्पाद अथवा व्यय और ध्रौव्य होते हों, ऐसा भी नहीं है।२२५। वास्तवमें वे उत्पादिक न स्वतन्त्र अंशोंके होते हैं और न केवल अंशीके। बल्कि अंशोंसे युक्त अंशीके होते हैं।२२८।

३. वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है

स. स्तो./२४ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्। नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति।२४। =यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उत्पाद व अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती, और न उसमें क्रिया कारककी ही योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गलपर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है।

आ.मी./३७,४१ नित्यैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते। प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्।३७। क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः। प्रत्यभिज्ञानाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्।४१। =नित्य एकान्त पक्षमें पूर्व अवस्थाके परित्याग रूप और उत्तर अवस्थाके ग्रहण रूप विक्रिया घटित नहीं होती, अतः कार्योत्पत्तिके पूर्वमें ही कर्ता आदि कारकोंका अभाव रहेगा। और जब कारक ही न रहेंगे तब भला फिर प्रमाण और उसके फलकी सम्भावना कैसे की जा सकती है? अर्थात् उनका भी अभाव ही रहेगा।३७। क्षणिक एकान्त पक्षमें भी प्रेत्यभावादि अर्थात् परलोक, बन्ध, मोक्ष आदि असम्भव हो जायेंगे। और प्रत्यभिज्ञान व स्मरणज्ञान आदिके अभावसे कार्यका प्रारम्भ ही सम्भव न हो सकेगा। तब कार्यके आरम्भ बिना पुण्य पाप व सुख-दुःख आदि फल काहे से होंगे।४१।

पं. का./त. प्र./८/१९/७ न सर्वथा नित्यतया सर्वथा क्षणिकतया वा विद्यमानमात्रं वस्तु। सर्वथानित्यवस्तुनस्तत्त्वतः क्रमभुवां भावानामभावात्कुतो विकारवत्त्वम्। सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वतः प्रत्यभि-

ज्ञानाभावात् कुत एक संतानत्वम्। ततः प्रत्यभिज्ञानहेतुभूतेन केनचित्स्वरूपेण ध्रौव्यमालम्ब्यमानं काभ्यां चित्क्रमप्रवृत्ताभ्यां स्वरूपाभ्यां प्रलीयमानमुपजायमानं चैककालमेव परमार्थतस्त्रितयीमवस्थां बिभ्राणं वस्तु सदवबोध्यम्। –विद्यमानमात्र वस्तु न तो सर्वथा नित्यरूप होती है और न सर्वथा क्षणिकरूप होती है। सर्वथा नित्य वस्तुको वास्तवमें क्रमभावी भावोंका अभाव होनेसे विकार (परिणाम) कहाँसे होगा? और सर्वथा क्षणिक वस्तुमें वास्तवमें प्रत्यभिज्ञानका अभाव होनेसे एक प्रवाहपना कहाँसे रहेगा? इसलिए प्रत्यभिज्ञानके हेतुभूत किसी स्वरूपमें ध्रुव रहती हुई और किन्हीं दो क्रमवर्ती स्वरूपोंसे नष्ट होती हुई तथा उत्पन्न होती हुई—इस प्रकार परमार्थतः एक ही कालमें तिगुणी अवस्थाको धारण करती हुई वस्तु सत् जानना।

४. कथंचित् नित्यता व अनित्यता तथा इनका समन्वय

त. सू./५/३२ अर्पितानर्पितसिद्धेः ।३२। –मुख्यता और गौणताकी अपेक्षा एक वस्तुमें विरोधी मालूम पड़नेवाले दो धर्मोंकी सिद्धि होती है। द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है।

पं. का./मू./५४ एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो। इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धम् ।५४। (पं.का./त.प्र./५४) द्रव्यार्थिकनयोपदेशेन न सत्प्रणाशो नासदुत्पादः। तस्यैव पर्यायार्थिकनयादेशेन सत्प्रणाशो असदुत्पादश्च। –इस प्रकार जीवको सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होता है, ऐसा जिनवरोंने कहा है, जो कि अन्योन्य विरुद्ध तथापि अविरुद्ध है ।५४। क्योंकि जीवको द्रव्यार्थिकनयके कथनसे सत्का नाश नहीं है और असत्का उत्पाद नहीं है, तथा उसीको पर्यायार्थिकनयके कथनसे सत्का नाश है और असत्का उत्पाद भी है।

आप्त. मी./५७ न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।५७। –वस्तु सामान्यकी अपेक्षा तो न उत्पन्न है और न विनष्ट, क्योंकि प्रगट अन्वय स्वरूप है। और विशेष स्वरूपसे उपजै भी है, विनाशै भी है। युगपत् एक वस्तुको देखनेपर वह उपजै भी है, विनाशै भी है और स्थिर भी रहे है।

न्या. वि./मू./१/११८/४३५ भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि। अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ।११८। –भेद ज्ञानसे यदि उत्पाद और विनाश प्रतीत होता है तो अभेदज्ञानसे वह सत् या द्रव्य किसी एक स्थिति अंश रूपसे भी सिद्ध है। (विशेष देखो टीका)

क. पा. १/१,१३/§३५/५४/१ ण च जीवस्स दव्वत्तमसिद्धं; मज्झावत्थाए अक्कमेण दव्वत्ताविणाभावितिलक्खणत्तुवलंभादो।

क. पा. १/१,१३/§१८०/२१६/४ सतः आविर्भाव एव उत्पादः, तस्यैव तिरोभाव एव विनाशः इति द्रव्यार्थिकस्य सर्वस्य वस्तु नित्यत्वान्नोत्पद्यते न विनश्यति चेति स्थितम्। –मध्यम अवस्थामें द्रव्यत्वके अविनाभावी उत्पाद व्यय और ध्रुवरूप त्रिलक्षणत्वकी युगपत् उपलब्धि होनेसे जीवमें द्रव्यपना सिद्ध ही है। विशेषार्थ—जिस प्रकार मध्यम अवस्थाके अर्थात् जवानीके चैतन्यमें अनन्तरपूर्ववर्ती बचपनके चैतन्यका विनाश, जवानीके चैतन्यका उत्पाद और चैतन्य सामान्यकी सिद्धि होती है, इसी प्रकार उत्पादव्ययध्रौव्यरूप त्रिलक्षणत्वकी एक साथ उपलब्धि होती है। उसी प्रकार जन्मके प्रथम समयका चैतन्य भी त्रिलक्षणात्मक ही सिद्ध होता है। अर्थ—सत्का आविर्भाव ही उत्पाद है और उसका तिरोभाव ही विनाश है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे समस्त वस्तुएँ नित्य हैं। इसलिए न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है, और न विनष्ट होती है, ऐसा निश्चित हो जाता है। (यो. सा./अ./२/७) (पं. ध./पू./६१,११८)

पं.ध./पू./६०,६१ न हि पुनरुत्पादस्थितिभङ्गमयं तद्विनापि परिणामात्। असतो जन्मत्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ।६०। द्रव्यं ततः कथंचित्कुत्पद्यते हि भावेन। व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया ।६१। –वह सत् भी परिणामके बिना उत्पादस्थिति भंगरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर जगत्में असत्का जन्म और सत्का विनाश दुर्निवार हो जायेगा ।६०। इसलिए निश्चयसे द्रव्य कथंचित् किसी अवस्थासे उत्पन्न होता है और किसी अन्य अवस्थासे नष्ट होता है, किन्तु परमार्थ रीतिसे निश्चय करके ये दोनों (उत्पाद और विनाश) है ही नहीं ।६१।

पं. ध./पू./१२०-१२३, १८४; ३३९-३४० नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणाः। टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ।१२०। न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः। अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तद्द्वयाधारम् ।१२१। दृष्टान्ताभासोऽयं स्याद्वि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि। एके नश्यन्ति गुणाः जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ।१२२। तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि। किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ।१२३। अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोऽप्युत्तरत्र भावश्च। भूत्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नं न भाव इह कश्चित् ।१८४। अयमर्थो वस्तु यथा केवलमिह दृश्यते न परिणामः। नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्याद्न्वयार्थनययोगात् ।३३९। अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु। अभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ।३४०। –नियमसे जो गुण ही परिणमनशील होनेके कारणसे उत्पादव्ययमयी कहलाते हैं, वही गुण टंकोत्कीर्ण न्यायसे अपने-अपने स्वरूपको कभी भी उल्लंघन न करनेके कारण नित्य कहलाते हैं ।१२०। परन्तु ऐसा नहीं है कि यहाँ किसी गुणका तो निरन्वय नाश होना माना गया हो तथा दूसरे गुणोंका उत्पाद माना गया हो। और इसी प्रकार नवीन नवीन गुणोंके उत्पाद और व्ययका आधारभूत कोई द्रव्य होता हो ।१२१। गुणोंको नष्ट व उत्पन्न माननेवाले वैशेषिकोंका 'पिठरपाक' विषयक यह दृष्टान्ताभास है कि मिट्टीरूप द्रव्यमें घड़ा बन जानेपर कुछ गुण तो नष्ट हो जाते हैं और दूसरे पक्वगुण उत्पन्न हो जाते हैं ।१२२। इस विषयमें यह उत्तर ठीक इस मिट्टीमें-से क्या उसका मिट्टीपना नाश हो गया? यदि नष्ट नहीं होता तो वह नित्यरूप कैसे न मानी जाय ।१२३। सारांश यह है कि पहले जो भाव था, उत्तरकालमें भी वही भाव है, क्योंकि यहाँ हो होकर होना यही भाव है। नाश होकर उत्पन्न होना ऐसा भाव माना नहीं गया।१८४। सारांश यह है कि जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है, और परिणाम दृष्टिगत नहीं होते, उस समय तहाँ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तुपनेका नाश नहीं होनेके कारण सम्पूर्ण वस्तु नित्य है।३३९। अथवा जिस समय यहाँ निश्चयसे केवल परिणाम दृष्टिगत होते हैं और वस्तु दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन पर्यायकी उत्पत्ति तथा पूर्व पर्यायका अभाव होनेके कारण सम्पूर्ण वस्तु ही अनित्य है।३४०।

५. उत्पादादिमें परस्पर भेद व अभेदका समन्वय

प्र.सा./मू./१००-१०१ ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो। उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ।१०। उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया। दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ।१०१। –'उत्पाद' भंगसे रहित नहीं होता और भंग बिना उत्पादके नहीं होता। उत्पाद तथा भंग (ये दोनों ही) ध्रौव्य पदार्थके बिना नहीं होते ।१००। उत्पाद ध्रौव्य और व्यय पर्यायोंमें वर्तते

हैं, पर्यायें नियमसे द्रव्यमें होती हैं; इस लिए वह सब द्रव्य है ।१०१। (विशेष दे.त.प्र. टीका)।

रा.वा./५/३०/९-११/४९५-४९६ व्ययोत्पादाव्यतिरेकाद्द्रव्यस्य ध्रौव्यानुपपत्तिरिति चेत्; न; अभिहितानवबोधात् ।९। स्ववचनविरोधाच्च ।१०। उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिरिति चेत्; न; अन्यत्वानन्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तेः ।११। = प्रश्न—व्यय और उत्पाद क्योंकि द्रव्यसे अभिन्न होते हैं, अतः द्रव्य ध्रुव नहीं रह सकता? उत्तर—शंकाकारने हमारा अभिप्राय नहीं समझा। क्योंकि हम द्रव्यसे व्यय और उत्पादको सर्वथा अभिन्न नहीं कहते, किन्तु कथंचित् कहते हैं। दूसरे इस प्रकारकी शंकाओंसे स्ववचन विरोध भी आता है, क्योंकि यदि आपका हेतु साधकत्वसे सर्वथा अभिन्न है तो स्वपक्षकी तरह परपक्षका भी साधक ही होगा। प्रश्न—उत्पादादिकोंका तथा द्रव्यका एकत्व हो जानेसे दोनोंमें लक्ष्यलक्षण भावका अभाव हो जायेगा? उत्तर—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है ऐसा अनेकान्त है।

ध. १०/४,२,३,३/१६/१ अप्पिदपज्जायभावाभावलक्खण-उप्पादविणासवदिरित्तअवट्ठाणाणुवलंभादो। ण च पढमसमए उप्पण्णस्स विदियादिसमएसु अवट्ठाणं, तत्थ पढमविदियादिसमयकप्पणाए कारणाभावादो। ण च उप्पादो चेव अवट्ठाणं, विरोहादो उप्पादलक्खणभाववदिरित्तअवट्ठाणलक्खणाणुवलंभादो च। तदो अवट्ठाणाभावादो उप्पादविणासलक्खणं दव्वमिदि सिद्धं। =(ऋजुसूत्र नयसे) विवक्षित पर्यायका सद्भाव ही उत्पाद है और विवक्षित पर्यायका अभाव ही व्यय है। इसके सिवा अवस्थान स्वतन्त्र रूपसे नहीं पाया जाता यदि कहा जाय कि प्रथम समयमें पर्याय उत्पन्न होती है और द्वितीयादि समयोंमें उसका अवस्थान होता है, सो यह बात भी नहीं बनती, क्योंकि उस (नय) में प्रथम द्वितीयादि समयोंकी कल्पनाका कोई कारण नहीं है। यदि कहा जाय कि उत्पाद ही अवस्थान है सो भी बात नहीं है, क्योंकि, एक तो ऐसा मानने में विरोध आता है, दूसरे उत्पादस्वरूप भावको छोड़कर अवस्थान का और कोई लक्षण (इस नयमें) पाया नहीं जाता। इस कारण अवस्थानका अभाव होनेसे उत्पाद व विनाश स्वरूप द्रव्य है, यह सिद्ध हुआ।

स.म./२१/२६५/१५ ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा। यदि भिद्यन्ते कथमेकं वस्तुत्रयात्मकम्। न भिद्यन्ते चेत् तथापि कथमेकं त्रयात्मकम्। उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवदिति। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्। न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः। तथाहि। उत्पादः केवलो नास्ति। स्थितिविगमरहितत्वात् कूर्मरोमवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वत्। एवं स्थितिः केवला नास्ति विनाशोत्पादशून्यत्वात् तद्वदेव। इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। तथा चोक्तम्—"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ।१। पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः। अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तुत्रयात्मकम् ।२। = प्रश्न—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न? यदि उत्पादादि परस्पर भिन्न हैं तो वस्तुका स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप नहीं कहा जा सकता। यदि वे परस्पर अभिन्न हैं तो उत्पादादिमें-से किसी एकको ही स्वीकार करना चाहिए। उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि हम लोग उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें कथंचित् भेद मानते हैं। अतएव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका लक्षण भिन्न-भिन्न है, इसलिए रूपादिकी तरह उत्पाद आदि कथंचित् भिन्न है। उत्पाद आदि कथंचित् भिन्न है। उत्पाद आदिका भिन्न लक्षणपना असिद्ध भी नहीं है। उत्पाद आदि परस्पर भिन्न होकर भी एक दूसरेसे निरपेक्ष नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा माननेसे उनका आकाशपुष्पकी तरह अभाव मानना पड़ेगा। अतएव जैसे कछुवेकी पीठपर बालोंके नाश और स्थितिके बिना, बालोंका केवल उत्पाद होना सम्भव नहीं है, उसी तरह व्यय और ध्रौव्यसे रहित केवल उत्पादका होना नहीं बन सकता। इसी प्रकार उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय, तथा उत्पाद और नाशसे रहित केवल स्थिति भी संभव नहीं है। अतएव एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप वस्तुका लक्षण स्वीकार करना चाहिए। समन्तभद्राचार्यने कहा भी है—(आप्त.मी./५९-६०)। "घड़े, मुकुट और सोनेके चाहनेवाले पुरुष (सोनेके) घड़ेके नाश, मुकुटके उत्पाद और सोनेकी स्थितिमें क्रमसे शोक, हर्ष और माध्यस्थ भाव रखते हैं। दूधका व्रत लेनेवाला पुरुष दही नहीं खाता, दहीका नियम लेनेवाला पुरुष दूध नहीं पीता और गोरसका व्रत लेनेवाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता। इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है।" (प्र.सा./त.प्र./१००)

न्या. दी./३/§७६/१२३/५ तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणाभेदो मनुष्यदेवपर्यायरूपेण भेद इति प्रतिनियतनयविस्तारविरोधौ भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव। =जीवद्रव्यकी अपेक्षासे अभेद है और मनुष्य तथा देव पर्यायोंकी अपेक्षासे भेद है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयोंकी दृष्टिसे भेद और अभेदके माननेमें कोई विरोध नहीं है। दोनों प्रामाणिक हैं।

पं. ध./पू./२१७ अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मजति तदा हि तत् त्रितयम्। अपि तत्त्रितयं निमजति यदा निमजति स मूलतो भेदः ।२१७। = सारांश यह है कि जिस समय भेद विवक्षित होता है उस समय निश्चयसे वे उत्पादादिक तीनों प्रतीत होने लगते हैं, और जिस समय वह भेद मूलसे ही विवक्षित नहीं किया जाता है उस समय वे तीनों भी प्रतीत नहीं होते हैं।

६. उत्पाद आदि में समय भेद नहीं है

आप्त. मी./५९ घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।५९। = स्वर्ण कलश, स्वर्ण माला तथा स्वर्ण इनके अर्थी पुरुष घटको तोड़ माला करनेमें युगपत् शोक, प्रमोद व माध्यस्थताको प्राप्त होते हैं। सो यह सब सहेतुक है। क्योंकि घट के नाश तथा मालाके उत्पाद व स्वर्णकी स्थिति इन तीनों बातोंका एक ही काल है।

ध. ४/१,५,४/३३५/६ सम्मत्तगहिदपढमसमए णट्ठो मिच्छत्तपज्जाओ। कधमुप्पत्तिविणासाणमेक्को समओ। ण एकम्हि समए पिंडागारेण विणट्ठघडाकारेणुप्पण्णमिट्टियदव्वस्सुवलंभा। = सम्यक्त्व ग्रहण करनेके प्रथम समयमें ही मिथ्यात्व पर्याय विनष्ट हो जाती है। प्रश्न—सम्यक्त्वकी उत्पत्ति और मिथ्यात्वका नाश इन दोनों विभिन्न कार्योंका एक समय कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं क्योंकि, जैसे एक ही समयमें पिण्डरूप आकारसे विनष्ट हुआ घटरूप आकारसे उत्पन्न हुआ मृत्तिका रूप द्रव्य पाया जाता है।

प्र. सा./त. प्र./१०२ यो हि नाम वस्तुनो जन्मक्षणः स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षणः स्थितिक्षणश्च न भवति। इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति। अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगमात्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः। = प्रश्न—वस्तुका जो जन्मक्षण है वह जन्मसे ही व्याप्त होनेसे स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है; जो स्थितिक्षण है वह दोनों (उत्पादक्षण और नाशक्षण) के अन्तरालमें दृढ़तया रहता है इसीलिए (वह) जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है;

और जो नाशक्षण है वह वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाशको प्राप्त होती है, इसलिए, जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है। इस प्रकार तर्कपूर्वक विचार करनेपर उत्पादादिका क्षणभेद हृदयभूमिमें अवतरित होता है ? उत्तर—यह क्षणभेद हृदयभूमिमें तभी उतर सकता है जब यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही ध्रुव रहता है और स्वयं ही नाशको प्राप्त होता है !' किन्तु ऐसा तो माना नहीं गया है। (क्योंकि यह सिद्ध कर दिया गया है कि) पर्यायोंके ही उत्पादादिक है। (तब फिर) वहाँ क्षणभेद कहाँसे हो सकता है।

गो. जी./मं. प्र./८३/२०५/७ परमार्थतः विग्रहगतौ प्रथमसमये उत्तरभवप्रथमपर्यायप्रादुर्भावो जन्म। पूर्वपर्याय विनाशोत्तरपर्यायप्रादुर्भावयोरङ्गुलिऋजुत्वविनाशवक्रत्वोत्पादवदेककालत्वात्। —परमार्थसे विग्रहगतिके प्रथम समयमें ही उत्तर भवकी प्रथम पर्यायके प्रादुर्भावरूप जन्म हो जाता है। क्योंकि, जिस प्रकार अंगुलीको टेढ़ी करनेपर उसके सीधेपनेका विनाश तथा टेढ़ेपनेका उत्पाद एक ही समयमें दिखाई देता है, उसी प्रकार पूर्वपर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका प्रादुर्भाव इन दोनोंका भी एक ही काल है।

पं. ध./पू./२३३-२३६ एवं च क्षणभेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्ववत्त्विति चेत्। २३३/. तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत्। उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोऽपि सिद्धत्वात् ।२३४। अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य। उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य ।२३६। —प्रश्न—बीज अंकुर और वृक्षपनेकी भाँति सत्की उत्पादादिक तीनों अवस्थाओंमें क्षणभेद होता है ।२३३। ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तीनोंमें क्षणभेद नहीं है। परन्तु हेतुसे तथा हेतु साधक दृष्टान्तोंसे भी सिद्ध होनेके कारण ये उत्पादादिक तीनों केवल एक समयवर्ती हैं ।२३४। वह इस प्रकार कि जिस समय अंकुर की उत्पत्ति होती है, उसी समय बीजका नाश होता है और दोनोंमें वृक्षत्व पाया जानेके कारण वृक्षत्वका भी वही काल है ।२३६।

७. उत्पादादिमें समयके भेदाभेद विषयक समन्वय

ध./१२/४,२,१३,२५४/४५७/६ सुहुमसांपराइयचरियसमए वेयणीयस्स उक्कस्साणुभागबंधो जादो। ण च सुहुमसांपराइए मोहणीयभावो णत्थि, भावेण विणा दव्वकम्मस्स अत्थित्तविरोहादो सुहुमसांपराइयसण्णाणुववत्तीदो वा। तम्हा मोहणीयवेयणाभावविसया णत्थि त्ति ण जुज्जदे। एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा—विणासविसए दोण्णि णया होंति उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि। तत्थ उप्पादाणुच्छेदो णाम दव्वट्ठियो। तेण संतावत्थाए चेव विणासमिच्छदि, असन्ते बुद्धिविसयं चाइक्कंतभावेण वयणगोयराइक्कंते अभाववहाराणुववत्तीदो। ण च अभावो णाम अत्थि, तप्परिच्छिंदंतपमाणाभावादो, सन्तविसयाणं पमाणाणमसंते वावारविरोहादो। अविरोहे वा गद्दहसिंगं पि पमाणविसयं होज्ज। ण च एवं, अणुवलंभादो। तम्हा भावो चेव अभावो त्ति सिद्धं। अणुप्पादाणुच्छेदो णाम पज्जवट्ठिओ णओ। तेण असंतावत्थाए अभाववएसमिच्छदि, भावे उवलब्भमाणे अभावत्तविरोहादो। ण च पडिसेहविसओ भावो भावत्तमल्लियइ, पडिसेहस्स फलाभावप्पसंगादो। ण च विणासो णत्थि घडियादीणं सव्वद्धमवट्ठाणाणुवलंभादो। ण च भावो अभावो होदि, *भावाभावाणमण्णोण्णविरुद्धाणमेयत्तविरोहादो।* एत्थ जेण दव्वट्ठियणयो उप्पादाणुच्छेदो अवलंबिदो तेण मोहणीयभाववेयणा णत्थि त्ति भणिदं। पज्जवट्ठियणये पुण अवलंबिज्जमाणे मोहणीयभाववेयणा अणंतगुणहीणा होदूण अत्थि त्ति वत्तव्वं। —सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानके अन्तिम समयमें वेदनीयका अनुभागबन्ध उत्कृष्ट हो जाता है। परन्तु उस सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानमें मोहनीयका भाव नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि, भावके बिना द्रव्य कर्मके रहनेका विरोध है। अथवा वहाँ भावके न माननेपर 'सूक्ष्म-साम्परायिक' यह संज्ञा ही नहीं बनती है। इस कारण (तहाँ) मोहनीयकी भावविषयक वेदना नहीं है यह कहना उचित नहीं है। उत्तर—यहाँ इस शंकाका परिहार करते हैं। विनाशके विषयमें दो नय हैं—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पादानुच्छेदका अर्थ द्रव्यार्थिकनय है। इसलिए वह सद्भावकी अवस्थामें ही विनाशको स्वीकार करता है, क्योंकि, असत् और बुद्धिविषयतासे अतिक्रान्त होनेके कारण वचनके अविषयभूत पदार्थमें अभावका व्यवहार नहीं बन सकता। दूसरी बात यह है कि अभाव नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसके ग्राहक प्रमाणका अभाव है। कारण कि सत्को विषय करनेवाले प्रमाणोंके असत्में प्रवृत्त होनेका विरोध है। अथवा असत्के विषयमें उनकी प्रवृत्तिका विरोध न माननेपर गधेका सींग भी प्रमाणका विषय होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वह पाया नहीं जाता। इस प्रकार भावस्वरूप ही अभाव है यह सिद्ध होता है।

अनुत्पादानुच्छेदका अर्थ पर्यायार्थिकनय है। इसी कारण वह असत् अवस्थामें अभाव संज्ञाको स्वीकार करता है, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें भावकी उपलब्धि होनेपर अभाव रूपताका विरोध है। और प्रतिषेधका विषयभूत, भाव भावस्वरूपताको प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा होनेपर प्रतिषेधके निष्फल होनेका प्रसंग आता है। विनाश नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, घटिका आदिकोंका सर्वकाल अवस्थान नहीं पाया जाता। यदि कहा जाय *कि भाव ही अभाव है (भावको छोड़कर तुच्छाभाव नहीं है)* तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, भाव और अभाव ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव उनके एक होनेका विरोध है। यहाँ चूंकि द्रव्यार्थिक नयस्वरूप उत्पादानुच्छेदका अवलम्बन किया गया है, अतएव 'मोहनीय कर्मको भाव वेदना यहाँ नहीं है' ऐसा कहा गया है। परन्तु यदि पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन किया जाय तो मोहनीयकी भाववेदना अनन्तगुणी हीन होकर यहाँ विद्यमान है ऐसा कहना चाहिए।

गो.क./जी. प्र./६४/८०/११ द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्वस्वगुणस्थानचरमसमये बन्धव्युच्छित्तिः बन्धविनाशः। पर्यायार्थिकनयेन तु अनन्तरसमये बन्धनाशः। = द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे स्व स्व गुणस्थानके चरमसमयमें बन्धव्युच्छित्ति या बन्धविनाश होता है। और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे उस उस गुणस्थानके अनन्तर समयमें बन्धविनाश होता है।

३. द्रव्य गुण पर्याय तीनों त्रिलक्षणात्मक हैं

१. सम्पूर्ण द्रव्य परिणमन करता है द्रव्यांश नहीं

पं.ध./पू./२११-२१५ ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव। भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत्। ।२११। तन्न यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति। अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ।२१२। अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि। एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ।२१३। किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला *भवन्ति ता एव। यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति।२१४।* तस्मात् स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोऽपि सदिति। न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोऽपि वा ध्रौव्यम्। २१५। —प्रश्न—समुद्रकी तरह वस्तुको तो नित्य माना जावे और गुण भी नित्य माने जावे, तथा पर्यायें कल्लोल आदिकी तरह उत्पन्न व नाश होनेवाली मानी जावें। यदि ऐसा कहो तो ? ।२११। उत्तर—वह ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र और लहरोंका दृष्टान्त शंकाकारके प्रकृत अर्थ-

का ही साधक है, तथा शंकाकारके द्वारा नहीं कहे गये प्रकृत अर्थके विपक्षभूत इस वक्ष्यमाण कथंचित् नित्यानित्यात्मक अभेद अर्थका साधक है।२१२। सो कैसे—तरंगमालाओंसे व्याप्त समुद्रकी तरह निश्चयसे किसी भी गुणके परिणामोंसे अर्थात् पर्यायोंसे सतकी अभिन्नता होनेसे उस सतका अपने परिणामोंसे कुछ भी भेद नहीं है।२१३। किन्तु जो ही समुद्र है वे ही तरंगमालाएँ हैं क्योंकि वह समुद्र स्वयं तरंगरूपसे परिणमन करता है।२१४। इसलिये 'सत्' यह स्वयं उत्पाद है स्वयं ध्रौव्य है और स्वयं ही व्यय भी है। क्योंकि सतसे भिन्न कोई उत्पाद अथवा व्यय अथवा ध्रौव्य कुछ नहीं है।२१५। (विशेष दे० उत्पाद /२/५)

रा.वा./पु. ५/२२६ द्रव्यकी पर्यायके परिवर्तन होनेपर अपरिवर्तिष्णु अंश कोई नहीं रहता। यदि कोई अंश परिवर्तनशील और कोई अंश अपरिवर्तनशील हो तो द्रव्यमें सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्यका दोष आता है।

२. द्रव्य जिस समय जैसा परिणमन करता है उस समय वैसा ही होता है

प्र.सा./मू./८-९ परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं। तम्हा धम्म परिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।८। जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो। सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।९। =द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है उस समय तन्मय है, ऐसा कहा है। इसलिए धर्मपरिणत आत्माको धर्म समझना चाहिए।८। जीव परिणामस्वभावी होनेसे जब शुभ या अशुभभावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है।९।

३. उत्पाद व्यय द्रव्यांशमें नहीं पर्यायांशमें होते हैं

पं.का./मू./११ उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो। विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया। =द्रव्यका उत्पाद या विनाश नहीं है, सद्भाव है। उसीकी पर्यायें विनाश उत्पाद व ध्रुवता करती हैं।११। (प्र.सा./मू./२०१)।

पं.ध./मू./१७९ इदं भवति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोऽशस्य। यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य।१७९। =वह परिणमन पूर्वपूर्व भावके विनाश रूपसे नष्ट होनेवाले अंशका और केवल उत्तर-उत्तर भावके उत्पादरूप उत्पन्न होनेवाले अंशका है, परन्तु द्रव्यका नहीं है।

४. उत्पादव्ययको द्रव्यका कहनेका कारण

प्र.सा./मू.२०१ उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया। दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।१०१ =उत्पाद, स्थिति और भंग पर्यायोंमें होता है, पर्याय नियमसे द्रव्यमें होती हैं, इसलिए साराका सारा एक द्रव्य ही है। (विशेष दे० उत्पाद/२/५)।

पं.ध./पू./२०० उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः। ते पर्यायाः द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि तदत्रितयम्।२००। =निश्चयसे उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य ये तीनों पर्यायोंके होते हैं सत्के नहीं, और क्योंकि वे पर्यायें ही द्रव्य हैं, इसलिए द्रव्य ही उत्पादादि तीनोंवाला कहा जाता है।

५. पर्याय भी कथंचित् ध्रुव है

श्लो. वा.२/१-६/१३/३५१/२७ एकक्षणस्थायित्वस्याभिधानात्।

श्लो.वा.२/१-७/२४/५८०/२२ कवलं यथार्जुसूत्रात्क्षणस्थितिरेव भावः स्वहेतोरुत्पन्नस्तथा द्रव्यार्थिकनयात्कालान्तरस्थितिरेवेति प्रतिचक्ष्महे सर्वथाप्यबाधितप्रत्ययात्तत्सिद्धिरिति स्थितिरधिगम्या। =एक क्षणमें स्थितिस्वभावसे रहनेका अर्थ अक्षणिकपना कहा गया है, अर्थात् जो एक क्षण भी स्थितिशील है वह ध्रुव है। जैसे ऋजुसूत्रनयसे एक क्षण तक ही ठहरनेवाला पदार्थ अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, तिस प्रकार द्रव्यार्थिकनयसे जाना गया अधिक काल टहरनेवाला पदार्थ भी अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, यह हम व्यक्त रूपसे कहते हैं। सभी प्रकारों करके बाधारहित प्रमाणोंसे उस कालान्तरस्थायी ध्रुव पर्यायकी सिद्धि हो जाती है।

ध.४/१.५.४/३३६/१२ मिच्छत्तं णाम पज्जाओ। सो च उप्पादविणासलक्खणो, ट्ठिदीए अभावादो। अह जइ तस्स ट्ठिदी वि इच्छिज्जदि, तो मिच्छत्तस्स दव्वत्तं पसज्जदे; '...ण एस दोसो, जमक्कमेण तिलक्खणं तं दव्वं; जं पुण कमेण उप्पादट्ठिदिभंगिलं सो पज्जाओ त्ति जिणोवदेसादो। =प्रश्न—मिथ्यात्व नाम पर्यायका है, वह पर्याय उत्पाद और व्यय लक्षणवाली है, क्योंकि, उसमें स्थितिका अभाव है, और यदि उसके स्थिति भी मानते हैं तो मिथ्यात्वके द्रव्यपना प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, जो अक्रमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंवाला होता है वह द्रव्य होता है और जो क्रमसे उत्पाद स्थिति और व्यय वाला होता है वह पर्याय है, इस प्रकारसे जिनेन्द्रका उपदेश है।

प्र.सा./त.प्र./१८ अखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्। =सर्व द्रव्योंका किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रौव्य होता है।

पं.ध./पू./२०३ ध्रौव्यं ततः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः। उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात्।२०३। =पर्यायार्थिक नयसे ध्रौव्य भी कथंचित् सत्का होता है, केवल सतका नहीं। इसलिए उत्पाद व्ययकी भाँति वह ध्रौव्य भी सत्का एक अंश (पर्याय) है परन्तु सर्व देश नहीं।

६. द्रव्य गुण पर्याय तीनों सत् हैं

प्र.सा./मू./१०७ सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो। जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो। =सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय इस प्रकार सत्ता गुणका विस्तार है।

७. पर्याय सर्वथा सत् नहीं है

ध. १५/१/१७ असदकरणदुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।१। (सांख्य कारिका ९)—इति के वि भणंति। एदं पि ण जुज्जदे। कुदो। एयंतेण संते कत्तारवावारस्स विहलत्तप्पसंगादो, उवायाणग्गहणाणुववत्तीदो, सव्वहा संतस्स संभवविरोहादो, सव्वहा संते कज्जकारणभावाणुववत्तीदो। किंच—विप्पडिसेहादो ण संतस्स उप्पत्ती। जदि अत्थि, कधं तस्सुप्पत्ती। अह उप्पज्जई, कधं तस्स अत्थित्तमिदि। =प्रश्न—चूँकि असत् कार्य किया नहीं जा सकता है, उपादानोंके साथ कार्यका सम्बन्ध रहता है, किसी एक कारणसे सभी कार्योंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, समर्थ कारणके द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है, तथा कार्य कारण-स्वरूप ही है—उससे भिन्न सम्भव नहीं है, अतएव इन हेतुओंके द्वारा कारण व्यापारसे पूर्व भी कार्य सत् ही है, यह सिद्ध है।१। (सांख्य) उत्तर—इस प्रकार किन्हीं कपिल आदिका कहना है जो योग्य नहीं है। कारण कि कार्यको सर्वथा सत् माननेपर कर्ताके व्यापारके निष्फल होनेका प्रसंग आता है। इसी प्रकार सर्वथा कार्यके सत् होनेपर उपादानका ग्रहण भी नहीं होता। सर्वथा सत् कार्यकी उत्पत्तिका विरोध है। कार्यके सर्वथा सत् होनेपर कार्यकारणभाव ही घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त असंगत होनेसे सत्-कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि, यदि 'कार्य' कारणव्यापारके पूर्वमें भी विद्यमान है तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। और

यदि वह कारण व्यापारसे उत्पन्न होता है, तो फिर उसका पूर्वमें विद्यमान रहना कैसे संगत कहा जावेगा ?

८. लोकाकाशमें भी तीनों पाये जाते हैं

का. अ./मू./११७ परिणामसहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि। तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं ।११७। =परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है, अतः द्रव्य प्रति समय परिणमन करते हैं। उनके परिणमनसे लोकका भी परिणमन जानो।

९. धर्मादि द्रव्योंमें परिणमन है पर परिस्पन्द नहीं

स. सि./५/७/२७३/१ अत्र चोद्यते-धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः। उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति। अतः सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रितय-कल्पनाव्याघात इति। तन्न; किं कारणम्। अन्यथोपपत्तेः। क्रिया-निमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा द्विविध उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च।...षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। =प्रश्न—यदि धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता, क्योंकि घटादिकका क्रियापूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है, और उत्पाद नहीं बननेसे इनका व्यय भी नहीं बनता। अतः 'सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं', इस कल्पनाका व्याघात हो जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि इनमें उत्पादादि तीन अन्य प्रकारसे बन जाते हैं। यद्यपि इन धर्मादि द्रव्योंमें क्रिया निमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है। यथा—उत्पाद दो प्रकारका है—स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। तहाँ इनमें छह स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे (स्वनिमित्तक) होता है। (रा. वा./५/७/३/४४६/१०)

१०. मुक्त आत्माओंमें भी तीनों देखे जा सकते हैं

प्र. सा./मू./१७ भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि। विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ।१७। =उसके (शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त आत्माके) विनाशरहित उत्पाद है, और उत्पादरहित विनाश है। उसके ही फिर ध्रौव्य, उत्पाद और विनाशका समवाय विद्यमान है।१७।

प्र. सा./ता. वृ./१८/१२ सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रयं लोके प्रसिद्धं तथैवामूर्तेऽपि मुक्तजीवे। यद्यपि... १. संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशोभवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति। अथवा २. ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति। ३. षट्स्थानगतागुरुलघुक-गुणवृद्धिहान्यापेक्षया वा भङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम्। —जिस प्रकार स्वर्ण, गोरस, मिट्टी व पुरुषादि मूर्तद्रव्योंमें उत्पादादि तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अमूर्त मुक्तजीवमें भी जानना। १. यद्यपि संसारकी जन्ममरणरूप कारणसमयसारकी पर्यायका विनाश हो जाता है परन्तु केवलज्ञानादिकी व्यक्तिरूप कार्यसमयसाररूप पर्यायका उत्पाद भी हो जाता है, और दोनों पर्यायोंसे परिणत आत्मद्रव्यरूपसे ध्रौव्यत्व भी बना रहता है, क्योंकि, वह एक पदार्थ है। २. अथवा दूसरी प्रकारसे—ज्ञेय पदार्थोंमें प्रतिक्षण तीनों भङ्गों द्वारा परिणमन होता रहता है और ज्ञान भी परिच्छित्तिकी अपेक्षा तदनुसार ही तीनों भङ्गोंसे परिणमन करता रहता है। ३. तीसरी प्रकारसे षट्स्थानगत अगुरुलघुगुणमें होनेवाली वृद्धिहानिकी अपेक्षा भी तीनों भङ्ग तहाँ जानने चाहिए। ऐसा सूत्रका तात्पर्य है। (प. प्र./टी./१/५६); (द्र. सं./टी./१४/४६/१)

उत्पादव्यय सापेक्ष निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय—दे० नय IV/२।

उत्प्रेक्षा—एक अर्थालंकार। इसमें भेदज्ञानपूर्वक उपमेयमें उपमानकी प्रतीति होती है।

उत्संज्ञासंज्ञ—अपर नाम अवसन्नासन्न। क्षेत्र प्रमाणका एक भेद है—दे० गणित I/१।

उत्सरण—स्थिति बन्धोत्सरण—दे० उत्कर्षण।

उत्सर्ग—स. सि./१/३३/१४०/६ द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। =द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है। उसको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिकनय है।

द. पा./टी./२४/२१/२० सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः। =सामान्य रूपसे कही जानेवाली विधिको उत्सर्ग कहते हैं।

२. अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जितोत्सर्ग

स. सि./७/३४/३७०/११ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां भूमौ मूत्रपुरीषोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। =बिना देखी और बिना प्रमार्जित (पीछी आदिसे झाड़ी गयी) भूमिमें मलमूत्रका त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है।

उत्सर्ग तप—दे० व्युत्सर्ग/३।

उत्सर्ग व अपवाद पद्धति—दे० पद्धति।

उत्सर्ग मार्ग—दे० अपवाद।

उत्सर्ग लिंग—दे० लिंग/१।

उत्सर्ग समिति—प्रतिष्ठापना समिति—दे० समिति/१।

उत्सर्पिणी—१० कोड़ाकोड़ी सागरोंका एक उत्सर्पिणी काल होता है। इस काल सम्बन्धी विशेषताएँ—दे० काल/४।

उत्साह—भूत कालीन १५वें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

उत्सेध—Hight ऊँचाई;

उत्सेधांगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे० गणित I/१।

उदंक—अपर नाम 'प्रभादेव'। यह भावी चौबीसीमें आठवें तीर्थंकर हैं—दे० तीर्थंकर/५।

उदंबर—बड़ बटी, पीपल बटी, ऊमर, कटूमर, पाकर, गूलर, अंजीर आदि फल उदंबर फल हैं। इनमें उड़ते हुए त्रस जीव प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। उदम्बर फल यद्यपि पाँच बताये जाते हैं, परन्तु इसी जातिके अन्य भी फल इन्हींमें गर्भित समझना।

१. उदंबर फलोंके अतिचार

सा. ध./३/१४ सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितं। तद्वद् भल्लादिसिंबीश्च खादेन्नोदुंबरव्रती ।१४। =उदम्बर त्यागव्रतको पालन करनेवाला श्रावक सम्पूर्ण अज्ञात फलोंको तथा बिना चीरे हुए भटा वगैरहको और उसी तरह बिना चीरी सेमकी फली न खावे।

ला. सं./२/७६-१०३ अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम्। तेन साधारणस्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः ।७६। मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादयः। न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ।८०। एवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम्। त्रसाश्रितं विशेषेण तद्वद्धियुक्तस्य का कथा ।९०। साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात्। शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्व दुग्धफलानि च ।९१। कोंपलानि च

सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरधः ।६७। —यहाँपर उदम्बर शब्दका ग्रहण उपलक्षणरूप है। अतः सर्व ही साधारण वनस्पतिकायिक त्याज्य हैं ।७६। मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज और किसी प्रकारके भी अनन्तकायिक फल जैसे अदरख आदि उन्हें नहीं खाना चाहिए। न दैवयोगसे खाने चाहिए और न ही रोगमें औषधिके रूपमें खाने चाहिए ।८०। इसी प्रकारसे अन्य भी साधारण लक्षणवाली तथा विशेषतः त्रसजीवोंके आश्रयभूत वनस्पतिका त्याग कर देना चाहिए ।६०। किसी वृक्षकी जड़ साधारण होती है और किसीकी शाखा, स्कन्ध, पत्र, पुष्प व पर्व आदि साधारण होते हैं। किसी वृक्षका दूध व फल अथवा क्षीर फल (जिन फलोंके तोड़नेपर दूध निकलता हो) साधारण होते हैं ।६१। कूंपलें तथा सर्व ही कोमल पत्ते व फल आगमके अनुसार यथाकालकी अवधि पर्यंत साधारण रहते हैं, पीछे प्रत्येक हो जाते हैं। उनका भी त्याग करना चाहिए ।६७।

* पंच उदम्बर फलोंका निषेध—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४

उदक—१. उत्तर दिशा; २. उत्तर दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा; ३. जलके अर्थमें—दे० जल; ४. राक्षस जातिका एक व्यंतर देव—दे० राक्षस; ५. लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे० लोक/७; ६. लवण समुद्रमें स्थित शंख पर्वतका रक्षक एक देव—दे० लोक/७।

उदक वर्ण—एक ग्रह—दे० ग्रह।

उदकाभास—१. लवणसमुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे० लोक/७; २. लवण समुद्रमें स्थित महाशंख पर्वतका रक्षक देव—दे० लोक/७।

उदधि कुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे० भवन/१,४।

उदय—जीवके पूर्वकृत जो शुभ या अशुभ कर्म उसकी चित्तभूमिपर अंकित पड़े रहते हैं, वे अपने-अपने समयपर परिपक्व दशाको प्राप्त होकर जीवको फल देकर खिर जाते हैं। इसे ही कर्मोंका उदय कहते हैं। कर्मोंका यह उदय द्रव्य क्षेत्र काल व भवकी अपेक्षा रखकर आता है। कर्मके उदयमें जीवके परिणाम उस कर्मकी प्रकृतिके अनुसार ही नियमसे हो जाते हैं, इसीसे कर्मोंको जीवका पराभव करनेवाला कहा गया है।

१. भेद, लक्षण व प्रकृतियाँ

१. अनेक अपेक्षाओंसे उदयके भेद

स.सि./८/२१/३९८/७ स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा वर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। =इस प्रकार कारणवशसे प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—१. स्वमुखसे और परमुखसे। (रा.वा./८/२१/१/५८३/१६)

पं.सं/प्रा./४/५१३ काल-भव-खेत्तपेहो उदओ सविवाग अविवागो। =काल, भव और क्षेत्रका निमित्त पाकर कर्मोंका उदय होता है। वह दो प्रकारका है—२. सविपाक उदय और अविपाक उदय। (पं.सं./सं./४/३६८)। ३. तीव्र मन्दादि उदय : ध.१/१,१,१३६/३८८/३ षड्विधः कषायोदयः। तद्यथा, तीव्रतमः, तीव्रतरः, तीव्रः, मन्दः, मन्दतरः, मन्दतम इति। =कषायका उदय छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है। ३. तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र मन्द, मन्दतर, मन्दतम।

४. प्रकृति स्थिति आदिकी अपेक्षा भेद :
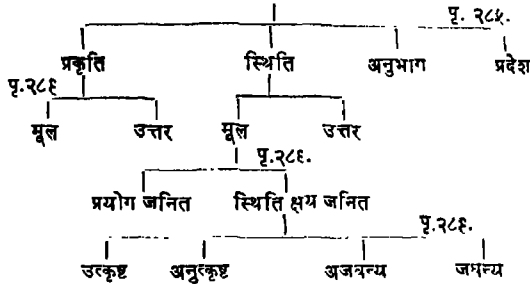
२. द्रव्य कर्मोदयका लक्षण

पं.सं./प्रा./३/३ धण्णस्स संगहो वा संतं जं पुव्वसंचियं कम्मं। भुंजणकालो उदओ उदीरणाऽपक्वपाचणफलं व ।३। =धान्यके संग्रहके समान जो पूर्व संचित कर्म हैं, उनके आत्मामें अवस्थित रहनेको सत्त्व कहते हैं। कर्मोंके फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं। तथा अपक्व कर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं।

स.सि./२/१/१४९/८ द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः। =द्रव्य, क्षेत्र, काल व भवके निमित्तके वशसे कर्मोंके फलका प्राप्त होना उदय है। (रा.वा./२/१/४/१००/१९) (रा.वा./६/१४/१/५२४/२९) (प्र.सा./त.प्र./५६/१०६/१)

क.पा./वेदक अधिकार नं. ६ कम्मेण उदयो कम्मोदयो, अपक्कपाचणाए विणा जहाकालजणिदो कम्माणं ठिदिक्खएण जो विवागो सो कम्मोदयोत्ति भण्णदे। सो पुण खेत्त भव काल पोग्गल ट्ठिदी विवागोदय त्ति एदस्सगाहाथच्छद्धस्स समुदायत्थो भवदि। कुदो। खेत्त भव काल पोग्गले अस्सिऊण जो ट्ठिदिक्खओ उदिण्णफलक्खंध परिसडणलक्खणो सोदयो त्ति सुत्तत्थावलंबणादो। =कर्मरूपसे उदयमें आनेको कर्मोदय कहते हैं। अपक्वपाचनके बिना यथाकाल जनित स्थितिक्षयसे जो कर्मोंका विपाक होता है, उसको कर्मोदय कहते हैं। ऐसा इस गाथाके उत्तरार्धका अर्थ है। सो कैसे? क्षेत्र, भव, काल और पुद्गल द्रव्यके आश्रयसे स्थितिका क्षय होना तथा कर्मस्कन्धोंका अपना फल देकर झड़ जाना उदय है। ऐसा सूत्रके अवलंबनसे जाना जाता है।

गो.जी./जी.प्र./८/२९/१२ स्वस्थितिक्षयवशादुदयनिषेके गलतां कार्मणस्कन्धानां फलदानपरिणतिः उदयः। =अपनी अपनी स्थितिके क्षयके वशसे उदयरूप निषेकोंके गलनेपर कर्मस्कन्धोंकी जो फलदान परिणति होती है, उसे उदय कहते हैं। (गो.क./जी.प्र./४३९/५९२/८)।

गो.क./जी.प्र./२६४/३९७/११ स्वभावाभिव्यक्तिः उदयः, स्वकार्यं कृत्वा रूपपरित्यागो वा। =अपने अनुभागरूप स्वभावको प्रगटताको उदय कहिए है। अथवा अपना कार्यकरि कर्मपणाको छोडै ताको उदय कहिये।

३. भावकर्मोदयका लक्षण

स.सा./मू./१३२-१३३ अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी। मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ।१३२। उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं। जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसायउदओ ।१३३। =जीवोंके जो तत्त्वका अज्ञान है वह अज्ञानका उदय है और जीवके जो अश्रद्धान है वह मिथ्यात्वका उदय है। और जीवोंके अविरमण या अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है और जीवोंके मलिन उपयोग है वह कषायका उदय है।

स. सि./६/१४/३३२/७ उदयो विपाकः। =कर्मके विपाकको उदय कहते हैं।

४. स्वमुखोदय व परमुखोदयके लक्षण

गो.क./जी.प्र./३४२/४९३/१० अनुदयगतानां परमुखोदयत्वेन स्वसमयोदया एकैकनिषेकाः स्थितोत्तसंक्रमेण संक्रम्य गच्छन्तीति स्वमुखपरमुखोदयविशेषो अवमन्तव्यः। =उदयको प्राप्त नाहीं जे नपुंसक वेदादि परमुख उदयकरि समान समयनिविषै उदयरूप एक-एक निषेक, कह्या अनुक्रमकरि संक्रमणरूप होइ प्रवर्तें (विशेष दे०-स्तुबिक संक्रमण)। ऐसे स्वमुख व परमुख उदयका विशेष जानना। जो प्रकृति आपरूप ही होइ उदय आवै तहाँ स्वमुख उदय है। जो प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप होइ (उदय आवे) तहाँ पर-मुख उदय है। पृ० ४९४/१०/ (रा. वा./हिं/८/२१/६२९).

५. सम्प्राप्तिजनित व निषेक जनित उदय

ध. १५/२८९/९ संपत्तीदो एगा ट्ठिदि उदिण्णा, संपहि उदिण्णपरमाणूणमेगसमयावट्ठाणं मोत्तूण दुसमयादि अवट्ठाणंतराणुवलंभादो। सेचियादो अणेगाओ ट्ठिदीओ उदिण्णाओ, एण्हि जं पदेसग्गं उदिण्णं तस्स दव्वट्ठियणयं पडुच्च पुव्विल्लभावोवयारसंभवादो। =संप्राप्तिकी अपेक्षा एक स्थिति उदीर्ण होती है, क्योंकि, इस समय उदय प्राप्त परमाणुओंके एक समयरूप अवस्थानको छोड़कर दो समय आदिरूप अवस्थानान्तर पाया नहीं जाता। निषेककी अपेक्षा अनेक स्थितियाँ उदीर्ण होती हैं, क्योंकि इस समय जो प्रदेशाग्र उदीर्ण हुआ है उसके द्रव्यार्थिक नयकी अपे ा पूर्वीयभावके उपचारकी सम्भावना है।"

६. उदयस्थानका लक्षण

रा. वा./२/५/४/१०९/१३—एकप्रदेशो जघन्यगुणः परिगृहीतः, तस्य चानुभागविभागप्रतिच्छेदाः पूर्ववत्कृताः। एवं समगुणाः वर्गाः समुदिता वर्गणा भवति। एकाविभागपरिच्छेदाधिकाः पूर्ववद्विरलीकृता वर्गवर्गणाश्च भवन्ति यावदन्तरं भवति तावदेकं स्पर्धकं भवति। एवमनेन क्रमेण विभागे क्रियमाणेऽभव्यानामनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति। तदेतत्समुदितमेवमुदयस्थानं भवति। =एक प्रदेशके जघन्य गुणको ग्रहण करके उसके अविभाग प्रतिच्छेद करने चाहिए। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंकी पंक्तिसे वर्ग तथा वर्गोंके समूहसे वर्गणा होती है। इस क्रमसे समगुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणा बनानी चाहिए। इस तरह जहाँ तक एक-एक अविभाग परिच्छेदका लाभ हो वहाँ तककी वर्गणाओंके समूहका एक स्पर्धक होता है। इसके आगे एक दो आदि अविभागप्रतिच्छेद

अधिकवाले वर्ग नहीं मिलते, अनन्त अविभागप्रतिच्छेद अधिकवाले ही मिलते हैं। तहाँ से आगे पुनः जब तक क्रम वृद्धि प्राप्त होती रहे और अन्तर न पड़े तबतक एक स्पर्धक होता है। इस तरह सम गुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणाओंके समूहरूप स्पर्धक एक उदय-स्थानमें अभव्योंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण होते हैं।

म. बं/५/§ ६४६/३८६/१२ याणि चेव अणुभागबन्धज्झवसाणट्ठाणाणि ताणि चेव अणुभागबंधट्ठाणाणि। अण्णाणि पुणो परिणामट्ठाणाणि ताणि चेव कसायउदयट्ठाणाणि त्ति भण्णंति। =जो अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं वे ही अनुभाग बन्धस्थान हैं। तथा अन्य जो परिणामस्थान हैं वे ही कषाय उदयस्थान कहे जाते हैं।

स.सा./आ./५३ यानि स्वफलसम्पादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि। =अपने फलके उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्मअवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान…।

७. सामान्य उदय योग्य प्रकृतियाँ

पं. सं/प्रा./२/७ वण्ण-रस-गन्ध-फासा चउ चउ सत्तेक्कमणुदयपयडीओ। ए ए पुण सोलसयं बंधण-संघाय पंचेवं।७। =चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, पाँच बन्धन और पाँच संघात ये छब्बीस प्रकृतियाँ उदयके अयोग्य हैं। शेष १२२ प्रकृतियाँ उदयके योग्य होती हैं। (पं. सं. सं./२/३८)।

गो. क./जी. प्र./३७/४२/१ उदये भेदविवक्षायां सर्वा अष्टचत्वारिंशच्छतं अभेदविवक्षायां द्वाविंशत्युत्तरशतं। =उदयमें भेदकी अपेक्षा सर्व १४८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं और अभेदकी अपेक्षा १२२ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। (पं सं/सं./१४८)।

८. ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ

गो. क./मू./१८८/७१२ णामधुवोदयबारस गइजाईणं च तसतिजुम्माणं। सुभगादेज्जजसाणं जुम्मेक्कं विग्गहे वाणू'। =तैजस, कार्माण, वर्णादिक ४, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण ये नामकर्मकी १२ प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी हैं।

२. उदय सामान्य निर्देश

१. कर्म कभी बिना फल दिये नहीं झड़ते

क. पा ३/२२/§४३०/२४५/२. ण च कम्मं सगरूवेण परसरूवेण वा अदत्तफलमकम्मभावं गच्छदि, विरोहादो। एगसमयं सगसरूवेणच्छिय विदियसमए परपडिसरूवेणच्छिय तदियसमए अकम्मभावं गच्छदि त्ति दुसमयकालट्ठिदिणिद्देसो कदो। =कर्म स्वरूपसे या पररूपसे फल बिना दिये अकर्मभावको प्राप्त होते नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है। किन्तु अनुदयरूप प्रकृतियोंके प्रत्येक निषेक एक समय तक स्वरूपसे रहकर और दूसरे समयमें परप्रकृतिरूपसे रहकर तीसरे समयमें अकर्मभावको प्राप्त होते हैं, ऐसा नियम है। अतः सूत्रमें (सम्यग्मिथ्यात्व के) दो समय काल प्रमाण स्थितिका निर्देश किया है। (भ. आ./मू./१८५०/१६६१)।

२. उदयका अभाव होने पर जीवमें शुद्धता आती है

ष. खं./७/२,१/सू. ३४-३५/७८ अजोगि णाम कधं भवदि।३४। खइयाए लद्धीए।३५। =जीव अयोगी कैसे होता है?।३४। क्षायिक लब्धिसे जीव अयोगी होता है।३५।

३. कर्मका उदय द्रव्य क्षेत्र आदिके निमित्तसे होता है स्वतः नहीं

क. पा. सुत्त/मू. गा. ५९/४६५…। खेत्त भव काल पोग्गल ट्ठिदिविवागो-दयखयो दु।५९। =क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्यका आश्रय लेकर जो स्थिति विपाक होता है उसे उदीरणा कहते हैं और उदयक्षयको उदय कहते हैं।

पं. सं./प्रा./४/५१३…। कालभवखेत्तपेही उदओ…। =काल, भव और क्षेत्रका निमित्त पाकर कर्मोंका उदय होता है। (भ. आ./वि./१५०८/१५३७/८)।

क. पा. १/१,१३,१४/§ २४२/२८६/१ दव्वकम्मस्स उदएण जीवो कोहो त्ति जं भणिदं एत्थ चोअओ भणदि, दव्वकम्माइं जीवसंबंधाइं संताइं किमिदि सगकज्जं कसायरूवं सव्वद्धं ण कुणंति? अलद्धविसिट्ठभावत्तादो। तदलंभे कारणं वत्तव्वं। पागभावो कारणं। पागभावस्स विणासो वि दव्वखेत्तकालभवा वेक्खाए जायदे। तदो ण सव्वद्धं दव्वकम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं। =द्रव्यकर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है, ऐसा जो कथन किया है उसपर शंकाकार कहता है—प्रश्न—जब द्रव्यकर्मोंका जीवके साथ सम्बन्ध पाया जाता है तो वे कषायरूप अपने कार्यको सर्वदा क्यों नहीं उत्पन्न करते हैं? उत्तर—सभी अवस्थाओंमें फल देनेरूप विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त न होनेके कारण द्रव्य कर्म सर्वदा अपने कषायरूप कार्यको नहीं करते हैं। प्रश्न—द्रव्यकर्म फल देनेरूप विशिष्ट अवस्थाको सर्वदा प्राप्त नहीं होते, इसमें क्या कारण है, उसका कथन करना चाहिए। उत्तर—जिस कारणसे द्रव्यकर्म सर्वदा विशिष्टपनेको प्राप्त नहीं होते वह कारण प्रागभाव है। प्रागभावका विनाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और प्रागभावका विनाश द्रव्य क्षेत्र काल और भवकी अपेक्षा लेकर होता है। इसलिए द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं, यह सिद्ध होता है।

भ. आ./वि./११७०/११५६/४ बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यनन्तरकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते। =मन में विचारकर जब जीव बाह्यद्रव्यका अर्थात् बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है, तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। यदि सहकारीकारण न होगा तो केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं। जैसे कि यद्यपि मृत्पिण्डसे घट उत्पन्न होता है तथापि यदि दण्डादि कारण नहीं होंगे तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है।

४. कर्मोदयके निमित्तभूत कुछ द्रव्योंका निर्देश—

गो.क./भाषा/६८/६९/११ जिस जिस प्रकृतिका जो जो उदय फलरूप कार्य है तिस तिस कार्यको जो बाह्यवस्तु कारणभूत होइ सो सो वस्तु तिस प्रकृतिका नोकर्म द्रव्य जानना। (जैसे)—

(गो.क/६९-८८/६९-७१)।

गा०	नाम प्रकृति	नोकर्म द्रव्य
७०	मति ज्ञानावरण	वस्त्रादि ज्ञानकी आवरक वस्तुएँ
,,	श्रुत ज्ञानावरण	इन्द्रिय विषय आदि
७१	अवधि व मनःपर्यय	संक्लेशको कारणभूत वस्तुएँ
,,	केवल ज्ञानावरण	×
७२	पाँच निद्रा दर्शनावरण	दही, लशुन, खल इत्यादि
,,	चक्षु अचक्षु दर्शनावरण	वस्त्र आदि
७३	अवधि व केवल दर्शनावरण	उस उस ज्ञानावरणवत्
,,	साता असाता वेदनीय	इष्ट अनिष्ट अन्नपान आदि
७४	सम्यक्त्व प्रकृति	जिन मन्दिर आदि
७४	मिथ्यात्व प्रकृति	कुदेव, कुमन्दिर, कुशास्त्रादि
,,	मिश्र प्रकृति	सम्यक् व मिथ्या दोनों आयतन
७५	अनन्तानुबन्धी	कुदेवादि
,,	अप्रत्याख्यादि १२ कषाय	काव्यग्रन्थ, कोकशास्त्र, पापीपुरुष आदि
७६	तीनों वेद	स्त्री, पुरुष व नपुंसकके शरीर
,,	हास्य	बहुरूपिया आदि
,,	रति	सुपुत्रादि
७७	अरति	इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग
,,	शोक	सुपुत्रादिको मृत्यु
,,	भय	सिंहादिक
,,	जुगुप्सा	निन्दित वस्तु
७८	आयु	तहाँ तहाँ प्राप्त इष्टानिष्ट आहारादि
७९-८३	नाम कर्म	तिसतिस गतिका क्षेत्र व इन्द्रिय शरीरादि के योग्य पुद्गल स्कन्ध
८४	ऊँच नीच गोत्र	ऊँच नीच कुल
,,	अन्तराय	दानादि में विघ्नकारी पुरुष आदि

५. द्रव्यक्षेत्रादिकी अनुकूलतामें स्वमुखेन और प्रतिकूलतामें परमुखेन उदय होता है।

क. पा./३/२२/६४३०/२४४/६ उदयाभावेण उदयणिसेयट्ठिदी परसरूवेण गदाए।=जिस प्रकृतिक उदय नहीं होता उसकी उदय निषेक स्थिति उपान्त्य समयमें पररूपसे संक्रमित हो जाती है।

६. बिना फल दिये निर्जीर्ण होनेवाले कर्मोंकी भी उदय संज्ञा कैसे हो सकती है?

ध. १२/४,२,७,२६/१ णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसडंतस्स कधं उदयववएसो। ण, जीवकम्मविवेगमेत्तफलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तब्भुवगमादो। जदि एवं तो असादवेदणीयोदयकाले सादावेदणीयस्स उदओ णत्थि, असादावेदणीयस्सेव उदओ अत्थि त्ति ण वत्तव्वं, सगफलाणुप्पायणेण दोण्णं पि सरिसत्तुवलंभादो। ण असादपरमाणूणं व्व सादपरमाणूणं सगसरूवेण णिज्जराभावादो। सादपरमाणओ असादसरूवेण विणस्संतावत्थाए परिणमिदूण विणस्संते दट्ठूण सादावेदणीयस्स उदओ णत्थि त्ति वुच्चदे। ण च असादावेदणीयस्स एसो कमो अत्थि, [असाद] परमाणूणं सगसरूवेणेण णिज्जरुवलंभादो। तम्हा दुक्खरूवफलाभावे वि असादावेदणीयस्स उदयाभावो जुज्जदे त्ति सिद्धं।=प्रश्न—बिना फल दिये ही प्रतिसमय निर्जीर्ण होनेवाले (ईर्यापथ रूप) परमाणु समूहकी उदय संज्ञा कैसे बन सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जीव व कर्मके विवेकमात्र फलको देखकर उदयको फलरूपसे स्वीकार किया गया है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'असातावेदनीयके उदयकालमें सातावेदनीयका उदय नहीं होता, केवल असाता वेदनीयका ही उदय रहता है', ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि, अपने फलको नहीं उत्पन्न करनेकी अपेक्षा दोनोंमें ही समानता पायी जाती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, तब असातावेदनीयके परमाणुओंके समान सातावेदनीयके परमाणुओंकी अपने रूपसे निर्जरा नहीं होती। किन्तु विनाश होनेकी अवस्थामें असातारूपसे परिणमकर उनका विनाश होता है, यह देखकर सातावेदनीयका उदय नहीं है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु असाता वेदनीयका यह क्रम नहीं है, क्योंकि, तब असाताके परमाणुओंकी अपने रूपसे ही निर्जरा पायी जाती है। इस कारण दुखरूप फलके अभावमें भी असातावेदनीयका उदय मानना युक्तियुक्त है, यह सिद्ध होता है।

७. कर्मप्रकृतियोंका फल यथाकाल भी होता है और अयथाकाल भी

क. पा. सुत्त/वेदक अधिकार नं. ६/मू. गा. ५९/४६५ कदि आवलियं पवेसेइ कदि च पविस्संति कस्स आवलियं।=प्रयोग विशेषके द्वारा कितनी कर्मप्रकृतियोंको उदयावलीके भीतर प्रवेश करता है? तथा किस जीवके कितनी कर्मप्रकृतियोंको उदीरणाके बिना (यथा काल) ही स्थितिक्षयमें उदयावलीके भीतर प्रवेश करता है?

श्ल. वा. २/मू० ५३/वा० २ कर्मणामयथाकाले विपाकोपपत्तेः च आम्रफलादिवत्।=आम्र फलके अयथाकालपाककी भाँति कर्मोंका अयथाकाल भी विपाक हो जाता है।

ज्ञा./३५/२६-२७ मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यपि। अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः।२६। अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः। क्रमाद्‌गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः।२७। =पूर्वोक्त अष्ट कर्म अतिशय बलिष्ठ हैं, तथापि जिस प्रकार वनस्पतिके फल बिना पके भी पवनके निमित्तसे (पाल आदिमें) पक जाते हैं उसी प्रकार इन कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेसे पहले भी तपश्चरणादिकसे मन्दवीर्य हो जाते हैं।२६। नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक् प्रकारसे संवररूप हुआ है चित्त जिनका, ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धतासहित तपोंसे अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके कर्मोंको भी पका कर स्थिति पूरी हुए बिना ही निर्जरा करते हैं।२७।

८. बन्ध, उदय व सत्त्वमें अन्तर

क. पा. १/§२५०/२९१/३ बंधसंतोदयसरूवमेगं चेव दव्वं। तं जहा, ···कसायजोगवसेण लोगमेत्तजीवपदेसेसु अक्कमेण आगंतूण सबंधकम्मक्खंधा अणंताणंतापरमाणुसमुदयसमागमुप्पण्णा कम्मपज्जाएण परिणयपढमसमए बंधववएसं पडिवज्जंति। ते चेव विदियसमयप्पहुडि जाव फलदाणहेट्ठिमसमओ त्ति ताव संतववएसं पडिवज्जंति। ते च्चेय फलदाणसमए उदयववएसं पडिवज्जंति। ण च णामभेदेण दव्वभेओ।···ण कोहजणणाजणणसहावेण ट्ठिदिभेएण च भिण्णदव्वाणमेयत्तविरोहादो। ण च लक्खणभेदे संते दव्वाणमेयत्तं होदि तिहुवणस्स भिण्णलक्खणस्स एयत्तप्पसंगादो···तम्हा ण बंधसंतदव्वाणं कम्मत्तमत्थि; जेण कोहोदयं पडुच्च जीवो कोहकसायो जादो तं कम्ममुदयगयं पच्चयकसाएण कसाओ त्ति सिद्धं। ण च एत्थ दव्वकम्मस्स उवयारेण कसायत्तं; उजुसुदे उवयाराभावादो। =प्रश्न—एक ही कर्म-द्रव्य बन्ध, सत्त्व और उदयरूप होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायके समागमसे उत्पन्न हुए कर्मस्कन्ध आकर कषाय और योगके निमित्तसे एक साथ लोकप्रमाण जीवके प्रदेशोंमें सम्बद्ध होकर कर्मपर्याय रूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें 'बन्ध' इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं। जीवसे सम्बद्ध हुए वे ही कर्मस्कन्ध दूसरे समयसे लेकर फल देनेसे पहले समय तक 'सत्त्व' इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं, तथा जीवसे सम्बद्ध हुए वे ही कर्मस्कन्ध फल देनेके समयमें 'उदय' इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं। यदि कहा जाय कि द्रव्य एक ही है, फिर भी बन्ध आदि नाम भेदसे द्रव्यमें भेद हो ही जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, बन्ध उदय और सत्त्वरूप कर्मद्रव्यमें क्रोध (आदि) को उत्पन्न करने और न करने की अपेक्षा तथा स्थितिकी अपेक्षा भेद पाया जाता है। (अर्थात् उदयागत कर्म क्रोधको उत्पन्न करता है बन्ध व सत्त्व नहीं। तथा बन्ध व उदयकी स्थिति एक-एक समय है, जब कि सत्त्वकी स्थिति अपने-अपने कर्मकी स्थितिके अनुरूप है)। अतः उन्हें सर्वथा एक माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि लक्षणकी अपेक्षा भेद होनेपर भी द्रव्यमें एकत्व हो सकता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर भिन्न-भिन्न लक्षणवाले (ऊर्ध्व, मध्य व अधो) तीनों लोकोंको भी एकत्वका प्रसंग प्राप्त हो जाता है। इसलिए ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा बन्ध और सत्त्वरूप द्रव्यके कर्मपना नहीं बनता है। अतः चूँकि क्रोधके उदयकी अपेक्षा करके जीव क्रोध कषायरूप होता है, इसलिए ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें उदयको प्राप्त हुआ क्रोधकर्म ही प्रत्यय कषायकी अपेक्षा कषाय है यह सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि उदय द्रव्यकर्मका ही होता है अतः ऋजुसूत्र नय उपचारसे द्रव्यकर्मको भी प्रत्यय कषाय मान लेगा सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें उपचार नहीं होता है।

३. निषेक रचना

१. उदय सामान्यकी निषेक रचना

गो. जी./जी. प्र./२५८/५४८/५ ननु एकैकसमये जीवेन बद्धैकसमयप्रबद्धस्य आबाधावर्जितस्थितिप्रथमसमयादारभ्य तच्चरमसमयपर्यन्तं प्रतिसमयमेकैकनिषेक एवोदेति। कथमेकैकसमयप्रबद्ध उदेति प्रश्ने उच्यते — अनादिबंधनिबंधनबद्धविवक्षितसमयप्रबद्धनिषेकः ९. उदेति, तदा तदनन्तरसमये बद्धसमयप्रबद्धस्य द्विचरमनिषेकः उदेति १०, तदनन्तरसमये बद्धसमयप्रबद्धस्य त्रिचरमनिषेकः उदेति ११, एवं चतुर्थादिसमयेषु बद्धसमयप्रबद्धानां चतुश्चरमादिनिषेकोदयक्रमेण आबाधावर्जितविवक्षितसमयमात्रस्थानेषु गत्वा चरमतत्समयप्रबद्धस्य प्रथमनिषेकः उदेति, एवं विवक्षितसमये एकः समयप्रबद्धो बध्नाति एकः उदेति किंचिदूनद्व्यर्धगुणहानिमात्रसमयप्रबद्धसत्त्वं भवति। =प्रश्न—एक समयविषै जीवकरि बान्ध्या जो एक समयप्रबद्ध ताके आबाधा रहित अपनी स्थितिका प्रथम समयतै लगाइ अंतसमय पर्यंत समय-समय प्रति एक-एक निषेक उदय आवै है। पूर्वे गाथाविषै समय प्रति एक-एक समयप्रबद्धका उदय आवना कैसे कह्या है। उत्तर—समय-समय प्रति बन्धे समयप्रबद्धनिका एक-एक निषेक इकट्ठे होइ विवक्षित एक समयविषै समय प्रबद्धमात्र हो है। कैसे। सो कहिए है—अनादि बन्धनका निमित्तकरि बन्ध्या विवक्षित समयप्रबद्ध ताका जिस कालविषै अन्तनिषेक उदय हो है, तिस कालविषै, ताके अनन्तर बन्ध्या समयप्रबद्धका उपान्त्य निषेक उदय हो है, ताके भी अनन्तर बन्ध्या समयप्रबद्धका अन्ततै तीसरा निषेक उदय हो है। ऐसै चौथे आदि समयनिविषै बन्धे समयप्रबद्धनिका अन्ततै चौथा आदि निषेकनिका उदय क्रमकरि आबाधाकाल रहित विवक्षित स्थितिके जेते समय तितने स्थान जाय, अन्तविषै जो समयप्रबद्ध बन्ध्या ताका आदि निषेक उदय हो हैं। ऐसे सबनिको जोड़ै विवक्षित एक समयविषै एक समयप्रबद्ध उदय आवै है। अंक संदृष्टि करि जैसे (स्थिति बन्धकी निषेक रचनाके अनुसार (देखो आगे) ६ गुण हानियोंके ४८ निषेकोंमें-से) जिन समयप्रबद्धनिके सर्व निषेक गलि गये तिनिका उदय तो है नाहीं। बहुरि जिस समयप्रबद्धके ४७ निषेक पूर्वे गले ताका अन्तिम ९ (प्रदेशों) का निषेक वर्तमान समयविषै उदय आवै है। बहुरि जाके ४६ निषेक पूर्वे गले ताका अन्तिमसे पहला १० (प्रदेशों) का निषेक उदय हो है। और ऐसे हो क्रमतै जाका एक हू निषेक पुर्वै न गला ताका प्रथम ५१२ का निषेक उदय हो है। ऐसे वर्तमान कोई एक समयविषै सर्व उदयरूप निषेकनिका उदय हो है। ९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६/ १८,२०,२२,२४,२६,२८,३०,३२/ ३६,४०,४४,४८,५२,५६,६०,६४/ ७२,८०,८८,९६,१०४,११२,१२०,१२८/ १४४,१६०,१७६,१९२,२०८,२२४,२४०,२५६/ २८८,३२०,३५२,३८४,४१६,४४८,४८०,५१२/ ऐसे इनिको जोड़ै सम्पूर्ण समयप्रबद्धमात्र प्रमाण हो है। आगामी कालविषै जैसे-जैसे नवीन समयप्रबद्धके निषेकनिके उदयका सद्भाव होता जायेगा, तैसे-

तैसे पुराने समयप्रबद्धके निषेकनिके उदयका अभाव होता जायेगा। जैसे—आगामी समयविषै नवीन समयप्रबद्धका प्रथम ५१२ का निषेक उदय आवेगा तहाँ वर्तमानविषै जिस समयप्रबद्धका ५१२ का निषेक उदय था ताका ५१२ वाले निषेकका अभाव होइ दूसरा ४८० का निषेक उदय आवेगा। बहुरि जिस समयप्रबद्धका वर्तमानविषै ४८० का निषेक उदय था ताका तिस निषेकका अभाव होइ ४४८ के निषेकका उदय होगा। ऐसै क्रमतै जिस समयप्रबद्धका वर्तमान विषै ९ का अन्तिम निषेक उदय था ताका आगामी समय विषै सर्व अभाव होगा। ऐसे समय प्रति समय जानना।

२. सत्त्वकी निषेक रचना

गो. जी /जी. प्र./भाषा/९४२/११४१ तातै समय प्रति समय एक-एक समयप्रबद्धका एक-एक निषेक मिलि (कुल) एक समयप्रबद्धका उदय हो है। बहुरि गले पीछे अवशेष रहे सर्व-निषेक तिनिको जोड़ै किंचिदून अर्धगुणहानिगुणित समय प्रमाण सत्त्व हो है। कैसे—सो कहिये है। जिस समयप्रबद्धका एक हू निषेक गल्या नांहीं ताके सर्व निषेक नीचै पंक्तिविषै लिखिये। बहुरि ताके ऊपरि जिस समयप्रबद्धका एक निषेक गल्या होइ ताके आदि (५१२ वाले) निषेक बिना अवशेष निषेक पंक्ति विषै लिखिये। बहुरि ताकै ऊपरि जिस समयप्रबद्धके दोय निषेक गले होंइ ताके आदिके दोय (५१२,४८०) बिना अवशेष निषेक पंक्तिविषै लिखिये। ऐसे ही ऊपरि-ऊपरि एक-एक निषेक घटता लिखि सर्वके उपरि जिस समयप्रबद्धके अन्य निषेक गलि गये, एक अवशेष रहा होइ ताका अन्त (९ का) निषेक लिखना। ऐसे करते त्रिकोण रचना हो है। अंक संदृष्टि करि जैसे—नीचे ही ४८ निषेक लिखे ताके उपरि ५१२ वालेके बिना ८० निषेक लिखें। ऐसै ही क्रमतै उपरि ही उपरि ९ वाला निषेक लिख्या। ऐसे लिखतै त्रिकूण हू रचना हो है। तातै तिस त्रिकोण यन्त्रका जोड़ा हुआ सर्व द्रव्यप्रमाण सत्त्व द्रव्य जानना। सो कितना हो है सो कहिये है—किंचिदून द्वयर्ध गुणहानि गुणित समयप्रबद्धप्रमाण हो है।

३. सत्त्व व उदयगत द्रव्य विभाजन

१. सत्त्व गत—एक समयप्रबद्धमें कुल द्रव्यका प्रमाण ६३०० है। तो प्रथम समयसे लेकर सत्ताके अन्तसमय पर्यन्त यथायोग्य अनेकों गुण हानियोंद्वारा विशेष चय हीन क्रमसे उसका विभाजन निम्न प्रकार है। यद्यपि यहाँ प्रत्येक गुणहानिको बराबर-बराबर दर्शाया है, परन्तु इसको एक दूसरेके ऊपर रखकर प्रत्येक सत्ताका द्रव्य जानना। अर्थात् षष्ठ गुणहानिके ऊपर पंचमको और उसके ऊपर चतुर्थ आदिको रखकर प्रथम निषेकसे अन्तिम निषेक पर्यन्त क्रमिक हानि जाननी चाहिए।

निषेक सं०	गुण हानि आयाम					
	१	२	३	४	५	६
	गुण हानि चय प्रमाण					
	३२	१६	८	४	२	१
८	२८८	१४४	७२	३६	१८	९
७	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
६	३५२	१७६	८८	४४	२२	११
५	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
४	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
३	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
२	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१४
१	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
कुलद्रव्य = ६३००	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००

२. उदय गत—प्रत्येक समयप्रबद्ध या प्रत्येक समयका द्रव्य उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता जाता है। क्योंकि उसमें अधिक-अधिक 'सत्त्वगत' निषेक मिलते जाते हैं। सो प्रथम समयमे लेकर अन्तिम समय पर्यन्त विशेष वृद्धिका क्रम निम्न प्रकार है। यहाँ भी बराबर-बराबर लिखी गुण हानियोंको एक-दूसरीके ऊपर रखकर प्रथम निषेकसे अन्तिम-पर्यन्त वृद्धि क्रम देखना चाहिए।

निषेक सं०	गुण हानि आयाम					
	१	२	३	४	५	६
१	९	११८	३३६	७७२	१६४४	३३८८
२	१९	१३८	३७६	८५२	१८०४	३७०८
३	३०	१६०	४२०	९४०	१९८०	४०६०
४	४२	१८४	४३७	१०३६	२१७२	४४४४
५	५५	२१०	५२०	११४०	२३८०	४८६०
६	६९	२३८	५७६	११५२	२६०४	५३०८
७	८४	२६८	६३६	१३७२	१८४४	५७८८
८	१००	३००	७००	१५००	३१००	६३००
कुल द्रव्य	४०८	१६१६	४०३२	८८६४	१८५२८	३७८५६

इन उपरोक्त दोनों यन्त्रोंको परस्परमें सम्मेल देखनेके लिए देखो अगले यन्त्र (गो./जी./भाषा/२५८/५)

४ उदयागत निषेकों का त्रिकोण यंत्र

प्रमाण- गो. जी./२५८/५६१

← स्थितिगत समय प्रबद्ध →

↑ उदयागत समय प्रबद्ध ↓

६३००. ५७८८

	षष्टम गुणहानि ४०८								पंचम गुणहानि १६१६								चतुर्थ गुणहानि ४०३२								तृतीय गुणहानि ८८६४								द्वितीय गुणहानि १८४२८								प्रथम गुणहानि ३७८४६								समय
५३०८																																															९	१०	नं.४७
४८६०																																														९	१०	११	नं.४६
४४४४																																													९	१०	११	१२	नं.४५
४०६०																																												९	१०	११	१२	१३	नं.४४
३७०८																																											९	१०	११	१२	१३	१४	नं.४३
३३८८																																										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	नं.४२
३१००																																									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	नं.४१
२८४४																																								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	नं.४०
२६०४																																							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	नं.३९
२३८०																																						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	नं.३८
२१७२																																					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	नं.३७
१९८०																																				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	नं.३६
१८०४																																			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	नं.३५
१६४४																																		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	नं.३४
१५००																																	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	नं.३३
१३७२																																९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	नं.३२
१२५२																															९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	नं.३१
११४०																														९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	नं.३०
१०३६																													९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	नं.२९
९४०																												९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	नं.२८
८५२																											९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	नं.२७
७७२																										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	नं.२६
७००																									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	नं.२५
६३६																								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	नं.२४
५७६																							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	नं.२३
५२०																						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	नं.२२
४६८																					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	नं.२१
४२०																				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	नं.२०
३७६																			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	नं.१९
३३६																		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	नं.१८
३००																	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	नं.१७
२६८																९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	नं.१६
२३८															९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	नं.१५
२१०														९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	नं.१४
१८४													९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	नं.१३
१६०												९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	नं.१२
१३८											९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	नं.११
११८										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	नं.१०
१००									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	नं.९
८४								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	नं.८
६९							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	नं.७
५५						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	नं.६
४२					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	नं.५
३०				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	नं.४
१९			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	नं.३
९		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	नं.२
	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२	नं.१

५. सत्त्वगत निषेक रचनाका यन्त्र—

प्रमाण :—(गो. क. / ९४३ / ११४३)

एक समय प्रबद्ध के निषेक नं. (बायाँ भाग) — एक समय प्रबद्ध के निषेक नं. (दायाँ भाग)

१	२	३	४	५	६	७	८	—	—	—	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	१	२	३	४	५	६	७	८	—	—	—	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	समय प्रबद्ध
																		०	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२	प्रथम
																		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२		द्वितीय
																	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२			तृतीय
																९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२				चतुर्थ
															९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२					पंचम
														९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२						षष्टम
													९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२							सप्तम
												९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२								अष्टम
											९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२									—
										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२										—
									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२											—
								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२												—
							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२													नं.४१
						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२														नं.४२
					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२															नं.४३
				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																नं.४४
			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																	नं.४५
		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																		नं.४६
	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																			नं.४७
९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																				नं.४८ अन्तिम

← स्थितिगत अनेक समय प्रबद्धों के निषेक →

कुल जोड़ = १½ गुणहानि गुणित एक समय प्रबद्ध

← उदयागत निषेकों से अवशेष बचे द्रव्य या समय प्रबद्धों के भाग →

← अनेक समय प्रबद्ध →

→ उदय आकर खिर चुके जो निषेक ←

षष्ठम गुणहानि ४०८ | पंचम गुणहानि १६१६ | चतुर्थ गुणहानि ४०३२ | तृतीयगुणहानि ८८६४ | द्वितीयगुणहानि १८४२८ | प्रथम गुणहानि ३७८४६

४ उदयागत निषेकों का त्रिकोण यंत्र

प्रमाण- गो. जी./२५८/५६१

← स्थितिगत समय प्रबद्ध →

↑ उदयागत समय प्रबद्ध ↓

९	१९	३०	४२	५५	६९	८४	१००	११८	१३८	१६०	१८४	२१०	२३८	२६८	३००	३३६	३७६	४२०	४६८	५२०	५७६	६३६	७००	७७२	८५२	९४०	१०३६	११४०	१२५२	१३७२	१५००	१६४४	१८०४	१९८०	२१७२	२३८०	२६०४	२८४४	३१००	३३८८	३७०८	४०६०	४४४४	४८६०	५३०८	५७८८	६३००	
																																														९	१०	समय
																																													९	१०	११	नं.४६
																																												९	१०	११	१२	नं.४५
																																											९	१०	११	१२	१२	नं.४४
																																										९	१०	११	१२	१३	१४	नं.४३
																																									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	नं.४२
																																								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	नं.४१
																																							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	नं.४०
																																						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	नं.३९
																																					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	नं.३८
																																				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	नं.३७
																																			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	नं.३६
																																		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	नं.३५
																																	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	नं.३४
																																९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	नं.३३
																															९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	नं.३२
																														९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	नं.३१
																													९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	नं.३०
																												९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	नं.२९
																											९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	नं.२८
																										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	नं.२७
																									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	नं.२६
																								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	नं.२५
																							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	नं.२४
																						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	नं.२३
																					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	नं.२२
																				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	नं.२१
																			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	नं.२०
																		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	नं.१९
																	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	नं.१८
																९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	नं.१७
															९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	नं.१६
														९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	नं.१५
													९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	नं.१४
												९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	नं.१३
											९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	नं.१२
										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	नं.११
									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	नं.१०
								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	नं.९
							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	नं.८
						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	नं.७
					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	नं.६
				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	नं.५
			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	नं.४
		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	नं.३
	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	नं.२
९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१८	२०	२२	२४	२६	२८	३०	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	७२	८०	८८	९६	१०४	११२	१२०	१२८	१४४	१६०	१७६	१९२	२०८	२२४	२४०	२५६	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२	नं.१

५. सत्त्वगत निषेक रचनाका यन्त्र—

प्रमाण :—(गो. क. / ९४३ / ४९४३)

एक समय प्रबद्ध के निषेक नं. (बायीं ओर) — एक समय प्रबद्ध के निषेक नं. (दायीं ओर)

१	२	३	४	५	६	७	८	—	—	—	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	१	२	३	४	५	६	७	८	—	—	—	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	समय प्रबद्ध
																		०	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२	प्रथम
																		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२		द्वितीय
																	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२			तृतीय
																९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२				चतुर्थ
															९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२					पंचम
														९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२						षष्टम
													९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२							सप्तम
												९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२								अष्टम
											९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२									—
										९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२										—
									९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२											—
								९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२												—
							९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२													नं.४१
						९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२														नं.४२
					९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२															नं.४३
				९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																नं.४४
			९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																	नं.४५
		९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																		नं.४६
	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																			नं.४७
९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	—	—	—	२८८	३२०	३५२	३८४	४१६	४४८	४८०	५१२																				नं.४८ अन्तिम

← स्थितिगत अनेक समय प्रबद्धों के निषेक →

कुल जोड़ = $1\frac{1}{2}$ गुणहानि गुणित एक समय प्रबद्ध

← उदयागत निषेकों से अवशेष बचे द्रव्य या समय प्रबद्धों के भाग →

↑ अनेक समय प्रबद्ध ↓

→ उदय आकर खिर चुके जो निषेक ←

६. उपशमकरण द्वारा उदयागत निषेक रचनामें परिवर्तन

ल.सा./भाषा/२४७/३०३/२० जब उदयावलीका एक समय व्यतीत होइ तब गुणश्रेणी निर्जराका एक समय उदयावलीविषै मिलै। और तब ही गुणश्रेणीविषै अन्तरायामका एक समय मिलै और तब ही अन्तरायामविषैं द्वितीयस्थितिका (उपरला) एक निषेक मिलै, द्वितीय स्थिति घटै है। प्रथम स्थिति और अन्तरायाम जेताका तेता रहै।

४. उदय प्ररूपणा सम्बन्धी कुछ नियम

१. मूल प्रकृतिका स्वमुख तथा उत्तर प्रकृतियोंका स्व व परमुख उदय होता है

पं.सं./प्रा./४/४४६–४५० पच्चंति मूलपयडी णूणं समुहेण सव्वजीवाणं। समुहेण परमुहेण य मोहाउविवज्जिया सेसा ।४४६। पच्चइ णो मणुयाऊ णिरयाऊमुहेण समयणिद्दिट्ठं। तह चरियमोहणीयं दंसणमोहेण संजुत्तं ।४५०। =मूल प्रकृतियाँ नियमसे सर्व जीवोंके स्वमुख द्वारा ही पचती हैं, अर्थात् स्वोदय द्वारा ही विपाकको प्राप्त होती हैं। किन्तु मोह और आयुकर्मको छोड़कर शेष (तुल्य जातीय) उत्तर प्रकृतियाँ स्व-मुखसे भी विपाकको प्राप्त होती हैं और परमुखसे भी विपाकको प्राप्त होती हैं, अर्थात् फल देती हैं।४४६। भुज्यमान मनुष्यायु नरकायुमुखसे विपाकको प्राप्त नहीं होती है, ऐसा परमागममें कहा है, अर्थात् कोई भी विवक्षित आयु किसी भी अन्य आयुके रूपसे फल नहीं देती है (दे० आयु/५) तथा चारित्र-मोहनीय कर्म भी दर्शनमोहनीयसे संयुक्त होकर अर्थात् दर्शन-मोहनीयके रूपसे फल नहीं देता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म भी चारित्रमोहनीयके मुखसे फल नहीं देता है ।४५०। (स.सि./८/-२१।३६८/८), (रा.वा./८/२१/५८३/१६), (पं.सं./सं./४/२७०–२७२)

२. सर्वघातीमें देशघातीका उदय होता है पर देशघाती-में सर्वघातीका नहीं

गो.जी./भाषा/६५१/६ यद्यपि क्षायोपशमिकविषै तिस आवरणके देशघाती स्पर्धकनिका उदय पाइये है, तथापि वह तिस ज्ञानका घात करनेकूं समर्थ नाहीं है, तातै ताकी मुख्यता न करी। याका उदाहरण कहिये है—अवधिज्ञानावरण कर्म सामान्यपने देशघाती है तथापि अनुभागका विशेष कीए याके केई स्पर्धक सर्वघाती हैं, केई स्पर्धक देशघाती हैं। तहाँ जिनिके अवधिज्ञान कुछ भी नाहीं तिनिके सर्वघाती स्पर्धकनिका उदय जानना। बहुरि जिनिके अवधिज्ञान पाइये है और आवरण उदय पाइये है तहाँ देशघाती स्पर्धकनिका उदय जानना।

३. ऊपर-ऊपरको चारित्रमोह प्रकृतियोंमें नीचे-नीचे वाली तज्जातीय प्रकृतियोंका उदय अवश्य होता है

गो.क./जी.प्र./५४६/७०८/१४ क्रोधादीनामनन्तानुबन्ध्यादिभेदेन चतुरात्मकत्वेऽपि जात्याश्रयेणैकत्वमभ्युपगतं शक्तिप्राधान्येन भेदस्याविवक्षितत्वात्। तद्यथा···अनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदये इतरेषामुदयोऽस्त्येव तदुदयसहचरितेतरोदयस्यापि सम्यक्त्वसंयमगुणघातकत्वात्। तथा–अप्रत्याख्यानान्यतमोदये प्रत्याख्यानाद्युदयोऽस्त्येव तदुदयेन समं तद्द्वयोदयस्यापि देशसंयमघातकत्वात्, तथा प्रत्याख्यानान्यतमोदये संज्वलनोदयोऽस्त्येव प्रत्याख्यानवत्तस्यापि सकलसमयघातकत्वात्। न च केवलं संज्वलनोदये प्रत्याख्यानादीनामुदयोऽस्ति तत्स्पर्धकानां सकलसंयमविरोधित्वात्। नापि केवलप्रत्याख्यानसंज्वलनोदये शेषकषायोदयः तत्स्पर्धकानां देशसकलसंयमघातित्वात्। नापि केवलअप्रत्याख्यानादित्रयोदयेऽनन्तानुबन्ध्युदयः तत्स्पर्धकानां सम्यक्त्वदेशसकलसंयमघातकत्वात्। =क्रोधादिकनिकैं अनन्तानु-बन्धी आदि भेदकरि च्यार भेद हो हैं तथापि जातिका आश्रय-करि एकत्वपना ही ग्रह्या है जातैं इहाँ शक्ति की प्रधानता करि भेद कहनेकी इच्छा नाहीं है। सोई कहिए है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, विषै (कोई) एकका उदय होतैं संतै अप्रत्याख्यानादि तीनोंका भी उदय है ही, जातैं अनन्तानुबन्धी-का उदय सहित औरनिका उदयकैं भी सम्यक्त्व व संयम गुणका घातकपणा है। बहुरि तैसे ही अप्रत्याख्यान क्रोधादिकविषै एकका उदय होतैं प्रत्याख्यानादि दोयका भी उदय है ही जातैं अप्रत्याख्यानका उदयकी साथि तिनि दोऊनिका उदय भी देश-संयमको घातै है। बहुरि प्रत्याख्यान क्रोधादिक विषै एकका उदय होतैं संज्वलनका भी उदय है ही जातैं प्रत्याख्यानवत् संज्वलन भी सकलसंयमको घातै है। बहुरि संज्वलनका उदय होतैं प्रत्याख्याना-दिक तीनका उदय नाहीं हो हैं। जातैं और कषायनिके स्पर्धक सकल संयमके विरोधी हैं। बहुरि केवल प्रत्याख्यान संज्वलनका भी उदय होतैं शेष दो कषायनिका उदय नाहीं जातैं अवशेष कषायनिके स्पर्धक देश-सकल-संयमको घातै हैं। बहुरि केवल अप्रत्याख्यानादिक तीनका उदय होतैं अनन्तानुबन्धीका उदय नाहीं है जातैं अनन्तानु-बन्धीके स्पर्धक सम्यक्त्व देशसंयम सकलसंयमको घातै हैं।

गो.क./जी.प्र./४७६/६२५/५ चतसृष्वेका कषायजातिः। =अनन्तानु-बन्ध्यादिक च्यारि कषायनिकी क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप च्यारि तहाँ (चारोंकी) एक जातिका उदय पाइये है। (गो.क. भाषा/ ७६४/६६५/७)

४. अनन्तानुबन्धीके उदय सम्बन्धी विशेषताएँ

गो. क./जी. प्र./६८०/८६४/१२ सम्यक्त्वमिश्रप्रकृतिकृतोद्वेल्लनत्वेनानन्तानुबन्ध्युदयरहितत्वाभावात्। =सम्यक्त्वमोहनीय मिश्रमोहनीयकी उद्वेलनायुक्तपनेतैं अनन्तानुबन्धी रहितपनैंका अभाव है। (अर्थात् जिन्होंने सम्यक्प्रकृति व मिश्रमोहनीयकी उद्वेलना कर दी है ऐसे जीवोंमें नियमसे अनन्तानुबन्धीका उदय होता है।)

गो. क./मू. वा. टी./४७८/६३२/१ अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्तेण आवलित्ति अणं।···।४७८। अनन्तानुबन्धिविसंयोजितवेदकसम्यग्दृष्टौ मिथ्यात्वकर्मोदयान्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं प्राप्ते आवलिपर्यंतमनन्तानुबन्ध्युदयो नास्ति।···तावत्कालमुदयावल्यां निक्षेप्तुमशक्यः। =अनन्तानुबन्धीका जाकै विसंयोजन भया ऐसा वेदक सम्यग्दृष्टि सो मिथ्यात्व कर्मके उदयतैं मिथ्यादृष्टि गुणस्थानकौं प्राप्त होइ ताकै आवली काल पर्यंत अनन्तानुबन्धीका उदय नाहीं है। जातैं मिथ्यात्वको प्राप्त होई पहिलै समय जा समय प्रबद्ध बान्धै ताका अपकर्षण करि आवली प्रमाण काल पर्यंत उदयावली विषैं प्राप्त करनेकौं समर्थपना नाहीं, अर अनंतानुबन्धीका बन्ध मिथ्यादृष्टि विषैं ही है। पूर्वै अनन्तानुबन्धी था ताका विसंयोजन कीया (अभाव किया)। तातैं तिस जीवकैं आवली काल प्रमाण अनंतानुबन्धीका उदय नाहीं।

५. दर्शनमोहनीयके उदय सम्बन्धी नियम

गो.क./मू.व.टी./७७६ मिच्छं मिस्सं सगुणोवेदगसम्मेव होदि सम्मत्तं। ···।७७६। मोहनीयोदयप्रकृतिषु मिथ्यात्वं मिश्रं च स्वस्वगुणस्थाने एवोदेति। सम्यक्त्वप्रकृतिः वेदक सम्यग्दृष्टावेवासंयतादिचतुर्षूदेति।

—मोहमीयकी उदय प्रकृतिनिविषै मिथ्यात्व और मिश्र ये दोऊ मिथ्यादृष्टि और मिश्र (रूप जो) अपने-अपने गुणस्थान (तिनि) विषै उदय हो है। अर सम्यक्त्वमोहनीय है सो वेदकसम्यक्त्वी के असंयतादिक च्यारि गुणस्थाननिविषैं उदय हो है।

६. चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोंमें सहवर्ती उदय सम्बन्धी नियम

गो.क./मू. व टी./७७६-७७/६२५···। एकाकसायजादी वेदयुगलाणमेक्कं च ।७७६। भयसहियं च जुगुच्छा सहियं दोहिंवि जुदं च ठाणाणि। मिच्छादि अपुव्वंते चत्तारि हवंति णियमेण ।४७७। —अनन्तानुबन्ध्यादिक च्यार कषायनिकी क्रोध, मान, माया, लोभ ये च्यारि जाति, तहाँ एक जातिको उदय पाइये (अर्थात् एक कालमें अनन्तानुबन्ध्यादि च्यारों क्रोध अथवा चारों मान आदिका उदय पाइये। इसी प्रकार प्रत्याख्यानादि तीनका अथवा प्रत्याख्यानादि दो का अथवा केवल संज्वलन एकका उदय पाइये) तीन वेदनविषै एक वेदका उदय पाइये, हास्य-शोकका युगल, अर रति-अरतिका युगल इन दोऊ युगलनिविषै एक-एकका उदय पाइये है ।४७६। बहुरि एक जीवके एक काल विषै भय हीका उदय होइ, अथवा जुगुप्सा हीका उदय होइ, अथवा दोऊनिका उदय होइ याते इनकी अपेक्षा च्यारि कूट (भंग) करने।

७. नाम कर्मकी प्रकृतियोंके उदय सम्बन्धी

१. १–४ इन्द्रिय व स्थावर इन पाँच प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छित्ति सम्बन्धी दो मत

गो.क./भाषा/२६३/३९५/१८ इस पक्ष विषैं—एकेन्द्री, स्थावर, बेंद्री, तेंद्री, चौंद्री इन नामकर्मकी प्रकृतिनिकी व्युच्छित्ति मिथ्यादृष्टि विषै कही है। सासादन विषै इनका उदय न कह्या। दूसरी पक्ष विषै इनका उदय सासादन विषै भी कहा है, ऐसै दोऊ पक्ष आचार्यनि कर जानने। (विशेष देखो आगे उदयकी ओघ प्ररूपणा)

२. संस्थानका उदय विग्रह गतिमें नहीं होता

ध.१५/६५/६ विग्गहगदीए वट्टमाणाणं संठाणुदयाभावादो। तत्थ संठाणाभावे जीवभावो किण्ण होदि। ण, आणुपुव्विणिव्वत्तिदसंठाणे अवट्ठियस्य जीवस्स अभावविरोहादो। —विग्रहगतिमें रहनेवाले जीवोंके संस्थानका उदय सम्भव नहीं है। प्रश्न—विग्रहगतिमें संस्थानके अभावमें जीवका अभाव क्यों नहीं हो जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ आनुपूर्वीके द्वारा रचे गये संस्थानमें अवस्थित जीवके अभावका विरोध है।

३. गति, आनुपूर्वी व आयुका उदय भवके प्रथम समय ही हो जाता है

ध.१३/५,५,१२०/३७८/४ आणुपुव्विउदयाभावेण उजुगदीए —ऋजुगतिमें आनुपूर्वीका उदय नहीं होता। (इसका कारण यह है आनुपूर्वीयका उदय विग्रह गतिमें ही होनेका नियम है, क्योंकि तहाँ ही भवका प्रथम समय उस अवस्थामें प्राप्त होता है)

गो.क./जी.प्र./२८५/४१२/१४ विवक्षितभवप्रथमसमये एव तद्गतितदानुपूर्व्यतदायुष्योदयः सपदे सदृशस्थाने युगपदेवैकजीवे उदेतीत्यर्थः। —विवक्षित पर्यायका पहिला समय ही तीहि विवक्षित पर्याय सम्बन्धी गति वा आनुपूर्वीका उदय हो है। एक ही गतिका वा आनुपूर्वीका वा आयुका उदय युगपत् एक जीवके हो है (असमान का नहीं)।

४. आतप-उद्योतका उदय तेज वात व सूक्ष्ममें नहीं है

ध.८/३,१३८/१९९/११ आदाउज्जोवाणं परोदओ बंधो। होदु णाम वाउकाइएसु आदावुज्जोवाणमुदयाभावो, तत्थ तदणुवलंभादो। ण तेउकाइएसु तदभावो। पच्चक्खेणुवलंभमाणत्तादो। एत्थ परिहारो वुच्चदे–ण ताव तेउकाइएसु आदाओ अत्थि, उण्हप्पहाए तत्थाभावादो। तेउम्हि वि उण्हत्तमुवलंभइ च्चे उवलब्भउ णाम, [ण] तस्स आदाववएसो, किंतु तेजासण्णा; "मूलोष्णवती प्रभा तेजः, सर्वांगव्याप्युष्णवती प्रभा आतापः, उष्णरहिता प्रभोद्योतः," इति तिण्हं भेदोवलंभादो। तम्हा ण उज्जोवो वि तत्थत्थि, मूलुण्हुज्जोवस्स तेजववएसादो। —आतप व उद्योतका परोदय बन्ध होता है। प्रश्न—वायुकायिक जीवोंमें आतप व उद्योतका अभाव भले ही होवे, क्योंकि, उनमें वह पाया नहीं जाता किन्तु तेजकायिक जीवोंमें उन दोनोंका उदयाभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि, यहाँ उनका उदय प्रत्यक्षसे देखा जाता है? उत्तर—यहाँ उक्त शंकाका परिहार करते हैं—तेजकायिक जीवोंमें आतपका उदय नहीं है, क्योंकि वहाँ उष्ण प्रभाका अभाव है। प्रश्न—तेजकायमें तो उष्णता पायी जाती है, फिर वहाँ आतपका उदय क्यों न माना जाये? उत्तर—तेजकायमें भले ही उष्णता पायी जाती हो परन्तु उसका नाम आतप [नहीं] हो सकता, किन्तु तेज संज्ञा होगी; क्योंकि मूलमें उष्णवती प्रभाका नाम तेज हैं, सर्वांगव्यापी उष्णवती (सूर्य) प्रभाका नाम आतप और उष्णता रहित प्रभाका नाम उद्योत है, इस प्रकार तीनोंके भेद पाया जाता है। इसी कारण वहाँ उद्योत भी नहीं, क्योंकि, मूलोष्ण उद्योतका नाम तेज है [न कि उद्योत] (ध.६/१,९-१,२८/६०/४)

गो.क./भाषा/७४५/९०४/१२ तेज, वात, साधारण, सूक्ष्म, अपर्याप्तनिकै ताका (आतप व उद्योतका) उदय नाहीं।

५. आहारकद्विक व तीर्थंकरका उदय पुरुषवेदीको ही सम्भव है

गो.क./जी.प्र./११९/१११/१५ स्त्रीषण्डवेदयोरपि तीर्थाहारकबन्धो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदिषु नियमात्। —तीर्थंकर व आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियोंका बन्ध तो स्त्री व नपुंसकवेदीको भी होनेमें कोई विरोध नहीं है, परन्तु इनका उदय नियमसे पुरुषवेदीको ही होता है।

८. नामकर्मकी प्रकृतियोंमें सहवर्ती उदय सम्बन्धी

गो.क./मू./५९९–६०२/८०३–८०५ संठाणे संहडणे विहायजुम्मे य चरिमचदुजुम्मे। अविरुद्धेक्कदरोदो उदयट्ठाणेसु भंगा हु ।५९९। तत्थासत्था णारयसाहारणसुहुमगे अपुण्णे य। सेसेगविगलऽसण्णीजुदठाणे जसजुवे भंगा ।६००। सण्णिम्मि मणुसम्मि य ओघेक्कदरं तु केवले वज्जं। सुभगादेज्जजसाणि य तित्थजुवे सत्थमेदीदि ।६०१। देवाहारे सत्थं कालावयप्पेसु भंगमाणेज्जो। वोच्छिण्णं जाणित्तं गुणपडिवण्णेसु सव्वेसु ।६०२। —छह संस्थान, छह संहनन, दो विहायोगति, सुभगयुगल, स्वरयुगल, आदेययुगल, यशःकीर्तियुगल, इन विषै अविरुद्ध एक एक ग्रहण करते भंग हो हैं ।५९९। तिनि उदय प्रकृतिनिविषै नारकी और साधारण वनस्पति, सर्व ही सूक्ष्म, सर्व ही लब्ध्यपर्याप्तक इन विषै अप्रशस्त प्रकृति ही का उदय है। तातैं तिनिके पाँच काल सम्बन्धी सर्व उदयस्थाननिविषै एक-एक ही भंग है। अवशेष एकेन्द्रिय (बादर, पृथिवी, अप्, तेज, वायु व प्रत्येक शरीर पर्याप्त) विकलेन्द्रिय पर्याप्त, असैनी पंचेन्द्रिय, इनविषै और तौ अप्रशस्त प्रकृतिनिका ही उदय है और यशस्कीर्ति और अयशस्कीर्ति इन दोऊनि विषै एक किसीका उदय है, तातै तिनिके उदयस्थाननि विषै दो-दो भंग जानने ।६००। संज्ञी जीव विषै, मनुष्य विषै छह संस्थान, छह संहनन, विहायोगति आदिके उपरोक्त पाँच युगल इनि

विषै अन्यतम (प्रशस्त या अप्रशस्त) एक-एकका उदय पाइये है। तातै सामान्यवत् ११६२ भंग है। (६×६×२×२×२×२×२=११६२)। केवलज्ञानविषै वज्रऋषभनाराच, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति इनका ही उदय पाइये (शेष जो छः संस्थान व दो युगल उनमें-से अन्यतम-का उदय है) तातै केवलज्ञान सम्बन्धी स्थानविषै (६×२×२) चौबीस-चौबीस ही भंग जानने। तीर्थंकर केवलीके'''सर्वप्रशस्त प्रकृतिका उदय हो है तातै ताकै उदयस्थाननि विषै एक-एक ही भंग है।६०१। च्यारि प्रकार देवनिविषै वा आहारक सहित प्रमत्तविषै सर्व प्रशस्त प्रकृतिनि ही का उदय है, तातै तिनिके सर्व काल सम्बन्धी उदय स्थाननि विषै एक-एक ही भंग है। बहुरि सासादनादिक गुणस्थाननिको प्राप्त भये तिनिविषै वा विग्रह गति वा कार्मणकालनिविषै व्युच्छित्ति भई प्रकृतिनि कौ जानि अवशेष प्रकृतिनिके यथा सम्भव भंग जानने।

९. उदयके स्वामित्व सम्बन्धी सारणी

(गो. क./२८५-२८६)

क्रम	नाम प्रकृति	स्वामित्व
१	स्त्यानगृद्धि आदि ३ निद्रा	इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी कर चुकनेवाले केवल कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंच। तिनमें भी आहारक व वैक्रियक ऋद्धिधारीको नहीं।
२	स्त्रीवेद	निवृत्त्यपर्याप्त असंयत गुणस्थानमें नहीं।
३	नपुंसकवेदी असंयत सम्य०	निवृत्त्यपर्याप्त दशामें केवल प्रथम नरकमें; पर्याप्त दशामें देवोंसे अतिरिक्त सबमें।
४	गति	विवक्षित पर्यायका पहला समय।
५	आनुपूर्वी	उपरोक्तवत्, परन्तु स्त्री वेदी असंयतसम्यग्दृष्टिकी नहीं।
६	आतप	बादर पर्याप्त पृथिवीकायिकमें ही।
७	उद्योत	तेज, वात व साधारण शरीर तथा इनके अतिरिक्त शेष बादर पर्याप्त तिर्यंच।
८	छह संहनन	केवल मनुष्य व तिर्यंच।
९	औदारिक द्वि०	मनुष्य तिर्यंच।
१०	वैक्रियक द्वि०	देव नारकी।
११	उच्चगोत्र	सर्व देव व कुछ मनुष्य।

५. प्रकृतियोंके उदय सम्बन्धी शंका-समाधान

१. असंज्ञियोंमें देवादि गतिका उदय कैसे है ?

ध/१५/३१६/५ णिरय-देव-मणुसगईणं देव-णिरय-मणुस्साउआणमुच्चागोदस्स य कधमसण्णीसुदओ। ण, असण्णिपच्छायदाणं णेरइयादीणमुवयारेण असण्णित्तब्भुवगमादो। =प्रश्न—नरकगति, देवगति, मनुष्यगति, देवायु, नरकायु, मनुष्यायु और उच्चगोत्रका उदय असंज्ञी जीवोंमें कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं क्योंकि असंज्ञी जीवोंमें से पीछे आये हुए नारकी आदिकोंको उपचारसे असंज्ञी स्वीकार किया गया है।

२. देवगतिमें उद्योतके बिना दीप्ति कैसे है

ध.६/१,९-२/१०२/१२६/२ देवेसु उज्जोवस्सुदयाभावे देवाणं देहदित्ती कुदो होदि। वण्णणामकम्मोदयादो। =प्रश्न—देवोंमें उद्योत प्रकृतिका उदय नहीं होने पर देवोंके शरीरकी दीप्ति कहाँसे होती है ? उत्तर—देवोंके शरीरमें दीप्ति वर्णनामकर्मके उदयसे होती है।

३. एकेन्द्रियोंमें अंगोपांग व संस्थान क्यों नहीं

ध.६/१,९-२,७६/११२/८ एइंदियाणमंगोवंगं किण्ण परूविदं। ण, तेसिं णलय-बाहू-णिदंब-पट्ठि-सीसो-राणयभावादो तदभावा। एइंदियाणं छ संठाणाणि किण्ण परूविदाणि। ण पत्तेयवयवपरूविदलक्खणपंचसंठाणाणं समूहसरूवाण छसंठाणत्थित्तविरोहा। =प्रश्न—एकेन्द्रिय जीवोंमें अंगोपांग क्यों नहीं बतलाये ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके पैर, हाथ, नितम्ब, पीठ, शिर और उर (उदर) का अभाव होनेसे अंगोपांग नहीं होते। प्रश्न—एकेन्द्रियोंके छहों संस्थान क्यों नहीं बतलाये ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक अवयवसे प्ररूपित लक्षणवाले पाँच संस्थानोंको समूहस्वरूपसे धारण करनेवाले एकेन्द्रियोंके पृथक्-पृथक् छह संस्थानोंके अस्तित्वका विरोध है।

४. विकलेन्द्रियोंमें हुंडक संस्थान व दुःस्वर ही क्यों ?

ध.६/१,९-२,६८/१०८/७ विगलिंदियाणं बंधो उदओ वि हुंडसंठाणमेवेत्ति सुत्ते उत्तं। णेदं घडदे, विगलिंदियाणं छस्संठाणुवलंभा। ण एस दोसो, सव्वावयवेसु णियदसरूवपंचसंठाणेसु वे-तिण्णि-चदु-पंच-संठाणाणि संजोगेण हुंडसंठाणमणेयभेदभिण्णमुप्पज्जदि। ण च पंचसंठाणाणि पच्चवयवमेरिसाणि त्ति णज्जंते, संपहि तथाविधोवदेसाभावा। ण च तेसु अविण्णादेसु एदेसिमेसो संजोगो त्ति णादुं सक्किज्जदे। तदो सव्वे वि विगलिंदिया हुंडसंठाणा वि होंता ण णज्जंति त्ति सिद्धं। विगलिंदियाणं बंधो उदओ वा दुस्सरं चेव होदि त्ति सुत्ते उत्तं। भमरादओ सुस्सरा वि दिस्संति, तदो कंधमेगं घडदे। ण, भमरादिसु कोइलासु व्व महुरो व्व रुच्चइ, त्ति तस्स सरस्स महुरत्तं किण्ण इच्छिज्जदि। ण एस दोसो, पुरिसिच्छादो वत्थुपरिणामाणुवलंभा। ण च णिंबो केसिं पि रुच्चदि त्ति महुरत्तं पडिवज्जदे, अव्ववत्थावत्तीदो। =१. प्रश्न—'विकलेन्द्रिय जीवोंके हुंडकसंस्थान इस एक प्रकृतिका ही बन्ध और उदय होता है' यह सूत्रमें कहा है। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि विकलेन्द्रिय जीवोंके छह संस्थान पाये जाते हैं ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, सर्व अवयवोंमें नियत स्वरूपवाले पाँच संस्थानोंके होनेपर दो, तीन, चार और पाँच संस्थानोंके संयोगसे हुंडकसंस्थान अनेक भेदभिन्न उत्पन्न होता है। वे पाँच संस्थान प्रत्येक अवयवके प्रति इस प्रकारके आकार वाले होते हैं, यह नहीं जाना जाता है, क्योंकि, आज उस प्रकारके उपदेशका अभाव है। और उन संयोगी भेदोंके नहीं ज्ञात होनेपर इन जीवोंके 'अमुक संस्थानोंके संयोगात्मक ये भंग हैं,' यह नहीं जाना जाता है। अतएव सभी विकलेन्द्रिय जीव हुंडकसंस्थानवाले होते हुए भी आज नहीं जाते हैं, यह बात सिद्ध हुई। २. प्रश्न—'विकलेन्द्रिय जीवोंके बन्ध भी और उदय भी दुःस्वर प्रकृतिका होता है' यह सूत्रमें कहा है। किन्तु भ्रमरादिक कुछ विकलेन्द्रिय जीव सुस्वरवाले भी दिखलाई देते हैं, इसलिए यह बात कैसे घटित होती है, कि उनके सुस्वर प्रकृतिका उदय व बन्ध नहीं होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भ्रमर आदिमें कोकिलाओंके समान स्वर नहीं पाया जाता है। प्रश्न—भिन्न रुचि होनेसे कितने ही जीवोंको अमधुर स्वर भी मधुरके समान रुचता है। इसलिए उसके, अर्थात् भ्रमरके स्वरकी मधुरता क्यों नहीं मान ली जाती ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, पुरुषोंकी इच्छासे वस्तुका परिणमन नहीं पाया जाता है। नीम कितने ही जीवोंको रुचता है; इसलिए वह मधुरताको नहीं प्राप्त हो जाता है, क्योंकि, वैसा मानने पर अव्यवस्था प्राप्त होती है।

६. कर्म प्रकृतियोंकी उदय व उदयस्थान प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ

संकेत	अर्थ
(१) कर्म प्रकृतियोंके लिए छोटे नाम	
(१) दर्शनावरणी	
निद्रा द्विक	निद्रा-प्रचला
स्त्यानत्रिक	स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला
निद्रापंचक	निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि
दर्शन चतु०	चक्षु, अचक्षु, अवधि व केवल-दर्शनावरण
(२) मोहनीय	
मिथ्या०	मिथ्यात्व
मिश्र०	मिश्र मोहनीय या सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति
सम्य०	सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व या सम्यग्मोहनीय
अनन्त चतु०	अनन्तानुबन्धी चतुष्क
अप्र० चतु०	अप्रत्याख्यान चतुष्क
प्र० चतु०	प्रत्याख्यान चतुष्क
सं० चतु०	संज्वलन चतुष्क
स्त्री०	स्त्री वेद
पु०	पुरुष वेद
नपुं०	नपुंसक वेद
वेदत्रिक	स्त्री, पुरुष व नपुंसक वेद
भयद्विक	भय जुगुप्सा
हास्य द्विक	हास्य रति
(३) नामकर्म	
तिर्य०	तिर्यंच गति
मनु०	मनुष्य गति
नरक द्विक	नरकगति व आनुपूर्वी
तिर्य. द्विक	तिर्यंचगति व आनुपूर्वी
मनु. द्विक	मनुष्यगति व आनुपूर्वी
देव द्विक	देवगति व आनुपूर्वी
नरकादि त्रिक	नरकादि गति आनुपूर्वी व आयु
देवादि चतु०	गति, आयु, यथायोग्य शरीर व अंगोपांग
औ०	औदारिक शरीर
वै०	वैक्रियिक शरीर
आ०	आहारक शरीर
औ.,वै.,आ.द्वि.	औदारिकादि शरीर व अंगोपांग
औ०,वै०,आ०, चतु०	औदारिकादि शरीर अंगोपांग, बन्धन, संघात
वै० षटक	नरकगति, गत्यानुपूर्वी व आयु देवगति, गत्यानुपूर्वी व आयु
आनु०	आनुपूर्वी
विहा०	विहायोगति
विहा० द्वि०	प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति
अगुरु०	अगुरुलघु
अगुरु० द्वि०	अगुरुलघु, उपघात
अगुरु० चतु०	अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास
वर्ण चतु०	वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श
त्रस चतु०	त्रस, बादर, प्रत्येक, पर्याप्त
त्रस दशक	त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति
स्थावर दशक	स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति
सुभग त्रय	सुभग, आदेय, यशःकीर्ति
सदर चउक्क	तिर्यंचगति, आनुपूर्वी, आयु, उद्योत
तिर्यगेकादश	तिर्यक्द्विक (गति-आनुपूर्वी) आद्य जाति चतुष्क (१-४ इन्द्रिय), आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण
ध्रुव/१२	ध्रुवोदयी १२ प्रकृतियाँ (तैजस, कार्माण, वर्णादि चार, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण)
यु०/८	८ युगलोंकी २१ प्रकृतियोंमें अन्यतम उदययोग्य ८ प्रकृति (चार गति; पाँच जाति; त्रस स्थावर; बादर सूक्ष्म; पर्याप्त-अपर्याप्त; सुभग-दुर्भग; आदेय अनादेय; यश-अयश)
श०/३	शरीर, संस्थान तथा प्रत्येक व साधारणमें से एक
(२) उदय योग्य पाँच काल	
वि० ग०	विग्रह गति काल
मि० श०	मिश्र शरीर काल (आहार ग्रहण करनेसे शरीर पर्याप्तिकी पूर्णता तक)
श० प०	शरीर पर्याप्ति काल (शरीर पर्याप्तिके पश्चात् आनपान पर्याप्तिकी पूर्णता तक)
आ० प०	आनपान पर्याप्ति काल (आनपान पर्याप्तिके पश्चात् भाषा पर्याप्तिकी पूर्णता तक)
भा० प०	भाषा पर्याप्ति काल (पूर्ण पर्याप्त होनेके पश्चात् आयुके अन्त तक)
(३) मार्गणा सम्बन्धी	
पंचें०	पंचेन्द्रिय
सा०	सामान्य
तिर्य०	तिर्यञ्च
मनु०	मनुष्य
प०	पर्याप्त
अप०	अपर्याप्त
सू०	सूक्ष्म
बा०	बादर
ल० अप०	लब्ध्यपर्याप्त
नि० अप०	निर्वृत्यपर्याप्त
(४) सारणीके शीर्षक	
अनुदय	उस स्थानमें इन प्रकृतियोंका उदय सम्भव नहीं। आगे जाकर सम्भव है।
पुनः उदय	पहले जिनका अनुदय था उन प्रकृतियोंका यहाँ उदय हो गया है।
व्युच्छित्ति	इस स्थान तक तो इन प्रकृतियोंका उदय है पर अगले स्थानोंमें सम्भव नहीं।

२. उदय व्युच्छित्तिकी ओघ प्ररूपणा

नोट—उदय योग्यमें-से अनुदय घटाकर पुनः उदयकी प्रकृतियाँ जोड़नेपर उस स्थानकी कुल उदय प्रकृतियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें-से व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ घटानेपर अगले स्थानकी उदय योग्य प्राप्त होती हैं।

१. कुल उदय योग्य प्रकृतियाँ—वर्ण पाँच, गन्ध दो, रस पाँच और स्पर्श आठ इन २० प्रकृतियोंमें-से अन्यतमका ही उदय होना सम्भव है, तातैं केवल मूल प्रकृतियों का ही ग्रहण है, शेष १६ का नहीं। तथा बन्धन पाँच और संघात पाँच इन दस प्रकृतियोंका भी स्व-स्व शरीरमें अन्तर्भाव हो जानेसे इन १० का भी ग्रहण नहीं। इस प्रकार २६ रहित १२२ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं—१४८ − २६ = १२२। (पं.सं./प्रा./२/७)

प्रमाण—(पं.सं./प्रा./३/२७-४३), (रा.वा./९/३६/८/६३०), (ध.८/३,५/९), (गो.क./जी.प्र./२६३-२७७/३९५-४०६)

गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ		अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उ०	कुल उ०	व्युच्छि०
१	आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, मिथ्यात्व	= ५	तीर्थ, आ. द्वि. मिश्र., सम्य. = ५		१२२	५		११७	५
२	१-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्तानुबन्धी चतु०	= ९	नरकानुपूर्वी = १		११२	१		१११	९
३	मिश्र मोहनीय	= १	मनु०, ति., देव-आनुपूर्वी = ३	मिश्रमोह = १	१०२	३	१	१००	१
४	अप्र० चतु०, वैक्रि० द्वि०, नरक त्रि०, देव त्रि०, मनु-तिर्य-आनु०, दुर्भग, अनादेय, अयश	= १७		चारों आनुपूर्वी सम्य. = ५	९९		५	१०४	१७
५	प्र० चतु०, ति० आयु, नीच गोत्र, ति० गति, उद्योत	= ८			८७			८७	८
६	आहारक द्विक, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला	= ५		आहारक द्वि. = २	७९		२	८१	५
७	सम्यक्त्व मोहनीय, अर्ध नाराच, कीलित, सृपाटिका	= ४			७६			७६	४
८/१	हास्य, रति, भय, जुगुप्सा	= ४			७२			७२	४
८/अन्त	अरति, शोक	= २			६८			६८	२
९/१-५	(सवेद भाग) तीनों वेद	= ३			६६			६६	३
९/६	क्रोध	= १			६३			६३	१
९/७	मान	= १			६२			६२	१
९/८	माया	= १			६१			६१	१
९/९	लोभ (बादर)	= ×			६०			६०	
१०	लोभ (सूक्ष्म)	= १			६०			६०	१
११	वज्र नाराच, नाराच	= २			५९			५९	२
१२/१	(द्विचरम समय) निद्रा, प्रचला	= २			५७			५७	२
१२/२	(चरम समय) ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय	= १४			५५			५५	१४
१३	(नाना जीवापेक्षया)—वज्र वृषभ नाराच, निर्माण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायो०, औदा० द्वि०, तैजस-कार्माण, ६ संस्थान, वर्णादि चतु०, अगुरु-लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक शरीर	= २९		तीर्थंकर = १	४१		१	४२	२९
	(एक जीवापेक्षा) उपरोक्त २९+अन्यतम वेदनीय	= ३०		तीर्थंकर = १	४१		१	४२	३०
१४	(नाना जीवापेक्षया) निम्न १२+१ वेदनीय	= १३			१३			१३	१३
	(एक जीवापेक्षया) शेष अन्यतम एक वेदनीय, मनु० गति व आयु, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर, उच्च गोत्र	= १२			१२			१२	१३

३. उदय व्युच्छित्तिकी आदेश प्ररूपणा

१. गतिमार्गणा

प्रमाण :—(गो.क./जी.प्र./२८४-३०५/४१२-४३४)

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु- च्छित्ति
१. नरक गति—(गो.क./जी.प्र./२९०-२९३/४१५-४१८)									
		उदय योग्य—स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्री पुरुष वेद इन ५ रहित घातिया की ४७=४२ नरकायु, नीच गोत्र, साता, असाता, नरकानुपूर्वी, वैक्रि० द्वि०, तैजस, कार्माण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, अप्रशस्त विहायोगति, हुंडक संस्थान, निर्माण, पंचेन्द्रिय, नरकगति, दुर्भग दुःस्वर, अनादेय, अयश, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, वर्णादि चतु०=३४ ४२+३४=७६							
प्रथम पृथिवी	१	मिथ्यात्व =१	मिश्र० व सम्य० =२		७६	२		७४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४	नारकानुपूर्वी=१		७३	१		७२	४
	३	मिश्र मोहनीय =१		मिश्र मोह=१	६८		१	६९	१
	४	अप्रत्या० चतु०, दुर्भग, अनादेय, अयश, नरक त्रिक, वैक्रि० द्वि० =१२		सम्य० मोह नारकानुपूर्वी=२	६८		२	७०	१२
२–७ पृथिवी	१	मिथ्यात्व, नारकानुपूर्वी =२	मिश्र. सम्य.=२		७६	२		७४	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४			७२			७२	४
	३	मिश्र मोह =१		मिश्र मोह=१	६८		१	६९	१
	४	नारकानुपूर्वी रहित प्रथम पृथिवीवत् =११		सम्य० मो०=१	६८		१	६९	११
२. तिर्यंच गति : (गो.क./जी.प्र./२९४–२९७/४१८–४२३)									
तिर्यंच सा०		उदय योग्य—देव त्रिक, नारक त्रिक, मनु० त्रिक, वैक्रि० द्विक, आहा० द्विक, उच्च गोत्र, तीर्थंकर—इन १५ के बिना पूर्व उदय योग्य=१०७							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण=५	मिश्र० सम्य० =२		१०७	२		१०५	५
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर =९			१००			१००	९
	३	मिश्र मोह =१	तिर्यंचानुपूर्वी =१	मिश्र मोह=१	९१	१	१	९१	१
	४	अप्रत्या० चतु०, तिर्यगानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति =८		तिर्यगानुपूर्वी व सम्य० मोह=२	९०		२	९२	८
	५	प्रत्या० चतु०, तिर्यगायु, तिर्यंच गति, नीच गोत्र, उद्योत =८			८४			८४	८
पंचें० सा०	—	उदय योग्य–स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, १–४ इन्द्रिय इन ८ के बिना तिर्यंच सामान्य की सर्व १०७–८=९९.							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्तत्व, =२	मिश्र०, सम्य० =२		९९	२		९७	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४			९५			९५	४
	३	मिश्र मोह० =१	तिर्यगानुपूर्वी =१	मिश्र० मोह=१	९१	१	१	९१	१
	४	तिर्यंच सामान्यवत् =८		तिर्य० आनु, सम्य०=२	९०		२	९२	८
	५	,, ,, ,, =८			८४			८४	८
पंचें प०	—	उदय योग्य–स्त्री वेद व अपर्याप्त इन दो के बिना पंचेन्द्रिय सामान्यवत् ९९–२=९७							
	१	मिथ्यात्व =१	मिश्र० सम्य० =२		९७	२		९५	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४			९४			९४	४

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
	३	मिश्र० मोह० =१	तिर्यगानुपूर्वी =१	मिश्र मोह =१	९०	१	१	९०	१
	४	तिर्यंच सामान्यवत् =८		तिर्यं० आनु०, सम्य० =२	८९		२	९१	८
	५	" " " =८			८३			८३	८
तिर्यं० योनिमति	—	उदय योग्य—अपर्याप्त, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, इन तीनोंके बिना पंचेन्द्रिय सामान्यवत् ९९–३=९६							
	१	मिथ्यात्व =१	मिश्र, सम्य० =२		९६	२		९४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क, तिर्यगानुपूर्वी =५ (सम्यग्दृष्टि मरकर तिर्यंचनीमें न उपजे)			९३			९३	५
	३	मिश्र मोह =१		मिश्र मोह =१	८८		१	८९	१
	४	तिर्यगानुपूर्वीके बिना तिर्यंच सामान्यवत् =७		सम्य० =१	८८		१	८९	७
	५	तिर्यंच सामान्यवत् =८			८२			८२	८
तिर्यं० अप०	—	उदय योग्य—स्त्री व पुरुष वेद, स्त्यान० त्रिक, परघात, उच्छ्वास, पर्याप्त, उद्योत, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त-विहायो०, यश, आदेय, आदिके ५ संस्थान व संहनन, सुभग, सम्य०, मिश्र इन २८ के बिना पंचें० सा० वत् =७१							
	१	मिथ्यात्व =१			७१			७१	१
भोग भूमिज तिर्य.	—	उदय योग्य—भोगभूमिज मनुष्योंको ७८—मनुष्य त्रिक व उच्चगोत्र+तिर्यं० त्रिक, नीच गोत्र व उद्योत =७९ प्रमाण :—(गो.क./भाषा/३०१/४३१/१)							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य०, मिश्र० =२		७९	२		७७	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४			७६			७६	४
	३	मिश्र मोह =१	तिर्यगानुपूर्वी =१	मिश्र० =१	७२	१	१	७२	१
	४	अप्रत्या० चतुष्क, तिर्यगानुपूर्वी =५		सम्य०, तिर्यगानु० =२	७१		२	७३	५

३. मनुष्य गति—(गो.क./जी.प्र./२९८-३०३/४२३-४३१)

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
मनुष्य सामान्य	—	उदय योग्य—स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यं० त्रिक, नरक त्रिक, देव त्रिक, वैक्रि० द्विक, १-४ इन्द्रिय, आतप, उद्योत, साधारण इन २० के बिना सर्व १२२–२०=१०२							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त =२	मिश्र० सम्य० आ. द्वि०, तीर्थ =५		१०२	५		९७	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४			९५			९५	४
	३	मिश्र मोह =१	मनुष्यानुपूर्वी =१	मिश्र मोह =१	९१	१	१	९१	१
	४	अप्रत्या० चतु०, मनु० आनु०, दुर्भग, अनादेय, अयश, =८		सम्य०, मनु० आनु० =२	९०		२	९२	८
	५	प्रत्या० चतु०, नीच गोत्र =५			८४			८४	५
	६–१४	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
मनुष्य पर्याप्त	—	उदय योग्य—स्त्री वेद व अपर्याप्तके बिना मनुष्य सामान्यवत् १०२–२=१००							
	१	मिथ्यात्व =१	मनु० सा० वत् =५		१००	५		९५	१
	२–८	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
	९	क्रोध, मान, माया, पुरुष व नपुंसक वेद =५			६५			६५	५
	१०–१४	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
मनुष्यणी पर्याप्त	—	उदय योग्य—अपर्याप्त, पुरुष व नपुंसक वेद, आहारक द्विक, तीर्थंकर इन ६ के बिना मनुष्य सामान्यवद्—९६							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य०, मिश्र० =२		९६	२		९४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, मनुष्यानुपूर्वी=५			९३			९३	५
	३	मिश्र मोह =१		मिश्र मोह=१	८८		१	८९	१
	४	अप्रत्या० चतु०, दुर्भग, अनादेय, अयश =७		सम्य०=१	८८		१	८९	७
	५	प्रत्या० चतु०, नीच गोत्र =५			८२			८२	५
	६	स्त्यानगृद्धि. निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला =३			७७			७७	३
	७-८	मूलोघवत्		—	—	—	—	—	—
	९/१-५	(सवेद भाग) स्त्री वेद =१			६३			६३	१
	९-१२	मूलोघवत्		—	—	—	—	—	—
	१३-१४	तीर्थंकर बिना मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
मनुष्य अप०	—	उदय योग्य :—तिर्यञ्च अप०वत् ७१ -	तिर्यक् त्रिक+	मनुष्य त्रिक=७१					
	१	मिथ्यात्व =१			७१			७१	१
भोगभूमिजमनु०	—	उदय योग्य :—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश, नीच गोत्र, नपुंसक, स्त्यान-त्रिक, अप्रशस्तविहा०, तीर्थ०, अपर्याप्त, वज्र वृषभ नाराच बिना ५ संहनन, समचतुरस्र बिना ५ संस्थान, आहारकद्विक, इन २४ के बिना मनु० सा० वत्=७८							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य.,मिश्र.=२		७८	२		७६	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु० =४			७५			७५	४
	३	मिश्र मोह =१	मनु. आनु.=१	मिश्र मोह=१	७१	१	१	७१	१
	४	अप्रत्या० चतु, मनुष्यानुपूर्वी =५		सम्य.,आनु.=२	७०		२	७२	५
४. देव गति	—	(गो.क./जी.प्र./३०४-३०५/४३२-४३४)							
देव सामान्य	—	उदय योग्य :—भोगभूमिया मनुष्यकी ७८—मनुष्य त्रिक व औदा० द्वि० व वज्र वृषभ नाराच संहनन+देवत्रिक व वैक्रि० द्विक=७७							
	१	मिथ्यात्व =१	मिश्र०,सम्य.=२		७७	२		७५	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु० =४			७४			७४	४
	३	मिश्र मोह =१	देवानुपूर्वी	मिश्र मोह	७०	१	१	७०	१
	४	अप्रत्या० चतु०, देवत्रिक, वैक्रि०द्वि०=९		सम्य०,आनु०=२	६९		२	७१	९
	—								
भवनत्रिक देव	१-४	देव सामान्यवत्	—	—	—	—	—	—	—
सौधर्म-ऐशान	१-४	”	—	—	—	—	—	—	—
सनत्कु०-नवग्रैवेयक तकके देव	१-४	स्त्रीवेद रहित देव सामान्यवत्	—	—	—	—	—	—	—
नवअनुदिश से सर्वार्थसिद्धिके देव	—	उदय योग्य :—देव सामान्यकी ७७—मिथ्यात्व, अनन्त० चतु०, मिश्र मोह, स्त्री वेद=७०							
	४	अप्रत्या० चतु०, देवत्रिक, वैक्रि० द्वि०=९			७०			७०	९
भवनत्रिकसे सौधर्म ईशानकी देवियाँ	—	उदय योग्य :—पुरुष वेद बिना देव	सामान्यकी ७७-	१=७६					
	१	मिथ्यात्व =१	मिश्र., सम्य.=२		७६	२		७४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, देवगत्यानुपूर्वी=५			७३			७३	५
	३	मिश्र मोह =१		मिश्र मोह=१	६८		१	६९	१
	४	अप्रत्या० चतु०, देवगति व आयु, वैक्रि० द्वि० =८		सम्य०=१	६८		१	६९	८

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
२. इन्द्रिय मार्गणा = (गो.क./जी.प्र./३०६-३०८/४३६-४३७)									
एकेन्द्रिय	—	उदय योग्य :—स्त्री व पुरुष वेद, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त व अप्रशस्त विहा०, आदेय, छहों संहनन, हुंडक बिना ५ संस्थान, सुभग, सम्य०, मिश्र०, औ० अंगोपांग, त्रस, २-५ इन्द्रिय, देव त्रिक, नरक त्रिक, मनु० त्रिक, उच्चगोत्र, तीर्थंकर, आहा० द्विक, वैक्रि० द्विक, इन ४२ के बिना सर्व १२२-४२=८०							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, परघात, उद्योत, उच्छ्वास =११			८०			८०	११
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, एकेन्द्रिय, स्थावर =६			६९			६९	६
विकलेन्द्रिय	—	उदय योग्य :—स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप इन पाँच रहित एकेन्द्रियकी ८० अर्थात् कुल ७५+त्रस, अप्रशस्त विहा०, दुःस्वर, औ० अंगोपांग, स्व स्व ३ जाति, सृपाटिका संहनन यह ६=८१							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त, स्त्यान-त्रिक, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, अप्रशस्त-विहा०, दुःस्वर =१०			८१			८१	१०
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, स्व स्व योग्य १ जाति =५			७१			७१	५
पंचेन्द्रिय	—	उदय योग्य :—साधारण, १-४ इन्द्रिय, आतप, स्थावर, सूक्ष्म इन ८ रहित सर्व १२२-८=११४							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त =२	तीर्थ, आ.द्वि., सम्य. मिश्र=५		११४	५		१०९	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतु० =४	नरकानु०=१		१०७	१		१०६	४
	३-१४	मूलोघवत्							
३. काय मार्गणा = (गो.क./जी.प्र./३०९-३१०/४३९-४४१)									
स्थावर सामान्य बा.प.व नि.अप.	—	उदय योग्य :—एकेन्द्रियवत्=८०							
पृथिवी काय	—	उदय योग्य :—साधारण रहित स्थावर सामान्यको ८० अर्थात् ८०-१=७९							
प. व अप.	१	मिथ्यात्व, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, अपर्याप्त, स्त्यान० त्रिक, उच्छ्वास, परघा =१०			७९			७९	१०
नि. अप.	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क, एकेन्द्रिय, स्थावर =६			६९			६९	६
अप. काय	—	उदय योग्य :—साधारण व आतपके बिना स्थावर सामान्यवत् ८०-२=७८							
प. व अप.	१	आताप बिना पृथिवी कायवत् =९			७८			७८	९
नि. अप.	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, एकेन्द्रिय, स्थावर =६			६९			६९	६
तेज काय व	—	उदय योग्य :—साधारण, आतप, उद्योत इन तीन बिना स्थावर सामान्य ८०-३=७७							
वात काय	१	आतप, उद्योत बिना पृ० कायवत् =८			७७			७७	८
वनस्पति काय	—	उदय योग्य :—आतप रहित स्थावर सामान्यवत् ८०-१=७९							
अप्रति. प्रत्येक	१	मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, स्त्यान० त्रिक, परघात, उच्छ्वास, उद्योत =१०			७९			७९	१०
नि. अप०	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, एकेन्द्रिय, स्थावर =६			६९			६९	६
शेष सर्व विकल्प—'सू. प. अप.' व 'बा. अप.'	१	मिथ्यादृष्टि पृथिवी कायवत्	—	—	—	—	—	—	—

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
४. योग मार्गणा— (गो क०/जी० प्र०/३१०-३१४/४४१-४५३)									
चारों मनोयोगी सत्य असत्य व उभय वचन योगी = ७	—	उदय योग्य—आतप, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आनु० चतु० इन १३ बिना सर्व = १०९							
	१	मिथ्यात्व = १	तीर्थ, आ० द्वि०, मिश्र, सम्य = ५		१०९	५		१०४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, = ४			१०३			१०३	४
	३	मिश्र मोह = १		मिश्र मोह = १	९९		१	१००	१
	४	अप्रत्या० चतु०, वैक्रि० द्वि०, नरक गति व आयु, देवगति व आयु, दुर्भग, अनादेय, अयश = १३		सम्य० = १	९९		१	१००	१३
	५-१२	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
	१३	ओघवत् १३ वें की ३० तथा १४ वें की १२ = ४२		तीर्थ = १	४१		१	४२	४२
अनुभय वचन	—	उदय योग्य—आतप, एकेन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आनुपूर्वी चतु० इन १० के बिना सर्व = ११२							
	१	मिथ्यात्व = १	तीर्थ, आ० द्वि०, मिश्र०, सम्य० = ५		११२	५		१०७	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, २-४ इन्द्रिय = ७			१०६			१०६	७
	३	मिश्र मोह = १		मिश्र मोह = १	९९		१	१००	१
	४-१२	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
	१३	ओघवत् १३वें की ३० तथा १४ वें की १२ = ४२		तीर्थ = १	४१		१	४२	४२
औदारिक काय योग	—	उदय योग्य—आहा० द्वि०, वैक्रि० द्वि०, देव व नारक त्रिक, मनु० व तिर्य० आनु०, अपर्याप्त इन १३ के बिना सर्व = १०९							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म साधारण = ४	तीर्थ०, मिश्र, सम्य० = ३		१०९	३		१०६	४
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय स्थावर = ९			१०२			१०२	९
	३	मिश्र मोह = १		मिश्र मोह = १	९३		१	९४	१
	४	अप्रत्या० चतु०, दुर्भग, अनादेय अयश = ७		सम्य० = १	९३		१	९४	७
	५	उद्योत, नीच गोत्र, तिर्य० गति व आयु, प्रत्या० चतु० = ८			८७			८७	८
	६	स्त्यान त्रिक० = ३			७९			७९	३
	७-१२	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
	१३	ओघवत् १३वें व १४ वें की मिलकर = ४२		तीर्थ० = १	४१		१	४२	४२
औदारिक मिश्र	—	उदय योग्य—आहा० द्विक, वैक्रि० द्विक, देवत्रिक, नारक त्रिक, मनु० ति० आनु०, स्त्यान० त्रिक, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहायो०, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, मिश्र० इन २४ के बिना सर्व १२२-२४ = ९८							
	१	मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण = ४	तीर्थ० सम्य० = २		९८	२		९६	४
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनादेय, दुर्भग, अयश, स्त्री नपुंसक वेद = १४			९२			९२	१४
	३	गुणस्थान सम्भव नहीं	—	—	—	—	—	—	—
	४	अप्रत्या० चतु०, (आ० द्वि०, स्त्यान० त्रिक, स्त्री नपुं० वेद, उद्योत इन ८ रहित ५-१२ तक की ४८ अर्थात् ४०) = ४४		सम्य० = १	७८		१	७९	४४
	५-१२	गुणस्थान सम्भव नहीं	—	—	—	—	—	—	—
	१३	(समुद्घात केवली) सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्ता-प्रशस्त विहा०, परघात, उच्छ्वास इन ६ के बिना १३वें १४वें की सर्व ४२-६ = ३६			३५		१	३६	३६

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
वैक्रियक काय योग	—	उदय योग्य—स्थावर, सूक्ष्म, तिर्य० त्रिक, मनु० त्रिक, आतप, उद्योत, १-४ इन्द्रिय, साधारण, स्त्यान० त्रिक, तीर्थंकर, अपर्याप्त, छहों संहनन, समचतुरस्र व हुंडक बिना ४ संस्थान, आहा० द्वि, औ० द्वि, नारक व देव आनु०, इन ३६ के बिना सर्व १२२-३६=८६।							
	१	मिथ्यात्व =१	मिश्र, सम्य०=२		८६	२		८४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क =४			८३			८३	४
	३	मिश्र मोह =१		मिश्रमोह=१	७९		१	८०	१
	४	अप्रत्या० चतु०, देवगति आयु, नरकगति आयु०, वैक्रि० द्विक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय =१३		सम्य० =१	७९		१	८०	१३
वैक्रियकमिश्रकाय	—	उदय योग्य—मिश्रमोह, परघात, उच्छ्वास, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहा० इन ७ रहित वैक्रियककाय योगवत् ८६-७=७९							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य० =१		७९	१		७८	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, स्त्री वेद =५	हुंडक, नपुंसक, दुर्भग, अनादेय अयश, नरक गति व आयु, नीच गोत्र=८		७७	८		६९	५
	३	गुणस्थान सम्भव नहीं	—	—	—	—	—	—	—
	४	अप्रत्या० चतु०, वैक्रि० द्वि०, देव नरक गति व आयु, दुर्भग, अनादेय अयश =१३		सम्य०, सासादन के अनुदय वाली ८=९	६४		९	७३	१३
आहारक काय योग	—	उदय योग—स्त्यान० त्रिक, स्त्री नपं० वेद, अप्रशस्त विहायो०, दुःस्वर, ६ संहनन, औदा० द्वि०, समचतुरस्रके बिना ५ संस्थान इन २० रहित ओघ के ६ ठे गुणस्थानकी ८१-२०=६१							
	६	आहारक द्विक =२			६१			६१	२
आहारक मिश्र	—	उदय योग्य—सुस्वर, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहा० इन ४ रहित आहारक काय योगकी ६१=५७							
	६	आहारक द्विक =२			५७			५७	२
कार्माण काय योग	—	उदय योग्य—सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहायो०, प्रत्येक, साधारण, आहारक द्वि०, औदा० द्वि, वैक्रि० द्वि०, मिश्र, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, स्त्यान० त्रिक, छह संस्थान, छह संहनन इन ३३ के बिना सर्व १२२-३३=८९							
	१	मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त =३	सम्य०, तीर्थ=२		८९	२		८७	३
	२	अनन्ता० चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, स्त्रीवेद=१०	नरक त्रिक=३		८४	३		८१	१०
	३	गुणस्थान सम्भव नहीं	—	—	—	—	—	—	—
	४	वैक्रि० द्वि. बिना मूलोघके ४थे वाली=१५ उद्योत, आहा० द्वि०, स्त्यान० त्रिक, प्रथम रहित ५ संहनन इन ११ के बिना ओघ की ५-१२ गुणस्थान वाली ४८-११=३७ ३७+१५=५२		सम्य०, नरकत्रिक	७१		४	७५	५२
	५-१२	गुणस्थान सम्भव नहीं	—	—	—	—	—	—	—
	१३	(समुद्घात केवलीको) वज्रवृषभनाराच, स्वरद्विक० विहायो० द्विक, औ० द्वि०, ६ संस्थान, उपघात, परघात, प्रत्येक, उच्छ्वास इन १७ के बिना ओघके १३ वें, १४ वें गुणस्थानोंको ४२-१७=२५		तीर्थंकर	२४		१	२४	२५

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्युच्छि.
५. वेद मार्गणा—(गो.क./जी.प्र./३२०-३२१/४५४-४५८)									
पुरुष वेद		**उदय योग्य**—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नारक त्रिक, १-४ इन्द्रिय, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, तीर्थंकर, आतप इन १५ रहित सर्व—१२२-१५=१०७							
	१	मिथ्यात्व =१	आ० द्वि०, सम्य० मिश्र =४		१०७	४		१०३	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु० =४			१०२			१०२	४
	३	मिश्र मोह =१	देव, मनु० व तिर्य० गत्यानुपूर्वी =३	मिश्र =१	९८	३	१	९६	१
	४	अप्रत्या०चतु०, वैक्रि० द्वि०, देवत्रिक, मनु० व तिर्य० आनु, दुर्भग, अनादेय, अयश =१४		देव, मनु० व तिर्य० आनु० सम्य० =४	९५		४	९९	१४
	५-८	मूलोघवत् =२३		आहा० द्वि० =२	८५		२	८७	२३
	९	पुरुषवेद, क्रोध, मान, माया =४			६४			६४	४
	१०-१४	गुणस्थान सम्भव नहीं							
स्त्री वेद		**उदय योग्य**—पुरुष वेदकी १०७—(आहा० द्वि०, पुरुष वेद)+स्त्री वेद=१०५							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य० मिश्र =२		१०५	२		१०३	१
	२	अनन्ता० चतु०, देव मनुष्य तिर्य० आनु० =७			१०२			१०२	७
	३	मिश्रमोह =१		मिश्रमोह =१	९५		१	९६	१
	४	अप्रत्या० ४, देवगति व आयु, वैक्रि० द्वि०, दुर्भग, अनादेय, अयश =११		सम्य० =१	९५		१	९६	११
	५	मूलोघवत् =८			८५			८५	८
	६	स्त्यानगृद्धि त्रिक =३			७७			७७	३
	७	सम्य० मोह, ३ अशुभ संहनन =४			७४			७४	४
	८	मूलोघवत् =६			७०			७०	६
	९	स्त्री वेद, क्रोध, मान, माया =४			६४			६४	४
	१०-१४	गुणस्थान सम्भव नहीं							
नपुंसक वेद		**उदय योग्य**—देवत्रिक, आहा० द्वि०, स्त्री-पुरुष वेद, तीर्थंकर इन ८ के बिना सर्व १२२-८=११४							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण =५	सम्य०, मिश्र =२		११४	२		११२	५
	२	अनन्ता० चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, मनु० तिर्य आनु० =११	नरकानु० =१		१०७	१		१०६	११
	३	मिश्रमोह =१		मिश्रमोह =१	९५		१	९६	१
	४	अप्रत्या० चतु०, वैक्रि० द्वि०, नरक त्रिक, दुर्भग, दुःस्वर, अयश =१२		सम्य०, नरकानु० =२	९५		२	९७	१२
	५	प्रत्या०चतु०, तिर्य०आयु व गति, नीच गोत्र, उद्योत =८			८५			८५	८
	६	स्त्यान० त्रिक =३			७७			७७	३
	७	सम्य० मोह, ३ अशुभ संहनन =४			७४			७४	४
	८	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा =६			७०			७०	६
	९	नपुंसक वेद, क्रोध, मान, माया =४			६४			६४	४
	१०-१४	गुणस्थान सम्भव नहीं							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्युच्छि.
६. कषाय मार्गणा—(गो.क./मू./३२२-३२३/४५९-४६१)									
चारों प्रकार क्रोध		उदय योग्य—शेष १२ कषाय (चारों प्रकार मान, माया, लोभ) और तीर्थंकर इन १३ के बिना सर्व—१२२ – १३ = १०९							
	१	मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, आतप, साधारण =५	सम्य०, मिश्र०, आहा० द्वि० =४		१०९	४		१०५	५
	२	अनन्ता० क्रोध, १-४ इन्द्रिय, स्थावर =६	नारकानु र्वी =१		१००	१		९९	६
	३	मिश्र =१	मनु० देव, तिर्य० आनु० =३	मिश्रमोह =१	९३	३	१	९१	१
	४	वैक्रि० द्वि०, देव त्रिक, नारक त्रिक, मनु० तिर्य० आनु०, अप्रत्या० क्रोध, दुर्भग, अनादेय, अयश =१४		सम्य०, चारों आनु० =५	९०		५	९५	१४
	५	प्रत्या० क्रोध, तिर्य० गति व आयु, नीचगोत्र, उद्योत =५			८१			८१	५
	६-८	मूलोघवत् =१५		आहा० द्वि० =२	७६		२	७८	१५
	९/१	तीनों वेद =३			६३			६३	३
	९/२	संज्वलन क्रोध =१			६०			६०	१
	आगे	गुणस्थान सम्भव नहीं							
अप्रत्या०, प्रत्या. व संज्वलन क्रोध		स्थान—अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान विषै प्राप्त भया, ताके केते इक काल अनन्तानुबन्धीका उदय न होय, ताकी अपेक्षा यह कथन है।							
		उदय योग्य—१-४ इन्द्रिय, चारों आनु०, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अनन्ता० क्रोध, चारों प्रकार मान-माया-लोभ, तीर्थंकर, मिश्र, सम्य० मोह, आहा० द्वि०, इन ३१ के बिना सर्व =९१							
	१-९	उपरोक्त चारों क्रोधवत्। विशेष इतना कि अपने उदय के अयोग्य प्रकृतियों को व्युच्छित्तिमें न गिनाना।							
मान, माया, लोभ		उदय योग्य—१. चारों प्रकार क्रोधवाली १०९ में स्व स्व कषाय चतुष्कको उदय योग्य करके शेष १२ का अनुदय है। २. अप्रत्या०, प्रत्या० व संज्वलन इन तीन कषायोंवाले विकल्पमें भी ९१ में स्व स्व कषायका ही ग्रहण करके अन्यका अनुदय है। ३. लोभ कषायमें गुण स्थान ९ की बजाय १० बताना। और सूक्ष्म लोभकी व्युच्छित्ति १०वें गुणस्थानमें मूलोघवत् करनी।							
	१-९	क्रोधवत्							
	१०	केवल लोभ कषायमें मूलोघवत् सूक्ष्म लोभकी व्युच्छित्ति							
७. ज्ञान मार्गणा—(गो.क./मू./३२३-३२४/४६२-४६५)									
मति श्रुत अज्ञान		उदय योग्य—आहा० द्वि०, तीर्थंकर, मिश्र, सम्य०, इन ५ के बिना सर्व १२२ – ५ = ११७							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नारक आनु० =६			११७			११७	६
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर =९			१११			१११	९
	३-१४	गुणस्थान सम्भव नहीं							
विभंग ज्ञान		उदय योग्य—१-४ इन्द्रिय, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आनु० चतु०, आहा० द्वि०, तीर्थंकर, मिश्र, सम्य० मोह इन १८ बिना सर्व १२२ – १८ = १०४							
	१	मिथ्यात्व =१			१०४			१०४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु० =४			१०३			१०३	४
	३-१४	गुणस्थान सम्भव नहीं							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्यु-च्छित्ति
मति, श्रुत, अवधि ज्ञान	—	उदय योग्य :—मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्ता० चतु०, मिश्र मोह इन १५ के बिना सर्व — १२२-१५ = १०७							
	४	मूलोघवत् = १७	तीर्थ, आ० द्वि = ३		१०७	३		१०४	१७
	५-१२	मूलोघवत्							
मनःपर्यय ज्ञान	—	उदय योग्य :—१-५ तक के गुण स्थानोंमें ओघवत् व्युच्छिन्न ४०+तीर्थकर, आहा० द्वि०, व स्त्री नपुंसक वेद इन ४५ के बिना सर्व १२२—४५ = ७७							
	६	स्त्यानगृद्धि त्रिक = ३			७७			७७	३
	७-१०	मूलोघवत्। विशेष इतना कि ९वें में एक पुरुषवेदकी ही व्युच्छित्ति कहना।							
केवल ज्ञान	—	उदय योग्य :—ओघ प्ररूपणाके १३वें १४वें गुणस्थानोंमें व्युच्छिन्न कुल ४२							
	१३-१४	मूलोघवत् (१३वें में तीर्थंकरका पुनः उदय न कहना)							
८ संयम मार्गणा = (गो.क./जी.प्र./३२४/४६५-४६६)									
सामायिक छेदोप०	—	उदय योग्य :—ओघ प्ररूपणामें कथित ६ठें गुणस्थानमें उदय योग्य = ८१							
	६-९	मूलोघवत्							
परिहार विशुद्धि	—	उदय योग्य :—स्त्री व नपुंसकवेद तथा आहारक द्वि० इन ४ के बिना सामायिक संयतवत् ८१ — ४ = ७७							
	६	स्त्यानत्रिक० = ३			७७			७७	३
	७	सम्य०, ३ अशुभ संहनन = ४			७४			७४	४
सूक्ष्म साम्पराय	—	उदय योग्य :—ओघ प्ररूपणाके १०वें गुणस्थानमें उदय योग्य = ६०							
	१०	मूलोघवत्							
यथा ख्यात	—	उदय योग्य :—ओघ प्ररूपणाके ११वें गुणस्थानमें उदय योग्य = ५९							
	११-१४	मूलोघवत्							
देश संयत	—	उदय योग्य :—ओघ प्ररूपणाके ५वें गुणस्थानमें उदय योग्य = ८७							
	५	मूलोघवत्							
असंयत	—	उदय योग्य :—तीर्थंकर व आहा० द्वि० इन ३ के बिना सर्व १२२ — ३ = ११९							
	१	आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, मिथ्या० = ५	मिश्र, सम्य = २		११९	२		११७	५
	२-४	मूलोघवत्							
९ दर्शन मार्गणा = (गो.क./जी.प्र./६२५/४६९-४७०)									
चक्षुदर्शन	—	उदय योग्य :—साधारण, आतप, १-३ इन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, तीर्थंकर इन ८ के बिना सर्व १२२ — ८ = ११४							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त = २	सम्य०; सूक्ष्म, आ० द्वि० = ४		११४	४		११०	२
	२	अनन्तानुबन्धी ४, चतुरिन्द्रिय = ५	नारकानुपूर्वी = १		१०८	१		१०७	५
	३-१२	मूलोघवत्							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्युच्छित्ति
अचक्षु दर्शन	—	उदय योग्य :—तीर्थंकर बिना सर्व १२२−१=१२१							
	१-१२	मूलोघवत्							
अवधि दर्शन	—	सर्व विकल्प अवधिज्ञानवत्							
केवल दर्शन	—	सर्व विकल्प केवलज्ञानवत्							
१० लेश्या मार्गणा—(गो.क./जी.प्र./६२५/४७०-४७४)									
कृष्ण लेश्या	—	उदय योग्य :—तीर्थंकर, आहा०, द्वि०, इन ३ के बिना सर्व १२२−३=११९							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, नारकानुपूर्वी =६	मिश्र. सम्य.=२		११९	२		११७	६
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, देवत्रिक, तिर्यगानुपूर्वी, =१३ नोट—अशुभ लेश्यावाले भवन त्रिक में भी न उपजें			१११			१११	१३
	३	मिश्र मोह =१	मनुष्यानुपू.=१	मिश्र०=१	९८	१	१	९८	१
	४	अप्रत्या० चतु० नरकगति व आयु०, वैक्रि० द्वि०, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयश =१२		मनुष्यानु०, सम्य०=२	९७		२	९	१२
नील लेश्या		सर्व विकल्प कृष्ण लेश्यावत्							
कापोत लेश्या	—	उदय योग्य :—कृष्णवत्=११९							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त =५	सम्य. मिश्र=२		११९	२		११७	५
	२	अनन्ता० चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, देवत्रिक =१२	नारकानु०=१		११२	१		१११	१२
	३	मिश्र० =१	मनु० तिर्य० आनु०=२	मिश्र०=१	९९	२	१	९८	१
	४	अप्रत्या० चतु०, नरक त्रिक, वैक्रि० द्वि०, मनु० तिर्य०. आनु०, दुर्भग, अनादेय, अयश =१४		मनु, तिर्य, नारक-आनु०, सम्य०=४	७		४	१०१	१४
पीत व पद्मलेश्या	—	उदय योग्य :—आतप, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक, तिर्यगानुपूर्वी, तीर्थंकर इन १४ के बिना सर्व १२२−१४=१०८							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य., मिश्र, आ. द्वि, मनु. आनु=५		१०८	५		१०३	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु०, =४			१०२			१०२	४
	३	मिश्र० =१	देवानुपूर्वी=१	मिश्र०=१	९८	१	१	९८	१
	४	नरक त्रिक व तिर्य० आनु० इन ४ के बिना मूलोघवत् =१३		सम्य., मनु. तिर्य आनु.=३	९७		३	१००	१३
	५-७	मूलोघवत्							
शुक्ल लेश्या	—	उदय योग्य :—आतप, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, अपर्याप्त, साधारण, नारक त्रिक, तिर्य० आनु० इन १३ के बिना सर्व १२२−१३=१०९							
	१	मिथ्यात्व =१	सम्य., मिश्र., आ. द्वि., तीर्थं. मनु. आनु.=६		१०९	६		१०३	१
	२-४	पीत पद्म वत्							
	५-१४	मूलोघवत्							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्युच्छित्ति
११. भव्यत्व मार्गणा—(गो. क./जी. प्र./३२८/४७४)									
भव्य	१४	सर्व विकल्प मूलोघवत्							
अभव्य	—	उदययोग्य—सम्य०, मिश्र, आ० द्वि०, तीर्थ, इन ५ के बिना सर्व १२२—५=११७							
	१	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
		अन्य गुण स्थान सम्भव नहीं	—	—	—	—	—	—	—
१२. सम्यक्त्व मार्गणा (गो. क./जी. प्र./३२८-३३१/४७५-४८१)									
क्षायिक सम्य०	—	उदय योग्य—मिथ्यात्व०, सूक्ष्म, आतप, अपर्याप्त, साधारण, अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, मिश्र०, सम्य० इन १६ के बिना सर्व—१२२—१६=१०६							
	४	अप्रत्या० चतु०, वै० द्वि०, नारक त्रिक, देव त्रिक, मनु० तिर्य आनु०, तिर्य० गति व आयु, दुर्भग, अनादय, अयश, उद्योत =२०	आ० द्वि० तीर्थ =३		१०६	३		१०३	२०
	५	प्रत्या० चतु०, नीच गोत्र =५			८३			८३	५
	६	आ० द्वि०, स्त्यान० त्रिक =५		आ० द्वि० २	७८		२	८०	५
	७	तीन अशुभ संहनन =३			७५			७५	३
	८-१४	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
वेदक सम्य०	—	उदय योग्य—मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, आतप, साधारण, अनन्तानुबन्धी चतु०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, मिश्र, तीर्थंकर, इन १६ के बिना सर्व १२२—१६=१०६							
	४-७	अप्र० चतु, वै० द्वि०, नरक त्रिक, देव त्रिक, मनु० व तिर्य० आनु०, दुर्भग, अनादेय, अयश =१७	आ० द्वि०=२		१०६	२		१०४	१७
	५-७	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
प्रथमोपशम सम्यक्त्व	—	उदय योग्य—मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप, अनन्तानुबन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, मिश्र, तीर्थंकर, आहा० द्विक, नारक-तिर्य०-मनु आनु०, सम्य० इन २२ के बिना सर्व =१००							
	४	अप्रत्या० चतु०, देव त्रिक, नरक गति व आयु, वैक्रि० द्वि०, दुर्भग, अनादेय, अयश =१४			१००			१००	१४
	५	प्रत्या० चतु०, तिर्य० गति व आयु, नीच गोत्र, उद्योत =८			८६			८६	८
	६	स्त्यान त्रिक =३			७८			७८	३
	७	अशुभ संहनन =३			७५			७५	३
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व	—	उदय योग्य—नरक-तिर्य० गति व आयु, नीच गोत्र, उद्योत इन ६ के बिना प्रथमोपशमकी सर्व =९४							
	४	अप्रत्या चतु०, देव त्रिक, वैक्रि० द्वि०, दुर्भग, अनादेय, अयश =१२			९४			९४	१२
	५	प्रत्या० चतु० =४			८२			८२	४
	६	स्त्यान० त्रिक =३			७८			७८	३
	७	तीनों अशुभ संहनन =३			७५			७५	३
	८-११	मूलोघवत्			—	—	—	—	—

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुनः उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्युच्छित्ति
१३. संज्ञी मार्गणा (गो.क./जी.प्र./३११/४८२/१)									
संज्ञी	—	उदय योग्य—आतप, साधारण, स्थावर, सूक्ष्म, १-४ इन्द्रिय, तीर्थंकर, इन ९ के बिना सर्व १२२—९=११३							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त =२	सम्य०, मिश्र, आ० द्वि०=४		११३	४		१०९	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतु० =४	नरकानुपूर्वी=१		१०७	१		१०६	४
	३-१२	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
असंज्ञी	—	उदय योग्य—मनु० त्रिक, देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि० द्वि०, सृपाटिका रहित ५ संहनन, प्रशस्त विहा०, उच्च गोत्र, सुभग, सुस्वर, आदेय, तीर्थ, मिश्र, सम्य०, आहा० द्वि०, हुंडक रहित ५ संस्थान इन ३१ के बिना सर्व—१२२—३१=९१							
	१	मिथ्या०, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, स्त्यान० त्रिक, परघात, उद्योत, उच्छ्वास, दुःस्वर, अप्रशस्त विहा० (पर्याप्तके उदय योग्य) =१३			९१			९१	१३
	२	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—
१४. आहारक मार्गणा (गो.क./जी.प्र./३३१/४८३/३)									
आहारक	—	उदय योग्य—चार आनुपूर्वीके बिना सर्व—१२२—४=११८							
	१	आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, मिथ्या० =५	तीर्थ, आ० द्वि० मिश्र, सम्य०=५		११८	५		११३	५
	२	१-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्ता० चतु० =९			१०८			१०८	९
	३	मिश्र मोह =१		मिश्र मोह=१	९९		१	१००	१
	४	आनु० चतु०के बिना मूलोघवत =१३		सम्य० =१	९९		१	१००	१३
	५-१३	मूलोघवत	—	—	—	—	—	—	—
अनाहारक	—	उदय योग्य—कार्माण काय योगवत=८९							
	१,२,३	कार्माण काय योग वत	—	—	—	—	—	—	—
	४	वै० द्वि०, बिना मूलोघके ४थे वाली=१५		सम्य०, नरक त्रिक =४	७१		४	७५	१५
	१३	(समुद्घात केवलीको) अन्यतम वेदनी, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्माण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु =१३		तीर्थंकर =१	२४		१	२५	१३
	१४	मूलोघवत्	—	—	—	—	—	—	—

४. सातिशय मिथ्यादृष्टिमें मूलोत्तर प्रकृतियोंके चार प्रकार उदयकी प्ररूपणा

संकेत—चतु० = गुड, खण्ड, शर्करा, अमृत रूप चतु स्थानीय अनुभाग, द्वि० = निम्ब व काञ्जीर रूप द्वि स्थानीय अनुभाग;
अज० = अजघन्य प्रदेशोदय। (ध० ६/१, ९-८, ४/२०७-२११)

नं०	प्रकृति	विशेषता	[illegible]	उदय		
				स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
१	ज्ञानावरणी					
१-५	पाँचों		है	१ समय	द्वि०	अज०
२	दर्शनावरणी					
१-३	स्त्यान० त्रिक		नहीं	—	—	—
४	निद्रा	निद्रा व प्रचलामें अन्यतम	है	१ समय	द्वि०	अज०
५	प्रचला		है	"	"	"
६-९	शेष चारों		"	"	"	"
३	वेदनीय					
१	साता	दोनोंमें अन्यतम	है	१ समय	चतु०	अज०
२	असाता		"	"	"	"
४	मोहनीय					
(१)	दर्शन मोह					
१	मिथ्यात्व		है	१ समय	द्वि०	अज०
२-३	सम्य०, मिश्र०		नहीं	—	—	—
(२)	चारित्र मोह					
१-१६	१६ कषाय	अन्यतम	है	१ समय	द्वि०	अज०
१७-१९	३ वेद	"	"	"	"	"
२०-२१	हास्य-रति	दोनों युगलोंमें अन्यतम युगल	"	"	"	"
२२-२३	अरति-शोक					
२४-२५	भय-जुगुप्सा	है वा नहीं भी	"	"	"	"
५	आयु		नहीं	—	—	—
१	नरक	चारों में अन्यतम	है	१ समय	द्वि०	अज०
२	तिर्यंच	"	"	"	"	"
३	मनुष्य	"	"	"	चतु	"
४	देव	"	"	"	"	"
६	नाम					
	गतिः—					
१	नरक-तिर्यंच		है	१ समय	द्वि०	अज०
	मनुष्य-देव		"	"	चतु	"
२	जातिः—					
	१-४ इन्द्रिय		नहीं	—	—	—
	पंचेन्द्रिय	चारोंगतियोंमें	है	१ समय	चतु	अज०
३	शरीरः—					
	औदारिक	मनुष्य व तिर्यंच गति में	"	"	"	"
	वैक्रियक	देव व नरक गति में	है	समय	चतु	अज०
	आहारक		नहीं	—	—	—
	तैजस	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु०	अज०
	कार्माण	"		"	"	"
४	अंगोपांगः—		—	स्व स्व	शरीर	वत्—
५	निर्माण	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु	अज०
६	बन्धन		—	—स्व स्व	शरीर	वत्—
७	संघात		—	—स्व स्व	शरीर	वत्—
८	संस्थानः—					
	समचतुरस्र	देवगतिमें नियम से मनु० तिर्य० गति में भाज्य	है	१ समय	चतु०	अज०
	हुंडक	नरक गति में नियमसे मनु० तिर्य० में भाज्य	है	१ समय	द्वि०	अज०
	शेष चार	मनु० तिर्य० में अन्यतम	"	"	"	"
९	संहननः—					
	वज्र वृषभ नाराच	मनु० तिर्य० में अन्यतम	है	१ समय	चतु०	अज०
	शेष पाँच	"	"	"	द्वि०	"
१०-२३	स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णः—					
	प्रशस्त	चारों गतियोंमें	है	समय	चतु०	अज०
	अप्रशस्त	"	"	"	द्वि०	"
१४	आनुपूर्वी चतु०		नहीं	—	—	—
१५	अगुरुलघु	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु०	अज०
१६	उपघात	"	"	"	द्वि०	"
१७	परघात	"	"	"	चतु०	"
१८	आतप		नहीं	—	—	—
१९	उद्योत	तिर्य० गतिमें भाज्य	है	१ समय	चतु०	अज०
२०	उच्छ्वास	चारों गतियोंमें	"	"	"	"
२१	विहायोगतिः—					
	प्रशस्त	देवगतिमें नियम से मनु० तिर्य० में भाज्य	है	१ समय	चतु०	अज०
	अप्रशस्त	नरकगति में नियमसे मनु० तिर्य०में भाज्य	"	"	द्वि	"
२२	प्रत्येक	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु०	अज०
२३	साधारण		नहीं	—	—	—

नं०	प्रकृति	विशेष	प्रकृति	उदय		
				स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
२४	त्रस		है	१ समय	चतु०	अज०
२५	स्थावर		नहीं	—	—	—
२६	सुभग	देवगतिमें नियम से मनु० तिर्य० में भाज्य	है	१ समय	चतु०	अज०
२७	दुर्भग	नरक गति में नियमसे मनु० तिर्य०में भाज्य	"	"	द्वि०	"
२८	सुस्वर	सुभगवत्	"	"	चतु०	"
२९	दुःस्वर	दुर्भगवत्	"	"	द्वि०	"
३०	आदेय	सुभगवत्	"	"	चतु०	"
३१	अनादेय	दुर्भगवत्	"	"	द्वि०	"
३२	शुभ	चारों गतियोंमें अन्यतम	"	"	चतु०	"
३३	अशुभ	"	"	"	द्वि०	"
३४	बादर	चारों गतियोंमें	"	"	चतु०	"
३५	सूक्ष्म		नहीं	—	—	—
३६	पर्याप्त	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु०	अज०
३७	अपर्याप्त		नहीं	—	—	—
३८	स्थिर	चारों गतियोंमें अन्यतम	है	१ समय	चतु०	अज०
३९	अस्थिर	"	"	"	द्वि०	"
४०	यशःकीर्ति	सुभगवत् (देखो नं० २६	"	"	चतु०	"
४१	अयशःकीर्ति	दुर्भगवत् (देखो नं० २७)	"	"	द्वि०	"
४२	तीर्थंकर		नहीं	—	—	—
७	गोत्र :—					
१	उच्च	देवोंमें नियमसे मनु०में भाज्य	है	१ समय	चतु०	अज०
२	नीच	नरक० तिर्य०में नियमसे मनु० में भाज्य	"	"	द्वि०	"
८	अन्तरायः—					
१-५	पाँचों	चारों गतियोंमें	है	१ समय	द्वि०	अज०

५. मूलोत्तर प्रकृति सामान्यकी उदय स्थान प्ररूपणा

१. मूल प्रकृतिस्थान प्ररूपणा

(दे० अगला उत्तर शीर्षक सं० २ 'मूलप्रकृति ओघ प्ररूपणा')

क्रम	नाम प्रकृति	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विशेष विवरण
१	ज्ञानावरण	१	५	१	पाँचोंका सर्वदा उदय रहता है
२	दर्शनावरण	२	४	१	चक्षु-अचक्षु, अवधि व केवल चारोंका उदय
			५	५	अन्यतम पाँच निद्रा सहित उपरोक्त ४ इस प्रकार पाँच प्रकृति सहित ५ भंग हैं
३	वेदनीय	१	१	२	दोनों वेदनीयमें-से अन्यतम १ का उदय होनेसे १ प्रकृतिके दो भंग हैं
४	मोहनीय	—	—	—	देखो आगे नं० ६ वाली पृथक् प्ररूपणा—
५	आयु	१	१	७	१-४ गुणस्थानमें अन्यतम आयुसे ४ भंग
					५ गुणस्थानमें मनु० तिर्य आयुसे २ भंग
					६-१४ गुणस्थानमें मनु० आयुसे १ भंग
६	नाम	—	—	—	देखो आगे नं० ७ पृथक् प्ररूपणा—
७	गोत्र	१	१	३	१-५गुणस्थानोंमें अन्यतमके उदयसे २ भंग
८	अन्तराय	१	५	१	६-१४ गुणस्थानमें केवल उच्चका १ भंग पाँचोंका निरन्तर उदय

२. मूल प्रकृति ओघ प्ररूपणा

(पं. सं./प्रा./३/५ व १३); (पं. सं./सं./४/८६ व २२१)

गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१	१	८	१	सर्व प्रकृति	×
२	१	८	१	"	×
३	१	८	१	"	×
४	१	८	१	"	×
५	१	८	१	"	×
६	१	८	१	"	×
७	१	८	१	"	×
८	१	८	१	"	×
९	१	८	१	"	×
१०	१	८	१	"	×
११	१	७	१	मोहनीय रहित सर्व —७	×
१२	१	७	१	"	×
१३	१	४	१	आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय—४	×
१४	१	४	१	"	×

३. उत्तर प्रकृति ओघ प्ररूपणा

गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१. ज्ञानावरणीय—(पं० सं०/प्रा०/५/८), (ध० १५/८१), (गो.क./६३०/८३१), (पं० सं/सं/५।६)					
१-१२	१	५	१	पाँचों प्रकृतियोंका उदय	निरन्तर उदय
२ दर्शनावरणी— (पं० सं०/प्रा०/५/६); (ध० १५/८१); (गो.क./-६३०/८३१); (पं.सं./सं./५/६)					
१-१२ जागृत	१	४	१	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल	चारोंका निरन्तर उदय
सुप्त	१	५	५	चक्षुरादि चार+ अन्यतम निद्रा=५	अन्यतम निद्राके उदयसे ५ प्रकृतिके ५ भंग
३ वेदनीय—(पं० सं०/प्रा०/५/१६-२०); (ध० १५/८१); (गो.क./६३३-६३४/८३२); (पं० सं०/सं./५/२३-२४)					
१-१३	१	१	२	साता असातामें अन्यतमका ही उदय=१	अन्यतमोदयसे १ प्रकृतिके दो भंग
४ मोहनीय—नोट : देखो आगे नं० ६ वाली पृथक् प्ररूपणा—					
५ आयु—(पं.सं./प्रा०५/२१-२४); (ध. १५/८६); (गो.क./६४४/८३८); (पं० सं०/सं/५/२५-३०)					
१-४	१	१	४	अन्यतम एकका उदय	चारोंमें-से अन्यतमका उदय होनेसे ४ भंग
५	१	१	२	मनु० व तिर्य०में-से अन्यतमका उदय	दोनोंमें-से अन्यतमका उदय होनेसे २ भंग
६-१४	१	१	१	केवल मनु० आयुका उदय	
६ नाम—नोट : देख आगे सं० ७ वाली पृथक् प्ररूपणा—					
७ गोत्र—(पं० सं/प्रा०/५/१५-१८); (ध. १५/९७); (गो.क./६३५/८३३); (प० सं/सं/५/१८-२२)।					
१-५	१	१	२	दोनोंमें अन्यतम का उदय	अन्यतमोदयसे २ भंग
६-१४	१	१	१	केवल उच्च गोत्रका उदय	×
८ अन्तराय—(पं.सं./प्रा०/५/८); (ध.१५/८१); (गो.क./६३०/८३१) (पं० सं/५/६)।					
१-१२	१	५	१	पाँचोंका निरन्तर उदय	×

६. मोहनीयकी सामान्य व ओघ उदयस्थान प्ररूपणा

१ भंग निकालनेके उपाय

स्थान भंग	उपाय
१२	क्रोधादि चार कषायोंमें अन्यतम उदयके साथ अन्यतम वेदका उदय ४×३ =१२
२४	उपरोक्तवत् १२ भंग या तो हास्य रति युगल सहित हो या अरति शोक युगल सहित हो १२×२ =२४
४८	उपरोक्त २४ भंग या तो भय प्रकृति सहित हों या जुगुप्सा प्रकृति सहित हों २४×२ =४८
संकेत	१. अनन्ता० आदि ४=अनन्तानुबन्धी,अप्रत्याख्यान,प्रत्याख्यान व संज्वलन ये चार प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ। २. अप्रत्या० आदि ३=अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन ये तीन प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ। ३. प्रत्या० आदि २=प्रत्याख्यान व संज्वलन ये दो प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ। ४. संज्वलन १=संज्वलन, क्रोध या मान या माया या लोभ। ५. कषाय चतुष्क=क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चारों। ६. दो युगल=हास्य-रति व अरति-शोक। ७. उप०=उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षा०=क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ८. वेदक=वेदक सम्यग्दृष्टि।

२. कुल स्थान व भंग

कुल स्थान=९ (पं. सं/प्रा./५/३०-३२); (ध० १५/८१); (गो.क./६५५-६५९/८४६-८४८); (पं. सं/ ५/३८-४१)।

प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण				
		गुण स्थान	विशेष	प्रकृति	भंग	विशेषता
१	४	९	अवेदभाग	१	४	संज्वलन कषाय चतु०में अन्यतम
		१०	—	१	१	केवल संज्वलन लोभ (यह भंग ऊपर वालों में ही गर्भित है)
२	१२	९	सवेदभाग	२	१२	उपरोक्त ४ × अन्यतम वेद ४×३=१२
४	२४	६-८	क्षा० व उप० सम्यक्त्वी	४	२४	देखो ऊपर नं० १ में उपाय
५	९६	५	„	५	२४	देखो ओघ प्ररूपणा
		६-७	वेदक सम्य०	५	२४	„
		६-८	क्षा.उप.सम्य	५	४८	„
६	१६८	४	„	६	२४	„

प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण — गुण स्थान	सम्यक्त्व विशेष	प्रकृति	भंग	विशेषता
		५	वेदक	६	२४	वे० ओघ प्ररूपणा
		„	क्षा.उप.सम्य	६	४८	„
		६–७	वेदक	६	४८	„
		„	क्षा.उप.सम्य	६	२४	„
७	२४०	१	—	७	२४	„
		२	—	७	२४	„
		३	—	७	२४	„
		४	वेदक	७	२४	„
		„	क्षा उप.सम्य	७	४८	„
		५	वेदक	७	४८	„
		„	क्षा० उप०	७	२४	„
		६–७	वेदक	७	२४	„
८	२१६	१	—	८	२४	„
		२	—	८	४८	„
		३	—	८	४८	„
		४	वेदक	८	४८	„
		„	क्षा० उप०	८	२४	„
		५	वेदक	८	२४	„
९	१४४	१	—	९	४८	„
		२	—	९	२४	„
		३	—	९	२४	„
		४	वेदक	९	२४	„
१०	२४	१	—	१०	२४	„
	९२८					

२. मोहनीयके उदयस्थानोंकी ओघ प्ररूपणा

(पं. सं./प्रा./५/३०३-३१८); (ध. १५/८२)

(गो.क./६५५-६५१/८४९-८४८); (पं. सं./सं./५/३३०-३४६)

संकेत : (देखो भंग निकालनेके उपाय)

गुण स्थान	कुल उदय स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१	४	७	२४	मिथ्यात्व, अप्रत्या० आदि तीन, हास्य-रति या अरति शोकमें-से १ युगल २, अन्यतम वेद १ =७	देखो भंग निकालनेका उपाय
		८	२४	उपरोक्त ७+अनन्ता० चतुष्कमें अन्यतम १ =८	„
		९	४८	उपरोक्त ८+भय जुगुप्सामें-से अन्यतम १ =९	„
		१०	२४	उपरोक्त ८+भय और जुगुप्सा दोनों =१०	„
२	३	७	२४	अनन्ता० आदि चतुष्क, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २=७	„
		८	४८	उपरोक्त ७+भय या जुगुप्सा=८	„
		९	२४	„ „ +भय और जुगुप्सा=९	„
३	३	७	२४	मिश्र.१, अप्रत्या. आदि ३, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २=७	„
		८	४८	उपरोक्त ७+भय या जुगुप्सा=८	„
		९	२४	„ „+„ और „ =९	„
४ वेदक	३	७	२४	सम्य०१, अप्रत्या० आदि ३, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २=७	„
		८	४८	उपरोक्त ७+भय या जुगुप्सा=८	„
		९	२४	„ „+„ और „ =९	„
४ औप. या क्षा.	३	६	२४	अप्रत्या० आदि ३, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २ =६	„
		७	४८	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=७	„
		८	२४	„ „+„ और „ =८	„
५ वेदक	३	६	२४	प्रत्या० आदि २, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २, सम्य० १=६	„
		७	४८	उपरोक्त६+भय या जुगुप्सा=७	„
		८	२४	„ „+„ और „ =८	„
५ औ. क्षा.	३	५	२४	प्रत्या० आदि २, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २ =५	„
		६	४८	उपरोक्त ५+भय या जुगुप्सा=६	„
		७	२४	„ „+„ और „ =७	„
६ वेदक	३	५	२४	सम्य० १, संज्वल० १, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २ =५	„
		६	४८	उपरोक्त ५+भय या जुगुप्सा=६	„
		७	२४	„ „+„ और „ =७	„
६ उप. क्षा.	३	४	२४	संज्वलन १, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २ =४	„
		५	४८	उपरोक्त ४+भय या जुगुप्सा=५	„
		६	२४	„ „+„ और „ =६	„
७–८	३	४	२४	उपरोक्त वत्	„
		५	४८	„	„
		६	२४	„	„
९ सवेद	२	२	१२	संज्वलन १, अन्यतम वेद १=२	„
अवेद		१	४	संज्वलन १ =१	अन्यतम कषाय
१०	१	१	१	संज्वलन लोभ =१	×

७. नाम कर्मकी उदय स्थान प्ररूपणा

१. युगपत् उदय आने योग्य विकल्प तथा संकेत

क्रम	संकेत	अर्थ	विवरण
१	ध्रु./१२	ध्रुवोदयी १२	तैजस, कार्माण, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण =१२
२	यु०/८	युगल ८	चार गति, पाँच जाति, त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यश-अयश (इन ८ युगलोंकी २१ प्रकृतियोंमें-से प्रत्येक युगलकी अन्यतम एक-एक करके युगपत् ८ ही उदयमें आती हैं) =२१
३	आनु/१	आनुपूर्वी १	विग्रह गतिमें चारों आनुपूर्वियोंमें-से अन्यतम एक ही उदयमें आती है =४
४	श/३	शरीर आदि-की तीन	औदा०, वैक्रि० आहा० यह तीन शरीर; ६ संस्थान, प्रत्येक-साधारण इन ३ समूहोंकी ११ प्रकृतियों-में-से प्रत्येक समूहकी अन्यतम एक-एक करके युगपत् ३ का ही उदय होता है =११
५	उप०/१	उपघातादि १	उपघात व परघात इन दोनोंमें-से अन्यतम एकका ही उदय आवे =२
६	अंग/२	अंगोपांग आदि २	तीन अंगोपांग, तथा छह संहननमें-से अन्यतम अंगोपांग तथा अन्यतम एक संहनन इस प्रकार इन ९ प्रकृतियोंमें-से युगपत २ का ही उदय होता है =९
७	आतप/२	आतपादि २	आतप-उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायो०, इन दो युगलोंकी चार प्रकृतियोंमें-से प्रत्येक युगलकी अन्यतम एक-एक करके युगपत २ ही का उदय होय =४
८	उच्छ्/२	उच्छ्वासादि २	उच्छ्वास, सुस्वर, दुःस्वर, इन तीन प्रकृतियोंमें-से एक उच्छ्वास तथा अगली दोमें अन्यतम एक करके युगपत् २ ही का उदय होय =३
९	तीर्थ/१	तीर्थंकर/१	तीर्थंकर प्रकृति किसीको उदय आये किसीको नहीं =१
			६७

नोट—वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श इनके २० भेदोंका ग्रहण न करके केवल मूल ४ का ही ग्रहण है, अतः १६ तो ये कम हुई। बन्धन ५ व संघात ५ ये १० स्व-स्व शरीरोंमें गर्भित हो गयीं, अतः १० ये कम हुई। नाम कर्मकी कुल ९३ प्रकृतियोंमें-से ये २६ कम कर देनेपर कुल उदय योग्य ६७ रहती हैं, जिनके उदयके उपरोक्त ९ विकल्प हैं।

२. नाम कर्मके कुल स्थान व भंग

प्रमाण—(पं. सं./प्रा०/५/१७-१८०); (ध० १५/८६-८७); (गो. क./५९३-५९७/७९५-८०२); (गो. क./मू. व टी./६०३-६०५/८०६-८११); (पं. सं/सं/५/११२-११८) संकेत—दे० उदय/७/१; कार्मण काल आदि—दे० उदय/७/६ कुल स्थान——=१२

विकल्प सं०	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण: स्वामित्व	विवरण: प्रकृति	विवरण: भंग	विवरण: प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१	२०	१	सामान्य समुद्घात केवलीके प्रतर व लोकपूर्णका कार्माण काल	२०	१	ध्रु.व/१२+यु./८ (मनु०गति, पंचें. जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश) =२०	
२	२१	५	चारों गतियों सम्बन्धी वक्र विग्रह-गतिका कार्माण काल	२१	४	ध्रु.व/१२+यु./८+आनुपूर्वी/१ (अन्यतम आनु) =२१	४ आनुपूर्वीमें अन्यतम
३			तीर्थंकर केवलीका कार्माण काल	२१	१	ध्रु.व/१२+यु./८+तीर्थ/१ =२१	
४	२४	१	एकेन्द्रिय अपर्याप्तके मिश्र शरीर-का काल	२४	१	ध्रु.व/१२+यु./८+श/३+उप./१ =२४	
५	२५	३	एकेन्द्रियका शरीर पर्याप्ति काल	२५	१	उपरोक्त २४+परघात =२५	
६			आहारक शरीरका मिश्र काल	२५	१	ध्रु.व/१२+यु./८+श/३+उपघात+अंग/१ (आहा.)=२५	
७			देव नारकके शरीरोंका मिश्र काल	२५	१	ध्रु.व/१२+यु./८+श/३+उपघात+ अंग/१ (वैक्रि.)=२५	
८	२६	६	एकेन्द्रियका शरीर पर्याप्ति काल	२६	२	ध्रु.व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +आतप या उद्योत	आतप उद्योतमें अन्यतम
९			एकेन्द्रियका उच्छ्वासपर्याप्ति काल	२६	१	ध्रु.व/१२+यु./८+श/३+उपघात+ परघात+उच्छ्वास	

विकल्प सं०	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण: स्वामित्व	विवरण: प्रकृति	विवरण: भंग	विवरण: प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१०			२-५ इन्द्रिय सामान्य तिर्य. मनु. व निरतिशय केवलीका औदारिक मिश्र काल	२६	६	ध्रु॰व १२+यु.८+श/३+उपघात+औदा॰ अंगोपांग+अन्यतम संहनन =२६	अन्य संहनन से ६ भंग होते हैं
११	२७	६	आहारक शरीर पर्याप्ति काल	२७	१	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+ परघात+आहा॰ भंग+प्रशस्त विहायो॰=२७	
१२			तीर्थंकर समुद्घात केवलीका औ॰ मिश्र काल	२७	१	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+औ. अंग.+वज्रऋषभ नाराचसंहनन+तीर्थंकर=२७	
१३			देव नारकीका शरीर पर्याप्ति काल	२७	२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उप॰+परघात+वैक्रि॰ अंग+देवके प्रशस्त व नारकीके अप्रशस्तविहायो॰	प्रशस्त अप्रशस्त विहायो॰ में अन्यतम
१४			एकेन्द्रियका उच्छ्॰ पर्याप्तिकाल	२७	२	ध्रु॰व/१२×यु./८+श/३+उपघात+परघात +उच्छ्वास+आतप या उद्योत =२७	आतप उद्योतमें अन्यतम
१५	२८	१७	सामान्य मनुष्य और मूलशरीरमें प्रवेश करता सामान्य केवलीका शरीर पर्याप्ति काल	२८	१२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +औ. अंग+अन्यतम संहनन+अन्यतम विहायो॰ =२८	६ संहनन×२ विहायो में अन्यतम युगल
१६			२-५ इन्द्रियका शरीर पर्याप्ति काल	२८	२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उप॰+परघात+औ. अंग +असंप्राप्त सृपाटिकासंहनन+अन्यतम विहायो.	२ विहायोगतिमें अन्यतम
१७			आहारकका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२८	१	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +आहा. अंग+उच्छ्वास+प्रशस्त विहायो॰।	
१८			देव नारकीका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२८	२	ध्रु॰व/१२/यु./८+श/३+उपघात+परघात+ वैक्रि. अंग+उच्छ्वास+देवकी प्रशस्त और नारकोको अप्रशस्त विहायो॰ =२८	२ विहायो. में अन्यतम
१९	२९	२०	सामान्य मनुष्य व मूल शरीरमें प्रवेश करते केवलीका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२९	१२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात औ. अंग+अन्यतम+संहनन+अन्यतम विहायो+उच्छ्वास =२९	६ संहन×२ विहायो में अन्यतम युगल
२०			२-५ इन्द्रियका शरीरपर्याप्ति काल	२९	२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +उद्योत+औ. भंग+असंप्राप्त सृपाटिका संहनन+अन्यतम विहायो॰ =२९	२ विहायोमें अन्यतम
२१			२-५ इन्द्रियका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२९	२	उपरोक्त २९—उद्योत+उच्छ्वास =२९	
२२			समुद्घात तीर्थंकरका शरीर पर्याप्ति-काल	२९	२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +औ. अंग+वज्र ऋषभ नाराच संहनन+ प्रशस्त विहायो.+तीर्थंकर =२९	
२३			आहारक शरीरका भाषा पर्याप्ति काल	२९	१	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात+ आहा. अंग+उच्छ्वास+प्रशस्त विहायो. +सुस्वर =२९	
२४			देव नारकीका भाषा पर्याप्ति काल	२९	२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +वैक्रि. अंग+उच्छ्वास+देवकी प्रशस्त और नारकीकी अप्रशस्त विहायो॰+देवका सुस्वर और नारकीका दुःस्वर =२९	देव व नारकीके दो विकल्प
२५	३०	६	२-५ इन्द्रियका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	३०	२	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+पर- घात+उद्योत+औ. अंग+असंप्राप्त सृपाटिका संहनन+अन्यतम विहायो॰+उच्छ्वास =३०	२ विहायो॰में अन्यतम
२६			२-४ इन्द्रिय तथा सामान्य पंचे- न्द्रिय व सामान्य मनुष्यका भाषा पर्याप्ति काल	३०	४	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात औ. अंग+सृपाटिका संहनन+अन्यतम- विहायो+उच्छ्वास+अन्यतम स्वर =३०	२ विहायो व २ स्वर में अन्यतम
२७			समुद्घात तीर्थंकरका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	३०	१	ध्रु॰व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात +औ. अंग+वज्र ऋषभ नाराच+प्रशस्त विहायो॰+तीर्थ॰+उच्छ्वास =३०	
२८			सामान्य समुद्घात केवलीका भाषा पर्याप्ति काल	३०	२	उपरोक्त विकल्पकी ३०–तीर्थंकर+अन्यतम स्वर =३०	२ स्वरोंमें अन्यतम

विकल्प सं०	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण: स्वामित्व	प्रकृति	भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
२६	३१	५	तीर्थकर केवलीका भाषा पर्याप्ति काल	३१	१	ध्रु.व/१२+यु/८+श/३+उपघात+परघात+औ. अंग+वज्रऋषभ नाराच+प्रशस्त विहायो०+तीर्थंकर। उच्छ्वास+सुस्वर =३१	
३०			२-५ इन्द्रियका भाषा पर्याप्ति काल	३१	४	ध्रु.व/१२+यु./८+श/३+उपघात+परघात+उद्योत+औ. अंग+सृपाटिका+अन्यतम-विहायो०+उच्छ्वास+अन्यतम स्वर =३१	२विहायो० व २स्वरों में अन्यतम युगल
३१	८	१	अयोग केवली सामान्यके उदय योग्य	८	१	मनु. गति+पंचेन्द्रिय जाति+सुभग+आदेय+यशःकीर्ति+त्रस+बादर+पर्याप्त =८	
३२	९	१	अयोग केवली तीर्थंकरके उदय योग्य	९	१	उपरोक्त विकल्पकी ८+तीर्थंकर =९	

५. नाम कर्म उदय स्थानोंकी ओघ आदेश प्ररूपणा

नोट—प्रत्येक स्थानमें प्रकृतियोंका विवरण देखो इसी प्रकरणका नं० २ "नाम कर्मके कुल स्थान व भंग"। प्रति स्थान भंग यथायोग्य रूपसे लगा लेना। विशेषके लिए देखिए आगे पाँच उदय कालोंकी अपेक्षा सारणी नं० ४

क्रम	गुण स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
	१. उदय स्थान ओघ प्ररूपणा		
	=(पं.सं/प्रा./५/४०२-४१७); (पं.सं./सं/५/४१६-४२८); (गो.क./६९२-७०३/८७२-८७७)		
१	मिथ्यात्व	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	सासादन	७	२१,२४,२५,२६,२९,३०,३१
३	सम्यग्मिथ्यात्व	३	२९,३०,३१
४	अविरत सम्य०	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
५	विरताविरत	२	३०,३१
६	प्रमत्त संयत	५	२५,२७,२८,२९,३०
७	अप्रमत्त संयत	१	३०
८	अपूर्व करण.	१	३०
९	अनिवृत्ति करण	१	३०
१०	सूक्ष्म साम्पराय	१	३०
११	उपशान्त कषाय	१	३०
१२	क्षीण कषाय	१	३०
१३	सयोग केवली सामान्य	१	३०
	सयोग केवली तीर्थंकर	१	३१
१४	अयोग केवली सामान्य	१	८
	अयोग केवली तीर्थंकर	१	९

क्रम	जीव समास	कुल स्थान	स्थान विशेष
	४. उदय स्थान जीव समास प्ररूपणा		
	=(पं.सं./प्रा./५/२९८-२८०); (गो.क./७०४-७११/८७८-८८१)		
१	लब्ध्यपर्याप्त :		
	सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय	२	२१,२४
	विकलेन्द्रिय	२	२१,२६
	संज्ञी असंज्ञी पंचे.	२	"
२	पर्याप्त :		
	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	४	२१,२४,२५,२६
	बादर एकेन्द्रिय	५	२१,२४,२५,२६,२७
	विकलेन्द्रिय	५	२१,२६,२८,२९,३१,
	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	५	"
	संज्ञी पंचेन्द्रिय	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१

५. उदय स्थान आदेश प्ररूपणा

प्रमाण सामान्य : (पं.सं./प्रा. व सं.); (गो.क./७१२–७३८/८८१–८९६);

१. गति मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/९७–११०; ४१६–४२५) (पं.सं./सं./५/११२–११०; ४३१–४३६)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	नरक गति	५	२१,२५,२७,२८,२९
२	तिर्यंच गति	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
३	मनुष्य गति	११	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३,९ ९,८
४	देव गति	५	२१,२५,२७,२८,२९

२. इन्द्रिय मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/१९२–१९४; ४२६–४३१); (पं.सं./सं./५/४३७–४४१)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	एकेन्द्रिय सामान्य	५	२१,२४,२५,२६,२७
२	विकलेन्द्रिय ,,	६	२१,२६,२८,२९,३०,३१
३	पंचेन्द्रिय ,,	१०	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०.३१,९,८

३. काय मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/१९५; ४३२–४३४)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	पृथिवी, अप, वनस्पति	५	२१,२४,२५,२६,२७
२	तेज वायु कायिक	४	२१,२४,२५,२६
३	त्रस	१०	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८

४. योग मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/१९६–१९९; ४३५–४४०)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	चारों मनोयोग	३	२९,३०,३१ (पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त वत्)
२	सत्य असत्य उभय वचन	३	२९,३०,३१ (पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त वत्)
३	अनुभय वचन योग	३	२९,३०,३१ (त्रस पर्याप्त वत्)
४	औदारिक काय योग	७	२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१, (त्रस पर्याप्त वत्)
५	औदारिक मिश्र काययोग	३	२४,२६,२७ (सातों अपर्याप्त वत)
६	कार्माण काय योग	२	२०,२१
७	वैक्रियक काय योग	३	२७,२८,२९
८	वैक्रिय० मिश्र काय योग	१	२५
९	आहारक काय योग	३	२७,२८,२९
१०	आहारक मिश्र योग	१	२५

५. वेद मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२००; ४४१)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	स्त्री वेद	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	पुरुष वेद	८	,,
३	नपुंसक वेद	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१

६. कषाय मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२००; ४४२)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	क्रोधादि चारों कषाय	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१

७. ज्ञान मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०१; ४४३–४४६)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	मति श्रुत अज्ञान	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	विभंग ज्ञान	३	२९,३०,३१
३	मति श्रुत अवधि ज्ञान	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
४	मनः पर्यय ज्ञान	१	३०
५	केवल ज्ञान	१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८

८. संयम मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०२–२०३; ४४७–४५३)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	सामायिक छेदोपस्था०	५	२५,२७,२८,२९,३०
२	परिहार विशुद्धि	१	३०
३	सूक्ष्म साम्पराय	१	३०
४	यथा ख्यात (दृष्टि नं.१)	४	३०,३१,९,८
	(दृष्टि नं.२)	१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८
५	देश संयम	२	३०,३१
६	असंयम	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१

९. दर्शन मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०३–२०४; ४५४)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	चक्षु दर्शन	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	अचक्षु दर्शन	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
३	अवधि दर्शन	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
४	केवल दर्शन	१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८

१०. लेश्या मार्गणा—(पं.सं./प्रा./२०४; ४५५–४५८)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	कृष्ण नील कापोत	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	पीत, पद्म	७	२१,२५,२७,२८,२९,३०,३१
३	शुक्ललेश्या सामान्य	७	,,
	,, ,, (केवली समुद्घात)	८	२०,२१,२५,२७,२८,२९,३०,३१

११. भव्य मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०५; ४५९–४६०)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	भव्य	१२	२०,२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८
२	अभव्य	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१

१२. सम्यक्त्व मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०५–२०६; ४६१–४६६)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	क्षायिक सम्यक्त्व	११	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८
२	वेदक ,,	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
३	उपशम ,,	५	२१,२५,२९,३०,३१
४	सम्यग्मिथ्यात्व	३	२९,३०,३१
५	सासादन	७	२१,२४,२५,२६,२९,३०,३१
६	मिथ्या दृष्टि	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१

१३. संज्ञी मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०६; ४६७–४६९)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	संज्ञी	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	असंज्ञी	७	२१,२४,२६,२८,२९,३०,३१

१४. आहारक मार्गणा—(पं.सं./प्रा./५/२०७; ४७०–४७२)

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	आहारक	८	२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	अनाहारक सयोगी	२	२०,२१
	अयोगी	२	९,८

६. पाँच उदय कालोंकी अपेक्षा नामकर्मोदय स्थानकी सामान्य प्ररूपणा

संकेत :—१. कार्मण काल=विग्रह गतिका काल; कार्मण शरीरका काल; प्रतर व लोक पूरण समुद्घातका काल

२. मिश्र शरीर काल—आहार ग्रहणसे शरीर पर्याप्ति तकका काल

३. शरीर पर्याप्ति काल—शरीर पर्याप्तिसे उच्छ्वास पर्याप्ति तकका काल

४. उच्छ्वास पर्याप्ति काल—उच्छ्वास पर्याप्तिसे भाषा पर्याप्ति तकका काल

५. भाषा पर्याप्ति काल—भाषा पर्याप्तिसे आयुके अन्त तकका काल

६. स्थान—स्थान विशेषमें कितनी प्रकृतियोंका उदय है।

७. भंग—प्रति स्थान अक्ष परिवर्तनसे कितने भंग बनने सम्भव हैं।

८. विकल्प सं०—इसी प्रकरणकी सारणी सं० २ नाम कर्मके कुल स्थानोंकी प्ररूपणामें कोष्ठक सं० १ में डाले गये

(गो.क./६०३-६०५/८०६-८११)

क्र.	मार्गणा या समास	कार्मण काल				मिश्र शरीर काल				शरीर पर्याप्ति काल				उच्छ्वास पर्याप्ति काल				भाषा पर्याप्ति काल			
		विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	विकल्प	स्थान	भंग	विशेष
१	१७ प्रकार ल० अप०	२	२१	१	तिर्य० अनु०	४	२४	१		८	२६	२	आतप-उद्योत								
२	वन० साधारण सूक्ष्म व बादर पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		५	२५	१		६	२६	१					
३	पृथिवी, अप०, तेज ,, वायु, वन० अप्रतिष्ठित प्रत्येक सू० पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,					
४	उपरोक्त मार्गणा बा०पर्या.	,,	,,	२	यश या अयश	,,	,,	२	यश या अयश	८	२६	४	यश या अ-श ×आतप या उद्योत	,,	,,	२	यश या अयश				
५	२-४ इन्द्रिय अप० असंज्ञी पंचेन्द्रिय अप	,,	,,	,,	,,	१०	२६	२	सृपाटिका + यश-अयश	१६, २०	२८ २९	२ २	अप्रश० विहा०× यश या अयश	२१ २५	२९ ३०	२ २	अप्रश०विहा० ×यश या अयश	२६ ३०	३० ३१	२ २	दुःस्वर× यश या अयश
६	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्या०	,,	,,	८	यु./८ में से ४ यु.के विशेष	,,	,,	२८८	पूर्वोक्त ८× ६ संस्थान × ६ संहनन	१५	२८	५७६	पूर्वोक्त २८८ ×२ विहायो.	१९	२९	५७६	पूर्वोक्तवत	२८	३०	११५२	पूर्वोक्त ५७६×२ स्वर

नोट :—नं० ४,५,६ के उद्योत सहित व उद्योत रहितके दो दो स्थान बन जाते हैं। भंग यथा योग्य लगा लेना।

क्र.	मार्गणा या समास	कार्मण विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	मिश्र विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	शरीर विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	उच्छ्वास विकल्प	स्थान	भंग	विशेष	भाषा विकल्प	स्थान	भंग	विशेष
७	मनुष्य	२	२१	८	यु/८ में ४ युग० के विशेष	१०	२६	२८८	पूर्वोक्त ८×६-संस्थान ×६ संहनन	१५ ११	२८ २७	५७६ १	पूर्वोक्त २८८×२ ×२ विहायो.	१६ १७	२९ २८	५७६ १	पूर्वोक्त वत्	२८ २३	३० २९	११५२ १	पूर्वोक्त ५७६ ×२ स्वर
८	आहारक शरीर युक्त मनु०					६	२५	१		,,	,,	,,		,,	,,	,,		,,	,,	,,	
९	सामान्य केवली	१	२०	१														२८	३०	२	२ स्वर
१०	तीर्थकर केवली	३	२१	१														२९	३१	१	
११	समुद्घातगत सामान्य केव.					१०	२६	१		१५	२८	१		१९	२९	१		२८	३०	२	२ स्वर
१२	,, ,, तीर्थ ,,					१२	२७	१		२२	२९	१		२७	३०	१		२९	३१	१	
१३	नारकी	२	२१	१		७	२५	१		१३	२७	१	केवल अप्रश०	१८	२८	१	केवल×अप्रशस्त	२४	२९	१	केवल अप्रशस्त
१४	देव	,,	,,	,,		,,	,,	,,		,,	,,	,,	,, प्रशस्त	,,	,,	,,	,, प्रशस्त	,,	,,	,,	,, प्रशस्त
१५	सामान्य अयोग केवली																	३१	८	१	
१६	तीर्थकर ,, ,,																	३२	९	१	

७. पाँच उदय कालोंकी अपेक्षा नामकर्मोदयस्थानोंकी चतुर्गति प्ररूपणा

(पं० सं०/प्रा०/५/९७-१९०); ध./२,१,११/७/३३-६१); (ध./१५/८१-९७); (गो.क./६९२-७३८/८८१-८९४); (प्र.सं./सं./५/११२-२२०)

प्रमाण पं० सं०/ गा०	मार्गणा	उदय काल	स्थान	भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१. नरक गति युक्त—उदय योग्य=३०, उदय स्थान=५ (२१,२५,२७,२८,२९); कुल भंग=५						
९९	नारक सामान्य	कार्माण काल	२१	१	नरक गति, पंचे. जाति, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, निर्माण=२०+नारकानुपूर्वी =२१	
१०१		मिश्र शरीर ,,	२५	१	उपरोक्त २०+वैक्रि० द्वि०, उपघात, हुंडक, प्रत्येक	
१०३		शरीर पर्या० ,,	२७	१	उपरोक्त २५+परघात, अप्रशस्त विहायो. =२७	
१०४		उच्छ्वास ,,	२८	१	उपरोक्त २७+उच्छ्वास =२८	
१०५		भाषा पर्या० ,,	२९	१	उपरोक्त २८+दुःस्वर =२९	
२. तिर्यंच गति युक्त—उदय योग्य=५३; उदय स्थान=९ (२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१); कुल भंग=४९९२						
१९२	एकेन्द्रिय सामान्य—उदय योग्य=३२; उदय स्थान=५ (२१,२४,२५,२६,२७); कुल भंग=२४+८=३२					
	आतप उद्योत रहित एकेन्द्रिय—उदय योग्य ३१=उदय स्थान=४ (२१,२४,२५,२६); कुल भंग=२४					
११०	उपरोक्त सामान्य	कार्माण काल	२१	५	तिर्य. गति, एकें० जाति, तैजस कार्माण शरीर, अगुरुलघु, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, निर्माण=१९+ (सूक्ष्म-बादर) पर्याप्त-अपर्याप्त, यश-अयश इन ३ युगलों में अन्यतम एक एक व स्थावर यह ४ १९+४=२०+तिर्यगानुपूर्वी =२१	यश के साथ केवल बादर=१ अयश के साथ बादर, सूक्ष्मके पर्याप्त अपर्याप्त इस प्रकार=४ १+४=५
११३		मिश्र शरीर ,,	२४	९	उपरोक्त २०+औ० शरीर, हुंडक, उपघात, प्रत्येक या साधारण =२४	अयशकी उपरोक्त ४×प्रत्येक व साधारण ८+यशके साथ केवल प्रत्येक =९
११५		शरीर पर्या० ,,	२५	५	उपरोक्त १९+पर्याप्त, सूक्ष्म-बादर, यश-अयश इन २ युगलों में अन्यतम एक एक, स्थावर, औदा० शरीर, हुंडक, उपघात, परघात, प्रत्येक या साधारण =२५	अयशके साथ सूक्ष्म, बादर, प्रत्येक साधारणके ४ भंग तथा यशके साथ बादर प्रत्येकका केवल एक भंग
११६		उच्छ्वास ,, ,,	२६	५	उपरोक्त २५+उच्छ्वास =२६	,,
		—		२४		
	उदय योग्य=३०; उदय स्थान=४ (२१,२४,२६,२७); कुल भंग=८+४ पुनरुक्त=१२					
११८	आतप उद्योत सहित एकेन्द्रिय सामान्य	कार्माण काल	२१	२ (पुनरुक्त)	उद्योत रहित की उपरोक्त १९+बादर, पर्याप्त, स्थावर, तिर्यगानुपूर्वी =२० यश या अयश =२१	यश या अयश (ये भंग ऊपर कहे जा चुके हैं)
,,		मिश्र शरीर काल	२४	२ (पुनरुक्त)	उपरोक्त २१+औ० शरीर, हुंडक, आघात, प्रत्येक=२५—तिर्य० आनु० =२४	,,
११९		शरीर पर्या० ,,	२६	४	उपरोक्त २४+परघात, आतप या उद्योत =२६	यश, अयश×आतप, उद्योत
१२०		उच्छ्वास ,, ,,	२७	४	उपरोक्त २६+उच्छ्वास =२७	,,
				८	नोट :—२१ व २४ के दो दो भंग आतप उद्योत सहित एकेन्द्रियमें गिने जा चुके हैं अतः पुनरुक्त हैं।	

प्रमाण प०सं०/गा०	मार्गणा	उदय काल	उदय स्थान	भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
	विकलेन्द्रिय सामान्य	उदय योग्य=	३४		उदय स्थान=६ (२१,२६,२८,२९,३०,३१)	कुल भंग=५४
१२२	उद्योत रहित	सामान्य	५	३६	उदय स्थान=५ (२१,२६,२८,२९,३०);	भंग=१२×३=३६
"	उद्योत सहित	सामान्य	५	१८	उदय स्थान=५ (२१,२६,२९,३०,३१);	भंग= ६×३=१८
१२३	उद्योत रहित द्वीन्द्रिय	कार्माण काल	२१	३	तिर्य.गति, द्वीन्द्रिय जाति, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, त्रस, बादर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, निर्माण यह १८+पर्याप्त या अपर्याप्त, यश या अयश इस प्रकार २०+तिर्य० आनु० =२१	अयशके साथ पर्याप्त, अपर्याप्त २ भंग और यशके साथ केवल पर्याप्तका १ भंग =३
१२६		मिश्र शरीर काल	२६	३	उपरोक्त २० (२१-आनु०)+औ० शरीर, हुंडक, सृपाटिका, औ० अंगोपांग, प्रत्येक, उपघात =२६	"
१२८		शरीर पर्याप्ति काल	२८	२	उपरोक्त २१ में से १८+पर्याप्त, उपघात, औ० शरीर अंगोपांग, हुंडक, सृपाटिका, प्रत्येक, परघात, अप्रशस्त विहायो०, यश या अयश =२८	यश या अयश सहित
१२९		उच्छ्वास पर्या० काल	२९	२	उपरोक्त २८+उच्छ्वास =२९	"
१३०			३०	२	उपरोक्त २९+दुःस्वर =३०	"
				१२		
१३१	उद्योत सहित द्वीन्द्रिय	कार्माण काल	२१	२ } पुनरुक्त	उद्योत रहित उपरोक्त १८+पर्याप्त, तिर्यगानु, यश या अयश =२१	यश या अयश सहित
"		मिश्र शरीर काल	२६	२ } पुनरुक्त	उपरोक्त १८+पर्याप्त, औ० शरीर, अंगोपांग, हुंडक, सृपाटिका, प्रत्येक, उपघात, यश या अयश =२६	" (यह २,२ भंग उद्योत रहितमें आ चुके हैं)
१३२		शरीर पर्याप्ति "	२९	२	उपरोक्त २६+परघात, उद्योत, अप्रशस्त विहायो. =२९	यश व अयश सहित
१३३		उच्छ्वास " "	३०	२	उपरोक्त २९+उच्छ्वास =३०	"
१३४		भाषा " "	३१	२	उपरोक्त ३०+दुःस्वर =३१	"
				६	(२१ और २६ के दो-दो भंग उद्योत सहित द्वीन्द्रियमें गिना दिये गये हैं अतः पुनरुक्त हैं।)	
१३५	त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रि. उद्योत रहित		द्वी.वत्	१२	द्वीन्द्रियवत्	द्वीन्द्रियवत्
	उद्योत सहित		"	६	"	"
	पंचेन्द्रिय सा०	उदय योग्य=	३९		उदय स्थान=६ (२१,२६,२८,२९,३०,३१);	कुल भंग=४९०६
१३८	उद्योत रहित	उदय योग्य=	३८		उदय स्थान=५ (२१,२६,२८,२९,३०);	भंग=२६०२
"	उद्योत सहित	उदय योग्य=	३९		उदय स्थान=५ (२१,२६,२९,३०,३१);	भंग=२३०४
१३९	उद्योत रहित पंचेन्द्रिय	कार्माण काल	२१	९	तिर्य.गति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, त्रस, बादर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण, १६+सुभग-दुर्भग, यश-अयश, पर्याप्त-अपर्याप्त, आदेय-अनादेय इन ४ युगलों में अन्यतम एक-एक=२०+तिर्यगानुपूर्वी =२१	पर्याप्तके साथ तो सुभग, यश व आदेय इन तीन युगलोंमें-से कोई भी एक-एकका उदय सम्भव है अतः पर्याप्तके भंग=२×२×२=८ और अपर्याप्तके साथ केवल दुर्भग, अयश व अनादेयका एक भंग =९

प्रमाण प०सं०/गा०	मार्गणा	उदय काल	उदय स्थान	भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भंगोंका विवरण
१४२		मिश्र शरीर काल	२६	२८६	उपरोक्त २०+औ०शरीर, अंगोपांग, ६ संस्थानोंमें-से अन्यतम, छः संहननोंमें-से अन्यतम, उपघात, प्रत्येक =२६	उपरोक्त पर्याप्तके ८×६×६=२८८ अपर्याप्तका उपरोक्त १ सृपाटिका व हुंडकके साथ केवल १ भंग
१४५		शरीर पर्या. काल	२८	५७६	२१ वाले स्थानकी उपरोक्त १६+पर्याप्त, सुभग-दुर्भग, यश-अयश, आदेय-अनादेयमें-से अन्यतम एक-एक करके तीन; प्रशस्त या अप्रशस्त विहायो०में अन्यतम, परघात, औ० शरीर, अंगोपांग, ६ संस्थानोंमें अन्यतम, ६ संहननोंमें अन्यतम, उपघात, प्रत्येक =२८	पर्याप्तके उपरोक्त २८८×२ विहायोगति=५७६
१४७		उच्छ्वास पर्या० काल	२९	५७६	उपरोक्त २८+उच्छ्वास =२९	"
१४८		भाषा पर्या. काल	३०	११५२	उपरोक्त २९+सुस्वर-दुःस्वरमें अन्यतम =३०	उपरोक्त ५७६×२ स्वर=११५२
		कुल भंग		२६०२		
	उद्योत सहित पंचेन्द्रिय	कार्माण काल	२१	८ (पुनरुक्त)	उद्योत रहित वत परन्तु अपर्याप्तके भंग रहित =२१	पर्याप्त सहित ३ युगलोंके ८ भंग
		मिश्र शरीर ,,	२६	२८८ (पुनरुक्त)	उपरोक्त २१+उपघात, प्रत्येक व ६ संस्थान, ६ संहननमें अन्यतम	उपरोक्त ८×६×६ (संस्थान, संहनन)
		शरीर पर्या. ,,	२९	५७६	उपरोक्त २६+परघात, उद्योत, प्रशस्ताप्रशस्त विहायो.में अन्यतम =२९	उपरोक्त २८८×२ विहायो=५७६
		उच्छ्वास पर्या० काल	३०	५७६	उपरोक्त २९+उच्छ्वास =५७६	"
		भाषा पर्या. काल	३१	११५२	उपरोक्त ३०+सुस्वर या दुस्वर =३१	उपरोक्त ५७६×स्वर द्वय
		सर्व भंग		२३०४	(२१ व २६ वाले दोनोंके भंग उद्योत रहितमें गिना दिये जानेसे पुनरुक्त है। अतः यहाँ नहीं जोड़े)	
३ १५६	(मनुष्य गति) उदय योग्य=	यथा योग्य			उदय स्थान=११ (२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,८,९);	कुल भंग=२६०९
१५७	आहारक शरीर रहित मनुष्य	उदय योग्य=	४७		उदय स्थान=५ (२१,२६,२८,२९,३०);	कुल भंग=२६०२
१६०		कार्माण काल	२१	९	मनुष्य गति, पंचें० जाति, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, त्रस, बादर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण=१६+सुभग-दुर्भग, यश-अयश, पर्याप्त-अपर्याप्त, आदेय-अनादेयमें अन्यतम=२०+मनु० आनु० =२१	पर्याप्तके साथ तो सुभगादि तीन युगलोंमें अन्यतम होते हैं २×२×२=८ भंग और अपर्याप्तके केवल दुर्भग, अयश व अनादेय सहित =९
१६३		मिश्र शरीर काल	२६	२८९	उपरोक्त २० (२१-आनु०)+औदा० शरीर व अंगोपांग, उपघात, प्रत्येक, ६ संस्थान व ६ संहननमें अन्यतम =२६	पर्याप्तके उपरोक्त ८×६ संस्था.×६ संहनन=२८८ तथा अपर्याप्तका केवल उपरोक्त १ सृपाटिका व हुंडक सहित =२८९
१६६		शरीर पर्या. काल	२८	५७६	२१ वाले स्थानमें उपरोक्त १६+पर्याप्त, परघात=१८+सुभग-दुर्भग, यश-अयश, आदेय-अनादेय, ६ संस्थान, ६ संहननमें अन्यतम, औ० शरीर अंगोपांग, उपघात, प्रत्येक, अन्यतम विहायो०=२८	सुभग, यश, आदेय, संस्थान, संहनन, विहायो, इन युगलोंके परस्पर गुणनसे २×२×२×६×६×२ =५७६
१६८		उच्छ्वास पर्या० काल	२९	५७६	उपरोक्त २८+उच्छ्वास =२९	"
१६९		भाषा पर्या. काल	३०	११५२	उपरोक्त २९+सुस्वर या दुस्वर =३०	उपरोक्त ५७६×स्वर द्वय
				२६०२		

प्रमाण प.सं./गा.	मार्गणा	उदय काल	उदय स्थान	भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भागोंका विवरण
१७०	आहारक शरीर	उदय योग्य—	२९		उदय स्थान=४ (२५,२७,२८,२९)	भंग=४
१७१	सहित मनुष्य	मिश्र शरीरकाल	२५	१	मनु० गति, तैजस कार्माण शरीर, पंचे, जाति, आहारक शरीर, अंगो०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, उपघात, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, आदेय, त्रस, पर्याप्त, बादर, प्रत्येक, समचतुरस्र संस्थान, सुभग, यश, निर्माण =२५	
१७३ १७४		शरीर पर्याप्ति काल	२७	१	उपरोक्त २५+परघात, प्रशस्त विहायो० =२७	
१७५		उच्छ्वास ,, ,,	२८	१	उपरोक्त २७+उच्छ्वास =२८	
		भाषा ,, ,,	२९	१	उपरोक्त २८+सुस्वर =२९	
				४		
	केवली मनुष्य	उदय योग्य—	३१		उदय स्थान=४ (३१,३०,९,८)	भंग=४
१७६	तीर्थंकर सयोगी		३१	१	मनु.गति, पंचें.जाति, औ.शरीर, अंगोपांग, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, समचतुरस्र संस्थान, वज्र-ऋषभ नाराच संहनन, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, प्रशस्त विहायो., शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, यशःकीर्ति, निर्माण, आदेय, तीर्थंकर =३१	
	सामान्य सयोगी		३०	१	उपरोक्त ३१—तीर्थंकर =३०	
१७९	तीर्थंकर अयोगी		९	१	मनुष्य गति, पंचें. जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थंकर =९	
१८०	सामान्य अयोगी		८	१	उपरोक्त ९—१ =८	
				४		
	समुद्घात गत सामान्य केवली	केवली (ध.७/२,१,११/५५-५६) प्रतर व लोकपूर्ण शरीर पर्याप्ति काल	२०	१	मनुष्य आहारक रहितकी २१ स्थानकी १६+पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश. =२०	
	तीर्थंकर ,,		२१	१	उपरोक्त २०+तीर्थंकर =२१	
	सामान्य ,,	कपाट समुद्घात	२६	६	उपरोक्त २०+औ.द्वि., ६ संस्थानमें एक, वज्र, उप. प्रत्येक	६ संस्थानमें अन्यतम
	तीर्थंकर ,,	शरीर पर्याप्ति काल	२७	१	उपरोक्त २६ (परन्तु केवल एक समचतुरस्र संस्थान) +तीर्थंकर =२७	समचतु. ही संस्थान है
	सामान्य ,,	दंड समुद्घात	२८	१२	उपरोक्त २६+परघात, २ विहायो.में अन्यतम =२८	६ संस्थान×२ विहायो.
	तीर्थंकर ,,	शरीर पर्याप्ति काल	२९	१	उपरोक्त २८ (परन्तु केवल एक शुभ संस्थान व विहायो०) +तीर्थंकर =२९	शुभ ही संस्थान व विहायो.
	सामान्य ,,	उच्छ्वास पर्या.काल	२९	१२	उपरोक्त २८+उच्छ्वास =२९	६ संस्थान×२ विहायो.
	तीर्थंकर ,,		३०	१	उपरोक्त २९ (परन्तु केवल एक शुभ संस्थान व विहायो०) +तीर्थ.=३०	शुभ ही संस्थान व विहायो.
		सर्व भंग		३५		
	(देवगति)—	उदय योग्य	—	३०	उदय स्थान=५(२१,२५,२७,२८,२९);	भंग=५
	देवगति सामान्य	कार्माण काल	२१	१	देवगति, पंचें. जाति, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, त्रस, बादर, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, आदेय, यश, निर्माण; देवआनु० =२१	
		मिश्रशरीर पर्या.काल	२५	१	उपरोक्तमें-से पहली २०+वैक्रि. द्वि., उपघात, समचतुरस्र, प्रत्येक =२५	
		शरीर पर्या. ,,	२७	१	उपरोक्त २५+परघात, प्रशस्त विहायो. =२७	
		उच्छ्वास ,, ,,	२८	१	उपरोक्त २७+उच्छ्वास =२८	
		भाषा ,, ,,	२९	१	उपरोक्त २८+सुस्वर =२९	
		सर्व भंग—		५		

८. प्रकृति स्थिति आदि उदयोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणाओंकी सूची—

ध.१५/२८८ प्रकृति उदयका नानाजीवापेक्षा भंग विचय, सन्निकर्ष व स्वामित्वादि ।
ध.१५/२८६ मूल प्रकृतियोंकी स्थितिके उदयका प्रमाण ।
ध.१५/२६२ मूल प्रकृतियोंके स्थिति उदयका नानाजीवापेक्षया भंग विचय ।
ध.१५/२६३ उपरोक्तका नाना जीवापेक्षा सन्निकर्ष ।
ध.१५/२६४ उत्तर प्रकृतियोंके स्थिति उदयका प्रमाण ।
ध.१५/२६५ उपरोक्तका नाना जीवापेक्षा भंग विचय ।
ध.१५/३०६ उपरोक्तका नाना जीवापेक्षा सन्निकर्ष ।

७. उदय उदीरणा व बन्धकी संयोगी प्ररूपणाएँ

१. उदयव्युच्छित्तिके पश्चात् पूर्व व युगपत् बन्ध व्युच्छित्ति योग्य प्रकृतियाँ

पं. सं./प्रा./३/६७–७० देवाउ अजसकित्ती वेउव्वाहार-देवजुयलाइं । पुव्वं उदओ णस्सइ पच्छा बन्धो वि अट्ठण्हं ।६७। हस्स रइ भय दुगुंछा सुहुमं साहारणं अपज्जत्तं । जाइ-चउक्कं थावर सव्वे व कसाय अंत लोहूणा ।६८। पुंवेदो मिच्छत्तं णराणुपुव्वी य आयवं चेव । इकतीसं पयडीणं जुगवं बंधुदयणासो त्ति ।६९। एक्कासी पयडीणं णाणावरणाइयाण सेसाणं । पुव्वं बंधो छिज्जइ पच्छा उदओ त्ति णियमेण ।७०। =देवायु, अयशःकीर्ति, वैक्रियकयुगल (अर्थात् वैक्रियक शरीर व अंगोपांग), आहारकयुगल, और देवयुगल (गति व आनुपूर्वी), इन आठ प्रकृतियोंका पहिले उदय नष्ट होता है, पीछे बन्धव्युच्छित्ति होती है ।६७। हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, एकेन्द्रियादि चार जातियाँ, स्थावर, अन्तिम संज्वलनलोभके बिना सभी (१५) कषाय, पुरुषवेद, मिथ्यात्व, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और आतप इन इकतीस प्रकृतियोंके बन्ध और उदयका नाश एक साथ होता है ।६८–६९। शेष बची ज्ञानावरणादि कर्मोंकी इक्यासी प्रकृतियोंकी नियमसे पहिले बन्ध व्युच्छित्ति होती है और पीछे उदयव्युच्छित्ति होती है । [ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, संज्वलन लोभ, नपुंसकवेद, अरति, शोक, नरक-तिर्यक्मनुष्यायु ३, नरक तिर्यक्-मनुष्य गति ३, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-तैजस-कार्मण शरीर ३, औदारिक अंगोपांग, छः संहनन ६, छः संस्थान ६, वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श ४, नरक-तिर्यगानुपूर्वी २, अगुरुलघु-उपघात-परघात-उद्योत ४, उच्छ्वास, विहायोगतिद्विक (प्रशस्त व अप्रशस्त) २, त्रस-बादर-प्रत्येक-पर्याप्त ४, स्थिर-अस्थिर २, शुभ-अशुभ २, सुभग-दुर्भग २, सुस्वर-दुःस्वर २, आदेय-अनादेय २, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, नीच व उच्च गोत्र २, अन्तराय ५ = ८१] (ध.८/३,५/७–९/११–१२), (गो.क./मू. व टी./४००–४०१/५६५), (पं.सं./सं./३/८०–८७), (विशेष दे० दोनोंकी व्युच्छित्ति विषयक सारिणियाँ) ।

२. स्वोदय परोदय व उभय बन्धी प्रकृतियाँ

पं.सं./प्रा./३/७१–७३ तित्थयराहारदुअं वेउव्वियछक्क णिरय देवाऊ । एयारह पयडीओ बज्झंति परस्स उदयाहिं ।७१। णाणंतरायदसयं दंसणचउ तेय कम्म णिमिणं च । थिरसुहजुयले य तहा वण्णचउ अगुरु मिच्छत्तं ।७२। सत्ताहियवीसाए पयडीणं सोदया दु बंधो त्ति । सपरोदया दु बंधो हवेज्ज बासीदि सेसाणं ।७३। =तीर्थंकर, आहारकद्विक, वैक्रियकषट्क, नरकायु और देवायु—ये ग्यारह परके उदयमें बँधती है ।७१। ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तराय पाँच, दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार, तैजस शरीर, कार्माणशरीर, निर्माण, स्थिरयुगल, शुभयुगल, तथा वर्णचतुष्क, अगुरुलघु और मिथ्यात्व; इन सत्ताईस प्रकृतियोंका स्वोदयसे बन्ध होता है ।७२। शेष रही ८२ प्रकृतियोंका बन्ध स्वोदयसे भी होता है परोदयसे भी होता है ।७३। [दर्शनावरणीयकी पाँच निद्रा ५; वेदनीय २; चारित्र मोहनीय २५; तिर्यग्मनुष्यायु २; तिर्यक्मनुष्यगति २; जाति ५; औदारिक शरीर व अंगोपांग २; संहनन ६; संस्थान ६; तिर्यक्मनुष्य आनुपूर्वी २; उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगतिद्विक २; बादर-सूक्ष्म २; पर्याप्त-अपर्याप्त २; प्रत्येक-साधारण २; सुभग-दुर्भग २; सुस्वर-दुःस्वर २; आदेय-अनादेय २; यश-अयश २; ऊँच-नीच गोत्र २; त्रस-स्थावर २; = ८२ (विशेष देखो उनकी व्युच्छित्ति विषयक सारणियाँ) । (ध.८/३,५/११–१३/१४–१५), (गो.क./मू. व टी./४०२–४०३/५६६–५६७), (पं.सं./सं./३/८८–९०)

३. किन्हीं प्रकृतियोंके बन्ध व उदयमें अविनाभावी सामान्याधिकरण

ध.६/१,९–२,२२/३ मिच्छत्तसण्णत्थ बंधाभावा । तं पि कुदो । अणत्थ मिच्छत्तोदयाभावा । ण च कारणेण विणा कज्जस्सुप्पत्ती अत्थि, अइप्पसंगादो । तम्हा मिच्छादिट्ठी चेव सामी होदी । =मिथ्यात्व प्रकृतिका मिथ्यादृष्टिके सिवाय अन्यत्र बन्ध नहीं होता है । और इसका भी कारण यह है कि अन्यत्र मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय नहीं होता है, तथा कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है । यदि ऐसा न माना जाये तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त होता है ।

ध.६/१,९–२,६१/१०२/९ णिरयगदीए सह एइंदिय-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियजादीओ किण्ण बज्झंति ॥ ण णिरयगइबंधेण सह एदासिं बंधाणं उत्तिविरोहादो । एदेसिं संताणमक्कमेण एयजीवम्हि उत्ति-दंसणादो ण विरोहो त्ति चे, होदु संतं पडि विरोहाभावो इच्छिज्ज-माणत्तादो । ण बंधेण अविरोहो, तधोवदेसाभावा । ण च संतम्मि विरोहाभावदट्ठूण बंधम्हि वि तदभावो वोत्तुं सक्किज्जइ बंधसंताण-मेयत्ताभावा ।···तदो णिरयगदीए जासिमुदओ णत्थि, एयंतेण तासिं बंधो णत्थि चेव । जासिं पुण उदओ अत्थि, तासिं णिरयगदीए सह केसिं पि बंधो होदि, केसिं पि ण होदि त्ति घेत्तव्वं । एवं अण्णासिं पि णिरयगदीए बंधेण विरुद्धबंधपयडीणं परूवणा कादव्वा । =प्रश्न—नरकगतिके साथ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-रिन्द्रिय जाति नामवाली प्रकृतियाँ क्यों नहीं बँधती हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, नरकगतिके बन्धके साथ इन द्वीन्द्रियजाति आदि प्रकृतियोंके बँधनेका विरोध है । प्रश्न—इन प्रकृतियोंके सत्त्वका एक साथ एक जीवमें अवस्थान देखा जाता है, इसलिए बन्धका विरोध नहीं होना चाहिए ? उत्तर—सत्त्वकी अपेक्षा उक्त प्रकृतियोंके एक साथ रहनेका विरोध भले ही न हो, क्योंकि, वैसा माना गया है । किन्तु बन्धकी अपेक्षा उन प्रकृतियोंके एक साथ रहनेमें विरोधका अभाव नहीं है । अर्थात् विरोध ही है, क्योंकि, उस प्रकारका उप-देश नहीं पाया जाता है । और सत्त्वमें विरोधका अभाव देखकर बन्धमें भी उसका अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, बन्ध व सत्त्वमें एकत्वका विरोध है । ···इसलिए नरकगतिके साथ जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं है, एकान्तसे उनका बन्ध नहीं ही होता है । किन्तु जिन प्रकृतियोंका एक साथ उदय होता है, उनका नरकगति-के साथ कितनी ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है और कितनी ही प्रकृतियोंका नहीं होता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए । इसी प्रकार अन्य भी नरकगति (प्रकृति) के बन्धके साथ विरुद्ध पड़ने-

बाकी प्रकृतियोंकी प्ररूपणा करनी चाहिए।

ध.११/४,२,६,१६५/३१०/६ सव्वमूलपयडीणं सग-सग-उदयादो समुप्पण्णपरिणामाणं सग-सगट्ठिदिबंधकारणत्तेण ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणसण्णि-दाणं। एत्थ गहणं कायव्वं, अण्णहा उत्तदोसप्पसंगादो। = सब मूल प्रकृतियोंके अपने-अपने उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनकी ही अपनी-अपनी स्थितिके बन्धमें कारण होनेसे स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान संज्ञा है, उनका ही ग्रहण यहाँ करना चाहिए, क्योंकि, अन्यथा पुनरुक्त दोषका प्रसंग आता है।

४. मूल व उत्तर प्रकृति बन्ध उदय सम्बन्धी संयोगी प्ररूपणा

(ध. ८/३,५-३८/७-७३)

ओघ या निर्देशके जिस किसी स्थानमें जिस विवक्षित प्रकृतिके प्रतिपक्षीका उदय भी सम्भव हो उस स्थानमें स्व-परोदय; तथा तहाँ प्रतिपक्षीका उदय सम्भव नहीं वहाँ स्वोदय; तथा जहाँ प्रतिपक्षीका हो उदय है वहाँ परोदय बन्धी प्रकृतियोंका ही बन्ध जानना।

ध०८/पृ०	संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	किससे किस गुण स्थान तक: बन्ध	उदय
७	१-५	ज्ञानावरण ५	स्वो-बन्धी	निरन्तर बन्धी	१-१०	१-१२
,,	६-९	चक्षुर्दर्शनावरणादि ४	,,	,,	,,	,,
३५	१०-११	निद्रा, प्रचला	स्व-परो.	,,	१-८	,,
३०	१२-१४	निद्रानिद्रादि ३	,,	,,	१-२	१-६
३८	१५	सातावेदनीय	,,	सा० निर०	१-१३	१-१४
४०	१६	असातावेदनीय	,,	सान्तरबन्धी	१-६	,,
४२	१७	मिथ्यात्व	स्वो०	नि०	१	१
३०	१८-२१	अनन्तानुबन्धी ४	स्व-परो०	,,	१ २	१-२
४६	२२-२५	अप्रत्याख्यानावरण ४	,,	,,	१-४	१-४
५०	२६-२९	प्रत्याख्यानावरण ४	,,	,,	१-५	१-५
५२-५५	३०-३२	संज्वलनक्रोधादि ३	,,	,,	१-९	१-९
५८	३३	संज्वलनलोभ	,,	,,	,,	१-१०
६५	३३-३५	हास्य, रति	स्व-परो०	सा० निर०	१-८	१-८
४०	३६-३७	अरति, शोक	,,	सा०	१-६	,,
५६	३८-३९	भय, जुगुप्सा	,,	नि०	१-८	,,
४२	४०	नपुंसकवेद	,,	सा०	१	१-९
३०	४१	स्त्रीवेद	,,	,,	१-२	,,
५२	४२	पुरुषवेद	,,	सा० नि०	१-९	,,
४२	४३	नारकायु	परो०	नि०	१	१-४
३०	४४	तिर्यगायु	स्व-परो	,,	१-२	१-५
६१	४५	मनुष्यायु	,,	,,	१,२,४	१-१४
६४	४६	देवायु	परो०	,,	१-७ ३ को छोड़	१-४
४२	४७	नरकगति	,,	सा०	१	,,
३०	४८	तिर्यग्गति	स्व-परो०	सा० नि०	१-२	१-५
४६	४९	मनुष्यगति	,,	,,	१-४	१-१४
६६	५०	देवगति	परो०	,,	१-८	१०४
४२	५१-५४	एकेन्द्रियादि ४ जा०	स्व-परो०	सा०	१	१
६६	५५	पञ्चेन्द्रियजाति	,,	सा० नि०	१-८	१-१४
४६	५६	औदारिक शरीर	,,	,,	१-४	१-१३
६६	५७	वैक्रियक शरीर	परो०	,,	१-८	१-४
७१	५८	आहारक ,,	,,	नि०	७-८	६
६६	५९	तैजस ,,	स्वो०	,,	१-८	१-१३
	६०	,, ,,	,,	,,	,,	,,
४६	६१	औदारिक अंगोपांग	स्व-परो०	सा० नि०	१-४	,,
६६	६२	वैक्रियक ,,	परो०	,,	१-८	१-४
७१	६३	आहारक ,,	,,	नि०	७-८	६
६६	६४	निर्माण	स्वो०	नि०	१-८	१-१३
	६५	समचतुरस्र संस्था०	स्व-परो०	सा० नि०	,,	,,
३०	६६	न्य० परिमण्डल ,,	,,	सा०	१-२	,,
३०	६७	स्वाति संस्थान	स्व-परो०	सा०	१-२	१-१३
३०	६८	कुब्जक ,,	,,	,,	,,	,,
,,	६९	वामन ,,	,,	,,	,,	,,
४२	७०	हुण्डक ,,	,,	,,	१	.

पृ० ८/पृ०	संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	किससे किस गुण स्थान तक	
					बन्ध	उदय
४६	७१	बज्रवृषभनाराच स०	,,	सा० नि०	१-४	,,
३०	७२	बज्रनाराचसंहनन	,,	सा०	१-२	१-११
,,	७३	नाराच ,,	,,	,,	,,	,,
,,	७४	अर्धनाराच ,,	,,	,,	,,	१-७
,,	७५	कीलित ,,	,,	,,	,,	,,
४२	७६	असंप्राप्तसृपाटि०,,	,,	,,	१	,,
६६	७७	स्पर्श	स्वो०	नि०	१-८	१-१३
,,	७८	रस	,,	,,	,,	,,
,,	७९	गन्ध	,,	,,	,,	,,
,,	८०	वर्ण	,,	,,	,,	,,
४२	८१	नरकगत्यानुपूर्वी	परो०	सा०	१	१,२,४
३०	८२	तिर्यग्गत्यानुपूर्वी	स्व-परो०	सा० नि०	१-२	,,
४६	८३	मनुष्यगत्यानुपूर्वी	,,	,,	१-४	,,
६६	८४	देवगत्यानुपूर्वी	परो०	,,	१-८	,,
,,	८५	अगुरुलघु	स्वो०	नि०	,,	१-१३
,,	८६	उपघात	स्व-परो०	,,	,,	,,
,,	८७	परघात	,,	सा० नि०	,,	,,
४२	८८	आताप	,,	सा०	१	१
३०	८९	उद्योत	,,	,,	१-२	१-५
६६	९०	उच्छ्वास	,,	सा० नि०	१-८	१-१३
,,	९१	प्रशस्तविहायोगति	,,	,,	,,	,,
३०	९२	अप्रशस्त ,, ,,	स्व-परो०	सा०	१-२	१-१३
६६	९३	प्रत्येक शरीर	,,	सा० नि०	१-८	,,
४२	९४	साधारण शरीर	स्व-परो०	सा०	१	१
६६	९५	त्रस	,,	सा० नि०	१-८	१-१४
४२	९६	स्थावर	,,	सा०	१	१
६६	९७	सुभग	,,	सा० नि०	१-८	१-१४
३०	९८	दुर्भग	,,	सा०	१-२	१-४
६६	९९	सुस्वर	,,	सा० नि०	१-८	१-१३
३०	१००	दुस्वर	,,	सा०	१-२	,,
६६	१०१	शुभ	स्वो०	सा० नि०	१-८	,,
४०	१०२	अशुभ	,,	सा०	१-६	,,
६६	१०३	बादर	स्व-परो०	सा० नि०	१-८	१-१४
४२	१०४	सूक्ष्म	,,	सा०	१	१
६६	१०५	पर्याप्त	,,	सा० नि०	१-८	१-१४
४२	१०६	अपर्याप्त	,,	सा०	१	१
६६	१०७	स्थिर	स्वो०	सा० नि०	१०८	१-१३
४०	१०८	अस्थिर	,,	सा०	१-६	,,
६६	१०९	आदेय	स्व-परो०	सा० नि०	१-८	१-१४
३०	११०	अनादेय	,,	सा०	१-२	१-४
७	१११	यशःकीर्ति	,,	सा० नि०	१-१०	१-१४
४०	११२	अयशःकीर्ति	,,	सा०	१-६	१-४
७३	११३	तीर्थंकर	परो०	नि०	४-८	१३-१४
७	११४	उच्चगोत्र	स्व-परो०	सा० नि०	१-१०	१-१४
३०	११५	नीचगोत्र	,,	,,	१-२	१-५
७	११६-१२०	अन्तराय ५	स्वो०	नि०	१-१०	१-१२

५. मूल प्रकृति बन्ध उदय उदीरणा सम्बन्धी संयोगी प्ररूपणा

(पं० सं०/प्रा०/४/२२७-२३१); (पं० सं०/सं०/४/९२-९७); (शतक/३४-३७)

गुण स्थान	बन्ध		उदय		उदीरणा	
	कर्म	विशेषता	कर्म	विशेषता	कर्म	विशेषता
१	{ आठों कर्म { आयु रहित ७		{ आठों कर्म { आठों कर्म		{ आठों कर्म { आठ या सात	आयुमें आवली मात्रशेष रहनेपर आयु रहित ७ तथा उससे पहले आठों की।
२	"		"		"	"
३	"		"		"	"
४	"		"		"	"
५	"		"		"	"
६	"		"		"	"
७	आयु रहित ७	आयु कर्म बन्धका अभाव प्रारम्भ करने की अपेक्षा है। निष्ठापनकी अपेक्षा नहीं। इसका बन्ध ६ठे में प्रारम्भ होकर ७वें में पूरा हो सकता है। उस अवस्थामें ८ प्रकृतिका बन्धक होगा	"		६ कर्म	आयु वेदनीय रहित
८	७ कर्म	आयु बिना	"		६ कर्म	आयु वेदनीय रहित
९	"	"	"		"	"
१०	६ कर्म	मोह व आयु बिना	"		{ ६ कर्म { ५ कर्म	आयु वेदनीय रहित आयु, वेदनीय, मोह रहित
११	१ कर्म	ईर्यापथ आस्रव	७ कर्म	मोह रहित	५ कर्म	"
१२	"	"	"	"	"	"
१३	३ कर्म	{ वेदनीय, नाम, गोत्र { का ईर्यापथ आस्रव	४ कर्म	{ आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय ये ४ अघातिया	२ कर्म	नाम, गोत्र
१४			"	"		

८. बन्ध उदय सत्त्वकी त्रिसंयोगी स्थान प्ररूपणा

१. मूलोत्तर प्रकृति स्थानोंकी त्रिसंयोगी ओघ प्ररूपणा

—(पं.सं./प्रा./५/४-३१,२८१-२६६); (गो.क./६२६-६५६/८२६-८४८); (पं.सं./सं/५/५-३२,३०७-३३६)

१. मूल प्रकृतिकी अपेक्षा—(पं० सं/प्रा०/५/४-६)

गुण स्थान	स्थान			
	बन्ध		उदय	सत्त्व
	बद्धायुष्क	अबद्धायुष्क		
१	८	७	८	८
२	,,	,,	,,	,,
३		,,	,,	,,
४	८	,,	,,	,,
५	,,	,,	,,	,,
६	,,	,,	,,	,,
७	,,	,,	,,	
८		,,	,,	,,
९		,,	,,	,,
१०		६	,,	,,
११		१	७	,,
१२			७	७
१३			४	४
१४			४	,,

२. दर्शनावरणी (पं.सं./प्रा./५/६-१४)

गुण स्थान	स्थान			
	बन्ध	उदय		सत्त्व
		जागृत	सुप्त०	
१		४	५	९
२		,,	,,	,,
३	६	,,	,,	,,
४	,,	,,	,,	,,
५	,,	,,	,,	,,
६	,,	,,	,,	,,
७	,,	,,	,,	,,
८ उप०	६,४	,,	५,४	,,
,, क्षप०	६,५	,,	५,४	,,
९ उप०	४	४	५	९,६
,, क्षप०	,,	,,	,,	,,
१० उप०	,,	,,	,,	,,
,, क्षप०	,,	,,	,,	,,
११		,,	,,	,,
१२		,,	,,	६
१३				
१४				

१. ज्ञानावरणीय :—(पं. सं/प्रा./५/८)

गुण स्थान	स्थान		
	बन्ध	उदय	सत्त्व
१	५	५	५
२	,,	,,	,,
३	,,	,,	,,
४	,,	,,	,,
५	,,	,,	,,
६	,,	,,	,,
७	,,	,,	,,
८	,,	,,	,,
९	,,	,,	,,
१०	,,	,,	,,
११		५	५
१२		५	५
१३			
१४			

३. वेदनीय (पं.सं./प्रा./५/१९-२०)

गुण स्थान	भंग	स्थान		
		बन्ध	उदय	सत्त्व
१-६	४	साता	साता	दोनों
		,,	असाता	,,
		असाता	साता	,,
		,,	असाता	,,
७-१३	२	साता	साता	,,
		,,	असाता	,,
१४	४		साता	दोनों
			असाता	,,
			साता	साता
			असाता	असाता

४	मोहनीय (देखो आगे पृथक् प्ररूपणा नं० ८)
५	आयु (देखो आगे पृथक् सारणी नं० २)
६	नाम (देखो आगे पृथक् प्ररूपणा नं० ६)
७	गोत्र (पं. सं./प्रा./५/१६-१८)

गुण स्थान	भंग	स्थान बन्ध	स्थान उदय	स्थान सत्त्व
१	५	नीच	नीच	नीच
		,,	,,	दोनों
		,,	ऊँच	,,
		ऊँच	,,	,,
		,,	नीच	,,
२	४	नीच	नीच	दोनों
		,,	ऊँच	,,
		ऊँच	ऊँच	,,
		,,	नीच	,,
३-५	२	ऊँच	ऊँच	दोनों
		,,	नीच	,,
६-१०	१	ऊँच	ऊँच	दोनों
११-१४	१		ऊँच	दोनों

८	अन्तराय (ज्ञानावरणीवत्)

२. चारों गतियोंमें आयु कर्म स्थानोंकी त्रिसंयोगी सामान्य व ओघ प्ररूपणा

(पं. सं./प्रा/५/२१-२४); (पं. सं./सं/५/२५-३०); (गो.क./६३९-६४६/८३६-८४३)

संकेत—अबन्ध काल = नवीन आयु कर्म बन्धनेसे पहलेका काल। बन्ध काल = नवीन आयु बन्धनेवाला काल।

उपरत बन्ध काल = नवीन आयु बन्धनेके पश्चातका काल। तिर्य० = तिर्यगायु। नरक = नरकायु। मनु० = मनुष्यायु, देव = देवायु।

भंग	काल	स्थान बन्ध	स्थान उदय	स्थान सत्त्व
१. नरक गति सम्बन्धी पाँच भंग (पं. सं./प्रा./५/२१)				
१	अबन्ध०		नरक	नरकायु एक
२	बन्ध०	तिर्य०	,,	नरक तिर्य० दो
३	,,	मनु०	,,	नरक मनु० दो
४	उपरत०		,,	नरक तिर्य० दो
५	,,		,,	नरक मनु० दो
२. तिर्यंच गति सम्बन्धी नौ भंग (पं. सं./प्रा./५/२२)				
१	अबन्ध०		तिर्य०	तिर्यगायु एक
२	बन्ध०	नरक	,,	तिर्य० नरक दो
३	,,	तिर्य०	,,	तिर्य० तिर्य० दो
४	,,	मनु०	,,	तिर्य० मनु० दो
५	,,	देव	,,	तिर्य० देव दो
६	उपरत०	नरक	,,	तिर्य० नरक दो
७	,,	तिर्य०	,,	तिर्य० तिर्य० दो
८	,,	मनु०	,,	तिर्य० मनु० दो
९	,,	देव	,,	तिर्य० देव दो
३. मनुष्य गति सम्बन्धी नौ भंग (पं.सं./प्रा./५/२३)				
१	अबन्ध०		मनु०	मनुष्यायु एक
२	बन्ध०	नरक	,,	मनु० नरक दो
३	,,	तिर्य०	,,	मनु० तिर्य० दो
४	,,	मनु०	,,	मनु० मनु० दो
५	,,	देव०	,,	मनु० देव दो
६	उपरत०	नरक	,,	मनु० नरक दो
७	,,	तिर्य०	,,	मनु० तिर्य० दो
८	,,	मनु०	,,	मनु० मनु० दो
९	,,	देव	,,	मनु० देव दो
४. देव गति सम्बन्धी पाँच भंग (पं.सं./प्रा./५/२४)				
१	अबन्ध०		देव०	देवायु एक
२	बन्ध०	तिर्यं०	,,	देव० तिर्य० दो
३	,,	मनु०	,,	देव० मनु० दो
४	उपरत०	तिर्य०	,,	देव० तिर्य० दो
५	,,	मनु०	,,	देव मनु० दो

गुण स्थान	चारों गतियों सम्बन्धी भंग नरक	तिर्यंच	मनुष्य	देव
५. ओघ प्ररूपणा (गो.क./६४६-६४६/८४१-८४३)				
१	५	९	९	५
२	५	७ (२,६ रहित)	७ (२,६ रहित)	५
३	३ (२-३ रहित)	५ (२-५ रहित)	५ (२,५ रहित)	३ (२-३ रहित)
४	४ (२ रहित)	६ (२-४ रहित)	६ (२-४ रहित)	४ (२ रहित)
५		३ (१,५,९)	३ (१,५,९)	
६			३ (१,५,९)	
७			,,	
८-१० (उपशामक)			२ (१,९)	
क्षपक			१ (नं० १)	
११			२ (१,९)	
१२			१ (नं० १)	
१३			,,	
१४			,,	

३. मोहनीय कर्मकी सामान्य त्रिसंयोगी स्थान प्ररूपणा

संकेत—'आधार' अर्थात् अमुक बन्ध स्थान विशेष, या उदय स्थान विशेष या सत्त्व स्थान विशेषके साथ 'आधेय' अर्थात् अमुक अमुक उदय, सत्त्व या बन्ध स्थान होने सम्भव हैं। उन-उन स्थानोंका विशेष ब्योरा उन-उन विषयोंके अन्तर्गत दी गयी सारिणियोंमें देखिए।

कुल बन्ध स्थान = १० (१,२,३,४,५,६,१३,१७,२१,२२)
कुल उदय स्थान = ९ (१,३,४,५,६,७,८,९,१०)
कुल सत्त्व स्थान = १५ (१,२,३,४,५,११,१२,१३,२१,२२,२३,२४,२६,२७,२८)
सत्त्व विशेष—नं० १ = मिथ्यात्व; नं० २ = वेदक सम्यक्त्व; नं० ३ = उपशम सम्यक्त्व; नं० ४ = उपशम सम्यक्त्व उपशम श्रेणी। नं० ५ = कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व; नं० ६ = क्षायिक सम्यक्त्व; नं० ७ = क्षायिक सम्यक्त्व उपशम श्रेणी; नं० ८ = क्षायिक सम्यक्त्व क्षपक श्रेणी :

१. बन्ध आधार—उदय सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो.क./६६२-६६४/८५०-८५१)

क्रम	बन्ध स्थान आधार	उदय स्थान आधेय		सत्त्व स्थान आधेय							
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	विशेष नं० १-४ में स्थान विशेष	कुल स्थान	विशेष नं० ५ में स्थान विशेष	कुल स्थान	विशेष नं. ६, ७ में स्थान विशेष	कुल स्थान	विशेष नं० ८ में स्थान विशेष
१	२२	४	७,८,९,१०	३	२६,२७,२८						
२	२१	३	७,८,९	१	२८						
३	१७	४	६,७,८,९	२	२८,२४	२	२२,२३	१	२१		
४	१३	४	५,६,७,८	२	,,	२	,,	१	,,		
५	९	४	४,५,६,७	२	,,	२	,,	१	,,	१	२१
६	५	१	२	२	,,			१	,,	३	११,१२,१३
७	४	१	,,	२	,,			१	,,	५	११,१२,१३,४,५
८	४	१	१	२	,,			१	,,	५	,,
९	३	१	,,	२	,,			१	,,	२	३,४
१०	२	१	,,	२	,,			१	,,	२	२,३
११	१	१	,,	२	,,			१	,,	२	१,२

२. उदय आधार—बन्ध सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो.क./६६६-६६८/८५२-८५४)

क्रम	उदय स्थान आधार	बन्ध स्थान आधेय		सत्त्व स्थान आधेय							
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	१-४ के स्थान विशेष	कुल स्थान	नं० ५ के स्थान विशेष	कुल स्थान	६,७ के स्थान विशेष	कुल स्थान	नं०८ के स्थान विशेष
१	१०	१	२२	३	२६,२७,२८						
२	९	३	१७,२१,२२	४	२४,२६,२७,२८	२	२०,२३				
३	८	४	१३,१७,२१,२२	४	,,	२	,,	१	२१		
४	७	५	९,१३,१७,२१,२२	२	२४,२८	२	,,	१	,,		
५	६	३	९,१३,१७	२	,,	२	,,	१	,,	१	२१
६	५	२	९,१३	२	,,	२	,,	१	,,	१	,,
७	४	१	९	२	,,			१	,,	१	,,
८	२	२	४,५	२	,,			१	,,	३	१३,१२,११
९	१	४	१,२,३,४	२	,,			१	,,	६	११,५,४,३,२,१

३. सत्त्व आधार—बन्ध उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो. क./६६६-६७२/८५४-८५६)

क्रम	सत्त्व-आधार				बन्ध-आधेय		उदय—स्थान	
	सत्त्व विशेष १-४	विशेष नं० ५	विशेष नं० ६-७	विशेष नं० ८	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	२८				१०	१,२,३,४,५,६,१३,१७,२१,२२	६	१,२,४,५,६,७,८,९,१०
२	२७				१	२२	३	८,९,१०
३	२६				१	,,	३	,,
४	२४				८	१,२,३,४,५,९,१३,१७	८	१,२,४,५,६,७,८,९
५		२२,२३			३	९,१३,१७	५	५,६,७,८,९
६			२१		८	१,२,३,४,५,९,१३,१७	७	१,२,४,५,६,७,८
७				१२,१३	२	४,५	१	२
८				११	२	,,	२	१,२
९				५	१	४	१	१
१०				४	२	३,४	१	,,
११				३	२	२,३	१	,,
१२				२	२	१,२	१	,,
१३				१	१	१	१	,,

४. बन्ध उदय आधार—सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो.क./६७५-६७९/८५८-८६०)

क्रम	बन्ध—आधार		उदय—आधार		सत्त्व—आधेय							
					सत्त्व विशेष नं० १-४		सत्त्व विशेष नं० ५		सत्त्व विशेष नं० ६-७		सत्त्व विशेष नं० ८	
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	२२	३	८,९,१०	३	२६,२७,२८						
२	१	,,	१	७	१	२८						
३	१	२१	३	७,८,९	१	,,						
४	१	१७	१	९	२	२४-२८	२	२२-२३				
५	१	,,	२	७,८	२	,,	२	,,	१	२१		
६	१	,,	१	६	२	,,			१	२१		
७	१	१३	४	५,६,७,८	२	,,	२	२२-२३				
८	१	,,	४	,,	२	,,	२	,,	१	२१		
९	१	,,	४	,,	२	,,			१	२१		
१०	१	९	४	४,५,६,७	२	,,	२	२२-२३				
११	१	,,	४	,,	२	,,	२	,,	१	२१		
१२	१	,,	४	,,	२	,,			१	२१		
१३	१	९	३	४,५,६	२	,,			१	२१	१	२१
१४	१	५	१	२	२	,,			१	२१	३	१३,१२,११
१५	१	४	१	२	२	,,			१	२१	३	,,
१६	१	४	१	१	२	,,			१	२१	३	,,
१७	१	३	१	१	२	,,			१	२१	२	१,४
१८	२	२,३	१	१	२	,,			१	२१	२	१,३
१९	२	१,२	१	१	२	,,			१	२१	२	१,२

(५) बन्ध सत्त्व आधार—उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो.क./६८०-६८४/८६४-८६७)

क्रम	गुण स्थान	बन्ध आधार		सत्त्व आधार								उदय आधेय	
				सत्त्व विशेष नं. १-४		सत्त्व विशेष नं. ५		सत्त्व विशेष नं. ६-७		सत्त्व विशेष नं. ८			
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	१	२	१	२८							४	७,८,९,१०
२	१(साति.	१	१२	२	२६,२७							३	८,९ १०
३	२	१	२१	१	२८							३	७,८,९
४	४	१	१७	२	२४,२८							४	६,७,८,९
५	३	१	,,	२	,,							३	७,८,९
६	४	१	,,	×	×			१	२१			३	६,७,८
७	४	१	,,	×	×	२	२२,२३					३	७,८,९
८	५	१	१३	२	२४,२८							३	६,७,८
९	५-७	१	,,	×	×			१	२१			३	५,६,७
१०	५	१	,,	×	×	२	२२,२३					३	६,७,८
११	६-८	१	९	२	२४,२८	×						३	५,६,७
१२	६-७	१	,,	×	×	२	२२,२३					३	४,५,६
१३	८	१	,,	×	×			१	२१			३	,,
१४	९/i	१	५	२	२४,२८			१	,,			१	२
१५	९/ii	२	५,४	२	,,			१	,,			१	,,
१६	९/v	१	५	×	×					३	११,१२,१३	१	१
१७	९/vi	१	४	२	२४,२८			१	२१	३	४,५,११	१	,,
१८	९/vii	१	३	२	,,			१	,,	२	३,४	१	,,
१९	९/viii	१	२	२	,,			१	,,	२	२,३	१	,,
२०	९/ix	१	१	२	,,			१	,,	२	१,२	१	,,

६. उदय सत्त्व आधार—बन्ध आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो. क./६८५-६९१/८६८-८७२)

क्रम	गुण स्थान	उदय आधार		सत्त्व आधार								बन्ध-आधेय	
				सत्त्व विशेष नं. १-४		सत्त्व विशेष नं. ५		सत्त्व विशेष नं. ६-७		सत्त्व विशेष नं. १			
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	१	१०	३	२६,२७,२८							१	२२
२	१-४	१	९	१	२८							३	१७,२१,२२
३	१-५	१	८	१	२८							४	१३,१७,२१,२२
४	१	१	९	२	२६,२७							१	२२
५	१	१	८	२	,,							१	,,
६	३	१	९	१	२४							१	१७
७	३	१	८	१	,,							१	,,
८	४	१	९	१	,,	२	२२,२३	१	२१			१	,,
९	४	१	८	१	,,	२	,,	१	,,			१	,,
१०	५	१	८	१	,,	२	,,	१	,,			१	१३
११	५	१	७	१	२८							५	९,१३,१७,२१,२२
१२	५	१	७	१	२४	२	२२,२३					३	९,१३,१७
१३	४	१	७					१	२१			१	१७

क्रम	कुल स्थान	उदय-आधार		सत्त्व आधार								बन्ध-आधेय	
				सत्त्व विशेष नं. १-४		सत्त्व विशेष नं. ५		सत्त्व विशेष नं. ६-७		सत्त्व विशेष नं. ८			
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१४	५ (मनुष्य)	१	७					१	२१			१	१३
१५	"	१	६	२	२४,२८			१	"			३	९,१३,१७
१६	"	१	५	२	"			१	"			२	९,१३
१७	५ (तिर्यं.)	१	६			२	२२,२३					१	१३
१८	६-७	१	५			२	"					१	९
१९	८	१	४	२	२४,२८			१	२१	१	२१	१	"
२०	९/पु० वे०	१	२	२	"			१	"	१	"	१	५
२१	९/स्त्री वे.	१	२	२	"			१	"	१	"	१	४
२२	९/i–v	१	२							३	११,१२,१३	१	५
२३	९/vi	१	२							२	१२,१३	१	४
२४	९/vi–ix	१	१	२	२४,२८			१	२१			४	१,२,३,४
२५	९/vi	१	१							२	५,११	१	४
२६	९/vi–vii	१	१							१	४	२	३,४
२७	९/vii–viii	१	१							१	३	२	२,३
२८	९/viii–ix	१	१							१	२	२	१,२
२९	९/x	१	१							१	१	२	"

४. मोहनीयकर्मकी त्रिसंयोगी ओघप्ररूपणा

(पं.सं./प्रा./५/४०-५१), (पं.सं./सं./५/५०-६०); (गो.क./६५२-६५९/८४४-८४८)

क्रम	गुण स्थान	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान									
						सत्त्व विशेष नं. ४		सत्त्वविशेष नं. २		सत्त्व विशेष नं. ५		सत्त्व विशेष नं. ७		सत्त्व विशेष नं. ८	
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	विशेष	कुल स्थान	विशेष	कुल स्थान	विशेष	कुल स्थान	विशेष	कुल स्थान	विशेष
१	१	१	२२	४	७,८,९,१०	३	२६,२७,२८								
२	२	१	२१	३	७,८,९	१	२८								
३	३	१	१७	३	"	२	२८,२४								
४	४	१	"	४	६,७,८,९	२	"	२	२८,२४	३	२२,२३,२४	१	२१		
५	५	१	१३	४	५,६,७,८	२	"	२	"	३	"	१	"		
६	६	१	९	४	४,५,६,७	२	"	२	"	३	"	१	"		
७	७	१	"	४	"	२	"	२	"	३	"	१	"		
८	८	१	"	३	४,५,६	२	"					१	२१	१	२१
९	९/i	१	५	१	२	२	"					१	"	१	"
१०	९/ii	१	"	१	"	२	"					१	"	१	"
११	९/iii	१	"	१	"	२	"					१	"	१	१३
१२	९/iv	१	"	१	"	२	"					१	"	२	१३,१२
१३	९/v	१	"	१	"	२	"					१	"	३	१३,१२,११
१४	९/vi	१	४	१	१	२	"					१	"	४	१३,१२,११,५
१५	९/vii	१	३	१	"	२	"					१	"	२	४
१६	९/viii	१	२	१	"	२	"					१	"	२	३
१७	९/ix/i	१	१	१	"	२	"					१		१	२
१८	९/ix/ii											१	१	१	१
१९	१०			१	१	२	२८,२४					१	२१	१	१
२०	११					२	"					१	"		

५. नामकर्मकी सामान्य त्रिसंयोगी स्थान प्ररूपणा

संकेत—'आधार' अर्थात् अमुक बन्ध स्थान या उदय स्थान या सत्त्व स्थान विशेषके साथ 'आधेय' अर्थात् अमुक-अमुक उदय, सत्त्व या बन्ध स्थान होने सम्भव हैं। उन-उन स्थानोंका विशेष ब्योरा उन उन विषयोंके अन्तर्गत दी गयी सारणियोंमें देखिए।

कुल बन्ध स्थान = ८ (१,२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१)

कुल उदय स्थान = १२ (२०,२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८)

कुल सत्त्व स्थान = १३ (९,१०,७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३)

१. बन्ध आधार—उदय सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(पं. सं/प्रा./५/२२२-२२४, २२५-२५२); (पं. सं/सं/५/२३५-२३९, २६७-२७०; २४०-२७०); (गो. क./७४२-७४५/८९७)

क्रम	बन्ध आधार		उदय आधेय		सत्त्व आधेय	
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	३	२३,२५,२६	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	५	८२,८४,८८,९०,९२
२	१	२८	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	४	८८,९०,९१,९२
३	२	२ ३	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	७	८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
४	१	३१	१	३०	१	९३
५	१	२	१	३०	८	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३
६	×	×	१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१,८,९	१०	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३,९,१०

२. उदय आधार—बन्ध सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो. क./७४६-७५२/९०९-९२४)

उदय आधार			बन्ध आधेय		सत्त्व आधेय	
क्रम	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	२०			३	७७,७८,७९
२	१	२१	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	७८,८०,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
३	१	२४	५	२३,२५,२६,२९,३०	५	८२,८४,८८,९०,९२
४	१	२५	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	७	८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
५	१	२६	६	,,	९	७७,७९,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
६	१	२७	६	,,	८	७८,८०,८४,८८,९०,९१,९२,९३
७	१	२८	६	,,	८	७७,७९,८४,८८,९०,९१,९२,९३
८	१	२९	६	,,	१०	७७,७८,७९,८०,८४,८८,९०,९१,९२,९३
९	१	३०	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	१०	,,
१०	१	३१	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	६	७७,८०,८४,८८,९०,९२
११	१	९			३	७८,८०,१०
१२	१	८			३	७७,७९,९

३ सत्त्व आधार—बन्ध उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो. क./७५३-७५६/६२५-६३१)

सत्त्व आधार			उदय-आधार		उदय-आधेय	
क्रम	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	६			१	८
२	१	१०			१	६
३	१	७७	१	१ (यशः कीर्ति)	६	२५,२६,२८,२९,३०,८
४	१	७८	१	,,	६	२१,२७,२९,३०,३१,९
५	१	७९	१	,,	६	२५,२६,२८,२९,३०,८
६	१	८०	१	,,	६	२१,२७,२९,३०,३१,९
७	१	८२	५	२३,२५,२६,२९,३०	४	२१,२४,२५,२६
८	१	८४	५	,,	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
९	१	८८	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	
१०	१	९०	७	२३,२५,२६,२९,२९,३०,१	९	,,
११	१	९१	४	२८,२९,३०,१	७	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०
१२	१	९२	७	२३,२५,२६,२८,२९,३०,१	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
१३	१	९३	४	२९,३०,३१,१	७	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०

४. बन्ध उदय दोनों आधार—सत्त्व अकेला आधेय की स्थान प्ररूपणा :

(पं. सं./प्रा.५/२२५-२५१); (सं. सं/सं/५/२४०-२६९); (गो. क./७६०-७६८/९३६-९४०)

बन्ध-आधार			उदय-आधार		सत्त्व-आधेय	
क्रम	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	२३	४	२१,२४,२५,२६	५	८२,८४,८८,,९०,९२
२	१	२३	५	२७,२८,२९,३०,३१	४	८४,८८,९०,९२
३	२	२५,२६	४	२१,२४,२५,२६	५	८२,८४,८८,९०,९२
४	२	२५,२६	५	२७,२८,२९,३०,३१	४	८४,८८,९०,९२
५	१	२८	२	२१,२६		९०,९२ (देव उत्तर कुरुका क्षा० सम्यग्दृष्टि)
६	१	२८	५	२५,२६,२७,२८,२९	२	९०,९२ (२५,२७ उदय९०सत्त्व वैक्रि० की अपेक्षा है)
७	१	२८	२	२५,२६	१	९२ (आहारक शरीर उदय सहित प्रमत्त विरत)
८	१	२८	१	३०	४	८८,९०,९१,९२
९	१	२८	१	३१	३	८८,९०'९२
१०	१	२९	१	२१	७	८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
११	१	२९	२	२५,२६	७	,,
१२	१	२९	१	२४	५	८२,८४,८८,९०,९२
१३	१	२९	४	२७,२८,२९,३०	६	८४,८८,९०,९१,९२,९३
१४	१	२९	१	३१	४	८४,८८,९०,९२
१५	१	३०	३	२७,२८,२९	६	८४,८८,९०,९१,९२,९३
१६	१	३०	२	२१,२५	७	८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
१७	१	३०	२	२४,२६	५	८२,८४,८८,९०,९२
१८	१	३०	२	३०,३१	४	८४,८८,९०,९२
१९	१	३१	१	३०	१	९३, (गुणस्थान ७ व ८)
२०	१	१	१	३०	४	९०,९१,९२,९३ (उपशामक)
२१	१	१	१	३०	४	७७,७८,७९,८० (क्षपक)

५. बन्ध सत्त्व दोनों आधार—उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो.क./७६१-७७४/९४०-९४३)

क्रम	बन्ध—आधार		सत्त्व—आधार		उदय—स्थान	
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	२३	४	८४,८८,९०,९२	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
२	१	२३	१	८२	४	२१,२४,२५,२६
३	२	२५,२६	१	८२	४	"
४	१	२८	१	९२	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
५	१	२८	१	९१	१	३०
६	१	२८	१	९०	१	२१,२६,२८,२९,३०,३१ (संज्ञी तिर्य. वाले स्थान)
७	१	२८	१	८८	२	३०,३१
८	१	२९	१	९३	७	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०
९	१	२९	१	९२	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
१०	१	२९	३	८४,८८,९०	९	"
११	१	२९	१	९१	७	२१,२५,२५,२६,२७,२८.२९,३०
१२	१	२९	१	८२	४	२१,२४,२५,२६
१३	१	३०	२	९१,९३	५	२१,२५,२७,२८,२९ (देवगतिवत्)
१४	१	३०	१	९२	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१
१५	१	३०	४	८२,८४,८८,९०	९	"
१६	१	३०	१	८२	४	२१,२४,२५,२६
१७	१	३१	१	९३	१	३०
१८	१	१	४	९०,९१,९२,९३	१	३०
१९	१	१	४	७७,७८,७९,८०	१	३०

९. उदय सत्त्व दोनों आधार—बन्ध आधेयकी स्थान प्ररूपणा (गो. क./७७६–७८१/९४४–९४८).

क्रम	उदय—आधार		सत्त्व—आधार		बन्ध-आधेय	
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	२१	२	९१,९३	२	२९,३०
२	१	२१	२	९०,९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
३	१		३	८२,८४,८८	५	२३,२५,२६,२९,३०
४	१	२५	२	९१,९३	२	२९,३०
५	१	२५	१	९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
६	१	२५	४	८२,८४,८८,९०	५	२३,२५,२६,२९,३०
७	१	२६	२	९१,९३	१	२९
८	१	२६	२	९०,९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
९	१	२६	३	८२.८४,८८	५	२३,२५,२६,२९,३०
१०	१	२७	२	९१,९३	२	२९,३०
११	१	२७	१	९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
१२	१	२७	३	८४,८८,९०	५	२३,२५,२६,२९,३०
१३	१	२८	२	९१,९३	२	२९,३०
१४	१	८	१	९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
१५	१	२८	३	८४,८८,९०	५	२३,२५,२६,२९,३०
१६	१	२९	२	९१,९३	२	२९,३०
१७	१		२	९०,९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
१८	१	२९	२	८४,८८	५	२३,२५,२६,२९,३०
१९	१	३०	१	९३	२	२९,३१
२०	१	३०	१	९१	२	२८,२९ (नरक सम्मुख तीर्थ० प्रकृति युक्त)
२१	१		३	८८,९०,९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२२	१	३०	१	८४	५	२३,२५,२६,२९,३०
२३	१	३१	३	८८,९०,९२	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२४	१	३१	१	८४	५	२३,२५,२६,२९,३०
२५	१	३०	४	९०,९१,९२,९३		(उपशान्त कषाय)
२६	१	३०	४	७७,७८,७९,८०		(क्षीण मोह)
२७	२	३०,३१	४	"		(सयोग केवली)
२८	२	८,९	४	"		(अयोग केवली)
२९	२	८,९	२	९,१०		(अयोग केवली)

६. नामकर्मकी त्रिसंयोगी ओघप्ररूपणा

(पं.सं./प्रा./५/३९९-४१७); (पं.सं.सं./५/४११-४२८); (गो.क./६९२-७०३/८७२-८७७)

क्रम	गुण स्थान	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान	
		कुल स्थान	स्थानविशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	मिथ्यात्व	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	६	८२,८४,८८ ९०,९१,९२
२	सासादन	३	२८,२९,३०	७	२१,२४,२५,२६,२९,३०,३१	१	९०
३	सम्यग्मिथ्यात्व	२	२८,२९	३	२९,३०,३१	२	९०,९२
४	अवि० सम्य०	३	२८,२९,३०	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	४	९०,९१,९२,९३
५	देश विरत	२	२८,२९	२	३०,३१	४	९०,९१,९२,९३
६	प्रमत्त विरत	२	२८,२९	५	२५,२७,२८,२९,३०	४	,,
७	अप्रमत्त ,,	४	२८,२९,३०,३१	१	३०	४	,,
८	अपूर्वकरण	५	२८,२९,३०,३१,१	१	,,	४	,,
९	अनिवृत्तिकरण	१	१	१	,,	८	९०,९१,९२,९३ उपशामक ७७,७८,७९,८० क्षपक
१०	सूक्ष्म साम्पराय	१	,,	१	,,	८	उपरोक्त वत्
११	उपशान्त कषाय			१	,,	४	९०,९१,९२,९३
१२	क्षीण मोह			१	,,	४	७७,७८,७९,८०
१३	सयोग केवली			२	३०,३१	४	,,
	समुद्० केवली			१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८	६	७७,७८,७९,८०,९,१०
१४	अयोग ,,			२	९,८	६	,,

७. जीव समासोंकी अपेक्षा नामकर्म स्थानोंकी त्रिसंयोगी प्ररूपणा

(पं.सं./प्रा./५/२६८-२८०); (पं.सं./सं./५/२९४-३०६); (गो.क./७०४-७११/८७८-८८१)

क्रम	जीव समास	बन्ध कुल स्थान	बन्ध स्थानविशेष	उदय कुल स्थान	उदय स्थान विशेष	सत्त्व कुल स्थान	सत्त्व स्थान विशेष
१	लब्ध्यपर्याप्त—						
	सूक्ष्म एके०	५	२३,२५,२६,२९,३०	१	२१	५	८२,८४,८८,९०,९२
	बा० एके०	५	,,	१	२४	५	,,
	विकलेन्द्रिय	५	,,	२	२४,२६	५	,,
	असंज्ञी पंचें०	५	,,	२	,,	५	,,
	संज्ञी ,,	५	,,	२	,,	५	,,
२	पर्याप्त						
	सूक्ष्म एके०	५	२३,२५,२६,२९,३०	४	२१,२४,२५,२६	५	८२,८४,८८,९०,९२
	बादर ,,	५	,,	५	२१,२४,२५,२६,२७	५	,,
	विकलेन्द्रिय	५	,,	६	२१,२४,२८,२९,३०,३१	५	,,
	असंज्ञी पंचें०	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	६	,,	५	,,
	संज्ञी ,,	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२,९३

८. नामकर्म स्थानोंकी त्रिसंयोगी आदेश प्ररूपणा

(पं.सं./प्रा./५/१२-२५२,४६६-४७१); (पं.सं./सं./५/६०-२७०,४३१-४४१); (गो.क./७१२-७३८/८८१-८८७)

क्रम	मार्गणा	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान	
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	**गति मार्गणा**						
१	नरकगति	२	२९,३०	५	२१,२५,२७,२८,२९	३	९०,९१,९२
२	तिर्यञ्चगति	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८, २९,३०,३१	५	८२,८४,८४,८८,९०,९१
३	मनुष्यगति	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	११	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०, ३१,९,८	१२	७७,७८,७९,८०,८४,८८,९०,९१, ९२,९३,९,१०
४	देवगति	४	२५,२६,२९,३०	५	२१,२५,२७,२८,२९	४	९०,९१,९२,९३
२	**इन्द्रिय मार्गणा**						
१	एकेन्द्रिय	५	२३,२५,२६,२९,३०	५	२१,२४,२५,२६,२७	५	८२,८४,८८,९०,९२
२	विकलेन्द्रिय	५	”	६	२१,२६,२८,२९,३०,३१	५	”
३	पंचेन्द्रिय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	११	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०, ३१,९,८ (पं.सं.में २० का स्थान नहीं)	१३	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२,९३,९,१०
३	**काय मार्गणा**						
१	पृथिवी काय	५	२३.२५,२६,२९,३०	५	२१,२४,२५,२६,२७	५	८२,८४,८८,९०,९२
२	अप काय	५	”	५	”	५	”
३	तेज काय	५	”	४	२१,२४,२५,२६	५	”
४	वायु काय	५	”	४	”	५	”
५	वनस्पति काय	५	”	५	२१,२४,२५,२६,२७	५	”
६	त्रस काय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	११	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०, ३१,९,८ (पं.सं.में २० का स्थान नहीं)	१३	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२,९३,९,१०
४	**योग मार्गणा**						
१	४ प्रकार मनोयोग	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	३	२९,३०,३१	१०	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२,९३
२	” ” वचनयोग	८	”	३	”	१०	”
३	औदारिक काययोग	८	”	७	२५,२६,२७.२८,२९,३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२,९३
४	औदारिक मिश्रयोग	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	३	२४,२६,२७ (पं. सं, में २७ का स्थान नहीं)	११	”
५	वैक्रियक काययोग	४	२५,२६,२९,३०	३	२७,२८,२९	४	९०,९१,९२;९३
६	वैक्रियक मिश्रयोग	४	” (पं.सं. में २५, २६ नहीं है)	१	२५	४	”
७	आहारक काययोग	२	२८,२९	३	२७,२८,२९	२	९२,९३
८	आहारक मिश्रयोग	२	”	१	२५	२	”
९	कार्माण काययोग	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	२	२०,२१, (पं.सं.में २० नहीं है)	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२,९३
५	**वेद मार्गणा**						
१	स्त्री वेद	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	८	२१;२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	९	७७,७९,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
२	पुरुष वेद	८	”	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०, ९१,९२.९३
३	नपुंसक वेद	८	”	९	२१,२४,२५ ,२६ ,२७,२८,९,३०,३१	९	७७,७९,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३

क्रम	मार्गणा	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान	
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
६	**कषाय मार्गणा**						
१	क्रोधादि चारों कषाय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०, ३१,१	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३० ३१	११	९,८०,८२,८४,८८, ९०,९१,९२,९३
७	**ज्ञान मार्गणा**						
१	मति श्रुत अज्ञान	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९, ३०,३१	६	८२,८४,८८,९०,९१,९२
२	विभङ्ग ज्ञान	६	"	३	२९,३०,३१	३	९०,९१,९२
३	मति श्रुत अवधि	५	२८,२९,३०,३१,१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,	८	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३
४	मनःपर्यय	५	"	१	३०	८	"
५	केवल			१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१ ८,९ (पं.सं. में ४ स्थान ३०, ३१,९,८)	६	७७,७८,७९,८०,९,१०
८	**संयम मार्गणा**						
१	सामायिक छेदोपस्था०	५	२८,२९,३०,३१,१	५	२५,२७,२८,२९,३०	८	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३
२	परिहार विशुद्धि	४	२८,२९,३०,३१	१	३०	४	९०,९१,९२,९३
३	सूक्ष्म साम्पराय	१	१	१	३०	८	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३
४	यथाख्यात			१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०, ३१,८ (पं. सं० में ३०,३१, ८,९ ये चार हैं)	१०	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२, ९३,९,१०
५	देश संयत	२	२८,२९	२	३०,३१	४	९०,९१,९२,९३
६	असंयत	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०.	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९, ३०,३१	७	८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
९	**दर्शन मार्गणा**						
१	चक्षुर्दर्शन	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०, ३१,१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८, ९०,९१,९२,९३
२	अचक्षुर्दर्शन	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०, ३१,१	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९, ३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८, ९०,९१,९२,९३
३	अवधि दर्शन	५	२८,२९,३०,३१,१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	८	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३
४	केवल दर्शन			१०	२०,२१,२६,२७,२८,२९,३०, ३१,८,९ (पं. सं. में ३०, ३१,९,८ के ४ स्थान है)	६	७७,७८,७९,८०,९,१०
१०	**लेश्या मार्गणा**						
१	कृष्ण, नील, कापोत	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९, ३०,३१	७	८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
२	पीत या तेज लेश्या	६	२५,२६,२८,२९,३०;३१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	४	९०,९१,९२,९३
३	पद्म लेश्या	४	२८,२९,३०,३१	८	"	४	"
४	शुक्ल लेश्या	५	२८,२९,३०,३१,१	९	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९, ३०, ३१, [(पं. सं. में २० का स्थान नहीं) }	८ ६	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३
५	अलेश्य			२	९,८		७७,७८,७९,८०,९,१०

क्रम	मार्गणा	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान	
		कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
११	**भव्य मार्गणा**						
१	भव्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	१२	२०,२१,२४,२५,२६,२७,२८ २९,३०,३१,८,९ (पं. सं.में २०,९,८ के स्थान नहीं)	१३	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८, ९०,९१,९२,९३,९,१० (पं० (सं० में ९,१० के स्थान नहीं)
२	अभव्य	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	४	८२,८४,८८,९०
३	न भव्य न अभव्य			४	३०,३१,९,८	६	७७,७८,७९,८०,९,१०
१२	**सम्यक्त्व मार्गणा**						
१	उपशम सम्यक्त्व	५	२८,२९,३०,३१,१	५	२१,२५,२९,३०,३१	४	९०,९१,९२,९३
२	वेदक सम्यक्त्व	४	२८,२९,३१,३१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	४	,,
३	क्षायिक ,,	५	२८,२९,३०,३१,१	११	२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,९,८	१०	७७,७८,७९,८०,९०,९१,९२,९३,९,१०
४	सासादन ,,	३	२८,२९,३०	७	२१,२४,२५,२६,२९,३०,३१	१	९०
५	सम्यग्मिथ्यात्व	२	२८,२९	३	२९,३०,३१	२	९०,९२
६	मिथ्यात्व	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	६	८२,८४,८८,९०,९१,९२
१३	**संज्ञी मार्गणा**						
१	संज्ञी	८	२३,२५,२६,२७ २९,३०,३१,१	८	२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
२	असंज्ञी	६	२३,२५,२६,२८,२८,३०	९	२१,२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१ (पं० सं० में २५,२७ के स्थान नहीं)	५	८२,८४,८८,९०,९२
१४	**आहारक मार्गणा**						
१	आहारक	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१	८	२४,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१	११	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३
२	अनाहारक सामान्य	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०	४	२०,२१,९,८ (पं० सं० में २० का स्थान नहीं)	१३	७७,७८,७९,८०,८२,८४,८८,९०,९१,९२,९३,९,१०
३	अनाहारक अयोगी			२	८,९	२	९,१०

९. औदयिक भाव निर्देश

१. औदयिक भावका लक्षण

स. सि./२/१/१४९/६ उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। एवं......... औदयिकः। –जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपशमिक भाव है। इसी प्रकार औदयिक भावकी भी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। अर्थात् उदय ही है प्रयोजन जिसका सो औदयिक भाव है। (रा. वा./२/१/६/१००/२४)।

ध.१/१,१,८/१६१/१. कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः। –जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं। (ध. ५/१,७,१/१८५/१३); (पं. का./ त. प्र./५६/१०६); (गो. क/मू/८१५/९८८); (गो. जी./जी.प्र/८/२९/१२); (पं. ध/उ./९७०, १०२४)।

२. औदयिक भावके भेद

त. सू/२/६ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदः। ६। –औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं–चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ। (प. ख/१४/१५/१०); (स.सि./२/६/१५६); (रा. वा./२/६/१०८); (ध. ५/१,७,१/६/१८६); (गो. क./मू./८१८/९८६); (न. च. वृ/ ३७०); (त. सा /२/७); (नि. सा./ता. वृ./४१); (पं. ध./उ./९७३-९७५)

३. मोहजनित औदयिक भाव ही बन्धके कारण हैं अन्य नहीं।

ध. ७/२,१,७/९/९ जदि चत्तारि चेव मिच्छत्तादीणि बंधकारणाणि होंति तो–'ओदइया बंधयरा उवसम-खयमिस्सया य मोक्खयरा। .../३।' एदीए सुत्तगाहाए सह विरोहो होदि त्ति वुत्ते ण होदि, ओदइया बंधयरा त्ति वुत्ते ण सव्वेसिमोदइयाणं भावाणं, गहणं, गदिजादिआदीणं पि ओदइयभावाणं बंधकारणप्पसंगादो। –प्रश्न–यदि ये ही मिथ्यात्वादि (मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग) चार बन्धके कारण हैं तो–'औदयिक भाव बन्ध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्षके कारण हैं...' इस सूत्रगाथाके साथ विरोधको प्राप्त होता है। उत्तर–विरोध नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि, 'औदयिक भाव बन्धके कारण हैं' ऐसा कहने पर सभी औदयिक भावोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, वैसा माननेपर गति, जाति आदि नामकर्म सम्बन्धी औदयिक भावोंके भी बन्धके कारण होनेका प्रसंग आ जायेगा।

४. वास्तवमें मोहजनित भाव ही औदायिक हैं, उसके बिना सब क्षायिक हैं।

प्र. सा./मू/४५ पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा। मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा।४५।

प्र. सा./त.प्र. /४५ क्रिया तु तेषां ...औदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्द्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव। –अर्हन्त भगवान् पुण्यफलवाले हैं, और उनकी क्रिया औदयिकी है; मोहादिसे रहित है, इसलिए वह क्षायिकी मानी गयी है।४५। अर्हन्त भगवान्‌की विहार व उपदेश आदि सब क्रियाएँ यद्यपि पुण्यके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिकी ही हैं। किन्तु ऐसी होनेपर भी वह सदा औदयिकी क्रिया, महामोह राजाकी समस्त सेनाके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होती है, इसलिए मोह रागद्वेष रूपी उपरंजकोंका अभाव होनेसे चैतन्यके विकारका कारण नहीं होती इसलिए कार्यभूत बन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिए।

पं. ध./उ/१०२४-१०२५ न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम्। यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोऽस्त्यौदयिकोऽखिलः।१०२४। तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रादितो यथा। वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः।१०२५। –इसी न्यायसे मोहादिक घातिया कर्मोंके उदयसे तथा अघातिया कर्मोंके उदयसे आत्मामें जितने भी भाव होते हैं, उतने वे सब औदयिक भाव हैं। १०२४। परन्तु इन भावोंमें भी यह भेद है कि केवल मोहजन्य वैकृतिक भाव ही सच्चा विकार युक्त भाव है और बाकीके सब लोकरूढिसे विकारयुक्त औदयिक भाव हैं ऐसा समझना चाहिए।१०२५।

उदयकाल–दे० काल/१।

उदय देव–(जीवन्धर चरित्र प्र. ८/A.N. up) आप ई० १०२५-१०५० के एक दिगम्बर आचार्य थे। वादीभसिंह आपकी उपाधि थी–दे० वादीभसिंह।

उदयनाचार्य–नैयायिक भाष्यकार–दे० न्याय/१/४।

उदय पर्वत–विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर–दे० विद्याधर।

उदयसेन–१. लाड़बागड़ संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/२५) आप गुणसेन प्रथमके शिष्य तथा नरेन्द्रसेनके सधर्मा थे। समय–वि० ११५५ (ई० १०९८) २. उपरोक्त ही संघकी गुर्वावलीमें नरेन्द्रसेनाचार्यके शिष्य। समय–वि. ११८० (ई० ११२३/A.N. up) (सिद्धान्तसार संग्रह की प्रशस्ति/१२।८८-९५); (आ० जयसेनकृत धर्मरत्नाकर ग्रन्थकी प्रशस्ति); (सिद्धान्तसार संग्रह/प्र.९/A.N. up)

उदया–(भारतीय इतिहास १/५०१) शिशु नागवंशी एक राजा।

उदयादित्य–(द. सा./प्र. ३६/प्रेमी जी) भोजराजकी वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास/३/४) यह राजा जयसिंह का पुत्र तथा नरवर्माका पिता था। मालवा देशका राजा था। धारा नगरी या उज्जैनी इसकी राजधानी थी। समय–वि. १११५-११५० (ई० १०५८-१०९३)।

उदयाभावी क्षय–दे० क्षय।

उदयावली–दे० आवली।

उदराग्नि प्रशमन वृत्ति–दे० भिक्षा/१/७।

उदासीन निमित्त–लक्षण–दे० निमित्त/१/ इसकी कथंचित मुख्यता–गौणता सम्बन्धी विषय–दे० कारण III

उदाहरण–दे० दृष्टान्त।

उदीच्य–उत्तर दिशा।

उदीरणा—कर्मके उदयकी भाँति उदीरणा भी कर्मफलकी व्यक्तता-का नाम है। परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि किन्हीं क्रियाओं या अनुष्ठान विशेषोंके द्वारा कर्मको अपने समयसे पहले ही पका लिया जाता है। या अपकर्षण द्वारा अपने कालसे पहले ही उदयमें ले आया जाता है। शेष सर्व कथन उदयवत् ही जानना चाहिए। कर्म प्रकृतियोंके उदय व उदीरणाकी प्ररूपणाओंमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो है वह इस अधिकारमें दरशा दिया गया है।

१. उदीरणाका लक्षण व निर्देश

१. उदीरणाका लक्षण

पं. सं./प्रा /३/३···/भुंजणकालो उदओ उदीरणापक्कपाचणफलं।—कर्मों-के फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं और अपक्वकर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं। (प्र, सं./सं/३/३-४)

ध. १५/४३/७ का उदीरणा णाम। अपक्कपाचणमुदीरणा। आवलियाए बाहिरट्ठिदिमादिं कादूण उवरिमाणं ठिदीणं बंधावलियवदिक्कंत-पदेसग्गमसंखेज्जलोगपडिभागेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागपडि-भागेण वा ओकड्डिदूण उदयावलियाए देदि सा उदीरणा। =प्रश्न—उदीरणा किसे कहते हैं। उत्तर—(अपक्व अर्थात्) नहीं पके हुए कर्मोंकी पकानेका नाम उदीरणा है। आवली (उदयावली) से बाहर-की स्थितिको लेकर आगेकी स्थितियोंके, बन्धावली अतिक्रान्त प्रदेशाग्रको असंख्यातलोक प्रतिभागसे अथवा पल्योपमके असंख्यातवें भाग रूप प्रतिभागसे अपकर्षण करके उदयावलीमें देना, यह उदीरणा कहलाती है। (ध.६/१,९-८,४/२१४); (गो.क./जी.प्र./४३९/५९२/८)

पं. सं./प्रा. टी./३/४९/५ उदीरणा नाम अपक्वपाचनं दीर्घकाले उदे-ष्यतोऽग्रनिषेकाद् अपकृष्याल्पस्थितिकाधस्तननिषेकेषु उदयावल्यां दत्वा उदयमुखेनानुभूय कर्मरूपं त्याजयित्वा पुद्गलान्तररूपेण परि-णमयतीत्यर्थः। =उदीरणा नाम अपक्वपाचनका है। दीर्घकाल पीछे उदय आने योग्य अग्रिम निषेकोंको अपकर्षण करके, अल्प स्थिति-वाले अधस्तननिषेकोंमें या उदयावलीमें देकर, उदयमुख रूपसे उनका अनुभव कर लेनेपर वह कर्मस्कन्ध कर्मरूपको छोड़कर अन्य पुद्गलरूपसे परिणमन कर जाता है। ऐसा तात्पर्य है।

२. उदीरणाके भेद

ध. १५/४३/१ उदीरणा चउव्विहा—पयडि-ट्ठिदि-अणुभागपदेसउदीरणा चेदि। —उदीरणा चार प्रकारकी है—प्रकृतिउदीरणा, स्थितिउदी-रणा, अनुभागउदीरणा, और प्रदेशउदीरणा।

३. उदय व उदीरणाके स्वरूपमें अन्तर

पं. सं./प्रा./३/३ भुंजणकालो उदओ उदीरणापक्कपाचणकालं। —कर्मका फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं और अपक्व कर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं।

ध, ६/१,९-८,४/२१३/११ उदय-उदीरणाणं को विसेसो। उच्चदे—जे कम्म-क्खंधा ओकड्डुक्कड्डुणादिपओगेण विणा ट्ठिदिक्खयं पाविदूण अप्प-प्पणो फलं देंति; तेसिं कम्मक्खंधाणमुदओ त्ति सण्णा। जे कम्मक्खंधा महंतेसु ट्ठिदि-अणुभागेसु अवट्ठिदा ओकड्डिदूण फलदाइणो कीरंति, तेसिमुदीरणा त्ति सण्णा, अपक्कपाचनस्य उदीरणाव्यपदेशात्। —प्रश्न—उदय और उदीरणामें क्या भेद है। उत्तर—कहते हैं—जो कर्म-स्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोगके बिना स्थिति क्षयको प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं, उन कर्मस्कन्धोंकी 'उदय' यह संज्ञा है। जो महान् स्थिति और अनुभागोंमें अवस्थित कर्म-स्कन्ध *अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जाते हैं*, उन कर्मस्कन्धोंकी 'उदीरणा' यह संज्ञा है, क्योंकि, अपक्व कर्म-स्कन्ध पाचन करनेको उदीरणा कहा गया है। (क, पा. सुत्त./मू. गा. ५९/पृ. ४६५)

४. उदीरणासे तीव्र परिणाम उत्पन्न होते हैं

रा. वा./६/६/१-२/५११/३२ बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परि-णामः तीव्रनात् स्थूलभावात् तीव्र इत्युच्यते।१। अनुदीरणप्रत्ययसंनि-

धानात् उत्पद्यमानोऽनुद्रिक्तः परिणामो मन्दनात् गमनात् मन्दः इत्युच्यते। –बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे कषायोंके उदीरणा होनेपर अत्यन्त प्रवृद्ध परिणामोंको तीव्र कहते हैं। इससे वेपरीत अनुद्रिक्त परिणाम मन्द हैं। अर्थात् केवल अनुदीर्ण प्रत्यय (उदय) के सन्निधानसे होनेवाले परिणाम मन्द हैं।

७. उदीरणा उदयावलीको नहीं बल्कि सत्ताकी होती है

ध.१५/३४/१ णाणावरणीय-दंसणावरणीय-अंतराइयाणं मिच्छाइट्ठिमादिं कादूण जाव खीणकसाओ त्ति ताव एदे उदीरया। णवरि खीणकसायद्धाए समयाहियावलियसेसाए एदासिं तिण्णं पयडीणं उदीरणा वोच्छिण्णा। –ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अन्तराय तीन कर्मोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त, ये जीव उदीरक हैं। विशेष इतना है कि क्षीण कषायके कालमें एक समय अधिक आवलीके शेष रहनेपर इन तीनों प्रकृतियोंकी उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है। (इसी प्रकार अन्य ४ प्रकृतियोंकी भी प्ररूपणा की गयी है। तहाँ सर्वत्र ही उदय व्युच्छित्तिवाले गुणस्थानकी अन्तिम आवली शेष रहनेपर उन-उन प्रकृतियोंकी उदीरणाकी व्युच्छित्ति बतायी है)।

पं. सं./प्रा. टी./४/२२६/पृ. १७८ अत्रापकपाचनमुदीरणेति वचनादुदयावलिकायां प्रविष्टायाः कर्मस्थितेर्नोदीरणेति मरणावलिकायामायुषः उदीरणा नास्ति। –'अपक्वपाचन उदीरणा है' इस वचनपर-से यह बात जानी जाती है कि उदयावलीमें प्रवेश किये हुए निषेकों या कर्मस्थितिकी उदीरणा नहीं होती है। इसी प्रकार मरणावलीके शेष रहनेपर उदीरणा नहीं होती है।

८. उदयगत प्रकृतियोंकी ही उदीरणा होती है

पं. सं./प्रा./४७३ उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो। मोत्तूण य इगिदालं सेसाणं सव्वपयडीणं। –वक्ष्यमाण ४१ प्रकृतियोंको छोड़कर (देखो आगे उदीरणा /२/२) शेष सर्व प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। **विशेषार्थ**—सामान्य नियम यह है कि जहाँपर जिस कर्मका उदय होता है, वहाँपर उस कर्मकी उदीरणा अवश्य होती है—किन्तु इसमें कुछ अपवाद है (देखो आगे उदीरणा/२/२); (पं. सं./अं./५/४४२)

ल. सा./जी.प्र. व भाषा/३०/६७/३ पुनरुदयवतां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां चतुर्णामुदीरको भवति स जीवः, उदयोदीरणयोः स्वामिभेदाभावात्। –प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग जे उदयरूप कहे तिनिहीका यहु उदीरणा करनेवाला हो है जाते जाकैं जिनिका उदय ताकौं तिनिहीको उदीरणा भी संभवै।

२. कर्म प्रकृतियोंकी उदीरणा व उदीरणा स्थान प्ररूपणाएँ

१. उदय व उदीरणाकी प्ररूपणाओंमें कथंचित् समानता व असमानता

पं. सं./प्रा./३/४४-४७ उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जइ विसेसो। मोत्तूण तिण्णि-ठाणं पमत्त जोई अजोई य।४४। –स्वामित्वकी अपेक्षा उदय और उदीरणामें प्रमत्त विरत, सयोगि केवली और अयोगिकेवली इन तीन गुणस्थानोंको छोड़कर कोई विशेष नहीं है। (गो. क./मू./२७८/४०७); (कर्मस्त०/३८-३६)

पं. सं./प्रा./५/४७३ उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो। मोत्तूण य इगिदालं सेसाणं सव्वपयडीणं।४७३। –वक्ष्यमाण इकतालीस प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। (पं. सं./प्रा./५/४७३-४७५); (गो. क./मू./२७८-२८१); (कर्मस्त०/३६-४३); (पं. सं./सं./३/५६-६०).

अपवाद संख्या	अपवाद गत ४१ प्रकृतियाँ
१	साता, असाता व मनुष्यायु इन तीनकी उदय व्युच्छित्ति १४वें गुणस्थानमें होती है पर उदीरणा व्युच्छित्ति ६ठे में।
२	मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यश, तीर्थंकर, उच्चगोत्र इन १० प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छित्ति १४वें में होती है पर उदीरणा व्युच्छित्ति १३वें में।
३	ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५, इन १४ की उदय व्युच्छित्ति १२वें में एक आवली काल पश्चात् होती है और उदीरणा व्युच्छित्ति तहाँ ही एक आवली पहले होती है।
४	चारों आयु का उदय भवके अन्तिम समय तक रहता परन्तु उदीरणाकी व्युच्छित्ति एक आवली काल पहले होती है:
	पाँचों निद्राओं का शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेके पश्चात् इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होनेतक उदय होता है उदीरणा नहीं।
६	अन्तरकरण करनेके पश्चात् प्रथम स्थितिमें एक आवली शेष रहनेपर—उपशम सम्यक्त्व सन्मुखके मिथ्यात्वका; क्षायिक सम्यक्त्व सन्मुखके सम्यक्प्रकृतिका; और उपशम श्रेणी आरूढ़के यथा योग्य तीनों वेदोंका (जो जिस वेदके उदयसे श्रेणी चढ़ा है उसके उस वेदका) इन सात प्रकृतियोंका उदय होता है उदीरणा नहीं।
७	जिन प्रकृतियोंका उदय १४वें गुणस्थान तक होता है उनकी उदीरणा १३वें तक होती है (देखो ऊपर नं. २)

इन सात अपवादवाली कुल प्रकृतियाँ ४१ हैं—इनको छोड़कर शेष १०७ प्रकृतियोंकी उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई भेद नहीं।

२. उदीरणा व्युच्छित्तिकी ओघ आदेश प्ररूपणा

(पं. सं./प्रा./परिशिष्ट/पृ. ७४८); (पं. सं./प्रा./३/४४-४८, ५६-६०); (गो. क./२७८-२८१/४०७-४१०)

* उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ—उदय योग्यवाली ही = १२२, संकेत = प्रकृतियोंके छोटे नाम (देखो उदय/६/१)

गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदीरणा	पुनः उदीरणा	उदीरणा योग्य	अनुदीरणा	पुनः उदीरणा	कुल उदीरणा	व्युच्छित्ति
	ओघ प्ररूपणा							
१	आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, मिथ्यात्व =५	तीर्थ, आहा० द्वि० सम्य०, मिश्र =५		१२२	५		११७	५
२	१-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्तानुबन्धी चतुष्क =९	नारकानुपूर्वी =१		११२	१		१११	९
३	मिश्र मोहनीय =१	मनु० तिर्यं० देव-आनु० =३	मिश्र मोह =१	१०२	३	१	१००	१
४	अप्र० चतु, वैक्रि० द्वि, नरक त्रिक, देव त्रिक, मनु० तिर्यं० आनु०, दुर्भग, अनादेय, अयश =१७		चारों आनु०, सम्य० =५	९९	५	५	१०४	१७
५	प्रत्या० चतु०, तिर्यं०, आयु, नीचगोत्र, तिर्यं० गति, उद्योत =८			८७			८७	८
६	आहा० द्वि, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, साता असाता, मनुष्यायु =८		आहा० द्वि =२	७९		२	८१	८
७	सम्य० मोह, अर्धनाराच, कीलित, सृपाटिका =४			७३			७३	४
८/१	हास्य, रति, भय, जुगुप्सा =४			६९			६९	४
८/अन्त	अरति, शोक =२			६५			६५	२
९/१-५	सवेद भाग में तीनों वेद =३			६३			६३	३
९/६	क्रोध =१			६०			६०	१
९/७	मान =१			५९			५९	१
९/८	माया =१			५८			५८	१
९/९	लोभ (बादर) =×			५७			५७	
१०	लोभ (सूक्ष्म) =१			५७			५७	१
११	वज्र नाराच, नाराच =२			५६			५६	२
१२/i	(द्वि चरम समय) निद्रा, प्रचला =२			५४			५४	२
१२/ii	(चरम समय) ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय =१४			५२			५२	१४
१३	(नाना जीवापेक्षा) :—वज्रऋषभनाराच, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त, अप्रशस्त विहायो, औदा० द्वि, तैजस कार्माण, ६ संस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक शरीर =२९ मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थंकर, उच्चगोत्र =१० — ३९		तीर्थंकर =१	३८		१	३९	३९
	आदेशप्ररूपणा							
	(यथा योग्य रूपसे उदयवत् जान लेना, केवल ओघवत् ६ठें, १३वें व १४वें गुणस्थानमें निर्दिष्ट अन्तर डाल देना)							

३. उत्तर प्रकृति उदीरणाकी ओघ प्ररूपणा

(पं. सं./प्रा./३/६-७); (रा. वा./९/३६/९/६३१); (पं. सं./३/१४-१६)

गुण स्थान	कुल उदीरणा योग्य	प्रकृत गुण स्थानकी अवस्थामें कभी भी		प्रकृत गुण स्थानमें अन्यतम प्रकृति की		मारण काल १ आवली पूर्व	
		कुल प्रकृति	विशेष	कुल प्रकृति	विशेष	कुल प्रकृति	विशेष
१	१८	९	१-४ इन्द्रिय जाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण	९	अनन्तानुबन्धी चतुष्क, चारों आनुपूर्वी, मनुष्यायु	१	मनुष्यायु
२	९			९	,,		
३	१	१	सम्यग्मिथ्यात्व				
४	१८	८	अप्रत्याख्यानावरण ४, नरक व देवगति वैक्रियक शरीर व अंगोपांग	५	दुर्भग, अनादेय, अयश, सम्यक प्रकृति, मनुष्यायु	७	चारों आनुपूर्वी, मनुष्य-देव व नरक आयु
५	११	८	प्रत्याख्यानावरण ४, तिर्यंच गति, उद्योत, नीच गोत्र	२	सम्यक् प्रकृति, मनुष्यायु	२	मनुष्य व तिर्यंच आयु
६	९	५	निद्रा निद्रा. प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, साता असाता	४	सम्यक् प्रकृति, मनुष्यायु, आहारक शरीर व अंगोपांग	३	मनुष्यायु, आहारक शरीर व अंगोपांग
७	४	३	नीचेवाली तीनों संहनन	१	सम्यक्प्रकृति		
८	६	६	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा				
९	६	६	तीनों वेद, संज्वलन क्रोध. मान, माया				
१०	१	१	संज्वलन लोभ				
११	२	२	वज्र नाराच, नाराच संहनन				
१२/i	२					२	निद्रा, प्रचला
१२/ii	१४					१४	५ ज्ञानावरण, ४दर्शनावरण, ५ अन्तराय
१३	३८	३८	मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर व अंगोपांग, तैजस व कार्माण शरीर, छहों संस्थान, वज्रऋषभ नाराच संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, यश, निर्माण, उच्चगोत्र, तीर्थंकर				

४. एक व नानाजीवापेक्षा मूलप्रकृति उदीरणाकी ओघ आदेश प्ररूपणा—

१. ओघ प्ररूपणा (पं. सं/प्रा०/४/२२२-२२६); (पं. सं/सं/४/८६-९१); (शतक/२९-३२); (ध १५/४४)

नाम प्रकृति	गुण स्थान	एक जीवापेक्षया काल		एक जीवापेक्षया अन्तर		नाना जीवापेक्षया अल्प बहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	अल्प बहुत्व	विशेषका प्रमाण
आयु— (*केवल आवली काल अवशेष रहते)	१	१ या २ समय	१ आवली कम ३३ सागर	१ आवली	अन्तर्मुहूर्त	सर्वतः स्तोक	
स्व स्थितिके अन्त तक	२-६	,,	,,	,,	,,	,,	
वेदनीय	१-६	अन्तर्मुहूर्त	अर्ध० पु० परिव०	१ समय	,,	विशेषाधिक	अन्तिम आवलीमें संचित अनन्त
मोहनीय	१-१०	,,	,,	,,	,,	,,	७-१० गुण स्थान वाले जीव
ज्ञानावरणी	१-१२	अनादि सान्त	अनादि अनन्त	निरन्तर	—	,,	१-१२ ,, ,, ,,
दर्शनावरणी	१-१२	,,	,,	,,	—	उपरोक्तवत्	उपरोक्तवत्
अन्तराय	१-१२	,,	,,	,,	—	,,	,,
नाम	१-१३	,,	,,	,,	—	विशेषाधिक	सयोग केवली प्रमाण
गोत्र	१-१३	,,	,,	,,	—	उपरोक्तवत्	उपरोक्तवत्

२. आदेश प्ररूपणा (दे० ध. १५/४७)

५. मूल प्रकृति उदीरणा स्थान ओघ प्ररूपणा :

(पं. स./प्रा०/२/६); (पं. सं/प्रा०/४/२२८-२२६); (पं. सं/सं/२/१४); (पं. सं/सं/४/८६-९१); (शतक/२९-३२); (ध. १५/४८-५०)
संकेत—आ० = आवली,

भंग नं०	स्थानका विवरण	गुण स्थान	गुण स्थानके अन्त तक या कुछ काल शेष रहते	एक जीवापेक्षया काल		एक जीवापेक्षया अन्तर	
				जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
१	आठों कर्म	१-६	अन्त तक	१,२ समय	३३ सागर-१ आ०	१ आवली	अन्तर्मुहूर्त
२	आयु बिना ७ कर्म	१,२,४,५,६	अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर	,,	१ आवली	क्षुद्र भव-१ आवली	३३ सागर-१ आवली
×		३			यह गुण स्थान नहीं होता		—
३	आयु व वेदनी बिना ६	७-१०	अन्त तक	१, २ समय	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अर्ध० पु० परि०
४	आयु वेदनी व मोहके बिना—५ कर्म	१०	आ० शेष रहनेपर	,,	,,	,,	,,
	,,	११-१२	अन्त तक	,,	,,	,,	,,
५	नाम व गोत्र = २ कर्म	१२	आ० शेष रहने पर	अन्तर्मुहूर्त	कुछ कम १ पूर्व कोडि	निरन्तर	—
	,,	१३	अन्त तक	,,	,,	,,	—
		१४	,,				

भंग सं०	स्थानका विवरण	गुण स्थान	गुण स्थानके अन्त तक या कुछ काल शेष रहते	नाना जीवापेक्षया काल		नाना जीवापेक्षया अन्तर		अल्प बहुत्व
				जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	
१	आयु, मोह, वेदनीयके बिना ५ कर्म	११-१२		१ समय	अन्तर्मुहूर्त	१ समय	६ मास	सर्वतःस्तोक
२	नाम गोत्र २ कर्म	१३		सर्वदा	सर्वदा	निरन्तर	निरन्तर	सं० गुणे
३	आयु वेदनी बिना ६ कर्म	७		,,	,,	,,	,,	,,
४	आयु बिना ७ कर्म	१-६		,,	,,	,,	,,	अनन्त गुणे
५	सर्व ही ८ कर्म	,,		,,	,,	,,	,,	सं० गुणे

उदीर्ण—ध. १३/४,२,१०,२/३०३/३ फलदातृत्वेन परिणतः कर्मपुद्गल-स्कन्धः उदीर्णः। =फलदान रूपसे परिणत हुआ कर्म-पुद्गल स्कन्ध उदीर्ण हुआ कहा जाता है।

उद्गम—१. आहारका एक दोष—दे० आहार II/४; २. वसतिका का एक दोष—दे० वसतिका।

उद्दावण—(ध. १३/२,४,२२/४६/११) जीवस्य उपद्रवणं उद्दावणं णाम। =जीवका उपद्रव करना ओद्दावण कहलाता है।

उद्दिष्ट—२. आहारकका औद्देशिक दोष

१. दातार अपेक्षा

मू.आ./मू./४२५-४२६ देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं। कदमण्णसमुद्देसं चदुविधं वा समासेण ।४२५। जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो। समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ।४२६। =नाग यक्षादि देवताके लिए, अन्यमती पाखंडियोंके लिए, दीनजन कृपणजनोंके लिए, उनके नामसे बनाया गया भोजन औद्देशिक है। अथवा संक्षेपसे समौद्देशिकके कहे जानेवाले चार भेद हैं।४२५। १–जो कोई आयेगा सबको देंगे ऐसे उद्देशसे किया (लंगर खोलना) अन्न यावानुद्देश है; २. पाखंडी अन्यलिंगी-के निमित्तसे बना हुआ अन्न समुद्देश है; ३. तापस परिव्राजक आदिके निमित्त बनाया भोजन आदेश है; ४. निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओंके निमित्त बनाया गया समादेश दोष सहित है। ये चार औद्देशिकके भेद हैं।

प.पु./४/६१-६७ इत्युक्ते भगवानाह भरतेयं न कल्पते। साधूनामीदृशी भिक्षा या तदुद्देशसंस्कृता ।६५।=एक बार भगवान् ऋषभदेव ससंघ अयोध्या नगरीमें पधारे। तब भरत अच्छे-अच्छे भोजन बनवाकर नौकरके हाथ उनके स्थान पर ले गया और भक्ति-पूर्वक भगवान्से प्रार्थना करने लगा कि समस्त संघ उस आहारको ग्रहण करके उसे सन्तुष्ट करें। ६१-६४। भरतके ऐसा कहनेपर भगवान्ने कहा कि हे भरत! जो भिक्षा मुनियोंके उद्देश्यसे तैयार की जाती है, वह उनके योग्य नहीं है—मुनिजन उद्दिष्ट भोजन ग्रहण नहीं करते ।६५। श्रावकोंके घर ही भोजनके लिए जाते हैं और वहाँ प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षाको मौनसे खड़े रहकर ग्रहण करते हैं।६६-६७।

भ.आ./वि./४२१/६१३/८ श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं उद्देसिगमित्युच्यते। तच्च षोडशविधं आधाकर्मादिविकल्पेन। तत्परिहारो द्वितीयः स्थितिकल्पः। तथा चोक्तं कल्पे—सोलसविधमुद्देसं वज्जेदव्वंति पुरिमचरिमाणं। तित्थगराणं तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ हु। =मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं। उसके आधाकर्मादिक विकल्पसे सोलह प्रकार है। (देखो आहार II/४ में १६ उद्गमदोष)। उसका त्याग करना सो द्वितीय स्थिति कल्प है। कल्प नामक ग्रन्थ अर्थात् कल्पसूत्रमें इसका ऐसा वर्णन है—श्री आदिनाथ तीर्थंकर और श्री महावीर स्वामी (आदि और अन्तिम तीर्थंकरों) के तीर्थमें १६ प्रकारके उद्देशका परिहार करके आहारादि ग्रहण करना चाहिए, यह दूसरा स्थितिकल्प है।

स सा./ता.वृ./२८७ आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते।…अधःकर्मोपदेशिकं च पुद्गलमयत्वमेतद्द्रव्यं। = आहार ग्रहण करनेसे पूर्व उस पात्रके निमित्तसे जो कुछ भी अशनपानादिक बनाये गये हैं उन्हें औपदेशिक कहते हैं। अध.कर्म और औपदेशिक ये दोनों ही द्रव्य पुद्गलमयी हैं।

२. पात्रकी अपेक्षा

मू.आ./४८५,९२८ पगदा असओ जम्हा तम्हादो दव्वदोत्ति तं दव्वं। फासुगमिदि सिद्धे वि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु।४८५। पयणं वा पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि। जेमं-तोवि सघादी णवि समणो दिट्ठि संपण्णो ।९२८। =साधु द्रव्य और भाव दोनोंसे प्रासुक द्रव्यका भोजन करे। जिसमेंसे एकेन्द्रिय जीव निकल गये वह द्रव्य-प्रासुक आहार है। और जो प्रासुक आहार होनेपर भी 'मेरे लिए किया है' ऐसा चिन्तन करे वह भावसे अशुद्ध जानना। चिन्तन नहीं करना वह भाव-प्रासुक आहार ।४८५। पाक करनेमें अथवा पाक करानेमें पाँच उपकरणोंसे (पंचसूनासे) अधःकर्ममें प्रवृत्त हुआ, और अनुमोदनामें प्रवृत्त जो मुनि उस पचनादिसे नहीं डरता है, वह मुनि भोजन करता हुआ भी आत्मघाती है। न तो मुनि है और न सम्यग्दृष्टि है।९२८।

१. भावार्थ

उद्दिष्ट वास्तवमें एक सामान्यार्थ वाची शब्द है इसलिए इसका पृथक्से कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है। आहारके ४६ दोषोंमें जो अधः कर्मादि १६ उद्गम दोष हैं वे सर्व मिलकर एक उद्दिष्ट शब्दके द्वारा कहे जाते हैं। इसलिए 'उद्दिष्ट' नामक किसी पृथक् दोषका ग्रहण नहीं किया गया है। तिसमें भी दो विकल्प हैं—एक दातारकी अपेक्षा उद्दिष्ट और दूसरा पात्रकी अपेक्षा उद्दिष्ट। दातार यदि उपरोक्त १६ दोषोंसे युक्त आहार बनाता है तो वह द्रव्यसे उद्दिष्ट है; और यदि पात्र अपने चित्तमें, अपने लिए बनेका अथवा भोजनके उत्पादन सम्बन्धी किसी प्रकार विकल्प करता है तो वह भावसे उद्दिष्ट है। ऐसा आहार साधु-को ग्रहण करना नहीं चाहिए।

२. वसतिकाका दोष (भ.आ./वि./२३०।४४३/१३)

यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा, तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषंडिनामेवेति वा, श्रमणानामेवेति वा, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देसिगा वसदिति भण्यते। —'दीन अनाथ अथवा कृपण आवेंगे, अथवा सर्वधर्मके साधु आवेंगे, किंवा जैनधर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रन्थ मुनि आवेंगे उन सब जनोंको यह वसति होगी' इस उद्देश्यसे जो वसतिका बाँधी जाती है वह उद्देशिक दोषसे दुष्ट है।

३. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा (अ.ग.श्रा./७/७७)

यो बंधुराबंधुरतुल्यचित्तो, गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धं। उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो, विभीलुकः संसृति यातुधान्याः ॥७७॥ जो पुरुष भले बुरे आहारमें समान है चित्त जाका ऐसा जो पुरुष नवकोटिशुद्ध कहिये मन वचनकायकरि करया नाहीं कराया नाहीं करे हुएको अनुमोद्या नाहीं ऐसे आहारको ग्रहण करै है सो उद्दिष्ट त्यागी गुणवंतनिने कह्या है। कैसा है, सो संसार रूपी राक्षसीसे विशेष भयभीत है।

★ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाके भेद रूप क्षुल्लक व ऐलकका निर्देश—दे० श्रावक/१।

★ क्षुल्लक व ऐलकका स्वरूप—दे० वह वह नाम।

उद्देश्य—न्या.सू./भा./१/१/२/८/६ नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधान_मुद्देशः। —पदार्थोंके नाममात्र कथनको उद्देश कहते हैं। न्यायदी./१/§३ विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः। —विवेचनीय वस्तुके केवल नामोल्लेख करनेको उद्देश कहते हैं।

उद्देशिक—दे० उद्दिष्ट।

उद्देश्य—विवक्षित धर्मी।

उद्देश्यता—उद्देश्यमें रहनेवाला धर्म—जैसे घटमें घटत्व।

उद्देश्यतावच्छेदक—एक धर्मीको अन्य धर्मीसे व्यावृत्त करनेवाला 'त्व' प्रत्यय युक्त धर्म विशेष।

उद्धारदेव—भूत चौबीसीमें दसवें तीर्थंकर-दे० तीर्थंकर/५।

उद्धार पल्य—दे० गणित I/१।

उद्धार सागर—दे० सागर।

उद्धृत—(गो.जी./संदृष्टि अधिकार) भाग की हुई राशि।

उद्भाव—उत्पत्ति।

उद्भिन्न—१. आहारका एक दोष—दे० आहार II/४. २. वसतिका एक दोष—दे० वसतिका।

उद्भ्रान्त—प्रथम नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५।

उद्यवन—(भ.आ./वि./२/१४/१५) उत्कृष्टं यवनं उद्यवनं।...तत्कथं दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति।...असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवनं। —उत्कृष्ट मिश्रण होना उद्यवन है, अर्थात् आत्माकी सम्यग्दर्शनादि परिणति होना उद्यवन शब्दका अर्थ है। प्रश्न—सम्यग्दर्शनादि तो आत्मासे अभिन्न हैं, तब उनका उसके साथ सम्मिश्रण होना कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—यहाँ पर उद्यवन शब्दका सामान्य सम्बन्ध ऐसा अर्थ समझना चाहिए। अर्थात् बारम्बार सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे आत्माका परिणत हो जाना उद्यवन शब्दका अर्थ है।

अन.ध./१/९६।१०४ दृष्टयादीनां मलनिरसनं द्योतनं तेषु शश्वद्वृत्तिः स्वस्योद्यवनमुदितं धारणं निस्पृहस्य। —दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चारों आराधनाओंमें लगनेवाले मलोंके दूर करनेको उद्योत कहते हैं। इन्हींमें इनके आराधकके नित्य एकतान होकर रहनेको उद्यवन कहते हैं।

उद्यापन—उपवासके पश्चात् उद्यापनका विधान।

—दे० प्रोषधोपवास/३।

उद्योत—१. आध्यात्मिक लक्षण

भ.आ./वि./१/१४/९ उद्योतनं शङ्कादिनिरसनं सम्यक्त्वाराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि...संशयप्रतिसंज्ञिताया अपाकृतिः।...अनिश्चयो वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदासः। यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतनं। भावनाविरहो मलं चारित्रस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतनं चारित्रस्य। तपसोऽसंयमपरिणामः कलङ्कतया स्थितिस्तस्यापाकृतिः संयमभावनया तपस उद्योतनं। —शंका कांक्षा आदि दोषोंको दूर करना यह उद्योतन है। इसको सम्यक्त्वाराधना कहते हैं। जिसको संशय भी कहते हैं ऐसी शंकादिको अपने हृदयसे दूर करना <u>(सम्यक्त्वका) उद्योतन</u> है। निश्चय न होना अथवा उलटा निश्चय होना, यह ज्ञानका मल है। जब निश्चय होता है, तब अनिश्चय नहीं रहता। यथार्थ वस्तुज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है। यह <u>ज्ञानका उद्योतन</u> है। भावनाओंका त्याग होना चारित्रका मल है अर्थात् भावनाओंमें तत्पर होना ही <u>चारित्रका उद्योतन</u> है। असंयम परिणाम होना, यह तपका कलंक है। संयम-भावनामें तत्पर रहकर उस कलंकको हटाकर तपश्चरण निर्मल बनाना <u>तपका उद्योतन</u> है।

भौतिक लक्षण—(स. सि./५/२४/२९६/१०) उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिप्रभवः प्रकाशः। —चन्द्र, मणि और जुगनू आदिके निमित्तसे जो प्रकाश पैदा होता है उसे उद्योत कहते हैं। (रा.वा./५/२४/१९/४८९/२१), (त. सा./३/७१), (द्र.सं./टी./१६/५३)

ध.६/१,९-१,२८/६०/९ उद्योतनमुद्योतः। —उद्योतन अर्थात् चमकनेको उद्योत कहते हैं।

गो.क./मू./३३/२९ अणुण्हपहा उज्जोओ। —उष्णता रहित प्रभाको उद्योत कहते हैं।

२. उद्योत नाम कर्मका लक्षण

स.सि./८/११/६११/५ यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम। तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते। —जिसके निमित्तसे शरीरमें उद्योत होता है वह उद्योत नाम-कर्म है। वह चन्द्रबिम्ब और जुगनू आदिमें होता है। (रा.वा./८/११/१६/५७८/७); (ध.६/१,९-१,२८/६०/९); (ध.१३/५.५,१०१/३६५/१); (गो.क./जी.प्र.३३/२९/२१)

उद्योतन सूरि—आप 'कुवलयमाला' नाम ग्रन्थके रचयिता एक श्वेताम्बराचार्य थे। यह कृति आपने वि. ८३५ (ई. ७७८) में समाप्त की थी। (ह.पु./प्र.५/पं. पन्नालाल), (वरांगचरित्र/प्र.२१/पं. खुशालचन्द)

उद्वेग—नि.सा./ता.वृ./६ इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेगः। =इष्टके वियोगमें विक्लवभाव या घबराहटका भाव होना उद्वेग है।

उद्वेध—पृथिवी तलपर या नीचमें चौड़ाई।

उद्वेलन—दे० संक्रमण/४।

उद्वेल्लिम—तद्वयतिरिक्त द्रव्य निक्षेपका एक भेद।—दे० निक्षेप /५/६)

उन्मग्ना—विजयार्धककी दोनों गुफाओंमें स्थित नदी।

ति.प./४/२३८ णियजलपवाहपडिदं दव्वं गरुवं पि णेदि उवरिम्मि। जम्हा तम्हा भण्णइ उम्मग्गा वाहिणी एसा। =क्योंकि, यह अपने जलप्रवाहमें गिरे हुए भारीसे भारी द्रव्यको भी ऊपर ले आती है। इसलिए यह नदी उन्मग्ना कही जाती है। (रा.वा./३/१०/४/१९१/३३); (त्रि.सा./५९४)

★ **उन्मग्ना नदीका लोकमें अवस्थानादि**

—दे० लोक/३,७।

उन्मत्त—कायोत्सर्गका एक अतिचार—(दे० व्युत्सर्ग/१)।

उन्मत्तजला—पूर्व विदेह की एक विभंगा नदी। दे० लोक/७।

उन्मान—दे० प्रमाण/५।

उन्मिश्र—१. आहारका एक दोष—दे०आहार II/४; २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

उपकरण—ध.६/१,९,३३/२३६/२ उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् =जिसके द्वारा उपकार किया जाता है उसे उपकरण कहते हैं।

संयमोपकरण—(प्र.सा./ता.वृ./२२३/१) निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिद्धमुपकरणरूपोपधिं अप्रार्थनीयं—भावसंयमरहितस्यासंयतजनस्यानभिलषणीयम्। =निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गके सहकारीकारण रूपसे अप्रतिषिद्ध जो उपकरण रूप उपाधि वह भाव संयमसे रहित असंयत जनोंके द्वारा प्रार्थना या अभिलाषा की जाने योग्य नहीं होनी चाहिए।

★ **उपकरण इन्द्रिय**—दे० इन्द्रिय/१।

★ **जिन प्रतिमाके १०८ उपकरणद्रव्य**—दे० चैत्य/१/११।

उपकार—उपकारका सामान्य अर्थ निमित्त रूपसे सहायक होना है। वह दो प्रकार है—स्वोपकार व परोपकार। यद्यपि व्यवहार मार्गमें परोपकार की महत्ता है, पर अध्यात्म मार्गमें स्वोपकार ही अत्यन्त इष्ट है, परोपकार नहीं।

१. उपकार सामान्यका लक्षण

स.सि./५/१७/२८२/२ उपक्रियत इत्युपकारः। कः पुनरसौ। गत्युपग्रहः स्थित्युपग्रहश्च। =उपकारकी व्युत्पत्ति 'उपक्रियते' है। प्रश्न—यह उपकार क्या है? उत्तर—(धर्म द्रव्यका) गति उपग्रह और (अधर्म द्रव्यका) स्थिति उपग्रह, यही उपकार है।

२. स्व व पर उपकार (और भी दे० आगे नं० ३)

स.सि./७/३८/३७२/१३ स्वपरोपकारोऽनुग्रहः।...स्वोपकारः पुण्यसंचयः परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः। =स्वयं अपना अथवा दूसरेका उपकार करना अनुग्रह है। दान देनेसे जो पुण्यका संचय होता है वह अपना उपकार है (क्योंकि उसका फल भोग स्वयंको प्राप्त होता है); तथा जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्ज्ञानादिकी वृद्धि होती है, यह परका उपकार है, (क्योंकि इसका फल दूसरेको प्राप्त होता है। (रा.वा./७/३८/१/५५९/१५)।

३. उपकार व कर्तृत्वमें अन्तर

रा.वा./५/१७/१६/४६२/५ स्यादेतत्—गतिस्थित्योः धर्माधर्मौ कर्तारौ इत्ययमर्थः प्रसक्त इति; तन्न; किं कारणम्। उपकारवचनात्। उपकारो बलाधानम् अवलम्बनमित्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं भवति। यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद्गच्छतः यष्ट्याद्युपकारकं भवति न तु प्रेरकं तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्तं भवति। =प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्योंको गति स्थितिका उपकारक कहनेसे उनको गति स्थिति करानेका कर्तापना प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'उपकार' शब्द दिया गया है। उपकार, बलाधान व अवलम्बन इन शब्दोंका एक ही अर्थ होता है। अतः इसके द्वारा धर्म और अधर्म द्रव्योंका गति स्थिति उत्पन्न करनेमें प्रधान कर्तापनेका निषेध कर दिया गया। जैसे कि स्वयं अपने जंघाबलसे चलनेवाले अन्धेके लिए लाठी उपकारक है प्रेरक नहीं, उसी प्रकार अपनी अपनी शक्तिसे चलने अथवा ठहरने वाले जीव व पुद्गलद्रव्योंको धर्म और अधर्म उपकारक हैं प्रेरक नहीं।

४. उपकार करके बदला चाहना योग्य नहीं

कुरल/२२/१ नोपकारपराः सन्तः प्रतिदानजिघृक्षया। समृद्धः किमसौ लोको मेघाय प्रतियच्छति।१। =महापुरुष जो उपकार करते हैं, उसका बदला नहीं चाहते। भला संसार जल-बरसानेवाले बादलोंका बदला किस प्रकार चुका सकता है।

५. शरीरका उपकार अपना अपकार है और इसका अपकार अपना उपकार है।

इ.उ./१९ यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्। यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।१९। =जो तपादिक आचरण जीवका उपकारक है वह शरीरका अपकारक है। और जो धनादिक शरीरके उपकारक हैं वे जीवके अपकारक हैं।

अन.ध./४/१४१-१४२/४५७ योगाय कायमनुपालयतोऽपि युक्त्या, क्लेश्यो ममत्वहतये तव सोऽपि शक्त्या। भिक्षोऽन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात् तृष्णासरिद्विधुरयिष्यति सत्तपोऽद्रिम्।१४१। नैर्ग्रन्थ्यव्रतमास्थितोऽपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यव्यथा, भीरुर्जीवितवित्तलालसतया पञ्चत्वचेक्रीयितम्। याच्ञादैन्यमुपेत्य विश्वमहितां न्यक्कृत्य देवीं त्रपां, निर्मानो घनिनिष्ण्य संघटनयास्पृश्यां विधत्ते गिरम्।१४२। =हे चारित्रमात्रगात्र भिक्षो! योगसिद्धिके लिए पालते हुए भी इस शरीरको, युक्तिके साथ—शक्तिको न छिपाकर ममत्व बुद्धि दूर करनेके लिए क्लेश देकर कृश कर देना चाहिए। अन्यथा यह निश्चित जान कि यह तृष्णारूपी नदी, ऐन्द्रिय-सुख और जीवन-स्वरूप दो छिद्रोंको पाकर समीचीन तपरूपी पर्वतको जर्जरित कर डालेगी।१४१। नैर्ग्रन्थ्य व्रतको प्राप्त करके भी जो साधु शरीरके विषयमें स्नेह करता है, वह अवश्य ही सदा असह्य दुःखोंसे भयभीत रहता है। और इसीलिए वह जीवन व धनमें तीव्र लालसा रखकर, याचनाजनित दीनताको प्राप्त कर, अत्यन्त प्रभावयुक्त देवी लज्जाका अभिभव करके, अपनी जगत्पूज्य वाणीको अन्त्यजनोंके समान,

दयादाक्षिण्यादिसे रहित धनियोंसे सम्पर्क कराकर अस्पृश्य बना देता है ।१४२।

६. निश्चयसे कोई किसीका उपकार या अपकार नहीं कर सकता

स.सा./मू./२६६ दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह बिमोचेमि । जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ।२६६। =हे भाई ! मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छुड़ाता हूँ, ऐसी जो तेरी यह मूढ़मति है वह निरर्थक होनेसे वास्तवमें मिथ्या है।

यो सा./अ./५/१० निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः। रोषतोषौ न कुत्रापि कर्त्तव्याविति तात्त्विकैः। =इस आत्माका निग्रह या अनुग्रह करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, अतः किसीसे भी राग या द्वेष नहीं करना चाहिए।

७. स्वोपकारके सामने परोपकारका निषेध

मो.पा./मू./१६ परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सग्गई हवइ। इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ।१६। =परद्रव्यसे दुर्गति और स्वद्रव्यसे सुगति होती है, ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें रति करनी चाहिए और परद्रव्यसे विरत रहना चाहिए।

इ.उ./३२ परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव। उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ।३२। =हे आत्मन् ! तू लोकके समान मूढ़ बनकर दृश्यमान शरीरादि परपदार्थोंका उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अज्ञान है। अब तू परके उपकारकी इच्छा न कर, अपने ही उपकारमें लीन हो।

म.पु./३८/१७६ निःसङ्गवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपः। चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ।१७६। =जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है, जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है, उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नहीं करना चाहिए, अर्थात् अपने आत्माको छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिए।

८. परोपकार व स्वोपकारमें स्वोपकार प्रधान है

भ.आ./वि./१५४/३५१ में उद्धृत "अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं। अप्पहियपरहियादो अप्पहिदं सुट्ठु कादव्वं।" =अपना हित करना चाहिए। शक्य हो तो परका भी हित करना चाहिए, परन्तु आत्महित और परहित इन दोनोंमें-से कौन-सा मुख्यतया करना चाहिए ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अवश्य ही उत्तम प्रकारसे आत्महित करना चाहिए। (अन.ध./१/१२/२५ में उद्धृत), (पं.ध./उ./८०४ में उद्धृत)

पं.ध./उ./८०४,८०६ धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्त्तव्योऽनुग्रहः परे। नात्मव्रतं विहायस्तु तत्परः पररक्षणे ।८०४। तद्द्विधाथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्। प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ।८०६। =धर्मके आदेश और उपदेशके द्वारा ही दूसरे जीवोंपर अनुग्रह करना चाहिए। किन्तु अपने व्रतोंको छोड़ करके दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर नहीं होना चाहिए ।८०४। तथा वह वात्सल्य अंग भी स्व व परके विषयके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें-से अपनी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य प्रधान है तथा सम्पूर्ण पर-आत्माओंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो वात्सल्य है वह गौण है ।८०६। (ला.सं./४/३०५)

९. परोपकारकी कथंचित् प्रधानता

कुरल/११/१,२; २२/१० या दया क्रियते भव्यैराभारस्थापनं विना। स्वर्ग्यमर्त्याविभौ तस्याः प्रतिदानाय न क्षमौ ।१। शिष्टैरवसरं वीक्ष्य यानुकम्पा विधीयते। स्वल्पापि दर्शने किन्तु विश्वस्मात् सा गरीयसी ।२। उपकारो विनाशेन सहितोऽपि प्रशस्यते। विक्रीयापि निजात्मानं भव्योत्तम विधेहि तम् ।१०। =आभारी बनानेकी इच्छासे रहित होकर जो दया दिखाई जाती है, स्वर्ग और पृथिवी दोनों मिलकर भी उसका बदला नहीं चुका सकते ।१। अवसर पर जो उपकार किया जाता है, वह देखनेमें छोटा भले ही हो, पर जगत्में सबसे भारी है ।२। यदि परोपकार करनेके फलस्वरूप सर्वनाश उपस्थित हो तो दासत्वमें फँसनेके लिए आत्मविक्रय करके भी उसको सम्पादन करना उचित है।

भ.आ./मू./४८३/७०४ आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोए। कडुय फुरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए ।४८३। =जो पुरुष आत्महित करनेके लिए कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कटु और कठोर वचन तक सहकर परहित भी साधते हैं, वे जगत्में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए।

म.पु./३८/१६९-१७१ श्रावकानार्यिकासङ्घं श्राविकाः संयतानपि। सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् ।१६९। श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम्। धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत् प्रतिपादयेत् ।१७०। सद्वृत्तान् धारयन् सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन्। शोधयंश्च कृतादागोमलात् स बिभृयाद् गणम् ।१७१। =इस आचार्यको चाहिए कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंको समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह संघका पोषण करे ।१६९। उसे यह भी चाहिए कि वह शास्त्राध्ययनकी इच्छा करनेवालेको शास्त्र पढ़ावे तथा दीक्षार्थियोंको दीक्षा देवे और धर्मार्थियोंके लिए धर्मका प्रतिपादन करे ।१७०। वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोंको प्रेरित करे और दुराचारियोंको दूर हटावे। और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलको शोधता हुआ अपने आश्रितगणकी रक्षा करे ।१७१।

भ.आ./वि./२५७/५६१/१८ किन्न वेत्ति स्वयमपि इति नोपेक्षितव्यम्। परोपकारः कार्य एवेति कथयति। तथाहि—तीर्थकृतः विनेयजनसंबोधनार्थं एव तीर्थविहारं कुर्वन्ति। महत्ता नामैवं यत्—परोपकारबद्धपरिकरता॥ तथा चोक्तं—"क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः॥ दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवो जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये॥" ='क्या दूसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है?' ऐसा विचार करके दूसरोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिए। देखो तीर्थंकर परमदेव भव्य जनोंको उपदेश देनेके लिए ही तीर्थविहार करते हैं। परोपकारके कार्यमें कमर-कसना यही बड़प्पन है। कहा भी है—"जगत्में अपना कार्य करनेमें ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारों हैं, परन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है, ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाध ही हैं। बड़वानल अपना दुर्भर पेट भरनेके लिए समुद्रका सदा पान करता है, क्योंकि वह क्षुद्र मनुष्यके समान स्वार्थी है। किन्तु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीडित समस्त प्राणियोंका संताप मिटानेके लिए समुद्रका पान करता है। मेघ परोपकारी है और बड़वानल स्वार्थी है।

अन.ध./२/११/३५ पर उद्धृत "स्वदुःखनिर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः। निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः॥" =मुमुक्षु पुरुष अपने दुःखोंको दूर करनेके लिए अधिक प्रयत्न नहीं करते, किन्तु दूसरोंके दुःखोंको देखकर अधिक दुःखी होते हैं। और इसीलिए वे किसी भी प्रकारकी अपेक्षा न रखकर परोपकार करनेमें दृढ़ताके साथ सदा तत्पर रहते हैं।

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

* स्वोपकार व परोपकारका समन्वय—दे० उपकार/१/६।
* उपकारार्थ धर्मोपदेशका विधि निषेध—दे० 'उपदेश'।
* उपकारकी अपेक्षा द्रव्यमें भेदाभेद—दे० सप्तभंगी/५।
* उपकारक निमित्तकारण—दे० निमित्त/१।
* छः द्रव्योंमें परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव दे० कारण III/२।
* उपकार्य उपकारक सम्बन्ध निर्देश—दे० सम्बन्ध।

उपक्रम—

ध. १/१,१,१/७२/५ उपक्रम इत्यर्थमात्मनः उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः। =जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं। (ध ६/४,१,४५(१३४/१०); (क. पा. १/१,१/§१३/४)

म.पु/२/१०३ प्रकृतार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि। १०३। =प्रकृति-पदार्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें बैठा देना उपक्रम है। इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है।

२. उपक्रमके भेद

ध–१/१,१,१/ पृ. पं०
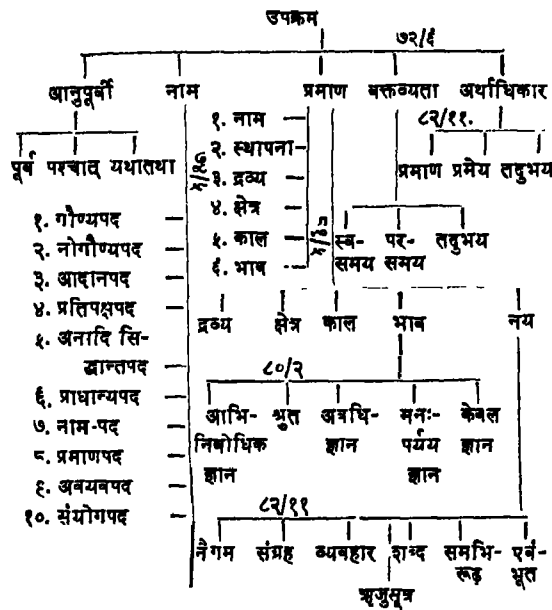
३. प्रक्रमका लक्षण

ध. १५/१६/३ प्रक्रामतीति प्रक्रमः कार्माणपुद्गलप्रचयः। —'प्रक्रामतीति प्रक्रमः' इस निरुक्तिके अनुसार कार्माण पुद्गल प्रचयको प्रक्रम कहा गया है।

४. उपक्रम व प्रक्रममें अन्तर

ध. १५/४२/४ पक्कम उवक्कमाणं को भेदो। पयडिट्ठिदि-अणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवणं पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण बंधबिदियसमयप्पहुडि संतसरूवेण ट्ठिदकम्मपोग्गलाणं वावारं परूवेदि। तेण अत्थि विसेसो। —प्रश्न—प्रक्रम और उपक्रममें क्या भेद है? उत्तर—प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति स्थिति और अनुभागमें आनेवाले प्रदेशाग्रकी प्ररूपणा करता है; परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्धके द्वितीय समयसे लेकर सत्त्वस्वरूपसे स्थित कर्म-पुद्गलोंके व्यापारकी प्ररूपणा करता है। इसलिये इन दोनोंमें विशेषता है।

उपगूहन—१. व्यवहार लक्षण

मू. आ/२६१ दंसणचरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए। उपगूहणं करंतो दंसणसुद्धो हवदि एसो। २६१। =सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमें ग्लानि सहित जीवोंको देखकर धर्मकी भक्ति कर उनके दोषोंको दूर करता है, वह शुद्ध-सम्यग्दर्शनवाला होता है।

र. क. श्रा/१५ "स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्। वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्। १५। =जो अपने आप ही पवित्र ऐसे जैनधर्मकी, अज्ञानी तथा असमर्थ जनोंके आश्रयसे उत्पन्न हुई निन्दाको दूर करते हैं, उसको उपगूहन अंग कहते हैं। (द्र. सं/टी/४१/१७४)

पु. सि. उ./२७ परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्। —उपबृंहण गुणके अर्थ अन्य पुरुषोंके दोषोंको भी गुप्त रखना कर्त्तव्य है।

का. अ/मू/४१९ जो परदोसं गोवदि णियसुकयं जो ण पयडदे लोए। भवियव्व भावणरओ उवगूहणकारओ सो हु। —जो सम्यग्दृष्टि दूसरोंके दोषोंको ढांकता है, और अपने सुकृतको लोकमें प्रकाशित नहीं करता, तथा भवितव्यकी भावनामें रत रहता है। उसे उपग्रहणगुणका धारी कहते हैं।

२. निश्चय लक्षण

स. सा/मू/२३३ जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगोदु सव्वधम्माणं। सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो। २३३। =जो चेतयिता सिद्धोंकी शुद्धात्माकी भक्तिसे युक्त है और पर-वस्तुओंके सर्व धर्मोंको गोपन करनेवाला है (अर्थात् रागादि भावोंमें युक्त नहीं होता है) उसको उपगूहन करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

स. सा. /ता. वृ. /२३३ शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्तियुक्तः मिथ्यात्वरागादिविभावधर्माणामुपगूहकः प्रच्छादको विनाशकः। स सम्यग्दृष्टिः उपगूहनकारी मन्तव्यः। =उपगूहनका अर्थ छिपानेका है। निश्चयको प्रधानकरि ऐसा कहा है कि जो सिद्धभक्तिमें अपना उपयोग लगाया तब अन्य धर्म पर दृष्टि ही न रही, तब सभी धर्म छिप गये। इस प्रकार शुद्धात्माकी भावनारूप पारमार्थिक-सिद्धभक्तिसे युक्त होकर मिथ्यात्व रागादि विभावधर्मोंका उपगूहन करता है, प्रच्छादन करता है, विनाश करता है उस सम्यग्दृष्टिको उपगूहनकारी जानना चाहिए।

द्र. सं/टी/४१/१७५/१० निश्चयनयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहणगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं यद्ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनमिति। =निश्चयनयसे व्यवहार उपगूहण-गुणकी सहायतासे, अपने निरञ्जन निर्दोष परमात्माको ढकनेवाले रागादि दोषोंको, उसी परमात्मामें सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप ध्यानके द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना, झम्पन करना, सो उपगूहन-गुण है।

२. उपबृंहण का लक्षण

रा. वा./६/२४/१/५२९/१३ उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृंहणम्। =उत्तमक्षमादि भावनाओंके द्वारा आत्माके धर्मकी वृद्धि करना उपबृंहण-गुण है। (पु. सि. उ/२७)

भ. आ. /वि/४५/१४९/१० उपबृंहणं णाम वर्द्धनं। बृह बृहि वृद्धाविति वचनात्। धात्वर्थानुवादी चोपसर्गः उप इति। स्पष्टनाग्म्येण श्रोत्रमनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन

परस्य तत्त्वश्रद्धानवर्द्धनं उपबृंहणं। सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमुखप्रमुखगीर्वाणसमितिविरचितोपचितसदृशीं पूजां संपाद्य दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धास्थिरीकरणम्।=‘उपबृंहण’ इसका अर्थ बढ़ाना ऐसा होता है। ‘बृह बृहि वृद्धौ’ इस धातुसे बृंहण शब्दकी उत्पत्ति होती है। ‘उप’ इस उपसर्गके योगसे ‘बृह’ धातुका अर्थ बदला नहीं है। स्पष्ट, अग्राम्य, कान और मनको प्रसन्न करनेवाले, वस्तुकी यथार्थताको भव्योंके आगे दर्पणके समान दिखानेवाले, ऐसे धर्मोपदेशके द्वारा तत्त्व-श्रद्धान बढ़ाना वह उपबृंहण-गुण है। इन्द्र प्रमुख देवोंके द्वारा जैसी महत्त्वयुक्त पूजा की जाती है, वैसी जिनपूजा करके अपनेको जिनधर्ममें, जिनभक्तिमें स्थिर करना; अथवा दुर्धर-तपश्चरण वा आतापनादि योग धारण करके अपने आत्मामें श्रद्धा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपबृंहण कहते हैं।

स. सा./आ./२३३ यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बन्धः किंतु निर्जरैव।=क्योंकि, सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण समस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करता है, इसलिए उपबृंहक है। इसलिए उस जीवको शक्तिकी दुर्बलतासे होनेवाला बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है।

पं. ध./उ./७७८ आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम्। अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत्। ७७८।=आत्माकी शुद्धिमें कभी दुर्बलता न आने देना ही उपबृंहण अंग कहलाता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप अपने भावोंसे जो च्युत नहीं होता है वही उपबृंहण-गुण कहलाता है।

उपग्रह—

रा. वा./५/१७/३/४६०/२५ द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह इत्याख्यायते।=द्रव्यकी शक्तिका आविर्भाव करनेमें कारण होना रूप अनुग्रह ही उपग्रह कहा जाता है।

उपग्रह व्यभिचार—दे. नय III/६/८।

उपघात—स. सि./६/१०/३२७/१३ प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः। आसादनमेवेति चेत्। सतो ज्ञानस्य विनयप्रदानादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम्। उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्रायः। इत्यनयोरयं भेदः।=प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है। **प्रश्न**—उपघातका जो लक्षण किया है उससे वह आसादन ही ज्ञात होता है? **उत्तर**—प्रशस्त ज्ञानकी विनय न करना, उसकी अच्छाईकी प्रशंसा न करना आदि आसादन है। परन्तु ज्ञानको अज्ञान समझकर ज्ञानके नाशका इरादा रखना उपघात है। इस प्रकार दोनोंमें अन्तर है। (रा. वा./६/१०/७/५१७/२३)।

रा. वा./६/१०/६/५१७/२१ स्वमतेः कलुषभावाद् युक्तस्याप्ययुक्तवत्प्रतीतेः दोषोद्भावनं दूषणमुपघात इति विज्ञायते।=हृदयकी कलुषताके कारण अपनी बुद्धिमें युक्तकी भी अयुक्तवत् प्रतीति होनेपर, दोषोंको प्रगट करके उत्तम ज्ञानको दूषण लगाना उपघात है।

गो. क./जी. प्र/८००/९७६/८ मनसा वाचा वा प्रशस्तज्ञानदूषणमध्येतृषु क्षुद्बाधाकरणं वा उपघातः।=मनकरि वा वचनकरि प्रशस्तज्ञानका दोषी होना, वा अभ्यासक जीवनिकौ क्षुधादिक बाधाका करना सो उपघात कहिए।

२. उपघात नाम कर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९१/३ यस्योदयात्स्वयंकृतोद्बन्धनमेरुप्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम।=जिसके निमित्तसे स्वयंकृत उद्बन्धन और पहाड़से गिरना आदि निमित्तिक उपघात होता है वह उपघात नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१३/५७८/१)।

ध. ६/१,९-१,२८/५९/१ उपेत्य घात उपघातः आत्मघात इत्यर्थः। जं कम्मं जीवपीडाहेउ अवयवे कुणदि, जीवपीडाहेउदव्वाणि वा विसासिपासादीणि जीवस्स ढोएदि तं उवघादं णाम। के जीवपीडाकार्यवयवा इति चेन्महाशृङ्ग-लम्बस्तन-तुंदोदरादयः। जदि उवघादणामकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो सरीरादो वाद-पित्त-सेंभदूसिदादो जीवस्स पीडा ण होज्ज। ण च एवं, अणुवलंभादो।=स्वयं प्राप्त होनेवाले घातको उपघात अर्थात् आत्मघात कहते हैं। जो कर्म अवयवोंको जीवकी पीड़ाका कारण बना देता है, अथवा विष, शृंग, खड्ग, पाश आदि जीव पीड़ाके कारण स्वरूप द्रव्योंको जीवके लिए ढोता है, अर्थात् लाकर संयुक्त करता है, वह उपघात नामकर्म कहलाता है। **प्रश्न**—जीवको पीड़ा करनेवाले अवयव कौन-कौन हैं? **उत्तर**—महाशृंग, (बारहसिंगाके समान बड़े सींग) लम्बे स्तन, विशाल तोंदवाला पेट आदि जीवको पीड़ा करनेवाले अवयव हैं। यदि उपघात-नामकर्म न हो तो बात, पित्त और कफसे दूषित शरीरसे जीवके पीड़ा नहीं होनी चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता। (ध./१३/५,५,१०१/३६४/११); (गो-क/जी. प्र./३३/२९/१८)।

★ उपघात नामकर्म व असाता वेदनीयमें परस्पर सम्बन्ध —दे० वेदनीय/२;

★ उपघात प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम

उपचरित नय—दे० नय/V/५।

★ उपचरित नयके विशेष भेद—दे० उपचार/१

उपचरित स्वभाव—दे० स्वभाव/१

उपचार—अन्य वस्तुके धर्मको प्रयोजनवश अन्य वस्तुमें आरोपित करना उपचार कहलाता है जैसे मूर्त पदार्थोंसे उत्पन्न ज्ञानको मूर्त कहना अथवा मुख्यके अभावमें किसी पदार्थके स्थानपर अन्यका आरोप करना उपचार कहलाता है जैसे संश्लेष-सम्बन्धके कारण शरीरको ही जीव कहना। अथवा निमित्तके वशसे किसी अन्य पदार्थको अन्यका कहना उपचार है—जैसे घीका घड़ा कहना। और इस प्रकार यह उपचार एक द्रव्यका अन्य द्रव्यमें, एक गुणका अन्य गुणमें, एक पर्यायका अन्य पर्यायमें, स्वजाति-द्रव्यगुण पर्यायका विजाति-द्रव्यगुण पर्यायमें, सत्यासत्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रूपमें, कारणका कार्यमें, कार्यका कारणमें इत्यादि अनेक प्रकारसे करनेमें आता है। यद्यपि यथार्थ दृष्टिसे देखनेपर यह मिथ्या है, परन्तु अपेक्षा या प्रयोजनकी दृष्टिमें रखकर समझें तो कथंचित् सम्यक् है। इसीसे उपचारको भी एक नय स्वीकार किया गया है। व्यवहार नयको ही उपचार कहा जाता है। व्यवहारनय सद्भूत और असद्भूत रूपसे दो प्रकार है तथा इसी प्रकार उपचार भी दो प्रकारका है। अभेद वस्तुमें गुण गुणी आदिका भेद करना भेदोपचार या सद्भूत-व्यवहार है। तथा भिन्न वस्तुओंमें प्रयोजन वश एकताका व्यवहार अभेदोपचार या असद्भूत-व्यवहार है। सो भी दो प्रकारका है असद्भूत अर्थात् अनुपचरित असद्भूत और उपचरित-असद्भूत। तहाँ संश्लेष-सम्बन्ध युक्त पदार्थोंमें एकताका उपचार अनुपचरित असद्भूत-व्यवहार है और भिन्न-प्रदेशी द्रव्योंमें एकताका उपचार उपचरित-असद्भूत-व्यवहार है। दोनों ही प्रकारके व्यवहार स्वजाति पदार्थोंमें अथवा विजाति पदार्थोंमें अथवा उभयरूप पदार्थोंमें होनेके कारण तीन-तीन प्रकारका हो जाता है। इस प्रकार गुणाकार करनेसे इसके अनेकों भंग बन जाते हैं, जिनका प्रयोग लौकिक क्षेत्रमें अथवा आगममें नित्य स्थल-स्थल पर किया जाता है।

१. उपचारके भेद व लक्षण

१. उपचार सामान्यका लक्षण

आ. प./६ अन्यत्रप्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः। उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः।...मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते। सोऽपि संबन्धाविनाभावः।=अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मको अन्यमें समारोप करके कहना सो असद्भूत-व्यवहारनय है। असद्भूत व्यवहारको ही उपचार कहते हैं। (जैसे गुण गुणीमें भेद करके जीवको ज्ञानवान् कहना अथवा मूर्त पदार्थोंसे उत्पन्न ज्ञानको भी मूर्त कहना।) इस उपचारका भी जो उपचार करता है सो उपचरित असद्भूत व्यवहार है (जैसे शरीरको या धन आदिको जीव कहना अथवा अन्नको प्राण कहना इत्यादि)। (न. च./श्रुत./२२, २६)। यह उपचार मुख्यपदार्थके अभावमें, प्रयोजनमें और निमित्तमें प्रवर्तता है, और वह भी अविनाभावी-सम्बन्धोंमें ही किया जाता है।

सू. पा./पं. जयचन्द/६/५४ प्रयोजन साधनेकूं काहू वस्तु कूं घट कहना सो तो प्रयोजनाश्रित व्यवहार है (जैसे जलमें भीगे हुए वस्त्रको ही जल धारणके कारण घट कह देना)। बहुरि काहू अन्य वस्तुके निमित्ततै घटमें अवस्था भई ताकूं घटरूप कहना सो निमित्ताश्रित व्यवहार है (जैसे घीका घड़ा कहना अथवा अग्निसे पकनेपर घड़ेको पका हुआ कहना)।

२. उपचारके भेद-प्रभेद

आ. प./५, ६ असद्भूतव्यवहारस्त्रेधा। स्वजात्यसद्भूतव्यवहारो,...विजात्यसद्भूतव्यवहारो,...स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारो।...उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा। स्वजात्यसद्भूतव्यवहारो,...विजात्यसद्भूत व्यवहारो,...स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारो,...।५। गुण-*गुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारककारकिणोर्भेद* सद्भूतव्यवहारस्यार्थः। द्रव्ये द्रव्योपचारः, पर्याये पर्यायोपचारः, गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचारः, गुणे पर्यायोपचारः, पर्याये द्रव्योपचारः, पर्याये गुणोपचारः इति नवविधोऽसद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः।...सोऽपि संबन्धाविनाभावः। संश्लेषसंबन्धः, परिणाम-परिणामिसंबन्धः, श्रद्धा-श्रद्धेय-संबन्धः, ज्ञानज्ञेयसंबन्धः, चारित्रचर्यासंबन्धश्चेत्यादि सत्यार्थः, असत्यार्थः, सत्यार्थासत्यार्थश्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहार-नयस्यार्थः।=**भावार्थ**—१. उपचार दो प्रकारका है भेदोपचार और अभेदोपचार। गुणगुणीमें भेद करके कहना भेदोपचार है। इसे सद्भूत-व्यवहार कहते हैं क्योंकि गुणगुणीका तादात्म्य सम्बन्ध पारमार्थिक है। भिन्न द्रव्योंमें एकत्व करके कहना अभेदोपचार है। इसे असद्भूत-व्यवहार कहते हैं, क्योंकि भिन्न द्रव्योंका संश्लेष या संयोग-सम्बन्ध अपारमार्थिक है। यह अभेदोपचार भी दो प्रकारका है—संश्लेष युक्त द्रव्यों या गुणों आदिमें और संयोगी द्रव्यों या गुणोंमें। तहाँ संश्लेषयुक्त अभेदको असद्भूत कहते हैं और संयोगी-अभेदको उपचरित-असद्भूत कहते हैं, क्योंकि यहाँ उपचारका भी उपचार करनेमें आता है, जैसे कि धन-पुत्रादिका सम्बन्ध शरीरसे है और शरीरका सम्बन्ध जीवसे। इसलिए धनपुत्रादिको जीवका कह दिया जाता है। २. गुण-गुणीमें, पर्याय-पर्यायीमें, स्वभाव-स्वभावीमें, कारक-कारकीमें भेद करना सद्भूत या भेदोपचारका विषय है। (विशेष दे० नय V/५/४-६) ३. एक द्रव्यमें अन्य द्रव्यका, एक पर्यायमें अन्य पर्यायका, एक गुणमें अन्य गुणका, द्रव्यमें गुणका, द्रव्यमें पर्यायका, गुणमें द्रव्यका, गुणमें पर्यायका, पर्यायमें द्रव्यका तथा पर्यायमें गुणका इस तरह नौ प्रकार असद्भूत-अभेदोपचारका विषय है। सो भी स्वजाति-असद्भूत-व्यवहार, विजाति-असद्भूत-व्यवहार, और स्वजाति-विजाति-असद्भूत-व्यवहारके भेदसे तीन-तीन प्रकारका है। ४. अविनाभावी—सम्बन्ध कई प्रकारका होता है। जैसे—संश्लेष-सम्बन्ध, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध, श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, चारित्र-चर्या सम्बन्ध इत्यादि। ये सब उपचरित-असद्भूत-व्यवहार रूप अभेदोपचारके विषय हैं। सो भी स्वजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार, विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार और स्वजाति-विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहारके भेदसे तीन-तीन प्रकारके हैं। अथवा सत्यार्थ, असत्यार्थ, व सत्यासत्यार्थके भेदसे तीन-तीन

प्रकार हैं। यथा—१. स्वजाति-द्रव्यमें विजाति-द्रव्यका आरोप, २. स्वजाति-गुणमें विजाति-गुणका आरोप, ३ स्वजाति पर्यायमें विजाति पर्यायका आरोप, ४. स्वजाति द्रव्यमें विजाति गुणका आरोप, ५. स्वजाति द्रव्यमें विजाति पर्यायका आरोप, ६. स्वजाति गुणमें विजाति द्रव्यका आरोप, ७. स्वजाति गुणमें विजाति पर्यायका आरोप, ८. स्वजाति पर्यायमें विजाति द्रव्यका आरोप, ९. स्वजाति पर्यायमें विजाति गुणका आरोप।

५. इसी प्रकार द्रव्य गुण पर्यायमें स्वजाति, विजाति व स्वजाति-विजाति (उभयरूप) भेदोंमें परस्पर अविनाभावी-सम्बन्ध देखकर यथासम्भव अन्य भी भंग बना लेने चाहिए। (न. च. वृ./१८८,१८९, २२३-२२६/२४० न. च./श्रुत/२२) ६. इनके अतिरिक्त भी प्रयोजनके वशसे अनेकों प्रकारका उपचार करनेमें आता है। यथा—कारणमें कार्यका उपचार, कार्यमें कारणका उपचार, अल्पमें पूर्णका उपचार, आधारमें आधेयका उपचार, तद्वानमें तत्का उपचार, अतिसमीपमें तत्पनेका उपचार···इत्यादि-इत्यादि। (इनमें-से कुछका परिचय आगेवाले शीर्षकोंमें यथासम्भव दिया गया है।)

३. उपचारके भेदोंके लक्षण

न. च. वृ./२२६-२३१ स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायारोपणोऽसद्भूत व्यवहारः—"दट्ठूणं पडिबिंबं भवदि हु तं चेव एस पज्जाओ। सज्जाइ असब्भूओ उपयरिओ णियजाइपज्जाओ।२२६-१।" विजातिगुणे विजातिगुणारोपणोऽसद्भूतव्यवहारः—"मुत्तं इह मइणाणं मुत्तिमदव्वेण जण्णिओ जम्हा। जइ णहु मुत्तंणाणं तो किं खलुओ हु मुत्तेण।२२६-२।" स्वजातिविजातिद्रव्ये स्वजातिविजातिगुणारोपणोऽसद्भूतव्यवहारः—"णेयं जीवमजीवं तं पिय णाणं खु तस्स विसयादो। जो भण्णइ एरिसत्थं सो ववहारोऽसब्भूदो।२२७ १।" स्वजातिद्रव्ये स्वजातिविभावपर्यायारोपणोऽसद्भूतव्यवहारः—"परमाणु एयदेसो बहुप्पदेसी य जंपदे जो हु। सो ववहारो णेओ दव्वे पज्जाय उवयारो।२२७-२।" स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्यारोपणोऽसद्भूतव्यवहारो—"रूवं पि भणई दव्वं ववहारो अण्ण अत्थसंभूदो। सो खलु जधोपदेसं गुणेसु दव्वाण उवयारो।२२८।" स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यायारोपणोऽसद्भूतव्यवहारः—"णाणं पि हु पज्जायं परिणममाणो दु गिहणए जम्हा। ववहारो खलु जंपइ गुणेसु उवयरिय पज्जाओ।२२९।" स्वजातिविभावपर्याये स्वजातिद्रव्यारोपणोऽसद्भूतव्यवहारः—"दट्ठूणथूलखंधं पुग्गलदव्वेत्ति जंपए लोए। उवयारो पज्जाए पुग्गलदव्वस्स भणइ ववहारो।२३०।" स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणारोपणोऽसद्भूतव्यवहारो—"दट्ठूण देहठाणं वण्णंतो होइ उत्तमं रूवं। गुण उवयारो भणिओ पज्जाए णत्थि संदेहो।२३१।"

न. च./वृ./२४१-२४४ देसवइ देसत्थो अत्थवणिज्जो तहेव जंपंतो। मे देसं मे दव्वं सच्चासच्चंपि उभयत्थं।२४१। पुत्ताइबंधुवग्गं अहं च मम संपदादि जप्पंतो। उवयारा सब्भूओ सज्जाइ दव्वेसु णायव्वो।२४२। आहरणहेमरयणाच्छादीया ममेति जप्पंतो। उवयरियअसब्भूओ, विजाइदव्वेसु णायव्वो।२४३। देसत्थरज्जदुग्गं मिस्सं अण्णं च भणइ मम दव्वं। उहयत्थे उवयरिदो होइ असब्भूयववहारो।२४४।

१. असद्भूत व्यवहारके भेदोंकी अपेक्षा

१ स्वजाति पर्यायमें स्वजाति पर्यायका आरोप इस प्रकार है। जैसे—दर्पणमें प्रतिबिम्बको देखकर 'यह दर्पणकी पर्याय है' ऐसा कहना। यहाँ प्रतिबिम्ब व दर्पण दोनों पुद्गल पर्यायें हैं। एकका दूसरेमें आरोप किया गया है। २. विजाति गुणमें विजाति गुणका आरोप इस प्रकार है। जैसे—मूर्त इन्द्रियों या विषयोंसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञानको मूर्त कहना। तथा ऐसा तर्क उपस्थित करना यदि यह ज्ञान मूर्त न होता तो मूर्त द्रव्योंसे स्खलित कैसे हो जाता ! यहाँ ज्ञान गुणमें विजाति मूर्त गुणका आरोप किया गया है। ३. स्वजाति-विजाति द्रव्यमें स्वजाति विजाति गुणका आरोप इस प्रकार है। जैसे—जीव व अजीव द्रव्योंको ज्ञेय रूपसे विषय करनेपर ज्ञानको जीवज्ञान व अजीवज्ञान कह देना। यहाँ चेतन अचेतन द्रव्योंमें ज्ञान गुणका आरोप किया गया है। ४. स्वजाति द्रव्यमें स्वजाति विभावपर्यायका आरोप इस प्रकार है। जैसे—परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है, परन्तु परस्परमें बँधकर बहुप्रदेशी स्कन्ध होनेकी शक्ति होनेके कारण बहुप्रदेशी कहा जाता है। यहाँ पुद्गल द्रव्य (परमाणु) का पुद्गल पर्याय (स्कन्ध) में आरोप किया गया है। ५. स्वजाति गुणमें स्वजाति द्रव्यका आरोप इस प्रकार है। जैसे—द्रव्यके रूपको ही द्रव्य कहना यथा—रूपपरमाणु, गन्धपरमाणु आदि। यहाँ पुद्गलके गुणमें पुद्गल द्रव्य (परमाणु) का आरोप किया गया है। ६. स्वजाति गुणमें स्वजाति पर्यायका आरोप इस प्रकार है। जैसे—परिणमनके द्वारा ग्राह्य होनेके कारण ज्ञानको ही पर्याय कह देना। यहाँ ज्ञान गुणमें स्वजाति ज्ञान पर्यायका आरोप है। ७. स्वजाति विभाव पर्यायमें स्वजाति द्रव्यका आरोप इस प्रकार है। जैसे—स्थूल स्कन्धको ही पुद्गल द्रव्य कह देना। यहाँ स्कन्धरूप पुद्गलकी विभाव पर्यायमें पुद्गल द्रव्यका उपचार किया गया है। ८. स्वजाति पर्यायमें स्वजाति गुणका आरोप इस प्रकार है। जैसे—देहके वर्ण विशेषको देखकर 'यह उत्तम रूपवाला है' ऐसा कहना। यहाँ देह पुद्गल पर्याय है। उसमें पुद्गलके रूपगुणका आरोप किया गया है।

२. उपचरित असद्भूत व्यवहारके भेदोंकी अपेक्षा

१. सत्यार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—किसी देशके राजाको देशपति कहना। क्योंकि व्यवहारसे वह उस देशका स्वामी है।२४१। २. असत्यार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—किसी नगर या देशमें रहनेके कारण 'यह मेरा नगर है' ऐसा कहना। क्योंकि व्यवहारसे भी वह उस नगरका स्वामी नहीं है।२४१। ३. सत्यासत्यार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—'मेरा द्रव्य' ऐसा कहना। क्योंकि व्यवहारसे भी कुछ मात्र द्रव्य उसका है सर्व नहीं।२४१। ४. स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—'पुत्र बन्धुवर्गादि मेरी सम्पदा है' ऐसा कहना। क्योंकि यहाँ चेतनका चेतन पदार्थोंमें ही स्वामित्व कहा गया है। ५. विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—'आभरण हेम रत्नादि मेरे हैं' ऐसा कहना, क्योंकि यहाँ चेतनका अचेतनमें स्वामित्व सम्बन्ध कहा गया है। ६. स्वजाति विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—'देश, राज्य, दुर्गादि मेरे हैं' ऐसा कहना, क्योंकि यह सर्व पदार्थ चेतन व अचेतनके समुदाय रूप हैं। इनमें चेतनका स्वामित्व बतलाया गया है।

नोट—इसी प्रकार अन्य भी उपचार यथा सम्भव जानना। (न.च./श्रुत/२२); (आ.प./५)।

२. कारण कार्य आदि उपचार निर्देश

१. कारणमें कार्यके उपचारके उदाहरण

स.सि./७/१०/३४८/११ हिंसादयो दुःखमेवेति भावयितव्यम्। कथं हिंसादयो दुःखम्। दुःखकारणत्वात्। यथा 'अन्नं वै प्राणाः' इति। कारणस्य कारणत्वाद्वा यथा धनं प्राणाः इति। धनकारणमन्नपानमन्नपानकारणाः प्राणा इति। तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकारणम्। असद्वेद्यकर्म च दुःखकारणमिति। दुःखकारणे दुःखकारणकारणे वा दुःखोपचारः। = हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसा चिन्तन करना चाहिए। = प्रश्न—हिंसादिक दुःख कैसे हैं? उत्तर—दुःखके कारण होनेसे। यथा—'अन्न ही प्राण है।' अन्न प्राणधारणका

कारण है पर कारणमें कार्यका उपचार करके अन्नको ही प्राण कहते हैं। या कारणका कारण होनेसे हिंसादिक दुःख हैं। यथा 'धन ही प्राण हैं'। यहाँ अन्नपानका कारण धन है और प्राणका कारण अन्नपान है, इसलिए जिस प्रकार धनको प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक असाता वेदनीयकर्मके कारण हैं और असाता वेदनीय दुःखका कारण है, इसलिए दुःखके कारण या दुःखके कारणके कारण हिंसादिकमें दुःखका उपचार है। (रा.वा./७/१०/१/५३७/२४)

श्लो. वा.२/१/६/५६/४६४/२३ घृतमायुरन्नं वै प्राणा इति, कारणे कार्योपचारं।—निश्चयकर घृत ही आयु है। अन्न ही प्राण है। इन वाक्योंमें कारणमें कार्यका उपचार किया गया है।

क.पा.१/१,१३-१४/§२४४/२८८/५ (कारण रूप द्रव्यकर्ममें कार्यरूप क्रोधभावका उपचार कर लेनेसे द्रव्य कर्ममें भी क्रोध भावकी सिद्धि हो जाती है।)

ध.१/४,१,४/१३५/८ (भावेन्द्रियोंके कारण कार्यभूत द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय संज्ञाकी प्राप्ति).

ध.१/१,१,६०/२६८/२ (कारणमें कार्यका उपचार करके ऋद्धिके कारणभूत संयमको ही ऋद्धि कहना)।

ध.६/१,९. १,२८/५१/३ (कारणमें कार्यके उपचारसे ही जाति नामकर्म-को 'जाति' संज्ञाकी प्राप्ति।)

ध.९/४,१,४५/१६२/३ (कारणमें कार्यका उपचार करके शब्द या उसकी स्थापनाको भी 'श्रुत' संज्ञाकी प्राप्ति।)

ध.९/४,१,६७/३२२/६ (कारणमें कार्यका उपचार करके क्षेत्रादिकोंको भी 'भाव ग्रन्थ' को संज्ञाकी प्राप्ति।)

प्र.सा./त.प्र /३४ (कारणमें कार्यका उपचार करके ही द्रव्य श्रुतको 'ज्ञान' संज्ञाकी प्राप्ति।)

२. कार्यमें कारणके उपचारके उदाहरण

स.सि./१/१२/१२२/८ श्रुतमपि क्वचिन्मतिरित्युपचर्यते मतिपूर्वकत्वा-दिति।—श्रुतज्ञान भी कहीं पर मतिज्ञानरूपसे उपचरित किया जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। (अर्थात् श्रुत-ज्ञान कार्य है और मतिज्ञान उसका कारण)।

रा.वा./२/१८/३/१३१/१ कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति, तथेन्द्रियनिमित्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते।—लोकमें कारणकी भी कार्यमें अनुवृत्ति देखी जाती है जैसे घटाकारपरिणत ज्ञानको घट कह देते हैं। उसी प्रकार उपयोगको भी इन्द्रियके निमित्तसे इन्द्रिय कह देते हैं।

ध. १/१,१,२४/२०२/९ (कार्यमें कारणका उपचार करके मनुष्य गति नामकर्मके कारणसे उत्पन्न मनुष्य पर्यायोंके समूहको मनुष्य गति कहा जाता है।)

ध.४/१,५,१/३१६/९ (कार्यमें कारणका उपचार करके पुद्गलादि द्रव्यों-के परिणमनको भी 'काल' संज्ञाकी प्राप्ति।)

प्र.सा./त.प्र./३० (कार्यमें कारणके उपचारसे ज्ञानको ज्ञेयगत कहा जाता है।)

३. अल्पमें पूर्णके उपचारके उदाहरण

स.सि./७/२१/३६१/१ उपचाराद्‌ राजकुले सर्वगतचैत्राभिधानवत्।—जैसे राजकुलमें चैत्रको सर्वगत उपचारसे कहा जाता है इसी प्रकार सामायिक व्रतके महाव्रतपना उपचारसे जानना चाहिए।

४. भावीमें भूतके उपचारके उदाहरण

ध.१/१,१,१६/१८२/४ कर्मणां क्षयोपशमाभ्यामभावे कथं तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्नैष दोषः, तयोस्तत्र सत्त्वस्योपचारनिबन्धनत्वात्।—प्रश्न—कर्मोंके क्षय और उपशमके अभावमें भी ८वें गुणस्थानमें क्षायिक या औपशमिक भाव कैसे हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानमें क्षायिक और औपशमिक भाव-का सद्भाव उपचारसे माना गया है।

५. आधारका आधेयमें उपचार

श्लो.वा.२/१/६/५६/४६४/२४ मञ्चाः क्रोशन्ति इति तात्स्थ्यात्तच्छब्दोप-चारः।—मचान पर बैठकर किसान चिल्लाते हैं, पर कहा जाता है कि मचान चिल्लाते हैं। यहाँ आधारका आधेयमें आरोप है।

६. तद्वान्‌में तत्‌का उपचार

श्लो.वा. २/१/६/५६/४६४/२४ साहचर्याद्यष्टिः पुरुष इति।—लाठीवाले पुरुषको लाठिया या गाड़ीवाले पुरुषको गाड़ी कहना तद्वान्‌में तत्‌का उपचार है।

७. समीपस्थमें तत्‌का उपचार

श्लो.वा.२/१/६/५६/४६४/२५ सामीप्याद्वृक्षा ग्राम इति।—किसी पथिकके पूछने पर यह कह दिया जाता है कि ये सामने दीखनेवाले वृक्ष ही ग्राम है। अर्थात् अत्यन्त समीप है। यहाँ समीपमें तद्का उपचार है।

८. अन्य अनेकों उपचारोंके उदाहरण

स.सि./७/१८/३५६/६ शल्यमिव शल्यं। यथा तत् प्राणिनो बाधाकरं तथा शरीरमानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते।—जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियोंको बाधाकारी होती हैं, उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधाका कारण होनेसे कर्मोदय जनित विकारमें भी शल्यका उपचार कर लेते हैं। (यहाँ तत सदृश कारण-में तत्‌का उपचार है।)

रा.वा./४/२६/४/२४४/२८ चरमके पासवाला अव्यवहित पूर्वका मनुष्य-भव भी उपचारसे चरम कहा जाता है। (यहाँ काल सामीप्यमें तत्-का उपचार है)

श्लो.वा./२/१/५/८-१४/१८८/५ (यह भी गौ है वह भी गौ थी। यहाँ धर्मके एकत्वके कारण धर्मियोंमें एकत्वका उपचार किया है।

ध./२/१,१/४४६/३ अयोगकेवलीके एक आयु प्राण ही होता है, किन्तु उपचारसे एक, छः अथवा सात प्राण भी होते हैं। (यहाँ संश्लेष सम्बन्धको प्राप्त द्रव्येन्द्रिय व शरीरादिमें जीवकी पर्यायका उपचार किया गया है)।

स.सा./आ./१०८ (प्रजाके गुण दोषको उपजानेवाला राजा है। ऐसा कहना। यहाँ आश्रयमें आश्रयीका उपचार किया है।)

द्र.सं./टी./१६/५७/१३ (मुक्त जीवोंके अवस्थानके कारण लोकाग्रको भी मोक्ष संज्ञा प्राप्त है। यहाँ आधारमें आधेयका उपचार है।

न्याय दी./१/§१४ (आँखसे जानते हैं इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है। उपचारकी प्रवृत्तिमें सहकारिता निमित्त है।)

पं.ध /पू./७०२ (अवधि व मनःपर्ययज्ञानको एकदेश प्रत्यक्ष कहना उपचार है।)

३. द्रव्यगुण पर्यायमें उपचार निर्देश

१. द्रव्यको गुणरूपसे लक्षित करना

ध.१/१,१,८/१६१/३ गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते। उक्तं च—"जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहिं। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं।१०४।" —गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है। कहा भी है—"दर्शनमोहनीय

आदि कर्मोंके उदय उपशम आदि अवस्थाओंके होनेपर उत्पन्न हुए जीव-परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं, उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी (औपशमिक आदि) गुण संज्ञावाला कहा है।" (गो.क./मू./८१२/९८६) (और भी दे० उपचार/१/३)।

२. पर्यायको द्रव्यरूपसे लक्षित करना

ध.४/१,५,४/३३७/५ असुद्धे दव्वट्ठिय णये अवलंबिदे पुढविआदीणि अणेयाणि दव्वाणि होंति त्ति वंजणपज्जायस्स दव्वत्तब्भुवगमादो। =अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयका अवलम्बन करनेपर पृथिवी जल आदिक अनेक द्रव्य होते हैं, क्योंकि व्यंजनपर्यायके द्रव्यपना माना गया है। (और भी दे० उपचार/१/३)।

ध.८/३,४/६/३ कधमत्थियवसेण अदव्वाणं पज्जयाणं दव्वत्तं। ण, दव्वदो एयंतेण तेसिं पुधभूदाणमणुवलंभादो, दव्वसहावाणं चेवुवलंभा।···दव्वट्ठियस्स कधमभावव्ववहारो। ण एस दोसो, 'यदस्ति न न तद्द्वयमतिलङ्घ्य वर्त्तते' इति दो वि णए अविलंबिऊण ट्ठिदणेगमणयस्स भावाभावव्ववहारविरोहाभावादो। =प्रश्न—द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यसे भिन्न पर्यायोंके द्रव्यत्व कैसे सम्भव है? उत्तर—पर्यायि द्रव्यसे सर्वथा भिन्न नहीं पायी जातीं, किन्तु द्रव्य स्वरूप ही वे उपलब्ध होती हैं। प्रश्न—द्रव्यार्थिककी अपेक्षा पर्यायोंमें अभावका व्यवहार कैसे होता है? उत्तर—'जो है वह दोनोंका अतिक्रमण करके नहीं रहता' इसलिए दोनों नयोंका आश्रय कर स्थित नैगम नयके भाव व अभावरूप (दोनों प्रकारके) व्यवहारमें कोई विरोध नहीं है।

स.सा./आ./२९४ प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते, निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमेति लक्षणीयः तदेकलक्षण-लक्ष्यत्वात्। =वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको ग्रहण करके निवर्तता है, वे समस्त सहवर्ती (गुण) या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं, इस प्रकार लक्षित करना चाहिए, क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्य है।

३. द्रव्यको पर्यायरूपसे लक्षित करना

ध.५/१,७,१/१८७/६ भावो णाम किं। दव्वपरिणामो पुव्वावरकोडिवदिरित्तवट्टमाणपरिणामुवलक्खियदव्वं वा। =प्रश्न—भाव नाम किस वस्तुका है? उत्तर—द्रव्यके परिणामको (पर्यायको) अथवा पूर्वापर कोटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं। (और भी दे० उपचार/१/३)

४. पर्यायको गुणरूपसे लक्षित करना

भ.आ./मू.५७/१८२ अहिंसादिगुणाः···।

भ.आ./वि./५७/१८३/५ एते अहिंसादयो गुणाः परिणामा धर्म इत्यर्थः। ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तित्वादीनामेवात्मनः सभुवां गुणताम्। हिंसादिभ्यो विरतिपरिणामः पुनः कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत् पर्याया इति चेन्न गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यादावुभयोपादाने अवान्तरभेदोपदर्शनमेतद्यथा 'गोबलीवर्दम्' इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथनमेकस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनात्। =अहिंसादि गुण आत्माके परिणाम हैं अर्थात् धर्म हैं। प्रश्न—'सहभुवो गुणाः' ऐसा आगमका वचन होनेके कारण चैतन्य अमूर्तित्वादि ही आत्माके गुण हैं क्योंकि ये कभी उससे पृथक् नहीं होते। परन्तु हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम कादाचित्क होनेके कारण, ये भाव मनुष्यत्वादि अथवा क्रोधादिकी भाँति पर्याय हैं? उत्तर—'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इस सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया है। यहाँ गुण शब्द उपलक्षण वाचक समझना चाहिए, अर्थात् वह ज्ञानादि गुणोंके समान अहिंसादि धर्मोंका भी वाचक है। जैसे—'गोबलीवर्दम्' इस शब्दसे एक ही गौ पदार्थका गो और बलीवर्द दोनों शब्दोंके द्वारा ग्रहण होनेसे एकको पुनरुक्तता प्राप्त होती है। इसे दूर करनेके लिए यहाँ गो शब्द का अर्थ 'स्त्री' करना पड़ता है। उसी तरह 'अहिंसादिगुणाः' इस गाथाके शब्दसे यहाँ धर्ममात्रको गुण कहा है, ऐसा समझना चाहिए। (फिर वे धर्म गुण हों या पर्याय, इससे क्या प्रयोजन)

दे० उपचार/३/१ औपशमिकादि भावोंको जीवके गुण कहा जाता है।

ल.सा./मू./९७/१३५ उपशमगुणं गृह्णाति। =(अन्तः कोटाकोटी मात्र कर्मोंकी स्थिति रह जानेपर जीव) उपशम सम्यक्त्व गुणको ग्रहण करै है।

पं.का/ता.वृ./५/१४/१२ केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा मतिज्ञानादयो विभावगुणाः। =केवलज्ञानादि (शुद्ध पर्याय) स्वभाव गुण हैं और मति ज्ञानादि (अशुद्ध पर्यायें) विभाव गुण हैं। (प.प्र./टी./१/५७) (विशेष दे० उपचार/१/३)

५. गुणको पर्यायरूपसे लक्षित करना

स.सा./मू./३४५ केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो। जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ।३४५। =क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायोंसे नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों (गुणों) से नष्ट नहीं होता। इसलिए 'वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है' ऐसा एकान्त नहीं है।

प्र.सा./मू./१८ उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स। पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो। =किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश सर्व पदार्थ मात्रके होता है। और किसी पर्यायसे (गुणसे) पदार्थ वास्तवमें ध्रुव है। (विशेष देखो उपचार/१/३)

४. उपचारकी सत्यार्थता व असत्यार्थता

१. परमार्थतः उपचार सत्य नहीं होता

ध.७/२,१,३३/७६/४ उवयारेण खवोसमियं भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो। =योगमें क्षयोपशम भाव तो उपचारसे माना गया है। असलमें तो योग औदयिक भाव ही है। और औदयिक योगका सयोगिकेवलियोंमें अभाव माननेमें विरोध आता है। (अतः सयोगकेवलियोंमें योग पाया जाता है)

ध.१४/५,६,१६/१३/४ सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे। ण, उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। =प्रश्न—सिद्धोंके भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि सिद्धोंमें जीवत्व उपचार से है, और उपचारको सत्य मानना ठीक नहीं है।

स.सा./आ /१०५ पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तु उपचार एव न तु परमार्थः। ='पौद्गलिक कर्म आत्माने किया है' ऐसा निर्विकल्पविज्ञानघनसे भ्रष्ट विकल्प परायण अज्ञानियोंका विकल्प है। वह विकल्प उपचार ही है परमार्थ नहीं।

प्र.सा./ता.वृ./२२५/प्रक्षेपक गा.८/३०४/२५ न उपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादि। =उपचार कभी साक्षात् या परमार्थ नहीं होता। जैसे—'यह देवदत्त अग्निवत् क्रोधी है' ऐसा कहना। (इसी प्रकार आर्यिकाओंके महाव्रत उपचारसे है। सत्य नहीं)।

न्या.दी./१/§१४ चक्षुषा प्रमीयत इत्यादि व्यवहारे पुनरुपचारः शरणम्। उपचारप्रवृत्तौ तु सहकारित्वं निबन्धनम्। न हि सहकारित्वेन तत्साधकमिति करणं नाम, साधकविशेषस्यातिशयवतः करणत्वात्। ='आँखसे जानते हैं' इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है और उपचारकी प्रवृत्तिमें सहकारिता निमित्त है। इसलिए इन्द्रियादि प्रमितिक्रियामें मात्र साधक है पर साधकतम नहीं। और

इसीलिए करण नहीं है, क्योंकि, अतिशयवाद् साधकविशेष (असाधारण कारण) ही करण होता है।

२. अन्य धर्मोंका लोप करनेवाला उपचार मिथ्या है

स्व.स्तो/२२ अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्। मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम्। —वह सुयुक्तिनीत वस्तु तत्त्व अनेक तथा एक रूप है, जो भेदाभेद ज्ञानका विषय है और वह ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमें-से एकको भी असत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है, क्योंकि, दोनोंमें-से एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। और दोनोंका अभाव हो जानेपर वस्तुतत्त्व अनुपाख्य अर्थात् निःस्वभाव हो जाता है।

३. उपचार सर्वथा अप्रमाण नहीं है

ध.१/१,१,४/१३५/१ नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात्। —यह (द्रव्येन्द्रियको उपचारसे इन्द्रिय कहना) कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि, कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगतमें प्रसिद्ध रूपसे पाया जाता है।

स.म./५/२६/२६ लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्।...न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किंचित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। —आकाश नित्यानित्य है, क्योंकि सर्व-साधारणमें भी 'यह घटका आकाश है', 'यह पटका आकाश है' यह व्यवहार होता है। यह व्यवहारसे उत्पन्न होता है इसलिए अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, उपचार भी किसी न किसी साधर्म्यसे ही मुख्य अर्थको द्योतित करनेवाला होता है।

४. निश्चित व मुख्यके अस्तित्वमें ही उपचार होता है सर्वथा अभावमें नहीं

रा.वा./१/१२/१४/५६/११ सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिंहे...अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिंहोपचारः क्रियते। न च तथेह मुख्यं प्रमाणमस्ति। तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते। —उपचार तब होता है जब मुख्य वस्तु स्वतन्त्रभावसे प्रसिद्ध हो। जैसे सिंह अपने शूरत्व क्रूरत्वादि गुणोंसे प्रसिद्ध है तभी उसका सादृश्यसे बालकमें उपचार किया जाता है। पर यहाँ जब मुख्य प्रमाण ही प्रसिद्ध नहीं है तब उसके फलमें उसके उपचारकी कल्पना ही नहीं हो सकती।

ध.१/१,१,१६/१८१/४ अक्षपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, भाविनि भूतवदुपचारतस्तत्सिद्धेः। सत्येवमतिप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न, असति प्रतिबन्धरि मरणे नियमेन चारित्रमोहक्षपकोपशमकारिणां तदुन्मुखानामुपचारभाजामुपलम्भात्। —प्रश्न—इस आठवें गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही। ऐसी अवस्थामें यहाँ पर क्षायिक या औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, भावीमें भूतके उपचारसे उसकी सिद्धि हो जाती है। प्रश्न—ऐसा माननेपर तो अतिप्रसंग आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धक कर्मका उदय अथवा मरण यदि न हों तो वह चारित्रमोहका उपशम या क्षय अवश्य कर लेता है। उपशम या क्षपणके सम्मुख हुए ऐसे व्यक्तिके उपचारसे क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है। (ध.५/१,७,६/२०५/१); (ध.७/२,१,४६/६३/२)

ध.५/१,७,६/२०५/४ उवयारे आसइज्जमाणे अइप्पसंगो किण्ण होदीदि। चे ण, पच्चासत्तीदो अइप्पसंगपडिसेहादो। —प्रश्न—इस प्रकार सर्वत्र उपचार करनेपर अतिप्रसंग दोष क्यों नहीं प्राप्त होगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थके प्रसंगसे अतिप्रसंग दोषका प्रतिषेध हो जाता है। (इसलिए अपूर्वकरण गुणस्थानमें तो उपचारसे क्षायिक व औपशमिक भाव कहा जा सकता है पर इससे नीचेके अन्य गुणस्थानोंमें नहीं।)

ध.७/२,१,५६/९८/२ ण चोवयारेण दंसणावरणणिद्देसो, मुहियस्साभावे उवयाराणुववत्तीदो। —(दर्शन गुणको अस्वीकार करनेपर) यह भी नहीं कहा जा सकता कि दर्शनावरणका निर्देश केवल उपचारसे किया गया है, क्योंकि, मुख्य वस्तुके अभावमें उपचारकी उपपत्ति नहीं बनती।

५. अविनाभावी सम्बन्धोंमें ही परस्पर उपचार होता है—

आ.प./६ मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते सोऽपि संबन्धाविनाभावः। —मुख्यका अभाव होनेपर प्रयोजन या निमित्त के वशसे उपचार किया जाता है और वह प्रयोजन कार्य कारण या निमित्त नैमित्तिकादि भावोंमें अविनाभाव सम्बन्ध ही है।

६. उपचार-प्रयोगका कारण व प्रयोजन

ध.७/२,१,५६/१०१/५ कधमंतरंगाए चक्खिंदियविसयपडिबद्धाए सत्तीए चक्खिंदियस्स पउत्ती। ण अंतरंगे बहिरंगत्थोवयारेण बालजणबोहणट्ठं चक्खूणं जं दिस्सदि तं चक्खुदंसणमिदि परूवणादो। गाहाए गलभंजणमकाऊण उजुवत्थो किण्ण घेप्पदि। ण तत्थ, पुव्वुत्तासेसदोसप्पसंगादो। —प्रश्न—उस चक्षु इन्द्रियके विषयसे प्रतिबद्ध अंतरंग (दर्शन) शक्तिमें चक्षु इन्द्रियकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, यथार्थमें तो चक्षु इन्द्रियकी अंतरंगमें ही प्रवृत्ति होती है, किन्तु बालक जनोंको ज्ञान करानेके लिए अंतरंगमें बहिरंग पदार्थके उपचारसे 'चक्षुओंको जो दिखता है वही चक्षु दर्शन है' ऐसा प्ररूपण किया गया है। प्रश्न—गाथाका गला न घोंटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं करते, क्योंकि, वैसा करनेमें तो पूर्वोक्त समस्त दोषोंका प्रसंग आता है।

पं.ध./पू./५४२-५४३ असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्। तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम्।५४२। तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात्। उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव।५४३। —निश्चयनयमे तत्त्वका स्वरूप केवल सत्रूप मानते हुए, निर्विकल्पताके कारण यद्यपि उक्त लक्षण (अर्थविकल्पो ज्ञानं) ठीक नहीं है, तो भी अवलम्बनके बिना निर्विषय ज्ञानका स्वरूप कहा नहीं जाता है। इसलिए ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध होनेसे अनन्य शरण होते हुए भी यहाँपर वह ज्ञान हेतु (या प्रयोजन) के वशसे उपचरित होकर उससे भिन्नके (ज्ञेयों) के शरणकी तरह मालूम होता है। अर्थात् स्वपर व्यवसायात्मक प्रतीत होता है। (और भी दे० नय V/६/२)

५. उपचार व नय सम्बन्ध विचार

१. उपचार कोई पृथक् नय नहीं है

आ.प./६ उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः। —उपचार नय कोई पृथक् नय नहीं है, इसलिए असद्भूत व्यवहार नयसे पृथक् उसका ग्रहण नयोंकी गणनामें नहीं किया है।

२. असद्भूत व्यवहार ही उपचार है

आ.प./६ असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः। —असद्भूत व्यवहार ही उपचार है। और उपचारका भी जो उपचार करता है सो उपचरितासद्भूत व्यवहार है। (विशेष देखो नय/V)

३. उपचार शुद्ध नयमें नहीं नैगमादि नयोंमें ही सम्भव है

क.पा.१/१,१३-१४/§२४८/२६०/६ एवं णेगम-संगह-ववहाराणं। कुदो। कज्जादो अभिण्णस्स कारणस्स पच्चयभावब्भुवगमादो। उजुसुदस्स कोहोदयं पडुच्च जीवो कोहकसाओ। जं पडुच्च कोहकसाओ तं पच्चयकसाएण कसाओ। बंधसंताणं जीवादो अभिण्णाणं वेयणसहावाणमुजुसुदो कोहादिपच्चयभावं किण्ण इच्छदे। ण बंधसंतेहिंतो कोहादिकसायणमुप्पत्तीए अभावादो। ण च कज्जमणुकंताणं कारणववएसो; अव्वरथावत्तीदो। –इस प्रकार ऊपर चार सूत्रों द्वारा जो क्रोधादि रूप द्रव्य कर्मको प्रत्यय कषाय कह आये हैं, वह नैगम संग्रह और व्यवहार नयकी अपेक्षासे जानना चाहिए। प्रश्न—यह कैसे जाना कि उक्त कथन नैगमादिकी अपेक्षासे किया है? उत्तर—चूँकि ऊपर (इन सूत्रोंमें) कार्यसे अभिन्न (अविनाभावी) कारणको प्रत्ययरूपसे स्वीकार किया है, अर्थात जो 'कारण' कार्यसे अभिन्न है उसे ही कषायका प्रत्यय बतलाया है। ऋजुसूत्रकी दृष्टिमें क्रोधके उदयकी अपेक्षा जीव क्रोध कषाय रूप होता है। प्रश्न—बन्ध और सत्त्व भी जीवसे अभिन्न हैं, और वेदनास्वभाव हैं, इसलिए ऋजुसूत्रनय क्रोधादि कर्मोंके बन्ध और सत्त्वको भी क्रोधादि प्रत्यय रूपसे क्यों नहीं स्वीकार करता है? अर्थात् क्रोध कर्मके उदयको ही ऋजुसूत्र प्रत्यय कषाय क्यों मानता है; उसके बन्ध और सत्त्व अवस्थाको प्रत्ययकषाय क्यों नहीं मानता? उत्तर—नहीं; क्योंकि क्रोधादि कर्मोंके बन्ध और सत्त्वसे क्रोधादि कषायोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, तथा जो कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं, उन्हें कारण कहना ठीक भी नहीं है, क्योंकि (इस नयसे) ऐसा मानने पर अव्यवस्था दोषकी प्राप्ति होती है।

क.पा.१/१,१३-१४/§२५७/२६७/१ जं मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो तत्तो पुधभूदो संतो कथं कोहो। होंत एसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा। किंतु णइगमणओ जयिवसहाइरिएण जेणावलंबिदो तेण ण एस दोसो। तत्थ कथं ण दोसो। कारणम्मि णिलीणकज्जब्भुवगमादो। –प्रश्न—जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है वह मनुष्य उस क्रोधसे अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे कहला सकता है? उत्तर—यदि यहाँ पर संग्रह आदि नयोंका अवलम्बन लिया होता तो ऐसा होता, किन्तु यतिवृषभाचार्यने चूँकि यहाँ पर नैगमनयका अवलम्बन लिया है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। प्रश्न—नैगम नयका अवलम्बन लेने पर दोष कैसे नहीं है? उत्तर—क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है, इसलिए दोष नहीं है।

उपचार-अभेद—अभेदोपचार—दे० अभेद।

उपचार छल—दे० छल।

उपचार विनय—दे० विनय।

उपदेश—मोक्षमार्गका उपदेश परमार्थसे सबसे बड़ा उपकार है, परन्तु इसका विषय अत्यन्त गुप्त होनेके कारण केवल पात्रको ही दिया जाना योग्य है, अपात्रको नहीं। उपदेशकी पात्रता निरभिमानता विनय व विचारशीलतामें निहित है। कठोरतापूर्वक भी दिया गया परमार्थोपदेश पात्रके हितके लिए ही होता है। अतः उपदेश करना कर्तव्य है, परन्तु अपनी साधनामें भंग न पड़े, इतनी सीमा तक ही। उपदेश भी पहिले मुनिधर्मका और पीछे श्रावक धर्मका दिया जाता है ऐसा क्रम है।

१. उपदेश सामान्य निर्देश

१. धर्मोपदेशका लक्षण

स. सि./९/२५/४४३/५ धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। —धर्मकथा आदिका अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है। (रा.वा./९/२५/५/६२४/१९); (चा.सा./-१५३/५); (त.सा./७/१९); (अन.ध./७/८७/७१६)

२. मिथ्योपदेशका लक्षण

स. सि./७/२६/३६६/७ अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्त्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः। —अभ्युदय और मोक्षकी कारणभूत क्रियाओंमें किसी दूसरेको विपरीत मार्गसे लगा देना, या मिथ्या वचनों-द्वारा दूसरोंको ठगना मिथ्योपदेश है।

३. निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकारके उपदेशोंका निर्देश

मो. पा./मू./१९,६० परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ। इय णाऊणसदव्वे कुणहरई विरइ इयरम्मि ।१९। धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं। णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ।६०। —परद्रव्यसे दुर्गति होती है और स्वद्रव्यसे सुगति होती है, ऐसा जानकर हे भव्यजीवो! तुम स्वद्रव्यमें रति करो और परद्रव्यसे विरक्त हो ।१९। देखो जिसको नियमसे मोक्ष होना है और चार ज्ञानके जो धारी हैं ऐसे तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं ऐसा निश्चय करके तप करना योग्य है ।६०।

पं. ध./उ./६५३ न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः। नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ।६५३। —निश्चय करके सत्पात्रोंको दान देनेके विषयमें और अर्हन्तोंकी पूजाके विषयमें न तो वह आदेश निषिद्ध है तथा न वह उपदेश ही निषिद्ध है।

२. योग्यायोग्य उपदेश निर्देश

१. परमार्थ सत्यका उपदेश असम्भव है

स. श./१९,५९ यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये। उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ।१९। यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः। ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ।५९। —मैं उपाध्यायों आदिकोंसे जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा शिष्यादिकोंको जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ वह सब मेरी पागलों जैसी चेष्टा है, क्योंकि, मैं वास्तवमें इन सभी वचनविकल्पोंसे अग्राह्य हूँ ।१९। जिस विकल्पाधिरूढ़ आत्मस्वरूपको अथवा देहादिकको समझाने-बुझानेकी मैं इच्छा करता हूँ, वह मैं नहीं हूँ, और जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभवगम्य आत्मस्वरूप मैं हूँ, वह भी दूसरे जीवोंके उपदेश-द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि केवल स्वसंवेदगम्य है। इसलिए दूसरे जीवोंको मैं क्या समझाऊँ ।५९।

२. पहले मुनिधर्मका और पीछे गृहस्थधर्मका उपदेश दिया जाता है

पु. सि. उ./१७-१९ बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति। तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ।१७। यो यतिधर्मकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः। तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ।१८। अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः। अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ।१९। —जो जीव बारम्बार दिखलायी हुई समस्त पापरहित मुनिवृत्तिको कदाचित् ग्रहण न करे तो उसे एकदेश पाप क्रिया रहित गृहस्थाचार इस हेतुसे समझावे अर्थात् कथन करे ।१७। जो तुच्छ बुद्धि उपदेशक, मुनिधर्मको नहीं कह करके श्रावक धर्मका उपदेश देता है उस उपदेशकको भगवत्के सिद्धान्तमें दण्ड देनेका स्थान प्रदर्शित किया है ।१८। जिस कारणसे उस दुर्बुद्धिके क्रमभंग कथनरूप उपदेश करनेसे अत्यन्त दूर तक उत्साहमान हुआ भी शिष्य तुच्छस्थानमें सन्तुष्ट होकर ठगाया हुआ होता है ।१९।

३. अयोग्य उपदेशका निषेध

पं. ध./उ/६५४ यद्वा देशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि। यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ।६५४। —वे आदेश और उपदेश दोनों ही निर्दोष क्रियाओंमें ही होते हैं, किन्तु जहाँपर पापकी थोड़ी-सी भी सम्भावना है वहाँपर कभी भी आदेशकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

४. ख्याति लाभ आदिकी भावनाओंसे निरपेक्ष ही उपदेश हितकारी होता है

रा.वा./९/२५/५/६२४/१८ दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं संदेहव्यावर्त्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते। —लौकिक ख्याति लाभ आदि फलकी आकांक्षाके बिना, उन्मार्गकी निवृत्तिके लिए तथा सन्देहकी व्यावृत्ति और अपूर्व अर्थात् अपरिचित पदार्थके प्रकाशनके लिए धर्मकथा करना धर्मोपदेश है। (चा. सा./१५३/४)

३. वक्ता व श्रोता विचार

१. श्रोताकी रुचिसे निरपेक्ष सत्यका उपदेश देना योग्य है

भ. आ./मू./४८३ आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोए। कडुय फरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए ।४८३। —जो पुरुष आत्महित करनेके लिए कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कटु व कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं, वे जगत्में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए।

स. सि./१/३१/१४४ विरोध होता है तो होने दो। यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ रोगीकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती है। (दे० आगम/३/४/३)

पु. सि. उ./१०० हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्। हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ।१००। =समस्त ही अनृत वचनोंका प्रमादसहित योग हेतु निर्दिष्ट होनेसे हेय उपादेयादि अनुष्ठानोंका कहना झूठ नहीं होता।

स. म./३/१५/१६ ननु यदि च पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकता, तत्किमर्थं तान् प्रत्युपदेशक्लेश इति। नैवम्। परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगतां रुचिमरुचिं वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्; तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्; न च हितोपदेशात्परः पारमार्थिकः परार्थः। तथा चार्षम्—"रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ। भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया।" =प्रश्न—यदि अविवेककी प्रचुरतासे किसीको जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंमें रुचि नहीं होती, तो आप उसे क्यों उपदेश देनेका परिश्रम उठाते हैं? उत्तर—यह बात नहीं है, परोपकार स्वभाववाले महात्मा पुरुष किसी पुरुषकी रुचि और अरुचिको न देखकर हितका उपदेश करते हैं। क्योंकि महात्मा लोग दूसरेके उपकारको ही अपना उपकार समझते हैं। हितका उपदेश देनेके समान दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है। ऋषियोंने कहा है—"उपदेश दिया जानेवाला पुरुष चाहे रोष करे, चाहे वह उपदेशको विषरूप समझे, परन्तु हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिए।"

२. उपदेश श्रोताकी योग्यता व रुचिके अनुसार देना चाहिए

ध. १/१,१,६६/३११/१ द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। संक्षेपरुचयो नानुग्रहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात्। =प्रश्न—सूत्रमें दो बार 'अस्ति' शब्दका ग्रहण निरर्थक है? उत्तर—नहीं; क्योंकि विस्तारसे समझनेकी रुचिवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिए सूत्रमें दो बार 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है। प्रश्न—तो इस सूत्रमें संक्षेपमे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुगृहीत नहीं किये गये? उत्तर—नहीं, क्योंकि, संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका अनुग्रह विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहका अविनाभावी है। अर्थात् विस्तारसे कथन कर देनेपर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम चल ही जाता है। (ध. १/१,१,५/१५३/७ तथा अन्यत्र भी अनेकों स्थलों पर)

म.पु./१/१३७ इति धर्मकथाङ्गत्वादर्थाक्षिप्तां चतुष्टयीम्। कथां यथार्हं श्रोतृभ्यः कथकः प्रतिपादयेत् ।१३७। इस प्रकार धर्मकथाके अङ्गभूत आक्षेपिणी विक्षेपिणी संवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चारों कथाओंको विचारकर श्रोताकी योग्यतानुसार वक्ताको कथन करना चाहिए।

न्या.दी./३/§३६ वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्यानुशयारोधेन प्रतिज्ञाहेतू द्वाववयवौ; प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः; प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः; प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा पञ्चेति यथायोगप्रयोगपरिपाटी। तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः—"प्रयोगपरिपाटी प्रतिपाद्यानुरोधतः।" =वीतराग कथामें तो शिष्योंके आशयानुसार प्रतिज्ञा और हेतु ये दो भी अवयव होते हैं; प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन भी होते हैं, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण और उपनय ये चार भी होते हैं; प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच भी होते हैं। इस तरह यथायोग्य रूपसे प्रयोगकी यह व्यवस्था है। इसी बातको श्री कुमारनन्दि भट्टारकने 'वादन्याय' में कहा है—

प्रयोगोंके बोलनेकी यह व्यवस्था प्रतिपाद्यों (श्रोताओं) के अभिप्रायानुसार करनी चाहिए। जो जितने अवयवोंसे समझ सके उतने अवयवोंका प्रयोग करना चाहिए।

३. ज्ञान अपात्रको नहीं देना चाहिए

कुरल/७२/४,६,१० ज्ञानचर्चा तु कर्तव्या विदुषामेव संसदि। मौर्ख्यं च दृष्टिमाधाय वक्तव्यं मूर्खमण्डले ।४। व्याख्यानेन यशोलिप्सो शृणुवेदं स्वावधार्यताम्। विस्मृत्याग्रे न वक्तव्यं व्याख्यानं हतचेतसाम् ।६। विरुद्धानां पुरस्तात्तु भाषणं विद्यते तथा। मालिन्यदूषिते देशे यथा पीयूषपातनम् ।१०। =बुद्धिमान् और विद्वान् लोगोंकी सभामें ही ज्ञान और विद्वत्ताकी चर्चा करो, किन्तु मूर्खोंको उनकी मूर्खताका ध्यान रखकर ही उत्तर दो ।४। ऐ वक्तृतासे विद्वानोंको प्रसन्न करनेकी इच्छावाले लोगो! देखो, कभी भूलकर भी मूर्खोंके सामने व्याख्यान न देना ।६। अपनेसे मतभेद रखनेवाले व्यक्तियोंके समक्ष भाषण करना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार अमृतको मलिन स्थानपर डाल देना ।१०।

स.श./५८ अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा। मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ।५८। =स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है, कि जैसे ये मूर्ख अज्ञानी जीव बिना बताये हुए मेरे आत्मस्वरूपको नहीं जानते हैं, वैसे ही बतलाये जानेपर भी नहीं जानते हैं। इस लिए उन मूढ़ पुरुषोंको मेरा बतलानेका परिश्रम व्यर्थ है—निष्फल है। प्रायो मूर्खस्य कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्। निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम्। =प्रायः करके सन्मार्गका उपदेश मूर्खजनोंके लिए कोपका कारण होता है। जिस प्रकार कि नकटे व्यक्तिको यदि दर्पण दिखाया जाये तो उसे क्रोध आता है।

ध. १/१,१,१/६२-६३/६८ सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसावि-जाहय-सुएहि। मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ।६२। धद-गारवपडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण-घुम्मंतो। सो भट्ठ बोहिलाहो भमइ चिरं भववणे मूढो ।६३। =शैलघन, भग्नघट, सर्प, चालनी, महिष, मेढ़ा, जौंक, शुक, माटी और मशक (मच्छर) के समान श्रोताओंको (देखो 'श्रोता') जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है, वह मूढ़ रसगारवके आधीन होकर विषयोंकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट होकर भव वनमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ।६२-६३।

ध. १२/४,२,१३,६६/४/४१४ बुद्धिविहीने श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम्। नेत्रविहीने भर्तरि विलासलावण्यवत्स्त्रीणाम् ।४। =जिस प्रकार पतिके अन्धे होनेपर स्त्रियोंका विलास व सुन्दरता व्यर्थ (निष्फल) है, उसी प्रकार श्रोताके मूर्ख होनेपर पुरुषोंका वक्तापना भी व्यर्थ है ।४।

ध.१/१,१,१/७०/१ इदि वयणादो जहाछंदाईणं विज्जादाणं संसार-भयवद्धणमिदि चिंतिऊण...धरसेणभयवदा पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता। ='यथाच्छन्द श्रोताओंको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है' ऐसा विचार कर ही धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दो साधुओंकी फिरसे परीक्षा लेनेका निश्चय किया।

क.पा. १/१,११-१२/§१६८/१७१/४ 'सुण' यद (इदि) सिस्ससंभालणवयणं अपडिबद्धस्स सिस्सस्स वक्खाणं णिरत्थयमिदि जाणावणट्ठं भणिदं। ='नासमझ शिष्योंको व्याख्यान करना निरर्थक है' यह बात बतलानेके लिए ही सूत्रमें 'सुनो' इस पदका ग्रहण किया गया है।

अ.ग.श्रा./८/२५ अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थहेतवे। यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः ।२५। =अयोग्य पुरुषके जिनेन्द्रका वचन अनर्थनिमित्त होता है, इसलिए पण्डितोंको योग्य पुरुषोंकी खोज करनी चाहिए।

अन.ध./१/१३,१७,२० बहुशोऽप्युपदेशः स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे। भवति ह्यन्धपाषाणः केनोपायेन काञ्चनम् ।१३। अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं, कारुण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्मं सदा शर्मदम्। संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशान्न

व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमतो व्युत्पत्स्यनर्थिरवतः ।१७। यो यद्विजानाति स तत्र शिष्यो यो वा न तद्वेष्टि स तत्र लभ्यः । को दीपयेद्धामनिधिं हि दीपैः कः पूरयेद्वाम्बुनिधिं पयोभिः ।२०। —मिथ्यात्वसे ग्रस्त व्यक्तिको बार-बार भी उपदेश दिया जाये पर उसे तत्त्वका समीचीन ज्ञान नहीं होता। क्या अन्धपाषाण भी किसी उपायसे स्वर्ण हो सकता है ।१३। अव्युत्पन्न श्रोताओंके अभिप्रायको जानकर आचार्य करुणा बुद्धिसे उन्हें धर्मके फलका लालच देकर भी कल्याणकारी धर्मका उपदेश दिया करते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति संदिग्ध हैं वे यदि विनयपूर्वक आकर पूछें तो उन्हें भी धर्मका उपदेश विशेष रूपसे देते हैं। किन्तु जो व्यक्ति व्युत्पन्न है, परन्तु विपरीत व दुष्ट-बुद्धिके कारण विपरीत तत्त्वोंमें दुराग्रह करते हैं, उनको धर्मका उपदेश नहीं करते हैं ।१७। जो जिस विषयको जानता है अथवा जो जिस वस्तुको नहीं चाहता है उसे उस विषय या वस्तुका प्रतिपादन नहीं करना चाहिए। क्योंकि कौन ऐसा है जो सूर्यको दीपकसे प्रकाशित करे अथवा समुद्रका जलसे भरे ।२०।

४. कैसे जीवको कैसा उपदेश देना चाहिए

भ.आ./मू./६५५,६८६ आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स । पाबोग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ।६५५। भत्तादीणं भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कायव्वा ।...।६८६। —आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी, ऐसे कथाके चार भेद हैं। इन कथाओंमें आक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी कथाएँ क्षपकको सुनाना योग्य हैं। उसे विक्षेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा ।६५५। आगमार्थको जाननेवाले मुनियोंको क्षपकके पास भोजन वगैरह कथाओंका वर्णन करना योग्य नहीं ।६८६।

ध.१/१,१,२/१०६/३ एत्थ विक्खेवणी णाम कहा जिणवयणमयाणंतस्स ण कहेयव्वा, अगहिद ससमय-सब्भावो पर-समय संकहाहि वाउलिद-चित्तो मा मिच्छत्तं गच्छेज्ज त्ति तेण तस्स विक्खेवणीं मोत्तूण सेसाओ तिण्णि वि कहाओ कहेयव्वाओ। तदो गहिदसमयस्स... जिणवयणणिव्विदिगिच्छस्स भोगरइविरदस्स तवसीलणियमजुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी कहा कहेयव्वा। एसा अकहा वि पण्णवयंतस्स परुवयंतस्स तदा कहा होदि। तम्हा पुरिसंतरं पप्पसमणेण कहा कहेयव्वा। —इन कथाओंका प्रतिपादन करते समय जो जिन-वचनको नहीं जानता, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जाना है, और परसमयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओंके सुननेसे व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिए उसे विक्षेपणीको छोड़कर शेष तीन कथाओंका उपदेश देना चाहिए। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमयको भली-भाँति समझ लिया है, जो जिन-शासनमें अनुरक्त है, जिन-वचनमें जिसको किसी प्रकारकी विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है, और जो तप, शील और नियमसे युक्त है, ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना चाहिए। प्ररूपण करके उत्तम रूपसे ज्ञान करानेवालेके लिए यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिए योग्य पुरुषोंको प्राप्त करके ही साधुओंको उपदेश देना चाहिए।

मो.मा.प्र./८/४२६/१६ "आपकै व्यवहारका आधिक्य होय तौ निश्चय पोषक उपदेशका ग्रहणकरि यथावत् प्रवर्त्तै, अर आपकै निश्चयका आधिक्य होय तौ व्यवहारपोषक उपदेशका ग्रहणकरि यथावत् प्रवर्त्तै।"

५. किस अवसरपर कैसा उपदेश करना चाहिए

म.पु./१/१३५-१३६ आक्षेपिणीं कथां कुर्यात्प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे। विक्षेपिणीं कथां तज्ज्ञः कुर्याद्दुर्मतनिग्रहे ।१३५। संवेदिनीं कथां पुण्यफलसंपत्प्रपञ्चने। निर्वेदिनीं कथां कुर्याद्वैराग्यजननं प्रति ।१३६। —बुद्धिमान वक्ताको चाहिए कि वह अपने मतकी स्थापना करते समय आक्षेपणी कथा कहे, मिथ्यात्वमतका खण्डन करते समय विक्षेपणी कथा कहे, पुण्यके फलस्वरूप विभूति आदिका वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादनके समय निर्वेदिनी कथा कहे।

४. उपदेश प्रवृत्तिका माहात्म्य

१. हितोपदेश सबसे बड़ा उपकार है

स.म./३/१५/२२ न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः। —हितका उपदेश देनेके बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है।

२. उपदेशसे श्रोताका हित हो न हो पर वक्ताका हित तो होता ही है

स.म./३/१५/२५ में उद्धृत—"उवाच च वाचकमुख्यः—"न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्। ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥" —उमास्वामी वाचकमुख्यने भी कहा है—सभी उपदेश सुननेवालोंको पुण्य नहीं होता है परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे हितका उपदेश करनेवालेको निश्चय ही पुण्य होता है।

३. अतः परोपकारार्थ हितोपदेश करना इष्ट है

भ. आ./वि./१११/२५८/६ श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः, इत्याज्ञा सर्वविदां सा परिपालिता भवतीति शेषः। —जिनमतपर प्रीति रखनेवाले मोक्षेच्छु मुनियोंको नियमसे हितोपदेश करना चाहिए ऐसी श्री जिनेश्वरकी आज्ञा है। उसका पालन धर्मोपदेश देनेसे होता है।

४. उपदेशका फल

भ.आ./मू./१११ आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती। होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ।१११। —स्वाध्याय भावनामें आसक्त मुनि परोपदेश देकर आगे लिखे हुए गुणगणोंको प्राप्त कर लेते हैं।—आत्मपर समुद्धार, जिनेश्वरकी आज्ञाका पालन, वात्सल्य प्रभावना, जिन वचनमें भक्ति, तथा तीर्थकी अव्युच्छित्ति।

स.सि./१/८/३०/३ सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयासः। —सज्जनोंका प्रयास सब जीवोंका उपकार करनेका है।

ध.१३/५,५,५०/२८६/३ किमर्थं सर्वकालं व्याख्यायते। श्रोतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरणहेतुत्वात्। —प्रश्न—इसका (प्रवचनीयका) सर्व काल किस लिए व्याख्यान करते हैं? उत्तर—क्योंकि वह व्याख्याता और श्रोताके असंख्यातगुणश्रेणी रूपसे होनेवाली कर्मनिर्जराका कारण है।

५. उपदेशप्राप्तिका प्रयोजन

प्र.सा./मू./८८ जो मोह रागदोसे णिहणदि जोण्हमुवदेसं। सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।८८। —जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह रागद्वेषको हनता है वह अल्पकालमें सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

भा.पा./पं. जयचन्द/१६५/पृ.२७५/२२ वीतराग उपदेशकी प्राप्ति होय, अर ताका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण करै, तब अपना अर परका भेदज्ञानकरि शुद्ध-अशुद्ध भावका स्वरूप जाणि अपना हित अहितका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण होय, तब शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी शुद्ध चेतना परिणामकूं तौ हित जानै, ताका फल संसार निवृत्ति ताकूं जानै, अर अशुद्ध भावका फल संसार है, ताकूं जानै, तब शुद्ध भावका अङ्गीकार अर अशुद्ध भावके त्यागका उपाय करै।

उपधातु—औदारिक शरीरमें धातु-उपधातुका निर्देश व प्रमाण। —दे० औदारिक/१।

उपधान—मू.आ./२८२ आयंबिल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं। तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ।२८२। =आचाम्ल आहार (कांजी), निर्विकृति आहार (नीरस), तथा और भी जिस शास्त्रके योग्य जो क्रिया कही हो उसका नियम करना, वह उपधान है। उससे भी शास्त्रका आदर होता है।

भ. आ./वि./११३/२६१/१ उपहाणे अवग्रहः। यावदिदमनुयोगद्वारं निष्ठामुपैति तावदिदं मया न भोक्तव्यं, इदं अनशनं चतुर्थषष्ठादिकं करिष्यामीति संकल्पः। स च कर्म व्यपनयतीति विनयः। =विशेष नियम धारण करना। जब तक यह अनुयोगका प्रकरण समाप्त होगा तब तक मैं उपवास करूँगा, अथवा दो उपवास करूँगा, यह पदार्थ नहीं खाऊँगा या भोगूँगा; इस तरहसे संकल्प करना उपधान है। यह विनय अशुभ कर्मको दूर करता है।

उपधि—१. परिग्रहके अर्थमें उपधिका लक्षण

रा.वा./६/२६/२/६२४ योऽर्थोऽन्यस्य बलाधानार्थमुपधीयते स उपधिरित्युच्यते। =जो पदार्थ अन्यके बलाधानके लिए अर्थात् अन्यके निमित्त ग्रहण किये जाते हों वे उपधि हैं।

ध.१२/४,२,८,१०/२८५/६ उपेत्य क्रोधादयो धीयन्ते अस्मिन्निति उपधिः। क्रोधाद्युत्पत्तिनिबन्धनो बाह्यार्थ उपधिः। =आकरके क्रोधादि जहाँ पर पुष्ट होते हैं उसका नाम उपधि है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार क्रोधादि परिणामोंकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत बाह्यपदार्थको उपधि कहा गया है।

२. परिग्रह रूप उपधिके भेद व लक्षण

स.सि./९/२६/४४३/१० स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति। अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते। =वह (व्युत्सर्ग या त्याग) दो प्रकारका है—बाह्योपधि त्याग और अभ्यन्तर उपधि त्याग। आत्मासे एकत्वको नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन, धान्य आदि बाह्य उपधि हैं और क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि हैं। तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा है। (रा.वा./९/२६/३-५/६२४); (त.सा./७/३९); (चा.सा./१५४/१); (अन.ध./७/९८/७२२); (भा.पा./टी./७८/२२५/१६)

३. अन्य सम्बन्धित विषय

* मायाका एक भेद है—दे० माया/२।
* परिग्रह सम्बन्धी विषय—दे० परिग्रह।
* साधु योग्य उपधि—दे० परिग्रह/१।
* योग्यायोग्य उपधिका विधि निषेध—दे० अपवाद/४।

उपधि वाक्—दे० वचन।

उपनय—न्या. सू./मू./१/१/३८ उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।३८। =उदाहरणकी अपेक्षा करके 'तथा इति' अर्थात् जैसा उदाहरण है वैसा ही यह भी है, इस प्रकार उपसंहार करना उपनय है। अथवा यदि उदाहरण व्यतिरेकी है तो—जैसे इस उदाहरणमें नहीं है उसी प्रकार यह भी नहीं है, इस प्रकार उपसंहार करना उपनय है। तात्पर्य यह कि जहाँ वैधर्म्यका दृष्टान्त होगा वहाँ 'न तथा' ऐसा उपनय होगा और जहाँ साधर्म्यका उदाहरण होगा वहाँ 'तथा' ऐसा उपनय होगा।

न्या.सू./भा./१/१/३८/३८ साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः। =साधनभूतका साध्यधर्मके साथ समान अधिकरण (एक आश्रयपना) होनेका प्रतिपादन करना उपनय है।

प. मु./३/५० हेतोरुपसंहार उपनयः।५०। =व्याप्तिपूर्वक धर्मीमें हेतुकी निस्संशय मौजूदगी बतलाना उपनय है यथा (उसी प्रकार यह भी धूमवान् है) ऐसा कहना।

न्या.दी./३/§३२,७२ दृष्टान्तापेक्षया पक्षे हेतोरुपसंहारवचनमुपनयः। तथा चायं धूमवानिति।३२। साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनयः। यथा चायं धूमवानिति।७२। =दृष्टान्तकी अपेक्षा लेकर पक्षमें हेतुके दोहरानेको उपनय कहते हैं। जैसे—'इसीलिए यह पर्वत भी धूमवाला है' ऐसा कहना—अथवा साधनवान रूपसे पक्षकी दृष्टान्तके साथ साम्यताका कथन करना उपनय है। जैसे इसीलिए यह धूमवाला है।

* उपनय नामक नय—दे० नय V/४।

उपनयाभास—न्या. दी./३/§७२ अनयोर्व्यत्ययेन कथनमनयोराभासः। =इन दोनों उपनय व निगमनका अयथाक्रमसे कथन करना उपनयाभास और निगमनाभास है। अर्थात् उपनयकी जगह निगमन और निगमनकी जगह उपनयका कथन करना इन दोनोंका आभास है।

उपनय ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

उपनीति—संस्कार सम्बन्धी एक गर्भान्वय क्रिया—दे० संस्कार/२।

उपन्यास—न्या. वि./वृ./१/४१/२९२/२४ उपन्यासो दृष्टान्तो=उपन्यास अर्थात् दृष्टान्त।

उपपत्तिसमा—न्या. सू./मू. व भाष्य./५/१/२५ उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः।२५। यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येत्यनित्यः शब्दो नित्यत्वकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते। (उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च) कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमः। =पक्ष व विपक्ष दोनों ही कारणोंकी, वादी और प्रतिवादियोंके यहाँ सिद्धि हो जाना उपपत्तिसमा जाति है। प्रतिवादी कह देता है कि जैसे तुम्ह वादीके पक्षमें अनित्यत्वपनेका प्रमाण विद्यमान है तिसी प्रकार मेरे पक्षमें भी नित्यत्वपनेका अस्पर्शत्व प्रमाण विद्यमान है। वर्त जानेसे यदि शब्दमें अनित्यत्वकी सिद्धि कर दोगे तो दूसरे प्रकार अस्पर्शत्व हेतुसे शब्द नित्य भी क्यों नहीं सिद्ध हो जायेगा? अर्थात् होवेगा ही। (श्लो. वा. ४/न्या. ४०८/५२१)

उपपाद—स. सि./२/३१/१८७/५ उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषसंज्ञा। =प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं। 'उपपाद' यह देव नारकियोंके उत्पत्तिस्थान विशेषकी संज्ञा है। (रा. वा./२/३१/४/१४०/२६)

गो. जी./जी. प्र./८३/२०५/१ उपपदनं संपुटशय्योष्ट्रमुखाकारादिषु लघुनान्तर्मुहुर्तेनैव जीवस्य जननम् उपपादः।—उपपदन कहिए संपुटशय्या वा उष्ट्रादि मुखाकार योनि विषै लघु अन्तर्मुहूर्त कालकरि ही जीवका उपजना सो उपपाद कहिए।

ति. प./२/८/विशेषार्थ "विवक्षित भवके प्रथम समयमें होनेवाली पर्यायकी प्राप्तिको उपपाद कहते हैं।"

२. उपपादके भेद

ध. ७/२,६,१/३००/३ उववादो दुविहो—उजुगदिपुव्वओ विग्गहगदिपुव्वओ चेदि। तत्थ एक्केक्को दुविहो—मारणांतियसमुग्घादपुव्वओ तव्विवरीदओ चेदि। =उपपाद दो प्रकार है—ऋजुगतिपूर्वक और विग्रहगतिपूर्वक। इनमें प्रत्येक मारणान्तिकसमुद्घातपूर्वक और तद्विपरीतके भेदसे दो-दो प्रकार है।

* **उपपादज जन्म सम्बन्धी अन्य विषय**—दे० जन्म/२।

उपपाद क्षेत्र—दे० क्षेत्र/१।

उपपाद गृह—त्रि. सा./मू./५२३ पासे उववादिगहं हरिस्स अडवास *दीहरुदयजुदं। दुगरयणसयणमज्झं वरजिणगेहं च बहुकूडं।* =तिह मानस्तम्भके पासि आठ योजन् चौड़ा इतना ही लम्बा ऊँचा उपपादगृह है। बहुरि तीह उपपादग्रहविषै दोय रत्नमई शय्या पाईए है। इहाँ इन्द्रका जन्मस्थान है। बहुरि इस उपपादगृहकै पासि बहुत शिखरनिकरि संयुक्त जिनमन्दिर है।

उपपाद योगस्थान—दे० योग/५।

उपभोग—दे० भोग।

उपमान—न्या.सू./मू. व भाष्य/१/१/६ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।६। प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। यथा गौरेवं गवय इति। =प्रसिद्ध पदार्थकी तुल्यतासे साध्यके साधनको उपमान कहते हैं। प्रज्ञातके द्वारा सामान्य होनेसे प्रज्ञापनीयका प्रज्ञापन करना उपमान है। जैसे 'गौ की भाँति गवय होता है' ऐसे कहकर 'गवय'का रूप समझाना। (न्या. वि./मू./३/८५/३६१); (रा. वा./१/२०/१५/७८/१७)

२. उपमान प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव

रा. वा./१/२०/१५/७८/१८ इत्युपमानमपि स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भावयति। =क्योंकि इसके द्वारा स्व व परकी प्रतिपत्ति हो जाती है। इसलिए इसका अक्षर व अनक्षर श्रुतज्ञानमें *अन्तर्भाव हो जाता है।*

उपमा प्रमाण—दे० प्रमाण/६।

उपमा मान—(ज. प./प्र. १०५) Similer Measure.

उपमा सत्य—दे० *सत्य/१*।

उपयुक्त—बसतिकाका एक दोष—दे० बसतिका।

उपयोग—चेतनाकी परिणति विशेषका नाम उपयोग है। चेतना सामान्य गुण है और ज्ञान दर्शन ये दो इसकी पर्याय या अवस्थाएँ हैं। इन्हींको उपयोग कहते हैं। तिनमें दर्शन तो अन्तर्चित्प्रकाशका सामान्य प्रतिभास है जो निर्विकल्प होनेके कारण वचनातीत व केवल अनुभवगम्य है। और ज्ञान बाह्य पदार्थोंके विशेष प्रतिभासको कहते हैं। सविकल्प होनेके कारण यह व्याख्येय है। इन दोनों ही उपयोगोंके अनेकों भेद-प्रभेद हैं। यही उपयोग जब बाहरमें शुभ या अशुभ पदार्थोंका आश्रय करता है तो शुभ अशुभ विकल्पों रूप हो जाता है और जब केवल अन्तरात्माका आश्रय करता है तो निर्विकल्प होनेके कारण शुद्ध कहलाता है। शुभ-अशुभ उपयोग संसारका कारण हैं अतः परमार्थसे हेय हैं और शुद्धोपयोग मोक्ष व आनन्दका कारण है, इसलिए उपादेय हैं।

I ज्ञान दर्शन उपयोग—

१. भेद व लक्षण

१. उपयोग सामान्यका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/१७८ वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो ।।१७८।—जीवका जो भाव वस्तुके ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं । (गो.जी./मू./६७२); (पं.सं./सं./१/३३२)

स.सि./२/८/१६३/३ उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।—जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके निमित्तोंसे होता है और चैतन्यका अन्वयी है अर्थात् चैतन्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है । (प्र.सा./त.प्र./१५५); (पं.का./त.प्र/४१); (स.सा./ता.वृ./१०); (नि.सा./ता.वृ./१०)

रा.वा./२/१८/१-२/१३०/२४ यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।।१। तदुक्तं निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते ।—जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियोंकी रचनाके प्रति व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं । उस पूर्वोक्त निमित्त (लब्धि) के अवलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं । (स.सि./२/१८/१७६/३); (ध.१/१,१,३३/२३६/६); (त.सा./२/४५-४६); (गो.जी./जी.प्र./१६५/३९१/४); (पं.का./ता.वृ /४३/८६)

रा. वा./१/१/३/२२ प्रणिधानम् उपयोगः परिणामः इत्यनर्थान्तरम् ।—प्रणिधान, उपयोग और परिणाम ये सब एकार्थवाची हैं ।

ध./२/१,१/४१३/६ स्वपरग्रहणपरिणामः उपयोगः । —स्व व परको ग्रहण करनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं ।

पं. का./ता.वृ./४०/८०/१९ आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणामः उपयोगः चैतन्यमनुविधात्यन्वयरूपेण परिणमति अथवा पदार्थपरिच्छित्तिकाले घटोऽयं पटोऽयमित्याद्यर्थग्रहणरूपेण व्यापारयति चैतन्यानुविधायि स्फुटं द्विविधः । —आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं । जो चैतन्यकी आज्ञाके अनुसार चलता है या उसके अन्वयरूपसे परिणमन करता है उसे उपयोग कहते हैं । अथवा पदार्थ परिच्छित्तिके समय 'यह घट है'; 'यह पट है' इस प्रकार अर्थ ग्रहण रूपसे व्यापार करता है वह चैतन्यका अनुविधायी है । वह दो प्रकारका है । (द्र.सं./टी./६/१८/१); (पं.का./ता.वृ./४३/८६/२)

गो. जी./जी. प्र./२/२१/११ मार्गणोपायो ज्ञानदर्शनसामान्यमुपयोगः । —मार्गणा जो अवलोकन ताका जो उपाय सो ज्ञानदर्शनका सामान्य भावरूप उपयोग है ।

२. उपयोग भावनाका लक्षण

पं. का./ता. वृ./४३/८६/२ मतिज्ञानावरणीयक्षयोपमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपलब्धिज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना नीलमिदं, पीतमिदं इत्यादिरूपेणार्थग्रहणव्यापार उपयोगः । —मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमजनित अर्थग्रहणकी शक्तिरूप जो लब्धि उसके द्वारा जाने गये पदार्थमें पुनः-पुनः चिन्तन करना भावना है । जैसे कि 'यह नील है', 'यह पीत है' इत्यादि रूपसे अर्थग्रहण करनेका व्यापार उपयोग है ।

३. उपयोगके ज्ञानदर्शन आदि भेद

स.सि./२/९/१६३/७ स उपयोगो द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति । ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति । तयोः कथं भेदः । साकारानाकारभेदात् । साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति । —वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान । दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । प्रश्न—इन दोनों उपयोगोंमें किस कारणसे भेद है ? उत्तर—साकार और अनाकारके भेदसे इन दोनों उपयोगोंमें भेद है । साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग । (नि.सा./मू./१०-१२); (पं.का./मू./४०); (त.सू./२/९); (रा.वा./२/९/१,३/१२३,१२४); (न.च.वृ./१४,११९); (त.सा./२/४६); (द्र.सं./मू./४-५); (गो.जी./मू./६७२-६७३)

४. उपयोगके वाचना पृच्छना आदि भेद

ष. खं./९/४,१/सू.५५/२६२ (उत्थानिका—संपहि एदेसु जो उवजोगो तस्स भेदपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तमागदं ।) जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेक्खणा वा थय-थुदि-धम्मकहा

...आ जे चामण्णी एवमादिया। —इन आगम निक्षेपोंमें जो उपयोग हैं उसके भेदोंकी प्ररूपणाके लिए उत्तर सूत्र प्राप्त होता है—उन नौ आगमोंमें जो वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा, तथा और भी इनको आदि लेकर जो अन्य हैं वे उपयोग हैं। (ष.खं./१३/५,५/सू.१२/२०३)

५. उपयोगके स्वभाव विभाव रूप भेद व लक्षण

नि.सा./मू./१०-१४ जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ। णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति।१०। केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति। सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं।११। सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं। अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव।१२। तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो। केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं।१३। चक्खु-अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिट्ठि त्ति।१४।

नि.सा./ता.वृ./१०,१३ स्वभावज्ञानम्…कार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति। कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम्। तस्य कारणं परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकालनिरुपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात्।१०। स्वभावोऽपि द्विविधः, कारणस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति। तत्र कारणं दृष्टिः सदा पावनरूपस्य औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य.. खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव। अन्या कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातैव।१३। =जीव उपयोगमयी है। उपयोग ज्ञान और दर्शन है। ज्ञानोपयोग दो प्रकारका है स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जो केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभावज्ञान है। तहाँ स्वभावज्ञान भी कार्य और कारण रूपसे दो प्रकारका है। कार्य स्वभावज्ञान तो सकल विमल केवलज्ञान है। और उसका जो कारण परम पारिणामिक भावसे स्थित त्रिकाल निरुपाधिक सहजज्ञान है, वह कारण स्वभावज्ञान है।१०-११। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान रूप भेद किये जाने पर विभाव ज्ञान दो प्रकारका है।११। सम्यग्ज्ञान चार भेदवाला है—मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय; और अज्ञान मति आदिके भेदसे तीन भेदवाला है।१२। उसी प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। जो केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा है। वह भी दो प्रकारका है—कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव। तहाँ कारण स्वभाव दृष्टि (दर्शन) तो सदा पावनरूप और औदयिकादि चार विभावस्वभाव परभावोंके अगोचर ऐसा सहज सहज परम पारिणामिकरूप जिसका स्वभाव है, जो कारण समयसार स्वरूप है, ऐसे आत्माके यथार्थ स्वरूप श्रद्धानमात्र ही है। दूसरी कार्यदृष्टि दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होती है।१३। चक्षु अचक्षु और अवधि ये तीन विभाव दर्शन कहे गये हैं।

२. उपयोग व लब्धि निर्देश

१. उपयोग व ज्ञानदर्शन मार्गणामें अन्तर

ध./२/१,१/४१३/५ स्वपरग्रहणपरिणाम उपयोगः। न स ज्ञानदर्शनमार्गणयोरन्तर्भवति; ज्ञानदृगावरणकर्मक्षयोपशमस्य तदुभयकारणस्योपयोगत्वविरोधात्। =स्व व परको ग्रहण करनेवाले परिणाम विशेषको उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञानमार्गणा और दर्शनमार्गणामें अन्तर्भूत नहीं होता है; क्योंकि, ज्ञान और दर्शन इन दोनोंके कारणरूप ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयोपशमको उपयोग माननेमें विरोध आता है।

ध.२/१,१/४१५/१ साकारोपयोगो ज्ञानमार्गणायामनाकारोपयोगो दर्शनमार्गणायां (अन्तर्भवति) तयोर्ज्ञानदर्शनरूपत्वात्। —साकार उपयोग ज्ञानमार्गणामें और अनाकार उपयोग दर्शनमार्गणामें अन्तर्भूत होते हैं; क्योंकि, वे दोनों ज्ञान और दर्शन रूप ही हैं।
टिप्पणी—मार्गणाका अर्थ क्षयोपशम सामान्य या लब्धि है और उपयोग उसका कार्य है। अतः इन दोनोंमें भेद है। परन्तु जब इन दोनोंके स्वरूपको देखा जाये तो दोनोंमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि उपयोग भी ज्ञानदर्शन स्वरूप है और मार्गणा भी।

२. उपयोग व लब्धिमें अन्तर

उपयोग १/१/३ ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमको लब्धि कहते हैं और उसके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं।

का.अ./मू./२६० एक्के काले एक्कं णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं। णाणा णाणाणि पुणो लद्धिसहावेण वुच्चंति।२६०। —जीवके एक समयमें एक ही ज्ञानका उपयोग होता है। किन्तु लब्धिरूपसे एक समय अनेक ज्ञान कहे हैं। (गो.क./भाषा/७६४/६६५/३)

पं.ध./उ./८५४-८५५ नास्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः। लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः।८५४। अभावात्तूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा। यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्न चामुना।८५५। —यहाँ सम्पूर्ण लब्धि और उपयोगोंमें विषमव्याप्ति हो होती है। क्योंकि लब्धिके नाशसे अवश्य ही उपयोगका नाश हो जाता है; किन्तु उपयोगके अभावसे लब्धि का नाश हो अथवा न भी हो।

३. लब्धि तो निर्विकल्प होती है

पं. ध./उ/८५८ सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा। निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा।८५८। =इतना कहनेसे यह सिद्ध होता है, कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है वह स्वतः उपयोग रूप न होनेसे निर्विकल्प है।

४. उपयोगके अस्तित्वमें भी लब्धिका अभाव नहीं हो जाता

पं. ध/उ./८५३ कदाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी। नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात्।८५३। —लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति नहीं होनेसे यदा कदाचित् आत्मोपयोगमें (उपलक्षणसे अन्य उपयोगोंमें भी) तत्पर रहनेवाली उपयोगात्मक ज्ञानचेतना लब्धिरूप ज्ञान चेतनाके नाश करनेके लिए समर्थ नहीं है।

II शुद्ध व अशुद्ध आदि उपयोग

१. शुद्धाशुद्धोपयोग सामान्य निर्देश

१. उपयोगके शुद्ध अशुद्धादि भेद

प्र. सा/मू/१५५ अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो। सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।१५५। —आत्मा उपयोगात्मक है। उपयोग ज्ञानदर्शन कहा गया है और आत्माका वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है। (मू. आ./मू./२१८)।

भा. पा./मू/७६ भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं। —जिनवरदेवने भाव तीन प्रकारके कहे हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। (यह गाथा अष्टपाहुड़में है)।

प्र. सा/त. प्र/१५५ अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च। —इस (ज्ञानदर्शनात्मक)

उपयोग के दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। उनमेंसे शुद्ध निरुपराग है और अशुद्ध सोपराग है। वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारका है, क्योंकि उपराग विशुद्धि रूप व संक्लेश रूप दो प्रकार का है।

२. ज्ञानदर्शनोपयोग व शुद्धाशुद्ध उपयोगमें अन्तर

द्र. सं/टी/६/१८/६. ज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्देन विवक्षितार्थपरिच्छित्तिलक्षणोऽर्थग्रहणव्यापारो गृह्यते। शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयविवक्षायां पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभशुद्धभावनैकरूपमनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति।—ज्ञानदर्शन रूप उपयोगकी विवक्षामें उपयोग शब्दसे विवक्षित पदार्थके जाननेरूप वस्तुके ग्रहण रूप व्यापारका ग्रहण किया जाता है। और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगोंकी विवक्षामें उपयोग शब्दसे शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावना रूप अनुष्ठान जानना चाहिए।

२. शुद्धोपयोग निर्देश

१. शुद्धोपयोगका लक्षण

भा. पा/मू/७७ (अष्ट पाहुड) "सुद्धं सुद्धसहाओ अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।...।"—शुद्धभाव है सो अपना शुद्धस्वभाव आपमें ही है, ऐसा जानना चाहिए।

प्र. सा/मू/१४ सुविदितपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो। समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति। —जिन्होंने पदार्थों और सूत्रोंको भली भाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त हैं; जो वीतराग हैं, और जिन्हें सुख दुख समान हैं, ऐसे श्रमणको शुद्धोपयोगी कहा गया है।

न. च./वृ./३५६, ३५४ समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं। तहा चरित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया।३५६। सामण्णे णियबोधे विकलिदपरभाव परंसब्भावे। तत्थाराहणजुत्तो भणिओ खलु सुद्धचारित्ती।३५४।—समता तथा माध्यस्थता, शुद्धभाव तथा वीतरागता, चारित्र तथा धर्म ये सब स्वभावकी आराधना कहे गये हैं।३५६। पर भावोंसे रहित परमभाव स्वरूप सामान्य निज बोधमें तथा तत्त्वोंकी आराधनामें युक्त रहनेवाला ही शुद्ध चारित्री कहा गया है।३५४।

प्र. सा/त. प्र/१५ यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु...ज्ञेयतत्त्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति।—जो चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोगके द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है वह समस्त ज्ञेय पदार्थों के अन्तको पा लेता है।

पं.वि./४/६४-६५ साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्। शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः।६४। नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन। शुद्धं चैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते।६५। —साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।६४। जहाँ न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण-नीलादि वर्ण हैं, और न कोई विकल्प ही है; किन्तु जहाँ केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसीको साम्य कहा जाता है।६५।

प्र.सा./ता.वृ./९/११/१२ निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन...

प्र.सा./ता.वृ./९५।१३।१६ निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसंज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन...

प्र.सा./ता.वृ./१७/२१/१३ जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासंयमरूपशुद्धोपयोगेनोत्पन्नो...

प्र.सा./ता.वृ./२३०/३१५/८ शुद्धात्मनः सकाशादन्यबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो 'निश्चय नयः' सर्वपरित्यागः परमोपेक्षसंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।—निश्चयरत्नत्रयात्मक तथा निर्मोह शुद्धात्माका संवेदन ही है लक्षण जिसका तथा जिसे आगमभाषामें पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं वह शुद्धोपयोग है। जीवन मरण आदिमें समता भाव रखना ही है लक्षण जिसका ऐसा परम उपेक्षासंयम शुद्धोपयोग है। शुद्धात्मासे अतिरिक्त अन्य बाह्य और आभ्यन्तरका परिग्रह त्याज्य है ऐसा उत्सर्गमार्ग, अथवा निश्चय नय, अथवा सर्व परित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक हैं।

स.सा./ता.वृ./२१५ परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति। —परमार्थ शब्दके द्वारा कहा जानेवाला तथा साक्षात् मोक्षका कारण ऐसा जो, शुद्धात्म संवित्ति है लक्षण जिसका, और आगम भाषामें जिसे वीतराग धर्मध्यान या शुक्लध्यान कहते है उस स्वसंवेदनगम्य शुद्धात्मपदको परम समरसीभावसे अनुभव करता है।

मो.पा./पं. जयचन्द/७२ इष्ट अनिष्ट बुद्धिका अभावतैं ज्ञान हीमैं उपयोग लागै ताकूं शुद्धोपयोग कहिये है। सो ही चारित्र है।

२. शुद्धोपयोग व्यपदेशमें हेतु

द्र. सं./टी./३४/९७/२ शुद्धोपयोग शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। = शुद्ध उपयोगमें शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावका धारक जो स्व आत्मा है सो ध्येय होता है इस कारण शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्ध अवलम्बनपनेसे तथा शुद्धात्मस्वरूपका साधक होनेसे शुद्धोपयोग सिद्ध होता है।

३. शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका कारण है

का. अ/मू/४२/६४ असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं। सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो।४२। सुहधुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स। तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं।६४। —यह जीव अशुभ विचारोंसे नरक तथा तिर्यंच गति पाता है, शुभ विचारोंसे देवों तथा मनुष्योंके सुख भोगता है और शुद्ध उपयोगसे मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक भावनाका चिन्तवन करना चाहिए।४२। इसके पश्चात् शुद्धोपयोगसे जीवके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं, इसलिए संवरका कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए।६४। (प्र. सा/मू./११, १२, १८१) (ति.प./९/५७-५८)।

ध.१२/४,२,८-३/२७९/६ कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतो तेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खओ। —कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोंसे होता है, और शुद्ध परिणामोंसे उन दोनोंका ही निर्मूल क्षय होता है।

प्र. सा/त. प्र/१५६ उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः। ...यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते "स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य।" = जीवका परद्रव्यके संयोगका कारण अशुद्ध उपयोग है। और वह विशुद्धि तथा संक्लेश रूप उपरागके कारण शुभ और अशुभ रूपसे द्विविधताको प्राप्त होता है। जब दोनों प्रकारके अशुद्धोपयोगका अभाव किया जाता है, तब वास्तवमें उपयोग शुद्ध ही रहता है, और वह द्रव्यके संयोगका अकारण है।

प्र/१३४/४७ निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम्। फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ।१४। —जीवोंके शुद्धोपयोगका फल समस्त दुःखोंसे रहित, स्वभावसे उत्पन्न और अविनाशी ऐसा ज्ञानराज्य है।

४. शुद्धोपयोग सहित ही शुभोपयोग कार्यकारी है

प्र. सा/त. प्र/२४७ शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्यते।

प्र. सा./त. प्र/२५४ एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां...रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः। —शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होता है। इसलिए जिन्होंने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है, ऐसे श्रमणोंके प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनीत वर्तनकी प्रवृत्ति तथा शुद्धात्म परिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो श्रम दूर करनेकी प्रवृत्ति है वह शुभोपयोगियोंके लिए दूषित नहीं है ।२४७। इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग शुद्धात्मकी प्रकाशक सर्वविरतिको प्राप्त श्रमणोंके (कषाय कणके सद्भावके कारण गौण होता है परन्तु गृहस्थोंके मुख्य है, क्योंकि) रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और क्रमशः परमनिर्वाणसौख्यका कारण होता है।

३. मिश्रोपयोग निर्देश

१. मिश्रोपयोगका लक्षण

स. सा/आ/१७–१८ "यदात्मनोऽनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेति प्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशङ्कमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तेः। —जब आत्माको, अनुभवमें आनेपर अनेक पर्यायरूप भेद-भावोंके साथ मिश्रितता होनेपर भी सर्व प्रकारसे भेद ज्ञानमें प्रवीणतासे 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ' ऐसे आत्मज्ञानसे प्राप्त होता हुआ, 'इस आत्माको जैसा जाना है वैसा ही है' इस प्रकारकी प्रतीतिवाला श्रद्धान उदित होता है, तब समस्त अन्य भावोंका भेद होनेसे, निःशंक स्थिर होनेमें समर्थ होनेसे, आत्माका आचरण उदय होता हुआ आत्माको साधता है। इस प्रकार साध्य आत्माकी सिद्धिकी उपपत्ति है।

स. सा/आ./१६३/क. ११० 'यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यक् न सा, कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः। किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।११०। —जब तक ज्ञानकी कर्म विरति (साम्यता) भली-भाँति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म और ज्ञानका (राग व वीतरागताका) एकत्रितपना शास्त्रोंमें कहा है। उसके एकत्रित रहनेमें कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मामें अवशपनेसे जो कर्म (राग) प्रगट होता है वह तो बन्धका कारण है और जो एक परम ज्ञान है वह एक ही मोक्षका कारण है—जो कि स्वतः विमुक्त है।

प्र. सा/त. प्र/ २४६ परद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगिचारित्रं स्यात्। अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रलक्षणम्। —पर द्रव्य प्रवृत्तिके साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होनेसे शुभोपयोगी चारित्र है। अतः शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणोंका लक्षण है।

पं. का/त. प्र/१६६ "अर्हदादिभक्तिसंपन्नः कथंचिच्छुद्धसंप्रयोगोऽपि सन् जीवो जीवद्रागलवत्वाच्छुभोपयोगतामजहत् बहुशः पुण्यं बध्नाति, न खलु सकलकर्मक्षयमारभते। —अर्हदादिके प्रति भक्ति सम्पन्न जीव, कथंचित 'शुद्ध सम्प्रयोगवाला' होने पर भी रागलव जीवित होनेसे 'शुभोपयोगीपने' को नहीं छोड़ता हुआ, बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तवमें सकल कर्मोंका क्षय नहीं करता।

प्र. सा./ता. वृ/२५५/३४८/२७ यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च। नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव। —जब पूर्वसूत्र कथित न्यायसे सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्य वृत्तिसे तो पुण्यबन्ध ही होता है, परन्तु परम्परासे मोक्ष भी होता है। केवल पुण्यबन्ध मात्र नहीं होता।

स. सा/ता. वृ/४१४ अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति। कस्मात्। इति चेत्—'सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो' इति वचनात् इति। नैवं, छद्मस्थज्ञानं कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वं। तद्यथा—यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं। —प्रश्न—केवलज्ञान शुद्ध है और छद्मस्थ ज्ञान अशुद्ध है। वह शुद्ध केवलज्ञानका कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि ऐसा वचन है कि शुद्धको जाननेवाला ही शुद्धात्माको प्राप्त करता है? उत्तर—ऐसा नहीं है; क्योंकि, छद्मस्थका ज्ञान भी कथंचित् शुद्धाशुद्ध है। वह ऐसे कि—यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा तो अशुद्ध ही है, तथापि मिथ्यात्व रागादिसे रहित तथा वीतराग सम्यक्त्व व चारित्र (शुद्धोपयोग) से सहित होनेके कारण शुद्ध है।

द्र. सं./टी./४८/२०३/६ यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते। —यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्धात्म संवेदनको छोड़कर बाह्यपदार्थोंकी चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशमें उस पुरुषके अपने आत्मामें स्थिरता नहीं है उतने अंशोंमें अनिच्छितवृत्तिसे विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस कारण इस ध्यानको 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' कहते हैं।

२. जितना रागांश है उतना बन्ध है और जितना वीतरागांश है उतना संवर है

पु. सि. उ./२१२–२१६ येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेन बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।२१२। येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।२१३। येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।२१४। योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्। दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ।२१५। दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।२१६। —इस आत्माके जिस अंशके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र है, उस अंशके द्वारा इसके बन्ध नहीं है, पर जिस अंशके द्वारा इसके राग है, उस अंशसे बन्ध होता है ।२१२–२१४। योगसे प्रदेशबन्ध होता है और कषायसे स्थितिबन्ध होता है। ये दर्शन ज्ञान व चारित्र तीनों न तो योगरूप हैं और न कषायरूप ।२१५। क्योंकि योगसे प्रदेशबन्ध होता है और स्थितिबन्ध कषायसे होता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र न योग रूप है और न कषाय रूप। आत्म विनिश्चयका नाम दर्शन है,

आत्मपरिज्ञानका नाम ज्ञान है और आत्मस्थितिका नाम चारित्र है। तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है।२१६। (पं. ध.।उ.।७७३).

प्र. सा./ता. वृ./२१८/ प्रक्षेपक गाथा /२/२९२/२१/सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्वभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टमात्रेण।–सूक्ष्म जन्तुका घात होते हुए भी जितने अंशमें स्वभावभावसे चलनरूप रागादि परिणति लक्षणवाली भाव हिंसा है, उतने ही अंशमें बन्ध होता है, पाँवसे चलने मात्रसे नहीं।

प्र. सा/ता. वृ./२३८/३२९/१४–यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा···यावतांशेन निरावरणरागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति।–जो अन्तरात्मारूप अवस्था है वह मिथ्यात्वरागादिसे रहित होनेके कारण शुद्ध है। जितने अंशमें निरावरण रागादिरहित होनेके कारण शुद्ध है, उतने अंशमें मोक्षका कारण होती है। (द्र. सं./टी/३६/१५३/५).

अन.ध./१/११०/११२ येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम्। येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम्।–आत्माके जितने अंशोंमें विशुद्धि होती है, उन अंशोंकी अपेक्षा उसके कर्मबन्ध नहीं हुआ करता। किन्तु जिन अंशोंमें रागादिकका आवेश पाया जाता है, उनकी अपेक्षासे अवश्य ही बन्ध हुआ करता है।

पं. ध./उ./७७२ बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः। रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन।७७२।=प्रश्न करनेमें चतुर जिज्ञासुओंको संक्षेपसे बन्ध और मोक्ष इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जितने रागके अंश हैं उनसे बन्ध ही होता है तथा जितने अरागके अंश हैं उनसे कभी भी बन्ध नहीं होता।७७२।.

मो.पा./पं. जयचन्द/४२ प्रवृत्ति रूप क्रिया है सो शुभकर्मरूप बन्ध करै है और इन क्रियानिमैं जेता अंश निवृत्ति है ताका फल बन्ध नाहीं है। ताका फल कर्मकी एकदेश निर्जरा है।

३. मिश्रोपयोग बतानेका प्रयोजन—

द्र. सं./टी/३४/९९/११. अयमत्रार्थः—यद्यपि पूर्वोक्तं शुद्धोपयोगलक्षणं क्षायोपशमिकं ज्ञानं मुक्तिकारणं भवति तथापि ध्यातृपुरुषेण यदेव निरावरणमखण्डैकविमलकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूपं तदेवाहं न च खण्डज्ञानरूपम् इति भावनीयम्। इति संवरतत्त्वव्याख्यानविषये नयविभागो ज्ञातव्य इति।–यहाँ सारांश यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षणका धारक क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्तिका कारण है तथापि ध्याता पुरुषको, 'नित्य, सकल आवरणरहित अखण्ड एक सकलविमल—केवलज्ञानरूप परमात्माका स्वरूप ही मैं हूँ, खण्ड ज्ञानरूप नहीं हूँ' ऐसा ध्यान करना चाहिए। इस तरह संवर तत्त्वके व्याख्यानमें नयका विभाग जानना चाहिए।

द्र.सं./टी/३६/१५२/५ रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्।–रागादिमें भेद विज्ञानके होनेपर भी जितने अंशोंसे रागादिका अनुभव करता है, उतने अंशोंसे वह भेद विज्ञानी बन्धता ही है, अतः उसके रागादिकके भेद विज्ञानका फल नहीं है। और जो राग आदिकका भेदविज्ञान होनेपर राग आदिकका त्याग करता है उसके भेदविज्ञानका फल है, यह जानना चाहिए।

४. शुभ व अशुभ उपयोग निर्देश

१. शुभोपयोगका लक्षण

मू. आ/२३५ पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो।–जीवोंपर दया, शुद्ध मन, वचन, कायकी क्रिया, शुद्धदर्शन ज्ञान रूप उपयोग ये पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं। (र. सा./६५)

भा. पा./मू./७६ (अष्ट पाहुड) शुभः धर्म्यं–धर्मध्यान शुभभाव है।

प्र. सा./मू./६९–१५७ देवजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु। उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।६९। जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे। जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स।१५७।–देव गुरु और यतिकी पूजामें तथा दानमें एवं सुशीलोंमें और उपवासादिकमें लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।६९। जो जिनेन्द्रों (अर्हन्तों) को जानता है, सिद्धों तथा अनगारोंकी श्रद्धा करता है, (अर्थात् पंच परमेष्ठीमें अनुरक्त है) और जीवोंके प्रति अनुकम्पा युक्त है, उसके वह शुभ उपयोग है। (न. च. वृ./३११)

पं. का./मू/१३१, १३६ मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि। विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो।१३१। अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा। अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति।१३६।

पं. का./त. प्र./१३१ दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः। विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ। तस्यैव मन्दोदये विशुद्धपरिणामता चित्तप्रसादपरिणामः। तत्र यत्र प्रशस्तरागश्चित्तप्रसादश्च तत्र शुभः परिणामः।–दर्शनमोहनीयके विपाकसे होनेवाली कलुषपरिणामताका नाम मोह है। विचित्र चारित्र मोहनीयके आश्रयसे होनेवाली प्रीति अप्रीति राग द्वेष कहलाते हैं। उसी चारित्रमोहके मन्द उदयसे होनेवाला विशुद्ध परिणाम चित्तप्रसाद है। ये तीनों भाव जिसके होते हैं, उसके अशुभ अथवा शुभ परिणाम है। तहाँ प्रशस्त राग व चित्तप्रसाद जहाँ है वहाँ शुभ परिणाम है।१३१। अर्हंत सिद्ध साधुओंके प्रति भक्ति, धर्ममें यथार्थतया चेष्टा और गुरुओंका अनुगमन प्रशस्त राग कहलाता है।१३६। (न. च. वृ./३०९)

ज्ञा./२–७/३ यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्। मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम्। ३।–यम, प्रशम, निर्वेद तथा तत्त्वोंका चिन्तवन इत्यादिका अवलम्बन हो; एवं मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थता इन चार भावोंकी जिस मनमें भावना हो वही मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है।

द्र. सं./टी/३८/१५८ में उद्धृत—"उद्वम मिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्। भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि।१। पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्। दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरूद्योगम्।२।" इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन परिणताः।–(शुभभाव युक्त कैसे होता है सो कहते हैं)—मिथ्यात्वरूपी विषको वमन करो, सम्यग्दर्शनकी भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो, और भाव नमस्कारमें तत्पर होकर सदा ज्ञानमें लगे रहो।१। पाँच महाव्रतोंका पालन करो, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करो, प्रबल इन्द्रिय शत्रुओंको विजय करो तथा बाह्य और अभ्यन्तर तपको सिद्ध करनेमें उद्यम करो।२। इस प्रकार दोनों आर्य छन्दोंमें कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोगरूप परिणामसे युक्त या परिणत हुआ जो जीव है वह पुण्यको धारण करता है।

द्र. सं./टी./४५/१९६/६ तथाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।–वह चारित्र—मूलाचार, भगवती, आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें कहे अनुसार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप होता हुआ भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाले, सरागचारित्र नामवाला होता है।

प्र. सा./ता. वृ./२३०/३१५/१० तत्रासमर्थः पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो 'व्यव-

हारनय' एकदेशपरित्यागस्तथापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः ।—उस शुद्धोपयोग परमोपेक्षा संयममें असमर्थ पुरुष शुद्धात्मभावनाके सहकारीभूत जो कुछ भी प्रासुक आहार या ज्ञानोपकरणादिक ग्रहण करता है, सो अपवाद है। उसीको व्यवहार नय कहते हैं। वह तथा एकदेशपरित्याग, तथा अपहृत संयम या सराग चारित्र अथवा शुभोपयोग ये सब एकार्थवाची हैं।

प्र. सा./ता. वृ./६/१० गृहस्थापेक्षया यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्यः ।—गृहस्थकी अपेक्षा यथासम्भव सराग सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजादिरूप शुभ अनुष्ठानके द्वारा, तथा तपोधनकी या साधुकी अपेक्षा मूल व उत्तर गुणादिरूप शुभ अनुष्ठानके द्वारा परिणत हुआ आत्मा शुभ कहलाता है।

स. सा./आ. वृ./३०६ प्रतिक्रमणाद्यष्टविकल्परूपः शुभोपयोगः ।—प्रतिक्रमण आदिक अष्ट विकल्प (प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि) रूप शुभोपयोग है।

पं. का/ता.वृ./१३१/१६५/१३ दानपूजाव्रतशीलादिरूपः शुभरागश्चित्तप्रसादपरिणामश्च शुभ इति सूत्राभिप्रायः ।—दान, पूजा, व्रत, शील आदि रूप शुभ राग तथा चित्त प्रसादरूप परिणाम शुभ है। ऐसा सूत्रका अभिप्राय है। (और भी दे०-मनोयोग ५।

२. अशुभोपयोगका लक्षण

मू. आ./२३५ विपरीतः पापस्य तु आस्रवहेतुं विजानीहि ।—(जीवोंपर दया तथा सम्यग्दर्शनज्ञानरूपी उपयोग पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं) तथा इनसे विपरीत निर्दयपना और मिथ्याज्ञानदर्शनरूप उपयोग पापकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए।

भा. पा./मू./७६। अष्टपाहुड़—"अशुभश्च आर्त्तरौद्रम् ।—आर्त–रौद्र ध्यान अशुभ भाव है।

प्र. सा./मू./१५८ विसयकसायओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो। उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ।१५८।—जिसका उपयोग विषय कषायमें अवगाढ (मग्न), कुश्रुति, कुविचार और कुसंगतिमें लगा हुआ है, उग्र है तथा उन्मार्गमें लगा हुआ है, उसके अशुभोपयोग है।

पं.का./मू/१३१ तथा इसकी त. प्र. टी. (देखो पीछे शुभोपयोगका लक्षण नं० ४) "यत्र तु मोहद्वेषावप्रशस्तरागश्च तत्राशुभ इति ।"—(शुभोपयोगके लक्षणमें प्रशस्त राग तथा चित्त प्रसादको शुभ बताया गया है) जहाँ मोह द्वेष व अप्रशस्त राग होता है, वहाँ अशुभ उपयोग है। (न. च. वृ./३०९)

ज्ञा./२–७/४ कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्। संचिनोति मनः कर्म जन्मसंबन्धसूचकम् ।—कषायरूप अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रियोंके विषयोंसे व्याकुल मन संसारके सूचक अशुभ कर्मोंका संचय करता है।

प्र. सा./ता. वृ./९/११/११ मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः ।—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँच प्रत्ययरूप अशुभोपयोगसे परिणत हुआ आत्मा अशुभ कहलाता है।

स.सा./ता.वृ./३०६ यत्पुनरज्ञानिजनसंबन्धिमिथ्यात्वकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव ।—जो अज्ञानी जनों सम्बन्धी मिथ्यात्व व कषायकी परिणति रूप अप्रतिक्रमण है वह नरक आदि दुःखोंका कारण ही है। (और भी दे० मनोयोग/५)

३. शुभ व अशुभ दोनों अशुद्धोपयोगके भेद हैं

प्र.सा./त.प्र/१५५ तत्र शुद्धो निरुपरागः। अशुद्धो सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ।—शुद्ध निरुपराग है और अशुद्ध सोपराग है। वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारका है; क्योंकि, उपराग विशुद्ध रूप और संक्लेश रूप दो प्रकारका है।

४. शुभोपयोग पुण्य है और अशुभोपयोग पाप है

मू.आ/२३५ पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो। विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि २३५ ।—अनुकम्पा व शुद्ध (शुभ) उपयोग तो पुण्यके आस्रवभूत हैं तथा इनसे विपरीत अशुभ भाव पापास्रवके कारण हैं।

प्र.सा/मू/१५६ उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि। असुहो वा तधा पावं तेसिमभावे ण संचयमत्थि १५६ ।—उपयोग यदि शुभ हो तो जीवके पुण्य संचयको प्राप्त होता है और यदि अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उन दोनोंके अभावमें संचय नहीं होता। (प.प्र/मू/२/७१)

पं.का/मू/१३२ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स। द्वयोः पुद्गलमात्रो भावः कर्मत्वं प्राप्तः ।१३२ ।—जीवके शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभपरिणाम पाप हैं। उन दोनोंके द्वारा पुद्गलमात्र भाव कर्मपनेको प्राप्त होते हैं।

५. शुभ व अशुद्ध उपयोगका स्वामित्व

द्र.सं./टी/३४/९६/६ मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरि मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते ।—मिथ्यादृष्टि सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें ऊपर ऊपर मन्दतासे अशुभ उपयोग रहता है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक और प्रमत्त संयत नामक जो तीन गुणस्थान हैं, इनमें परम्परासे शुद्ध उपयोगका साधक ऊपर ऊपर तारतम्यसे शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक ६ गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे विवक्षित एकदेश शुद्ध नयरूप शुद्ध उपयोग वर्तता है। (प्र. सा./ता वृ/१८१/२४४/१८); (प्र. सा./६/११/१५)

पं. ध/उ./२०५ अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्। सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ।—उस प्रकारकी अशुद्धोपलब्धि भी मुख्यरूपसे मिथ्यादृष्टि जीवोंके होती है और सम्यग्दृष्टियोंके गौण रूपसे कभी-कभी होती है, अथवा नहीं भी होती है। नोट—(और भी देखो 'मिथ्यादृष्टि/४' मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिके तत्त्वकर्तृत्वमें अन्तर)।

६. व्यवहार धर्म अशुद्धोपयोग है

स. सा/मू./३०६ पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो ।३०६। (यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स···तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकारणासमर्थत्वेन ···विषकुम्भ एव स्यात्। त. प्र. टीका।)—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकारका विषकुम्भ है। क्योंकि द्रव्यरूप ये प्रतिक्रमणादि, तृतीय जो शुद्धोपयोगकी भूमिका, उसको न देखनेवाले पुरुषके लिए अपना कार्य (कर्म क्षय) करनेको असमर्थ है।

प. प्र/मू/२/६६ वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु। पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण सुद्धि ण तासु। —निःशंक वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो लेकिन जिसके जब तक अशुद्ध परिणाम हैं उसके नियमसे संयम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मनकी शुद्धता नहीं है।

७. व्यवहार धर्म शुभोपयोग तथा पुण्यका नाम है

स. सा./मू./२७५ सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि। धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं। —वह (अभव्य जीव) भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही श्रद्धा करता है, उसकी रुचि करता है और उसीका स्पर्श करता है, किन्तु कर्म क्षयके निमित्तरूप (निश्चय) धर्मको नहीं जानता।

र. सा./६४-६५ दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु। बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे।६४। रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे। इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो।६५। —पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, बन्धमोक्ष, बन्धमोक्ष के कारण बारह भावनाएँ, रत्नत्रय, आर्जवभाव, क्षमाभाव, और सामायिकादि चारित्रमय जिन भव्य जीवोंके भाव हैं, वे शुभ भाव हैं।

प. प्र./मू./२/७१ सुहपरिणामें धम्मु पर असुहे होइ अहम्मु। दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धधु ण बंधउ कम्मु। —शुभ परिणामोंसे पुण्यरूप व्यवहार धर्म मुख्यतासे होता है, तथा अशुभ परिणामोंसे पाप होता है। और इन दोनोंसे रहित शुद्ध परिणाम युक्त पुरुष कर्मोंको नहीं बाँधता। (प्र. सा./मू./१८६)

न. च. वृ/३७६ भेदुवयारे जइया वट्टदि सो विय सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदो।३७६। —जब जक जीवको भेद व उपचार वर्तता है उस समय तक वह भी शुभ व अशुभके ही आधीन है और इसी लिए वह संसारी आत्मा कर्ता कहा जाता है।

प्र. सा./त. प्र./६९ यदा आत्मा···अशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत। —जब यह आत्मा अशुभोपयोगकी भूमिकाका उल्लंघन करके, देव गुरु यतिकी पूजा, दान, शील और उपवासादिकके प्रीतिस्वरूप धर्मानुरागको अङ्गीकार करता है तब वह इन्द्रिय-सुखके साधनीभूत शुभोपयोग भूमिकामें आरूढ़ कहलाता है।

द्र. सं/मू./४५ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।४५। —जो अशुभ कार्यसे निवृत्त होना और शुभ कार्यमें प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए। जिनेन्द्रदेवने उस चारित्रको व्रत समिति और गुप्तिस्वरूप कहा है। (का०अनु./५४)

स. सा./ता. वृ./१२५/ प्रक्षेपक गाथा ३ की टीका "यः परमयोगीन्द्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसङ्गं त्यक्त्वा निजशुद्धात्म··· —जो परमयोगीन्द्र स्वसंवेदन ज्ञानमें स्थित होकर शुभोपयोग परिणामरूप धर्मको अर्थात् पुण्यसंगको छोड़कर···"।

पं. का./ता. वृ/१३१/१९५/१२ दानपूजाव्रतशीलादिरूपः शुभरागश्चित्तप्रसादपरिणामश्च शुभ इति सूत्राभिप्रायः। —दान, पूजा, व्रत, शील आदि शुभ राग तथा चित्तप्रसाद रूप परिणाम शुभ है, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

पं. का/ ता. वृ/१३५/१९९/२३ वीतरागपरमात्मद्रव्याद्विलक्षणः पञ्चपरमेष्ठिनिर्भरगुणानुरागः प्रशस्तधर्मानुरागः, अनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः दयासहितो मनोवचनकायव्यापाररूपः शुभपरिणामः चित्ते नास्ति कालुष्यं···यस्यैते पूर्वोक्ता त्रयः शुभपरिणामाः सन्ति तस्य जीवस्य द्रव्यपुण्यास्रवकारणभूते भावपुण्यमास्रवतीति सूत्राभिप्रायः। —वीतराग परमात्म द्रव्यसे विलक्षण पंचपरमेष्ठी निर्भर गुणानुराग प्रशस्त धर्मानुराग है। अनुकम्पायुक्त परिणाम व दया सहित मन वचन कायके व्यापाररूप परिणाम शुभ परिणाम हैं। तथा चित्तमें कालुष्यका न होना; जिसके इतने पूर्वोक्त तीन शुभ परिणाम होते हैं उस जीवके द्रव्य पुण्यास्रवका कारणभूत भाव पुण्यका आस्रव होता है, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है। (पं. का./ता. वृ/१०८/१७२/८)।

द्र. सं/टी/३५/१४९/५ व्रतसमितिगुप्ति···भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। —व्रत, समिति, गुप्ति आदिक भावसंवरके कारणभूत जिन बातोंका व्याख्यान किया है, उनमें निश्चय रत्नत्रयको साधनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है उसका निरूपण करनेवाले जो वाक्य हैं वे पापास्रवके संवरमें कारण जानना (पुण्यास्रवके संवरमें नहीं)।

प. प्र./टी./२/३ धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते। —धर्म शब्दसे यहाँ पुण्य कहा गया है।

८. शुभोपयोग रूप व्यवहारको धर्म कहना रूढि है

पं. ध./उ./७१८ रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा। तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया।७१८। —रूढिसे शरीरकी, वचनकी अथवा उसके अनुकूल मनकी शुभ क्रिया धर्म कहलाती है।

९. वास्तवमें धर्म शुभोपयोगसे अन्य है

भा. पा./मू/८३ पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।८३। —जिनशासनमें व्रत सहित पूजादिकको पुण्य कहा गया है और मोह तथा क्षोभ विहीन आत्माके परिणामको धर्म कहा है।

उपरत बंध—दे० बंध/१।

उपरितन कृष्टि—दे० कृष्टि।

उपरितन स्थिति—दे० स्थिति/१।

उपरिम द्वीप—(ज. प./प्र. १०५) Outer islrnd.

उपलब्धि—१. ज्ञानके अर्थमें

सि. वि./वृ/१/२/८/१४ उपलभ्यते अनया वस्तुतत्त्वमिति उपलब्धिः, अर्थादापन्ना तदाकारा च बुद्धिः। —जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व उपलब्ध किया जाता हो या ग्रहण किया जाता हो, वह उपलब्धि है। पदार्थसे उत्पन्न होनेवाली तदाकार परिणत बुद्धि उपलब्धि है।

पं. का./त. प्र/३९ चेतयते अनुभवन्ति उपलभन्ते विन्दन्तीत्येकार्थश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्। —चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है, और वेदता है, ये एकार्थ हैं; क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना एकार्थक हैं।

पं. का./ता. वृ./४३/८६/१ मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपलब्धिः। —मतिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे उत्पन्न अर्थ ग्रहण करनेकी शक्तिको उपलब्धि कहते हैं।

२. अनुरागके अर्थमें

पं. ध./उ./४३५ अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः । प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ।४३५। —जिस समय अनुराग शब्दका अर्थकी अपेक्षासे विधिरूप अर्थ वक्तव्य होता है, उस समय अनुराग शब्दका अर्थ प्राप्ति व उपलब्धि होता है; क्योंकि अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं।

३. सम्यक्त्व या ज्ञानचेतनाके अर्थमें

पं. ध./उ./२००-२०८ ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः । तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोऽन्यत्र तत्क्षतिः ।२००। सत्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयात्तथा । दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ।२०३। किंचोपलब्धिशब्दोऽपि स्यादनेकार्थवाचकः । शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ।२०४। बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्स वेदकः । स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ।२०८। —प्रश्न—वास्तवमें ज्ञान चेतनाकी लक्षणभूत आत्मोपलब्धिमें 'उपलब्धि' शब्दसे 'प्रत्यक्षज्ञान' ऐसा अर्थ निकलता है। इसलिए ज्ञानावरणीयको आत्मोपलब्धिका घातक मानना चाहिए, मिथ्यात्व कर्मको नहीं। किन्तु ऊपरके पद (१९९) में मिथ्यात्वके उदयको उस आत्मोपलब्धिका घातक माना है। तो क्या ज्ञानघातक ज्ञानावरणके सिवाय किसी और कर्मसे भी उस आत्मोपलब्धिका घात होता है।२००। उत्तर—१. जैसे वास्तविक आत्माकी शुद्धोपलब्धिस्वयोग्यमतिज्ञानावरण कर्मके अभावसे होती है, वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्मके उदयके अभावसे भी होती है।२०३। २. दूसरा उत्तर यह है कि उपलब्धि शब्द भी अनेकार्थवाचक है, इसलिए यहाँ पर प्रकरणवश अशुद्धताके अभावको प्रगट करनेके लिए 'शुद्ध' उपलब्धि ऐसा कहा है।२०४। क्योंकि शुद्धोपलब्धिमें जो चेतनावान जीव ज्ञेय होता है वही स्वयं ज्ञानी माना जाता है, अर्थात् निश्चयसे ज्ञान और ज्ञेयमें कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए यह शुद्धोपलब्धि अतीन्द्रिय ज्ञानरूप पड़ती है। भावार्थ—'उपलब्धि' शब्दका अर्थ जिस प्रकार नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष ग्रहण करनेमें आता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा अन्तरंग पदार्थ अर्थात् अन्तरात्माका प्रत्यक्ष अनुभव करना भी उसी शब्दका वाच्य है। अन्तर केवल इतना है कि इसके साथ 'शुद्ध' विशेषण लगा दिया गया है।

★ **उपलब्धि व अनुपलब्धि रूप हेतु**—दे० हेतु।

उपलब्धि समा—न्या. सू./मू. व भाष्य/५।१।२७ निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः।२७। निर्दिष्टस्य प्रयत्नान्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद्वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः। —वादी द्वारा कहे जा चुके कारणके अभाव होने पर भी साध्य धर्मका उपलम्भ हो जानेसे, उपलब्धि प्रतिषेध है। उसका उदाहरण इस प्रकार है कि वायुके द्वारा वृक्षकी शाखा आदिके भंगसे उत्पन्न हुए शब्दमें या घनगर्जन, समुद्र घोष आदिमें प्रयत्नजन्यत्वका अभाव होने पर भी, उसमें साध्य धर्मरूप अनित्यत्व वर्त रहा है। इसलिए शब्दको 'नित्य' सिद्ध करनेमें दिया गया प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु ठीक नहीं है। (श्लो. वा./पु. ४/न्या. ४१६/५२५/१३)।

२. अनुपलब्धि समा जाति

न्या. सू./मू. व भाष्य/५-१/२९ तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ।२९। तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिध्यति अभावसिद्धौ हेत्वभावात्तद्विपरीतमस्तित्वमावरणादीनामवधार्यते तद्विपरीतोपपत्तेर्यत्प्रतिज्ञातं न ज्ञायमानावरणादिभ्यो नास्त्यभावस्तदुपलब्धेरित्येतन्न सिध्यति सोऽयं हेतुरावरणाद्यनुपलब्धेरित्यावरणादिषु चावरणाद्यनुपलब्धौ च समयानुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलब्धिसमो भवति। —निषेध करने योग्य शब्दकी जो अनुपलब्धि है, उस 'अनुपलब्धि' की भी अनुपलब्धि हो जानेसे अभावका साधन करने पर, विपर्याससे उस अनुपलब्धिके अभावकी उपपत्ति करना प्रतिवादीकी अनुपलब्धिसमाजाति बखानी गयी है। इसका उदाहरण इस प्रकार है कि—'उच्चारणके प्रथम नहीं विद्यमान हो रहे ही शब्दका अनुपलम्भ है। विद्यमान शब्दका अदर्शन नहीं है', इस प्रकार स्वीकार करनेवाले वादीके लिए जिस किसी भी प्रतिवादीकी ओरसे यों प्रत्यवस्थान उठाया जाता है, कि उस शब्दके आवरण, अन्तराल आदिकोंके अदर्शनका भी अदर्शन हो रहा है। इसलिए यह आवरण आदिकोंकी जो अनुपलब्धि कही जा रही है उसका ही अभाव है। तिस कारण उच्चारणसे पहिले विद्यमान ही रहे ही शब्दका सुनना आवरणवश नहीं हो सका है, यह बात सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अनादिकालसे सदा अप्रतिहत चला आ रहा जो शब्द है, तिसके आवरण आदिकोंके अभावका भी अभाव सिद्ध हो जानेसे उनका सद्भाव सिद्ध हो जाता है। (श्लो. वा. ४/न्या. ४२५/१२८/१० तथा पृ. ५३१/१४)।

उपवन भूमि—समवशरणकी चौथी भूमि—दे० समवशरण।

उपवास—दे०—प्रोषधोपवास।

उपबृंहण—दे० उपगूहन।

उपवेल्लन—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/६।

उपशम—कर्मोंके उदयको कुछ समयके लिए रोक देना उपशम कहलाता है। कर्मोंके उदयके अभावके कारण उतने समयके लिए जीवके परिणाम अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं, परन्तु अवधि पूरी हो जाने पर नियमसे कर्म पुनः उदयमें आ जाते हैं और जीवके परिणाम पुनः गिर जाते हैं। उपशम-करणका सम्बन्ध केवल मोहकर्म व तज्जन्य परिणामोंसे ही है, ज्ञानादि अन्य भावोंसे नहीं, क्योंकि रागादि विकारोंमें क्षणिक उतार-चढ़ाव सम्भव हैं। कर्मोंके दबनेको उपशम और उससे उत्पन्न जीवके शुद्ध परिणामोंको औपशमिक भाव कहते हैं।

१	उपशम निर्देश	
१	उपशम सामान्यका लक्षण।	
२	सदवस्थारूप उपशमका लक्षण।	
३	प्रशस्त व अप्रशस्त उपशमके लक्षण।	
४	उपशमके निक्षेपोंकी अपेक्षा भेद।	
*	निक्षेपों रूप भेदोंके लक्षण।	—दे० निक्षेप
५	नो आगम भाव उपशमका लक्षण।	
६	उपशम व विसंयोजनामें अन्तर।	
*	अनन्तानुबन्धी विसंयोजना	—दे० विसंयोजना
*	त्रिकरण परिचय	—दे० करण/३
*	अन्तरकरण विधान	—दे० अंतर/२
*	स्थितिबन्धापसरण	—दे० अपकर्षण/३
*	मोहोपशम व आत्माभिमुख परिणाममें केवल भाषाका भेद है	—दे० उपशम/६/१

१. उपशम निर्देश

१. उपशम सामान्यका लक्षण

ध.६/४,१,४५/६१/२३६ उदए संकम उदए चदुसु वि दादुं कमेण णो सक्कं। उवसंतं च णिधत्तं णिकाचिदं चावि जं कम्मं । —जो कर्म उदयमें नहीं दिया जा सके, वह उपशान्त कहलाता है । (ध. १५/४/२७६); (गो.क./मू./४४०/५९३)

स.सि./२/१/१४६/५ आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुप-शमः । यथा कतकादिद्रव्यसंबन्धादम्भसि पङ्कस्य उपशमः । —आत्मामें कर्मकी निजशक्तिका कारणवश प्रगट न होना उपशम है । जैसे कतक आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलमें कीचड़का उपशम हो जाता है ।

रा. वा/२/१/१/१००/१० यथा सकलुषस्याम्भसः कतकादिद्रव्यसंपर्कात् अधःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते, तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः । —जैसे कतकफल या निर्मलीके डालनेसे मैले पानीका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसी तरह परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्मोंकी शक्तिका अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रगट न होना, उपशम है । (गो.जी./जी.प्र./८/२९/१२)

२. सदवस्था रूप उपशमका लक्षण

रा.वा./२/५/३/१०७/१ तस्यैव सर्वघातिस्पर्धकस्यानुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशम इत्युच्यते अनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तित्वात् । —अनुदय प्राप्त सर्व-घाती स्पर्धकोंकी सत्तारूप अवस्थाको उपशम कहते हैं, क्योंकि इस अवस्थामें उसकी अपनी शक्ति प्रगट नहीं हो सकती ।

३. प्रशस्त व अप्रशस्त उपशम

ध.१५/२७६/२ अप्पसत्थुवसामणाए जमुवसंतं पदेसग्गं तमोकड्डिदुं पि सक्कं; उक्कड्डिदुं पि सक्कं; पयडीए संकामिदुं पि सक्कं उदया-वलियं पवेसिदुं ण उ सक्कं । —अप्रशस्त उपशमनाके द्वारा जो कर्म प्रदेश उपशान्त होता है वह अपकर्षणके लिए भी शक्य है, उत्कर्षण-के लिए भी शक्य है, तथा अन्य प्रकृतिमें संक्रमण करानेके लिए भी शक्य है । वह केवल उदयावलीमें प्रविष्ट करनेके लिए शक्य नहीं है ।

गो.जी./जी.प्र./६५०/१०९९/१६ अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य दर्शनमोहत्रयस्य च उदयाभावलक्षणाप्रशस्तोपशमेन प्रसन्नमलपङ्कतोयसमानं यत्पदार्थ-श्रद्धानमुत्पद्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्वं नाम । —अनन्तानुबन्धीकी चौकड़ी और दर्शनमोहका त्रिक इन सात प्रकृतिका अभाव है लक्षण जाका ऐसा अप्रशस्त उपशम होनेसे जैसे कतकफल आदिसे मल कर्दम नीचे बैठने करि जल प्रसन्न हो है तैसे जो तत्त्वार्थ श्रद्धान उपजै सो यहु उपशम नाम सम्यक्त्व है ।

ध. १/१,१,२७/२११/६ उवसमो णाम किं। उदय-उदीरण-ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसंकम-ट्ठिदि-अणुभाग-कंडयघादेहि विणा अच्छणमुवसमो। —प्रश्न—उपशम किसे कहते हैं? उत्तर—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति संक्रमण, स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघातके बिना ही कर्मोंके सत्तामें रहनेको (प्रशस्त) उपशम कहते हैं। (यह उपशम चारित्रमोहका होता है)।

४. उपशमके भेद—ध. १५/२७५
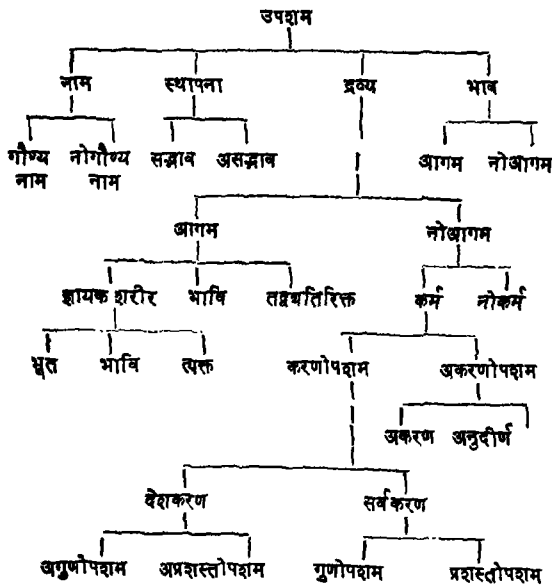
५. नोआगम भाव उपशमका लक्षण

ध. १५/२७५/५. णोआगमभावुवसमणा उवसंतो कलहो जुद्धं वा इच्चेवमादि। —नोआगम भावोपशमना—जैसे कलह उपशान्त हो गया अथवा युद्ध उपशान्त हो गया इत्यादि।

६. उपशम व विसंयोजनामें अन्तर

ध. १/१,१,२७/२११/१ सरूवं छंड्डिय अण्ण-पयडि-सरूवेणच्छणमणंताणुबंधीणमुवसमो, दंसणतियस्स उदयाभावो उवसमो तेसिमुवसंताणं पि ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडि संकमाणमत्थित्तादो। —अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है। और उदयमें नहीं आना ही दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम है, क्योंकि, उत्कर्षण अपकर्षण और पर प्रकृतिरूपसे संक्रमणको प्राप्त और उपशान्त हुई उस तीन प्रकृतियोंका अस्तित्व पाया जाता है। विशेषार्थ पृ० २१४—अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोंमें विसंयोजना कहा है, और यहाँपर उसे उपशम कहा है। यद्यपि यह केवल शब्द भेद है, और स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इष्ट है, फिर भी उसे विसंयोजना शब्दसे न कहकर उपशम शब्दके द्वारा कहनेसे उनका यह अभिप्राय रहा हो कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होकर पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध करने लगता है और जिन कर्मप्रदेशोंका उसने अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण किया था उनका फिरसे अनन्तानुबन्धी रूपसे संक्रमण हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं रहती है, फिर भी उसका पुनः सद्भाव होना संभव है। अतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना न कहकर उपशम शब्दका प्रयोग किया गया है।

२. दर्शनमोहका उपशम विधान

१. प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा स्वामित्व

ष. खं. ६/१,९-८/९/२३८. उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि, चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेदि, णो एइंदियविगलिंदिएसु। पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि।९। —दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है? चारों ही गतियोंमें उपशमाता है। चारों ही गतियोंमें उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियोंमें उपशमाता है, एकेन्द्रियों व विकलेन्द्रियोंमें नहीं उपशमाता है। पंचेन्द्रियोंमें उपशमाता हुआ, संज्ञियोंमें उपशमाता है असंज्ञियोंमें नहीं। संज्ञियोंमें उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकोंमें अर्थात् गर्भज जीवोंमें उपशमाता है, सम्मूर्च्छिमोंमें नहीं। गर्भोपक्रान्तिकोंमें उपशमाता हुआ पर्याप्तकोंमें उपशमाता है अपर्याप्तकोंमें नहीं। पर्याप्तकोंमें उपशमाता हुआ संख्यात वर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है और असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है।९।

क.पा.सुत्त/९८/६३२ सायारे पट्ठवओ णिट्ठवओ मज्झिमो य भयणिज्जो। जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णेण तेउलेस्साए।९८। —साकारोपयोगमें वर्तमान जीव ही दर्शन मोहनीयकर्मके उपशमनका प्रस्थापक होता है। किन्तु निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती जीव भजितव्य हैं। तीनोंमें से किसी एक योगमें वर्तमान और तेजोलेश्याके जघन्य अंशको प्राप्त जीव दर्शनमोहका उपशमन करता है। विशेषार्थ—तेजोलेश्याका यह नियम मनुष्यतिर्यचोंकी अपेक्षा कहा जाना चाहिए। उक्त नियम देव और नारकियोंमें सम्भव इसलिए नहीं है कि देवोंके सदा काल शुभ लेश्या और नारकियोंके अशुभ लेश्या ही पायी जाती है।

ध.६/१,९-८,४/२०७/४…कोधकसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई वा, किंतु हायमाणकसाओ। असंजदो।…छण्णं लेस्साणमण्णदरलेस्सो किंतु हायमाणअसुहलेस्सो वड्ढमाण सुहलेस्सो। भव्वो। आहारी। —(चारों गतियों, तीनों वेदों व तीनों योगोंमें से किसी भी गति वेद वा योग वाला हो), क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी अथवा लोभकषायी अर्थात् चारों कषायोंमें से किसी भी कषाय वाला हो। किन्तु हीयमान कषायवाला होना चाहिए। असंयत हो। (साकारोपयोगी हो)। कृष्णादि छहों लेश्यामें से किसी एक लेश्या वाला हो, किन्तु यदि अशुभ लेश्या हो तो हीयमान होनी चाहिए और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होनी चाहिए। भव्य तथा आकारक हो।

रा.वा./९/१/१३/२५८/२३ अनादिमिथ्यादृष्टिर्भव्यः षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सादिमिथ्यादृष्टिर्वा षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा प्रथमसम्यक्त्वं ग्रहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्धया वर्द्धमानविशुद्धिः, चतुर्षु मनोयोगेषु अन्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्षु वाग्योगेषु अन्यतमेन वाग्योगेन औदारिकवैक्रियककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन वा समाविष्टः हीयमानान्यतमकषायः साकारोपयोगः, त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेन संक्लेशविरहितः वर्धमान-

शुभपरिणामप्रतापेन सर्वकर्मप्रकृतीनां स्थितिं ह्रासयन्, अशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीनां रसमुद्वर्तयन् त्रीणि करणानि कर्तुमुपक्रमते। —अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके मोहकी छब्बीस प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और सादिमिथ्यादृष्टिके २६, २७ या २८ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। ये जब प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके उन्मुख होते हैं तब निरन्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको बढ़ाते हुए शुभपरिणामों से संयुक्त होते जाते हैं। उस समय ये चार मनोयोगोंमें से किसी एक मनोयोग, चार वचनयोगोंमेंसे किसी एक वचनयोग, औदारिक और वैक्रियकमेंसे किसी एक काययोगसे युक्त होते हैं। इनके कोई भी एक कषाय होती है जो अत्यन्त हीन हो जाती है। साकारोपयोग और तीनों वेदोंमेंसे किसी एक वेदसे युक्त होकर भी संक्लेश रहित हो, प्रवर्धमान शुभ परिणामोंसे सभी कर्मप्रकृतियोंकी स्थितिको कम करते हुए, अशुभ कर्मप्रकृतियोंके अनुभागका खण्डन कर शुभ प्रकृतियोंके अनुभागरसको बढ़ाते हुए तीन करणोंको प्रारम्भ करते हैं। (ल.सा./मू/२/४१) (और भी दे० सम्यग्दर्शन iv/२)

२. प्रथमोपशममें दर्शनमोह उपशम विधि

ष. ख. ६/१,९–८/सू. ३–८/२०३–२३८ एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लभदि।३। सो पुण पंचिंदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो।४। एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं तावे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि।५। पढमसम्मत्तमुप्पादेंतो अंतोमुहुत्तमोहट्टेदि।६। ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं।७। दंसणमोहणीयं कम्मं उवसमेदि।८। —इन ही सर्व कर्मोंकी जब अन्तःकोटाकोटी स्थितिको बाँधता है तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है।३। वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्व विशुद्ध होता है।४। जिस समय सर्व कर्मोंकी संख्यात हजार सागरोंसे हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण स्थितिको स्थापित करता है, उस समय यह जीव प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है।५। प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता हुआ सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक हटाता है, अर्थात् अन्तरकरण करता है।६। अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।७। मिथ्यात्वके तीन भाग करनेके पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता है।८। भावार्थ—सम्यक्त्वाभिमुख जीव पंचलब्धिको क्रमसे प्राप्त करता हुआ उपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करता है। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोपगमन लब्धि व करण लब्धि—ये पाँच लब्धियोंके नाम हैं। विचारनेकी शक्ति विशेषका उत्पन्न होना क्षयोपशम लब्धि है। परिणामोंमें प्रति समय विशुद्धिकी वृद्धि होना विशुद्धि लब्धि है। सम्यक् उपदेशका सुनना व मनन करना देशना लब्धि है। उसके कारण हुई परिणामविशुद्धिके फलस्वरूप पूर्व कर्मोंकी स्थिति घटकर अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरमात्र रह जाती है और नवीन कर्म भी इससे अधिक स्थितिके नहीं बन्ध पाते, यह प्रायोग्य लब्धि है। अन्तमें उस सुने हुए उपदेशका भलीभाँति *निदिध्यासन करना करण लब्धि है।* करण लब्धिके भी तरतमता लिये हुए तीन भाग होते हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। तहाँ अधःकरणमें परिणामोंकी विशुद्धिमें प्रतिक्षण अनन्त गुणी वृद्धि होती है। अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणहीन और शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणा अधिक बन्धता है। स्थिति भी उत्तरोत्तरपल्योपमके असंख्यातभाग करि हीन हीन बान्धता है। अपूर्वकरणमें विशुद्धि प्रतिक्षण बहुत अधिक वृद्धिगत होने लगती है। यहाँ पूर्व बद्ध स्थितिका काण्डक घात भी होने लगता है और स्थिति बन्धापसरण भी। विशुद्धिमें अत्यन्त वृद्धि हो जानेपर वह अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है। यहाँ पहलेसे भी अधिक वेगसे परिणाम वृद्धिमान होते हैं। यह तीनों ही करण जीवके उत्तरोत्तर वृद्धिगत विशुद्ध परिणामोंके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। इनके प्राप्त करनेमें कोई अधिक समय भी नहीं लगता। तीनों ही प्रकारके परिणाम अन्तर्मुहूर्तमात्रमें पूरे हो जाते हैं। तब अनिवृत्तिकरण कालके संख्यातभाग जानेपर अन्तरकरण करता है। परिणामोंकी विशुद्धिके कारण सत्तामें स्थित कर्मप्रदेशोंमेंसे कुछ निषेकोंका अपना स्थान छोड़कर, उत्कर्षण व अपकर्षण-द्वाराऊपर-नीचेके निषेकोंमें मिल जाना ही अन्तरकरण है। इस अन्तरकरणके द्वारा निषेकोंकी एक अटूट पंक्ति टूटकर दो भागोंमें विभाजित हो जाती है—एक पूर्व स्थिति और दूसरी उपरितन स्थिति। बीचमें अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकोंका अन्तर पड़ जाता है। तत्पश्चात् उन्हीं परिणामोंके प्रभावसे अनादिका मिथ्यात्व नामा कर्म तीन भागोंमें विभाजित हो जाता है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति मिथ्यात्व। ये तीनों ही कोई स्वतन्त्र प्रकृतियाँ नहीं हैं, बल्कि उस एक प्रकृतिमें ही कुछ प्रदेशोंका अनुभाग तो पूर्ववत् ही रह जाता है उसे तो मिथ्यात्व कहते हैं। कुछ अनुभाग अन्तरगुणाहीन हो जाता है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं और कुछका अनुभाग घटकर उससे भी अनन्तगुणाहीन हो जाता है, उसे सम्यक्प्रकृति कहते हैं। तब इन तीनों ही भागोंकी अन्तर्मुहूर्तमात्रके लिए ऐसी मूर्च्छित-सी अवस्था हो जाती है कि वे न उदयावलीमें प्रवेश कर पाते हैं और न ही उनका उत्कर्षण-अपकर्षण आदि हो सकता है। तब इतने कालमात्रके लिए उदयावलीमें-से दर्शनमोहकी तीनों ही प्रकृतियोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसे ही उपशमकरण कहते हैं। इसके होनेपर जीवको उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि विरोधी कर्मका अभाव हो गया है। परन्तु अन्तर्मुहूर्तमात्र अवधि पूरी हो जानेपर वे कर्म पुनः सचेष्ट हो उठते हैं और उदयावलीमें प्रवेश कर जाते हैं। तब वह जीव पुनः मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। अथवा यदि सम्यग्मिथ्यात्वका उदय होता है तो मिश्र गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है या यदि सम्यक्प्रकृतिका उदय हो जाता है तो क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हो जाता है। (रा.वा./९/१/१३/५८८/३१); (ध. ६/१,९-८/२०७-२४३); (ल.सा./मू./२-१०८/४१-१४६); (गो.जी./जी.प्र./७०४/११४१/१०); (गो.क./जी.प्र./५५०/७४२/१५)

३. मिथ्यात्वका त्रिधाकरण

ध. ६/१,९–८,७/२३५/तिण ओहट्टेदूणेत्ति उत्ते खंडयघादेण विणा मिच्छत्ताणुभागं घादिय सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त अणुभागायारेण परिणामिय पढमसम्मत्तंपडिवण्णपढमसमए चेव तिण्णिकम्मंसे उप्पादेदि।"… (आगे दे० नीचे भावार्थ) —इसलिए 'अन्तरकरण करके' ऐसा कहने पर काण्डक घातके बिना मिथ्यात्व कर्मके अनुभागको घातकर और उसे सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके अनुभाग-रूप आकारसे परिणमाकर प्रथमोशम सम्यक्त्वको प्राप्त होनेके प्रथम समयमें ही मिथ्यात्व रूप एक कर्मके तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खण्ड उत्पन्न हो जाते हैं। भावार्थ—प्रथम समयवर्ती उपशमसम्यग्दृष्टि हीन मिथ्यात्वसे प्रदेशाग्रको लेकर (अर्थात् उनकी उदीरणा करके) उनका बहुभाग सम्यग्मिथ्यात्वमें देता है और उससे असंख्यात गुणा हीन प्रदेशाग्र सम्यक्त्व प्रकृतिमें देता है। प्रथम समयमें सम्यग्मिथ्यात्वमें दिये गये प्रदेशाग्रकी अपेक्षा द्वितीय समयमें सम्यक्त्वप्रकृतिमें असंख्यात गुणित प्रदेशोंको देता है। और उसी ही समयमें

-(अर्थात् दूसरे ही समयमें) सम्यक्त्वप्रकृतिमें दिये गये प्रदेशोंकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्वमें असंख्यात गुणित प्रदेशोंको देता है। (इसी प्रकार तीसरे समयमें सम्यक्त्व प्रकृतिका द्रव्य द्वितीय समयके सम्यग्मिथ्यात्वसे असंख्यात गुणा और सम्यग्मिथ्यात्वका द्रव्य सम्यक्त्वप्रकृतिसे असंख्यात गुणा)। इस प्रकार (सर्पकी चालवत्) अन्तर्मुहूर्त काल तक गुणश्रेणीके द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मको पूरित करता है, जब तक कि गुणसंक्रमण कालका अन्तिम समय प्राप्त होता है। (ल. सा/मू. व जी. प्र./९०-९१/१२६-१२८)

ल.सा./मू./९०/१२५ मिच्छत्तमिस्ससम्मसरूवेण य तत्तिधा य दव्वादो। सत्तीदो य असंखाणंतेण य होंति भजियकमा। —मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वमोहनीरूपकरि तीन प्रकार हो है, सो क्रमतै द्रव्य अपेक्षा असंख्यातवाँ भागमात्र और अनुभाग अपेक्षा अनन्त भागमात्र जानने। सोई कहिए है—मिथ्यात्वका परमाणूरूप जो द्रव्य ताकौं गुण संक्रम भागहारका भाग देइ एक अधिक असंख्यात-करि गुणिये। इतना द्रव्य बिना (शेष) समस्त द्रव्य मिथ्यात्व रूप ही रहा। अर गुणसंक्रम भागहारकरि भाजित मिथ्यात्व द्रव्यकौ असंख्यात करि गुणिये इतना द्रव्य मिश्र-मोह रूप परिणाम्या। अर गुणसंक्रम भागहारकरि भाजित मिथ्यात्व द्रव्यकौ एककरि गुणिए इतना द्रव्य सम्यक्त्व मोहरूप परिणमा। तातैं द्रव्य अपेक्षा असंख्यात-वाँ भागका क्रम आया। बहुरि अनुभाग अपेक्षा संख्यात अनुभाग कांडकनिके घातकरि जो मिथ्यात्वका अनुभागके पूर्व अनुभागके अनन्तवाँ भागमात्र अवशेष रह्या ताके (भी) अनन्तवें भाग मिश्र-मोहका अनुभाग है। बहुरि याके (भी) अनन्तवें भाग सम्यक्त्व-मोहका अनुभाग है, ऐसे अनुभाग है, ऐसे अनुभाग अपेक्षा अनन्तवाँ भागका क्रम आया।९०।"

४. द्वितीयोपशमकी अपेक्षा स्वामित्व

ध. ६/१,९-८,१४/२८८/६ संपधि ओवसमियचारित्तपडिवज्जणविहाणं वुच्चदे। तं जधा—जो वेदगसम्माइट्ठी जीवो सो ताव पुव्वमेव अणंताणुबंधी विसंजोएदि। —अब औपशमिक चारित्रकी प्राप्तिके विधानको कहते हैं। वह इस प्रकार है—जो वेदक सम्यग्दृष्टि (४—७ गुणस्थानवर्ती) जीव है वह पूर्वमें ही अनन्तानुबन्धी चतुष्टयका वेदन करता है।

ध.१/१,१,२७/२१०/११ तत्थ ताव उवसामण-विहिं वत्तइस्सामो। अणंताणु-बंधि कोध-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि। —पहले उपशम विधिको कहते हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, तथा मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंका असंयत सम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानोंमें रहने वाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है।

ल.सा./मू./२०५/२५१ उपसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता। —उपशम सम्यक्त्वके सन्मुख भया वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सो पहिलै पूर्वोक्त विधानतै अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करि…

गो.क./जी.प्र./५५०/७४३/४ तद्द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं वेदकसम्यग्दृष्ट्य-प्रमत्त एव करणत्रयपरिणामैः सप्तप्रकृतिरुपशमय्य गृह्णाति…। —बहुरि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकौ वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त ही तीन करणकै परिणामनिकरि सातौ प्रकृतिकौं उपशमाय ग्रहण करै है।

(गो. जी/जी.प्र./७०४/११४१/१७) और भी दे० सम्यग्दर्शन iv/३/२)

ध. १/१,१,२७/२१४ विशेषार्थ—"लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्त-संयत गुणस्थान तक ही बतलायी है, किन्तु यहाँपर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक किसी भी एक गुण-स्थानमें बतलायी गयी है। धवलामें प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें देखनेमें आता है।"

५. द्वितीयोपशममें दर्शनमोह उपशम विधि

ल.सा./मू./२०५-२१८/२५१-२७२ उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अण विजायित्ता। अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तोऽपमत्तो य।२०५। ततो तियरणविहिणा दंसणमोहं समं खु उवसमदि। सम्मत्तुप्पत्ति वा अण्णं च गुणसेढिकरणविही।२०६। सम्मत्तस्स असंखेज्जा समयपबद्धाणुदीरणा होदि। तत्तो मुहुत्तअंते दंसणमोहंतरं कुणई।२०९। सम्मत्तुप्पत्तीए गुणसंकमपूरणस्स कालादो। संखेज्जगुणं कालं विसोहिवड्ढीहिं वड्ढदि हु।२१७। तेण परं हायदि वा वड्ढदि तव्वड्ढिदो विसुद्धीहिं। उवसंतदंसणतियो होदि पमत्तापमत्तेसु।२१८। —उपशम चारित्रके सन्मुख भया वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सो पहिलै पूर्वोक्त विधानतै अनन्तानुबन्धीका विसंयोजनकरि अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अधःप्रवृत्त अप्रमत्त कहिये स्वस्थान अप्रमत्त हो है। तहां प्रमत्त अप्रमत्त विषै हजारों बार गमनागमन (उतार-चढाव) करि पीछे अप्रमत्त विश्राम करै हैं (अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त वैसे ही परिणामोंके साथ टिका रहै है)।२०५। स्वस्थान अप्रमत्त विषै अन्तर्मुहूर्त विश्रामकरि तहाँ पीछे तीन करण विधान करि युगपत् दर्शनमोहकौ उपशमावै है। तहां अपूर्वकरणका प्रथम समयतै लगाय प्रथमोपशमवत् गुणसंक्रमण बिना अन्य स्थिति व अनुभाग काण्डकघात व गुणश्रेणी निर्जरा सर्व विधान जानना। अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन याकै हो है, ता विषै भी सर्व स्थिति खण्डनादि पूर्वोक्तवत् जानना।२०६। अनिवृत्तिकरण कालका संख्यातवां भाग अवशेष रहै सम्यक्त्वमोहनीयके द्रव्यकौ अपकर्षणकरि (उपरितन स्थितिमें, गुणश्रेणी आयाममें, और उदयावली विषै दीजिये है)। सो यहाँ उदयावली विषै दिया जो उदीरणाद्रव्य असंख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण आवै है। यातै परे अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत भये दर्शनमोहका अन्तर करै है।२०९। प्रथमोपशम सम्य-क्त्वकी उत्पत्तिविषै पूर्वै गुणसंक्रमण पूरणकाल (दे० उपशम/२/३) अन्तर्मुहूर्त मात्र कह्या था, तातैं संख्यात गुणा काल पर्यन्त यहु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम समयतै लगाय समय समय प्रति अनन्तगुणी विशुद्धताकरि बधै है। ऐसे इहाँ एकान्तानुवृद्धताकी वृद्धिका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र जानना।२१७। तिस एकान्तानुवृद्धि-कालतै पीछे विशुद्धता करि घटै वा बधै वा हानि वृद्धि बिना जैसा का तैसा रहै किछू नियम नाहीं। ऐसे उपशमाए हैं तीन दर्शनमोह जानै ऐसा जीव बहुत बार प्रमत्त अप्रमत्तनिविषै उलटनि करि प्राप्त हो है।२१८।) (ध. ६/१,९-८,१४/२८८-२९२); (ध, १/१,१,२७/२१०-२१४); (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१७); (गो. क./जी.प्र./५५०/७४३/४)।

६. उपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनाके विधि निषेध सम्बन्धी दो मत

क.पा. २/१-१५/४१७/१ उवसमसम्मादिट्ठिस्स अणंताणुबंधिचउक्कं विसंजोएंतस्स अप्पदरं होदि त्ति तत्थ अप्पदरकालपरूवणा कायव्वा त्ति। ण; उवसमसम्मादिट्ठिस्स अणंताणुबंधिविसंजोयणाए अभा-वादो। तदभावो कुदो णव्वदे। उवसमसम्मादिट्ठिम्मि अवट्ठिदपदं चेव परूवेमाण उच्चारणाइरियवयणादो णव्वदे। उवसमसम्मादिट्ठिम्मि अणंताणुबंधिचउक्क विसंजोयणं भणंत आइरियवयणेण विरुज्झमाणमेदं

वक्खाणमप्पमाणभावं किं ण ढुकदि। सच्चमेदं जदि तं सुत्तं होदि। सुत्तेण वक्खाणं बाहिज्जदि ण वक्खाणेण वक्खाणं। एत्थ पुण दो वि उवएसा परूवेयव्वा दोण्हमेक्कदरस्स सुत्ताणुसारित्तवगमाभावादो। किमट्ठमुवसमसम्माइट्ठिम्मि अणंताणुबंधिचउक्कविसंजोयणा णत्थि। उवसमसम्मत्तकालं पेक्खिय अणंताणुबंधिचउक्कस्स बहुत्तादो अणंताणुबंधिविसंजोयणपरिणामाणं तत्थाभावादो वा। एत्थ पुण विसंजोयणापक्खो चेव पहाणभावेणावलंबियव्वो पवाइज्जमाणत्तादो चउवीससंतकम्मियस्स सादिरेयछावट्ठिसागरोवममेत्तकालपरूवयं सुत्ताणुसारित्तादो च। — प्रश्न—जो उपशमसम्यग्दृष्टि चार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करता है उसके अल्पतर विभक्तिस्थान पाया जाता है, इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टिमें अल्पतर विभक्तिस्थानके कालकी प्ररूपणा करनी चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना नहीं पायी जाती है। प्रश्न—'उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना नहीं होती है' यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—'उपशमसम्यग्दृष्टिके एक अवस्थित पद ही होता है' इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाले उच्चारणाचार्यके वचनसे जाना जाता है। प्रश्न—'उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना होती है' इस प्रकार कथन करनेवाले आचार्यवचनके साथ यह उक्त वचन विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए यह वचन अप्रमाण क्यों नहीं है? उत्तर—यदि उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजनाका कथन करनेवाला वचन सूत्र वचन होता तो यह कहना सत्य होता, क्योंकि सूत्रके द्वारा व्याख्यान (टीका) बाधित हो जाता है। परन्तु एक व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान बाधित नहीं होता, इसलिए 'उपशम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं होती है', यह वचन अप्रमाण नहीं है। फिर भी यहाँपर दोनों ही उपदेशोंका प्ररूपण करना चाहिए; क्योंकि दोनोंमें से अमुक उपदेश सूत्रानुसारी है इस प्रकारके ज्ञान करनेका कोई साधन नहीं पाया जाता है। प्रश्न—उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना क्यों नहीं होती है? उत्तर—उपशम सम्यक्त्वके कालकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी-चतुष्ककी विसंयोजनाका काल अधिक है; अथवा वहाँ अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनाके कारणभूत परिणाम नहीं पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं होती है। फिर भी यहाँ 'उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होती है' यह पक्ष ही प्रधान रूपसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारका उपदेश परम्परासे चला आ रहा है।

३. चारित्रमोहका उपशम विधान

ल./सा./२१७-३०३/२६-३८४ एवं पमत्तमियरं परावत्तिसहस्सयं तु कादूण। इगवीसमोहणीयं उवसमदि ण अण्णपयडीसु ।२१६। तिकरणबंधोसरणं कमकरणं देसघादिकरणं च। अंतरकरणमुपशमकरणं उपशामने भवंति ।२२०। —ऐसैं (द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात्) अप्रमत्ततै प्रमत्तविषै प्रमत्ततै अप्रमत्तविषै हजारों बार पलटनिकरि अनंतानुबंधी चतुष्क बिना अवशेष इकईस चारित्रमोहकी प्रकृतिके उपशमावनेका उद्यम करै है। अन्य प्रकृतिनिका उपशम होता नहीं, जातै तिनिकै उपशम करना है ।२१६। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, ए तीन करण अर. स्थितिबन्धापसरण, क्रमकरण, देशघातिकरण, अनन्तकरण, उपशमकरण ऐसे आठ अधिकार चारित्रमोहके उपशमविधान विषै पाइए है। तहाँ अधःकरण सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि करै है। ताका लक्षण वा ताका कीया कार्य जैसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकौं सम्मुख होते कहे हैं तैसे इहाँ भी जानना। विशेष इतना—इहाँ संयमीके संभवै ऐसी प्रकृतिनिका बन्ध व उदय कहना। अर अनन्तानुबन्धी चतुष्क, नरक, तिर्यंच आयु बिना अन्य प्रकृतिनिका सत्त्व कहना ।२२१।

ध. १/१,१,२७/२११/३ अपुव्वकरणे ण एक्कं पि कम्ममुवसमदि। किंतु अपुव्वकरणो पडिसमयमणंतगुण-विसोहीए वड्ढंतो अंतोमुहुत्तेणंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडयं घादेंतो संखेज्जसहस्साणि ट्ठिदि-खंडयाणि घादेदि, तत्तियमेत्ताणि ट्ठिदि-बंधोसरणाणि करेदि। एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडय-कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि अणुभाग-खंडयाणि घादेदि। पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए पदेस-णिज्जरं करेदि। जे अप्पसत्थ-कम्मंसे ण बंधदि तेसिं पदेसग्गमसंखेज्जगुणाए सेढीए अण्णपयडीसु बज्झमाणियासु संकामेदि। पुणो अपुव्वकरणं वोलेऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिऊणंतोमुहुत्तमणेणेव विहाणेणाच्छिय बारस-कसाय-णव-णोकसायाणमंतरं अंतोमुहुत्तेण करेदि। अंतरे कदे पढम-समयादो उवरि अंतोमुहुत्तं गंतूण असंखेज्ज-गुणाए सेढीए णउंसय-वेदमुवसामेदि।…तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण णवुंसयवेदमुवसामिद-विहाणेणित्थिवेदमुवसामेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेणेव विहिणा छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि। तत्तो उवरि समऊण—दोआवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-णवक-बंधमुवसामेदि। तत्तो अंतोमुहुत्तमुवरिं गंतूण पडिसमयमसंखेज्जाए गुणसेढीए अपच्चक्खाण-पच्चक्खाणावरणसण्णिदे दोण्णि वि कोधे कोध-संजलण-चिराण-संतकम्मेण सह जुगवमुवसामेदि। तत्तो उवरि दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण कोध-संजलण-णवक-बंधमुवसामेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेसिं चेव दुविहं माणमसंखेज्जाए गुणसेढीए माणसंजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि। तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माणसंजलणमुवसामेदि। तदो पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए उवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण दुविहं मायं माया-संजलण-चिराण-संतकम्मेण सह जुगवं उवसामेदि। तदो दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण माया-संजलणमुवसामेदि। तदो समयं पडि असंखेज्जगुणाए सेढीए पदेसमुवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-दुविहं लोभं लोभ-वेदगद्धाए बिदिय-ति-भागे सुहुमकिट्टीओ करेंतो उवसामेदि। सुहुमकिट्टिं मोत्तूण अवसेसो बादरलोभो फद्दयं गदो सव्वो णवकबंधुच्छिट्ठावलिय-वज्जो अणियट्टि-चरिमसमए उवसंतो। णवुंसयवेदप्पहुडि जाव बादरलोभसंजलणो त्ति ताव एदासिं पयडीणमणियट्टी उवसामगो होदि। तदो णंतर-समए-सुहुमकिट्टि-सरूवं लोभं वेदंतो णट्ठ-अणियट्टि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि। तदो सो अप्पणो चरिम-समए लोहसंजलणं सुहुमकिट्टि-सरूवं णिस्सेसमुवसामिय उवसंत-कसाय वीदराग-छदुमत्थो होदि। एसा मोहणीयस्स उवसामण-विही।" —अपूर्वकरण गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम नहीं होता किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक समयमें अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ता हुआ एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक-एक स्थिति खण्डका घात करता हुआ संख्यात हजार स्थिति खण्डोंका घात करता है। और उतने ही स्थितिबन्धापसरणोंको करता है। तथा एक-एक स्थितिखण्डके कालमें संख्यात हजार अनुभाग खण्डोंका घात करता है और प्रतिसमय असंख्यात गुणित-श्रेणीरूपसे प्रदेशोंकी निर्जरा करता है, तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, उनकी कर्मवर्गणाओंको उस समय बन्धनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें असंख्यातगुणित श्रेणीरूपसे संक्रमण कर देता है। इस तरह अपूर्वकरण गुणस्थानको उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है। तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कषाय और नौ नोकषय इनका अन्तर (करण) करता है। (यहाँ क्रमकरण करता है। अर्थात् विशेष क्रमसे स्थितिबन्धको घटाता हुआ उन २१

२. इस गुणस्थानमें चारित्र औपशमिक होता है और सम्यक्त्व औपशमिक या क्षायिक

ध. १/१,१,१६/१८६/२. एतस्योपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिक औपशमिको वा गुणः।—इस गुणस्थानमें सम्पूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिए (चारित्र मोहकी अपेक्षा) इसमें औपशमिक भाव है। तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं।

३. उपशान्त कषाय गुणस्थानकी स्थिति

ल. सा./जी.प्र/३७३/४६१ ततः क्षुद्रभवग्रहणं विशेषाधिकं। तत उपशान्तकषाय कालो द्विगुणः।" —नपुंसकवेद उपशमावनेके कालसे क्षुद्रभवका काल विशेष अधिक है, सो यह एक श्वासके अठारहवें भागमात्र है।३७३। तिस क्षुद्रभवतैं उपशान्तकषायका काल दूना है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* उपशम व क्षपक श्रेणी —दे० श्रेणी/३,४
* इस गुणस्थानकी पुनःपुनः प्राप्तिकी सीमा —दे० संयम/२
* इस गुणस्थानसे गिरने सम्बन्धी —दे० श्रेणी/४
* यहाँ मरण सम्भव है पर देवगतिमें ही उपजे —दे० मरण/३
* इस गुणस्थानमें कर्म प्रकृतियोंके बन्ध उदय सत्त्वादि प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम
* सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होता है —दे० मार्गणा
* इस गुणस्थानमें सम्भव मार्गणास्थान जीवसमास आदि २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
* इस गुणस्थानकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व सम्बन्धी आठ प्ररूपणाएँ—दे० वह वह नाम।

उपशामक—स. सि/९/४५/४५९/१ एवं सः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो विशुद्धिप्रकर्षयोगादुपशमकव्यपदेशमनुभवन् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति।—इस प्रकार वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणीपर आरोहण करनेके सन्मुख होता हुआ तथा चारित्रमोहनीयके उपशम करनेके लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धिके प्रकर्षवश 'उपशामक' संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येय गुण निर्जरावाला होता है।

ध. १/१,१,२७/२२४/८ जे पुण तेसिं चेव उवसामणम्हि वावदा ते उवसामगा।—जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें उपशामक कहते हैं।

क. पा. १/ १-१८/§ ११५/३४७/८ उवसमसेढिं चढमाणेण मोहणीयस्स अंतरकरणं कवे सो 'उवसामओ' त्ति भण्णदि।—उपशमश्रेणीपर चढ़नेवाला जीव चारित्रमोहका अन्तरकरण कर लेनेपर उपशामक कहा जाता है। (ध. ६/१,९-८,६/२३२/५)।

२. उपशामकके भेद

उपशामक दो प्रकारका होता है—अपूर्वकरण उपशामक और अनिवृत्तिकरण उपशामक।

उपसंपदा—भ.आ./मू/५०९-५१४ तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं तस्स किरिय किरियम्मं। विणएणमंजलिकदो वाइयवसमं इमं भणदि।५०९। पुव्वजादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं। दंसणणाणचारित्ते णिसल्लो विहरिदुं इच्छे।५११। अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्थो मा य होहि उव्वादो। पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो।५१४। —मन वचन और शरीरके द्वारा सर्व सामायिक आदि छः आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वन्दना करके विनयके साथ क्षपक हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्यको आगे लिखे हुए सूत्रके अनुसार विज्ञप्ति देता है।५०९। दीक्षा ग्रहणकालसे आज तक जो जो व्रतादिकोंमें दोष उत्पन्न हुए हों उनकी मैं दश दोषोंसे रहित आलोचना कर दर्शन ज्ञान और चारित्रमें निःशल्य होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करता हूँ।५११। हे क्षपक, अब तुम निःशंक होकर हमारे संघमें ठहरो, अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ। हम प्रतिचारकोंके साथ तुम्हारे विषयमें अवश्य विचार करेंगे। (ऐसा आचार्य उत्तर देते हैं)। इस प्रकार उपसंपाधिकार समाप्त हुआ।

भ. आ./वि/५०९ की उत्थानिका/७२८ गुरुकुले आत्मनिसर्गः उपसंपा नाम समाचारः।

भ. आ./वि/६८/१९६/६ उपसंपया आचार्यस्य ढौकनं —गुरुकुलमें अपना आत्मसमर्पण करना यह उपसंपा शब्दका अभिप्राय है।५०९। आचार्यके चरणमूलमें गमन करना उपसंपदा है।६८।

उपसंयत—दे० समाचार।

उपसमुद्र—म. पु./२८/४६ बहिः समुद्रमुद्वित्तं द्वैप्यं निम्नोपगं जलम्। समुद्रस्येव निष्यंदम् अम्बेराड् व्यलोकयत्।४६।—उन्होंने (भरत चक्रवर्तीकी सेनाने) समुद्रके समीप ही समुद्रसे बाहर उछलउछल कर गहरे स्थान में इकट्ठे हुए द्वीप सम्बन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निष्यंदके समान मालूम होता था। अर्थात् समुद्रका जो जल उछल-उछल कर समुद्र के समीप ही किसी गहरे स्थानमें इकट्ठा हो जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है।

उपसर्ग—तीर्थंकरोंपर भी कदाचित् उपसर्ग आते हैं—दे० तीर्थंकर/१।

उपस्थ—उपस्थ इन्द्रियकी प्रधानता—दे० संयम/२।

उपस्थापना—१. छेदोपस्थापना चारित्र—दे० छेदोपस्थापना; २. उपस्थापना प्रायश्चित्त—दे० प्रायश्चित्त।

उपात्त—रा. वा./१/११/६/५२/२४ उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादिपरः तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षं। —उपात्त इन्द्रियाँ व मन तथा अनुपात्त प्रकाश उपदेशादि पर हैं। परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है।

रा. वा./६/७/१/६००/७ आत्मना रागादिपरिणामात्मना कर्मनोकर्मभावेन गृहीतानि उपात्तानि पुद्गलद्रव्याणि, अनुपात्तानि परमाण्वादीनि, तेषां सर्वेषां द्रव्यात्मना नित्यत्वं पर्यायात्मना सततमनुपरतभेदसंसर्गवृत्तित्वादनित्यत्वम्। —आत्माके रागादि परिणामोंसे कर्म और नोकर्म रूपमें जिन पुद्गल द्रव्योंका ग्रहण किया जाता है वे उपात्त पुद्गलद्रव्य तथा परमाणु आदि अनुपात्त पुद्गल सभी द्रव्यदृष्टिसे नित्य होकर भी पर्याय दृष्टिसे प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तन होनेसे अनित्य हैं।

उपादान—न्या. वि./वृ/१/१२३/४८६/४ विवक्षितं वस्तु उपादानम् उत्तरस्य कार्यस्य सजातीयं कारणं प्रकल्पयेत्।—विवक्षित उत्तर कार्यका सजातीय कारण कल्पित किया गया है।

अष्टसहस्री/पृ० २१० त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते। कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥ यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा। तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥ —जो (द्रव्य) तीनों कालोंमें अपने रूपको छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्व रूपसे और अपूर्व रूपसे वर्त रहा है वह उपादान कारण है, ऐसा जानना चाहिए। जो अपने स्वरूपको छोड़ता ही है और जो उसे सर्वथा नहीं छोड़ता वह अर्थका उपादान नहीं होता जैसे क्षणिक और शाश्वत। भावार्थ—द्रव्यमें दो अंश हैं—एक शाश्वत और एक क्षणिक। गुण शाश्वत होनेके कारण अपने स्वरूपको त्रिकाल नहीं छोड़ते और पर्याय क्षणिक होनेके कारण अपने स्वरूपको प्रतिक्षण छोड़ती है। यह दोनों ही अंश उस द्रव्यसे पृथक् कोई अर्थान्तर रूप नहीं हैं। इन दोनोंसे समवेत द्रव्य ही कार्यका उपादान कारण है। अर्थान्तरभूत रूपसे स्वीकार किये गये शाश्वत-पदार्थ या क्षणिकपदार्थ कभी भी उपादान नहीं हो सकते हैं। क्योंकि सर्वथा शाश्वत पदार्थमें परिणमनका अभाव होनेके कारण कार्य ही नहीं तब कारण किसे कहें। और सर्वथा क्षणिक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट ही हो जाता है तब उसे कारणपना कैसे बन सकता है। (ज्ञानदर्पण /५७-५८)

अष्ट सहस्री श्लो० ५८ की टीका-"परिणाम क्षणिक उपादान है और गुण शाश्वत उपादान है।"

निमित्त. उपादान चिट्ठी पं० बनारसीदास—"उपादान वस्तुकी सहन शक्ति है।"

२. उपादानकी मुख्यता गौणता—दे० कारण III।

उपाधि—स. म./१२/१४१/५ साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिरभिधीयते। तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहार-परिणामवत्। —साधनके साथ अव्यापक और साध्यके साथ व्यापक हेतुको उपाधि कहा जाता है। जैसे 'गर्भमें स्थित मैत्रका पुत्र श्याम वर्णका है, क्योंकि यह मैत्रका पुत्र है, मैत्रके अन्य पुत्रोंकी तरह' यह अनुमान सोपाधिक है। क्योंकि यह 'मैत्रतनयत्व' हेतु शाकपाक-जत्व उपाधिके ऊपर अवलम्बित है।

स.म./रायचन्द ग्रन्थमाला/पृ. १८४/१/५ विवक्षित किसी वस्तुमें स्वयं रहकर उसको शेष अनेकों वस्तुओंमेंसे जुदा करने वाला जो धर्म होता है, उसको उपाधि कहते हैं।

उपाध्याय—नि.सा./मू./७४ रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा। णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति। ७४। —रत्नत्रयसे संयुक्त जिनकथित पदार्थोंके शूरवीर उपदेशक और निःकांक्षभाव सहित; ऐसे उपाध्याय होते हैं। (द्र. सं./मू./५३)।

मू. आ./मू./५११ बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे। उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाय उच्चदि। ५११। —बारह अंग चौदहपूर्व जो जिनदेवने कहे हैं उनको पण्डित जन स्वाध्याय कहते हैं। उस स्वाध्यायका उपदेश करता है, इसलिए वह उपाध्याय कहलाता है।

ध. १/१,१,१/३२/५० चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थीणं। सीलंधराणं वत्ता होइ मुणीसो उवज्झायो। ३२। —जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्रमें प्रवेश करके अर्थात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

रा. वा./९/२४/४/६२३/१३ विनयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते इत्युपाध्यायः। —जिन व्रतशील भावनाशाली महानुभावके पास जाकर भव्य जन विनयपूर्वक श्रुतका अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं। (स.सि./९/२४/४४२/७); (भ. आ./वि./४६/१५४/२०)।

ध. १/१,१,१/५०/१ चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः। —चौदह विद्यास्थानोंके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह अनुग्रह आदि गुणोंको छोड़कर पहिले कहे गये आचार्यके समस्त गुणोंसे युक्त होते हैं। (प.प्र./टी./७)।

पं.ध./उ./६५९-६६२. उपाध्यायः समाधीयात् वादी स्याद्वादकोविदः। वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः। ६५९। कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्। गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम्। ६६०। उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम्। यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः। ६६१। शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।...।६६२। —उपाध्याय—शंका समाधान करनेवाला, सुवक्ता, वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्त शास्त्र और यावत् आगमोंका पारगामी, वार्तिक तथा सूत्रोंको शब्द और अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला होनेसे कवि, अर्थमें मधुरताका द्योतक तथा वक्तृत्वके मार्गका अग्रणी होता है। ६५९-६६०। उपाध्यायपनेमें शास्त्रका विशेष अभ्यास ही कारण है, क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है, और शिष्योंको भी अध्ययन कराता है वही गुरु उपाध्याय है। ६६१। उपाध्यायमें व्रतादिकके पालन करनेकी शेष विधि सर्व मुनियोंके समान है। ६६२।

२. उपाध्यायके २५ गुण

११ अंग व १४ पूर्वका ज्ञान होनेसे उपाध्यायके २५ विशेष गुण कहे जाते हैं। शेष २८ मूलगुण आदि समान रूपसे सभी साधुओंमें पाये जानेके कारण सामान्य गुण हैं।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

* उपाध्यायमें कथंचित् देवत्व—दे० देव I/१।
* आचार्य उपाध्याय व साधु इन तीनोंमें कथंचित् भेदाभेद —दे० साधु ६।
* श्रेणी आरोहणके समय उपाध्याय पदका त्याग हो जाता है —दे० साधु ६।

उपायविचय—धर्मध्यानका एक भेद—दे० धर्मध्यान/१।

उपालम्भ—न्या. सू./भाष्य/१-१/४१ स्थापना साधनं प्रतिषेध उपालम्भः। —स्थापना अर्थात् साधन और प्रतिषेध अर्थात् उपालम्भ।

उपासकाध्ययन—द्रव्यश्रुतज्ञानका सातवाँ अंग—दे० श्रुतज्ञान III

उपासना—प्र.सा./ता.वृ./२६२/३५४/१२ उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तसेवा। —शुद्धात्म भावनाकी सहकारी कारणरूपसे की गयी सेवाको उपासना कहते हैं।

उपेन्द्र—(वरांगचरित्र/सर्ग/श्लोक) मथुराके राजाका पुत्र था (१६/५) ललितपुरके राजा देवके साथ युद्धमें वरांग द्वारा मारा गया (१८/६५)।

उपेक्षा—स.सि /१/१०/९७/१० रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा। —रागद्वेषरूप परिणामोंका नहीं होना उपेक्षा है। (भ. आ./वि./१५१६/१५१६/१६)।

त.अनु./मू./१३९ माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा। वैतृष्ण्यं प्रशमः शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते।१३९। —माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य अस्पृहा, वैतृष्ण्य, प्रशम और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए हैं। (और भी दे० सामायिक १।१)

*** अन्तरंग अशुद्धताके सद्भावमें भी उसकी उपेक्षा कैसे करें**—दे० अनुभव ६।

उपेक्षा संयम—दे० संयम/१।

उपोद्घात—दे० उपक्रम।

उभय दूषण—न्याय विषयक एक दोष।

श्लो.वा.४/न्या.४५६/५५१/१७ मिथो विरुद्धानां तदीयस्वभावाभावापादनमुभयदोषः।—एकान्तरूपसे अस्तित्व माननेपर जो दोष नास्तित्वाभावरूप आता है, अथवा नास्तित्वरूप माननेपर जो दोष अस्तित्वाभावस्वरूप आता है वे एकान्तवादियोंके ऊपर आनेवाले दोष अनेकान्तको माननेवाले जैनके यहाँ भी प्राप्त हो जाते हैं। यह उभय दोष हुआ। (ऐसा सैद्धान्तिकजन जैनोंपर आरोप करते हैं)।

उभयद्रव्य—उभय द्रव्य विशेष—दे० कृष्टि।

उभयशुद्धि—सम्यग्ज्ञानका एक अंग—

मू.आ./२८५ विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं। पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो।—जो सूत्रको अक्षर शुद्ध अर्थ शुद्ध अथवा दोनोंकर शुद्ध सावधानीसे पढ़ता पढ़ाता है उसीके शुद्ध ज्ञान होता है।

भ.आ./वि./११३/२६१/१७ तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यञ्जनस्य अर्थस्य च शुद्धिः।—व्यंजनकी शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्रायकी जो शुद्धि है वह उभय शुद्धि है।

२. अर्थ व्यंजन व उभय शुद्धिमें अन्तर

भ. आ./वि./११३/२६१/१८ ननु व्यञ्जनार्थशुद्धयोः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति ततः कथमष्टविधता। अत्रोच्यते पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा कश्चिद-विपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं। तत्तथा न कार्यमिति व्यञ्जनशुद्धिरुक्ता। अन्यस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थविशुद्धिरुदाहृता। अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता।—प्रश्न—ऊपर व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि इन दोनोंका स्वरूप आप कह चुके हैं, उनमें ही इसका भी अन्तर्भाव हो सकता है, इन दोनोंको छोड़ कर तदुभय शुद्धि नामकी तीसरी शुद्धि है नहीं। अतः ज्ञान विनयके आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं। उत्तर—यहाँ पुरुष भेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है। जैसे कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है, परन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है ठीक पढ़ता नहीं। दीर्घोच्चारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है। ऐसा दोषयुक्त पढ़ना नहीं चाहिए इस वास्ते व्यंजनशुद्धि कही है। दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढ़ लेता है। परन्तु सूत्रार्थका विपरीत निरूपण करता है। यह भी योग्य नहीं है। इसका निराकरण करनेके लिए अर्थशुद्धि कही है। तीसरा आदमी सूत्र भी विपरीत पढ़ता है, और उसका अर्थ भी अंटसंट कहता है। इन दोनों दोषोंको दूर करनेके लिए तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिए।

उभयसारी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/४।

उभयासंख्यात—दे० असंख्यात।

उमास्वामी—१. नन्दिसंघ बलात्कार गणके अनुसार (दे० इतिहास/५/१३) आप कुन्दकुन्दके शिष्य थे। और (ष.खं२/प्र३/H.L. Jain) के अनुसार 'बलाक पिच्छ' के गुरु थे। (त. वृ./प्र६७) में पं० महेन्द्रकुमार 'पं० नाथूराम प्रेमी' का उद्धरण देकर कहते हैं कि आप यापनीय संघके आचार्य थे। (ष.खं १/प्र.६६/H.L. Jain) तथा तत्त्वार्थसूत्रकी प्रशस्तिके अनुसार इनका अपर नाम गृद्धपृच्छ है। आप बड़े विद्वान् व वाचक शिरोमणि हुए हैं। आपके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है—सौराष्ट्र देशमें द्वैपायन नामक एक श्रावक रहता था। उसने एक बार मोक्षमार्ग विषयक कोई शास्त्र बनानेका विचार किया और 'एक सूत्र रोज बनाकर ही भोजन करूँगा अन्यथा उपवास करूँगा' ऐसा संकल्प किया। उसी दिन उसने एक सूत्र बनाया "दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। विस्मरण होनेके भयसे उसने उसे घरके एक स्तम्भपर लिख दिया। अगले दिन किसी कार्यवश वह तो बाहर चला गया, और उसके पीछे एक मुनिराज आहारार्थ उसके घर पधारे। लौटते समय मुनिकी दृष्टि स्तम्भ पर लिखे सूत्रपर पड़ी। उन्होंने चुपचाप 'सम्यक्' शब्द उस सूत्रसे पहिले और लिख दिया और बिना किसीसे कुछ कहे अपने स्थानको चले गये। श्रावकने लौटने पर सूत्रमें किये गये सुधारको देखा और अपनी भूल स्वीकार की। मुनिको खोज उनसे ही विनीत प्रार्थना की कि वह इस ग्रन्थकी रचना करें, क्योंकि उसमें स्वयं उसे पूरा करनेकी योग्यता नहीं थी। बस उसकी प्रेरणासे ही उन मुनिराजने 'तत्त्वार्थसूत्र' (मोक्ष शास्त्र) की १० अध्यायोंमें रचना की। यह मुनिराज 'उमास्वामी' के अतिरिक्त अन्य कोई न थे। (स.सि./प्र. ८०/पं. फूलचन्द्र) आप बड़े सरलचित्त व निष्पक्ष थे और यही कारण है कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें आपकी कृतियाँ समान रूपसे पूज्य व प्रमाण मानी जाती हैं। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थसूत्र, सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम, ये दो तो उनकी सर्वसम्मत रचनाएँ हैं। और (ज.प./प्र.११०/A.N. up.) के अनुसार 'जम्बू द्वीपसमास' नामकी भी आपकी एक रचना है।
समय—वि. सं. १०१-१४२ (ई. १७६-२२०), विशेष देखो (इतिहास।५। मूल संघ विभाजन), विद्वज्जनबोधमें उद्धृत एक श्लोक "वर्ष सप्तशते सप्तत्या च विस्मृतौ। उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥" के अनुसार आपका समय यद्यपि वी. नि. ७७० (ई० २४४) कहा गया है, परन्तु ऊपर वाला समय ही विद्वानोंको सम्मत है। दोनों समयोंमें कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमकी प्रस्तावना। प्रेमीजी); (स.सि./प्र/७८/ पं. फूलचन्द्र); (इतिहास।५।३,१३),

उमास्वामी नं० २—'श्रावकाचार' और 'पंच नमस्कार स्तवन' नामके ग्रन्थ जिन उमास्वामीकी रचनाएँ हैं वे तत्त्वार्थ सूत्रके रचयिता उमास्वामी नं० १ से बहुत पीछे होनेके कारण लघु-उमास्वामी कहे जाते हैं। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम। प्र. ५ में प्रेमीजीकी टिप्पणी)

उरुबिल्व—(म.पु./प्र.४६/पं. पन्नालाल)—वर्तमान 'बुद्ध-गया' नामका नगर। यह बिहार प्रान्तमें है।

ऊर्मिमालिनी—अपर विदेहस्थकी एक विभंगा नदी—दे० लोक/७।

उर्वंक—(ध,१२/४,२,७,२१४/१७०/६) एत्थ अणंतभागवड्ढीए उव्वंकसण्णा।—यहाँ अनन्त भाग वृद्धिकी उर्वंक अर्थात 'उ' संज्ञा है। (षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि क्रमके छह स्थानोंकी संहननी क्रमशः ४,५,६,७,८ और 'उ' स्वीकार की गयी है)। (गो.जी./मू./३२५/६८४), (ल.सा./जी.प्र./४६/७६/१)।

उशीनर—भरतक्षेत्रमें आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

उष्ण परीषह—स.सि./९/९/४२१/६ निवाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपनिपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तरसाधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपुरुष-

वातातपजनितगलतालुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतानचिन्त-यतः प्राणिपीडापरिहारवहितचेतसश्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमित्युपव-र्ण्यते। – निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सूखकर पत्तोंके गिर जानेसे छायारहित वृक्षोंसे युक्त ऐसे वनके मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि अभ्यन्तर साधन-वश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और आतपके कारण जिसे गले और तालुमें शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकारके बहुत-से अनुभूत हेतुओंको जानता हुआ भी उनका चिन्तवन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियोंकी पीड़ाके परिहारमें चित्त लगा हुआ है, उस साधुके चारित्रके रक्षणरूप उष्णपरीषहजय कही जाती है। (रा.वा./९/९/७/६०९/१२), (चा.सा./११२/४)।

उष्ण योनि—दे० योनि १।

उष्ट्रकूट—दे० कृष्टि।

उष्मगर्भ कूट—मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७।

ऊ

ऊँच—दे० उच्च।

ऊर्जयन्त—सौराष्ट्र देशके जूनागढ़ नगरमें स्थित गिरनारपर्वत।

ऊर्ध्वक्रम—दे० क्रम।

ऊर्ध्वगच्छ—गुणहानि आयाम—दे० गणित II/५।

ऊर्ध्व गति—जीव व पुद्गलका ऊर्ध्व गमन—दे० गति/२।

ऊर्ध्व प्रचय—दे० क्रम/ऊर्ध्वक्रम।

ऊर्ध्व लोक—१. विषय—दे० स्वर्ग/५। २. नक्शे—दे० लोक/७।

ऊष्माहार—दे० आहार I/१।

ऊहा—ष.खं.१३/५.५/सू ३८/२४२ ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा/३८। –ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहाके पर्याय नाम हैं।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १।१५ ईहाऊहातर्कपरीक्षाविचारणाजिज्ञासा इत्य-नर्थान्तरम्। –ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, व जिज्ञासा ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

स.सि./९/४३/४५५/५ तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः। –तर्कणा करना, अर्थात ऊहा करना, वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान कहलाता है।

ध./१३/५.५.३८/२४२/८ अवगृहीतार्थस्य अनधिगतविशेषः उह्यते तर्क्यते अनया इति ऊहा। –जिससे अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये अर्थमें नहीं जाने गये विशेषकी 'ऊह्यते' अर्थात् तर्कणा करते हैं वह ऊहा है।

प./मु./३/११-१३/२ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।११। इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च।१२। यथाग्नावेव धूमस्त-दभावे न भवत्येवेति च।१३। –उपलब्धि और अनुपलब्धिकी सहायतासे होनेवाले व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं। और उसका स्वरूप ऐसा है—'इसके होते ही यह होता है और इसके न होते होता ही नहीं है' जैसे—अग्निके होते ही धूआँ होता है, अग्निके न होते होता ही नहीं।११-१३। (स./म./२८/३२१।२७)

'ऋ'

ऋक्षरज—(प./पु./८/ श्लोक) रावणकी सहायतासे इन्द्रके लोक-पाल यमको जीतकर किष्कुपुरको प्राप्त किया (४१८)।

ऋजुगति—दे० विग्रहगति/१।

ऋजुमति—दे० मनःपर्ययज्ञान/२।

ऋजुसूत्रनय—दे० नय III/५।

ऋण—दे० रिण।

ऋतु—१. कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित I/१।
२. सौधर्म स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

ऋद्धि—कायोत्सर्गका एक दोष—दे. व्युत्सर्ग/१।

ऋद्धि—तपश्चरणके प्रभावसे कदाचित् किन्हीं योगीजनोंको कुछ चामत्कारिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उन्हें ऋद्धि कहते हैं। इसके अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उन सबका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

* अन्तरंग अशुद्धताके सद्भावमें भी उसकी उपेक्षा कैसे करें—दे० अनुभव ६।

उपेक्षा संयम—दे० संयम/१।

उपोद्घात—दे० उपक्रम।

उभय दूषण—न्याय विषयक एक दोष।

श्लो.वा.४/न्या.४६१/५५१/१७ मिथो विरुद्धानां तदीयस्वभावाभावापादनमुभयदोषः।—एकान्तरूपसे अस्तित्व माननेपर जो दोष नास्तित्वाभावरूप आता है, अथवा नास्तित्वरूप माननेपर जो दोष अस्तित्वाभावस्वरूप आता है वे एकान्तवादियोंके ऊपर आनेवाले दोष अनेकान्तको माननेवाले जैनके यहाँ भी प्राप्त हो जाते हैं। यह उभय दोष हुआ। (ऐसा सैद्धान्तिकजन जैनोंपर आरोप करते हैं)।

उभयद्रव्य—उभय द्रव्य विशेष—दे० कृष्टि।

उभयशुद्धि—सम्यग्ज्ञानका एक अंग—

मू.आ./२८५ विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं। पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो।—जो सूत्रको अक्षर शुद्ध अर्थ शुद्ध अथवा दोनोंकर शुद्ध सावधानीसे पढ़ता पढ़ाता है उसीके शुद्ध ज्ञान होता है।

भ.आ./वि./११३/२६१/१७ तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यञ्जनस्य अर्थस्य च शुद्धिः।—व्यंजनकी शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्रायकी जो शुद्धि है वह उभय शुद्धि है।

१. अर्थ व्यंजन व उभय शुद्धिमें अन्तर

भ. आ./वि./११३/२६१/१८ ननु व्यञ्जनार्थशुद्धयोः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति ततः कथमष्टविधता। अत्रोच्यते पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा कश्चिद्विपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं। तत्तथा न कार्यमिति व्यञ्जनशुद्धिरुक्ता। अन्यस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थविशुद्धिरुदाहृता। अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता।—प्रश्न—ऊपर व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि इन दोनोंका स्वरूप आप कह चुके हैं, उनमें ही इसका भी अन्तर्भाव हो सकता है, इन दोनोंको छोड़कर तदुभय शुद्धि नामकी तीसरी शुद्धि है नहीं। अतः ज्ञान विनयके आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं। उत्तर—यहाँ पुरुष भेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है। जैसे कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है, परन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है ठीक पढ़ता नहीं। दीर्घोच्चारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है। ऐसा दोषयुक्त पढ़ना नहीं चाहिए इस वास्ते व्यंजनशुद्धि कही है। दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढ़ लेता है। परन्तु सूत्रार्थका विपरीत निरूपण करता है। यह भी योग्य नहीं है। इसका निराकरण करनेके लिए अर्थशुद्धि कही है। तीसरा आदमी सूत्र भी विपरीत पढ़ता है, और उसका अर्थ भी अंटसंट कहता है। इन दोनों दोषोंको दूर करनेके लिए तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिए।

उभयसारी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/४।

उभयासंख्यात—दे० असंख्यात।

उमास्वामी—१. नन्दिसंघ बलात्कार गणके अनुसार (दे० इतिहास/५/१३) आप कुन्दकुन्दके शिष्य थे। और (व.खं२/प्र३/H.L. Jain) के अनुसार 'बलाक पिच्छ' के गुरु थे। (त. वृ./प्र९७) में पं० महेन्द्रकुमार 'पं० नाथूराम प्रेमी' का उद्धरण—देकर कहते हैं कि आप यापनीय संघके आचार्य थे। (ष.खं १/प्र.१६/H.L. Jain) तथा तत्त्वार्थसूत्रकी प्रशस्तिके अनुसार इनका अपर नाम गृद्धपृच्छ है। आप बड़े विद्वान् व वाचक शिरोमणि हुए हैं। आपके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है—सौराष्ट्र देशमें द्वैपायन नामक एक श्रावक रहता था। उसने एक बार मोक्षमार्ग विषयक कोई शास्त्र बनानेका विचार किया और 'एक सूत्र रोज बनाकर ही भोजन करूँगा अन्यथा उपवास करूँगा' ऐसा संकल्प किया। उसी दिन उसने एक सूत्र बनाया "दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। विस्मरण होनेके भयसे उसने उसे घरके एक स्तम्भपर लिख दिया। अगले दिन किसी कार्यवश वह तो बाहर चला गया, और उसके पीछे एक मुनिराज आहारार्थ उसके घर पधारे। लौटते समय मुनिकी दृष्टि स्तम्भ पर लिखे सूत्रपर पड़ी। उन्होंने चुपचाप 'सम्यक्' शब्द उस सूत्रसे पहिले और लिख दिया और बिना किसीसे कुछ कहे अपने स्थानको चले गये। श्रावकने लौटने पर सूत्रमें किये गये सुधारको देखा और अपनी भूल स्वीकार की। मुनिको खोज उनसे ही विनीत प्रार्थना की कि वह इस ग्रन्थकी रचना करें, क्योंकि उसमें स्वयं उसे पूरा करनेकी योग्यता नहीं थी। बस उसकी प्रेरणासे ही उन मुनिराजने 'तत्त्वार्थसूत्र' (मोक्ष शास्त्र) की १० अध्यायोंमें रचना की। यह मुनिराज 'उमास्वामी' के अतिरिक्त अन्य कोई न थे। (स.सि./प्र. ८०/पं. फूलचन्द्र) आप बड़े सरलचित्त व निष्पक्ष थे और यही कारण है कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें आपकी कृतियाँ समान रूपसे पूज्य व प्रमाण मानी जाती हैं। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थसूत्र, सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम, ये दो तो उनकी सर्वसम्मत रचनाएँ हैं। और (ज.प./प्र.११०/A.N. up.) के अनुसार 'जम्बू द्वीपसमास' नामकी भी आपकी एक रचना है। समय—वि. सं. १०१-१४२ (ई. ७९-२२०), विशेष देखो (इतिहास।५। मूल संघ विभाजन), विद्वज्जनबोधमें उद्धृत एक श्लोक "वर्ष सप्तशते सप्तत्या च विस्मृतौ। उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥" के अनुसार आपका समय यद्यपि वी. नि. ७७० (ई० २४४) कहा गया है, परन्तु ऊपर वाला समय ही विद्वानोंको सम्मत है। दोनों समयोंमें कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमकी प्रस्तावना। प्रेमीजी); (स.सि./प्र/७८/ पं. फूलचन्द्र); (इतिहास।५।३.१३)।

उमास्वामी नं० २—'श्रावकाचार' और 'पंच नमस्कार स्तवन' नामके ग्रन्थ जिन उमास्वामीकी रचनाएँ हैं वे तत्त्वार्थ सूत्रके रचयिता उमास्वामी नं० १ से बहुत पीछे होनेके कारण लघु-उमास्वामी कहे जाते हैं। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम। प्र. ५ में प्रेमीजीकी टिप्पणी)

उरुबिल्व—(म.पु./प्र.४६/पं. पन्नालाल)—वर्तमान 'बुद्ध-गया' नामका नगर। यह बिहार प्रान्तमें है।

उर्मिमालिनी—अपर विदेहस्थकी एक विभंगा नदी—दे० लोक/७।

उर्वंक—(ध.१२/४,२,७,२१४/१७०/६) एत्थ अणंतभागवड्ढीए उव्वंकसण्णा।—यहाँ अनन्त भाग वृद्धिकी उर्वंक अर्थात् 'उ' संज्ञा है। (षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि क्रमके छह स्थानोंकी संज्ञनी क्रमशः ४,५,६,७,८ और 'उ' स्वीकार की गयी है)। (गो.जी./मू./३२५/६८४), (ल.सा./जी.प्र./४६/७६/१)।

उशीनर—भरतक्षेत्रमें आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

उष्ण परीषह—स.सि./९/९/४२१/६ निवाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपनिपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तरसाधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपरुष-

वातातपजनितगलतालुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतानचिन्तयतः प्राणिपीडापरिहारवहितचेतसश्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते ।—निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सूखकर पत्तोंके गिर जानेसे छायारहित वृक्षोंसे युक्त ऐसे वनके मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि अभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और आतपके कारण जिसे गले और तालुमें शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकारके बहुत-से अनुभूत हेतुओंको जानता हुआ भी उनका चिन्तवन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियोंकी पीड़ाके परिहारमें चित्त लगा हुआ है, उस साधुके चारित्रके रक्षणरूप उष्णपरीषहजय कही जाती है। (रा.वा./६/६/७/६०६/१२), (चा.सा./११२/४)।

उष्ण योनि—दे० योनि १।

उष्ट्रकूट—दे० कृष्टि।

उष्मगर्भ कूट—मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७।

ऊ

ऊँच—दे० उच्च।

ऊर्जयन्त—सौराष्ट्र देशके जूनागढ़ नगरमें स्थित गिरनारपर्वत।

ऊर्ध्वक्रम—दे० क्रम।

ऊर्ध्वगच्छ—गुणहानि आयाम—दे० गणित II/५।

ऊर्ध्व गति—जीव व पुद्गलका ऊर्ध्व गमन—दे० गति/२।

ऊर्ध्व प्रचय—दे० क्रम/ऊर्ध्वक्रम।

ऊर्ध्व लोक—१. विषय—दे० स्वर्ग/५। २. नक्शे—दे० लोक/७।

ऊष्माहार—दे० आहार I/१।

ऊहा—ष.खं.१३/५.५/सू ३८/२४२ ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा/३८। —ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहाके पर्याय नाम हैं।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १।१५ ईहाऊहातर्कपरीक्षाविचारणाजिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।—ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, व जिज्ञासा ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

स.सि./६/४३/४५५/६ तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः।—तर्कणा करना, अर्थात् ऊहा करना, वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान कहलाता है।

ध./१३/५.५,३८/२४२/८ अवगृहीतार्थस्य अनधिगतविशेषः उह्यते तर्क्यते अनया इति ऊहा। —जिससे अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये अर्थमें नहीं जाने गये विशेषकी 'ऊह्यते' अर्थात् तर्कणा करते हैं वह ऊहा है।

प./मु./३/११-१३/२ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।११। इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च।१२। यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।१३। —उपलब्धि और अनुपलब्धिकी सहायतासे होनेवाले व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं। और उसका स्वरूप ऐसा है—'इसके होते ही यह होता है और इसके न होते होता ही नहीं है' जैसे—अग्निके होते ही धूआँ होता है, अग्निके न होते होता ही नहीं ।११-१३। (स./म./२८/३२१।२७)

'ऋ'

ऋक्षरज—(प./पु./८/ श्लोक) रावणकी सहायतासे इन्द्रके लोकपाल यमको जीतकर किष्कुपुरको प्राप्त किया (४६८)।

ऋजुगति—दे० विग्रहगति/१।

ऋजुमति—दे० मनःपर्ययज्ञान/२।

ऋजुसूत्रनय—दे० नय III/५।

ऋण—दे० रिण।

ऋतु—१. कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित I/१।
२. सौधर्म स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

ऋद्धि—कायोत्सर्गका एक दोष—दे. व्युत्सर्ग/१।

ऋद्धि—तपश्चरणके प्रभावसे कदाचित् किन्हीं योगीजनोंको कुछ चामत्कारिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उन्हें ऋद्धि कहते हैं। इसके अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उन सबका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. ऋद्धिके भेद निर्देश

१. ऋद्धियोंके वर्गीकरणका चित्र

२. उपरोक्त भेद-प्रभेदोंके प्रमाण

बुद्धि सामान्य—(ति. प./४/९६८); (ध. ९/४,१,७/१८/५८); (स. सि./३।३६/२३०/२); (रा. वा./३/३६/३/२०१/२१); (चा. सा./२११); (वसु. श्रा./५१२); (नि. सा/ता. वृ/११२)।

बुद्धि ऋद्धि सामान्य—(ति.प./४/९६९-९७१); (रा.वा./३/३६/३/२०१/२२); (चा. सा/२११/२) पदानुसारी—(ति.प./४/९८०), (रा.वा./३/३६/३/२०१/३०); (ध.९/४,१,८/६०/५); (चा.सा./२१२/५) दश-पूर्वित्व—(ध.९/४,१,८/६९/५) अष्टांग महानिमित्तज्ञान—(ति.प./४/१००२); (रा. वा./३/३६/३/२०२/१०); (ध.९/४,१,१४/७२); (चा.सा./२१४/३) प्रज्ञाश्रमणत्व—(ति.प./४/१०१९); (ध.९/४,१,१८/८१/१); (चा. सा/२१७/१)।

विक्रिया सामान्य—(दे० ऊपर क्रिया व विक्रिया दोनोंके भेद) क्रिया—(ति. प/४/१०३३); (रा. वा/३/३६/३/२०२/२७); (चा.सा./२१८/१)। विक्रिया—(ति.प./४/१०२४-१०२५); (रा. वा./३/३६/३/२०२/३३); (ध. ९/४,१,१५/५/४); (चा. सा./२१९/१); (वसु. श्रा./५१३)। चारण—(ति. प /४/१०३५,१०४८); (ध. ९/४,१,१७/२१/७९); (रा. वा./३/३६/३/२०२/२७); (ध ९/४,१,१७/८०, ८८)।

तप सामान्य—(ति. प./४/१०४९-१०५०); (रा. वा/३/३६/३/२०३/७); (चा. सा/२२०/१)। उग्रतप—(ति. प/४/१०५०); (ध. ९/४,१,२२/८७/५)। (चा. सा./२२०/१)। घोरब्रह्मचर्य—(ष. खं. ९/४,१/२८-२९/९३-९४); (चा. सा./२२०/१)।

बल—(ति. प/४/१०६१); (रा. वा./३/३६/३/२०३/१८); (चा.सा./२२४/१)।

औषध—(ति. प /४/१०६७); (रा.वा./३/३६/३/२०३/२४); (चा.सा./२२५/१)।

रस सामान्य—(ति. प./४/१०७७); (रा. वा./३/३६/३/२०३/३३); (चा. सा./२२६/४)। आशीर्विष—(ध. ९/४,१,२०/८६/४) दृष्टिविष—(ध. ९/४,१,२१/८७/२)।

क्षेत्र—(ति. प./४/१०८८); (रा. वा./३/३६/३/२०४/९); (चा. सा./२२८/१)।

२. बुद्धि ऋद्धि निर्देश

१. बुद्धि ऋद्धि सामान्यका लक्षण

रा. वा./३/३६/३/२०१/२२ बुद्धिरवगमो ज्ञानं तद्विषया अष्टादशविधा ऋद्धयः। —बुद्धि नाम अवगम या ज्ञानका है। उसको विषय करनेवाली १८ ऋद्धियाँ हैं।

२. बीजबुद्धि निर्देश

१. बीजबुद्धिका लक्षण

ति. प./४/९७५-९७७ णोइंदियसुदणाणावरणाणं वीरअंतरायाए। तिविहाणं पगदीणं उक्कस्सखउवसमविसुद्धस्स।९७५। संखेज्जसरूवाणं सद्दाणं तत्थ लिंगसंजुत्तं। एक्कं चिय बीजपदं लद्धूण परोपदेसेण।९७६। तम्मि पदे आधारे सयलसुदं चिंतिऊण गेण्हेदि। कस्स वि महेसिणो जा बुद्धि सा बीजबुद्धि त्ति।९७७। —नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण, और वीर्यान्तराय, इन तीन प्रकारकी प्रकृतियोंके उत्कृष्ट क्षयोपशमसे विशुद्ध हुए किसी भी महर्षिकी जो बुद्धि, संख्यातस्वरूप शब्दोंके बीचमें-से लिंग सहित एक ही बीजभूत पदको परके उपदेशसे प्राप्त करके उस पदके आश्रयसे सम्पूर्ण श्रुतको विचारकर ग्रहण करती है, वह बीजबुद्धि है। ९७५-९७७। (रा. वा./३/३६/३/२०१/२६)। (चा. सा./२१२/२)।

ध. ९/४,१,७/५९-१; ५९-१ बीजमिव बीजं। जहा बीजं मूलंकुर-पत्त-पोर-क्खंध-पसव-तुस-कुसुम-खीर-तंदुलाणमाहारं तहा दुवालसंगत्थाहारं जं पदं तं बीजतुल्लत्तादो बीजं। बीजपदविसयमदिणाणं पि बीजं, कज्जे कारणोवयारादो। एसा कुदो होदि। विसिट्ठोग्गहावरणीयक्खओवसमादो। (५९-१)—बीजके समान बीज कहा जाता है। जिस प्रकार बीज, मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कन्ध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर और तंदुल आदिकोंका आधार है; उसी प्रकार बारह अंगोंके अर्थका आधारभूत जो पद है वह बीज तुल्य होनेसे बीज है। बीजपद विषयक मतिज्ञान भी कार्यमें कारणके उपचारसे बीज है।५९। ...यह बीज बुद्धि कहाँसे होती है। वह विशिष्ट अवग्रहावरणीयके क्षयोपशमसे होती है।

२. बीज बुद्धिके लक्षण सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध. ९/४,१,७/५७/६ बीजपदट्ठिदपदेसादो हेट्ठिमसुदणाणुप्पत्तीए कारणं होदूण पच्छा उवरिमसुदणाणुप्पत्तिणिमित्ता बीजबुद्धि त्ति के वि आइरिया भणंति। तण्ण घडदे, कोट्ठबुद्धियादिचदुण्हं णाणाणमक्कमेणेक्कम्हि जीवे सव्वदा अणुप्पत्तिप्पसंगादो।...ण च एक्कम्हि जीवे सव्वदा चदुण्हं बुद्धीणं अक्कमेण अणुप्पत्ती चेव।...त्ति सुत्तगाहाए वक्खाणम्मि गणहरदेवाणं चदुरमलबुद्धीणं दंसणादो। किंच अत्थि गणहरदेवेसु चत्तारि बुद्धीओ अण्णहा दुवालसंगाणमणुप्पत्तिप्पसंगादो। —बीजपदसे अधिष्ठित प्रदेशसे अधस्तन श्रुतके ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होकर पीछे उपरिम श्रुतके ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेवाली बीज बुद्धि है। (अर्थात् पहले बीजपदके अल्पमात्र अर्थको जानकर, पीछे उसके आश्रय पर विषयका विस्तार करनेवाली बुद्धि बीजबुद्धि है, न कि केवल शब्द-विस्तार ग्रहण करनेवाली) ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता। क्योंकि, ऐसा माननेपर कोष्ठबुद्धि आदि चार ज्ञानोंकी (कोष्ठबुद्धि तथा अनुसारी, प्रतिसारी व तदुभयसारी ये तीन पदानुसारीके भेद)। युगपत् एक जीवमें सर्वदा उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। और एक जीवमें सर्वदा चार बुद्धियोंकी एक साथ उत्पत्ति हो ही नहीं, ऐसा है नहीं क्योंकि—(सात ऋद्धियोंका निर्देश करनेवाली) सूत्रगाथाके व्याख्यानमें (कही गयीं) गणधर देवोंके चार निर्मल बुद्धियाँ देखी जाती हैं। तथा गणधर देवोंके चार बुद्धियाँ होती हैं, क्योंकि उनके बिना (उनके द्वारा) बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

३. बीज बुद्धिकी अचिन्त्य शक्ति व शंका

ध ९/४, १, ७/५६/३ "संखेज्जसद्दअणंतलिंगेहि सह बीजपदं जाणंती, बीजबुद्धि त्ति भणिदं होदि। णा बीजबुद्धि अणंतत्थ पडिबद्धअणंतलिंगबीजपदमवगच्छदि, खओवसमियत्तादो त्ति। ण खओवसमिएण परोक्खेण सुदणाणेण इच्चादि (देखो केवल भावार्थ) —संख्यात शब्दोंके अनन्त अर्थोंसे सम्बद्ध अनन्त लिंगोंके साथ बीजपदको जाननेवाली बीज बुद्धि है, यह तात्पर्य है। प्रश्न—बीज बुद्धि अनन्त अर्थोंसे सम्बद्ध अनन्त लिंगरूप बीजपदको नहीं जानती, क्योंकि वह क्षायोपशमिक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार क्षयोपशमजन्य परोक्ष श्रुतज्ञानके द्वारा केवलज्ञानसे विषय किये गये अनन्त अर्थोंका परोक्ष रूपसे ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार मतिज्ञानके द्वारा भी सामान्य रूपसे अनन्त अर्थोंको ग्रहण किया जाता है, क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त संख्या है, तो 'चौदह पूर्वोंका विषय उत्कृष्ट संख्यात है' ऐसा जो परिकर्ममें कहा है, वह कैसे घटित होगा? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट, उत्कृष्ट-संख्यातको ही जानता है, ऐसा यहाँ नियम नहीं है। प्रश्न—श्रुतज्ञान समस्त पदार्थोंको नहीं जानता है, क्योंकि, ('पदार्थोंके अनन्तवें भाग प्रज्ञापनीय हैं और उसके भी अनन्तवें भाग द्वाद-

शांग श्रुतके विषय हैं') इस प्रकारका कथन है? उत्तर—समस्त पदार्थों का अनन्तवाँ भाग द्रव्यश्रुतज्ञानका विषय भले ही हो, किन्तु भाव श्रुतज्ञानका विषय समस्त पदार्थ हैं; क्योंकि, ऐसा माने बिना तीर्थंकरोंके वचनातिशयके अभावका प्रसंग होगा।

३. कोष्ठबुद्धिका लक्षण व शक्तिनिर्देश

ति. प./४/९७८-९७९ "उक्कस्सिधारणाए जुत्तो पुरिसो गुरूवएसेणं। णाणाविहगंथेसु वित्थारे लिंगसद्दबीजाणि।९७८। गहिऊण णियमदीए मिस्सेण विणा धरेदि मदिकोट्ठे। जो कोई तस्स बुद्धी णिद्दिट्ठा कोट्ठबुद्धी त्ति। ९७९। —उत्कृष्ट धारणासे युक्त जो कोई पुरुष गुरुके उपदेशसे नाना प्रकारके ग्रन्थोंमेंसे विस्तारपूर्वक लिंग सहित शब्दरूप बीजोंको अपनी बुद्धिमें ग्रहण करके उन्हें मिश्रणके बिना बुद्धिरूपी कोठेमें धारण करता है, उसकी बुद्धि कोष्ठबुद्धि कही गयी है। (रा. वा./३/३६/३/२०१/२८); (चा. सा./२१२/४)।

ध. ९/४,१,६/५३/७ कोष्ठयः शालि-व्रीहि-यव-गोधूमादीनामाधारभूत-कुस्थली पल्यादिः। सा चासेसदव्वपज्जायधारणगुणेण कोट्ठसमाणा बुद्धी कोट्ठो, कोट्ठा च सा बुद्धी च कोट्ठबुद्धी। एदिस्से अप्पधारणकालो जहण्णेण संखेज्जाणि उक्कस्सेण असंखेज्जाणि वसाणि कुदो। 'कालमसंखं संखं च धारणा' त्ति सुत्तुवलंभादो। कुदो एदं होदि। धारणावरणीयस्स तिव्वखओवसमेण।—शालि, व्रीहि, जौ, और गेहूँ आदिके आधारभूत कोथली, पल्ली आदिका नाम कोष्ठ है। समस्त द्रव्य व पर्यायोंको धारण करनेरूप गुणसे कोष्ठके समान होनेसे उस बुद्धिको भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठ रूप जो बुद्धि वह कोष्ठबुद्धि है। (ध.१३/५,५,४०/२४३/११) इसका अर्थ धारणकाल जघन्यसे संख्यात वर्ष और उत्कर्षसे असंख्यात वर्ष है, क्योंकि, 'असंख्यात और संख्यात काल तक धारणा रहती है' ऐसा सूत्र पाया जाता है। प्रश्न—यह कहाँसे होती है? उत्तर—धारणावरणीय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे होता है।

४. पदानुसारी ऋद्धि सामान्य विशेषके लक्षण

ति.प./४/९८०-९८३ बुद्धीविवक्खणाणं पदाणुसारी हवेदि तिविहप्पा। अणुसारी पडिसारी जहत्थणामा उभयसारी।९८०। आदि अवसाणमज्झे गुरूवदेसेण एक्कबीजपदं। गेण्हिय उवरिमगंथं जा गिण्हदि सा मदी हु अणुसारी।९८१। आदिअवसाणमज्झे गुरूवदेसेण एक्कबीजपदं। गेण्हिय हेट्ठिमगंथं बुज्झदि जा सा च पडिसारी।९८२। णियमेण अणियमेण य जुगवं एगस्स बीजसद्दस्स। उवरिमहेट्ठिमगंथं जा बुज्झइ उभयसारी सा।९८३।

ध.९/४,१.८/६०/२ पदमनुसरति अनुकुरुते इति पदानुसारी बुद्धिः। बीजबुद्धीए बीजपदमवगंतूण एत्थ इदं एदेसिमक्खराणं लिंगं होदि ण होदि त्ति ईहिदूणसयलसुदक्खर-पदाइमवगच्छंती पदाणुसारी। तेहि पदेहितो समुप्पज्जमाणं णाणं सुदणाणं ण अक्खरपदविसयं, तेसिमक्खरपदाणं बीजपदं ताभावादो। सा च पदाणुसारी अणु-पदि-तदुभयसारिभेदेण तिविहो।…कुदो एदं होदि। ईहावायावरणीयाणं तिव्वक्खओवसमेण।—(ध./९/६०)—पदका जो अनुसरण या अनुकरण करती है वह पदानुसारी बुद्धि है। बीज बुद्धिसे बीजपदको जानकर, 'यहाँ यह इन अक्षरोंका लिंग होता है और इनका नहीं', इस प्रकार विचारकर समस्त श्रुतके अक्षर पदोंको जाननेवाली पदानुसारी बुद्धि है (उन पदोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है, वह अक्षरपदविषयक नहीं है; क्योंकि, उन अक्षरपदोंका बीजपदमें अन्तर्भाव है। वह पदानुसारी बुद्धि अनुसारी, प्रतिसारी, और तदुभयसारीके भेदसे तीन प्रकार है…

(ति.प.)—विचक्षण पुरुषोंकी पदानुसारिणी बुद्धि अनुसारिणी, प्रतिसारिणी और उभयसारिणीके भेदसे तीन प्रकार है, इस बुद्धिके ये यथार्थ नाम हैं ९८०। जो बुद्धि आदि मध्य अथवा अन्तमें गुरुके उपदेशसे एक बीजपदको ग्रहण करके उपरिम (अर्थात् उससे आगेके) ग्रन्थको ग्रहण करती है वह अनुसारिणी बुद्धि कहलाती है।९८१। गुरुके उपदेशसे आदि मध्य अथवा अन्तमें एक बीजपदको ग्रहण करके जो बुद्धि अधस्तन (पीछे वाले) ग्रन्थको जानती है, वह प्रतिसारिणी बुद्धि है।९८२। जो बुद्धि नियम अथवा अनियमसे एक बीजशब्दके (ग्रहण करनेपर) उपरिम और अधस्तन (अर्थात् उस पदके आगे व पीछेके सर्व) ग्रन्थको एक साथ जानती है वह उभयसारिणी बुद्धि है।९८३। (रा.वा./३/३६/३/२०१/३०); (ध.९/४,१,८/६०/५); (चा. सा. २१२/५)

५. संभिन्नश्रोतृत्वका लक्षण

ति. प./४/९८४-९८६ सोदिंदियसुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि।९८४। सोदुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणपएसे। संठियणरतिरियाणं बहुविहसद्दे समुट्ठंते।९८५। अक्खरअणक्खरमए सोदूणं दसदिसासु पत्तेक्कं। जं दिज्जदि पडिवयणं तं चिय संभिण्णसोदित्तं। ९८६। —श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण, और वीर्यान्तरायका उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर श्रोत्रेन्द्रियके उत्कृष्ट क्षेत्रसे बाहर दशों दिशाओंमें संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्रमें स्थित मनुष्य एवं तिर्यंचोंके अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकारके उठनेवाले शब्दोंको सुनकर जिससे (युगपद्) प्रत्युत्तर दिया जाता है, वह संभिन्नश्रोतृत्व नामक बुद्धि ऋद्धि कहलाती है।

(रा.वा.३/३६/३/२०२/१); (ध.९/४,१,९/६१/४); (चा.सा.२१३/१)

ध.९/४,१,९/६२/६ कुदो एदं होदि। बहुबहुविहक्खिप्पावरणीयाणं खओवसमेण।—यह कहाँसे होता है? बहु, बहुविध, और क्षिप्र (मति) ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे होता है।

६. दूरादास्वादन आदि ऋद्धियोंके लक्षण

ति.प./४/९८७-९९७—१—जिब्भिंदिय सुदणाणावरणाणं वीरयंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि।९८७। जिब्भुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणठियाणं। विविहरसाणं सादं जाणइ दूरसादित्तं। ९८८। २—पासिंदिय सुदणाणावरणाणं वारियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि।९८९। पासुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणठियाणि। अट्ठविहप्पासाणि जं जाणइ दूरपासत्तं। ९९०।—३—घाणिंदियसुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि।९९१। घाणुक्कस्सखिदीदो बाहिरसंखेज्जजोयणपएसे। जं बहुविधगंधाणि तं घायदि दूरघाणत्तं।९९२।—४—सोदिंदियसुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि।९९३। सोदुक्कस्सखिदीदो बाहिरसंखेज्जजोयणपएसे। चेट्ठंताणं माणुसतिरियाणं बहुवियप्पाणं। ९९४। अक्खरअणक्खरमए बहुविहसद्दे विसेससंजुत्ते। उप्पण्णे आयण्णइ जं भणिअं दूरसवणत्तं। ९९५।—५—रूविंदियसुदणाणावरणाणं वीरिअंतराआए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि। ९९६। रूवुक्कस्सखिदीदो बाहिरं संखेज्जजोयणठिदाइं। जं बहुविहदव्वाइं देक्खइ तं दूरदरिसिणं णाम। ९९७।—वह वह इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण, और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकृतियोंके उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर, उस उस इन्द्रियके उत्कृष्ट विषयक्षेत्रसे बाहर संख्यात योजनोंमें स्थित उस उस सम्बन्धी विषयको जान लेना उस उस नामकी ऋद्धि है। यथा—जिह्वा इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे दूरास्वादित्व, स्पर्शन इन्द्रिया-

वरणके क्षयोपशमसे दूरस्पर्शत्व, घ्राणेन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे दूरघ्राणत्व, श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे दूरश्रवणत्व और चक्षुरिन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे दूरदर्शित्व ऋद्धि होती है।

७. प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि निर्देश

१. प्रज्ञाश्रमणत्व सामान्य व विशेषके लक्षण—

ति.प./४/१०१७-१०२१ पयडीए सुदणाणावरणाए वीरयंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उप्पज्जइ पण्णसमणद्धी ।१०१७। पण्णासवणद्धिजुदो चोद्दसपुव्वीसु विसयसुहुमत्तं। सव्वं हि सुदं जाणदि अकअज्झओ वि णियमेण ।१०१८। भासंति तस्स बुद्धी पण्णासमणद्धी सा च चउभेदा। अउपत्तिअ-परिणामिय-वइणइकी-कम्मजा णेया ।१०१९। भवंतर सुदविणएणं समुल्लसिदभावा। णियणियजादिविसेसे उप्पण्णा पारिणामिकी णामा ।१०२०। वइणइकी विणएणं उप्पज्जदि बारसंगसुदजोग्गं। उवदेसेण विणा तवविसेसलाहेण कम्मजा तुरिमा ।१०२१। —श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि उत्पन्न होती है। प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिसे युक्त जो महर्षि अध्ययनके बिना किये ही चौदहपूर्वोंमें विषयकी सूक्ष्मताको लिये हुए सम्पूर्ण श्रुतको जानता है और उसको नियमपूर्वक निरूपण करता है उसकी बुद्धिको प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते हैं। वह औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा, इन भेदोंसे चार प्रकारकी जाननी चाहिए। १०१७-१०१९। इनमें से पूर्व भवमें किये गये श्रुतके विनयसे उत्पन्न होनेवाली औत्पत्तिकी (बुद्धि है)। १०२०।

ध.९/४,१,१८/२२/८२. विणएण सुदमधीदं किह वि पमादेण होदि विस्सरिदं। तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आहवदि। २२।—एसो उप्पत्तिपण्णसमणो छम्मासोपवासगिलाणो वि तब्बुद्धिमाहप्पजाणावणट्ठं पुच्छावावदचोद्दसपुव्विस्स वि उत्तरमाहओ।—विनयसे अधीत श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमादसे विस्मृत हो जाता है तो उसे वह परभवमें उपस्थित करती है और केवलज्ञानको बुलाती है। २२। यह औत्पत्तिकी प्रज्ञाश्रमण छह मासके उपवाससे कृश होता हुआ भी उस बुद्धिके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए पूछने रूप क्रियामें प्रवृत्त हुए चौदहपूर्वीको भी उत्तर देता है। निज निज जाति विशेषोंमें उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिकी है, द्वादशांग श्रुतके योग्य विनयसे उत्पन्न होनेवाली वैनयिकी और उपदेशके बिना ही विशेष तपकी प्राप्तिसे आविर्भूत हुई चतुर्थ कर्मजा प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि समझना चाहिए। १०२०-१०२१। (रा.वा./३/३६/३/२०२/२२); (ध.९/४,१,१८/८१/१); (चा.सा./२१६/४)।

ध.९/४,१,१८/८३/१ उसहसेणादीणं-तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदट्ठावहारयाणं पण्णाए कत्थं तब्भावो। पारिणामियाए, विणय-उप्पत्ति-कम्मेहि विणा उप्पत्तीदो।—प्रश्न—तीर्थंकरोंके मुखसे निकले हुए बीजपदोंके अर्थका निश्चय करनेवाले वृषभसेनादि गणधरोंकी प्रज्ञाका कहाँ अन्तर्भाव होता है? उत्तर—उसका पारिणामिक प्रज्ञामें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, वह विनय, उत्पत्ति और कर्मके बिना उत्पन्न होती है।

२. पारिणामिकी व औत्पत्तिकीमें अन्तर

ध.९/४,१,१८/८३/२ पारिणामिय-उप्पत्तियाणं को विसेसो। जादिविसेसजणिदकम्मक्खओवसमुप्पण्णा पारिणामिया, जम्मंतरविणयजणिदसंसकारसमुप्पण्णा अउप्पत्तिया, त्ति अत्थि विसेसो।—प्रश्न—पारिणामिकी और औत्पत्तिकी प्रज्ञामें क्या भेद है? उत्तर—जाति विशेषमें उत्पन्न कर्मक्षयोपशमसे आविर्भूत हुई प्रज्ञा पारिणामिकी है, और जन्मान्तरमें विनयजनित संस्कारसे उत्पन्न प्रज्ञा औत्पत्तिकी है, यह दोनोंमें विशेष है।

३. प्रज्ञाश्रमण बुद्धि और ज्ञान सामान्यमें अन्तर

ध.९/४,१,१८/८४/२ पण्णाए णाणस्स य को विसेसो? णाणहेदुजीवसत्ती गुरूवएसणिरवेक्खा पण्णा णाम, तक्कारियं णाणं। तदो अत्थि भेदो। —प्रश्न—प्रज्ञा और ज्ञानके बीच क्या भेद है? उत्तर—गुरुके उपदेशसे निरपेक्ष ज्ञानकी हेतुभूत जीवकी शक्तिका नाम प्रज्ञा है, और उसका कार्य ज्ञान है; इस कारण दोनोंमें भेद है।

८. वादित्वका लक्षण

ति.प./४/१०२३ सक्कादीणं वि पक्खं बहुवादेहिं णिरुत्तरं कुणदि। परदव्वाइं गवेसइ जीए वादित्तरिद्धी सा ।१०२३। —जिस ऋद्धिके द्वारा शक्रादिके पक्षको भी बहुत वादसे निरुत्तर कर दिया जाता है और परके द्रव्योंकी गवेषणा (परीक्षा) करता है (अर्थात् दूसरोंके छिद्र या दोष ढूँढ़ता है) वह वादित्व ऋद्धि कहलाती है। (रा.वा./३/३६/३/२०२/२५); (चा.सा./२१७/५)

३. विक्रिया ऋद्धि निर्देश

१. विक्रिया ऋद्धिकी विविधता

ति.प./४/१०२४-१०२५, १०३३ अणिमा-महिमा-लघिमा-गरिमा-पत्तीय तह अ पाकम्मं। ईसत्तवसित्तताइं अप्पडिघादंतधाणाच ।१०२४। रिद्धी हु कामरूवा एवं रूवेहिं विविहभेएहिं। रिद्धो विकिरिया णामा समणाणं तवविसेसेणं ।१०२५। दुविहा किरियारिद्धी णहयलगामित्त चारणत्तेहिं ।१०३३।

ध.९/४,१,१५/७५/४ अणिमा महिमा लहिमा पत्ती पागम्मं ईसित्तं वसित्तं कामरूवित्तमिदि विउव्वणमट्ठविहं।...एत्थ एगसंजोगादिणा बिसद-पंचवंचासविउव्वणभेदा उप्पाएदव्वा, तक्कारणस्स वइचित्तयत्तादो (पृ. ७६/६)। —अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप इस प्रकारके अनेक भेदोंसे युक्त विक्रिया नामक ऋद्धि तपोविशेषसे श्रमणोंको हुआ करती है। ति.प./...(रा.वा./३/३६/३/२०२/३३); (चा.सा./२१९/१); (व.सु.श्रा./५१३)। नभस्तलगामित्व और चारणत्वके भेदसे क्रियाऋद्धि दो प्रकार है। (रा.वा./३/३६/३/२०२/२७); (चा.सा./२१८/१)। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ईशित्व, वशित्व, और कामरूपित्व—इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार है। यहाँ एकसंयोग, द्विसंयोग आदिके द्वारा २५५ विक्रियाके भेद उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि, उनके कारण विचित्र हैं। एक संयोगी—८; द्विसंयोगी—२८; त्रिसंयोगी—५६; चतुःसंयोगी—७०; पंचसंयोगी—५६; षट्संयोगी—२८; सप्तसंयोगी—८; और अष्ट संयोगी—१। कुल भंग—२५५ (विशेष देखो गणित/II/४)।

२. अणिमा विक्रिया

ति.प./४/१०२६ अणुतणुकरणं अणिमा अणुछिद्दे पविसिदूण तत्थेव। विकरदि खंदावारं णिएसमवि चक्कवट्टिस्स ।१०२६। —अणुके बराबर शरीरको करना अणिमा ऋद्धि है। इस ऋद्धिके प्रभावसे महर्षि अणुके बराबर छिद्रमें प्रविष्ट होकर वहाँ ही, चक्रवर्तीके कटक और निवेशकी विक्रिया द्वारा रचना करता है। (रा.वा./३/३६/३/२०२/३४) (ध.९/४,१,१५/७५/५) (चा.सा./२१९/२)

३. महिमा गरिमा व लघिमा विक्रिया

ति.प./४/१०२७ मेरूवमाणदेहा महिमा अणिलाउ लहुत्तरो लहिमा। वज्जाहिंतो गुरुवत्तणं च गरिमं त्ति भणंति। १०२७।—मेरुके बराबर शरीरके करनेको महिमा, वायुसे भी लघु (हलका) शरीर करनेको लघिमा और वज्रसे भी अधिक गुरुतायुक्त (भारी) शरीरके करनेको

गरिमा ऋद्धि कहते हैं। (रा.वा./३/३६/३/२०३/१); (ध.६/४,१,१५/७५/५); (चा.सा./२१६/२)

४. प्राप्ति व प्राकाम्य विक्रिया

ति.प./४/१०२८-१०२९ भूमीए चेट्ठंतो अंगुलिअग्गेण सूरिससिपहुदिं। मेरुसिहराणि अण्णं जं पावदि पत्तिरिद्धी सा ।१०२८। सलिले वि य भूमीए उम्मज्जणिमज्जणाणि जं कुणदि। भूमीए वि य सलिले गच्छदि पाकम्मरिद्धी सा।१०२९। =भूमिपर स्थित रहकर अंगुलि-के अग्रभागसे सूर्य-चन्द्रादिकको, मेरुशिखरोंको तथा अन्य वस्तुको प्राप्त करना यह प्राप्ति ऋद्धि है। १०२८। जिस ऋद्धिके प्रभावसे जलके समान पृथिवीपर उन्मज्जन-निमज्जन क्रियाको करता है और पृथिवीके समान जलपर भी गमन करता है वह प्राकाम्य ऋद्धि है। १०२९। (रा.वा./३/३६/३/२०३/३); (चा. सा./२१६/३)

ध.६/४,१,१५/७५/७ भूमिट्ठियस्स करेण चदाइच्चबिंबच्छिवणसत्ती पत्ती णाम। कुलसेलमेरुमहीहर-भूमीणं बाहमकाऊण तासु गमणसत्ती तव-च्छरणबलेणुप्पण्णा पागम्मं णाम।=(प्राप्तिका लक्षण उपरोक्तवत् ही है)—कुलाचल और मेरुपर्वतके पृथिवीकायिक जीवोंको बाधा न पहुँचाकर उनमें, तपश्चरणके बलसे उत्पन्न हुई गमनशक्तिको प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं।

चा.सा./२१६/४ अनेकजातिक्रियागुणद्रव्याधीनं स्वाङ्गाद् भिन्नमभिन्नं च निर्माणं प्राकाम्यं, सैन्यादिरूपमिति केचित्।=कोई-कोई आचार्य; अनेक तरहकी क्रिया गुण वा द्रव्यके आधीन होनेवाले सेना आदि पदार्थोंको अपने शरीरसे भिन्न अथवा अभिन्न रूप बनानेकी शक्ति प्राप्त होनेको प्राकाम्य कहते हैं। (विशेष दे० वैक्रियक। १। पृथक् व अपृथक् विक्रिया)

५. ईशित्व व वशित्व विक्रिया

ति.प./४/१०३० णिस्सेसाण पहुत्तं जगाण ईसत्तणामरिद्धी सा। वसमेंति तवबलेणं जं जीओहा वसित्तरिद्धी सा। १०३०। =जिससे सब जगत् पर प्रभुत्व होता है, वह ईशित्वनामक ऋद्धि है और जिससे तपोबल द्वारा जीव समूह वशमें होते हैं, वह वशित्व ऋद्धि कही जाती है। (रा.वा/३/३६/३/२०३/४) (चा.सा./२१६/५)।

ध.६/४,१,१५/७६/२ सव्वेसिं जीवाणं गामणयरखेडादीणं च भुंजणसत्ती समुप्पण्णा ईसित्तं णाम। माणुस-मायंग-हरि-तुरयादीणं सगिच्छाए विउव्वणसत्ती वसित्तं णाम। =सब जीवों तथा ग्राम, नगर, एवं खेडे आदिकोंके भोगनेकी जो शक्ति उत्पन्न होती है वह ईशित्व ऋद्धि कही जाती है। मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक रूप अपनी इच्छासे विक्रिया करनेकी (अर्थात् उनका आकार बदल देनेकी) शक्तिका नाम वशित्व है।

२. ईशित्व व वशित्व विक्रियामें अन्तर

ध.६/४,१,१५/७६/३ण च वसित्तस्स ईसित्तम्मि पवेसो, अवसाणं पि हदा-कारेण ईसित्तकरणुवलंभादो। =वशित्वका ईशित्व ऋद्धिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि, अवशीकृतोंका भी उनका आकार नष्ट किये बिना ईशित्वकरण पाया जाता है।

३. ईशित्व व वशित्वमें विक्रियापना कैसे है ?

ध.६/४,१,१५/७६/५ ईसित्तवसित्ताणं कधं वेउव्विवत्तं। ण, विविहगुण-इड्ढिजुत्तं वेउव्वियमिदि तेसिं वेउव्वियत्ताविरोहादो। =प्रश्न—ईशित्व और वशित्वके विक्रियापना कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, नाना प्रकार गुण व ऋद्धि युक्त होनेका नाम विक्रिया है, अतएव उन दोनोंके विक्रियापनेमें कोई विरोध नहीं है।

६. अप्रतिघात अन्तर्धान व कामरूपित्व

ति.प./४/१०३१-१०३२ सेलसिलातरुपमुहाणब्भंतरं होइदूण गमणं व। जं वच्चदि सा ऋद्धी अप्पडिघादेत्ति गुणणामं। १०३१। जं हवदि अद्दिसत्तं अंतद्धाणाभिधाणरिद्धी सा। जुगवें बहुरूवाणि जं विरयदि कामरूवरिद्धी सा।१०३२। =जिस ऋद्धिके बलसे शैल, शिला और वृक्षादिके मध्यमें होकर आकाशके समान गमन किया जाता है, वह सार्थक नामवाली अप्रतिघात ऋद्धि है। १०३१। जिस ऋद्धिसे अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अन्तर्धाननामक ऋद्धि है; और जिससे युगपत् बहुत-से रूपोंको रचता है, वह कामरूप ऋद्धि है।१०३२। (रा.वा./३/३६/३/२०३/५); (चा.सा./२१६/६)।

ध. ६/४,१,१५/७६/४ इच्छिदरूवग्गहणसत्ती कामरूवित्तं णाम।—इच्छित रूपके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम कामरूपित्व है।

४. चारण व आकाशगामित्व ऋद्धि निर्देश

१. चारण ऋद्धि सामान्य निर्देश

ध, ६/४,१,१६/८४/७ चरणं चारित्तं संजमो पावकिरियाणिरोहो त्ति एयट्ठो तम्हि कुसलो णिउणो चारणो। —चरण, चारित्र, संजम, पापक्रियानिरोध इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण हैं वे चारण कहलाते हैं।

२. चारण ऋद्धिकी विविधता

ति. प./४/१०३४-१०३५,१०४८ "चारणरिद्धी बहुविहवियप्पसंदोह वित्थरिदा।१०३४। जलजंघाफलपुप्फं पत्तग्गिसिहाण धूममेघाणं। धारामक्कडतंतुजोदीमरुदाण चारणा कमसो।१०३५। अण्णो विविहा भंगा चारणरिद्धीए भाजिदा भेदा। तां सरूवंकहणे उवएसो अम्ह उच्छिण्णो।१०४८। =चारण ऋद्धि क्रमसे जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूमचारण, मेघचारण, धाराचारण, मर्कटतन्तुचारण, ज्योतिषचारण और मरु-चारण इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प समूहोंमे विस्तारको प्राप्त हैं। १०३४-१०३५। इस चारण ऋद्धिके विविध भंगोंसे युक्त विभक्त किये हुए और भी भेद होते हैं। परन्तु उनके स्वरूपका कथन करनेवाला उपदेश हमारे लिए नष्ट हो चुका है।१०४८।

ध. ६/४,१,१७/पृ. ७८/१० तथा पृ. ८०/६ जल-जंघ-तंतु-फल-पुप्फ-बीय-आयास-सेडीभेएण अट्ठविहा चारणा। उत्तं च—(गा.सं.२१)।७८-१०। चारणाणमेत्थ एगसंजोगादिकमेण विसदपंचपंचासभंगा उप्पाएदव्वा। कधमेगं चारित्तं विचित्तसत्तिसमुप्पाययं। ण परिणामभेएण णाणाभेद-भिण्णचारित्तादो चारणबहुत्तं पडि विरोहाभावादो। कधं पुण चारणा अट्ठविहा त्ति जुज्जदे। ण एस दोसो, णियमाभावादो, विसदपंचवंचा-सचारणाणं अट्ठविहचारणेहिंतो एयंतेण पुधत्ताभावादो च। —जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणीके भेदसे चारण ऋद्धि धारक आठ प्रकार हैं। कहा भी है (गा. नं, २१ में भी यही आठ भेद कहे हैं। (रा. वा./३/३६/३/२०२/२७) (चा, सा./२१८/१)। यहाँ चारण ऋषियोंके एक संयोग, दो संयोग आदिके क्रमसे २५५ भंग उत्पन्न करना चाहिए। एक संयोगी—८; द्विसंयोगी—२८; त्रिसंयोगी—५६; चतुःसंयोगी—७०. पंचसंयोगी—५६; षट्संयोगी=२८; सप्तसंयोगी —८; अष्टसंयोगी—१। कुल भंग—२५५। (विशेष दे० गणित II/४) प्रश्न—एक ही चारित्र इन विचित्र शक्तियोंका उत्पादक कैसे हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि परिणामके भेदसे नाना प्रकार चारित्र होनेके कारण चारणोंकी अधिकतामें कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—जब चारणोंके भेद २५५ हैं तो फिर उन्हें आठ प्रकारका बतलाना कैसे युक्त है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उनके आठ होनेका

कोई नियम नहीं है। तथा २५५ चारण आठ प्रकार चारणोंसे पृथक् भी नहीं हैं।

३. आकाशचारण व आकाशगामित्व

१. आकाशगामित्व ऋद्धिका लक्षण

ति. प./४/१०३३-१०३४ ...। अट्ठीओ आसीणो काउसग्गेण इदरेण। ।१०३३। गच्छेदि जीए एसा रिद्धी गयणगामिणी णाम ।१०३४। =जिस ऋद्धिके द्वारा कायोत्सर्ग अथवा अन्य प्रकारसे ऊर्ध्व स्थित होकर या बैठकर जाता है वह आकाशगामिनी नामक ऋद्धि है।

रा. वा./३/३६/३/२०२/३१ पर्यङ्कावस्था निषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिनः।'' =पर्यंकासनसे बैठकर अथवा अन्य किसी आसनसे बैठकर या कायोत्सर्ग शरीरसे (पैरोंको उठाकर रखकर (धवला)) तथा बिना पैरोंको उठाये रखे आकाशमें गमन करनेमें जो कुशल होते हैं, वे आकाशगामी हैं। (ध. ९/४,१,१७/८०/५); (चा. सा./२१८/४)।

ध. ९/४,१,१९/८४/५ आगासे जहिच्छाए गच्छंता इच्छिदपदेसं माणुसुत्तरं पव्वयावरुद्ध' आगासगामिणो त्ति घेतव्वो। देवविज्जाहरणं णग्गहणं जिणसद्दणुउत्तीदो। =आकाशमें इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वतसे घिरे हुए इच्छित प्रदेशोंमें गमन करनेवाले आकाशगामी हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यहाँ देव व विद्याधरोंका ग्रहण नहीं है, क्योंकि 'जिन' शब्दकी अनुवृत्ति है।

२. आकाशचारण ऋद्धिका लक्षण

ध. ९/४,१,१७/८०/२ चउहि अंगुलेहिंतो अहियपमाणेण भूमीदो उवरि आयासे गच्छंतो आगासचारणं णाम। =चार अंगुलसे अधिक प्रमाणमें भूमिसे ऊपर आकाशमें गमन करनेवाले ऋषि आकाशचारण कहे जाते हैं।

३. आकाशचारण व आकाशगामित्वमें अन्तर

ध. ९/४.१,१९/८४/६ ''आगासचारणाणमागासगामीणं च को विसेसो। उच्चदे—चरणं चारित्तं संजमो पावकिरियाणिरोहो त्ति एयट्ठो, तम्हि कुसलो णिउणो चारणो। तवविसेसेण जणिदआगासट्ठियजीव [-वध] परिहरणकुसलत्तणेण सहिदो आगासचारणो। आगासगमणमेत्तजुत्तो आगासगामी। आगासगामित्तादो जीववधपरिहरणकुसलत्तणेण विसेसिदआगासगामित्तस्स विसेसुवलंभादो अत्थि विसेसो। =प्रश्न—आकाशचारण और आकाशगामीके क्या भेद हैं? उत्तर—चरण, चारित्र, संयम व पापक्रिया निरोध, इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण है वह चारण कहलाता है। तप विशेषसे उत्पन्न हुई, आकाशस्थित जीवोंके (वधके) परिहारकी कुशलतासे जो सहित है वह आकाशचारण है। और आकाशमें गमन करने मात्रसे आकाशगामी कहलाता है। (अर्थात् आकाशगामीको जीववध परिहारकी अपेक्षा नहीं होती)। सामान्य आकाशगामित्वकी अपेक्षा जीवोंके बध परिहारकी कुशलतासे विशेषित आकाशगामित्वके विशेषता पायी जानेसे दोनोंमें भेद है।

४. जलचारण निर्देश

१. जलचारणका लक्षण

ध. ९/४,१,१७/७९-३; ८१-७ तत्थ भूमीए इव जलकाइयजीवाणं पीडमकाऊण जलमफुसंता जहिच्छाए जलगमणसत्था रिसओ जलचारणा णाम। पउणिपत्तं व जलपासेण विणा जलमज्झगामिणो जलचारणा त्ति किण्ण उच्चंति। ण एस दोसो, इच्छिज्जमाणत्तादो ।७९-३।—ओसकरवासधूमरीहिमादिचारणाणं जलचारणेसु अंतब्भावो, आउक्काइयजीवपरिहरणकुशलत्तं पडि साहम्मदंसणादो।'' ८१-७। =जो ऋषि जलकायिक जीवोंको बाधा न पहुँचाकर जलको न छूते हुए इच्छानुसार भूमिके समान जलमें गमन करनेमें समर्थ हैं, वे जलचारण कहलाते हैं। (जलपर भी पादनिक्षेपपूर्वक गमन करते हैं)। प्रश्न—पद्मिनीपत्रके समान जलको न छूकर जलके मध्यमें गमन करनेवाले जलचारण क्यों नहीं कहलाते? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा अभीष्ट है। (ति. प./४/१०३६) (रा. वा./३/३६/३/२०२/२८) (चा. सा./२१८/२)। ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर गमन करनेवाले चारणोंका जलचारणोंमें अन्तर्भाव होता है। क्योंकि, इनमें जलकायिक जीवोंके परिहारकी कुशलता देखी जाती है।

२. जलचारण व प्राकाम्य ऋद्धिमें अन्तर

ध. ९/४,१,१७/७१/५ जलचारण-पागम्मरिद्धीणं दोण्हं को विसेसो। घणपुढवि-मेरुसायराणमंतो सव्वसरीरेण पवेससत्ती पागम्मं णाम। तत्थ जीवपरिहरणकउसल्लं चारणत्तं। =प्रश्न—जलचारण और प्राकाम्य इन दोनों ऋद्धियोंमें क्या विशेषता है? उत्तर—सघन पृथिवी, मेरु और समुद्रके भीतर सब शरीरसे प्रवेश करनेकी शक्तिको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं, और यहाँ जीवोंके परिहारकी कुशलताका नाम चारण ऋद्धि है।

५. जंघाचारण निर्देश

ति. प./१०३७ चउरंगुलमेत्तमहिं छंडिय गयणम्मि कुडिलजाणु विणा। जं बहुजोयणगमणं सा जंघाचारणा रिद्धी ।१०३७। =चार अंगुल प्रमाण पृथिवीको छोड़कर आकाशमें घुटनोंको मोड़े बिना (या जल्दी-जल्दी जंघाओंको उत्क्षेप निक्षेप करते हुए—रा. वा.) जो बहुत योजनों तक गमन करना है, वह जंघाचारण ऋद्धि है। (रा. वा./३/३६/३/२०२/२९); (चा. सा./२१८/३)।

ध. ९/४,१,१७/७९/७; ८१/४ भूमीए पुढविकाइयजीवाणं बाहमकाऊण अणेगजोयणसयगामिणो जंघाचारणा णाम ।७९-७। ...चिक्खल्लछार-गोबर-भूसादिचारणाणं जंघाचारणेसु अंतब्भावो, भूमीदो चिक्खलादीणं कथंचि भेदाभावादो ।८१-४। =भूमिमें पृथिवीकायिक जीवोंको बाधा न करके अनेक सौ योजन गमन करनेवाले जंघाचारण कहलाते हैं। ...कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि परसे गमन करनेवालोंका जंघाचारणोंमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, भूमिसे कीचड़ आदिमें कथंचित अभेद है।

६. अग्नि, धूम, मेघ, तन्तु, वायु व श्रेणी चारण

ति. प./४/१०४१-१०४३, १०४५, १०४७ अविराहिदूण जीवे अग्गिसिहालंठिए विचित्ताणं। जं ताण उवरि गमणं अग्गिसिहाचारणा रिद्धी ।१०४१। अधउड्ढतिरियपसरं धूमं अवलंबिऊण जं देंति। पदक्खेवे अक्खलिया सा रिद्धी धूमचारणा णाम ।१०४२। अविराहिदूणजीवे अपुकाए बहुविहाण मेघाणं। जं उवरि गच्छिइ मुणी सा रिद्धी मेघचारणा-णाम ।१०४३। मक्कडयतंतुपंतीउवरिं अदिलघुओ तुरदपदक्खेवे। गच्छेदि मुणिमहेसी सा मक्कडतंतुचारणा रिद्धी ।१०४५। णाणाविहगदिमारुदपदेसपंतीसु देंति पदक्खेवे। जं अक्खलिया मुणिणो सा मारुदचारणा रिद्धी ।१०४७। =अग्निशिखामें स्थित जीवोंकी बिराधना न करके उन विचित्र अग्नि-शिखाओंपरसे गमन करनेको अग्निशिखा चारण ऋद्धि कहते हैं। १०४१। जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनिजन नीचे ऊपर और तिरछे फैलने वाले धुएँका अवलम्बन करके अस्खलित पादक्षेप देते हुए गमन करते हैं वह धूमचारण नामक ऋद्धि है। १०४२। जिस ऋद्धिसे मुनि अप्कायिक जीवोंको पीड़ा न पहुँचाकर बहुत प्रकारके मेघोंपरसे गमन करता है वह मेघचारण नामक ऋद्धि है। १०४३। जिसके द्वारा मुनि महर्षि शीघ्रतासे किये गये पद-विक्षेपमें अत्यन्त

लघु होते हुए मकड़ीके तन्तुओंको पंक्तिपरसे गमन करता है, वह मकड़ीतन्तुचारण ऋद्धि है।१०४५। जिसके प्रभावसे मुनि नाना प्रकारकी गतिसे युक्त वायुके प्रदेशोंकी पंक्ति परसे अस्खलित होकर पदविक्षेप करते हैं; वह मारुतचारण ऋद्धि है। (रा.वा./३/३६/३/२०२/२७); (चा. सा./२१८/१)।

ध.६/४,१,१७/८०-१;८१-८ धूमग्गि-गिरि-तरु-तंतुसंताणेसु उड्ढारोहण-सत्तिसंजुत्ता सेडीचारणा णाम।८०-१।...धूमग्गिवाद-मेहादिचारणाणं तंतु-सेडिचारणेसु अंतब्भाओ, अणुलोमविलोमगमणेसु जीवपीडा अकरणसत्तिसंजुत्तादो। —धूम, अग्नि, पर्वत, और वृक्षके तन्तु समूह परसे ऊपर चढ़नेकी शक्तिसे संयुक्त श्रेणी चारण है।...धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदिकके आश्रयसे चलनेवाले चारणोंका तन्तु-श्रेणी चारणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि, वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करनेमें जीवोंको पीड़ा न करनेकी शक्तिसे संयुक्त हैं।

७. धारा व ज्योतिष चारण निर्देश

ति.प./४/१०४४,१०४६ अविराहिय तल्लीणे जीवे घणमुक्कवारिधाराणं। उवरिं जं जादि मुणो सा धाराचारणा ऋद्धि।१०४४। अधउड्ढतिरिय-पसरे किरणे अविलंबिदूण जोदोणं। जं गच्छेदि तवस्सी सा रिद्धी जोदि-चारणा णाम।१०४६। —जिसके प्रभावसे मुनि मेघोंसे छोड़ी गयी जलधाराओंमें स्थित जीवोंको पीड़ा न पहुँचाकर उनके ऊपरसे जाते हैं, वह धारा चारण ऋद्धि है।१०४४। जिससे तपस्वी नीचे ऊपर और तिरछे फैलनेवाली ज्योतिषी देवोंके विमानोंकी किरणोंका अवलम्बन करके गमन करता है वह ज्योतिश्चारण ऋद्धि है।१०४६। (इन दोनोंका भी पूर्व वाले शीर्षकमें दिये धवला ग्रन्थके अनुसार तन्तु-श्रेणी ऋद्धिमें अन्तर्भाव हो जाता है।)

८. फल पुष्प बीज पत्र चारण निर्देश

ति.प./४/१०३८-१०४० अविराहिदूण जीवे तल्लीणे बणप्फलाण विविहाणं। उवरिम्मि जं पधावदि स च्चिय फलचारणा रिद्धी।१०३८। अविराहिदूण जीवे तल्लीणे बहुविहाण पुप्फाणं। उवरिम्मि जं पसप्पदि सा रिद्धी पुप्फचारणा णाम।१०३०। अविराहिदूण जीवे तल्लीणे बहुविहाण पत्ताणं। जा उवरि वच्चदि मुणी सा रिद्धी पत्तचारणा णामा।१०३६। —जिस ऋद्धिका धारक मुनि वनफलोंमें, फूलोंमें, तथा पत्तोंमें रहनेवाले जीवोंकी विराधना न करके उनके ऊपरसे जाता है, वह फलचारण, पुष्पचारण तथा पत्रचारण नामक ऋद्धि है।

ध.६/४,१,१७/७९-७;८१-५ तंतुफलपुप्फबीजचारणाणं पि जलचारणाणं व वत्तव्वं।७९-७।...कुंथुद्दे ही-मुक्कण-पिपीलियादिचारणाणं फलचारणेसु अंतब्भावो, तस जीवपरिहरणकुसलत्तं पडि भेदाभावादो। पत्तंकुर-त्तण-पवालादिचारणाणं पुप्फचारणेसु अंतब्भावो, हरिदकायपरिहरण-कुसलत्तेण साहम्मादो।८१/५। —तन्तुचारण, फलचारण, पुष्पचारण और बीजचारणका स्वरूप भी जलचारणोंके समान कहना चाहिए (अर्थात् उनमें रहने वाले जीवोंको पीड़ा न पहुँचाकर उनके ऊपर गमन करना)।७९-७।...कुंथुजीव, मुत्कण, और पिपीलिका आदि परसे संचार करनेवालोंका फलचारणोंमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, इनमें त्रसजीवोंके परिहारकी कुशलताकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि परसे संचार करनेवालोंका पुष्पचारणों-में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, हरितकाय जीवोंके परिहारकी कुशलताकी अपेक्षा इनमें समानता है।

५. तपऋद्धि निर्देश

१. उग्रतपऋद्धि निर्देश

ध.९/४,१,२२/८७-५; ८९-६ उग्गतवा दुविहा उग्गुग्गतवा अवट्ठिदुग्गतवा चेदि। तत्थ जो एक्कोववासं काऊण पारिय दो उववासो करेदि, पुणरवि पारिय तिण्णि उववासे करेदि। एवमेगुत्तरवड्ढीए जाव जीविदं तं तिगुत्तिगुत्तो होदूण उववासे करेंतो उग्गुग्गतवो णाम। एवसुववास पारणाणयणे सुत्तं—"उत्तरगुणिते तु धने पुनरप्यष्टापितेऽत्र गुणमादिम्। उत्तरविशेषितं वर्गितं च योज्यान्येन्मूलम्।२३। इत्यादि...तत्थ दिक्खट्ठमेगोववासं काऊण पारिय पुणो एक्कंतरेण गच्छंतस्स किंचिणिमित्तेण छट्ठोववासो जादो। पुणो तेण छट्ठोववासेण विहरंतस्स अट्ठमोववासो जादो। एवं दसमदुवालसादिक्कमेण हेट्ठा ण पदंतो जाव जीविदंतं जो विहरदि अवट्ठिदुग्गतवो णाम। एदं पि तवोविहाणं वीरियंतराइयक्खओवसमेण होदि। —उग्रतप ऋद्धिके धारक दो प्रकार हैं—उग्रोग्रतप ऋद्धि धारक और अवस्थित-उग्रतप ऋद्धि धारक। उनमें जो एक उपवासको करके पारणा कर दो उपवास करता है, पश्चात् फिर पारणा कर तीन उपवास करता है। इस प्रकार एक अधिक वृद्धिके साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियोंसे रक्षित होकर उपवास करनेवाला उग्रोग्रतप ऋद्धिका धारक है। इसके उपवास और पारणाओंका प्रमाण लानेके लिए सूत्र—(यहाँ चार गाथाएँ दी हैं जिनका भावार्थ यह है कि १४ दिन में १० उपवास व ४ पारणाएँ आते हैं। इसी क्रमसे आगे भी जानना) (ति.प./४/१०५०-१०५१) दीक्षाके लिए एक उपवास करके पारणा करे, पश्चात् एक दिनके अन्तरसे ऐसा करते हुए किसी निमित्तसे षष्ठोपवास (बेला) हो गया। फिर (पूर्वोक्तवत् ही) उस षष्ठोपवाससे विहार करनेवाले के (कदाचित्) अष्टमोपवास (तेला) हो गया। इस प्रकार दशम-द्वादशम आदि क्रमसे नीचे न गिरकर जो जीवन पर्यन्त विहार करता है, वह अवस्थित उग्रतप ऋद्धिका धारक कहा जाता है। यह भी तप-का अनुष्ठान वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। (रा.वा./३/३६/३/२०३/८); (चा.सा./२२०/१)।

२. घोर तपऋद्धि निर्देश

ति.प./४/१०५५ जलसूलप्पमुहाणं रोगेणच्चंतपीडिअंगा वि। साहंति दुद्धरतवं जीए सा घोरतवरिद्धी।१०५५।

ध.९/४,१,२६/९२/४ उववासेसु छम्मासोववासो, अवमोदरियासु एक्ककवलो उत्तिपरिसंखासु चच्चरे गोयराभिग्गहो, रसपरिच्चागेसु उण्हजलजुदो-यणभोयणं, विवित्तसयणासणेसु वय-वग्घ-तरच्छ-छवल्लादिसावयसे-वियासु सज्झविज्झुडईसु णिवासो, कायकिलेसेसु तिव्वहिमवासादिणि-वदंतविसएसु अब्भोकासरुक्खमूलादावणजोगग्गहणं। एवमब्भंतरतवेसु वि उक्कट्ठतवपरूवणा कायव्वा। एसो बारह विह वि तवो कायर-जणाणं सज्झसजणणो त्ति घोरत्तवो। सो जेसिं ते घोरत्तवा। बारसवि-हतवउक्कट्ठवट्ठाए वट्टमाणा घोरतवा त्ति भणिदं होदि। एसा वि तवजणिदरिद्धी चेव, अण्णहा एवं विहाचरणाणुववत्तीदो। —(ति. प.) जिस ऋद्धिके बलसे ज्वर और शूलादिक रोगसे शरीरके अत्यन्त पीड़ित होने पर भी साधुजन दुर्द्धर तपको सिद्ध करते हैं, वह घोर तपऋद्धि है।१०५५। उपवासोंमें छह मासका उपवास; अवमोदर्य तपोंमें एक ग्रास; वृत्तिपरिसंख्याओंमें चौराहेमें भिक्षाकी प्रतिज्ञा; रसपरित्यागोंमें उष्ण जल युक्त ओदनका भोजन; विविक्तशय्यासनोंमें वृक, व्याघ्र, तरक्ष, छवल्ल आदि श्वापद अर्थात् हिंस्र जीवोंसे सेवित सह्य, विन्ध्य आदि (पर्वतोंकी) अटवियोंमें निवास; कायक्लेशोंमें तीव्र हिमालय आदिके अन्तर्गत देशोंमें, खुले आकाशके नीचे, अथवा वृक्षमूलमें; आतापन योग अर्थात् ध्यान ग्रहण करना। इसी प्रकार

अभ्यन्तर तपोंमें भी उत्कृष्ट तपकी प्ररूपणा करनी चाहिए। ये बारह प्रकार ही तप कायर जनोंको भयोत्पादक हैं, इसी कारण घोर तप कहलाते हैं। वह तप जिनके होता है वे घोरतप ऋद्धिके धारक हैं। बारह प्रकारके तपोंकी उत्कृष्ट अवस्थामें वर्तमान साधु घोर तप कहलाते हैं, यह तात्पर्य है। यह भी तप जनित (तपसे उत्पन्न होनेवाली) ऋद्धि ही है, क्योंकि, बिना तपके इस प्रकारका आचरण बन नहीं सकता। (रा.वा./३/३६/३/२०३/१२), (चा.सा./२२२/२)।

३. घोर पराक्रम तप ऋद्धि निर्देश

ति प./४/१०५६-१०५७ णिरुवमवड्ढंततवा तिहुवणसंहरणकरणसत्तिजुत्ता। कंटयसिलग्गिपव्वयधूमुक्कापहुदिवरिसणसमत्था।१०५६। सहस त्ति सयलसायरसलिलुप्पीलस्स सोसणसमत्था। जायंति जीए मुणिणो घोरपरक्कमतव त्ति सा रिद्धी।१०५७। –जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनिजन अनुपम एवं वृद्धिगत तपसे सहित, तीनों लोकोंके संहार करनेकी शक्तिसे युक्त; कंटक, शिला, अग्नि, पर्वत, धुआँ तथा उल्का आदिके बरसानेमें समर्थ; और सहसा सम्पूर्ण समुद्रके सलिलसमूहके सुखानेकी शक्तिसे भी संयुक्त होते हैं वह घोर-पराक्रम-तप ऋद्धि है।१०५६-१०५७। (रा.वा./३/३६/३/२०३/१६); (ध.९/४,१,२७/९३/२); (चा. सा./२२३/१)

४. घोर ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि निर्देश

ति. प./४/१०५८-१०६० जीए ण होंति मुणिणो खेत्तम्मि वि चोरपहुदिबाधाओ। कालमहाजुद्धादी रिद्धी साघोरब्रह्मचारित्ता।१५८। उक्कस्सखउवसमे चारित्तावरणमोहकम्मस्स। जा दुस्सिमणं णासइ रिद्धी सा घोरब्रह्मचारित्ता।१०५९। अथवा--सव्वगुणेहिं अघोरं महेसिणो बह्मसद्दचारित्तं। विप्फुरिदाए जीए रिद्धी साघोरब्रह्मचारित्ता (१०६०।" –जिस ऋद्धिसे मुनिके क्षेत्रमें भी चौरादिककी बाधाएँ और काल एवं महायुद्धादि नहीं होते हैं, वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है।१०५८। (ध. ९/४,१,२९/९४/३); (चा. सा./२२३/४) चारित्रमोहनीयका उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो ऋद्धि दुःस्वप्नको नष्ट करती है तथा जिस ऋद्धिके आविर्भूत होनेपर महर्षिजन सब गुणोंके साथ अघोर अर्थात् अविनश्वर ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है।१०५९-१०६०। (रा. वा. तथा चा. सा. में इस लक्षणका निर्देश हो घोर गुण ब्रह्मचारीके लिए किया गया है) (रा. वा./३/३६/३/२०३/१६); (चा. सा./२२३/३)।

ध. ९/४,१,२९/९३-६; ९४-२ घोरा रउद्दा गुणा जेसिं ते घोरगुणा। कधं चउरासीदिलक्खगुणाणं घोरत्तं। घोरकज्जकारिसत्तिजणणादो। ९४९। ...ब्रह्म चारित्रं पंचव्रत-समिति-त्रिगुप्त्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्। अघोरा शान्ता गुणा यस्मिन् तदघोरगुणं, अघोरगुणं, ब्रह्म-चरन्तीति अघोरगुणब्रह्मचारिणः।...एत्थ अकारो किण्ण सुणिज्जदे। संधिणिद्देसादो।९९-२। –घोर अर्थात् रौद्र हैं गुण जिनके वे घोर गुण कहे जाते हैं। प्रश्न—चौरासी लाख गुणोंके घोरत्व कैसे सम्भव है। उत्तर—घोर कार्यकारी शक्तिको उत्पन्न करनेके कारण उनके घोरत्व सम्भव है। ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिस्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शान्तिके पोषणका हेतु है। अघोर अर्थात् शान्त हैं गुण जिसमें वह अघोर गुण है। अघोर गुण ब्रह्म (चारित्र) का आचरण करनेवाले अघोर गुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। (भावार्थ—अघोर शान्तको कहते हैं। जिनका ब्रह्म अर्थात् चारित्र शान्त है उनको अघोर गुण ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे मुनि शान्ति और पुष्टिके कारण होते हैं, इसीलिए उनके तपश्चरणके माहात्म्यसे उपरोक्त ईति, भीति, युद्ध व दुर्भिक्षादि शान्त हो जाते हैं। (चा.सा./२२१/३)।

–प्रश्न—'णमो घोरगुणबम्हचारीणं' इस सूत्रमें अघोर शब्दका अकार क्यों नहीं सुना जाता? उत्तर—सन्धियुक्त निर्देश होनेसे।

२. घोर गुण और घोर पराक्रम तपमें अन्तर

ध. ९/४,१,२८/९३/८ ण गुण-परक्कमाणमेयत्तं, गुणजणिदसत्तीए परक्कमववएसादो। –गुण और पराक्रमके एकत्व नहीं हैं, क्योंकि गुणसे उत्पन्न हुई शक्तिकी पराक्रम संज्ञा है।

५. तप्त दीप्त व महातप ऋद्धि निर्देश

ति.प./४/१०५२-१०५४ बहुविहउववासेहिं रविसमवड्ढंतकायकिरणोघो। कायमणवयणबलिणो जीए सा दित्ततवरिद्धी।१०५२। तत्ते लोहकडाहे पडिअंबुकणं व जीए भुत्तण्णं। झिज्जहिं धाऊहिं सा णियझाणाएहिं तत्ततवा।१०५३। मंदरपंत्तिप्पमुहे महोववासे करेदि सव्वे वि। चउसण्णाण बलेणं जीए सा महातवा रिद्धी।१०५४।

ध. ९/४,१,२३/९०/५ तेसिं ण केवलं दित्ति चेव वड्ढदि किंतु बलो वि वड्ढदि। ...तेण ण तेसिं भुत्ति वि तेण कारणाभावादो। ण च भुक्खादुक्खवसमणट्ठं भुजंति, तदभावादो। तदभावो कुदोवगम्मदे। –जिस ऋद्धिके प्रभावसे मन, वचन और कायसे बलिष्ठ ऋषिके बहुत प्रकारके उपवासों द्वारा सूर्यके समान दीप्ति अर्थात् शरीरकी किरणोंका समूह बढ़ता हो वह दीप्त तप ऋद्धि है।१०५२। (रा. वा./३/३६/३/२०३/९); (चा. सा./२२१/२)। (धवलामें उपरोक्तके अतिरिक्त यह और भी कहा है कि उनके केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है, किन्तु बल भी बढ़ता है। इसीलिए उनके आहार भी नहीं होता, क्योंकि उसके कारणोंका अभाव है। यदि कहा जाय कि भूखके दुःखको शान्त करनेके लिए वे भोजन करते हैं सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके भूखके दुःखका अभाव है।) तपी हुई लोहेकी कड़ाहीमें गिरे हुए जलकणके समान जिस ऋद्धिसे खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण हो जाता है, अर्थात् मल-मूत्रादि रूप परिणमन नहीं करता है, वह निज ध्यानसे उत्पन्न हुई तप्त तप ऋद्धि है।१०५३। (रा. वा./३/३६/३/२०३/१०); (ध. ९/४,१,२४/९१/१); (चा. सा./२२१/३)। जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनि चार सम्यग्ज्ञानों (मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय) के बलसे मन्दिर पंक्ति प्रमुख सब ही महान् उपवासोंको करता है वह महा तप ऋद्धि है। (रा. वा./३/३/६३/२०३/११)।

ध. ९/४,१,२५/९१/५ अणिमादिअट्ठगुणोवेदो जलचारणादिअट्ठविहचारणगुणालंकरियो फुरंतसरीरप्पहो दुविहअक्खीणरिद्धिजुत्तो सव्वोसही सरूवो पाणिपत्तणिवदिदसव्वहारो अमियसादसरूवेण पल्लट्ठावणसमत्थो सयलिंदेहिंतो वि अणंतबलो आसी—दिट्ठिविसलद्धिसमण्णिओ तत्ततवो सयलविज्जाहरो मदि-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणेहि मुणिदतिहुवणवावारो मुणी महातवो णाम। कस्मात्। महत्त्वहेतुस्तपोविशेषो महानुच्यते उपचारेण, स येषां ते तपसः इति सिद्धत्वात्। अथवा महसां हेतुः तप उपचारेण महा इति भवति। –जो अणिमादि आठ गुणोंसे सहित हैं, जलचारणादि आठ प्रकारके चारण गुणोंसे अलंकृत हैं, प्रकाशमान शरीर प्रभासे संयुक्त हैं, दो प्रकारकी अक्षीण ऋद्धिसे युक्त हैं, सर्वौषध स्वरूप हैं, पाणिपात्रमें गिरे हुए आहारको अमृत स्वरूपसे पलटानेमें समर्थ हैं, समस्त इन्द्रोंसे भी अनन्तगुणे बलके धारक हैं, आशीर्विष और दृष्टिविष लब्धियोंसे समन्वित हैं, तप्ततप ऋद्धिसे संयुक्त हैं, समस्त विद्याओंके धारक हैं; तथा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानोंसे तीनों लोकोंके व्यापारको जाननेवाले हैं, वे मुनि महातप ऋद्धिके धारक हैं। कारण कि महत्त्वके हेतुभूत तपविशेषको उपचारसे महान् कहा जाता है। वह जिनके होता है वे महातप ऋषि हैं, ऐसा सिद्ध

है। अथवा, महस् अर्थात् तेजोंका हेतुभूत जो तप है वह उपचारसे महा होता है। (तात्पर्य यह कि सातों ऋद्धियोंकी उत्कृष्टताको प्राप्त होनेवाले ऋषि महातप युक्त समझे जाते हैं।)

६. बल ऋद्धि निर्देश

ति. प./४/१०६१-१०६६ बलरिद्धी तिविहप्पा मणवयणसरीरयाणभेएण। सुदणाणावरणाए पगडीए वीरयंतरायाए।१०६१। उक्कसखवउवसमे मुहुत्तमेत्तंतरम्मि सयलसुदं। चिंतइ जाणइ जीए सा रिद्धी मणबला णामा।१०६२। जिब्भिंदियणोइंदिय–सुदणाणावरणविरियविग्घाणं। उक्कस्सखओवसमे मुहुत्तमेत्तंतरम्मि मुणी।१०६३। सयलं पि सुदं जाणइ उच्चारइ जीए विप्फुरंतीए। असमो अहिकंठो सा रिद्धीउ णेया वयणबलणामा।१०६४। उक्कस्सखउवसमे पविसेसे विरियविग्घ-पगडीए। मासचउमासपमुहे काउसग्गे वि समहीणा।१०६५। उच्चाट्ठिय तेल्लोक्कं झत्ति कणिट्ठंगुलीए अण्णत्थं। थविदुं जीए समत्था सा रिद्धी कायबलणामा।१०६६। –मन, वचन और कायके भेदसे बल ऋद्धि तीन प्रकार है। इनमें-से जिस ऋद्धिके द्वारा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय, इन दो प्रकृतियोंका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर मुहूर्त-मात्र कालके भीतर अर्थात् अन्तर्मुहूर्त कालमें सम्पूर्ण श्रुतका चिन्तन करता है व जानता है, वह मनोबल नामक ऋद्धि है।१०६१-१०६२। जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर जिस ऋद्धिके प्रगट होनेमे मुनि श्रमरहित और अहीनकंट होता हुआ मुहूर्त्तमात्र कालके भीतर सम्पूर्ण श्रुतको जानता व उसका उच्चारण करता है, उसे वचनबल नामक ऋद्धि जानना चाहिए।१०६३-१०६४। जिस ऋद्धिके बलसे वीर्यान्तराय प्रकृतिके उत्कृष्ट क्षयोपशमकी विशेषता होने पर मुनि, मास व चतुर्मासादिरूप कायोत्सर्गको करते हुए भी श्रमसे रहित होते हैं, तथा शीघ्रतासे तीनों लोकोंको कनिष्ठ अँगुलीके ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करनेके लिए समर्थ होते हैं, वह कायबल नामक ऋद्धि है।१०६५-१०६६। (रा.वा./३/३६/३/२०३/१६); (ध.९/४.१,३५-३७/९८-९९); (चा. सा./२२४/१)।

७. औषध ऋद्धि निर्देश

१. औषध ऋद्धि सामान्य

रा. वा./३/३६/३/२०३/२४ औषधर्द्धिरष्टविधा—असाध्यानामप्यामयानां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुरामर्शक्ष्वेलजल्लमलविट्सर्वौषधिप्राप्तास्याविष-दृष्टिविषविकल्पात्। –असाध्य भी सर्व रोगोंकी निवृत्तिकी हेतु-भूत औषध-ऋद्धि आठ प्रकारकी है—आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विट्, सर्व, आस्याविष और दृष्टिविष। (चा. सा./२२५/१)।

२. आमर्ष क्ष्वेल जल्ल मल व विट् औषध ऋद्धि

ति. प./४/१०६८-१०७२ रिसिकरचरणादीणं अल्लियमेत्तम्मि जीए पासम्मि। जीवा होंति णिरोगा सा अम्मरिसोसही रिद्धी।१०६८। जीए लालासेमच्छीमलसिंहाणआदिआ सिग्घं। जीवाणं रोगहरणा स च्चिय खेलोसही रिद्धी।१०६९। सेयजलो अंगरयं जल्लं भण्णेत्ति जीए तेणावि। जीवाण रोगहरणं रिद्धी जल्लोसही णामा।१०७०। जीहोट्ठदंतणासासोत्तादिमलं पि जीए सत्तीए। जीवाण रोगहरणं मलोसही णाम सा रिद्धी।१०७१। –जिस ऋद्धिके प्रभावसे जीव पासमें आनेपर ऋषिके हस्त व पादादिके स्पर्शमात्रसे ही निरोग हो जाते हैं, वह आमर्षौषध ऋद्धि है।१०६८। जिस ऋद्धिके प्रभावसे लार, कफ, अक्षिमल, और नासिकामल शीघ्र ही जीवोंके रोगोंको नष्ट करता है वह क्ष्वेलौषधि ऋद्धि है।१०६९। पसीनेके आश्रित अंगरज जल्ल कहा जाता है। जिस ऋद्धिके प्रभावसे उस अंगरजसे भी जीवों-के रोग नष्ट होते हैं, वह जल्लौषधि ऋद्धि कहलाती है।१०७०। जिस शक्तिसे जिह्वा, ओठ, दाँत, नासिका, और श्रोत्रादिकका मल भी जीवोंके रोगोंको दूर करनेवाला होता है, वह मलौषधि नामक ऋद्धि है। (रा. वा./३/३६/३/२०३/२५); (ध. ९/४.१, ३०-३३/९५-९७); (चा. सा./२२५/२)।

२. आमर्षौषधि व अघोरगुण ब्रह्मचर्यमें अन्तर

ध.९/४,१,३०/९६/१ तवोमाहप्पेण जेसिं फासो सयलोसहत्तवत्तं पत्तो तेसिमाम्मरिसो सहिपत्ता त्ति सण्णा।...ण च एदेसिमघोरगुणबंभ-यारीणं अंतब्भावो, एदेसिं वाहिविणासणे चेव सत्तिदंसणादो। –तपके प्रभावसे जिनका स्पर्श समस्त औषधियोंके स्वरूपको प्राप्त हो गया है, उनकी आमर्षौषधि प्राप्त ऐसी संज्ञा है। इनका अघोरगुणब्रह्मचारियों में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि, इनके अर्थात् अघोरगुण ब्रह्म-चारियोंके केवल व्याधिके नष्ट करनेमें ही शक्ति देखी जाती है। (पर उनका स्पर्श औषध रूप नहीं होता।)।

३. सर्वौषध ऋद्धि निर्देश

ति.प /४/१०७३ जीए पस्सजलाणिलरोमणहादीणि वाहिहरणाणि। दुक्कर-तवजुत्ताणं रिद्धी सव्वोसही णामा।१०७३। –जिस ऋद्धिके बलसे दुष्कर तपसे युक्त मुनियोंका स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा उनके रोम और नखादिक व्याधिके हरनेवाले हो जाते हैं, वह सर्वौषधि नामक ऋद्धि है। (रा.वा./३/३६/३/२०३/२९); (चा.सा./२२५/५)

ध.९/४,१,३४/९७/६ रस-रुहिर-मांस-मेदट्ठि-मज्ज-सुक्क-पुप्फस-खरीस-कालेज्ज-मुत्त-पित्तंतुच्चारादओ सव्वे ओसहत्तं पत्ता जेसिं ते सव्वो-सहिपत्ता। –रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, पुप्फस, खरीष, कालेय, मूत्र, पित्त, अँतड़ी, उच्चार अर्थात् मल आदिक सब जिनके औषधिपनेको प्राप्त हो गये हैं वे सर्वौषधिप्राप्त जिन हैं।

४. आस्यनिर्विष व दृष्टिनिर्विष औषध ऋद्धि

ति.प./४/१०७४-१०७६ तित्तादिविविहमण्णं विसजुत्तं जीए वयणमेत्तेण। पावेदि णिव्विसत्तं सा रिद्धी वयणणिव्विसा णामा।१०७४। अहवा बहुवाहीहिं परिभूदा झत्ति होंति णीरोगा। सोदुं वयणं जीए सा रिद्धी वयणणिव्विसा णामा।१०७५। रोगाविसेहिं पहदा दिट्ठीए जीए झत्ति पावंति। णीरोगणिव्विसत्तं सा भणिदा दिट्ठिणिव्विसा रिद्धी।१०७६।

रा.वा./३,३६,३/२०३/३० उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतं वचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः। –(ति.प.)—जिस ऋद्धिसे तिक्तादिक रस व विषसे युक्त विविध प्रकारका अन्न वचनमात्रसे ही निर्विषताको प्राप्त हो जाता है, वह वचननिर्विष नामक ऋद्धि है।१०७४। (रा.वा.)—उग्र विषसे मिला हुआ भी आहार जिनके मुखमें जाकर निर्विष हो जाता है, अथवा जिनके मुखसे निकले हुए वचनके सुनने मात्रसे महाविष व्याप्त भी कोई व्यक्ति निर्विष हो जाता है वे आस्याविष हैं। (चा.सा./२२६/१)। (ति.प.) अथवा जिस ऋद्धिके प्रभावसे बहुत व्याधियोंसे युक्त जीव, ऋषिके वचनको सुनकर ही झटसे नीरोग हो जाया करते हैं, वह वचन निर्विष नामक ऋद्धि है।१०७५। रोग और विषसे युक्त जीव जिस ऋद्धिके प्रभावसे झट देखने मात्रसे ही नीरोगता और निर्विषताको प्राप्त कर लेते हैं; वह दृष्टि-निर्विष ऋद्धि है।१०७६। (रा.वा./३/३६/३/२०३/३२); (चा.सा./२२६/२)

८. रस ऋद्धि निर्देश

१. आशीर्विष रस ऋद्धि

ति.प./४/१०७८ मर इदि भणिदे जीओ मरेइ सहस त्ति जीए सत्तीए। दुक्करतवजुदमुणिणा आसीविस णाम रिद्धी सा। –जिस शक्तिसे दुष्कर तपसे युक्त मुनिके द्वारा 'मर जाओ' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है, वह आशीविष नामक ऋद्धि कही जाती है। (रा.वा./३/३६/३/२०३/३४); (चा.सा./२२६/५)

ध.९/४,१,२०/८५/५ अविद्यमानस्यार्थस्य आशंसनमाशीः, आशीर्विष एषां ते आशीर्विषाः। जेसिं जं पडि मरिहि त्ति वयणं णिप्पडिदं तं मारेदि, भिक्खं भमेत्तिवयणं भिक्खं भमावेदि, सीसं छिज्जउ त्ति वयणं सीसं छिंददि, ते आसीविसा णाम समणा। कधं वयणस्स विससण्णा। विसमिव विसमिदि उवयारादो। आसी अविसममियं जेसिं ते आसीविसा। जेसिं वयणं थावर-जंगम-विसपूरिदजीवे पडुच्च 'णिव्विसा होंतु' त्ति णिस्सरिदं ते जीवावेदि। वाहिवेयण-दालिद्दादि-विलयं पडुच्च णिप्पडिदं संतं तं तं कज्जं करेदि ते वि आसीविसा त्ति उत्तं होदि। –अविद्यमान अर्थकी इच्छाका नाम आशिष है। आशिष है विष (वचन) जिनका वे आशीर्विष कहे जाते हैं। 'मर जाओ' इस प्रकार जिसके प्रति निकला हुआ जिनका वचन उसे मारता है, 'भिक्षाके लिए भ्रमण करो' ऐसा वचन भिक्षार्थ भ्रमण कराता है, 'शिरका छेद हो' ऐसा वचन शिरको छेदता है, (अशुभ) आशीर्विष नामक साधु हैं। प्रश्न—वचनके विष संज्ञा कैसे सम्भव है? उत्तर—विषके समान विष है। इस प्रकार उपचारसे वचनको विष संज्ञा प्राप्त है। आशिष है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे (शुभ) आशीर्विष हैं। स्थावर अथवा जंगम विषसे पूर्ण जीवोंके प्रति 'निर्विष हो' इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन उन्हें जिलाता है, व्याधिवेदना और दारिद्र्य आदिके विनाश हेतु निकला हुआ जिनका वचन उस उस कार्यको करता है, वे भी आशीर्विष हैं, यह सूत्रका अभिप्राय है।

२. दृष्टिविष व दृष्टि अमृत रस ऋद्धि

१. दृष्टिविष रस ऋद्धिका लक्षण

ति.प./४/१०७६ जीए जीवो दिट्ठो महासिणा रोसभरिदहिदएण। अहिदट्ठं व मरिज्जदि दिट्ठिविसा णाम सा रिद्धी।१०७६। –जिस ऋद्धिके बलसे रोषयुक्त हृदय वाले महर्षिसे देखा गया जीव सर्प द्वारा काटे गयेके समान मर जाता है, वह दृष्टिविष नामक ऋद्धि है (रा.वा.३/३६/३/२०४/१); (चा.सा./२२७/१)

ध.९/४,१,२१/८६/७ दृष्टिरिति चक्षुर्मनसोर्ग्रहणं, तत्रोभयत्र दृष्टिशब्द-प्रवृत्तिदर्शनात्। तत्साहचर्यात्कर्मणोऽपि। रुट्ठो जदि जोएदि चिंतेदि किरियं करेदि वा 'मारेमि' त्ति तो मारेदि, अण्णं पि असुहकम्मं संरंभपुव्वावलोयणेण कुणमाणो दिट्ठिविसो णाम। –दृष्टि शब्दसे यहाँ चक्षु और मन (दोनों) का ग्रहण है, क्योंकि उन दोनोंमें दृष्टि शब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है। उसकी सहचरतासे क्रियाका भी ग्रहण है। रुष्ट होकर वह यदि 'मारता हूँ' इस प्रकार देखता है, (या) सोचता है व क्रिया करता है तो मारता है; तथा क्रोधपूर्वक अवलोकनसे अन्य भी अशुभ कार्यको करनेवाला (अशुभ) दृष्टिविष कहलाता है।

२. दृष्टि अमृत रस ऋद्धिका लक्षण

ध.९/४,१,२१/८६/९ एवं दिट्ठिअमियाणं पि जाणिदूण लक्खणं वत्तव्वं। –इसी प्रकार दृष्टि अमृतोंका भी लक्षण जानकर कहना चाहिए। (अर्थात् प्रसन्न होकर वह यदि 'नीरोग करता हूँ' इस प्रकार देखता है, (या) सोचता है, व क्रिया करता है तो नीरोग करता है, तथा प्रसन्नतापूर्वक अवलोकनसे अन्य भी शुभ कार्यको करनेवाला दृष्टि-अमृत कहलाता है।)

३. दृष्टि अमृत रस ऋद्धि व अघोरब्रह्मचर्य तपमें अन्तर

ध.९/४,१,२९/९४/६ दिट्ठिअमियाणमघोरगुणबंभयारीणं च को विसेसो। उवजोगसहेज्जदिट्ठीए दिट्ठिलद्धिजुत्ता दिट्ठिविसा णाम। अघोरगुणबंभयारीणं पुण लद्धी असंखेज्जा सव्वंगगया, एदेसिमंगलग्गवादे वि सयलोवद्दवविणासणसत्तिदंसणादो। तदो अत्थि भेदो। णवरि असुहलद्धीणं पउत्ती लद्धिमंताणमिच्छावसवट्टणी। सुहाणं पउत्ती पुण दोहि वि पयारेहि संभवदि, तदिच्छाए विणा वि पउत्तिदंसणादो। –प्रश्न—दृष्टि-अमृत और अघोरगुणब्रह्मचारीके क्या भेद है? उत्तर—उपयोगकी सहायता युक्त दृष्टिमें स्थित लब्धिसे संयुक्त दृष्टिविष कहलाते हैं। किन्तु अघोरगुणब्रह्मचारियोंकी लब्धियाँ सर्वांगगत असंख्यात हैं। इनके शरीरसे स्पृष्ट वायुमें भी समस्त उपद्रवोंको नष्ट करनेकी शक्ति देखी जाती है। इस कारण दोनोंमें भेद है।

विशेष इतना है कि अशुभ लब्धियोंकी प्रवृत्ति लब्धियुक्त जीवोंकी इच्छाके वशसे होती है। किन्तु शुभ लब्धियोंकी प्रवृत्ति दोनों ही प्रकारोंसे सम्भव है, क्योंकि, उनकी इच्छाके बिना भी उक्त लब्धियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

३. क्षीर-मधु-सर्पि व अमृतस्रावी रस ऋद्धि

ति.प./४/१०८०-१०८७ करयलणिक्खित्ताणि रुक्खाहारादियाणि तक्कालं। पावंति खीरभावं जीए खीरोसवी रिद्धी।१०८०। अहवा दुक्खप्पहुदी जीए मुणिवयणसवणमेत्तेणं। पसमदि णरतिरियाणं स च्चिय खीरोसवी ऋद्धी।१०८१। मुणिकरणिक्खित्ताणि लुक्खाहारादियाणि होंति खणे। जीए महुररसाइं स च्चिय महुवासवी रिद्धी।१०८२। अहवा दुक्खप्पहुदी जीए मुणिवयणसवणमेत्तेण। णासदि णरतिरियाणं स च्चिय महुवासवी रिद्धी।१०८३। मुणिपाणिसंठियाणि रुक्खाहारादियाणि जीय खणे। पावंति अमियभावं एसा अमियासवी ऋद्धी।१०८४। अहवा दुक्खादीणं महेसिवयणस्स सवणकालम्मि। णासंति जीए सिग्घं रिद्धी अमियआसवी णामा।१०८५। रिसिपाणितलणिक्खित्तं रुक्खाहारादियं पि खणमेत्ते। पावेदि सप्पिरूवं जीए सा सप्पियासवी रिद्धी।१०८६। अहवा दुक्खप्पमुहं सवणेण मुणिंददिव्ववयणस्स। उवसामदि जीवाणं एसा सप्पियासवी रिद्धी।१०८७। –जिससे हस्ततलपर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्काल ही दुग्धपरिणामको प्राप्त हो जाते हैं, वह क्षीरस्रावी ऋद्धि कही जाती है।१०८०। अथवा जिस ऋद्धिसे मुनियोंके वचनोंके श्रवणमात्रसे ही मनुष्य तिर्यंचोंके दुःखादि शान्त हो जाते हैं उसे क्षीरस्रावी ऋद्धि समझना चाहिए।१०८१। जिस ऋद्धिसे मुनिके हाथमें रखे गये रूखे आहारादिक क्षणभरमें मधुररससे युक्त हो जाते हैं, वह मध्वास्रवऋद्धि है।१०८२। अथवा, जिस ऋषि-मुनिके वचनोंके श्रवणमात्रसे मनुष्यतिर्यंचके दुःखादिक नष्ट हो जाते हैं वह मध्वास्रावी ऋद्धि है।१०८३। जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनिके हाथमें स्थित रूखे आहारादिक क्षणमात्रमें अमृतपनेको प्राप्त करते हैं, वह, अमृतास्रवी नामक ऋद्धि है।१०८४। अथवा जिस ऋद्धिसे महर्षिके वचनोंके श्रवणकालमें शीघ्र ही दुःखादि नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतास्रावी नामक ऋद्धि है।१०८५। जिस ऋद्धिसे ऋषिके हस्ततलमें निक्षिप्त रूखा आहारादिक भी क्षणमात्रमें घृतरूपको प्राप्त करता है, वह सर्पिरास्रावी-ऋद्धि है।१०८६। अथवा जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनीन्द्रके दिव्य वचनोंके सुननेसे ही जीवोंके दुःखादि शान्त हो जाते हैं, वह सर्पिरास्रावी ऋद्धि है।१०८७। (रा.वा./३/३६/३/२०४/२); (ध.९/४,१,३८/४१/१०१); (चा.सा./२२७/२)—नोट-धवलामें हस्तपुटवाले लक्षण हैं। वचन वाले नहीं। रा.वा.व चा.सा. में दोनों प्रकारके हैं।

८. रस ऋद्धि द्वारा पदार्थोंका क्षीरादि रूप परिणमन कैसे सम्भव है ?

ध. ६/४,१,३८/१००/१ कधं रसंतरेसु ट्ठियदव्वाणं तक्खणादेव खीरा-सादसरूवेण परिणामो। ण, अमियसमुद्दम्मि णिवदिदविसस्सेव पंचमहव्वय-समिइ-तिगुत्तिकलावघडिदंजलिउदणिवदियाणं तदविरोहादो। —प्रश्न—अन्य रसोंमें स्थित द्रव्यका तत्काल ही क्षीर स्वरूपसे परिणमन कैसे सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार अमृत समुद्रमें गिरे हुए विषका अमृत रूप परिणमन होनेमें कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियोंके समूहसे घटित अंजलिपुटमें गिरे हुए सब आहारोंका क्षीर स्वरूप परिणमन करनेमें कोई विरोध नहीं है।

९. क्षेत्र ऋद्धि निर्देश

१. अक्षीण महानस व अक्षीण महालय ऋद्धि

ति. प./४/१०८६-१०९१ लाभंतरायकम्मक्खउवसमसंजुदए जीए फुडं। मुणिभुत्तमसेसमण्णं धामत्थं पियं जं कं पि।१०८९। तद्दिवसे खज्जंतं खंधावारेण चक्कवट्टिस्स। झिज्जइ न लवेण वि सा अक्खीणमहाणसा रिद्धी।१०९०। जीए चउधणुमाणे समचउरसालयम्मि णरतिरिया। मंतियसंखेज्जा सा अक्खीणमहालया रिद्धी।१०९१। —लाभान्तराय-कर्मके क्षयोपशमसे संयुक्त जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनिके आहारसे शेष, भोजनशालामें रखे हुए अन्नमेंसे जिस किसी भी प्रिय वस्तुको यदि उस दिन चक्रवर्तीका सम्पूर्ण कटक भी खावे तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होता है, वह अक्षीणमहानसिक ऋद्धि है।१०८९-१०९०। जिस ऋद्धिसे समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्रमें असंख्यात मनुष्य तिर्यंच समा जाते हैं, वह अक्षीण महालय ऋद्धि है।१०९०। (रा. वा./३/३६/३/२०४/६); (ध. ६/४,१,४२/१०१/८/ केवल अक्षीण महानसका निर्देश है, अक्षीण महालयका नहीं); (चा. सा./२२८/१)।

१०. ऋद्धि सामान्य निर्देश

१. शुभ ऋद्धिकी प्रवृत्ति स्वतः भी होती है, पर अशुभकी प्रयत्न पूर्वक ही

ध. ६/४,१,२६/६५/१ असुहलद्धीणं पउत्ती लद्धिधमंताणमिच्छाव-सवट्टणी। सुहाणं लद्धीणं पउत्ती पुण दोहि वि पयारेहि संभवदि, तदिच्छाए विणा वि पउत्तिदंसणादो। —अशुभ लब्धियोंकी प्रवृत्ति लब्धियुक्त जीवोंकी इच्छाके वशसे होती है। किन्तु शुभ लब्धियोंकी प्रवृत्ति दोनों ही प्रकारोंसे (इच्छासे व स्वतः) सम्भव है, क्योंकि, इच्छाके बिना भी उक्त लब्धियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

२. एक व्यक्तिमें युगपत् अनेक ऋद्धियोंकी सम्भावना

ध. १/१,१,५९/२९८/६ नैष नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्द्धयो भूयस्यो भवन्तीति। गणभृत्सु सप्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सत्त्वो-पलम्भात्। आहारद्‌र्ध्या सह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यते इति चेद्भवतु नाम दृष्टत्वात्। न चानेन विरोध इति सर्वाभिर्विरोधो वक्तुं पार्यतेऽव्यवस्थापत्तेरिति। —एक आत्मामें युगपत् अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि, गणधरोंके एक साथ सातों ही ऋद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है। प्रश्न—आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययका तो विरोध देखा जाता है। उत्तर—यदि आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका विरोध देखनेमें आता है तो रहा आवे। किन्तु मनःपर्ययके साथ विरोध है, इसलिए आहारक ऋद्धिका दूसरी सम्पूर्ण ऋद्धियोंके साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ जायेगी। (विशेष देखो 'गणधर')।

३. परन्तु विरोधी ऋद्धियाँ युगपत् सम्भव नहीं

ध. १३/५,३,२५/३२/३ पमत्तसंजदस्स अणिमादिलद्धिसंपण्णस्स विउ-व्विदसमए आहारसरीरुट्ठावणसंभवाभावादो। —अणिमादि लब्धियोंसे सम्पन्न प्रमत्त संयत जीवके विक्रिया करते समय आहारक शरीरकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

गो.जी./मू/२४२/५०५ वेगुव्वियआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरदम्हि। जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण॥

गो. जी./मं. प्र./२४२/५०५ प्रमत्तविरते वैक्रियककाययोगक्रिया आहारककाययोग-क्रिया च समं युगपन्न संभवतः। यदा आहारककाययोगमवलम्ब्य प्रमत्तसंय-तस्य गमनादिक्रिया प्रवर्तते तदा विक्रियर्द्धिबलेन वैक्रियककाययोग-मवलम्ब्य क्रिया तस्य न घटते, आहारकर्धिविक्रियर्द्ध्योर्युगपद्वृत्ति-विरोधात्। अनेन गणधरादीनामितरर्द्धियुगपद्वृत्तिसंभवो दर्शितः। —छट्ठे गुणस्थानमें वैक्रियिक और आहारक शरीरकी क्रिया युगपत् नहीं होती। और योग भी नियमसे एक कालमें एक ही होता है। प्रमत्त विरत षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनिकै समकालविषैं युगपत् वैक्रियक योगकी क्रिया अर आहारक काययोगकी क्रिया नाहीं। ऐसा नाहीं कि एक ही काल विषैं आहारक शरीरको धारि गमनागमनादि क्रियाकौ करै अर तभी विक्रिया ऋद्धिके बलसे वैक्रियककाययोगको धारि विक्रिया सम्बन्धी कार्यकौ भी करैं। दोऊमें सौ एक ही होइ। यातैं यहु जान्या कि गणधरादिकनिकैं और ऋद्धि युगपत् प्रवर्त्तै तो विरुद्ध नाहीं।

ऋद्धि गौरव—दे० गौरव।

ऋद्धि प्राप्त आर्य—दे० आर्य।

ऋद्धि मद—दे० मद।

ऋद्धीश—सौधर्म स्वर्गका १३वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५।

ऋषभ—स्वर सप्तकमेंसे एक—दे० स्वर।

ऋषभनाथ—(म. पु/सर्ग/श्लोक) पूर्वके ११ वें भवमें 'जयवर्मा' थे (५/१०५); १० वें भवमें राजा 'महाबल' हुए (४/१३३) तब किसी मुनिने बताया कि अगले दसवें भवमें भरत क्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर होंगे। पूर्वके नवें भवमें 'ललितांग' देव हुए (५/२५३); ८ वें भवमें 'वज्रजंघ' (६/२६); ७वें भवमें भोग-भूमिज आर्य (९/३३); ६ठें भवमें 'श्रीधर' नामक देव (९/१८५); ५वें भवमें 'सुविधि' (६/१२१-१२२) ४थे भवमें 'अच्युतेन्द्र' (१०/१७१); ३रे भवमें 'वज्रनाभि' (११/८,६); और पूर्वके दूसरे भवमें अर्थात तीर्थंकरसे पूर्ववाले भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुए (११/१२१) वर्तमान भवमें इस चौबीसीके प्रथम तीर्थंकर हुए। (१३/१); (म. पु./४७/३५७-३५६) आप अन्तिम कुलकर नाभिरायके पुत्र थे। (१३/१) उस समय प्रजाको असि, मसि आदि छह कर्म सिखाये (१६/१७९,१८०)। (त्रि. सा./८०२); तथा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्गोंकी स्थापना की (१६/१८३)। आषाढ़ कृ० १ को कृतयुगका आरम्भ होनेपर आप प्रजापतिकी उपाधिसे विभूषित हुए (१६/१९०) नृत्य करते-करते नीलांजना नामकी अप्सराके मर जानेपर आपको संसारसे वैराग्य आ गया (१७/७,११) एक वर्ष तक आहारका अन्तराय रहा। एक वर्ष पश्चात् राजा श्रेयांसके यहाँ प्रथम पारणा हुआ (२०/८०); यद्यपि दीक्षा लेते समय आपने केश लौंच कर लिया था पर एक वर्षके योगके कारण आपके केश बढ़कर लम्बी लम्बी जटाएँ हो गयी थीं।—दे० केश लौंच/जन्म व निर्वाण काल सम्बन्धी—दे० मोक्ष/४) उनके

पाँच कल्याणकोंका क्षेत्र, काल, उनकी आयु व राज्यकाल आदि तथा उनका संघ आदि सम्बन्धी परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

ऋषि—मू. आ./८८६. समणोत्ति संजदोत्ति य रिसिमुणिसधुत्ति वीदरागोत्ति। णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति।८८६। —उत्तम चारित्रवाले मुनियोंके ये नाम हैं—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दान्त, यति।

प्र. सा./ता. वृ./२४९में उद्धृत—"स्यादृषिः प्रसृतर्द्धिरारूढः।" ऋद्धि प्राप्त साधुको ऋषि कहते हैं। (चा. सा./४७/१ में उद्धृत) (सा. ध./७/२० उद्धृत)।

२. ऋषिके भेद व उनके लक्षण

प्र.सा/ता.वृ./२४९ में उद्धृत—राजा ब्रह्मा च देवपरम इति ऋषिर्विक्रिया-क्षीणशक्तिप्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण।" —ऋषि चार प्रकारके कहे गये हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। तिनमें विक्रिया और अक्षीण (क्षेत्र) शक्ति प्राप्त साधु राजर्षि कहलाते हैं; बुद्धि और औषधि ऋद्धियुक्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं; आकाशगामी ऋद्धि सम्पन्न देवर्षि और विश्ववेदी केवलज्ञी अर्हंत भगवान् परमर्षि कहलाते हैं। (चा.सा. ४७/१ में उद्धृत), (सा.ध./७/२० में उद्धृत)

३. अन्य सम्बन्धित विषय

* मुख्य ऋषि गणधर हैं —दे० गणधर।
* प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें ऋषियोंका प्रमाण —दे० तीर्थंकर/५।

ऋषिदास—भगवान् वीरके तीर्थके एक अनुत्तरोपपादक। —दे० अनुत्तरोपपादक।

ऋषि पंचमी व्रत—(व्रतविधान संग्रह/१०६)— कुल समय—५ वर्ष ५ मास; उपवास-संख्या=६५; विधि=आषाढ़ शु० ५ से प्रारम्भ करके प्रति मासकी दो-दो पंचमियोंको उपवास करें; जाप्य-मंत्र—नमस्कार ंत्रका त्रिकाल जाप्य करे।

ऋषि मंडल यंत्र—दे० यंत्र।

ऋषि मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

ऋषिवंश—एक पौराणिक राज्य वंश—दे० इतिहास/७/४।

[ए]

एंद्रदत्त—विनयवादी।

एक—१. द्रव्यमें एक अनेक धर्म—दे० अनेकांत/४; २. मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४; ३. एक संख्याको नोकृति कहते हैं—दे० कृति; एकको गणितमें रूप भी कहते हैं; ४. षट्द्रव्योंमें एक अनेक विभाग—दे० द्रव्य/३।

एकत्व—आप्त.मी./३४ सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः। भेदाभेदव्यवस्थायामसाधारणहेतुवत् ।३४। —भेदाभेदकी विवक्षामें असाधारण हेतुके तुल्य सत्सामान्यसे सबकी एकता है और पृथक्-पृथक् द्रव्य आदिकके भेदसे भेद भी है।

स. सा./आ./परि./शक्ति नं ३१ अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। —अनेक पर्यायोंमें व्यापक ऐसी एक द्रव्यमयतारूप एकत्व शक्ति है।

प्र.सा./त./प्र./१०६ तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। —तद्भाव एकत्वका लक्षण है।

आ.प./६ स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः। —अनेक स्वभावोंका एक आधार होनेसे 'एक स्वभाव' है।

वै.द./७/२/१ रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम्। —रूप, रस, गन्ध, स्पर्शके व्यतिरेकसे अर्थान्तरभूत एकत्व है।

★ **परके साथ एकत्व कहनेका अभिप्राय**—दे० कारक/२।

★ **परमएकत्वके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान—दे० प्रत्यभिज्ञान।

एकत्व भावना—दे० अनुप्रेक्षा।

एकत्व विक्रिया—दे० वैक्रियक।

एकत्वानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

एकदिशात्मक—(ध.५/प्र.२७) one directional.

एकदेश—दे० देश।

एकनासा—रुचक पर्वत निवासिनी देवी—दे० लोक/७।

एकपर्वा—एक औषधि विद्या—दे० विद्या।

एकभक्त—एकाशना — दे० प्रोषधोपवास/१; २. साधुका मूल गुण —दे० साधु।

मू.आ./३५ उदयत्थमणे काले णालीतिय वज्जियम्मि मज्झम्हि। एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ।३५। —सूर्यके उदय और अस्तकालकी तीन घड़ी छोड़कर, वा मध्यकालमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त, तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करना एकभक्त है। (मू. आ./४६२), (विशेष दे० आहार II/१)

एकरात्रि प्रतिमा—भ.आ./वि./४०३/५९५/७ एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते। उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्मुखः उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरङ्गुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रदृष्टिस्त्यक्तस्तिष्ठेद्। सुष्ठु प्रणिहितचित्तः चतुर्विधोपसर्गसहः न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति। —तीन उपवास करनेके अनन्तर चौथी रात्रिमें ग्राम-नगरादिकके बाह्य प्रदेशमें अथवा श्मशानमें, पूर्व दिशा, उत्तरदिशा अथवा चैत्य (प्रतिमा) के सन्मुख मुख करके दोनों चरणोंमें चार अंगुल प्रमाणका अन्तर रखकर नासिकाके अग्रभागपर वह यति अपनी दृष्टि निश्चल करता है। शरीरपर का ममत्व छोड़ देता है, अर्थात् कायोत्सर्ग करता हुआ मनको एकाग्र करता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतन इन द्वारा किया हुआ चार प्रकार उपसर्ग सहन करता है। वह मुनि भयसे आगे गमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं। सूर्योदय होने तक वहाँ ही स्थित रहता है। यह एक रात्रिप्रतिमा कुशल है।

एकलठाणा—(व्रतविधान संग्रह/२६)—मात्र एक बार परोसा हुआ भोजन सन्तोष पूर्वक करना।

एकल विहारी—मू. आ./१४९ तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य। पविआ आगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो।१४९। —तप, सूत्र, शरीर व मनके बलसे युक्त हो; एकत्व भावनामें रत हो; शुभ परिणाम, उत्तमसंहनन तथा धृति अर्थात् मनोबलसे युक्त हो; दीक्षा व आगममें बलवान् हो। तात्पर्य यह कि तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आचारकुशल व आगम कुशल गुण विशिष्ट साधुको ही जिनेश्वरने अकेले विहारके लिए सम्मति दी है। (और भी दे० जिनकल्प)

★ **पंचमकालमें एकलविहारी साधुका निषेध**—दे० विहार।

एकलव्य—पा.पु./सर्ग (श्लोक) गुरु द्रोणाचार्यका शिष्य एक भील था, स्तूपमें गुरु द्रोणाचार्यकी स्थापना करके उनसे शब्दार्थवेधनी विद्या प्राप्त की (१०/२२३); फिर गुरु द्रोणाचार्यके अर्जुन सहित

साक्षात् दर्शन होनेपर गुरुकी आज्ञानुसार गुरुको अपने दाहिने हाथका अँगूठा अर्पण करके उसने अपनी गुरुभक्तिका परिचय दिया। (१०/२६२)

एकविंशति गुणस्थान प्रकरण—श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई० ५५०) द्वारा रचित संस्कृत भाषाबद्ध गुणस्थान-प्ररूपक एक ग्रन्थ।

एकविध—मतिज्ञानका एक भेद —दे० मतिज्ञान/४।

एकशिल—पूर्व विदेहका एक वक्षार, उसका एक कूट तथा उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

एकश्रेणी वर्गणा—दे० वर्गणा।

एकसंख्या—एक संख्याको नोकृति कहते हैं —दे० कृति।

एक संस्थान—एक ग्रह—दे० ग्रह।

एकसे एकको संगति—(ध.५/प्र.२७)—One to one correspondence.

एकांत—वस्तुके जटिल स्वरूपको न समझनेके कारण, व्यक्ति उसके किसी एक या दो आदि अल्पमात्र अंगोंको जान लेने पर यह समझ बैठता है कि इतना मात्र ही उसका स्वरूप है, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः उसमें अपने उस निश्चयका पक्ष उदित हो जाता है, जिसके कारण वह उसी वस्तुके अन्य सद्भूत अंगोंको समझनेका प्रयत्न करनेकी बजाय उनका निषेध करने लगता है। उनके पोषक अन्य वादियोंके साथ विवाद करता है। यह बात इन्द्रिय प्रत्यक्ष विषयोंमें तो इतनी अधिक नहीं होती, परन्तु आत्मा, ईश्वर, परमाणु आदि परोक्ष विषयोंमें प्रायः करके होती है। दृष्टिको संकुचित कर देने वाला यह एकान्त-पक्षपात राग-द्वेषकी पुष्टता करनेके कारण तथा व्यक्तिके व्यापक स्वभावको कुण्ठित कर देनेके कारण मोक्षमार्गमें अत्यन्त अनिष्टकारी है। स्याद्वाद-सिद्धान्त इसके विषको दूर करनेकी एकमात्र ओषधि है। क्योंकि उसमें किसी अपेक्षासे ही वस्तुको उस रूप माना जाता है, सर्व अपेक्षाओंसे नहीं। तहाँ पूर्व कथित एकान्त मिथ्या है और किसी एक अपेक्षासे एक धर्मात्मक वस्तुको मानना सम्यक् एकान्त है।

१ सम्यक् मिथ्या एकान्त निर्देश

- १ एकान्तके सम्यक् व मिथ्या भेद निर्देश।
- २ सम्यक् व मिथ्या एकान्तके लक्षण।
- * नय सम्यक् एकान्त होती है। —दे० नय I/२।
- ३ एकान्त शब्दका सम्यक् प्रयोग।
- * एकान्त शब्दका मिथ्या प्रयोग। —दे० एकान्त/४/५।
- ४ सर्वथा शब्दका सम्यक् प्रयोग।
- * सर्वथा शब्दका मिथ्या प्रयोग। —दे० एकान्त/४/५।

२ एवकारकी प्रयोग विधि

- * एवकारके प्रयोग व्यवच्छेद आदि निर्देश—दे० 'एव'।
- १ एवकारका सम्यक् प्रयोग।
- २ एवकारका मिथ्या प्रयोग।
- ३ एवकार व चकार आदि निपातोंका सम्यक् प्रयोग विधि।
- ४ विवक्षा स्पष्ट कह देनेपर एवकारकी आवश्यकता अवश्य पड़ती है।
- ५ बिना प्रयोगके भी एवकारका ग्रहण स्वतः हो ही जाता है।
- ६ एवकारका प्रयोजन इष्टार्थावधारण।
- ७ एवकारका प्रयोजन अन्ययोगव्यवच्छेद।
- * स्यात्कार प्रयोग निर्देश —दे० स्याद्वाद/५।
- * एवकार व स्यात्कारका समन्वय —दे० स्याद्वाद/५।

३ सम्यगेकान्तकी इष्टता व इसका कारण

- * वस्तुके अनेकों विरोधी धर्मोंमें कथंचित् अविरोध —दे० अनेकांत ४/५।
- १ वस्तुके सर्व धर्म अपने पृथक्-पृथक् स्वभावमें स्थित हैं।
- २ किसी एक धर्मकी विवक्षा होनेपर उस समय वस्तु उतनी मात्र ही प्रतीत होती है।
- ३ एक धर्म मात्र वस्तुको देखते हुए अन्य धर्म उस समय विवक्षित नहीं होते।
- * धर्मोंमें परस्पर मुख्य गौण व्यवस्था —दे० स्याद्वाद/३।
- ४ ऐसा सापेक्ष एकान्त हमें इष्ट है।
- * वस्तु एक अपेक्षासे जैसी है अन्य अपेक्षासे वैसी नहीं है —दे० अनेकान्त/५/४।

४ मिथ्या-एकान्त निराकरण

- १ मिथ्या-एकान्त इष्ट नहीं है।
- २ एवकारका मिथ्याप्रयोग अज्ञान सूचक है।
- ३ मिथ्या-एकान्तका कारण पक्षपात है।
- ४ मिथ्या एकान्तका कारण संकीर्ण दृष्टि है।
- ५ मिथ्या-एकान्तमें दूषण।
- ६ मिथ्या-एकान्त निषेधका प्रयोजन।

५ एकान्त मिथ्यात्व निर्देश

- १ एकान्त मिथ्यात्वका लक्षण।
- २ ३६३ एकान्त मत निर्देश।
- * ३६३ वादोंके लक्षण —दे० वह वह नाम।
- ३ एकान्त मिथ्यात्वके अनेकों भंग।
- ४ कुछ एकान्त दर्शनोंका निर्देश।
- * षट् दर्शनों व अन्य दर्शनोंका स्वरूप —दे० वह वह नाम।
- ५ जैनाभासी संघोंका निर्देश।
- * जैनाभासी दिगम्बर संघोंके लक्षण —दे० इतिहास/५।
- * एकान्तवादी जैन वास्तवमें जैन नहीं —दे० जिन/२।
- ६ अनेक मत परिचय सूची
- * सर्व एकान्तवादियोंके मत किसी न किसी नयमें गर्भित हैं —दे० अनेकान्त/२/६।

१. सम्यक् मिथ्या एकान्त निर्देश

१. एकान्तके सम्यक् व मिथ्या भेद निर्देश

रा. वा./१/६/७/३५/२१ एकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। —एकान्त दो प्रकारका है सम्यगेकान्त और मिथ्या एकान्त। (स. भ. त./७३/१०)।

२. सम्यक् व मिथ्या एकान्तके लक्षण

रा. वा./१/६/७/३५/२४ तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः। —हेतु विशेषकी सामर्थ्यसे अर्थात् सुयुक्तियुक्त रूपसे, प्रमाण द्वारा प्ररूपित वस्तुके एकदेशको ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है और एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है।

स. भ. त./७३/११ तत्र सम्यगेकान्तस्तावत्प्रमाणविषयीभूतानेकधर्मात्मकवस्तुनिष्ठैकधर्मगोचरो धर्मान्तराप्रतिषेधकः। मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्ममात्रावधारणेनान्याशेषधर्मनिराकरणप्रवणः। —सम्यगेकान्त तो, जो प्रमाण सिद्ध अनेक धर्मस्वरूप जो वस्तु है, उस वस्तुमें जो रहनेवाला धर्म है, उस धर्मको अन्य धर्मोंका निषेध न करके विषय करनेवाला है। और पदार्थोंके एक ही धर्मका निश्चय करके अन्य सम्पूर्ण धर्मोंका निषेध करनेमें जो तत्पर है वह मिथ्या-एकान्त है। (विशेष दे० विकलादेश)।

३. 'एकान्त' शब्दका सम्यक् प्रयोग

प्र. सा./मू./५९ जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं। रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं त्ति एगंतियं भणियं।५९। —स्वजात, सर्वांगसे जानता हुआ तथा अनन्त प्रदेशोंमें विस्तृत, विमल, और अवग्रह आदिसे रहित ज्ञान एकान्तिक सुख है, ऐसा कहा है।

प्र. सा./मू./६६ एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा। विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा।६६। —एकान्तसे अर्थात् नियमसे स्वर्गमें भी आत्माको शरीर सुख नहीं देता, परन्तु विषयोंके वशसे सुख अथवा दुःख रूप स्वयं आत्मा होता है।

स. श./७१ "मुक्तेरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः। तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥ —जिस पुरुषके चित्तमें आत्मस्वरूपकी निश्चल धारणा है, उसकी एकान्तसे अर्थात् अवश्य मुक्ति होती है। तथा जिस पुरुषकी आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है उसकी एकान्तसे मुक्ति नहीं होती है।

ध. १/१.१.१४१/३९२/७ सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति। —व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता है, यह एकान्त नियम है।

स. सा./आ./१४ संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः स्वयंबोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। —यद्यपि मोह संयुक्तता भूतार्थ है तो भी एकान्त रूपसे स्वयं बोध बीजस्वरूप चैतन्य स्वभावको लेकर अनुभव करनेसे वह अभूतार्थ है।

स. सा./आ./२७२ प्रतिषिध्य एवं चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात् पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वाच्च।" —और इस प्रकार यह व्यवहार-नय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि, आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहार नयका आश्रय तो एकान्ततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य ही करता है।

प्र. सा./त. प्र./२१९ तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव। —ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले एकान्तिक अशुद्धोपयोगके सद्भावके कारण परिग्रह तो एकान्तिक बन्धरूप है।

४. सर्वथा शब्दका सम्यक् प्रयोग

मो. पा./मू./३२ इदि जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं। झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण।३२। —ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जानकरि योगी ध्यानी मुनि हैं सो सर्व व्यवहारको सर्वथा छोड़े हैं और परमात्मको ध्यावै हैं। कैसे ध्यावै हैं—जैसे जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेवनै कह्या है, तैसे ध्यावे हैं।

इ. उ./२७ एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः। बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।२७। —मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगीन्द्रोंके गोचर हूँ। इनके सिवाय जितने भी रागद्वेषादि संयोगी भाव हैं वे सब सर्वथा मुझसे भिन्न हैं।

स. सा./आ./३१ स्पर्शादीन्द्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेन ··· परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः। —इस प्रकार जो मुनि स्पर्शादि द्रव्येन्द्रियों व भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको सर्वथा पृथक् करनेके द्वारा जीतकर ज्ञेयज्ञायक संकरदोषके दूर होनेसे··· सर्व अन्यद्रव्योंसे परमार्थतः भिन्न ऐसे अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन हैं। इस प्रकार एक निश्चय स्तुति हुई।

स. सा./आ./२९९/क. १८४ एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषाम्। ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥१८४। —चैतन्य तो एक चिन्मय ही भाव है, और जो अन्य भाव हैं वे वास्तवमें दूसरोंके भाव हैं। इसलिए चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं।

प्र. सा./त. प्र./१६२ ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात्। —मैं अनेक परमाणु-द्रव्योंके एक पिण्डरूप परिणामका अकर्ता हूँ, (इसलिए) मेरे अनेक परमाणु द्रव्योंके एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीरका कर्ता होनेमें सर्वथा विरोध है।

प्र. सा./त. प्र./२१९ तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्धिः। —परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावित्व है।

यो. सा./अ./६/३५ न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः। ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः।३५। —ज्ञान और ज्ञानीका परस्परमें सर्वथा भेद नहीं है, इसलिए जिस समय निश्चय नयसे ज्ञान जान लिया जाता है उस समय ज्ञानी आत्माका भी ज्ञान हो जाता है।

२ एवकारकी प्रयोग विधि

१. एवकारका सम्यक् प्रयोग

प. प्र./मू./१/६७ अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जिण होइ। परु जि कयाइ वि अप्प णवि णियमे पभणहिं जोइ॥ —निज वस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही हैं। आत्मा तो परद्रव्य नहीं होता और पर द्रव्य भी कभी आत्मा नहीं होता। ऐसा निश्चय कर योगीश्वर कहते हैं।

रा. वा./१/७/१४/३९/१९ अधिकरणम् आत्मन्येवासौ तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणि कर्मकृते च कायादावुपचारतः। —(आस्रव का) अधिकरण आत्मा ही होता है, क्योंकि कर्म-विपाक उसमें ही दिखाई देता है। कर्म निमित्तक शरीरादि उपचारसे ही आधार है।

स. सा./आ./१०९/ पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ···अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पादत्यन्तमचेतनाः सन्तस्त्रयोदश कर्तारः केवला

एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्यात्रापतितम् ।—वास्तवमें पुद्गलकर्मका, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है;···। अब, जो पुद्गलकर्मके विपाकके प्रकार होनेसे अत्यन्त अचेतन हैं ऐसे ये तेरह (गुणस्थान) कर्ता ही, मात्र व्याप्यव्यापक भावसे यदि कुछ भी पुद्गलका कर्म करें तो भले कर्म करें, इसमें जीवका क्या आया।

स. सा./ आ./ २६५ अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । —अध्यवसान ही बन्धका कारण है बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्धका कारण जो अध्यवसान है, उसके ही हेतुपना चरितार्थ होता है। (स. सा./आ./१५६/क. १०६-१०७)। (स.सा./आ./२७१/क. १७३)।

स. सा./आ./७१ ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिद्धयेत् । —ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है।

स. सा./आ./२९७ यो हि नियतस्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं; ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायान्तोऽत्यन्तं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। —नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक है, सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी चेतकस्वरूपी व्यापकके व्याप्य न होनेसे, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपनेमें-से ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ।

प्र. सा. /त. प्र./२३९. अतः आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव। —इसलिए आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपतता भी अकिंचित्कर ही है।

प्र. सा./त. प्र./२६३ स्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः *प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धाः इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव।* —जिनके स्वतत्त्वका ज्ञान प्रवर्तता है, उन श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं।

पं. का./त. प्र./१० अविशेषाद्द्रव्यस्य सत्स्वरूपमेव लक्षणम् । —सत्तासे द्रव्य अभिन्न होनेके कारण 'सत्' स्वरूप ही द्रव्यका लक्षण है।

का. अ./ मू./२२५ जं वत्थु अणेयंतं तं च्चिय कज्जं करेदि णियमेण। बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए। —जो वस्तु अनेकान्तरूप है, वही नियमसे कार्यकारी है; क्योंकि, लोकमें बहुधर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है।

२. एवकारका मिथ्या प्रयोग

रा. वा./४/४२/१५/२६१/२७ तत्रास्तित्वैकान्तवादिनः 'जीव एव अस्ति' इत्यवधारणे अजीवनास्तित्वप्रसङ्गभयादिष्टतोऽवधारणविधिः 'अस्त्येव जीवः' इति नियच्छन्ति, तथा चावधारणसामर्थ्यात् शब्दप्रापितादभिप्रायवशवर्तिनः सर्वथा जीवस्यास्तित्वं प्राप्नोति। —यदि अस्तित्व-एकान्तवादी 'जीव ही है' ऐसा अवधारण करते हैं, तो अजीवके नास्तित्वका प्रसंग आता है। इस भयसे 'अस्त्येव' ऐसी प्रयोग विधि इष्ट है। परन्तु इस प्रकार करनेसे भी शब्द प्राप्त अभिप्रायके वशसे सर्वथा ही जीवके अस्तित्व प्राप्त होता है। अर्थात् पुद्गलादिके अस्तित्वसे जीवका अस्तित्व व्याप्त हो जाता है, अतः जीव और पुद्गलमें एकत्वका प्रसंग आता है। (अतः 'स्यात् अस्त्येव' ऐसा प्रयोग ही युक्त है।)

पं. का./त. प्र./१० न चानेकान्तात्मकस्य द्रव्यस्य सन्मात्रमेव स्वरूपं। —अनेकान्तात्मक द्रव्यका सत् मात्र ही स्वरूप नहीं है।

३. एवकार व चकार आदि निपातोंकी सामान्य प्रयोग विधि

श्लो. वा /२/१/६/५३/४३२/१० तत्र हि ये शब्दाः स्वार्थमात्रेऽनवधारिते संकेतितास्ते तदवधारणविवक्षायामेवमपेक्षन्ते तत्समुच्चयादिविवक्षायां तु चकारादिशब्दम् । —तिन शब्दोंमें जो शब्द, नहीं—नियमित किये गये अपने सामान्य अर्थके प्रतिपादन करनेमें संकेत ग्रहण किये हुए हो चुके हैं, वे शब्द तो उस अर्थके नियम करनेकी विवक्षा होनेपर अवश्य 'एवकार' को चाहते हैं। जैसे जल शब्दका अर्थ सामान्य रूपसे जल है। और हमें जल ही अर्थ अभीष्ट हो रहा है तो 'जल ही है' ऐसा एवकार लगाना चाहिए। तथा जब कभी जल और अन्नके समुच्चय या समाहारकी विवक्षा हो रही है, तब 'चकार' शब्द लगाना चाहिए, तथा विकल्प अर्थकी विवक्षा होनेपर 'वा' शब्द जोड़ना चाहिए (जैसे जल वा अन्न)।

४. विवक्षा स्पष्ट कर देनेपर एवकारकी आवश्यकता अवश्य पड़ती है

रा.वा./५/२५/१२/४९२/१७ इत्येवं सति युक्तम्, हेतुविशेषसामर्थ्यार्पणे अवधारणाविरोधात्, द्रव्यार्थतयावस्थानाच्च। —इस प्रकार विशेष विवक्षामें 'कारणमेव' यह एवकारका भी विरोध नहीं है।

रा. वा./१/१/५/५/१ एवंभूतनयवक्तव्यवशात् ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव ज्ञानं दर्शनं च तत्स्वाभाव्यात्। —एवंभूत नयकी दृष्टिसे ज्ञानक्रियामें परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शन क्रियासे परिणत आत्मा ही दर्शन है, क्योंकि ऐसा ही उसका स्वरूप है।

श्लो.वा./२/१/६/४९-५२/४०३ तत्र प्रश्नवशात्कश्चिद्विधौ शब्दः प्रवर्तते। स्यादस्त्येवाखिलं यद्वत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।४९। —तिस सात प्रकारके (सप्त भंग) वाचक शब्दोंमें कोई शब्द तो प्रश्नके वशसे विधान करनेमें प्रवृत्त हो रहा है, जैसे कि स्वद्रव्यादि चतुष्टयसे पदार्थ कथंचित् अस्तिरूप ही है। (इसी प्रकार कोई शब्द निषेध करनेमें प्रवृत्त हो रहा है जैसे पर द्रव्यादिकी अपेक्षा पदार्थ कथंचित् नास्तिरूप है। इत्यादि)

श्लो.वा.२/१/६/५६/४७४/३० येनात्मनानेकान्तस्तेनात्मनानेकान्त एवेत्येकान्तानुषङ्गोऽपि नानिष्टः। प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धेः नयसाधन्यैकान्तव्यवस्थितेः। —जिस विवक्षित प्रमाण स्वरूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त ही है, ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है। क्योंकि प्रमाण करके साधे गये विषयको ही अनेकान्तपना सिद्ध है और नयके द्वारा साधन किये विषयको एकान्तपना व्यवस्थित हो रहा है।

पं.का./त.प्र./११ द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पन्नमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यम्। —द्रव्यार्थिक नयसे तो द्रव्य उत्पाद व्यय रहित केवल सत्स्वभाव ही है।

का.अ./मू./२६१ जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं। सुयणाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव। —जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयोंकी अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षाके वस्तुका स्वरूप नहीं ही देखा जा सकता है।

नि.सा./ता.वृ./१६९ व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपरागशुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति, यदि व्यवहारनयविवक्षया कोऽपि जिननाथतत्त्वविचारलब्धः कदाचिदेवं वक्ति चेत् तस्य न खलु दूषणमिति। —व्यवहारसे व्यवहारकी प्रधानताके होनेके कारण, 'निरुपराग शुद्धात्मस्वरूपको नहीं ही जानता है' ऐसा यदि व्यवहार नयकी विवक्षासे कोई जिननाथके तत्त्व विचारमें निपुण जीव कदाचित् कहे तो उसको वास्तवमें दूषण नहीं है।

पं.का./ता.वृ./५६/१०६/१० क्षायिकस्तु केवलज्ञानादिरूपो यद्यपि वस्तुवृत्त्या शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावः तथापि कर्मक्षयेणोत्पन्नत्वादुपचारेण कर्मजनित एव। =केवलज्ञानादि रूप जो क्षायिक भाव वह यद्यपि वस्तुवृत्तिसे शुद्ध-बुद्ध एक जीव स्वभाव है, तथापि कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण उपचारसे कर्मजनित ही है।

द्र.सं./टी./१६/५२/१० जीवसंयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति। =जीवके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण व्यवहार नयकी अपेक्षा जीव शब्द कहा जाता है, किन्तु निश्चय नयसे तो वह शब्द पुद्गल रूप ही है।

न्याय.दी./३/§८५ स्यादेकमेव वस्तु द्रव्यात्मना न नाना। =द्रव्य रूपसे अर्थात् सत्ता सामान्यकी अपेक्षासे वस्तु कथंचित् एक ही है, अनेक नहीं।

न्या.दी./३/§८२/१२६/१ द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण स्वर्णं स्यादेकमेव, पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव। =द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे स्वर्ण कथंचित् एक ही है और पर्यायार्थिक नयके अभिप्रायसे (कड़ा आदि रूप) कथंचित् अनेक ही है।

५. बिना प्रयोगके भी एवकारका ग्रहण स्वतः हो ही जाता है

श्लो.वा./१,६/श्लो.५६/२५७ सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैस्सर्वत्रार्थात्प्रतीयते। यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः। =स्याद्वादके जाननेवाले बुद्धिमान जन यदि अनेकान्त रूप अर्थके प्रकाशक स्यात्का प्रयोग न भी करें तो प्रमाणादि सिद्ध अनेकान्त वस्तुके स्वभावसे ही सर्वत्र स्वयं ऐसे भासता है जैसे बिना प्रयोग भी अयोगादिके व्यवच्छेदका बोधक एवकार शब्द।

क.पा.१/१,१३-१४/श्लो.१२३/३०७ अन्तर्भूतैवकारार्थाः गिरः सर्वा स्वभावतः/१२३। =जितने भी शब्द हैं उनमें स्वभावसे ही एवकारका अर्थ छिपा हुआ रहता है।

न्या.दी./३/§८१ उदाहृतवाक्येनापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव न संसारकारणमिति विषयविभागेन कारणाकारणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते। सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात्। =इस पूर्व (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) उद्धृत वाक्यके द्वारा भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र इन तीनोंमें मोक्षकारणता ही है संसार कारणता नहीं, इस प्रकार विषय विभागपूर्वक कारणता और अकारणताका प्रतिपादन करनेसे वस्तु अनेकान्त स्वरूप कही जाती है। यद्यपि उक्त वाक्यमें अवधारण करनेवाला कोई एवकार जैसा शब्द नहीं है तथापि 'सभी वाक्य अवधारण सहित होते हैं' इस न्यायसे उसका ग्रहण स्वतः हो जाता है।

६. एवकारका प्रयोजन इष्टावधारण

क.पा./१/१,१३-१४/श्लो.१२३/३०७ एवकारप्रयोगोऽयमिष्टतो नियमाय सः।१२३। =जहाँ भी एवकारका प्रयोग किया जाता है वहाँ वह इष्टके अवधारणके लिए किया जाता है।

श्लो.वा.२/१/६/५३/४४६/२५अथास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्ये विशेष्यविशेषणसंबन्धसामान्यावद्योतनार्थम् एवकारोऽन्यत्र पदप्रयोगे नियतपदार्थावद्योतनार्थोऽपीति निगदितत्वान्न दोषः। ='अस्त्येव सर्वं' सभी पदार्थ हैं ही इत्यादि वाक्योंमें तो सामान्य रूपसे विशेष्य विशेषण सम्बन्धको प्रगट करनेके लिए एवकार लगाना चाहिए। तथा दूसरे स्थलोंपर इस पदके प्रयोग करनेपर नियमित पदार्थोंको प्रगट करनेके लिए भी एवकार लगाना चाहिए। इस प्रकार कहेंगे तो कोई दोष नहीं है। यह स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुकूल है।

७. एवकारका प्रयोजन अन्ययोग व्यवच्छेद

ध.११/४,२,६,१७७/श्लो.७-८/३१७/१० विशेष्याभ्यां क्रियया च सहोदितः। पार्थो धनुर्धरो नीलं सरोजमिति वा यथा।७। अयोगमपरैर्योगमत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः।८। =निपात अर्थात् एवकार व्यतिरेचक अर्थात् निवर्तक या नियामक होता है। विशेषण-विशेष्य और क्रियाके साथ कहा गया निपात क्रमसे अयोग, अपरयोग (अन्य योग) और अत्यन्तायोग व्यवच्छेद करता है। जैसे—'पार्थो धनुर्धरः' और 'नीलं सरोजम्' इन वाक्योंके साथ प्रयुक्त एवकार (विशेष देखो 'एव')

क.पा.१/१,१३-१४/श्लो.१२४/३०७ निरस्यन्ती परस्यार्थं स्वार्थं कथयति श्रुतिः। तमो विधुन्वती भास्यं यथा भासयति प्रभा।१२४। =जिस प्रकार प्रभा अन्धकारका नाश करती है, और प्रकाश्य पदार्थोंको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार शब्द दूसरे शब्दके अर्थका निराकरण करता है और अपने अर्थको कहता है।

श्लो.वा./२/१,६/श्लो.५३/४३१ वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित्। =किसी वाक्यमें 'एव' का प्रयोग अनिष्ट अभिप्रायके निराकरण करनेके लिए किया जाता है, अन्यथा अविवक्षित अर्थ स्वीकार करना पड़े।

स.म./२२/२६७/२३ एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः। =एवकार प्रकारान्तरके व्यवच्छेदके लिए है।

प्र.सा./ता.वृ./११५/१६२/२० अत्र तु स्यात्पदस्यैव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभङ्गीज्ञापनार्थमिति भावार्थः। =यहाँ जो स्यात् पदवत् ही एवकारका ग्रहण किया गया है वह नय सप्तभङ्गीके ज्ञापनार्थ है, ऐसा भावार्थ जानना।

३. सम्यगेकान्तकी इष्टता व इसका कारण

१. वस्तुके सर्व धर्म अपने पृथक्-पृथक् स्वभावमें स्थित हैं

प्र.सा./त.प्र./१०७ एकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो, यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः। =एक द्रव्यमें जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है, या पर्याय नहीं है। और जो द्रव्य, अन्यगुण या पर्याय है वह सत्ता गुण नहीं है,—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है वह तद् अभाव लक्षण 'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्वका कारण है।

२. किसी एक धर्मकी विवक्षा होनेपर उस समय वस्तु उतनी मात्र ही प्रतीत होती है

श्लो.वा.२/१,६,५३/४४४/२० ज्ञानं हि स्याद् ज्ञेयं स्याद् ज्ञानम्।...न च ज्ञानं स्वतः परतो वा, येन रूपेण ज्ञेयं तेन ज्ञेयमेव येन तु ज्ञानं तेन ज्ञानमेवेत्यवधारणे स्याद्वादिविरोधः सम्यगेकान्तस्य तथोपगमात्। =ज्ञान कथंचित् ज्ञेय है और कथंचित् ज्ञान है। स्याद्वादियोंके यहाँ इस प्रकारका नियम करनेपर भी कोई विरोध नहीं है कि ज्ञान स्व अथवा परकी अपेक्षासे जाननेवाले होकर जिस स्वभावसे ज्ञेय है, उससे ज्ञेय ही है और जिस स्वरूपसे ज्ञान है उससे ज्ञान ही है।

पं.का./त.प्र./८ येन स्वरूपेणोत्पादस्तत्तथोत्पादैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेणोच्छेदस्तत्तथोच्छेदैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेण ध्रौव्यं तत्तथा ध्रौव्यैकलक्षणमेव, तत उत्पद्यमानोच्छिद्यमानावतिष्ठमानानां वस्तुनः स्वरूपाणां प्रत्येकं त्रैलक्षण्याभावादत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः। =जिस

स्वरूपसे उत्पाद है उसका उस प्रकार से 'उत्पाद' एक ही लक्षण है। जिस स्वरूपसे व्यय है उसका उस प्रकारसे व्यय एक ही लक्षण है और जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है उस प्रकारसे ध्रौव्य एक ही लक्षण है। इसलिए वस्तुके उत्पन्न होनेवाले, नष्ट होनेवाले और ध्रुव रहनेवाले स्वरूपोंमें-से प्रत्येकको त्रिलक्षणका अभाव होनेसे त्रिलक्षणा-सत्ताको अत्रिलक्षणपना है।

प्र.सा./त.प्र./११४ सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा···तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा···विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत् प्रतिभाति। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा···जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। =वास्तवमें सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होनेसे वस्तुका स्वरूप देखनेवालोंके क्रमशः सामान्य और विशेषको जाननेवाली दो आँखें हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें-से पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब 'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा दिखाई देता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके मात्र खुले हुए पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब पर्यायस्वरूप अनेक विशेषोंको देखनेवाले और सामान्यको न देखनेवाले जीवोंको (वह जीव द्रव्य नारक, मनुष्यादि रूप) अन्य अन्य भासित होता है। और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखोंको एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा देखा जाता है तब जीव सामान्य तथा जीव सामान्यमें रहनेवाले पर्यायस्वरूप विशेष तुल्यकालमें ही अर्थात् युगपत् ही दिखाई देते हैं। (और भी दे० अगले शीर्षकमें पं. ध. के श्लोक)

३. एक धर्म मात्र वस्तुको देखते हुए अन्य धर्म उस समय विवक्षित नहीं होते

दे० स्याद्वाद/३ (गौण होते हैं पर निषिद्ध नहीं)

का.अ./मू./२६४ णाणा धम्म जुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं। तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।२६४। =नाना धर्मोंसे युक्त भी पदार्थके एक धर्मको नय कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्मकी विवक्षा है, शेष धर्मोंकी विवक्षा नहीं है।

पं.ध./पू./२९९,३०२,३३९,३४०,७५७ तत्र यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च। तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात्।२९९। अपि च निषिधत्वे सति नहि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात्। उभयात्मकं यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रतीयेत।३०२। अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः। नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात्।३३९। अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु। अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात्।३४०। नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा। सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः।७५७। =यद्यपि सत् द्वैतभावको धारण करनेवाला है तब भी अद्वैत है; क्योंकि, सत्में विधि विवक्षित होनेपर वह सत् केवल विधिरूप ही प्रतीत होता है। और निषेध विवक्षित होनेपर केवल निषेध ही।२९९। निषेधत्व विवक्षित होनेके समय अविवक्षित होनेके कारण विधिको वस्तुपना नहीं है।३०२। सारांश यह है कि जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है परिणाम दृष्टिगत नहीं होता, उस समय यहाँपर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तुत्वका नाश नहीं होनेके कारणसे सभी वस्तु नित्य हैं।३३९। अथवा जिस समय यहाँपर केवल परिणाम दृष्टिगत होता है, वस्तु दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन-पर्यायकी उत्पत्ति और पूर्व-पर्यायके अभाव होनेसे सब ही वस्तु अनित्य हैं।३४०। और यहाँ पर वस्तु, सामान्यकी विवक्षामें विशेष धर्मकी गौणता होनेपर विशेषधर्मोंके द्वारा नहीं है। अथवा इतरकी विवक्षामें अर्थात् विशेषकी विवक्षामें सामान्यधर्मकी गौणता होने पर, सामान्य धर्मोंके द्वारा नहीं है। इस प्रकार जो कथन है वह नास्तित्व-नय है।७५७। (विशेष दे० स्याद्वाद/३)

४. और इस प्रकारका सापेक्ष एकान्त हमें इष्ट है

स्व.स्तो./मू./६२ यथैकशः कारकमर्थसिद्धये, समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्। तथैव सामान्यविशेषमातृका, नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः।६२। =जिस प्रकार एक एक कारक, शेष अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं।

ध.१/१,१,९५/३३५/४ नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्तगर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात्। =प्रश्न—'तीसरे गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार करनेपर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

४. मिथ्या एकान्त निराकरण

१. मिथ्या एकान्त इष्ट नहीं है

स्व. स्तो./मू./९८ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सतो शून्यो विपर्ययः। ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः।९८। =आपकी अनेकान्तदृष्टि सच्ची है और विपरीत इसके जो एकान्त मत हैं वे शून्यरूप असत् हैं। अतः जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या है; क्योंकि, वह अपना ही घातक है। अर्थात् अनेकान्तके बिना एकान्त की स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती।

स. म./श्लो. २६/२९७ य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समस्त एव। परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते।२६। =जिस प्रकार वस्तुको सर्वथा नित्य माननेमें दोष आते हैं, वैसे ही उसे सर्वथा अनित्य माननेमें दोष आते हैं। जैसे एक कण्टक (पाँवमें चुभे) दूसरे कण्टकको निकालता है या नाश करता है, वैसे ही नित्यवादी और अनित्यवादी परस्पर दूषणोंको दिखाकर एक दूसरेका निराकरण करते हैं। अतएव जिनेन्द्र भगवान्‌का शासन अर्थात् अनेकान्त, बिना परिश्रमके ही विजयी है।

२. एवकारका मिथ्या प्रयोग अज्ञानसूचक है

स. म./२४/२९१/११ उक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमबुध्यैवाज्ञात्वैव एवकारोऽवधारणे। स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति। =इस प्रकार सप्तभंगीवादमें नाना अपेक्षाकृत विरोधाभावको न समझकर अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें स्थूल रूपसे दिखाई देनेवाले विरोधसे भयभीत होकर, अस्तित्व आदि धर्मोंमें नास्तित्व आदि धर्मोंका निषेध करनेवाले एवकारका अवधारण करना, उन एकान्तवादियोंमें सम्यग्ज्ञानका अभाव सूचित करता है। उनको लेशमात्र भी सम्यग्ज्ञानका सद्भाव नहीं है ऐसा व्यक्त करता है।

३. मिथ्या-एकान्तका कारण पक्षपात है

ध. १/१,१,३७/२२२/३ दोण्हं मज्झे एक्कस्सेव संगहे कीरमाणे वज्जभीरुत्तं विणट्ठत्ति । दोण्हं पि संगहं करेंताणमाइरियाणं वज्जभीरुत्ता-विणासादो । –दोनों प्रकारके वचनों या पक्षोंमें-से किसी एक ही वचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छ्रृ-ङ्खलता आ जाती है । अतएव दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करने-वाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती, अर्थात् बनी रहती है ।

४. मिथ्या एकान्तका कारण संकीर्ण दृष्टि है—

पं. वि./४/७ भूरिधर्मात्मकं तत्त्वं दुःश्रुतैर्मन्दबुद्धयः । जात्यन्धहस्ति-रूपेण ज्ञात्वा नश्यन्ति केचन ।७। –जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष हाथीके यथार्थ स्वरूपको नहीं ग्रहण कर पाता है, किन्तु उसके किसी एक ही अंगको पकड़ कर उसे ही हाथी मान लेता है, ठीक इसी प्रकारसे कितने हो मन्दबुद्धि मनुष्य एकान्तवादियोंके द्वारा प्ररूपित खोटे शास्त्रोंके अभ्याससे पदार्थको सर्वथा एकरूप ही मानकर उसके अनेक धर्मात्मक स्वरूपको नहीं जानते हैं और इसीलिए वे विनाश-को प्राप्त होते हैं ।

५. मिथ्या एकान्तमें दूषण

सं. स्तो./२४, ४२ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् । नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽ-स्ति ।२४। तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्, तथाप्रतीतेस्तव तत्क-थंचित् । नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च, विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।४२। –यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती, और न उसमें क्रिया कारककी ही योजना बन सकती है । जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता । दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ।२४। आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप है और कथंचित् तद्रूप नहीं है । क्योंकि, वैसे ही सत् असत् रूपकी प्रतीति होती है । स्वरूपादि चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर शून्य दोष आता है ।

न.च. वृ./६७ णिरवेक्खे एयन्ते संकरआदीहि ईसिया भावा । णो णिज-कज्जे अरिहा विवरीए ते वि खलु अरिहा ।६७। –निरपेक्ष-एकान्त माननेपर, इच्छित भी भाव, संकर आदि दोषोंके द्वारा अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । तथा सापेक्ष माननेपर वे ही समर्थ हो जाते हैं ।

प्र. सा./त. प्र./२७ एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्व-मात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभावि-नस्तस्याप्यभावः स्यात् । –यदि यह माना जाये कि एकान्तसे ज्ञान आत्मा है तो, (ज्ञान गुण ही आत्म द्रव्य हो जानेसे) ज्ञानका अभाव हो जायेगा, और (ऐसा होनेसे) आत्माके अचेतनता आ जायेगी, अथवा (सहभावी अन्य सुख वीर्य आदि) विशेषगुणोंका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायेगा । यदि यह माना जाये कि सर्वथा आत्मा ज्ञान है तो (आत्मद्रव्य एक ज्ञान गुण रूप हो जायेगा, इसलिए ज्ञानका कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा, अतः) । निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायेगा अथवा आत्माकी शेष पर्यायोंका अभाव हो जायेगा, और उनके साथ ही अविनाभाव सम्बन्धवाले आत्माका भी अभाव हो जायेगा ।

स. सा./आ./३४८/क. २०८ आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः, कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः । चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतैरात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ।२०८। –आत्माको सर्वथा शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धबौद्धोंने कालकी उपाधिके कारण भी आत्मामें अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर, शुद्ध ऋजुसूत्र नयमें रत होते हुए, चैतन्यको क्षणिक कल्पित करके, इस आत्माको छोड़ दिया; जैसे हारके सूत्र (डोरे) को न देखकर मात्र मोतियोंको ही देखनेवाले हारको छोड़ देते हैं ।

पं. वि./१/१३७ व्यापी नैव शरीर एव यदसावात्मा स्फुरत्यन्वहं, भूता-नन्वयतो न भूतजनितो ज्ञानी प्रकृत्या यतः । नित्ये वा क्षणिकेऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते, तत्रैकत्वमपि प्रमाणदृढया भेदप्रतीत्या-हतम् ।१३७। –आत्मा व्यापी नहीं है, क्योंकि, वह निरन्तर शरीरमें ही प्रतिभासित होता है । वह भूतोंसे उत्पन्न भी नहीं है, क्योंकि, उसके साथ भूतोंका अन्वय नहीं देखा जाता है, तथा वह स्वभावसे ज्ञाता भी है । उसको सर्वथा नित्य अथवा क्षणिक स्वीकार करनेपर उसमें किसी प्रकारसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती है । उसमें एकत्व भी नहीं है, क्योंकि, वह प्रमाणसे दृढ़ताको प्राप्त हुई भेदप्रतीति द्वारा बाधित है ।

६. मिथ्या एकान्त निषेधका प्रयोजन

रा. वा./हिं/८/१/५६८ तिनकूं नीके समझ मिथ्यात्वकी निवृत्ति होय, ऐसा उपाय करना । यथार्थ जिनागमकूं जान अन्यतमका प्रसंग छोड़ना । अरु अनादिसे पर्याय-बुद्धि जो नैसर्गिक मिथ्यात्व ताकूं छोड़ अपना स्वरूपको यथार्थ जान बन्धसूं निवृत्त होना ।

५. एकान्तमिथ्यात्व निर्देश

१. एकान्त मिथ्यात्वका लक्षण

स. सि./८/१/३७५/५ इदमेवेत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः । "पुरुष एवेदं सर्वम्" इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति । –यही है, इसी प्रकार है. धर्म और धर्मीमें एकान्तरूप अभिप्राय रखना एकान्त-मिथ्यादर्शन है । जैसे यह सब जग परब्रह्मरूप ही है । या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं । (रा. वा./८/१/२८/५६४/१८); (त. सा./५/४) ।

ध. ८/३,६/२०/३ अत्थि चेव, णत्थि चेव; एगमेव, अणेगमेव; सावयवं चेव, णिरवयवं चेव; णिच्चमेव, अणिच्चमेव; इच्चाइओ एयंताहि-णिवेसो एयंतमिच्छत्तं । –सत् ही है, असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है; सावयव ही है, निरवयव ही है; नित्य ही है, अनित्य ही है; इत्यादिक एकान्त अभिनिवेशको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं ।

सं.स्तो./टी./४१ स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वमित्याद्येकान्तः । –स्वरूप की भाँति पररूपसे भी सत् है, ऐसा मानना एकान्त है ।

२. ३६३ एकान्त-मिथ्यामत निर्देश

भा.पा./मू./१३५ असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणी वेणैया होंति बत्तीसा ।१३५। –क्रियावादियोंके १८०; अक्रियावादियोंके ८४; अज्ञानवादियोंके ६७; और वैनयिक वादियोंके ३२ भेद हैं । सब मिलकर ३६३ होते हैं । (स.सि./८/१/३७५/१० पर उद्धृत उपरोक्त गाथा); (रा.वा./८/१/८/५६१/३२); (ज्ञा./४/२२ में उद्धृत दो श्लोक); (ह. पु./१०/४७–४८); (गो.क./मू./८७६/१०६२); (गो.जी./जी.प्र./३६०/७७०)

३. एकान्त मिथ्यात्वके अनेकों भंग

रा.का./हि./८/१/५६४ (आप्तमीमांसाका सार) स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तपरीक्षाके अर्थ देवागम स्तोत्र (आप्त मीमांसा) रच्या है। तामैं सत्यार्थ आप्तका तौ स्थापन और असत्यार्थका निराकरणके निमित्त दश पक्ष स्थापी हैं—१. अस्ति-नास्ति; २. एक-अनेक; ३. नित्य-अनित्य; ४. भेद-अभेद; ५. अपेक्ष-अनपेक्ष; ६. दैव-पुरुषार्थ; ७. अन्तरंग-बहिरंग; ८. हेतु-अहेतु; ९. अज्ञानतै बन्ध और स्तोकज्ञानसे मोक्ष; १०. परकै दुःख और आपकै सुख करै तो पाप—परकै सुख अर आपकै दुःख करै तो पुण्य। ऐसे १० पक्ष विषै सप्त भंग लगाय ७० भंग भये। तिनिका सर्वथा एकान्त विषै दूषण दिखाये हैं। जाने ए कहे सो तौ आप्ताभास हैं, अर अनेकान्त साधै हैं ते दूषण रहित हैं। ते सर्वज्ञ वीतरागके भाषे हैं।

४. कुछ एकान्त दर्शनोंका निर्देश

श्वेताश्वरोपनिषद्/१/२ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषश्चेति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख-दुःखहेतोः ।२। —आत्माको सुख-दुःख स्वयं अपनेसे नहीं होते, बल्कि काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथिवी आदि चतुर्भूत, योनि, पुरुष व चित्त इन ९ बातोंके संयोगसे होता है, क्योंकि आत्मा सुख दुःख भोगनेमें स्वतंत्र नहीं है।

ध.९/४,१,४५/७६/२०८ पढमो अबंधयाणं बिदियो तेरासियाणं बोद्धव्वो। तदियो य णियदिपक्खे हवदि चउत्थो ससमयम्मि ।७६। —इसमें प्रथम अधिकार अबन्धकोंका, और द्वितीय त्रैराशिक अर्थात् आजीविकोंका जानना चाहिए। तृतीय अधिकार नियति पक्षमें और चतुर्थ अधिकार स्वसमयमें है।

रा.वा./८/१/वा./पृ. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा [मनु./५/३९] २२/५६३; अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः [मैत्रा०/६/३६]। २७/५६४; पुरुष एवेदं सर्व यच्च भूतं यच्च भव्यम् [ऋ.वे./१०/९०]। २७/५६४; पंक्ति ९।—; एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पाः अन्ये च संख्येया योज्याः ऊह्याः, परिणामविकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात्। २७/५६४ पंक्ति १४। —यज्ञार्थ ही पशुओंकी सृष्टि स्वयं स्वयंभू भगवान्ने की है [मनु./५/३९]; स्वर्गकी इच्छा करनेवालोंको अग्निहोत्र करना चाहिए [मैत्र/६/३६]; जो कुछ भी हो चुका है या होनेवाला है वह सर्व पुरुष ही है [ऋ.वे./१०/९०]; और इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक-मिथ्यादर्शनके विकल्प अन्य भी संख्यात रूपसे लगा लेने चाहिए। परिणामोंके भेदसे वे ही असंख्यात हैं और अनुभागके भेदसे वे ही अनन्त हैं।

ध.९/४,१,४५/पृ./पं. सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रपदैः ८८००००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्व निरात्मकं सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते। (२०७/४) त्रयीगतमिथ्यात्वसंख्याप्रतिपादिकेयं (२०८/३) —सूत्रअधिकारमें अठासी लाख ८८००००० पदों द्वारा पूर्वोक्त सब मतोंका निरूपण किया जाता है। इसके अतिरिक्त—जीव अबन्धक है; अलेपक है; अभोक्ता है; अकर्ता है; निर्गुण है; व्यापक है; अद्वैत है; जीव नहीं है; जीव (पृथिवी आदि चार भूतोंके) समुदायसे उत्पन्न होता है; सब नहीं है अर्थात् शून्य है; बाह्य पदार्थ नहीं हैं; सब निरात्मक हैं, सब क्षणिक हैं; सब अक्षणिक अर्थात् नित्य हैं; अथवा अद्वैत है; इत्यादि दर्शनभेदोंका भी इसमें निरूपण किया जाता है। यह त्रयीगत मिथ्यात्वके भेदोंका प्रतिपादक है।

गो.क./८७७,८८७-८९३,८९४/१०६३-१०७३; —१. कालवाद; २. ईश्वरवाद; ३. आत्मवाद; ४. नियतिवाद; ५. स्वभाववाद ।८७७। —६. अज्ञानवाद ।८८७। ७. विनयवाद ।८८८। ८. पौरुषवाद ।८९०। ९. दैववाद ।८९१। १०. संयोगवाद ।८९२। ११. लोकवाद ।८९३।

गो.क./मू./८९४/१०७३ जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ।८९४। —जितने वचनके मार्ग हैं तितने ही नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं तितने ही परसमय हैं।

षड्दर्शन समुच्चय/२,३ दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया। देवता तत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ।२। बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा। जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ।३। —मूल भेदोंकी अपेक्षा दर्शन छह हैं—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय।

५. जैनाभासी संघोंका निर्देश

नीतिसार/सोमदेवसूरि/९ गोपुच्छकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयः। निःपिच्छिकश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः। —गोपुच्छक, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय, निष्पिच्छ, ये पाँच जैनाभास कहे गये हैं (भो. पा./टी./६/७५ पर उद्धृत); (द.पा./टी./११/११ में उद्धृत); (द.सा./पृ.२४ पर उद्धृत)

द.सा./पृ.४१ पर उद्धृत "कष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः। तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ।१। श्री नन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः। लाड़बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ।२।" (सुरेन्द्रकीर्ति)। —पृथिवीपर कष्ठासंघ विख्यात है। उसे नर, सुर व असुर सब जानते हैं। उस संघमें चार गच्छ पृथिवी पर स्थित हैं—१. श्रीनन्दितट; २. माथुरगच्छ; ३. बागड़-गच्छ; ४. लाड़-बागड़ गच्छ।

६. अनेक मत परिचय सूची

नं.	नाम	मत	नं.	नाम	मत
१	अक्रियावाद	एकस्वतंत्रवाद	१५	ऐन्द्रदत्त	विनयवादी
२	अज्ञानवाद	,,	१६	औपमन्यु	,,
३	अद्वैतवाद	,,	१७	कणाद	असत्वादी
४	अनित्यवाद	,,	१८	कण्व	अज्ञानवादी
५	अभाववाद	,,	१९	कपिल	सांख्यदर्शन
६	अवक्तव्यवाद	,,	२०	काणोविद्ध	क्रियावादी
७	अश्वलायन	क्रियावादी	२१	कालवाद	एकस्वतंत्रवाद
८	अस्थूण	विनयवादी	२२	काष्ठासंघ	जैनाभास
९	आजीवक	त्रैराशिवाद	२३	कुथुमि	अज्ञानवादी
		एकस्वतंत्रदर्शन	२४	कौत्किल	क्रियावादी
१०	आत्मवाद	,,	२५	कौशिक	,,
११	ईश्वरवाद	,,	२६	गार्ग्य	अक्रियावादी
१२	उदयनाचार्य	वैशेषिक दर्शन	२७	गौतम	असत्कार्यवाद
१३	उलूकमत	अक्रियावादी	२८	चारित्रवाद	क्रियावाद
१४	एतिकायन	अज्ञानवादी	२९	चार्वाक मत	एक दर्शन

नं.	नाम	मत	नं.	नाम	मत
३०	जतुकर्ण	विनयवादी	६५	मोद	अज्ञानवादी
३१	जैमिनी	मीमांसक	६६	मौद्गलायन	अक्रियावा० बौद्ध
३२	तापस	विनयवादी	६७	याज्ञिक	एकमत
३३	त्रिवर्गतवाद	एकस्वतंत्रवाद	६८	यापनीय	जैनाभासी संघ
३४	त्रैराशिकवाद	,,	६९	योगमत	सांख्य दर्शन
३५	दर्शनवाद	श्रद्धानवाद	७०	रोमश	क्रियावादी
३६	दैववाद	एकस्वतंत्रवाद	७१	रोमहर्षिणी	विनयवादी
३७	द्रविड़ संघ	जैनाभास	७२	लोकवाद	एकवाद
३८	द्रव्यवाद	सांख्यदर्शन	७३	वल्कल	अज्ञानवादी
३९	नारायण	अज्ञानवादी	७४	वशिष्ठ	विनयवादी
४०	नास्तिक	चार्वाक	७५	वसु	अज्ञानवादी
४१	नित्यवाद	एकस्वतंत्रवाद	७६	वाल्मीकि	विनयवादी
४२	निमित्तवाद	परतंत्रवाद	७७	विज्ञानवाद	अद्वैतवाद
४३	नियतिवाद	एकस्वतंत्र वाद	७८	विनयवाद	एकवाद
४४	नैयायिक	एक दर्शन	७९	विपरीतवाद	मिथ्यात्वका एक भेद
४५	पाराशर	विनयवादी			
४६	पुरुषवाद	सांख्यमत	८०	वेदान्त	एक दर्शन
४७	पुरुषार्थ वाद	एकवाद	८१	वैयाकरणीय	वैशेषिक द०
४८	पूरण	मस्करीमत	८२	वैशेषिक	एक दर्शन
४९	पैप्पलाद	अज्ञानवादी	८३	व्याघ्रभूति	अक्रियावादी
५०	प्रकृतिवाद	सांख्य द०	८४	व्यास	
५१	प्रधानवाद	,,		एलापुत्र	विनयवादी
५२	बादरायण	अज्ञानवाद	८५	शब्दाद्वैत	अद्वैतवाद
५३	बौद्ध	एकदर्शन	८६	शिवमत	वैशेषिक
५४	ब्रह्मवाद	अद्वैतवाद	८७	शून्यवाद	बौद्ध
५५	भट्टप्रभाकर	मीमांसक	८८	श्रद्धानवाद	एक वाद
५६	भिल्लक	जैनाभासीसंघ	८९	संयोगवाद	,,
५७	मरीचि	क्रियावादी	९०	सत्यदत्त	विनयवादी
५८	मस्करी	अज्ञानवादी	९१	सदाशिववाद	सांख्य
५९	माठर	अक्रियावादी	९२	सम्यक्त्व वाद	श्रद्धानवाद
६०	माण्डलीक	क्रियावादी	९३	सांख्य	एक दर्शन
६१	माथुर	जैनाभासीसंघ	९४	स्वतंत्रवाद	एक वाद
६२	मध्यदिन	अज्ञानवादी	९५	स्वभाववाद	,,
६३	मीमांसा	एकदर्शन	९६	हरिमश्रु	क्रियावादी
६४	मुण्ड	क्रियावादी	९७	हारित	,,

एकान्तानुवृद्धि—१. एकान्तानुवृद्धि योग—स्थान—दे० योग/५; २. एकान्तानुवृद्धि संयम व संयमासंयम लब्धि स्थान —दे० लब्धि/५।

एकांतिक—प्र. सा./ता. वृ./५९/७७ एकान्तिकम् नियमेनेति। = एकान्तिक अर्थात् नियमसे।

एकाग्रचिंतानिरोध—स.सि./९/२७/४४४/६ अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्रः। नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। = 'अग्र' पदका अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखोंसे लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषयमें नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है। (चा. सा./१६६/६); (प्र. सा./त. प्र./१९१); (त. अनु./५७)।

रा.वा./९/२७/४–७/६२५/२५ (१) अत्र अग्रं मुखमित्यर्थः।३। अन्तःकरणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते।४।...गमनभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते। एकमग्रं मुखं यस्य सोऽयमेकाग्रः, चिन्ताया निरोधः चिन्तानिरोधः, एकाग्रे चिन्तानिरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः। कुतः पुनरसौ एकाग्रत्वेन चिन्तानिरोधः।५। यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते तथा निराकुले देशे वीर्यविशेषादवरुध्यमाना चिन्ता विना व्याक्षेपेण एकाग्रेणावतिष्ठते।६। (२) अथवा अङ्ग्यते इत्यग्रः अर्थ इत्यर्थः, एकमग्रं एकाग्रम्, एकाग्रे चिन्ताया निरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः। योगविभागान्मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः। एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वाऽर्थे चिन्तानियम इत्यर्थः।७।

रा. वा./९/२७/२०–२१/६२७/१ (३) अथवा, प्राधान्यवचने एकशब्द इह गृह्यते, प्रधानस्य पुंस आभिमुख्येन चिन्तानिरोध इत्यर्थः, अस्मिन्पक्षेऽर्थो गृहीतः।२०। (४) अथवा अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्, ततः स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।२१। —१. अग्र अर्थात् मुख, लक्ष्य। चिन्ता—अन्तःकरण व्यापार। गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओंमें भटकनेवाली चित्तवृत्तिका एक क्रियामें रोक देना निरोध है। जिस प्रकार वायुरहित प्रदेशमें दीपशिखा अपरिस्पन्द-स्थिर रहती है उसी तरह निराकुल देशमें एक लक्ष्यमें बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोकी गयी चित्तवृत्ति बिना व्याक्षेपके वहीं स्थिर रहती है, अन्यत्र नहीं भटकती। (चा. सा./१६६/६); (प्र. सा./त. प्र./१९६); (त. अनु./६३-६४);। २. अथवा अग्र शब्द 'अर्थ' (पदार्थ) वाची है, अर्थात् एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या अन्य किसी अर्थमें चित्तवृत्तिको केन्द्रित करना ध्यान है। ३. अथवा, अग्र शब्द प्राधान्यवाची है, अर्थात् प्रधान आत्माको लक्ष्य बनाकर चिन्ताका निरोध करना। (त. अनु./५७-५८)। ४. अथवा, 'अङ्गतीति अग्रम् आत्मा' इस व्युत्पत्तिमें द्रव्यरूपसे एक आत्माको लक्ष्य बनाना स्वीकृत ही है। ध्यान स्ववृत्ति होता है; इसमें बाह्य चिन्ताओंसे निवृत्ति होती है। (भ. आ./वि./१६९९/१५२१/१६); (त. अनु./६२-६५); (भा. पा. टी./७८/२२६/१)।

त. अनु./६०-६१ प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्तिनीम्। एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः।६०। तदास्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्। प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्ट-फलप्रदम्।६१। = जब विशुद्ध बुद्धिका धारक योगी नाना अवलम्बनोंमें वर्तनेवाली चिन्ताको खींचकर उसे एक आलम्बनमें ही स्थिर करता है—अन्यत्र जाने नहीं देता—तब उस योगीके 'चिन्ताका एकाग्र निरोधन' नामका योग होता है, जिसे प्रसंख्यान, समाधि और ध्यान भी कहते हैं और वह अपने इष्ट फलका प्रदान करनेवाला होता है। (पं. वि./४/६४)। —दे० ध्यान/१/२—अन्य विषयोंकी अपेक्षा असत् है पर स्वविषयकी अपेक्षा सत्।

★ **एकाग्र चिन्तानिरोधके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

एकानंत—(ज. प./प्र. १०५) Unidirecticnal finit.

एकावली व्रत—१. बृहद् विधि

कुल समय = १ वर्ष; कुल उपवास = ८४। विधि—एक वर्ष तक बराबर प्रतिमासकी शुक्ल० १, ५, ८, १४ तथा कृष्ण० ४, ८, १४ इन सात तिथियोंमें उपवास करे। इस प्रकार १२ महीनोंके ८४ उपवास करे।

—जाप्य मन्त्र—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (किशन सिंह क्रियाकोश); (व्रत विधान संग्रह पृ. ७६)।

२. लघु विधि

ह. पु./३४/६७—कुल समय=४८ दिन; कुल उपवास=२४; कुल पारणा=२४। विधि=किसी भी दिनसे प्रारम्भ करके १ उपवास एक पारणाके क्रमसे २४ उपवास पूरे करे। जाप्य मन्त्र=नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/७७)।

एकासंख्यात—दे० असंख्यात।

एकीभावस्तोत्र—आचार्य वादिराज सूरि (ई० १०००–१०४०) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित एक आध्यात्मिक स्तोत्र। इसमें २६ श्लोक हैं।

एकेन्द्रियजाति—नामकर्मकी एक प्रकृति—दे० जाति/१।

एकेन्द्रिय जीव—दे० इन्द्रिय/४।

एतिकायन—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

एर—(प. पु./२५/५५)। दशरथके रामचन्द्रजी आदि पुत्रोंका विद्या-गुरु।

एलाचार्य—१. उप आचार्य—दे० आचार्य/३। २. कुन्दकुन्दाचार्य-का अपर नाम। आपने 'कुरल काव्य' नामक ग्रन्थ रचा है जो तामिल वेद नामसे प्रसिद्ध है। (कुरल काव्य/प्र०। पं. गोविन्दराम शास्त्री झाँसी)। ३. षट्खण्डागमकी धवला टीकाके रचयिता आचार्य वीर-सेनके विद्यागुरु थे। आप चित्रकूटपुरके रहनेवाले थे। (ध. १/प्र. ३६, ३८)।

एलापुत्र व्यास—एक विनयवादी—दे० वैनयिक।

एलेय—(ह. पु./१७/श्लो. नं०) हरिवंशी राजा दक्षका पुत्र था।३। अपनी पुत्रीके साथ व्यभिचार करनेवाले अपने पिताके कुचारित्रसे ।१५। दुःखी हो अन्यत्र जाकर इलावर्धन ताम्रलिप्ति नाम नगर व माहिष्मती नामक नगरी बसायी। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। ।१६-२४।

एवंभूत नय—दे० नय III/८।

एवकार—१. एवकारके ३ भेद

ध./११/४,२,६,१७७/ श्लो.७-८/३१७/१० विशेषणविशेष्याभ्यां क्रियया च सहोदितः। पार्थो धनुर्धरो नीलं सरोजमिति वा यथा।७। अयोगम-परैर्योगमत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यति-रेचकः। =निपात अर्थात् एवकार व्यतिरेचक अर्थात् निवर्तक या नियामक होता है। विशेषण, विशेष्य और क्रियाके साथ कहा गया निपात क्रमसे अयोग, अपरयोग (अन्य योग) और अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करता है। जैसे—'पार्थो धनुर्धरः' और 'नीलं सरोजम्' इन वाक्योंके साथ प्रयुक्त एवकार। (अर्थात् एवकार तीन प्रकारके होते हैं—अयोगव्यवच्छेदक, अन्ययोगव्यवच्छेदक और अत्यन्ता-योगव्यवच्छेदक)। (स. भ. त./२५-२६)।

स. भ. त./२५/१ अयं चैवकारस्त्रिविधः—अयोगव्यवच्छेदबोधकः, अन्य-योगव्यवच्छेदबोधकः, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकश्च इति। =यह अवधारण वाचक एवकार तीन प्रकारका है—एक अयोगव्यवच्छेद-बोधक, दूसरा अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, और तीसरा अत्यन्ता-योगव्यवच्छेद-बोधक।

२. अयोगव्यवच्छेद बोधक एवकार

दे० 'एवकार' में ध./११ विशेषणके साथ कहा गया एवकार अयोगका अर्थात् सम्बन्धके न होनेका व्यवच्छेद या व्यावृत्ति करता है।

स. भ. त./२५/३ तत्र विशेषणसंगतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदो नाम—उद्देश्यतावच्छेदकस-मानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम्। प्रकृते चोद्देश्यतावच्छेदकं शङ्खत्वं, शङ्खत्वावच्छिन्नमुद्दिश्य पाण्डुरत्वस्य विधानात्. तथा च शङ्खत्वसमाना-धिकरणो योऽत्यन्ताभावः न तावत्पाण्डुरत्वाभावः, किन्त्वन्याभावः। =विशेषणके साथ अन्वित या प्रयुक्त एवकार तो अयोगकी निवृत्तिका बोध करानेवाला होता है, जैसे 'शङ्खः पाण्डुर एव' शंख श्वेत ही होता है। इस वाक्यमें उद्देश्यतावच्छेदकके समानाधिकरणमें रहनेवाला जो अभाव उसका जो अप्रतियोगी उसको अयोग व्यवच्छेद कहते हैं। जिस वस्तुका अभाव कहा जाता है, वह वस्तु उस अभावका प्रति-योगी होता है और जिनका अभाव नहीं है वे उस अभावके अप्रति-योगी होते हैं। अब यहाँ प्रकृत प्रसंगमें उद्देश्यताका अवच्छेदक धर्म शंखत्व है, क्योंकि शंखत्व धर्मसे अवच्छिन्न जो शंख है उसको उद्देश्य करके पाण्डुत्व धर्मका विधान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उद्देश्यतावच्छेदक शंखत्व नामका धर्म शंखरूप अधिकरणमें रहता है; उसमें पाण्डुत्वका अभाव तो है नहीं क्योंकि वह तो पाण्डुवर्ण ही है। इसलिए वह उस शंखमें रहने वाले अभावका अप्रतियोगी हुआ। उसके अयोग अर्थात् असम्बन्धकी निवृत्तिका बोध करनेवाला एवकार यहाँ लगाया गया है। क्रमशः—

स.भ.त./२७/४ प्रकृतेऽयोगव्यवच्छेदकस्यैवकारस्य स्वीकृतत्वात्। क्रिया-सङ्गस्यैवकारस्यापि क्वचिदयोगव्यवच्छेदबोधकत्वदर्शनात्। यथा ज्ञानमर्थं गृह्णात्येवेत्यादौ ज्ञानत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियो-गित्वस्यार्थग्राहकत्वे धात्वर्थे बोधः। =प्रकृत (स्यादस्त्येव घटः') में यद्यपि एवकार क्रियाके साथ प्रयोग किया गया है, विशेषणके साथ नहीं, परन्तु यह अयोग-व्यवच्छेदक ही स्वीकार किया गया है। कहीं-कहीं क्रियाके साथ संगत एवकार भी अयोगव्यवच्छेदबोधक अर्थमें देखा जाता है। जैसे—'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' ज्ञान किसी न किसी अर्थको ग्रहण करता ही है इत्यादि उदाहरणमें उद्देश्यतावच्छेदक ज्ञानत्व धर्मके समानाधिकरणमें रहनेवाला जो अत्यन्ताभाव है उसका अप्रतियोगी जो अर्थग्राहकत्व धर्म है उस रूप धात्वर्थका बोध होता है। परन्तु सर्वथा क्रियाके साथ एवकारका प्रयोग अयोगव्यवच्छेद बोधक नहीं होता, जैसे 'ज्ञान रजतको ग्रहण करता ही है' इस उदाहरणमें, सब ही ज्ञानोंके रजतग्राहकत्वका सद्भाव न पाया जानेसे और किसी-किसी ज्ञानमें उसका सद्भाव भी होनेसे यह प्रयोग अत्यन्ताभाव व्यवच्छेद बोधक है न कि अयोग-व्यवच्छेद बोधक। (न्यायकुमुद चन्द्र/भाग २/पृ. ६९३)

३. अन्ययोगव्यवच्छेद बोधक एवकार

दे. 'एवकार' में ध. ११/ विशेष्यके साथ कहा गया एवकार अन्ययोगका व्यवच्छेद करता है; जैसे—'पार्थ ही धनुर्धर है', अर्थात् अन्य नहीं।

स.भ.त./२६/१ विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः। यथा—पार्थ एव धनुर्धरः इति। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नता-दात्म्यादिव्यवच्छेदः। तत्रैवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्नः पार्थ इति बोधः।" =विशेष्यके साथ संगत जो एवकार है वह अन्य-योगव्यवच्छेदरूप अर्थका बोध कराता है; जैसे—'पार्थ एव धनुर्धरः' धनुर्धर पार्थ ही है इस उदाहरणमें एवकार अन्ययोगके व्यवच्छेदका बोधक है। इस उदाहरणमें एवकार शब्दसे पार्थसे अन्य पुरुषमें रहनेवाला जो तादात्म्य वह धनुर्धरमें बोधित होता है। अर्थात् पार्थसे अन्य व्यक्तिमें धनुर्धरत्व नहीं है; ऐसा अर्थ होता है। यहाँपर धनुर्धरत्वका पार्थसे अन्यमें सम्बन्धके व्यवच्छेदका बोधक पार्थ इस विशेष्य पदके आगे एव शब्द लगाया गया है। (न्यायकुमुद-चन्द्र/भाग २/पृ. ६९३)

७. अत्यन्तायोगव्यवच्छेद बोधक एवकार

दे. 'एवकार' में ध./११ क्रियाके साथ कहा गया एवकार अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करता है। जैसे—सरोज नील होता ही है।

स.भ.त./२६/४ क्रियासंगतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति। अत्यन्तायोगव्यवच्छेदो नाम—उद्देश्यताव्यवच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वम्। प्रकृते चोद्देश्यतावच्छेदकं सरोजत्वम्, तद्धर्मावच्छिन्ने नीलाभेदरूपधात्वर्थस्य विधानात्। सरोजत्वव्यापको योऽत्यन्ताभावः तावन्नीलाभेदाभावः, कस्मिंश्चित्सरोजे नीलाभेदस्यापि सत्त्वात्, अपि त्वन्याभावः, तदप्रतियोगित्वं नीलाभेदे वर्तते इति सरोजत्वव्यापकात्यन्ताभावाप्रतियोगिनीलाभेदवत्सरोजमित्युक्तस्थले बोधः। —क्रियाके संगत जो एवकार है वह अत्यन्त अयोगके व्यवच्छेदका बोधक है। जैसे—'नीलं सरोजं भवत्येव' कमल नील होता ही है। उद्देश्यता-अवच्छेदक धर्मका व्यापक जो अभाव उस अभावका जो अप्रतियोगी उसको अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहते हैं। उपरोक्त उदाहरणमें उद्देश्यतावच्छेदक धर्म सरोजत्व है, क्योंकि उसीसे अवच्छिन्न कमलको उद्देश्य करके नीलत्वका विधान है। सरोजत्वका व्यापक जो अभाव है वह नीलके अभेदका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि किसी न किसी सरोजमें नीलका अभेद भी है। अतः नीलके अभेदका अभाव सरोजत्वका व्यापक नहीं है, किन्तु अन्य घटादिक पदार्थोंका ज्ञान सरोजत्वका व्यापक है। उस अभावकी प्रतियोगिता घट आदिमें है और अप्रतियोगिता नीलके अभेदमें है। इस रीतिसे सरोजत्वका व्यापक जो अत्यन्ताभाव उस अभावका अप्रतियोगी जो नीलाभेद उस अभेद सहित सरोज है ऐसा इस स्थानमें अर्थ होता है (भावार्थ यह है कि जहाँपर अभेद रहेगा वहाँ पर अभेदका अभाव नहीं रह सकता। इसलिए सरोजत्व व्यापक अत्यन्ताभावका अप्रतियोगी नीलका अभेद हुआ और उस नीलके अभेदसे युक्त सरोज है, ऐसा अर्थ है। (न्यायकुमुदचन्द्र/भाग २/पृ. ६९३)

*** एवकार पदकी सम्यक् व मिथ्या प्रयोगविधि** —दे. एकान्त/२

ऐशान—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद —दे. स्वर्ग/१। २. इन देवोंका लोकमें अवस्थान—दे० स्वर्ग/५। ३. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

एषणा—ध. १३/५,४,२६/५५/२ किमेसणं, असण-पाण-खादिय-सादियं। —प्रश्न—ऐषणा किसे कहते हैं। उत्तर—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इनका नाम एषणा है। २. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। ३. वस्तिकाका एक दोष—दे० 'वस्तिका'। ४. आहार सम्बन्धी विषय —दे० आहार।

लोकेषणा—दे० राग/४।

एषणा-शुद्धि—दे० शुद्धि।

एषणा-समिति—दे० समिति/१।

एसोदस व्रत—कुल समय—६५० दिन; कुल उपवास—५५०; कुल पारणा—१००। विधि—पहले एक वृद्धि क्रमसे १ से लेकर १० उपवास तक करे। फिर एक हानि क्रमसे १० से लेकर १ उपवास तक करे। बीचमें एक एक पारणा करे। यन्त्र—१ उपवास, १ पारणा; २ उपवास, एक पारणा; ३ उपवास एक पारणा; इसी प्रकार ४-१; ५-१; ६-१; ७-१; ८-१; ९-१; १०-१ १०-१; ९-१; ८-१; ७-१; ६-१; ५-१; ४-१; ३-१; २-१; १/ यह सर्व विधि दस बार करनी (वर्धमान पु.)। (व्रतविधान सं. पृ. १००)

एसोनव—कुल समय—४८५ दिन; कुल उपवास—४०५; कुल पारणा ८१; विधि—उपरोक्त एसोदसवत् ही है। अन्तर इतना है कि वृद्धि व हानि क्रम १-९ व ९-१ तक जानना। तथा १० की बजाय ९ बार दुहराना। जाप्य मन्त्र—नमोकार मन्त्रका तीन बार जाप्य करना। (वर्द्धमान पुराण)। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ९९)

ऐ

ऐतिह्य—इतिहासका एकार्थवाची —दे० इतिहास/१।

ऐरावत—१. शिखरी पर्वतका एक कूट व उसका स्वामी देव —दे० लोक/७; २. पद्म ह्रदके वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक/७; ३, उत्तरकुरुके दस द्रहोंमें-से दो द्रह —दे० लोक/७।

ऐरावत क्षेत्र—रा.वा./३/१०/२०/१८१/२६ रक्तारक्तोदयोः बहुमध्यदेशभाविनी अयोध्या नाम नगरी। तस्यामुत्पन्न ऐरावतो नाम राजा। तत्परिपालत्वाज्जनपदस्यैरावताभिधानम्। —रक्ता तथा रक्तोदा नदियोंके बीच अयोध्या नगरी है। इसमें एक ऐरावत नामका राजा हुआ है। उसके द्वारा परिपालित होनेके कारण इस क्षेत्रका नाम ऐरावत पड़ा है। ऐरावत क्षेत्रका लोकमें अवस्थानादि—दे० लोक/३,७।

*** ऐरावत क्षेत्रमें काल परिवर्तन आदि**—दे० 'भरत क्षेत्र'।

ऐरावत हाथी—ति. प. ८/२७८-२८४ सक्कदुगम्मि य वाहणदेवा एरावदणाम हत्थि कुव्वंति। विक्किरियाओ लक्खं उच्छेहं जोयणा दीहे।२७८। एदाणं बत्तीसं होंति मुहा दिव्वरयणदामजुदा। पुह रुणंति किंकिणिकोलाहलसद्दकयसोहा।२७९। एक्केक्कमुहे चंचलचंदुज्जलचमरचारुरूवम्मि। चत्तारि होंति दंता धवला वररयणभरखचिदा।२८०। एक्केक्कम्मि विसाणे एक्केक्कसरोवरो विमलवारी। एक्केक्कसरोवरम्मि य एक्केक्कं कमलवणसंडा।२८१। एक्केक्ककमलसंडे बत्तीस विकस्सरा महापउमा। एक्केक्क महापउमं एक्केक्क जोयणं पमाणेणं।२८२। वरकंचणकयसोहा वरपउमा सुरविकुव्वणबलेणं। एक्केक्क महापउमे णाडयसाला य एक्केक्का।२८३। एक्केक्काए तीए बत्तीस वरच्छरा पणच्चंति। एवं सत्ताणीया णिद्दिट्ठा बारसिंदाणं।२८४। =सौधर्म और ईशान इन्द्रके वाहन देव विक्रियासे एक लाख उत्सेध योजन प्रमाण दीर्घ ऐरावत नामक हाथीको करते हैं।२७८। इनके दिव्य रत्नमालाओंसे युक्त बत्तीस मुख होते हैं जो घण्टिकाओंके कोलाहल शब्दसे शोभायमान होते हुए पृथक्-पृथक् शब्द करते हैं।२७९। चंचल एवं चन्द्रके समान उज्ज्वल चमरोंसे सुन्दर रूपवाले एक-एक मुखमें रत्नोंके समूहसे खचित धवल चार दाँत होते हैं।२८०। एक-एक हाथी दाँत पर निर्मल जलसे युक्त एक-एक सरोवर होता है। एक-एक सरोवरमें एक-एक उत्तम कमल वनखण्ड होता है।२८१। एक-एक कमलखण्डमें विकसित ३२ महापद्म होते हैं। और एक-एक महापद्म एक-एक योजन प्रमाण होता है।२८२। देवोंके विक्रिया बलसे वे उत्तम कमल उत्तम सुवर्णसे शोभायमान होते हैं। एक-एक महापद्मपर एक-एक नाट्यशाला होती है।२८३। उस एक-एक नाट्यशालामें उत्तम बत्तीस-बत्तीस अप्सराएँ नृत्य करती हैं।२८४। (म. पु./१२/३२-५६); (ज. प./४/२५३-२६१)।

ऐलक—वसु.श्रा/३०१, ३११ एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ।३०१। एमेव होइ बिदिओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण। लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि।३११। —ग्यारहवें प्रतिमा स्थानमें गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं—प्रथम एक वस्त्रका रखनेवाला और दूसरा कोपीन मात्र परिग्रहवाला।३०१। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक) के समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है। केवल विशेष यह है कि उसे नियमसे केशोंका लोंच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्रमें खाना चाहिए।३११। (सा. ध./७/४८-४९)।

ला. सं./७/५५-६२ उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा—एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ।५५। तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम् । लोचं श्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ।।५६। पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा । सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ।५७। कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमी क्रिया । विद्यते चैलकस्यास्य दुर्धरं व्रतधारणम् ।५८। तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसंनिधौ । निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ।५९। पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् । ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ।६०। ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया । द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ।६१। दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् । तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि चाचरेत् ।६२। =उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारका होता है– एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक । इन दोनोंके कर्मकी निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती रहती है ।५५। ऐलक केवल कौपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है । दाढ़ी, मूँछ और मस्तकके बालोंका लोंच करता है और पीछी कमण्डलु धारण करता है ।५६। इसके सिवाय सर्व साधारण पुस्तक आदि धर्मोपकरणोंको भी धारण करता है । परन्तु ईषत् सावद्यके भी कारणभूत पदार्थोंको लेशमात्र भी अपने पास नहीं रखता है ।५७। कौपीन मात्र उपधिके अतिरिक्त उसकी समस्त क्रियाएँ मुनियोंके समान होती हैं तथा मुनियोंके समान ही वह अत्यन्त कठिन-कठिन व्रतोंको पालन करता है ।५८। यह या तो किसी चैत्यालयमें रहता है, या मुनियोंके संघमें रहता है अथवा किसी मुनिराजके समीप वनमें रहता है अथवा किसी भी सूने मठमें वा अन्य किसी भी निर्दोष और शुद्ध-स्थानमें रहता है ।५९। पूर्वोक्त क्रमसे समस्त क्रियाएँ करता है तथा दोपहरसे कुछ समय पहले सावधान होकर नगरमें जाता है ।६०। ईर्यासमितिसे जाता है तथा घरोंकी संख्याका नियम भी लेकर जाता है । पात्रस्थानीय अपने हाथोंमें ही आहार लेता है ।६१। बिना किसी छल-कपटके मोक्षका कारणभूत धर्मोपदेश देता है । तथा बारह प्रकारका तपश्चरण पालन करता है । कदाचित् व्रतादिमें दोष लग जानेपर प्रायश्चित्त लेता है ।६२।

२. ऐलक पद व शब्दका इतिहास

वसु. श्रा./प्र. ६३/१८/H. L. Jain इस 'ऐलक' पदके मूल रूपकी ओर गम्भीर दृष्टिपात करनेपर यह भ० महावीरसे भी प्राचीन प्रतीत होता है । *भगवती आराधना, मूलाचार आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें* दिगम्बर साधुओंके लिए अचेलक पदका व्यवहार हुआ है । पर भगवान् महावीरके समयसे अचेलक साधुओंके लिए नग्न, *निर्ग्रन्थ* और दिगम्बर शब्दोंका प्रयोग बहुलतासे होने लगा । स्वयं बौद्ध-ग्रन्थोंमें जैन-साधुओंके लिए 'निग्गंठ' या 'णिगंठ' नामका प्रयोग किया गया है, जिसका कि अर्थ निर्ग्रन्थ है । अभीतक नञ् समासका अर्थ प्रतिषेधपरक अर्थात् 'न+चेलकः=अचेलकः' अर्थ लिया जाता था । पर जब नग्न साधुओंको स्पष्ट रूपसे दिगम्बर व निर्ग्रन्थ आदि रूपसे व्यवहार होने लगा तब नञ् समासके ईषत् अर्थका आश्रय लेकर 'ईषत्+चेलकः=अचेलकः' का व्यवहार प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है । जिसका कि अर्थ नाममात्रका वस्त्र धारण करनेवाला होता है । ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीसे प्राकृतके स्थानपर अपभ्रंश भाषाका प्रचार प्रारम्भ हुआ और अनेक शब्द सर्वसाधारणके व्यवहारमें कुछ भ्रष्ट रूपसे प्रचलित हुए । इसी समयके मध्य 'अचेलक' का स्थान 'ऐलक' पदने ले लिया । जो कि प्राकृत व्याकरणके नियमसे भी सुसंगत बैठ जाता है । क्योंकि, प्राकृतमें 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' (हैम. प्रा. १. १७७) इस नियमके अनुसार 'अचेलक' के चकारका लोप हो जानेसे 'अ, ए, ल, क' पद अवशिष्ट रहता है । यही (अ+ए=ऐ) सन्धिके योगसे 'ऐलक' बन गया । उक्त विवेचनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि 'ऐलक' पद भले ही अर्वाचीन हो, पर उसका मूल रूप 'अचेलक' शब्द बहुत प्राचीन है । इस प्रकार ऐलक शब्दका अर्थ नाममात्रका वस्त्रधारक अचेलक होता है, और इसकी पुष्टि आ० समन्तभद्रके द्वारा ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके लिए दिये गये 'चेलखण्डधरः' (वस्त्रका एक खण्ड धारण करनेवाला) पदसे भी होती है ।

★ क्षुल्लक व ऐलकमें अन्तर तथा इन दोनों भेदोंका इतिहास व समन्वय—दे० क्षुल्लक/२ ।

★ उद्दिष्ट त्याग सम्बन्धी—दे० उद्दिष्ट ।

ऐश्वर्य मद—दे० मद ।

ओ

ओघ—ध. १/१,१.८/१६०/२ ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः । =ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है ।

ध. ३/१,२,१/९/२ ओघं वृन्दं समूहः संघातः समुदयः पिण्डः अविशेषः अभिन्नः सामान्यमिति पर्यायशब्दाः । गत्यादि मार्गणस्थानैरविशेषितानां चतुर्दशगुणस्थानानां प्रमाणप्ररूपणमोघनिर्देशः । =ओघ, वृन्द, समूह, संघात, समुदय, पिण्ड, अविशेष, अभिन्न और सामान्य ये सब पर्यायवाची शब्द हैं । इस ओघनिर्देशका प्रकृतमें स्पष्टीकरण इस प्रकार हुआ कि गत्यादि मार्गणा स्थानोंसे विशेषताको नहीं प्राप्त हुए केवल चौदहों गुणस्थानोंके अर्थात् चौदहों गुणस्थानवर्ती जीवोंके प्रमाणका प्ररूपण करना ओघनिर्देश है ।

गो. जी./मू./३/२३ संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा । *वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा* ।३। =संक्षेप तथा ओघ ऐसी गुणस्थानकी संज्ञा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत मार्गविषैं रूढ है । बहुरि सो संज्ञा 'मोहयोगभवा' कहिए दर्शन व चारित्र मोह वा मन वचन काय योग तिनिकरि उपजी है । बहुरि तैसे ही विस्तार आदेश ऐसी *मार्गणास्थानकी संज्ञा है* । सो अपने-अपने कारणभूत कर्मके उदयतै हो है ।

ओघालोचना—दे० आलोचना/१ ।

ओज—शरीरमें शुक्र नामकी धातुका नाम तथा औदारिक शरीरमें इसका प्रमाण—दे० औदारिक/१ ।

ध. १०/४,२,४,३/२२/१ जो रासी चदुहि अवहिरिज्जमाणो दोरूवग्गो होदि सो बादरजुम्मं । जो एगग्गो सो कलियोजो । जो तिग्गो सो तेजोजो । उक्तं च—चोद्दस बादरजुम्मं सोलस कदजुम्ममेत्थ कलियोजो । तेरस तेजोजो खलु पण्णरसेवं खु विण्णेया ।३। =जिस राशिको चारसे अवहृत (भाग) करनेपर दो रूप शेष रहते हैं वह बादरयुग्म कही जाती है । जिसको चारसे अवहृत करनेपर एक अंश शेष रहता है वह कलिओज-राशि है । और जिसको चारसे अवहृत करनेपर तीन अंश शेष रहते हैं वह तेजोज-राशि है । कहा भी है—यहाँ चौदहको बादरयुग्म, सोलहको कृतयुग्म, तेरहको कलिओज और पन्द्रहको तेजोज राशि जानना चाहिए । (क्योंकि १४=(४×३)+२; १६=(४×४)+०; १३=(४×३)+१; १५=(४×३)+३.) ।

ओजाहार—दे० आहार I/१ ।

ओद्दावण—ध. १३/५,४,२२/४६/११ जीवस्य उपद्रवणं ओद्दावणं णाम =जीवका उपद्रवण करना ओद्दावण कहलाता है ।

ओम्—१. पंच परमेष्ठीके अर्थमें

द्र. सं./टी./४९/२०७/११ 'ओं' एकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम् । तत्कथमिति चेद् "अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणा । पढमक्खरणिप्पण्णो ॐकारो पंच परमेट्ठी ।१।" इति गाथा-कथितप्रथमाक्षराणां 'समानः सवर्णे दीर्घीभवति' 'परश्च लोपम्' 'उवर्णे ओ' इति स्वरसन्धिविधानेन ओं शब्दो निष्पद्यते । –'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियोंके आदि पदस्वरूप है । प्रश्न–'ओं' यह परमेष्ठियोंके आदि पदरूप कैसे है ? उत्तर–अरहंतका प्रथम अक्षर 'अ', *सिद्ध या अशरीरीका प्रथम अक्षर 'अ'*, आचार्यका प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्यायका प्रथम अक्षर 'उ', मुनिका प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पाँचों परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षरोंसे सिद्ध जो ओंकार है वही पंच परमेष्ठियोंके समान है । इस प्रकार गाथामें कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ म्) हैं । इनमें पहले 'समानः सवर्णे दीर्घीभवति' इस सूत्रसे 'अ अ' मिलकर दीर्घ 'आ' बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे पर अक्षर 'आ' का लोप करके अ अ आ इन तीनोंके स्थानमें एक 'आ' सिद्ध किया । फिर 'उवर्णे ओ' इस सूत्रसे 'आ उ' के स्थानमें 'ओ' बनाया । ऐसे स्वरसन्धि करनेसे 'ओम्' यह शब्द सिद्ध होता है ।

२. परं ब्रह्मके अर्थमें

वैदिक साहित्यमें अ+उ+ँ इस प्रकार अढाई मात्रासे निष्पन्न यह पद सर्वोपरि व सर्वस्व माना गया है । सृष्टिका कारण शब्द है और शब्दोंकी जननी मातृकाओं (क. ख. आदि) का मूल होनेसे यह सर्व सृष्टिका मूल है । अत: परब्रह्मस्वरूप है ।

३. भगवद्वाणीके अर्थमें

उपरोक्त कारणसे ही अर्हन्त वाणीको जो कि ॐकार ध्वनि मात्र है, सर्व भाषामयी माना गया है (दे० दिव्यध्वनि) ।

४. तीन लोकके अर्थमें

अ–अधोलोक, उ–ऊर्ध्वलोक और म–मध्यलोक । इस प्रकारकी व्याख्याके द्वारा वैदिक साहित्यमें इसे तीन लोकका प्रतीक माना गया है ।

जैनाम्नायके अनुसार भी ॐकार त्रिलोकाकार घटित होता है । आगम-में तीन लोकका आकार ऐसा है, अर्थात तीन वातवलयोंसे वेष्टित पुरुषाकार, जिसके ललाट पर अर्द्धचन्द्राकारमें बिन्दु-रूप सिद्धलोक शोभित होता है । बीचो-बीच हाथीके सूंडवत् त्रसनाली है । यदि उसी आकारको जल्दीसे लिखनेमें आवे तो 'ॐ' ऐसा लिखा जाता है । इसीको कलापूर्ण बना दिया जाये तो 'ॐ' ऐसा ओंकार त्रिलोकका प्रतिनिधि स्वयं सिद्ध हो जाता है । यही कारण है कि भेदभावसे रहित भारतके सर्व ही धर्म इसको समान रूपसे उपास्य मानते हैं ।

५. प्रदेशापचयके अर्थमें

ध. १०/४,२,४,३/२३/६ सिया ओमा, कयाइं पदेसाणमवचयदंसणादो । –(ज्ञानावरणकर्मका द्रव्य) स्यात 'ओम्' है, क्योंकि कदाचित प्रदेशोंका अपचय देखा जाता है ।

६. नो ओम् नो विशिष्ट

ध. १०/४,२,४,३/२३/७ सिया णोमणोविसिट्ठापादेक्कं पदावयवे णिरुद्धे हाणीणमभावादो । –(ज्ञानावरणका द्रव्य) स्यात नो ओम् नोविशिष्ट है; क्योंकि, प्रत्येक पदभेदकी विवक्षा होनेपर वृद्धि-हानि नहीं देखी जाती है ।

ओलिक—मध्य-आर्य-खण्डका एक देश/—दे० मनुष्य/४ ।

औ

औंड्र—भरतक्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

औदयिक भाव—दे० उदय/६ ।

औदारिक—तिर्यंच व मनुष्योंके इस इन्द्रिय गोचर स्थूल शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं और इसके निमित्तसे होनेवाला आत्म-प्रदेशोंका परिस्पन्दन औदारिक-काययोग कहलाता है । शरीर धारण के प्रथम तीन समयोंमें जब तक इस शरीरकी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो जाती तब तक इसके साथ कार्माणशरीरकी प्रधानता रहनेके कारण शरीर व योग दोनों मिश्र कहलाते हैं ।

१. औदारिक शरीर निर्देश

१. औदारिक शरीरका लक्षण

ष.खं. १४/५,६/ सूत्र २३७/३२२ णामणिरुत्तीए उरालमिदि ओरालिय ।२३७। =नामनिरुक्तिकी अपेक्षा उराल है इसलिए औदारिक है।

स. सि./२/३६/१९१/५ उदारं स्थूलम्। उदारे भवं उदारं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। =उदार और स्थूल ये एकार्थवाची शब्द हैं। उदार शब्दसे होने रूप अर्थमें या प्रयोजनरूप अर्थमें ठक् प्रत्यय होकर औदारिक शब्द बनता है। (रा.वा./२/३६/५/१४६/५) (और भी दे० आगे औदारिक/२/१)।

ध. १/१,१,५६/२९०/२ उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम्। अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिकशरीरस्य। कथमेतदवगम्यते। वर्गणासूत्रात्। किं तद्वर्गणासूत्रमिति चेदुच्यते 'सव्वत्थोवा ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणापदेसा,...' /न, अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः। यथा 'सव्वत्थोवा कम्मइय-सरीर-दव्ववग्गणाए ओगाहणा...ओरालिय-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा त्ति। =उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके वाचक हैं। उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। प्रश्न—औदारिक शरीर महान् है यह बात नहीं बनती है। प्रतिप्रश्न—यह कैसे जाना। उत्तर—वर्गणासूत्रसे यह बात मालूम पड़ती है। प्रतिप्रश्न—यह वर्गणा सूत्र कौन-सा है। उत्तर—वह वर्गणा-सूत्र इस प्रकार है, 'औदारिक शरीरद्रव्य सम्बन्धी वर्गणाओंके प्रदेश सबसे थोड़े हैं।'... इत्यादि। उत्तर—प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी स्थूलता बन जाती है। जैसे कहा भी है—'कार्माण शरीर सम्बन्धी द्रव्यवर्गणाकी अवगाहना सबसे सूक्ष्म है। (इसके पश्चात् अन्य शरीरों सम्बन्धी द्रव्य वर्गणाओंकी अवगाहनाएँ क्रमसे असंख्यात असंख्यात गुणी हैं। और अन्तमें) औदारिक शरीर सम्बन्धी-द्रव्य-वर्णाकी अवगाहना इससे असंख्यात गुणी है।

ष. १४/५,६,२३७/३२२/५ उरालं थूलं बहु महल्लमिदि एयट्ठो। कुदो उरालत्तं, ओगाहणाए। सेससरीराणं ओगाहणाए एदस्स सरीरस्स ओगाहणा बहुआ त्ति ओरालियसरीरमुराले त्ति गहिदं। कुदो बहुत्त-मवगम्मदे। महामच्छोरालियसरीरस्स पंचजोयणसदविक्खंभेण जोयणसहस्सायामदंसणादो।...अथवा सेससरीराणं वग्गणोऽगाहणादो ओरालियसरीरस्स वग्गणओगाहणा बहुआ त्ति ओरालियवग्गणाण-मुरालमिदि सण्णा। =उराल, वृत्त, स्थूल और महान् ये एकार्थवाची शब्द हैं। प्रश्न—यह उराल क्यों है। उत्तर—अवगाहनाकी अपेक्षा उराल है। शेष शरीरोंकी अवगाहनासे इस शरीरकी अवगाहना बहुत है, इसलिए औदारिक शरीर उराल है। प्रश्न—इसकी अवगाहनाके बहुत्वका ज्ञान कैसे होता है। उत्तर—क्योंकि, महामत्स्यका औदारिक शरीर पाँचसौ योजन विस्तारवाला और एक हजार योजन आयामवाला देखा जाता है।...अथवा शेष शरीरोंकी वर्गणाओंकी अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी वर्गणाओंकी अवगाहना बहुत है, इसलिए औदारिक शरीरकी वर्गणाओंकी उराल ऐसी संज्ञा है।

२. औदारिक शरीरके भेद

ध. १/१,१,५८/२९६/१० औदारिक शरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति। =औदारिक शरीर दो प्रकारका है—विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक। (ध. ९/४,१,६९/३२८/१)।

३. औदारिक शरीरका स्वामित्व

त. सू./२/४५ गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ।४५। =पहला (औदारिक शरीर) गर्भ और संमूर्च्छन जन्मसे पैदा होता है।

स.सि./२/४५/१९७/१ यद्द गर्भजं यच्च संमूर्छनजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम्। =जो शरीर गर्भ—जन्मसे और संमूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है वह सब औदारिक शरीर है, यह इस सूत्रका तात्पर्य है। (रा.वा./२/४५/१५१/१८)

रा.वा./२/४९/८/१५३/२३ औदारिकं तिर्यङ्मनुष्याणाम्। =तिर्यंच और मनुष्योंको औदारिक शरीर होता है।

४. औदारिक शरीरके प्रदेशाग्रका स्वामित्व

१, औदारिक शरीरके उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशाग्रोंके स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणा—दे० (ष.खं./१४/५,६/सूत्र ४१७-४३०/३९७-४११)

२. औदारिक शरीरके जघन्य व अजघन्य प्रदेशाग्रोंके स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणा —दे० (ष.खं./१४/५,६/सूत्र ४७१-४८२/४२३-४२४)

५. षट्कायिक जीवोंके शरीरोंका आकार

मू.आ./१०८९ मसुरिय कुसग्गबिंदू सूइकलावा पडाय संठाणं। कायाणं संठाणं हरिदतसा णेगसंठाणा ।१०८९। =पृथिवीकायिकके शरीरका आकार मसूरके आकारवत्; अपकायिकका डाभके अग्रभागमें स्थित जलबिन्दुवत्; तेजकायिकका सूचीसमुदायवत् अर्थात् ऊर्ध्व बहुमुखाकार; वायुकायिकका ध्वजावत् आयत, चतुरस्र आकार है। सब वनस्पति और दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवोंका शरीर भेद रूप अनेक आकार वाला है। (गो.जी./मू./२०१/४४६)

६. औदारिक शरीरमें धातु-उपधातुका उत्पत्ति क्रम

ध./६/१,९-१-२८/श्लो.११/६३ रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्त्तते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जः शुक्रं ततः प्रजा ।११।

ध./६/१,९-१,२८/६३/११ पंचवीसकलासमाइं चउरसीदिकलाओ च तिहिसत्तभागेहि परिहीणबकट्ठाओ च रसो, रसरूवेण अच्छिय

रुहिरं होदि। तं हि तत्तिय चेव कालं तत्थच्छिय मांसत्तेण परिणमइ। एवं सेस धादूणं वि वत्तव्वं। एवं मासेन रसो सुक्कत्तेण परिणमइ। –रससे रक्त बनता है, रक्तसे मांस उत्पन्न होता है, मांससे मेदा पैदा होती है, मेदासे हड्डी बनती है, हड्डीसे मज्जा पैदा होती है, मज्जासे शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्रसे प्रजा उत्पन्न होती है।११। २५८४ कला ८⅙ काष्ठा काल तक रस रस-स्वरूपसे रहकर रुधिररूप परिणत होता है। वह रुधिर भी उतने ही काल तक रुधिर रूपसे रह कर मांसस्वरूपसे परिणत होता है। इसी प्रकार शेष धातुओंका भी परिणाम-काल कहना चाहिए। इस तरह एक मासके द्वारा रस शुक्र रूपसे परिणत होता है। (गो.क./जी.प्र./३३/३० पर उद्धृत श्लोक नं० १)

गो.क./जी.प्र./३३/३० पर उद्धृत श्लोक नं० २ "वातः पित्तं तथा श्लेषा सिरा स्नायुश्च चर्म च। जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः।" –वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उदराग्नि ये सात उप-धातु हैं।

७. औदारिक शरीरमें हड्डियों आदिका प्रमाण

भ.आ./मू./१०२७-१०३५/१०७२-१०७६ अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए। सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया।१०२७। ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि य हवंति सत्तेव। देहम्मि मंसपेसाणि हुंति पंचेव य सदाणि।१०२८। चत्तारि सिरा-जालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा। छच्चेव सिराकुच्चादेहे दो मंसरज्जू य।१०२९। सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि देहम्मि रोमकोडीण होंति सीदी सदसहस्सा।१०३०। पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति। कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्स-स्स।१०३१। थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं। णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं।१०३२। देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण। अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव।१०३३। तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव अंजलीओ पित्तस्स। सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि।१०३४। मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा। वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए।१०३५। –इस मनुष्यके देहमें ३०० अस्थि हैं, वे दुर्गन्ध मज्जा नामक धातुसे भरी हुई हैं। और ३०० ही सन्धि हैं।१०२७। ९०० स्नायु हैं, ७०० सिरा हैं, ५०० मांसपेशियां हैं।१०२८। ४ जाल हैं, १६ कंडरा हैं, ६ सिराओंके मूल हैं, और २ मांस रज्जू हैं।१०२९। ७ त्वचा हैं, ७ कालेयक हैं, और ८०,०००,०० कोटि रोम हैं।१०३०। पक्वाशय और आमाशयमें १६ आंतें रहती हैं, दुर्गन्ध मलके ७ आशय हैं।१०३१। ३ स्थूणा हैं, १०७ मर्मस्थान हैं, ९ व्रणमुख हैं, जिससे नित्य दुर्गन्ध स्रवता है।१०३२। मस्तिष्क, मेद, ओज, शुक्र, ये चारों एक एक अंजलि प्रमाण हैं।१०३३। वसा नामक धातु ३ अंजलिप्रमाण, पित्त और श्लेष्म अर्थात् कफ छह-छह अंजलिप्रमाण और रुधिर १/२ आढक है।१०३४। मूत्र एक आढक, उच्चार अर्थात् विष्ठा ६ प्रस्थ, नख २०, और दांत ३२ हैं। स्वभावतः शरीरमें इन अवयवोंका प्रमाण कहा है।

२. औदारिक काययोग निर्देश

१. औदारिक काययोगका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/९३ पुरु महदुदारुरालं एयट्ठं सं वियाण तम्हि भवं। ओरालिय त्ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो।९३। –पुरु, महत्, उदार और उराल ये शब्द एकार्थवाचक हैं। उदार या स्थूलमें जो उत्पन्न हो उसे औदारिक जानना चाहिए। उदारमें होनेवाला जो काययोग है, वह औदारिक काययोग कहलाता है। (ध./१/१,१,५६/१६०/२९१); (गो.जी./मू./२३०/४९२); (पं.सं./सं/१/१७३)

ध./१/१,१,५६/२८९/१२ औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्द-निबन्धनप्रयत्नः औदारिककाययोगः। –औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिक काययोग कहते हैं।

गो.जी./जी.प्र./२३०/४९३/१ औदारिकायार्थं वा आत्मप्रदेशानां कर्मनो-कर्माकर्षणशक्तिः सैव औदारिककाययोग इत्युच्यते तदा औदारिक-वर्गणास्कन्धानां औदारिककायत्वपरिणमनकारणं आत्मप्रदेशपरि-स्पन्दो वा औदारिककाययोग इति।...अथवा औदारिककाय एव औदारिककाययोग इति कारणे कार्योपचारात्। –१. औदारिक शरीरके निमित्त आत्मप्रदेशनिकै कर्म नोकर्म ग्रहणकी शक्ति सो औदारिक काययोग कहिए। २. अथवा औदारिकवर्गणारूप पुद्गल स्कन्धनिकौं औदारिक शरीररूप परिणमावनेकौं कारण जो आत्म-प्रदेशनिका चंचलपना सो औदारिक काययोग है। ३. अथवा औदा-रिककाय सोई औदारिककाययोग है, यहाँ कार्य विषै कारणका उपचार जानना।

२. औदारिक मिश्रकाययोगका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/९४ अंतोमुहुत्तमज्झं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णो त्ति। जो तेण संपओगो ओरालियमिस्सकायजोगो सो।९४। –औदारिक शरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती कालमें जो अपरिपूर्ण शरीर है, उसे औदारिकमिश्र जानना चाहिए। उसके द्वारा होनेवाला जो संप्रयोग है, वह औदारिक मिश्रकाययोग कहलाता है। अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेसे पूर्व कार्माण शरीरकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले औदारिककाययोगको औदारिक-मिश्रकाययोग कहते हैं।९४। (ध.१/१,१,५६/१६१/२९१)। (गो.जी./मू./२३१/४९४); (पं.सं./सं/१/१७३)।

ध./१/१,१,५६/२९०/१ कार्मणौदारिकस्कन्धाभ्यां जनितवीर्यात्तत्परिस्प-न्दनार्थः प्रयत्नः औदारिकमिश्रकाययोगः। –कार्मण और औदारिक वर्गणाओंके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं।

गो.जी./जी.प्र./२३१/४९४/११ प्रागुक्तलक्षणमौदारिकशरीरं तदेवान्तर्मुहूर्त-पर्यन्तमपूर्णं अपर्याप्तं तावन्मिश्रमित्युच्यते अपर्याप्तकालसंबन्धि-समयत्रयसंभविकार्मणकाययोगोत्कृष्टकार्मणवर्गणासंयुक्तत्वेन परमागम-रूढ्या वा अपर्याप्तं अपर्याप्तशरीरमिश्रमित्यर्थः। ततः कारणादौ-दारिककायमिश्रेण सह तदर्थं वर्तमानो यः संप्रयोगः आत्मनः कर्मनो-कर्मादानशक्तिप्रदेशपरिस्पन्दयोगः स शरीरपर्याप्तिनिष्पत्त्यभावेन औदारिकवर्गणास्कन्धानां परिपूर्णशरीरपरिणमनासमर्थ औदारिक-कायमिश्रयोग इति विजानीहि। –औदारिक शरीर यावत्काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्तपूर्ण न होइ अपर्याप्त होइ तावत् काल मिश्र कहिए। अपर्याप्तकाल सम्बन्धी तीन समयनिविषै जो कार्माण योग ताकी उत्कृष्ट कार्मणवर्गणाकरि संयुक्त है तातै मिश्र नाम है।—२. अथवा परमागम विषै ऐसे ही रूढ़ि है। जो अपर्याप्त शरीरकौ मिश्र कहिए सो तिस औदारिक मिश्र करि सहित संप्रयोग कहिए ताकै अर्थ प्रवर्त्या जो आत्माकै कर्म नोकर्म ग्रहणकी शक्ति धरै प्रदेशनिका चंचलपना सो योग है, सो शरीर पर्याप्तिकी पूर्णताके अभावतैं औदा-रिक वर्गणा स्कन्धनिकौ सम्पूर्ण शरीररूप परिणमावनेकौ असमर्थ है, ऐसा औदारिक मिश्रकाययोग तू जानि।

२. औदारिक व मिश्र काययोगका स्वामित्व

ष. खं/१/१,१/सू. ५७, ७६/२९५, ३१५ ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साणं ।५७। ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं ।७६। –तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिक काययोग और मिश्रकाययोग होता है ।५७। औदारिक काययोग पर्याप्तकोंके और औदारिक मिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ।७६।

पं. सं./प्रा./४/१२ ओरालमिस्स-कम्मे सत्तापुण्णा य सण्णिपज्जत्तो। ओरालकायजोए पज्जत्ता सत्त णायव्वा ।१२। –औदारिक मिश्रकाय योग और कार्मणकाय योगमें सातों अपर्याप्तक तथा संज्ञिपर्याप्तक ये जीव समास होते हैं। औदारिक काययोगमें सातों पर्याप्तक जीव समास जानने चाहिए ।१२।

गो. जी./मू./६८०/११२३ ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगोत्ति। तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ।६८०। मिच्छे सासण सम्मे पुंवेदयदे कवाडजोगिम्मि । णरतिरियेवि य दोण्णिवि होंतित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।६८१। –औदारिक काययोग एकेन्द्रिय स्थावर पर्याप्त मिथ्यादृष्टितै लगाय सयोगी पर्यन्त तेरहगुणस्थाननिविषै है। बहुरि औदारिक मिश्रकाययोग अपर्याप्त चार गुणस्थाननिविषै ही है नियमकरि ।६८०। मिथ्यादृष्टी सासादन पुरुषवेदका उदयकरि संयुक्त, असंयत, कपाट समुद्घात सहित सयोगी, इति अपर्याप्तरूप च्यारि गुणस्थाननिविषै सो औदारिक मिश्रयोग पाइये है। बहुरि औदारिकविषै तौ पर्याप्त सात जीवसमास और औदारिकमिश्रविषै अपर्याप्त सात जीव समास और सहयोगीके एक पर्याप्त जीव समास ऐसे आठ जीव समास हैं ।६८१।

औदार्यचिन्तामणि—आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) द्वारा रचित एक संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ।

औद्र—भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

औपदेशिक—औपदेशिक आहार —दे० उद्दिष्ट।

औपपादिक जन्म—दे० जन्म/१/२।

औपमन्यु—एक विनयवादी —दे० वैनयिक।

औपशमिक भाव—दे० उपशम/५।

औषधि—१. ला.सं./२/१६ शुंठ्यादि भेषजं –सौंठ मिर्च पीपल आदि औषधियाँ कहलाती हैं। २. पूर्व विदेहस्थ पुष्कल क्षेत्रकी मुख्य नगरी —दे० लोक/७।

औषधि ऋद्धि—दे० ऋद्धि/७।

औषधि कल्प—आ० इन्द्रनन्दि (ई. श. १०-११) द्वारा रचित एक वैद्यक शास्त्र।

औषधि दान—दे० दान।

औषधिवाहिनी—अपर विदेहस्थ एक विभंगा नदी—दे० लोक/७

इति प्रथमः खण्डः

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors :
Dr. H. L. JAIN, Jabalpur : Dr. A. N. UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the **Mahādhavalā :**
This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. DIWAKAR and Vols. 2 to 7 by Pt. PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. 20 + 80 + 350 ; Vol. II : pp. 4 + 40 + 440 ; Vol. III : pp. 10 + 496 ; Vol. IV : pp. 16 + 428 ; Vol. V : pp. 4 + 460 ; Vol. VI : pp. 22 + 370 ; Vol VII : pp. 8 + 320. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs. 11/- for each vol.

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof. P. K. MODI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 2. Third edition, Crown pp. 48 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price 75 P.

Madanaparājaya :
An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṁvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction, Translation etc., Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthmālā, Sanskrit Grantha No. 1. Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī :

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Aliyoor etc. Edited with a Hindī Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI

SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthmālā, Sanskrit Grantha No. 2. Super Royal pp. 32 + 324. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1948. Price Rs. 13/-.

Tattvārtha-vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasāgara (c 16th century Vikrama Saṁvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN. Prof. MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4. Super Royal pp. 108 + 548. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949, Price Rs. 16/-.

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949. Price Rs. 2 -.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c. 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546 ; Vol. II : pp. 66 + 468. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949 and 1954. Price Rs. 15/- each.

Kevalajñāna-praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 7. Super Royal pp. 16 + 128. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 4/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanañjaya (c. 8th century A. D.) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarkīrti (c. 15th century A. D.). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA

and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16 + 140. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 3.50 P.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10 + 162 + 244. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 8/-

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a storehouse of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Jñānapītha Mūrtdevī Pāli Granthamālā No. 1, Vol. 1. Super Royal pp 16 + 384. Bhāratīya Jñanapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 9/-.

Kural or **Thirukkural** :

An ancient Tamil Poem of Thevar. It preaches the principles of Truth and Non-violence. The Tamil Text and the commentary of Kavirājapaṇḍita. Edited by Prof. A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No. 1. Demy pp. 8 + 36 + 440. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 5/-.

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher ; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal : Second edition, Vol. I : pp. 8 + 68 + 746, Vol. II : pp. 8 + 556 ; Vol III. : pp. 24 + 708 ; Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951 to 1954. Price Rs. 10/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (c. Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī

Translation by Pt. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1952. Price Rs. 5/-.

Tattvārthavārttikam or **Rājavārttikam** :

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I : pp. 16+430 ; Vol. II : pp. 18+436. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957. Price Rs. 12/-for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara etc. There are some useful Indices. Jñānepīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954. Price Rs. 4/-.

Purāṇasāra-Saṁgraha :

This is a Purāṇa in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by Dr. G.C. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16. Crown Part I : pp. 20 + 198; Part II : pp. 16 + 206. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954, 1955. Price Rs. 2/- each.

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Gṛdhrapiccha. It is edited here by Pt. PHOOLCHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116 + 506, Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1955. Price Rs. 12/-.

Jainendra Mahāvrtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V.S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56 + 506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 15/-.

Vratatithi Nirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Jnānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80 + 200. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 3/-.

Pauma-cariü :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text up to 56th Sandhi with Hindi Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha Nos. 1, 2 & 3. Crown size, Vol. I : pp. 28 + 333; Vol. II : pp. 12 + 377; Vol. III : pp. 6 + 253. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1957, 1958. Price Rs. 3/- for each Vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jīvaṁdhara tale by Drs. A.N. UPADHYE and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4 + 24 + 20 + 344. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1958. Price Rs. 8/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal

Vol. I : pp. 44 + 548 ; Vol. II : pp. 16 + 460 ; Vol. III : pp. 16 + 472. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1958-1959. Price Rs. 10/- each.

Siddhi-viniścaya :
This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity. and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and in Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 174 + 370 ; Vol II : pp. 8 + 808. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-.

Bhadrabāhu Saṁhitā :
A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72 + 416. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 8/-.

Pañcasaṁgraha :
This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gōmmaṭasāra etc. The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākrit Vṛtti by Pt. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Jñānpīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 60 + 804. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1960. Price Rs. 15/-.

Mayaṇa-parājaya-cariu :
This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof. Dr. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88 + 90. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 8/-.

Harivamsa Purana :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp, 12+16+812+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 16/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by Pt. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Tīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs 6/-.

Upāskādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Granth No. 28. Super Royal pp. 116 + 539, Bhāratīya Jñānapīṭha, Kashi 1964. Price Rs. 12/-.

Bhojcaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. Ch. CHHABRA, Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARNARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. Bhāratiya Jñānapiṭha Kashi, 1964. Price Rs 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā :

A Sanskrit text on Jain Logic by Ācārya Vidyānandi critically edited for the first time by Dr. GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr NATHMAL TATIA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62, Bhāratīya Jñānapīṭha, Kashi, 1964. Price Rs. 5/-.

Karakaṇḍa-cariu :

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as

'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr. HIRALAL Jain. Jnānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 4. Super Royal pp. 64 + 278. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 10/-.

Sugandha-daśamī-kathā :

This edition contains Sugandha-daśamīkatha in five lauguages viz. Apabhraṁśa, Sanskrit, Gujarāti, Marāthi and Hindi, critically edited by Dr. HIRALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Apabhraṁśa Grantha No. 6. Super Royal pp. 20 + 26 + 100 + 16 and 48 Plates. Bhāratīya Jñanapitha Publication Varanasi, 1966. Price Rs. 11/-.

Kalyāṇakalpadruma :

It is a Stotra in twenty five Sanskrit verses. Edited with Hindi Bhāṣya and Prastāvanā etc. by Pt. JUGALKISHORE MUKHTAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 32. Crown pp. 76. Bhāratīya Jñānapīṭha Publication, Varanasi, 1967. Price Rs. 1/50.

Jaṁbū sāmi cariu :

This Apabhraṁśa text of Vīra Kavi deals with the life story of Jaṁbū Swāmi, a historical Jain Ācarya who passed in 463 A. D. The text is critically edited by Dr. Vimal Prakash Jain with Hindi translation, exhaustive introduction and indices etc. Jñānapīṭha Murtidevī Jaina Granthamālā Apabhraṁśa Grantha No. 7. Super Royal pp. 16 + 152 + 402; Bhāratīya Jñānapīṭha Publication, Varanasi, 1968. Price Rs. 15/-.

Gadyacintāmaṇi :

This is an elaborate prose romance by Vādībha Singh Sūri, written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. The Sanskrit text is edited by Pt. Pannalal Jain along with his Sanskrit Commentary, Hindi Translation, Prastāvanā and indices etc. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 31. Super Royal pp. 8 + 40 + 258. Bhāratīya Jñānapīṭha Publication, Varanasi 1968. Price Rs. 12/-.

Yogasāra Prābhṛta :

A Sanskrit text of Amitgati Ācarya dealing with Jain Yoga vidyā. Critically edited by Pt. Jugalkishore Mukhtār with Hindi Bhāṣya, Prastāvanā etc. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Grantha No. 33. Super Royal pp. 44 + 236. Bhāratīya Jñānapīṭha Publication, Varanasi, 1968. Price Rs. 8/-.

For copies please write to :

Bharatiya Jnanpitha, 3620/21, Netāji Subhas Marg, Dariyaganj, Delhi (India)